इतिहास समिति प्रकाशन ग्रन्थ क्रमाक–६

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(तृतीय भाग)

ा ा श्रु धर (१)

मार्गदर्शक

चार्य श्री हस्तीमलजी महाराज

लेखक एव मुख्य सम्पादक
श्री गजसिह राठौड जैन न्यायतीर्थ, व्याकरण तीर्थ
एव सहयोगी श्री प्रेमराज जैन

सम्पादक मण्डल :
श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री
प० शशिकान्त झा
डा० नरेन्द्र भाणावत

प्रकाशक
इति ा ि ि
जयपुर (राजस्थान)

विषयानुक्रमणिका

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(तृतीय भाग)

सामान्य श्रुतधर खण्ड (१)

आशीर्वचन

(आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज सा)

जैन इतिहास की गवेषणापूर्वक जो महत्त्वपूर्ण सामग्री "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" ग्रन्थमाला के पूर्व प्रकाशित दो भागों एवं इस तृतीय भाग में, इतिहास समिति ने पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत की है, उसके सम्बन्ध में इतिहासप्रेमी जो भी आवश्यक हो उचित मार्गदर्शन करते रहेंगे।

लेखक और सम्पादक मण्डल ने जिस उत्साह और लगन से इस तृतीय भाग के लेखन कार्य को सम्पन्न किया है उसी प्रकार शेष रहे ऐतिहासिक तथ्य भी तटस्थ दृष्टि से गवेषणा कर प्रस्तुत करने में तत्पर रहेंगे, यही हार्दिक शुभेच्छा है।

पाठकगण हंस दृष्टि से नीर क्षीर विवेकपूर्वक तथ्यों का अवलोकन करते हुए लेखक और सम्पादकों के उत्साह को बढ़ायेंगे और अपनी गुण ग्राहक दृष्टि का परिचय देंगे, ऐसी आशा है।

समर्पणम्

पीपाड-प्राच्या जिनशासनार्क,
शुभोदितो योऽद्य पकाशित विश्वम्।
जिनेशितु वाणिकरैं सहस्रै,
प्रीणाति यो विश्वजनाञ्च जैनान्॥

[२]

येनावयो बोधप्रदैर्वचोभि,
रत्नत्रयी घातितरा प्रकाश्य।
प्रोन्मीलिते नेत्रयुगे सुदिव्यै,
ज्ञानाञ्जनै ज्योतिप्रदै सुधाभै॥

[३]

यो विश्वबन्धु भवसिन्धु-सेतु,
निमज्जता चाद्य भयाब्धिपोत।
ससार माया रहितो हुतात्मा,
त हस्तिमल्लाख्य गुरु नमाव॥

[४]

स्वाध्याय सामायिक शखनादै,
सद्धर्म क्रान्ति जनिताद्य येन।
श्री हस्तिमल्लाख्य गणाधिपाय,
नम गजेन्द्राय प्रगाढ भक्त्या॥

[५]

जैनेतिहासस्य तिरोहित यत,
ज्ञान तदाप्त भवत प्रसादात्।
समर्पयाव भवतैव दत्ता,
कर्तीमिमामद्य भवदभ्य एव॥

भवच्चरणरेणु-चञ्चरीकौ
गजसिंह प्रेमराजौ

शकीय

श्रमण भगवान् महावीर के शासन के कृपा प्रसाद से जैन धर्म का मौलिक इतिहास ग्रन्थमाला के इस तीसरे भाग को सुविज्ञ एव सहृदय पाठको के कर-कमलो मे प्रस्तुत करते हुए हमे परम सन्तोष एव गौरव का अनुभव हो रहा है।

इतिहास का प्रथम भाग १६७१ मे और द्वितीय भाग १६७४ मे प्रकाशित हो चुके थे। इसे देखते हुए तृतीय भाग के लिए जिज्ञासु पाठको को पर्याप्त समय तक प्रतीक्षा करनी पडी। इसके लिए हम क्षमाप्रार्थी है। इतिहास के दोनो भागो का साहित्यिक जगत् मे आशातीत स्वागत हुआ, इससे निश्चय ही हमारा उत्साह बढा।

इसी उत्साह से प्रेरित होकर तृतीय भाग के आलेखन का कार्य बडी तत्परता से प्रारम्भ कर दिया गया था। एतदर्थं सर्वप्रथम मथुरा के सग्रहालय से एतद्विषयक सामग्री सग्रहीत करने का प्रयास किया गया। वहा से यथेप्सित सामग्री प्राप्त हुई, जिसका महत्वपूर्ण उपयोग इस ग्रन्थ प्रणयन मे किया गया।

तदनन्तर राजस्थान प्रदेश के ही अनेको ग्रन्थागारो एव ज्ञान भडारो से सामग्री एकत्रित की गई। इनमे सर्वाधिक महत्वपूर्ण सामग्री लब्धप्रतिष्ठ इतिहासज्ञ पन्यास श्री कल्याण विजयजी महाराज साहब के जालोर नगरस्थ ज्ञान भडार से हमे प्राप्त हुई, जहा हमारे विद्वान् लेखक महोदय श्री राठौड ने स्वय काफी समय तक अहर्निश अथक परिश्रम करके उपयोगी ऐतिहासिक सामग्री का आलेखनात्मक सकलन किया। प श्री कल्याणविजयजी महाराज सा का इस कार्य मे उन्हे हार्दिक सहयोग एव बहुमूल्य परामर्श भी मिला। महावीर की विशुद्ध मूल परम्परा के कतिपय अज्ञात स्रोत सकेतात्मक लेखो के रूप मे प श्री कल्याणविजयजी म सा की हस्तलिखित दैनन्दिनियो के सग्रह से उपलब्ध हुए।

इस शोध काल मे पन्यासजी श्री के सग्रह मे "तित्थोगालि पइन्नय" नामक ग्रन्थ की एक अति प्राचीन हस्तलिखित प्रति मिली जिसके कतिपय स्थलो का सम्पादन एव कतिपय पाठो का सशोधन स्वय श्री पन्यासजी ने किया था। उस प्रति के शेष सम्पादन एव पाठ सशोधन का गुरुतर कार्य राठौडजी के जिम्मे सौपा गया। धार्मिक और ऐतिहासिक दोनो दृष्टियो से अति महत्वपूर्ण उस ग्रन्थ की गाथाओ के सशोधन, पुनरालेखन, सस्कृत छाया, उनका हिन्दी अनुवाद और उसके कतिपय

निगूढ स्थलो पर सम्पादकीय टिप्पणी देने आदि का कार्य श्री राठौड ने प्राकृत, सस्कृत और जैन इतिहास के मूर्धन्य विद्वान् आचार्य श्री हस्तिमलजी म सा के कृपापूर्ण कुशल निर्देशन मे प्रारम्भ कर निर्विघ्न सम्पन्न किया। अति वयोवृद्ध प श्री कल्याणविजयजी म सा की विद्यमानता मे ही उस ग्रन्थ का मुद्रण एव प्रकाशन भी हो गया जिसे देखकर पन्यासजी ने परम सन्तोष अभिव्यक्त किया। इस अनुपम अनमोल सहयोग देकर की गई जिनशासन की प्रभावना के लिए पन्यासजी स्व श्री कल्याणविजयजी म सा के प्रति हम अपनी आतरिक कृतज्ञता प्रकट करते है। हमे खेद है कि अपनी प्रभावना के इस फल को देखने के लिए पन्यास श्रीजी हमारे बीच आज नही रहे।

इस ग्रन्थ के अतिरिक्त 'महा निशीथ', 'सन्दोह दोहावलि', 'सघ पट्टक', 'आगम अष्टोत्तरी' एव सघ पट्टक की भूमिका आदि महत्वपूर्ण ग्रन्थो से भी बडी महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री हमे मिली। इन ग्रन्थो मे निबद्ध उल्लेखो से स्पष्ट पता लगा कि किस प्रकार महावीर के धर्म सघ मे एव उसकी मूल श्रमण परम्परा मे विकृतियो ने घर किया एव कालान्तर मे उन विकृतिजन्य परम्पराओ ने क्या-क्या किया। इन उल्लेखो से यह भी पता चला कि किस प्रकार समय-समय पर इन विकृतिजन्य परम्पराओ का सशक्त विरोध किया गया और किस प्रकार समय-समय पर हुए महान् आचार्यो ने भी इन विकृतिजन्य परम्पराओ के कार्यकलापो से क्षुब्ध होकर अपने भावो को तीव्र अभिव्यक्ति दी। इनमे एक प्रमुख आचार्य हुए नवागी वृत्तिकार अभयदेव सूरि, जिन्होने इन विकृतिजन्य परम्पराओ के विरोध मे अपने स्वर को जिस रूप मे निम्नलिखित सशक्त अभिव्यक्ति दी, प्रसगवशात् उसका उल्लेख यहा भी करने का लोभ हम सवरण नही कर रहे हैं —

देवड्ढि खमासमणजा पर-पर भावओ वियाणेमि।
सिढिलायारे ठविया दव्वओ परम्परा बहुहा॥

अर्थात् देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण पर्यन्त भाव परम्परा रही, यह मैं जानता हू। उनके पश्चात् प्रभु महावीर के धर्म सघ मे शिथिलाचारियो ने अनेक प्रकार की द्रव्य परम्पराए स्थापित कर दी।

अभयदेवसूरि जैसे महान् प्रभावक आचार्य द्वारा अभिव्यक्त यह उनकी अन्तर्व्यथा उस काल की स्थिति पर बडा महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है। इसी अन्तर्व्यथा को प्रकट करने वाले जिनशासन प्रभावको की कडी मे अन्तिम प्रभावक के रूप मे लोकाशाह का नाम जग-विश्रुत है।

इस खोज वृतान्त से यह तो पता चला कि इन विकृत परम्पराओ का प्रभाव और इनका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण भारतवर्ष रहा। पर इनका प्रमुख कार्यक्षेत्र सौराष्ट्र, कच्छ, गुजरात, राजस्थान, मध्यभारत एव उत्तरप्रदेश माना जाता रहा क्योकि यह खोजकार्य भी मुख्यत उत्तरी भारत तक ही सीमित रहा।

भारत के दक्षिणापथ मे क्या स्थिति रही इस सम्बन्ध मे भी खोज करने की तीव्र आवश्यकता हमे अनुभव हुई जिसके विना हमारा इतिहास का कार्य अधूरा ही रहता।

हमे अत्यन्त प्रसन्नता है कि यह खोज एव शोध कार्य करने पर पता लगा कि वस्तुत दक्षिणापथ तो उत्तरापथ से भी किन्ही अर्थों मे कही अधिक ही जैन धर्म का सहस्राब्दियो तक एक प्रमुख एव गौरवशाली केन्द्र रहा।

पर इस खोज कार्य को प्रारम्भ करने मे कुछ अनावश्यक विलम्ब भी हुआ। इतिहास लेखक श्री राठौड को बीच-बीच मे इतिहास लेखन के कार्य से हटाकर अन्य साहित्य प्रकाशन आदि कार्यों मे एव सन्त मुनियो के प्रारम्भिक शिक्षण कार्य मे भी लगना पडा। समाज द्वारा आवश्यक समझकर उन्हे गजेन्द्र प्रवचन माला को प्रारम्भ करने का कार्य सौपा गया, जिसे उन्होने बडी लगन और विद्वत्ता के साथ सम्पन्न किया एव उसकी सुदृढ नीव भी डाल दी। हमे प्रसन्नता है कि उस सुदृढ नीव पर खडी की गई इस प्रवचन माला के कई भाग एव उन भागो के कुछ नये सस्करण भी आज तक प्रकाशित हो चुके है। प्रवचन माला के प्रकाशन को इस स्थिति मे लाने का सारा श्रेय राठौड महोदय को एव इनके एक अनन्य स्नेही एव सहयोगी श्री प्रेमराजजी बोगावत को भी जाता है। समाज इसके लिए इनके प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करता है।

मुनियो के शिक्षण कार्य को भी सुन्दर गति देने का श्रेय श्री राठौड सा को जाता है। समाज इसके लिए भी उनका उपकृत है।

इसी बीच जैन धर्म के मौलिक इतिहास के प्रथम भाग के परिवर्द्धित द्वितीय सस्करण के लेखन और प्रकाशन कार्य मे भी राठौड सा को लगना पडा क्योकि यह कार्य पूरा करना अन्यो के लिए सम्भव नही था हालाँकि इसमे सहयोग देने हेतु आचार्यश्री के सुयोग्य शिष्य श्री हीरामुनिजी महाराज सा भी लम्बे समय तक इसमे व्यस्त रहे।

अन्त मे ईस्वी सन् १९८० मे आचार्य श्री का चातुर्मासावास मद्रास नगर मे हुआ। दक्षिणापथ मे शोधकार्य प्रारम्भ करने के लिए यह एक सुअवसर मिला। आप श्री के दैनन्दिन मार्ग दर्शन मे यह शोध कार्य प्रारम्भ किया गया। गवर्नमेन्ट ओरियन्टल मैन्स्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी (मद्रास यूनीवर्सिटी) मे इसके लिए खोज करते समय बडी महत्वपूर्ण आशातीत उपयुक्त सामग्री वहा से प्राप्त हुई। कन्नीमरा गवर्नमेन्ट लाइब्रेरी इग्मोर (मद्रास) से भी जैनधर्म के इतिहास सम्बन्धी जरनल्स एपिग्राफिकाज और एन्टीक्वीटीज आदि के रूप मे हजारो पृष्ठो की ऐतिहासिक सामग्री का सकलन किया गया जो आगे चलकर बडा उपयोगी सिद्ध हुआ। श्रमण सहार चरितम् आदि मध्य युगीन शैव कृतियो की फोटो कापिया भी ली गई।

इतनी सारी सामग्री प्राप्त करने पर भी कतिपय शताब्दियो पूर्व विलुप्त हुई यापनीय परम्परा के सम्बन्ध मे सामग्री का अभाव अनुभव हुआ जिसके बारे मे इतिहास के आलेखन के समय से ही आचार्य श्री इस सम्बन्धी (परम्परा सम्बन्धी ऐतिहासिक) सामग्री की खोज के लिए समुत्सुक थे। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो परम्पराओ के बीच यापनीय परम्परा एक अतीव महत्वपूर्ण कडी समझी जाती रही है। इस कारण यापनीय परम्परा के सम्बन्ध मे यथा-शक्य अधिकाधिक सामग्री सकलित करने का प्रारम्भ से ही लक्ष्य था।

यह सुयोग ही था कि आचार्यश्री का १९८१ का चातुर्मास रायचूर मे हुआ। यहाँ के धारवाड, श्रमण वेलगोल, मूड बिद्री, कारकल मैसूर आदि जैन विद्या के प्राचीन केन्द्र, समझे जाने वाले विश्वविद्यालयो से एव वहाँ के प्रतिष्ठित पुरातत्वविदो एव इतिहास के विद्वानो के सम्पर्क से यापनीय परम्परा के सम्बन्ध मे भी यथेप्सित सामग्री हमे प्राप्त हुई। हालाकि इस सामग्री से भी यापनीय परम्परा के सम्बन्ध मे हमे पूरा सन्तोष तो नही हुआ पर फिर भी जैन इतिहास की विलुप्तप्राय और विशृङ्खलित कडियो को जोडने मे हमे इस सामग्री से पर्याप्त सहायता मिली। ऐसा हमारे इतिहास लेखको को प्रतीत हुआ कि यापनीय परम्परा के इस प्रमुख केन्द्र कर्णाटक पर विदेशी आक्रमणो और प्रमुख रूप से मुसलमानो के आक्रमण काल मे यापनीय परम्परा का जो विपुल साहित्य था वह अधिकाश मे विनष्ट कर दिया गया।

इस सामग्री के प्राप्त होने के बाद आशा थी कि इस प्रस्तुत ग्रथ का लेखन शीघ्र सम्पन्न कर लिया जावेगा पर इसी बीच लेखक महोदय की सेवाए आवश्यक समझकर जलगाव मे आचार्य श्री के चातुर्मास काल मे वहाँ के श्री महावीर जैन स्वाध्याय विद्यापीठ एव वहाँ की नेशनल पब्लिक लाइब्रेरी को दी गई। इससे इतिहास लेखन के कार्य मे पुन विलम्ब हुआ।

अन्त मे जुलाई १९८३ से इस ग्रथ के मुद्रण और साथ-साथ अग्रेतर आलेखन के कार्य को द्रुतगति दी गई। परिणाम स्वरूप यह ग्रन्थ अब पाठको के सम्मुख है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे श्री प्रेमराजजी बोगावत का सहयोग भी बडा प्रशसनीय रहा जिन्होने अपना व्यस्त व्यावसायिक जीवन होते हुए भी पूरे चार मास तक अपना पूरा ध्यान इधर केन्द्रित किया। उनकी इस नि स्वार्थ सेवाओ के लिए हम पुन उनके प्रति एव लेखक महोदय के प्रति अपना हार्दिक आभार प्रकट करते है।

जैन जगत् के यशोधनी समर्थ साहित्य सर्जक पूज्य देवेन्द्र मुनिजी महाराज सा ने अस्वस्थ एव अत्यधिक व्यस्त होते हुए भी प्रस्तुत ग्रन्थ का अथ से इति तक अवगाहन कर इस पर "एक अवलोकन" लिखने की महती कृपा की है, इसके लिए हम पूज्य प मुनिश्री के प्रति अन्तर्मन से आभार प्रकट करते है।

आदरणीय पद्म विभूषण डा डी एस कोठारी सा ने महती कृपा करके गुरुभक्ति से प्रेरित होकर इस पुस्तक के लिये "दो शब्द" लिखकर जो कृपा की है, उसके लिये कृतज्ञता ज्ञापन करने के लिये हमारे पास शब्द नही है। हम इसके लिये उनके अत्यन्त ऋणी है।

श्रीमान् कैलाश जी सा दूगड (मद्रास निवासी) ने एक वर्ष तक पूरे समय के लिए एक लिपिक को कनिमरा लाइब्रेरी मे नियत कर जरनलों से ऐतिहासिक सामग्री का सकलन करवाने मे, श्रीमान् चमनलालजी सा मूथा रायचूर निवासी ने कर्णाटक और विदेशो से ऐतिहासिक सामग्री के सकलन मे तथा स्व बाबाजी महाराज श्री जयन्त मुनिजी के सुपौत्र श्री रेखचन्दजी चौधरी (पीपाड निवासी) ने तमिलनाडु एव कर्णाटक मे हमारे शोधार्थी विद्वान् के साथ घूम-घूमकर महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री के सकलन मे उल्लेखनीय सहयोग प्रदान किया। अतः हम इन तीनो महानुभावो की श्रुतसेवा की मुक्तकठ से सराहना करते है।

इस ग्रन्थ की शब्दानुक्रमणिका तैयार करने मे श्रीमती मजुलाजी बम्ब एव श्री प्रमोदजी पालावत अलवर निवासी ने जो अपना अमूल्य समय एव श्रम दिया हम उनके प्रति भी आभार प्रकट करते है।

सम्पादक मडल के समस्त सदस्यो के प्रति भी इस अनुपम सम्पादन सहयोग के लिए अपना हार्दिक आभार प्रकट करते है। मुद्रण कार्य मे इस कार्य को अपना समझकर इसे प्राथमिकता देकर पूरा करने के लिए हम इसके मुद्रक पॉपुलर प्रिन्टर्स के स्वामी बन्धु द्वय सर्वश्री महावीरजी एव निर्मलकुमारजी गोयल एव उनके प्रेस के कर्मठ सह-व्यवस्थापक श्री रवीन्द्रकुमार जी सारस्वत एव फोरमैन श्री राजेन्द्रसिंहजी पवार के प्रति भी अपना हार्दिक आभार प्रकट किए बिना नही रह सकते। इसका सुन्दर गेट-अप शीघ्रतापूर्वक तैयार करके दी गई सेवाओ के लिए श्री पारसजी भसाली की हम भूरि-भूरि प्रशसा करते हैं।

अन्त मे हम अपने आराध्य गुरुदेव आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज साहब के प्रति अपनी प्रगाढ निष्ठा एव श्रद्धा भक्ति के साथ अपनी आन्तरिक कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए अत्यन्त हर्ष का अनुभव कर रहे है कि जिन्होने जिन शासन की प्रभावना के अनेकानेक ठोस कार्यो के साथ-साथ इस इतिहास लेखन के कार्य को भी अपना उचित एव अनुपम मार्ग-दर्शन देकर समाज पर असीम उपकार किया है।

इन्द्रचन्द हीरावत
अध्यक्ष,

चन्द्रराज सिंघवी
मन्त्री

जैन इतिहास समिति, जयपुर

लाल भवन
दिनाक १७ ११ ८३

म ा ो

अटल कर्म-सिद्धान्त को सत्य सिद्ध करने वाले अद्भुत सयोग प्राणी मात्र के जीवन मे आते है। अकबर के प्रमुख सेनापति, इतिहास लेखक एव सस्कृत व पर्शियन भाषा के विद्वान् श्री बदायू नी को वैदिक एव प्राचीन भारतीय सस्कृत साहित्य के पर्शियन भाषा मे अनुवाद करने का सयोग से सुन्दर अवसर मिला। अकबर की इच्छानुसार विपुल, वैदिक व सस्कृत साहित्य का उसने पर्शियन भाषा मे अनुवाद करके प्रचुर प्रसिद्धि भी प्राप्त की। पर कार्य निष्पत्ति के अनन्तर उसने अपने शोक भरे उद्गार इस रूप मे प्रकट किये —"ए मेरे मौला! मैंने ऐसा कौनसा बडा पाप किया था कि जिससे मुझे जीवन भर काफिरो के धर्मग्रन्थो का अनुवाद करना पडा।"

आज के धार्मिक वातावरण की स्थिति मे कतिपय महानुभाव समझ सकते है कि मुझे भी कतिपय अशो मे श्री बदायू नी जैसा ही सयोग प्राप्त हुआ है।

पर बदायू नी के उस सयोग मे और मेरे इस सयोग मे आकाश पाताल का अन्तर है। बदायू नी ने उसे सम्भवत दुर्भाग्यपूर्ण दुखद सयोग माना। पर मै तो इसे सयोग ही नही, अपितु अपने कोटि-कोटि पूर्व जन्मो मे सचित पुण्य के प्रताप से मिला एक बडा सुखद सुन्दर सुयोग समझता हूँ कि जीवन के उष काल मे दस वर्ष की आयु से २४ वर्ष तक की आयु मे परम धर्मनिष्ठ आगम मर्मज्ञ गुरु के चरणो मे बैठकर जैन-वाग्मय के अध्ययन अध्यापन का और जीवन के सध्या-काल मे समर्थ गुरु गजेन्द्र के कुशल निर्देशन मे जिन शासन की सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ है।

जन जन कल्याणकारी जिनधर्म को केवल अपनी ही बपौती सी समझने वाला कोई नामधारी इसे मेरी अनाधिकार चेष्टा न समझ बैठे इसलिए मै स्पष्ट कर देना चाहता हू कि मैंने अपने ही पुरातन कालीन पूर्वजो द्वारा सुसेवित एव सुसिचित जिनशासन रूपी सुरतरु की न केवल शीतल छाया का सुखाह्लादोपभोग ही किया है वरन् एक दो प्रसगो पर तो अपनी किशोर वय मे ही अपने शिक्षा गुरु के इगित पर और स्वत स्फूर्त प्रेरणा से भी जिनशासन की सेवार्थ अपने छोटे से जीवन तक को भी दाव पर लगा चुका हू और अब अपने जीवन की साध्यवेला मे इस युग के महान् योगी सन्त आचार्यवर श्री गजेन्द्रमुनि के निष्पक्ष निर्देशन मे श्रमण

भगवान् महावीर के विश्वकल्याणकारी सिद्धान्तो के प्रति प्रगाढ निष्ठा रखते हुए जिनशासन रूपी सुरतरु के नीचे एव इसके इर्द-गिर्द पनपी खरपतवार को एव बाह्याडम्बरपूर्ण छाये घने कोहरे को भी जिनशासन सिद्धान्त रूपी भास्कर की प्रखर किरणो के प्रक्षेप से दूर करने का साहसपूर्ण प्रयत्न भी किया है।

सन् १६३२ का एक पावन प्रसग मेरे स्मृति-पटल पर आज भी प्रत्यक्ष की भाति प्रतिभासित हो उठता है। मेरी मनोभूमि मे बोधिबीजो का वपन करने वाले मेरे परम उपकारी शिक्षा गुरु स्व श्री पूनमचन्दजी सा खीवसरा (एल पी जैन सकेतलिपि के आविष्कर्त्ता भी) मुझे उत्तराध्ययन सूत्र का "केसिगोयमिज्ज" अध्ययन पढा रहे थे। उस समय

चाउज्जामो य जो धम्मो, जो इमो पचसिक्खिओ।
देसिओ वद्धमाणेण, पासेण य महा मुणी।।
अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो।
एगकज्जपवन्नाण, विसेसे कि नु कारण।।

इन गाथाओ को पढकर मेरे अन्तर्मन मे जिज्ञासाए तरगित हो उठी। अथाह ज्ञान के सागर केशिकुमार श्रमण द्वारा गौतम स्वामी से पूछे गये

'धम्मे दुविहे मेहावि। कह विपच्चओ न ते'

इस प्रश्न को पढकर तो मेरे आश्चर्य की सीमा न रही। मैने अनेक प्रश्न किये अपने अध्यापक गुरुदेव से। मेरे सभी प्रश्नो का समाधानकारी उत्तर मिला और पाठ की समाप्ति के बाद जब मैंने यह पढा कि प्रभु गौतम के हृदयस्पर्शी विवेचन से चिन्तामणि प्रभु पार्श्वनाथ के अन्तिम पट्टधर तीन ज्ञान सम्पन्न केशी श्रमण अपनी सभी शकाओ का समाधान प्राप्त कर तत्काल बेझिझक पार्श्व प्रभु के चातुर्याम प्रधान मुक्तिपथ से प्रभु महावीर के पच महाव्रतपरक धर्मपथ पर आरूढ हो गये और प्रभु पार्श्व के चतुर्विध सघ के लाखो अनुयायियो ने पूरी निष्ठापूर्वक केशिश्रमण का पूरे सरल मन से अनुगमन किया, तो मुझे असीम आनन्द एव परम सन्तोष की अनुभूति हुई। सत्य के प्रति केशिकुमार के तत्काल सर्वात्मना समग्र भावेन इस निश्छल समर्पण भाव की मेरे किशोर मन पर अमिट छाप अकित हो गई। साथ ही मेरे बाल मन मे एक प्रश्न उठा—'क्या आज भी ऐसा हो सकता है ?'

यह क्रान्तिकारी घटना आज से लगभग २५३४ वर्ष पूर्व की है। वह दो महान् परम्पराओ के सगम का, सधि का समय था। परन्तु आज तो, केशि श्रमण के पच महाव्रतात्मक मुक्ति पथ पर आरूढ होने के समय से लेकर अद्यावधि पर्यन्त केवल एक महावीर की ही परम्परा चली आ रही है। उस समय केवल दो धाराओ को देखकर ही पार्श्वनाथ और महावीर के श्रमण आश्चर्य मिश्रित

विचार मन्थन मे निमग्न हो गये थे । पर आज तो केवल एक ही धारा है । पर इसमें भी 'धम्मे दुविहे मेहावि' के स्थान पर 'धम्मे सयविहे मेहावि' जैसी स्थिति को देखकर भी प्रत्येक जागरूक जैन चितित तो अवश्य है किन्तु केशि गौतम को भाति भ्रान्तियो को मिटाकर सत्य को क्रियान्वित करने का सरल मन से साहसी प्रयास किसी दिशा मे दृष्टिगोचर नही होता । इसके विपरीत आज प्राय यही स्वर कर्ण-गोचर हो रहा है "हम जो मानते, कहते और करते है वही सत्य है" । इसे काल प्रभाव ही कहा जा सकता है और क्या कह सकते है ?

आज न तो वैसे पूर्वाभिनिवेश-मुक्त शुद्धचेता सरलमना सत्यान्वेषी केशि श्रमण ही कही दिखाई दे रहे हैं और न सर्वमान्य सयौक्तिक सत्पथ-प्रकाशक गौतम ही । ऐसी स्थिति मे केवल प्रभु महावीर द्वारा उपदिष्ट एव गौतमादि गणधरो द्वारा ग्रथित एकादशागी ही हमारा निर्णायक मार्गदर्शक बन सकती है ।

मानव मन की यह दुर्बलता है कि वह सहसा सरल मन से सत्य का साक्षात्कार करने से कतराता है । शताब्दियो से रूढ बन गई मान्यताओ से वह चिपका रहना अधिक सरल समझता है और इसीलिए उनसे लिपटा रहना ही श्रेयस्कर समझता है चाहे वह फिर कुपथ ही क्यो न हो, सत्य से विपरीत ही क्यो न हो, प्रभु महावीर के कथन से परे ही क्यो न हो । पूर्वाभिनिवेश और व्यामोह वशात् उस कुपथ का परित्याग करना साधारण जन के लिए अति दुष्कर होता है ।

'न्यायात् पथ प्रविचलन्ति पद न धीरा' इस उक्ति को चरितार्थ करने वाले लाखो मे से कोई एकाध विरला ही महापुरुष मिलता है जो सामान्य जन को साहस के साथ सत्यपथ पर मोडने का प्रयास करता है । यही स्थिति इतिहास के पृष्ठो पर हमे पद-पद पर देखने को मिलती है ।

इतिहास के इन्ही पृष्ठो को उजागर करने का और प्रभु महावीर के आगम प्रतिपादित श्रमण और आचार परम्परा पर प्रकाश डालने का साहसपूर्ण प्रयास इस इतिहास माला मे 'आगम मर्मज्ञ मर्धन्य इतिहासवेत्ता सरलमना सन्त आचार्य गजेन्द्र मुनि के मार्गदर्शन मे किया गया है । इस सरलमना सन्त के कुशल मार्गदर्शन मे इस ग्रन्थमाला का आलेखन और सम्पादन करते समय मेरे अन्तर्मन मे यही मूलमन्त्र अनहद नाद की तरह निरन्तर गू जता रहा है कि श्रमण भगवान् महावीर की वाणी ही अवितथ, त्रिकाल-सत्य, आदरणीय, अनुकरणीय और तन-मन-वचन से आचरणीय है ।

न्यायात् पथ प्रविचलन्ति पद न धीरा के अनुयायी महान् सन्तो, साहसी आचार्यो, सत्यान्वेषियो और प्रभु महावीर के शुद्ध श्रमणाचार को प्रतिपादित करने वाले सुधारको की जीवनियो आदि का लेखन-सम्पादन इस इतिहास माला मे किया गया है । इस कार्य मे कटुता, कदाग्रह, कटाक्ष, कुत्सित भाषा पूर्ण भावाभिव्यजना

एव कुण्ठा से कोसो दूर रहकर सुधासिक्त सभ्य भद्र जनोचित शालीन भाषा मे भावाभिव्यक्ति की गई है। जहा कही शिथिलाचार अथवा शिथिलाचारी जैसे शब्द दृष्टिगोचर होते भी है तो वे तक हमारे अपने नही है अपितु महानिशीथ, सघ पट्टक मूल तथा टीका, सघ पट्टक की प्रस्तावना, भाव सागर सूरि द्वारा रचित वीरवश पट्टावली आदि ग्रन्थो एव भव विरह याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्र, अभयदेव सूरि आदि पूर्वाचार्यो द्वारा चैत्यवासियो के लिए प्रयुक्त किये गये उन्ही के शब्द है।

हमने तो जिस जिस समय जहाँ जहाँ मूर्तियो एव मन्दिरो तक के निर्माण आदि के उल्लेख प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री मे उपलब्ध हुए है उनका खुले मन से यथास्थान एक बार नही अपितु सैकडो बार उल्लेख किया है। यह उस काल का सत्य था जिसे उजागर करने मे हमने कही भी अनुदारता नही दिखाई है।

पर साथ ही इन मन्दिरो एव मूर्तियो आदि का स्थान स्थान पर प्रस्तुत ग्रन्थ मे उल्लेख करते समय मन मे एक प्रश्न उठा कि एक साधारण छद्मस्थ द्वारा इनका इस प्रकार खुलकर उल्लेख किया जा सकता है तो आज से २५०० वर्ष पूर्व प्रभु की विचरण भूमियो एव विहार नगरियो मे यदि वस्तुत मन्दिरो एव जैन प्रतिमाओ की विद्यमानता होती तो उन सभी का उल्लेख निश्चित रूप से सैकडो बार नही अपितु हजारो बार गणधर अपनी एकादशागी मे अवश्यमेव करते। किन्तु सत्य तो वस्तुत. कुछ और ही प्रकट होता है। एकादशागी के किसी भी अग मे प्रभु की विचरण भूमि के किसी एक भी नगर मे जिन मन्दिरो एव जिन प्रतिमाओ का और उनमे प्रभु के शिष्यो एव उपासको मे से किसी एक के भी वन्दनार्थ अथवा पूजार्थ जाने का कही किंचित्मात्र भी उल्लेख नही है।

यहाँ मैं स्पष्ट रूप से निवेदन कर देना चाहता हू कि प्रस्तुत इतिहास माला के आलेखन के समय प्रारम्भ से ही 'इतिहास' शब्द की गौरवपूर्ण गरिमा को पूर्णरूपेण अक्षुण्ण बनाये रखने की दिशा मे पूर्ण सावधानी बरती गई है। इतिहास वस्तुत एक ऐसा दिव्य दर्पण है, जिसमे धर्म, समाज, राष्ट्र, सस्कृति, जाति, समष्टि आदि के अतीत के वास्तविक स्वरूप को, इन सबके अभ्युदय, उत्थान, पतन, पुनरुत्थान आदि की प्रक्रियाओ, कारणो आदि को प्रत्यक्ष की भाति देखा समझा जा सकता है और भूतकाल की भूलो को भली-भाति देख, सोच एव समझ कर भविष्य मे कभी उस प्रकार की भूलो की पुनरावृत्ति न हो, इस प्रकार का सुदृढ-सुस्थिर मनोबल बनाया जा सकता है। प्रस्तुत ग्रथ माला मे इतिहास के ये मूल गुण, ये मूल लक्षण मुखरित हो उठे, इस बात का यथाशक्य पूर्ण प्रयास किया गया है।

इतिहास के इसी मूल गुण अथवा लक्षण को दृष्टिपथ मे रखकर भारत के विभिन्न प्रदेशो मे, भिन्न-भिन्न काल मे घटित हुए घटना-चक्र को क्रमबद्ध अथवा सुव्यवस्थित बना, टूटी हुई-बिखरी हुई इतिहास की कडियो को बिना मोडे ही जोड

कर आगमो, आगमेतर ग्रन्थो, इतिहास–ग्रन्थो, ताम्रपत्रो, गुहा–लेखो, शिलालेखो, स्तम्भलेखो, आयागपट्ट–मूर्तियो आदि पर उट्ट कित अभिलेखो, ताम्रपत्रो आदि के आधार पर ही प्रस्तुत ग्रन्थ मे इतिवृत्त का आलेखन किया गया है। जिन अभिलेख आदि का इस ग्रन्थ के लेखन मे उपयोग किया गया है, उसमे भी इस बात का पूरा ध्यान रखा गया है कि उस ग्रन्थ अथवा अभिलेख आदि के रचनाकार ने जिस रूप मे घटना का चित्रण किया है, उसके उस रूप–स्वरूप अथवा भावो मे किसी भी प्रकार का परिवर्तन न होने पावे।

यहाँ मै अतीव स्पष्ट एव विनम्र शब्दो मे सभी परम्पराओ के सहृदय पाठको तथा इतिहास प्रेमियो से यह निवेदन कर देना चाहता हू कि प्रस्तुत "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" नामक ग्रन्थमाला के मूलतो भव मौलिकम् इस अर्थ के अनुरूप आगमो मे प्रतिपादित जैन धर्म के मूल स्वरूप को ही प्रमुख आधार मान कर जैन धर्म का इतिहास प्रस्तुत किया गया है। इसका कारण यही है कि आगमेतर धर्मग्रन्थो मे एतद्विषयक एकरूपता के दर्शन दुर्लभ है।

यह तो एक निर्विवाद तथ्य है कि श्रमण भ महावीर के धर्मसघ का स्वरूप तीर्थप्रवर्तन काल से लेकर श्वेताम्बर–दिगम्बर यापनीय विभेद की दृष्टि से वीर नि स ६०९ तक और चैत्यो मे नियत निवास करने वाली चैत्यवासी परम्परा के वर्चस्व की दृष्टि से देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल तक सुनिश्चित रूपेण इस प्रकार का नही था जिस प्रकार का कि वर्तमान काल मे दृष्टिगोचर हो रहा है। उस समय भ महावीर का चतुर्विध धर्मसघ एकरूपता लिये ऐक्यता के सुदृढ सूत्र मे आबद्ध था और आज वह विभिन्न इकाइयो मे विभक्त है। आज इसमे अनैक्यता और वेष–वैभिन्य की दृष्टि से अनेकरूपता स्पष्टत परिलक्षित होती है। पृथक्श अथवा समुच्चय रूप से किसी को पूछ लिया जाय, सभी स्वसम्मत धर्मस्वरूप, वेष, आचार-विचार, विधि-विधान आदि को ही तीर्थ-प्रवर्तन काल से प्रचलित एव परम्परागत बतायेगे।

श्वेताम्बर-दिगम्बर-यापनीय के रूप मे विभेद के अनन्तर और मुख्यत देवर्द्धि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल के पश्चात से तो यही दुर्भाग्यपूर्ण दयनीय स्थिति चली आ रही है। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर के विश्वकल्याणकारी धर्मसघ की इस प्रकार की विशृ खलित स्थिति अनेक पूर्वाचार्यो महामनीषी महासन्तो के मन मे खटकती रही।

तित्थयर समो सूरि, सम जो जिणमय पयासेई।
आण अइक्कमतो, सो कापुरिसो न सप्पुरिसो ॥
स एव भवसत्ताण, चक्खुभूए वियाहिए ।
दसेई जो जिणु दिठ्ठ, अणुट्ठाण जहाहिय ॥[1]

---

[1] गच्छाचार पइण्णय, अधि १

इन गाथाओ के निर्देशानुसार श्रमण भ महावीर के धर्म-सघ के तीर्थंकर तुल्य एव नेत्र समान महान् आचार्यों ने अपने गरिमापूर्ण आचार्य पद के कर्त्तव्यो का निर्वहन करते हुए जिन प्रणीत-आगमानुसारी धर्म के स्वरूप को समय-समय पर चतुर्विध तीर्थ के समक्ष जन-जन के समक्ष निम्नलिखित रूप मे रखा –

वि स ७५७–८२७ आ हरिभद्र याकिनीमहत्तरासूनु —

(१) भवती उ गमागम जतु, फरिसणाइ पमद्दण जत्थ ।
स-पर हिओवरयाण, न मण पि पवत्तए तत्थ ।।४७।।
ता स-पर हिओवरसहिं, सव्वट्ठाण एसियव्व विसेस ।
ज परम सारभूय विसेसवत च अणुट्ठेय ।।४८।।

मेरुतु गे मणि मडिएक्क कचणमए परम रम्मे ।
नयण मणाणदकरे, पभूय विन्नाण साइसये ।।५०।।
कचण मणि सोमाणे, थभ सहस्सूसिए सुवण्णतले ।
जो कारवेज्ज जिणहरे, तओ वि तव सजमो अणत गुणोत्ति ।।५६।।

(२) जहा इच्छायारेण न कप्पइ तित्थयत्त गतु सुविहियाण, अन्न च जत्ताए गएहि असजमे पडिज्जई । एएण कारणेण तित्थयत्ताए पडिसेहिज्जइ ।

एए ते गोयमा ! एगूण पचसए साहूण, जेहि च ण तारिस गुणोववेयस्स ण महाणुभागस्स गुरुणो आण अइक्कमिय णो आराहिय, अणत ससारिए जाए ।

(३) जहा भो भो पियवए ! जइ वि जिणालए तहावि सावज्ज-मिण णाह वाया मित्तेण पि एय आयरिज्जा ।

एव च समय सारपर तत्त जहट्ठिय अविवरीय णीसक भणमा-णेण तेसिं मिच्छादिट्ठिलिंगीण साहुवेस धारीण मज्झे गोयमा ! आसकलिय तित्थयरणामकम्मगोय तेण कुवलयप्पभेण एग भवाव सेसीकओ भवोयही । तत्थ य धिट्ठो अणुलविज्ज नाम सघ मेलावगो अहेसि (धृष्ट लबारो, लबाडियो अथवा कबारियो का समूह (सघ) था) कय च से सावज्जायरियभिहाण सद्दकरण गय च पसिद्धिए ।[1]

[1] 'महानिसीह सुत्त"—STUDIEN ZUM MAHANISIHA
Jozef Deleu and Walther Schubring Hamburg Cram De Gruyter and Co 1963

(४)   आगया इमा गाहा—

जत्थित्थीकरफरिस, अतरिय कारणे वि उप्पन्ने ।
अरहा वि करेज्ज सय, त गच्छ मूलगुण मुक्क ।।

तओ गोयमा ! अप्पसकिएण चेव चितिय तेण सावज्जायरियेण जइ एय जहट्ठिय पन्नमे तओ ज मम वदणग दाउमाणीए तीए अज्जाए उत्तिमगेण चलणगे पुट्ठे त सव्वेहिं पि दिट्ठमेएहि त्ति । ता जहा मम सावज्जायरियाभिहाण कय तहा अन्नमवि किं चि एत्थु मुद्दक काहिति ।

तओ पुणो वि सुइर परितप्पिऊण गोयमा ! अन्न परिहारगमलभमाणेण अगीकाऊण दीह ससार भणिय च सावज्जायरिएण जहा ण उस्सग्गाववाएहिं आगमो ठिओ तुज्झे ण याणह—

एगत मिच्छत्त जिणाणमाणा अणेगता ।

एय च वयण गोयमा ! गिण्हाय वसति वियहि सिहिकुलेहि व सवहुमाण इच्छिय तेहि तेहि दुट्ठ सोयारेहि । तओ एगवयण दोसेण गोयमा ! निबधिऊणाणत ससारियत्तण अपडिक्कमिऊण च तस्स पाव समुदाय महाखघ मेलावगस्स मरिऊण उववन्नो वाणमतरेसु सो सावज्जायरिओ ।[१]

वि० स० १०८८–११३५—अभयदेवसूरि नवागीवृत्तिकार —

(५) देवड्ढिखमासमणजा, परपर भावओ वियाणेमि ।
सिढिलायारे ठविया, दव्वओ परपरा बहुहा ।।[२]

जिनदत्तसूरि (वि स ११६९ सूरिपद) –

(६) गड्डरिपवाहओ जो, पइनयर दीसए बहुजणेहिं ।
जिणगिह कारवणाई, सुत्तविरुद्धो असुद्धो य ।।६।।
सो होइ दव्वघम्मो, अप्पहाणो नेव निव्वुइ जणइ ।
सुद्धो घम्मो बीओ, महिओ पडिसोयगामीहि ।।७।।[३]

लोकाशाह से लगभग साढे पाँच सौ वर्ष पूर्व दिगम्बर आचार्य रामसेण, (वि० स० ९५३) ने जिन प्रतिमा की पूजा-अर्चा को सम्यक्त्व प्रकृति मिथ्यात्व बताया –

---

[१] Studien Zum Mahanisiha Hamburg Cram 1963
[२] आगम अष्टोत्तरी
[३] सन्देह दोहावलि

(७) सम्मत्त-पयडि मिच्छत्त, कहिय ज जिणिंद-विवेसु ।
• •• •॥४१॥[२]

अर्थात् माथुर सघ (दिगम्बर परम्परा के सघ) की स्थापना करने वाले आचार्य रामसेण ने किसी भी जिन प्रतिमा मे जिनेश्वर भ० की कल्पना करने और इस प्रकार की कल्पना के साथ प्रतिमा की वन्दना-अर्चा-पूजा करने आदि क्रिया-कलापो को सम्यक्त्व-प्रकृति मिथ्यात्व की सज्ञा दी ।

(८) पूर्णिमा पक्षीय श्री अकलकदेवसूरि, वि० स० १२४०–४४ ने जिनपति सूरि से दूसरा प्रश्न किया–"भवत्विदमेव, पर सघेन सह यात्रा क्वापि सिद्धान्ते साधूना विधेयतया भणितास्ति, यदेव यूय प्रस्थिता ? आचार्य ! अति धृष्टा यूय यदद्यापि (यात्राया सघेन सह प्रचलितापि) सिद्धान्तबलमालम्बत । किं युष्माभिरेवैकै सिद्धान्ता दृष्टा न द्वितीयै ?"[२]

(९) महान् धर्मोद्धारक लोकाशाह से लगभग २०९ वर्ष पूर्व जिन प्रतिमाओ की द्रव्य पूजा मे कतिपय ऐसे सुधार किए गए, जिन्हे उस समय के देशव्यापी वातावरण को देखते हुये क्रान्तिकारी सुधार की सज्ञा दी जा सकती है । उन क्रातिकारी सुधारो की घोषणा अनेक आचार्यो के हस्ताक्षरो से अकित, अनेक आचार्यो से अनुमोदित एव तत्कालीन अनेक गण्यमान्य श्रावक प्रमुखो तथा श्रेष्ठिमुख्यो द्वारा साक्षीकृत एक सघादेश से की गई। वह क्रान्तिकारी ऐतिहासिक सघादेश इस प्रकार है :—

सघादेश

स० १२९९ वर्षे १३ त्रयोदश्या । अद्येह श्रीमदणहिल्लपाटके समस्त राजावलि विराजिता । महाराजाधिराज श्री त्रिभुवनपाल देव विजय राज्ये तन्नियुक्त महामात्य दण्ड श्री ताते श्री श्री करणादि समुद्राव्यापारान् परिपथयति सत्येव काले प्रवर्तमाने श्री सघादेशपत्रमभिलिख्यते । यथा श्री अणहिल्ल पाटके प्रतिष्ठित समस्त श्री आचार्य, समस्त श्री श्रावक, प्रभृति समस्त श्री श्रमणसघश्चित्रावाल गच्छीय देवभद्रगणि शिष्य आचार्य गजचन्द्र सूरि, श्री देवेन्द्र सूरि, श्री विजय चन्द्र सूरि प्रभृति आचार्यान् पद्मचन्द्रगणि प्रभृति तपोधनान्, श्री प० कुलचन्द्रगणि, अजितप्रभ गणि प्रभृति परिवार समस्थितान् सप्रसाद समादिशति–यथा यति-प्रतिष्ठा कर्त्तव्या च, श्रावक प्रतिष्ठा च न प्रमाणीकार्या ।१। तथा श्री देवस्य पुरतो बलि नैवेद्य रात्रिकादीनि निषेध्यानि ।२। तथा समस्त वैयावृत्यकरणा ।। सम्यग् दृष्टि समस्त,

---

[१] दर्शन सार (आचार्य देवसेन)

[२] खरतर गच्छ बृहद् गुर्वावलि, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्या भवन बम्बई, वि० स० २०१३

(४) आगया इमा गाहा—

जत्थित्थीकरफरिस, अतरिय कारणे वि उप्पन्ने ।
अरहा वि करेज्ज सय, त गच्छ मूलगुण मुक्क ।।

तओ गोयमा ! अप्पसकिएण चेव चितिय तेण सावज्जायरियेण जइ एय जहट्ठिय पन्नमे तओ ज मम वदणग दाउमाणीए तीए अज्जाए उत्तिमगेण चलणगे पुट्ठे त सव्वेहि पि दिट्ठमेएहि त्ति । ता जहा मम सावज्जायरियाभिहाण कय तहा अन्नमवि कि चि एत्थु मुद्दक काहिति ।

तओ पुणो वि सुइर परितप्पिऊण गोयमा ! अन्न परिहारगमलभमाणेण अगीकाऊण दीह ससार भणिय च सावज्जायरिएण जहा ण उस्सग्गाववाएहि आगमो ठिओ तुज्झे ण याणह—

एगत मिच्छत्त जिणाणमाणा अणेगता ।

एय च वयण गोयमा ! गिण्हाय वसति वियहि सिहिकुलेहि व सबहुमाण इच्छिय तेहि तेहि दुट्ठ सोयारेहि । तओ एगवयण दोसेण गोयमा ! निबधिऊणाणत ससारियत्तण अपडिक्कमिऊण च तस्स पाव समुदाय महाखध मेलावगस्स मरिऊण उववन्नो वाणमतरेसु सो सावज्जायरिओ ।[1]

वि० स० १०८८–११३५—अभयदेवसूरि नवागीवृत्तिकार —

(५) देवड्ढिखमासमणजा, परपर भावओ वियाणेमि ।
सिढिलायारे ठविया, दव्वओ परपरा बहुहा ।।[2]

जिनदत्तसूरि (वि स ११६९ सूरिपद) –

(६) गड्डरिपवाहओ जो, पइनयर दीसए बहुजणेहिं ।
जिणगिह कारवणाई, सुत्तविरुद्धो असुद्धो य ।।६।।
सो होइ दव्वधम्मो, अप्पहाणो नेव निव्वुइ जणइ ।
सुद्धो धम्मो बीओ, महिओ पडिसोयगामीहि ।।७।।[3]

लोकाशाह से लगभग साढे पाँच सौ वर्ष पूर्व दिगम्बर आचार्य रामसेण, (वि० स० ९५३) ने जिन प्रतिमा की पूजा-अर्चा को सम्यक्त्व प्रकृति मिथ्यात्व बताया –

---

[1] Studien Zum Mahanisiha Hamburg Cram 1963
[2] आगम अष्टोत्तरी
[3] सन्देह दोहावलि

(७) सम्मत्त-पयडि मिच्छत्त, कहिय ज जिणिंद-बिबेसु ।
. ...॥४१॥[1]

अर्थात् माथुर सघ (दिगम्बर परम्परा के सघ) की स्थापना करने वाले आचार्य रामसेण ने किसी भी जिन प्रतिमा मे जिनेश्वर भ० की कल्पना करने और इस प्रकार की कल्पना के साथ प्रतिमा की वन्दना-अर्चा-पूजा करने आदि क्रिया-कलापो को सम्यक्त्व-प्रकृति मिथ्यात्व की सज्ञा दी ।

(८) पूर्णिमा पक्षीय श्री अकलकदेवसूरि, वि० स० १२४०-४४ ने जिन-पति सूरि से दूसरा प्रश्न किया—"भवत्विदमेव, पर सघेन सह यात्रा क्वापि सिद्धान्ते साधूना विधेयतया भणितास्ति, यदेव यूय प्रस्थिता ? आचार्य ! अति घृष्टा यूय यदद्यापि (यात्राया सघेन सह प्रचलितापि) सिद्धान्तबलमालम्बत । कि युष्माभिरेवैकै सिद्धान्ता दृष्टा न द्वितीयै ?"[2]

(६) महान् धर्मोद्धारक लोकाशाह से लगभग २०६ वर्ष पूर्व जिन प्रति-माओ की द्रव्य पूजा मे कतिपय ऐसे सुधार किए गए, जिन्हे उस समय के देशव्यापी वातावरण को देखते हुये क्रान्तिकारी सुधार की सज्ञा दी जा सकती है । उन क्राति-कारी सुधारो की घोषणा अनेक आचार्यों के हस्ताक्षरो से अकित, अनेक आचार्यो से अनुमोदित एव तत्कालीन अनेक गण्यमान्य श्रावक प्रमुखो तथा श्रेष्ठिमुख्यो द्वारा साक्षीकृत एक सघादेश से की गई। वह क्रान्तिकारी ऐतिहासिक सघादेश इस प्रकार है :—

सघादेश

स० १२६६ वर्षे १३ त्रयोदश्या । अद्येह श्रीमदणहिल्लपाटके समस्त राजा वलि विराजिता । महाराजाधिराज श्री त्रिभुवनपाल देव विजय राज्ये तन्नियुक्त महामात्य दण्ड श्री ताते श्री श्री करणादि समुद्राव्यापारान् परिपथयति सत्येव काले प्रवर्तमाने श्री सघादेशपत्रमभिलिख्यते । यथा श्री अणहिल्ल पाटके प्रतिष्ठित समस्त श्री आचार्य, समस्त श्री श्रावक, प्रभृति समस्त श्री श्रमणसघश्चित्रावाल गच्छीय देवभद्रगणि शिष्य आचार्य गजचन्द्र सूरि, श्री देवेन्द्र सूरि, श्री विजय चन्द्र सूरि प्रभृति आचार्यान् पद्मचन्द्रगणि प्रभृति तपोधनान्, श्री प० कुलचन्द्रगणि, अजितप्रभ गणि प्रभृति परिवार समस्थितान् सप्रसाद समादिशति—यथा यति-प्रतिष्ठा कर्त्तव्या च, श्रावक प्रतिष्ठा च न प्रमाणीकार्या ।१। तथा श्री देवस्य पुरतो बलि नैवेद्य रात्रिकादीनि निषेध्यानि ।२। तथा समस्त वैयावृत्यकरणा ।। सम्यग् दृष्टि समस्त,

---

[1] दर्शन सार (आचार्य देवसेन)

[2] खरतर गच्छ बृहद् गुर्वावलि, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्या भवन बम्बई, वि० स० २०१३

ग्रम्बिकादि मूर्ति प्रभृतिना गृह चैत्येषु च सतिष्ठमानाना पूजानिषेधो मा कार्य ।३। श्री सघ प्रतिष्ठित, श्री आचार्यैस्तपोधनैश्च सम यथा पर्याय वदनक व्यवहार करणीय ।४। स्व प्रतिबोधित श्रावकाणा, समस्तगच्छीयाचार्यतपोधनाना, पूजा-वदनकादि निषेधो न कार्य ।५। राकापक्षीय, आञ्चलिकस्त्रिस्तुतिकादिभिश्च सह वन्दनक-व्यवहार श्रुताध्ययनाध्यापनादि व्यवहारश्च न करणीय ।६। ।७। ।८। ।९। ।१०। ।११। किं बहुना '१२' श्रीमन्नणहिल्ल पाटके प्रतिष्ठित श्री श्रमण सघस्य आज्ञा मन्यमानै सर्वैरपि आचार्यै तपोधनैश्च बहिरपि व्यवहारणीय ।१२। एव श्री सघादेश कुर्वाणा आचार्यतपोधनाश्च श्री सघस्याभिमता एव । एन च सघादेश कुर्वाणान् अगीकृत्य, अकुर्वाणाना आज्ञा-तिक्रमदोषवता-अमीषा श्रावकाश्च सघबाह्या कर्त्तव्या । यदि पुन ।[1]

वर्द्धमान सूरि प्रथमत चैत्यवासी परम्परा मे दीक्षित हुए थे । उन्होने जब निर्ग्रन्थ-प्रवचन का अवलोकन-चिन्तन-मनन किया तो उनके अन्तस्तल मे जैनधर्म के शास्त्र सम्मत सच्चे स्वरूप की एक झलक प्रकट हुई । उनके चैत्यवासी गुरु ने उन्हे उपाध्याय पद पर अधिष्ठित कर चैत्यवासी परम्परा मे ही बने रहने का प्रलोभन दिया । उनके समय मे भी चूर्णिया निर्युक्तिया भाष्य वृत्तियाँ आदि विद्यमान थी वे सब उन्हे सत्पथ की ओर बढने से नही रोक सके और उन्होने अरण्यचारी-वनवासी परम्परा के आचार्य उद्योतन सूरि के पास उपसम्पदा-शास्त्र सम्मत विशुद्ध श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर उनसे गणिपिटक का -निर्ग्रंथ प्रवचन का तलस्पर्शी अध्ययन किया । वर्द्धमान सूरि की विद्यमानता मे उनके शिष्य जिनेश्वर सूरी का जब गुर्जरेश वल्लभराज की अणहिल्लपुर पट्टन की राजसभा मे चैत्यवासियो के साथ शास्त्रार्थ हुआ और प्रमाण के रूप मे चैत्यवासी आचार्यों द्वारा निर्ग्रन्थ प्रवचन के स्थान पर अन्य शास्त्र प्रस्तुत किये जाने लगे तो जिनेश्वर सूरि ने स्पष्ट शब्दो मे दुर्लभराज से कहा—"महाराज ! अस्माक मतेऽपि यद् गणधरैश्चतुर्दश पूर्वधरैश्च यो दर्शितो मार्ग स एव प्रमाणीकर्तुं युज्यते, नान्य ।" ततो राज्ञोक्त — "युक्तमेव ।"

वर्द्धमान सूरि-जिनेश्वर सूरि के समय मे पचागी विद्यमान थी न ? उन्होने तो चतुर्दश पूर्वधरैश्च के आगे पचाङ्गिभिश्च शब्द नही जोडा ? सत्य अन्ततोगत्वा सत्य ही है । क्या इस सत्य तथ्य को 'हुँ' कहकर टाला जा सकता है ? क्या महा-निशीथ मे हरिभद्र सूरि महत्तरा सूनु द्वारा प्रकाश मे लाये गये उपरिवर्णित १ से ३

---

[1] "गच्छाचार विधि"—बडोदा यूनिवर्सिटी की प्रति की फोटोकापी न० १७४२८, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर की फोटोकापी न० ३०६ आचार्य श्री हस्तीमल जी म० मा० द्वारा गुजरात-सौराष्ट्र-कच्छ के विहार काल मे प्राप्त ।

की सख्या से अकित तीन शाश्वत सत्यो को लुपक पथी, स्थानक पथी जैसे किसी भी सुसभ्य के लिये अशोभनीय शब्दो के उच्चारण मात्र से वितथ किया जा सकता है ?

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल मे जैनधर्म के स्वरूप की छवि का अभयदेव सूरि ने "सिढिलायारे ठविया, दव्वओ परम्परा वहुहा", जिनदत्त सूरि ने गड्डरि पवाहओ जो ", श्री वीरवश पट्टावली के रचनाकार श्री भावसागर सरि ने —

दुस्सह दूसमवसओ, साह-पसाहाहि कुलगणाईहि ।
विज्जा किरियाभट्ठा, सासणमिह सुत्तरहिय च ।।१६।।

इन गाथाओ के माध्यम से जो चित्रण किया है, उसी छवि को दक्षिण भारत के वे सैकडो शिलालेख ताम्रपत्र आदि और भी स्पष्ट रूप से उभार कर समाज के समक्ष विज्ञ चिन्तको के विचारार्थ प्रस्तुत कर रहे है, जिनमे राजाओ, महाराजाओ, सामन्तो, सेनापतियो, श्रेष्ठियो आदि सभी वर्गो के गृहस्थ पुरुषो एव महिलाओ द्वारा यापनीय श्रमण सघ, निर्ग्रंथ-श्वेताम्बर-दिगम्बर-कूर्चक श्रमणसघो के आचार्यो को मुनियो के भोजन हेतु एव मन्दिरो, मठो, वसदियो आदि की व्यवस्था हेतु दिये गये और उन आचार्यो द्वारा ग्रहण किये गये ग्रामदान, भूमिदान, भवनदान, द्रव्यदान, कराशदान आदि का सुस्पष्ट रूप से उल्लेख है ।

क्या श्रमण भगवान् महावीर द्वारा तीर्थ प्रवर्तन काल मे जैनधर्म का, पच महाव्रतधारी श्रमण-श्रमणी वर्ग के श्रमणाचार का इस प्रकार का स्वरूप प्ररूपित-प्रदर्शित किया गया था ? प्रत्येक सच्चे जैन का एक ही उत्तर होगा—"नही, नही कदापि नही ।"

महान् धर्मोद्धारक लोकाशाह ने भी इन सब विकृतियो पर विचार कर, जैनधर्म की इस प्रकार धूमिल की गई छवि पर गहरा दुख प्रकट करते हुये कहा था—"ससार के प्राणिमात्र के सच्चे त्राता विश्वबन्धु करुणासिन्धु श्रमण भगवान् महावीर ने निखिल जगत् के प्राणियो के हित की साधना के लिये विश्वधर्म-जैनधर्म का जो स्वरूप, श्रमण-श्रमणी-श्रावक-श्राविका रूपी चतुर्विध तीर्थ के आचार-विचार व्यवहार का जो स्वरूप बताया था वह इस प्रकार का कदापि नही था, जिस प्रकार का कि आज चारो ओर दृष्टिगोचर हो रहा है । विश्वबन्धु वीर जिनेश्वर ने तो प्राणि-मात्र के प्राणो की रक्षा-दया को ही धर्म का प्राण बताते हुए आचाराग सूत्र के प्रथम-श्रुत स्कन्ध के दूसरे उद्देशक मे स्पष्टत फरमाया था—

"सति पाणा पुढोसिया लज्जमाणा पुढोपास अणगारामोत्ति एगे पवयमाणा जमिण विरूवरूवेहि सत्थेहि पुढविकम्म समारभेण पुढविसत्थ समारभेमाणा जमिण

विरूव रूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्म समारभेण पुढविसत्थ सभारभेमाणा अण्णे अणेग-रूवे पाणे विहिंसइ ।

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवदण, माणण, पूयणाए, जाइ मरण मोयणाए, दुक्खपडिघायहेउँ से सयमेव पुढविसत्थ समारभइ समारभावेइ समारभते समणुजाणइ । त से अहियाए त से अबोहिए ।"

अर्थात् साररूपत कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को बनाये रखने के लिए, अपने मान-सम्मान-पूजा आदि के लिये अथवा जन्म-मरण से मुक्ति पाने अर्थात् मोक्ष प्राप्ति तक के लिये दु खो से छुटकारा पाने के लिये इन षड्जीव निकाय का आरम्भ-समारम्भ करता है, करवाता है और करने वाले को भला समझता है तो वह उसके लिए घोर अहितकर, घोर अनर्थकारी है, वह उसे अबोधि अर्थात् घोर मिथ्यात्व के घनान्धतम अन्धकार मे डालने के लिए है ।

जिस सत्य बात को, जिस शास्त्र सम्मत शाश्वत सत्य को प्रकट करने के परिणाम-स्वरूप महानिशीथ के उल्लेखानुसार महान् चारित्र निष्ठ श्रमणश्रेष्ठ आचार्य कुवलय प्रभ को स्वार्थपरक धर्मान्ध लबार लोगो और वेषधारियो ने 'सावद्याचार्य' की अशोभनीय उपाधि से और दिगम्बराचार्य रामसेण को जैनाभास की उपाधि से अलकृत किया, उसी आगम सम्मत शाश्वत सत्य को धर्मोद्धारक लोका-शाह ने भी प्रकट किया है —

है जिसकी जात से रोशन, ये सूरज चाँद और तारे ।
महा अन्धेर है उसको, अगर दीपक दिखाऊ मैं ॥

लोकाशाह ने कहा था—भगवती सूत्र मे गणधरो द्वारा प्रभु से पूछे गये ३६,००० प्रश्न और प्रभु महावीर द्वारा दिए गए उन प्रश्नो के उत्तर दब्ध हैं, उनमे से एक भी तो प्रश्नोत्तर ऐसा नही जो मूर्ति निर्माण, मन्दिर निर्माण एव मूर्तिपूजा से होने वाले फल पर प्रकाश डालता हो ।

लोकाशाह ने सत्य का शखनाद फू कते हुए कहा था—"ये निर्यु क्तियाँ चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की कृतिया नही है । शास्त्रो का, चूर्णियो, भाष्यो, टीकाओ (वृत्तियो) का आलोडन-मथन कर अनेक बोलो के रूप मे सम्यग्ज्ञान, सम्यग् दर्शन, सम्यक् चारित्र का नवनीत निकाल निर्यु क्तियो चूर्णियो आदि चतुरगी के अशास्त्रीय उल्लेखो का अम्बार जैन जगत् के समक्ष रखते हुए अति विनम्र सुसभ्योचित भाषा मे यही कहा कि क्या ये मूलआगमो के प्रतिकूल चतुरगी की वाते किसी सत्यान्वेशी सच्चे जैन के लिये मान्य हो सकती है । जी चतुर है वे विचार करे ।"

लोकाशाह के एक-एक शब्द मे कैसी अगाध अनुकरणीय विनम्रता ओत-प्रोत है, इसका अनुमान पाठको को "लोकाशाह के ३४ बोल" नामक लघु पुस्तिका के अन्त मे निष्कर्ष के रूप मे लिखे गये निम्नलिखित वाक्यो से सहज ही हो सकता है—

"तथा बीजा बोल केतला एक विघटता छइ, ते भणी निर्युक्ति चउद पूर्व-धरनी भाषी किम सद्दहीइ ? ते भणी डाहइ मनुष्यइ सिद्धान्त ऊपरि रुचि करवी, जिम इह लोकइ पर लोकइ सुख उपजइ सही।"

सत्य के प्रस्तुतीकरण के साथ मन भावन मृदु मनोहर मनुहार के अतिरिक्त कही लेश-मात्र भी आक्रोश, अशिष्ट वचन अथवा कटुता का नामोनिशा तक नही।

इस सत्य तथ्य के उद्घाटन पर जहाँ एक ओर सत्यान्वेशियो ने लोकाशाह की सराहना की तो दूसरी ओर ज्ञानलवदुर्विदग्घात्माओ ने, पूर्वाभिनिवेशाभिभूत लोगो ने लोकाशाह को जी भर गालिया भी दी। पर समशत्रुमित्र स्थितप्रज्ञ लोका-शाह न तो सराहना से तुष्ट ही हुए और न असहिष्णु आलोचको की गालियो से रुष्ट ही। वे तो शताब्दियो से मन्द बन गई नही अपितु मन्द बना दी गई जिन धर्म की ज्योति को जीवन भर उद्दीप्त करने मे प्रदीप्त करने मे प्राणपण से सलग्न रहे। लोकाशाह द्वारा उद्दीप्त-प्रदीप्त की गई सद्धर्म की दिव्य ज्योति-ज्योतिष्मती मशाल आर्यधरा के इस कोण से उस कोण तक आज सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र का प्रकाश फैलाती हुई "तमसो मा ज्योतिर्गमय" की सूक्ति को चरितार्थ कर रही है। उलूक के न चाहने पर भी रोहणगिरि पर आरूढ अरुण वरुण का उदय अनादि काल से आज तक कभी नही रुका, उसी प्रकार घोर विरोध की तूफानी सघन-घन-घटाओ के घटाटोप के उपरान्त भी आडम्बरो के अम्बारो से आच्छादित सच्चे आगमानुसारी जैनधर्म का आध्यात्मिक स्वरूप क्रमश हरिभद्र सूरि आदि उपरि नामोल्लिखित पूर्वाचार्यों के क्रमिक तथ्योद्घाटनो और अन्ततोगत्वा लोकाशाह के सद्प्रयत्नो से अपनी अलौकिक आभा लिये प्रकाश मे आकर ही रहा।

लगभग पाच सौ बत्तीस वर्ष पूर्व लोकाशाह ने प्रमाण पुरस्सर कहा था— "ये निर्युक्तिया वस्तुत चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु की रचनाए कदापि नही हो सकती।" उनके इस कथन का उस समय लोकाशाह के विरोधियो द्वारा कटुतर भाषा मे विरोध किया गया। विरोध और अनुमोदन—दोनो ही प्रकार की प्रक्रियाए लगभग साढे चार शताब्दियो तक चलती रही।

किन्तु ई सन् १९३१ मे जर्मन विद्वान् हर्मन जैकोबी ने भी सप्रमाण स्पष्ट शब्दो मे कहा —

The author of the Niryukties Bhadrabahu is identified by the Jains with the patriarch of that name who died 170 A V There can be no

doubt that they are mistaken For the account of seven schisms (Ninhaga) in the Avashyaka Niryukti VIII 56-100 must have been written 584 and 609 of the Vira Era There are the dates of the 7th and 8th schisms of which only the former is mentioned in the Niryukti It is there fore, certain that the Niryukti was composed before the 8th schism 609 A V [1]

एक निष्पक्ष विदेशी विद्वान् के इस तथ्योद्घाटन ने जैन इतिहास के विद्वानो का ध्यान इस तथ्य की ओर आकर्षित किया। विभिन्न ग्रन्थो के एतद्विषयक उल्लेखो के विश्लेषणात्मक पर्यालोचन से अनेक नवीन तथ्य प्रकाश मे आये और श्वेताम्बर परम्परा के प्राय सभी मनीषी विद्वानो ने यह अभिमत प्रकट किया कि निर्युक्तियो के रचनाकार श्रुतकेवली भद्रबाहु नही अपितु ईसा की छठी शताब्दी के अन्तिम चरण से सातवी शताब्दी के प्रारम्भ से पूर्व हुए निमित्तज्ञ भद्रबाहु है। तो इस प्रकार वि स १५०८ मे लोकाशाह ने निर्युक्तियो के रचनाकार के सम्बन्ध मे गहन अन्वेषण के पश्चात् जो तथ्य प्रकट किया था, उसे आज प्राय सभी विद्वान् मानने लग गये है।

लोकाशाह ने इसी आगमवचन को प्रकाश मे लाते हुए कहा था— अक्षय-अव्याबाध-अनन्त-शाश्वत-सुखनिधान मोक्ष-धाम मे विराजमान निरञ्जन-निराकार, सच्चिदानन्द घन स्वरूप सिद्ध भगवन्त-जिनेश्वर प्रभु इस जन्म-जरा-मृत्यु आदि अनन्त दु खो से ओत-प्रोत ससार मे कभी लौट कर नही आयेगे। चाहे कोई एक दिन, एक मास, एक वर्ष, एक शताब्दी-सहस्राब्दि-लक्षाब्दि तक तो क्या अनन्तानन्त लक्षाब्दियो तक भी उनका आह्वान क्यो न करता रहे, वे पुन इस ससार मे नही आयेंगे-नही आयेंगे—कदापि नही पधारेंगे। क्या है कोई एक भी ऐसा जिनवाणी मे अटूट आस्था रखने वाला व्यक्ति अथवा विद्वान् जो इस शाश्वत सत्य को विनष्ट-निरस्त करने की चेष्टा करना चाहेगा ? तो फिर रत्न-स्वर्ण-रजत-कास्य-पीतल-प्रस्तर आदि से निर्मित मूर्तियो मे मन्त्रो द्वारा सिद्धशिला पर विराजमान जिनेश्वर प्रभु का आह्वान कैसा ? प्राण-प्रतिष्ठा कैसी ? क्या एकादशागी मे-निर्ग्रन्थ प्रवचन मे-गणिपिटक मे एक भी ऐसा मन्त्र है जिसे श्रमण भ महावीर ने सिद्धक्षेत्र मे विराजमान जिनेश्वरो के मूर्ति मे आह्वान के लिये, मूर्ति मे उन जन्म-जरा-मृत्युञ्जयी अजन्मा जिनेश्वरो की प्राण प्रतिष्ठा के लिये प्ररूपित किया हो अथवा गणधरो ने दृब्ध किया हो ? क्योकि एकादशागी मे एक भी ऐसा मन्त्र विद्यमान नही है, इसलिये आपको, हमे और सभी को यही कहना पडेगा कि—"नही।"

प्रकाश तो सूर्य से ही होगा, सूर्य की मूर्ति से कदापि नही। मूर्ति सूर्य की है, पर अन्धकार पूर्ण गृह मे रखी हुई है। उस दशा मे उस सूर्य की मूर्ति के द्वारा दूसरो को प्रकाश दिये जाने की बात तो दूर उसके लिये स्वय को प्रकाशित करना भी

1 Parishishta Parva, Introductory, page 6

सभव नही हो सकेगा। उसको देखने के लिये सूर्य के प्रकाश की अथवा दीपक आदि किसी अन्य प्रकाश की अनिवार्यरूपेण आवश्यकता होगी। उस अधकारपूर्ण गृह की छत के छिद्र से यदि सूर्य की एक भी किरण सूर्यमूर्ति के पार्श्व मे रखे दर्पण पर पडेगी तो अधेरे घर मे उजाला होगा और सूर्य की वह मानवनिर्मित मूर्ति तत्काल दृष्टिगोचर हो जायगी। ठीक उसी प्रकार लोकाग्र पर अवस्थित सिद्धशिला पर अनन्त-अक्षय अव्याबाध सुख मे विराजमान निरञ्जन-निराकार-अजन्मा-अविकार अमूर्त जिनेश्वर भगवान् घट के पट खोलकर उनसे लौ लगाने वाले साधक के विशुद्ध निर्मल अन्त करण मे भक्त कवि के निम्नलिखित शब्दो मे सहसा अलौकिक दिव्य आलोक के रूप मे उद्भासित हो जायेगे —

मुक्तिगतोऽपीश ! विशुद्ध चित्ते,
गुणाधिरोपेण ममासि साक्षात्।
भानुर्दवीयानपि दर्पणेऽशु,
सगान्न किं द्योतयते गृहान्त ॥

लोकाशाह से उत्तरवर्ती काल के इतिहास विदो, मनीषी विद्वानो, निष्पक्ष चितको मे गहनशोध के अनन्तर इस सम्बन्ध मे अपने जो मननीय अभिमत व्यक्त किये हैं, वे इस प्रकार है —

लब्धप्रतिष्ठ पुरातत्वविद् विद्वान् श्री रमेश चन्द्र शर्मा, निदेशक, राजकीय सग्रहालय, मथुरा, जो लखनऊ के विख्यात राजकीय सग्रहालय मे भी महत्वपूर्ण पद पर रह चुके है, उन्होने मथुरा के राजकीय सग्रहालय मे उपलब्ध जैन इतिहास से सम्बन्धित पुरातत्व सामग्री के गहन अध्ययन के अनन्तर लगभग १२ पृष्ठ का एक शोधपूर्ण लेख तैयार कर उसे अनेक शोध पत्रिकाओ मे प्रकाशित करवाया।[1] श्री शर्मा के उस लेख के कतिपय महत्वपूर्ण अश इतिहास मे अभिरुचि रखने वाले पाठको के लिये यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे है :—

(१) "आयागपट्ट— किन्तु जैन मूर्तिकला का जो क्रमिक और व्यवस्थित रूप हमे मथुरा मे मिलता है, वह अन्यत्र नही। आरम्भ आयागपट्टो से होता है, जिसे जर्मन विद्वान् बूलर पूजा-शिला मानते है। डा वासुदेव शरण अग्रवाल का मत है कि "आयागपट्ट" शब्द "आर्यक" से निकला है, जिसका अभिप्राय-पूजनीय है। किसी सवत् के न मिलने से इनका ठीक समय बता सकना तो सभव नही है, किन्तु शैली के आधार पर विद्वानो ने अपना मन्तव्य प्रकट किया है। बी सी भट्टाचार्य इन्हे कुषाण युग से पहले का मानते है। डा लाहुजन ५० ई पूर्व से ५० ई के बीच निर्धारित करती है। डा अग्रवाल के अनुसार प्रथम शती ई इनका उचित काल

[1] इस लेख की पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि हमारे शोधार्थी विद्वान् ने तैयार की जो आ श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, जयपुर मे (हरी जिल्द के रजिस्टर मे) विद्यमान है।

है। निश्चय ही ये पूजा-शिलाए उस सक्रमण काल की है, जब कि उपासना का माध्यम प्रतीक थे और देवताओ तथा महापुरुषो को मानव रूप मे अकित करने का अभियान भी चल पडा था।[1] इनमे बहुत से शोभा चिन्ह उत्कीर्ण है और उपास्य देवता या महापुरुष का सकेत भी स्तूप, धर्म, स्वस्तिक आदि प्रतीको से ही हुआ है। कही-कही लेख मे उपास्य का नाम भी मिल जाता है। साथ ही कुछ आयागपट्ट ऐसे है, जिनके बीच मे प्रतीक के स्थान पर उपास्य की छोटी सी मानवाकृति आ गई है और उसके चारो ओर बडे-बडे प्रतीक है।

यह निर्विवाद है कि कुषाण काल मे महापुरुषो और देवताओ की स्वतन्त्र मानवाकृतियां बन गई थीं। इसके पहले प्रतीकोपासना ही प्रचलित थी (जैसा कि मथुरा के पूर्ववर्ती दूसरी और पहली शती ई की भरहुत और सांची कला शैलियो से स्पष्ट है।) अत प्रतीक और मूर्ति उपासना की सक्रमण स्थिति प्रथम शती ई पूर्व के मध्य से प्रथम शताब्दी ई के बीच मान लेना न्यायसगत है और मथुरा के जैन आयागपट्ट इसी अवधि के और कुषाण युग से पहले (के) ही है। प्रतीकोपासना के कट्टरपथी काल मे ब्राह्मणधर्म मे मूर्तियो की लोकप्रियता से प्रभावित हो कलाकार ने बहुत छोटे रूप मे कुछ आयागपट्टो मे अन्य प्रतीको के बीच तीर्थंकरो को भी आसीन कर दिया और सामाजिक प्रतिक्रिया की प्रतीक्षा करने लगा। जब उसे शनै शनै समर्थन प्राप्त हुआ तभी जिन प्रतिमाओ का निर्माण हुआ। यह समय कनिष्क के राज्यारोहण के आस-पास था और उसके समय मिले राज्याश्रय के फलस्वरूप माथुरी शिल्प का रूप सर्वत्र दमक उठा। आयाग-पट्टो मे जो शुभ चिन्ह प्राप्त होते है, वे अधिकाशत ये है —स्वस्तिक, दर्पण, पात्र या शरावसपुट–दो सकोरे, भद्रासन, मत्स्ययुगल, मगल कलश और पुस्तक। इन्हे अष्टमगल चिन्ह कहते हैं। इनकी सख्या कम या अधिक भी रहती है और चिन्हो मे अन्तर भी मिलता है—जैसे —श्रीवत्स, चैत्य का बोधिवृक्ष, त्रिरत्न भी प्राय चिन्हित पाये जाते हैं।

जिन-प्रतिमाओ की सामान्य विशेषताएँ—स्वतन्त्र जिन —मूर्तियाँ ध्यानभाव मे पद्मासनासीन अथवा दण्ड की तरह खडी—जिसे कायोत्सर्ग भी कहते हैं, इन दो रूपो मे मिली हैं। प्राचीन जिन–आकृतियाँ दिगम्बर अर्थात् नग्न हैं।

तीर्थंकर — मथुरा सग्रहालय की निश्चित सवत् से अकित प्रतिमाओ मे कुषाण स ५ (८३ ई) की चौमुखी मूर्ति बी ७१ सब से प्राचीन है। सामान्य जिन—प्रतिमाओ मे प्राचीन है कनिष्क स १७ अर्थात् ८५ ई की चरण चौकी (सख्या ५८–३३८५), और सबसे बाद की है स ९२ अर्थात् १७० ई की वासुदेव के शासन की।

---

[1] विभिन्न विद्वानो के सक्षिप्त विचार के लिये इस लेख के लेखक का निबन्ध 'Early phase of Jain Econography' Chhotelal Commemoration Vol cal p 59-60 देखें।

नेमिनाथ — अन्य मूर्ति सख्या ३४–२५०२ मे मध्य मे आवक्ष नेमिनाथ के दाहिनी ओर सात सर्पफरणधारी चतुर्भुजी बलराम है जिनके ऊपर के बाये हाथ मे हल है, जो बलराम की मुख्य पहचान है। बाई ओर श्री कृष्ण को विष्णु रूप मे दिखाया है, जिनके चार भुजाए है। · ··यह प्रतिमा कुषाण काल के अन्त और गुप्त युग के आरम्भ की प्रतीत होती है।"

जिस प्रकार राजकीय सग्रहालय मथुरा की पुरातत्व सामग्री के गहन अध्ययन के अनन्तर प्रमाण पुरस्सर उपरिलिखित तथ्यो पर पुरातत्व विभाग के मान्य विद्वान् श्री शर्मा ने प्रकाश डाला है, उसी प्रकार कर्णाटक प्रदेश के प्राचीन एव मध्ययुगीय ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर इतिहास के तटस्थ विद्वान् श्री रामभूषण प्रसादसिंह ने अपनी पुस्तक "जैनिज्म इन अर्ली मीडियेवल कर्णाटक" मे लिखा है —

"Naturally the early Jains did not practice image worship, which finds no place in the Jaina Canonical literature"

इसी प्रकार कन्या कुमारी की "श्री पादपारेइ" नामक जो पहाडी समुद्र तट से २०० गज सागर के अन्दर की ओर है, उस पहाडी की चट्टान पर अकित पवित्र चरण-चिह्न को तीर्थकर भगवान् का चरण चिह्न बताते हुए इतिहासज्ञ विद्वान् एस पद्मनाभन ने "The forgotten History of the Land's End" मे सर मोन्योर विलियम का मूर्तिपूजा व चरण-चिह्न-पूजा के सम्बन्ध मे अभिमत व्यक्त करते हुए लिखा है —

"He opines that Jainism first introduced foot-print-worship in Indian religion"

तो जिस प्रकार भव-विरह याकिनी महत्तरा सूनु हरिभद्र सूरि से लेकर वर्तमान काल के श्री रमेशचन्द्र शर्मा, एस पद्मनाभन, रामभूषण प्रसादसिंह आदि विद्वानो ने जैनो मे प्रचलित मूर्तिपजा के सम्बन्ध मे जो अभिमत व्यक्त किए है, उसी प्रकार महान् धर्मोद्धारक लोकाशाह ने भी "षड्जीव निकायो मे से किसी भी जीव निकाय के प्राणियो की किसी भी स्वार्थ-परमार्थ परक प्रयोजन से, यहा तक कि मुक्ति प्राप्ति के लिए भी यदि हिंसा की जाय तो वह हिंसा, हिंसा करने, कराने और उस हिंसा का अनुमोदन करने वाले के लिए घोर अहित का, महाअनर्थ का और अनन्तकाल तक भवभ्रमण कराने वाली अबोधि का कारण होती है"—इस प्रकार के मूल आगमो के आधार पर एव महानिशीथ के उपर्युद्धृत उल्लेखो के आधार पर मन्दिर-मूर्ति-निर्माण आदि के माध्यम से होने वाली द्रव्यार्चना-द्रव्यपूजा को अश्रेयस्करी और भावार्चना-भावपूजा को परम श्रेयस्करी बताया।

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के परवर्तीकाल से लेकर लोकाशाह द्वारा किये गये धर्मक्रान्ति के सूत्रपात के समय तक जैन धर्म के स्वरूप मे, श्रमणो के आचार-विचार-व्यवहार मे किस प्रकार की विकृतिया आ गई थी, इस पर प्रस्तुत ग्रन्थ मे विस्तारपूर्वक तटस्थ भाव से पुरातात्विक, प्राचीन ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर प्रकाश डाला गया है। उस समय श्रमण समूह के चक्षुतुल्य माने गये आचार्य का श्रमणाचार किस स्थिति को पहुँच गया था, इस सम्बन्ध मे–J B R A S Vol 10 p 260 f f मे उल्लिखित सोदन्ती से प्राप्त शिलालेख के साराश के रूप मे प्रसिद्ध पुरातत्वविद् इतिहासज्ञ स्व श्री पी बी देसाई द्वारा लिखित विवरण सत्यान्वेषियो के सन्तोष के लिए पर्याप्त होगा —

"Lastly, we may notice more inscription from Saundanti, which offers interesting details about the Jaina teachers The epigraph is dated A D 1228 The Jaina teacher was Munichandra, who is styled as the royal preceptor of Ratta House Munichandra's activities were not confined to the sphere of religion alone Besides being a spiritual guide and political adviser of the royal household, he appears to have taken a leading part not only in the administrative affairs, but also in connection with the military campaigns of the kingdom, he is stated to have expended the boundries of the Ratta territories and established their authority on a firm footing Both Laxmideo II and his father Kart Veerya IV were indebted to this divine for his sound advice and political wisdom Munichandra was well versed in sacred lore and proficient in military science "Worthy of respect, most able among ministers, the establishers of Ratta kings, Munichandra surpassed all others in capacity for administration and in generosity "[1]

यह तो थी लोकाशाह से २२३ वर्ष पूर्व श्रमणाचार की स्थिति। लोकाशाह के समय मे श्रमणाचार की स्थिति वस्तुत महानिशीथ के सावद्याचार्य के प्रकरण मे वर्णित चैत्यवासी श्रमणो के आचार-विचार व्यवहार की स्थिति जैसी ही थी। इस सम्बन्ध मे एक आश्चर्यकारी उल्लेख इसी शताब्दी के इतिहासज्ञ ज्योतिष विद्या विशेषज्ञ बहुश्रुत विद्वान् स्व प श्री कल्याण विजयजी महाराज सा द्वारा सकलित सम्पादित "पट्टावली पराग सग्रह" नामक ग्रथ मे मुद्रित 'राज विजय सूरी गच्छ की पट्टावली' मे मिलता है। विक्रम की १६वी शताब्दी मे श्रमण परम्परा

---

[1] Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs, by P B Desai, p 114 115 (Published by–Jain Sanskriti Samrakshak Sangh, Sholapur, 1957)

के श्रमणाचार पर प्रकाश डालने वाला वह आश्चर्यकारी उल्लेख अक्षरश इस प्रकार है –

"५८वे पाट पर श्री आनन्द विमल सूरि हुए, एक समय आबू पर यात्रार्थ गये, सूरिजी (च) तुमुंख चैत्य मे दर्शन कर विमल वसही के दर्शनार्थ गये, गभारा के बाहर खडे दर्शन कर रहे थे, उस समय अर्बुदा देवी श्राविका के रूप मे आचार्य के दृष्टिगोचर हुई, आचार्य श्री ने उसे पहचान लिया और कहा–देवी ! तुम शासन भक्त के होते हुए लुंगा के अनुयायी जिन मन्दिर और जिन-प्रतिमाओ का विरोध करते हुए, लोगो को जैन मार्ग से श्रद्धाहीन बना रहे है, तुम्हारे जैसो को तो ऐसे मतो को मूल से उखाड डालना चाहिये। यह सुनकर देवी बोली–पूज्य ! मैं आपको सहस्रो (स्रौ) षधि का चूर्ण देती हू। वह जिसके सिर पर आप डालेंगे वह आपका श्रावक बन जायेगा और आपकी आज्ञानुसार चलेगा, इसके वाद अर्बुदा देवी आचार्यश्री को योग्य भलामरण देकर अदृश्य हो गई, बाद मे आचार्य वहा से विहार करते हुये विरल (विसल) नगर पहुँचे, वही श्री विजयदान सूरि चातुर्मास्य रहे हुए थे, वही आकर आनन्द विमल सूरिजी ने देवी प्रश्नादिक सब बाते विजयदान सूरिजी को सुनायी, जिससे वे भी इस काम के लिए तैयार हुए, वहा से आनन्दविमल सूरि और विजयदान सूरि अहमदाबाद के पास गाव बारेजा मे राजसूरिजी के पास आए और कहा–हम दोनो लुंका मत का प्रसार रोकने के कार्यार्थ तत्पर है, तुम भी इस काम के लिये तैयार हो जाओ, यह कहकर श्री आनन्द विमल सूरि जी ने कहा–मेरे पट्टधर विजयदान सूरि हैं ही और विजयदान सूरि के उत्तराधिकारी श्री राजविजय सूरि को नियत करके अपन तीनो आचार्य तपगच्छ के मार्ग की मर्यादा निश्चित करके अपने उद्देश्य के लिये प्रवृत्त हो जाए, आनन्दविमल सूरिजी ने श्री राजविजय सूरि को कहा—तुम विद्वान् हो इसलिये हम तुम्हारे पास आये हैं, लुंकामति जिन शासन का लोप कर रहे है, मेरा आयुष्य तो अब परिमित है, परन्तु तुम दोनो योग्य हो, विद्वान् हो और परिग्रह सम्बन्धी मोह छोडकर वही वट की वटियाँ जल मे घोल दी है, सवा मन सोने की मूर्ति अन्धकूप मे डाल दी, सवा पाव सेर मोतियो का चूरा करवा के फेंक दिया है, दूसरा भी सभी प्रकार का परिग्रह छोड दिया है।

श्री राजविजय सूरि ने स० १५८२ मे क्रियोद्धार करने वाले लघुशालिक आचार्य श्री आनन्द विमल सूरि के पास योगोद्वहन करके श्री राज विजय सूरि नाम रखा, बाद मे तीनो आचार्यों ने अपने-अपने परिवार के

साथ भिन्न-भिन्न देशो मे विहार किया।"[1]

किस धरातल तक पहुँच गया था श्रमण वर्ग और उसका श्रमणाचार ? जिन शासन की इस प्रकार की दयनीय दशा से दुखित हो लोकाशाह को धर्मक्रान्ति का शखनाद पूरना पडा। श्रमणवर्ग और श्रमणाचार की इस प्रकार की अशास्त्रीय दु.खद स्थिति लोकाशाह द्वारा प्रारम्भ की गई धर्मक्रान्ति के ७४ वर्ष पश्चात् तक की है लोकाशाह के समय मे तो अनुमान किया जा सकता है कि इससे भी कही अधिक दयनीय दशा रही होगी। श्री तपागच्छ पट्टावली-सूत्र की गाथा सख्या १८ की व्याख्या मे लिखा है—

"आनन्द विमल सूरि क समय मे साधुओ मे शिथिलता अधिक बढ गई थी, उधर प्रतिमा विरोधी तथा साधु विरोधी लुपक तथा कटुक मत के अनुयायियो का प्रचार प्रतिदिन बढ रहा था। इस परिस्थिति को देखकर आनन्द विमल सूरि जी ने अपने पट्टगुरु आचार्य की आज्ञा से शिथिलाचार का परित्याग रूप क्रियोद्धार किया। आपके इस क्रियोद्धार मे कतिपय सविग्न साधुओ ने साथ दिया, यह क्रियोद्धार आपने १५८२ के वर्ष मे किया। आपकी इस त्यागवृत्ति से प्रभावित होकर अनेक गृहस्थो ने "लुकामत" तथा "कडुआमत" का त्याग किया और कई कुटुम्ब धनादि का मोह छोडकर दीक्षित भी हुये।

क्रियोद्धार करने के बाद श्री आनन्द विमल सूरि जी ने १४ वर्ष तक कम से कम षष्ठतप करने का अभिग्रह रखा। आपने उपवास तथा छट्ठ से २० स्थानक तप का आराधन किया, इसके अतिरिक्त अनेक विकृष्ट तप करके अन्त मे (वि स) १५९६ मे चैत्र सुदि मे आलोचनापूर्वक अनशन करके नव उपवास के अन्त मे अहमदाबाद नगर मे स्वर्गवासी हुए।"[2]

यह सब प्रत्यक्षत एव परोक्षत उस शान्त-शीतल धर्म-क्रान्ति का ही प्रताप था, जिसका सूत्रपात धर्मोद्धारक धर्मवीर लोकाशाह ने विक्रम की सोलहवी शताब्दी के प्रथम दशक मे किया। अमावस्या की घोर अन्धकारपूर्ण काल रात्रि मे पथ भूला हुआ पथिक जिस प्रकार प्रात प्रभाकर के प्रकाश मे सही मार्ग पर आरूढ हो अपने लक्ष्य स्थल निजगृह मे आ जाता है। ठीक उसी प्रकार महानिशीथोद्धार के रूप मे याकिनी महत्तरा सूनु आचार्य हरिभद्र सूरि द्वारा, तदनन्तर समय-समय पर अनेक भवभीरू एव धर्म सघ के चक्षुभूत आचार्यों द्वारा इगित और अन्ततोगत्वा धर्मवीर

---

[1] पट्टावली पराग सग्रह, लेखक और सम्पादक प कल्याण विजय गणि, प्रकाशक श्री क वि शास्त्र सग्रह समिति के व्यवस्थापक शा मुनिलालजी थानमलजी—श्री जालोर (राजस्थान) वि स २०२३। पृष्ठ १८८–१८९

[2] वही पृष्ठ १५३–१५४

लोकाशाह द्वारा प्रबल वेग से प्रदीप्त की गई-सद्धर्म की ज्योति के प्रकाश मे लगभग एक हजार वर्ष से धूमिल रहे सत्पथ को, जिन धर्म के सच्चे मूल स्वरूप को, और सच्चे श्रमणाचार को भव्यात्माओ ने पहिचाना, समझा और स्वीकार किया। गुजरात, गोडवाड, मारवाड, मेवाड, ढू ढाड, हाडोती, मत्स्य, मालवा, उत्तर प्रदेश के अनेक क्षेत्रो मे लोकाशाह द्वारा प्रदीप्त की गई सद्धर्म की मशाल का प्रकाश आश्चर्यकारी वेग से फैलने लगा। जैन सघ मे उस धर्म क्रान्ति के प्रताप से नवजीवन का सचार हुआ। लगभग एक हजार वर्ष से प्रगाढ निद्रा मे सोये हुए अनेक गच्छो ने करवट बदली। गच्छाधिपति सूरीश्वर आनन्द विमल सूरि स्वय के कथनानुसार सवामण सोने सवा सेर मोतियो, वही-वट की बहियो (देश के किसी भी भाग मे बसने वाले अपने श्रावको के परिवार के सभी सदस्यो के नाम, उनके द्वारा समय-समय पर गुरु चरणो मे की जाने वाली रजत अथवा स्वर्णमुद्राओ की भेट के लेखे-जोखे की बहिया—Account Books) और अन्य सभी प्रकार के परिग्रह का परित्याग और क्रियोद्धार कर घोर तपश्चरण, अप्रतिहत विहार, भव्य प्रतिबोधन, मूर्तियो की प्रतिष्ठा, मन्दिरो के नवनिर्माण आदि के रूप मे अभिनव उत्साह के साथ स्व-पर-कल्याण एव जिन शासन की प्रभावना के कार्य क्षेत्र मे अग्रसर हुए। एक हजार वर्ष की निद्रा-तन्द्रा लोकाशाह द्वारा उद्घोषित दुन्दुभिघोष से ही तो भग हुई—यह तथ्य तो श्री आनन्द विमल सूरि के कथन से और लोकाशाह के आलोचक आचार्यो-श्रमणो आदि द्वारा रचित छोटी बडी अनेक कृतियो से स्पष्टत प्रकट होता है। लोकाशाह द्वारा की गई धर्म क्रान्ति से प्रेरणा लेकर श्रमण भ० महावीर के धर्म सघ के विभिन्न गच्छो के आचार्यो, श्रमण-श्रमणि समूहो ने धर्म सघ मे एक सहस्राब्दि से घर किये हुए शिथिलाचार के विरुद्ध एक व्यापक अभियान प्रारम्भ किया, इस अर्थ मे तो चाहे कोई माने अथवा न माने प्रत्येक जैन धर्मावलम्बी लोकाशाह के प्रति कृतज्ञता-आभार आदि के आध्यात्मिक भार से भाराक्रान्त है।

उपरिलिखित सभी तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे पूर्वाभिनिवेश-विमुक्त प्रशान्त मन से विचार करने पर प्रत्येक निष्पक्ष विज्ञ विचारक को सुस्पष्ट रूप से इस तथ्य की अनुभूति होगी कि इस धर्मक्रान्ति का श्रेय हमने-आपने-सभी ने लोकाशाह के सिर पर रख दिया, अन्यथा उन्होने कोई नई बात नही कही। लोकाशाह ने तो केवल उन तथ्यो की ओर जैन-जन-जन का ध्यान आकर्षित किया जो आचाराग आदि आगमो, महानिशीथ आदि आगमिक ग्रन्थो, दर्शनसार, पट्टावलियो, सघादेश आदि मे पूर्वाचार्यो के तथ्य प्रतिपादक कथनो के रूप मे बहुत पहले से ही विद्यमान थे। उदाहरण के रूप मे जैसा कि पहले मूल सूत्र पाठ के उल्लेख के साथ बताया जा चुका है, आचाराग मे स्पष्ट उल्लेख है कि—वह कोई भी कार्य चाहे किसी भी उद्देश्य से किया जाय, यहा तक कि मोक्ष प्राप्ति के लिये भी किया जाय, उसमे यदि षट् जीव निकाय मे से किसी भी जीव निकाय के प्राणियो की हिंसा होती है तो वह कार्य अबोधि का जनक और अनन्त काल तक अनन्त दु खो से ओतप्रोत ससार मे

भटकाने वाला होगा। यही तथ्य महानिशीथ मे मरकत छवि कमलप्रभ (जिनका महानिशीथ के शब्दो मे—चैत्यवासियो ने सावद्याचार्य नाम रख दिया) और भावार्चना को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने वाले प्रकरणो मे—प्रकाशित किया गया है। इसी तथ्य को तो लोकाशाह ने भी दुन्दुभि घोष-सन्निभ घोष मे प्रकट किया। लोकाशाह ने नई बात कौन सी रखी ?

इसी प्रकार अरणहिल्लपुर पत्तन की सोलकीराज दुर्लभराज की सभा मे चैत्यवासियो के साथ हुए शास्त्रार्थ मे वर्द्धमान सूरि की विद्यमानता मे उनके शिष्य जिनेश्वर सूरि ने स्पष्ट शब्दो मे कहा था कि वे गणधरो द्वारा ग्रथित एव चतुर्दश पूर्वधरो द्वारा निर्यू ढ आगमो को ही प्रामाणिक मानते हैं। यही बात लोकाशाह ने कही। लोकाशाह के किसी भी कथन मे ऐसी नवीनता कहाँ है जो आगमो मे तीर्थंकर प्रभु महावीर द्वारा अथवा आगमिक तथा आगमेतर ग्रन्थो मे पूर्वाचार्यो द्वारा आगम-सम्मत न कही गई हो। इस प्रकार की स्पष्ट तथ्यपूर्ण स्थिति के होते हुए भी यदि कोई तिल का ताड और बुलबुले का बवाल बनाने पर ही कटिबद्ध हो तो उसको दूर से ही नमस्कार कर लेने के अतिरिक्त अन्य कोई करणीय अवशिष्ट नही रह जाता।

प्रस्तुत ग्रन्थ मे—आगमो, प्राचीन ताडपत्रो-ताम्रपत्रो, ग्रन्थो, पुरातात्विक अभिलेखो-अवशेषो, यशस्वी इतिहासविदो एव विद्वान् आचार्यो द्वारा देश के विभिन्न स्थानो मे समय-समय पर प्रकट किये गये जिन तथ्यो के आधार पर जैन धर्म के विशुद्ध स्वरूप, जैन धर्म की आध्यात्मिक आराधना-उपासना विषयक मूल मान्यताओ पर प्रकाश डालते हुए अन्तिम पूर्वधर वाचनाचार्य आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती इतिहास को अन्धकार से प्रकाश मे लाने का प्रयास किया गया है, उन तथ्यो मे से उदाहरणार्थ कतिपय महत्वपूर्ण तथ्य सक्षेप मे ऊपर बताये गये है।

पूर्वाग्रहो से पूर्णत विनिर्मुक्त हो क्षीर-नीर विवेकपूर्ण जिज्ञासु एव तथ्यान्वेषक दृष्टि से यदि विज्ञ पाठकवृन्द प्रस्तुत ग्रन्थ को अथ से इति तक पढेगे तो हमारा विश्वास है कि आज तक जिस अवधि के इतिहास को तिमिराच्छन्न समझा जाता था, वह अलौकिक आभापु ज के रूप मे उन्हे प्रतीत होगा। वीर निर्वाण की ग्यारहवी शताब्दी के प्रारम्भिक चरण से लगभग २१वी शताब्दी तक जैन सघ पर छाई रही चैत्यवासी आदि अनेक द्रव्य-परम्पराओ के वर्चस्व के परिणामस्वरूप उन द्रव्य परम्पराओ द्वारा रूढ कर दी गई बाह्याडम्बरपूर्ण मान्यताओ के कुहरे मे जैनधर्म का जो मूल विशुद्ध स्वरूप धूमिल हो चुका था, उसे धर्मोद्धारक लोकाशाह आदि ने जिस तरह उजागर किया, उसका विवरण पूर्णिमा के पूर्णचन्द्र की भाति जैन जगत के जन-जन के अन्तर्मन को आलोकित कर देगा।

जिनके मन पूर्वाग्रहो से पराभूत है, वे भी इन सब तथ्यो के अध्ययन-चिन्तन-मनन के अनन्तर अन्तर्मन मे इतना तो अवश्य अनुभव करेंगे कि वस्तुत मूलागमो,

के सयौक्तिक ठोस ग्राधारो पर लिखा गया यह इतिहास सभी प्रकार की भ्रान्तियो को ध्वस्त कर देने वाला सिद्ध होगा ।

केवल तथ्य को प्रकाश मे लाने के उद्देश्य से ही एक ग्रवधि के तिमिराच्छन्न जैन इतिहास को ग्रन्धेरे से उजाले मे लाने का यह प्रयास किया गया है । वस्तुत यह प्रयास जिनवाणी के माध्यम से जिनवाणी को ही प्रकाश मे लाने का प्रयास मात्र है । इन ग्रागमिक एव पुरातन प्रामाणिक तथ्यो को कोई माने ग्रथवा न माने—इसमे हमारा किसी से कोई ग्राग्रह नही । ससार के सभी प्राणी प्रकाश से प्रसन्न हो, यह न तो कभी हुग्रा है ग्रौर न भविष्य मे कभी सभव ही होगा । इस प्रयास मे हमे कितनी सफलता मिली है, इसका मूल्याकन तो विज्ञ पाठक एव विद्वान् इतिहासज्ञ स्वय कर सकेंगे ।

ग्रन्त मे हम सम्पादक मण्डल सहित उन सभी ग्रन्थकारो के प्रति ग्रान्तरिक ग्राभार प्रकट करते है, जिनके ग्रन्थो से हमे इस दुरूह कार्य मे सहायता मिली है ।

ग्रपने शैशवकाल (१६७०) से ही ग्राचार्यदेव के प्रति प्रगाढ श्रद्धा भक्ति रखने वाली हमारी मु हबोली बिटिया राजेश्वरी कुशवाहा १६७८ से ही इतिहास सामग्री के ग्रालेखन मे हमे यथाशक्य सहयोग देती ग्रा रही है । प्रस्तुत ग्रन्थ की पाण्डुलिपि के तैयार करने मे भी उसने ग्रौर उसके पति कु वर रामसिंह राठोड, बी काम ने हम दोनो की बडी सहायता की । हम सखाद्वय इस युगल जोडी की सुख-समृद्धिपूर्ण शतायु की कामना करते है ।

गजसिंह राठोड,
न्या० व्या० तीर्थ सिद्धान्त विशारद
प्रेमराज जैन,
न्याय-सिद्धान्त विशारद व्याकरण तीर्थ

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(प्रेरक एव मार्ग दर्शक – पूज्य आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज)
के सम्बन्ध मे

दो शब्द

माननीय पद्म विभूषण डॉ० दौलत सिंह कोठारी
वासलर, जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली

युगादि से अद्यावधि पर्यन्त के जैन इतिहास पर शोधपूर्ण प्रकाश डालने वाला यह अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य एक ऐसे ख्याति प्राप्त महान् श्रमण श्रेष्ठ जैनाचार्य के मार्गदर्शन मे सम्पन्न किया जा रहा है, जिनका जीवन विगत ६३ वर्ष जैसी सुदीर्घावधि से भगवान् महावीर के पच महाव्रतात्मक महान् सिद्धान्त अहिंसा-सत्य-अस्तेय-ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के प्रति एव न केवल मानवता के कल्याण के प्रति अपितु निखिल विश्व के सकल चराचर प्राणिवर्ग के कल्याण के प्रति भी पूर्णत समर्पित है, एव जिसमे वे अहर्निश प्रतिपल प्रतिक्षण निरत है।

इस गुरुतर कार्य को पाच वृहदाकार भागो मे निष्पादित किये जाने का सकल्प है। सकल्पाधीन उन पाच भागो मे से प्रथम और द्वितीय ये दो भाग प्रकाशित हो चुके है। तीसरा भाग यह प्रस्तुत ग्रन्थ भी प्रकाशन प्रक्रिया की पूर्णाहुति के साथ ही धर्म सघ के कर-कमलो मे समर्पित होने जा रहा है। इस ग्रन्थमाला के चतुर्थ और पचम ये शेष दो भाग निर्माणाधीन है। इस इतिहास ग्रन्थमाला के प्रथम भाग मे, युगादि मे, पुरातन प्रागैतिहासिक काल मे हुए मानव सस्कृति के सूत्रधार प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समय से लेकर चौबीसवे (अन्तिम) तीर्थंकर भगवान् महावीर के निर्वाण समय तक के जैन धर्म के इतिहास को समाविष्ट किया गया है। द्वितीय भाग मे भगवान् महावीर के प्रथम शिष्य गौतम, प्रथम पट्टधर एव प्रचलित जैनाचार्य परम्परा के प्रथम आचार्य आर्य सुधर्मा से लेकर २७वे पट्टधर आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय तक निर्वाणोत्तर १००० वर्ष का जैन धर्म का इतिहास निबद्ध किया गया है। प्रस्तुत तृतीय भाग मे वीर निर्वाण स० १००१ से १४७५ तक अर्थात् स्वनाम धन्य हेमचन्द्राचार्य से १६१ वर्ष पूर्व तक जैन इतिहास का आलेखन किया गया है। निर्माणाधीन चतुर्थ भाग मे वीर निर्वाण स० १४७५ से लोकाशाह तक अर्थात् वीर निर्वाण स० १९७८-२००१ तक का

और इस ग्रन्थ माला के अन्तिम पाँचवे भाग मे लोकाशाह से प्रारम्भ कर वर्तमान काल से थोडा आगे तक अर्थात् वीर निर्वाण स० २००१ से अनुमानत वीर निर्वाण स० २५१५ तक का इतिहास निबद्ध किया जायेगा ।

इस गुरुतर कार्य के निष्पादन के साथ विविध आयामो मे सुदीर्घकालीन अथक श्रम एवम् दृढ सकल्पो की लम्बी शृखला जुडी हुई है । विशाल भारत के विभिन्न प्रदेशो के ग्रन्थागारो, सग्रहालयो, विस्तीर्ण क्षेत्रो मे विकीर्ण ज्ञात-अज्ञात ग्रन्थो, पत्रो, अभिलेखो एव ऐतिहासिक सामग्री के पुरातात्विक स्रोतो को शोध दृष्टि से खोज-खोज कर उन स्रोतो के आधार पर इस दुरूह कार्य का निष्पादन-सपादन आधे से अधिक किया जा चुका है और शेष किया जा रहा है । इस ग्रन्थमाला के आलेखन मे महान् पूर्वाचार्यो, विद्वान् इतिहास लेखको के ग्रन्थो का, उदाहरणस्वरूप आचार्य हेमचन्द्र सूरि के त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, आचार्य प्रभाचन्द्र के प्रभावक चरित्र आदि का उपयोग किया गया है ।

इस ग्रन्थमाला की तथ्य प्रतिपादन शैली बडी ही रोचक, सरस, सरल, गहन-गम्भीर विद्वत्ता से परिपूर्ण और भावाभिव्यजना के सभी गुणो से समवेत है । अपनी सरस-सरल शैली के कारण यह ग्रन्थमाला बहुजनहिताय बडी उपयोगी सिद्ध होगी । प्रस्तुत ग्रन्थ मे जैन धर्म के उत्कर्ष, अपकर्ष, पुनरुत्थान के साथ-साथ समय-समय पर जैनधर्म की मूल मान्यताओ एव आचार मे किये गये ऐतिहासिक दृष्टि से अपरिहार्य परिवर्तनो और उनमे उत्पन्न हुई विकृतियो का क्रमिक इतिहास निबद्ध किया गया है । जैन धर्म वस्तुत महती महनीया पूर्ण अहिंसा की आधार शिला पर अवस्थित मन-वचन-कर्म से (मनसा-वाचा-कर्मणा) अहिंसामय धर्म है । इसी कारण महिला वर्ग के दैनन्दिन धार्मिक जीवन का और जैनधर्म के उत्कर्ष के लिये महिलाओ द्वारा दिये गये योगदान का जैन इतिहास मे विशिष्ट-महत्वपूर्ण स्थान है (उदाहरणार्थ, देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ, पृष्ठ स २०१) । महिलाओ द्वारा किये गये उस योगदान मे और समष्टि के कल्याण की भावनाओ से ओत-प्रोत उनके दैनन्दिन जीवन मे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण और परम श्रेयस्कर सजीव सन्देश है आज के सम्पूर्ण विश्व की समग्र मानवता के लिए, जो महान् उल्लास भरी महती आशाए लिये भावी अहिंसापूर्ण विज्ञान के युग की ओर उत्कट उत्कण्ठा के साथ अग्रसर होने जा रही है ।

वर्तमानकालीन प्रलयकर पारमाणविक शक्ति के युग मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि हृदयद्रावी-परमोत्पीडक भीषण सहारकारी सकट की घडियो मे भी कोई एक न एक ऐसे महान् सत, महान् विभूति अथवा उन महासतो की परम्परा का कोई न कोई ऐसा समर्थ उत्तराधिकारी महापुरुष आर्यधरा पर अवश्य विद्यमान रहा है, जिसने भ महावीर एव भ बुद्ध द्वारा उद्घोषित-आचरित एव उपदिष्ट विश्वबन्धुत्व और अहिंसा के सिद्धान्त की कभी न बुझने वाली महान अथवा

महत्तम दिव्य अमर ज्योति को जीवित-प्रज्वलित एव प्रदीप्त रखकर सर्वनाश की कगार पर खडी मानवता को घोर रसातल मे जाने से उबारा है। इस सन्दर्भ मे महान् इतिहासकार आरनोल्ड तोयन्बी के (श्री रामकृष्ण परमहस की पुस्तक की प्रस्तावना के) निम्नलिखित शब्द सहसा मेरे स्मृति पटल पर उभर आते है—

"मानव इतिहास के सर्वाधिक सहारकारी इस आणविक युग के घोर सकट-पूर्ण क्षणो मे मानवता के लिए सर्वनाश से मुक्ति पाने का एक मात्र उपाय वस्तुत भारतीय जीवन पद्धति को अपनाना ही है। अणुशक्ति के युग मे समग्र मानव जाति के पास भारतीय जीवन पद्धति को अपनाने के लिए सह अस्तित्व का लक्ष्य विकल्प के रूप मे है। पर सह अस्तित्व का यह विकल्प अपने आप मे अधिक शक्तिशाली अथवा अधिक सम्मानास्पद नही हो सकता। आज मानव जाति का अस्तित्व सकट मे है। यह सब कुछ होते हुए भी सर्वाधिक सशक्त और अधिक सम्मानास्पद सह अस्तित्व का लक्ष्य भारतीय जीवन पद्धति को मन वचन व कर्म से अपनाने के लिए माध्यम होने के फलस्वरूप सहायक साधन हो सकता है। मूल साधन तो यह है कि भारतीय जीवन पद्धति की शिक्षा ही वास्तविक सच्ची शिक्षा है क्योकि भारतीय जीवन पद्धति की शिक्षा का उद्गम आध्यात्मिक सच्चाई के सच्चे सही दृष्टिकोण से हुआ है।"

राष्ट्र सघ का घोषणा-पत्र इन शब्दो से प्रारम्भ होता है—"क्योकि युद्धो का प्रादुर्भाव अथवा प्रारम्भ सर्वप्रथम मानव मस्तिष्क मे होता है, इसलिए मानव मस्तिष्क मे यह बात भी रहती है कि शान्ति की सुरक्षा के उपायो का भी निर्माण करना चाहिए।" (यह हमे धम्मपद के प्रारम्भिक पद्यो की स्मृति दिलाता है।)

सबसे बडा और सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्न यह है—"यह सब कुछ कैसे किया जाय ? इस लक्ष्य को प्राप्त कैसे किया जाय ?" यद्यपि यह प्रश्न निखिल विश्व से, समष्टि से सम्बन्धित सर्वाधिक आवश्यक ज्वलन्त प्रश्न है अत इसे सर्वोपरि प्राथमिकता दी जानी चाहिये थी तथापि इस दिशा मे अद्यावधि अतीव नगण्य प्रयास किये गये है। नित नये वैज्ञानिक परीक्षणो और साहसिक अभियानो के वर्तमान युग मे मानव समाज को आत्मसयम, आत्मानुशासन एव अहिंसा की ओर मोड देने की आत्यन्तिकी आवश्यकता को देखते हुए आज इस समस्या के शीघ्र समाधान का और इसके प्रचार प्रसार का महत्व और भी अधिक बढ गया है। आत्मानुशासन और अहिंसा इन दोनो मे अन्योन्याश्रय (अन्योन्याभाव) सम्बन्ध होने के कारण दोनो का एक साथ होना अनिवार्यरूपेण परमावश्यक है। भारत मे स्वराज्य सग्राम का शुभारम्भ करते हुये गाधीजी ने घोषणा की थी कि स्वराज्य का अर्थ है—आत्म सयम—आत्मानुशासन अर्थात्—अपनी इच्छाओ को, अपने आपको अपने वश मे करना। श्रीमद्भगवद्गीता (११–६१) मे भी यही कहा गया है—

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।

जिसकी इन्द्रिया-इच्छाए अथवा आकाक्षाए उसके स्वय के वश मे है, केवल वही एक आत्मसयमी व्यक्ति अपने मन एव मस्तिष्क मे सत्य को धारण कर सकता है और उसी सत्य के अनुरूप आचरण कर सकता है। आइन्स्टीन भी यही कहते हे— "मानव का सच्चा प्राथमिक मूल्याकन उसके उन मनोभावो के अनुपात के मापदण्ड से ही निर्धारित किया जा सकता है कि उसने स्वय अपने आप से, अपनी इच्छाओ से किस अनुपात मे मुक्ति प्राप्त करली है।" भ० महावीर का सदेश इस प्रकार है (उत्तराध्ययन १/१५, समणसुत्त १४७) —

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो ।
अप्पा-दन्तो सुही होइ, अस्सि लोए परत्थ य ।।
एव खु नाणिणो सार, ज न हिंसइ कचण ।
अहिंसा सयम चेव, एतावते वियाणिया ।।

व्यक्ति के सच्चे ज्ञान का महत्व इसी बात पर निर्भर करता है कि उसने आत्मदमन कर मनसा, वाचा एव कर्मणा हिसा से निवृत्ति प्राप्त करली है। अहिसा वस्तुत बुद्धि की पवित्रता और मस्तिष्क की महानता की आधार शिला है।

विनोबाजी कहते हैं—"मैं कबूल करता हू कि मुझ पर गीता का गहरा असर है। उस गीता को छोडकर महावीर से बढकर किसी का असर मेरे चित्त पर नही है। गीता के बाद कहा, लेकिन जब देखता हू तो मुझे दोनो मे फरक ही नही दीखता है।"

विनोबा भावे को गीता और भ० महावीर की शिक्षाओ मे कोई अन्तर प्रतीत नही हुआ।

जिन शक्तियो ने मानव इतिहास के सामाजिक, सास्कृतिक, आर्थिक, राजनैतिक अथवा किसी भी क्षेत्र को प्रभावित कर उन्हे सुन्दर स्वरूप देने मे योगदान दिया है, उन सब शक्तियो मे धर्म ने सभवत सर्वाधिक सर्वव्यापी प्रभावशाली योगदान दिया है। धर्मो मे भी अहिसा धर्म वस्तुत मानव का सर्वोत्कृष्ट सर्वाधिक सशक्त आविष्कार है। इन सब तथ्यो के सदर्भ मे विचार करने पर आज की ज्वलन्त समस्या को हल करने मे सहअस्तित्व एव सामाजिक-सास्कृतिक समानता के क्षेत्र मे रुचि रखने वालो के लिये धर्म का और धर्म मे भी विशिष्ट रूप से अहिसा धर्म का महत्व सर्वाधिक सर्वोपरि सिद्ध होता है।

आचार्य श्री के अथाह चिन्तन-मनन, अथक् परिश्रम और अनमोल मार्गदर्शन ने "जैन धर्म का मौलिक इतिहास" नामक ग्रन्थमाला के रूप मे जो प्रेरणादायी बहुमूल्य देन जैनधर्म और जैन इतिहास को प्रदान की है, उसके लिए हम

परम पूज्य आचार्यश्री के प्रति मन के अन्तस्तल से अगाध कृतज्ञता प्रकट करते है।

हम इतिहास समिति से आशा करते हैं कि इस इतिहास माला के सभी भागो के साररूप मे पृथक्श एक ग्रन्थ का प्रकाशन भी करवाया जायेगा, जिससे कि बहुत बडी सख्या मे इतिहास प्रेमी लाभान्वित हो सके। इन सभी भागो के आग्ल भाषा मे भी सस्करण प्रकाशित करवाये जाय तो देश-विदेश के विभिन्न भाषा-भाषी निवासियो की एतद्विषयक बहुत बडी आवश्यकता की पूर्ति होगी।[1]

---

[1] यह डॉ० माहव के मूल अग्रेजी का हिन्दी रूपान्तर है। मूल अग्रेजी पाठ प्रस्तुत ग्रन्थ के 'परिशिष्ट' मे देखें।

एक वलोकन

अतीत काल से ही मानव के अन्तर्मानस मे ये प्रश्न उद्भूत होते रहे है कि मैं कौन हू ? कहा से आया हू ? मेरा स्वरूप क्या है ? और मै यहा से कहा जाऊगा ? जिस प्रकार वह स्वय के सम्बन्ध मे जानना चाहता है, उसी प्रकार उसके अन्तर्मानस मे परिवार, समाज, साहित्य और सस्कृति प्रभृति विषयो के सम्बन्ध मे भी जानने की उत्कट जिज्ञासा रहती है।

यह जिज्ञासा वृत्ति ही ज्ञान, विज्ञान, इतिहास और परम्परा की अन्वेषण के मूल मे रही हुई है। हमारा स्वर्णिम अतीत किस प्रकार व्यतीत हुआ है, यह प्रत्येक जिज्ञासु जानना चाहता है। पर प्रत्येक व्यक्ति मे जानने की ललक होने पर भी प्रतिभा की तेजस्विता के अभाव मे वह जान नही पाता। कुछ विशिष्ट मेधावी व्यक्ति, अपनी गौरव गरिमापूर्ण प्रतिभा से उन अप्रकट रहस्यो की परतो को समुद्घाटित कर, विशृ खलित शृ खलाओ को इस प्रकार समायोजित करते है कि प्रबुद्ध पाठक और सामान्य जिज्ञासु भी उन गुरु गम्भीर ग्रन्थियो को सहज ही सुलझा लेता है।

जैनधर्म विश्व का महान् वैज्ञानिक धर्म है। दर्शन है। यह आत्मा के परम और चरम विकास मे आस्था रखने वाला धर्म है, जो साध्य और साधना, दोनो की पावन पवित्रता मे विश्वास रखता है। इसमे आचार और विचार की समान शुद्धि पर बल दिया गया है। ऐतिहासिक दृष्टि से जैनधर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है। इसे मनुष्य लोक की अपेक्षा अनादि और अनन्त कहा जाय तो भी अत्युक्ति नही होगी।

यह धर्म एक स्वतन्त्र धर्म है। यह न वैदिक धर्म की शाखा है और न बौद्ध धर्म की। पुरातत्व, भाषा, विज्ञान, साहित्य और नृतत्व विज्ञान आदि से यह स्पष्ट हो गया है कि वैदिक काल से भी पूर्व भारत मे एक बहुत ही समृद्ध सस्कृति थी, जो समय-समय पर विभिन्न नामो से जानी पहिचानी जाती रही, और वही सस्कृति आज जैन सस्कृति के नाम से लोक विश्रुत है। इस सस्कृति के पुरस्कर्ता वर्तमान अवसर्पिणी काल मे प्रथम तीर्थंकर हुए है भगवान ऋषभदेव, वैदिक परम्परा के ग्रन्थो मे भी जिनकी गुण गरिमा का बखान किया गया है। उनके पश्चात् अजितनाथ आदि २२ तीर्थंकर हुए, जिनमे कितने ही तीर्थंकर प्रागैतिहासिक युग के है तो कितने ही ऐतिहासिक युग के हैं। भगवान् महावीर चौवीसवे तीर्थंकर हैं।

परम पूज्य आचार्यश्री के प्रति मन के अन्तस्तल से अगाध कृतज्ञता प्रकट करते है।

हम इतिहास समिति से आशा करते हैं कि इस इतिहास माला के सभी भागो के साररूप मे पृथक्‌श एक ग्रन्थ का प्रकाशन भी करवाया जायेगा, जिससे कि बहुत बडी सख्या मे इतिहास प्रेमी लाभान्वित हो सके। इन सभी भागो के आग्ल भाषा मे भी सस्करण प्रकाशित करवाये जाय तो देश-विदेश के विभिन्न भाषा-भाषी निवासियो की एतद्विषयक बहुत बडी आवश्यकता की पूर्ति होगी।[1]

---

[1] यह डॉ० माहव के मूल अग्रेजी का हिन्दी रूपान्तर है। मूल अग्रेजी पाठ प्रस्तुत ग्रन्थ के 'परिशिष्ट' मे देखें।

एक वलोकन

अतीत काल से ही मानव के अन्तर्मानस मे ये प्रश्न उद्भूत होते रहे है कि मैं कौन हू ? कहा से आया हू ? मेरा स्वरूप क्या है ? और मै यहा से कहा जाऊगा ? जिस प्रकार वह स्वय के सम्बन्ध मे जानना चाहता है, उसी प्रकार उसके अन्तर्मानस मे परिवार, समाज, साहित्य और सस्कृति प्रभृति विषयो के सम्बन्ध मे भी जानने की उत्कट जिज्ञासा रहती है ।

यह जिज्ञासा वृत्ति ही ज्ञान, विज्ञान, इतिहास और परम्परा की अन्वेषणा के मूल मे रही हुई है । हमारा स्वर्णिम अतीत किस प्रकार व्यतीत हुआ है, यह प्रत्येक जिज्ञासु जानना चाहता है । पर प्रत्येक व्यक्ति मे जानने की ललक होने पर भी प्रतिभा की तेजस्विता के अभाव मे वह जान नही पाता । कुछ विशिष्ट मेधावी व्यक्ति, अपनी गौरव गरिमापूर्ण प्रतिभा से उन अप्रकट रहस्यो की परतो को समुद्घाटित कर, विशृ खलित शृ खलाओ को इस प्रकार समायोजित करते है कि प्रबुद्ध पाठक और सामान्य जिज्ञासु भी उन गुरु गम्भीर ग्रन्थियो को सहज ही सुलझा लेता है ।

जैनधर्म विश्व का महान् वैज्ञानिक धर्म है । दर्शन है । यह आत्मा के परम और चरम विकास मे आस्था रखने वाला धर्म है, जो साध्य और साधना, दोनो की पावन पवित्रता मे विश्वास रखता है । इसमे आचार और विचार की समान शुद्धि पर बल दिया गया है । ऐतिहासिक दृष्टि से जैनधर्म विश्व का प्राचीनतम धर्म है । इसे मनुष्य लोक की अपेक्षा अनादि और अनन्त कहा जाय तो भी अत्युक्ति नही होगी ।

यह धर्म एक स्वतन्त्र धर्म है । यह न वैदिक धर्म की शाखा है और न बौद्ध धर्म की । पुरातत्व, भाषा, विज्ञान, साहित्य और नृतत्व विज्ञान आदि से यह स्पष्ट हो गया है कि वैदिक काल से भी पूर्व भारत मे एक बहुत ही समृद्ध सस्कृति थी, जो समय-समय पर विभिन्न नामो से जानी पहिचानी जाती रही, और वही सस्कृति आज जैन सस्कृति के नाम से लोक विश्रुत है । इस सस्कृति के पुरस्कर्ता वर्तमान अवसर्पिणी काल मे प्रथम तीर्थंकर हुए है भगवान ऋषभदेव, वैदिक परम्परा के ग्रन्थो मे भी जिनकी गुण गरिमा का बखान किया गया है । उनके पश्चात् अजितनाथ आदि २२ तीर्थंकर हुए, जिनमे कितने ही तीर्थंकर प्रागैतिहासिक युग के है तो कितने ही ऐतिहासिक युग के है । भगवान् महावीर चौवीसवे तीर्थंकर है ।

भगवान् महावीर के पश्चात् अनेक ज्योतिर्धर आचार्यो की पावन परम्परा चली। ऐतिहासिक दृष्टि से भगवान् महावीर के पश्चात् बारह बारह वर्ष के भयकर दुष्कालो के कारण श्रमणो की आचार सहिता मे शैथिल्य ने प्रवेश किया। आचार शैथिल्य के कारण विचारो मे भी परिवर्तन हुआ, जिसके फलस्वरूप श्रमण परम्परा श्वेताम्बर और दिगम्बर के रूप मे विभक्त हुई।

इसके पश्चात् इन दो धाराओ मे से भी गच्छ और उपगच्छ के रूप मे अनेक धाराए उपधाराए प्रस्फुटित हो गईं। इस प्रकार जैन सघ की अखडता मे बाधा समुपस्थित हुई। तथापि सद्भाग्य से समय-समय पर ऐसी विशिष्ट विभूतिया आती रही जिससे सघ मे आचार और विचार की दृष्टि से परिष्कार होता रहा। उन महान् विभूतियो का उत्कृष्ट आचार और विचार भूले बिसरे साधक साधिकाओ के लिये सम्बल के रूप मे उपयोगी रहा।

साहित्य की अन्य विधाओ की अपेक्षा इतिहास का लेखन अत्यन्त दुरूह कार्य है। उसमे सत्य तथ्यो की अन्वेषणा के साथ ही लेखक की तटस्थ दृष्टि अपेक्षित है। यदि लेखक पूर्वाग्रह से ग्रस्त है और उसमे तटस्थ दृष्टि का अभाव है तो वह इतिहास लेखन मे सफल नही हो सकता। मुझे परम आह्लाद है कि आचार्य प्रवर श्री हस्तीमलजी महाराज एक तटस्थ विचारक, निष्पक्ष चिंतक और आचार परम्परा के एक सजग प्रहरी सन्त रत्न हैं। उनके जीवन के कण-कण मे और मन के अणु-अणु मे आचार के प्रति गहरी निष्ठा है और वह गहरी निष्ठा इतिहास के लेखन की कला मे भी यत्र तत्र सहज रूप से मुखरित हुई है। प्रत्येक लेखक की अपनी एक शैली होती है। विषय को प्रस्तुत करने का अपना तरीका होता है। प्रत्येक पाठक का लेखक के विचार से सहमत होना आवश्यक नही तथापि यह साधिकार कहा जा सकता है कि आचार्य प्रवर के तत्वावधान मे बहुत ही दीर्घदर्शिता से इतिहास का लेखन किया गया है। उनकी पारदर्शी सूक्ष्म प्रतिभा के सदर्शन ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय मे किये जा सकते है।

"जैन धर्म का मौलिक इतिहास" नामक दो विराटकाय ग्रन्थ आचार्य श्री पूर्व मे दे चुके। जिन ग्रन्थो की मूर्धन्य मनीषियो ने मुक्त कठ से प्रशसा की है और उन्हे आचार्यश्री की अपूर्व देन के रूप मे स्वीकार किया है। उसी लडी की कडी मे यह तीसरा भाग भी आ रहा है। पूर्व के दो भागो की अपेक्षा इस भाग के लेखन मे लेखक को अधिक श्रम करना पडा है। इतिहास का यह ऐसा अध्याय है जो तमसाच्छन्न था। अनेक ऐसी विसगतिया थी, जिन्हे सुलझाना सामान्य लेखक की शक्ति से परे था। पर लेखक ने अपने गम्भीर अध्ययन, गहन अनुभव एव आचार्यश्री के अत्युत्तम मार्ग-दर्शन के आधार पर इस अध्याय को ऐसा आलोकित किया है कि पाठक पढते-पढते आनन्द से झूमने लगता है। लेखक ने इस बात पर अत्यधिक बल दिया है कि श्रमण सस्कृति की गौरव गरिमा आचारनिष्ठा मे ही सन्निहित है। जब

साधक का आचार शैथिल्य की ओर कदम बढा तब उसका पतन हुआ। जैन धर्म के ह्रास का मूल कारण आचार की शिथिलता है और विकास का कारण आचार की पवित्रता है। शिथिलाचार के विरोध मे उनकी लेखनी द्रुततम गति मे चली है पर साथ ही यह भी सत्य सिद्ध है कि सत्य तथ्य को प्रकट करना ही लेखक का प्रमुख उद्देश्य और चरम लक्ष्य रहा है, न कि किसी भी प्रकार से किसी की भावना को चोट पहुचाना। न ही किसी भी परम्परा का विरोध करना या उसका खडन करना उनका लक्ष्य रहा है। समय-समय पर जैन शासन मे, जैन परम्परा मे और जैन सघ मे जो जो और जिस जिस भाति की विकृतिया आई उन पर पूर्ण रूप से पूरी शक्ति के साथ प्रकाश फेंकना ही उनका परम लक्ष्य रहा है और इतिहास का और उसके लेखन का यही सही उद्देश्य है। अपने इस उद्देश्य मे लेखक शत-प्रतिशत खरा उतरा है। यही महत्वपूर्ण है। इसी को महत्वपूर्ण समझकर जैन जगत् के माने हुए मनीषि प० बेचरदासजी ने भी "जैन साहित्य मा विकार थवा थी थयेली हानि" नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना कर इस पर विषद् प्रकाश डाला है।

ग्रन्थ की भाषा प्रवाहपूर्ण है। शैली चित्ताकर्षक है और मुद्रण भी निर्दोप है। आशा है पूर्व के दो भागो की तरह यह तृतीय भाग भी जन-जन के मन को भाएगा एव उन्हे इतिहास का नया आलोक प्रदान करेगा। सरस्वती के अमूल्य भडार मे आचार्यश्री की एव उनके अपूर्व मार्गदर्शन मे इसके प्रमुख लेखक एव सम्पादक श्रीगजसिंहजी की यह अनमोल भेट चिर-स्मरणीय रहेगी।

देवेन्द्र मुनि शास्त्री

मदनगज–किशनगढ
दिनाक २८–१०–८३

जैन धर्म का मौलिक इतिहास

(तृतीय भाग)

सामान्य श्रुतधर खण्ड (१)
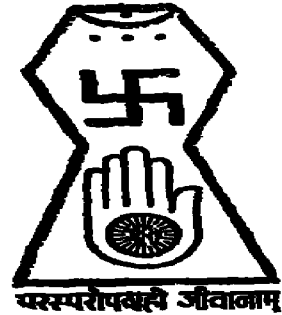
णमो अरिहंताणं

णमो सिद्धाणं

णमो आयरियाण

णमो उवज्झायाणं

णमो लोए सव्व साहूणं

एसो पच णमोक्कारो, सव्व पावप्पणासणो ।

मगलाण च सव्वेसिं, पढम हवइ मगल ॥

सिंहावलोकन

अगाध करुणासिन्धु शासननायक भगवान् महावीर के शासन का ही प्रभाव
के इतिहास-लेखन जैसा यह अति दुरूह कार्य भी, अनेक नवीन उपलब्धियों के
थ, आधे के लगभग सम्पन्न हो चुका है।

प्रस्तुत इतिहास के प्रथम भाग (तीर्थङ्कर खण्ड) मे कुलकर काल से
रम्भ कर प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल मे कर्मयुग के आद्य प्रवर्त्तक, धर्मतीर्थ के
दिकर्त्ता, प्रथम राजा, प्रथम तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभदेव से चौबीसवे तीर्थङ्कर
ाण भगवान् महावीर के निर्वाण तक का और द्वितीय भाग मे भगवान् महावीर
निर्वाण के पश्चात् उनके प्रथम पट्टधर आर्य सुधर्मा से सत्तावीसवे पट्टधर एव
न्तिम पूर्वधर आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण पर्यन्त, वीर नि० स० १ से वीर
० स० १००० तक का जैन धर्म का सागोपाग विशद इतिहास जैन जगत् एव
ाहासविदो के समक्ष प्रस्तुत किया जा चुका है।

इस इतिहास-माला के आलेखन के प्रारम्भ से ही मुख्य रूप से इस बात का
ान रखा गया है कि धार्मिक इतिहास के साथ-साथ समसामयिक राजनैतिक एव
माजिक इतिहास पर भी यथाशक्य प्रकाश डाला जाय। तेवीसवे तीर्थङ्कर भगवान्
र्श्वनाथ के काल से देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल तक के धार्मिक
तहास के साथ-साथ प्रमुख राजनैतिक घटनाओ का जो विवरण प्रस्तुत किया गया
वह ईसा से पूर्व ७०० से ई० सन् ४७३ तक की भारत के कुल मिला कर पौने
रह सौ वर्षो के सक्षिप्त किन्तु क्रमबद्ध राजनैतिक इतिहास की एक प्रामाणिक
लक दे रहा है, वह एतद्विषयक गहन अध्ययन, चिन्तन, मनन और गवेषणा का
तेफल है।

अब इस तृतीय भाग मे वीर नि० स० १००१ से १४७५ तक का जैन धर्म
ा इतिहास तत्कालीन प्रमुख राजनैतिक एव सामाजिक घटनाओ के सक्षिप्त विव-
ण के साथ प्रस्तुत किया जा रहा है।

धर्म एव इतिहास मे अभिरुचि रखने वाला सामान्य से सामान्य पाठक भी
न धर्म के इतिहास की प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की प्रमुख, ऐतिहासिक घटनाओ
ो सहज ही अपने स्मृतिपटल पर अकित कर सके, इस उद्देश्य से सम्पूर्ण
तिहास काल को ६ वर्गो मे विभक्त किया गया है। प्रथम भाग मे भगवान् ऋषभ-
व से भगवान् महावीर तक के काल को 'तीर्थंकर काल' की सज्ञा दी गई है।
ितीय भाग मे भगवान् महावीर के द्वितीय पट्टधर आर्य जम्बू के निर्वाण तक के
ाल को "केवलिकाल" की, आर्य प्रभव से प्राचीन गोत्रीय भद्रबाहु तक

के काल को "श्रुतकेवलिकाल" की, आर्य स्थूलिभद्र से आर्य वज्र तक के काल को "दश पूर्वधरकाल" की एव आर्य रक्षित से अन्तिम एक पूर्वधर आर्य देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण तक के काल को "सामान्य पूर्वधरकाल" की सज्ञा दी गई है।

आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्ती काल अर्थात्–वीर नि० स० १००० से न केवल अद्यावधि अपितु आगे के, इस भरत क्षेत्र के इस अवसर्पिणी काल के अन्तिम आचार्य आर्य दुप्रसह तक के समग्र काल को भी "सामान्य श्रुतधर काल" की सज्ञा दी जा रही है। सम्पूर्ण तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर आर्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण तक के एव उनसे उत्तरवर्त्ती काल का यही छः विभागो मे वर्गीकरण सगत प्रतीत होता है।

"सामान्य-श्रुतधर-काल" की वीर नि० स० १००१ से अद्यावधि पर्यन्त जो विपुल ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध हुई है अथवा जो उपलब्ध हो सकती है, उसको दृष्टि मे रखते हुए १५०० वर्ष की इस सुदीर्घ अवधि के सर्वागपूर्ण इतिहास का आलेखन तृतीय भाग, चतुर्थ भाग और पचम भाग—इन तीन भागो मे विभक्त करना सभी दृष्टियो से समुचित समझा गया है। तृतीय भाग मे आर्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के काल से भगवान् महावीर के ४७ वे पट्टधर आचार्य कलशप्रभ तक का, चतुर्थ भाग मे लोकाशाह तक का एव पचम भाग मे लोकाशाह से उत्तरवर्ती काल का इतिहास प्रस्तुत करने का हमारा सकल्प है।

प्रस्तुत "जैनधर्म का मौलिक इतिहास" नामक ग्रन्थ के द्वितीय भाग के लेखन के समय वीर नि० स० १ से १००० तक के ऐतिहासिक घटनाक्रम को शृ खला-बद्ध अविच्छिन्न रूप मे कालक्रमानुसार प्रस्तुत करने के उद्देश्य से सभी ऐतिहासिक तथ्यो पर गहन चिन्तन-मनन के अनन्तर "दुस्समासमणसघथय" और उसके साथ सलग्न युगप्रधानाचार्यो के जीवनवृत्त की समयसारिणी (जन्मकाल, गृहस्थावास-काल, दीक्षाकाल, युगप्रधानाचार्यकाल और पूर्ण आयु के लेखे-जोखे की सारिणी) को उपर्युक्त १००० वर्ष के ऐतिहासिक घटनाक्रम को प्रमुख रूप से प्रस्तुतीकरण का मुख्य आधार बनाया गया था। इसी सारिणी मे उल्लिखित कालक्रम ऐतिहासिक तथ्यो की कसौटी पर पुन पुन परखने पर भी अब तक किंचित्मात्र भी असत्य एव कल्पित नही समझा गया है।

"दुस्समा–समणसघथय" मे उल्लिखित प्रथमोदय के २० युगप्रधानाचार्यो एव द्वितीयोदय के २३ मे से सत्यमित्र तक आठ युगप्रधानाचार्यो तथा उनके समय मे हुए सभी वाचनाचार्यो और गणाचार्यो आदि का इतिवृत्त विस्तार के साथ दिया जा चुका है। तृतीय भाग के आलेखन के लिए आवश्यक ऐतिहासिक सामग्री सक-लित करते समय "तित्थोगाली पइन्नय" नामक प्राचीन ग्रन्थ मे ऐसी अनेक गाथाए देखने मे आईं, जिनसे "दुस्समासमणसघथय" मे उल्लिखित छ सात महत्वपूर्ण

ऐतिहासिक तथ्यो की पूर्णत पुष्टि होती है। जैतारण (राजस्थान) के स्थानकवासी ज्ञान भण्डार से भी एक ऐसी पट्टावली उपलब्ध हुई है, जिसमे वीर नि० स० १ मे वीर नि० स० २१६८ तक की अविच्छिन्न आचार्य परम्परा के आचार्यो के जन्म, दीक्षा, आचार्यकाल एव स्वर्गारोहण काल के लेखे-जोखे आदि अनेक मननीय ऐतिहासिक तथ्यो के साथ स्पष्ट विवरण उल्लिखित है। पट्टावलीकार ने किन पुरातन आधारो पर से उन सब ऐतिहासिक तथ्यो का सकलन किया है, यदि इसका भी उल्लेख मिल जाता तो बडा प्रमोद होता।

इन सब तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए प्रस्तुत तृतीय भाग के आलेखन मे प्रारम्भ से ही अब तक सभी पट्टावलियो, शिलालेखो, चरित्र-ग्रन्थो, ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण अन्यान्य उपलब्ध ग्रन्थो की प्रशस्तियो आदि के साथ-साथ 'दुस्समा–समणसघ–थय' सावचूरि, 'तित्थोगाली पइन्नय' और जैतारण ज्ञान भण्डार से उपलब्ध पट्टावली आदि की प्रमुख रूप मे सहायता ली गई है।

प्रस्तुत तृतीय भाग मे 'दुस्समासमणसघथय' के द्वितीयोदय के शेप १५ (पन्द्रह) युगप्रधानो के समय का तथा उससे कुछ उत्तरवर्ती काल का इतिहास विशद् रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है। 'सिरि दुस्समासमणसघथय' मे आर्य सत्यमित्र के पश्चात् हुए युगप्रधानाचार्यो के जो नाम उल्लिखित है वे इस प्रकार है —

सिरि सच्चमित्त हारिल, जिणभद्द वदिमो उमासाइ।
पुसमित्त सभूई, माढरसभूई धम्मरिसि ॥ १४ ॥

जिट्ठग फग्गुमित्त, धम्मघोस च विणयमित्त च।
सिरि सीलमित्त, रेवइमित्त, सूरि सुमिणमित्त हरिमित्त ॥ १५ ॥

उपाध्याय श्री विनयविजयजी ने वि० स० १७०८ की अपनी रचना 'लोकप्रकाश' के ३४वे सर्ग मे उपरिलिखित गाथाओ का सस्कृत रूपान्तर इस प्रकार दिया है —

सत्यमित्रो हारिलश्च, जिनभद्रो गणीश्वर।
उमास्वाति पुष्यमित्र, सभूति· सूरिकुजर ॥ ११९ ॥

तथा माढरसभूतो, धर्मश्री सज्ञको गुरु।
ज्येष्ठाग फल्गुमित्रश्च, धर्मघोषा ह्वयो गुरु ॥ १२० ॥

सूरिर्विनयमित्राख्य शीलमित्रश्च रेवति।
स्वप्नमित्रो हरिमित्रो, द्वितीयोदय सूरय ॥ १२१ ॥

अर्थात् "तित्थोगालीपइन्नय" नामक ऐतिहासिक महत्व के प्राचीन ग्रन्थ मे जिन श्रुतपारग आचार्यो के अवसान के साथ ही श्रुत–शास्त्र–विशेष के ह्रास का

क्रमिक काल दिया गया है, उसमे पुष्यमित्र, सभूति, माढर सभूति, ज्येष्ठाग गरिण, फल्गुमित्र और सुमिरणमित्र—इन ६ युगप्रधानाचार्यो के अनन्तर वीर नि० की बीसवी शताब्दी के एक विशिष्ट श्रुतधर आचार्य विशाख मुनि का उल्लेख किया गया है, जो इस प्रकार है —

वरिस सहस्सेहि इह दोहिं, विसाहे मुरिगम्मि वोच्छेदो ।
वीर जिरण धम्मतित्थे, दोहि तिन्नि सहस्स निद्दिट्ठो ।। ८२० ।।

अर्थात् वीर नि० स० २००० मे विशाख मुनि के स्वर्गस्थ हो जाने पर वीर नि० स० २००० से ३००० के बीच की अवधि मे कतिपय अगो का ज्ञान लुप्त हो जायगा ।

तित्थोगाली पइन्नय की उपरिलिखित गाथा आज से लगभग ५०० वर्ष पूर्व घटित हुई एक ऐसी घटना के विषय मे सकेत करती है, जो शोधार्थियो एव इतिहास प्रेमियो के लिये नितान्त नवीन, विचारणीय एव शोध का विषय है ।

आज तक श्वेताम्बर आम्नाय की विभिन्न आचार्य परम्पराओ की जितनी भी पट्टावलिया प्रकाश मे आई है, उनमे से किसी पट्टावली मे विशाख नाम के आचार्य का नाम कही पर भी दृष्टिगोचर नही होता । विशाखगरिण की कोई स्वतन्त्र रचना भी जैन वाग्मय मे आज कही उपलब्ध नही होती ।

हा, निशीथ की कतिपय हस्तलिखित प्रतियो मे निम्नलिखित प्रशस्ति उपलब्ध होती है :—

दसरण चरित्त जुत्तो, गुत्तो गुत्तीमु परि सभरणहिए ।
नामेरण विसाहगरणी, महत्तरश्रो रणारणमजुसी ।।
तस्स लिहिय निस्साहि, धम्मधुराधरण पवर पुज्जस्स ।।

अर्थात् जो धर्म रूपी महान् रथ की धुरी को धारण करने मे परम प्रवीण सर्वथा समर्थ अथवा पूर्णत कुशल, ज्ञान दर्शन चारित्र से सयुक्त, तीन प्रकार की गुप्तियो से गुप्त, ज्ञान मजूषा अर्थात् ज्ञान के अक्षय भण्डार तथा महत्तर की उपाधि से विभूषित है, उन परम पूज्य श्री विशाखगणी नामक आचार्य की निश्रा मे इस निशीथ सूत्र को लिखा गया है ।

यद्यपि प्रशस्तिकार ने विशाखगरिण महत्तर की निश्रा मे निशीथ के लेखन का समय नही दिया है तथापि पुस्तक लेखन, लिपिकर्त्ता द्वारा आलेखन की समाप्ति पर प्रशस्तिलेखन आदि तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे 'तित्थोगाली पइन्नय' द्वारा किये गये, वीर नि० स० २००० मे विशाख मुनि के स्वर्गस्थ होने के उल्लेख के सम्बन्ध मे विचार

करने पर यह अनुमान लगाया जाता है कि वीर नि० स० १६१८ से १६६३ तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहे आचार्य हरिमित्र के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर सभवत विशाख गणी नामक आचार्य वीर नि० स० १६६३ से २००० तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहे हो। इतिहास विद् इस पर अधिक प्रकाश डाले यही उपयुक्त होगा।

यद्यपि विशाखगणी के वीर निर्वाण की बीसवी शताब्दी के आचार्य होने के सम्बन्ध मे अनेक शकाए उत्पन्न होती है तथापि इस विषय मे अधिकाधिक गवेषणा से कोई ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश मे आ सके, इसी शुभेच्छा एव सदाशा से प्रस्तुत ग्रन्थ मे विशाखगणी का नाम हरिमित्र के पश्चात् ४४ वे क्रम पर रखा गया है इस सम्बन्ध मे यथास्थान यथाशक्य पूरा प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

यह तथ्य तो प्राय सर्वविदित है कि आद्य तीर्थंकर भगवान् ऋषभ देव द्वारा प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल मे हमारी इस आर्यधरा पर धर्मतीर्थ के प्रवर्तन के समय से लेकर अन्तिम पूर्वधर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने तक अर्थात् वीर नि० स० १००० तक का जैन धर्म का इतिहास आर्य महागिरि एव सुहस्ति के समय के साधारण एक दो अपवादो को छोड कर वस्तुत विशुद्ध एव मूल धर्म परम्परा का इतिहास रहा। वीर नि स ६०६ और उसके आसपास यद्यपि जैन धर्म की मूल विशुद्ध परम्परा मे दिगम्बर सघ, यापनीय सघ, नियतनिवासी चैत्यवासी सघ और आशिक रूप से भट्टारक परम्परा जैसी छोटी-छोटी पृथक् इकाइयो के प्रादुर्भाव के परिणामस्वरूप वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी मे जैन सघ छोटे बडे पाच वर्गो मे विभक्त हो गया पर यह सब कुछ हो जाने के उपरान्त भी वीर निर्वाण की दसवी शताब्दी के अन्त तक मुख्य रूप से मूल विशुद्ध धर्मपरम्परा का ही वर्चस्व रहा और जैन धर्मावलम्बियो मे युगादि से परम्परागत विशुद्ध मूल परम्परा ही बहुजनमान्य एव बहुजनसम्मत रही। मथुरा के 'ककाली टीले' की खुदाई से उपलब्ध ऐतिहासिक महत्व की सामग्री से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि वीर निर्वाण की दसवी शताब्दी के अन्त तक श्रमण भगवान् महावीर की मूल विशुद्ध परम्परा का ही मुख्यत उत्तर भारत मे तो पूर्ण वर्चस्व रहा।[1] इसी कारण जैनधर्म का इतिहास भी वीर निर्वाण की दशवी शताब्दी तक एक महानदी के प्रवाह के रूप मे अपनी पारम्परिक महानता लिये अबाध गति से चलता रहा। उस समय तक

---

[1] मथुरा के ककाली टीले की खुदाई मे जो ऐतिहासिक महत्व की, कनिष्क के काल से लेकर गुप्त काल तक की प्राचीन पुरातात्विक सामग्री प्रकाश मे आयी है, उसमे इन यापनीय, कूर्चक, दिगम्बर, चैत्यवासी आदि कालान्तर मे उद्‌भूत हुई इकाइयो का कही नाम तक नही है। इससे यही फलित होता है कि कनिष्क स० ५ (शक स० ५ वीर नि० स० ६१०) के लेख स० १६ से लेकर लेख स० ६२ पर्यन्त (वीर नि० स० ६६० तक के लेखो मे) इन सभी कालान्तरवर्ती सघो अथवा विभिन्न इकाइयो का अस्तित्व तक उत्तर भारत के केन्द्र मथुरा मे नही था।

—सम्पादक

यापनीय, चैत्यवासी, मठवासी, कूर्चक आदि पृथक इकाइयो का अस्तित्व स्वल्पतोया क्षेत्रीय नदो अथवा छोटी नदियो के रूप मे अधिक महत्व का नही रहा। इसी कारण जैन इतिहास मे भी उस समय तक एक दूसरे से भिन्न उल्लेखनीय विभिन्न घटना चक्रो का प्राय अभाव ही रहा।

किन्तु देवर्द्धि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती जैनधर्म, जैनसघ और उसके इतिहास की स्थिति, उसके अनेक टुकडो मे विभक्त हो जाने के परिणामस्वरूप इसके पूर्व इतिहास से नितान्त भिन्न, बडी ही दुरूह और उलझन भरी हो गई।

आर्य महागिरि के स्वर्गारोहण काल, अर्थात् वीर नि०स० २४५ तक जैन इतिहास एकता के सूत्र मे सुसगठित एव एकमात्र विशुद्ध आचार्य परम्परा का ही इतिहास रहा। वीर नि०स० २४५ से वीर नि०स० १००० तक अर्थात् पूर्वधर काल तक जैन धर्म का इतिहास बहिरग रूप से वाचनाचार्य परम्परा, युगप्रधानाचार्य परम्परा और गणाचार्य परम्परा—इन तीन परम्पराओ के रूप मे अशत विभक्त दृष्टिगोचर होते हुए भी त्रिवेणी सगम के समान परस्पर मूलत सपृक्त, अन्योन्याश्रित और सिद्धान्तत अविभक्त रहने के कारण एक ही विभेदविहीन महानदी के रूप मे प्रवाहित होता रहा। इस अवधि मे भगवान् महावीर के धर्मसघ के सुचारुरूपेण सचालन की दृष्टि से वाचनाचार्य, युगप्रधानाचार्य और गणाचार्य ये तीन आचार्य परम्पराए मान्य की गई पर वे तीनो ही आचार्य परम्पराए मूल आगमो मे प्रतिपादित विशुद्ध आध्यात्मिक पथ पर समन्वयपूर्वक साथ-साथ चलती हुई स्व, पर और धर्मसघ के अभ्युदय एव उत्कर्ष मे निरत रही।

इसी कारण वीर नि०स० १००० तक जैनधर्म के इतिहास का उल्लेख श्रमसाध्य होते हुए भी उलझनो, अनिश्चितताओ और समाधान न होने योग्य समस्याओ से अपेक्षाकृत मुक्त रहा।

इसके विपरीत वीर नि०स० १००० से उत्तरवर्ती काल का जैनधर्म का इतिहास आगमपरिपन्थिनी अनेक प्रकार की मान्यताओ वाले सघो, सम्प्रदायो, गणो और गच्छो के उद्भव, प्राबल्य एव प्रचार-प्रसार के कारण उलझनो एव असमाधेय समस्याओ से ओतप्रोत रहा। विभेदो से परिपूर्ण होने के साथ-साथ देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के पश्चात् का जैन इतिहास अनेक रूपो मे विभिन्न आवरणो तथा आयामो मे देश के विभिन्न भागो मे अगणित विभिन्नताओ मे बिखरा पडा है, अत इस अवधि के जैन इतिहास का आलेखन वस्तुत अत्यन्त जटिल है।

इस अति कठिन दुस्साध्य कार्य मे कहा तक सफलता प्राप्त होगी, यह तो भविष्य ही बतायेगा। पर इस दिशा मे हमारे प्रयत्न कितने सफल हुए है, इसका निर्णय विद्वान् इतिहासविद् ही कर सकेंगे।

देवर्द्धिगणि माश्रमण स उत्तरवर्त्ती काल के इतिहास से सम्बन्धित कतिपय ज्ञात तथ्य

वीर निर्वाण की पहली सहस्राब्दि के पश्चात् का जैनधर्म का इतिहास लिखने का आज तक जिन-जिन विद्वानो ने प्रयास किया, लम्बे प्रयास के पश्चात् प्राय उन सभी ने केवल यह कहकर एक तरह से कार्य की गतिविधि को स्थगित कर दिया —"वीर निर्वाण के एक हजार वर्ष पश्चात् का अथवा अन्तिम पूर्वधर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के पश्चात् का पाच सौ सात सौ वर्षो का जैनधर्म का इतिहास तिमिराच्छन्न है, विस्मृति के घनान्धकार मे विलीन हो चुका है। यही कारण है कि उन पाच सौ सात सौ वर्षो की अवधि के जैन इतिहास से सम्बन्धित न तो कोई शृ खलाबद्ध तथ्य उपलब्ध होते है और न विकीर्ण तथ्य ही।"

इस तथ्य को विक्रम की चौदहवी शताब्दी के प्रथम चरण मे हुए आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रकट किया है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने दृढ सकल्प किया कि आचार्य हेम-चन्द्र द्वारा 'परिशिष्ट पर्व' नामक ग्रन्थ मे उल्लिखित जैन इतिहास से आगे का इति-हास वे लिखे। उन्होने अपने इस सकल्प की सिद्धि के लिये वर्षो तक अथक प्रयास किया। उन्होने उस समय उपलब्ध सम्पूर्ण जैन वाग्मय का आलोडन व मन्थन किया, अनेक वयोवृद्ध बहुश्रुत आचार्यो तथा विद्वानो से ऐतिहासिक तथ्य प्राप्त करने मे किसी प्रकार की कोर-कसर नही रखी किन्तु वे अपनी इच्छा के अनुरूप इतिहास लिखने मे अपने सकल्प के अनुसार सफल नही हो सके। सभी गणो अथवा गच्छो की तो बात ही दूर, वे किसी एक गण अथवा गच्छ का भी आद्योपान्त क्रमबद्ध इतिहास नही लिख पाये। अथक् प्रयास के अनन्तर कतिपय गणो एव गच्छो के भिन्न-भिन्न समय मे हुए २१ आचार्यो के पूर्वापर क्रम-विहीन जीवन-चरित्र बडी कठिनाई से वीर निर्वाण सम्वत् १३३४ मे अपनी रचना 'प्रभावक चरित्र' मे लिखकर ही उन्होने सन्तोष कर लिया। उन २१ आचार्यो मे से कतिपय तो चैत्यवासी परम्परा के है। अपनी इस असफलता को उन्होने अपने उक्त ग्रन्थ की प्रशस्ति की 'दुष्प्रापत्वादमीशा विशकलिततयैकत्र चित्रावदात' इस पक्ति मे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है।

प्रभावक चरित्र के रचनाकार आचार्य प्रभाचन्द्र के उत्तरवर्ती काल मे भी जैन धर्म का सागोपाग इतिहास लिखने के प्रयत्न समय-समय पर अनेक विद्वानो

द्वारा किये गये। उन्होने कुछ लिखा, किन्तु वीर निर्वाण सम्वत् १००० से वीर निर्वाण सम्वत् १७०० तक का जैन धर्म का क्रमबद्ध सर्वांगपूर्ण इतिहास लिखने मे अद्यावधि किसी भी विद्वान् को सफलता प्राप्त नही हुई। ऐसी स्थिति मे प्राय सभी जैन इतिहासविदो की यह सर्वसम्मत धारणा बन गई कि इस अवधि का जैन इतिहास से सम्बन्धित घटना-चक्र विस्मृति के गहन गर्त्त मे तिरोहित हो चुकने के परिणामस्वरूप वीर निर्माण सम्वत् १००१ से लगभग १७०० तक की बीच की अवधि का जैन इतिहास वस्तुत विलीन ही हो गया है। परन्तु सम्पूर्ण भारतवर्ष के प्राय सभी प्रदेशो मे विगत एक शताब्दी से की जा रही पुरातात्विक खोजो से, भारत के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध मे हुई अभिनव उपलब्धियो और अनेक आधारो पर विभिन्न प्रदेशो के पुरातत्ववेत्ताओ, शोधकर्त्ताओ, अनुसन्धाताओ और इतिहासप्रेमी विद्वान् लेखको द्वारा लिखे गये शोध प्रबन्धो, ताम्रपत्र-शिलालेख सग्रहो और प्रादेशिक इतिहासग्रन्थो के शोध दृष्टि से किये गये सूक्ष्म अध्ययन से उपरिलिखित अवधि के घटनाचक्र को कालक्रमानुसार क्रमबद्ध स्वरूप देने पर वस्तु-स्थिति विद्वानो के उपरिलिखित अभिमत से नितान्त भिन्न ही प्रतीत होती है।

तामिलनाडु, कर्नाटक, आन्ध्र, कलिग, बग, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश, गुजरात एव राजस्थान आदि प्रान्तो तथा मुख्यत मथुरा के ककाली टीले और कर्णाटक के श्रमण बेलगोल तीर्थ-स्थल से उपलब्ध हुई पुरातत्व सम्बन्धी सामग्री के सूक्ष्म अध्ययन से एक बडा ही विस्मयकारी तथ्य प्रकाश मे आता है। वह तथ्य यह है कि उक्त अवधि का अर्थात् वीर निर्वाण सम्वत् १००१ से १७०० तक का जैन धर्म का बहिरग इतिहास तो भिन्न-भिन्न आयामो मे स्पष्ट एव क्रमबद्ध ही है। उक्त अवधि मे जैन-धर्म की मूल शास्त्रीय परम्परा से भिन्न आडम्बरपूर्ण बहिरग प्रवृत्तियो सम्बन्धी उत्तर मे हिमालय से लेकर दक्षिण मे समुद्र तट तक के विस्तीर्ण भू-भाग मे उपलब्ध प्राचीन अभिलेखो मे जैनधर्म के प्रति पाई गई प्रजा के सभी वर्गो और विशेषत राजाओ, व राजवशो की प्रगाढ प्रीति को देखकर तो भगवान् महावीरकालीन धर्मोद्योत की झाकी हृदयपटल पर उभर आती है। किन्तु जैन धर्म की प्राणभूता आत्मा तुल्य मूल परम्परा का, विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाली आगमानु-सारिणी मूल आचार्य परम्परा का इतिहास पूर्ण-रूपेण तो नही किन्तु अधिकाशत अन्धकाराच्छन्न ही रहा।

इन सब तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर यदि सक्षेप मे यह कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी कि उक्त अवधि मे जैन धर्म के बहिरग स्वरूप का इतिहास तो वस्तुत बहु आयामी एव गर्व करने योग्य श्लाघनीय स्थिति मे प्रकाशमान रहा। उसके उस अवधि के उत्कर्ष को देखकर अन्य धर्मावलम्बी जैन धर्मावलम्बियो से स्पर्द्धा एव स्पृहा ही करते थे, किन्तु जैनधर्म की प्राणभूता विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा का एव अध्यात्मपरक जैनधर्म के वास्तविक स्वरूप का इतिहास तमसावृत्त होने के कारण वस्तुत अन्धकार मे धूमिल हो गया।

मूल आध्यात्मिक रूप मे येन केन प्रकारेण चलते रहे जैनधर्म का इतिहास तो उक्त अवधि मे धूमिल रहा और उसके मूलगुण वीतरागभाव से कोसो दूर वाह्य आडम्बरपरक बाह्य भक्ति का इतिहास लोकप्रिय और लोक विश्रुत होकर बढता रहा। शनै शनै आध्यात्मिक उपासना का स्थान बाह्य आडम्बरपूर्ण भौतिक आराधना ने और भावार्चना का स्थान द्रव्य अर्चना—द्रव्य पूजा ने ग्रहण करना प्रारम्भ किया। आकर्षक बाह्य आडम्बर पूर्ण धार्मिक कार्य-कलापो की ओर जन-साधारण का ध्यान आकर्षित होने लगा और जनमत उस ओर झुकने लगा। लोक प्रवाह को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए बाह्य आडम्बरपूर्ण द्रव्य पूजा, द्रव्यार्चना के नित नये विधि विधान, तौर तरीके प्रकार आदि आविष्कृत किये जाने लगे। द्रव्य पूजा के आविष्कारक उन श्रमणो की प्रसिद्धि से प्रभावित होकर श्रमण वर्ग के बहुसख्यक श्रमण व श्रमणी गण इस प्रकार की द्रव्य परम्पराओ के पोषक बन गये। जो परम्परा बहिरग आराधना के द्रव्यार्चना के जितने अधिक आकर्षक प्रकारो का आविष्कार प्रचार व प्रसार करने और अपने उन आकर्षक आयोजनो से जितने अधिकाधिक लोगो को अपनी ओर आकर्षित करने मे सफल हुई वही परम्परा सर्वश्रेष्ठ एव सबसे बडी समझी जाने लगी। श्रमण व श्रमणी वर्ग भी बहुत बडी सख्या मे आध्यात्मिक साधना के पथ का परित्याग कर आडम्बरपूर्ण भौतिक आराधना का पथिक एव पथ प्रदर्शक बन गया। इसका घातक दुष्परिणाम यह हुआ कि श्रमण भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित जैन धर्म के नितान्त अध्यात्मपरक स्वरूप मे आमूलचूल परिवर्तन हो गया। श्रमण भगवान् महावीर ने धर्म तीर्थ की स्थापना करते समय ससार के षड्जीवनिकाय के घोर कष्टो का अनुभव करते हुए भव्यो को उनकी रक्षा का उपदेश दिया था। प्रभु ने कहा था —

अट्टे लोए परिजुण्णे दुस्सबोहे अविजाणए। अस्सि लोए पव्वहिए तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेंति।

सति पाणा पुढो सिया लज्जमाणा पुढो पास अणगारामो त्ति एगे पवयमाणा जमिण विरूवरूवेहि सत्थेहिं पुढविकम्म समारभेण पुढविसत्थ समारभेमाणा अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिसइ।

तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवदण, माणण, पूयणाए, जाइ मरण मोयणाए, दुक्खपडिघाय हेउ से सयमेव पुढविसत्थ समारभइ, समारभावेइ, समारभते समणुजाणइ।

त से अहियाए त से अबोहिए

(आचाराग सूत्र प्रथम श्रुतस्कध द्वितीय उद्देशक)

अर्थात् पृथ्वीकाय आदि षड्जीवनिकायो के जीव पीडित है और दुखित है। इन पीडित जीवो का लोग आरम्भ समारम्भ कर इनको घोर कष्ट पहुचाते है। कुछ

व्यक्ति अपने आपको अरणगार बताते हुए भी इन षड् जीव निकाय के जीवो का इनके आश्रित द्वीन्द्रिय तीन्द्रिय आदि जीवो का सहार करते, करवाते और करने वालो का अनुमोदन करते है। कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को बनाये रखने के लिये अपने मान सम्मान पूजा आदि के लिये अथवा जन्म-मृत्यु से छुटकारा पाने के लिये व मोक्ष प्राप्ति के लिये अथवा दु खो से छुटकारा पाने के लिये इन षड्जीव निकाय का आरम्भ समारम्भ करता है, करवाता है और करने वाले को भला समझता है तो वह उसके लिये घोर अहितकर है, महान् अनर्थकारी है और वह उसके अबोधि के लिये अर्थात् मिथ्यात्व के घोर अन्धकार मे डालने के लिये है।

आगम के इस स्पष्ट निर्देश के होते हुए भी इन द्रव्यपूजा के प्रवर्त्तक श्रमणो ने छ जीव निकाय के घोर आरम्भ समारम्भ महारम्भपूर्ण कार्य चैत्यालय निर्माण आदि स्वय करने एव अपने भक्तो द्वारा करवाने प्रारम्भ कर विशुद्ध श्रमणाचार और धर्म के विशुद्ध स्वरूप मे भी आमूलचूल परिवर्तन कर दिया। विशुद्ध धर्म के स्वरूप से लोग शनै शनै अपरिचित होने लगे। विशुद्ध श्रमणाचार क्या है यह बताने वाले श्रमणो का प्रभाव प्राय क्षीण सा हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि विशुद्ध श्रमण परम्परा एक अतीव गौण परम्परा बन कर रह गई और नवोदित द्रव्य परम्पराए लोकप्रिय बन गई।

धर्म के स्वरूप मे और श्रमणाचार मे आमूलचूल परिवर्तन आने के पीछे केवल शिथिलाचार ही एकमात्र कारण रहा हो, ऐसी बात नही है। इसके पीछे क्रमश निम्नलिखित कतिपय कारण और भी थे —

(१) काल प्रभाव से लोगो की कष्ट सहन और परिषह सहन करने की क्षमता का क्रमिक ह्रास।

(२) हुन्डा अवसर्पिणी काल का प्रभाव। जैसा कि आगमो मे उल्लेख है अनन्तानन्त उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल व्यतीत हो जाने के पश्चात् एक हुन्डा अवसर्पिणी काल आता है। हुन्ड का मतलब है हीन अर्थात् निकृष्ट अथवा खराब। इस प्रकार के काल मे कतिपय आश्चर्यकारी एव दुखद घटनाये होती हैं जो प्राय किसी भी अवसर्पिणी अथवा उत्सर्पिणी काल मे घटित नही होती। इस प्रकार के हुन्डा अवसर्पिणी काल मे हीन मनोबल वाले श्रमण श्रमणी वर्ग विशुद्ध श्रमणाचार का परित्याग कर अनेक प्रकार के शिथिलाचार का सेवन करते हैं और साधना के अध्यात्म पद से उन्मुख हो भौतिक एव वाह्य आडम्वरो से ओत-प्रोत पथ के पथिक बन जाते है।

(महानिशीथ मे सावद्याचार्य का प्रकरण)

(३) भस्मग्रह का प्रभाव।

(जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग १ प्रथम सस्करण पेज ४६६)

(४) अन्य धर्मो के प्रभाव से अपने अनुयायियो को बचाने के सदुद्देश्य से अन्यो की देखादेखी अनेक अशास्त्रीय विधाओ विधि विधानो को धार्मिक कृत्यो एव धार्मिक कर्त्तव्यो के रूप मे स्वीकार करना। बौद्धो, शैवो और वैष्णवो के प्राबल्यकाल मे जैनो को अपने धर्म मे स्थिर रखने के लिये बडे विशाल स्तर पर इस प्रकार के धार्मिक आयोजनो के किये जाने के उल्लेख यत्र-तत्र उपलब्ध है।

(५) धर्म की रक्षार्थ राज्य सत्ता को अपनी वशवर्ती अथवा अनुयायी बनाये रखने हेतु अनेक प्रकार के ऐसे कार्यकलापो की अनिवार्य-रूपेण स्वीकृति की व्यवहारकुशलता, आदि-आदि।

(६) देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के पश्चात् किसी प्रभावशाली पूर्वधर आचार्य का अभाव हो जाना। पूर्वधर प्रभावशाली आचार्य के विद्यमान न रहने के कारण यथेष्ट रूप से श्रमण श्रमणी समूह विशुद्ध श्रमणाचार का परित्याग कर शैथिल्य की ओर अग्रसर होने लग गया।

इन सब कारणो से धर्म के स्वरूप मे और श्रमणाचार के स्वरूप मे उत्तरोत्तर परिवर्तन एव विकृतिया प्रविष्ट होती रही। भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट स्व पर कल्याणकारी धर्मपथ से भटक कर अनागमिक मार्ग पर आरूढ हुई सिद्धान्त-विहीन परम्पराओ का उत्कर्ष और लोकव्यापी विस्तार जैनधर्म की शास्त्रविहित विशुद्ध श्रमणाचार का यथावत् रूपेण त्रिकरण त्रियोग से पालन करने वाली मूल श्रमण परम्परा के लिये उत्तरोत्तर अधिकाधिक घातक सिद्ध होता गया। मूल श्रमण परम्परा का ह्रास होते होते अन्ततोगत्वा एक क्षीणतोया महानदी के अन्त प्रवाह अथवा प्रच्छन्न प्रवाह की भाति यह शुद्ध श्रमण परम्परा नगण्य एव गौण रूप मे अवशिष्ट रह गई।

इन कारणो पर प्रकाश डालते हुए विक्रम की ११वी शताब्दी के अन्तिम चरण से बारहवी शताब्दी की पूर्वार्द्ध की मध्यवर्ती अवधि के महान् प्रभावक एव आगम मर्मज्ञ, नवागी टीकाकार आचार्य अभयदेवसूरि ने अपनी आगम अष्टोत्तरी नामक कृति मे आज से लगभग ९२० वर्ष पूर्व अपनी अन्तर्व्यथा को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

देवड्ढि क्षमाश्रमणजा, पर पर भावओ विआणेमि ।
सिढिलायारे ठविया, दव्वओ परम्परा बहुहा ।।

अर्थात् देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण तक तो भाव परम्परा (भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित मूल धर्म की परम्परा) अक्षुण्ण रूप से चलती रही, यह मै जानता

हू किन्तु देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ हो जाने के पश्चात् साधु साध्वीवर्ग प्राय शिथिलाचारी बन गया और उसके परिणामस्वरूप उन शिथिलाचारियो के द्वारा अनेक प्रकार की द्रव्य परम्पराये स्थापित कर दी गई ।

नवागी वृत्तिकार अभयदेवसूरि की इस गाथा से सिद्ध होता है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने अर्थात् वीर निर्वाण सम्वत् १००० तक जैन धर्म मे अध्यात्मपरक भाव परम्परा का प्रवाह भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित एव गणधरो द्वारा ग्रथित आगमो के अनुसार यथावत् अक्षुण्ण गति से चलता रहा । श्रमण श्रमणी वर्ग आगमानुसार निरतिचार विशुद्ध श्रमण धर्म का पालन करते हुए चतुर्विध सघ को आराधना साधना का सही उपदेश देकर उससे भाव परम्परा का पालन करवाते रहे । किन्तु देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण के स्वर्गस्थ हो जाने के पश्चात् परिषहभीरु श्रमण श्रमणियो ने असिधारा तुल्य दुस्साध्या क्रिया, अनियत निवास, उग्र विहार, परीषह सहन, सभी कुलो मे मधुकरी के माध्यम से प्राप्त निर्दोष रूक्ष नीरस आहार से शरीर का निर्वाह, पूर्णत अपरिग्रह आदि विशुद्ध श्रमणाचार को तिलाजलि देकर वस्तिवास से चैत्यवास तक स्वीकार किया । मठ, चैत्य आदि मे नियत निवास, मठ चैत्यादि मे भगवान् को भोग लगाने के निमित्त से भोजनशालाये प्रारम्भ कर उन्ही मे नियत रूप से सरस भोजन करना, रुपया, पैसा, धन, दौलत, कृषि भूमि आदि परिग्रह का रखना, चैत्य, मठ आदि का सुविधानुसार निर्माण आदि करवा कर निजी सम्पत्ति के रूप मे उनका स्वामित्व, छत्र चामर रथ पालकी सिंहासन दास दासी गद्दे मसनद बहुमूल्य परिधान सुगन्धित उबटन तेल इत्र पान सुपारी आदि का अहर्निश उपभोग परिभोग आदि श्रमण मर्यादा से पूर्णत प्रतिकूल चर्याओ को अगीकार कर भूमिदान, चल-अचल सम्पत्ति का और विपुल द्रव्य का दान ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया । उन्होने धर्म के नाम पर प्रतिष्ठा महोत्सव, वाद्य यन्त्रो की ताल पर कीर्तन भजन, नृत्य सगीत, तीर्थ यात्रा आदि सैकडो प्रकार के नित नये आडम्बरपूर्ण आयोजन कर सभी वर्गों के लोगो को अपने-अपने सम्प्रदाय, सघ, गच्छ आदि की ओर आकर्षित करना प्रारभ किया । शिथिलाचार के गहन गर्त्त की ओर उन्मुख हुए वे शिथिलाचारी श्रमण वेप मात्र से नामधारी मुनि रह गये । सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु द्वारा प्रणीत जैन आगमो मे प्रतिपादित श्रमणाचार का श्रमण मर्यादाओ का उन नियत निवासी चैत्यवासियो एव मठवासियो के जीवन मे लवलेश तक नही रहा ।

यह कोरी कल्पना मात्र नही है एपीग्राफिका इण्डिका, एपिग्राफिका कर्णाटिका, इण्डियन एण्टीक्वेरी, साउथ इण्डियन इन्सक्रिप्शन्स आदि पुरातत्व सम्बन्धी सैकडो ग्रन्थमालाओ के हजारो पृष्ठ जैन शिलालेख सग्रह तीनो भागो के लगभग १५०० पृष्ठ, भगवान महावीर की मूल विशुद्ध श्रमण परम्परा से भिन्न प्रकार की भट्टारक, यापनीय, मठवासी, चैत्यवासी, कूर्चक, निर्ग्रन्थ आदि देवर्द्धि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल की श्रमण परम्पराओ एव साधु परम्पराओ के आचार्यो एव

साधुओ द्वारा विशाल भूखण्डो, भवनो, ग्रामो, चैत्यो, वसतियो, मठो और धनराशियो आदि के दान ग्रहण किये जाने के उल्लेखो से भरे पडे है। इन सब उल्लेखो का अध्ययन कर इन पर विचार करने से ऐसा आभास होता है कि देवर्द्धि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्त्ती काल मे मठो, चैत्यो, वसतियो, मन्दिरो आदि का निर्माण करवाना, मन्दिरो की पूजा के लिये, कृषि भूमि, ग्राम, धनराशि आदि का दान ग्रहण करना, साधु और साध्वियो की आहार पानीय आदि की व्यवस्था के लिये बडी-बडी धनराशियो, कृषिभूमियो एव ग्रामादि का दान ग्रहण कर साधु साध्वियो के लिये भोजन बनवाना, उनके निमित्त बनाया हुआ आधाकर्मी सदोष भोजन खाना, खिलाना, मठो चैत्यो, वसतियो आदि महा परिग्रहो का स्वामित्व ग्रहण करना, मठो, चैत्यो, वसतियो आदि मे बारहो मास निरन्तर एक ही स्थान पर नियत वास करना, सघ यात्राओ का आयोजन करना, प्राय ये ही साधुओ, आचार्यो, भट्टारको आदि के साधु जीवन के प्रमुख कर्त्तव्य रह गये थे, जबकि युगादि से देवर्द्धि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के समय तक ये सब कार्य साधु जीवन के लिये पचमहाव्रतधारी साधु मात्र के लिये अशुचिवत् अथवा विषवत् एकान्तत जीवनपर्यन्त पूर्णत त्याज्य माने जाते रहे।

साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका रूपी जिस चतुर्विध तीर्थ की—धर्म सघ की स्थापना के समय तीर्थकर प्रभु ने प्राणी मात्र के लिये, छोटे से लेकर बड़े से बडे साधक वर्ग के लिये जन्म, जरा, व्याधि, उपाधि, मृत्यु आदि सभी प्रकार के सासारिक दुखो के मूल कर्म बल को सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूपी रत्नत्रयी की सम्यग् आराधना द्वारा ध्वस्त कर शाश्वत शिव सुख प्राप्ति, सच्चिदानन्द घन स्वरूपावाप्ति को ही एक मात्र चरम एव परम लक्ष्य बताया था, देवर्द्धि के स्वर्गारोहण काल तक वीतराग जिनेन्द्र प्रभु के धर्म सघ के न केवल साधु साध्वी वर्ग अपितु श्रावक-श्राविका वर्ग ये चारो ही प्रकार के वर्ग उसी एक मात्र चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये अपनी अपनी शक्ति सामर्थ्यानुसार प्रयत्नशील रहे।

किन्तु देवर्द्धि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्त्ती काल के साधु साध्वी श्रावक और श्राविका इन चारो वर्गो के, सलेखना को छोड शेप, कार्यकलापो का विवरण मध्ययुगीन पुरातत्व सामग्री के अभिलेखो मे पढकर ऐसा आभास होता है कि भगवान् महावीर के धर्म सघ के चारो ही वर्गो ने या तो प्रभु द्वारा प्रदर्शित उस चरम परम लक्ष्य को भुला दिया था अथवा गौण समझ लिया था।

देश के कोने-कोने से प्राप्त मध्ययुग की पुरातात्विक सामग्री के अभिलेखो मे राजाओ, राज रानियो, मन्त्रियो, सेनापतियो, श्रेष्ठियो, सामन्तो, प्रशासको, व्यापारी वर्गो, प्रजा की सभी जातियो के श्रावक श्राविकाओ द्वारा चैत्य वसति, जिन मन्दिर, मठ आदि के निर्माण, साधु साध्वियो के भोजन पान आदि की व्यवस्था और मन्दिरो को पूजा के निमित्त आचार्यो, मन्दिरो, मठो, वसतियो के स्वामी प्रबन्धक अथवा पौरोहित्य करने वाले श्रमणो श्रमणाग्रणियो को भूमि दान, भवन दान और

धनराशि का दान दिये जाने के आचार्यो भट्टारको, अथवा श्रमणो द्वारा मठो, मन्दिरो, तीर्थो, वसतियो आदि का आधिपत्य अथवा स्वामित्व अगीकार करने के अगणित उल्लेख भरे पडे है। तीर्थंकरो के मन्दिरो की प्रतिष्ठा अथवा पूजा आदि से भी उन धर्मसघो को सन्तोष नही हुआ तो उन्होने ज्वालामालिनी, पद्मावती आदि देवियो के, गोम्मटेश्वर की स्वतन्त्र मूर्तिया बनवा इनके पृथक् स्वतन्त्र मन्दिर बनवाने की नव्य नूतन प्रथा का प्रचलन किया। केवल यही नही, अपितु मान सम्मान एव लोकैषणाओ से ओतप्रोत मानस वाले उन उत्तरवर्ती काल मे पनपे एव प्रसिद्धि पाये हुए जैन धर्म सघो के महत्वाकाक्षी आचार्यो ने मन्त्र, तन्त्र, ज्वालामालिनी कल्प, पद्मावती कल्प, आदि का आविष्कार कर अधिकाधिक सख्या मे लोगो को अपना अनुयायी बनाने एव लोकमत को अपनी ओर आकर्षित करने के साथ-साथ अपनी उत्तरोत्तर बढती हुई महत्वाकाक्षाओ की पूर्ति हेतु राजनीति मे, शासन सचालन मे, सक्रिय भाग लेना भी प्रारम्भ कर दिया। जर्नल आफ दी बम्बई ब्रान्च आफ दी रायल एशियाटिक सोसायटी, वाल्यूम १० पृष्ठ २६० एफ एफ के अनुसार सौ–दत्ति से प्राप्त ईस्वी सन् १२२८ के अभिलेख के अनुसार वेगु ग्राम (साम्प्रत कालीन बेलगाव) के रट्टवशी राजा कार्त्तवीर्य एव उसके पुत्र राजा लक्ष्मीदेव के राजगुरु जैनाचार्य मुनिचन्द्र ने इन राजाओ के राज्य सचालन और सैनिक अभियानो मे सक्रिय भाग लेकर इन रट्टवशी राजाओ के राज्य की सीमाओ का विस्तार कर रट्ट राज्य को एक शक्तिशाली राज्य का रूप दिया। उक्त शिलालेख के लेखानुसार जैनाचार्य मुनिचन्द्र धर्मनीति के साथ-साथ रणनीति के भी विशारद् थे। सर्वोच्च सम्मान के योग्य एव सभी मन्त्रियो मे सर्वोच्च सुयोग्य मन्त्री एव शक्तिशाली रट्टवशी राज्य के निर्माता अथवा सस्थापक जैनाचार्य मुनिचन्द्र ने अपनी उच्च कोटि की प्रशासनिक योग्यता एव उदारता के गुण से अपने आपको अन्य सभी मन्त्रियो मे सर्वाग्रणी सिद्ध किया।[1]

देवर्द्धिगणि से उत्तरवर्त्ती काल मे बदली हुई सामाजिक, धार्मिक एव राजनैतिक परिस्थितियो के कारण इस प्रकार लोकप्रिय एव बहुजन सम्मत बने श्रमण

---

१ Munichandra's activities were not confined to the sphere of Religion alone Besides being a spiritual guide and political advisor of the Royal House Hold, he appears to have taken a leading part not only in the administrative affairs, but also in connection with the military Campaigns of the kingdom He is stated to have expanded the boundries of the Ratta territory and established their authority on a firm footing Both Laxmi Deo IInd and his father Kart Virya IV were indebted to this divine for his sound advice and political wisdom Munichandra was well versed in sacred lore and proficient in military science "Worthy of respect, most able among ministers, the establisher of the Ratta King Munichandra surpassed all others in capacity for administration and in generosity" (Jainism in south India in some jaina Epigraphs—By P B Desai Page 114-115)

सघ के आचार्यो ने राजनीति मे खुलकर भाग लिया । जैन सघ के कतिपय धर्माचार्यो ने नये राज्यो एव नये राजवशो की स्थापना तक की । इस प्रकार राजवशो की स्थापना करते समय और उन राजवशो के राज्य विस्तार के समय उन राजाओ को आचार्यो ने युद्धभूमि मे अन्तिम दम तक डटे रहने की भी प्रेरणा दी । इस प्रकार राजवशो एव राज्यो की स्थापना के साथ-साथ उन्हे शक्तिशाली बनाने तथा सीमा विस्तार करने मे कतिपय आचार्यो ने अपने शिष्य राजाओ को सक्रिय सहयोग और विजय अभियानो मे परामर्श तक भी दिया । इस प्रकार के अनेक उल्लेख मध्ययुगीन शिलालेखो मे उपलब्ध होते है । आचार्य सुदत्त ने(बी ए सेलोटोर के अभिमतानुसार अपरनाम आचार्य वर्द्धमानदेवने)[1] उन पर आक्रमण करने के लिये झपटते हुए चीते की ओर इगित कर अपने पास बैठे यदुवशी क्षत्रियकुमार सल् को आदेश दिया —

"पोय्सल् ! अर्थात् हे सल् ! इस चीते को मार डालो ।"

सल् ने सुदत्त आचार्य द्वारा दी गई चामर की मूठ से चीते को मार डाला । आचार्य सुदत्त क्षत्रियकुमार सल् के इस अद्भुत साहसपूर्ण शौर्य से बडे प्रसन्न हुए । उन्होने उस क्षत्रियकुमार का नाम पोय्सल् रक्खा और उसे सभी भाति की सहायता एव परामर्श प्रदान कर होय् सल् (पोय् सल्) राज्य की स्थापना की और उसे बनवासी राज्य का अधिपति बनाया । आचार्य सुदत्त ने होय्सल् राज्य के प्रथम राजा सल्, उसके पुत्र विनयादित्य (प्रथम) और विनयादित्य के उत्तराधिकारी नृपकाम इन तीनो राजाओ की उनके राज्यकाल मे होय्सल् राज्य को एक शक्तिशाली राज्य बनाने मे सभी भाति की सहायता की ।[2]

शान्ति देव नामक आचार्य ने होय्सल् वश के राजा विनयादित्य (द्वितीय) को विपुल लक्ष्मी (राज्यलक्ष्मी) प्राप्त करने मे बडी सहायता की ।[3]

काणूरगण के आचार्य सिहनन्दी ने दडिग् और माधव नामक राजकुमारो को सभी विद्याओ की शिक्षा दे उन्हे अपने हाथो से राजमुकुट पहना कर एक शक्ति-

---

१ क–वर्द्धमान मुनीन्द्रस्य, विद्यामन्त्र प्रभावत ।
शार्दूल स्ववशीकृत्य, होय्सलोऽपालयद्धराम् ।।
(जैन शिलालेख सग्रह भाग ३ लेख सख्या ६६७ पृष्ठ ५१९)

ख– मीडियेवल जैनिज्म पेज ६४

२ जैन शिलालेख सग्रह भाग २ लेख सख्या ३०१

३ यस्योपास्यपवित्र पाद कमल द्वन्द् द्वन्द् नृप पोय्सलो,
लक्ष्मी सन्निधिमानयत् स विनयादित्य कृताज्ञाभुव ।
कस्तस्यार्हति शान्तिदेव यमिनस्सामर्थ्यमित्थ तथे,
।।५१।।
[जैन शिलालेख सग्रह भाग १, लेख सख्या ५४ (६७)]

शाली जैन राज्य, गग-राज्य की स्थापना की। उन्हे गग-राज्य के प्रथम राजा के रूप मे सिंहासन पर बैठाने के पश्चात् जिन सात बातो का उपदेश दिया उन सात शिक्षाओ मे अन्तिम शिक्षा यह थी कि "युद्ध भूमि मे कभी पीठ मत दिखाना।" उन्होने गग राजवश के प्रथम राजा दडिग् और माधव को सावधान करते हुए कहा था कि इन सात शिक्षाओ मे से किसी एक भी शिक्षा का यदि उल्लघन करोगे, पीठ दिखाकर रणभूमि से जिस दिन पलायन कर जाओगे उसी दिन से तुम्हारा राजवश नष्ट हो जायेगा।

देवर्द्धि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्त्ती काल मे प्रसिद्धि पाये हुए इन धर्मसघो के पच महाव्रतधारी आचार्यो ने, साधुओ ने राजाओ, राजवशो, अमात्यो, सामन्तो, राज्याधिकारियो, श्रीमन्तो, श्रेष्ठियो और प्रजा के सभी वर्गों को अधिकाधिक सख्या मे अपना शिष्य, अनुयायी एव समर्थक बनाने तथा अपनी ओर आकर्षित करने के लिये अनेक प्रकार के तन्त्र, मन्त्र, यन्त्र, ज्वालामालिनी कल्प, पद्मावती कल्प आदि कल्पो, अनेक प्रकार के देव देवियो की मूर्तियो, मन्दिरो और चमत्कारपूर्ण तथाकथित सिद्धियो की परिकल्पना कर उनके माध्यम से प्रभुत्व, सत्ता, ऐश्वर्य, कीर्त्ति और विपुल वैभव प्राप्त करना प्रारम्भ किया। अपने अभीप्सित मनोरथो की सिद्धि के लिये लोकप्रवाह इनकी ओर उद्वेलित सागर के समान सब ओर से उमड पडा। देश के इस छोर से उस छोर तक जन-मानस मे भौतिक कामनाओ से अनुप्राणित अन्धविश्वास की एक अदम्य लहर तरगित हो उठी। ग्राम-ग्राम और नगर-नगर मे पूजा प्रतिष्ठा जाप (याप), मन्त्र सिद्धि, यन्त्रसिद्धि आदि अनुष्ठानो मे अहर्निश व्यस्त और वीतराग जिनेन्द्र देव द्वारा प्ररूपित श्रमण धर्म को अपनी सुविधा एव इच्छानुसार स्वरूप प्रदान करने वाले इन मध्ययुगीन विभिन्न नामधारी श्रमण सघो के चैत्यालयो, मठो, मन्दिरो, वसतियो, यक्षायतनो, ज्वालामालिनी, अम्बिका, पद्मावती प्रभृति देवियो के मन्दिरो और उपाश्रयो मे स्वर्णमुद्राओ, रजत मुद्राओ एव मणि माणिक्यादि की अहर्निश वृष्टि होने लगी। जो श्रमण जीवन सम्यग्ज्ञान-दर्शन—चारित्र रूपी रत्नत्रयी की आराधना एव तप सयम के माध्यम से मुक्ति की साधना के लिये समर्पित होना चाहिये था, वह पावन श्रमण जीवन भौतिक लालसाओ के लोभ मे अन्ध बने लोक प्रवाह को समर्पित हो गया। इन मध्ययुगीन धर्म सघो के आचार्यो अथवा श्रमणो द्वारा मन्त्र, तन्त्र आदि विद्याओ के माध्यम से किस प्रकार की कार्यसिद्धि की जाती थी एतदर्थ सहस्रश उदाहरणो मे से एक उदाहरण राष्ट्रकूट वशीय नरेश गोविन्द तृतीय के समय का इस प्रकार है —

"ईसा की नौवी शताब्दी के मुनि अर्क कीर्त्ति ने कुनगल प्रदेश के प्रशासक विमलादित्य को अपने मन्त्रबल द्वारा भीषण प्रेतबाधा से सदा सर्वदा के लिये विमुक्त कर दिया। इस चमत्कार से प्रसन्न होकर सम्पूर्ण गग मण्डल के अधिराज एव राष्ट्रकूट राज्य के सामन्त चाकिराज ने अपने स्वामी राष्ट्रकूट राज राजेश्वर गोविन्द

तृतीय से प्रार्थना कर जाल मगल नामक एक ग्राम जैन मुनि अर्ककीर्ति को प्रीतिदान के रूप मे दिलवाया ।[1]

राजाओ, महामात्यो, सेनापतियो, सामन्तो, श्रेष्ठियो और अधिकाधिक सख्या मे जन समुदायो को अपना-अपना भक्त और अनुयायी वनाने की इस प्रकार के विभिन्न सगठनो के रूप मे गठित धर्म सघो के आचार्यो एव श्रमणो मे होड सी लग गई । जिस सघ के आचार्य ने सबसे बडे राजा को अपना अनुयायी, भक्त अथवा शिष्य बना लिया, वही सबसे बडा आचार्य और उस आचार्य का सघ ही सवसे वडा एव सबसे श्रेष्ठ सघ माना जाने लगा । धर्म सघ की श्रेष्ठता और आचार्य की महानता का यही मापदण्ड लोक मे सर्वमान्य बन गया । जो आचार्य राजगुरु वन गया वही लोकगुरु माना जाने लगा । इस प्रकार की स्थिति मे इस प्रकार के धर्मसघो के आचार्य और साधु रात-दिन इसी उधेडबुन मे रहने लगे कि किन उपायो से राजा को अपना अनुयायी बनाया जाय, अधिकाधिक लोगो को अपना भक्त बनाया जाय । इस प्रकार देवर्द्धिगरिण से उत्तरवर्त्ती काल मे राज सम्पर्क और लोक सम्पर्क के माध्यम से भव्यातिभव्य जिन मन्दिरो, मठो, बसतियो, शासनदेवियो, आदि के मदिरो के अधिकाधिक सख्या मे निर्माण करवा जनमत को अपनी ओर आकर्षित करना ही इन धर्मसघो के आचार्यो, भट्टारको एव साधुओ की दैनन्दिनी का प्राय प्रमुख अग रह गया था ।

भगवान महावीर के धर्म सघ के उस समय के प्रमुख अग माने जाने वाले श्रमण सघो की इस प्रकार की शोचनीय दशा को देखकर विशुद्ध श्रमणाचार के पक्षधर एक श्रमण ने अपने शोकोद्गार निम्नलिखित रूप मे प्रकट किये —

गड्डरि पवाहओ जो पइ नयर दीसए बहुजणेहि ।
जिणगिह कारवणाई, सुत्तविरुद्धो असुद्धो य ।।६।।
सो होइ दव्वधम्मो, अपहाणो नेव निव्वुई जणइ ।
सुद्धो धम्मो बीओ, महिओ पडिसोयगामीहि ।।७।।
पढमगुणठाणे जे जीवा, चिट्ठति तेसि सो पढमो ।
होइ इह दव्वधम्मो, अविसुद्धो बीयनायेण ।।१०।।
अविरइ गुणठाणाइसु जे य ठिया तेसि भावओ बीओ ।
तेण जुया ते जीवा, हुति सबीया अओ सुद्धो ।।११।।

अर्थात् आज जो भेड चाल से प्रत्येक नगर मे बहुत से लोगो द्वारा जिनगृहो जिन मन्दिरो के निर्माण आदि कार्य करवाये जा रहे है, वे सव सूत्र विरुद्ध और अशुद्ध है । वह केवल अप्रधान धर्म है जो निवृत्ति का जनक मोक्षदायक नही है । शुद्ध धर्म

1 एपिग्राफिका कर्णाटिका वाल्यूम १२ जी बी, पी पी ३०—१

तो वस्तुत इससे भिन्न दूसरा ही है। जो प्रतिश्रोतगामियो अर्थात् लोकप्रवाह के प्रतिकल आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने वाले महापुरुषो द्वारा आचरित एव प्रशसित है। प्रथम गुणस्थान मे जो जीव सस्थित है, उनके लिये यह प्रथम द्रव्यधर्म है, जो बीज-न्याय मूल-न्याय अथवा बोधिबीज सम्यक्त्व के अभाव की दृष्टि से अविशुद्ध है। जो जीव अविरत नामक चौथे गुणस्थान मे स्थित है उनके लिए तो वह भाव पूजा नामक दूसरा धर्म ही आचरणीय और श्रेयस्कर है, जो वस्तुत प्रतिश्रोतगामी तीर्थंकर आदि महापुरुषो द्वारा सेवित एव आचरित होने के कारण विशुद्ध और वास्तविक धर्म है। क्योकि उससे युक्त जीव सबीज अथवा बोधिबीज सम्यक्त्व सहित होते है अत वह दूसरा आध्यात्मिक धर्म ही विशुद्ध धर्म है।

देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्त्ती काल मे, जिस समय जैनागमो मे प्रतिपादित जैनधर्म की शाश्वत सत्य सिद्धान्तो से प्रतिकूल आचरण करने वाले चैत्यवासी एव भट्टारक आदि धर्म सघो का सर्वत्र प्राबल्य था, इन सघो के चरमोत्कर्ष काल मे भी तीर्थंकर भगवान महावीर द्वारा बताये गये जैनधर्म के मूलभूत आध्यात्मिक सिद्धान्तो एव विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा के निर्दोष श्रमणाचार के पक्षधर किसी श्रमणोत्तम ने इन पक्तियो मे उक्त द्रव्य परम्पराओ के उत्कर्ष काल मे उनके द्वारा प्रचालित भेडचाल तुल्य लोकप्रवाह पर शोकपूर्ण उद्‌गार प्रकट करते हुए मूल विशुद्ध जैन धर्म का, शाश्वत सत्य श्रमण परम्परा एव श्रमणोपासक परम्परा के मूल स्वरूप का अतीव सहज सुन्दर शैली मे चित्रण किया है। जैनधर्म के शाश्वत सत्य मूल स्वरूप मे आडम्बर के लिये कही कोई किंचित्मात्र भी स्थान नही था, वह तो पूर्णत आध्यात्मिकता की आधारशिला पर आधारित था। उसमे केवल आध्यात्मिकता ही आध्यात्मिकता ओतप्रोत थी।

जैनधर्म और श्रमणाचार के मूल सिद्धान्तो से विपरीत श्रमणाचार एव धर्म के स्वरूप को जन-जन के समक्ष प्रस्तुत कर सुदृढ तथा शक्तिशाली बने इन नियत निवासी धर्मसघो के उत्कर्ष काल मे एव एकाधिकार काल मे हुई जिन शासन की विशुद्ध श्रमण परम्परा की दयनीय दशा से दुखित विधि पक्ष के आचार्य भावसागर सरि ने विक्रम सम्वत् १५६० के आसपास की अपनी रचना "श्री वीर वश पट्टावली अपर नाम विधि पक्ष गच्छ पट्टावली" मे अपनी अन्तरव्यथा इन शब्दो मे अभिव्यक्त की है —

> दुस्सह दूसमवसओ, साह पसाहाहिं कुलगणाइ हि।
> विज्जा किरिया भट्ठा, सासणमिह सुत्तरहिय च ॥१६॥

अर्थात् दु सह्य दुष्पम नामक पचम आरक के दुष्प्रभाव के परिणामस्वरूप आदिकाल से एकता के सूत्र मे आवद्ध चला आ रहा प्रभु महावीर का धर्म सघ भिन्न-भिन्न शाखाओ प्रशाखाओ एव कुलो एव गणो मे विभक्त हो छिन्न-भिन्न हो

गया, अध्यात्म विधाए प्रणष्ट तथा विशुद्ध क्रियाए भ्रष्ट हो गई। अर्थात् साधु साध्वी श्रावक श्राविका वर्ग अपने आदर्श कर्त्तव्यो मे च्युत हो गये और यह जिन शासन अर्थात् महावीर का धर्मसघ सूत्र रहित हो गया। चतुर्विध सघ के साधु साध्वी श्रावक श्राविका इन चारो वर्गो के सदस्यो का आचार व्यवहार सर्वज्ञ प्रणीत आगमो मे प्रदर्शित व प्रतिपादित मूल विशुद्ध मार्ग से विपरीत हो गया।

मध्ययुगीन मन्दिरो, तीर्थो, वसतियो, चैत्यालयो आदि से उपलब्ध प्राचीन शिलालेखो, ताम्रपत्रो, अभिलेखो आदि के अध्ययन द्वारा उस युग के श्रमणसघो, उनके आचार्यो और मुनियो के विशुद्ध श्रमणाचार से विपरीत शिथिलाचारपूर्ण आचरण से, द्रव्य सग्रह की प्रवृत्ति से और आगम साहित्य मे प्रतिपादित जैनधर्म के अध्यात्मपरक एव अहिसा मूलक महान् सिद्धान्तो के अध्ययन के पश्चात् इतिहास के मर्मज्ञ एव तटस्थ विद्वान् ने उपरिवर्णित आचार्यो के लिये उनकी अन्तर्दशा के द्योतक उद्गारो के अनुरूप ही अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है —

" Thus, the distinction between Jain monks and priests gradually disappeared from the 7th , 8th centuries The change in usual practice, of priesthood would have surely made them the sole master of enormous wealth, acquired from endowments made by the Jain devotees

The above analysis of the nature of Jaina monks in Karnataka shows how far they departed from the precepts of their founder Mahavira, who denounced the infallible authority of the priest class among the Hindus and great emphasis on the purity of soul rather than the observances of ritualistic formalism The rituals introduced by the Jaina teachers of Karnataka were not in keeping with the original puritan character of Jainism The introduction of rituals also affected the Jaina vow of Ahinsa (non-injury) In the course of performing worship and rituals, the Jaina devotees occasionally committed acts of injury to unseen germs in water, flowers, etc , which were used in the worship of Jina The offering of Homa or fire oblation and Arti or waving the lamp round the Jina killed small insects "[१]

इन्ही विद्वान् ऐतिहासज्ञ ने मध्ययुगीन धर्मसघो द्वारा परम्परागत श्रमण जीवन मे मूल श्रमणाचार अथवा श्रमण चर्या मे किये गये परिवर्तनो पर प्रकाश डालते हुए लिखा है —

"The most important change which affected the Jainas in Karnataka related to the way of their living The wandering mode of life, originally intended for the monk community, yielded place to permanent habitation of the Jaina monks in Jaina monasteries The Digambara teachers of

१ जैनिज्म इन अरली मिडिएवल कर्नाटका, वाई रामभूषणप्रसादसिंह, पेज ५१

Karnataka induced the people to erect monasteries and temples and endow them with rich gifts for proper maintenance The Jaina devotees showed equal zeal for building residences for the Jaina ascetics Gradually Jaina monasticism organised itself under the authoritative control of the Chief Pre-ceptors, who were generally the recipients of gifts on behalf of the Jain temples and monestic establishments

In the new monasticism, the preceptors wielded much authority over the monks and nuns As the latter were solely dependent upon the former for their subsistence, they had to be loyal towards the preceptors The preceptors also commanded respect of the lay devotees of all classes Pujya Pada Jinsena, Gun Bhadra, Som Deo, Ajit Sen, Sudatta, Vardhaman Deo and Muni Chandra were some of the prominent Jaina teachers, who exerted profound influence upon the kings and princes of Mysore in their own times They now tendered advice not only on spiritual matters, but also on worldly affairs They took active interest in the politics of Karnataka This obviously ment a break with the past, when the monks led a solitary life in the old monasticism In any case, old norms were being freely violated" १

मूर्ति पूजा के सम्बन्ध मे अपने पुरातात्विक अध्ययन के निष्कर्ष के रूप मे अभिमत व्यक्त करते हुए इन्ही इतिहासविद् सिंह महोदय ने लिखा है —

"In the earliest phase of their history the Jainas and the Buddhists launched a systematic campaign against the cult of ritua land sacrifice as destructive of all morals, and laid great stress on the purification of soul for the attainment of Nirvana or salvation They denied the authority of God over human actions Unlike the Hindus, they did not accept God as the Creator and Destroyer of the Universe Contrary to the popular view they held that every soul possesses the virtue of Parmatma or God and attains this status as soon as it frees itself from the worldly bondage

Naturally the early Jains did not practice image worship, which finds no place in the Jain canonical literature The early Digambara texts from Karnataka do not furnish authentic information on this point and the description of their Mool Gunas and Uttar Gunas meant for lay worshippers do not refer to image worship But idol worship first appeared in the early centuries of the Christian Era, and elaborate rules were developped for performing the different rituals of Jaina worship during early medieval times

Samant Bhadra, who belongs to the early century of the Christian Era, was probably the first to lay down worship as the religious duty of a layman

---

१ Jainism in Early Medieval Karnataka by Ram Bhushan Prasad singh pages 135-136 published by Motilal Banarsidass Delhi—Varanasi Patna, first edition Delhi, 1975

He included it among the Shiksha Vratas or Educative vows and gave it a place of some importance in his rules for Jain house holders [1]

From this time the Jaina teachers further developed their system of worship Som Deo included it among samayik Shiksha Vrata or the customary worship and devoted a full chapter to the Jaina system of worship "[2]

ईसा की छठी शताब्दी के उत्तरवर्त्ती काल मे जैन श्रमणो एव श्रमण सघो मे जैन धर्म के मूल सिद्धान्तो के विपरीत शुद्ध श्रमणाचार के प्रतिकूल आचरण का प्राचुर्य क्यो हो गया ? शिथिलाचार, द्रव्य सग्रह, मन्दिरो के पौरोहित्य ग्रहण आदि की वृत्ति क्यो और किस प्रकार उत्पन्न हो गई ? उनका श्रमण जीवन पूर्व काल के श्रमणो के एकान्तप्रिय, परिभ्रमणशील एव आध्यात्मिक श्रमण जीवन से प्रतिकूल दिशागामी क्यो बन गया ? इन सब प्रश्नो पर क्षीर नीर विवेक दृष्टि से गहन अध्ययन के पश्चात् विद्वान् ऐतिहासज्ञ श्री रामभूषण प्रसादसिह ने निष्कर्ष के रूप मे जो उपरि उद्धृत विचार व्यक्त किये है वे सार रूप मे इस प्रकार है —

"जिन कारणो से मध्ययुग के श्रमणो ने मन्दिरो के पौरोहित्य को ग्रहण किया, उन कारणो को ज्ञात करना कोई कठिन कार्य नही है। जैन श्रमणो के मन मस्तिष्क मे बढती हुई द्रव्य सग्रह की लालसा, सघ मे सत्ता सम्पन्न प्रमुख पद प्राप्त करने की अभिलाषा और उनकी उत्तरोत्तर शिथिलाचार की ओर उन्मुख हुई वृत्ति ने उन्हे श्रमण धर्म से भ्रष्ट करने वाले पौरोहित्य के कार्य को पुरोहितो से छीनकर अपने अधिकार मे लेने के लिये विवश किया। इस प्रकार अपने हाथ मे लिये हुए पौरोहित्य कार्य ने उन श्रमणो को उस अपार सम्पत्ति और वैभव का स्वामी बना दिया जो श्रद्धालु भक्तो द्वारा जिन मन्दिरो को भेट की गई बहुमूल्य सम्पत्ति के रूप मे उन्हे प्राप्त होती रहती थी।

जैन साधुओ की इस प्रकार की प्रभुसत्ता प्राप्त करने की लालसा के साथ-साथ शिथिलाचारपरक अर्थ लोलुप वृत्ति ने उन्हे भगवान् महावीर के आध्यात्मिक सिद्धान्तो से कितने कोसो दूर फेक दिया, यह प्रत्येक विज्ञ व्यक्ति को सहज ही विदित हो जाता है। भगवान् महावीर ने धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करते समय हिन्दू समाज मे एकाधिपत्य के रूप मे छाई हुई पौरोहित्य वृत्ति का घोर विरोध करने के साथ-साथ भौतिक अनुष्ठानो के स्थान पर आत्म शुद्धि पर बल दिया था। जिन भौतिक अनुष्ठानो का भगवान् महावीर ने तीव्र विरोध कर निराकरण किया था, उन भौतिक अनुष्ठानो का जैनधर्म सघ मे प्रचलन करते समय मध्य युग के जैनधर्म

---

१ S P Brahmachari, Grihastha Dharma, V 119, page 144

२ Jainism in Early Medieval Karnataka, Page 23 published by Motilal Banarasi Dass, Delhi in the first yedliing 1975

गुरुओ एव धर्माचार्यो ने जैन धर्म के उन पवित्र आध्यात्मिक मूल सिद्धान्तो की ओर कोई ध्यान नही दिया, जो आत्मशुद्धि के अमोघ साधन थे अथवा है। जैनधर्म सघ मे उन मध्ययुगीन धर्माचार्यो द्वारा किये गये द्रव्य पूजा के भौतिक अनुष्ठानो के प्रचलन से जैनधर्म के प्राणभूत अहिसा के मूल सिद्धान्त पर वस्तुत कुठाराघात हुआ। द्रव्य पूजा करते समय भौतिक अनुष्ठानो के माध्यम से जो भक्तगण पूजा के प्रयोग मे लाये जाने वाले पानी और पुष्पादि मे विद्यमान अगणित सूक्ष्म जीवो की हिंसा करते हैं जो दृष्टिगोचर नही होते, द्रव्य पूजा मे किये जाने वाले होम से, अगरबत्ती धूप आदि सुगन्धित द्रव्यो के प्रज्वलन से और प्रज्वलित प्रदीप को जिनमूर्ति के समक्ष घुमाने से अनुष्ठान करने वाला भक्त वायु अग्नि आदि जीव निकायो के असख्य सूक्ष्म जीवो की हिसा करता है। जैनो मे मूर्ति पूजा का प्रादुर्भाव ईसा की प्रारम्भिक शताब्दियो मे हुआ और मध्ययुग मे पूजा के नियमो और अनुष्ठानो को विस्तृत अथवा विशद् रूप दिया गया। समन्तभद्र (विक्रम की सातवी आठवी शताब्दी) ही सम्भवत पहले आचार्य थे, जिन्होने मूर्तिपूजा को शिक्षाव्रत मे सम्मिलित कर इसे श्राद्ध वर्ग (श्रावक श्राविका वर्ग) का धार्मिक कर्त्तव्य निर्द्धारित किया। सोमदेव (विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी) ने मूर्ति पूजा को सामायिक शिक्षा व्रत मे स्थान दिया।"

प्राचीन काल मे वीर निर्वाण सम्वत् १००० तक जैन श्रमणो का श्रमण जीवन उच्च आदर्श से ओतप्रोत, कठोर मर्यादाओ से पूर्ण रूपेण मर्यादित, सर्वज्ञ प्रणीत जिनागमो मे प्रतिपादित श्रमण धर्म के अनुरूप था। चतुर्विध सघ द्वारा सर्वमान्य महान् जैनधर्म का स्वरूप भी पूर्वधरकाल मे जैनागमानुसार ही था। किन्तु मध्ययुग मे जैन धर्म के स्वरूप मे परिवर्तन और श्रमणो के श्रमणाचार मे शैथिल्य आदि दोषो का प्रादुर्भाव एव प्राबल्य किन कारणो से हुआ इस पर प्रकाश डालते हुए इन्ही विद्वान् लेखक ने लिखा है —

"मूलत जैनागमो मे श्रमण श्रमणी वर्ग के लिये अप्रतिहत विहार व वर्षावास को छोड शेष ऋतुओ मे अनियत निवास का विधान है। मध्य युग मे परीषहभीरु श्रमण श्रमणी वर्ग ने अप्रतिहत विहार अथवा अनियत निवास की मूल श्रमण चर्या का परित्याग कर एक ही स्थान पर नियत निवास को अगीकार कर लिया। इस परिवर्तन के साथ ही उन श्रमणो ने अपने एक ही स्थान पर स्थायी नियत निवास के लिए अपने भक्तो को चैत्य, मठ, श्रमणवसतिया, श्रमणी वसतिया आदि बनाने मे विपुल पुण्यलाभ का उपदेश देकर इनका निर्माण करवाना प्रारम्भ किया। नगर-नगर ग्राम ग्राम मे मठ चैत्यादि के निर्माण करवाये गए। उन चैत्यो, मठो और वसतियो मे श्रमण श्रमणियो ने नियत निवास प्रारम्भ कर दिया। शनै शनै उन चैत्यो मठो, मुनि वसतियो और श्रमणी वसतियो आदि का प्रबन्ध उन श्रमण समूहो के आचार्यो व भट्टारको आदि ने अपने हाथ मे लिया और श्रमण श्रमणियो के लिये सभी प्रकार के समुचित प्रबन्ध एव उन मठादि की भली भाति व्यवस्था हेतु उन

मठाधीशो, चैत्याधीशो ने मन्दिरो, चैत्यो और मठो के नाम पर भेट, द्रव्यदान, भूमिदान, ग्रामदान आदि ग्रहण करने प्रारम्भ कर दिये। मठो, चैत्यो, वस्तियो और मुनि आवासो के नवोदित आधिपत्य व्यवस्था मे समस्त श्रमण श्रमणी वर्ग के साधु साध्वियो पर उन मठाधीशो चैत्याधिपतियो का पूर्णरूपेण स्वामित्व अथवा आधिपत्य माना जाता था क्योकि उन चैत्य मठादि मे रहने वाले सभी साधु साध्वियो को अपने-अपने अधीश आचार्यो की कृपा पर ही निर्भर रहना पडता था। उन साधु साध्वियो का अपने-अपने आचार्यो के प्रति पूर्णरूपेण स्वामिभक्त रहना अनिवार्य था। भेट एव दान मे प्राप्त धन की वृद्धि के साथ-साथ उन आचार्यो का वैभव बढा और वैभव की अभिवृद्धि के साथ भक्त समाज पर उनका वर्चस्व भी उत्तरोत्तर बढता गया। लोक सम्पर्क और राज सम्पर्क बढाकर उन्होने प्रजाजनो के सभी वर्गो और राजा महाराजाओ पर भी अपना प्रभाव जमा लिया। पूज्यपाद् जिनसेन, गुणभद्र, सोमदेव, अजितसेन, सुदत्त, मुनिचन्द्र आदि प्रमुख आचार्यो का अपने-अपने समय के राजाओ एव राजकुमारो पर गहरा प्रभाव था। मध्ययुग के वे श्रमण एव आचार्य केवल धर्म अथवा पारलौकिक विषयो के परामर्शदाता ही नही, अपितु गृहस्थो के इह लौकिक कार्य कलापो के परामर्शदाता भी थे। वे जैन आचार्य राजनीति मे सक्रिय एव उल्लेखनीय अभिरुचि लेते थे। मध्ययुग के जैनाचार्यो और श्रमणो के इस प्रकार के कार्य कलापो, व लौकिक प्रपचो से प्रलिप्त चर्याओ से स्पष्ट रूपेण स्वत ही यह सिद्ध है कि उनका पुरातन पवित्र मूल श्रमण परम्परा से सम्बन्ध टूट गया था। इस बात से भी किसी को कोई मतभेद नही कि मध्ययुग की उन श्रमण परम्पराओ के श्रमणो और आचार्यो ने पुरातन पावन श्रमण धर्म की सभी मूल मर्यादाओ का खुले रूप मे उल्लघन किया, मर्यादाओ को तोड दिया।"

इन सब उपरिलिखित विक्रम की ग्यारहवी बारहवी शताब्दी से लेकर वर्तमान काल तक के उद्धरणो से यह भलीभाति सिद्ध होता है कि वीर निर्वाण स० १००० एक हजार के पश्चाद्वर्त्ती काल मे भ० महावीर के धर्म सघ मे अनेक ऐसे श्रमण सघो का उद्भव, अभ्युत्थान एव उत्कर्ष हुआ जिन्होने जैन धर्म के मूल स्वरूप को, श्रमण धर्म की मर्यादाओ को, तोडकर न केवल श्रमण धर्म के ही अपितु जैन धर्म के मूल स्वरूप को भी आमूल-चूल परिवर्तित कर उसका एक विकृत स्वरूप लोक के समक्ष प्रस्तुत किया। उन नई श्रमण परम्पराओ के प्राबल्य के परिणाम-स्वरूप मूल शुद्ध श्रमण परम्परा का इतना अधिक दुखद ह्रास हुआ कि वह मूल परम्परा अन्तर्प्रवाहिनी सरिता की तरह क्षीण और गौणरूप मे ही अवशिष्ट रह गई।

जिन मध्ययुगीन श्रमण परम्पराओ ने जैन धर्म के विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप मे भौतिकता का, बाह्याडम्बरपूर्ण अनुष्ठानो एव कर्म काण्डो का पुट देकर जैन धर्म के मूल स्वरूप मे परिवर्तन किया, शास्त्र सम्मत विशुद्ध मूल श्रमणाचार मे पौरोहित्य, चल अचल सम्पत्ति सग्रह, भेट ग्रहण, भूदान, द्रव्यदान, ग्रामदान

आदि दानो का आदान और लोक सम्पर्क, राज सम्पर्क आदि अशास्त्रीय शिथिलाचार का पुट देकर परम्परागत मूल श्रमणाचार मे आमूलचूल परिवर्तन किया और जिन परम्पराओ के प्रचार-प्रसार तथा प्राबल्य के परिणामस्वरूप जैन धर्म का परम्परागत महान् मूलस्वरूप धूमिल हो गया, विशुद्ध शास्त्रीय श्रमणाचार का पालन करने वाली मूल श्रमण परम्परा का प्रवाह अत्यन्त क्षीण मन्द और गौण रूप मे अवशिष्ट रह गया उन चैत्य वासी, भट्टारक, यापनीय आदि परम्पराओ का यथास्थान सक्षेप मे परिचय देने का प्रयास किया जावेगा। जैन धर्म के मूल स्वरूप एव शास्त्र सम्मत विशुद्ध श्रमण परम्परा के स्वरूप मे आमूलचूल परिवर्तन करने वाली उन सभी परम्पराओ का परिचय प्रस्तुत करने से पूर्व भगवान् महावीर की श्रमण परम्परा के वास्तविक स्वरूप का सक्षिप्त परिचय करवाना परमावश्यक समझकर उसका परिचय यहा प्रस्तुत किया जा रहा है।

— ❀ —

वीर निर्वाण ` देवर्द्धि-काल तक

आर्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण से आगे का इतिहास प्रस्तुत करने से पूर्व इतिहास-प्रमियो का ध्यान एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर आर्कषित करना आवश्यक है। वह तथ्य यह है कि आर्य सुधर्मा से आर्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने अर्थात् वीर नि० स० १ से १००० तक जैन धर्म-मूल परपरा मे मूल प्रवाह मे ही चलता रहा। उस एक हजार वर्ष की अवधि मे भगवान् महावीर का चतुर्विध सघ प्रभु द्वारा प्ररूपित जैन धर्म के अध्यात्मपरक एव अहिसामूलक मूल स्वरूप का ही उपासक रहा। श्रमण—श्रमणी वर्ग एव श्रमणोपासक--श्रमणोपासिका वर्ग के लिये आगमो मे जिस प्रकार के आचार का विधान किया गया है, उसी के अनुरूप आचरण एव साधना करता हुआ चतुर्विध सघ एक दो साधारण अपवादो को छोड पूर्णत एक सूत्र मे अनुशासित रूप से चलता रहा। आर्य महागिरी के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर गणो एव गच्छो का पृथक् अस्तित्व प्रारम्भ होने लगा। परन्तु उस समय के दीर्घदर्शी आचार्यो एव श्रमणो ने उन विभिन्न इकाइयो के अस्तित्व को मान्य करते हुए भगवान् महावीर के धर्म सघ को सुदीर्घकाल के लिये एकता के सूत्र मे आबद्ध रखने के सदुद्देश्य से वाचनाचार्य, युगप्रधानाचार्य और गणाचार्य जैसे सामन्जस्यकारी पदो का सृजन किया। यह ऐसी व्यवस्था थी कि जिसमे स्व—पर—कल्याण की आध्यात्मिक स्पर्द्धा के साथ-साथ सभी गण एव गच्छ सह-अस्तित्वपूर्वक अपने-अपने क्षेत्र मे कार्य करते हुए अपना अस्तित्व स्वतन्त्र इकाइयो के रूप मे बनाए रख कर भी जिन शासन की अभिवृद्धि के लिये अहर्निश निरन्तर प्रयत्नशील रहते हुए स्व तथा पर के कल्याण मे निरत रहे।

उन सभी गणो एव गच्छो मे से सर्वोच्च एव विशिष्टतम प्रतिभा के धनी श्रमण को युगप्रधानाचार्य पद पर सर्वसम्मति से नियुक्त करने की व्यवस्था की गई। धर्म के अभ्युत्थान, प्रचार, प्रसार, सरक्षण, सवर्द्धन तथा धर्म के शास्त्रोक्त मूल स्वरूप एव विशुद्ध श्रमणाचार के सरक्षण आदि से सम्बन्धित नीतियो के विषय मे युगप्रधानाचार्य के निर्देशो अथवा आदेशो को सभी गणो एव गच्छो के आचार्यो द्वारा शिरोधार्य किया जाकर अपने-अपने श्रमण-श्रमणी समूह से उन आदेशो का पालन करवाया जाना अनिवार्य रखा गया।

इसी प्रकार आगमो के अध्ययन के लिये सभी गणो तथा गच्छो मे से छाट कर सुयोग्यतम आगमनिष्णात श्रमणश्रेष्ठ को वाचनाचार्य पद पर अधिष्ठित किये

जाने की व्यवस्था की गई। सभी गणो एव गच्छो के कुशाग्रबुद्धि सुयोग्य शिक्षार्थी साधु उस वाचनाचार्य से आगमो की वाचनाए ग्रहण करते।

आर्य महागिरी के उत्तरवर्ती काल से आर्य देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण तक गणाचार्यो के साथ-साथ युग प्रधानाचार्य और वाचनाचार्य परम्परा अबाध गति से निरन्तर निरवच्छिन्न रूप से चलती रही। इसी कारण जैन धर्म का मूल स्वरूप और आगमानुसारी विशुद्ध मूल आचार भी आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल तक सुचारु रूपेण यथावत् बना रहा। इस प्रकार की समुचित व्यवस्था के कारण गणो और गच्छो की अनेकता के उपरान्त भी भगवान् महावीर के चतुर्विध सघ की एकता अक्षुण्ण बनी रही। अनेकता मे एकता का यह एक आदर्श प्रयोग सिद्ध हुआ।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि वीर नि० स० ६०६ मे दिगम्बर सघ, लगभग उसी अवधि मे यापनीय सघ और वीर नि० स० ८५० के आस-पास की अवधि मे चैत्यवासी परम्परा का प्रादुर्भाव हो चुका था। किन्तु देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल तक ये सभी सघ अपने-अपने क्षेत्र मे सह अस्तित्वपूर्वक कार्यरत् रहे। उपर्युक्त १००० वर्ष की अवधि मे इन सब सघो मे परस्पर कोई उल्लेखनीय सघर्ष जैसी स्थिति का उल्लेख जैन साहित्य मे कही उपलब्ध नही होता।

इस प्रकार वीर नि० स० १ से १००० तक भगवान् महावीर का धर्म सघ जैन धर्म के मूल स्वरूप और मूल आचार का उपासक रहा, इसका प्रमुख कारण यही रहा कि उस अवधि मे पूर्व-ज्ञान के वेत्ता महान् आचार्यो के तप—तेज—ज्ञान और अद्भुत् प्रतिभा-सम्पन्न वर्चस्व के कारण आगम से भिन्न आचार-विचार वाली परम्पराए अपनी जड नही जमा पाई।

यद्यपि आर्य सुधर्मा से लेकर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय तक की पृथक्-पृथक् कालावधि मे निर्ग्रन्थ सघ सौधर्मगच्छ, कोटिक गच्छ, वनवासी गच्छ वसतिवासी आदि नामो से भी अभिहित किया जाता रहा, तथापि इसका मूल निर्ग्रन्थ रूप उस १००० वर्ष की अवधि मे भी अक्षुण्ण बना रहा। आज भी जैन श्रमण 'निर्ग्रन्थ' और जैनागम 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' के नाम से विख्यात है। निर्ग्रन्थ का सीधा सा अर्थ है ग्रन्थि रहित। ग्रन्थि दो प्रकार की है—द्रव्य ग्रन्थि और भावग्रन्थि। द्रव्य ग्रन्थि अर्थात् धन-सम्पत्ति आदि सभी प्रकार के परिग्रह और भावग्रन्थि-क्रोध, मान, माया, लोभ, ममत्व आदि कषाय। जो इन दोनो प्रकार की ग्रन्थियो से रहित है, उसका नाम है निर्ग्रन्थ अर्थात् जैन श्रमण। उन निर्ग्रन्थो के आचार का तथा प्राणीमात्र के कल्याणमार्ग का प्रतिपादन करने के लिये जिन सूत्रो-सिद्धान्तो व आगमो की रचना की गई, वे निर्ग्रन्थ प्रवचन कहलाये।

देवर्द्धिगरिण के स्वर्गारोहरण काल अर्थात् वीर नि. स १००० तक भगवान् महावीर के निर्ग्रन्थ-श्रमरण अपने पूर्वधर आचार्यो से अनुशासित मूल परम्परा मे रहते हुए निर्ग्रन्थ प्रवचन मे प्रतिपादित जैनधर्म के विशुद्ध आध्यात्मिक मूलरूप की उपासना और विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते रहे। यद्यपि, जैसा कि पहले बताया जा चुका है वीर नि स ८५० के आस-पास कतिपय निर्ग्रन्थ श्रमरण निर्ग्रन्थ प्रवचन मे प्रतिपादित श्रमरणोचित आचार, आस्थाओ और उग्र विहार को तिलाजलि दे अपनी इच्छानुसार चैत्यो-जिनमन्दिरो का निर्माण करवा कर उनमे स्थिरवास-नियतवास करने के साथ ही साथ अनेषरणीय, अकल्पनीय, आधाकर्मी आहार भी लेने लग गये थे, तथापि मूल निर्ग्रन्थ परम्परा के महान् प्रतापी, आगमनिष्णात त्यागी, तपस्वी, उग्रविहारी तथा प्रकाण्ड विद्वान् पूर्वधर आचार्यो की विद्यमानता एव उनके प्रबल प्रभाव के कारण वे निर्ग्रन्थ प्रवचन से प्रतिकूल आस्था और आचार वाले शिथिलाचारी चैत्यवासी अपने १५० वर्ष के अथक् प्रयास के उपरान्त भी जैन समाज के मानस मे कोई विशेष स्थान अथवा सम्मान तब तक प्राप्त करने मे असफल ही रहे।

देवर्द्धि क्षमाश्रमरण के अन्तिम समय तक जैन धर्म का शास्त्रो द्वारा प्रतिपादित विशुद्ध आध्यात्मिक मूल रूप अक्षुण्ण बना रहा और विशुद्ध श्रमरणाचार मे भी किसी प्रकार का उल्लेखनीय अन्तर नही आया किन्तु देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमरण के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् भगवान महावीर के श्रमण-श्रमणी सघ की ही नही अपितु चतुर्विध सघ की, जैनधर्म के मूल विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप की और विशुद्ध श्रमणाचार की भी स्थिति शनै शनै अति दयनीय होती गई। देवर्द्धि के स्वर्गारोहण काल तक निर्ग्रन्थ प्रवचन मे प्रतिपादित जैनधर्म के मूल स्वरूप, मूल आचार, मूल आस्थाओ एव मान्यताओ का उपासक भगवान महावीर का धर्मसघ सुसगठित, सुदृढ, तेजस्वी, बहुजनमान्य तथा सबल था और चैत्यवासी सघ निर्बल, नगण्य एव अत्यल्प जन-मान्य था। परन्तु अन्तिम पूर्वधर आर्य देवर्द्धि के स्वर्गस्थ होने के उत्तरवर्ती काल मे चैत्यवासी सघ का शनै शनै जोर बढने लगा। धीरे-धीरे एक समय ऐसा आया कि वह चैत्यवासी सघ सशक्त, सुदृढ, देश-व्यापी एव बहुजनमान्य बन गया और जैन धर्म के मूल स्वरूप, विशुद्ध मूल श्रमणाचार की मान्यताओ एव आस्थाओ का उपासक प्रभु वीर का मूल धर्म सघ निर्बल, विघटित और अत्यल्प-जन-मान्य होता चला गया। चैत्यवासियो ने और उनके पद चिह्नो का अनुसरण करते हुए भट्टारको, यापनीयो और श्रीपूज्यो ने जैन धर्म के शास्त्रोक्त मूल स्वरूप, आगमो मे प्रतिपादित मूल श्रमणाचार और यहा तक कि श्राद्धवर्ग के आचार-विचार और दैनिक धर्मकृत्यो तक मे स्वेच्छानुसार निर्ग्रन्थ प्रवचन की भावनाओ के प्रतिकूल आमूलचूल परिवर्तन कर धर्म के मूल स्वरूप को ही विकृत कर दिया। उनके आडम्बरपूर्ण जनमनरजनकारी आकर्षक अभिनव विधाओ, स्वेच्छानुसार प्रकल्पित आयोजनो का जनमानस पर ऐसा प्रभाव पडा कि सभी ओर सभी वर्गो के लोग

जाने की व्यवस्था की गई। सभी गणो एव गच्छो के कुशाग्रबुद्धि सुयोग्य शिक्षार्थी साधु उस वाचनाचार्य से आगमो की वाचनाए ग्रहण करते।

आर्य महागिरी के उत्तरवर्ती काल से आर्य देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण तक गणाचार्यो के साथ-साथ युग प्रधानाचार्य और वाचनाचार्य परम्परा अबाध गति से निरन्तर निरवच्छिन्न रूप से चलती रही। इसी कारण जैन धर्म का मूल स्वरूप और आगमानुसारी विशुद्ध मूल आचार भी आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल तक सुचारु रूपेण यथावत् बना रहा। इस प्रकार की समुचित व्यवस्था के कारण गणो और गच्छो की अनेकता के उपरान्त भी भगवान् महावीर के चतुर्विध सघ की एकता अक्षुण्ण बनी रही। अनेकता मे एकता का यह एक आदर्श प्रयोग सिद्ध हुआ।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि वीर नि० स० ६०६ मे दिगम्बर सघ, लगभग उसी अवधि मे यापनीय सघ और वीर नि० स० ८५० के आस-पास की अवधि मे चैत्यवासी परम्परा का प्रादुर्भाव हो चुका था। किन्तु देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल तक ये सभी सघ अपने-अपने क्षेत्र मे सह अस्तित्वपूर्वक कार्यरत् रहे। उपर्युक्त १००० वर्ष की अवधि मे इन सब सघो मे परस्पर कोई उल्लेखनीय सघर्ष जैसी स्थिति का उल्लेख जैन साहित्य मे कही उपलब्ध नही होता।

इस प्रकार वीर नि० स० १ से १००० तक भगवान् महावीर का धर्म सघ जैन धर्म के मूल स्वरूप और मूल आचार का उपासक रहा, इसका प्रमुख कारण यही रहा कि उस अवधि मे पूर्व-ज्ञान के वेत्ता महान् आचार्यो के तप—तेज—ज्ञान और अद्भुत् प्रतिभा-सम्पन्न वर्चस्व के कारण आगम से भिन्न आचार-विचार वाली परम्पराए अपनी जड नही जमा पाई।

यद्यपि आर्य सुधर्मा से लेकर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के समय तक की पृथक्-पृथक् कालावधि मे निर्ग्रन्थ सघ सौधर्मगच्छ, कोटिक गच्छ, वनवासी गच्छ वसतिवासी आदि नामो से भी अभिहित किया जाता रहा, तथापि इसका मूल निर्ग्रन्थ रूप उस १००० वर्ष की अवधि मे भी अक्षुण्ण बना रहा। आज भी जैन श्रमण 'निर्ग्रन्थ' और जैनागम 'निर्ग्रन्थ प्रवचन' के नाम से विख्यात है। निर्ग्रन्थ का सीधा सा अर्थ है ग्रन्थि रहित। ग्रन्थि दो प्रकार की है—द्रव्य ग्रन्थि और भावग्रन्थि। द्रव्य ग्रन्थि अर्थात् धन-सम्पत्ति आदि सभी प्रकार के परिग्रह और भावग्रन्थि-क्रोध, मान, माया, लोभ, ममत्व आदि कषाय। जो इन दोनो प्रकार की ग्रन्थियो से रहित है, उसका नाम है निर्ग्रन्थ अर्थात् जैन श्रमण। उन निर्ग्रन्थो के आचार का तथा प्राणीमात्र के कल्याणमार्ग का प्रतिपादन करने के लिये जिन सूत्रो-सिद्धान्तो व आगमो की रचना की गई, वे निर्ग्रन्थ प्रवचन कहलाये।

देवर्द्धिगणि के स्वर्गारोहण काल अर्थात् वीर नि स १००० तक भगवान् महावीर के निर्ग्रन्थ-श्रमण अपने पूर्वधर आचार्यो से अनुशासित मूल परम्परा मे रहते हुए निर्ग्रन्थ प्रवचन मे प्रतिपादित जैनधर्म के विशुद्ध आध्यात्मिक मूलरूप की उपासना और विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते रहे। यद्यपि, जैसा कि पहले बताया जा चुका है वीर नि स ८५० के आस-पास कतिपय निर्ग्रन्थ श्रमण निर्ग्रन्थ प्रवचन मे प्रतिपादित श्रमणोचित आचार, आस्थाओ और उग्र विहार को तिलाजलि दे अपनी इच्छानुसार चैत्यो-जिनमन्दिरो का निर्माण करवा कर उनमे स्थिरवास-नियतवास करने के साथ ही साथ अनेषणीय, अकल्पनीय, आधाकर्मी आहार भी लेने लग गये थे, तथापि मूल निर्ग्रन्थ परम्परा के महान् प्रतापी, आगमनिष्णात त्यागी, तपस्वी, उग्रविहारी तथा प्रकाण्ड विद्वान् पूर्वधर आचार्यो की विद्यमानता एव उनके प्रबल प्रभाव के कारण वे निर्ग्रन्थ प्रवचन से प्रतिकूल आस्था और आचार वाले शिथिलाचारी चैत्यवासी अपने १५० वर्ष के अथक् प्रयास के उपरान्त भी जैन समाज के मानस मे कोई विशेष स्थान अथवा सम्मान तब तक प्राप्त करने मे असफल ही रहे।

देवर्द्धि क्षमाश्रमण के अन्तिम समय तक जैन धर्म का शास्त्रो द्वारा प्रतिपादित विशुद्ध आध्यात्मिक मूल रूप अक्षुण्ण बना रहा और विशुद्ध श्रमणाचार मे भी किसी प्रकार का उल्लेखनीय अन्तर नही आया किन्तु देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् भगवान महावीर के श्रमण-श्रमणी सघ की ही नही अपितु चतुर्विध सघ की, जैनधर्म के मूल विशुद्ध आध्यात्मिक स्वरूप की और विशुद्ध श्रमणाचार की भी स्थिति शनै शनै अति दयनीय होती गई। देवर्द्धि के स्वर्गारोहण काल तक निर्ग्रन्थ प्रवचन मे प्रतिपादित जैनधर्म के मूल स्वरूप, मूल आचार, मूल आस्थाओ एव मान्यताओ का उपासक भगवान महावीर का धर्मसघ सुसगठित, सुदृढ, तेजस्वी, बहुजनमान्य तथा सबल था और चैत्यवासी सघ निर्बल, नगण्य एव अत्यल्प जन-मान्य था। परन्तु अन्तिम पूर्वधर आर्य देवर्द्धि के स्वर्गस्थ होने के उत्तरवर्ती काल मे चैत्यवासी सघ का शनै शनै जोर बढने लगा। धीरे-धीरे एक समय ऐसा आया कि वह चैत्यवासी सघ सशक्त, सुदृढ, देश-व्यापी एव बहुजनमान्य बन गया और जैन धर्म के मूल स्वरूप, विशुद्ध मूल श्रमणाचार की मान्यताओ एव आस्थाओ का उपासक प्रभु वीर का मूल धर्म सघ निर्बल, विघटित और अत्यल्प-जन-मान्य होता चला गया। चैत्यवासियो ने और उनके पद चिह्नो का अनुसरण करते हुए भट्टारको, यापनीयो और श्रीपूज्यो ने जैन धर्म के शास्त्रोक्त मूल स्वरूप, आगमो मे प्रतिपादित मूल श्रमणाचार और यहा तक कि श्राद्धवर्ग के आचार-विचार और दैनिक धर्मकृत्यो तक मे स्वेच्छानुसार निर्ग्रन्थ प्रवचन की भावनाओ के प्रतिकूल आमूलचूल परिवर्तन कर धर्म के मूल स्वरूप को ही विकृत कर दिया। उनके आडम्बरपूर्ण जनमनरजनकारी आकर्षक अभिनव विधाओ, स्वेच्छानुसार प्रकल्पित आयोजनो का जनमानस पर ऐसा प्रभाव पडा कि सभी ओर सभी वर्गो के लोग

भट्टारक, यापनीय, चैत्यवासी और श्रीपूज्यो के अनुयायी बनने लगे। शनै शनै इन चारो सघो का देश के कोने कोने मे वर्चस्व छा गया और विशुद्ध श्रमणाचार की परिपोषिका (श्रमण भगवान् महावीर की) मूल परम्परा स्वल्पतोया नदी के समान क्षीण और अन्त प्रवाहिनी गौण परम्परा मात्र रह गई। इन नवोदित शक्तिशाली द्रव्य परम्पराओ की गतिविधियो का कार्यकलापो का—घटनाचक्रो का ब्यौरा-लेखा-जोखा उक्त अवधि मे प्रचुर परिमाण मे भी हुआ और सुरक्षित भी रहा। इसके विपरीत अन्त प्रवाहिनी, उक्त अवधि मे गौण बनी, मूल परम्परा का लेखा-जोखा अतिस्वल्प मात्रा मे ही उपलब्ध रह गया।

श्रमण परम्परा के वास्तविक स्वरूप का संक्षिप्त परिचय

"दुरणु चरो मग्गो वीराण अनियट्टि गामीण" ऐसा आचाराग सूत्र मे प्रभु महावीर द्वारा कथित तथा "अणु पुव्वेण महाघोर कासवेण पवेइया" इस सूत्र कृताग मे वर्णित गाथा के अनुसार—भगवान् काश्यप—महावीर द्वारा बताया हुआ मार्ग अपूर्व एव घोर है।

असिधारा पर गमन तुल्य श्रमण धर्म का जीवन पर्यन्त विशुद्धरूपेण पालन करना वस्तुत अनुपम साहसी सिह तुल्य पराक्रम वाले नरसिंहो का काम है न कि कापुरुषो का।

जैन धर्म ससार के समस्त प्राणिवर्ग का परम हितैषी और सच्ची शान्ति का मार्ग बताने वाला है। जैन धर्म का शाब्दिक अर्थ है, जिनदेव द्वारा प्ररूपित धर्म। जिन का अर्थ है राग-द्वेष को जीतने वाले और धर्म का अर्थ है जन्म जरा, मृत्यु के अथाह दु खसागर मे डूबते हुए प्राणी को धारण करने वाला, बचाने वाला। तात्पर्य यह है कि वीतराग, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, घट-घट के अन्तर्यामी जिनेन्द्र देव द्वारा प्ररूपित धर्म का नाम है—जैन धर्म।

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रसकाय—इन षड्जीवनिकाय—प्राणीवर्ग की हितकामना, कल्याणकामना करने वाले इस धर्म का भी उतना ही विराट् उतना ही महान् होना स्वाभाविक है। जो धर्म जितना विराट् होगा, उसका स्वरूप भी वस्तुत उतना ही विराट् उतना ही महान् होगा, इसमे कोई दो राय नही। ऐसी स्थिति मे विराट् जैन धर्म के विराट् स्वरूप का यथावत् रूपेण दिग्दर्शन कराना भी वस्तुत उतना ही महत्वपूर्ण होगा। अत यहा जैन धर्म के स्वरूप की एक झलक मात्र प्रस्तुत की जा रही है।

अगाध करुणासिन्धु जगदेकबन्धु जिनेन्द्र प्रभु महावीर ने अपनी अमोघ दिव्य वाणी द्वारा धर्म का सच्चा स्वरूप एव धर्म की मूल आचार परम्परा किस प्रकार बताई है, इसका थोडा उल्लेख करना इस समय उपयुक्त होगा ताकि

सत्यान्वेषी जिज्ञासुओ को जैनधर्म की भाव परम्परा एव इतिहास के इस काल मे प्रवर्तित द्रव्य परम्परा का अन्तर ज्ञात हो सके ।

केवल ज्ञान—केवल दर्शन की उपलब्धि के साथ ही भावतीर्थंकर वनने पर प्रभु महावीर ने चतुर्विध धर्म तीर्थ की स्थापना करते समय ससार को सच्चे धर्म का स्वरूप बताते हुए कहा —

"से बेमि जे अईआ, जे य पडुप्पन्ना, जे य आगमिस्सा अरहता भगवता ते सव्वे एवमाइक्खति, एव भासति, एव पण्णविन्ति—सव्वे भूया, सव्वे जीवा, सव्वे सत्ता, न हतव्वा, न अज्जावेयव्वा, न परिघेत्तव्वा न परियावेयव्वा, न उद्दवेयव्वा । एस धम्मे सुद्धे, निइए, सासए, समिच्च—लोय खेयन्नेहि पवेइये, त जहा उट्ठिएमु वा, अणुट्ठियेसु वा उवट्ठिएसु वा, अणुवट्ठिएसु वा, उवरय दडेसु वा, अणुवरय दडेसु वा, सोवहिएसु वा, अणोवहिएसु वा, सजोगरएसु वा, असजोगरएसु वा, तच्च चेय, तहा चेय अस्सि चेय पवुच्चइ ।"

अर्थात्—मै यह कहता हू कि अतीत काल मे जो अरिहत भगवत हो चुके है, वर्तमान काल मे जो हैं, तथा आगामी काल मे जो होगे, वे सब इस प्रकार कहते है, इस प्रकार प्रवचन करते है, इस प्रकार प्रज्ञापित करते है और इस प्रकार प्ररूपणा करते है—"सब प्राणी तीन विकलेन्द्रिय, सब भूत (वनस्पति), सब जीव (पचेन्द्रिय) और सब सत्त्वो (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु के जीवो) को न मारना चाहिये, न अन्य व्यक्तियो के द्वारा मरवाना चाहिये, न बलात्कार—बलपूर्वक पकडना चाहिये, न परिताप देना चाहिये, न उन पर प्राणापहारी उपद्रव करना चाहिये—यह अहिसा रूप धर्म ही शुद्ध धर्म है, शाश्वत धर्म है, लोक के षड्जीव-निकाय के जीवो के दु खो का विचार कर खेदज्ञ पुरुषो ने इसे समझाया है । जैसा कि कहा है—"जो व्यक्ति धर्म को सुनने के लिये उद्यत है अथवा अनुद्यत है, उपस्थित है अथवा अनुपस्थित है, मन, वचन, और काय रूप दण्ड से उपरत है अथवा अनुपरत है, उन सबको यह अहिसामूलक धर्म सुनाना चाहिये । क्योकि यह धर्म सत्य है, मोक्षदायक है । इसमे अहिसामूलक धर्म का अवितथ एव उत्कृष्ट रूप बताया गया है ।"

अहिसा धर्म के रक्षणार्थ षट्कायिक जीवो को हेतु माना गया है । जैसा कि कहा है —

"भगवया छज्जीवणिकाया हेऊ पण्णत्ता, त जहा—पुढवीकाए, आउकाए, तउकाए, वाऊकाए, वणस्सइकाए, तसकाए ।"

धर्माधर्म के ज्ञान से शून्य लोग क्रोध, लोभादिवश या धर्म, अर्थ एव काम हेतु कभी हिसा करते है, जैन धर्म हिंसा के विभिन्न कारण बताकर उसको अहितकर और अबोधि का कारण मानता है, जैसा कि आचाराग सूत्र मे कहा है —

"तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवदण, माणण पूयणाए जाइ जरा मरण मोयणाए, कोहा, माणा, माया, लोभा, हास्स, रती, अरती, सोय, वेदत्थी, जीव कामत्थ धम्म हेउ सवसा, अवसा, अट्ठा अणट्ठाए हिसति मद बुद्धी ।"

इसमे स्पष्ट रूप से प्रभु ने कहा है—हिसा चाहे अर्थ, काम या धर्म के लिये जन्म-जरा-मृत्यु से छुटकारा अर्थात् मोक्ष प्राप्ति के लिये की जाय, वह अहित और अबोधि की ही कारण है। वैदिक परम्परा ने जैसे यज्ञ की हिसा मे दोष नही माना, जैन धर्म इस प्रकार धर्म कार्य मे की गई हिसा को निर्दोष नही मानता। जैन शास्त्र मे सघ रक्षा के लिए किसी लब्धि की शक्ति का उपयोग करना पडे तो उसके लिए भी आलोचना प्रतिक्रमण द्वारा शुद्धि आवश्यक मानी गई है।

तीर्थंकर महाप्रभु द्वारा प्रदर्शित धर्म के इस स्व-पर कल्याणकारी स्वरूप को सर्वात्मना सर्वभावेन प्रगाढ श्रद्धा और निष्ठा के साथ हृदयगम कर मुमुक्षु साधक पच महाव्रत रूप श्रमण-धर्म (पूर्ण धर्म) मे दीक्षित होते और उस समय सर्वप्रथम पहले महाव्रत की निम्नलिखित प्रतिज्ञा करते है —

"पढम भते महव्वय पच्चक्खामि, सव्व पाणाइवाय, से सुहुम वा बायर वा पडिक्कमामि निंदामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि।"[1]

अर्थात्—हे भगवन्! प्रथम महाव्रत मे मै प्राणातिपात से सर्वथा निवृत्त होता हू। चाहे सूक्ष्म हो अथवा बादर, त्रस हो या स्थावर, किसी भी जीव का मै न तो स्वय प्राणातिपात—हनन करूगा, न दूसरो से करवाऊगा और न करने वाले का अनुमोदन ही करूगा। हे भगवन्! मै जीवन-पर्यन्त तीन करण और तीन योग से मन, वचन और काया से, इस पाप से पीछे की ओर क्रमण करता हू—पीछे हटता हू। आत्मसाक्षी से इस पाप की निन्दा करता हू, गुरु साक्षी से गर्हणा करता हू तथा अपनी आत्मा को हिसा के पाप से पृथक् करता हू।

हिंसा नहीं करने व न कराने का फल

किसी भी प्राणी को किसी भी प्रकार का अल्प अथवा अधिक सताप पहुचाने पर, उसकी हिसा करने पर, उसे किस प्रकार का कष्ट होता है, उसको स्वानुभूति के रूप मे अनुभव करने का उपदेश देते हुए प्रभु ने फरमाया है कि प्रत्येक व्यक्ति सदा-सर्वदा अपने अनुभव से इस बात को सोचे —

"यदि कोई व्यक्ति डडे से, मुष्टिका से, अस्थि से, ढेले से, ईंट के टुकडे से अथवा ठीकरे से मुझे मारता है, पीटता है, अगुली आदि दिखाकर भय उत्पन्न

[1] आचाराग सूत्र, श्रु० २, अ० १५ (भावना अध्ययन)

करता है, कोडे आदि से ताडना करता है, सताप पहुचाता है, क्लेश उत्पन्न करता है अथवा किसी प्रकार का उपद्रव करता है, यहा तक कि, यदि कोई मेरा एक रोम भी उखाडता है, तो मै उस हिसाकारी दु ख को भयजनक अनुभव करता हू ।"

इसी प्रकार अपने अनुभव के आधार पर प्रत्येक व्यक्ति को सदैव यह भली-भाति समझना चाहिये कि सभी प्राण–भूत–जीव एव सत्त्व भी डण्डे आदि से पीटे जाने पर, आहत किये जाने पर, धमकाये जाने पर, अशन-पान को रोककर परितप्त किये जाने पर, सताये अथवा उद्विग्न किये जाने पर, यहा तक कि एक बाल के उखाडने पर भी दु ख का अनुभव करते है। जैसे ताडन-तर्जन आदि से मुझे दु ख होता है, ठीक उसी प्रकार अन्य प्राणियो को भी दु ख होता है। यह भलीभाति जानकर, समझकर किसी भी प्राण-भूत-जीव एव सत्त्व को न कभी मारना चाहिये, न किसी अन्य द्वारा मरवाना चाहिये, न बलपूर्वक पकडना चाहिये, न परिताप देना चाहिये और न उन पर किसी प्रकार का प्राणापहारी अथवा दु खप्रद उपद्रव ही करना चाहिये । जैसा कि आचार्य हेमचन्द्र ने कहा है —

न धर्महेतुर्विहितापि हिसा,
नोत्सृष्टमन्यार्थमपोद्यते च ।
स्वपुत्रघाताद् नृपतित्वलिप्सा,
स ब्रह्मचारिस्फुरित परेषाम् ।।११।। स्याद्वाद मजरी ।।

हिसा करने वाले और प्राण-भूत-जीव एव सत्त्व की हिसा का उपदेश करने वाले ससार की विभिन्न योनियो मे छेदन-भेदन प्राप्त करते, विविध वेदनाओ और कष्टो को अनुभव करते हुए अनादि अनन्त चतुर्गतिक ससार मे परिभ्रमण करेगे। जैसा कि कहा है —

"तत्थ ण जे ते समणा माहणा एवमाइक्खति जाव परूवेति— सव्वे पाणा जाव सव्वे सत्ता हतव्वा ते आगन्तु छेयाए जाव ते आगतु जाइ जरा मरण जोणिजम्मण भुज्जो भुज्जो अणुपरियट्टिस्सति णो बुज्झिस्सति जाव णो सव्व दुक्खाण अत करिस्सति, एस तुला ।"[1]

इस प्रकार जान कर मेधावी पुरुष स्वय षट्काय के जीवो की हिंसा करे नही, करवावे नही, करने वाले को भला समझे नही। जिसको षट्काय के जीवो की हिंसा का यह रूप ज्ञात है, वही परिज्ञातकर्मा मुनि है । जैसा कि कहा है —

"त परिण्णाय मेहावी, णेव सय छज्जीवणिकाय–सत्थ समारभेज्जा, णेवण्णेहि छज्जीवणिकाय–सत्थ समारभावेज्जा, णेवण्णे छज्जीवणिकाय–सत्थ समारभते समणुजाणेज्जा ।"[2]

---

[1] सूत्र कृताग, अ० १

[2] आचाराग, अ० १, १–७

चराचर निखिल प्राणिवर्ग के सच्चे मित्र प्रभु महावीर ने सभी भव्यो को हिसा से, पर-पीडाकारक कार्यो से बचते रहने का उपदेश देते हुए फरमाया —

"सव्वेपाणा पियाउया, सुहसाया, दुक्ख पडिकूला, अप्पियवहा, पियजीविणो, जीविउकामा, सव्वेसि जीविय पिय ।"

अर्थात्—सब प्राणियो को जीवन प्रिय है, सभी जीव सुख की अभिलाषा रखते है, दु ख सबको प्रतिकूल है, अनिष्ट है । सभी प्राणियो को वध अप्रिय और जीवन प्रिय है । सभी प्राणी जीवन की कामना करने वाले है, सभी जीवो को जीवन प्रिय है । अत प्राणिवध को भयकर समझकर निर्ग्रंथ इसका परिवर्जन करते है । जैसा कि कहा है —

सव्वे जीवा वि इच्छति, जीविउ न मरिज्जिउ ।
तम्हा पाणिवह घोर, निग्गथा वज्जयति ण ।। दशवैका० ।।६।।

इसी प्रकार सूत्रकृताग मे भी स्पष्ट रूपेण षट्जीवनिकाय के आरम्भ-समारम्भ से विज्ञो को पृथक् रहने का उपदेश दिया गया है —

एएहि छहि कायेहि त विज्ज परिजाणिया ।
मणसा काय वक्केण, णारभी ण परिग्गही ।।[१]

अर्थात् विद्वान् पुरुष इन छहो जीव-निकायो को 'ज्ञ' परिज्ञा से जान कर प्रत्याख्यान परिज्ञा द्वारा इनके आरम्भ समारम्भ का मन, वचन और काया से त्याग करे ।

सूत्रकृताग सूत्र के पुण्डरीकाध्ययन मे बताया गया है कि जो ये त्रस एव स्थावर प्राणी है, उनका जो स्वय आरम्भ-समारम्भ नही करता है, दूसरो से आरम्भ-समारम्भ नही करवाता और न दूसरे आरम्भ-समारम्भ करने वालो का अनुमोदन ही करता है, वह साधु दारुण दु खदायी कर्मबन्ध से निवृत्त हो जाता है, शुद्ध सयम मे स्थित होता और पाप से परिनिवृत्त हो जाता है । वह मूल पाठ इस प्रकार है —

"से भिक्खू जो इमे तस थावरा पाणा भवति—ते णो सय समारभई, णो अण्णेहि समारभावेई, अण्णे समारभते वि ण समणुजाणइ-इति से महतो आदाणाओ उवसते उवट्ठिये पडिविरते ।[२]

इसके विपरीत पृथ्वी अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस—इन छ जीव

---

[१] सूत्र कृताग, श्रु० १, अ० ६, गा०६
[२] सूत्र कृताग, पुण्डरीकाध्ययन ।

निकायो के आरम्भ समारम्भ द्वारा प्राणि हिसा करते, इसी प्रकार दूसरो से आरम्भ-समारम्भ करवाते, प्राणिहिसा करवाने वाले तथा दूसरो द्वारा की जाने वाली हिसा का अनुमोदन करते, वे धर्माध्यक्ष—धर्मोपदेशक अपनी आत्मा का तथा दूसरो का उद्धार नही कर सकते, अपितु वे सुदीर्घ काल तक ससार मे अनेक प्रकार के दु ख भोगते हुए भटकते रहते है ।

इसी तथ्य को सूत्र कृतागसूत्र मे एक रोचक रूपक द्वारा वडे ही सुन्दर ढग से समझाया गया है, जो इस प्रकार है —

"एक बडी ही मनोहर पुष्करिणी है । वह अथाह जल और अगाध कीचड से भरी है । पुष्करिणी मे अति सुन्दर और मनोहारी सुगन्धयुक्त अनेक श्वेत कमल-पुष्प है । उस पुष्करिणी के बीचोबीच एक बडा ही नयनाभिराम प्रियदर्शी, सुरभि एव रसयुक्त पद्मवर पुण्डरीक है ।

पूर्व दिशा से एक पुरुष उस पुष्करिणी के पूर्वीय तट पर आता है । पुष्करिणी के मध्यभाग मे स्थित श्रेष्ठ एव सुन्दर श्वेत कमल को देखकर उसका मन लालायित हो उठता है । उस श्वेत कमल को लेने के दृढ सकल्प के साथ वह पूर्व दिशा से आया हुआ व्यक्ति पुष्करिणी मे प्रवेश कर उस पद्मपुण्डरीक की ओर बढता है । वह पुरुप पुण्डरीक तक नही पहुच पाता, तट और पुण्डरीक के बीच मे ही गहरे कीचड मे फस कर हिलने-डुलने मे भी असमर्थ हो दु खी हो जाता है ।

उसी समय दक्षिण दिशा से दूसरा पुरुष उस पुष्करिणी के तट पर आया । उसने पद्मवर पुण्डरीक और पूर्व दिशा से आये हुए पुरुप को कीचड मे फसा देखा, तो उसने कहा—"यह पुरुष अकुशल है, पद्मवर पुण्डरीक को लेना नही जानता, इसीलिये कीचड मे फस गया है । पर मै कुशल-तत्वज्ञ हू, श्रम करना जानता हू । मैं इस श्वेत कमल को अवश्य प्राप्त करूगा ।" अपने इस दृढ सकल्प के साथ वह भी पुष्करिणी मे उतरा, पर तट तथा श्वेत कमल के बीच पहुचते-पहुचते वह भी अति गहन कीचड मे बुरी तरह फस गया और पश्चात्ताप करने लगा ।

तदनन्तर पश्चिम दिशा से तीसरा पुरुष पुष्करिणी के पश्चिमी तट पर आया । वह भी पक मे फसे दोनो पुरुषो की आलोचना, आत्मश्लाघा एव पद्मवर पुण्डरीक को लेने का सकल्प करने के पश्चात् उस पुष्करिणी मे प्रविष्ट हुआ । वह तीसरा पुरुष भी पुण्डरीक और तट के बीच उस पुष्करिणी के गहरे पक मे ऐसा फसा कि एक डग भी आगे, पीछे अथवा दाये, बाये हिलने-डुलने मे असमर्थ हो गया । वह भी अपने किये पर पछताने लगा ।

उसी समय चौथा पुरुप उत्तर दिशा से उस पुष्करिणी के उत्तरी तट पर पहुचा । उसने भी पद्मवर पुण्डरीक को प्राप्त करने के प्रयास मे मार्ग मे ही कीचड

मे फसे हुए उन तीनो पुरुषो को अकुशल तथा अपने आपको दक्ष एव सक्षम बताते हुए उस पुण्डरीक को प्राप्त करने की अभिलाषा से उस पुष्करिणी मे प्रवेश किया, पर वह भी श्वेत कमल तक नही पहुच सका, तट और पद्मवर पुण्डरीक के बीच मे ही पुष्करिणी के घोर दलदल मे फस गया।

कुछ ही क्षणो के अनन्तर पाचवा पुरुष—एक साधु किसी दिशा अथवा विदिशा से पुष्करिणी के पास पहुचा। वह छ काय के जीवो के आरम्भ-समारम्भ का त्यागी, राग-द्वेष से रहित और मुमुक्षु था। उसने भी पद्मवर पुण्डरीक को तथा उसके लेने के प्रयास मे गहन कीचड के बीच फसे हुए चार पुरुषो को देखा। उसने कहा —"ये चारो ही पुरुष पुण्डरीक को प्राप्त करने की अभिलाषा से सहसा पुष्करिणी मे प्रविष्ट हो गये और कीचड मे फस गये। वस्तुत ये अकुशल हैं। ये सत्पुरुषो द्वारा आचरित मार्ग को बिना जाने ही इस पकपूर्ण पुष्करिणी मे प्रविष्ट हो गये है। वास्तव मे ये तत्वज्ञानविहीन और पुण्डरीक को प्राप्त करने की विधि से अनभिज्ञ है। मै पुण्डरीक को प्राप्त करने की विधि जानता हू। इस सुन्दर श्वेत कमल को मै अवश्य ही प्राप्त करू गा। पर इनके समान मै इस सरोवर मे प्रवेश नही करू गा, कीचड मे नही फसू गा। मै इस पुष्करिणी के दलदलपूर्ण जल से दूर रहकर ही इस पद्मवर पुण्डरीक को प्राप्त करू गा। इस प्रकार का दृढ निश्चय कर उस मुमुक्षु साधु ने उस पुष्करिणी के तट पर खडे रह कर ही उस पद्मवर पुण्डरीक को सम्बोधित करते हुए कहा—"हे पद्मवर पुण्डरीक! ऊपर उठो, इस कीचड और जल से ऊपर उठो और इधर आ जाओ।

उस सर्व भूत-हित मे निरत और राग-द्वेष रहित साधु के प्रभावपूर्ण उद्बोधक वचन को सुनकर पद्मवर पुण्डरीक तत्क्षण पुष्करिणी के दलदल को छोडकर तट पर खडे उस साधु के चरणो मे आ पहुचा।"

पुण्डरीक के इस रूपक के माध्यम से प्रभु ने बताया कि चौदह रज्जू प्रमाण इस लोक (ससार) रूपी पुष्करिणी मे विभिन्न प्रकार की जीव-योनि के जीव रूपी कमल तथा मानव रूपी पुण्डरीक कमल भरे है। ससार रूपी पुष्करिणी के कर्मरूपी जल के कारण जीव रूपी कमल विविध योनियो मे उत्पन्न होते है। वे ससार रूपी पुष्करिणी के काम-भोग रूपी कीचड मे फसे रहते है। चारो दिशाओ से आये हुए पुरुष वस्तुत अहिसामूलक धर्म से अनभिज्ञ, अन्य तीर्थिक अकुशल धर्मोपदेष्टा है। वे ससारी प्राणियो के उद्धार का दम्भ भरते हुए स्वयमेव ससार रूपी पुष्करिणी के काम-भोग रूपी कीचड मे फस जाते और अनन्त काल तक दु ख पाते है।

ससार रूपी पुष्करिणी का तट धर्म-तीर्थ है। पाचवा पुरुष वस्तुत किसी भी कुल से श्रमणधर्म मे दीक्षित साधु है। वह षट् जीवनिकाय के आरम्भ-समारम्भ का त्यागी अर्थात् त्रिकरण-त्रियोग मे सभी प्रकार की हिसा का परित्यागी और

तीर्थंकरो द्वारा बताये हुए धर्ममार्ग पर चलने वाला राग-द्वेष रहित मुमुक्षु है। वह धर्मतीर्थ पर ही स्थित एव ससार रूपी पुष्करिणी के कीचड रूपी काम-भोगो (विषय-कषायो) से दूर रह कर पद्मवर पुण्डरीक के समान पुण्यशाली भव्य जीवो को वीतरागवाणी का शब्द-उपदेश सुनाता है। उपदेश द्वारा उन्हे पुष्करिणी के तट रूपी धर्मतीर्थ पर आने के लिये आह्वान करता है। ससार रूपी पुष्करिणी के कर्म रूपी जल एव विषय-कषाय एव काम-भोग रूपी कीचड से उन भव्यो को बाहर निकाल कर ऊपर उठने—मोक्ष प्राप्त करने की प्रेरणा देता है।

इस रूपक के द्वारा यही बताया गया है कि षट्जीवनिकाय के आरम्भ-समारम्भ से होने वाली सभी प्रकार की हिसा के त्यागी ही अहिसामूलक धर्म के विशुद्ध स्वरूप का उपदेश देकर स्वय मुक्त होने के साथ-साथ दूसरो को मुक्त कर सकते है।

यह है जैन धर्म का शाश्वत मूल स्वरूप। इसके प्रथम दिग्दर्शन मे ही षट्जीवनिकायो के आरम्भ-समारम्भ के त्याग का और विश्वबन्धुत्व एव प्राणि-वात्सल्य का कितना स्पष्ट उपदेश, निर्देश व मार्गदर्शन है। तीर्थंकर प्रभु महावीर का यह उपदेश, यह निर्देश और यह मार्गदर्शन वस्तुत अनिवार्यरूपेण प्रत्येक श्रमण के लिये जिनाज्ञा के रूप मे शिरोधार्य तथा प्रत्येक जैन के लिये यथाशक्य आचरणीय एव पूर्णत श्रद्धेय होना चाहिये। जो साधक जैनधर्म के इस स्वरूप को हृदयगम कर जिनेश्वर के उपदेश को आज्ञा के रूप मे शिरोधार्य कर अपने साधना-जीवन मे जिस अनुपात से उसका पालन करता है, वह उसी अनुपात से अपने कर्मबन्धनो को काटता है। इसके विपरीत जो साधक इस मूल स्वरूप से भिन्न आचरण अथवा उपदेश करता है, वह भयावहा भवाटवी मे सुदीर्घ काल तक भटकता रहता है। इन दोनो ही प्रकार की अवस्थाओ मे साधक को मिलने वाले फलो का स्पष्ट रूपेण चित्रण करने वाला एक बडा ही सारगर्भित उदाहरण महानिशीथ मे उपलब्ध होता है। उसका साराश इस प्रकार है —

"अनन्त अतीत पूर्व हुण्डावसर्पिणी काल मे असयती-पूजा नामक आश्चर्य हुआ। उसके प्रभाव से सर्वतोव्यापी शिथिलाचार के सक्रान्तिकाल मे भी पच महाव्रतधारी कुवलयप्रभ नामक एक आचार्य ने घोरातिघोर अपयश को तो सहर्ष स्वीकार कर लिया परन्तु रक्षणीय प्राणातिपात-विरमण रूप अपने प्रथम महाव्रत मे किसी भी प्रकार का दोष नही आने दिया। सर्वतोव्यापी घोर शिथिलाचार के युग मे शिथिलाचारी चैत्यवासियो ने आचार्य कुवलयप्रभ की अलौकिक प्रतिभा, विशिष्ट त्याग-वैराग्यपूर्ण जीवन और तपश्चर्या का अनुचित लाभ उठाने की अभिलाषा से उनसे प्रार्थना की—"भगवन्! यदि आप हमारे इस क्षेत्र मे आगामी चातुर्मासिक अवधि मे विराजे तो आपके उपदेश से अनेक भव्य नव्य जिनालयो का निर्माण हो सकता है।" महानिशीथ का वह मूल पाठ इस प्रकार है —

"जहाए भयव ! जइ तुममिहइ एक्कवासारत्तिय चाउम्मासिय पउ जियताणमिच्छाए अणेगे चेइयालगे भवति गूए तुज्झाणत्तीए। ता कीरउ अणुग्गहमम्हाए इहेव चाउम्मासिय ।"

भवभीरु आचार्य कुवलयप्रभ ने विचार किया—"मैंने जिनप्ररूपित आगमानुसार पच महाव्रतो को अगीकार किया है । सर्वविध प्राणातिपात-विरमण रूप प्रथम महाव्रत अगीकार करते समय मैने पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस-काय-इन षट्जीवनिकायो के आरम्भ-समारम्भ रूप प्राणातिपात का तीन करण और तीन योग से जीवनपर्यन्त सर्वथा त्याग किया है। जिनालयो के निर्माण मे इन सभी षट् जीवनिकायो का आरम्भ-समारम्भ होना अवश्यभावी है । जिनालयो के निर्माण का उपदेश देना तो दूर, यदि मैंने वचन मात्र से भी निर्माण कार्य का अनुमोदन कर दिया तो मै अपने प्रथम महाव्रत का भग कर दू गा और उस महाव्रत भग के घोर पाप के परिणामस्वरूप मै अनन्त काल तक जन्म-जरा-मरण आदि असह्य दु खो से परिपूर्ण भयावहा भवाटवी मे भटकता रहूगा ।"

ऐसा विचार कर कुवलयप्रभ आचार्य ने उन शिथिलाचारी चैत्यवासियो के प्रार्थनापूर्ण प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए कहा—"भो भो पियवए ! जइ वि जिणालये, तहावि सावज्जमिण, णाह वायमित्तेण पि आयरिज्जा ।"

अर्थात्—"हे प्रियवादियो ! यद्यपि तुम जिनालयो के निर्माण की बात कह रहे हो, तथापि यह कार्य सावद्य कर्मयुक्त है—दोषपूर्ण है, अत मै वचनमात्र से भी इस प्रकार का आचरण नही करू गा—इस प्रकार के सावद्य कार्य मे किसी भी तरह किंचित्मात्र भी भागीदार नही बनू गा ।"

आचार्य कुवलयप्रभ का उपर्युक्त कथन और आचरण—दोनो ही शुद्ध सिद्धान्त के अनुसार और मूल आगमो मे प्रतिपादित जैन धर्म के मूल स्वरूप के अनुरूप थे ।

ऐसे घोर सक्रान्तिकाल मे, जिस समय चारो ओर आगमविरुद्ध आचार-विचार वाले शिथिलाचारियो-चैत्यवासियो का बोलवाला हो, उस समय शिथिलाचारियो के सुदृढ गढ मे, उनके सम्मुख भरी सभा मे उनकी आशावल्लरी पर तुपारापात तुल्य एव उनके अस्तित्व को ही चुनौती देने जैसी आगमानुसारी जैन धर्म के स्वरूप की बात कहना वस्तुत बडे ही साहस का कार्य था, प्रवचन के प्रति उत्कट भक्ति का अनुपम उदाहरण था। जिनवाणी का यथातथ्य रूपेण निरूपण कर जिन-प्रवचन के प्रति आचार्य कुवलयप्रभ ने जो उत्कट भक्ति प्रदर्शित की, उसके सम्बन्ध मे महानिशीथकार ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है —

"एव च समयसारपर तत्त जहट्ठिय, अविवरीय, णीसक, भणमाणेण तेसि मिच्छदिट्ठी लिंगीण साहुवेस धारीण मज्झे गोयमा ! आसकलिय तित्थयरनामकम्म-गोय तेण कुवलयपभेण एकभवावसेसी कओ भवोयही ।"

अर्थात्—इस प्रकार वीतराग अर्हत् प्ररूपित शास्त्र के परम सारभूत तथ्य को उन मिथ्यादृष्टि केवल वेष और नामधारी साधुओ के समक्ष नि शक भाव से प्रस्तुत करते हुए उस आचार्य कुवलयप्रभ ने तीर्थंकर नाम कर्म का उपार्जन कर ससार को मात्र एक भवावशिष्ट ही कर दिया ।

उन शिथिलाचारी चैत्यवासियो ने आचार्य कुवलयप्रभ के इस आगमानुसारी कथन को अपने कल्पित धर्म-स्वरूप पर वज्राघात तुल्य समझ कर रुष्ट हो आचार्य कुवलयप्रभ का नाम सावद्याचार्य रख दिया और सर्वत्र उनका वही नाम प्रसिद्ध कर दिया ।

यह तो हुआ जैन धर्म के वास्तविक स्वरूप के अनुरूप आचरण और प्ररूपण का फल ।

इसके विपरीत जैन धर्म के स्वरूप का, जिन प्रवचन का वास्तविकता से भिन्न विपरीत प्ररूपण का फल भी महानिशीथ मे बताया गया है । उस उल्लेख का सक्षिप्त सार इस प्रकार है –

"कालान्तर मे साधुओ द्वारा मन्दिरो के निर्माण और जीर्णोद्धार के प्रश्न को लेकर उन्ही शिथिलाचारी चैत्यवासियो मे परस्पर विवाद उत्पन्न हो गया । उसके निर्णय के लिए उन्होने उसी सावद्याचार्य को बुलाया । उनके स्थान पर सावद्याचार्य के आने पर भावावेश मे एक आर्या ने सब के समक्ष सावद्याचार्य को वदन करते हुए उनके चरणो का अपने मस्तक से स्पर्श कर लिया । सावद्याचार्य ने उन चैत्यवासियो के समक्ष आगमो का वाचन प्रारम्भ किया । एकदा शास्त्रवाचन के समय -

जत्थित्थी कर फरिस, अतरिय कारणे वि उप्पन्ने ।
अरहा वि करेज्ज सय, त गच्छ मूल गुण मुक्क ।।

अर्थात् – जिस गच्छ मे किसी विशिष्ट कारण के उपस्थित हो जाने पर भी यदि स्वय तीर्थंकर भी स्त्री का स्पर्श करे तो वह गच्छ मूल गुण से रहित है ।

इस गाथा को छोड देने या दूसरा ही अर्थ करने का विचार कुवलयप्रभ के मन मे आया पर दीर्घ काल तक ससार मे परिभ्रमण करने की अपेक्षा अपयश सहन कर उन्होने गाथा का वास्तविक अर्थ सुना दिया ।

इस गाथा का अर्थ बताते समय चैत्यवासियो ने आर्या द्वारा किये गये

उनके चरण-स्पर्श की घटना को याद दिलाते हुए कुवलयप्रभ से कहा—"इस तरह तो आप भी श्रमण के मूल गुण से रहित हैं।"

कुवलयप्रभ बडे असमजस मे पड गये। उन्होने सोचा—ये लोग पहले ही मेरा नाम सावद्याचार्य रख चुके है। अब तो ये लोग मेरा बुरे से बुरा नाम रख कर मुझे तिरस्कृत करेंगे। बहुत सोच-विचार के पश्चात् कुवलयप्रभ ने तिरस्कार एव अपयश से डर कर अपवाद मार्ग का सहारा लेते हुए कहा—

"एगन्ते मिच्छत्त, जिणाण आणा अणेगन्ता।"

अर्थात्—तीर्थंकर प्रभु की आज्ञा उत्सर्ग और अपवाद—इन दो मूल आधारो पर अवस्थित है। एकान्त का नाम ही मिथ्यात्व है। जिनेश्वरो की आज्ञा तो अनेकान्त है।

इस प्रकार जिनवचन के अर्थ की अन्यथा रूप से प्ररूपणा कर उन्ही कुवलयप्रभ ने अति घोर कर्मो का बन्धन कर लिया और वह चौदह रज्जु प्रमाण लोक मे नारक, तिर्यंच, मनुष्य आदि दु खपूर्ण विविध योनियो मे अनन्त काल तक भटकता रहा। तेवीसवे तीर्थंकर पार्श्वनाथ के शासन काल मे वह कुवलयप्रभ का जीव महाविदेह क्षेत्र मे जाकर मुक्त हुआ।

आगमो के उपरिलिखित उल्लेखो से यह स्पष्टत प्रमाणित हो जाता है कि जैन धर्म मे अहिंसा का स्थान सर्वोपरि है। जैन आगमो मे अहिंसा को "भगवती अहिंसा" के नाम से भगवन् तुल्य सम्मानास्पद सबोधन से सबोधित किया गया है और अरिहत प्रभु के समान "दीवोत्ताण सरण गइ पइट्ठा" जैसे उच्चतम विशेषणो से अहिंसा भगवती की स्तुति की गई है।

आगमो मे अहिंसा को ससार के समस्त प्राणिसमूह के लिये ममता मयी मा की गोद, प्यासो के लिये पानी, भूखो के लिए भोजन और रोगियो के लिये औषधि से भी अधिक महत्वपूर्ण बताया गया है।

अधिक क्या कहा जाय, जैनधर्म का भव्य भवन अहिंसा की आधार शिला पर अवस्थित है। यदि कोई व्यक्ति जैन धर्म के भव्य भवन की आधार-शिला अहिंसा को इसके नोचे से खिसकाने, किंचित् मात्र भी इधर-उधर करने अथवा उसे तिल मात्र भी खण्डित करने का प्रयास करता है, तो उसका वह प्रयास इस भव्य भवन को ही भूलुंठित करने के तुल्य होगा।

यह है जैनधर्म के विराट् मूल स्वरूप की एक झलक।

वीर निर्वाण पश्चात् प्रभु के प्रथम पट्टधर सुधर्मा स्वामी के समय से प्रभु के २७ वे पट्टधर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण स्वर्गारोहण काल तक

की एक हजार वर्ष की अवधि मे जैन धर्म का यही स्व-पर हितावह एव विश्व-कल्याणकारी सनातन स्वरूप ही अक्षुण्ण रूप से भगवान् महावीर के चतुर्विध सघ मे परमोपास्य एव परमाराध्य रहा ।

उक्त एक हजार वर्ष की अवधि मे जैन धर्म के उपरिवर्णित शाश्वत सनातन स्वरूप की ही तरह प्रभु महावीर के श्रमण-श्रमणी वर्ग का आचार-गोचर भी जैसा शास्त्रो मे वर्णित है, उसी प्रकार का विशुद्ध और अक्षुण्ण रहा ।

सुधर्मा स्वामी के आचार्यकाल से देवर्द्धि के आचार्य काल तक किस प्रकार का विशुद्ध श्रमणाचार रहा और देवर्द्धि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर चैत्यवासियो ने उस श्रमणाचार मे स्वेच्छानुसार आमूलचूल परिवर्तन कर किस प्रकार उसे विकृत बना दिया, दोनो मे आकाश-पाताल की तरह किस प्रकार का घोर अन्तर रहा है, इसका सहज ही प्रत्येक जिज्ञासु को बोध हो सके इस दृष्टि से देवर्द्धि क्षमाश्रमण के आचार्यकाल तक अक्षुण्ण रहे विशुद्ध श्रमणाचार का स्वरूप यहा सक्षेप मे दिग्दर्शित किया जा रहा है ।

जैन श्रमण का मूल आचार

दशवैकालिक सूत्र के 'महाचार' नामक छठे अध्ययन मे भगवान् महावीर की निर्ग्रन्थ परम्परा के श्रमण-श्रमणी वर्ग के साध्वाचार का अतीव सुन्दर रूप से सागोपाग वर्णन किया गया है ।

श्रुत-चारित्र रूप धर्म एव मोक्ष के अभिलाषी निर्ग्रन्थ श्रमणो के समग्र आचार को कर्मरूपी शत्रुओ के लिये भयकर तथा कायरो के लिये दुर्धर बताते हुए उसमे कहा गया है कि मुक्तिपथ पर निरन्तर अग्रसर होते रहने की उत्कृष्ट अभिलाषा वाले जैन श्रमणो का आचार ऐसा उन्नत और दुष्कर है कि उस प्रकार का आचार जिन-शासन के अतिरिक्त अन्यत्र-अन्य मत-मतान्तरो मे न तो कभी अतीत काल मे रहा है, न वर्तमान मे है और न भविष्य काल मे कभी कही रहेगा ही ।

अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पच महाव्रत और छठा रात्रि-भोजन—त्याग रूप व्रत, इन छ व्रतो का पालन करना, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय इन छ जीवनिकायो की रक्षा करना, अकल्पनीय पदार्थो को कभी ग्रहण न करना, गृहस्थ के पात्र मे भोजन—पानादि नही करना, पलग पर न बैठना, गृहस्थ के आसन पर न बैठना, कभी स्नान न करना और शरीर की शोभा-सज्जा का त्याग करना —ये साधु आचार के अठारह स्थान है । ये अठारहो स्थान प्रत्येक साधु के लिये अनिवार्य रूपेण पालनीय है । चाहे कोई साधु बालक हो अथवा वृद्ध, स्वस्थ हो अथवा अस्वस्थ, सभी साधुओ को सभी अवस्थाओ मे इन सभी अठारह स्थानो का—इन अठारह गुणो का अखण्ड—देश विराधना और सर्व विराधना से रहित एव निर्दोष रूप से पालन करना चाहिये ।

जो साधु इन १८ स्थानो मे से यदि किसी एक स्थान की भी विराधना करता है तो वह साधुत्व से फिसला माना जाता है।

भगवान् महावीर ने केवल ज्ञान—केवल दर्शन से देखा कि प्राणी मात्र पर दया रूपी अहिंसा अनन्त सुखो को देने वाली है। इसीलिये स्वय प्रभु महावीर ने (साधु के १८ स्थान रूप) साध्वाचार के इन अठारह स्थानो मे सर्वप्रथम स्थान अहिसा व्रत को दिया है।

चौदह रज्जु परिमाण—सम्पूर्ण लोक मे जितने भी त्रस अथवा स्थावर प्राणी है, उनमे से किसी भी प्राणी को जान-बूझकर अथवा प्रमादवश अनजानपन मे न कभी स्वय मारे, न किसी दूसरे से उसकी घात करवाये और न उन जीवो मे से किसी जीव को मारने वाले का अनुमोदन ही करे। यह अनन्त शाश्वत सुखो को देने वाला विश्वकल्याणकारी एव सर्वोत्कृष्ट पहला अहिसा महाव्रत है। ससार के त्रस और स्थावर सभी जीव जीना चाहते है। उनमे से कोई एक भी जीव मरना नही चाहता। इसीलिये छहो जीव कायो के प्रतिपालक निर्ग्रन्थ—जैन श्रमण भव-भ्रमण कराने वाली महा भयकर जीव—हिंसा का जीवन-पर्यन्त सर्वथा त्याग करते है। यह अहिंसा साधु का सबसे बडा और सबसे पहला साध्वाचार है।

जैन श्रमणो के आचार का दूसरा स्थान अर्थात् साधु का दूसरा गुण मृषावाद-विरमण है। साधु अपने स्वय के लिये अथवा किसी दूसरे के लिये क्रोध मान, माया, लोभ अथवा भयवश कभी किसी पर पीडाकारी मृषावाद—असत्य भाषण न करे, न दूसरो से अनृत भाषण करवाये और न असत्य भाषण करने वाले का अनुमोदन ही करे। ससार मे सभी महापुरुषो ने मृषावाद को निन्दित बताया है, क्योकि झूठ बोलने वाले का कभी कोई विश्वास नही करता। इसीलिये असत्य भाषण का पूर्णरूपेण सर्वथा त्याग करना चाहिये। यह जैन श्रमण का दूसरा महाव्रत है।

साधु के आचार का तीसरा स्थान है अदत्तादान विरमण। इस तीसरे स्थान को अस्तेय और अचौर्य भी कहते है। कोई भी साधु किसी भी सचेतन (शिष्यादि) अथवा अचेतन (वस्त्र—पात्रादि), बहुमूल्य अथवा अल्प मूल्य वाली किसी भी वस्तु को, यहा तक कि दात कुरेदने के तिनके तक को भी, उस वस्तु के स्वामी की आज्ञा लिये बिना न स्वय ग्रहण करे, न किसी दूसरे से ग्रहण करवाये और न अदत्त वस्तु को ग्रहण करने वाले किसी दूसरे का ही अनुमोदन करे।

निर्ग्रन्थ श्रमण के आचार का चौथा स्थान है—अब्रह्म विरमण—मैथुन त्याग अर्थात् ब्रह्मचर्य। चारित्र-भग के कारणभूत सभी प्रकार के आयतनो—स्थानो अथवा कार्यो से सदा दूर रहने वाले पापभीरु मुनि, वस्तुत नरकादि अति दारुण दु खदायी दुर्गतियो मे डालने वाले, प्रमादोत्पादक और महा दु खदायी परिणाम

वाले अब्रह्म अर्थात् मैथुन का जीवन-पर्यन्त कभी सेवन नही करते। वास्तव मे अब्रह्मचर्य अधर्म का मूल और सभी दोष-समूहो की खान है, इसीलिये निर्ग्रन्थ साधु मैथुन का सर्वथा त्याग करते है।

साधु के आचार का पाचवा स्थान है अपरिग्रह। भगवान् महावीर की शाश्वत सुख प्रदायिनी वाणी मे अनुरक्त रहने वाले श्रमण घी, तेल, विड—लवण-विशेष, गुड आदि किसी भी प्रकार के पदार्थ के सग्रह करने और रात्रि मे वासी रखने की इच्छा तक नही करते। सग्रह लोभ के प्रभाववश ही किया जाता है, सग्रह लोभ का ही परिचायक है अत तीर्थकरो ने कहा है कि यदि कदाचित्, किसी भी समय कोई साधु, सग्रह करना तो दूर किन्तु सग्रह करने की इच्छा भी करता है तो वह साधु वस्तुत साधु नही गृहस्थ ही है। निर्ग्रन्थ श्रमण वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि शास्त्रोक्त धर्मोपकरण भी केवल सयम के निर्वाह एव लज्जा की रक्षा के लिए ही अनासक्त भाव से धारण करते और उनका उपभोग करते है। प्राणिमात्र के रक्षक प्रभु महावीर ने अनासक्त भाव से वस्त्र, पात्रादि के रखने को परिग्रह नही कहा है। उन्होने तो मूर्च्छाभाव अर्थात् आसक्ति को परिग्रह कहा है। महर्षि सुधर्मा स्वामी ने अपने शिष्य जम्बू से ऐसा ही कहा है। तत्वज्ञ मुनि वस्तुत सयम साधना मे सहायक वस्त्र, पात्रादि उपकरण एक मात्र सयम की रक्षा के लिये ही रखते है, न कि मूर्च्छा भाव से। क्योकि तत्वज्ञ साधु वस्त्र, पात्रादि उपकरणो की बात तो दूर, अपने शरीर पर भी ममत्व नही रखते।

श्रमणो के आचार का छठा स्थान है-रात्रि-भोजन का सर्वथा त्याग करना। सभी ज्ञानी पुरुषो ने कहा है कि केवल सयमनिर्वाह के लिए जीवन पर्यन्त दिन मे केवल एक बार ही भोजन करना और रात्रि-भोजन का सदा के लिए त्याग करना—यह श्रमणो का प्रतिदिन का नित्य नियत बहुत बडा तप है।

ससार मे बहुत से त्रस और स्थावर जीव इतने सूक्ष्म होते है कि वे रात्रि मे दिखाई नही देते। ऐसी स्थिति मे उन सूक्ष्म जीवो की रक्षा करते हुए रात्रि मे आहार की शुद्ध एषणा करना कैसे सभव हो सकता है। क्योकि भूमि पर रहे हुए कीडे-मकोडे आदि प्राणियो को, (सचित्त जल, सचित्त जल मिश्रित आहार, पृथ्वी पर मार्ग मे, गृहागन मे, पाकशाला आदि मे बिखरे हुए बीज अथवा बीजादि से मिश्रित अथवा ससक्त आहार को) दिन मे तो देख कर उन प्राणियो की रक्षा की जा सकती है, (उस सदोष अनेषणीय आहार पेयादि को ग्रहण करने के दोप से बचा जा सकता है।) परन्तु रात्रि मे उन प्राणियो की रक्षा करते हुए न तो चला ही जा सकता है और न सदोष-निर्दोष आहार-पानीय का भी निश्चय किया जा सकता है। इस प्रकार इन प्राणिहिंसा और आत्मविराधना-कारक दोपो को देख कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर ने कहा कि निर्ग्रन्थ मुनि चार प्रकार के आहार मे से किसी भी प्रकार का आहार रात्रि मे न करें।

इस प्रकार अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह-ये पाच महाव्रत और रात्रि-भोजन त्याग रूप छठा व्रत—ये श्रमणाचार के छ स्थान हुए।

निर्ग्रन्थ श्रमण मन, वचन एव काया रूप तीन योगो से और कृत, कारित तथा अनुमोदना रूप तीन करण से पृथ्वीकाय की हिसा न स्वय करे, न दूसरो से करवाये और न पृथ्वीकाय की हिसा करने वालो की अनुमोदना ही करे।

जो व्यक्ति पृथ्वीकाय की हिंसा करता है, वह पृथ्वीकाय की हिसा करते समय पृथ्वीकाय के जीवो के साथ साथ पृथ्वीकाय के आश्रित, चक्षुओ से दिखाई देने वाले और चक्षुओ से दिखाई नही देने वाले अनेक प्रकार के त्रस एव स्थावर जीवो की भी हिंसा करता है। इसी कारण साधु के लिये यह परमावश्यक है कि नरक आदि दुर्गतियो मे भटकाने वाले इन दोषो को जानकर वह जीवन-पर्यन्त पृथ्वीकाय के समारम्भ का पूर्ण-रूपेण त्याग करे।

यह श्रमणाचार का सातवा स्थान (अर्थात् श्रमण का सातवा गुण) है।

साधु अपकाय (जलकाय) के जीवो की तीन करण और तीन योग से न स्वय हिसा करे, न दूसरो से करवाये और न करने वालो की अनुमोदना ही करे। अपकाय की हिसा करने वाला व्यक्ति तदाश्रित अनेक प्रकार के चाक्षुष एव अचाक्षुष त्रस और स्थावर जीवो की भी हिसा करता है। अत इन दोषो को दुर्गतिवर्द्धक जान कर साधु जीवन-पर्यन्त अप्काय के समारम्भ का त्याग करे। यह श्रमणाचार का आठवा स्थान है।

श्रमणाचार का नौ वा (९वा) स्थान है अग्निकाय के जीवो की तीन करण और तीन योग से कदापि हिंसा न करना। इस नवम स्थान मे बताया गया है कि साधु अपने जीवन मे अग्नि प्रज्वलित करने की कदापि इच्छा तक न करे। क्योंकि यह महा पापकारी कार्य है। अग्नि को प्रज्वलित करने का कार्य लोहे के सभी प्रकार के विनाशकारी शस्त्रास्त्रो की अपेक्षा अत्यधिक घातक और तीक्ष्ण है। सभी प्राणियो के लिये इसको सहन कर लेना अत्यन्त दुष्कर है। क्योकि अग्नि दशो ही दिशाओ मे रहे हुए जीवो को जला कर भस्म कर सकती है। इसमे किंचित्मात्र भी सन्देह नही कि अग्नि प्राणियो के लिये भीषण सहारकारिणी है। अत साधु प्रकाश के लिये अथवा शीत निवारण आदि कार्यों के लिये अग्नि का किंचित्मात्र भी आरम्भ न करे। दुर्गतिवर्द्धक इन सब दोषो को जान कर साधु जीवन-पर्यन्त तीन करण और तीन योग से अग्निकाय के समारम्भ का त्याग करें।

श्रमण के आचार का दसवा स्थान है वायुकाय के जीवो की हिसा का तीन करण और तीन योग से त्याग करना। तीर्थंकरो ने वायुकाय के आरम्भ-समारम्भ

को भी अग्निकाय के आरम्भ के समान घोर पापपूर्ण जाना और माना है। अत षट्काय के प्रतिपालक मुनियो को वायुकाय का समारम्भ कदापि नही करना चाहिये। न तो मुनि स्वय ताल के पखे वा पत्ते से अथवा वृक्ष को हिला कर अपने ऊपर हवा करना चाहते है, न किसी दूसरे से हवा करवाना चाहते है और न हवा करने वाले की अनुमोदना ही करते है। साधु के पास जो वस्त्र, पात्र, कम्बल, रजोहरण आदि सयमोपकरण है उनसे भी वे वायु की उदीरणा नही करते। वे इन सयमोपकरणो को इस प्रकार यतनापूर्वक धारण करते है, जिससे कि वायु काय की विराधना न हो।

इसलिये नरक आदि दुर्गतियो मे भटकाने वाले इन दोषो को जानकर साधु जीवन-पर्यन्त वायुकाय के समारम्भ का त्याग करे।

निर्ग्रन्थ श्रमण के आचार का ११वा स्थान है—तीन करण और तीन योग से वनस्पतिकाय की न स्वय हिसा करना, न दूसरे से वनस्पतिकाय की हिसा करवाना और न हिसा करने वाले का अनुमोदन ही करना।

निर्ग्रन्थ श्रमण के आचार के १२वे स्थान मे बताया गया है कि साधु तीन करण और तीन योग से जीवन-पर्यन्त न तो स्वय त्रसकाय की हिसा करे, न दूसरे से करवाये और न करने वाले का अनुमोदन ही करे। इसमे यह भी बताया गया है कि त्रस काय की हिसा करने वाला व्यक्ति त्रस काय के आश्रित चाक्षुप और अचाक्षुष अनेक प्रकार के त्रस और स्थावर प्राणियो की भी हिसा करता है। इसलिये नरक आदि दुर्गतियो के वर्द्धक इन दोषो को जानकर साधु जीवन-पर्यन्त त्रसकाय के समारम्भ का त्याग करे।

श्रमणाचार के १३वे स्थान मे आहार, शय्या, वस्त्र और पात्र आदि ये चार पदार्थ कल्पनीय हो तभी लेने का और यदि ये साधु के लिये अकल्पनीय हो तो उन्हे ग्रहण नही करने का निर्देश है। नित्य आमन्त्रित करके दिया जाने वाला पिण्ड, साधु के लिये मोल लिये हुए, साधु के निमित्त बनाये हुए, और साधु के लिए सामने लायें हुए आहार, शय्या, वस्त्र और पात्र आदि पदार्थ साधु के लिए अकल्पनीय एव अग्राह्य है। जो साधु इस प्रकार के अकल्पनीय आहार आदि चार पदार्थो को ग्रहण करता है, उसके सम्बन्ध मे भगवान् महावीर ने कहा है कि वह साधु उन पदार्थो के निर्माण मे हुई हिंसा की अनुमोदना करता है। इसीलिये सयम मे सुस्थिर एव सुदृढ और धर्मपूर्वक जीवन व्यतीत करने वाले जैन श्रमण वस्तुत साधु के लिए क्रय किये हुए, साधु के निमित्त बनाये हुए, साधु के लिए सम्मुख लाये हुए एव पूर्वामन्त्रण के साथ दिये जाने वाले आहार, पानी आदि को कदापि ग्रहण नही करते हुए सयम का यथा विधि विशुद्ध रूप से पालन करते है।

श्रमणाचार के १४वे स्थान मे निर्देश है कि साधु गृहस्थ के भाजन—कासी

पीतल आदि के (बने किसी भी) पात्र मे कभी आहार पानी न करे। यदि वह गृहस्थ के पात्र मे भोजन-पान करता है तो वह आचार धर्म से भ्रष्ट माना जाता है। क्योकि तीर्थंकर प्रभु ने केवल ज्ञान द्वारा देखा है कि गृहस्थ के पात्र मे साधु के भोजन करने पर साधु के सयम की विराधना होती है। गृहस्थ के जिस पात्र मे साधु ने भोजन आदि किया हो उस पात्र को गृहस्थ सचित्त जल से धोयेगा, उससे अप्काय की हिसा होगी, उन पात्रो के धोये हुए पानी को गृहस्थ अयतनापूर्वक इधर-उधर गिरायेगा, उससे बहुत से त्रस और स्थावर जीवो की हिसा होगी। (उस हिसा के पाप का भागी साधु भी होगा) इस प्रकार गृहस्थ के पात्र मे साधु द्वारा भोजन किये जाने की दशा मे साधु को पश्चात् कर्म और पुर कर्म दोष लगने की सम्भावना रहती है, अत जैन मुनि को गृहस्थ के बरतन मे कदापि भोजन नही करना चाहिए।

श्रमणाचार के पन्द्रहवे स्थान मे साधु के लिए निर्देश है कि तीर्थंकर प्रभु की आज्ञा का पालन करने वाले श्रमण वेत्र (बेत) आदि से बने पलग, कुर्सी, खाट, पीढ, रूई की गद्दी, मसनद और आरामकुर्सी पर न तो बैठे और न सोये ही, क्योकि यह साधुओ के लिए अनाचरणीय एव अनाचार स्वरूप है। उपर्युक्त प्रकार के पलग आदि मे गहरे छिद्र होने के कारण उनमे रहे बेइन्द्रिय आदि प्राणियो का प्रतिलेखन होना कठिन हैं। इन सब दोषो को देखते हुए मुनि को इस प्रकार के पलग आदि का सदा सर्वदा के लिए त्याग करना चाहिए।

श्रमण के आचार के सोलहवे स्थान मे मधुकरी हेतु भ्रमण करते हुए साधु को गृहस्थ के घर पर बैठने का निषेध किया गया है। गृहस्थ के घर पर बैठने से साधु को दोष लगने की सम्भावना के साथ-साथ मिथ्यात्व की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त गृहस्थ के घर पर बैठने से साधु के ब्रह्मचर्य महाव्रत के नष्ट होने, प्राणियो के वध से सयम के दूषित होने, चारित्र पर सन्देह, गृहस्थ के प्रकोप और भीख मागने के लिए आए हुए भिखारी को भिक्षा मे अन्तराय की सम्भावना रहती है। भिक्षाचरी के लिए गया हुआ साधु यदि गृहस्थ के घर पर बैठता है तो साधु के ब्रह्मचर्य की रक्षा नही हो सकती, स्त्रियो के विशेष ससर्ग के कारण ब्रह्मचर्य व्रत मे शका उत्पन्न हो सकती है। अत कुशील को बढाने वाले इस स्थान को श्रमण दूर से ही पूर्णत परिवर्जित कर दे। हा, जराभिभूत, रोग-ग्रस्त और तपस्वी—इन तीन प्रकार के साधुओ मे से किसी भी साधु को कारणवश गृहस्थ के घर पर बैठना कल्पता है, अर्थात् शारीरिक निर्बलता आदि के कारण जराजर्जरित, रोगी अथवा तपस्वी साधु मूर्छा आदि के कारण गृहस्थ के घर पर विवशता की स्थिति मे बैठ सकता है।

जैन साधु के आचार मे सत्रहवा स्थान—(साधु के सत्रहवें गुण के रूप मे) यावज्जीवन अस्नान नामक घोर व्रत है। इस व्रत मे साधु के लिए यावज्जीवन स्नान

का पूर्ण-रूपेण निषेध किया गया है। इस व्रत मे बताया गया है कि कोई भी साधु चाहे वह रोगी हो अथवा निरोग—यदि स्नान करने की इच्छा करता है तो वह साध्वाचार से भ्रष्ट हो जाता है और उसका सयम मलिन हो जाता है। क्योकि खार वाली पोली भूमि मे और फटी हुई दरारो वाली भूमि मे सूक्ष्म प्राणिसमूह होते है, अत यदि साधु उष्ण जल से अथवा शीतल जल से स्नान करता है तो उन जीवो की हिसा होना अवश्यभावी है। इस प्राणिवध के दोष को जानकर शुद्ध सयम का पालन करने वाला साधु ठण्डे अथवा उष्ण जल से कभी स्नान नही करे। जीवन-पर्यन्त वह अस्नान नामक घोर व्रत का पालन करे। सयमी श्रमण को स्नान, चन्दनादि का विलेपन, लोध्र, पद्मपराग—कु कुम—केसर आदि सुगन्धित द्रव्यो का अपने शरीर पर मर्दन, विलेपन आदि कदापि नही करना चाहिए।

श्रमणाचार का अन्तिम और अठारहवा स्थान, श्रमण के अठारहवे गुण के रूप मे—जीवन-पर्यन्त शरोर की शोभा—विभूपा—साज-सज्जा का त्याग रूपी दुश्चर तप है। इसमे कहा गया है कि नग्न अर्थात् जिनकल्पी अथवा प्रमाणोपपेत वस्त्र रखने वाले स्थविरकल्पी, द्रव्य और भाव दोनो ही रूप से मुण्डित, बढे हुए नख एव केश वाले तथा पूर्ण-रूपेण उपशान्त विषय-वासना वाले साधु को शरीर की शोभा, साज-सज्जा तथा शृ गार से कोई प्रयोजन नही होना चाहिए। अपने शरीर की साज-सज्जा, विभूषा, शृ गार आदि द्वारा शोभा बढाने से साधु को ऐसे घोर चिकने कर्मो का बन्ध होता है, जिससे वह जन्म, जरा, मरण के भय रूपी जल से ओत-प्रोत भयावह और अति दुस्तर ससार सागर मे गिर पडता है।

शरीर की साज-सज्जा, शृ गार विभूषा आदि द्वारा शोभा बढाने सम्बन्धी सकल्प-विकल्पो को ज्ञानी पुरुष चिकने कर्मबन्ध का कारण और पाप-पु जो की उत्पत्ति का हेतु मानते है, अतः छहो जीव निकाय के रक्षक—त्राता मुनियो को अपने शरीर की शोभा-विभूषा का मन मे विचार तक भी नही करना चाहिए।

श्रमणाचार के इन अठारह स्थानो का यथावत् पालन करने वाले, जीव और अजीव आदि तत्त्वो के यथार्थ स्वरूप के ज्ञाता, सत्रह प्रकार के सयम के पालक, मोह-ममत्व रहित, आर्जवता (सरलता) आदि गुणो से विभूषित और बारह प्रकार के तप मे रत रहने वाले निर्ग्रन्थ मुनि पूर्वकृत पाप कर्मो को विनष्ट और नवीन पापकर्मो का बन्ध नही करते हुए अपनी आत्मा पर लगे कषाय आदि मल को पूर्ण-रूपेण नष्ट कर देते है। इस प्रकार के सर्वदा उपशान्त, मोह-ममता विहीन, निष्परिग्रही, अध्यात्म विद्या के उपासक एव अनुष्ठाता, यशस्वी, शरद्पूर्णिमा के चन्द्रमा के समान निर्मल मुनि समस्त कर्मो का पूर्ण-रूपेण क्षय करके सिद्ध गति को प्राप्त करते है अथवा कुछ कर्म अवशिष्ट रहने पर वैमानिक देवो मे उत्पन्न होते हैं।

यह है शरद्पूर्णिमा के पूर्ण चन्द्र सी दुग्ध-धवला, स्वच्छ, अच्छ, विमल

और समुज्ज्वल चादनी के समान उस विशुद्ध श्रमणाचार का शाश्वत, सनातन स्वरूप, जिसका अनादि काल से विश्वेश्वर, विश्वबन्धु, जगदैकत्राता तीर्थकर प्रभु तीर्थप्रवर्तन के समय भव्यो को दिग्दर्शन कराते आये हैं और जिसका पालन आर्य सुधर्मा के आचार्यकाल से भरतक्षेत्र के इस अवसर्पिणीकाल के अन्तिम पूर्वधर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के आचार्य काल तक अक्षुण्ण रूप से भगवान् महावीर की मूल श्रमण परम्परा के श्रमणो द्वारा पालन किया जाता रहा है।

धर्म और श्रमणाचार के मूल स्वरूप मे परिवर्तन का एक अति प्राचीन उल्लेख

श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसघ मे प्रभु के प्रथम पट्टधर सुधर्मा स्वामी के आचार्यकाल (वीर नि०स० १) से २७ वे पट्टधर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहणकाल (वीर नि०स० १०००) तक धर्म और श्रमणाचार का जो विशुद्ध मूल स्वरूप अक्षुण्ण रहा, शास्त्रीय आधार पर सक्षेप मे उसका सारभूत दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

धर्म और आचार के उस मूल स्वरूप मे कब और किन परिस्थितियो मे किस प्रकार का परिवर्तन आया, इस प्रकार की जिज्ञासा का प्रत्येक विज्ञ विचारक के मन मे उत्पन्न होना नितान्त सहज स्वाभाविक ही है। ऐसी स्थिति मे यह आवश्यक है कि वीर नि०स० १००० से उत्तरवर्ती काल का जैन इतिहास प्रस्तुत करने से पूर्व धर्म और आचार के मूल स्वरूप मे आये परिवर्तन के सम्बन्ध मे प्रमाण पुरस्सर कुछ प्रकाश डालने का प्रयास किया जाय। इससे प्रत्येक पाठक की जिज्ञासा भी शान्त होगी और आगे के इतिहास के अनेक उलझन भरे तथ्यो की पृष्ठभूमि को समझने मे भी इतिहासप्रेमी पाठको और विचारको को पर्याप्त सहायता मिलेगी।

धर्म के मूल स्वरूप और मूल श्रमणाचार मे परिवर्तन किन परिस्थितियो मे होता है, इसको भली भाति हृदयगम कराने वाला एक अति प्राचीन काल का उल्लेख महानिशीथ मे उपलब्ध होता है। परिवर्तन के अनुरूप परिस्थिति के साथ-साथ महानिशीथ के उस आख्यान मे यह भी बताया गया है कि उन परिस्थितियो मे धर्म के मूल और श्रमणाचार के मूल स्वरूप मे किस प्रकार का परिवर्तन आता है। स्थानाग सूत्र के दशवें स्थान मे दश आश्चर्यो का जो उल्लेख है, उनमे भी इस प्रकार के परिवर्तन की परिस्थिति और कारणो की ओर सकेत किया गया है, पर वह आगम का मूल पाठ वस्तुत सारगर्भित सूत्र के रूप मे अति सक्षिप्त है। महानिशीथ के उस उल्लेख मे उस शास्त्रीय उल्लेख के अनुरूप ही अनेक तथ्यो पर अच्छा प्रकाश पडता है, अत महानिशीथ के उस उद्धरण का अविकल हिन्दी रूपान्तर यहा दिया जा रहा है —

"भगवान् महावीर - "हे गौतम ! इस ऋषभादि चौबीसी से अनन्तकाल पूर्व अतीत मे जो एक अन्य चौवीसी हुई थी, उसमे मेरे समान ही सात मुण्ड हाथ के शरीरोत्सेध वाले, ससार के लिये आश्चर्यस्वरूप, देवेन्द्रो द्वारा वन्दित एव ससार मे सर्वोत्तम धर्मश्री नामक चौवीसवे तीर्थङ्कर थे। उनके तीर्थकाल मे सात आश्चर्य घटित हुए। उन धर्म श्री तीर्थङ्कर के निर्वाण के पश्चात् कालान्तर मे असयतो की पूजा सत्कार करवाने वाले आश्चर्य का प्रवाह प्रारम्भ हुआ। उसमे गतानुगतिक लोकप्रवाह के कारण मिथ्यात्व दोषवशात् बहुसख्यक जनसमूह को असयतो की पूजा मे अनुरक्त जान कर शास्त्र के मर्म से अनभिज्ञ तथा त्रिविध मद से विमुग्धमती नामधारी आचार्यो एव महत्तरो ने अपने-अपने श्रावक-श्राविकाओ से धन ले ले कर अपनी अपनी इच्छानुसार सैकडो स्तम्भो से सुशोभित चैत्यालय बनवाये और वे गर्हित कुलक्षणो वाले 'यह मेरा है, यह मेरा है' यह कहते हुए उन चैत्यालयो मे रहने लगे। वे उन चैत्यालयो मे निवास कर अपने बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम को भुला कर बल–वीर्य–पुरुषाकार–पराक्रम के स्वय मे विद्यमान होते हुए भी घोर अभिग्रहो एव अनियत-अप्रतिहत विहार का परित्याग कर शिथिल हो, सयमादि की शुद्धि से पीछे की ओर हटकर, इह लोक तथा परलोक के अपवाद की उपेक्षा करते हुए दीर्घकाल तक ससार मे भटकना स्वीकार कर उन मठो, देवालयो मे ममत्व मूर्च्छाभाव से विमुग्ध एव अहकार से अभिभूत हो, स्वयमेव पुष्प-मालादि से देवार्चन करने लगे। उन्होने समस्त आगम-शास्त्र के सारभूत सर्वज्ञो के इस वचन को बहुत दूर एक ओर फेंक दिया, जो इस प्रकार है — "सब जीवो को, सब प्राणियो को, सब भूतो को, सब सत्वो को न तो मारना चाहिये, न सताप पहुचाना चाहिये, न परिताप पहुचाना चाहिये, न बद्ध-अवरुद्ध करना चाहिये, न उन्हे विराधना पहुचानी चाहिये, न कष्ट पहुचाना चाहिये और न उद्वेग ही पहुचाना चाहिये। जो भी सूक्ष्म, जो भी बादर, जो भी त्रस, जो भी पर्याप्ता, जो भी अपर्याप्ता, जो भी स्थावर, जो भी एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय अथवा जो भी पचेन्द्रिय प्राणी है, उन्हे एकान्तत. न मारा जाय और न सताप आदि पहुचाया जाय, यह सुनिश्चित है और है सत्य-तथ्य। उसी प्रकार वायु, अग्नि आदि के समारम्भ को मुनि सब भाति, सब प्रकार से सदा-सर्वदा वर्जित करे। यही धर्म ध्रुव अर्थात् अटल है, शाश्वत है, नित्य है और यही धर्म खेदज्ञो-सर्वज्ञो ने समस्त लोको के लिये बताया है, प्रवेदित किया है।"

गौतम —"हे प्रभो ! जो कोई साधु अथवा साध्वी, निर्ग्रन्थ अथवा अणगार द्रव्यस्तव करता है, उसे क्या कहा जाता है ?"

भ० महावीर —"हे गौतम ! जो कोई साधु, साध्वी अथवा निर्ग्रन्थ अणगार द्रव्य-स्तव करता है, वह अजयी, असयत, देवभोगी, देवार्चक और यहा तक कि उन्मार्गगामी, शील को दूर फैकने वाला, कुशील अथवा स्वच्छन्दाचारी कहा जाता है।"

"हे गौतम ! इस प्रकार अनाचार मे प्रवृत्त हुए उन आचार्यो के बीच मे मरकतमणि के समान देहकान्तिवाले कुवलयप्रभ नामक एक महातपस्वी अणगार थे। वह अणगार जीवादि तत्वो के गूढ ज्ञान तथा शास्त्रो के तलस्पर्शी ज्ञान से सम्पन्न थे। उसे ससार सागर की विभिन्न जीव योनियो मे उत्पन्न हो भटकने का बडा भय था। यद्यपि वह समय सर्वथा, सब प्रकार से धर्मतीर्थ अथवा जिनप्रवचन की आसातना करने वाले आचरण का युग अथवा काल था तथापि बहुसख्यक स्वधर्मियो मे प्रवर्तमान उस प्रकार के असमजसकारी अनाचार की स्थिति मे भी वह तीर्थङ्करो की आज्ञा के विपरीत कोई कार्य नही करता।"

"गौतम ! इस प्रकार विचरण करता हुआ, वह अणगार एक दिन सदा एक ही नियत स्थान (मठ—देवालय) मे रहने वाले उन लोगो के आवास स्थान मे आया।"

"गोतम ! कुवलयप्रभ को अन्यत्र विहारार्थ उद्यत देखकर उन कुलक्षण सम्पन्न, लिगोपजीवी, आचारभ्रष्ट, उन्मार्गगामी, शिथिलाचारियो ने उस अणगार से कहा—"भगवन् ! यदि आप हमारे यहा एक चातुर्मासिक वर्षावासावधि तक रहे तो आपकी आज्ञा से सहज ही अनेक चैत्यालय बन जाये। अत आप यही चातुर्मास करने की हम पर कृपा करे।"

"गौतम ! यह सुनकर उस महानुभाव कुवलयप्रभ ने कहा—"हे प्रियभाषियो ! यद्यपि तुम जिनालयो की बात कह रहे हो, तथापि यह सावद्य अर्थात् पापपूर्ण कार्य है, अत मैं तो वचनमात्र से भी इस प्रकार का आचरण नही करूगा। उन मिथ्यादृष्टि, वेषमात्र से साधु कहे जाने वाले वेषधारियो के बीच मे नि शकभाव से सिद्धान्त के सारभूत तत्व को यथावत् अविपरीत रूपेण कहते हुए हे गौतम ! उस कुवलयप्रभ अणगार ने तीर्थंकर नाम कर्म गोत्र का उपार्जन कर भवसागर को एक भवावशिष्ट मात्र कर लिया।"

"उस समय वहा के सघ मे एक बात को पकड कर, उसी का पुन पुन प्रलाप करने वाले अति वाचाल लोगो का जमघट था। उन पापबुद्धि वेषधरो एव उनके उपासको ने अनर्गल प्रलाप के साथ-साथ अट्टहास करते हुए परस्पर एक मत हो, एक-दूसरे के करतल पर तालीदान पूर्वक दुरभिसधि की और उस महा तपस्वी कुवलयप्रभ का नाम सावज्जायरिय (सावद्याचार्य) रख दिया। इस प्रकार वाणी और कर्ण-परम्परा से उसका यह सावद्याचार्य नाम ही सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया।"

"गौतम ! इस प्रकार के अप्रशस्त-अपशब्द से सम्बोधित अथवा पुकारे जाने पर भी वह कुवलयप्रभ किंचित्मात्र भी कुपित नही हुआ।"

"कालान्तर मे एक दिन, सद्धर्म से पराङ्मुख, सागार एव अणगार-दोनो ही

प्रकार के धर्म से भ्रष्ट, वेषमात्र से प्रव्रजित उन दुराचारियो मे परस्पर आगम सम्बन्धी विचार-विनिमय होने लगा कि श्रावको के अभाव मे श्रमण ही नूतन मठो-देवालयो का निर्माण तथा क्षति-ग्रस्त मठ-देवालय आदि का जीर्णोद्धार करवाये और अन्यान्य जो भी करणीय कार्य है, उनका निष्पादन करे। इस प्रकार के निर्माण और जीर्णोद्धार के कार्य करने वाले साधु को भी किसी प्रकार का दोष लगने की सम्भावना नही है। उन लोगो मे से कतिपय कहने लगे कि केवल सयम ही मोक्ष मे ले जाने वाला है, जबकि उनमे से अन्य लोग कहने लगे—"प्रासाद-मण्डन, पूजा, सत्कार, बलि विधान आदि से तीर्थ का उत्थान होता है और तीर्थ का उत्थान करना ही मोक्षगमन है।"

इस प्रकार तत्वज्ञान से अनभिज्ञ पापाचारी, जिसे जो साध्य था अथवा जिसे जो अच्छा लगा, उसी का उच्च स्वरो मे उच्छृखलता-उद्दण्डतापूर्वक प्रलाप करने लगे और उनका विवाद सघर्ष का रूप धारण कर गया। उनमे कोई शास्त्र का मर्मज्ञ नही था, जो युक्त अथवा अयुक्त पर विचार कर प्रमाण प्रस्तुत करता। परस्पर एक-दूसरे पर दोषारोपण करते हुए उनमे से कतिपय लोग कहने लगे कि अमुक-अमुक लोग अमुक-अमुक गच्छ के अनुयायी है। कुछ लोग कहने लगे—"तुम अमुक-अमुक लोग अमुक-अमुक गच्छ के मानने वाले हो।" अन्ततोगत्वा उन्ही मे से कुछ लोगो ने कहा—"इस प्रकार के निरर्थक वितण्डावाद से कोई निष्कर्ष नही निकलने वाला है, इस विषय मे सावद्याचार्य का निर्णय हम सबके लिये प्रामाणिक होगा।" उन सब ने इस बात पर स्वीकृति प्रदान करते हुए कहा—"ऐसा ही हो, सावद्याचार्य को शीघ्रातिशीघ्र बुलाया जाय।"

"तदनन्तर गौतम! उन लोगो ने सदेशवाहक भेज कर उस सावद्याचार्य को बुलवाया। सुदूरस्थ प्रदेश से अप्रतिहत विहार करता हुआ सावद्याचार्य सात मास मे उन लोगो के यहा पहुचा। वहा एक साध्वी ने अति कठोर घोर तपश्चरण से शोषित तथा अस्थिचर्ममात्रावशिष्ट शरीर वाले एव तपस्तेज से दैदीप्यमान सावद्याचार्य को ज्योही देखा, त्योही उसका अन्त करण आश्चर्य से ओतप्रोत हो गया और वह मन ही मन विचारने लगी—"अहो! क्या यह महानुभाव कही साक्षात् अरिहन्त अथवा मूर्तिमान धर्म ही तो नही है! अधिक क्या कहा जाय देवेन्द्रो से वन्दित महापुरुषो द्वारा भी इनके चरणयुगल वन्दनीय है।" इस प्रकार विचार कर परा भक्ति वशात् भाव-विभोर हो आदक्षिणा—प्रदक्षिणा कर वह सहसा अपने शिर से उसके पादयुगल का सस्पर्श करती हुई सावद्याचार्य के चरणो मे गिर पडी। गौतम! उस आर्या द्वारा सावद्याचार्य को किये गये उस प्रणमन को उन दुराचारियो ने देख लिया।"

"तदुपरान्त उन दुराचारियो द्वारा अभिवन्दित होता हुआ वह सावद्याचार्य जिस प्रकार तीर्थंकरो ने उपदेश दिया था, उसी प्रकार गुरु से प्राप्त उपदेश के

अनुसार उन्हे नित्यप्रति अनुक्रमश सूत्रो के अर्थ का व्याख्यान सुनाने लगा। वे लोग भी उसका उसी प्रकार श्रद्धान करने लगे। इस प्रकार सूत्रार्थ का व्याख्यान करते करते ग्यारहो अग और चौदह पूर्व रूपी द्वादशागी श्रुतज्ञान का नवनीत तुल्य सारभूत, सकल पापपु ज का परिहार एव आठो कर्मो का समूल नाश करने वाला तथा गच्छ की मर्यादा का प्रवर्तक महानिशीथ श्रुतस्कन्ध का यही पाचवा अध्ययन व्याख्यान के प्रसग मे आया। गौतम ! इस पचम अध्ययन की व्याख्या करते समय यह गाथा आई :—

> जत्थित्थिकर—फरिस अतरिय कारणे वि उप्पन्ने ।
> अरहा वि करेज्ज सय, त गच्छ मूल गुण मुक्क ॥

अर्थात्— जिस गच्छ मे किसी विशिष्ट कारण के उपस्थित होने की दशा मे भी यदि स्वय तीर्थंकर भी स्त्री का स्पर्श करे तो वह गच्छ मूल गुणरहित है ।"

"गौतम ! इस गाथा के आने पर वह सावद्याचार्य सशक एव उद्विग्न हो सोचने लगा—"यदि मै इस गाथा का यथावत् वास्तविक अर्थ बताता हू तो उस आर्या ने वन्दन करते समय जो अपने मस्तक से मेरे पैरो का स्पर्श किया था, वह इन सभी लोगो ने देखा था अत जिस प्रकार पहले इन लोगो ने मेरा नाम सावद्याचार्य रख दिया था, उसी प्रकार अब भी मुद्राकन तुल्य मेरा कोई और भी अप्रशस्त नाम रख देगे, जिसके परिणामस्वरूप मै सर्वत्र अपूज्य हो जाऊ गा। यदि मैं सूत्रार्थ को यथार्थ से भिन्न किसी और ही रूप मे बताता हू तो उससे तो प्रवचन की बडी भारी आसातना होगी। ऐसी दशा मे अब मुझे यहा क्या करना चाहिए ? क्या मैं इस गाथा को बिना अर्थ किये यो ही छोड दू अथवा इसका भिन्न रूप से अर्थ कर दू ? हाय हाय ! ये दोनो ही कार्य उचित नही हैं, क्योकि आत्म-कल्याण चाहने वालो के लिये ये दोनो ही कार्य अत्यन्त घृणास्पद है। अत सिद्धान्त मे यह स्पष्टत कहा गया है कि जो भी साधु द्वादशागी रूपी श्रुतज्ञान के किसी पद, अक्षर, मात्रा और यहा तक कि एक बिन्दु को भी कही कभी भूल, स्खलना, प्रमाद, आशका अथवा भयवशात् छोड दे, छुपा दे, यथार्थ से भिन्न रूप मे प्ररूपणा करे, सूत्रार्थ का सदिग्ध रूप मे व्याख्यान करे अथवा अनुयोग का विहित विधि से विपरीत विधि मे व्याख्यान करे तो वह साधु अनन्तकाल तक ससार मे भटकता रहेगा। तो भले ही अब जो कुछ भी होना है, वह हो जाय, पर मै तो सूत्रार्थ का उसी रूप मे व्याख्यान करू गा, जैसा कि उसका वास्तविक अर्थ है और जैसा कि मैने अपने गुरु से सुना है।"

"गौतम ! इस प्रकार का निश्चय कर उसने इस गाथा के प्रत्येक शब्द एव प्रत्येक पद की पूर्णत विशुद्ध एव यथार्थ रूप मे व्याख्या करदी। गौतम ! उसी समय उन दुष्ट एव अशिष्ट लक्षण लाछित लोगो ने कहा—"यदि इस गाथा का

यह अर्थ है तो तुम भी मूल गुण-विहीन हो। तुम्हे स्मरण होना चाहिए कि उस दिन उस आर्या ने तुम्हे वन्दन करते समय अपने मस्तक से तुम्हारे चरणो का स्पर्श किया था।"

"गौतम! यह सुनते ही अपयश के भय से उस सावद्याचार्य का मुख म्लान हो गया। "पहले तो इन लोगो ने मुझे सावद्याचार्य की सज्ञा दी, अब न मालूम ये लोग मेरा बुरे से बुरा क्या नाम रखेगे और मै ससार मे अपूज्य और निन्द्य हो जाऊगा। अब मै अपयश से बचने के लिए इन्हे क्या सफाई दू।" इस प्रकार विचार करते हुए उसे तीर्थंकर के इन वचनो का स्मरण आया—"जो कोई आचार्य, गणधर, महत्तर, गच्छाधिपति अथवा श्रुतधर हो, वह सर्वज्ञ, अनन्त ज्ञानियो द्वारा जिन जिन पापायतनो का प्रतिषेध किया गया है, उन सबको शास्त्र के अनुसार भली-भाति समझ कर उन पाप स्थानो का किसी भी रूप मे न तो स्वय सेवन करे और न उनका सेवन करने वालो का अनुमोदन ही करे। वह क्रोध, मान, माया, लोभ, भय, हास्य, गर्व-दर्प, प्रमाद, अभाव, चूक अर्थात् स्खलनावशात् दिन मे अथवा रात मे एकाकी अथवा परिषद् मे बैठे हुए, सुप्तावस्था अथवा जागृत अवस्था मे मन, वचन एव काय-योग— इन तीनो योगो द्वारा अथवा इन तीनो मे से किसी एक के द्वारा भी, जो कोई इन पदो का विराधक होगा, वह भिक्षु पुन पुन निन्दनीय, गर्हणीय, लताडने योग्य, घृणास्पद, समस्त लोक मे प्रताडित—पराभूत, विविध व्याधियो के मन्दिर तुल्य शरीर वाला होकर एकान्त दु खपूर्ण नरक आदि योनियो मे उत्कृष्ट स्थिति की आयु भोगता हुआ अनन्तकाल तक ससार सागर मे भटकता रहेगा। अनन्त काल तक ससार मे परिभ्रमण करता हुआ वह कभी कही पर एक क्षण मात्र के लिये भी शान्ति प्राप्त नही कर सकेगा।"

"ऐसी स्थिति मे प्रमाद के वशीभूत हुए मुझ पापी, अधमाधम, सत्वहीन कापुरुष के समक्ष यह जो घोर सकट उपस्थित हुआ है, इसका कोई युक्तिसगत प्रत्युत्तर देने मे मै असमर्थ हू। यदि मैं सूत्रार्थ से विपरीत उत्तर देता हू तो परलोक मे अनन्तकाल तक भवभ्रमण करता हुआ घोर दारुण दु खानुबन्धी अनन्त दु खो का भागी बन जाऊगा। हाय! मैं कितना दुर्भाग्यशाली हू।" इस प्रकार के विचारो मे सावद्याचार्य को डूबा हुआ देखकर गौतम! उन दुराचारी पापिष्ठ, दुष्ट श्रोताओ ने समझ लिया कि यह मृषावाद के भय से दुविधा मे फस गया है—अर्थात् एक ओर मूलगुण-रहित होने का डर और दूसरी ओर जो गाथा का अर्थ बताया है, उससे मुकरने पर मृषावाद का डर है। उसे सक्षुब्ध और किंकर्त्तव्यविमूढ देखकर उन दुष्ट श्रोताओ ने उससे कहा —"जब तक इस सशय को नही मिटा दिया जायगा, तब तक व्याख्यान नही उठेगा। आप यही बैठे रहकर कदाग्रह को नष्ट करने मे समर्थ ठोस एव प्रबल युक्तियो से इस प्रश्न का समाधान कीजिये।"

"इस पर सावद्याचार्य ने मन ही मन सोचा—"समाधानकारी उत्तर दिये

बिना मुझे इनसे छुटकारा मिलने वाला नही है। पर क्या समाधान रखू ?" यह सोचकर वह पुन विचारमग्न हो गया।"

"गौतम ! इस पर उन दुराचारियो ने सावद्याचार्य से पुन कहा—"चिन्ता-सागर मे डूबे हुए किस कारण बैठे हो ? शीघ्र ही इसका स्पष्टीकरण करो। वह समाधान सूत्रसम्मत और निर्दोष होना चाहिये।"

"तद्नन्तर मन ही मन सतप्त होते हुए सावद्याचार्य ने कहा—"तीर्थंकरो ने इसी कारण कहा है कि अयोग्य को सूत्र का ज्ञान नही देना चाहिए। क्योकि जिस प्रकार कच्चे घडे मे डाला गया जल उस घडे का विनाश कर देता है, उसी प्रकार अयोग्य व्यक्ति को सिद्धान्त का रहस्य बताया जाय तो वह सिद्धान्त का रहस्य उस अयोग्य व्यक्ति का सर्वनाश कर डालता है।"

"इस पर उन लोगो ने पुन कहा—"इस प्रकार अट-शट, असम्बद्ध एव दुर्भाषापूर्ण प्रलाप क्यो कर रहे हो ? यदि समाधान नही कर सकते तो इस पूज्य आसन से नीचे उतरो और हमारे इस स्थान से शीघ्र ही बाहर निकल जाओ। दैव (भाग्य) कैसा रुष्ट हुआ है कि समस्त सघ ने तुम जैसे व्यक्ति को भी प्रामाणिक मानकर सिद्धान्तो पर प्रवचन करने की अनुज्ञा प्रदान की है।"

"गौतम ! तत्पश्चात् सावद्याचार्य ने पुन बडी देर तक मन ही मन चिन्ता से जलते हुए अन्य कोई समाधान न पा सुदीर्घ काल तक ससार मे भटकना स्वीकार कर कहा—"तुम लोग कुछ भी नही समझते। आगम वस्तुत उत्सर्ग और अपवाद—इन दो मूल आधारो पर अवस्थित है। एकान्त का नाम ही मिथ्यात्व है। जिनेश्वरो की आज्ञा तो अनेकान्त है।"

"सावद्याचार्य के इस वचन को सुनते ही गगन मे घुमडती हुई वर्षा ऋतु की प्रथम घन-घटा के गर्जन को सुनकर जिस प्रकार मयूर मुदित हो मधुर आलाप करते हुए नाच उठते है, ठीक उसी प्रकार उन दुष्ट श्रोताओ के मन-मयूर नाच उठे और उन्होने सावद्याचार्य का बडा सम्मान करते हुए उनके उन वचनो की भरि-भूरि-श्लाघा की।"

"गौतम ! इस एक ही वचन—दोष से उस सावद्याचार्य ने अनन्त-ससारित्व का बन्ध कर लिया और उस महा क्षुद्र सघ के जमघट के समक्ष उस पाप की आलोचना न करने के कारण अनन्त ससार का भागी बना ।"[1]

---

[1] गोयमा ! ए इओ य उसभादि तित्थकर चउवीसगाए अणतेण कालेण जा अतीता अन्ना चउवीसगा तओ एग वयण दोसेण गोयमा ! निबधिऊणाणत ससारियत्तणं • ।
महानिशीथ अ० ५ (अप्रकाशित)

महानिशीथ का यह उल्लेख सभी दृष्टियो से बडा ही महत्वपूर्ण है। इसमे अन्यत्र अनुपलभ्य अनेक ऐतिहासिक तथ्य भरे पडे है। अधिकाश आचार्य और श्रमण सामूहिक रूप से विशुद्ध श्रमणाचार और श्रमण के मूल गुणो को तिलाजलि दे मिथ्यात्वी और मिथ्यात्व के पोषक बन जाते है। उनमे श्रमण के योग्य गुणो का लेशमात्र भी नही रहता। केवल वेष मात्र से वे नाम मात्र के साधु होते है। असयति-पूजा नामक उस आश्चर्य के प्रभाव से श्रावक-श्राविका वर्ग भी बहुत बडी सख्या मे उन्ही नाम मात्र के साधु वेषधारी असयतियो का उपासक और अनुयायी बन जाता है। तीर्थंकरो की आज्ञा की अवहेलना कर वे अपने अपने श्रावक-श्राविका वर्ग से धन लेकर भव्य और विशाल चैत्यो का निर्माण करवा कर, उन चैत्यालयो को अपनी निजी सम्पत्ति बना लेते है। वे असयति साध्वाचार का पूर्णत परित्याग कर साधु के लिये परमावश्यक कर्त्तव्य अप्रतिहत विहार, निर्दोष भिक्षाचरी, परिग्रह का पूर्ण रूप से त्याग आदि उत्तम गुणो को तिलाजलि दे अपने अपने चैत्यो मे नियत निवास और आधाकर्मी आहार आदि ग्रहण कर साधुत्व पर कलक कालिमा पोत देते है। शास्त्रो मे तीर्थंकरो का स्पष्ट आदेश है कि कोई भी श्रमण धर्म के लिये, स्वर्ग के लिये, अपवर्ग के लिये अथवा कर्मबन्धन को काटने के लिये भी पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु, वनस्पति और त्रस काय की हिसा न करे, न किसी दूसरे से इन षड्जीवनिकाय के जीवो की कदापि हिसा करवाये और जो लोग धर्म, अर्थ, काम एव मोक्ष की प्राप्ति के लिये, जन्म, जरा, मृत्यु से सदा के लिये छुटकारा पाने के लिये हिसा करते हैं, उनके इस हिसा कार्य की तीन करण और तीन योग से कभी किसी भी दशा मे अनुमोदना नही करे।

परन्तु तीर्थंकरो की इस विश्वबन्धुत्व से ओतप्रोत, विश्व के सचराचर समस्त प्राणियो के लिये कल्याणकारिणी आज्ञा का उल्लघन कर वे मिथ्यात्व-दोष-ग्रस्त नाम मात्र के आचार्य और साधु जिनमन्दिरो का निर्माण करवाते हैं और इस प्रकार चैत्यालयो के निर्माण कार्य मे होने वाली पृथ्वी, अप्, तेजस् वायु, वनस्पति और त्रस — इन षड्जीवनिकायो की घोर हिसा के पाप से अनन्त काल तक दु खपूर्ण दुर्गतियो से ओतप्रोत भवभ्रमण के अधिकारी बनते है। वे यह नही सोचते कि तीर्थंकरो ने धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष तक के लिये षड्जीव निकाय के जीवो की त्रिकरण त्रियोग से हिसा करने, करवाने और करने वाले की अनुमोदना तक करने का स्पष्ट रूप से निषेध किया है। तीर्थंकरो की इस आज्ञा के अनुसार साधु षड्जीव निकाय के सहारकारी चैत्यनिर्माण आदि कार्य के लिये वचनमात्र से भी सकेत तक नही कर सकता।

महानिशीथ के उपर्यु ल्लिखित आख्यान मे यह भी स्पष्ट किया गया है कि 'असयति-पूजा' नामक आश्चर्य के प्रभावकाल मे यद्यपि चारो ओर मिथ्यात्व दोष-ग्रस्त असयतो और उनके अनुयायियो का अत्यधिक प्रभाव और वर्चस्व रहता है

तथापि विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले स्व-पर हितसाधक सच्चे श्रमणो का स्वल्पाधिक मात्रा मे अस्तित्व अवश्य रहता है और वे सच्चे क्रियानिष्ठ श्रमण निर्ग्रन्थ प्रवचन का सर्वज्ञ—वीतराग प्रभु की वाणी का यथावत् उपदेश देते है ।

महानिशीथ के इस आख्यान मे सिद्धान्त के सारभूत तत्व का यथार्थ रूप मे—यथावत् स्वरूप मे प्रतिपादन का उत्कृष्ट फल और यथार्थ रूप से भिन्न रूप मे प्रतिपादन का अनन्त दु खानुबन्धी एव सर्वस्व-विनाशकारी दुष्फल भी बताया गया है ।

"तीर्थंकर की आज्ञा उत्सर्ग और अपवाद के रूप मे अनेकान्त है । एकान्त तो मिथ्यात्व है ।" उपर्युक्त आख्यान मे सावद्याचार्य के इस कथन का उल्लेख है जो कि उन्हे अपने बचाव का और कोई रास्ता न दिखने पर मजबूरी की दशा मे कहना पडा था । सावद्याचार्य के इस कथन को सुन कर चैत्यवासियो के हर्षातिरेकवशात् प्रफुल्लित-प्रमुदित होने का भी इस आख्यान मे उल्लेख है । यह कथन गूढ रहस्य से ओतप्रोत और गम्भीरता पूर्वक मननीय एव विचारणीय है । चैत्यवासी वस्तुत सावद्याचार्य के मुख से यही कहलवाना चाहते थे । इसमे जो गूढ रहस्य भरा हुआ है वह यह है कि तीर्थंकर महाप्रभु की यह स्पष्ट रूप से आज्ञा है कि साधु षड्जीवनिकाय के जीवो के आरम्भ समारम्भ का कोई भी कार्य न करे, न उस प्रकार का कार्य वह दूसरे से करवाये, और न ही इस प्रकार का कार्य करने वाले का अनुमोदन ही करे । प्रत्येक साधु के लिये तीर्थंकर प्रभु का यह उपदेश, जीवन-पर्यन्त अपरिहार्य अनिवार्य रूपेण पूर्णत पालनीय है, सदा-सर्वदा शिरोधारणीय है । इसमे किसी भी प्रकार के अपवाद के लिये किंचित्मात्र भी स्थान नही है । प्रभु के इस आदेश का जो साधु एकान्तत पालन नही करता, उसमे अपवाद को अवकाश देने की चेष्टा करता है, वह वस्तुत श्रमणत्व से भ्रष्ट हो जाता है । मोक्ष-प्राप्ति की कामना से बढ कर तो कोई कामना हो ही नही सकती । तो फिर महाप्रभु ने मोक्ष-प्राप्ति के लिये भी षड्जीवनिकाय मे से किसी भी निकाय के एक भी जीव की हिंसा करने का स्पष्ट शब्दो मे निषेध किया है ।

इस प्रकार की स्थिति मे चैत्यवासियो द्वारा चैत्यालयो का निर्माण करवाना जिनाज्ञा का स्पष्टत उल्लघन करना ही है । पर चैत्यवासियो को यह सब स्वीकार नही था । वे जिनाज्ञा मे, आगम-वचन मे-सिद्धान्त मे—अपवाद का प्रावधान रख कर चैत्यालयो के निर्माण को मोक्षप्राप्ति का साधन स्वय तो मानते ही थे पर इसके साथ-साथ दूसरो से भी मनवाना चाहते थे, इसके लिये प्रयास करते रहते थे । उन्होने आचार्य कुवलयप्रभ से आकस्मिक विचित्र स्थिति मे अनायास ही हुए प्रमाद का अनुचित लाभ उठाने का प्रयास किया । उपयुक्त अवसर पर उन्होने कुवलयप्रभ को घोर धर्मसकट मे डाला । इस सब के पीछे उनका सुनिश्चित और सुनियोजित उद्देश्य यही था कि कुवलयप्रभ जैसे आगम-मर्मज्ञ, त्यागी, तपस्वी, निस्पृह और शास्त्राज्ञानुसार विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले श्रमणश्रेष्ठ के मुख से

अपने अनुयायियो के समक्ष जिनाज्ञा के सम्बन्ध मे भी उत्सर्ग और अपवाद की वात येन केन प्रकारेण कहलवा कर अपने पक्ष की प्रतिष्ठा बढाये। चैत्यवासी तो अपने उद्देश्य की सिद्धि मे सफल हो गये पर जिनाज्ञा मे, सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकरो के वचन मे उत्सर्ग और अपवाद की दोषपूर्ण बात कहने के फलस्वरूप, विशुद्ध श्रमण परम्परा के प्रतीक होते हुए भी आचार्य कुवलयप्रभ अनन्तकाल तक नरक, तिर्यच आदि योनियो मे भटकने के भागी बन गये।

इस आख्यान मे स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि ससार सागर को एक भवावशिष्ट मात्र कर लेने वाला महान् साधक भी निर्ग्रन्थ प्रवचन की, तीर्थंकरो की वाणी की अयथार्थ रूप मे निरूपणा करने से अनन्त काल तक भयावहा भवाटवी मे भटकने जैसी दुर्दशा से ग्रस्त हो जाता है।

"इतिहास अपने आपको दोहराता है" इस उक्ति के अनुसार—इतिहास के घटनाचक्र का पुन पुन परावर्तन होता रहता है। तदनुसार अनन्त अवसर्पिणियो पूर्व की किसी एक अवसर्पिणी मे असयती-पूजा नामक आश्चर्य के प्रवाहकाल मे चैत्यवासियो द्वारा धर्म और श्रमणाचार के मूल स्वरूप मे जिस प्रकार की, परिवर्तन करने की, विकृतिया उत्पन्न करने की घटनाए घटित हुई, ठीक उसी प्रकार की घटनाए प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल मे भी हमारे यहा घटित हुई है। विचारपूर्वक देखा जाय तो ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान महावीर के निर्वाण से लगभग ८५० वर्ष पश्चात् अस्तित्व मे आये चैत्यवासी सघ को लक्ष्य कर अनन्त अतीत के इस आख्यान को महानिशीथ मे स्थान दिया गया है।

इस आख्यान से यह हस्तामलकवत् स्पष्ट हो जाता है कि चैत्यवासी परम्परा का जन्म किन परिस्थितियो मे और कब हुआ।

आज अधिकाश जैन धर्मावलम्बी वस्तुत चैत्यवासी परम्परा द्वारा प्रचलित की गई द्रव्य पूजा अथवा द्रव्य परम्परा से ही कतिपय अशो मे प्रभावित है।

चैत्यवासी परम्परा द्वारा धर्म और श्रमणाचार के मूल स्वरूप मे किस-किस प्रकार के परिवर्तन किये गये, इस सम्बन्ध मे यथासम्भव प्रकाश डालने का अब प्रयास किया जायगा।

धर्म और श्रमणाचार के मूल स्वरूप मे चैत्यवासी परम्परा द्वारा किये गये परिवर्तन

यो तो वीर नि० स० ८५० के आसपास ही कतिपय निर्ग्रन्थ श्रमण, निर्ग्रन्थ प्रवचन मे प्रतिपादित श्रमणोचित आचार और आस्थाओ तथा उग्र विहार को तिलाजलि दे अपनी इच्छानुसार जिन चैत्यो—जिनमन्दिरो का निर्माण करवा कर, उनमे स्थिरवास नियतवास करने के साथ ही साथ अनेषणीय, अकल्पनीय आधा-

कर्मी आहार लेने लग गये थे, तथापि मूल निर्ग्रन्थ परम्परा के आगम निष्णात त्यागी, तपस्वी, उग्रविहारी पूर्वधर आचार्यो की विद्यमानता के कारण वे निर्ग्रन्थ प्रवचन से प्रतिकूल आस्था और आचार वाले शिथिलाचारी चैत्यवासी जैन समाज के मानस मे कोई शीर्ष स्थान अथवा सम्मान उस समय तक प्राप्त करने मे असफल रहे ।

देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमरण के स्वर्गारोहरण काल (लगभग वीर नि० स० १०००) तक वे आगम विरुद्ध आस्था और शिथिलाचार फैलाने मे असमर्थ रहे। चैत्यवासियो की इस असफलता का प्रमारण हमे नवागी वृत्तिकार अभयदेव सूरि द्वारा रचित 'आगम अट्ठोत्तरी' की निम्नलिखित गाथा से मिलता है —

देवड्ढि खमासमरण जा, परपर भावओ वियाणेमि ।
सिढिलायारे ठविया, दव्वेरण परपरा बहुहा ।।

अर्थात्— देवर्द्धि क्षमाश्रमरण तक तो भाव परम्परा (भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित मूल परम्परा) अक्षुण्ण रूप से चलती रही, यह मैं जानता हू । पर देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमरण के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर साधु प्राय शिथिलाचारी बन गये और उसके परिरणामस्वरूप अनेक प्रकार की द्रव्य परम्पराए स्थापित कर दी गई—प्रचलित कर दी गई ।

पूर्वापर ऐतिहासिक घटनाओ के परिप्रेक्ष्य मे नीर-क्षीर विवेकपूर्ण सम दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार करने पर अभयदेव सूरि के निर्णायक आन्तरिक उद्‌गार भली-भाति तथ्यपूर्ण प्रतीत होते है । वस्तुत देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमरण के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् भगवान् महावीर के श्रमरण-श्रमरणी सघ की ही नही अपितु चतुर्विध सघ की भी स्थिति पूर्वापेक्षया अधिकाशत विपरीत हो गई ।

देवर्द्धि के स्वर्गारोहरण काल तक निर्ग्रन्थ प्रवचन मे प्रतिपादित जैन धर्म के मूल स्वरूप, मूल आचार, मूल आस्थाओ एव मान्यताओ का उपासक धर्मसघ सुसगठित, सुदृढ, तेजस्वी, बहुजनमान्य तथा सबल रहा और चैत्यवासी सघ नितान्त निर्बल, नगण्य रहा । उस समय तक यह बहुजनमान्य नही बन पाया । परन्तु अन्तिम पूर्वधर आर्य देवर्द्धिगरिण के स्वर्गस्थ होने के थोडे समय बाद ही चैत्यवासी सघ का बडी तीव्र गति से सर्वत्र विस्तार हुआ । चैत्यवासी सघ सशक्त, सुदृढ, देशव्यापी एव बहुजनमान्य बन गया । चैत्यवासी सघ के प्रबल प्रचार के फलस्वरूप मूल आचार की मान्यताओ एव आस्थाओ का उपासक धर्मसघ निर्बल, विघटित एव अत्यल्प जनमान्य होता चला गया ।

अन्तिम पूर्वधर और अन्तिम वाचनाचार्य आर्य देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमरण के स्वर्गस्थ होने के उत्तरवर्त्ती काल के घटनाक्रम के पर्यवेक्षरण से ऐसा प्रतीत होता है

कि चैत्यवासियो ने देवर्द्धि के स्वर्गस्थ हो जाने पर अपनी परम्परा का प्रचार-प्रसार व्यापक रूप मे प्रबल वेग से प्रारम्भ किया। आकर्षक एव आडम्बरपूर्ण स्वकल्पित नित-नये धार्मिक आयोजनो, परिपाटियो एव अनुष्ठानो की रचनाओ के साथ-साथ चैत्यवासियो ने साधुवर्ग की सुविधा के लिए ऐसे १० नियम बनाये, जिनसे किसी भी व्यक्ति के मुण्डित हो जाने पर किसी भी प्रकार के कष्ट का सामना नही करना पडे और सभी प्रकार के भोगोपभोगो की सुविधाए उन्हे सरलता से सुलभ हो सके। चैत्यवासियो द्वारा चैत्यवासी परम्परा के साधुओ के लिये बनाये गये उन नियमो को जैन सघ मे प्रसारित किया गया और चैत्यवासी परम्परा के प्रत्येक सदस्य के लिये उन १० नियमो का पालन अनिवार्य घोषित किया गया। उस चैत्यवासी परम्परा का भारत के अधिकाश क्षेत्रो मे लगभग ७०० वर्षो तक पूर्ण वर्चस्व रहा। पर उस परम्परा की मान्यताओ पर पूर्ण प्रकाश डालने वाला कोई साहित्य आज उपलब्ध नही है। विक्रम स० १५०० के आस-पास ही यह परम्परा लुप्तप्राय हो गई। इस परम्परा के आचार्यो अथवा विद्वानो द्वारा बनाये गये इस परम्परा के नियमो एव मान्यताओ से सम्बन्धित कृतियो मे से एक भी कृति आज उपलब्ध नही है। ऐसा प्रतीत होता है कि काल के प्रभाव से यह चैत्यवासी परम्परा भी अछूती न रही। उसका वह विपुल साहित्य भी कालक्रम से आज विलुप्त हो चुका है। इस प्रकार की स्थिति मे चैत्यवासी परम्परा के किसी ग्रन्थ के आधार पर, चैत्यवासी परम्परा की मान्यताओ की जिस सागोपाग परिचय की अपेक्षा की जा सकती थी, वह तो सम्भव नही लगती। पर महानिशीथ मे जिस प्रकार इस परम्परा का सक्षिप्त परिचय प्राप्त होता है उसी प्रकार का थोडा बहुत परिचय "वसतिवास परम्परा" के साहित्य मे भी यत्र-तत्र बिखरा पडा है। विक्रम की १२वी शताब्दी के "वसतिवास परम्परा" के प्रभावक आचार्य जिनवल्लभ सूरि ने चैत्यवासी परम्परा की मान्यताओ का खण्डन करते हुए ४० श्लोको के "सघपट्टक" नामक एक ग्रन्थ की रचना की थी।[1] उसी 'सघपट्टक' नामक ग्रन्थ के आधार पर चैत्यवासी परम्परा द्वारा चैत्यवासी परम्परा के साधुओ के लिये बनाये गये उन १० नियमो का विवरण यहा प्रस्तुत किया जा रहा है —

(१) साधु औद्देशिक अर्थात् श्रमण—श्रमणियो के लिये बनाया गया सदोष आहार ग्रहण कर सकता है। उसमे किसी प्रकार का दोष नही। क्योकि पूर्वकाल मे महान् वैभवशाली उदारमना, दानी तथा परम भक्त श्रावक होते थे अत उस समय के साधुओ को एषणीय निर्दोष आहार मिल जाता था। किन्तु आधुनिक काल मे राजविप्लवो, युद्धो, दुष्कालियो, दुस्समाकाल—के प्रभाव आदि आदि कारणो से अधिकाश श्रावक वर्ग दरिद्र हो गया है। ऐसी स्थिति मे सुसहनन और शक्ति विहीन साधुवर्ग को श्रद्धालु श्रावको द्वारा साधु के लिये बनाये गये आहार

[1] जिनवल्लभ सूरि ने वि० स० ११२५ मे जिनचन्द्र सूरि द्वारा रचित "सवेगरगशाला" नामक ग्रन्थ का सशोधन किया, इस प्रकार का उल्लेख भी उपलब्ध होता है। —सम्पादक

को लेने मे कोई दोप नही है। रूक्ष भोजन देने वाले तो मिल सकते है पर उस से आजकल के साधु अपने शरीर को बनाये नही रख सकते। इसलिये कोई श्रद्धालु श्रावक साधु के लिये घृत एव पौष्टिक भोजन की व्यवस्था करता है तो धर्म के साधन रूप शरीर को सशक्त बनाये रखने के लिये इस प्रकार का औद्देशिक आहार अथवा घृत आदि लेने मे कोई दोष नही। इस प्रकार का औद्देशिक आहार देने से श्रावक को भी पुण्य होगा।[1]

(२) साधु को सदा के लिये जिनमन्दिर मे ही नियत वास करना चाहिये। आगमो मे साधुओ के लिये उद्यानवास का विधान है पर अब लोगो के आवागमन से रहित तथा गुप्त द्वार वाले उस प्रकार के उद्यान नष्ट हो गये है। जो है, उनमे आम्र मजरी के रसास्वादन से उन्मत्त हुई कोकिलो के कामोद्दीपक 'कुहू' 'कुहू' के सुमधुर स्वरालाप से तथा प्रफुल्लित मालती पुष्पो की सुमधुर मादक सुगन्ध से मुनियो के मन विचलित हो सकते है। उन उद्यानो मे कामी-कामिनियो के युगलो के केलिक्रीडार्थ आते रहने के कारण स्त्री-ससर्ग की आशका रहती है। जिनमन्दिर वस्तुत जिनेन्द्र प्रभु की मूर्तियो के लिये बनाये जाते है, अत साधुओ को जिन-मन्दिर मे रहने से न तो आधाकर्मी दोष ही लगेगा और न स्त्री-ससर्ग की आशका ही रहेगी। वसति से दूरस्थ शून्य उद्यानो मे ठहरने से चोर, लुटेरो द्वारा धर्मो-पकरणो के चुराये जाने की भी आशका बनी रहती है। साधुओ के रहने योग्य उद्यानो के नष्ट हो जाने के कारण ही आर्य रक्षित ने वीर नि० स० ६२० मे सुविहित साधुओ के बल, बुद्धि, मेधा आदि की हानि देख कर साधुओ के लिये चैत्यवास कल्पनीय वताया। चैत्यवास निरवद्य है, गीतार्थ महापुरुषो द्वारा सेवित है, अत चैत्य मे नियत निवास साधुओ के लिये किसी प्रकार दोपपूर्ण नही। हरिभद्रसूरि जैसे महान् ग्रन्थकार ने भी चैत्यवास का प्रतिपादन किया है। समरा-दित्य कथा मे उल्लेख है कि जिनमन्दिर के प्रतिश्रय मे रही हुई एक साध्वी ने केवलज्ञान प्राप्त किया। चैत्यो मे साधुओ के नियतनिवास से चैत्यो के नष्ट होने और तज्जन्य तीर्थोच्छेद का भय भी नही रहता। वसतिवास—अर्थात् पर गृह-निवास मे तो आधाकर्मी दोप और स्त्रीससर्ग के कारण ब्रह्मचर्य के भग होने की प्रवल आशका भी वनी रहती है। परगृहवास की दशा मे साधुओ के अमृततुल्य सुमधुर स्वाध्याय घोष को सुन कर और ब्रह्मचर्य के तेजपुज से दैदीप्यमान अतीव

---

[1] (क) अन्नौद्देशिक भोजन । श्लोक स० १

(ख) पट्कायानुपमृद्य निर्दयमृपीनाधाय यत्साधितम्,
शास्त्रेपु प्रतिपिध्यते यदसकृन्निस्त्रिशताधायितम्।
गौमासाद्युपम यदाहुरथ यद्भुक्त्वा यतिर्यात्यध,
स्तत्को नाम जिघित्सतीह सघृण सघादि भक्ति विदन् ॥६॥

—सघपट्टक (जिनवल्लभसूरि)

सुन्दर स्वरूप को देख कर विरहिणी युवतिया उन पर मुग्ध हो उन्हे पथभ्रष्ट कर सकती है, तथा गृहस्थावस्था मे भोगे हुए भोगो के स्मरण हो जाने से साधुओ के ब्रह्मचर्य व्रत के भग होने का प्रसग उपस्थित हो सकता है। पर जिनमन्दिरो मे निवास करने पर इन सब आशकाओ की कोई सम्भावना ही नही रहती। अत इस प्रकार की स्थिति मे साधुओ को वसतिवास— परगृहवास एव उद्यानवास का परित्याग कर चैत्यो मे ही नियत-निवास करना चाहिये।[1]

(३) वसति मे, परगृह मे अथवा उद्यान मे निवास करने अथवा ठहरने वाले साधुओ का पूरी तरह विरोध कर चैत्यवासी साधु खुलकर इस प्रकार का प्रचार-प्रसार करे कि साधु को वसति मे कभी निवास नही करना चाहिये। वसतिवास का खण्डन यह कह कर किया जाय —

न वि किंचि अणुन्नाय, पडिसिद्ध वा वि जिणवरिंदेहिं।
मुत्तु मेहुणभाव, न सो विणा रागदोसेहिं ॥
थीवज्जिय वियाणइ इत्थीण जत्थ काण रूवाणि।
सद्दा य न सुव्वति, ता विय तेसि न पेच्छेहिं ॥
बभवयस्स अगुत्ती, लज्जानासो य पीइवुड्ढी य।
साधु तवोवणवासो, निवारण तित्थपरिहाणी ॥

शृणु हृदयरहस्य यत्प्रशस्य 'मुनीना'
न खलु न खलु योषित्सन्निधि सविधेय।
हरति हि हरिणाक्षी क्षिप्रमक्षिक्षुरप्र—
प्रहतशमतनुत्र चित्तमप्युन्नतानाम् ॥

इन सब बिन्दुओ को दृष्टिगत रखते हुए स्त्रीससक्त परगृहवास साधुओ के लिए नितान्त हानिकर और चैत्यो मे साधुओ का नियतनिवास साधुओ के लिए परम हितकर है। चैत्यो मे नियत निवास करने वाले साधुओ के जीवन मे स्त्रीसम्पर्क और उपर्युक्त किसी प्रकार के दोषो के प्रसग की कोई सम्भावना ही नही रहती।

---

[1] (क) जिनगृहे वासो
॥५॥

(ख) गायद्गन्धर्व नृत्यत् पणरमणिरणद्धे णुगु जन्मृदग—
प्रे खत्पुष्पस्रगुद्यन्मृगमदलसदुल्लोचचचज्जनौघे।
देवद्रव्योपभोगंध्रुवमठपतिताशातनाभ्यस्त्रसत,
सत सद्भक्तियोग्य न खलु जिनगृहेऽर्हन्मतज्ञा वसन्ति ॥७॥
—सघपट्टकमटोक (जिनवल्लभसूरि)
(प्रकाशन —श्रावक जेठालाल दलसुख अहमदाबाद ई सन् १९०७)

कुछ क्षणो के लिए स्त्रियो का चैत्यो मे जिन बिम्बो एव प्रतिमाओ के दर्शनार्थ आना होता है और दर्शन कर तत्काल वे अपने घरो को लौट जाती है ।

इन सब कारणो से चैत्यवासी साधु वसतिवास का सदा खण्डन करते रहे ।[1]

(४) साधु अपने पास धन का सग्रह करे । यद्यपि शास्त्रो मे साधु के लिये धन सग्रह निषिद्ध है, तथापि साम्प्रतकालीन साधुओ के लिए धन रखना उचित और आवश्यक हो गया है । क्योकि धन के बिना ग्लान अवस्था मे, शत्रुओ के आक्रमण अथवा दुष्काल आदि के समय मे औषधि, पथ्य, भोजन आदि की प्राप्ति न होने पर शरीर के नष्ट होने जैसी स्थिति उपस्थित हो सकती है । कालदोष से धर्मभावना रहित हुए श्रावको से तो इस प्रकार आहार, औषध—भेषज आदि की अपेक्षा ही नही की जा सकती । अत धन ग्रहण कर साधुओ को एक अक्षय निधि एकत्रित करनी चाहिए । साधुओ के पास धन होगा तो दुर्बल आर्थिक-दशा को प्राप्त किसी श्रावक की सहायता कर उसे आर्थिक दृष्टि से सम्पन्न एव सबल बनाया जा सकता है । इस प्रकार सम्पन्न बने श्रावक चैत्यो का निर्माण करवा कर उनकी पूजा आदि की व्यवस्था और तीर्थ-प्रभावना के कार्यो से जिनशासन को समुन्नत करेगे । उनकी आर्थिक स्थिति सुदृढ होगी तो वे आगमो का लेखन करवा कर प्रवचन की रक्षा भी कर सकेगे । आधुनिक युग के मुनि यदि अपने पास द्रव्य नही रखेंगे तो तीर्थोच्छेद और प्रवचनविच्छेद की स्थिति उत्पन्न हो सकती है अत आधुनिक युग के साधुओ को अपने पास द्रव्य रखना चाहिये ।[2]

---

[1] (क) वसत्यक्षमा,

॥५॥

(ख) साक्षाज्जिनैर्गणधरैश्च निषेवितोक्ता,
नि सगताग्रिमपद मुनिपु गवानाम् ।
शय्यातरोक्तिमनगारपद च जानन्,
विद्वे ष्टि क परगृहे वसति सकर्ण ॥८॥
चित्रोत्सर्गापवादे यदिह शिवपुरी दूतभूते निशीथे,
प्रागुक्त्वा भूरिभेदा गृहिगृहवसती कारणेपोद्य पश्चात्,
स्त्रीससक्तादिमुक्तेप्यभिहित यतनाकारिणा, सयताना
सर्वत्रागारिधाम्नि न्ययमिन तु मत क्वापि चैत्ये निवास ॥६॥ —सघपट्टक

[2] (क) स्वीकारोऽर्थ

॥५॥

(ख) प्रव्रज्याप्रतिपथिन ननु धनस्वीकारमाहुर्जिना ,
सर्वारम्भपरिग्रह त्वतिमहा सावद्यमाचक्षते ।
॥१०॥ —सघपट्टक

(५) चैत्यवासी साधु गृहस्थो को उपदेश—गुरुमन्त्र आदि देकर अपने पीढी, प्रपीढी के श्रावक बनाये। क्योकि इस काल के उत्सर्ग और अपवाद मार्ग के विज्ञ मुनियो को अपने श्रावक बनाकर अपनी परम्परा मे स्थिर रखना उचित एव आवश्यक है। पूर्ववर्ती काल वस्तुत बडा ही भव्य काल था। उस समय के साधु भी अतिशय शक्तिसम्पन्न महापुरुष थे। उस समय कुतीर्थिको की सख्या भी अति स्वल्प थी। जनसाधारण का मानस भी प्राय सरल और उदार था, अत जैनेतर भी बडे सम्मान के साथ जैन साधुओ को भिक्षा आदि प्रदान करते थे। साम्प्रतकालीन जनमानस कुतीर्थिको के बाहुल्य एव प्राबल्य के कारण कलुषित हो गया है। ऐसी दशा मे यदि साधुओ ने अपनी परम्परा के श्रावक बनाकर उन्हे अपनी परम्परा मे सदा के लिये पीढी-दर-पीढी स्थिर और सुदृढ नही रखा तो साधुओ के लिये, भिक्षा आदि के अभाव मे अपना जीवन बनाये रखना भी कठिन हो जायगा। इससे अन्ततोगत्वा तीर्थ—व्युच्छित्ति और प्रवचननाश जैसी स्थिति भी उत्पन्न हो सकती है। अत साधुओ को चाहिए कि वे अधिकाधिक सख्या मे अपने श्रावक बनाकर उन्हे अपनी परम्परा मे सुस्थिर रखे।

आगम मे भी कहा है :—

"जा जस्स ठिई जा जस्स सठिई, पुव्वपुरिसकया मेरा।
सो त अइक्कमतो, अणत ससारिओ होई॥

अर्थात् जिसकी जो स्थिति है, पूर्व पुरुषो द्वारा जिसको जिस जगह बने रहने की मर्यादा बाध दी गई है, वह उसी मे रहे, उस मर्यादा का अतिक्रमण करने वाला व्यक्ति अनन्तकाल तक ससार मे परिभ्रमण करता है।

जो श्रावक एक बार अगीकार किये हुए गुरु का त्याग कर दूसरे गुरु का श्रावक बनता है तो वह अनन्त काल तक ससार मे भटकता है—यह इस शास्त्र-वचन का अभिप्राय है। इस शास्त्र-वचन से भी हमारे इस कथन की पुष्टि होती है कि साधु को अपने श्रावक बनाने चाहिए।[१]

(६) साधु जिनेन्द्र भगवान् के मन्दिरो को अपनी सम्पत्ति के रूप मे स्वीकार करें। काल-दोष से इस समय के गृहस्थो मे—श्रावको मे चैत्यो की रक्षा, व्यवस्था आदि के प्रति कोई रुचि नही है और न उन्हे चैत्यो की सार-सम्हाल करने के लिए ही कोई अवकाश मिलता है। ऐसी स्थिति मे यदि साधु चैत्यो को अपने

---

[१] (क) स्वीकारोऽर्थं-गृहस्थ,
॥५॥
(ख) सर्वारम्भपरिग्रह त्वति महा सावद्यमाचक्षते।
॥१०॥ —सघपट्टक

स्वामित्व मे ग्रहण नही करेगे तो चैत्यो के उच्छेद एव जिन शासन के लुप्त होने जैसा प्रसग उपस्थित हो सकता है ।[1]

(७) साधु ऐसे गादी-तकियो एव सिहासनो पर भी बैठे, जिनका कि प्रतिलेखन—प्रमार्जन सभव नही । इस प्रकार के गादी-तकियो तथा सुन्दर सिहासनो पर साधुओ के बैठने से प्रवचन की प्रभावना होती है । गणधर देव भी राजाओ द्वारा दिये गये सिहासनो अथवा पादपीठो पर बैठते थे ।

एक राजा के अन्त पुर की रानियो ने आर्य वज्र स्वामी की व्याख्यान—लब्धि की तो प्रशसा की किन्तु यह कहा कि उनकी रूप-सम्पदा अति साधारण है । इस पर वज्र स्वामी ने दूसरे दिन यति के लिये अकल्पनीय सोने के कमलाकार सिहासन पर बैठ कर अपने भव्य व्यक्तित्व को प्रकट करते हुए देशना दी । उसके परिणामस्वरूप प्रवचन की प्रभावना हुई । इससे सिद्ध है कि आचार्यो को प्रवचन की प्रभावना हेतु गादी-तकिये, सिहासन आदि पर बैठना चाहिये ।[2]

(८) साधु अपने श्रावको को अपने ही गच्छ मे रहने का (शाम, दाम, दण्ड, भेद आदि उपायो से) आग्रह करे । अन्यथा साधुओ द्वारा श्रावको को अपनी अपनी ओर खीचते रहने से बडा ही अशोभनीय वातावरण उत्पन्न हो जायेगा । पारस्परिक कलह के कारण जिन—शासन की हानि होगी । अत साधुओ को चाहिये कि अपने गच्छ के श्रावको को अपने गच्छ मे ही सदा सुस्थिर बने रहने का आग्रह करे ।[3]

---

[1] (क) स्वीकारोऽर्थगृहस्थचैत्यसदन

॥५॥

(ख) चैत्यस्वीकरणे तु गर्हिततम स्यात् माठपत्य यते—
रित्येव व्रतवैरिणीति ममता युक्ता न मुक्त्यर्थिनाम् ॥१०॥

[2] (क) . ईषत् प्रेक्षिताद्यासनम् ।

॥५॥

(ख) भवति नियतमत्रासयम स्याद्विभूषा,
नृपतिककुदमेतल्लोकहासश्च भिक्षो ।
स्फुटतर इह सग सातशीलत्वमुच्चै—
रिति न खलु मुमुक्षो सगत गब्दिकादि ॥११॥ —सघपट्टक

[3] दु प्रापा गुरुकर्म्मसचयवता सद्धर्मबुद्धि नृणा,
जातायामपि दुर्लभ शुभगुरु प्राप्त स पुण्येन चेत् ।
कर्तु न स्वहित तथाप्यलममी गच्छस्थिति व्याहृता
क ब्रूम कमिहाश्रयेमहि कमाराध्येम कि कुर्महे ॥ १४ ॥

(९) साधु इस प्रकार की क्रियाओ का स्वय आचरण करे तथा ऐसे विधि-विधानो का उपदेश एव प्रचार-प्रसार कर लोगो से उन क्रियाओ का पालन करवाए जो शनै शनै मोक्षमार्ग की ओर ले जाने वाली है। यदि इस प्रकार की क्रियाओ का, (विधि--विधानो का) आगमो मे उल्लेख नही है, तो आगमो की उपेक्षा करे। आगमो मे यदि उन क्रियाओ का निषेध है तो आगम-वचन का अनादर करके भी उन क्रियाओ को स्वय करता रहे तथा दूसरो से उन क्रियाओ का आचरण करवाता रहे। क्योकि भगवान् का सिद्धान्त अनेकान्त है। अमुक कार्य एकान्तत करना ही चाहिये और अमुक कार्य एकान्तत नही करना चाहिये, ऐसा कोई स्पष्ट निर्देश जैन सिद्धान्त मे नही है। अनेक अकरणीय कार्यो के करने और अनेक करने योग्य कार्यो के नही करने का उल्लेख भी आगमो मे अनेक स्थानो पर है। जिनेश्वर ने न तो किसी कार्य के करने की आज्ञा दी है और न किसी कार्य के करने का एकान्त निषेध ही किया है। अत इस काल के साधुओ को आगम मे नही आई हुई ऐसी बातो का आचरण एव उपदेश करना चाहिये जो सुखपूर्वक की जा सके और मोक्ष की ओर बढा सके।[1]

(१०) उपर्युक्त इन ९ नियमो का पालन न करने वाले अन्य सब साधुओ के प्रति चैत्यवासी साधुओ को अनादर एव विरोधपूर्ण द्वेषदृष्टि रखनी चाहिये। क्योकि चैत्यो मे न रह कर पर घर, वसति, उद्यान आदि मे रहने वाले साधु केवल अपने आपको ही धर्मनिष्ठ, गुणसम्पन्न मानते तथा अन्य सभी साधुओ को दोषी बताते हुए अद्ययुगीन सघ को न मानकर, उसकी सभी प्रकार की प्रवृत्तियो का दूर से ही त्याग करने वाले है। ये पर-घर अथवा वसति--वासी साधु लोग व्यवहार से नितान्त अनभिज्ञ है अत ये सघ से बाहर (बहिष्कृत) है। इन सब करणो से ये लोग मूलत नष्ट कर देने योग्य है--इस प्रकार का द्वेष इनके प्रति रखना ही समुचित और हितकर है।[2]

आकाश और पाताल का अन्तर

प्राणिमात्र के अनन्य परममित्र, विश्वबन्धु, अगाध करुणासिन्धु--सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकरो ने किसी भी काल, किसी भी समय मे कदापि नही बदलने वाला

---

[1] कि दिग्मोहमिता किमधबधिरा कि योगचूर्णीकृता,
कि देवोपहृता किमगठगिता कि वा ग्रहावेशिता।
कृत्वा मूर्ध्नि पद श्रुतस्य यदमी दृष्टोरु दोषा अपि,
व्यावृत्ति कुपथाज्जडा न दधते सूयति चैतत् कृते ॥ १७ ॥ —सघपट्टक

[2] सम्यग्मार्गंपुष प्रशान्तवपुष प्रीतोल्लमच्चक्षुष,
श्रामण्यर्द्धिमुपेयुष स्मयजुष कदर्पकक्षप्लुष।
सिद्धान्ताध्वनि तस्थुष शमजुष सत्पूज्यता जग्मुष,
मत्साधून् विदुष खला कृतदुष क्षम्यन्ति नोद्यद्दृष ॥ ३१ ॥ —सघपट्टक

धर्म एव श्रमणाचार का जो अपरिवर्तनीय शाश्वत सनातन स्वरूप जन-जन को बताया है, उसका शास्त्रो के आधार पर यथावत् भली-भाति दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

तीर्थेश्वर भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि के आधार पर उनके गणधरो द्वारा गुम्फित शास्त्रो मे धर्म का और श्रमणाचार का जो शाश्वत सनातन स्वरूप प्रतिपादित किया गया था, उस मूल स्वरूप मे चैत्यवासियो ने किस प्रकार और कैसा परिवर्तन किया, यह भी चैत्यवासी परम्परा द्वारा प्रचालित, और प्रसारित दश नियमो के उल्लेख के रूप मे विस्तार के साथ बता दिया गया है।

शास्त्रो मे प्रतिपादित, धर्म और श्रमणाचार के उपरिवर्णित स्वरूप के परिप्रेक्ष्य मे चैत्यवासियो द्वारा प्रचलित किये गये धर्म एव श्रमणाचार के स्वरूप को विहगम दृष्टि से देखने से विदित हो जाता है कि इन दोनो मे उसी प्रकार का अन्तर है, जिस प्रकार का कि आकाश और पाताल मे। ऐसा कह दे तो भी अतिशयोक्ति नही होगी। दोनो का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर तो पूर्णत स्पष्ट हो जाता है कि चैत्यवासियो द्वारा परिकल्पित यह धर्म और श्रमणाचार का स्वरूप वस्तुत जैनधर्म के मूल सिद्धान्तो से बिल्कुल प्रतिकूल और जैनतत्वाभास मात्र ही है। चैत्यवासियो द्वारा किये गये इन दश नियमो के प्रचार-प्रसार को वस्तुत सर्वज्ञप्रणीत आगमो के विरुद्ध एक सुनियोजित विद्रोह कहा जा सकता है अपनी कपोलकल्पनाओ पर आधारित इन दश नियमो से चैत्यवासियो ने सर्वज्ञ-प्रणीत धर्म और श्रमणाचार के मूल मे परिवर्तन कर धर्म और श्रमणाचार के मूल स्वरूप को ही विकृत कर दिया। इन नियमो मे से एक भी नियम ऐसा नही, जो शास्त्रसम्मत हो। ये सब के सब नियम शास्त्रो से पूर्णत विपरीत हैं। प्रत्येक नियम मे शास्त्रो के प्रति घोर अनादर, अवज्ञा और उपेक्षा कूट-कूट कर भरी हुई है। इन नियमो मे जैनधर्म के प्राणभूत महान् सिद्धान्त अहिंसा, आध्यात्मिकता और अपरिग्रह का तो बडी ही निर्दयतापूर्वक गला घोट दिया गया है। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग प्रभु की शाश्वत सत्य अवितथ वाणी से ग्रथित आगमग्रन्थो मे जो जैन धर्म का, श्रमण-श्रमणियो और श्रावक श्राविकाओ का अध्यात्म परक परम पुनीत निर्मल स्वरूप चित्रित किया गया है, उस पर इन अशास्त्रीय दश नियमो के दश बडे-बडे कुत्सित काले धब्बे लगाकर चैत्यवासियो ने धर्म और आचार के उस निर्मल स्वरूप को मलिन ही नही पूर्णत विकृत कर दिया। शास्त्रो मे वर्णित जैन धर्म के स्वरूप के सदर्भ मे चैत्यवासियो द्वारा अपनी कपोल कल्पना से रचित इन दश नियमो के तुलनात्मक विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि चैत्यवासियो ने रत्नत्रयी जटित धर्म रूपी स्वर्ण घट मे से अहिंसा आध्यात्मिकता और अपरिग्रह रूपी अमृत को धूलि मे उडेल कर उस स्वर्णघट मे घोर आरम्भ-समारम्भपूर्ण हिंसा और वाह्याडम्बर का हलाहल विष भर दिया है, जो आत्म-विनाशकारी होने के परिणामस्वरूप प्राणियो को अनन्त काल तक ससार मे भ्रमण कराने वाला भी है।

उत्तरकालीन धर्मसंघ मे विकृतियो के प्रादुर्भाव और विकास की पृष्ठभूमि

वीर नि० स० १००० से उत्तरवर्ती काल मे, भगवान् महावीर के अध्यात्म-परक धर्मसघ मे भौतिकतापरक जो द्रव्य परम्पराए जैन धर्मावलम्बियो के मानस पर, जनमानस पर उत्तरोत्तर छाती ही गई, उन द्रव्य परम्पराओ के प्रादुर्भाव के पीछे जैसा कि साधारणतया समझा अथवा कहा जाता है, एक मात्र शिथिलाचार अथवा मान-सम्मान, यश-कीर्ति प्राप्ति की आकाक्षा ही मूल कारण व प्रमुख कारण रहा है, ऐसा तो एकान्तत नही कहा जा सकता। क्योकि ऐतिहासिक घटनाचक्र के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर इनके अतिरिक्त और भी अनेक कारण प्रकाश मे आते है। वे है —

(१) धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु आचार्य सुहस्ती और मौर्य सम्राट् सम्प्रति का अनुसरण कर राजाओ, मन्त्रियो आदि से आचार्यो एव श्रमणो की सम्पर्क साधना।

(२) अपने धर्मसघ को जीवित रखने अथवा एक प्रभावकारी धर्मसघ बनाये रखने के उद्देश्य से चमत्कार प्रदर्शन द्वारा, जनमानस, धनिक वर्ग और प्रमुखत राजन्यवर्ग को अपनी ओर आकर्षित करना, अपना अनुयायी बनाना।

(३) दुष्कालो के भीषण परिणामो से अपने प्राणो की रक्षा के साथ-साथ भोजन की सुगम-सरल स्थायी एव स्वायत्तशासी व्यवस्था करना।

(४) अन्य धर्मो के बढते हुए प्रभाव से जैन धर्म की रक्षार्थ अन्य धर्मो के धार्मिक अनुष्ठानो को आत्मसात् कर उनका अनुसरण करना।

(५) अनुष्ठानो, आयोजनो आदि के माध्यम से अधिकाधिक लोगो को अपने धर्मसघ की ओर आकर्पित करने के लिये आडम्बरपूर्ण जनमन-रजनकारी नित नये धार्मिक अनुष्ठानो, आयोजनो, उत्सवो, महोत्सवो आदि का आविष्कार एव प्रचार-प्रसार।

(६) अन्य धर्मावलम्बियो के धार्मिक विद्वेष से अपने धर्मसघ और स्वधर्मी वन्धुओ की रक्षार्थ राज्याश्रय प्राप्ति हेतु धर्माचार्यो द्वारा अनुष्ठान, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, कल्प आदि का प्रयोग एव राजनीति तथा सत्ता के सचालन मे सक्रिय योगदान आदि-आदि।

धर्म एव श्रमणाचार का जो अपरिवर्तनीय शाश्वत सनातन स्वरूप जन-जन को बताया है, उसका शास्त्रो के आधार पर यथावत् भली-भाति दिग्दर्शन कराया जा चुका है।

तीर्थेश्वर भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि के आधार पर उनके गणधरो द्वारा गुम्फित शास्त्रो मे धर्म का और श्रमणाचार का जो शाश्वत सनातन स्वरूप प्रतिपादित किया गया था, उस मूल स्वरूप मे चैत्यवासियो ने किस प्रकार और कैसा परिवर्तन किया, यह भी चैत्यवासी परम्परा द्वारा प्रचालित, और प्रसारित दश नियमो के उल्लेख के रूप मे विस्तार के साथ बता दिया गया है।

शास्त्रो मे प्रतिपादित, धर्म और श्रमणाचार के उपरिवर्णित स्वरूप के परिप्रेक्ष्य मे चैत्यवासियो द्वारा प्रचलित किये गये धर्म एव श्रमणाचार के स्वरूप को विहगम दृष्टि से देखने से विदित हो जाता है कि इन दोनो मे उसी प्रकार का अन्तर है, जिस प्रकार का कि आकाश और पाताल मे। ऐसा कह दे तो भी अतिशयोक्ति नही होगी। दोनो का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर तो पूर्णत स्पष्ट हो जाता है कि चैत्यवासियो द्वारा परिकल्पित यह धर्म और श्रमणाचार का स्वरूप वस्तुत जैनधर्म के मूल सिद्धान्तो से बिल्कुल प्रतिकूल और जैनतत्वाभास मात्र ही है। चैत्यवासियो द्वारा किये गये इन दश नियमो के प्रचार-प्रसार को वस्तुत सर्वज्ञप्रणीत आगमो के विरुद्ध एक सुनियोजित विद्रोह कहा जा सकता है अपनी कपोलकल्पनाओ पर आधारित इन दश नियमो से चैत्यवासियो ने सर्वज्ञ-प्रणीत धर्म और श्रमणाचार के मूल मे परिवर्तन कर धर्म और श्रमणाचार के मूल स्वरूप को ही विकृत कर दिया। इन नियमो मे से एक भी नियम ऐसा नही, जो शास्त्रसम्मत हो। ये सब के सब नियम शास्त्रो से पूर्णत विपरीत हैं। प्रत्येक नियम मे शास्त्रो के प्रति घोर अनादर, अवज्ञा और उपेक्षा कूट-कूट कर भरी हुई है। इन नियमो मे जैनधर्म के प्राणभूत महान् सिद्धान्त अहिसा, आध्यात्मिकता और अपरिग्रह का तो बडी ही निर्दयतापूर्वक गला घोट दिया गया है। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग प्रभु की शाश्वत सत्य अवितथ वाणी से ग्रथित आगमग्रन्थो मे जो जैन धर्म का, श्रमण-श्रमणियो और श्रावक श्राविकाओ का अध्यात्म परक परम पुनीत निर्मल स्वरूप चित्रित किया गया है, उस पर इन अशास्त्रीय दश नियमो के दश बडे-बडे कुत्सित काले धब्बे लगाकर चैत्यवासियो ने धर्म और आचार के उस निर्मल स्वरूप को मलिन ही नही पूर्णत. विकृत कर दिया। शास्त्रो मे वर्णित जैन धर्म के स्वरूप के सदर्भ मे चैत्यवासियो द्वारा अपनी कपोल कल्पना से रचित इन दश नियमो के तुलनात्मक विश्लेषण से ऐसा प्रतीत होता है कि चैत्यवासियो ने रत्नत्रयी जटित धर्म रूपी स्वर्ण घट मे से अहिसा आध्यात्मिकता और अपरिग्रह रूपी अमृत को धूलि मे उडेल कर उस स्वर्णघट मे घोर आरम्भ-समारम्भपूर्ण हिंसा और बाह्याडम्बर का हलाहल विष भर दिया है, जो आत्म-विनाशकारी होने के परिणामस्वरूप प्राणियो को अनन्त काल तक ससार मे भ्रमण कराने वाला भी है।

उत्तरकालीन धर्मसंघ मे विकृतियो के प्रादुर्भाव और विकास की पृ भूमि

वीर नि० स० १००० से उत्तरवर्ती काल मे, भगवान् महावीर के अध्यात्म-परक धर्मसघ मे भौतिकतापरक जो द्रव्य परम्पराए जैन धर्मावलम्बियो के मानस पर, जनमानस पर उत्तरोत्तर छाती ही गई, उन द्रव्य परम्पराओ के प्रादुर्भाव के पीछे जैसा कि साधारणतया समझा अथवा कहा जाता है, एक मात्र शिथिलाचार अथवा मान-सम्मान, यश-कीर्ति प्राप्ति की आकाक्षा ही मूल कारण व प्रमुख कारण रहा है, ऐसा तो एकान्तत नही कहा जा सकता। क्योकि ऐतिहासिक घटनाचक्र के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर इनके अतिरिक्त और भी अनेक कारण प्रकाश मे आते है। वे है —

(१) धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु आचार्य सुहस्ती और मौर्य सम्राट् सम्प्रति का अनुसरण कर राजाओ, मन्त्रियो आदि से आचार्यो एव श्रमणो की सम्पर्क साधना।

(२) अपने धर्मसघ को जीवित रखने अथवा एक प्रभावकारी धर्मसघ बनाये रखने के उद्देश्य से चमत्कार प्रदर्शन द्वारा, जनमानस, धनिक वर्ग और प्रमुखत राजन्यवर्ग को अपनी ओर आकर्षित करना, अपना अनुयायी बनाना।

(३) दुष्कालो के भीषण परिणामो से अपने प्राणो की रक्षा के साथ-साथ भोजन की सुगम-सरल स्थायी एव स्वायत्तशासी व्यवस्था करना।

(४) अन्य धर्मो के बढते हुए प्रभाव से जैन धर्म की रक्षार्थ अन्य धर्मो के धार्मिक अनुष्ठानो को आत्मसात् कर उनका अनुसरण करना।

(५) अनुष्ठानो, आयोजनो आदि के माध्यम से अधिकाधिक लोगो को अपने धर्मसघ की ओर आकर्षित करने के लिये आडम्बरपूर्ण जनमन-रजनकारी नित नये धार्मिक अनुष्ठानो, आयोजनो, उत्सवो, महोत्सवो आदि का आविष्कार एव प्रचार-प्रसार।

(६) अन्य धर्मावलम्बियो के धार्मिक विद्वेष से अपने धर्मसघ और स्वधर्मी बन्धुओ की रक्षार्थ राज्याश्रय प्राप्ति हेतु धर्माचार्यो द्वारा अनुष्ठान, यन्त्र, मन्त्र, तन्त्र, कल्प आदि का प्रयोग एव राजनीति तथा सत्ता के सचालन मे सक्रिय योगदान आदि-आदि।

ऐतिहासिक घटनाचक्र के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर प्राय सभी द्रव्य परम्पराओ के उद्भव और उत्कर्ष की पृष्ठभूमि मे उपरि वर्णित छह कारणो मे से कोई न कोई कारण अवश्य रहा है, इस बात की सुस्पष्ट रूप से पुष्टि होती है।

जब तक बडे-बडे सम्राट्, राजा-महाराजा जैन धर्म के अनुयायी रहे तब तक जैनधर्म खूब फला-फूला, यह एक सयोग की बात होने के साथ-साथ एक ऐतिहासिक तथ्य भी है।

अन्तिम मौर्य सम्राट् वृहद्रथ को मार कर पाटलीपुत्र के सिहासन पर बैठे पुष्यमित्र शुग ने जिस समय बौद्धो के साथ-साथ जैनो पर भी अत्याचार करने प्रारम्भ किये तो उस समय कलिग चक्रवर्ती महामेघवाहन भिक्खुराय खारवेल ने पाटलीपुत्र पर आक्रमण कर जैनधर्मानुयायियो की रक्षा की। जैन धर्मावलम्बी चोल, चेर, पाण्ड्य आदि दक्षिण के राजवशो के शैव हो जाने और उनके द्वारा जैन साधुओ के सामूहिक सहार और बलात् करवाये गये जैनो के सामूहिक धर्म-परिवर्तन से जब जैनधर्म का दक्षिण मे अस्तित्व तक सकट मे पड गया तो कलभ्रो ने चोल, चेर और पाण्ड्य इन तीनो सशक्त दक्षिणी राजसत्ताओ को परास्त कर जैन धर्मावलम्बियो की और जैन धर्मसघ की रक्षा की।[1]

जैनधर्म के प्रभाव को बढाने के लिए आर्य वज्र, आर्य समित, ब्रह्मदीपकसिह आदि आचार्यो ने समय-समय पर अपने विद्याबल से राजाओ, राजसत्ताओ एव प्रजाजनो को प्रभावित कर जनमानस पर जैनधर्म का वर्चस्व स्थापित किया। प्राचीन काल मे सिद्धसेन दिवाकर ने राजसत्ता को प्रभावित कर जैन धर्म के वर्चस्व मे उल्लेखनीय अभिवृद्धि की।

इन सब ऐतिहासिक तथ्यो को दृष्टिगत रखते हुए वीर निर्वाण की प्रथम सहस्राब्दी से उत्तरवर्ती जैन आचार्यो ने भी अपने विद्याबल से राजाओ को प्रभावित कर उनमे से कतिपय को जैनधर्मावलम्बी, कतिपय को जैनधर्म का सरक्षक और कतिपय को जैनधर्म के प्रति उदारतापूर्ण सौहार्द्र रखने वाला बनाया। केवल इतना ही नही अपितु सक्रान्तिकाल मे जैनधर्म की रक्षा के लिए दूरदर्शी जैनाचार्यो ने जैनधर्म के पक्षधर राजवश की अनिवार्य आवश्यकता को अनुभव करते हुए होय्सल् (पोय्सल्) राजवश, गगराजवश आदि जैन धर्मावलम्बी राजवशो की स्थापना तक की।[2] उस सक्रान्तिकाल मे उन आचार्यो का एकमात्र लक्ष्य यही था कि जैनराजवशो की स्थापना के साथ-साथ उन्हे सभी दृष्टियो से शक्तिशाली राजसत्ता के रूप मे प्रकट कर के अथवा जैनेतर राजसत्ताओ को जैनधर्म सघ का सरक्षक बनाकर जैनो एव जैनसघ की चहुमुखी श्रीवृद्धि की जाय। अपने इस लक्ष्य की पूर्ति के

---

[1] स्टडीज इन साउथ इन्डियन जैनिज्म, बाइ एम एस रामास्वामी आयगर, चैप्टर III

[2] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के "होय्सल राजवश" एव "गगराजवश" नामक अध्याय।

लिये उन आचार्यों ने समय की पुकार को ध्यान मे रखते हुए अपने उच्च श्रमणादर्शों का बलिदान तक किया। सघ तथा जैन धर्म को जीवित रखने के लिए उन आचार्यों ने अनेक प्रसगो पर ऐसे कार्य भी किये जो जैन श्रमण मात्र के लिए परम्परा से ही पूर्णत त्याज्य माने गये है।

समष्टि के हित के लिए, धर्म पर अथवा धर्मसघ पर आये सकटो की घडियो मे श्रमणो के लिए अपवाद मार्ग के अनेक उदाहरण जैन वाग्मय मे उपलब्ध होते है, जिनसे यह सिद्ध होता है कि धर्मसघ पर आये अन्यायपूर्ण सकटो के क्षणो मे श्रमणश्रेष्ठो ने समय-समय पर धर्मसघ की घोर सकट से रक्षा के लिये अपवाद रूप मे श्रमणाचार मे निषिद्ध आचरण किया। किन्तु सकट के टल जाने पर उन महाश्रमणो ने अपने उस श्रमणधर्म से विपरीत अपवादस्वरूप सदोष आचरण के लिए प्रायश्चित कर उस दोष अथवा दुष्कृत का शोधन किया। अति पुरातन काल मे लब्धिधारी मुनि विष्णुकुमार ने लब्धि का चमत्कार प्रकट कर श्रमणसघ की रक्षा की। महासती सरस्वती पर आये घोर सकट से उनकी रक्षा के लिए आर्य कालक (वीर नि० स० ३३५ से ३७६) ने शक्तिशाली इतर राज्यसत्ता की सहायता से अत्याचारी गर्दभिल्ल को राज्यच्युत किया। अपने उस अपवाद स्वरूप दोषपूर्ण आचरण के लिए उन्होने प्रायश्चित ग्रहण कर आत्मशुद्धि की। किन्तु वीर निर्वाण की प्रथम सहस्राब्दी के अनन्तर इससे नितान्त भिन्न स्थिति रही।

वीर निर्वाण की प्रथम सहस्राब्दी से उत्तरवर्ती आचार्यों ने धर्मसघ पर सकट के बादल मण्डराने पर समय-समय पर अपवाद मार्ग का अवलम्बन किया किन्तु अपने इस आचरण के लिए प्रायश्चित लेने के स्थान पर उन आचार्यों ने उस अपवाद मार्ग को अपनी श्रमण परम्परा और अपने श्रमण जीवन का आवश्यक स्थायी अग बनाकर तदनुकूल आचरण को श्रमण जीवन के लिए कल्पनीय ही मान लिया। इसका दुर्भाग्यपूर्ण परिणाम यह हुआ कि अपवाद मार्ग पग-पग पर अधिकाश श्रमण परम्पराओ के श्रमण जीवन का एक प्रकार से अनिवार्य अग बन गया और शनै शनै टीकाओ, चूर्णियो, भाष्यो आदि मे स्थान पाते-पाते इस प्रकार का अपवाद मार्ग किसी विरले ही श्रमण सघ को छोड शेप सभी श्रमण सघो एव श्रमणो के जीवन पर ऐसा छा गया कि वह उनकी दैनिक श्रमणचर्या का सर्वाधिक महत्वपूर्ण आवश्यक कर्त्तव्य वन गया। इस प्रकार देवर्द्धि क्षमाश्रमण के पश्चात् गौण बनी विशुद्ध श्रमण परम्परा को छोड शेप सभी श्रमण परम्पराओ मे अपवाद मार्ग ने उत्सर्ग मार्ग का स्थान ग्रहण कर लिया और इस जैनधर्म के मूल स्वरूप के साथ-साथ मूल विशुद्ध श्रमणाचार भी शास्त्रीय विधानो से नितान्त भिन्न स्वरूप मे प्राय सर्वत्र प्रचलित हो गया। तीर्थंकरो ने जैनधर्म मे उत्सर्ग और अपवाद दोनो प्रकार के मार्गो को स्थान दिया है। किन्तु अपवाद मार्ग को विशिष्ट प्रकार की अपरिहार्य परिस्थितियो मे ही अपनाने की छूट दी है। उत्सर्ग मार्ग एक पुनीत

कर्त्तव्य है तो अपवाद मार्ग मजबूरी अथवा परवश अवस्था मे किया गया एक ऐसा कार्य जो कर्त्तव्य की परिधि से कोसो दूर है।

पूर्वधरकाल की समाप्ति के अनन्तर अर्थात् देवर्द्धि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल के आचार्यो द्वारा निर्मित टीकाओ, चूर्णियो, भाष्यो आदि जैन वाग्मय मे अपवाद मार्ग का बाहुल्य है। इस प्रकार के वाग्मय मे विहित अपवाद मार्ग न तो ग्राह्य ही है और न मान्य ही। क्योकि जिस प्रकार चतुर्दश पूर्वधर अथवा दश पूर्वधर द्वारा रचित आगम ही मान्य एव प्रमाणित होता है, उसी प्रकार अपवाद मार्ग भी वे ही मान्य हो सकते है जो चतुर्दश पूर्वधर अथवा दश पूर्वधर द्वारा किये गये हो। आगमो मे उत्सर्ग मार्ग के सम्बन्ध मे एक स्पष्ट उल्लेख है —

जत्थित्थि कर फरिस, अतरिय कारणे वि उप्पन्ने।
अरहा वि करेज्ज सय, त गच्छ मूलगुण मुक्क ॥

अर्थात्—यदि स्वय कोई तीर्थंकर किसी विशिष्ट कारण के उपस्थित होने पर भी स्त्री का स्पर्श करे तो वह गच्छ (श्रमणसघ) मूल गुण से रहित है।

इस उत्सर्ग मार्ग मे कमल प्रभाचार्य (चैत्यवासियो द्वारा दिया गया अपर नाम सावद्याचार्य) को —

"एगते मिच्छत्थ, जिणाण आणा अणेगता।"

इस गाथार्द्ध के माध्यम से अपवाद मार्ग का आरोपण करने के परिणाम-स्वरूप किस प्रकार असख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी काल तक नरक तिर्यंच आदि योनियो मे भटकते हुए दारुण दु ख भोगने पडे,[1] इस ओर यदि वीर निर्वाण की प्रथम सहस्राब्दी से उत्तरवर्त्ती आचार्यो ने ध्यान दिया होता तो सभवत वे अपनी-अपनी सुविधानुसार अपनी-अपनी द्रव्य परम्पराओ की शास्त्रीय मान्यताओ से नितान्त भिन्न स्वकल्पित मान्यताओ के अनुसार अपवाद मार्ग का विधान नही करते। वस्तुस्थिति यह है कि देवर्द्धिगणि के स्वर्गारोहण के अनन्तर भस्मग्रह के प्रभाव अथवा हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव से अथवा परीषहभीरुतावशात् अथवा पूजा—मान—प्रतिष्ठा—यशकीर्ति की कामना अथवा जैनधर्म के ह्रास को रोकने तथा जैन धर्म के प्रचार-प्रसार—उत्कर्ष की कामना से अपवाद मार्ग का अवलम्बन ले जैन धर्म सघ मे अनेक प्रकार की द्रव्य परम्पराओ का प्रादुर्भाव हुआ। उन द्रव्य परम्पराओ के आचार्यो एव श्रमण-श्रमणियो ने महानदियो के जलप्रवाह की भाति अपवादो का प्रवाह प्रवाहित कर श्रमणाचार के मूल स्वरूप मे यथेप्सित

---

[1] महानिशीथ, अप्रकाशित—सावद्याचार्य का आख्यान।
(प्रति—आचार्यश्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार, लालभवन, जयपुर मे उपलब्ध)

परिवर्तन के साथ-साथ जैन धर्म के आत्मा तुल्य मूलभूत आध्यात्मिक स्वरूप मे भी आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया। चैत्यवास, मठवास, मन्दिरवास एव अध्यात्म-परक भावअर्चना के विपरीत द्रव्य अर्चना के सभी उपकरण, सभी साधन, समस्त विधि-विधान वस्तुत उत्सर्ग मार्ग पर छा जाने वाले अपवाद मार्ग की ही उपज है।

इस प्रकार अपवाद मार्ग के आधार पर अवलम्बित इन चैत्यवासी आदि परम्पराओ का बीजारोपण वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी के उप काल मे ही हो चुका था किन्तु देवर्द्धिक्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के पूर्व वे न तो लोक-प्रिय ही हो सकी और न प्रसिद्धि को ही प्राप्त कर सकी। भगवान् महावीर के धर्मसघ की अध्यात्ममूलक भावपरम्परा के वर्चस्व के समक्ष पूर्वधर काल मे ये द्रव्य परम्पराए नगण्य रूप मे गौण ही बनी रही। पूर्वज्ञान के धनी आचार्यो के त्याग, तप, तेज और ज्ञान के प्रकाश के समक्ष ये द्रव्य परम्पराए मात्र ज्योति रिगण—खद्योत अथवा उड् गण तुल्य कही कही सीमित क्षेत्रो मे ही येन केन प्रकारेण अपना अस्तित्व बनाये रही किन्तु देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के दिवगत होने के अनन्तर पूर्वज्ञान के धनी आचार्य के अभाव मे चैत्यवासी परम्परा जैसी द्रव्य परम्पराओ का प्रभाव बढने लगा। लोगो पर बढते हुए अपने प्रभाव से प्रोत्साहित होकर इन द्रव्य परम्पराओ के आचार्यो ने यह अनुभव किया कि उत्तरोत्तर निरन्तर द्रुत से द्रुततर गति से परिवर्त्तित होती हुई शारीरिक, मानसिक, आर्थिक सामाजिक, बौद्धिक एव राजनैतिक परिस्थितियो के वातावरण मे जन मानस को परोक्ष आध्यात्मिक उपलब्धियो की अपेक्षा तत्काल जन मन रजन कारी आयोजनो, ऐहिकसुखोपभोग प्रदायी चमत्कारो से यथेप्सित रूप से मोड दिया जा सकता है। अपने इस अनुभव के आधार पर अपने समय मे बदलते हुए बौद्धिक एव धार्मिक धरातल मे लोक प्रवाह को अपने धर्म सघ की ओर आकर्षित करने के लिए उन द्रव्य परम्पराओ के आचार्यो ने लोक रजन हेतु आडम्बरपूर्ण धार्मिक आयोजनो अनुष्ठानो, उत्सवो आदि का और तत्काल लौकिक लाभ पहुचाने हेतु यन्त्र मन्त्र तन्त्र जप जाप अनुष्ठान आदि के माध्यम से जन मानस पर एकाधिपत्य एकाधिकार स्थापित करने का प्रबल वेग से प्रयास प्रारम्भ कर दिया। उन्हे अपने इस प्रयास मे आशातीत सफलता प्राप्त हुई। आडम्बरपूर्ण धार्मिक अनुष्ठान—आयोजनो और चमत्कारो के बल पर उन द्रव्य परम्पराओ के आचार्यो ने न केवल जनमानस को अपितु राजन्यवर्ग को भी अपनी ओर आकर्षित करने मे अपने श्रमण आदर्शो को भुला परम्परा से प्रवाहित होते आ रहे अपने धर्मसघ के मूल स्वरूप मे ही उसके विधि-विधान मे ही पूर्णत परिवर्तन कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि तीर्थ प्रवर्तन काल से चली आ रही जैन धर्म की विशुद्ध श्रमण परम्परा का वर्चस्व समाप्त हो गया और वह क्षीण से क्षीणतर होते होते नितान्त एक नगण्य गौण परम्परा के रूप मे ही कही-कही अवशिष्ट रह गई। चारो ओर इन द्रव्य परम्पराओ का वर्चस्व हो गया। इन

द्रव्य परम्पराओ के आचार्यो ने राजसत्ता के सहारे अनेक क्षेत्रो मे विशुद्ध परम्परा के श्रमण श्रमणियो का प्रवेश तक निषिद्ध करवा दिया। विशुद्ध श्रमण परम्परा का नाम तक लोग भूल गये। इन द्रव्य परम्पराओ द्वारा लोक प्रसिद्ध किया गया धर्म सघ ही विशुद्ध धर्मसघ के रूप मे जाना माना जाने लगा और द्रव्य परम्परा के प्रवर्त्तक इन द्रव्य साधुओ का स्वरूप ही लोक मे विशुद्ध श्रमण परम्परा के श्रमणो के रूप मे रूढ हो गया।

इतना सब कुछ होते हुए भी विशुद्ध श्रमण परम्परा का स्रोत एक क्षीणतोया नदी के रूप मे प्रवाहित होता ही रहा। कभी अवरुद्ध नही हुआ। इसके साथ ही साथ इन द्रव्य परम्पराओ के अन्दर से भी समय समय पर अनेक आत्मार्थी श्रमणो ने शिथिलाचार के विरुद्ध विद्रोह कर क्रियोद्धार करने के अनेक बार अनेक रूपो मे प्रयास किये। उनके इन प्रयासो पर यथाक्रम यथावसर प्रकाश डाला जायेगा।

इन द्रव्य परम्पराओ के चरमोत्कर्ष काल मे अनेक आचार्यो द्वारा भगवान् महावीर के धर्म सघ के मूल आध्यात्मिक स्वरूप और इन द्रव्य परम्पराओ द्वारा लोक मे रूढ कर दिये गये विकृत श्रमण स्वरूप के बीच सामजस्य स्थापित करने का भी प्रयास किया गया, इसकी साक्षी महानिशीथ सूत्र देता है। द्रव्य परम्परा और भाव परम्परा के सगम का जो उल्लेख महानिशीथ मे उपलब्ध होता है उस पर आगे यथा स्थान विशद् रूपेण प्रकाश डालने का प्रयास किया जावेगा।

कतिपय प्राचीन उल्लेखो से यह अनुमान भी किया जाता है कि वीर निर्वाण सम्वत् १००० से वीर निर्वाण सम्वत् १७०० की अवधि के बीच क्षीण सलिला सरिता के रूप मे अवशिष्ट रही भाव श्रमण परम्परा कभी कभी उत्ताल तरगो सी तरगित भी हुई किन्तु उन द्रव्य परम्पराओ के प्रबल वर्चस्व के परिणाम स्वरूप उसका उभरा हुआ वेग पुन शान्त हो गया।

इस प्रकार वीर निर्वाण सम्वत् १००० से १७०० तक के जैन धर्म के इतिहास पर ये द्रव्य परम्पराए ही छाई रही। अत॰ इन परम्पराओ का इतिहास यथाशक्य यथोपलब्ध रूप मे दिये बिना जैन धर्म का इतिहास अपूर्ण ही रहेगा। इस दृष्टि से विशुद्ध श्रमण परम्परा का क्रमिक इतिहास प्रारम्भ करने से पूर्व इन द्रव्य परम्पराओ के उद्भव और उत्कर्ष का इतिहास यथाशक्य यथोपलब्ध रूप मे दिया जा रहा है।

चैत्यवासी परम्परा का उद्भव, उत्कर्ष और एकाधिपत्य

जैसा कि पहले वताया जा चुका है—"दुरणुचरो मग्गो वीराण अनियट्ट-गामीण" - आचाराग सूत्र के इस वचन और "अणुपुव्वेण महाघोर कासवेण

पवेइय"—सूत्रकृताग के इस सूत्र के अनुसार श्रमणधर्म का जीवनपर्यन्त शास्त्राज्ञानुसार विशुद्ध रूप से पालन करना, तलवार की तीखी धार पर नगे पाव अथवा जाज्वल्यमान अगारो पर चलने के समान अति दुष्कर एव परम दुस्साध्य है। (यह वस्तुत अनुपम साहसी सिह तुल्य पराक्रम वाले नरसिहो का ही काम है, न कि कापुरुषो का।)

जिस अलौकिक धैर्य, शौर्य और साहस के साथ श्रमण भगवान् महावीर ने अपने साधनाकाल मे मुमुक्षुओ के लिए प्रतीकात्मक विशुद्ध एव परम दुस्साध्य श्रमणाचार का पालन किया, उसे आगम मे अनुपमेय कहा है। कैवल्य की प्राप्ति के अनन्तर उन प्रभु महावीर द्वारा स्थापित चतुर्विध तीर्थ के प्रमुख अग श्रमण-श्रमणी वर्ग ने भी अद्भुत् साहस के साथ प्रभु के पदचिन्हो पर चलते हुए विशुद्ध श्रमणाचार का पालन किया। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् भी उनका धर्मसघ शताब्दियो तक सतत् जागरूक रहकर शास्त्राज्ञानुसार विशुद्ध श्रमणाचार का ही पालन करता रहा।

ज्यो-ज्यो समय बीतता गया और अपकर्षोन्मुख अवसर्पिणी काल के प्रभाव से शारीरिक सहनन, सस्थान, शक्ति, साहस, शौर्य, सहिष्णुता, क्षमा, मार्दव, आर्जव, बुद्धिबल, अनासक्ति, आस्तिक्य और अनहकार आदि उत्कृष्ट मानवीय गुणो का अनुक्रम से उत्तरोत्तर ह्रास होता गया, त्यो-त्यो धीरे-धीरे इस परम पुनीत श्रमण परम्परा मे भी काल प्रभाव से विकारो का प्रवेश प्रारम्भ हो गया।

यो तो प्रत्येक अवसर्पिणीकाल अपकर्षोन्मुख—ह्रासोन्मुख होता है। उसमे सभी पुद्गलो के वर्ण, गन्ध, रूप, रस, स्पर्श मे, बल, वीर्य, पौरुष, पराक्रम मे, शारीरिक सहनन, सस्थान आदि आदि गुणो मे और सक्षप मे कहा जाय तो जितनी भी अच्छाइया है, उनमे अनुक्रमश अनन्तगुना ह्रास होता जाता है। परन्तु प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल वस्तुत हुण्डावसर्पिणी काल है। हुण्डावसर्पिणी काल का अर्थ है भोडे से भोडा, भद्दे से भद्दा निकृष्ट अवसर्पिणी काल। ऐसा हुण्डावसर्पिणी काल अर्थात् निकृष्ट ह्रासोन्मुख काल अनन्त अवसर्पिणियो के बीत जाने के पश्चात् आता है। वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी के प्रारम्भ मे अवसर्पिणी और हुण्डावसर्पिणी काल के प्रभाव के साथ-साथ असयती-पूजा नाम के आश्चर्य ने भी अपना प्रभाव प्रकट करना प्रारम्भ किया। इन तीनो अशुभ योगो के साथ ही साथ भगवान् महावीर के निर्वाण के समय जो २००० वर्ष तक अपना प्रभाव प्रकट करने वाला भस्मग्रह लगा था, उसका भी प्रभाव बढने लगा।

इस प्रकार अवसर्पिणीकाल, हुण्डावसर्पिणीकाल, असयती-पूजा नामक आश्चर्य और भस्मग्रह—इन चार घोर अमगलकारी योगो के प्रभाव के परिणाम-स्वरूप सतत् प्रवाहमान जैन परम्परा को ऐसे दुर्दिन देखने पडे जैसे अनन्त अतीत काल की साधारण अवसर्पिणियो मे कभी नही देखने पडे थे।

इन घोर अमगलकारी योगो के कारण बुरी तरह बदली हुई सामाजिक एव प्राकृतिक परिस्थितियो मे अभाव आदि अनेक कठिनाइयो के कारण जिन श्रमणो ने शिथिलाचार की शरण ली, उन्हे उस समय के लोगो द्वारा तत्काल लोकनिन्दा का भाजन होना पडा। यह स्वाभाविक भी था क्योकि जैन आगमो मे विशुद्ध श्रमणाचार का विशद् एव यथावत् रूप विद्यमान था एव उस पर चलने वाला श्रमण श्रमणी समूह भी उस समय तक बहुत बडी सख्या मे विद्यमान था। शिथिलाचार की ओर झुके परीषह भीरु श्रमणो ने लोकदृष्टि मे गिरती हुई अपनी प्रतिष्ठा को बचाने एव अपने मिथ्या अह की पुष्टि के लिये अनेक नये-नये मार्ग खोजने प्रारम्भ किये। अन्य सप्रदायो के बढते आडम्बरो और आकर्षणो के बीच श्रमणाचार की शास्त्र कथित परम्परा का साधारण साधको के लिए पालन करना अति कठिन ही नही बल्कि असम्भव समझकर तत्कालीन आचार्यो ने समयानुसार सुविधाजनक मार्ग निकालने का विचार कर चैत्यवास और भक्तिभाव की छाया मे नया मार्ग ढू ढ निकाला। उन्होने भोले-भाले अन्ध-श्रद्धालु लोगो को जादू, टोना, यन्त्र, मन्त्र आदि थोथे चमत्कारो एव भौतिक प्रलोभनो मे फसा कर उन्हे अपने भक्त बनाना प्रारम्भ किया। वे कहने लगे कि कलिकाल की वदली हुई परिस्थितियो मे आगमविहित श्रमणाचार का पालन नितान्त असम्भव है। केवल कठोर तपश्चरण, परीषहसहन, परिग्रह परित्याग, भिक्षाटन, अप्रतिहत विहार आदि ही मोक्ष के साधन हो, ऐसी बात नही है। इन अति दुष्कर कार्यो के अतिरिक्त चैत्य-निर्माण, चैत्यवन्दन पूजन, अर्चन, तीर्थयात्रा, प्रतिष्ठा महोत्सव, प्रभावना वितरण आदि-आदि अनेक जनमनरजनकारी सरल, सुकर कार्यो से भी, मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। जब लोगो ने पहली बार यह सुना तो धीरे-धीरे लोग शिथिलाचारी श्रमणो की ओर आकर्षित होने लगे। वस्तुत कष्टभीरुता और स्खलना सदा से ही मानवस्वभाव की बहुत बडी दुर्बलता रही है। केवल परम विरक्त, प्रबुद्ध एव सच्चे मुमुक्षु ही पग-पग पर कष्टो से भरे कण्टकाकीर्ण मुक्तिपथ के लक्ष्यवेधी—पारगामी पथिक बन सकते है। अवोध जनसाधारण तो कष्टपूर्ण पथ से सदा कतराता और आडम्बरपूर्ण सहज सुगम मार्ग का ही अनुगमन करता आया है।

शिथिलाचार की ओर उन्मुख हुए उन श्रमणो ने इस प्रकार अपनी गिरती हुई प्रतिष्ठा को कुछ सीमा तक बचाये रखने मे सफलता प्राप्त की। उन्होने धर्म के नाम पर अनेक ऐसे आडम्बरपूर्ण एव आकर्षक नित-नये विधि-विधानो का प्रचलन किया, जिनका आगमो मे कही कोई विधान तो दूर, उल्लेख तक नही है। सर्वप्रथम किसी स्थान विशेष पर तीर्थंकरो की निषद्याओ अथवा तीर्थंकरो के निर्वाणानन्तर उनके पार्थिव शरीर के अन्तिम सस्कार-स्थलो पर निर्मित स्तूपो

(थूभो) पर पाषाणमूर्तियो की एव आयाग-पट्टो की स्थापना की गई ।[1] तदनन्तर मन्दिरो का निर्माण प्रतिष्ठा-महोत्सव, तीर्थयात्राओ आदि बहुजनाकर्षक लोकरजनकारी आयोजनो का प्रचलन किया गया। ऐसे आयोजनो के अवसरो पर प्रभावनाओ का वितरण भी अन्य तीर्थिको की देखादेखी प्रारम्भ किया गया।

इन आयोजनो, उत्सवो और प्रभावनाओ के माध्यम से लोगो को अपनी ओर आकर्षित करने मे पर्याप्त सफलता मिली।

इससे उत्साहित हो उन वेषधारी श्रमणो ने भगवान् महावीर के परम्परागत मूल धर्म सघ से भिन्न अपना एक पृथक् 'धर्मसघ' बनाने का निश्चय किया।

वीर नि० स० ८५० मे चैत्यवासी सघ की स्थापना की गई। चैत्यवासी सघ का श्रमण-श्रमणी वर्ग चैत्यवासी नाम से पहचाना जाने लगा। चैत्यवासी साधुओ ने अप्रतिहत विहार का परित्याग कर चैत्यो मे ही नियत निवास प्रारम्भ कर दिया। उन चैत्यवासी साधुओ ने अपने भक्तजनो से द्रव्य लेकर अपने-अपने मन्दिर बनवाये। उन मन्दिरो मे ही भगवान् को भोग लगाने के नाम पर बडी-बडी पाकशालाए बनवा कर उन पाकशालाओ से आधाकर्मी आहार लेना प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार धीरे-धीरे वीर नि० स० ८५० मे खुले रूप मे नियमित रूप से चैत्यो मे रहना और आधाकर्मी आहार लेना प्रारम्भ हो गया।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, वीर नि० स० १००० तक पूर्वधर महान् आचार्यो की विद्यमानता मे तो श्रमणाचार की परिपालना मे शिथिल बने उन श्रमणो द्वारा सस्थापित नवीन मान्यताओ वाला चैत्यवासी सघ, अनुयायियो की सख्या, प्रचार-प्रसार एव क्षमता की दृष्टि से भगवान् महावीर के अध्यात्मपरायण मूल धर्मसघ की तुलना मे गौण ही बना रहा। वह मूल धर्मसघ के पूर्वधर आचार्यों के वर्चस्व के कारण देशव्यापी प्रचार-प्रसार नही पा सका। किन्तु अन्तिम पूर्वधर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गवास के अनन्तर इस नवीन मान्यता वाले चैत्यवासी धर्मसघ की शक्ति बडे प्रबल वेग से बढने लगी। अन्य तीर्थिको की देखादेखी और उनके प्रचार-प्रसार को देखकर उन्होने भी मूर्तियो की प्रतिष्ठापना मन्दिरो के निर्माण, मन्दिरो मे वाद्यवृन्दो के साथ सगीत, भजन एव कीर्तन, उद्यापन, रथयात्रा, सघयात्रा और पचकल्याणक महोत्सव आदि आयोजन प्रारम्भ किये। मन्दिरो मे विविध वाद्ययन्त्रो की तान और ताल के साथ सधे

---

[1] मथुरा के ककाली टीले से निकला कनिष्क स० ७९ (वीर नि० स० ६८४) का प्राकृत लेख स ५९ —म १ स ७० ९—वर्ष ४ दि २० एतस्या पूर्व्वांया कोट्टियेगणें वइराया शासाया २ को अय वृघहस्ति अरहतो णन्दि (आ) वर्तस प्रतिम निवर्तयति ब भार्य्यंये श्राविकाये (दिनाये) दान प्रतिमा वोद्धे थुपे देवनिर्मिते प्र

—जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, पृ ४२—४३ माणि दि ग्रन्थ समिति

हुए कण्ठो से तरगित हुई सुमधुर स्वर लहरियो मे विमुग्ध हुए लोग उत्तरोत्तर बडी सख्या मे इन मन्दिरो मे जाने लगे । शनै शनै वाद्य यन्त्रो की समधुर धुन के साथ गाये जाने वाले भजनो और कीर्तनो के माध्यम से मन्दिरो मे भक्तिरस की सरिताए प्रवाहित होने लगी । गायक भी और श्रोता भी क्षण भर के लिए लौकिक जजालो को भूल कर भक्ति के रस मे डूबने-झूमने लगे । यही सबसे बडा, सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और सबसे प्रबल कारण था, जिससे लोकप्रवाह मन्दिरो की ओर हठात् उमड पडा । इससे लोगो को कुछ समय के लिए शान्ति के साथ-साथ मन्दिरो की आवश्यकता का और शनै शनै मन्दिरो-मूर्तियो के औचित्य का भी अनुभव होने लगा ।

भव्य मूर्तियो से सुशोभित मन्दिरो के दर्शन से भक्त-जन अपनी चक्षु इन्द्रियो को, सुगन्धित धूपो की एव भीनी-भीनी सुगन्ध वाले विविध वर्णों के सुमनो की सुगन्ध से अपनी घ्राणेन्द्रिय को, भक्तिरस से ओतप्रोत स्वरलहरियो से अपनी श्रवणेन्द्रिय को और भक्ति सुधा से अपने मानस को तृप्त करने के लिए इस प्रकार के भव्य आयोजनो मे अधिकाधिक सख्या मे सम्मिलित होने लगे ।

विशाल सघो के साथ तीर्थयात्राओ मे भी नये-नये ग्रामो, नगरो के साथ-साथ लता-गुल्मो और विशाल वृक्षराजियो से आच्छादित वनो, पर्वत-श्रेणियो तथा कल-कल निनाद करते हुए झरनो, सरिताओ आदि के प्राकृतिक दृश्यो को देखने का प्रलोभन, आकर्षण भी लोगो को स्थान-स्थान पर आयोजित तीर्थयात्राओ मे सम्मिलित होने का कारण बना ।

इस प्रकार नये सिरे से नयी उमगो और उत्साह के साथ प्रारम्भ किये गये इन नवीन विधि-विधानो एव आयोजनो से चैत्यवास बडा ही लोकप्रिय होने लगा । उन चैत्यवासियो के अन्ध श्रद्धालुओ ने उदारतापूर्वक आर्थिक सहायता देकर चैत्यवासी सघ को सुदृढ, सक्षम और सबल बनाया । लोग उत्तरोत्तर अधिकाधिक सख्या मे चैत्यवासियो के अनुयायी और परम भक्त बनने लगे । अपने भक्तो की सख्या अपने सघ की सबलता और अपने सघ द्वारा प्रचलित किये गये नित्य नये आयोजनो और विधि-विधानो की लोकप्रियता से प्रोत्साहित हो चैत्यवासियो ने चैत्यवासी श्रमणो के जीवन को सुसम्पन्न गृहस्थो के जीवन से भी अधिक सुखोपभोगपूर्ण, सरल, निश्चिन्त और सभी भाति सुसाध्य बनाने के उद्देश्य से ऐसे दश नियम भी बनाये जो शास्त्रो मे वर्णित श्रमणाचार से पूर्णत विपरीत थे । उन दश नियमो का पिछले अध्याय मे विस्तार के साथ उल्लेख किया जा चुका है, अत यहा उनके सम्बन्ध मे पुन. प्रकाश डालने की आवश्यकता नही ।

चैत्यवासियो ने उन दश नियमो का पालन प्रत्येक चैत्यवासी साधु के लिए अनिवार्य बनाकर और अपनी कपोल कल्पनानुसार बनाये गये नये-नये

विधि-विधानो एव अनेक प्रकार की अशास्त्रीय मान्यताओ का प्रचार-प्रसार कर जैन धर्म के मूल स्वरूप मे ही आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया।

प्रभु महावीर द्वारा तीर्थं प्रवर्तन के समय से लेकर आर्य देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमरण के स्वर्गस्थ होने तक जैन धर्म और श्रमरणाचार का जो रूप अक्षुण्ण रहा था, उसमे चैत्यवासियो द्वारा कैसा आमूल चूल परिवर्तन किया गया और धर्म एव श्रमरणाचार के स्वरूप मे किस किस प्रकार की विकृतिया उत्पन्न की गई, इस सम्बन्ध में सघ पट्टक की प्रस्तावना मे बडा अच्छा प्रकाश डाला गया है। उस प्रस्तावना के एतद्विषयक कतिपय उद्धरण यहा यथावत् प्रस्तुत किये जा रहे है। सघपट्टक की प्रस्तावना मे लिखा है —

"आ रीते भगवान् थी आठ सौ पचास वर्ष चैत्यवास स्थपायो तो परण तेनु खरेखरू जोर वीर प्रभु एक हजार वर्ष बीत्या केडे बधवा माड्यु। आ अरसा मा चैत्यवास ने सिद्ध करवा माटे आगम ना प्रतिपक्ष तरीके निगम ना नाम तले उपनिषदो ना ग्रन्थो गुप्त रीते रचवा मा आव्या अने तेओ दृष्टिवाद नामना बारमा अग ना त्रुटेला ककडा छे एम लोको ने समझाववा मा आव्यु। ए ग्रन्थो मा एवु स्थापना करवा मा आव्यु छे के आज काल ना साधुओए चैत्य मा वास करवो व्याजबी छे तेमज तेमरणे पुस्तकादि ना जरूरी काम मा खप लागे माटे यथायोग्य पैसा टका परण सघरवा जोइए। इत्यादि अनेक शिथिलाचार नी तेओ ए हिमायत करवा माडी अने जो थोडा घरणा वसतिवासी मुनिओ रहिया हता तेमनी अनेक रीते अवगरणना करवा माडी।

देवर्द्धिगरिण पर्यन्त साधुओ नो मुख्य गच्छ एकज हतो, छता कारण-परत्वे तेने जूदा जूदा नाम थी ओलखवा मा आवेल छे। जेम के सरुआत मा तेना मूल स्थापक सुधर्म गरणधर ना नाम पर थी ते सौधर्म गच्छ कहेवातो हतो। त्या केडे चौदमा पाटे समतभद्र सूरिए वनवास स्वीकार्यो एटले ते वनवासी गच्छ कहेवायो। त्यार केडे कोटि मन्त्र जाप ना काररणे ते कोटिक गच्छ कहेवायो। छता तेमा अनेक शाखाओ अने कुलो थया परण तेओ परस्पर अविरोधी हता। केम के कोई ने परण पोताना गच्छ नो या शाखा नो या कुल नो अहकार अथवा ममत्वभाव न हतो। परण चैत्यवास शुरु थता तेमरणे स्वगच्छ ना वखारण अने पर गच्छ नी हेलना करवा माडी एटले अरसपरस विरोधी गच्छो उभा थया।

गच्छ शब्द नो मूल अर्थ ए छे के गच्छ अथवा गरण—एटले साधो नु टोलू। माटे गच्छ शब्द कई खराव नथी, परण गच्छ माटे अहकार ममत्व के कदाग्रह करवो तेज खराव छे। छता चैत्यवास मा तेवो कदाग्रह वधवा माड्यो। आऊपर थी तेओ मा कुसप वध्यो, एक्य त्रुट्यु। हवे एक गच्छ मा थी चौरासी गच्छ थई पड्या। तेओ एकमेकने तोडवा मड्या अने आ रीतें समाधिमय धर्म ना स्थाने कलह कदाग्रहमय अधर्म ना बीज रोपाया।

पाचवा आरा रूप अवसर्पिणी काल एटले पडतो काल तो हमेशा आव्या करे पण अगाउ काई आ जैनधर्म मा आवी धाधल ऊभी थई नथी पण हमणानो पडतो काल साधारण रीते पडता काल ना करता कडक जूदी तरेह नो होवा थी ते हुड एटले अतिशय भुंडो होवा थी तेने हुडावसर्पिणी काल कहेवा मा आव्यो छे। आवो काल अनन्ती अवसर्पिणिओ बीतताज आवे छे। तेवो आ चालू काल थयो छे। ते साथे वीर प्रभु ना निर्वाण वखते बे हजार वर्ष नो भस्मग्रह बेठेलो ते साथे मल्यो, तेमज तेनी साथे असयतीपूजा रूप दसवो अछेरो पोतानु जोर बताववा लाग्यो। एम चारे सयोगो भेगा थवा थी आ चैत्यवास रूप कुमार्ग जैन धर्म ना नामे चौमेर फैलावा माड्यो। गुरुओ स्वार्थी थई योग्यायोग्य नो विचार पडते मुकी जो हाथ मा आव्यो तेने मूडी ने पोता ना वाडा बधारवा माड्या अने छेवटे वेचाता चेला लई विना वैराग्ये तेमने पोता ना वारस तरीके नीमवा माड्या।

हवे कहेवत छे के यथा गुरुस्तथा शिष्यो, यथा राजा तथा प्रजा। ते प्रमाणे गुरुओ शिथिल थता तेमना ताबा नीचेना यतियो तेमना करता पण वधु शिथिल थया। तेओ दवा, दारू, डो, धागा वगैर करी ने लोको ने वश मा राखवा लाग्या, वेपार करवा लाग्या तथा खेतर-वाडी सुद्धा करवा तत्पर थया। तेम छता तेओ पोता ने महावीर प्रभुना वारस चेलाओ तरीके ओलखावी पोता नु भान साचववा माड्या।

आणीमेर तेमना रागी श्रावको आधला बनी तेमना पजा मा सपडाई तेओ जे काई ऊधू चतु समझावे ते बधु बगैर विचारे अने वगर तकरारे हा जी हा जी करी स्वीकारवा लाग्या। कारण के लोको नो मुख्य भाग हमेशा भोलो रहे। ते थी तेवा भोलाओ ने, कपटी वेषधारी चैत्यवासिओ अनेक बाहना ऊभा करी ने ठगवा माड्या।

आवी गडबड थोडाज वखत मा बहु वधी पडी एटले देवर्द्धिगणि ना पछी ५५ वर्ष स्वर्गवासी थयेला हरिभद्रसूरिए महानिशीथनो उद्धार करता चैत्यवास नो सारी रीते तिरस्कार कर्यो छे। सदरहु हरिभद्रसूरि चैत्यवासिओ ना मडल मा दीक्षित थया हता छता परम विद्वान् होवा थी तेमणे तेमना पक्षनु खूब खडन कर्यु छे।[1]

---

१ प्रस्तावनाकार ने यह उल्लेख कतिपय ग्रन्थकारो के भ्रान्तिपूर्ण उल्लेख के आधार पर कर दिया है। वस्तुत वीर नि० सवत् १०५५ मे स्वर्गस्थ हुए हारिल सूरि अपर नाम हरिभद्र ने महानिशीथ का उद्धार नही किया था। इसका उद्धार याकिनी महत्तरासूनु, भवविरह हरिभद्रसूरि ने किया था, जो कि वीर नि०स० १२५५ मे विद्यमान थे। विस्तार के लिए देखिए प्रस्तुत ग्रन्थ का ही २६वें युगप्रधान हारिलसूरि का विवरण। महानिशीथ के द्वितीय अध्ययन की पुष्पिका एव प्रभावक चरित्र हरिभद्रसूरिचरितम् का श्लोक सं० २१६।

—सम्पादक

आ मामलो एटले लगण बध्यो के निर्ग्रन्थ मार्ग विरल थई पड्यो, निर्ग्रन्थ प्रवचन पर ताला देवाया। अने कपोलकल्पित ग्रन्थो तेमनी जग्याए ऊभा करवा मा आव्या। एटलू ज नही पण विक्रम सवत् ८०२ नी साल मा वनराज चावडा ए ज्यारे अणहिलपुर पाटण वसाव्यु त्यारे तेमना चैत्यवासी गुरु शीलगुणसूरिए तेना पासे थी एवो रुक्को लखावी लीधो के आ राज नगर मा अमारा पक्षना यतिओ सिवाय वसतिवासि साधुओ दाखल थवा नहि देवा।"

सघपट्टक की प्रस्तावना के उपर्युक्त उल्लेखो और पिछले अध्याय मे प्रस्तुत किये गए महानिशीथ के उल्लेखो से यह भली-भाति स्पष्ट हो जाता है कि चैत्यवासियो ने भगवान् महावीर द्वारा प्रदर्शित एव प्रवर्तित धर्म के मूल स्वरूप तथा श्रमणाचार मे आमूलचूल परिवर्तन कर किस प्रकार इसे कलुषित और विकृत कर दिया। चैत्यवासियो ने धर्म की प्राणभूता आध्यात्मिकता, अहिसा, अपरिग्रह, गुणपूजा, निरन्जन निराकार, शुद्ध, बुद्ध, विमुक्त और सत्य शिव सुन्दरम् स्वरूप वाले आत्मदेव की आध्यात्मिक उपासना, भावपूजा को छोड-छिटका कर, उसे पूर्णत उपेक्षित और विस्मृत कर इनके स्थान पर भौतिकता, हिसा, परिग्रह, द्रव्यार्चन —जडपूजा को धर्म के सर्वोच्च सिहासन पर विराजमान कर के शास्त्रो मे प्रतिपादित शुद्ध श्रमणाचार के स्वरूप को बुरी तरह कलकित और कलुषित बना दिया। चैत्यवासियो द्वारा बनाये गए इन दश नियमो मे (महानिशीथ मे वर्णित उनके शास्त्र विरुद्ध आचार विचार और सघपट्टक मूल एव उसकी प्रस्तावना मे वर्णित उनके अनाचारपूर्ण श्रमणाचार को एक बार देखने, पढने मात्र से ही सुस्पष्ट दिखाई देते चैत्यवासी परम्परा द्वारा अपनी कपोल कल्पना से चैत्यवासी परम्परा के श्रमणो के लिये आविष्कृत श्रमणाचार मे) वस्तुत शास्त्रो मे प्रतिपादित श्रमणाचार के गुणो मे से किसी एक भी गुण को स्थान नही दिया गया। इसके विपरीत शास्त्रो मे विशुद्ध श्रमणाचार के जितने दोष बताये गये हैं, उनमे से प्राय सभी बडे-बडे दोषो को अपनी परम्परा के श्रमणो के आचार मे प्रमुख स्थान दे दिया गया। उदाहरण-स्वरूप देखा जाए तो शास्त्रो मे साधु द्वारा सर्वप्रथम अगीकार किये जाने वाले प्रथम महाव्रत अहिसा मे षड्जीवनिकाय के जीवो के आरम्भ-समारम्भपूर्ण सभी प्रकार के कार्यो को जीवन-पर्यन्त त्रिकरण एव त्रियोग से न करने, न करवाने और न अनुमोदन करने का स्पष्ट विधान है, परन्तु चैत्यवासी परम्परा ने अपने साधुओ के लिए जो श्रमणाचार अपनी कल्पनानुसार और शास्त्रो को एक ओर ताक मे रखकर निर्धारित किया उसमे, साधुओ के लिए यह अनिवार्य रखा गया कि वे चैत्यो मे ही नियत वास करें। चैत्यो का निर्माण करवाकर उन्हे अपनी सम्पत्ति के रूप मे स्वीकार करे। चैत्यो के निर्माण जीर्णोद्धार आदि घोर आरम्भ-समारम्भपूर्ण कार्यो मे मन, वचन, कर्म से सक्रिय भाग लेना चैत्यवासी साधु के लिए किसी प्रकार का दोष नही माना गया। इसके विपरीत इन सब कार्यो को करवाने की चैत्यवासी साधुओ को खुली छूट दी गयी। शास्त्रो मे साधु के लिए आधाकर्मी आहार ग्रहण करने का एकान्तत निषेध है, इसके

बिलकुल विपरीत चैत्यवासी परम्परा द्वारा अपने श्रमणो के लिये बनाये गये दश नियमो मे से प्रथम नियम मे ही चैत्यवासी साधु को आधाकर्मी आहार ग्रहण करने की खुली छूट देते हुए कहा गया है कि आधाकर्मी आहार ग्रहण करने मे साम्प्रत-युगीन साधु को किसी भी प्रकार का दोष नही लगता। इतना ही नही जिन चैत्यो मे चैत्यवासी साधु नियत निवास करते थे उन चैत्यो मे भगवान् को भोग लगाने के लिए उनके द्वारा पाकशालाए चलाई जाती थी। उन पाकशालाओ मे से चैत्यवासी साधुओ को यथेप्सित भोजन सर्वदा लेते रहने का भी स्पष्ट निर्देश था।

शास्त्रो मे श्रमणाचार का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, उसमे साधु के लिए आवश्यक धर्मोपकरण के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु के रखने का पूर्णत निषेध है। साधु वस्तुत अपरिग्रह महाव्रत का धारक होता है अत उसे रुपया पैसा आदि सभी प्रकार के परिग्रह से सदा जीवन-पर्यन्त दूर रहने का स्पष्ट निर्देश है। पर इसके विपरीत चैत्यवासी साधुओ के लिए चैत्यवासी परम्परा द्वारा बनाये गए नियमो मे से नियम स० ४ मे चैत्यवासी साधु को धन रखने की छूट देते हुए स्पष्ट शब्दो मे लिखा है —

"साधु अपने पास धन का सग्रह करे। यद्यपि शास्त्रो मे साधु के लिए धन रखने का निषेध है, तथापि साम्प्रतकालीन साधुओ के लिए धन रखना उचित और आवश्यक हो गया है।"

चैत्यवासियो ने सर्वज्ञप्रणीत आगमो की अपेक्षा भी अपनी कपोल-कल्पना को, अपनी दिमागी उपज को सर्वोपरि प्रामाणिक मानते हुए चैत्यवासी साधुओ के लिए बनाये गये दस नियमो मे से नौवे नियम मे तो आगमो के विरुद्ध एक प्रकार से खुला विद्रोह ही घोषित कर दिया था। नियम स० ६ मे लिखा है —

"साधु इस प्रकार की क्रियाओ का स्वय आचरण करे तथा उन क्रियाओ के विधि-विधानो का उपदेश एव प्रचार-प्रसार कर लोगो से उन क्रियाओ का पालन करवाये जो शनै शनै मोक्षमार्ग की ओर ले जाने वाली है। यदि इस प्रकार की क्रियाओ का, बातो का, विधि-विधानो का आगमो मे उल्लेख नही है, तो आगमो की उपेक्षा करें। आगमो मे यदि उन क्रियाओ का निषेध है तो आगम वचन का अनादर करके भी उन क्रियाओ को स्वय करता रहे तथा दूसरो से उन क्रियाओ का आचरण करवाता रहे। क्योकि भगवान् का सिद्धान्त अनेकान्तमय है। अमुक कार्य एकान्तत करना ही चाहिये और अमुक कार्य एकान्तत नही करना चाहिये, ऐसा कोई निर्देश जैन सिद्धान्त मे नही है। अनेक अकरणीय कार्यो के करने और अनेक करने योग्य कार्यो के न करने का उल्लेख आगमो मे अनेक स्थानो पर है।"

इस नियम के बन जाने के पश्चात् चैत्यवासी परम्परा मे शास्त्रीय मर्यादा नाम की कोई चीज नही बची । चैत्यवासी साधु को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई कि जिस को वह अच्छा समझे अथवा अच्छा कह दे वही कार्य चैत्यवासी परम्परा के अनुयायियो के लिए मुक्ति की ओर ले जाने वाला धर्मकार्य स्वीकार्य हो । शास्त्र मे यदि उस कार्य के करने का निषेध है, उसे रसातल की ओर ले जाने वाला बताया गया है तो भी चैत्यवासी परम्परा का अनुयायी उस की ओर कोई ध्यान नही दे अपितु पूर्णत उस शास्त्रवचन की अवहेलना करे ।

इस प्रकार चैत्यवासी परम्परा द्वारा बनाये गये नियमो को ध्यान मे रखते हुए चैत्यवासी परम्परा द्वारा निर्धारित अथवा स्वीकृत धर्म के स्वरूप पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाए तो निर्विवाद रूप से यह स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थकरो ने ससार के प्राणिमात्र के कल्याण के लिये जिस जिन धर्म का उपदेश दिया था, उस शाश्वत सनातन जैन धर्म से पूर्णत विपरीत (पूर्णत भिन्न कोई दूसरा ही) धर्म को चैत्यवासियो ने जैन धर्म के नाम पर प्रचलित किया था । चैत्यवासियो ने उस अपने कपोलकल्पित धर्म का नाम जैन धर्म तो अवश्य रखा परन्तु वस्तुत उसे जैन धर्म नही कह कर जैनाभास धर्म कहना ही उचित हो सकता है ।

यह तो निर्विवाद है कि आजीवन असिधारा पर चलने तुल्य अति दुष्कर एव घोर दुस्साध्य विशुद्ध श्रमणाचार की परिपालना मे अक्षम परीपहभीरु श्रमणो ने शिथिलाचार की शरण लेकर चैत्यवास परम्परा को जन्म दिया । शिथिलाचार की पकिल भूमि से इसका प्रादुर्भाव हुआ और शिथिलाचार की शिथिल नीव पर ही चैत्यवासी परम्परा का विशाल भवन खडा किया गया ।

स्वय द्वारा आचरित शिथिलाचार के औचित्य की जलमानस पर छाप जमाने के लिये चैत्यवासी परम्परा के सस्थापको ने अपनी उन अशास्त्रीय मान्यताओ की पुष्टि मे उपर्युक्त १० नियमो के अतिरिक्त निगम के नाम पर उपनिषदो के समान आगमो के प्रतिपक्षी अनेक ग्रन्थो का निर्माण किया ।[१] भोले लोगो को समझाया गया कि ये विच्छिन्न हुए दृष्टिवाद के अश है । उन ग्रन्थो मे अपनी मान्यताओ के अशास्त्रीय और जैन सिद्धान्त के पूर्णत प्रतिकूल होते हुए भी उन्हे शास्त्रीय और जैन सिद्धान्तानुकूल सिद्ध करने का प्रयास किया गया । उन ग्रन्थो मे नयी-नयी मान्यताओ का, चैत्य-निर्माण, प्रतिमा-निर्माण, चैत्य परिपाटी, प्रतिमाओ मे प्राण प्रतिष्ठा, प्रतिमा पूजा विधि, तीर्थ माहात्म्य, तीर्थयात्रा आदि-आदि के सम्बन्ध मे अनेक नये-नये विधि-विधानो का विस्तार के साथ समावेश किया गया । प्रत्येक धार्मिक कृत्य के साथ अर्थ प्रधान वाह्य कर्मकाण्डो का पुट और बाह्याडम्बरो का सपुट

---

[१] चैत्यवासी परम्परा के साथ ही उनके वे ग्रन्थ भी प्राय लुप्त हो गये प्रतीत होते हैं ।

—सम्पादक

बिलकुल विपरीत चैत्यवासी परम्परा द्वारा अपने श्रमणो के लिये वनाये गये दश नियमो मे से प्रथम नियम मे ही चैत्यवासी साधु को आधाकर्मी आहार ग्रहण करने की खुली छूट देते हुए कहा गया है कि आधाकर्मी आहार ग्रहण करने मे साम्प्रत-युगीन साधु को किसी भी प्रकार का दोप नही लगता। इतना ही नही जिन चैत्यो मे चैत्यवासी साधु नियत निवास करते थे उन चैत्यो मे भगवान् को भोग लगाने के लिए उनके द्वारा पाकशालाए चलाई जाती थी। उन पाकशालाओ मे से चैत्यवासी साधुओ को यथेप्सित भोजन सर्वदा लेते रहने का भी स्पष्ट निर्देश था।

शास्त्रो मे श्रमणाचार का जो स्वरूप प्रतिपादित किया गया है, उसमे साधु के लिए आवश्यक धर्मोपकरण के अतिरिक्त अन्य किसी भी वस्तु के रखने का पूर्णत निपेध है। साधु वस्तुत अपरिग्रह महाव्रत का धारक होता है अत उसे रुपया पैसा आदि सभी प्रकार के परिग्रह से सदा जीवन-पर्यन्त दूर रहने का स्पष्ट निर्देश है। पर इसके विपरीत चैत्यवासी साधुओ के लिए चैत्यवासी परम्परा द्वारा वनाये गए नियमो मे से नियम स० ४ मे चैत्यवासी साधु को धन रखने की छूट देते हुए स्पष्ट शब्दो मे लिखा है –

"साधु अपने पास धन का सग्रह करे। यद्यपि शास्त्रो मे साधु के लिए धन रखने का निषेध है, तथापि साम्प्रतकालीन साधुओ के लिए धन रखना उचित और आवश्यक हो गया है।"

चैत्यवासियो ने सर्वज्ञप्रणीत आगमो की अपेक्षा भी अपनी कपोल-कल्पना को, अपनी दिमागी उपज को सर्वोपरि प्रामाणिक मानते हुए चैत्यवासी साधुओ के लिए वनाये गये दस नियमो मे से नौवे नियम मे तो आगमो के विरुद्ध एक प्रकार से खुला विद्रोह ही घोषित कर दिया था। नियम स० ६ मे लिखा है –

"साधु इस प्रकार की क्रियाओ का स्वय आचरण करे तथा उन क्रियाओ के विधि-विधानो का उपदेश एव प्रचार-प्रसार कर लोगो से उन क्रियाओ का पालन करवाये जो शनै शनै मोक्षमार्ग की ओर ले जाने वाली हैं। यदि इस प्रकार की क्रियाओ का, वातो का, विधि-विधानो का आगमो मे उल्लेख नही है, तो आगमो की उपेक्षा करे। आगमो मे यदि उन क्रियाओ का निपेध है तो आगम वचन का अनादर करके भी उन क्रियाओ को स्वय करता रहे तथा दूसरो से उन क्रियाओ का आचरण करवाता रहे। क्योकि भगवान् का सिद्धान्त अनेकान्तमय है। अमुक कार्य एकान्तत करना ही चाहिये और अमुक कार्य एकान्तत नही करना चाहिये, ऐसा कोई निर्देश जैन सिद्धान्त मे नही है। अनेक अकरणीय कार्यो के करने और अनेक करने योग्य कार्यो के न करने का उल्लेख आगमो मे अनेक स्थानो पर है।"

इस नियम के बन जाने के पश्चात् चैत्यवासी परम्परा मे शास्त्रीय मर्यादा नाम की कोई चीज नही बची । चैत्यवासी साधु को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी गई कि जिस को वह अच्छा समझे अथवा अच्छा कह दे वही कार्य चैत्यवासी परम्परा के अनुयायियो के लिए मुक्ति की ओर ले जाने वाला धर्मकार्य स्वीकार्य हो । शास्त्र मे यदि उस कार्य के करने का निषेध है, उसे रसातल की ओर ले जाने वाला बताया गया है तो भी चैत्यवासी परम्परा का अनुयायी उस की ओर कोई ध्यान नही दे अपितु पूर्णत उस शास्त्रवचन की अवहेलना करे ।

इस प्रकार चैत्यवासी परम्परा द्वारा बनाये गये नियमो को ध्यान मे रखते हुए चैत्यवासी परम्परा द्वारा निर्धारित अथवा स्वीकृत धर्म के स्वरूप पर गम्भीरता-पूर्वक विचार किया जाए तो निर्विवाद रूप से यह स्पष्ट हो जाता है कि तीर्थंकरो ने ससार के प्राणिमात्र के कल्याण के लिये जिस जिन धर्म का उपदेश दिया था, उस शाश्वत सनातन जैन धर्म से पूर्णत विपरीत (पूर्णत भिन्न कोई दूसरा ही) धर्म को चैत्यवासियो ने जैन धर्म के नाम पर प्रचलित किया था । चैत्यवासियो ने उस अपने कपोलकल्पित धर्म का नाम जैन धर्म तो अवश्य रखा परन्तु वस्तुत उसे जैन धर्म नही कह कर जैनाभास धर्म कहना ही उचित हो सकता है ।

यह तो निर्विवाद है कि आजीवन असिधारा पर चलने तुल्य अति दुष्कर एव घोर दुस्साध्य विशुद्ध श्रमणाचार की परिपालना मे अक्षम परीषहभीरु श्रमणो ने शिथिलाचार की शरण लेकर चैत्यवास परम्परा को जन्म दिया । शिथिलाचार की पकिल भूमि से इसका प्रादुर्भाव हुआ और शिथिलाचार की शिथिल नीव पर ही चैत्यवासी परम्परा का विशाल भवन खडा किया गया ।

स्वय द्वारा आचरित शिथिलाचार के औचित्य की जनमानस पर छाप जमाने के लिये चैत्यवासी परम्परा के सस्थापको ने अपनी उन अशास्त्रीय मान्यताओ की पुष्टि मे उपर्युक्त १० नियमो के अतिरिक्त निगम के नाम पर उपनिषदो के समान आगमो के प्रतिपक्षी अनेक ग्रन्थो का निर्माण किया ।[1] भोले लोगो को समझाया गया कि ये विच्छिन्न हुए दृष्टिवाद के अश है । उन ग्रन्थो मे अपनी मान्यताओ के अशास्त्रीय और जैन सिद्धान्त के पूर्णत प्रतिकूल होते हुए भी उन्हे शास्त्रीय और जैन सिद्धान्तानुकूल सिद्ध करने का प्रयास किया गया । उन ग्रन्थो मे नयी-नयी मान्यताओ का, चैत्य-निर्माण, प्रतिमा-निर्माण, चैत्य परिपाटी, प्रतिमाओ मे प्राण प्रतिष्ठा, प्रतिमा पूजा विधि, तीर्थ माहात्म्य, तीर्थयात्रा आदि-आदि के सम्बन्ध मे अनेक नये-नये विधि-विधानो का विस्तार के साथ समावेश किया गया । प्रत्येक धार्मिक कृत्य के साथ अर्थ प्रधान बाह्य कर्मकाण्डो का पुट और बाह्याडम्बरो का सपुट

[1] चैत्यवासी परम्परा के साथ ही उनके वे ग्रन्थ भी प्राय लुप्त हो गये प्रतीत होते है ।
—सम्पादक

लगाया गया । चैत्यवासी परम्परा के प्रादुर्भाव के समय से इसके अभ्युदय-उत्कर्ष और चरमोत्कर्ष काल तक चैत्यवासियो द्वारा सर्वज्ञ प्रणीत जैन धर्म के स्वरूप मे समय-समय पर इस प्रकार के उत्तरोत्तर अधिकाधिक यथेच्छ परिवर्तन-परिवर्द्धन किये जाते रहे ।

स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन मनन-स्तवन, आत्मरमण रूपी भाव-पूजा के स्थान पर द्रव्यपूजा का प्रचलन कर चैत्यवासियो ने उसे उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रोत्साहित किया। चैत्यवासियो ने लौकिक एव पारलौकिक प्रलोभनो के माध्यम से जनमानस को अनेक प्रकार के धार्मिक उत्सवो, महोत्सवो, यात्रा सघो, और प्रतिष्ठा महोत्सवो आदि की ओर आकृष्ट करने का निरन्तर प्रयास किया । सामाजिक सम्मान एव उभयलौकिक प्रलोभनो से लुब्ध हो लोक-प्रवाह बाह्याडम्बर एव द्रव्यपूजा की ओर उमड पडा । सब ओर—ग्राम ग्राम, नगर-नगर बडे आडम्बरो के साथ चैत्यालयो की प्रतिष्ठाए की जाने लगी, और छोटे बडे सभी प्रकार के धर्मकृत्यो को बडे ही आडम्बर के साथ उत्सवो और महोत्सवो के रूप मे निष्पन्न किया जाने लगा । इस प्रकार के आयोजनो के अवसर पर नारियलो से ले कर मोहरो तक की प्रभावनाए बाटी जाने लगी । मन्दिर निर्माण, जीर्णोद्धार, सघयात्रा एव प्रभावना आदि के प्रश्न को लेकर उस समय लोगो मे परस्पर प्रतिस्पर्द्धा प्रबल से प्रबलतर होती गई— लोगो मे होड सी लग गई ।

उस समय के लोक-प्रवाह को भेडचाल की सज्ञा देते हुए तत्कालीन परिस्थिति का निम्नलिखित प्राचीन गाथाओ मे बडा ही स्पष्ट चित्रण किया गया है —

> गड्डरि—पवाहओ जो, पइ नयर दीसए बहुजणेहिं ।
> जिणगिह कारवणाई, सुत्तविरुद्धो असुद्धो य ।।६।।
> सो होइ दव्वधम्मो, अपहाणो नेव निव्वुई जणइ ।
> सुद्धो धम्मो बीओ, महिओ पडिसोयगामीहिं ।।७।।
> पढम गुणठाणे जे जीवा, चिट्ठति तेसि सो पढमो ।
> होइ इह दव्व धम्मो, अविसुद्धो बीयनायेण ।।१०।।
> अविरइ गुणठाणाईसु, जे य ठिया ते सि भावओ बीओ ।
> तेण जुया ते जीवा, हुति सबीया अओ सुद्धो ।।११।।[1]

अर्थात—आज जो भेडचाल के समान प्रत्येक नगर मे बहुत से लोगो द्वारा जिन गृहो—जिन मन्दिरो के निर्माण आदि कार्य करवाये जा रहे है, वे सूत्रविरुद्ध और अशुद्ध है । वह तो केवल मिथ्या धर्म है, जो निवृत्ति का जनक अर्थात् मोक्ष-

[1] ये गाथाए भी इस बात का प्रबल प्रमाण है कि चैत्यवासियो के चरमोत्कर्ष काल मे भी भगवान् महावीर की मूल श्रमण परम्परा के श्रमण विद्यमान थे और वे लोगो को धर्म के वास्तविक स्वरूप का उपदेश देते रहते थे । —सम्पादक

दायक नही है। शुद्ध धर्म तो वस्तुत इससे भिन्न दूसरा ही है, जो प्रतिस्रोतगामियो अर्थात् भौतिक प्रवाह के प्रतिकूल आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने वाले महापुरुषो-तीर्थंकरो द्वारा आचरित एव प्रशसित है। प्रथम गुण स्थान (मिथ्यादृष्टि गुणस्थान) मे जो जीव सस्थित है, उनके लिए यह प्रथम द्रव्यधर्म है, जो बीजन्याय-मूल न्याय अथवा बोधिबीज-सम्यक्त्व के अभाव की दृष्टि से अविशुद्ध है। जो जीव अविरत नामक चौथे गुणस्थान मे स्थित है, उनके लिए तो वह भावपूजा नामक दूसरा धर्म ही आचरणीय और श्रेयस्कर है, जो वस्तुत प्रतिस्रोतगामी तीर्थंकर आदि महा-पुरुषो द्वारा सेवित व आचरित होने के कारण विशुद्ध और वास्तविक धर्म है क्योकि उससे युक्त जीव सबीज अर्थात् बोधिबीज-सम्यक्त्व सहित होते हैं। अत दूसरा आध्यात्मिक धर्म ही शुद्ध धर्म है।"

इन पक्तियो मे चैत्यवासी परम्परा के उत्कर्ष काल मे भेड चाल तुल्य लोक-प्रवाह पर खेदपूर्ण उद्‌गार प्रकट करते हुए मूल विशुद्ध जैन धर्म का, विशुद्ध श्रमणाचार का और शाश्वत सत्य हमारी प्राचीन विशुद्ध श्रमणोपासक परम्परा के वास्तविक एव मूल स्वरूप का अतीव सहज सुन्दर चित्रण किया गया है। उसमे भौतिकता और आडम्बर के लिए कही कोई स्थान नही था। उसमे सब कुछ आध्या त्मिक ही आध्यात्मिक था। सर्वज्ञ प्रणीत जिनागमो मे जैन धर्म के जिस चिरन्तन शाश्वत सत्य मूल स्वरूप का भव्य चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसी के अनुरूप इन गाथाओ मे भी धर्म के वास्तविक स्वरूप का चित्रण किया गया है।

चैत्यवासी परम्परा द्वारा बनाये गये उन दश नियमो और विच्छिन्न हुए दृष्टिवाद के नष्ट होने से बचे तथाकथित कडखो अथवा अशो के रूप मे निर्मित किये गये निगमो ने श्रमणाचार को, जिसे कि आगमो मे "दुरणुचरो मग्गो वीराण अणियट्टगामीण"—इस सूत्र से अति दुष्कर बताया गया है, उसे अति सुकर ही नही अपितु एक अच्छे से अच्छे समृद्ध सद्‌गृहस्थ से भी अधिक ऐश्वर्यशाली और सुखोप-भोगपूर्ण बना दिया। इस प्रकार चैत्यवासियो द्वारा श्रमणाचार के अति दुष्कर शास्त्रीय नियमो के सरलीकरण किये जाने और श्रमणजीवन को ऐश्वर्यशाली और सभी भाति सुखोपभोग पूर्ण बना दिये जाने का द्रुतगामी तात्कालिक परिणाम यह हुआ कि चैत्यवासी परम्परा के श्रमणो और श्रमणियो की सख्या मे उत्तरोत्तर आशातीत अभिवृद्धि होती गई। चैत्यवासी आचार्यो के पास द्रव्य की किसी प्रकार की कमी नही थी। अत उन्होने छोटे-छोटे बच्चो को खरीद-खरीद कर अपनी-अपनी शिष्य परम्पराओ को प्रतिस्पर्द्धा की भावना से बढाना प्रारम्भ किया।

एक ओर तो श्रमणाचार के नियमो मे सरलीकरण से श्रमण-श्रमणियो की सख्या मे अपूर्व अभिवृद्धि होने लगी और दूसरी ओर चैत्यवासियो द्वारा चैत्य-निर्माण, प्रतिमा प्रतिष्ठा, रथ यात्रा, तीर्थो की सघ यात्रा आदि कार्यो मे दिखाये गये लौकिक एव पारलौकिक प्रलोभनो एव समाज मे प्रतिष्ठा तथा सम्मान प्राप्ति

की भूख ने धनिकवर्ग को चैत्यवासियो का ऐसा परम आज्ञाकारी उपासक बना दिया जो किसी भी क्षण किसी भी चैत्यवासी आचार्य के इगितमात्र पर द्रव्य को पानी की तरह बहाने को समुद्यत रहता। चैत्यवासियो द्वारा धर्म के नाम पर प्रवर्तित आडम्बरपूर्ण और चहल-पहल तथा तडक-भडक भरे नित नये आयोजनो से मध्यम वर्ग के साथ-साथ जन-साधारण भी चैत्यवासियो की ओर आकर्षित हुआ। अभाव-अभियोगो से ग्रस्त वर्ग को इस प्रकार के धार्मिक आयोजनो के अवसर पर बाटी जाने वाली प्रभावनाए लोगो को चैत्यवास की ओर आकर्षित करने मे प्रमुख कारण रही।

इस प्रकार समाज के प्राय सभी वर्गों को चैत्यवासियो ने अपनी ओर आकर्षित करने मे सफलता प्राप्त की। लोकप्रवाह अध्यात्म धरातल से हटकर बाह्याडम्बरपूर्ण द्रव्य पूजा के भौतिक धरातल की ओर उमड़ पडा। अगुलियो पर गिने जाने योग्य लोगो को छोड शेष सभी लोग तप, त्याग, सम, सवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक्य आदि गुणो से ओत-प्रोत जैनधर्म के अध्यात्मप्रधान विशुद्ध स्वरूप को भूल गये—विसर गये। वे चैत्यवासियो द्वारा प्रदर्शित जन-मन-रजनकारी बाह्याडम्बरपूर्ण एव परमाकर्षक द्रव्यार्चन, द्रव्यपूजा, द्रव्यस्तव अथवा द्रव्यधर्म को ही वास्तविक धर्म जानने और मानने लगे मानो शास्त्रो मे प्रतिपादित धर्म के वास्तविक स्वरूप से और विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाली मूल श्रमण परम्परा से जैसे उन लोगो का किसी प्रकार का कोई वास्ता ही नही रहा हो। इस प्रकार की स्थिति मे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि मूल श्रमण परम्परा के श्रमणो, श्रमणियो, श्रमणोपासको एव श्रमणोपासिकाओ की सख्या सहज ही शनै शनै क्षीण से क्षीणतर होते-होते अन्ततोगत्वा कितनी नगण्य रह गई होगी।

विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाली मूल श्रमण परम्परा के लिये वह काल वास्तव मे कितना बडा सक्रान्ति काल रहा होगा, इसका अनुमान चैत्यवासियो की बाढ मे बहने से किसी न किसी प्रकार बचे रहे छुट-पुट ऐतिहासिक उल्लेखो से लगाया जा सकता है। अपने श्रीमन्त उपासको के अर्थबल एव अन्यान्य साधनो के माध्यम से चैत्यवासियो ने राज्याश्रय प्राप्त कर भारत के अनेक भू-भागो पर अपनी परम्परा का एकाधिपत्य स्थापित करने एव विशुद्ध श्रमणाचार का पालन तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप का उपदेश करने वाली मूल श्रमण परम्परा का अस्तित्व तक मिटा डालने के उद्देश्य से समय-समय पर अनेक प्रकार के उपाय किये। उन उपायो मे से सबसे अधिक प्रभावकारी और भयकर उपाय उन्होने यह किया कि येन-केन-प्रकारेण राजगुरु का गौरवपूर्ण पद प्राप्त कर राजाओ से इस प्रकार की राजाज्ञाए प्रसारित करवा दी कि उनके राज्य की सीमा मे चैत्यवासी परम्परा के साधु-साध्वियो के अतिरिक्त अन्य किसी भी परम्परा के साधु एव साध्विया प्रवेश तक नही कर पायें। राजाओ से इस प्रकार की निषेधाज्ञाए प्रसारित करवाये जाने

का एक पुष्ट ऐतिहासिक प्रमाण आज भी उपलब्ध है कि विक्रम सम्वत् ८०२ मे अणहिलपुर पाटण के राजा वनराज चावडा के गुरु चैत्यवासी आचार्य शीलगुणसूरि ने राजा से राजाज्ञा प्रसारित करवा कर चैत्यवासी परम्परा के साधु-साध्वियो को छोड शेप सभी अन्य परम्पराओ के साधु-साध्वियो का पाटण राज्य की सीमा मे प्रवेश तक वन्द करवा दिया था। उस राजाज्ञा का वि० स० ८०२ से लगभग वि० स० १०७५ पर्यन्त निरन्तर २७५ वर्प तक अणहिलपुर पाटण के सम्पूर्ण राज्य मे पूरी कडाई के साथ पालन किया गया। इससे विश्वास किया जाता है कि अणहिलपुर पाटण ही की तरह जहा-जहा उन दिनो चैत्यवासियो का वर्चस्व रहा होगा, जिन-जिन राज्यो मे चैत्यवासी राजमान्य हुए होगे, उन सभी राज्यो मे भी चैत्यवासियो ने अपने प्रभाव को और अर्थबल को उपयोग मे लेकर इस प्रकार की राजाज्ञाए निश्चित रूप से प्रसारित करवाई होगी।

जिन राज्यो मे चैत्यवासियो को राज्याश्रय प्राप्त हुआ, उन राज्यो मे विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाली मूल श्रमण परम्परा के श्रमणो एव श्रमणियो के प्रवेश तक को रोकने वाली राजकीय निषेधाज्ञाए प्रसारित करवा कर ही चैत्यवासियो ने अपने कर्त्तव्य की इतिश्री नही समझ ली। उन्होने उन राज्यो मे विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाली मूल श्रमण परम्परा के नामशेष तक मिटाने के पूरे प्रबल प्रयास करने मे भी किसी प्रकार की कमी नही रखी। जिन राज्यो मे पौने तीन-तीन सौ वर्षो जैसी सुदीर्घावधि तक एक ही परम्परा का पूर्ण एकाधिपत्य रहे, पूर्ण वर्चस्व रहे— पूरा बोलबाला रहे, अन्य परम्परा के किसी भी साधु को उन राज्यो की सीमा तक मे नही घुसने दिया जाय, उन क्षेत्रो मे क्या दूसरी परम्पराओ का नामशेष तक भी अवशिष्ट रह सकता है ? कदापि नही। यही कारण था कि जिन राज्यो मे चैत्यवासी परम्परा का दो-दो, तीन-तीन शताब्दियो तक पूर्ण वर्चस्व और पूर्ण एकाधिपत्य रहा, उन राज्यो मे विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा का कोई अनुयायी और यहा तक कि नाम लेने वाला तक नही रहा।

इस प्रकार राज्याश्रय प्राप्त कर चैत्यवासी परम्परा भारत के विभिन्न भागो मे प्रसृत हुई, फैली और फली फूली। वीर निर्माण की ग्यारहवी शताब्दी के प्रारम्भ से सोलहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक तो चैत्यवासी परम्परा का भारत के अधिकाश भागो मे पूर्ण वर्चस्व और एक प्रकार से पूर्ण-रूपेण एकाधिपत्य रहा। जिन राज्यो मे चैत्यवासियो ने अपनी परम्परा से भिन्न श्रमण परम्परा के श्रमण-श्रमणियो का राजाज्ञाओ द्वारा प्रवेश तक निषिद्ध करवा दिया, उन क्षेत्रो मे रहने वाले जैनधर्मावलम्बियो को विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा के श्रमण-श्रमणियो के दर्शन तक दुर्लभ हो गये। उन प्रदेशो के निवासी न केवल विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले सतत विहारी श्रमणो को ही अपितु मूल श्रमण परम्परा के स्वरूप तक को भूल गये।

वे लोग तो चैत्यवासियो को ही भगवान् महावीर की मूल श्रमण परम्परा के सच्चे श्रमण, श्रमणो के लिए सर्वथा हेय शिथिलाचार को ही विशुद्ध श्रमणाचार और उन चैत्यवासियो द्वारा प्रचालित अशास्त्रीय नये-नये आडम्बरपूर्ण विधि-विधानो तथा धर्म के नाम पर जारी किये गये भौतिक कार्यकलापो-अनुष्ठानो, कार्यक्रमो को ही जैन धर्म का वास्तविक मूल स्वरूप जानने और मानने लगे। अहिंसा, अपरिग्रह सम, सम्वेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था, यम, नियम, स्वाध्याय, ध्यान, तपश्चरण, शास्त्रवाचन, भिक्षाटन आदि अनिवार्य, अपरिहार्य और एकान्तत आवश्यक मूल कर्तव्यो का भी साध्वाचार मे कोई स्थान हो सकता है, इस बात की कल्पना तक सर्वसाधारण के मस्तिष्क मे नही रही। साधुओ द्वारा चैत्यो का अपनी कल्पना की ऊची ऊची उडानो के अनुरूप निर्माण करवाना, उन चैत्यो का स्वामित्व ग्रहण करना, उनमे आजीवन नियत निवास करना, चैत्यो की विशाल भोजनशालाओ मे भगवान् के भोग के नाम पर स्वेच्छानुसार सुस्वादु षड्स भोजन बनवा उससे अपना उदरपोषण करना, अपने पास सोना, चादी, हीरा, पन्ना, माणिक, मोती, रुपया, पैसा, भूमि आदि विपुल परिग्रह रखना, चैत्यो मे धूप, दीप, नैवेद्य, फल, फूल, पुष्पमाला, वाद्यवादन, सगीत आदि का प्रबन्ध करना, रथयात्रा, तीर्थयात्रा, प्रतिष्ठा आदि अनेक प्रकार के आडम्बरपूर्ण, उत्सवो तथा महोत्सवो का आयोजन करना, मन्त्र, यन्त्र, तन्त्र, ज्योतिष आदि के बल पर जनसाधारण को चमत्कृत कर अपनी महानता सिद्ध करना आदि कार्यकलापो को ही उस समय का जनसमूह श्रमणाचार का प्रमुख कर्त्तव्य और जैन धर्म का महत्तम मूल स्वरूप मानने लगा।

वीर निर्वाण की ग्यारहवी शताब्दी के प्रथम चरण से वीर नि० स० १५५४ तक यही स्थिति रही कि चैत्यवासी परम्परा ही लोकदृष्टि मे जैनधर्म की सच्ची प्रतिनिधि और मूल परम्परा के रूप मे मान्य रही। चैत्यवासी परम्परा के श्रमण आगम-प्रतिपादित श्रमण धर्म से उन्मुख होने पर भी उस समय के राज और समाज पर छाये हुए थे। वे ही सच्चे जैन श्रमण माने जाते रहे। जिन क्रियाओ को, जिन कार्यकलापो को शास्त्रो मे घोर पापाचार बताया गया है, उन्ही को चैत्यवासी परम्परा द्वारा धार्मिक क्रिया के रूप मे स्वीकृत कर लिये जाने पर लोग उन्ही को जैन धर्म के वास्तविक एव सिद्धान्तसम्मत मूल धार्मिक कृत्य जानते और मानते रहे। वीर निर्वाण की ११वी शताब्दी के प्रारम्भिक काल मे, जब से चैत्यवासी परम्परा का उत्कर्ष प्रारम्भ हुआ तभी से जैन धर्म की मूल मान्यताओ व उपासनाओ की एव विशुद्ध एव शास्त्रीय श्रमणाचार का पालन करने वाली मूल श्रमण परम्परा के श्रमणो की सख्या उत्तरोत्तर क्षीण से क्षीणतर होती चली गई। वीर नि० की सोलहवी शताब्दी के तृतीय चरण मे तो यह स्थिति हो गई कि मूल श्रमण परम्परा के श्रमण भारतवर्ष के उत्तरवर्ती क्षेत्र मे अथवा सुदूरस्थ किसी क्षेत्र विशेष मे ही इनी गिनी सख्या मे अवशिष्ट रह गये।[1]

[1] सम्बन्धित टिप्पणी अगले पृष्ठ पर

वीर नि० की १६ वी शताब्दी मे वनवासी परम्परा के आचार्य उद्योतन सूरि की भारत के उत्तरवर्ती क्षेत्र मे विद्यमानता के इस उल्लेख से यह प्रमाणित होता है कि चैत्यवासियो के चरमोत्कर्ष काल मे भी भगवान् महावीर द्वारा स्थापित चतुर्विध तीर्थ का मूल स्वरूप विद्यमान रहा। चैत्यवासी परम्परा द्वारा जैन धर्म के मूल स्वरूप तथा मूल श्रमणाचार को विकृत कर दिये जाने और चैत्यवासियो के सर्वग्रासी एकाधिपत्य के उपरान्त भी जैन धर्म का मूल स्वरूप एव श्रमण परम्परा चैत्यवासी परम्परा के बाह्याडम्बरपूर्ण घटाटोप मे गौण और गुप्तप्राय तो अवश्य हो गये पर लुप्त नही हुए। जो मूल श्रमण परम्परा का प्रवाह वीर नि० स० १००० तक उत्ताल तरगो से उद्वेलित किसी महानदी के वेग के समान प्रवाहित होता रहा, वह चैत्यवासी परम्परा के उत्कर्षकाल मे उस रूप मे नही रहा, मन्द हो गया, मन्दतर भी हो गया पर वह अवरुद्ध नही हुआ, लुप्त नही हुआ। षष्ठम आरक मे गगा नदी के क्षीण प्रवाह के समान मूल श्रमण परम्परा का प्रवाह चैत्यवासी परम्परा के उस परमोत्कर्ष के सक्रान्तिकाल मे भी मन्द-मन्द मन्थर गति से प्रवाहित होता ही रहा। निहित स्वार्थ अथवा पूर्वाग्रहग्रस्त अन्य परम्पराओ के अनुयायिओ ने मूल श्रमण परम्परा की उस अति क्षीणावस्था को लुप्तावस्था की सज्ञा दे डाली। पर यत्र तत्र बिखरे पडे ऐतिहासिक तथ्यो के प्रकाश मे एक बात स्पष्ट है कि उस ६००-७०० वर्ष के घोर सक्रान्तिकाल मे भी मूल श्रमण परम्परा न केवल जीवित ही रही अपितु प्रबुद्ध भी रही।

महानिशीथ के तीन आख्यान – सावद्याचार्य का आख्यान, वज्रस्वामी और तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थित उनके ५०० शिष्यो का आख्यान और द्रव्यार्चन एव भावार्चन का आख्यान—ये तीन आख्यान इस बात के प्रमाण हैं कि भगवान् महावीर द्वारा तीर्थप्रवर्तन के समय धर्म का जो स्वरूप प्रकट किया गया था, धर्म के

---

१ (क) अभोहर देशे जिनचन्द्राचार्या देवगृहवासिनश्चतुरशीतिस्थावलकनायका आसन्। तेषा वर्धमान नामा शिष्य। तस्य च सिद्धान्तवाचना गृह्णतश्चतुरशीति-राशातना समायाता। ताश्च परिभावयत इय भावना मनसि समजनि-"यद्येता रक्ष्यन्ते तथा भद्र भवति।" व्रतगुरोश्च निवेदितम्। गुरुणा चिंतित "अस्य मनो न मनोहरम्" इति ज्ञात्वा सूरिपदे स्थापित। तथापि तस्य मनो न रमते चैत्यवासगृहे स्थातुम्। ततो गुरो सम्मत्या निर्गत्य कतिचिन् मुनिसमेतो ढिली वा दली प्रभृति देशेषु समा यात। तस्मिन् प्रस्तावे, तत्रैवोद्द्योतनाचार्य सूरिवर आसीत्। तस्य पार्श्वसम्यगाग मतत्व बुद्ध्वा उपसम्पद गृहीतवान्। खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि पृष्ठ १

(ख) अहन्नया कयाई सिरिवद्धमाणसूरिआयरिया अरन्नचारिगच्छनायगसिरि उज्जोयण सूरिपट्टधारिणो।—वही, पृ० ८९

उसी मूल स्वरूप के उपासक मूल श्रमण परम्परा के श्रमण उस घोर सक्रान्तिकाल मे भी विद्यमान थे और शास्त्रो मे प्रतिपादित धर्म के मूल स्वरूप को वे समय-समय पर लोगो के समक्ष उस सक्रान्तिकाल मे भी बडी निर्भीकता के साथ रखते थे। उस सक्रान्तिकाल मे मूल श्रमण परम्परा के श्रमणो की विद्यमानता के प्रमाण तो इस प्रकार उपलब्ध होते है किन्तु देवर्द्धिगणि श्रमाश्रमण के पश्चात् मूल श्रमण परम्परा की—वाचनाचार्य परम्परा और वीर नि० स० १००० तक प्रचलित रही गणाचार्य परम्पराओ की पट्टावलिया आज जैन वाग्मय मे कही उपलब्ध नही होती। जिस वाचनाचार्य परम्परा के महान् आचार्य देवर्द्धि क्षमाश्रमण ने १४ वर्ष तक अथक प्रयास करके मूल अगो, उपागो एव आगमो को लिपिबद्ध करवाया, पुस्तकारूढ कर जैन धर्मावलम्बियो पर असीम उपकार किया, उन महान् उपकारी देवर्द्धि क्षमाश्रमण का उत्तराधिकारी आचार्य कौन हुआ इसका उल्लेख आज सम्पूर्ण जैन वाग्मय मे खोजने पर भी उपलब्ध नही होता, उनके किसी शिष्य, प्रशिष्य अथवा प्रशिष्यानुप्रशिष्य तक का नाम भी कही उपलब्ध नही होता। यह स्थिति बडी दुर्भाग्यपूर्ण और आश्चर्यजनक है।

वीर नि० स० ९८० से ९९४ तक निरन्तर चौदह वर्षो के कठोर परिश्रम से आर्य देवर्द्धि ने आगमो को पुस्तकारूढ करवाया। इतना बडा कार्य विशाल शिष्य समुदाय की सहायता के बिना सम्पन्न होना कदापि सम्भव प्रतीत नही होता। इस प्रकार की स्थिति मे देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होते ही वाचनाचार्य परम्परा अथवा आगमलेखन मे उनके सहायक आर्य कालक आदि की शिष्य परम्पराए हठात् ही विलुप्त हो गई हो, इस पर तो कोई भी विश्वास नही कर सकता। वस्तुत ऐसा होना सम्भव भी प्रतीत नही होता कि शताब्दियो तक जैन सघ मे बहुजन सम्मत, बहुजन मान्य और परमपूज्य रही वाचनाचार्य परम्परा जैसी सुविख्यात मूल श्रमण परम्परा देवर्द्धिगणि के स्वर्गस्थ होते ही सहसा विलुप्त हो जाय। चैत्यवासी परम्परा के अभ्युदय, समुत्थान और उत्कर्ष काल के घटनाचक्र को ध्यान मे रखते हुए विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि देवर्द्धिगणि के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर वाचनाचार्य परम्परा के साथ-साथ मूल श्रमण परम्परा की गणाचार्य परम्पराओ का भी ह्रास होना प्रारम्भ हो जाने के उपरान्त भी अनेक शताब्दियो तक इन परम्पराओ के श्रमण-श्रमणियो एव श्रावक-श्राविकाओ का अस्तित्व रहा। ज्यो-ज्यो मूल श्रमण परम्परा की इन विभिन्न धाराओ का उत्तरोत्तर क्रमिक ह्रास होता गया, त्यो-त्यो उनकी पट्टपरम्पराओ को लोग भूलते गये। इन परम्पराओ के श्रमणोपासको की सख्या जब क्षीण से क्षीणतर होती चली गई तो इन परम्पराओ की पट्टावलिया भी शनै शनै विलुप्त होती गई। यह भी सम्भव है कि जिन-जिन राज्यो मे राजाज्ञाए प्रसारित करवा कर चैत्यवासी परम्परा ने मूल श्रमण परम्परा के साधु-साध्वियो का प्रवेश तक निषिद्ध करवा दिया था, उन राज्यो के धर्मस्थानो मे रही मूल श्रमण परम्परा

की पट्टावलियो को चैत्यवासियो ने नष्ट करवा दिया हो। उस सक्रान्तिकाल के घटनाचक्र के पर्यालोचन से ऐसा प्रतीत होता है कि उस सक्रान्तिकाल मे अनेक प्रदेशो के, अनेक राज्यो एव क्षेत्रो के जैनधर्मावलम्वी सामूहिक रूप से चैत्यवासी परम्परा के अनुयायी वने। उस प्रकार की स्थिति मे उन प्रदेशो मे रही मूल श्रमण परम्परा की पट्टावलियो के नष्ट किये जाने अथवा नष्ट हो जाने की भी प्रबल सम्भावना अनुमानित की जाती है। यही कारण है कि देवर्द्धिगणि के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर अनेक शताब्दियो तक मूल श्रमण परम्परा के अविच्छिन्न गति से क्रमिक क्षीण और क्षीण से क्षीणतम रूप मे प्रवहमान रहने पर भी उस मूल श्रमण परम्परा की देवर्द्धिगणि के उत्तरवर्तीकाल की पट्टपरम्पराए अथवा पट्टावलिया आज कही उपलब्ध नही होती। स्वय भगवान् महावीर के मुखारविन्द से प्रकट हुई इस दिव्य ध्वनि—"गौतम मेरा धर्मसघ पचम आरक के अवसान काल के अन्तिम दिन तक रहेगा"—के अनुसार, जिसका कि भगवती सूत्र मे स्पष्ट उल्लेख विद्यमान है तथा महानिशीथ के उपरिवर्णित तीन उल्लेखो एव खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली मे विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे हुए वनवासी परम्परा के आचार्य उद्योतन सूरि के उल्लेख आदि परस्पर एक-दूसरे से भली-भाति परिपुष्ट प्रमाणो से यह पूर्णत सिद्ध होता है कि मूल श्रमण परम्परा और जैन धर्म का मूल स्वरूप ये दोनो ही तीर्थप्रवर्तन काल से आज तक अविच्छिन्न रूप से निरन्तर प्रवहमान एक धारा के रूप मे चले आ रहे हैं। ये दोनो इन विगत ढाई हजार वर्षो की सुदीर्घावधि मे गौण अथवा गुप्त अवश्य हुए पर लुप्त कभी नही हुए।

जैन धर्म के मूल आध्यात्मिक स्वरूप और मूल श्रमण परम्परा के गौण अथवा गुप्त होने मे मुख्य कारण काल प्रभाव के साथ-साथ चैत्यवासी परम्परा ही रही।

चैत्यवासी परम्परा मे भी ज्यो-ज्यो समय बीतता गया त्यो-त्यो विघटनकारी मतभेद उत्पन्न होते गये। कालान्तर मे चैत्यवासी परम्परा मे भी भिन्न-भिन्न मान्यताओ वाले गच्छो की उत्पत्ति हुई। छोटे-छोटे गच्छो की तो गणना करना भी कठिन कार्य था, बडे-बडे प्रमुख गच्छो की सख्या भी चौरासी (८४) तक पहुच गई।[1] प्रत्येक गच्छ के आचार्य और अनुयायी दूसरे गच्छो को अपने गच्छ से हीन और अपने गच्छ को ही सर्वश्रेष्ठ, सर्वोपरि एव सबसे बडा सिद्ध करने मे प्रयत्नशील

---

[1] इह गाथाग्रत्थ चिंतिऊण ससाराओ विरत्तो नीसरिऊण अणहिल्लपुरपट्टणे गओ। तत्थ चुलसी पोसहसाला, चुलसी गच्छवासिणो भट्टारगा वसति। जिणवल्लहो जत्थ जत्थ पोसहसालाए गच्छइ पुच्छइ, पिच्छइ, कत्थवि चित्तरइ न जायइ।

—खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि, पृ० ६०

(ख) अवोहरदेशे जिनचन्द्राचार्या देवगृहनिवासिनश्चतुरशीतिस्थावलकनायका आसन्।
वही, पृष्ठ १

रहने लगे। जिसके स्वामित्व मे बडे से बडे भव्य चैत्य हो, जिसके छत्र, चामर, सिहासनादि राजसी चिन्ह रजतनिर्मित, स्वर्णिम और रत्नजटित हो, जिसके चैत्य मे मोटे से मोटे गद्दे, मसनदे तथा बेसकीमती रगबिरगे चित्रो से सुशोभित रेशमी एव मखमली कालीने हो, बडी से बडी जागीर के समान जिस चैत्यवासी आचार्य के आय के स्रोत अधिकाधिक विपुल हो, जिसको चारो ओर से शिष्यो-प्रशिष्यो और भक्तो की बडी से बडी भीड घेरे हुए हो, जिसके चैत्यो की पाकशालाओ मे अन्नपूर्णा के भण्डार की तरह गरिष्ठ से गरिष्ठ सुस्वादु षड्रस व्यजन प्रचुर से प्रचुर मात्रा मे बनाये जाते हो, जिसके पास सर्वाधिक बाह्याडम्बर की सामग्री, विपुल ऐश्वर्य, सुखोपभोग की सामग्री, अतुल धन सम्पदा अमित वैभव और अपरिमित परिग्रह हो, वही सबसे बडा गच्छ तथा उस गच्छ का आचार्य सबसे बडा आचार्य माना जाने लगा। बडप्पन के इस मापदण्ड के परिणामस्वरूप भव्यातिभव्य मन्दिरनिर्माण, विशाल सघयात्रा, अद्भुत आडम्बरपूर्ण रथयात्रा, प्रतिष्ठा महोत्सव, घटा-घडियालो आदि विविध वाद्ययन्त्रो के तुमुल घोष के साथ प्रात साय देवार्चन और एक-दूसरे से अधिक मूल्य की प्रभावनाए बाटने आदि की सभी चैत्यवासी गच्छो मे परस्पर प्रतिस्पर्द्धापूर्ण होड सी लग गई। श्रमणो के लिये परमावश्यक स्वाध्याय, ध्यान, शास्त्रवाचन, अध्यात्मचिन्तन-मनन आदि दैनिक कर्त्तव्यो को ताक मे रखकर चैत्यवासी आचार्य, साधुवर्ग, साध्वीवर्ग और उनके उपासक श्रावक-श्राविकावर्ग इन आरम्भ-समारम्भ एव आडम्बरपूर्ण क्रियाकलापो को ही मोक्ष प्राप्ति का धर्मसघ के अभ्युत्थान का साधन समझ कर अहर्निश इन भौतिक प्रपचो मे ही जुट गये।

विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी के पण्डित जिनेश्वरगणि द्वारा अपने गुरु वर्द्धमानसूरि को प्रार्थना के रूप मे कहे गये—"अस्मिन् प्रस्तावे विज्ञप्त पण्डित जिनेश्वरगणिना—"भगवन्! ज्ञातस्य जिनमतस्य किं फलम्, यदि कुत्रापि गत्वा न प्रकाश्यते। गूर्जरत्रादेश प्रभूतो देवगृहवास्याचार्यव्याप्त श्रूयते। अतस्तत्र गम्यते।"[1] इस वचन से निर्विवादरूपेण यही प्रकट होता है कि वीर निर्वाण की ग्यारहवी शताब्दी से सोलहवी शताब्दी तक के चैत्यवासियो के उत्कर्ष काल मे जैन समाज एक पीढी से अनेक प्रपीढियो तक प्रतिदिन नितान्त बाह्याडम्बरपूर्ण उपर्युक्त कार्यकलापो को धार्मिक कृत्यो के रूप मे करते रहने के कारण वस्तुत द्रव्यार्चन का, द्रव्यपूजा का पूर्णरूपेण अभ्यस्त हो गया था। चैत्यवासियो द्वारा धर्म के नाम पर प्रचालित किये गये अशास्त्रीय विधि-विधान एव अन्यान्य आडम्बरपूर्ण कार्यकलाप जैन समाज मे धार्मिक कृत्यो के रूप मे रूढ हो गये थे। जैन धर्मावलम्बियो का एक बहुत बडा भाग धर्म की मूल आत्मा आध्यात्मिकता को एक प्रकार से भूल सा गया था। चैत्यवासियो द्वारा अशास्त्रीय तथाकथित धर्ममार्ग

---

[1] खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि, पृष्ठ १

पर आरूढ किये गये भूले भटके लोगो को, जैन धर्मावलम्बियो को धर्म का सच्चा स्वरूप बताने के लिए जिनेश्वरगरिण ने अपने गुरु वर्द्धमानसूरि से प्रार्थना की।

पण्डित जिनेश्वरगरिण की प्रार्थना को स्वीकार कर वर्द्धमानसूरि ने अपने १७ साधुओ के साथ दिल्ली से गुजरात की ओर विहार किया। विहारक्रम से पल्ली (सम्भवत पाली–मारवाड) होते हुए कालान्तर मे वे अनहिलपत्तन पहुचे। वहा सुसाधुओ का भक्त एक भी श्रावक नही था जिससे कि वे रहने के लिये स्थान की याचना करते।[1] ऐसी स्थिति मे वे नगर के बाहर एक मण्डपिका (छतरी) मे उतरे और स्वाध्याय ध्यानादि आवश्यक धर्मकृत्यो मे निरत हो गये। उस छतरी मे धूप और भूख-प्यास को सहन करते हुए कुछ समय तक ठहरने के पश्चात् जिनेश्वरगरिण ने अपने गुरु से निवेदन किया—"भगवन्! इस प्रकार वैठे रहने से तो कोई कार्य होने वाला नही है।"

वर्द्धमानसूरि ने पूछा—"तो फिर क्या किया जाय ? सौम्य!"

जिनेश्वरगरिण ने निवेदन किया—"भगवन्! यदि आपकी आज्ञा हो तो मै उस विशाल भवन मे जाऊ, जो यहा से दिखाई दे रहा है।"

गुरु की आज्ञा प्राप्त कर पण्डित जिनेश्वरगरिण उस भवन की ओर प्रस्थित हुए। वह भवन अनहिलपत्तन राज्य के महाराजा दुर्लभ राज के राजपुरोहित का था। बात ही बात मे पण्डित जिनेश्वरगरिण के पाण्डित्य से राजपुरोहित बडा प्रभावित हुआ। उसने जिनेश्वरगरिण से पूछा —"आप कहा से आये है और कहा ठहरे है ?" जिनेश्वरगरिण ने कहा—"हम दिल्ली से आये है और बाहर एक खुली छतरी मे ठहरे है। यह प्रदेश हमारे विरोधियो से भरा पडा है, यहा हमारा कोई उपासक नही है। हम १८ साधु है।"

यह सुनकर राजपुरोहित ने अपने भवन के एक भाग मे उन्हे ठहरने की अनुमति प्रदान की। वर्द्धमानसूरि अपने १७ शिष्यो सहित राजपुरोहित के भवन के एक भाग मे आकर ठहरे। पुरोहित के सेवको ने उन साधुओ के साथ जाकर उन को ब्राह्मणो के घर बताये जहा से उन्हे उनकी आवश्यकतानुसार भिक्षा प्राप्त हुई। उसी समय सारे नगर मे यह बात फैल गई कि पत्तन मे वसतिवासी साधु आये हुए हैं। चैत्यवासियो ने उन वसतिवासी साधुओ के आगमन की बात सुनते ही उन्हे वहा से निकलवा देने हेतु षड्यन्त्र रचना प्रारम्भ कर दिया। सारे नगर मे और राजभवन एव राजसभा तक मे अपने चाटुकारो के माध्यम से चैत्यवासियो ने यह

---

[1] क्रमेणानहिलपत्तने प्राप्ता। उत्तरिता मण्डपिकायाम्। तस्मिन् प्रस्तावे तत्र प्राकारो नास्ति, सुसाधुभक्त श्रावकोऽपि नास्ति य स्थानादि याच्यते। तत्रोपविष्टाना धर्मा निकटीभूत। वही, पृष्ठ २

अफवाह फैला दी कि दुर्लभराज के राज्य को हथियाने की इच्छा से मुनिवेष मे किसी शत्रु राजा के गुप्तचर अनहिलपुरपत्तन मे आये हुए है। जब दुर्लभराज के कानो तक यह बात पहुचो तो उन्होने अपने राजपुरुषो से पूछा कि वे गुप्तचर कहा है ? राजपुरुषो ने कहा—"देव ! वे लोग आपके राजपुरोहित के घर मे ठहरे हुए है।"

महाराज दुर्लभराज ने तत्काल राजपुरोहित को बुलाकर कहा—"नगर के घर-घर मे यह बात फैली हुई है कि किसी शत्रुराजा के गुप्तचर मुनिवेप मे यहा आये हुए है। यदि वे वस्तुत किसी के गुप्तचर है तो उन्हे आपने अपने घर मे स्थान किस कारण दिया ?" राजपुरोहित ने दुर्लभराज से निवेदन किया—"देव ! उन लोगो पर इस प्रकार का दुप्टतापूर्ण दूषण किसने लगाया है ? मैं लाख पारुप्य दाव पर लगाता हू कि ऐसी बात कहने वाला कोई भी व्यक्ति यदि उनमे एक भी दूषण सिद्ध करने की क्षमता रखता हो तो सम्मुख आये और अपनी बात को सिद्ध करे।" पूरी राज्यसभा मे सन्नाटा सा छा गया। राजपुरोहित की चुनौती को स्वीकार करने वाला कोई भी व्यक्ति वहा दृष्टिगत नही हुआ। पुरोहित की चुनौती को स्वीकार करने के लिये जब कोई भी व्यक्ति सम्मुख नही आया तो राजपुरोहित ने कहा—"राजन् ! वे सभी साधु वस्तुत सशरीरी धर्म के समान है, उनमे किसी प्रकार का कोई भी दूषण नही है।"

राजपुरोहित की वात सुनकर राजा दुर्लभराज पूर्णत आश्वस्त एव सन्तुष्ट हुए।

राजसभा मे उपस्थित सूराचार्य आदि चैत्यवासी आचार्यो ने राज-पुरोहित की बात सुन कर परस्पर मन्त्रणा की कि इन वसतिवासी साधुओ को येन केन प्रकारेण वाद मे पराजित कर यहा से निकलवा देना चाहिये। रोग को उठते ही नष्ट कर देना, यही बुद्धिमत्ता है। इस प्रकार विचार कर उन चैत्यवासी आचार्यो ने राजपुरोहित से कहा—"आपके घर मे ठहरे हुए यतियो से हम विचार-चर्चा करना चाहते है।"

राजपुरोहित ने उत्तर दिया—"उनको पूछकर जैसी भी स्थिति होगी उससे मै आपको अवगत करा दू गा।"

राजपुरोहित घर गया और वर्द्धमान सूरि को वस्तुस्थिति से अवगत कराते हुए कहा—"महात्मन् ! आपके विपक्षी आपके साथ चर्चा करना चाहते हैं।"

श्रीवर्द्धमानसूरि ने कहा—"विलकुल ठीक है। आपको इसमे किंचित् मात्र भी डरने की आवश्यकता नही। आप तो उनसे केवल यही कहिए कि यदि आप शास्त्रार्थ करना चाहते हैं तो महाराज दुर्लभराज के समक्ष जो स्थान उन्हे उपयुक्त लगे उसी स्थान पर वे हमारे साथ वाद-विवाद करें।"

राजपुरोहित ने चैत्यवासी आचार्यो के पास जाकर जैसा वर्द्धमान सूरि ने कहा था वही कहा। चैत्यवासी आचार्यो ने सोचा कि छोटे से लेकर बडे से बडे राज्याधिकारी तक सभी लोग हमारे वशवर्ती है, अत उनसे किसी भी प्रकार का भय नही है। ऐसी स्थिति मे राजा के समक्ष ही शास्त्रार्थ हो जाय। इस प्रकार विचार कर चैत्यवासी आचार्यो ने सबके समक्ष कहा—"अति विशाल पचाशरीय देवमन्दिर मे अमुक दिन शास्त्रार्थ होगा।"

राजपुरोहित ने राजा दुर्लभराज से एकान्त मे कहा—"राजन्! दिल्ली से आये हुए मुनियो के साथ चैत्यो मे नियत निवास करने वाले यहा के चैत्यवासी मुनि चर्चा करने के लिये समुत्सुक है। ऐसा शास्त्रार्थ न्यायवादी राजा के समक्ष हो तभी शोभा देता है। इसलिए शास्त्रार्थ के समय वादस्थल पर आपकी कृपापूर्ण उपस्थिति सादर प्रार्थनीय है।"

दुर्लभराज ने स्वीकृति प्रदान करते हुए राजपुरोहित से कहा—"वस्तुत यह समुचित है। हम वादस्थल पर अवश्य ही उपस्थित रहेगे।"

तदनन्तर विक्रम सम्वत् १०८४ मे शास्त्रार्थ के लिए निश्चित दिन और निश्चित समय पर पचाशरीय देवमन्दिर मे सूराचार्य आदि ८४ ही आचार्य अपनी वरिष्ठता के अनुरूप सिहासनो पर बैठे। राजा दुर्लभराज भी राजसिहासन पर उपविष्ट हुए।

राजा ने पुरोहित को सम्बोधित करते हुए कहा—"पुरोहित जी! अपने उन साधुओ को लाइये।"

राजपुरोहित ने घर जाकर वर्द्धमानसूरि से निवेदन किया—"महात्मन्! सभी आचार्य अपने शिष्यपरिवार सहित वादस्थल पर आ बैठे है। महाराज दुर्लभ-राज भी पचाशरीय मन्दिर मे आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रहे है। राजा ने उन आचार्यो को ताम्बूल समर्पित कर सम्मानित किया है।"

सुधर्मास्वामी आदि सभी युगप्रधानो का हृदय मे ध्यान धर कर श्री वर्द्धमानसूरि भी अपने पण्डित जिनेश्वरसूरि आदि कतिपय आगम निष्णात मुनियो को साथ लेकर पचाशरीय मन्दिर की ओर प्रस्थित हुए। वहा पहुचने पर राजा द्वारा प्रदर्शित स्थान पर पण्डित जिनेश्वर द्वारा बिछाये गये आसन पर वर्द्धमानसूरि बैठे और उनके चरणो के पास ही जिनेश्वरगणि भी बैठ गये। राजा दुर्लभराज आचार्य वर्द्धमानसूरि को ताम्बूल अर्पण के लिये समुद्यत हुए। यह देख कर वर्द्धमानसूरि ने कहा—"राजन्! साधु के लिए ताम्बूलचर्वण करना और ताम्बूल-ग्रहण करना सर्वथा निषिद्ध है क्योकि धर्म-नीति मे ब्रह्मचारियो, साधुओ व विधवाओ के लिये ताम्बूलचर्वण, अत्यन्त निन्दनीय और निषिद्ध बताया गया है।"

यह सुनते ही विवेकशील व्यक्तियो के हृदय मे इन वसतिवासी साधुओ के प्रति प्रगाढ श्रद्धा उत्पन्न हो गई ।

शास्त्रार्थ प्रारम्भ करने का उपक्रम करते हुए वर्द्धमानसूरि ने वादस्थल पर उपस्थित सभी सभ्यो को लक्ष्य कर कहा—"शास्त्रार्थ के समय यह पण्डित जिनेश्वर उत्तर प्रत्युत्तर मे जो कुछ कहेगे, उसे मेरे द्वारा पूर्णत सम्मत समझा जाय ।"

सब सभ्यो ने एक स्वर मे कहा—"ऐसा ही हो ।"

तदनन्तर वाद हेतु अपना पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते हुए उन चैत्यवासियो के मुख्य आचार्य सूराचार्य ने कहा—"जो मुनि वसति मे रहते हैं, वे प्राय षड्दर्शन-बाह्य हैं । षड्दर्शन मे क्षपणक, जटी प्रभृति आते है । अपने इस पूर्वपक्ष को प्रमाण-पुरस्सर परिपुष्ट करने के लिये सूराचार्य ने नव्य वाद की पुस्तक को, एतद्विषयक उसके उल्लेख पढ कर सुनाने हेतु, अपने हाथ मे उठाया । जिनेश्वरगणि ने तत्काल बीच मे ही टोकते हुए अनहिलपत्तनाधीश को लक्ष्य कर कहा—"श्री दुर्लभ महाराज ! आपके राज्य मे पूर्व पुरुषो द्वारा निर्द्धारित नीति चलती है अथवा आज कल के पुरुषो द्वारा निर्मित नीति ।"

राजा तत्काल बोला—"हमारे देश मे पूर्व पुरुषो द्वारा निर्मित एव निर्धारित नीति चलती है, न कि कोई अन्य नीति ।"

इस पर जिनेश्वरसूरि ने कहा—"महाराज ! हमारे धर्म मे भी गणधरो एव चतुर्दश पूर्वधर श्रुतकेवलियो ने जो धर्ममार्ग प्रदर्शित किया है, वही प्रामाणिक माना जाता है । गणधरो एव चतुर्दश पूर्वधरो को छोड किसी अन्य द्वारा प्रदर्शित मार्ग को हमारे मत मे कदापि मान्य अथवा प्रामाणिक नही स्वीकार किया जा सकता ।"

दुर्लभराज महाराज ने तत्काल कहा—"यह तो पूर्णत उचित एव युक्ति-सगत ही है ।"

राजा द्वारा अपनी बात का समर्थन किये जाने पर जिनेश्वरसूरि ने कहा—"राजन् ! हम लोग बडे दूरस्थ प्रदेश से यहा आये हैं, इस कारण हम अपने साथ हमारे पूर्वपुरुष गणधरो एव चतुर्दश पूर्वधरो द्वारा रचित आगम ग्रन्थो को यहा नही ला सके है । अत महाराज ! आपसे निवेदन है कि इन चैत्यवासियो के मठो से हमारे पूर्व पुरुषो द्वारा रचित शास्त्रो के बस्ते मगवाइये, जिससे कि सन्मार्ग और उन्मार्ग का निर्णय किया जा सके ।"

जिनेश्वरसूरि की न्यायसगत माग को स्वीकार करते हुए महाराज दुर्लभराज ने सूराचार्य प्रभृति चैत्यवासी आचार्यो को सम्बोधित करते हुए कहा—"इनका कथन पूर्णत युक्तिसगत है। मैं अपने अधिकारियो को भेजता हू, आप उन आगम-ग्रन्थो को देने मे किसी प्रकार की आनाकानी न करे।"

चैत्यवासी भलीभाति जानते थे कि यदि आगम ग्रन्थो को मगवाया गया तो उन आगमग्रन्थो से इन वसतिवासियो का पक्ष ही पूर्णत परिपुष्ट होगा, अत वे मौन साधकर चुपचाप बैठे ही रहे। इस पर राजा ने अपने राज्याधिकारियो को आज्ञा दी—"इनके मठ मे जाओ और शास्त्रो के बस्ते लेकर शीघ्र आओ।"

राजाज्ञा को शिरोधार्य कर राज्याधिकारी चैत्यवासियो के मठ मे गये और वहा से आगमो के बस्ते लेकर शीघ्रतापूर्वक दुर्लभराज की सेवा मे लौटे। उन शास्त्रो के बस्तो को तत्काल खोला गया। अरिहत देव और गुरु की कृपा से उन बस्तो मे से चौदह पूर्वधर आचार्य सय्यभव द्वारा रचित दशवैकालिक सूत्र की प्रति ही सर्वप्रथम हाथ मे आई। उन्होने दशवैकालिक सूत्र मे से उसके आठवे अध्ययन की निम्नलिखित गाथा बताई —

अन्नट्ठ पगड लेरा, भइज्ज सयणासण।
उच्चारभूमि सपन्न, इत्थीपसुविवज्जिय ॥५२॥ अ० ८॥

अर्थात्—गृहस्थ ने जो घर साधु के लिये नही अपितु दूसरो के लिये अथवा अपने लिये बनाया हो, जिस घर मे मल, मूत्रादि के परठने (विसर्जन) के लिये स्थान हो और जो घर स्त्री, पशु आदि से रहित हो, उस घर मे साधु को ठहरना चाहिये तथा जो शय्या अर्थात् पीठ, फलक, पाट, पाटलादि गृहस्थ ने अपने लिये बनाये हो, उन्हे साधु अपने उपयोग हेतु गृहस्थ से ले सकता है।

पण्डित जिनेश्वरगरिण ने इस गाथा और इसके अर्थ को सभ्यो के समक्ष सुनाते हुए कहा—"इस प्रकार की वसति मे, इस प्रकार के घर मे साधु को रहना चाहिये न कि देवगृह मे।"

राजा ने निर्णायक स्वर मे कहा—"बिल्कुल ठीक एव युक्तिसगत तथ्य है।"

सब अधिकारियो को अनुभव हुआ कि उनके गुरु निरुत्तर हो गये है। निरुत्तर हुए अपने गुरुओ की सहायता करते हुए श्रीकरण से लेकर पटव पर्यन्त सभी राज्याधिकारी कहने लगे—"हममे से प्रत्येक के ये गुरु है। राजा हमको बहुत मानते है, इसी कारण हमारे गुरुओ को भी मानते है।"

उनके कहने का तात्पर्य यह था कि हम सब चैत्यवासी आचार्यो के उपासक है और इन वसतिवासियो का तो कोई एक भी उपासक यहाँ नही। अत राजा भी

न्यायवादी होने के कारण मान जाएगे कि इनके उपासको के अभाव मे वसति-वासियो को यहा नही रहने दिया जाना चाहिये। इस प्रकार की बात जब उन सब राज्याधिकारियो ने महाराज दुर्लभराज के समक्ष कही तो तत्काल श्री जिनेश्वर सूरि ने कहा—"इनमे से कोई श्रीकरणाधिकारी का गुरु है, कोई मन्त्री का, तो कोई पटवो आदि का। इस प्रकार इन सब चैत्यवासी आचार्यों का किसी न किसी से सम्बन्ध है, पर हम नवागन्तुको का किससे सम्बन्धहै ?" इस पर दुर्लभराज ने दृढ स्वर मे कहा—"आपका हम से सम्बन्ध है।"

जिनेश्वरसूरि ने पुन कहा—"महाराज! इनमे से प्रत्येक आचार्य का किसी न किसी से सम्बन्ध होने के कारण ये सब किसी न किसी के गुरु है पर आज तक यहा के लोगो मे से हमारा किसी के साथ सम्बन्ध न होने के कारण हमारा न तो किसी से कोई सम्बन्ध ही है और न हम किसी के गुरु ही है।"

यह बात सुन कर राजा दुर्लभराज ने तत्काल उन नवागन्तुक वसतिवासी मुनियो को अपना गुरु बनाया। उन्हे अपना गुरु बनाने के पश्चात् राजा ने कहा—"हमारे गुरु इस प्रकार नीचे क्यो बैठे ? क्या हमारे पास गद्दिया नही है। मेरे इन गुरुओ मे से प्रत्येक गुरु को रत्नजटित वस्त्रो से निर्मित सात सात गद्दिया दी जाय।"

राजा का इगित पाकर ज्यो ही राजभृत्य उन वसतिवासी साधुओ के लिये गद्दिया लाने को उठे त्यो ही जिनेश्वरसूरि ने कहा—"महाराज! साधुओ के लिये गद्दी पर बैठना अकल्पनीय है। क्योकि धर्मनीति मे कहा है —

भवति नियतमेवासयम स्याद्विभूषा,
नृपतिककुद! एतल्लोकहासश्च भिक्षो ।
स्फुटतर इह सग सातशीलत्वमुच्चै—
रिति न खलु मुमुक्षो सगत गन्दिकादि ॥

अर्थात् गद्दी पर बैठने से साधु को अपने सयम मे निश्चित रूप से असयम के दोष लगते हैं। गद्दी पर बैठना विभूषा की गणना मे भी आता है और विभूषा साध के लिये एकान्तत वर्जित है। हे नृपशिरोमणि! गद्दी पर बैठने से साधु लोगो मे हसी का पात्र बनता है। क्योकि साधु का मूल गुण है त्याग और गद्दी वस्तुत भोग और वैभव की प्रतीक है। गद्दी पर बैठने से ममत्वभाव के उद्गम के कारण साधु का मूल गुण निस्सगता समाप्त हो उसमे सग अर्थात् आसक्ति का दोष उत्पन्न हो जाता है। इसके साथ ही साथ गद्दी पर बैठने से साधु मे उच्चकोटि का शैथिल्य आ जाता है। इन सब दोषो को दृष्टिगत रखते हुए साधु के लिये गद्दी पर बैठना किसी भी प्रकार सगत नही, वर्जित ही माना गया है।"

महाराज दुर्लभराज ने जिनेश्वरगरिण से पूछा—"आप लोग किस (प्रकार के) स्थान मे रहते है ?"

जिनेश्वरगरिण ने उत्तर दिया— महाराज! विपक्षियो का जहा प्राबल्य हो, वहा हमे रहने के लिये स्थान मिल ही कैसे सकता है।"

दुर्लभराज ने अपने एक राज्याधिकारी की ओर इगित करने के साथ साथ जिनेश्वरगरिण से कहा—"करडीहट्टी मे सततिविहीनावस्था मे मृत" श्रेष्ठि का जो विशाल भवन है, उस भवन मे आप रहे।" तत्क्षरण उन वसतिवासी साधुओ के लिये उस भवन मे ठहरने की व्यवस्था कर दी गई।

राजा ने जिनेश्वरसूरि से पुन पूछा—"आपका भोजन कहा और किस प्रकार होता है?"

जिनेश्वरगरिण ने उत्तर दिया—"महाराज! भोजन भी रहने के स्थान के समान ही दुर्लभ है।"

दुर्लभराज—"आप कितने साधु है ?"

जिनेश्वरगरिण—"महाराज! हम १८ साधु है।"

दुर्लभराज—एक हस्तिपिण्ड (एक हाथी की जिससे क्षुधातृप्ति हो जाय, उतने परिमारण की भोजन सामग्री) से आप सब तृप्त हो जायेगे ?"

जिनेश्वरगरिण —"राजन्! राजपिण्ड साधुओ के लिये कल्पनीय नही है। शास्त्रो मे साधु को राजपिण्ड ग्रहरण करने का निषेध किया गया है।"

दुर्लभराज—"अच्छा, ऐसी बात है तो मेरा एक आदमी भिक्षाटन् के समय आपके साथ हो जायेगा, इससे आपको सर्वत्र भिक्षा सुलभ हो जायगी।"

तदनन्तर शास्त्रार्थ मे अपन विपक्षी चैत्यवासी आचार्यो को पराजित कर वर्द्धमानसूरि ने अपने शिष्यपरिवार सहित राजा और नागरिको के साथ वसति मे प्रवेश किया। इस प्रकार वीर निर्वारण स० ८०२ मे अरगहिलपुरपत्तन के राजा वनराज चावडा के गुरु चैत्यवासी आचार्य शीलगुरगसूरि ने चैत्यवासी परम्परा के अतिरिक्त अन्य सभी परम्पराओ के साधु—साध्वियो के पाटरग राज्य की सीमा मे प्रवेश तक पर प्रतिबन्ध लगाने वाली राजाज्ञा वनराज से प्रसारित करवाई थी, उस निषेधाज्ञा को लगभग २७५ वर्ष पश्चात् वीर नि० स० १०७५ के आसपास वर्द्धमानसूरि ने तत्कालीन पत्तनपति दुर्लभराज से निरस्त करवा कर गुजरात प्रदेश मे प्रथम बार पुन वसतिवास की स्थापना की।

चैत्यवासी उन वसतिवासी साधुओ को वाद मे पराजित कर पाटन राज्य से बाहर निकलवाना चाहते थे पर वे स्वय ही वसतिवासियो से वाद मे पराजित हो गये। इस प्रकार वर्द्धमानसूरि को पाटण से बाहर निकलवाने के अपने पहले उपाय मे वे असफल रहे। वाद से पूर्व चैत्यवासियो ने उन वसतिवासियो पर किसी शत्रु राजा के गुप्तचर होने का आरोप लगाकर उन्हे राज्य से बाहर निकलवाने का षड्यन्त्र किया था, उसमे भी उनको असफलता मिली। तदनन्तर चैत्यवासियो के उपासक राज्याधिकारियो ने राजा के समक्ष यह बात रखी कि क्योकि इनके कोई उपासक यहा नही है अत ऐसी स्थिति मे उन वसतिवासियो को पाटण मे रहने का कोई अधिकार नही। उनका यह उपाय भी निष्फल रहा क्योकि स्वय राजा उन वसतिवासियो का उपासक बन गया।

अपने इन उपायो मे असफल रहने के उपरान्त भी वे चुप नही बैठे। उन्होने परस्पर मन्त्रणा कर वसतिवासियो को पाटण से बाहर निकलवाने का एक और षड्यन्त्र रचा। उन चौरासी चैत्यवासी आचार्यो ने अपने अपने उपासको से कहा कि राजा अपनी पटरानी की कोई भी बात नही टालता। अत तुम लोग अनेक प्रकार के बहुमूल्य उपहार ले कर राजा की पट्टमहिषी के पास जाओ और उसे उन अमूल्य उपहारो से प्रसन्न कर इन वसतिवासियो को पाटण की सीमा से बाहर निकलवाओ। अपने अपने आचार्यो के आदेश को शिरोधार्य कर समस्त राज्याधिकारी वर्ग अनेक प्रकार के बहुमूल्य आभरणालकार, वस्त्र, फल, फूल, मेवा मिष्टान्नादि से भरे अनेको बडे-बड पात्र, गट्ठर, टोकरे आदि ले कर पटरानी की सेवा मे उपस्थित हुए। उन बहुमूल्य उपहारो को प्राप्त कर रानी बडी प्रसन्न हुई। उस अधिकारी वर्ग ने पटरानी को प्रसन्न देख वसतिवासियो को राज्य की सीमा से बाहर निकलवाने हेतु अपना अभीप्सित मनोरथ पटरानी के समक्ष रखना प्रारम्भ किया। ठीक उसी समय दुर्लभराज ने किसी परमावश्यक कार्यवशात् अपने एक भृत्य को पटरानी के पास भेजा। वह भृत्य सयोगवश मूलत दिल्ली का निवासी था। चैत्यवासियो के उपासको द्वारा भेट किये गये बहुमूल्य विपुल उपहारो को देखते ही वह समझ गया कि उसके प्रदेश से आये हुए साधुओ को राज्य की सीमा से बाहर निकलवाने के लिए षड्यन्त्र किया जा रहा है। उसने वसतिवासी साधुओ की सहायता करने का सकल्प किया। पटरानी को राजा का सन्देश सुना कर वह भृत्य राजा के पास लौट गया। उसने राजा से निवेदन किया—"देव ! मैंने पटरानीजी की सेवा मे आपका सन्देश प्रस्तुत कर दिया। परन्तु देव ! मैंने वहाँ अद्भुत कौतुक देखा। जिस प्रकार यहाँ अर्हत् की मूर्ति के समक्ष विविध बलि नैवेद्यादि प्रस्तुत किये जाते हैं, उसी प्रकार रानी अर्हत् स्वरूपा बनी हुई है और उनके समक्ष अनेक प्रकार के बहुमूल्य आभूषण वस्त्रालकार, फल, मेवे, मिष्टान्नादि के ढेर लगे हुए हैं।"

यह सुनते ही राजा ने सारी स्थिति को भाप लिया और उन्होंने मन ही मन विचार किया—"जिन न्यायवादियो को मैंने अपने गुरु के रूप मे अगीकार किया है, उनका पीछा ये चैत्यवासी लोग अब भी नही छोड रहे हें।" यह विचार कर राजा ने अपने भृत्य को आज्ञा दी—"शीघ्रतापूर्वक पटरानी के पास जाओ और जाकर उनसे मेरा यह सदेश कहो —"महाराज ने कहलवाया है कि जो कुछ आपको उपहार के रूप मे भेंट किया गया है, उसमे से यदि एक सुपारी तक भी आपने ग्रहण कर ली तो न आप मेरी रहेगी और न मै आपका।"

भृत्य ने तत्काल पटरानी के समक्ष उपस्थित हो उन्हे राजा का सन्देश यथावत् कह सुनाया। राजा का सन्देश सुनते ही रानी बडी भयभीत हुई। उसने उन सभी उपहार भेंट करने वालो से आदेश और आक्रोश भरे स्वर मे कहा—"जिस-जिस के द्वारा जो जो वस्तु यहाँ लाई गई है वह तत्काल उन सब वस्तुओ को यहाँ से अपने-अपने घर ले जायँ। मुझे इन वस्तुओ से कोई प्रयोजन नही है।"

सभी अधिकारी तत्काल अपनी-अपनी वस्तु उठाकर अपने-अपने घर की ओर लौट गये। इस प्रकार चैत्यवासियो का यह षड्यन्त्र भी असफल रहा।

तदनन्तर परस्पर विचार-विमर्श कर उन्होने यह निश्चय किया कि "यदि राजा दूसरे प्रदेश से आये हुए मुनियो को बहुमान देते है तो हम सब लोग देव-सदनो को शून्य कर किसी अन्य प्रदेश मे चले जायेंगे और इस प्रकार का निश्चय कर वे चैत्यवासी चैत्यो को छोडकर अन्यत्र चले गये।

महाराज दुर्लभराज को जब यह बात विदित हुई तो उन्होने कहा—यदि उन लोगो को यहाँ रहना अच्छा नही लगता तो जहाँ चाहे, वही जाय। देवगृहो मे पूजा के लिए ब्रह्मचारियो को भृति देकर रख दिया गया। सभी देवो की पूजा नियमित रूप से की जाने लगी। चैत्यवासी वस्तुत सब प्रकार की सुविधाओ एव सुखोपभोग की सामग्री से युक्त चैत्यो के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर रह नही सकते थे अत कुछ ही समय पश्चात् वे सब के सब चैत्यवासी किसी न किसी बहाने से पुन अपने-अपने चैत्यगृहो मे लौट आये। उधर श्री वर्द्धमान सूरि बिना किसी रोक-टोक के अनुक्रमश सभी क्षेत्रो मे विचरण करने लगे।"

खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावली के उपर्युल्लिखित विस्तृत उल्लेख से निम्नलिखित तथ्य प्रकाश मे आते हैं —

(१) वीर निर्वाण की ग्यारहवी शताब्दी से लेकर सोलहवी शताब्दी तक गुजरात मे चैत्यवासियो का पूर्णत एकाधिपत्य था।

(२) उस समय गुजरात मे मूल श्रमण परम्परा का उपासक एक भी श्रमणोपासक विद्यमान नही था।[1]

(३) भगवान् महावीर द्वारा धर्मतीर्थ की स्थापना के समय से ही जैन सघ मे सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु महावीर की वाणी के आधार पर गणधरो द्वारा ग्रथित आगम ही प्रामाणिक माने जाते है। चैत्यवासियो के परमोत्कर्ष के सक्रान्तिकाल मे वीर निर्वाण की सोलहवी शताब्दी तक जैन धर्म के मूल स्वरूप के उपासक तथा मूल श्रमण परम्परा के श्रमण गणधरो द्वारा ग्रथित एव चतुर्दशपूर्वधरो द्वारा द्वादशागीमे से सार रूप मे दृब्ध आगमो को ही प्रामाणिक मानते थे। खरतरगच्छ के आद्य सस्थापक श्री वर्द्धमान सूरि ने अनहिलपत्तन के महाराजा दुर्लभराज की सभा मे चैत्यवासियो के साथ हुए शास्त्रार्थ मे भी यही बात कही कि वे केवल गणधरो द्वारा ग्रथित एव चतुर्दशपूर्वधर आचार्यो द्वारा द्वादशागी मे से दृब्ध आगमो को ही प्रामाणिक मानते है, न कि अन्य (टीका, चूर्णि, भाष्य, अवचूर्णि अथवा निर्युक्ति आदि) किसी ग्रन्थ को।[2]

---

[1] (क) अन्यत्र स्थान न लभ्यते, विरोधिरुद्धत्वात्। पृ० २

(ख) राज्ञोक्तम्—"कुत्र यूय निवसथ ?" तैरुक्तम्—"महाराज ! कथ स्थान विपक्षेपु सत्सु। युष्माक भोजन कथम् ?" तदपि पूर्ववद् दुर्लभम्।

(ग) तर्हि महाराज ! क कस्यापि सम्बन्धी जातो, वय न कस्यापि। ततो राज्ञा आत्मसम्बन्धिनो गुरव कृता।

—खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावली पृष्ठ ४

[2] ततो मुख्य सूराचार्येणोक्तम्—"ये वसतौ वसन्ति मुनयस्ते षड्दर्शनबाह्या प्रायेण। षड्दर्शनानीह क्षपणकजटीप्रभृतीनि—इत्यर्थनिर्णयाय नूतनवादस्थलपुस्तिका वाचनार्थम् गृहीता करे। तस्मिन् प्रस्तावे 'भाविनि भूतवदुपचार।" इति न्यायाच्छ्रीजिनेश्वरसूरिणा भणितम्—"श्री दुर्लभ महाराज ! युष्माक लोके किं पूर्वपुरुष विहिता नीति प्रवतते अथवा आधुनिक पुरुषदर्शिता नूतना नीति ?" ततो राज्ञा भणितम्—"अस्माक देशे पूर्वजवर्णिता राजनीति प्रवर्तते नान्या।" ततो जिनेश्वर सूरिभिरुक्तम्—"महाराज ! अस्माक मतेऽपि यद् गणधरैश्चतुर्दशपूर्वधरैश्च यो दर्शितो मार्ग स एव प्रमाणीकर्तु युज्यते नान्य।" ततो राज्ञोक्तम्—"युक्तमेव !" ततो जिनेश्वरसूरिभिरुक्तम्—"महाराज ! वय दूरदेशादागता पूर्वपुरुषविरचित—स्वसिद्धान्तपुस्तकवृन्द नानीतम्। एतेपा मठेभ्यो महाराज ! यूयमानयत पूर्व—पुरुषविरचित सिद्धान्तपुस्तकगण्डलकम् येन मार्गामार्ग निश्चय कुर्म।" ततो राज्ञोक्तास्ते—युक्तम् वदन्त्येते, स्वपुरुषान् प्रेषयामि, यूयम् पुस्तकसमर्पणे निरोप दद्ध्वम्। "ते च जानन्त्येपामेव पक्षो भविष्यतीति तूष्णी विधाय स्थितास्ते। ततो राज्ञा स्वपुरुषा प्रेषिता—शीघ्र सिद्धान्त पुस्तकगण्डलक

(शेष पृष्ठ ६६ के टिप्पणी-स्थल पर देखिये)

वि स १५०३ मे महान् धर्मोद्धारक श्री लोकाशाह ने भी ठीक इसी भाँति निर्युक्तियो, वृत्तियो, चूर्णियो, भाष्यो आदि को अमान्य और अप्रामाणिक बताया था। अपने ३४ बोलो मे उन्होने चूर्णियो आदि को अप्रामाणिक एव अमान्य ठहराते हुए ३४ प्रमाण दिये है। इससे अनुमान किया जाता है कि चैत्यवासी परम्परा के विधि-विधानो से कतिपय अशो मे प्रभावित विभिन्न श्रमण परम्पराओ ने वीर निर्वाण की १६वी शताब्दी के पश्चात् चूर्णियो, निर्युक्तियो, टीकाओ आदि को प्रामाणिक मानना प्रारम्भ किया।

(4) विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले श्रमण कभी ताम्बूल ग्रहण नही करते थे।[1]

(५) विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले श्रमण वीर निर्वाण की १६वी शताब्दी तक के सक्रान्तिकाल मे भी गद्दी का उपयोग करना श्रमण धर्म के विरुद्ध समझते थे, जबकि चैत्यवासी अपनी परम्परा के उद्भव काल से लेकर अवसान काल तक गद्दियो और बहुमूल्य उच्च सिहासनो पर बैठना मान्य कर रहे थे।[2]

(६) खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावली के उल्लेखानुसार वीर निर्वाण की सोलहवी शताब्दी मे वसतिवासी साधु राजपिण्ड अथवा औद्देशिक आहार, पानी आदि

(पृष्ठ ९८ का शेष)

मानयत। शीघ्रमानीतम्। आनीतमात्रमेव छोटितम्। तत्र देवगुरुप्रसादाद् दशवैकालिक चतुर्दशपूर्वधरविरचित निर्गतम्। तस्मिन् प्रथममेवेय, गाथा निर्गता अन्नट्ठ पगड लेण, भइज्ज सयणासण। उच्चारभूमिसम्पन्न, इत्थी पसुविवज्जिय। एवविधाया वसतौ वसन्ति साधवो न देवगृहे। राज्ञा भावित युक्तमुक्तम्।

—खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि, पृ० ३

[1] राजा च ताम्बूलदान दातु प्रवृत्त। तत सर्वलोकसमक्षे भणितवन्तो गुरव —"साधूना ताम्बूलग्रहण न युज्यते राजन्। यत उक्तम्—ब्रह्मचारियतीना च विधवाना च योपिताम्। ताम्बूल-भक्षण विप्रा! गोमासान्न विशिष्यते॥

ततो विवेकीलोकस्य समाधिर्जाता गुरुषु विषये। वही, पृ० ३

[2] ततो राजा भणति—"सर्वेषा गुरुणा सप्त-सप्तगद्दिका रत्नपटी—निर्मिता, किमित्यस्मद्गुरूणा नीचैरासने उपवेशन, किमस्माक गद्दिका न सन्ति?" ततो जिनेश्वरसूरिणा भणितम्—"महाराज! साधूना गद्दिकोपवेशन न युज्यते। यत उक्तम्।"

—खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि, पृ० ४

ग्रहण नही करते थे। वे भिक्षार्थ घर-घर भ्रमण कर मधुकरी के माध्यम से निर्दोष आहार-पानी ग्रहण करते थे।[1]

(७) खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि के "ततो वाद कृत्वा विपक्षान् निर्जित्य राज्ञा राजलोकैश्च सह वसतौ प्रविष्टा । वसतिस्थापना कृता प्रथम गूर्जरत्रा देशे।" इस उल्लेख से यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि वीर निर्वाण को सोलहवो शताब्दी मे समस्त गुजरात प्रदेश मे पूर्ण-रूपेण चैत्यवासी परम्परा का ही एकाधिपत्य था। वहा जैन धर्म के शास्त्रीय मूल स्वरूप को मानने वाला और मूल श्रमण परम्परा का उपासक एक भी व्यक्ति नही था। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के लगभग पौने छ सौ वर्ष पश्चात् गुजरात मे वर्द्धमानसूरि और जिनेश्वरसूरि ने प्रथम बार वसतिवास की स्थापना की।

इस प्रकार भारत के बहुत बडे भाग पर अपने छह सौ-पौने छह सौ वर्षो के एकाधिपत्य के पश्चात् अनहिलपुरपत्तन महाराजाधिराज दुर्लभराज की सभा मे जिनेश्वर सूरि के साथ हुए शास्त्रार्थ मे चैत्यवासी परम्परा के सूराचार्य प्रभृति चौरासी आचार्यो की पराजय के दिन से ही चैत्यवासी परम्परा अपने चरमोत्कर्ष के पश्चात् ह्रास की ओर उन्मुख हुई।

यद्यपि चैत्यवासी परम्परा की इस प्रथम पराजय के पश्चात् उसका (चैत्यवासी परम्परा का) प्रमुख गढ गुजरात ढहना प्रारम्भ हो गया था तथापि मारवाड, मेवाड आदि अनेक प्रदेशो मे चैत्यवासियो का जैन समाज पर पूर्ण प्रभुत्व और एकान्तत एकाधिपत्य था। विक्रम स० ११६७, आषाढ शुक्ला ६ के दिन चित्तौड मे अभयदेव सूरि के पट्टधर व सूरिपद पर अधिष्ठित और वि० स० ११६७ की कार्तिक कृष्णा १२ की रात्रि मे स्वर्गस्थ हुए[2] जिन वल्लभसूरि को मेवाड मे विधिमार्ग की स्थापना मे चैत्यवासियो के किस प्रकार के अत्युग्र प्रतिरोध का सामना करना पडा, व कैसे चैत्यवासी श्रावको की एक उग्र भीड लाठियाँ लेकर जिन वल्लभसूरि की हत्या करने के लिये उमड पडी एतद्विषयक उल्लेखो से[3] यह

---

[1] "यूय कति साधव सन्ति ?" "महाराज ! अष्टादश।" "एकहस्तिपिण्डेन सर्वे तृप्ता भविष्यन्ति।" ततो भणित जिनेश्वरसूरिणा—"महाराज ! राजपिण्डो न कल्पते, साधूना निषेध कृतो राजपिण्डस्य।" "तर्हि मम मानुषेऽग्रे भूते भिक्षापि सुलभा भविष्यति।"—वही, पृष्ठ ४

[2] श्रीमदभयदेवसूरिपट्टे श्री जिनवल्लभगणिर्निवेशित स० ११६७ आषाढ सुदि ६ चित्रकूट वीरविधि चैत्ये।—खरतर० वृ०गु०पृ० १४

[3] एटले श्री जिनवल्लभसूरि पर चैत्यवासिओ अतिशय गुस्से थई ५०० जण लाकडिओ लई तेमने मार मारवा तेमने मुकामे आव्या, परन्तु चित्तौड ना राणाए तेमने तेम करता अटकाव्या। —सघपट्टक की प्रस्तावना, पृ०९—

स्पष्टत प्रकट होता है कि विक्रम की बारहवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे भी चैत्यवासी अनेक क्षेत्रो मे जैन समाज पर छाये हुए थे। मेवाड मारवाड आदि अनेक क्षेत्रो मे उस समय तक चैत्यवासी परम्परा का जैन समाज पर पूर्ण प्रभुत्व और एकाधिपत्य था। जिनवल्लभसूरि जब चित्तौड नगर मे पहुचे तो उन्हे रहने के लिये स्थान तक भी नही दिया गया।[1]

अनहिलपत्तन मे चैत्यवासियो को पराजित करने के पश्चात् जिनेश्वरसूरि ने गुजरात प्रदेश मे निर्बाध रूप से अप्रतिहत विहार कर चैत्यवासी परम्परा के अनुयायियो को वसतिवासी परम्परा का अनुयायी बनाया। वि स ११०८ मे श्री जिनेश्वरसूरि ने "गाथासहस्री" नामक ग्रन्थ की रचना की और इसके कुछ ही समय पश्चात् वे स्वर्गवासी हुए। जिनेश्वरसूरि के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् अभयदेवसूरि उनके पट्ट पर आसीन हुए। अभयदेवसूरि ने ९ आगमो की टीकाओ की रचना की। अपने गुरु के समान अभयदेवसूरि ने भी वसतिवास का प्रचार-प्रसार कर चैत्यवासी परम्परा के गढो को ढहाने मे उल्लेखनीय भूमिका का निर्वहन किया।

अभयदेवसूरि ने स्वर्गस्थ होने से पूर्व यह निश्चय कर लिया था कि उनके पश्चात् सूरिपद पर अधिष्ठित होने के योग्य जिनवल्लभ ही है किन्तु प्रारम्भ मे वह कूर्चपुरीय चैत्यवासी आचार्य जिनेश्वर सूरि का शिष्य था अत ऐसे समय इसे सूरिपद पर अधिष्ठित किया गया तो गच्छ के अधिकाश श्रमण एव श्रमणोपासक इससे सहमत न होगे। यह विचार कर अभयदेवसूरि ने वर्द्धमानाचार्य को गुरुपद पर अधिष्ठित किया और जिनवल्लभ को अपनी उपसम्पदा प्रदान की। अभयदेव-सूरि ने अपने अन्तिम समय मे प्रसन्नचन्द्राचार्य को एकान्त मे अपने विचारो से अवगत कराते हुए यह निर्देश दिया कि समय आने पर जिनवल्लभ को वे उनके उत्तराधिकारी के रूप मे सूरिपद पर अधिष्ठित करे। पर वे भी अपने जीवनकाल मे उपर्युक्त कारणवशात् ही सभवत जिनवल्लभ को अभयदेवसूरि के पट्टधर के रूप मे सूरि पद पर अधिष्ठित नही करा सके। प्रसन्नचन्द्राचार्य ने भी अभयदेवसूरि की भाति ही अपने जीवन के अन्तिम क्षणो मे देवभद्राचार्य को अभयदेवसूरि की अन्तिम इच्छा से अवगत कराते हुए उचित समय पर जिनवल्लभ को सूरिपद पर आसीन करने की अपनी अन्तिम इच्छा प्रकट की।

खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावली मे उल्लेख है कि अभयदेव सूरि ने अपने अन्तिम समय मे वर्द्धमानाचार्य को गुरुपद पर अधिष्ठित किया और जिनवल्लभ को अपनी उपसम्पदा दे यथेच्छ विहार करने की आज्ञा प्रदान की। अभयदेवसूरि के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर कतिपय दिनो तक जिनवल्लभ पत्तन और उसके आस

[1] स्थान याचितास्तत्रत्यश्राद्धा। तैश्च भणित चण्डिका मठोऽस्ति यदि तत्र तिष्ठथ। ततो जिनवल्लभगणिना ज्ञातमशुभबुद्ध्या भणन्त्येते तथापि तत्रापि ।
—खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि, पृ० १०

पास के क्षेत्रो मे विचरण करते रहे और कुछ समय पश्चात् उन्होने पत्तन से चित्तौड की ओर विहार किया। अनेक क्षेत्रो मे विचरण करते हुए वे चित्तौड पहुँचे। चित्तौड मे उन्होने अनेक चैत्यवासी श्रमणोपासको को वसतिवासी परम्परा का श्रमणोपासक बनाया और आसोज कृष्ण १३ के दिन उन्होने चित्तौड मे एक घर मे २४ तीर्थङ्करो के चित्रो से मडित एक चतुर्विंशतिजिनपट्टक रखकर भगवान् महावीर के गर्भापहारक नामक छठे कल्याणक महोत्सव को मनाने की प्रथा प्रचलित की।[1] परम्परा से तीर्थङ्करो के पच कल्याणक ही माने गये है, पर जिनवल्लभ आचार्य ने चित्तौड मे सर्वप्रथम छठा कल्याणक मनाने की प्रथा का प्रचलन किया। आचार्य जिनवल्लभ ने इस छठे कल्याणक का प्रचलन किस सवत् मे किया। इस सम्बन्ध मे जैन वाग्मय मे अन्यत्र तो कोई उल्लेख नही मिलता पर आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान-भण्डार, जयपुर मे, सकलित प्राचीन ऐतिहासिक सामग्रियो के रजिस्टर मे एक प्राचीन पत्र की प्रतिलिपि मे, इस सम्बन्ध मे इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है —

(सवत्) "११३५ नवागवृत्तिकर्त्ता अभयदेव—कूर्चपुरीय गच्छे जिनेश्वरसूरि शिष्य जिनवल्लभ चित्रकूटे ६ कल्याणक प्ररूपी मत काढ्यो।"

इससे अनुमान किया जाता है कि वि० स० ११३५ मे हुई इस घटना से कुछ वर्ष पूर्व वि० स० ११२६ से ११३४ के बीच किसी समय अभयदेवसूरि का स्वर्गवास हुआ और उनके स्वर्गस्थ होने के ३८ अथवा ३३ वर्ष पश्चात् देवभद्र आचार्य ने आचार्य जिनवल्लभ को उनकी जराजीर्ण अन्तिम अवस्था मे विक्रम स० ११६७ आषाढ सुदि ६ के दिन चित्तौड मे सूरिपद पर अधिष्ठित किया। वे केवल तीन मास और २१ दिन तक ही सूरि पद पर रहे। विक्रम स० ११६७ की कार्तिक कृष्णा १२ की रात्रि मे वे स्वर्गवासी हुए।[2] वे जीवनपर्यन्त चैत्यवासी परम्परा की

---

[1] तत सर्वे श्रावका गुरुणा सह देवगृहे गन्तु प्रवृत्ता। ततो देवगृहस्थितयार्यिकया गुरून् श्राद्धसमुदायेनागच्छता दृष्ट्वा पृष्टम्—को विशेषोऽद्य? केनापि कथितम्—वीर-गर्भापहारषष्ठकल्याणकपूजाकरणार्थं समागच्छन्ति। तयाचिन्ति—पूर्वं केनापि न कृत-मेते करिष्यन्ति, न युक्तम्। मयामृतयायदि प्रविशत। श्राद्धैरुक्तम्—बृहत्तरसदनानि सन्त्येकस्योपरि चतुर्विंशति जिनपट्टक धृत्वा सर्वं धर्म प्रयोजन क्रियते। गुरुणा भणि-तम् "युक्तमेव।" तत आराधितम् विस्तरेण कल्याणकम्।

—खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावलि पृ०, १०

[2] तस्मिन् प्रस्तावे देवभद्राचार्या विहारक्रम विदधाना अणहिलपत्तने समायाता। तत्राग-तैश्चिन्तितम्—"प्रसन्नचद्राचार्येण पर्यन्तसमये भणित ममाग्रे—"भवता श्री जिनवल्लभ-गणि श्रीमदभयदेवसूरिपट्टे निवेशनीय।" स च प्रस्तावोऽद्य। तत श्री नागपुरे श्री जिनवल्लभगणेर्विस्तरेण लेख प्रेषित —त्वया शीघ्र समुदायेन सह चित्रकूटे समा-

(शेष पृष्ठ १०३ पर)

शक्ति को क्षीरण करने और वसतिवासी परम्परा की अभ्युन्नति के लिये प्रयत्न करते रहे। उन्होने चैत्यवासी परम्परा को अशास्त्रीय मान्यताओ पर मर्मान्तकारी प्रहार करने वाले "सघपट्टक" नामक ग्रन्थ की रचना की।

जिनवल्लभसूरि के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी दादा जिनदत्तसूरि ने भी चैत्यवासी परम्परा की शक्ति को क्षीरण करने और वसतिवासी परम्परा की शक्ति को बढाने का जीवन-पर्यन्त अथक प्रयास किया। उन्होने अनेक क्षत्रीय परिवारो को सामूहिक रूप से जैन धर्मावलम्वी बनाया।

जिनदत्तसूरि के स्वर्गस्थ होने पर उनके उत्तराधिकारी जिनपति सूरि ने भी वि० स० १०८४ मे वर्द्धमानसूरि और प० जिनेश्वरगरिण द्वारा चैत्यवासियो के विरुद्ध प्रारभ किये गये अभियान को उत्तरोत्तर आगे की ओर बढाया। वे जीवन भर चैत्यवासी परम्परा के समूलोन्मूलन के लिये प्रयत्नशील रहे। आपने श्री जिनवल्लभसूरि द्वारा रचित ४० श्लोकात्मक 'सघपट्टक' नामक ग्रन्थ पर तीन हजार श्लोक प्रमारण टीका की रचना की। आपके द्वारा प्रतिबोधित एव प्रशिक्षित नेमिचन्द्र भाडागारिक नामक एक विद्वान् श्रावक ने भी प्राकृत भाषा मे १६० गाथाओ के 'षष्टिशतक' नामक ग्रन्थ की रचना कर चैत्यवासी परम्परा के प्रभाव को समाप्त करने मे उल्लेखनीय योगदान दिया। जिनपतिसूरि ने भारत के सुदूरस्थ स्थलो का अप्रतिहत विहार कर चैत्यवासी परम्परा को खोखला कर दिया। आपके पास नेमिचन्द्र भण्डारी के पुत्र ने श्रमरणधर्म की दीक्षा ग्रहरण की जो आगे जाकर जिनपतिसूरि के उत्तराधिकारी जिनेश्वरसूरि के नाम से विख्यात हुए। जिनेश्वरसूरि ने भी जीवन भर चैत्यवासी परम्परा से सघर्ष करते हुए उसकी जडो को झकझोर डाला। आपने जिनदत्तसूरि द्वारा रचित सदोहदोहावली नामक ग्रन्थ पर टीका की रचना कर चैत्यवासियो के चैत्यो को अनायतन ठहराया और अनेक क्षेत्रो मे चैत्यवासियो का पराभव किया।

इस प्रकार वि० स० १०८४ मे दुर्लभराज की सभा मे चैत्यवासियो के पराभव के पश्चात् चैत्यवासी परम्परा का प्रभाव उत्तरोत्तर क्षीरण से क्षीरणतर होता ही

(पृष्ठ १०२ का शेष)

गन्तव्यम्, येन वयमागत्य चिन्तितप्रयोजन कुर्मा। तत समागताः जिनवल्लभगरणय सपरिवारा। तेऽपि तथैव समागता देवभद्रसूरय। पडित सोमचन्द्रोऽप्याकारित परम् नागन्तु शक्त'। इदानी श्री देवभद्र सूरिभि श्रीमदभयदेवसूरिपट्टे श्री जिनवल्लभ गरिणर्निवेशित, स० ११६७ आषाढ सुदि ६, चित्रकूटे वीरविधिचैत्ये। क्रमेरण ११६७ सवत्सरे कार्तिककृष्णद्वादश्या रजन्याश्चरमयामे दिनत्रयमनशन विधाय श्री जिनवल्लभसूरयश्चतुर्थदेवलोक प्राप्ता।

—खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावलि, पृ० १४—

चला गया। तदनन्तर गुजरात मे मुनिचन्द्रसूरि के प्रयासो से चैत्यवासी परम्परा का पराभव हुआ और पूनमिया गच्छ के आचार्यो, आचलिक गच्छ के आचार्यो, आगमिक गच्छ के आचार्यो तथा सोमसुन्दर सूरि के शिष्य मुनिसुन्दरसूरि के सम्मिलित प्रयासो से वि० स० १४६६ के आसपास चैत्यवासी परम्परा का ह्रास होते-होते उसका अस्तित्व ही समाप्त हो गया। चैत्यवासी परम्परा के समाप्त होने के साथ ही साथ उस परम्परा के आचार्यो द्वारा अपने उत्कर्षकाल मे बनाये गये नये-नये नियमो, नूतन मान्यताओ, स्वकल्पित विधि-विधानो आदि के सभी ग्रन्थ भी विस्मृति के गहन गर्त मे विलुप्त हो गये। आज चैत्यवासी परम्परा का एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नही है। इस प्रकार जो चैत्यवासी परम्परा वीर निर्वाण की ग्यारहवी शताब्दी से बीसवी शताब्दी के प्रथम चरण तक भारतवर्ष के अधिकाश भागो पर अपना एकाधिपत्य और पूर्ण वर्चस्व बनाये रही वह अपने लगभग १००० वर्ष के अस्तित्व काल के पश्चात् पूर्णत लुप्त हो गई।

वीर नि० स० २००० के प्रथम चरण मे चैत्यवासी परम्परा तो समाप्त हो गई किन्तु वह अपने पीछे अपने पदचिन्ह अवश्य छोड गई। चैत्यवासी परम्परा द्वारा जो शास्त्रो से विपरीत मान्यताए प्रचलित की गई उन मान्यताओ का प्रचलन बहुसख्यक जैनो मे लगभग एक हजार वर्ष तक रहा। चैत्यवासी परम्परा द्वारा प्रचलित किये गये नये-नये आकर्षक विधि-विधान निरन्तर एक हजार वर्ष के प्रतिदिन के अभ्यास के कारण जनमानस मे धर्मकृत्यो के रूप मे रूढ हो गये, लोगो के हृदय मे गहरा घर कर गये। उन्हे छुडवाने के निरन्तर अनेक प्रयास किये गये परन्तु एक हजार वर्ष से अभ्यस्त जनसाधारण उनमे से पूर्णत रूढ कतिपय लोकप्रिय से हो गये, विधि-विधानो को छोडने के लिये किसी भी दशा मे सहमत नही हुआ। परिणामत चैत्यवास के ह्रासोन्मुख काल मे पनपी हुई अधिकाश ही नही अपितु प्राय सभी परम्पराओ ने चैत्यवासियो द्वारा अपनी कल्पनानुसार प्रचलित की गई मान्यताओ को विधि-विधानो को किसी न किसी नये परिवेश के रूप मे अपना लिया। यही कारण है कि शास्त्रो मे जिन विधि-विधानो का, जिन मान्यताओ का कही कोई उल्लेख नही वे वर्तमान काल की अनेक परम्पराओ मे प्रचलित है। उन कतिपय अशास्त्रीय विधि-विधानो एव मान्यताओ को देखने से प्रत्येक निष्पक्ष एव सत्य के उपासक विचारक को यही प्रतीत होता है कि चैत्यवासी परम्परा तो समाप्त हो गई पर उसकी छाप, उसके पदचिह्न व उसके अवशेष आज भी विद्यमान है।

चैत्यवासी परम्परा के प्रभाव के परिणाम

यह तो प्रमाणपुरस्सर विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के आचार्यकाल तक प्रभु महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म की मूल परम्परा भावपरम्परा के रूप मे अक्षुण्ण एव अनवरत गति से चलती रही। देवर्द्धि के स्वर्गारोहण के पश्चात् साधु प्राय शिथिलाचारी बन गये और उन्होने अनेक प्रकार की द्रव्य परम्पराए स्थापित कर दी। इस विषय मे नवागी वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि द्वारा, अपनी कृति "आगम अट्ठोत्तरी" की निम्न गाथा मे अपने उद्गार प्रकट किये गये हैं —

देवड्ढि खमासमण जा, परपर भावओ वियाणमि।
सिढिलायारे ठविया, दव्वेण परपरा बहुहा ॥

उनके इन तथ्यपूर्ण आन्तरिक उद्गारो पर चिन्तन-मनन करने के पश्चात् निष्पक्ष विचारक की इससे भिन्न राय नही हो सकती।

विपुल विनाश के उपरान्त भी अवशिष्ट रहे विशाल जैन वाग्मय मे निहित तथ्यो के तुलनात्मक अनुशीलन से यह स्पष्टत आभास होता है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के अनन्तर चैत्यवासी परम्परा एक प्रचड आधी के वेग के समान उठी और शीघ्र ही भारत के बहुत बडे भाग पर बडी तेजी से छा गई। शिथिलाचार के पक से अकुरित हुई चैत्यवासी परम्परा द्वारा असिधारा-गमन तुल्य अति कठोर श्रमणाचार मे कतिपय नवनिर्मित नियमो के माध्यम से दी गई खुली छूट के कारण श्रमणवर्ग और जैन धर्म की अध्यात्ममूलक उपासना के स्थान पर अपनी कपोलकल्पना से प्रेरित परमाकर्षक बाह्याडम्बरपूर्ण द्रव्यपूजामयी उपासना विधि से गृहस्थवर्ग चैत्यवासी परम्परा की ओर इस प्रकार आकृष्ट हुआ, जिस प्रकार कि दीपक की लौ की ओर पतगो का समूह आकर्षित होता है।

एक सहस्राब्दि से भी अधिक समय से, श्रमण भगवान् महावीर द्वारा निर्दिष्ट श्रमणचर्या के कठोर नियमो का कडाई के साथ पालन करती चली आ रही श्रमण परम्परा के नियमो मे चैत्यवासी परम्परा द्वारा आविष्कृत खुली छूट को देख कर अनेक परीषहभीरु श्रमण-श्रमणियो के मन दोलायमान हुए। एक-एक कर बहुत से श्रमणो और श्रमणियो ने शिथिलाचार को अपनाया और इस प्रकार श्रमण-श्रमणियो का बहुत बडा वर्ग शिथिलाचारी बन गया। कौन सा भवभीरु सच्चा श्रमण है और कौन सा परीषहभीरु शिथिलाचारी श्रमण, इसकी कोई पहचान नही रही।

शिथिलाचार की ओर उन्मुख हुए इस प्रकार के युग मे शिथिलाचार की ओर प्रवृत्त हुए श्रमण-श्रमणी वर्ग को और मुख्यत विशुद्ध श्रमणाचार के पक्षपाती परीषहभीरु श्रमणवर्ग को विशुद्ध श्रमणाचार मे सुस्थिर करने के उद्देश्य से भवभीरु सच्चे श्रमणो ने परस्पर विचार-विमर्श कर शास्त्रो और महानिशीथ आदि छेद सूत्रो से निर्यूंड गच्छाचार पइण्णाय जैसे आगमिक ग्रन्थो को आदर्श मान कर विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले श्रमण-श्रमणी वर्ग के लिये एक सर्वसम्मत समाचारी का निर्माण किया। सभी श्रमणो के लिये समान आचार का निर्धारण करने वाली उस समाचारी को सुविहित आचार की सज्ञा दी गई। उस "सुविहित आचार" समाचारी का पालन करने वाले श्रमण-श्रमणी वर्ग को सुविहित के नाम से सम्बोधित किया जाने लगा। इस प्रकार मूल परम्परा के विभिन्न गणो और गच्छो के श्रमण-श्रमणियो का, उस समय शिथिलाचार की ओर सामूहिक रूप से उन्मुख हुए श्रमण-श्रमणी वर्ग से एक भिन्न वर्ग बन गया। कालान्तर मे उस सुविहित समाचारी का पालन करने वाले उस वर्ग ने एक परम्परा का रूप धारण कर लिया और लोक मे उस परम्परा को "सुविहित परम्परा" के नाम से पहचाना जाने लगा।

सुविहित परम्परा

विशुद्ध श्रमणाचार को "सुविहित आचार" और विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले श्रमण-श्रमणियो के लिये "सुविहियाणम्" शब्द का प्रयोग किस समय से किया जाने लगा, इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिये हमे सम्पूर्ण जैन वाग्मय का विहङ्गम दृष्टि से अवलोकन करना होगा। इस दृष्टि से मूल आगमो का आलोडन करने पर विदित होगा कि मूल आगमो मे न तो श्रमणो के लिये कही सुविहित शब्द का प्रयोग दृष्टिगोचर होता है और न श्रमणाचार केलिये ही। प्राचीन आगमिक साहित्य मे से महानिशीथ, गच्छाचार पइण्णाय और तित्थोगाली पइण्णाय मे विशुद्ध आचार सम्पन्न श्रमण-श्रमणियो के लिये "सुविहियाणम्" शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है। "महानिशीथ सूत्र" के पाचवे अध्ययन मे सुविहित साधुओ के सम्बन्ध मे इस प्रकार का उल्लेख विद्यमान है —

"जहा—इच्छायारेण न कप्पई तित्थयत्त गतु सुविहियाण ।"

अर्थात् सुविहित परम्परा के श्रमणो को (अपनी इच्छानुसार) तीर्थयात्रा के लिये जाना कल्पनीय नही है।

"गच्छाचार पइण्णाय" मे सुविहित साधुओ का जो उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है :—

आरभेसु पसत्ता, सिद्धन्त--परमुहा विसयगिद्धा।
मुत्तु मुणिणो गोयम! वसिज्ज मज्झे सुविहियाण ।।१०४।।

अर्थात् जो साधु आरम्भ-समारम्भ के कार्यो मे प्रलिप्त-प्रसक्त अथवा सलग्न है, जो सर्वज्ञ तीर्थङ्कर प्रभु द्वारा प्ररूपित और गणधरो द्वारा ग्रथित सिद्धान्तो से विपरीत आचरण एव उपदेश करते है और जो विषय-कषायो के दलदल मे फसे हुए है, ऐसे नाममात्र के साधुओ की सगति का परित्याग कर हे गौतम! सुविहित साधुओ के बीच मे रहना चाहिये।

"तित्थोगाली पइण्णय" नामक प्राचीन ग्रथ मे सुविहित श्रमणो के उल्लेख के साथ ही साथ "सुविहित गणि" (सुविहित आचार्य) का भी उल्लेख विद्यमान है।

सुविहित श्रमणो सम्बन्धी तित्थोगाली पइण्णय का उल्लेख इस प्रकार है :--

पाडिवतो नामेण अणगारो, तह य सुविहिया समणा।
दुक्खपरिमोयणट्ठा, छट्ठट्ठम तवे काहिन्ति ।।६८२।।

अर्थात्--पाडिवत (प्रातिव्रत) नामक अणगार (आचार्य) और सुविहित श्रमण गण सब प्रकार के दु खो का अन्त करने के लिए बेले और तेले की तपस्याएँ करेंगे।

सुविहित गणि (आचार्य) के सम्बन्ध मे तित्थोगाली पइणणय का उल्लेख इस प्रकार है --

को वि कयसज्झातो, समणो समणगुणनिउण चिंतइओ।
पुच्छइ गणि।सुविहिय अइसयनाणि महासत्त ।।७०२।।[1]

अर्थात्--श्रमण गुणो (श्रमणो के आचार) की परिपालना मे कुशल और चितनशील कोई एक श्रमण स्वाध्याय करने के पश्चात् अतिशयज्ञानी और महान् सत्वशाली सुविहित आचार्य से प्रश्न करता है।

महानिशीथ सूत्र, गच्छाचार पइण्णय और तित्थोगाली पइण्णय-इन तीनो ग्रन्थो के रचनाकाल और इन तीनो के रचनाकारो के सम्बन्ध मे पुरातत्वविद् अथवा विद्वान् अभी तक किसी निश्चित निर्णय-पर नही पहुच पाये हैं। तथापि यह सुनिश्चितरूपेण सिद्ध हो गया है कि सड जाने और दीमको द्वारा खा लिये जाने के कारण खण्ड-विखण्डित हुए महानिशीथ सूत्र की जीर्ण प्रति से याकिनी महत्तरासूनु

[1] प० श्री कल्याण विजयजी म० एव गजसिंह राठौड़ द्वारा सम्पादित "तित्थोगाली पइण्णय"

हरिभद्रसूरि ने, जिनका कि सत्ताकाल वि० स० ७५७ से ८२७ तक रहा, महानिशीथ सूत्र का अपनी मति अनुसार शोधन-परिवर्द्धन कर पुनरुद्धार किया।[1] महानिशीथ मे चैत्यवासी परम्परा के उद्भव और उसकी मान्यताओ के सम्बन्ध मे अन्यत्र अनुपलब्ध अनेक विस्तृत उल्लेखो की विद्यमानता के कारण यह अनुमान किया जाता है कि महानिशीथ की रचना चैत्यवासी परम्परा के जन्म और प्रचार-प्रसार हो चुकने के पश्चात् किसी समय मे की गई।

गच्छाचार पइण्णय के रचनाकाल के सम्बन्ध मे विचार करने पर यह रचना महानिशीथ से उत्तरवर्ती काल की प्रतीत होती है, क्योकि गच्छाचार पइण्णय मे महानिशीथ सूत्र की कतिपय गाथाए यथावत् विद्यमान है।

इसी प्रकार "तित्थोगाली पइन्नय" के रचनाकार अथवा रचनाकाल के सम्बन्ध मे प्रमाणाभाव के कारण निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। तीर्थकरो द्वारा स्थापित चतुर्विध सघ के प्रवाह और ह्रास पर प्रकाश डालने वाला यह एक प्राचीन ग्रन्थ है। इसमे अनेक ऐतिहासिक तथ्यो का उल्लेख है। आर्य स्थूलिभद्र के आचार्यकाल तक की घटनाओ का इसमे भूतकाल की घटनाओ के रूप मे और उनके आचार्यकाल से उत्तरवर्ती काल की घटनाओ का भविष्य काल की घटनाओ के रूप मे उल्लेख है। इससे यह अनुमान करने को अवकाश मिलता है कि कही इस "तित्थोगाली पइण्णय" ग्रन्थ की रचना आर्य महागिरी के समय मे तो नही की गई है। पर जहा इस ग्रन्थ की निम्नलिखित गाथा पर दृष्टि पडती है—

, नद वसो मुरिय वसो य।
सवराहेण पणट्ठा, जाणि चत्तारि पुव्वाइ॥

तो इसमे मौर्य वश के समाप्त होने के उल्लेख को देख कर वह अनुमान निरी कल्पना मात्र ही सिद्ध होता है। इसके साथ ही इस ग्रन्थ मे अनेक प्रक्षिप्त गाथाओ की विद्यमानता के कारण निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि कौनसी गाथा प्रक्षिप्त है और कौनसी मूल। जिस गाथा के आधार पर काल के सम्बन्ध मे निर्णय करने का प्रयास किया जाता है, कही वह गाथा प्रक्षिप्त गाथा तो नही है, इस आशका से भी किसी निर्णायक स्थिति पर पहुँचने मे कठिनाई उपस्थित होती है। इसके साथ ही यह भी विचार आता है कि इस ग्रन्थ मे जहा एक ओर तीर्थ-प्रवाह से सम्बन्धित द्वादशागी के ह्रास, विच्छेद और कतिपय आचार्यों

---

[1] (क) विस्तार के लिये देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का ही "हारिलसूरि का प्रकरण।

(ख) कुशलमतिरिद्धोद्धार जैनोपनिपदिक स महानिशीथशास्त्रम् ॥२१९॥

प्रभावकचरित्र, हरिभद्रसूरिचरितम्, पृ० ७५

के स्वर्गारोहण काल आदि अनेक ऐतिहासिक तथ्यो का विवरण दिया गया है, वहा दूसरी ओर तीर्थप्रवाह से सम्बन्धित चैत्यवासी परम्परा के उद्गम, उत्कर्ष और ह्रास के सम्बन्ध मे एक भी शब्द नही लिखा गया है, इसका क्या कारण है ? इन सब तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर तित्थोगाली पइण्णय के रचनाकाल के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता । केवल यही अनुमान लगाया जा सकता है कि चैत्यवासी परम्परा के प्रसार के पश्चात् ही किसी समय मे इस ग्रन्थ की रचना की गई होगी । इस अनुमान की पुष्टि केवल इसी एक प्रमाण से होती है कि सुविहित श्रमणो का उल्लेख चैत्यवासी परम्परा के उद्भव के पूर्व के किसी ग्रन्थ मे दृष्टिगोचर नही होता और तित्थोगाली पइण्णय मे सुविहित श्रमणो और सुविहित गणि—दोनो ही शब्दो का प्रयोग किया गया है । ऐसी स्थिति मे अनुमान किया जाता है कि यह ग्रन्थ चैत्यवासी परम्परा के प्रसार के समय मे ही ग्रथित किया गया ।

इन तीन प्राचीन उल्लेखो के पश्चाद्वर्ती काल का एतद्विषयक उल्लेख, सातवे अङ्गशास्त्र "उवासगदसाओ" की टीका मे उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है —

पढम जईण दाऊण, अप्पणा पणमिऊण पारेइ ।
असई य सुविहियाण, भुंजेइ य कय दिसालोओ ।।

यह उल्लेख विक्रम की बारहवी शताब्दी का है । नवागी टीकाकार श्री अभयदेवसूरि ने वि०स० ११२० मे ज्ञाताधर्मकथा, स्थानागसूत्र, समवायाग सूत्र और वि स ११२८ मे व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती) सूत्र-इन चार अङ्गशास्त्रो की टीकाओ की रचना की । इनसे पूर्व अथवा पश्चात् किसी समय मे, उन्होने उपासकदशा, अनुत्तरोपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाक, औपपातिक और प्रज्ञापना—इन आगमो की टीकाओ की रचनाए भी की । अभयदेव सूरि वि० स० ११३५ (दूसरी मान्यता के अनुसार ११३६) मे कपडगज मे स्वर्गस्थ हुए । उपासकदशाग की टीका उन्होने वि० स० ११२१ से ११३४ के बीच की अवधि मे किसी समय की होगी । अभयदेव-सूरि के समय मे चैत्यवासी परम्परा अपने चरमोत्कर्ष के पश्चात् शनै शनै ह्रास की ओर उन्मुख हो चुकी थी । इस प्रकार उपासकदशाग की टीका का यह उल्लेख भी चैत्यवासी परम्परा के परमोत्कर्ष काल के पश्चात् का ही है ।

इसी प्रकार पौर्णमासिक गच्छ के प्रवर्त्तक श्री चन्द्रप्रभसूरि के शिष्य श्री धर्म घोष मुनि ने वि० स० ११६२, तद्नुसार वीर नि० स० १६३२ के आसपास की अपनी रचना "ऋषिमण्डल स्तोत्र" मे मूल श्रमण परम्परा के आर्य वज्र और उनके ५०० शिष्यो को "सुविहित" विशेषण के साथ स्मरण करते हुए उन्हे वन्दन नमन किया है । यथा—

नाण विणय पहाणेहि, पचहि सएहि जो सुविहियाण ।
पाओवगओ महप्पा, तमज्ज वइर नमसामि ।।२०८।।

इसी प्रकार राजगच्छ के आचार्य चन्द्रप्रभसूरि के शिष्य श्री प्रभाचन्द्रसूरि ने अपनी वि० स० १३३४ की रचना 'प्रभावक चरित्र' मे भी सुविहित श्रमणो का उल्लेख किया है, जो इस प्रकार है —

ददे शिक्षेति तै श्रीमत्पत्तने चैत्यसूरिभि ।
विघ्न सुविहिताना स्यात्, तत्रावस्थानवारणात् ।।४४।।

इससे उत्तरवर्ती काल के जैन साहित्य मे स्थान-स्थान पर "सुविहित आचार", "सुविहित श्रमण", "सुविहित साधुवर्ग" आदि शब्दो का प्रयोग उपलब्ध होता है। विक्रम स० १६१७ कार्तिक सुदि ७ शुक्रवार के दिन पाटण नगर मे खरतरगच्छीय आचार्य जिनचन्द्रसूरि ने सभी गच्छो के गीतार्थ आचार्यो एव मुनियो को एकत्रित कर तपागच्छीय श्री विजयदानसूरि के शिष्य उपाध्याय धर्मसागर द्वारा रचित 'तत्वतरगिणी वृत्ति' मे उल्लिखित अनेक अशो को उत्सूत्र घोषित किया । वहा एकत्रित बारह आचार्यो और प्राय सभी गच्छो के गीतार्थ श्रमणो ने धर्मसागर को बुलाया, समझाया पर वह अपनी मान्यता पर अडा रहा । परिणामत वहा एकत्रित आचार्यो एव श्रमणो ने उपाध्याय धर्मसागर को निन्हव घोषित कर सघ से बहिष्कृत कर दिया । उस घोषणापत्र मे भी खरतरगच्छीय साधुओ के लिये "सुविहित साधुवर्ग" का प्रयोग किया गया है ।[1]

चैत्यवासी परम्परा के जन्म के पश्चात्कालीन इन उल्लेखो से यह प्रमाणित होता है कि मूल श्रमणाचारी आचार्यो ने शिथिलाचार मे लिप्त हुई चैत्यवासी परम्परा के प्रचार-प्रसार के कारण श्रमण-श्रमणी वर्ग मे बढते हुए शिथिलाचार को रोकने एव मूल श्रमणपरम्परा तथा जैन धर्म के अध्यात्मपरक मूल स्वरूप की सुरक्षा के उद्देश्य से विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले सभी श्रमणो के लिये एक समाचारी का निर्धारण किया । अभेद एव मतैक्य प्रकट करने की दृष्टि से उस नवनिर्धारित समाचारी को पालने एव मानने वाले सभी श्रमण-श्रमणियो को बिना किसी गण अथवा गच्छ के भेदभाव के "सुविहित" नाम से सम्बोधित करना प्रारम्भ किया । इस प्रकार एक समाचारी का पालन करने वाले श्रमण-श्रमणी वर्ग ने मूल श्रमण परम्परा मे शिथिलाचार के प्रवेश को रोकने

[1] आचार्य श्री विनयचन्द ज्ञानभण्डार, जयपुर का रजिस्टर स १, जिसमे अनेक ज्ञान-भण्डारो एव स्थानो से श्री गजसिंह राठौड द्वारा विपुल ऐतिहासिक सामग्री सकलित की गई है । पृ० १५० एवम् १८३ । (अप्रकाशित)

के साथ-साथ चैत्यवासी परम्परा की आधी से धर्म के मूल स्वरूप और मूल श्रमण परम्परा को बचाये रखने का सगठित रूप मे पूरा प्रयास किया। उनके इस सुसगठित प्रयास से मूल श्रमण परम्परा नष्ट होने से बची और चैत्यवासियो के उत्तरोत्तर बढते हुए प्रभाव के परिणामस्वरूप क्रमश क्षीण और क्षीणत्तर होते हुए भी उस सक्रान्तिकाल मे वह जीवित रह सकी। धर्म के मूल स्वरूप और मूल श्रमणाचार की रक्षार्थ एक समाचारी के माध्यम से सगठित एव एकजुट हुए सभी गणो और गच्छो के उस श्रमण-श्रमणी वर्ग को सुविहित परम्परा की सज्ञा दी गई। चैत्यवासियो की सर्वग्रासी भीषण आधी से विशुद्ध श्रमणाचार तथा धर्म की रक्षा करने के कारण सुविहित परम्परा की प्रतिष्ठा बढी और चैत्यवासी परम्परा के परमोत्कर्ष काल मे भी अवशिष्ट रही अथवा अस्तित्व मे आई हुई तथा उससे उत्तरवर्ती काल मे समय-समय पर प्रकट हुई सभी श्रमण परम्पराओ ने अपना स्रोत सुविहित परम्परा से जोडते हुए अपने आपको सुविहित परम्परा का ही अग होना प्रकट किया।

श्रमण परम्परा अथवा श्रमणाचार के लिये आगमो मे कही भी सुविहित शब्द का प्रयोग नही किया गया है। चैत्यवासी परम्परा के प्रादुर्भाव के पश्चात् निर्मित हुए जैन वाग्मय मे ही श्रमणो, आचार्यो एव श्रमणाचार के लिये सुविहित शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप मे उपलब्ध होता है। इस प्रकार की परिस्थिति मे ऊपरिवर्णित तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि चैत्यवासी परम्परा के प्रादुर्भाव, प्रचार-प्रसार और परमोत्कर्ष के परिणामस्वरूप ही मूल श्रमण परम्परा को सुविहित परम्परा की सज्ञा दी गई।

इस प्रकार चैत्यवासी परम्परा के प्रादुर्भाव, परमोत्कर्ष और प्रभाव का यह सुपरिणाम हुआ कि भिन्न-भिन्न गच्छो अथवा गणो के श्रमण सुविहित परम्परा—अर्थात्—भली-भाति विधिपूर्वक प्रतिपादित परम्परा के एक सूत्र मे आबद्ध हुए। वस्तुत सुविहित परम्परा के नाम पर किसी नवीन परम्परा को जन्म नही दिया गया था। अपितु भिन्न-भिन्न गणो अथवा गच्छो मे विभक्त मूल परम्परा के श्रमणो को एकता के सूत्र मे आबद्ध करने के लिये मूल श्रमण परम्परा को ही यह एक तासूचक दूसरा नाम दिया गया।

प्रथम दुष्परिणाम

चैत्यवासी परम्परा की बाढ मे धर्म और श्रमण परम्परा के मूल स्वरूप को पर्याप्त अशो मे सुरक्षित रख कर कालान्तर मे सुविहित परम्परा भी सभवत शनै शनै अशक्त और क्षीण होते-होते चैत्यवासी परम्परा के उत्तरोत्तर बढते हुए प्रभाव की तुलना मे नगण्य सी ही रह गई। कालचक्र का प्रभाव बडा ही विचित्र है। अपने आपका सुविहित परम्परा के नाम से परिचय देने वाली, चैत्यवासी परम्परा के उत्कर्ष काल मे उभरी हुई, कतिपय परम्पराओ के कार्यकलापो, मान्यताओ, विधि-

विधानो एव दैनन्दिनी के विवरणो को पढने से ऐसा प्रतीत होता है कि जो सुविहित परम्परा शताब्दियो तक चैत्यवासियो द्वारा प्रचलित की गई शास्त्रविरुद्ध मान्यताओ का विरोध करती रही, प्रबल पौरुष और साहस के साथ शास्त्रीय मान्यताओ, मूल श्रमणाचार और धर्म के शास्त्र सम्मत स्वरूप का न केवल परिपालन ही अपितु प्रचार-प्रसार भी करती रही, उसी सुविहित परम्परा के नाम पर पनपी हुई वे परम्पराए भी चैत्यवासियो द्वारा प्रचालित बाह्याडम्बरपूर्ण विधि-विधानो, और आचार-विचार की ओर धीरे धीरे आकृष्ट होने लगी । इसके पीछे एक बहुत बडा कारण रहा, वह था चैत्यवासी परम्परा का सुदीर्घकालीन एकाधिपत्य ।

दूसरा दुष्परिणाम

चैत्यवासी परम्परा के व्यापक प्रभाव का दूसरा दूरगामी दुष्परिणाम यह हुआ कि चैत्यवासियो द्वारा श्रमणो के लिये अपनी कपोल कल्पनानुसार निर्मित किये गये शास्त्राज्ञा से पूर्णत प्रतिकूल दश नियमो के प्रचलन के कारण विशुद्ध श्रमणाचार के स्वरूप मे भी और भावपूजा के स्थान पर द्रव्यपूजा और बाह्याडम्बरपूर्ण भौतिक विधि-विधानो को प्राधान्यता देने के कारण प्रभु महावीर द्वारा प्ररूपित धर्म के मूल स्वरूप मे भी अनेक प्रकार की विकृतिया उत्पन्न हो गयी । श्रमण जीवन विपुल वैभवशाली सुसमृद्ध गृहस्थ के जीवन से भी अधिक भोगपूर्ण, ऐश्वर्यशाली, समृद्धि सम्पन्न और सौख्य प्रदायी बन गया । धर्म की प्राणस्वरूपा आध्यात्मिकता को धर्म मे से निकाल कर उसके स्थान पर भौतिकता को कूट-कूट कर भर दिया गया । सुख-समृद्धिपूर्ण ऐश्वर्यशाली श्रमणजीवन, का जो स्वरूप चैत्यवासियो ने प्रस्तुत किया, उससे भोगलिप्सु लोग अधिकाधिक सख्या मे चैत्यवासी श्रमणसमुदाय की ओर आकृष्ट हुए और इस प्रकार चैत्यवासियो के श्रमणो की सख्या मे स्वल्पकाल मे ही आश्चर्यजनक अभि-वृद्धि हो गई । दूसरी ओर चैत्यवासियो द्वारा दिये गये ऐहिक और पारलौकिक प्रलोभनो तथा आडम्बरपूर्ण आकर्षक विधि-विधान, अनुष्ठान के आयोजनो से जन-साधारण सामूहिक रूप से चैत्यवासी परम्परा की ओर आकृष्ट हुआ । इस प्रकार थोडे समय मे ही चैत्यवासी परम्परा के उपासको की सख्या मे भी सब ओर से आशातीत अभिवृद्धि हुई । अनेक प्रदेशो मे तो चैत्यवासी परम्परा का जैनो पर एकछत्र एकाधिपत्य सा हो गया । धर्म का स्वरूप भी आमूल-चूल बदल दिया गया । अनेक क्षेत्रो के निवासी तो जैन धर्म के मूल स्वरूप को और मूल श्रमण परम्परा को पूरी तरह भूल ही गये । मूल श्रमण परम्परा, जिसे उस सक्रान्तिकाल मे सुविहित परम्परा का नाम दिया गया था, वह अनेक क्षेत्रो मे लुप्त और कतिपय क्षेत्रो मे लुप्तप्राय सी हो गई । अधिकाश क्षेत्रो के जैनधर्मावलम्बी और शेष क्षेत्रो का प्राय पूरा का पूरा जन-साधारण चैत्यवासियो को ही वास्तविक जैन श्रमण और चैत्यवासियो द्वारा विकृत किये गये धर्म के स्वरूप को ही वास्तविक जैन धर्म

समझने लगे। धर्म का, चैत्यवासियो द्वारा आमूल-चूल परिवर्तित और विकृत स्वरूप ही वास्तविक सच्चे जैन धर्म के रूप मे रूढ हो गया। चैत्यनिर्माण, मूर्ति-प्रतिष्ठा, ध्वजारोपण, देवार्चन, मूर्ति के समक्ष नृत्य-सगीत, कीर्तन, रथयात्रा, तीर्थयात्रा, प्रभावना, धूप, दीप, नैवेद्य, पुष्प, पुष्पहार, केसर, चन्दन आदि से प्रतिमा का पूजन आदि तक ही जैनधर्म का वास्तविक स्वरूप सीमित माना जाने लगा। कभी अल्प तो कभी अधिक, कुल मिलाकर लगभग एक हजार वर्ष तक यही स्थिति बनी रही। ये ही कृत्य जैनधर्म के मूल धार्मिक कृत्य है, इन धार्मिक कृत्यो को नित्य नियमित रूप से करने वाला व्यक्ति कृतकृत्य हो जाता है, मुक्ति शीघ्र ही उसका वरण कर लेती है, इन धार्मिक कृत्यो को कर लेने के पश्चात् कुछ भी करना अवशिष्ट नही रह जाता, इस प्रकार की दृढ धारणा जन-जन के मन और मस्तिष्क मे चैत्यवासियो द्वारा भर दी गई।

वीर निर्वाण की द्वितीय सहस्राब्दि की अन्तिम शताब्दि के पूर्वार्द्ध मे चैत्यवासी परम्परा के विलुप्त हो जाने के उपरान्त भी लोगो के मन और मस्तिष्क मे यही भावना घर किये रही। चैत्यवासी परम्परा के ह्रास के प्रारम्भ काल से ही चैत्यवासी परम्परा के उन्मूलन मे सलग्न श्रमण परम्पराओ के श्रमणो ने इस बात का पूरा-पूरा प्रयास किया कि चैत्यवासी परम्परा के सम्पूर्ण सस्कार लोगो के मन-मस्तिस्क से निकल जाय, किन्तु एक हजार वर्षो की पीढी-प्रपीढी से उन विधि-विधानो का पूर्णत अभ्यस्त जनमानस चैत्यवासियो द्वारा डाले गये सस्कारो को नही छोड सका। उन सस्कारो को छुडाने का प्रयास करने वाले भी अपने अभियान मे असफल रहे। इस प्रकार चैत्यवासी परम्परा के प्रभाव का दूसरा दुष्परिणाम यह हुआ कि धर्म और श्रमण परम्परा के मूल स्वरूप मे अनेक विकृतिया जो उत्पन्न हो गई थी, वे स्थायी रूप धारण कर गई।

तीसरा दुष्परिणाम

चैत्यवासी परपरा के उत्कर्ष काल मे, देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के कुछ समय पश्चात् ही जनमानस को चैत्यवासी परपरा द्वारा प्रचलित किये गये आकर्षक विधि-विधानो, बाह्याडम्बरपूर्ण धार्मिक कृत्यो, अनुष्ठानो आदि की ओर उन्मुख हुआ देख कर शिथिलाचार की ओर झुके हुए कतिपय श्रमण समूहो ने जनमानस मे अपनी स्थिति बनाये रखने के उद्देश्य से चैत्यो मे नियत निवास, औद्देशिक भोजन आदि कुछ बातो को छोडकर चैत्यवासियो द्वारा प्रचालित किये गये कतिपय विधि-विधानो और आडम्बरपूर्ण धर्मकृत्यो को थोडे परिवर्तन के साथ स्वीकार कर लिया था। लोक मे उनकी स्थिति देखकर सुविहित परम्परा के अनेक श्रमणो ने भी उनका अनुसरण किया। इस प्रकार सुविहित परम्परा और चैत्यवासी परम्परा के बीच का एक और श्रमणवर्ग अस्तित्व मे आया। जिस प्रकार चैत्यवासियो ने अपनी मान्य-

ताओ को उचित सिद्ध करने के लिये अनेक नये ग्रन्थो की रचनाए की थी, ठीक उसी प्रकार मूल श्रमण परम्परा और चैत्यवासी परम्परा के बीच के उस श्रमणवर्ग ने अपनी उन मान्यताओ की पुष्टि मे, जिनका कि शास्त्रो मे उल्लेख तक नही है, भाष्यो, निर्युक्तियो, चूर्णियो, अवचूर्णियो, टीकाओ, जीवन चरित्रो, कथानको आदि का लेखन प्रारम्भ किया। अपनी इन नवीन कृतियो मे अपनी मान्यताओ के अनुरूप उदाहरणो, कथानको, गद्य-पद्याशो आदि का समावेश कर अपनी नूतन मान्यताओ को शास्त्रसम्मत सिद्ध करने का उन्होने पूर्ण प्रयास किया। लोगो को अधिकाधिक सख्या मे अपनी ओर आकृष्ट करने के उद्देश्य से सुविहित परम्परा के जिन-जिन श्रमणो ने जितनी अधिक मात्रा मे चैत्यवासियो द्वारा प्रचलित की गई मान्यताओ को कुछ हेर-फेर के साथ अपनी मान्यता के रूप मे अपनाया था, उन्होने स्वलिखित उन चूर्णियो, भाष्यो, निर्युक्तियो, टीकाओ आदि को शास्त्रो के समकक्ष स्थान दे उन्हे मान्य किया।

इस प्रकार चैत्यवासी परम्परा के प्रभाव का तीसरा दुष्परिणाम यह हुआ कि मूल परम्परा मे जहा आगमो को ही परम प्रामाणिक माना जाता था, वहा आगमो से भिन्न ग्रन्थो को भी आगमो के ही समान प्रामाणिक मानने का प्रचलन प्रारम्भ हुआ। आगम साहित्य मे स्पष्ट उल्लेख है कि गणधरो द्वारा वीतरागवाणी के आधार पर ग्रथित शास्त्रो और चतुर्दशपूर्वधर अथवा दशपूर्वधरो द्वारा द्वादशागी मे से निर्यूढ शास्त्रो को ही परम प्रामाणिक माना जाय। किन्तु चैत्यवासी परम्परा के प्रभाव के कारण उन आचार्यो-द्वारा रचित चूर्णि, भाष्य, टीका आदि ग्रन्थो को भी शास्त्रो के समान ही मान्य किया गया जिन आचार्यो को पूर्वो के ज्ञान की बात तो दूर एकादशागी के उन भागो अथवा अशो का भी ज्ञान नही था, जो अश उनके समय से पूर्व ही नष्ट हो चुके थे, इन ग्रन्थोको आगमो के समकक्ष मानने वालो की सख्या भी उत्तरोत्तर बढती गई।

चौथा दुष्परिणाम

लोगो को अधिकाधिक सख्या मे अपनी ओर आकृष्ट करने अथवा अपना अनुयायी बनाने के उद्देश्य से सुविहित परम्परा के जिन-जिन श्रमणो ने जितनी अधिक मात्रा मे चैत्यवासियो की मान्यताओ को थोडे बहुत हेर-फेर के साथ अपनी मान्यता के रूप मे अपनाया था, वे उन नवनिर्मित भाष्यो, निर्युक्तियो, चूर्णियो और टीकाओ आदि को लोक-प्रवाह के अनुरूप समझ कर उतने ही अधिक उन चूर्णियो आदि की ओर आकृष्ट हुए। शनै शनै प्राय सभी गच्छो के श्रमणो मे लोक-प्रवाह के अनुरूप चलने की प्रवृत्ति जागृत होने लगी और वे शास्त्रीय उल्लेखो को अधिक महत्व न देकर अपने पक्ष की पुष्टि और अपनी अशास्त्रीय मान्यताओ के औचित्य को सिद्ध करने के लिये निर्युक्तियो, भाष्यो, चूर्णियों और टीकाओ के उल्लेखो को ही प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत करने लगे।

खरतरगच्छ बृहद् गुर्वावली के उल्लेखानुसार विक्रम स० १०८४ मे अणहिलपट्टण के महाराजा दुर्लभराज की सभा मे सूराचार्य आदि चैत्यवासी आचार्यो के साथ हुए जिनेश्वरसूरि के शास्त्रार्थ के समय तक वनवासी उद्योतनसूरि के शिष्य वर्द्धमान सूरि की परम्परा के श्रमण केवल गणधरो और चतुर्दश पूर्वधरो द्वारा ग्रथित शास्त्रो को ही प्रामाणिक मानते थे, इनके अतिरिक्त अन्य किसी की रचना को वे प्रामाणिक नही मानते थे। परन्तु कालान्तर मे श्रमणो मे लोकप्रवाह के अनुरूप चलने की प्रवृत्ति बढने लगी और प्राय सभी श्रमण परम्पराए चूर्णियो आदि को भी शास्त्रो के समान ही प्रामाणिक मानने लगी।

दुर्लभराज की सभा मे चैत्यवासियो के साथ हुए उस ऐतिहासिक शास्त्रार्थ मे जिनेश्वरसूरि ने स्पष्ट शब्दो मे कहा कि वे केवल गणधरो और चतुर्दशपूर्वधरो द्वारा रचित शास्त्रो को ही प्रामाणिक मानते है। इनको छोड शेष किसी कृति को, किसी ग्रन्थ को वे प्रामाणिक नही मानते। केवल एक इसी प्रमुख युक्ति अथवा मुख्य मान्यता के आधार पर जिनेश्वरसूरि ने उस ऐतिहासिक शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त की। खरतरगच्छ वृहद् गुर्वावलि के एतद्विषयक उल्लेख को पढने से तो सहज ही यह विदित होता है कि वर्द्धमानसूरि की परम्परा के श्रमण उस समय तक केवल गणधरो द्वारा ग्रथित और चतुर्दश पूर्वधरो द्वारा निर्यूढ शास्त्रो को ही प्रामाणिक मानते थे। दश पूर्वधरो द्वारा रचित आगमो को भी वे प्रामाणिक नही मानते थे। सम्भवत श्रमणो मे लोकप्रवाह के अनुरूप चलने की प्रवृत्ति के बढने का ही यह परिणाम था कि उन्ही वर्द्धमानसूरि, जिनेश्वरसूरि की परम्परा के पट्टधर आचार्य और श्रमण कालान्तर मे ऐसे आचार्यो की रचनाओ को भी शास्त्रो के समान ही प्रामाणिक मानने लगे, जिन्हे एक पूर्व का भी ज्ञान नही था।

जिस लोकप्रवाह को मनीषी आचार्यो ने भेडचाल की सज्ञा दी है, उसी लोकप्रवाह के अनुकूल, अनुरूप भाष्यो, चूर्णियो, निर्युक्तियो, टीकाओ आदि की रचनाए की गई। उत्तरवर्ती काल के उन आचार्यो ने अपनी इन रचनाओ से वीतरागवाणी—शास्त्राज्ञा अथवा शास्त्रीय उल्लेखो की अपेक्षा लोकप्रवाह को अधिक महत्व देते हुए उन मान्यताओ की पुष्टि की, जिनका कि शास्त्रो मे या तो स्पष्ट निषेध है अथवा कही कोई उल्लेख तक नही है पर लोक प्रवाह मे प्रचलित है।

इसी कारण वीर निर्वाण की बीसवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे जब चैत्यवासी परम्परा समाप्त हो गई तो उस समय चैत्यवासी परम्परा के जितने भी अनुयायी थे वे बिना किसी हिचक के निर्युक्तियो, भाष्यो, चूर्णियो एव टीकाओ आदि को शास्त्रो के समान ही प्रामाणिक मानने वाली श्रमण परम्पराओ के अनुयायी बन गये। क्योकि चैत्यवासियो ने अपने श्राद्धवर्ग अर्थात् श्रावक-श्राविका वर्ग के लिए जो विधि-विधान, अनुष्ठान, धार्मिक कृत्य आदि आदि निर्धारित किये थे वे प्राय सबके

सब यत्किंचित् फेर-बदल के साथ, चूर्णियो आदि को प्रामाणिक मानने वाली परम्पराओ मे ज्यो के त्यो मिलते है। उन्हे यहा यह विशेषता मिली कि उन सभी मान्यताओ को इन परम्पराओ मे चूर्णियो, भाष्यो आदि के माध्यम से येन केन प्रकारेण शास्त्रीय बाना पहना दिया गया था। चैत्यवासी परम्परा के श्रमणो के लिये—चैत्य मे नियत निवास, औद्देशिक भोजन, चैत्यो का स्वामित्व, रुपया, पैसा, परिग्रह रखना आदि के सम्बन्ध मे जो दश नियम बनाये थे, उनसे उस श्राद्धवर्ग को कुछ भी लेना-देना नही था। उन्हे तो चैत्यवासियो द्वारा अपने श्राद्ध-वर्ग के निमित्त निर्मित विधि-विधानो और मान्यताओ से ही मतलब था, जो उन्हे चूर्णियो को प्रामाणिक मानने वाली अन्य परम्पराओ मे प्राय उसी रूप मे उपलब्ध हो गई।

श्वेताम्बर परम्परा मे मोटे रूप से दो विभाग

इस प्रकार पश्चाद्वर्ती श्रमण परम्पराओ की लोकप्रवाह के अनुरूप चलने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप उनके उपासको की सख्या मे तो आशातीत वृद्धि हुई पर चैत्यवासी परम्परा के लुप्त हो जाने के अनन्तर भी, उसके द्वारा जो विकृतिया धर्म के शास्त्रीय स्वरूप मे उत्पन्न कर दी गई थी, वे प्राय उसी रूप मे बनी रही। चैत्यवासी परम्परा तो समाप्त हो गई पर उसके अवशेष उसकी श्राद्धवर्ग सम्बन्धी मान्यताओ के रूप मे बने रहे।

इस सबका घातक परिणाम यह हुआ कि चैत्यवासी परम्परा के अवसान के अनन्तर भी जैन सघ मोटे तौर पर इन दो विभागो मे विभक्त ही रहा —

१ पहला विभाग तो निर्युक्तियो, भाष्यो, चूर्णियो, अवचूर्णियो और टीकाओ को शास्त्रो के समान प्रामाणिक मानने वाला। और

२ दूसरा विभाग निर्युक्तियो, चूर्णियो आदि को (सम्पूर्ण रूप से) प्रामाणिक नही मानने वाला।

इन दो विभागो मे से पहला विभाग चैत्यवासियो के पतनोन्मुख काल मे विक्रम की १५वी शताब्दी तक बहुजनसम्मत और अनुयायियो की सख्या की दृष्टि से सशक्त रहा।

दूसरा विभाग विक्रम की १५वी शताब्दी के अन्त तक अतिस्वल्प सख्यक अनुयायियो की दृष्टि से नितान्त गौण और अशक्त रहा। किन्तु विक्रम की १६वी शताब्दी के प्रारम्भ काल से यह उभरने लगा और उत्तरोत्तर इसका प्रचार-प्रसार बढने लगा।

—०—

५

भट्टारक परम्परा

भट्टारक परम्परा का प्रादुर्भाव —प्राचीन जैन साहित्य के अध्ययन एव मनन से यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि श्वेताम्बर एव दिगम्बर दोनो ही सघो मे देवर्द्धिगरिण क्षमा श्रमरण के स्वर्गस्थ होने से पूर्व वीर निर्वारण सम्वत् ८४० के आस-पास ही भट्टारक परम्परा का बीजारोपरण तो हो गया था किन्तु वीर निर्वारण की ११वी शताब्दी के प्रथम चरण तक श्वेताम्बर एव दिगम्बर दोनो ही सघो मे नवोदित परम्पराए प्रसिद्धि को प्राप्त नही कर सकी, गौरण ही बनी रही।

श्वेताम्बर परम्परा के भट्टारको ने प्रारम्भ मे परम्परा के आगमानुसारी विशुद्ध श्रमरणाचार और चैत्यवासी परम्परा के शिथिलाचार के वीच के मध्यम मार्ग को अपनाया। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा के भट्टारको ने भी गिरि-गुहावास व वनवास का परित्याग कर प्रारम्भ मे चैत्यो मे और चैत्याभाव मे ग्राम-नगर आदि के बहिर्भागस्थ गृहो मे निवास करना प्रारम्भ किया। उग्र विहार रूप परम्परागत परिभ्रमरणशील श्रमरण जीवन का इन दोनो सघो की भट्टारक परम्पराओ के श्रमरणो ने त्याग कर समान रूप से सदा एक ही स्थान पर नियत निवास अगीकार किया।

आगमानुसारी श्रमरणाचार से नितान्त भिन्न अपने इस आचररण की उपयोगिता, उपादेयता अथवा सार्थकता सिद्ध करने के उद्देश्य से दोनो ही सघो के भट्टारको ने अपने-अपने मठो-मन्दिरो मे "सिद्धान्त शिक्षरण शालाए" खोलकर उनमे बालको—किशोरो को शनै शनै. व्यावहारिक, धार्मिक और सैद्धान्तिक शिक्षरण देना प्रारम्भ किया।

इस प्रकार के नि शुल्क शिक्षरण से बच्चो मे ज्ञान-वृद्धि और धर्म के प्रति प्रेम देखकर जनमानस बडा प्रभावित हुआ। भावी पीढी के लिए इस प्रकार के प्रशिक्षरण को परमोपयोगी समझकर नगरवासियो अथवा ग्रामवासियो ने श्रीमन्तो से धन सग्रह कर मठ, मन्दिर, चैत्यालय, उपाश्रय, निषिधिया और उनके विस्तीर्ण प्रागरणो मे छात्रावासो, विद्यालयो और भोजनशालाओ का निर्मारण करवाना प्रारम्भ किया। दोनो परम्पराओ के भट्टारक अपने-अपने भक्तो द्वारा मन्दिरो के साथ निर्मापित विशाल आवासो को बस्तियो, निषिधियो अथवा मठो का नाम देकर उनमे रहने लगे। प्रारम्भिक अवस्था मे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ के भट्टारको के इन आवासो को मठो के नाम से ही अभिहित किया जाता रहा।

सब यत्किंचित् फेर-बदल के साथ, चूर्णियो आदि को प्रामाणिक मानने वाली परम्पराओ मे ज्यो के त्यो मिलते है। उन्हे यहा यह विशेषता मिली कि उन सभी मान्यताओ को इन परम्पराओ मे चूर्णियो, भाष्यो आदि के माध्यम से येन केन प्रकारेण शास्त्रीय बाना पहना दिया गया था। चैत्यवासी परम्परा के श्रमणो के लिये—चैत्य मे नियत निवास, औद्देशिक भोजन, चैत्यो का स्वामित्व, रुपया, पैसा, परिग्रह रखना आदि के सम्बन्ध मे जो दश नियम बनाये थे, उनसे उस श्राद्धवर्ग को कुछ भी लेना-देना नही था। उन्हे तो चैत्यवासियो द्वारा अपने श्राद्ध-वर्ग के निमित्त निर्मित विधि-विधानो और मान्यताओ से ही मतलब था, जो उन्हे चूर्णियो को प्रामाणिक मानने वाली अन्य परम्पराओ मे प्राय उसी रूप मे उपलब्ध हो गई।

श्वेताम्बर परम्परा मे मोटे रूप से दो विभाग

इस प्रकार पश्चाद्वर्ती श्रमण परम्पराओ की लोकप्रवाह के अनुरूप चलने की प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप उनके उपासको की सख्या मे तो आशातीत वृद्धि हुई पर चैत्यवासी परम्परा के लुप्त हो जाने के अनन्तर भी, उसके द्वारा जो विकृतिया धर्म के शास्त्रीय स्वरूप मे उत्पन्न कर दी गई थी, वे प्राय उसी रूप मे बनी रही। चैत्यवासी परम्परा तो समाप्त हो गई पर उसके अवशेष उसकी श्राद्धवर्ग सम्बन्धी मान्यताओ के रूप मे बने रहे।

इस सबका घातक परिणाम यह हुआ कि चैत्यवासी परम्परा के अवसान के अनन्तर भी जैन सघ मोटे तौर पर इन दो विभागो मे विभक्त ही रहा —

१ पहला विभाग तो निर्युक्तियो, भाष्यो, चूर्णियो, अवचूर्णियो और टीकाओ को शास्त्रो के समान प्रामाणिक मानने वाला। और

२ दूसरा विभाग निर्युक्तियो, चूर्णियो आदि को (सम्पूर्ण रूप से) प्रामाणिक नही मानने वाला।

इन दो विभागो मे से पहला विभाग चैत्यवासियो के पतनोन्मुख काल मे विक्रम की १५वी शताब्दी तक बहुजनसम्मत और अनुयायियो की सख्या की दृष्टि से सशक्त रहा।

दूसरा विभाग विक्रम की १५वी शताब्दी के अन्त तक अतिस्वल्प सख्यक अनुयायियो की दृष्टि से नितान्त गौण और अशक्त रहा। किन्तु विक्रम की १६वी शताब्दी के प्रारम्भ काल से यह उभरने लगा और उत्तरोत्तर इसका प्रचार-प्रसार बढने लगा।

—०—

५

भट्टारक परम्परा

भट्टारक परम्परा का प्रादुर्भाव —प्राचीन जैन साहित्य के अध्ययन एव मनन से यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि श्वेताम्बर एव दिगम्बर दोनो ही सघो मे देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण के स्वर्गस्थ होने से पूर्व वीर निर्वाण सम्वत् ८४० के आस-पास ही भट्टारक परम्परा का बीजारोपण तो हो गया था किन्तु वीर निर्वाण की ११वी शताब्दी के प्रथम चरण तक श्वेताम्बर एव दिगम्बर दोनो ही सघो मे नवोदित परम्पराए प्रसिद्धि को प्राप्त नही कर सकी, गौण ही बनी रही।

श्वेताम्बर परम्परा के भट्टारको ने प्रारम्भ मे परम्परा के आगमानुसारी विशुद्ध श्रमणाचार और चैत्यवासी परम्परा के शिथिलाचार के बीच के मध्यम मार्ग को अपनाया। इसी प्रकार दिगम्बर परम्परा के भट्टारको ने भी गिरि-गुहावास व वनवास का परित्याग कर प्रारम्भ मे चैत्यो मे और चैत्याभाव मे ग्राम-नगर आदि के बहिर्भागस्थ गृहो मे निवास करना प्रारम्भ किया। उग्र विहार रूप परम्परागत परिभ्रमणशील श्रमण जीवन का इन दोनो सघो की भट्टारक परम्पराओ के श्रमणो ने त्याग कर समान रूप से सदा एक ही स्थान पर नियत निवास अगीकार किया।

आगमानुसारी श्रमणाचार से नितान्त भिन्न अपने इस आचरण की उपयोगिता, उपादेयता अथवा सार्थकता सिद्ध करने के उद्देश्य से दोनो ही सघो के भट्टारको ने अपने-अपने मठो-मन्दिरो मे "सिद्धान्त शिक्षण शालाए" खोलकर उनमे बालको—किशोरो को शनै शनै. व्यावहारिक, धार्मिक और सैद्धान्तिक शिक्षण देना प्रारम्भ किया।

इस प्रकार के नि शुल्क शिक्षण से बच्चो मे ज्ञान-वृद्धि और धर्म के प्रति प्रेम देखकर जनमानस बडा प्रभावित हुआ। भावी पीढी के लिए इस प्रकार के प्रशिक्षण को परमोपयोगी समझकर नगरवासियो अथवा ग्रामवासियो ने श्रीमन्तो से धन सग्रह कर मठ, मन्दिर, चैत्यालय, उपाश्रय, निषिधिया और उनके विस्तीर्ण प्रागणो मे छात्रावासो, विद्यालयो और भोजनशालाओ का निर्माण करवाना प्रारम्भ किया। दोनो परम्पराओ के भट्टारक अपने-अपने भक्तो द्वारा मन्दिरो के साथ निर्मापित विशाल आवासो को वस्तियो, निषिधियो अथवा मठो का नाम देकर उनमे रहने लगे। प्रारम्भिक अवस्था मे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ के भट्टारको के इन आवासो को मठो के नाम से ही अभिहित किया जाता रहा।

किन्तु कालान्तर मे पृथक्-पृथक् पहिचान के लिये श्वेताम्बर परम्परा के भट्टारको को श्रीपूज्य जी, इनके आवासो अर्थात् श्रीपूज्य जी के सिहासन पीठो को आश्रम, मन्दिर जी आदि नामो से और दिगम्बर परम्परा के भट्टारको के सिहासन पीठो को मठ, नसिया (निसिहिया—निषिधिया), बस्तिया (वसदिया) आदि नामो से अभिहित किया जाने लगा। यो तो प्रारम्भिक काल मे दोनो परम्पराओ के भट्टारको के सिहासन पीठ भारत के सभी प्रान्तो के विभिन्न भागो मे रहे किन्तु आगे चल कर श्वेताम्बर परम्परा के भट्टारको का उत्तर-भारत तथा दक्षिण-पश्चिमी भारत मे और दिगम्बर परम्परा का मुख्यत दक्षिण-भारत मे वर्चस्व रहा।

दोनो परम्पराओ के भट्टारको ने[1] अपने-अपने भक्तो द्वारा निर्मापित मठो, सिहासन पीठो का स्वामित्व प्राप्त कर उनमे नियत निवास करते हुए शिक्षण सस्थानो मे जैन कुलो के बालको को और विशेषत अन्य वर्गो के साधारण स्थिति के गृहस्थो के बालको को शिक्षण देना प्रारम्भ किया। स्वल्प काल मे ही चैत्यवासियो, दिगम्बर भट्टारको और श्वेताम्बर भट्टारको के ये शिक्षण सस्थान बडे लोकप्रिय हो गये। इस प्रकार के शिक्षण सस्थानो मे उच्चकोटि के शिक्षण हेतु, इन शिक्षण सस्थानो के सम्यक् रूपेण सचालन हेतु एव छात्रो के समुचित शिक्षण भरण-पोषण आदि की समस्या के स्थायी समाधान हेतु श्रेष्ठियो, सामन्तो एव राजाओ ने उन सस्थानो के सस्थापक भट्टारको को मठो, मन्दिरो, चैत्यो, सिहासन पीठो आदि के नाम पर बडी-बडी धन राशियो, आवास भूमियो, कृषि भूमियो, ग्रामो और चौकी-चुगी से होने वाली राजकीय आय के निश्चित अशो के दान प्रारम्भ किये।[2] इसका परिणाम यह हुआ कि इन शिक्षण सस्थानो मे से अनेक शिक्षण सस्थान वर्तमान काल के विश्वविद्यालयो के स्तर के जैन सस्कृति के उच्चकोटि के शिक्षा केन्द्र बन गये। इन शिक्षण सस्थानो के सर्वश्रेष्ठ स्नातको को भट्टारको के सिहासन पीठो पर मण्डलाचार्यो, भट्टारको आदि के सर्वोच्च पद पर आसीन किया जाने लगा और विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न स्नातको को देश के विभिन्न भागो मे जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए प्रचारक बनाकर भेजा जाने लगा।[3] यापनीय परम्परा का विश्वविद्यालय के स्तर का शिक्षण सस्थान वर्तमान मैसूर नगर के आस-पास था।

---

[1] खरतर गच्छ बृहद्गुर्वावली मे श्वेताम्बर भट्टारको के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।

[2] इसी प्रकरण मे आगे प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं।

[3] (a) There is epigraphic evidence to show that there was a reputed Jain University at Teru Cheharanathumalai From the inscriptions found

(शेष पृष्ठ ११९ पर)

इस प्रकार के शिक्षण सस्थान चैत्यवासी परम्परा, श्वेताम्बर भट्टारक परम्परा, दिगम्बर भट्टारक परम्परा और यापनीय परम्परा के लिए वरदान सिद्ध हुए। इन शिक्षण सस्थानो से न्याय, व्याकरण, साहित्य, सभी भारतीय दर्शनो, जैन दर्शन, सस्कृत प्राकृत, अपभ्र श और प्रान्तीय भाषाओ का उच्चकोटि का प्रशिक्षण प्राप्त किये हुए विद्वान् स्नातक देश के कौने-कौने मे फैल गये और अपनी अपनी परम्परा का प्रचार करने लगे। यापनीय चैत्यवासी और श्वेताम्बर एव दिगम्बर परम्पराओ के उन उद्भट विद्वानो ने अपनी अपनी परम्परा के प्रचार के साथ-साथ अपनी-अपनी परम्परा के नव-निर्मित सिद्धान्तो, पूजादि विधानो, अनेक कर्म-काण्डो, अनुष्ठानो, कल्पो, मन्त्र-तन्त्रो आदि के बडे-बडे ग्रन्थो का निर्माण भी किया।

कालान्तर मे जिस प्रकार चैत्यवासी परम्परा के विलुप्त होने के साथ ही उस परम्परा के पोपक ग्रन्थ भी विलुप्त हो गये, उसी प्रकार यापनीय परम्परा का अधिकाश साहित्य भी उस परम्परा के लुप्त होने पर विलुप्त हो गया। आज चैत्यवासी परम्परा के सिद्धान्तो पर प्रकाश डालने वाला यद्यपि एक भी ग्रन्थ कही उपलब्ध नही होता फिर भी चैत्यवासी परम्परा के अस्तित्व के अनेक प्रमाण जैन वाड्मय मे उपलब्ध है। जैसे कि दुर्लभराज की सभा मे अरण्यचारी गच्छ नायक[1] उद्योतनसूरि के शिष्य श्री वर्द्धमानसूरि एव उनके शिष्य जिनेश्वरसूरि मे और चैत्यवासी परम्परा के मुख्य आचार्य सूराचार्य मे हुए शास्त्रार्थ का उल्लेख जिसमे चैत्यवासी परम्परा के इस प्रकार के ग्रन्थो की विद्यमानता का स्पष्ट उल्लेख निम्नलिखित रूप मे आज भी विद्यमान है —

"ततो मुख्य सूराचार्येणोक्तम्—"ये वसती वसन्ति मुनयस्ते षड्दर्शन बाह्या प्रायेण। षड्दर्शनानीह क्षपणकजटि प्रभृतीनि इत्यर्थनिर्णयाय नूतनवादस्थलपुस्तिका वाचनार्थ गृहीता करे।"[2]

इस उद्धरण मे स्पष्ट ही है कि चैत्यवासी परम्परा के अपनी मान्यताओ के अनेक ग्रन्थ थे। ठीक इसी प्रकार यापनीय परम्परा के भी अपनी मान्यता के अनेक ग्रन्थ थे।

(पृष्ठ ११८ का शेष)

at Kalugumalai we find that a number of disciples trained by the priesters of this University went in different directions to preach Jain Dharma

—The Forgotten History of the Land's End by S. Padmanabhan

(b) South Indian Inscriptions Volume V Nos 321, 324, 326 A R No 32, 35 and 37 of 1894

[1] खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावली, पृष्ठ ८९

[2] वही—पृष्ठ ३

वस्तुत तो यापनीय परम्परा के ग्रन्थो की सख्या गणनातीत थी। मूलाराधना, स्त्री मुक्ति, केवलिभुक्ति आदि ग्रन्थ तथा विजयोदया टीका के उद्धरण आज भी जैन वाङ्मय मे उपलब्ध होते है। ठीक इसी प्रकार भट्टारक परम्परा के विद्वानो ने भी अपनी परम्परा की मान्यताओ के अनुरूप साहित्य का निर्माण करना प्रारम्भ किया।

भट्टारक परम्परा के तत्वावधान मे विशाल पैमाने पर सुव्यवस्थित एव सुगठित रूप से सचालित शिक्षण सस्थानो मे उच्चकोटि का शिक्षण प्राप्त करने वाले स्नातको मे से जो भट्टारक पद पर आसीन हुए उन्होने और अन्य विद्वानो ने न्याय, व्याकरण दर्शन महाकाव्य आदि सभी विषयो पर उच्चकोटि के ग्रन्थो की रचना की। इन परम्पराओ के उन दिग्गज विद्वानो द्वारा निर्मित साहित्य का और उनके द्वारा किये गये धर्म प्रचार का जनमानस पर बडा व्यापक प्रभाव पडा। इसका परिणाम यह हुआ कि श्वेताम्बर तथा दिगम्बर भट्टारक परम्पराए भी चैत्यवासी परम्परा के समान सुदृढ, शक्तिशाली और लोक प्रिय बन गई। देश के विस्तीर्ण भागो मे इनका वर्चस्व स्थापित हो गया।

इस प्रकार चैत्यवासी परम्परा, श्वेताम्बर भट्टारक परम्परा, दिगम्बर भट्टारक परम्परा और यापनीय सघ—इन चारो परम्पराओ के बढते हुए प्रभाव के परिणामस्वरूप जैन धर्म का विशुद्ध मूल आध्यात्मिक स्वरूप एव तदनुरूप विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाली मूल परम्परा का प्रवाह और प्रभाव अनुक्रमश क्षीण होता गया। देवर्द्धि क्षमा श्रमण के स्वर्गस्थ होने के कुछ वर्षो पश्चात् तो क्षीणतर होते-होते सुप्त प्राय गुप्त—प्राय हो गया ऐसा भी कह दे तो अतिशयोक्ति नही होगी।

उस घोर सक्रान्ति काल मे भी मूल परम्परा पूर्णत लुप्त नही हुई। इस तथ्य की साक्षी देती है—"गड्डरि पवाहओ जो ", देवड्ढि खमासमण जा पर पर....", "सासणमिण सुत्तरहिय च" आदि गाथाए, जिनका उल्लेख ऊपर यथा स्थान किया जा चुका है।

लिग पाहुड मे सम्भवत ऊपर चर्चित चारो परम्पराओ के श्रमणो, भट्टारको एव आचार्यो आदि के आगम विरुद्ध श्रमणाचार तथा दैनन्दिन कार्यकलापो की समुच्चय रूप से आलोचना करते हुए ही लिखा गया है —

"जो जोडेज्ज विवाह, किसिकम्म वाणिज्ज जीवघाद च।"

अर्थात्—इन साधु नामधारियो (भट्टारको, चैत्यवासियो यापनीयो आदि) द्वारा वैवाहिक गठबन्धन, भूमि की जुताई, बुवाई, सिचाई, गुडाई, लुणाई, दाय, खेती के काम की वस्तुओ का क्रय, कृषि उपज का विक्रय, इन कार्यो मे पृथ्वी, अप तेजस्, वायु, वनस्पति तथा त्रस—इन षड्जीव निकायो के असख्य-अमख्य अथवा

अनन्त जीव समूहो का घात किया जाता है, किशोर-किशोरियो, तरुण-तरुणियो को विवाह के गठबन्धन मे जोडा जाता है।

भट्टारक परम्परा का जन्म किस समय हुआ—इस सम्बन्ध मे इतिहास के विद्वान् अद्यावधि किसी निर्णय पर नही पहुच पाये है। प्राय सभी विद्वान् इस प्रश्न के सम्बन्ध मे एक स्वर से यही कहते आये है कि भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव काल के सम्बन्ध मे अभी तक कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध न होने के कारण साधिकारिक रूप मे कुछ भी नही कहा जा सकता।

किन्तु जैन वाड्मय का सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर कतिपय ऐसे तथ्य उपलब्ध होते है, जिनसे भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव काल का निर्णय करने मे बडी सहायता मिलती है। उन तथ्यो मे से पहला तथ्य है लिंग-पाहुड की उपर्युल्लिखित गाथा का अश। लिग-पाहुड के सम्बन्ध मे मान्यता है कि यह आचार्य कुन्द-कुन्द की रचना है और लिग-पाहुड की इस गाथा मे उल्लिखित विवरण से यह भी निर्विवाद रूपेण फलित हो जाता है कि आचार्य कुन्दकुन्द के समय आगमानुसार विशुद्ध मूल श्रमणाचार से प्रतिकूल श्रमणाचार का पालन करने वाली चैत्यवासी, भट्टारक आदि परम्पराए शक्तिशाली धर्मसघ के रूप मे लोकप्रिय अथवा चर्चा का विषय बन चुकी थी। ऐसी स्थिति मे इन परम्पराओ के प्रादुर्भाव, काल को निर्धारित करने से पहले आचार्य कुन्द-कुन्द के समय का निर्धारण करना परमावश्यक हो जाता है।

आचार्य कुन्दकुन्द के समय के सम्बध मे पुष्ट प्रमाणो के अभाव के कारण विद्वानो मे अभी तक मतैक्य नही हो सका है। न्यायशास्त्री प गजाधर लाल जी जैन[1] और डा के बी पाठक[2] ने कुन्दकुन्दाचार्य का समय शक सवत् ४५० अर्थात् वीर नि० स १०५५ माना है। प नाथूराम प्रेमी इन्हे ईसा की दूसरी तीसरी शताब्दी के पूर्व का आचार्य अनुमानित नही करते। डा ए एन उपाध्ये ने आचार्य कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध मे ऊहापोह पुरस्सर एक तो ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच का, दूसरे—दूसरी शताब्दी के मध्य के पश्चात् का, तीसरे—ईसा की तीसरी शताब्दी के मध्य का और चौथे—ईसा की प्रथम दो शताब्दियो का—इस तरह भिन्न-भिन्न समय अनुमानित करने के पश्चात् अपना अभिमत व्यक्त करते हुए लिखा है—"उपलब्ध सामग्री के इस विस्तृत पर्यवेक्षण के पश्चात् मै विश्वास करता हू कि कुन्दकुन्द का समय ई सन् का प्रारम्भ है।"[3]

---

[1] समय प्राभृत, प्रथम सस्करण, ई सन् १९१४ की प्रस्तावना, पृष्ठ ८

[2] समय प्राभृत और षट्प्राभृतसग्रह-माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थ माला बम्बई, पुष्प १७ की प्रस्तावना, पृष्ठ १५

[3] कुन्दकुन्द प्राभृतसग्रह की आंग्ल भाषा मे प्रस्तावना, पृष्ठ ३६.

इस ग्रथमाला के सूत्रधार (जैनाचार्य श्री हस्तीमल जी म) ने एतद्विषयक सभी ऐतिहासिक तथ्यो के अवलोकन के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द का समय वीर निर्वाण स १००० तदनुसार वि सवत् ५३०, ई सन् ४७३ और शक स ३९५ के आस-पास का अनुमानित किया है।[1] आचार्य श्री ने अनेक ऐतिहासिक पुष्ट प्रमाणो से आचार्य कुन्दकुन्द का जो समय अनुमानित किया है, उसकी पुष्टि एक और ऐतिहासिक प्रमाण से होती है। वह प्रमाण है नियमसार की गाथा सख्या सत्रह। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थ 'नियमसार' की गाथा स १७ मे लिखा है —

चउदह भेदा भणिदा तेरिच्छा, सुरगणा चउब्भेदा।
एदेसि वित्थार, लोयविभागेसु णादव्व ॥१७॥

इस गाथा मे आचार्य कुन्दकुन्द ने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि चारो गतियो के जीवो के भेद के विषय मे विस्तृत जानकारी लोक विभाग से की जाय। इस गाथा से यह तो निर्विवाद रूपेण सिद्ध हो जाता है कि "लोक विभाग" नामक ग्रन्थ की रचना आचार्य कुन्दकुन्द से पूर्व हो चुकी थी। अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि 'लोक विभाग' नामक ग्रन्थ की रचना किस समय की गई ? जैन वाङ्मय के ग्रन्थो की प्राचीन एव प्रामाणिक सूची मे "लोक विभाग" नामक दो ग्रन्थो का उल्लेख है, एक तो प्राकृत भाषा मे दृब्ध 'लोक विभाग' का और दूसरा उसी के सस्कृत रूपान्तर 'लोक विभाग' का। प्राकृत भाषा मे ग्रथित लोक विभाग आज कही उपलब्ध नही है। किन्तु सिह सूरर्षि ने प्राकृत भाषा के उस 'लोक विभाग' नामक ग्रन्थ का सस्कृत भाषा मे पद्यानुवाद किया, वह आज उपलब्ध है। प्राकृत भाषा मे निबद्ध मूल 'लोक विभाग' के रचयिता आचार्य सर्वनन्दि का सुनिश्चित समय बताते हुए सिह सूरर्षि ने मूल लोकविभाग का सस्कृत मे अनुवाद प्रस्तुत करते हुए अपनी इस रचना (सस्कृत) 'लोक विभाग' मे लिखा है —

विश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे,
राजोत्तरेपु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे ॥१॥
ग्रामे च पाटलिकनामनि पाण्ड्य राष्ट्रे,
शास्त्र पुरा लिखितवान् मुनि सर्वनन्दि ॥२॥
सवत्सरे तु द्वाविशे काचीश सिहवर्मण।
अशीत्यग्रे शकाब्दाना, सिद्धमेतच्छतत्रये ॥३॥

अर्थात्—पाण्ड्य राष्ट्र के पाटलिक नामक ग्राम मे काञ्चीपति सिंह वर्मा के राज्य के बीसवे वर्ष मे मुनि सर्वनन्दि ने शक स ३८० (वि स ५१५, ई सन् ४५८, वीर नि स ९८५) मे लोक विभाग की रचना की।

[1] जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग २, पृष्ठ ७५९-७६८

इस लोक विभाग नामक ग्रन्थ मे चतुर्गतिक जीवो के भेद का जो वर्णन किया गया है, उससे विशेष जानकारी लोकविभाग से करने का कुन्दकुन्दाचार्य ने अपनी कृति नियमसार मे सकेत किया है। इससे आचार्य कुन्दकुन्द के समय के सम्बन्ध मे इस ग्रन्थ माला के भाग २ मे अभिव्यक्त किये गये अभिमत की पुष्टि के साथ-साथ यह सिद्ध होता है कि वीर नि० स० ९८५ की यह रचना आचार्य कुन्दकुन्द के समक्ष थी और वे इससे पूर्ववर्ती काल के आचार्य नही, अपितु लोक विभाग के रचनाकार सर्वनन्दि के समकालीन अथवा उत्तरवर्ती काल के अर्थात् ईसा की पाचवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के आचार्य थे।

इन ऐतिहासिक तथ्यो से यह फलित होता है कि शिथिलाचार को प्रश्रय देने वाली भट्टारक आदि परम्पराए वीर निर्वाण स ९८५ से पूर्व ही अपनी जडे जमा चुकी थी और इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द से पूर्व ही एक सुदृढ धर्मसघ का रूप धारण कर चुकी थी।

चैत्यो मे नित्य निवास को खुले रूप मे अगीकार करने वाली चैत्यवासी परम्परा के बढते हुए प्रभाव को देखकर ही सम्भवत श्वेताम्बर एव दिगम्बर दोनो ही सघो के साधुओ का गिरिगुहाओ, निर्जन वन्य प्रदेश अथवा एकान्त मे स्थित यक्षायतनो, शून्यघरो को त्याग कर ग्रामो मे ग्रामस्थ चैत्यो मे रहने की ओर झुकाव हुआ और उन्होने परम्परागत श्रमणाचार मे स्वय द्वारा किये गये इस परिवर्तन को सहेतुक-सकारण एव समुचित सिद्ध करने का प्रयास करते हुए कहा भी —

> कलौ काले वने वासो, वर्ज्यते मुनिसत्तमै ।
> स्थीयते च जिनागारे, ग्रामादिषु विशेषत ।।[1]

अर्थात्—उत्तम मुनियो को कलिकाल मे वनवास नही करना चाहिये। वनवास को त्याग कर जिनमन्दिरो और विशेषकर ग्रामादि मे रहना ही उनके लिए उचित है।

यह चैत्यवासियो द्वारा अपनी परम्परा के श्रमण-श्रमणियो के लिये बनाये गये १० नियमो मे से नियम सख्या २ का ही अनुसरण था, जिसमे कि वनवास के दोषो का दिग्दर्शन कराया गया है।

---

[1] आचार्य शिवकोटि द्वारा रचित 'रत्नमाला'।
सिद्धर वसदि के लेख स १०५ (शक स १३२०) के अनुसार ये आचार्य शिवकोटि, आचार्य समन्तभद्र के प्रमुख शिष्य और पट्टधर थे। ये विक्रम की सातवी-आठवी शताब्दी के बीच मे हुए है। कन्नड भाषा मे 'वड्डाराधने' नामक एक प्राचीन रचना मूडबिद्री मठ के ताड पत्रीय सग्रह मे ग्रन्थ स० ३०७ पर उपलब्ध है। यह रचना दक्षिण मे बड़ी लोकप्रिय रही है। अब यह प्रकाशित भी हो चुकी है।

यह था परीषह-भीरु श्रमणो का विशुद्ध श्रमणाचार से स्खलना का प्रारम्भ। जिस भाति उच्चतम ऊचाई तक पहुचे हुए पर्वतारोही को उसकी रचमात्र सी एक कदम की भी स्खलना कुछ ही क्षणो मे उसे पर्वतराज के उच्चतम शिखर से नीचे धरातल पर ला देती है, क्षण भर की अपनी थोडी सी असावधानी के कारण जैसे वह कुशल पर्वतारोही अपने अति दुष्कर कठोरतम श्रम से शिखर पर पहुच कर भी धरातल पर आ लुढकता है एव वहा की मिट्टी मे मिल जाता है, ठीक उसी प्रकार आध्यात्मिकता के उच्चतम सिंहासन पर आरूढ होने की उत्कण्ठा लिये साधना के सौपान पर आरोहण करने वाले साधक की किंचित् मात्र स्खलना का भी वस्तुत यही परिणाम होता है।

वीर निर्वाण की छटी शताब्दी के अन्त तक श्रमण भगवान् महावीर का श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका रूपी चतुर्विध तीर्थ उन प्रभु द्वारा प्ररूपित आगमिक आदर्शो पर पूर्ण निष्ठा के साथ सजग रह कर अपने उच्चतम आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर अग्रसर होता रहा। भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित श्रमणाचार एव सैद्धान्तिक मान्यताओ के विपरीत किसी प्रकार की स्खलना के लिये चतुर्विध सघ ने अपने अन्दर किसी प्रकार की सम्भावना नही रखी। यदि कभी किसी श्रमण का, श्रमणी का, श्रमणवर्ग का अथवा किसी श्रमणी वर्ग का प्रभु द्वारा प्ररूपित सिद्धान्तो के प्रति अनास्थामूलक स्खलना का किंचित्मात्र भी कदम उठा तो सदा सजग रहने वाले चतुर्विध सघ ने प्रथम तो उसे शान्ति और सहृदयता के साथ समझा बुझा कर स्खलना के लिए प्रायश्चित कराने एव सत्पथ पर लाने का प्रयास किया और यदि समुचित प्रयास के उपरान्त भी अपने हठाग्रह पर ही अडा रहा तो सम्पूर्ण चतुर्विध सघ ने उसकी स्खलना के अपराध के दण्ड-स्वरूप सघ से उसे निकाल बाहर किया। चतुर्विध सघ द्वारा प्रभु महावीर की विद्यमानता के समय से लेकर वीर निर्वाण की छटी शताब्दी तक स्खलना की ओर प्रवृत्त हुए श्रमण-श्रमणियो को समझाये जाने, पुन सत्पथ पर आरूढ किये जाने और सब भाति समझाने के उपरान्त भी पुन सत्पथ पर आरूढ न होने वालो को सघ द्वारा सघ से बहिष्कृत घोषित किये जाने के कतिपय उदाहरण उपलब्ध होते है। प्रभु के प्रथम निह्नव जमालि से लेकर अन्तिम सातवे निह्नव गोष्ठामाहिल—इन सात निह्नवो और उनके अनुयायियो को समझाने, सत्पथ पर लाने और समझाने के अनन्तर भी सत्पथ पर न आने वालो को अन्ततोगत्वा सघ से बहिष्कृत किये जाने के उल्लेख चतुर्विध सघ की ऐसी सतत् जागरूकता के ज्वलन्त उदाहरण हमे आगमो एव आगमेतर प्राचीन साहित्य मे आज भी उपलब्ध होते है।

जैन धर्म मे सघ को सर्वोपरि स्थान दिया जाता रहा है। सघ जब तक सजग, सशक्त एव अविभक्त रहा, तब तक उसमे किसी प्रकार की स्खलना अथवा शैथिल्य को पनपने देने का किसी भी प्रकार का अवकाश नही रहा। किन्तु वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी के प्रथम दशक मे और तदनन्तर उसके आस-पास

ही के किसी समय मे चतुर्विध जैन महासघ दो ही नही अपितु श्वेताम्वर, दिगम्वर और यापनीय—इन तीन टुकडो मे विभक्त होने लगा ।[1]

श्रमण-श्रमणी सघ के उपर्युक्त तीन विभागो मे विभक्त हो जाने के उपरान्त भी यदि श्रावक-श्राविका सघ तीन विभागो मे विभक्त न होकर पहले की ही तरह एकता के सूत्र मे सुदृढ रूपेण आबद्ध रहता तो अन्ततोगत्वा एक न एक दिन, तीन इकाइयो मे विभक्त श्रमण-श्रमणी सघ को भी सुनिश्चित रूपेण पुन एकता के सूत्र मे आबद्ध होना पडता और विभेद के रूप मे सघ के विघटन की प्रक्रिया सदा-सदा के लिए समाप्त हो जाती ।

वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी के प्रथम चरण मे अकुरित हुए विभेद के परिणामस्वरूप अशक्तता एव क्षीणता की ओर प्रवृत्त हुए जैन सघ की नवोदित विभिन्न इकाइयो मे प्रारम्भ मे प्रच्छन्नरूपेण शनै शनै स्खलनाओ का सूत्रपात होने लगा । स्खलनाओ की ओर प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप 'गतानुगतिको लोक ' इस लोकोक्ति के अनुसार साधु-साध्वी वर्ग मे शिथिलाचार द्रुत गति से व्यापक रूप ग्रहण करने लगा । इस प्रकार विशुद्ध श्रमणाचार से स्खलना की ओर प्रवृत्त हुए श्रमण-श्रमणी वर्गो ने परस्पर गठबन्धन कर अपने-अपने पृथक्-पृथक् सगठन बनाने प्रारम्भ किये ।

श्रावक-श्राविका वर्ग को अधिकाधिक सख्या मे अपनी-अपनी ओर आकर्षित कर अपने-अपने पक्ष को प्रबल बनाने के प्रयास होने लगे । अपने-अपने अभिनव रूपेण आविष्कृत आचार-विचार और कार्य-कलापो तथा विधि-विधानो आदि को औचित्य का परिधान पहनाने के लिए कलिकाल के बदले हुए समय का सहारा लिया जाने लगा और लोगो को समझाया जाने लगा —"अब ऐसा समय नही रहा कि प्रतिदिन अप्रतिहतरूपेण आज यहा तो कल वहा— इस प्रकार विहार किया जाय, नीरस, रूक्ष भिक्षान्न से—धर्माराधन के एकमात्र अनिवार्य साधन शरीर को असमय मे ही अशक्त, कृष और जर्जरित कर दिया जाय । इधर-उधर निरन्तर भटकते रहने की अपेक्षा एक स्थान पर नियत निवास कर बडे-बडे लोककल्याणकारी

---

[1] (क) छव्वाससयाई , तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स ।
तो वोडियाण दिट्ठी, रहवीरपुरे समुप्पण्णा ।।२५५०।। विशेषावश्यक भाष्य ।।

(ख) छत्तीसे वरिससए, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स ।
सोरट्ठे उप्पण्णो, सेवडो सघो हु वलहीए ।।५२।। भावसग्रह ।।

(ग) कल्लाणे वर णयरे, दुण्णिसए पच उत्तरे जादे ।। (वि० स० २०५)
जावणिज्ज सघ भावो सिरिकलसादो हु सेवडदो ।।२६।। दर्शनसार ।।

दिगम्वर विद्वान् स्व० प० नाथूरामजी प्रेमी ने दर्शनसार के इस अभिमत को प्रामाणिक न मानते हुए इन तीनो सघो की उत्पत्ति साथ-साथ ही मानी है ।

कार्य किये जा सकते हैं। अन्यत्र नियत निवास करने की अपेक्षा चैत्य बनवा कर उनमे रहना धर्म-साधना के साथ-साथ धर्म के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से तथा धर्म की व्युच्छित्ति को रोकने के दृष्टिकोण से भी सर्वथा उपयुक्त ही होगा। नित्य नियमित प्रभुपूजा, सकीर्तन, सैद्धान्तिक शिक्षण, उपदेश आदि के कारण वे चैत्य आगे चल कर धर्म के सुदृढ—स्थायी गढ और शिक्षा के केन्द्र बन जायेगे। जिनेन्द्र प्रभु को प्रात साय भोग लगाने के निमित्त जो भोज्य सामग्री तैयार की जायगी उससे चैत्य मे नियत निवास करने वाले साधुओ का सुचारु रूपेण भरण-पोषण भी हो जायगा और वे आधाकर्मी आहार के दोष से भी सदा बचे रहेगे। इस प्रकार चैत्यो के निर्माण और उनमे भोजन आदि का समुचित प्रबन्ध करने के लिये जो श्रावक एव श्राविका वर्ग धनराशि का दान करेंगे, वे महान् पुण्य के भागी हो सहज ही स्वर्ग-अपवर्ग के अधिकारी बन सकेंगे।[1]

लोगो ने पहली बार सुना कि बिना किसी प्रकार की तपश्चर्या, परीषह-सहन, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान अथवा सयम-साधना के, बिना किसी प्रकार के कायक्लेश के, केवल पैसे खर्च करके भी स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है, शनै. शनै शाश्वत सुखधाम मोक्ष भी प्राप्त किया जा सकता है, तो उनके रोम-रोम मे उत्साह की उमग तरगित हो उठी।

स्वर्ग का सुख कौन नही चाहता, मुक्ति किसे प्रिय नही ? उन नवोदित परम्पराओ के धर्मगुरुओ के मुख से इस प्रकार का आश्वासन मिलते ही श्रीमन्त भक्तजनो मे स्वर्गापवर्ग प्राप्ति की एक प्रकार से होड सी लग गई। उन साधुओ के आवास-स्थलो पर चारो ओर से श्रद्धालु श्रावक-श्राविका वर्ग वसुधारा की वृष्टि-सी करने लगे।

भट्टारक परम्परा के तीन रूप एव उनका काल-निर्णय

अपने प्रादुर्भाव काल से लेकर आज तक भट्टारक परम्परा ने समय-समय पर मुख्य रूप से तीन बार अपने रूप बदले है। यही कारण है कि इसके उद्भव काल के सम्बन्ध मे आज तक सभी विद्वानो ने यही कहा है कि—भट्टारक परम्परा कब से प्रारम्भ हुई इस सम्बन्ध मे ठोस प्रमाण उपलब्ध न होने के कारण कुछ भी नही कहा जा सकता।

भगवान् महावीर के धर्म सघ मे श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सघो के रूप मे विभेद उत्पन्न होने से पश्चाद्वर्ती जैन वाङ्मय के अध्ययन से चैत्यवासी परम्परा के जन्मकाल के साथ-साथ भट्टारक परम्परा के उद्भव काल के भी स्पष्ट रूप से सकेत मिलते है। वस्तुत वीर निर्वाण स ६०६ के लगभग हुए सघ भेद

[1] देखिए 'सघ पट्टक' मूल और उसकी वृत्ति।

के थोडे समय पश्चात् ही चैत्यवासी परम्परा के बीज अकुरित हो गये थे और ऐसा प्रतीत होता है कि चैत्यवासी परम्परा के प्रारम्भिक प्रादुर्भाव काल मे ही श्वेताम्बर दिगम्बर एव यापनीय—इन तीनो सघो के इक्के-दुक्के श्रमणो ने अपनी-अपनी परम्परा के न्यूनाधिक अनुरूप ही श्रमणधर्म का परिपालन करते हुए चैत्यो मे निवास करना प्रारम्भ कर दिया था।

भट्टारक परम्परा का प्रथम स्वरूप

इस प्रकार की परिपाटी को अपनाने वाले इन तीनो सघो के अत्यल्प सख्यक श्रमणो ने प्रारम्भ मे चैत्यो मे निवास करना तो प्रारम्भ कर दिया किन्तु उन्होने चैत्यवासियो के समान नियत-निवास को स्वीकार नही किया था। वर्षावासावधि को छोड शेष आठ मास के काल मे वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करते रहते थे। इस प्रकार मुक्त अथवा दिवगत महापुरुषो के पार्थिव शरीर के दाह-स्थलो पर पुरातन काल मे बने स्तूपो-चैत्यो मे अथवा देवायतनो मे निवास करते हुए विचरण करने वाले इन तीनो ही सघो से पृथक् हुए श्रमणो की—इन तीनो सुगठित सघो के अनुशासन मे रहने वाले श्रमणो से भिन्न पहिचान के लिये उन्हे समुच्चय रूपेण 'भट्टारक' नाम से अभिहित किया जाने लगा। इनकी सख्या अति स्वल्प होने, इनके सघ के न होने तथा सुगठित सघो के प्रति जनसाधारण की श्रद्धा-भक्ति-निष्ठा होने के कारण प्रारम्भिक काल मे उन भट्टारको को जन-सम्पर्क साधना आवश्यक हो गया। इस प्रकार उनका जनसम्पर्क की ओर झुकाव उत्तरोत्तर बढता ही गया। यह था भट्टारक परम्परा का प्रारम्भिक और पहला स्वरूप।

अब मुख्य प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार की भट्टारक परम्परा प्रारम्भ किस समय हुई। भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव काल के सम्बन्ध मे विचार करना परमावश्यक है क्योकि भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव का प्रमुख कारण चैत्यवासी परम्परा ही रही है और भट्टारक परम्परा के जन्मदाता उपर्युक्त तीनो सघो के श्रमण प्रारम्भ मे चैत्यवासी परम्परा के पदचिह्नो पर ही चले हैं।

'सघपट्टक-सवृत्ति' के उल्लेखानुसार चैत्यवासी परम्परा का प्रादुर्भाव वीर नि स ८५० मे हुआ। सघपट्टक की भूमिका मे जिनवल्लभ ने चैत्यवासी परम्परा की उत्पत्ति का इतिहास प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"वीर नि ८५० के आस पास कुछ मुनियो ने उग्रविहार छोडकर चैत्यो मे, मन्दिरो मे रहना प्रारम्भ कर दिया।"

पट्टावली समुच्चयकार ने—"द्वयशीत्यधिकाष्टशत (८८२) वर्षातिक्रमे चैत्यस्थिति"— इस वाक्य के द्वारा चैत्यवास के उत्पन्न होने का समय वीर नि स ८८२ माना है। किन्तु जैन वाड्मय मे एतद्विषयक इतस्तत उल्लिखित घटनाक्रम के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इससे पर्याप्त समय पूर्व और एक सूत्र मे आवद्ध एव सुसगठित जैन सघ मे विभेद की उत्पत्ति के साथ ही अथवा कुछ ही

कार्य किये जा सकते है। अन्यत्र नियत निवास करने की अपेक्षा चैत्य बनवा कर उनमे रहना धर्म-साधना के साथ-साथ धर्म के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से तथा धर्म की व्युच्छित्ति को रोकने के दृष्टिकोण से भी सर्वथा उपयुक्त ही होगा। नित्य नियमित प्रभुपूजा, सकीर्तन, सैद्धान्तिक शिक्षण, उपदेश आदि के कारण वे चैत्य आगे चल कर धर्म के सुदृढ—स्थायी गढ और शिक्षा के केन्द्र बन जायेगे। जिनेन्द्र प्रभु को प्रात साय भोग लगाने के निमित्त जो भोज्य सामग्री तैयार की जायगी उससे चैत्य मे नियत निवास करने वाले साधुओ का सुचारु रूपेण भरण-पोषण भी हो जायगा और वे आधाकर्मी आहार के दोष से भी सदा बचे रहेगे। इस प्रकार चैत्यो के निर्माण और उनमे भोजन आदि का समुचित प्रवन्ध करने के लिये जो श्रावक एव श्राविका वर्ग धनराशि का दान करेगे, वे महान् पुण्य के भागी हो सहज ही स्वर्ग-अपवर्ग के अधिकारी बन सकेगे।[1]

लोगो ने पहली बार सुना कि बिना किसी प्रकार की तपश्चर्या, परीषह-सहन, व्रत, नियम, प्रत्याख्यान अथवा सयम-साधना के, बिना किसी प्रकार के कायक्लेश के, केवल पैसे खर्च करके भी स्वर्ग प्राप्त किया जा सकता है, शनै शनै शाश्वत सुखधाम मोक्ष भी प्राप्त किया जा सकता है, तो उनके रोम-रोम मे उत्साह की उमग तरगित हो उठी।

स्वर्ग का सुख कौन नही चाहता, मुक्ति किसे प्रिय नही ? उन नवोदित परम्पराओ के धर्मगुरुओ के मुख से इस प्रकार का आश्वासन मिलते ही श्रीमन्त भक्तजनो मे स्वर्गापवर्ग प्राप्ति की एक प्रकार से होड सी लग गई। उन साधुओ के आवास-स्थलो पर चारो ओर से श्रद्धालु श्रावक-श्राविका वर्ग वसुधारा की वृष्टि-सी करने लगे।

भट्टारक परम्परा के तीन रूप एव उनका काल-निर्णय

अपने प्रादुर्भाव काल से लेकर आज तक भट्टारक परम्परा ने समय-समय पर मुख्य रूप से तीन बार अपने रूप बदले है। यही कारण है कि इसके उद्भव काल के सम्बन्ध मे आज तक सभी विद्वानो ने यही कहा है कि—भट्टारक परम्परा कब से प्रारम्भ हुई इस सम्बन्ध मे ठोस प्रमाण उपलब्ध न होने के कारण कुछ भी नही कहा जा सकता।

भगवान् महावीर के धर्म सघ मे श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय सघो के रूप मे विभेद उत्पन्न होने से पश्चाद्वर्ती जैन वाङ्मय के अध्ययन से चैत्यवासी परम्परा के जन्मकाल के साथ-साथ भट्टारक परम्परा के उद्भव काल के भी स्पष्ट रूप से सकेत मिलते है। वस्तुत वीर निर्वाण स ६०९ के लगभग हुए सघ भेद

[1] देखिए 'सघ पट्टक' मूल और उसकी वृत्ति।

के थोडे समय पश्चात् ही चैत्यवासी परम्परा के बीज अकुरित हो गये थे आर ऐसा प्रतीत होता है कि चैत्यवासी परम्परा के प्रारम्भिक प्रादुर्भाव काल मे ही श्वेताम्बर दिगम्बर एव यापनीय—इन तीनो सघो के इक्के-दुक्के श्रमणो ने अपनी-अपनी परम्परा के न्यूनाधिक अनुरूप ही श्रमणधर्म का परिपालन करते हुए चैत्यो मे निवास करना प्रारम्भ कर दिया था ।

भट्टारक परम्परा का प्रथम स्वरूप

इस प्रकार की परिपाटी को अपनाने वाले इन तीनो सघो के अत्यल्प सख्यक श्रमणो ने प्रारम्भ मे चैत्यो मे निवास करना तो प्रारम्भ कर दिया किन्तु उन्होने चैत्यवासियो के समान नियत-निवास को स्वीकार नही किया था । वर्षावासावधि को छोड शेप आठ मास के काल मे वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करते रहते थे । इस प्रकार मुक्त अथवा दिवगत महापुरुषो के पार्थिव शरीर के दाह-स्थलो पर पुरातन काल मे बने स्तूपो-चैत्यो मे अथवा देवायतनो मे निवास करते हुए विचरण करने वाले इन तीनो ही सघो से पृथक् हुए श्रमणो की—इन तीनो सुगठित सघो के अनुशासन मे रहने वाले श्रमणो से भिन्न पहिचान के लिये उन्हे समुच्चय रूपेण 'भट्टारक' नाम से अभिहित किया जाने लगा । इनकी सख्या अति स्वल्प होने, इनके सघ के न होने तथा सुगठित सघो के प्रति जनसाधारण की श्रद्धा-भक्ति-निष्ठा होने के कारण प्रारम्भिक काल मे उन भट्टारको को जन-सम्पर्क साधना आवश्यक हो गया । इस प्रकार उनका जनसम्पर्क की ओर झुकाव उत्तरोत्तर बढता ही गया । यह था भट्टारक परम्परा का प्रारम्भिक और पहला स्वरूप ।

अब मुख्य प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार की भट्टारक परम्परा प्रारम्भ किस समय हुई । भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव काल के सम्बन्ध मे विचार करना परमावश्यक है क्योकि भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव का प्रमुख कारण चैत्यवासी परम्परा ही रही है और भट्टारक परम्परा के जन्मदाता उपर्युक्त तीनो सघो के श्रमण प्रारम्भ मे चैत्यवासी परम्परा के पदचिह्नो पर ही चले है ।

'सघपट्टक—सवृत्ति' के उल्लेखानुसार चैत्यवासी परम्परा का प्रादुर्भाव वीर नि स ८५० मे हुआ । सघपट्टक की भूमिका मे जिनवल्लभ ने चैत्यवासी परम्परा की उत्पत्ति का इतिहास प्रस्तुत करते हुए लिखा है—"वीर नि ८५० के आस पास कुछ मुनियो ने उग्रविहार छोडकर चैत्यो मे, मन्दिरो मे रहना प्रारम्भ कर दिया ।"

पट्टावली समुच्चयकार ने—"द्वयशीत्यधिकाष्टशत (८८२) वर्षातिक्रमे चैत्यस्थिति"— इस वाक्य के द्वारा चैत्यवास के उत्पन्न होने का समय वीर नि स ८८२ माना है । किन्तु जैन वाड्मय मे एतद्विषयक इतस्तत उल्लिखित घटनाक्रम के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि इससे पर्याप्त समय पूर्व और एक सूत्र मे आवद्ध एव सुसगठित जैन सघ मे विभेद की उत्पत्ति के साथ ही अथवा कुछ ही

वर्षो पश्चात् चैत्यवासी परम्परा के अकुर प्रकट हो गये। चैत्यवासी परम्परा के उदयकाल मे ही अथवा तत्काल पश्चात् ही श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय इन तीनो ही सघो के इने–गिने महत्वाकाक्षी अथवा कारण वशात् अपने सघ से असतुष्ट श्रमणो ने चैत्यवासी श्रमणो के पदचिन्हो का अनुसरण करते हुए इन तीनो ही सघो मे भट्टारक परम्परा के बीज का वपन कर दिया। इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित तथ्य विचारणीय है —

वीर नि स ६०९ मे भगवान् महावीर का धर्म सघ श्वेताम्बर दिगम्बर और यापनीय-इन तीन भिन्न-भिन्न विभागो मे विभक्त हो गया यह एक विद्वज्जन सम्मत अभिमत है "छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति"–इस उक्ति के अनुसार उस विभेद के पश्चात् धर्म सघ के विघटन की प्रक्रिया प्रारम्भ हो गई और दो तीन दशको के अन्दर ही अन्दर एक नई परम्परा—चैत्यवासी परम्परा धर्म सघ मे प्रकट हुई। इसका प्रमाण है उपाध्याय देवचन्द्र का जीवन वृत्त।

विक्रम की १४वी शताब्दी के विद्वान् आचार्य प्रभाचन्द्र ने ऐतिहासिक महत्व के अपने ग्रन्थ 'प्रभावक चरित्र' (वि स १३३४) के 'सर्व देवसूरि चरितम्' मे वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे चैत्यवासी परम्परा के अस्तित्व का उल्लेख करते हुए लिखा है—"वनवासी आचार्य सर्वदेवसूरि वाराणसी से सिद्ध क्षेत्र शत्रुजय की ओर विहार करते हुए सप्तशती प्रदेश (कोरण्टक ७०० राज्य) की राजधानी कोरण्टक नगर मे आये। वहा श्री महावीर चैत्य मे नियत निवास करने वाले चैत्यवासी उपाध्याय देव चन्द्र रहते थे। आचार्य सर्व देवसूरि ने कतिपय दिनो तक कोरण्टक नगर मे रहकर उपाध्याय देवचन्द्र और उसके आज्ञानुवर्ती चैत्यवासी श्रमणो को धर्मोपदेश द्वारा समझा बुझा कर बनवासी परम्परा का श्रमण बनाया। चैत्यवासी परम्परा का परित्याग कर वनवास स्वीकार करने के पश्चात् उपाध्याय देव चन्द्र ने कठोर तपश्चरण किया। उपाध्याय देवचन्द्र की तपोनिष्ठा एव विद्वत्ता की ख्याति दिग्दिगन्त मे व्याप्त हो गई। इसके परिणामस्वरूप उपाध्याय देवचन्द्र को, सोलहवे गणाचार्य सामन्तभद्र के स्वर्गस्थ हो जाने पर वीर नि स ६७० के आस पास गणाचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया और वे वृद्ध देव सूरि के नाम से एक महान् प्रभावक आचार्य के रूप मे लोक प्रसिद्ध १७वे गणाचार्य हुए।[1]

---

[1] काश्चित्प्रबोध्य त चैत्यव्यवहारममोचयत् ॥१०॥
स पारमार्थिक तीव्र, धत्ते द्वादशधा तप।
उपाध्यायस्तत सूरि-पदे पूज्यै प्रतिष्ठित ॥११॥
श्री देवसूरिरित्याख्या, तस्य ख्याति ययौ किल।
श्रूयन्तेऽद्यापि वृद्धेभ्यो, वृद्धास्ते देवसूरय ॥१२॥
—प्रभावक चरित्र, १३ श्री मानदेव सूरि चरितम्, पृ ११८

आचार्य प्रभाचन्द्र ने वि स १३३४ तदनुसार वीर नि स १८०४ मे प्रभावक चरित्र की रचना की। आचार्य प्रभाचन्द्र ने इस ग्रन्थ की प्रशस्ति मे स्पष्टत लिखा है कि इन प्रभावक आचार्यो मे से कतिपय आचार्यो का चरित्र प्राचीन ग्रन्थो से और कतिपय का श्रुतधर (वयोवृद्ध-ज्ञानवृद्ध) मुनियो के मुख से सुन-सुन कर उन्होने सकलित किया है। 'श्री मान देवसूरि चरितम्' मे वृद्ध देव सूरि के सम्बन्ध मे आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा प्रयुक्त—"श्रूयन्तेऽद्यापि वृद्धेभ्यो, वृद्धास्ते देव सूरय ।" इस पद से स्पष्ट रूपेण प्रकट होता है कि वृद्ध देव सूरि के विषय मे उन्होने जो यह लिखा है—"वे पूर्व मे चैत्यवासी परम्परा के उपाध्याय थे, कालान्तर मे सर्व देवसूरि से प्रतिबोध पाकर उन्होने वनवास स्वीकार किया"—यह सब कुछ विवरण उन्हे कही लिखित मे नही अपितु ज्ञानवृद्ध मुनियो से—जनश्रुति—अथवा अनुश्रुति के रूप मे ही प्राप्त हुआ हो।

किसी अन्य ठोस प्रमाण के अभाव मे, जहाँ तक इतिहास का प्रश्न है, जन-श्रुतियाँ तो पूर्णत प्रामाणिक नही मानी जाती किन्तु मुनि मण्डल मे कर्ण-परम्परा से चली आ रही अनुश्रुतियो की तो लोक मे प्रामाणिक कोटि मे ही गणना की जाती रही है। आचार्य प्रभाचन्द्र ने वृद्ध देव सूरि के सम्बन्ध मे किंवदन्ती अर्थात् जनश्रुति के आधार पर नही अपितु ज्ञानवृद्ध श्रमणो मे कर्ण परम्परागत अनुश्रुति के आधार पर लिखा है। इस प्रकार की स्थिति मे यह मानना होगा कि वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे ही वीर नि स ६४०–६५० के आस-पास चैत्यवासी परम्परा का प्रादुर्भाव हो चुका था, तभी इस परम्परा मे अनेक वर्षो तक नियत-निवासी रह चुकने के पश्चात् उपाध्याय देवचन्द्र चैत्यवासी परम्परा का परित्याग कर वनवासी परम्परा के श्रमण बने और वे वीर निर्वाण स ६७० के आस पास देवचन्द्र से वृद्ध देव सूरि के नाम से प्रसिद्ध हो आचार्य सामन्त भद्र के उत्तराधिकारी १७ वे गणाचार्य बने।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि वीर नि स ६४० से ६५० की अवधि के बीच किसी समय चैत्यवासी परम्परा के साथ अथवा थोडे से अन्तर से भट्टारक परम्परा भी पृथक् इकाई के रूप मे सभवत तीनो सघो मे प्रचलित हो गई थी।

श्वेताम्बर परम्परा द्वारा प्राचीन काल मे सम्मत ७२ आगमो[1] मे से ३१ वे छेद सूत्र महानिशीथ मे जो सावद्याचार्य का प्रकरण है, उसमे असयती पूजा और चैत्यवासियो की आगम विरुद्ध मान्यताओ, प्ररूपणाओ और विशुद्ध श्रमण परम्परा से पूर्णत विपरीत उनके आचरण पर विशद प्रकाश डाला गया है। महानिशीथ

---

[1] श्वेताम्बर स्थानकवासी और तेरापथी परम्परा द्वारा वर्तमान काल मे ३२ आगम ही मान्य हैं। उनमे महानिशीथ की गणना तो की गई है किन्तु वर्तमान मे उपलब्ध, आ हरिभद्र द्वारा पुनरुद्धार किया हुआ महानिशीथ मान्य नही किया गया है।

के चैत्यवासी परम्परा विषयक उल्लेखो से भी यही प्रमाणित होता है कि चैत्यवासी परम्परा वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी के प्रथम चरण मे ही बडी लोकप्रिय बहुजन सम्मत और सशक्त परम्परा के रूप मे अस्तित्व मे आ चुकी थी ।

जहा तक अधिकाशत लुप्तप्राय मूल महानिशीथ के रचना-काल का सम्बन्ध है, इसकी तीर्थप्रवर्तन काल से ही आगमिक साहित्य मे गणना की जाती रही है । नन्दी सूत्र के उल्लेखानुसार वल्लभी-वाचना मे इसे भी पुस्तकारूढ किया गया था । इसकी प्राचीन प्रतियो मे उपलब्ध उल्लेख से ऐसा प्रकट होता है कि महानिशीथ की एक मात्र मूल प्रति हरिभद्र सूरि नामक आचार्य को मिली । वह प्रति स्थान-स्थान पर सडी-गली, दीमको द्वारा खाई हुई एव नितान्त खण्डित-विखण्डित रूप मे आचार्य हरिभद्र को उपलब्ध हुई थी । आचार्य हरिभद्र ने उसके स्थान-स्थान पर खण्डित-विखण्डित स्थलो को—अशो को पढा और उन्हे लगा कि जैन धर्म का वह एक अनमोल ग्रन्थरत्न है । उन्होने इस अनमोल आगम का उद्धार करने का दृढ—सकल्प किया । महामेधावी आगम निष्णात आचार्य हरिभद्र ने अथक परिश्रम कर उस जीर्ण-शीर्ण प्रति की प्रतिलिपि करना प्रारम्भ किया । जो भाग पढने मे आये उनको यथावत् रूपेण लिख कर और जो भाग दीमको द्वारा खा लिये गये थे अथवा सड-गल कर नष्ट हो गये थे, उन स्थलो पर उन्होने सभवत अपनी सविग्न-परम्परा की मान्यताओ को दृष्टिगत रखते हुए अपने आगम ज्ञान तथा बुद्धि बल से आवश्यकतानुसार उपयुक्त एव विषय से सुसम्बद्ध वाक्य, वाक्याश, पृष्ठ अथवा पृष्ठसमूह जोडकर महानिशीथ का उद्धार किया—अभिनव रूप से आलेखन सम्पन्न किया । इस प्रकार वर्तमान मे जो महानिशीथ का स्वरूप है, वह आचार्य हरिभद्र द्वारा सस्कारित स्वरूप है । अत कोई भी विद्वान् यह कहने की स्थिति मे नही है कि आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के तत्वावधान मे महानिशीथ का जो आलेखन किया गया था, उसमे से आ हरिभद्र द्वारा पुनरालिखित, परिवर्तित, परिवर्द्धित, अधिकाशत विलुप्त वर्तमान काल मे उपलब्ध महानिशीथ मे सभी पूर्ववत् अथवा यथावत् है ।

इतना सब कुछ होते हुए भी यह तो सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि दीमको द्वारा खाई गई खण्डित-विखण्डित महानिशीथ की जो प्रति आचार्य हरिभद्र सूरि को मिली, उसके आदि एव अन्त के अशो के समान मध्य भाग के अश अपेक्षा-कृत कम ही क्षति-ग्रस्त हुए होगे । इस युक्ति-सगत अनुमान के आधार पर यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी कि महानिशीथ के मध्य भाग मे उल्लिखित सावद्याचार्य का आख्यान, तीर्थयात्रा विपयक अति पुरातन वज्राचार्य का आख्यान और द्रव्यार्चना-भावार्चना विपयक आख्यान—ये तीन आख्यान जिस रूप मे माथुरी वाचना के आधार पर देवर्द्धि के तत्वावधान मे हुई वल्लभी वाचना (द्वितीय) के समय लिखे गये थे, वे कम क्षतिग्रस्तावस्था मे अथवा यथावत् रूप मे ही हरिभद्र सूरि को मिले होगे और महानिशीथ का उद्धार करते समय उन्होने इन

तीनो आख्यानो को केवल अपनी सविग्न परम्परा की मुख्य मान्यताओ के पुट के साथ यथावत् रूप मे जिस अवस्था मे थे, उसी मूल अवस्था मे लिख लिये होगे ।

यहाँ एक और अति महत्वपूर्ण तथ्य ध्यान मे रखने योग्य है कि आर्य देवर्द्धि-गणि क्षमाश्रमण द्वारा वल्लभी मे जो आगमो का लेखन वीर निर्वाण स ९८० मे प्रारम्भ किया जाकर वीर नि स ९९४ मे सम्पन्न किया गया, वह वीर नि स ८२४ के आस-पास मथुरा मे आर्य स्कन्दिल के तत्वावधान मे हुई आगम-वाचना के आगमो को आधार मान कर तथा आचार्य नागार्जुन के तत्वावधान मे उमी समय वल्लभी मे हुई वाचना को दृष्टिगत रखते हुए किया गया था । इससे यह फलित होता है कि महानिशीथ की जीर्ण-शीर्ण खण्डित-विखण्डित अवस्था मे जो प्रति आचार्य हरिभद्र को प्राप्त हुई, उसमे उल्लिखित सावद्याचार्य का आख्यान उस प्रति के मध्य भागस्थ होने के कारण सम्भवत. वीर नि स ८२४ और उसके पश्चात् वीर नि स ९८० से ९९४ तक हुई आगम वाचनाओ मे सर्वसम्मति से स्वीकार किया गया प्रामाणिक पाठ हो ।

इन सब महत्वपूर्ण तथ्यो के सदर्भ मे विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि महानिशीथ मे सावद्याचार्य (कमल प्रभ आचार्य) के आख्यान मे चैत्यवासी परम्परा पर जो विशद प्रकाश डाला गया है, वह न केवल वीर नि स ९८० मे देवर्द्धि क्षमाश्रमण के तत्वावधान मे हुई आगम वाचना के समय का अपितु वीर नि स ८२४ मे हुई आर्य स्कदिल और नागार्जुन के तत्वावधान मे हुई आगम वाचनाओ से भी पूर्व का हो सकता है ।

इससे यह प्रमाणित होता है कि स्कदिली वाचना और नागार्जुनीया वाचना से पर्याप्त समय पूर्व, वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी के प्रारम्भिक चरण मे ही चैत्यवासी परम्परा का प्रादुर्भाव हो चुका था और स्कदिली वाचना के समय तो वह परम्परा न केवल जन-जन की चर्चा का विषय अपितु समग्र श्रमण सघ और महान् आचार्यो के लिये भी चर्चा का विषय बन चुकी थी ।

महानिशीथ अभी तक जर्मनी के अतिरिक्त अन्यत्र प्रकाशित नही हुआ है । इसकी हस्तलिखित प्रतिया भी अति स्वल्प सख्या मे है । जो प्रतियाँ है, वे भी प्राचीन लेखन शैली मे लिखित होने के कारण प्राकृत भाषा के विद्वानो के लिये भी कठोर श्रम के पश्चात् ही बोधगम्य हैं । इन कारणो से विद्वानो का जितना ध्यान इस महानिशीथ मे वर्णित विषयो की ओर आकर्षित होना चाहिये था, उतना नही हो पाया है । इसके परिणामस्वरूप इस पर अपेक्षित शोध भी नही हो पाई है ।

कतिपय विद्वानो का अभिमत है कि देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण के स्वर्गारोहण के पश्चात् वीर नि स १००० से १०५५ तक युग प्रधानाचार्य पद पर रहे हरिभद्र सूरि (हारिल सूरि) ने दीमको द्वारा खाई गई खण्डित प्रति से महानिशीथ

का उद्धार किया। इसके विपरीत कतिपय शोधरुचि विद्वानो का अभिमत है कि वीर नि स १२२७ से १२९७, तदनुसार विक्रम स ७५७ से ८२७ के बीच की अवधि मे आचार्य पद पर रहे अनेक आगमो के टीकाकार, समराइच्च कहा, ललित विस्तरा आदि शताधिक ग्रन्थो के रचनाकार एव महान् दार्शनिक याकिनी महत्तरासूनु भवविरह विद्याधर कुल के आचार्य हरिभद्रसूरि ने महानिशीथ का उद्धार किया।

महानिशीथ का शोधपूर्ण सूक्ष्म दृष्टि से गहन अध्ययन न कर पाने के कारण कुछ विद्वानो ने वीर नि स १०५५ मे स्वर्गस्थ हुए युगप्रधान आचार्य हारिल-अपर नाम हरिभद्रसूरि को महानिशीथ का उद्धारक माना है। यह भ्रान्ति नाम-साम्य के कारण हुई है। यदि उन विद्वानो का ध्यान महानिशीथ के द्वितीय अध्ययन की समाप्ति पर दी गई पुष्पिका की ओर जाता तो वे इस प्रकार का अभिमत व्यक्त नही करते। द्वितीय अध्ययन की पुष्पिका मे स्पष्ट उल्लेख है कि भव-विरह याकिनी महत्तरा-सूनु आचार्य हरिभद्र द्वारा खण्डित-विखण्डित प्रति के आधार पर पुनरुद्धरित महानिशीथ की प्रति की आचार्य सिद्ध सेन, वुड्ढवाई, हारिल गच्छ के आचार्य यक्षदत्त महत्तर--आचार्य यक्षसेन और जिनदास गरिण महत्तर आदि ने सराहना करते हुए उसे मान्य किया। ये सभी आचार्य भवविरह याकिनी महत्तरा सूनु हरिभद्र सूरि के समकालीन थे।[1]

विद्याधर कुल के आचार्य जिनदत्त के शिष्य याकिनी महत्तरासूनु आचार्य श्री हरिभद्र सूरि ने अपनी कृति—'सबोध प्रकरण' मे चैत्यवासियो, भट्टारको मठाधीशो आदि के वर्चस्व के कारण जैन सघ मे उत्पन्न हुई विकृतियो का महानिशीथ के उल्लेखो के अनुरूप ही मार्मिक चित्रण करते हुए लिखा है —

कीवो न कुणइ लोय, लज्जइ पडिमाइ जल्लमुवणेइ।
सोवाहणो य हिंडइ, बन्धइ कडिपट्टमकज्जे ॥१४॥

"ये कायर साधु लु चन नही करते, प्रतिमा वहन करने मे शर्माते, अपने अग-प्रत्यग का मैल उतारते, पद त्राण पहन कर चलते, फिरते और बिना किसी प्रयोजन के ही कटिवस्त्र बाधते है। ये कुसाधु चैत्यो और मठो मे रहते है। पूजा के लिये आरम्भ एव देव द्रव्य का उपभोग करते है। जिनमन्दिर, शालाए आदि चुनवाते रग-बिरगे सुगन्धित एव धूपवासित सुन्दर वस्त्र पहन कर घूमते और स्त्रियो के समक्ष गाते है। ये कुसाधु साध्वियो द्वारा लाये गये पदार्थ खाते, जल, फल फूल आदि सचित्त द्रव्यो का उपभोग करते और दिन मे दो-तीन बार भोजन करते तथा पान लवगादि भी चबाते रहते है। ये लोग मुहूर्त निकालते, निमित्त बताते और

---

[1] विस्तृत जानकारी के लिये इसी ग्रन्थ मे दिया हुआ हारिल सूरि का प्रकरण द्रष्टव्य है।
—सम्पादक

भक्तो को भभूति भी देते है। सुस्वादु भोजन के लिये ये लोगो की झूठी प्रशसा-खुशामद करते और सामूहिक भोजो मे मिष्टान्न सुस्वादु व्यजन ग्रहण करते है। जिज्ञासुओ को पुन पुन पूछने पर भी सच्चा धर्म नही बताते। ये लोग स्नान करते है, शृगार करते है, सुगन्धित तेल-इत्र-फुलेल का उपयोग करते और स्वय भ्रष्ट होते हुए भी सदा दूसरो की आलोचना करते रहते है। इस प्रकार की विकृतियो से ओतप्रोत स्थिति मे भी —

> बाला वयति एव, वेसो तित्थयराण एसो वि।
> नमणिज्जो धिद्धि अहो, सिर सूल कस्स पुक्करिमो ।। ७६।।

अर्थात् कुछ अनभिज्ञ-नासमझ लोग कहते हैं कि यह भी तीर्थंकरो का वेष है, इसे भी नमस्कार करना चाहिये। अहो! उन्हे पुन पुन धिक्कार है। शोक! मैं अपने इस शिरशूल की पुकार किसके आगे करू ?"

इस प्रकार 'महानिशीथ' और 'सबोध प्रकरण' मे उल्लिखित जैन धर्म सघ मे उत्पन्न हुई विकृतियो के वर्णन वस्तुत समुच्चय रूप से मठाधीशो, श्री पूज्यो, भट्टारको और चैत्यवासियो से ही सम्बन्धित है।

याकिनी महत्तरा सूनु से लगभग २५० वर्ष पूर्व हुए आचार्य कुन्द कुन्द ने (जिनके समय के सम्बन्ध मे दिगम्बर विद्वानो मे भी मतवैभिन्य है, मतैक्य नही) भी लिग पाहुड मे—

> "जो जोडेज्ज विवाह किसिकम्मवाणिज्ज जीवघाद च।"

यह उल्लेख किया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि आचार्य कुन्द कुन्द के समय मे मठवासी परम्परा, चैत्यवासी परम्परा और भट्टारक परम्परा ये तीनो ही प्रकार की परम्पराए देश के प्राय सभी भागो मे फैल गई थी, लोकप्रिय एव बहुजन सम्मत हो जाने के फलस्वरूप महान् आचार्यो तक के लिये चिन्ता एव चर्चा का विषय बन चुकी थी।

ये सब, वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी के मध्य भाग से लेकर वीर निर्वाण की तेरहवी शताब्दी के अन्तिम अर्द्ध दशक (वीर निर्वाण स १२९७) तक के प्राचीन उल्लेख इस ऐतिहासिक तथ्य के प्रबल साक्षी हैं कि वीर नि स ६२० से ६५० के बीच की अवधि मे चैत्यवासी परम्परा के साथ साथ भट्टारक परम्परा का भी जन्म हो गया होगा। श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय इन तीनो सघो के कतिपय साधुओ ने वनवास, एकान्तवास अथवा गिरिगुहावास का तथा अध्यात्म साधना के पथ का त्याग कर चैत्यवास, वस्तिवास और जनसम्पर्क साधना प्रारम्भ कर दिया था।

इस प्रकार भट्टारक परम्परा का चैत्यवासी परम्परा के साथ ही

प्रादुर्भाव तो देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने से लगभग ३५० वर्ष पूर्व ही हो गया था। किन्तु महान् प्रभावक पूर्वधर आचार्यों की विद्यमानता और अधिकांश श्रावक-श्राविका वर्ग मे अध्यात्म परक आगमानुरूपी विशुद्ध धर्म और विशुद्ध श्रमणाचार के प्रति प्रगाढ निष्ठा के कारण चैत्यवासी एव भट्टारक परम्परा के श्रमण जैन समाज मे कोई विशेष सम्मान के भाजन नही बन सके। इसी कारण उनमे से अधिकाश साधु किसी एक स्थान पर सदा के लिये नियत निवास न कर प्राय विहरूक ही रहे।

इन भट्टारको ने भूमिदान, द्रव्यदान लेना और रुपया पैसा आदि परिग्रह रखना प्रारम्भ कर दिया था।

श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय इन तीनो सघो के श्रमणो मे से जो जो श्रमण पृथक् हो भट्टारक बने, उन्होने प्रारम्भ मे अपना वेष उसी सघ के श्रमणो के समान रखा जिससे कि वे पृथक् हुए थे। दिगम्बर परम्परा के भट्टारको ने अपवाद रूप मे अनग्न रहना प्रारम्भ कर दिया था। यह था भट्टारक परम्परा का प्रारम्भ काल का प्रथम स्वरूप। लगभग वीर निर्वाण स ६४० से लेकर वीर नि स ८८०-८२ तक भट्टारक परम्परा का सामान्यत यही स्वरूप रहा।

ई सन् २०० से २२० (वीर नि स ७२७ से ७४७) के बीच की अवधि मे सिंहनन्दि नामक आचार्य ने दडिग और माधव (राम और लक्ष्मण) नामक दो इक्ष्वाकुवशीय राजकुमारो को अनेक विद्याओ मे पारगत कर उनके माध्यम से दक्षिण मे जैन धर्मावलम्बी गग राजवश की स्थापना की। सिंह नन्दि द्वारा किये गये कार्य-कलापो (जिनका कि सविस्तार उल्लेख आगे गग राजवश के प्रकरण मे दिया गया है) को देखते हुए अनुमान किया जाता है कि वे यापनीय परम्परा के भट्टारक थे। एक पच महाव्रतधारी श्रमण से तो, चाहे वह श्वेताम्बर, दिगम्बर अथवा यापनीय परम्परा का क्यो न हो, कभी इस प्रकार की कल्पना नही की जा सकती कि वह किसी राजा को उसके सैनिक अभियान मे साथ दे अथवा युद्ध मे पीठ न दिखाने अथवा युद्ध मे डटे रहने का उपदेश दे। पर उन्होने ऐसा ही सब कुछ किया।

भट्टारक-परम्परा का दूसरा स्वरूप

वीर निर्वाण की नौवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे भट्टारको ने अपने सघो को सुगठित करना प्रारम्भ किया। लोक सम्पर्क बढाने के परिणामस्वरूप उनके सगठन सुदृढ होने लगे। मन्दिरो मे नियत निवास कर भट्टारको ने किशोरो को जैन सिद्धान्तो का शिक्षण देना प्रारम्भ किया। औषधि, मन्त्र-तन्त्र आदि के प्रयोग से जन-मानस पर अपना प्रभाव जमाना प्रारम्भ किया। भौतिक आकाक्षाओ की पूर्ति हेतु जन-मानस का झुकाव भट्टारको की ओर होने लगा। अपने पाण्डित्य एव चमत्कारपूर्ण कार्यों के बल पर कतिपय भट्टारको ने राजाओ को भी अपनी

और आकर्षित किया । उन्होने राजसभाओ मे सम्मानास्पद स्थान प्राप्त किये । कतिपय भट्टारको को राज्याश्रय प्राप्त हुआ । राजाओ द्वारा सम्मानित होने तथा राजगुरु बनने के परिणाम स्वरूप भट्टारको का सर्व-साधारण पर भी उत्तरोत्तर प्रभाव बढने लगा । जन सहयोग प्राप्त होने पर भट्टारको ने बडे-बडे जिन मन्दिरो के निर्माण, उच्च सैद्धान्तिक शिक्षा के शिक्षण केन्द्रो के उद्घाटन, सचालन आदि अनेक उल्लेखनीय कार्य अपने हाथो मे लिए । उन प्रशिक्षण केन्द्रो से उच्च शिक्षा प्राप्त विद्वान् स्नातको ने धर्म समाज और साहित्य के क्षेत्र मे अनेक उल्लेखनीय कार्य किये । अनुमानत वीर निर्वाण स १०१० के आसपास इक्ष्वाकु (सूर्यवशी) कदम्बवश के राजा शिवमृगेश वर्मा द्वारा अर्हत्प्रोक्त सद्धर्म के आचरण मे सदा तत्पर श्वेताम्बर महा श्रमण सघ के उपभोग हेतु, निर्ग्रन्थ महाश्रमण सघ के उपभोग के लिए तथा अर्हत् शाला परम पुष्कल स्थान निवासी भगवान् अर्हत् महाजिनेन्द्र देवता के लिए दिये गये कावबग नामक गाव के दान से यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि जिन श्वेताम्बर, दिगम्बर, एव यापनीय सघो के आचार्यो श्रमणो ने भूमि दान ग्राम दान लेना प्रारम्भ कर दिया था, वे वस्तुत भट्टारक परम्परा के सूत्रधार थे ।[1] विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले पच महाव्रतधारी पूर्णरूपेण अपरिग्रही श्रमणो के लिए इस प्रकार भूमिदान ग्रहण करना पूर्णत शास्त्र विरुद्ध है । ऐसी स्थिति मे श्वेताम्बर और दिगम्बर महाश्रमण सघ ने कदम्ब नरेश शिव मृगेश वर्मा द्वारा श्रमणो अथवा श्रमण सघ के उपभोग के लिए दिये गये दान को स्वीकार किया—इससे यही फलित होता है कि-इस अभिलेख मे यद्यपि भट्टारक शब्द का उल्लेख नही है तथापि भट्टारको के अनुरूप उनके ग्रामदानादि ग्रहण करने के आचरण से यही सिद्ध होता है कि वे श्वेताम्बर दिगम्बर अथवा यापनीय अथवा कूर्चक सघ वस्तुत भट्टारक सघ ही थे । उन सघो ने वीर निर्वाण की ग्यारहवी शताब्दी के प्रथम दशक तक अपने सघ के नाम से पूर्व भट्टारक विशेषण भले ही नही लगाया हो पर उनके आचार-विचार और कार्यकलाप भट्टारक-आचार-विचार वृत्ति की ओर उन्मुख हो चुके थे ।

यहा एक बडा ही महत्वपूर्ण तथ्य ध्यान मे रखने योग्य यह है कि मथुरा के ककाली टीले की खुदाई से कनिष्क सवत ५ तदनुसार वीर नि० स० ६१० से ई सन् ४३३ तदनुसार वीर नि स ६६० तक के जो शिला-लेख उपलब्ध हुए है, उन शिला-लेखो मे आयाग-पट्टो, दीप-स्तम्भो के निर्माण, जिनेश्वरो की मूर्तियो की स्थापना आदि के उल्लेख तो है किन्तु न तो किसी आचार्य द्वारा अथवा मुनि द्वारा किसी प्रकार के दान के ग्रहण किये जाने का कोई उल्लेख है और न कही भट्टारक परम्परा का नामोल्लेख तक ही ।

---

[1] इडियन ऐंटीक्वीटीज वाल्यूम ७, पेज ३७-३८ न० ३७ तथा जैन शिला लेख सग्रह, भाग २, लेख न ६८, पृष्ठ ६६–७२

प्रादुर्भाव तो देवर्द्धिगणी क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने से लगभग ३५० वर्ष पूर्व ही हो गया था। किन्तु महान् प्रभावक पूर्वधर आचार्यो की विद्यमानता और अधिकांश श्रावक-श्राविका वर्ग मे अध्यात्म परक आगमानुरूपी विशुद्ध धर्म और विशुद्ध श्रमणाचार के प्रति प्रगाढ निष्ठा के कारण चैत्यवासी एव भट्टारक परम्परा के श्रमण जैन समाज मे कोई विशेष सम्मान के भाजन नही बन सके। इसी कारण उनमे से अधिकाश साधु किसी एक स्थान पर सदा के लिये नियत निवास न कर प्राय विहरूक ही रहे।

इन भट्टारको ने भूमिदान, द्रव्यदान लेना और रुपया पैसा आदि परिग्रह रखना प्रारम्भ कर दिया था।

श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय इन तीनो सघो के श्रमणो मे से जो जो श्रमण पृथक् हो भट्टारक बने, उन्होने प्रारम्भ मे अपना वेष उसी सघ के श्रमणो के समान रखा जिससे कि वे पृथक् हुए थे। दिगम्बर परम्परा के भट्टारको ने अपवाद रूप मे अनग्न रहना प्रारम्भ कर दिया था। यह था भट्टारक परम्परा का प्रारम्भ काल का प्रथम स्वरूप। लगभग वीर निर्वाण स ६४० से लेकर वीर नि स ८८०-८२ तक भट्टारक परम्परा का सामान्यत यही स्वरूप रहा।

ई सन् २०० से २२० (वीर नि स ७२७ से ७४७) के बीच की अवधि मे सिंहनन्दि नामक आचार्य ने दडिग और माधव (राम और लक्ष्मण) नामक दो इक्ष्वाकुवशीय राजकुमारो को अनेक विद्याओ मे पारगत कर उनके माध्यम से दक्षिण मे जैन धर्मावलम्बी गग राजवश की स्थापना की। सिंह नन्दि द्वारा किये गये कार्य-कलापो (जिनका कि सविस्तार उल्लेख आगे गग राजवश के प्रकरण मे दिया गया है) को देखते हुए अनुमान किया जाता है कि वे यापनीय परम्परा के भट्टारक थे। एक पच महाव्रतधारी श्रमण से तो, चाहे वह श्वेताम्बर, दिगम्बर अथवा यापनीय परम्परा का क्यो न हो, कभी इस प्रकार की कल्पना नही की जा सकती कि वह किसी राजा को उसके सैनिक अभियान मे साथ दे अथवा युद्ध मे पीठ न दिखाने अथवा युद्ध मे डटे रहने का उपदेश दे। पर उन्होने ऐसा ही सब कुछ किया।

भट्टारक-परम्परा का दूसरा स्वरूप

वीर निर्वाण की नौवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे भट्टारको ने अपने सघो को सुगठित करना प्रारम्भ किया। लोक सम्पर्क बढाने के परिणामस्वरूप उनके सगठन सुदृढ होने लगे। मन्दिरो मे नियत निवास कर भट्टारको ने किशोरो को जैन सिद्धान्तो का शिक्षण देना प्रारम्भ किया। औषधि, मन्त्र-तन्त्र आदि के प्रयोग से जन-मानस पर अपना प्रभाव जमाना प्रारम्भ किया। भौतिक आकाक्षाओ की पूर्ति हेतु जन-मानस का झुकाव भट्टारको की ओर होने लगा। अपने पाण्डित्य एव चमत्कारपूर्ण कार्यो के बल पर कतिपय भट्टारको ने राजाओ को भी अपनी

ओर आकर्षित किया। उन्होने राजसभाओ मे सम्मानास्पद स्थान प्राप्त किये। कतिपय भट्टारको को राज्याश्रय प्राप्त हुआ। राजाओ द्वारा सम्मानित होने तथा राजगुरु बनने के परिणाम स्वरूप भट्टारको का सर्व-साधारण पर भी उत्तरोत्तर प्रभाव बढने लगा। जन सहयोग प्राप्त होने पर भट्टारको ने बडे-बडे जिन मन्दिरो के निर्माण, उच्च सैद्धान्तिक शिक्षा के शिक्षण केन्द्रो के उद्‌घाटन, सचालन आदि अनेक उल्लेखनीय कार्य अपने हाथो मे लिए। उन प्रशिक्षण केन्द्रो से उच्च शिक्षा प्राप्त विद्वान् स्नातको ने धर्म समाज और साहित्य के क्षेत्र मे अनेक उल्लेखनीय कार्य किये। अनुमानत वीर निर्वाण स १०१० के आसपास इक्ष्वाकु (सूर्यवशी) कदम्बवश के राजा शिवमृगेश वर्मा द्वारा अर्हत्प्रोक्त सद्धर्म के आचरण मे सदा तत्पर श्वेताम्बर महा श्रमण सघ के उपभोग हेतु, निर्ग्रन्थ महाश्रमण सघ के उपभोग के लिए तथा अर्हत् शाला परम पुष्कल स्थान निवासी भगवान् अर्हत् महाजिनेन्द्र देवता के लिए दिये गये कालवग नामक गाव के दान से यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि जिन श्वेताम्बर, दिगम्बर, एव यापनीय सघो के आचार्यो श्रमणो ने भूमि दान ग्राम दान लेना प्रारम्भ कर दिया था, वे वस्तुत भट्टारक परम्परा के सूत्रधार थे।[1] विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले पच महाव्रतधारी पूर्णरूपेण अपरिग्रही श्रमणो के लिए इस प्रकार भूमिदान ग्रहण करना पूर्णत शास्त्र विरुद्ध है। ऐसी स्थिति मे श्वेताम्बर और दिगम्बर महाश्रमण सघ ने कदम्ब नरेश शिव मृगेश वर्मा द्वारा श्रमणो अथवा श्रमण सघ के उपभोग के लिए दिये गये दान को स्वीकार किया—इससे यही फलित होता है कि-इस अभिलेख मे यद्यपि भट्टारक शब्द का उल्लेख नही है तथापि भट्टारको के अनुरूप उनके ग्रामदानादि ग्रहण करने के आचरण से यही सिद्ध होता है कि वे श्वेताम्बर दिगम्बर अथवा यापनीय अथवा कूर्चक सघ वस्तुत भट्टारक सघ ही थे। उन सघो ने वीर निर्वाण की ग्यारहवी शताब्दी के प्रथम दशक तक अपने सघ के नाम से पूर्व भट्टारक विशेषण भले ही नही लगाया हो पर उनके आचार-विचार और कार्यकलाप भट्टारक-आचार-विचार वृत्ति की ओर उन्मुख हो चुके थे।

यहा एक बडा ही महत्वपूर्ण तथ्य ध्यान मे रखने योग्य यह है कि मथुरा के ककाली टीले की खुदाई से कनिष्क सवत ५ तदनुसार वीर नि० स० ६१० से ई सन् ४३३ तदनुसार वीर नि स ९६० तक के जो शिला-लेख उपलब्ध हुए है, उन शिला-लेखो मे आयाग-पट्टो, दीप-स्तम्भो के निर्माण, जिनेश्वरो की मूर्तियो की स्थापना आदि के उल्लेख तो है किन्तु न तो किसी आचार्य द्वारा अथवा मुनि द्वारा किसी प्रकार के दान के ग्रहण किये जाने का कोई उल्लेख है और न कही भट्टारक परम्परा का नामोल्लेख तक ही।

---

[1] इडियन ऐंटीक्वीटीज वाल्यूम ७, पेज ३७-३८ न० ३७ तथा जैन शिला लेख सग्रह, भाग २, लेख न ९८, पृष्ठ ६९–७२

इससे यही प्रतीत होता है कि वीर निर्वाण की दशवी शताब्दी तक उत्तर भारत मे भट्टारक परम्परा के बीज तक का वपन नही हुआ था। भट्टारक परम्परा उस समय तक दक्षिण मे और पश्चिम-दक्षिण दिग्विभाग मे ही उदित हुई थी।

वीर निर्वाण की ग्यारहवी शताब्दी के पश्चात् तो प्राय सभी सघो के आचार्यो, भट्टारको और श्रमणो एव कुरत्तियार के नाम से प्रसिद्ध कतिपय श्रमणी-मुख्यो द्वारा भूमिदान, भवन दान, ग्राम दान, करो के अश दान, चुगी की राजकीय आय के अश दान, व्यापारी सघो की आय के अशदान, द्रव्य दान, मुनियो को असन-पान-वस्त्र-पात्रादि चार प्रकार के दान दिये जाते रहने की नियमित व्यवस्था के लिए क्षेत्र दान-ग्राम दान-भूमिदान ग्रहण किये जाने के उल्लेखो से इतने शिला लेख भरे पडे है कि उनकी केवल गणना करने मे भी पर्याप्त समय और श्रम की आवश्यकता है। इस प्रकार के दान ग्रहण करने वाले आचार्यो एव भट्टारको की छोटी-छोटी पट्टावलिया, उनके सक्षिप्त पट्टक्रम भी अनेक शिला लेखो मे उपलब्ध होते हैं।

भट्टारको की जो पट्टावलिया उपलब्ध हुई है, उनके कालक्रम पर शोधपूर्ण दृष्टि से विचार करने पर यह विश्वास करने के लिए बाध्य होना पडता है कि वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी मे ही भट्टारक परम्परा उस प्रथम स्वरूप मे उदित हो चुकी थी, जिस प्रथम स्वरूप पर ऊपर विस्तार के साथ प्रकाश डाल दिया गया है। अधिक गहराई मे न जाकर केवल इडियन एण्टीक्यूरी के आधार पर इतिहास के विद्वानो द्वारा काल क्रमानुसार तैयार की गयी भट्टारक परम्परा के प्रमुख सघ-नन्दि सघ की पट्टावलि के आचार्यो की नामावलि के शोधपूर्ण सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन-पर्यालोचन पर भी यही तथ्य प्रकाश मे आता है कि सघ-भेद (वीर नि स ६०९) के तीन चार दशक पश्चात् ही भट्टारक परम्परा का एक धर्म सघ के रूप मे बीजारोपण हो चुका था।

भट्टारक परम्परा के उद्‌भव, प्रसार एव उत्कर्ष काल के विषय मे युक्ति सगत एव सर्वजन समाधानकारी निर्णय पर पहुचने के लिए "नन्दिसघ-पट्टावलि के आचार्यो की नामावलि" बडी सहायक सिद्ध होगी, इसी दृष्टि से उसे आदि से अन्त तक यथावत् रूपेण यहा उद्धृत किया जा रहा है —

नन्दि सघ की पट्टावलि के आचार्यो की नामावलि
(इण्डियन एन्टीक्यूरी के आधार पर)

१ भद्रबाहु द्वितीय [1] (४) २ गुप्ति गुप्त (२६)
३ माघनन्दि (३६) ४ जिनचन्द्र (४०)

[1] श्रवण बेल्गुल की पार्श्वनाथ बस्ति के शिलालेख मे वर्णित द्वितीय भद्रबाहु

५ कुन्दकुन्दाचार्य (४९)
६ उमास्वामि (१०१)
७ लोहाचार्य (१४२)
८ यश कीर्ति (१५३)
९ यशोनन्दि (२११)
१० देवनन्दि (२५८)
११ जयनन्दि (३०८)
१२ गुणनन्दि (३५८)
१३ वज्रनन्दि (३६४)
१४ कुमारनन्दि (३८६)
१५ लोकचन्द्र (४२७)
१६ प्रभाचन्द्र (४५३)
१७ नेमचन्द्र (४७८)
१८ भानुनन्दि (४८७)
१९ सिंहनन्दि (५०८)
२० श्री वसुनन्दि (५२५)
२१ वीरनन्दि (५३१)
२२ रत्ननन्दि (५६१)
२३ माणिक्यनन्दि (५८५)
२४ मेघचन्द्र (६०१)
२५ शान्ति कीर्ति (६२७)
२६ मेरुकीर्ति (६४२)

ये २६ उपर्युक्त आचार्य दक्षिण देशस्थ भद्दिलपुर के पट्टाधीश हुए।

२७ महाकीर्ति (६८६)
२८ विष्णुनन्दि (७०४)
२९ श्री भूषण (७२६)
३० शीलचन्द्र (७३५)
३१ श्री नन्दी (७४९)
३२ देशभूषण (७६५)
३३ अनन्तकीर्ति (७६५)
३४ धर्मनन्दि (७८५)
३५ विद्यानन्दि (८०८)
३६ रामचन्द्र (८४०)
३७ राम कीर्ति (८५७)
३८ अभयचन्द्र (८७८)
३९ नरचन्द्र (८९७)
४० नागचन्द्र (९१६)
४१. नयनन्दि (९३९)
४२ हरिनन्दि (९४८)
४३ महिचन्द्र (९७४)
४४ माघचन्द्र (९९०)

उपर्युल्लिखित महाकीर्ति से माघचन्द्र तक १८ आचार्य उज्जयिनी के पट्टाधीश हुए।

४५ लक्ष्मीचन्द्र (१०२३)
४६ गुणनन्दि (१०३७)
४७ गुणचन्द्र (१०४८)
४८ लोकचन्द्र (१०६६)

ये चार आचार्य चन्देरी (बुन्देल खण्ड) के पट्टाधीश हुए।

४९ श्रुतकीर्ति (१०७९)
५० भावचन्द्र (१०९४)
५१ महाचन्द्र (१११५) ये ३ आचार्य भेलसा (भूपाल) सी पी के पट्टाधीश हुए।
५२ माघचन्द्र (११४०) यह आचार्य कुण्डलपुर (दमोह) के पट्टाधीश हुए।
५३ ब्रह्मनन्दि (११४४)
५४ शिवनन्दि (११४८)
५५ विश्वचन्द्र (११५५)
५६ हृदिनन्दि (११५६)
५७ भावनन्दि (११६०)
५८ सूरकीर्ति (११६७)

५९ विद्याचन्द्र (११७०) ६० सूरचन्द्र (११७६)
६१ माघनन्दि (११८४) ६२ ज्ञाननन्दि (११८८)
६३ गगकीर्ति (११९९) ६४ सिहकीर्ति (१२०६)

ये १२ आचार्य बारा के पट्टाधीश हुए ।

६५ हेमकीर्ति (१२०९) ६६ चारुनन्दि (१२१६)
६७ नेमिनन्दि (१२२३) ६८ नाभिकीर्ति (१२३०)
६९ नरेन्द्रकीर्ति (१२३२) ७० श्री चन्द्र (१२४१)
७१ पद्म (१२४८) ७२ वर्द्धमानकीर्ति (१२५३)
७३ अकलकचन्द्र (१२५६) ७४ ललितकीर्ति (१२५७)
७५ केशवचन्द्र (१२६१) ७६ चारुकीर्ति (१२६२)
७७ अभयकीर्ति (१२६४) ७८ वसन्तकीर्ति (१२६४)[१]

इण्डियन एण्टीक्वेरी की जो पट्टावली मिली है, उसमे उपर्युक्त १४ आचार्यों का पट्ट ग्वालियर मे होना लिखा है किन्तु वसुनन्दी श्रावकाचार मे इनका चित्तौड मे होना लिखा है। परन्तु चित्तौड के भट्टारको की अलग की पट्टावली है, उसमे ये नाम नही पाये जाते। सम्भव है कि ये आचार्य ग्वालियर मे ही हुए है। उनको ग्वालियर की पट्टावली से मिलाने पर निर्णय किया जा सकता है।

७९ प्रख्यातकीर्ति (१२६६) ८० शुभकीर्ति (१२६८)
८१ धर्मचन्द्र (१२७१) ८२ रत्नकीर्ति (१२९६)
८३ प्रभाचन्द्र (१३१०) ये ५ आचार्य अजमेर मे हुए।
८४ पद्मनन्दि (१३८५) ८५ शुभचन्द्र (१४५०)
८६ जिनचन्द्र (१५०७) ये ३ आचार्य दिल्ली मे पट्टाधीश हुए।

इनके पश्चात् पट्ट २ भागो मे विभक्त हो गया। एक गद्दी नागौर मे स्थापित हुई और दूसरी चित्तौड मे।

चित्तौड पट्ट के आचार्यो के नाम इस प्रकार हैं —

८७ प्रभाचन्द्र (१५७१) ८८ धर्मचन्द्र (१५८१)
८९ ललितकीर्ति (१६०३) ९० चन्द्रकीर्ति (१६२२)
९१ देवेन्द्रकीर्ति (१६६२) ९२ नरेन्द्रकीर्ति (१६९१)
९३ सुरेन्द्रकीर्ति (१७२२) ९४ जगत्कीर्ति (१७३३)

---

१ कलौ किल म्लेच्छादयो नग्न दृष्ट्वोपद्रव यताना कुर्वन्ति तेन मण्डपदुर्गे (माण्डलगढ-मेवाड-राजस्थान) श्री वसन्त कीर्तिना स्वामिना चर्यादि वेलाया तट्टी सादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिक कृत्वा पुनस्तन्मुञ्चतीत्युपदेश कृत सयमिना इत्यपवादवेप ।
पट्प्राभृतटीका श्रुत सागर सूरीया, पृष्ठ २१—

९५ देवेन्द्रकीर्ति (१७७०) ९६ महेन्द्रकीर्ति (१७९२)
९७ क्षेमेन्द्रकीर्ति (१८१५) ९८ सुरेन्द्रकीर्ति (१८२२)
९९ सुखेन्द्रकीर्ति (१८५९) १०० नयनकीर्ति (१८७९)
१०१ देवेन्द्रकीर्ति (१८८३) १०२ महेन्द्रकीर्ति (१९३८)

नागौर भट्टारको की नामावली —

१ रत्नकीर्ति (१५८१) २ भुवनकीर्ति (१५८६)
३ धर्मकीर्ति (१५९०) ४ विशालकीर्ति (१६०१)
५ लक्ष्मीचन्द्र [.] ६ सहस्रकीर्ति
७ नेमीचन्द्र ८ यशकीर्ति
९ भुवनकीर्ति १० श्री भूषण
११ धर्मचन्द्र १२ देवेन्द्रकीर्ति
१३ अमरेन्द्रकीर्ति १४ रत्नकीर्ति
१५ ज्ञान भूषण १६ चन्द्रकीर्ति
१७ पद्मनन्दि १८ सकल भूषण
९१ सहस्रकीर्ति २० अनन्त कीर्ति
२१ हर्षकीर्ति २२ विद्या भूषण
२३ हेमकीर्ति—यह आचार्य १९१० माघ शुक्ला द्वितीया सोमवार को पट्ट पर बैठे। इनके पश्चात्
२४ क्षेमेन्द्रकीर्ति २५ मुनीन्द्रकीर्ति
२६. कनककीर्ति

नन्दि सघ की यह पट्टावलि वस्तुत भट्टारक परम्परा की मूल पट्टावली है। इस पट्टावली के क्रम सख्या 3 पर उल्लिखित आचार्य माघनन्दी नन्दि सघ के मूल पुरुप अथवा आचार्य थे। और उनके नन्दी-अन्त नाम के आधार पर इस सघ का नाम नन्दि सघ प्रचलित हुआ। इस पट्टावली के सभी आचार्यो के लिये इसमे सात वार पट्टाधीश विशेषण और २ बार भट्टारक विशेषण का प्रयोग किया गया है। भट्टारक परम्परा के बलात्कार गण की पट्टावली मे भी इस परम्परा के भट्टारको के पूर्णत. वे ही नाम दिये है जो इसमे हैं।[1] अनेक शिलालेखो से भी इस वात की पुष्टि होती है कि इस पट्टावली मे जिन आचार्यो के नाम दिये हुए है वे भट्टारक थे। क्रम स० ८४ पर उल्लिखित पद्मनन्दी का पट्टाभिषेक उनके गुरु प्रभाचन्द्र ने किया।[2] इन्ही भट्टारक पद्मनन्दी के तीन शिष्यो से तीन भट्टारक परम्पराए और उनसे अनेक शाखाए प्रशाखाए प्रचलित हुई।[3]

---

[1] भट्टारक सम्प्रदाय" (जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर, पृष्ठ २)
[2] वही पृष्ठ ९१
[3] वही पृष्ठ ९५

इन सब तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि नन्दी सघ की यह पट्टावली वस्तुत भट्टारक परम्परा की ही पट्टावली है और इस पट्टावली के तीसरे आचार्य माघनन्दी ही उस प्रथम स्वरूपवाली भट्टारक परम्परा के प्रवर्तक थे, जिस पर ऊपर विशद रूपेण प्रकाश डाला गया है।

इस पट्टावली के अतिरिक्त एक और भी बहुत बडा प्रबल प्रमाण इस तथ्य की पुष्टि करने वाला है कि उपरि वर्णित प्रथम स्वरूप की भट्टारक परम्परा के जनक आदि भट्टारक वस्तुत भद्रबाहु द्वितीय के शिष्य एव आचार्य गुप्ति गुप्त के शिष्य माघनन्दी थे। वह प्रबल प्रमाण यह है कि इस पट्टावली मे भट्टारक परम्परा का पाचवा पट्टाधीश आचार्य कुन्द कुन्द को बताया गया है, जो निर्विवाद रूपेण दिगम्बर परम्परा के पुनरुद्धारक, महान् क्रान्तिकारी पुन सस्थापक माने गये है। आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने दादा गुरु द्वारा सस्थापित भट्टारक परम्परा की नव्य नूतन मान्यताओ के विरुद्ध विद्रोह किया। वे माघनन्दी के शिष्य जिनचन्द्र के पास भट्टारक परम्परा मे ही दीक्षित हुए। मेघावी मुनि कुन्द कुन्द ने अध्ययन पूर्ण करने के पश्चात् दिगम्बर परम्परा द्वारा सम्मत आगमो के निदिध्यासन-चितन-मनन से जब जिनेन्द्र-प्रभु द्वारा प्ररूपित जैन धर्म के वास्तविक स्वरूप और तीर्थंकरो द्वारा आचरित श्रमण धर्म को पहिचाना तो उन्हे अपने प्रगुरु माघनन्दि द्वारा सस्थापित धर्म और श्रमणाचार विषयक मान्यताए धर्म और श्रमणाचार के मूल स्वरूप के अनुरूप प्रतीत नही हुई। उन्होने सभवत अपने प्रगुरु, गुरु और भट्टारक सघ द्वारा सम्मत उन कतिपय अभिनव मान्यताओ के समूलोन्मूलन और पुरातन मान्यताओ की पुनर्संस्थापना का सकल्प किया। इस प्रकार की अवस्था मे गुरु-शिष्य के बीच, भट्टारक सघ और क्रान्तिकारी मुनिपुंगव कुन्द कुन्द के बीच क्रमश विचार भेद, मनोमालिन्य, सघर्ष और अलगाव (पृथक्त्व) का होना स्वाभाविक ही था। प्रमाणाभाव मे यह नही कहा जा सकता कि वे स्वय ही अपने गुरु से पृथक् हुए अथवा सघ द्वारा पृथक् किये गये। कुछ भी हो वे पृथक् हुए और जैसा कि उत्तरकालवर्त्ती सभी क्रियोद्धारको—धर्मक्रान्ति के सूत्रधारो ने किया, ठीक उसी प्रकार मुनिपुगव कुन्द कुन्द ने भी अपने गुरु और सघ की मान्यताओ के विरुद्ध- क्राति का शखनाद फूका। उस धर्म क्रान्ति मे, उस क्रियोद्धार मे कुन्द कुन्द को पर्याप्त सफलता मिली। भूली-बिसरी प्राचीन मान्यताओ की उन्होने अपेक्षाकृत कडी कट्टरता के साथ पुन सस्थापना की। स्वय द्वारा की गई धर्मक्रान्ति की परिपुष्टि के लिये उन्होने अनेक सैद्धान्तिक ग्रन्थो की रचनाए की जो आज भी दिगम्बर परम्परा मे आगम तुल्य मान्य है।

अपने गुरु से, अपने प्रगुरु द्वारा सस्थापित भट्टारक सप्रदाय से पृथक् हो जाने के कारण ही आचार्य कुन्द कुन्द ने कही अपने गुरु का नामोल्लेख तक नही किया है। वर्तमान मे दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार आचार्य कुन्द कुन्द की

जितनी कृतिया उपलब्ध है, उनमे से किसी एक मे भी आचार्य कुन्द कुन्द ने अपने गुरु का नामोल्लेख तक नही किया है।

जिस प्रकार आचार्य कुन्द कुन्द ने अपने किसी भी ग्रन्थ मे अपने गुरु का, साक्षात गुरु का अथवा विद्या गुरु का नामोल्लेख नही किया, उसी प्रकार भट्टारक परम्परा के आचार्य वीर सेन (धवलाकार वि स ८१६, ८३०), जिनसेन (जयधवलाकार, वि स ८३७), गुणभद्र, लोकसेन (उत्तर पुराणकार वि स ९५५) ने, हरिवशपुराणकार आचार्य जिनसेन (विक्रम की नववी शताब्दी) ने तथा तिलोयपण्णत्तिकार यतिवृषभ (वि स ५३५) ने अपने ग्रन्थो मे आचार्य कुन्द कुन्द का कही नामोल्लेख तक नही किया है। इससे यही अनुमान किया जाता है कि आचार्य कुन्द कुन्द भट्टारक परम्परा से पृथक् हुए थे अथवा पृथक् किये गये थे।

भगवान् महावीर के धर्म सघ के महान् आचार्य स्थूल भद्र ने चतुर्दश पूर्वधर आचार्य भद्रबाहु से १० पूर्वो का पूर्णरूपेण तथा शेष चार पूर्वो के सूत्र मात्र का अध्ययन कर श्रुत परम्परा को विलुप्त होने से बचाकर धर्म सघ की महती सेवा की। इसी कारण जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा के भक्तो द्वारा नित्य प्रति निम्नलिखित श्लोक के माध्यम से उनका सादर स्मरण किया जाता है —

मगल भगवान् वीरो, मगल गौतम प्रभु।
मगल स्थूलिभद्राद्या , जैन धर्मोऽस्तु मगल।

उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा की प्राचीन मान्यताओ का पुनरुद्धार कर पुन स्थापना करने के कारण आचार्य कुन्द कुन्द का, दिगम्बर परम्परा के भक्तो द्वारा प्रतिदिन भक्ति सहित निम्नलिखित रूप मे स्मरण किया जाता है —

मगल भगवान् वीरो, मगल गौतम प्रभु।
मगल कुन्द-कुन्दाद्या:, जैन धर्मोऽस्तु मगल ॥

इन सब तथ्यो से यही प्रमाणित होता है कि वीर निर्वाण की आठवी शताब्दी के अन्तिम समय से लेकर वीर नि० की १०वी शताब्दी के प्रथम दशक के बीच किसी समय भट्टारक परम्परा के दूसरे स्वरूप की स्थापना हुई।[1]

इस पट्टावली मे 'नन्दि' और 'कीर्ति' अन्त नाम वाले आचार्यो का बाहुल्य है। प्राय सभी विद्वानो का, इतिहासविदो का अभिमत है कि नन्द्यन्त और कीर्त्यन्त नाम पूर्व काल मे प्राय यापनीय आचार्यो एव श्रमणो के होते थे। अत अनुमान किया जाता है कि भट्टारक परम्परा की इस पट्टावली मे उस समय के

[1] आचार्य माघनन्दी और आचार्य कुन्द कुन्द के समय के लिये आचार्य हस्ती मल जी मा द्वारा रचित "जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग २", पृष्ठ ७२४ से ७६८ द्रष्टव्य है।

महान् प्रभावक यापनीय परम्परा के भट्टारको के भी नाम सम्मिलित कर लिये गये हो।

उपरिलिखित पट्टावली मे प्रारम्भ के भट्टारको का जो समय दिया गया है वह ऐतिहासिक तथ्यो की कसौटी पर खरा नही उतरता। उदाहरण के तौर पर भद्रबाहु द्वितीय का समय ई० सन् ४ उल्लिखित है किन्तु प्राचीन पुष्ट प्रमाणो से इनका समय दिगम्बर परम्परा के आगम तुल्य मान्य धवला आदि ग्रन्थो से अगधर काल अर्थात् वीर नि स ६८३ के पर्याप्त समय पश्चात् का सिद्ध होता है।

आचार्य विमल सेन के शिष्य आचार्य देव सेन द्वारा रचित भाव सग्रह मे इन नैमित्तिक भद्रबाहु का समय विक्रम स १३६ तदनुसार वीर नि स ६०६ उल्लिखित है।[1]

इन नैमित्तिक भद्रबाहु से पर्याप्त समय पश्चात् हुए आर्य माघनन्दि का समय वीर निर्वाण की आठवी शताब्दी के अन्तिम दो दशक और नौवी शताब्दी के प्रथम दशक के बीच का सिद्ध होता है।[2]

इन सब तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर यही अनुमान किया जाता है कि भट्टारक परम्परा का एक सघ के रूप मे उदय (जिसे भट्टारक परम्परा के दूसरे स्वरूप की सज्ञा दी जा सकती है) वीर नि स ७८४ के आस पास हुआ।

भट्टारक परम्परा के इस दूसरे स्वरूप के आचार्यो का क्रम सेन सघ (पच स्तूपान्वयी) आचार्य वीर सेन (विक्रम स ८३० तदनुसार वीर नि स. १३००) के प्रगुरू भट्टारक चन्द्र सेन से इस परम्परा के ५२ वे भट्टारक वीर सेन (विक्रम स १९३६ से १९९५ तदनुसार वीर नि स २४०६–२४६५) तक क्रमबद्ध उपलब्ध होता है।[3]

इस भट्टारक परम्परा के आचार्य वीर सेन ने षट्खण्डागम की धवला टीका, कषाय पाहुड की जयधवला २० हजार श्लोक प्रमाण, आचार्य जिन सेन ने जयधवला ४० हजार श्लोक प्रमाण, पार्श्वाभ्युदय आदि पुराण, उनके शिष्य गुण-

---

[1] छत्तीसे वरिस सए, विक्कम रायस्स मरण पत्तस्स।
सौरट्ठे उप्पण्णो, सेवड सघो हु वल्लहीए ॥ ५२ ॥
आसी उज्जेणीणयरे, आयरियो भद्दबाहुणामेण ॥
जाणिय सुणिमित्तधरो, भणियो सघो णिओ तेण ॥ ५३ ॥ —भावसग्रह

[2] जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग २, पृष्ठ ७६४

[3] भट्टारक सम्प्रदाय, प्रो वी पी जोहरापुरकर, पृष्ठ १–३।

भद्र ने उत्तर पुराण आदि महान् ग्रन्थो की रचना कर जिनशासन की महती सेवा और उल्लेखनीय प्रभावना की है। इस परम्परा के पूर्वाचार्य प्रारम्भ मे प्राय नग्न, तदनन्तर अर्द्धनग्न और एकवस्त्रधारी रहते थे विक्रम की तेरहवी शताब्दी से सवस्त्र रहने लगे।

भट्टारक परम्परा का तीसरा स्वरूप

भट्टारक परम्परा का तीसरा स्वरूप है मुख्य रूप से सवस्त्र ही पञ्च महाव्रतो की श्रमण दीक्षा और मठाधिपत्य। भट्टारक परम्परा के इस तीसरे स्वरूप की सस्थापना ई सन् १११० से ११२० के बीच किसी समय शिलाहार वशीय कोल्हापुर नरेश गण्डरादित्य और उनके महासामन्त निम्बदेव की सहायता से उनके गुरु महा मण्डलेश्वर आचार्य माघनन्दी ने कोल्हापुर मे की।

भट्टारक परम्परा की पृष्ठभूमि — चैत्यवासी परम्परा के प्रादुर्भाव, उत्कर्ष एकाधिपत्य, अपकर्ष और शनै शनै तिरोहित होने के सम्बन्ध मे शोध के माध्यम से खोज कर प्राप्त की गई नवीन सामग्री के आधार पर विस्तृत विवरण एतद्विषयक पिछले अध्याय मे प्रस्तुत किया जा चुका है। सम्पूर्ण सावद्य योगो के पूर्ण त्यागी, निष्परिग्रही, तपस्वी तथा आगमानुसार कठोर श्रमणाचार का पालन करने वाले श्रमणो की मूल परम्परा के अधिकाश श्रमण भी चैत्यवासी परम्परा के प्रादुर्भाव एव उत्कर्ष के साथ-साथ उत्तरोत्तर किस प्रकार शनै शनै शिथिलाचारी और सुसमृद्ध श्रीमन्त गृहस्थो से भी अधिक परिग्रही बन गये, यह आद्योपान्त पूरा विवरण भी चैत्यवासी परम्परा के परिचय विषयक अध्याय मे विस्तार के साथ बता दिया गया है। अब प्रस्तुत अध्याय मे भट्टारक परम्परा का यथाशक्य शोधपूर्ण परिचय विस्तारपूर्वक दिया जा रहा है, जिसका कि शताब्दियो तक भारत के विभिन्न प्रदेशो मे वर्चस्व रहा और वर्तमान मे भी एक धर्मसघ के रूप मे सक्रिय है।

पिछले एक अध्याय मे शोध के अनन्तर चैत्यवासी परम्परा की रीति-नीतियो एव अन्यान्य कार्यकलापो का परिचय दिया गया है। उसके साथ भट्टारक परम्परा की रीति-नीतियो एव अधिकाश कार्यकलापो का तुलनात्मक अध्ययन करने से स्पष्टत यही प्रतीत होता है कि चैत्यवासी परम्परा के उत्कर्षकाल मे ही सर्वप्रथम सुदूर दक्षिण मे भट्टारक परम्परा का प्रादुर्भाव हुआ और भट्टारक परम्परा भी अपने प्रादुर्भाव काल से लेकर उत्कर्षकाल तथा अपकर्षकाल तक न्यूनाधिक चैत्यवासी परम्परा के ही पदचिन्हो पर चलती रही। चैत्यवासी परम्परा तो अपने चरमोत्कर्ष के पश्चात् शनै शनै. क्षीण होते होते विक्रम स० ११६७ की कार्तिक कृष्णा १२ की रात्रि मे स्वर्गस्थ हुए जिनवल्लभसूरि के द्वारा इसके विरुद्ध किये गये प्रबल प्रचार के परिणामस्वरूप अति क्षीण और विक्रम की १३वी शताब्दी के प्रथम चरण मे ही पूर्णत विलुप्त हो गई

किन्तु भट्टारक परम्परा अद्यावधि पर्यन्त भी एक सवल धर्म सघ के रूप मे दक्षिणी प्रदेशो मे विद्यमान है। आज चैत्यवासी परम्परा का एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नही है। जिनवल्लभसूरि द्वारा रचित सघपट्टक नामक ४० श्लोको के मूल ग्रन्थ और उसकी टीका के आधार पर चैत्यवासी परम्परा की कतिपय मान्यताओ को सकलित कर उन पर प्रकाश डाला गया है। परन्तु भट्टारक परम्परा के तो अद्यावधि पीठ तक विद्यमान है और इस परम्परा की मान्यताओ पर प्रकाश डालने वाले अनेक ग्रन्थ भी उपलब्ध है। इस प्रकार इन दोनो परम्पराओ की मान्यताओ पर यत्किंचित् प्रकाश डालने वाली सामग्री के परिप्रेक्ष्य मे सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर दोनो परम्पराओ मे मोटे रूप से केवल नामभेद का ही मूल अन्तर दृष्टिगोचर होता है। छत्र, चामर, सिहासन, गद्दिका आदि आदि राजचिन्हो के साथ साथ गज, रथ, शिविकाए, वाहन, दास, दासी, सोना, चादी आदि विपुल परिग्रह चैत्यवासी परम्परा के आचार्य भी रखते थे और भट्टारक परम्परा के आचार्य भी। चैत्यवासियो के स्वामित्व मे विशाल चैत्य होते थे तो भट्टारको के स्वामित्व मे सुविशाल मठ और चैत्य दोनो ही। चैत्यवासी परम्परा के आचार्यो के पास अचल सम्पत्ति मे से ग्राम एव कृषिभूमि तथा चल सम्पत्ति मे से गाय, भैस, बैल आदि रहते थे कि नही, इसका कोई स्पष्ट प्रमाण अद्यावधि उपलब्ध जैन वाग्मय मे कही दृष्टिगोचर नही होता। परन्तु भट्टारको के पास, दिगम्बर एव श्वेताम्बर दोनो ही परम्पराओ के भट्टारको के अधिकार मे ग्राम, कृपि भूमि, गाय, भैस, बैल, आदि रहते थे, इस बात के अनेक पुष्ट प्रमाण आज भी उपलब्ध है। जैन जगत् के लब्धप्रतिष्ठित विद्वान् दलसुख भाई मालवणिया ने भी इसके प्रमाण स्वरूप अपने स्वय के अनुभव सुनाते हुए लिखा है —
"मैंने अपने अध्ययन काल मे जयपुर मे यतिजी को बग्घी गाडी मे बैठकर जाते हुए रोज देखा है। मुह पर मुह पत्ति भी लगी देखी है।"

राजाओ एव कोट्यधीशो के पहनने योग्य बहुमूल्य जरी के काम के और रेशमी वस्त्र चैत्यवासी परम्परा के आचार्य भी पहनते थे और भट्टारक परम्परा के आचार्य भी। इसी प्रकार राज्याश्रय भी चैत्यवासी और भट्टारक इन दोनो ही परम्पराओ को प्राप्त था।

वर्तमान काल मे जनसाधारण की प्राय- यही धारणा है कि भट्टारक परम्परा का प्रचलन केवल दिगम्बर सघ मे ही हुआ। परन्तु वस्तु स्थिति इससे भिन्न रही है क्योकि श्वेताम्बर और यापनीय सघो मे भी भट्टारक परम्परा प्राचीन काल मे प्रचलित हुई थी। दिगम्बर परम्परा के भट्टारको के समान यापनीय एव श्वेताम्बर परम्परा के भट्टारको के भी अनेक स्थानो पर पीठ थे। यह भी अनुमान किया जाता है कि दिगम्बर यापनीय और श्वेताम्बर इन—तीनो ही सघो मे भट्टारक परम्परा का प्रचलन, नगण्य अन्तर को छोड लगभग एक ही समय मे हुआ।

भट्टारक "परम्परा का उद्भव" काल —अब सर्वप्रथम प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भट्टारक परम्परा शताब्दियो तक भारत के विभिन्न प्रदेशो मे अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाये रही और दक्षिणी प्रदेशो मे जिसके आज भी सुदृढ पुरातन पीठ विद्यमान है, उस वर्चस्विनी भट्टारक परम्परा का प्रादुर्भाव वस्तुत: कब, कहा और किन परिस्थितियो मे हुआ ?

इस सम्बन्ध मे अद्ययुगीन विद्वानो ने भट्टारक परम्परा से सम्बन्धित उपलब्ध ऐतिहासिक उल्लेखो के परिप्रेक्ष्य मे, ऊहापोह चिन्तन मनन करने के पश्चात् यही अभिमत व्यक्त किया है कि भट्टारक परम्परा की स्थापना किस आचार्य के द्वारा किस समय, किन परिस्थितियो मे और कहा [किस स्थान] पर की गई, इस सम्बन्ध मे सुनिश्चित रूप से कुछ भी कहना असभव है । आधुनिक विद्वानो द्वारा यथाशक्य शोध के पश्चात् जो अभिमत व्यक्त किया गया है, वह इस प्रकार है —

"इस ग्रन्थ [भट्टारक सम्प्रदाय] के विभिन्न प्रकरणो के प्रारम्भिक परिच्छेदो से ज्ञात होगा कि अधिकाश भट्टारक परम्पराओ के ऐतिहासिक उल्लेख चौथी शताब्दी से प्राप्त होते है । इसलिये भट्टारक प्रथा अमुक आचार्य ने अमुक समय प्रारम्भ की, यह कहना असम्भव है ।"[१]

इस प्रकार भट्टारक परम्परा के जन्मकाल के सम्बध मे अब तक की गई खोज के आधार पर अभिव्यक्त किया गया यह एक पहला अभिमत है । इस स्पष्ट अभिमत के अतिरिक्त परस्पर एक दूसरे से भिन्न दो और अस्पष्ट अभिमत भी उपलब्ध होते हैं, जिनमे भट्टारक परम्परा का स्पष्टत नामोल्लेख तो नही है किन्तु उनमे परम्पराविशेष के श्रमणो के आचार-व्यवहार का जो उल्लेख किया गया है, वह भट्टारक परम्परा के आचार-विचार-व्यवहार आदि से मिलता-जुलता है ।

उन शेष दो अस्पष्ट अभिमतो मे से पहला अभिमत है देवसेन नामक आचार्य का । आचार्य देवसेन ने प्राचीन गाथाओ का सग्रह-सकलन कर विक्रम स ९९० मे[२] "**दर्शनसार**" नामक ५१ गाथाओ के एक अतिलघुकाय ग्रन्थ की रचना

---

[१] "भट्टारक सम्प्रदाय' की श्री विद्याधर जोहरापुरकर द्वारा प्रस्तुत प्रस्तावना, पृष्ठ ४ ।

[२] 'दर्शनसार' की गाथा स० ५० मे 'णवसए णवए' शब्द को देख कर कतिपय विद्वानो ने इम ग्रन्थ की रचना का समय वि० स० ९०९ माना है । वस्तुत यह ठीक नही है । यदि वे गाथा स० के आदि पद 'सत्तसए तेवण्णे' और तदनन्तर गाथा म० ४० के आदि पद 'तत्तो दुसएतीदे'—अर्थात् वि० स० ७५३ के पश्चात् २०० वर्ष वीत जाने पर अर्थात् वि० स० ७५३ में रामसेन ने निष्पिच्छ सघ की

[शेष टिप्पणी पृष्ठ १४६ पर]

की। दिगम्बर परम्परा के इतिहासविदो तथा इतिहास मे अभिरुचि रखने वाले दूसरे विद्वानो ने भी कतिपय ऐतिहासिक घटनाओ की तिथियो के निर्णय के सम्बन्ध मे देवसेन के 'दर्शनसार' को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। भट्टारक परम्परा का प्रत्यक्ष रूप से नाम न लेकर परोक्ष रूप मे सभवत इसी परम्परा के उद्भव-काल के सम्बन्ध मे आचार्य देवसेन ने 'दर्शनसार' मे लिखा है —

सिरि पुज्जपाद सीसो, दाविडसघस्स कारगो दुट्ठो।
गामेण वज्जगदि, पाहुडवेदी महासत्तो ॥ २४ ॥
अप्पासुय चणयाण, भक्खणदो वज्जिदो मुणिदेहि।
परिरइय विवरीय, विसेसिय वग्गण चोज्ज ॥ २५ ॥
वीएसु णत्थि जीवो, उब्भसण णत्थि फासुग णत्थि।
सावज्ज ण हु मण्णइ, ण गणइ गिहकप्पिय अट्ठ ॥ २६ ॥
कच्छ खेत्त वसहि, वाणिज्ज कारिऊण जीवतो।
ण्हतो सीयल णीरे, पाव पउर स सजेदि ॥ २७ ॥
पच सए छव्वीसे, विक्कमरायस्स मरण पत्तस्स।
दक्खिण महुरा जादो, दाविड सघो महामोहो ॥ २८ ॥

अर्थात्—श्री पूज्यपाद के दुष्ट शिष्य वज्रनन्दि ने द्राविडसघ की स्थापना की। यह वज्रनन्दि प्राभृतो का ज्ञाता और महासत्वशाली था। अप्राशुक चने खाने का जब उसे मुनियो ने वर्जन किया तो उसने जिनेन्द्र के प्रवचनो से विपरीत प्रायश्चित आदि के नवीन शास्त्रो की रचना की। बीजो मे जीव नही होते, उद्भ्रशन अथवा प्राशुक नाम की कोई वस्तु नही है, इस प्रकार की उसने प्ररूपणा की। वह वज्रनन्दि सावद्य असावद्य को नही मानता और न गृहीकल्पित आदि को ही मानता है। वज्रनन्दि का द्रविडसघ खेती वाडी के माध्यम से, वसतियो के निर्माण से तथा व्यापार आदि करवा कर जीवनयापन करता। शीतल कच्चे जल मे स्नान करता हुआ प्रचुर पाप का सचय करता। महाराजा विक्रम के देहावसान के ५२६ वर्ष (वीर नि० स० ६६६) पश्चात् दक्षिण मथुरा मे महामोहपूर्ण द्रविड सघ उत्पन्न हुआ।

[पृष्ठ १४५ का शेष]

स्थापना की। इन दोनो पदो की ओर ध्यान देते तो इस ग्रन्थ का रचनाकाल वि० स० ६०६ मानने जैसी भूल नही करते। क्योकि वि० स० ६५३ में घटित घटना का उल्लेख वि० स० ६०६ मे इस ग्रन्थ में नही हो सकता। वास्तव में गाथा स० ५० में 'णचमए णवए' के स्थान पर 'णवमए णवईए' होना चाहिये। उसी दशा में यह सगत होगा कि वि० स० ६६० मे रचित ग्रन्थ में वि० स० ६५३ में घटित घटना का उल्लेख किया गया।
—सम्पादक

द्रविड सघ के जिस प्रकार के आचरण का, मठ–मन्दिर, वसति–निर्माण, शीतल जल से स्नान और कृपि वाणिज्य आदि से जीवन-यापन का उल्लेख आचार्य देवसेन ने 'दर्शनसार' मे किया है, ठीक उसी से मिलता-जुलता आचरण भट्टारको का था, यह एक निर्विवाद तथ्य है। इस प्रकार द्रविड सघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जो यह उल्लेख दर्शनसार मे मिलता है, वह एक प्रकार से परोक्ष-रूपेण भट्टारक परम्परा की उत्पत्ति का ही उल्लेख प्रतीत होता है। इस प्रकार भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव के सम्बन्ध मे अस्पष्ट अथवा स्पष्ट जो भी माना जाय यह दूसरा अभिमत है।

बिना किसी परम्परा विशेष का नामोल्लेख किये, भट्टारक परम्परा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे तीसरा उल्लेख श्रुतसागरसूरि का षट्प्राभृत टीका का उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है —

"कलौ किल म्लेच्छादयो नग्न दृष्ट्वोपद्रव यतीना कुर्वन्ति, तेन मण्डपदुर्गे श्री वसन्तकीर्तिना स्वामिना चर्यादि वेलाया तट्टीसादरादिकेन शरीरमाच्छाद्य चर्यादिक कृत्वा पुनस्तन्मुचतीत्युपदेश कृत सयमिनामित्यपवादवेष ।"[1]

अर्थात्—कलिकाल मे मुनियो को नग्न देख कर म्लेच्छादिक उपद्रव करते है। इस कारण मण्डप दुर्ग मे श्री वसन्तकीर्ति स्वामी ने भिक्षाटन के समय मुनियो को चटाई अथवा तापड एव चादरा आदि से शरीर को (नग्नता को) ढक (आच्छादित) कर भिक्षाचरी करने और भिक्षाचरी कर चुकने के अनन्तर पुन चादर आदि का परित्याग करने का उपदेश दिया। यह अपवाद वेष है।

इस उल्लेख मे भट्टारक परम्परा का कही कोई नाम नही दिया गया है। ऐसी स्थिति मे यह कह देना कि वसन्तकीर्ति स्वामी ने भट्टारक परम्परा की स्थापना की—किसी भी तरह प्रामाणिक नही माना जा सकता। वस्तुत इस कथन का मूल्य एक निराधार अनुमान से अधिक नही आँका जा सकता। इसके अतिरिक्त भट्टारक परम्परा के आचार्यो की जो शोधपूर्ण सूची श्री विद्याधर जोहरापुरकर ने अपनी रचना "भट्टारक सप्रदाय" के परिशिष्ट ३ मे दी है, उसके अनुसार भट्टारक वसन्त-कीर्ति के केवल दो उल्लेख उपलब्ध हुए है। पहला उल्लेख है बलात्कारगण मन्दिर अजनगाव का और दूसरा उल्लेख है "जैन सिद्धान्त भास्कर, त्रैमासिक, भा० १, विरसा ४, पृ० ५२ का। पहला उल्लेख वि स १२६४ का है, जो इस प्रकार है —

"सवत् १२६४ माह सुदि ५ वसन्तकीर्तिजी, गृहस्थ वर्ष १२, दीक्षा वर्ष २०, पट्ट वर्ष १, मास ४, दिवस २२, अन्तर दिवस ८, सर्व वर्ष ३३ मास ५ बघेर-वाल जाति, पट्ट अजमेर।"[2]

---

[1] षट् प्राभृत टीका पृष्ठ ३१

[2] भट्टारक सम्प्रदाय, लेखाक २२३, पृ० ८९

दूसरा उल्लेख इस प्रकार है —

सैद्धान्तिकाभयकीर्तिर्वनवासी महातपा ।
वसन्तकीर्तिर्व्याघ्राह्निसेवित शीलसागर ॥२१॥[1]

वसन्तकीर्ति के समय के सम्बन्ध मे सूचना देने वाला बलात्कार गण मन्दिर, अजनगाव का उपरिवर्णित केवल एक ही लेख है, और वह लेख है स १२६४ का। ऐसी स्थिति मे वि स १२६४ मे हुए वसन्तकीर्ति को भट्टारक परम्परा का सस्थापक आचार्य मानना वस्तुत किसी भी दृष्टि से उचित नही ठहराया जा सकता। क्योकि विक्रम की १३ वी शती से बहुत पहले की अनेक ग्रन्थप्रशस्तियो एव लेखो से यह स्पष्टत प्रमाणित होता है कि इससे अनेक शताब्दियो पूर्व भट्टारक परम्परा के अनेक आचार्यो ने अनेको महत्वपूर्ण ग्रन्थो की रचनाए की थी, जिनमे भट्टारक जिनसेन और भट्टारक गुणभद्र के नाम उल्लेखनीय है।

भट्टारक वीरसेन ने विक्रम स ८३० मे षट्खण्डागम-टीका धवला[2] की, भट्टारक जिनसेन ने शक स ७५९ (वि स ८९४) मे कषाय पाहुड की टीका जय धवला[3] की और भट्टारक गुणचन्द्र ने शक स ८२० (वि स ९५५) उत्तर पुराण[4] की रचना की थी। ऐसी स्थिति मे वसतकीर्ति स्वामी ने भट्टारक सम्प्रदाय की स्थापना की, यह कथन तो नितात अविश्वसनीय एव अप्रामाणिक ही सिद्ध होता है। आचार्य देवसेन द्वारा दर्शन सार मे किया गया उपर्युल्लिखित उल्लेख स्पष्टत द्रविड सघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे है न कि भट्टारक परम्परा की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे। अत दर्शननार के इस उल्लेख से भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव का समय निर्णीत करने का प्रयास कल्पना की उडान से अधिक और कोई महत्व नही रखता।

---

१ 'भट्टारक सम्प्रदाय'—लेखाक २२४ पृ० ८९

२ भट्टारएण टीका लिहिएसा वीरसेणेण ॥
अट्ठतीसम्हि सासिय, विक्कमरायम्हि एसु सगरमो।
पासे सुतेरसीए, भावविलग्गे धवलपक्खे ॥—धवला प्रशस्ति—

३ एकोनषष्टि समधिक सप्तशताब्देषु शकनरेन्द्रस्य।
समतीतेषु समाप्ता, जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥
—कसायपाहुड टीका जयधवला—प्रशस्ति—

४

गुणभद्रसूरिणेद प्रहीण कालानुराधेण ॥२०॥
शकनृपकालाभ्यन्तर विंशत्यधिकाष्टशतमिताब्दान्ते।
॥३५॥
।
प्राप्तेज्य मर्वसार जगति विजयते पुण्यमेतत् पुराणम् ॥३६॥
—उत्तरपुराण—प्रशस्ति—

ऐसी स्थिति मे आधुनिक विद्वानो के इस अभिमत पर ही विश्वास कर सतोष कर लेने को मन करता है कि "भट्टारक परम्परा को स्थापना किसने, किस समय और किस स्थान पर की, इस सम्बन्ध मे कुछ भी कहना असभव है।" खोज का क्षेत्र विस्तीर्ण है। शोधकर्त्ताओ की दृष्टिया भी अपनी-अपनी रुचि के अनुसार भिन्न-भिन्न होती है। सभव है कुछ तथ्यो के महत्व पर शोधकर्त्ताओ की दृष्टि न पहुची हो, उनकी दृष्टि से वे ओझल रह गये हो अथवा दृष्टि मे आ जाने पर भी उनकी शोध दृष्टि मे उन्हे वे उपयोगी प्रतीत न हुए हो। ऐसी स्थिति मे कुछ और प्रयास करने पर अन्धकार मे विलीन कुछ तथ्यो को प्रकाश मे लाया जा सकता है, इस विषय मे कोई नवीन उपलब्धि की जा सकती है। इस आशा का अवलम्बन ले इस दिशा मे कुछ और खोज और छानबीन की गई।

ऐतिहासिक तथ्यो की खोज के अभियान मे गवर्नमेट ओरियेन्टल मेन्यु-स्क्रिप्ट्स लायब्रेरी, मद्रास यूनिवर्सिटी बिल्डिग, मद्रास की हस्तलिखित प्रतियो के सग्रह को देखते समय कन्नड भाषा के लगभग २५० वर्ष पूर्व लिखे गये 'जैनाचार्य परम्परा महिमा, नामक एक प्राचीन ग्रन्थ को देखने का अवसर मिला। वहा के अधिकारियो के सौजन्य से इस कन्नड लिपि मे लिखे ग्रन्थ की देवनागरी लिपि की प्रति प्राप्त हुई। उसे पढा तो उसमे भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव के साथ-साथ किन परिस्थितियो मे, किस समय और किसने भट्टारक परम्परा को आधुनिक परिवेश मे सर्वप्रथम जन्म दिया इन सब बातो का स्पष्ट एव सुविस्तृत विवरण उपलब्ध हो गया। इस विस्तृत विवरण के साथ उसमे भट्टारक सम्प्रदाय के मुख्य पीठाधीश दक्षिणाचार्य पट्ट परम्परा के आचार्यो की अनुक्रमश नामावली और कतिपय आचार्यो का आवश्यक परिचय भी दिया गया है। अनुष्टुप छन्द के ३४९ श्लोको के इस ग्रन्थ मे भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव से पूर्व की परम्परा का भी सक्षिप्त विवरण दिया गया है जो इस प्रकार है —

भट्टारक परम्परा से पूर्व —"महामहिम गणाधिनाथ गौतम के पश्चात् उनकी लोकाचार्य (प्रभु महावीर के सम्पूर्ण सघ के एक मात्र आचार्य) परम्परा के श्रुतकेवलियो मे अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु हुए। उनके पश्चात् की लोकाचार्य परम्परा मे अष्टाग निमितज्ञ आगम निष्णात अर्हद्बलि आचार्य हुए। बहुत से मुनियो के साथ जिस समय वे उज्जयिनी मे थे, उस समय वर्षाकाल के आगमन से पूर्व अर्हद्बलि की आज्ञानुसार अनेक मुनि वर्षावास हेतु विभिन्न प्रदेशो मे चले गये और कतिपय मुनि उनके साथ उज्जयिनी मे ही रहे। वर्षाकाल व्यतीत हो जाने पर विभिन्न प्रदेशो मे गये हुए वे मुनि अपने-अपने शिष्य समूह सहित उज्जयिनी लौटे और आचार्य अर्हद्बलि को वन्दन-नमन कर समुचित स्थान पर बैठ गये। उन्होने अर्हद्बलि से निवेदन किया—आचार्य भगवन्! हम लोग अपने-अपने शिष्य समूह सहित पुन आपकी सेवा मे लौट आये है। "अपने-अपने शिष्य समूह सहित" इन शब्दो को सुनते ही आचार्य अर्हद्बलि ने अनुभव किया—यह सब काल का प्रभाव है

कि इन श्रमणो के मन मे ममीकार ने घर कर लिया है । यह शिष्य वर्ग मेरा है, वह शिष्य वर्ग उसका है, इस प्रकार के ममत्वभाव से तो धर्म का ह्रास होगा और अततोगत्वा धर्म की अवनति हो जायेगी ।" इस तरह विचारकर उन्होने पृथक्-पृथक् गणो की व्यवस्था करते हुए कहा —"जो मुनिमुख्य पूर्व दिशा से आये हैं, वे आज से पूर्वाचार्य, दक्षिण दिशा से आये है, वे दक्षिणाचार्य, पश्चिम दिशा से आये हैं, वे पश्चिमाचार्य और जो उत्तर दिशा से आये है वे उत्तराचार्य के नाम से अभिहित किये जायेंगे । पूर्वाचार्य के सघ का नाम सेन सघ, दक्षिणाचार्य के सघ का नाम नन्दिसघ, पश्चिमार्य के सघ का नाम सिंह सघ और उत्तराचार्य के सघ का नाम देवसघ होगा ।" इस प्रकार अर्हद्बली आचार्य ने श्रमण सघ को चार सघो मे विभक्त किया ।

इस प्रकार चार गणो की स्थापना के पश्चात् दक्षिणाचार्य विरुदधर महाप्राज्ञ आचार्य चन्द्रगुप्त नन्दिसघ के अधिनायक आचार्य हुए, जिनके बारे मे यह प्रसिद्ध था कि आचार्य चन्द्रगुप्त के उग्र तपश्चरण के प्रभाव से उनके तपोवन मे मृग—व्याघ्रादि पशु पारस्परिक जन्मजात वैर को भुलाकर साथ-साथ रहते थे । वन देवता उन महातपस्वी आचार्य की अहर्निश सेवा उपासना करते रहते थे । उनका वचनमात्र ही व्यन्तर—बाधा, सिंह-व्याघ्रादि पशुओ के प्राणापहारी उपसर्ग और सभी प्रकार के स्थावर—जगम विष आदि का निवारण करने मे महामन्त्र तुल्य समर्थ था । उन महामुनि आचार्य चन्द्रगुप्त के अन्वय मे अर्थात् वश मे लोक—प्रसिद्ध आचार्य पद्मनन्दि हुए ।

उन पद्मनन्दि आचार्य के ही कुन्दकुन्द और उमास्वाति ये दो नाम बताये जाते है । लोग उन्हे गृध्रपिच्छाचार्य के नाम से भी जानते और चारण (खेचरी) ऋद्धि से सम्पन्न मानते थे । इन कुन्द कुन्द आचार्य के आचार्यकाल मे नन्दिसघ मे सयोगवशात् सभी मुनि देशीय[1] अर्थात् उस युग मे 'देश' नाम से प्रसिद्ध स्थान विशेष के गृहस्थो मे से ही श्रमण धर्म मे दीक्षित हुए थे, इस कारण नन्दिसघ का नाम आ० कुन्दकुन्द के आचार्यकाल मे ही लोको मे देशी गण के गुणवाचक नाम से प्रसिद्ध अथवा रूढ हो गया ।[2]

---

१ कही-कही कोई क्षेत्र आज भी देश के नाम से पहचाना जाता है ।

२ कुन्दकुन्दस्य कालेऽस्य, नन्दिसघे हि केवलम् ।
सर्वेऽपीतीह देशीया , सजाता मुनिपु गवा ।।७५।।
तस्माद्देशीय गणेत्याख्यान लोकात्समागतम् ।
कुण्डकुन्द-मुनीन्द्रस्य, काले तत्सघ सगतम् ।।७६।।
—जैनाचार्य परम्परा महिमा, हस्तलिखित प्रति, ओरियेन्टल मेन्युस्क्रिप्ट्स, लायब्रेरी, मद्रास यूनिवर्सिटी (मेकेञ्जे कलेक्शन्स) ।

आचार्य कुन्दकुन्द के पश्चात् उनके पट्ट शिष्य वीरनन्दि आचार्य पद पर आसीन हुए। वीरनन्दि के शिष्य-श्रमणो की सख्या ५००१ थी। इन्ही ने चम्पापुर मे चन्द्रप्रभ (चरित्र) नामक प्रसिद्ध काव्य की रचना की। आचार्य वीरनन्दि के पश्चात् उनके पट्टधर गोल्लाचार्य हुए। गोल्लाचार्य कुमारावस्था मे ही दीक्षित हो गये थे। तपश्चरण के प्रभाव से उन्हे किसी लब्धिविशेष की उपलब्धि हो गई। विशिष्ट लब्धि की प्राप्ति के कारण उनके अन्तर्मन मे सत्ता एव ऐश्वर्य के सासारिक सुखोपभोग के प्रति मोह जागृत हुआ। श्रमणत्व का परित्याग कर लब्धि के प्रभाव से वे गोल्ल प्रदेश के अधिपति बन गये और महाराजा गोल्लाचार्य के नाम से प्रख्यात हुए।

उन गोल्लाचार्य के राजसिहासनारूढ हो जाने पर अविद्धकर्ण पद्मनन्दि सिद्धान्ताग्रणी उनके पट्टधर आचार्य हुए। ये पद्मनन्दि कौमारदेव के नाम से विख्यात हुए।

इन कौमारदेव के पश्चात् उनके **शिष्य शाकटायन आचार्य पद पर आसीन हुए। देशीय गण के सकल विद्यावारिधि महाविद्वान् आचार्य शाकटायन ने शाकटायन शब्दानुशासन और उसकी अमोघवृत्ति की रचना की।**[1] इन प्रकाण्ड विद्वान् शाकटायन के पट्टधर कुलभूषण हुए। उन कुलभूषण आचार्य के गुरुभ्राता (शाकटायन के ही शिष्य) पण्डिताचार्य विरुदधर प्रभाचन्द्र हुए जिन्होने शाकटायन सूत्र पर सवा लाख श्लोक प्रमाण न्यास मार्तण्ड की तथा न्यास कोमुदचन्द्रोदय नामक तर्कशास्त्र की रचना की। धाराधिनाथ राजा भोज सदा इनकी पूजा-सेवा करते थे।

आचार्य कुलभूषण के पश्चात् पण्डिताचार्य प्रभाचन्द्र के अग्रज देवनन्दी आचार्य पद पर आसीन हुए, जो समस्त शास्त्रो के पारगामी विद्वान् थे। उनका बुद्धिवैभव अलौकिक एव अनुपम था, इसी कारण जिनेन्द्र बुद्धि के नाम से तथा आपके चरण सरोज देवताओ एव राजा-महाराजाओ द्वारा पूजित होने के कारण पूज्यपाद के नाम से भी आपकी ख्याति सर्वत्र प्रसृत हुई। पूज्यपाद और जिनेन्द्रबुद्धि विरुद के धारक इन्ही श्री देवनन्दी आचार्य ने बिना किसी अन्य की सहायता के श्रुतसागर का मथन कर "जैनेन्द्र" व्याकरण का उद्धार किया। ज्ञानपिपासुओ के कल्याण के लिये आपने पाणिनीय सूत्रो पर भी वृत्ति की रचना की। इन्ही आचार्य देवनन्दी ने तत्वार्थसूत्र-टिप्पण, पूजाविधि सहिता, ज्योतिष शास्त्र सुज्ञान दीपिका, छन्द शास्त्र पर सद्वृत्त कल्पद्रुम और वैराग्यरस से ओतप्रोत समाधिशतक आदि ग्रन्थो की रचनाए की। पादलेप-औषधि के प्रभाव से गगनमार्ग मे गमन करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने महा विदेह क्षेत्र मे जाकर तत्र विराजित तीर्थंकर भगवान् श्रीमन्धर स्वामी के दर्शन किये। तीर्थंकर प्रभु से वहा अपने कतिपय सशयो का समाधान कर वे पुन आकाश मार्ग से भरत-क्षेत्र मे लौट आये। आकाश-मार्ग से लौटते

1 शाकटायन शब्दानुशासन, अमोघवृत्ति सहित के कर्त्ता शाकटायन यापनीय थे।

समय सूर्य की प्रखर किरणो के तीव्र ताप से उनके नेत्रो की ज्योति लुप्तप्राय हो गई। बकापुर के जिनालय मे आपने शान्तिनाथ भगवान् के स्तोत्र की रचना की। उस स्तोत्र के प्रभाव से आपकी खोई हुई नेत्र-ज्योति आपको पुन प्राप्त हो गई। दृष्टि की पुन प्राप्ति के पश्चात् आपने जिनवाणी के प्रवचनामृत की वर्षा करते हुए जिनशासन की उल्लेखनीय अभिवृद्धि की। जिनशासन-प्रभावक आचार्य अकलक, कुलभूषण और योगीन्द्र ये आपके समसामयिक अथवा गुरुभाई थे।

पूज्यपाद जिनेन्द्रबुद्धि के पश्चात् कुलचन्द्र को आचार्य पद पर आसीन किया गया। कुलचन्द्र के पश्चात् उनके पट्टधर आचार्य माघनन्दि हुए। उन्हे लोग जैन-सिद्धान्त-चक्रवर्ती एव कोल्लापुर-मुनीश्वर के नाम से भी अभिहित किया करते थे। माघनन्दि मन, वचन, कायगुप्ति से गुप्त, विशुद्ध श्रमणाचार के परिपालक और निमित्तशास्त्र के पारदृश्वा विद्वान् आचार्य थे।

विकट परिस्थितियो मे भट्टारक परम्परा का प्रादुर्भाव — आचार्य माघनन्दि के समय मे, कोल्लापुर के राजसिहासन पर वीर शिरोमणि राजाधिराज महाराजा गण्डादित्य आसीन था। उसकी सुविशाल चतुरगिणी सेना का सेनापति निम्बदेव नामक सामन्त था। सेनापति निम्बदेव उच्च कोटि का रणनीति-विशारद यशस्वी योद्धा था।

एक दिन महाराजा गण्डादित्य अपने वशवर्ती राजाओ, सामन्तो एव प्रधानो के साथ राजसभा मे बैठा हुआ था। धर्म चर्चा के प्रसग मे चक्रवर्ती भरत के वैभव, उनके द्वारा निर्मित करवाये गये चैत्यालयो, प्रतिष्ठा विधि आदि के विवरण सुनकर राजा गण्डादित्य अतीव प्रमुदित हुआ। अवसर के ज्ञाता सेनापति निम्बदेव ने अपने स्वामी को परम प्रसन्न मुद्रा मे देखकर उनसे निवेदन किया— "राज राजेश्वर! बडे-बडे राजा-महाराजा आपके चरणो मे मस्तक झुकाते है। आपका ऐश्वर्य एव वैभव अनुपम है। इस कलिकाल मे आप ही चक्रवर्ती है। अत आप भी भरत चक्रवर्ती के समान चैत्यादि का निर्माण प्रतिष्ठा आदि धर्म कार्यो से जैनधर्म की अभिवृद्धि कीजिये।"

अपने सेनापति का सुझाव गण्डादित्य को अत्यन्त रुचिकर लगा। उसने अपने पुरोहित एव प्रधानो को तत्काल आदेश दिया कि चैत्यालयो का निर्माण करवाया जाय। महाराजा गण्डादित्य के आदेशानुसार स्थान-स्थान पर चैत्यो के योग्य सभी भाति श्रेष्ठ भूमि के चयन के साथ ही चैत्यो के निर्माण का कार्य प्रारम्भ किया गया। और इस प्रकार कुछ ही समय मे कोल्लापुर नगर के विभिन्न भागो मे, महाराज गण्डादित्य की आकाक्षा के अनुरूप कुल मिलाकर ७७० सुन्दर चैत्यो का निर्माण सम्पन्न हुआ। अपनी इच्छा के अनुरूप चैत्य निर्माणकार्य के सम्पन्न होने पर महाराजा गण्डादित्य अपने सेनापति आदि प्रधानो के साथ आचार्य माघ-

नन्दि की सेवा मे उपस्थित हुआ। वन्दन-नमन आदि के अनन्तर महाराजा गण्डादित्य ने विनयपूर्वक आचार्य माघनन्दि से निवेदन किया "काम-क्रोध-मद-मोह-अज्ञान-तिमिर विनाशक दिनमणे ! पूज्य आचार्यदेव ! आपके कृपा प्रसाद से ७७० चैत्यालयो का निर्माण हो चुका है। अब आप विचार कर जैसा उचित समझे, वही करे।"

आचार्य माघनन्दि ने कहा—"राजन् ! इन विषम परिस्थितियो मे तुम्हारे इस पाषाण सग्रह पर क्या विचार किया जाय। इस विपुल व्यय का आखिर फल क्या है ?" १

आचार्य माघनन्दि की बात सुनकर गण्डादित्य भयोद्रेक से क्षण भर के लिए अवाक् रह गया। अपने आपको आश्वस्त कर उसने कहा—"आचार्य-प्रवर ! इससे बढकर अन्य और क्या शुभ काम है ? मैं तो इस सम्बन्ध मे कुछ भी नही जानता। कृपा कर आप ही बताइये। क्योकि गुरु का उपदेश ही गृहस्थो के लिये मार्गदर्शक, आदर्श और आचरणीय है।

गण्डादित्य के मुर्झाये हुए मन को उल्लास से आपूरित करते हुए मन्द मुस्कान के साथ आचार्य माघनन्दि ने कहा—"राजन् ! आराधको के अभाव मे, भला आज तक कही आराध्य अस्तित्व मे रहे है ? जिनबिम्ब आराध्य है और उनकी आराधना के लिए भव्य आराधको की आवश्यकता सदा रहती है। लोगो को बोध दिया जायगा तभी तो वे प्रबुद्ध हो जिनदेव के आराधक बनेंगे। यह तो तुम जानते ही हो कि ससार मे तीर्थंकर भगवान् के अतिरिक्त अन्य कोई भी भव्य स्वयबुद्ध नही होता। लोगो को धर्म का बोध कराने के लिये साधुओ की, धर्मोपदेशको की अनिवार्य आवश्यकता रहती है। भव्यजन-प्रतिबोधक साधुओ के अभाव मे लोगो को बोध कैसे होगा और वे जिनाराधक साधक किस प्रकार बनेंगे ? साधुओ के अभाव की आज की स्थिति मे बोधक साधुओ को तैयार करना ही जिनशासन की प्रभावना का सबसे महत्वपूर्ण कार्य है।"[२] इस कलिकाल मे लोग राजाओ के अधीन होते है। आज साधुओ का अभाव होता जा रहा है। अत "राजन् ! आप आगम-

---

१ इत्युक्ते नरपाले हि, मुनीन्द्रोऽप्यब्रवीत् पुन ।
इदानीमवधार्यं किं, तव पाषाणसग्रहे ॥११८॥
किमस्ति फलमेतेन, व्ययेनेति प्रचोदिते । ॥११९॥ जैनाचार्य पर० म०

२ तस्माद् बोधक एवात्र, मुख्य मार्गव्यवस्थितौ ।
बोधकेन विना किंचिन्न हि कार्यं जगत्त्रये ॥१२५॥
कार्यमस्ति समालोच्य, तद्वच्मि समनन्तरम् ।
प्रतिष्ठा कुरु कृत्वैतत्, पूर्वं शास्त्रावलम्बनम् ॥१२६॥
—जैनाचार्य परम्परा महिमा, (अप्रकाशित)—

ज्ञान को धारण करने योग्य सुपात्रो को चुन-चुन कर श्रमणत्व अगीकार करने के लिये उन्हे प्रेरणा कीजिये । और इस प्रकार साधु तैयार कर जिनशासन की प्रभावना का कार्य करिये ।"

महाराजा गण्डादित्य को अपने आचार्य का इस प्रकार का निर्देश रुचिकर लगा । उसने कुछ विचार कर कहा—"आचार्य देव ! सुपात्र कैसे होने चाहिये ? सुयोग्य पात्रो के चयन के पश्चात् उन्हे शास्त्राध्ययन कराने एव श्रमणत्व अगीकार करने के लिये किस प्रकार कृतसकल्प बनाना चाहिये ? इस कार्य के निष्पादन के लिये आप कृपा कर मुझे आद्योपान्त पूरी विधि स्पष्टत समझाइये ।"

आचार्य माघनन्दि ने कहा—"राजन् ! शास्त्रज्ञान को धारण करने के लिये योग्य सुपात्र वही है, जो स्वस्थ, निरालस्य, सुतीक्ष्णबुद्धि, उत्कृष्ट स्मरणशक्तियुक्त, सर्वकार्यकुशल, वाक्पटु और बाह्याभ्यन्तर दोनो ही दृष्टियो से विशुद्ध हो । इस प्रकार के सुपात्र को प्राप्त करने का जहा तक प्रश्न है, इसमे उत्कृष्ट नीतिनैपुण्य एव सावधानी से कार्य करने की आवश्यकता है । सर्वप्रथम ऐसे सुपात्र को सम्मान तथा अनुदान से आकर्षित करने का प्रयास करना चाहिये । यदि सम्मान-अनुदान से भी वह सुपात्र प्राप्त न हो सके तो उसे फिर किसी व्याज अर्थात् प्रपचपूर्ण उपाय से येन-केन-प्रकारेण प्राप्त कर ही लेना चाहिए । क्योकि इस प्रकार व्याज के माध्यम से उसका प्राप्त करना भी उसके लिए, उसके उज्ज्वल भविष्य के लिए हितकर ही सिद्ध होगा । इस प्रकार सयमसाधना एव जिनशासन की प्रभावना कर भव्य भक्त देव, देवेन्द्र, असुरेन्द्र, नरेन्द्र आदि पदो के सौख्योपभोग के अनन्तर अन्ततोगत्वा मोक्ष का अधिकारी भी हो सकता है ।"[1]

आचार्य माघनन्दि से इस प्रकार मार्गदर्शन प्राप्त कर गण्डादित्य बडा सन्तुष्ट हुआ और सेनापति निम्बदेव एव प्रधानामात्यादि के साथ राजप्रासाद मे लौट आया ।

कतिपय दिनो के अनन्तर महाराजा गण्डादित्य ने एक दिन अपने नगर के श्रावको को राज्यसभा मे ससम्मान आमन्त्रित कर उन्हे सम्बोधित करते हुए कहा—"महानुभावो ! आप सब जैन धर्म मे प्रगाढ निष्ठा रखने वाले सम्माननीय श्रावक है । आप लोग ही वस्तुत भवभ्रमण से उद्धार करने वाले धर्म के आधारस्तम्भ है । आपके बिना धर्म का अस्तित्व सभव नही । क्योकि बिना आधार के भी भला कही कभी कोई आधेय अस्तित्व मे रहा है । इसी कारण आप अपनी पूरी शक्ति के साथ इसके आधारभूत अवलम्बन बने हुए है । यह तो आप सभी भली-भाति

---

[1] सन्मानमनुदान वा, व्याजान्तरमसाधिते । ताभ्या हि तदुपाय भूभुवनाथाधिनायक ।।१३३।।
सुरोरगनरेन्द्राणा, लब्ध्वा परमवैभवम् । मोक्षानुगमन तस्य व्यवस्था नरनायक ।।१३४।।
—जैनाचार्य परम्परा महिमा, अप्रकाशित—

जानते ही है कि धर्म-प्रभावना धर्म के अभ्युदय एव अभ्युत्थान का प्रमुख अग है और धर्म की प्रभावना शास्त्र के बिना कभी सभव नही। शास्त्र भी उसके ज्ञान को धारण करने वाले सुपात्र के बिना सक्षम नही। ऐसी स्थिति मे आपको मेरे साथ सहयोग कर शास्त्रो के ज्ञान को धारण करने मे पूर्णत समर्थ सुपात्र उपलब्ध कराने का अन्तर्मन से प्रयास करना चाहिए। यह कार्य निश्चित रूप से स्वर्ग तथा अपवर्ग का सौख्य प्रदान कराने वाला है। सर्वप्रथम मै स्वय धर्मसघ को इस कार्य हेतु अपना पुत्र धर्मसन्तति के रूप मे समर्पित करता हुआ आपसे भी सानुरोध निवेदन करता हू कि आप लोग भी अपना एक-एक पुत्र धर्मसघ को धर्मसन्तति के रूप मे समर्पित कर धर्मसघ की धर्मसन्तति की अभिवृद्धि मे सहायक बने।"

नृपति गण्डादित्य की इस घोषणा से हर्षोत्फुल्ल हो दण्डनायक ने तत्काल सबको सम्बोधित करते हुए कहा—"सबके अन्तर्मन को आनन्दित कर देने वाली हमारे नरेश्वर की घोषणा वस्तुत हम सबके लिये परम कल्याणकारिणी एव अनुकरणीय है। हमे इसे अपने स्वामी के आदेश के रूप मे शिरोधार्य करना चाहिये। मैं भी सहर्ष अपना एक पुत्र सघ को समर्पित करता हू। मै आशा करता हू कि आप सब भी अपना एक-एक पुत्र सघ को समर्पित कर हमारे धर्मनिष्ठ नरेश्वर का अनुसरण करेंगे।"

अपने महाराजाधिराज और दण्डनायक की बात सुनकर समस्त श्रावक समूह शोकाकुल हो गया। मन्द-सम्भाषण पूर्वक परस्पर विचार-विमर्श कर वे श्रावक जन अत्यन्त दैन्यपूर्ण स्वर मे कहने लगे—"हे नरनाथ! प्रत्युत्तर देने मे तो हम समर्थ नही है, आपसे केवल प्रार्थना ही करते है कि पुत्रो के अतिरिक्त अन्य जो भी आप चाहे, हम से ले लें। ससार के सारभूत पदार्थ—पुत्रो को दे देने के पश्चात् हमारे पास रहेगा ही क्या ? इससे तो अच्छा है कि आप हमे ही श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान करवा दीजिये। आप ही हमारे भाग्यनिर्माता है।" इस प्रकार सामूहिक रूप से आलाप—सलाप प्रलाप करते हुए वे सब साष्टाग प्रणाम करते हुए भूमि पर लुण्ठन करने लगे।

यह देख कर महाराज गण्डादित्य ने तत्काल उन सब श्रावको को केवल ताम्बूलमात्र प्रदान कर विदा कर दिया। उन सब को विदा करने के पश्चात् महाराज गण्डादित्य ने अपने सेनापति निम्बदेव के साथ मन्त्रणा की और वे दोनो इस निष्कर्ष पर पहुचे कि सम्मान एव अनुदान से तो अभीष्ट लक्ष्य की सिद्धि होना असभव प्रतीत हो रहा है अत अब किसी अन्य उपाय का आश्रय लेना अनिवार्य हो गया है। कतिपय दिनो तक समुचित उपाय के विषय मे सोच-विचार करने के पश्चात् गण्डादित्य को एक उपाय ध्यान मे आया। राज्य की एव प्रजा की सुरक्षा के व्याज (बहाने) से उसने एक सुदृढ एव विशाल गढ के निर्माण का कार्य प्रारम्भ करवाया। दिन भर जो निर्माण कार्य होता, उसे रात्रि की

निस्तब्धता मे नितान्त गुप्त रीति से गिरवा दिया जाता। यही क्रम कतिपय दिनो तक चलता रहा। विश्वस्त लोगो के माध्यम से जनसाधारण मे सर्वत्र यह प्रचार करवा दिया गया कि राज्य एव प्रजा की सुरक्षा के लिये यह गढ बनवाया जा रहा है। यह भूमि सर्वलक्षणसम्पन्न किशोरो—युवको का बलिदान मागती है। बलिदान न देने के कारण दिन मे किया हुआ निर्माणकार्य रात्रि मे ढह जाता है।

इस प्रकार का समुचित प्रचार हो जाने के पश्चात् राजा गण्डादित्य ने अपने दण्डनायक एव राज्याधिकारियो को आदेश दिया कि प्रजा की सुरक्षा की दृष्टि से परमावश्यक इस गढ के निर्माण के लिये सुलक्षण सम्पन्न बालको की बहुत बडी सख्या मे बलि देना अनिवार्य हो गया है। अतः उत्तमोत्तम सुलक्षणो से सम्पन्न बालको को चुन-चुन कर राजप्रासाद मे एकत्रित किया जाय।

राजा का आदेश होते ही नागरिको के घरो से सुलक्षणसम्पन्न बालको को बलात् पकड-पकड कर राजभवन मे एकत्रित किया जाने लगा। बलि हेतु अपने अपने बालक के बलात् पकड लिये जाने के कारण उन बालको के माता-पिता करुण क्रन्दन करने लगे। नगर मे सर्वत्र हाहाकार, भय और आतक का वातावरण व्याप्त हो गया।

पूर्वनियोजित कार्यक्रम के अनुसार कुछ पुरुषो ने उन विक्षुब्ध एव करुण क्रन्दन करते हुए मातृपितृ वर्ग को आचार्य माघनन्दि के समक्ष अपनी करुण पुकार प्रस्तुत करने का परामर्श दिया। तदनुसार वे सब लोग एकत्रित हो आचार्य माघनन्दि की सेवा मे उपस्थित हुए। अपने आचार्य देव के चरणकमलो मे साष्टाग प्रणाम करते हुए उन्होने करुण स्वर मे उनके समक्ष निवेदन करना प्रारम्भ किया—"आचार्य भगवन्! आपकी छत्रच्छाया मे रहते हुए भी हमे यह दुस्सह्य दारुण दुःख क्यो भोगना पड रहा है? अब हम इस घोर दुःख को सहन करने मे असमर्थ है, अतः अब आप कृपा कर हम सब को निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान कर दीजिये। हमारे प्राणाधार पुत्रो को बलात् पकड-पकड कर राजप्रासाद मे बन्द कर दिया गया है। आपने यदि हम पर दया नही की तो आज ही हमारे प्राणप्यारे पुत्रो का बलिवेदी पर बलिदान कर दिया जायेगा। हम सब आपकी शरण मे है। केवल आप ही हमारी रक्षा करने मे समर्थ है। हम पर दया कीजिये दयासिन्धो!"

श्रावको की सब बाते सुनने के पश्चात् आचार्य माघनन्दि ने कहा—"भव्यगण! आप सब बुद्धिशाली श्रावक हो और इस बात को भली-भाति जानते हो, समझते हो कि राजा ही विपरीत अथवा पराङ्मुख हो जाय तो उस दशा मे किया ही क्या जा सकता है। इतना सब कुछ होते हुए भी आपकी यह विनती भी टाली नही जा सकती, इसके लिये कोई न कोई उपाय करना होगा।

कुछ क्षण चिन्तन-मुद्रा मे रह कर आचार्य माघनन्दि ने समागत जन-समूह को आश्वस्त करते हुए कहा—"आप लोग चिन्ता का परित्याग कर मै जो उपाय बता रहा हू, उसे ध्यानपूर्वक सुनो, जिससे कि तुम्हारे पुत्रो के प्राणो को भी किसी प्रकार की हानि नही पहुचे और तुम्हारी कीर्ति भी ससार मे चिरकाल तक स्थायी रहे। आप लोग तो राजा के समक्ष केवल इतना ही कह देना—"राजन्! हम इन बालको के माता-पिता अपने इन आत्मजो को सदा-सर्वदा के लिये धर्मसन्तति के रूप मे श्रमणधर्म की दीक्षा हेतु धर्मसघ को समर्पित करते है।" बस, आप लोगो द्वारा यह कह दिये जाने के अनन्तर शेष कार्य मे स्वय कर लूगा। इस घोर सकट से बचने का केवल यही एक उपाय मुझे सूझ रहा है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय आपके ध्यान मे हो तो आप लोग बताओ।"

आचार्य माघनन्दि का कथन सब को आशाप्रद, रुचिकर एव प्रीतिकर लगा। उन सबका शोक क्षण भर मे ही तिरोहित हो गया। कृतज्ञतापूर्ण स्वर मे उन्होने कहा—"भगवन्! समस्त कुल को पवित्र करने और ससार मे कीर्ति का प्रसार करने वाला आपका यह सभी भाँति हितकर वचन किसे प्रिय एव ग्राह्य नही होगा? भगवन् आपका यह सुखद सुन्दर सुझाव हमे स्वीकार है, आप कृपा कर ऐसा ही करे।"

श्रावक-श्राविकावर्ग की स्वीकारोक्ति सुन कर आचार्य माघनन्दि को अपूर्व आनन्द की अनुभूति हुई। उन्होने तत्काल महाराजा गण्डादित्य को बुलवाया और कुछ क्षण उसके साथ एकान्त मे परामर्श करने के पश्चात् बालको के मातृ-पितृवर्ग को बुलाकर उनके समक्ष ही राजा गण्डादित्य को सम्बोधित करते हुए कहा—"राजन्! ये धर्मपरायण श्रावक-श्राविका गण आप जैसे धर्म परायण राजा के राज्य मे भी किस कारण शोकाकुल हो रहे है? आप तो दयालु एव धर्मपरायण है। ये सभी लोग अपने-अपने पुत्रो को श्रमणधर्म मे दीक्षित करने के लिये हमे देना चाहते है। ऐसी दशा मे वे सभी बालक इसी समय से भावोपचार रूप मे मुनि ही माने जाने चाहिये। अब आप स्वय ही सोचिये कि उपचारत मुनि कहे जाने वाले बालको की बलिवेदि पर बलि द्वारा हत्या कर आप अपने जैनत्व को किस प्रकार बचाये रख सकेंगे?"

गण्डादित्य ने अपने गुरु आचार्य माघनन्दि के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"आचार्यवर्य! आपका कथन तो ठीक है किन्तु राज्य और प्रजा की सुरक्षा के लिए परम आवश्यक निर्माणाधीन दुर्ग की क्या दशा होगी?"

आचार्य माघनन्दि ने राजा को आश्वस्त करते हुए कहा—"राजन्! मै मन्त्रशक्ति द्वारा उसका गिरना रोक दूगा। मेरे ऊपर विश्वास कर आप उस दुर्ग की चिन्ता छोड दीजिये।"

राजा गण्डादित्य ने कहा—"देव ! मुझे आप पर अटूट आस्था है। आप इन बालको को सहर्ष श्रमणधर्म मे दीक्षित कर लीजिये।"

राजा द्वारा सहमति प्रकट किये जाने पर तत्क्षण उन सब बालको को वहा लाया गया। स्नान कराने के उपरान्त आचार्य माघनन्दि ने उन्हे पूर्वाभिमुख बैठा कर सब लोगो के समक्ष राजराजेश्वर गण्डादित्य से कहा—"सुनो राजन् ! ये सभी बालक महापुरुषो द्वारा धारण की जाती रही श्रमण-दीक्षा ग्रहण कर रहे है। कहा तो वैराग्य के रग मे पूर्णत रग जाने के कारण प्रबुद्ध, धीर वीर, गम्भीर पुरुषो द्वारा धारण किये गये पूर्ण अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह नामक अति दुष्कर पच्च महाव्रत और कहा ये निर्बल सुकुमार बालक ? तथापि देश, काल और शक्ति के अनुसार इन्हे केवल भाव निर्ग्रथ धर्म की दीक्षा दी जा रही है। ये सब अल्पवयस्क बालक है, इसीलिये इन्हे द्रव्य-दीक्षा नही दी जा रही है। सोना, चादी, लोह और बेंत के वलय वाले चार प्रकार के पिच्छ माने गये है। लीलाप्रिय सहज बालस्वभाववश ये लोग स्वर्ण अथवा रजत वलय के पिच्छो को इधर उधर रख कर भूल भी सकते है, अत इनके लिये बेंत के वलय तथा बेंत की ही डण्डी से युक्त पिच्छ उपयुक्त होगे। आज तक यह व्यवस्था रही है कि श्रमण-दीक्षा के समय उस श्रमण का नाम वही रखा जाता था जो कि गृहस्थ जीवन मे उसका नाम होता था। अब उस व्यवस्था को बदल कर श्रमणत्व अगीकार कर लेने पर उसका पूर्व नाम न रख कर अन्य नाम रखा जायेगा।"[1]

---

[1]
तथापि दीयते देश कालशक्त्यनुसारत ।
शक्तितस्तप इत्येतत्सर्वसिद्धान्त समतम् ॥ १७७ ॥
एतेपा भावनैर्ग्रन्थ्यमेव शक्ति-प्रचोदितम् ।
अति बाला इमे यस्मान्न द्रव्यगमुदीरितम् ॥ १७८ ॥
सौवर्ण राजत लौहमय वेत्रान्वित च वा ।
मत वलयपिच्छ हि, यथायोग्य न चान्यथा ॥ १७९ ॥
यस्मादिमे विस्मरन्ति, लीलासकल्पचोदिता ।
वेत्रदण्डान्वित पिच्छ, तस्मात्तद्वलयान्वितम् ॥ १८० ॥
इयत्काल मुनीना हि, पूर्वनामसमर्पणम् ।
न तथेत पर नामान्तरमेव निरूप्यते ॥ १८१ ॥
इति नामपरावृत्ति, कृत्वा चोच्चमपि स्फुटम्।
उत्थायैते हि मुनयो, नमस्कुर्वन्तु शीघ्रत ॥ १८२ ॥
इत्युक्त्वाहूय तान्सर्वान्, नामकीर्तनपूर्वकम् ।
दत्वाशिप हि कृतवान् शास्त्रारम्भमपि स्फुटम् ॥ १८३ ॥
—जैनाचार्य परम्परा महिमा [अप्रकाशित]

इस प्रकार की व्यवस्था के अनन्तर आचार्य माघनन्दि ने उन सव वालको को द्रव्य मुनिलिग की दीक्षा न देकर केवल भाव मुनित्व की ही दीक्षा दी और उच्च स्वर से उसी समय उनका नामपरावर्तन कर दिया। श्रमणधर्म की भाव-दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् उन नवदीक्षित मुनियो ने क्रमश नवीन नाम के उच्चारण के साथ गुरु द्वारा सम्बोधित किये जाने पर अपने गुरु का वन्दन नमन किया। आचार्य माघनन्दि ने अपने उन नवदीक्षित ७७० मुनियो को आशीर्वाद दे उन्हे शास्त्रो का अध्ययन करवाना प्रारम्भ किया।

तत्पश्चात् आचार्य माघनन्दि ने राजराजेश्वर गण्डादित्य को उन नव-निर्मित ७७० चैत्यालयो की प्रतिष्ठा करने की अनुज्ञा प्रदान की। गण्डादित्य ने स्थान-स्थान पर अति सुन्दर एव विशाल तोरणो का निर्माण करवा नगर को सजवाया। सभी मन्दिरो के शिखरो पर इन्द्रध्वज तुल्य ध्वजाए लगवाई। मन्दिरो के मुख्य द्वारो, दीवारो एव कगूरो पर रगबिरगी नितरा अतीव सुन्दर पताकाए लहराने लगी। तदनन्तर महाराज गण्डादित्य ने पूर्ण ठाट-बाट के साथ उन सब मन्दिरो की प्रतिष्ठाए करवाई। निम्बदेव ने अभ्यर्थिजनो को यथेप्सित दान दे समस्त सघ एव प्रजा को सभी भाति सन्तुष्ट किया।

उन नूतन मुनियो का अध्ययनक्रम निर्बाध गति से उत्तरोत्तर प्रगति करने लगा। आचार्य माघनन्दि के चरणो मे बैठ कर उन नये साधुओ ने गणित छन्द, काव्य, अलकार, ज्योतिष, वैद्यक, मन्त्र, तन्त्र, शब्दशास्त्र, कवित्व, नाट्य-शास्त्र, गमक, वक्तृत्वकला, आदि सभी विद्याओ एव शास्त्रो का वडी ही निष्ठा के साथ अध्ययन किया। इस प्रकार वे सब के सब ७७० मुनि सभी विद्याओ के पारगत प्रकाण्ड विद्वान् बन गये। उन ७७० विद्वान् मुनियो मे से १८ मुनि सिद्धान्त शास्त्रो के पूर्ण पारगत विशिष्ट विद्वान् बने। शेप सभी मुनि तर्क शास्त्र मे ऐसे निपुण हो गये कि उनके द्वारा एक वाक्य के उच्चारण मात्र से ही प्रतिवादी घबराने लग जाते थे।

एक दिन आचार्य माघनन्दि ने महाराजा गण्डादित्य को बुलाकर कहा—'निश्चक्र चक्रवर्तिन्! आपकी सहायता एव सहयोग से सकल शास्त्रो मे निष्णात ये ७७० महा विद्वान् मुनि जिनशासन की सेवा के लिये समुद्यत एव कृतसकल्प है। जिस प्रकार भरत आदि चक्रवर्तियो ने जिनशासन का उद्धार किया, वस्तुत उसी प्रकार आपने भी जिनशासन का उद्धार किया है। आपके द्वारा निर्मित ये ७७० चैत्य आज वस्तुत प्राकृत शाश्वत चैत्यो के समान घरातल पर सुशोभित हो रहे है। देखा जाय तो आपका जन्म सफल हो गया है, आप कृतकृत्य हो गये हैं। वैभव, धैर्य, शौर्य, गाम्भीर्य आदि गुणो मे आपके समान और कोई राजा दृष्टिगोचर नही होता।"

"अब यह सुनिश्चित है कि भविष्य मे इस कलिकाल मे जिनशासन के प्रति निष्ठा रखने वाले तथा सत्य–शौच–सदाचारपरायण राजा न होकर किरात, म्लेच्छ, यवन आदि हीन कुलो के दुष्ट राजा होगे। भविष्य मे श्रावक पूर्व काल की तरह धर्मनिष्ठ एव सत्यवादी न होकर काल के कुप्रभाव से उन म्लेच्छ राजाओ के दुराचारानुकूल स्वेच्छाचारी, मूर्ख, गुरुनिन्दक, महाधूर्त और कुमार्गगामी होगे। इस प्रकार के मूर्ख, स्वेच्छाचारी एव कुमार्गगामी श्रावको पर केवल आचार्य ही अनुग्रह–निग्रहात्मक अनुशासन रख सकेगे, क्योकि उस भावीकाल मे सन्मार्गगामी राजाओ का अस्तित्व तक भी नही रहेगा।"

"इस प्रकार की अवश्यम्भावी भविष्य की स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए अब आचार्यो के पास सिहासन, छत्र, चामरादि राजचिन्हो, भृत्यो और चादी, सोना आदि धन का होना परम आवश्यक है। किन्तु यह सब कुछ आपकी सहायता के बिना नही हो सकता। अत आपको ही यह सब व्यवस्था करनी है।"[1]

आचार्य माघनन्दि की यह बात सुन कर नृपति गण्डादित्य ने कहा—"स्वामिन्! दिगम्बरो को यह सब किस प्रकार शोभा देगा ?"

आचार्य माघनन्दि ने कहा—"सुनो राजन्! प्राचीन काल मे तीर्थंकरो के भी छत्र, चामर, आकाश-गमन आदि बहिरग अतिशय होते थे। इस सम्बन्ध मे और अधिक कहने की आवश्यकता नही। समय के प्रवाह को दृष्टिगत रखते हुए केवल मत-निर्वाह अर्थात् जैन धर्म को एक जीवित धर्म रखने के अभिप्राय से ही यह सब कुछ करना परमावश्यक हो गया है।"[2]

---

[1] पार्थिवाज्ञानुगा सर्वे, श्रावका सत्यभापिता ।
जैनमार्गे चरन्त्यैवमुत्तरत्र न ते तत ॥२०१॥
स्वेच्छाचाररता मूर्खा वक्राश्च गुरुनिन्दका ।
तदा कुमार्गवशगा, श्रावका कालदोषत ॥२०२॥
इदानी श्रावका सर्वे, मनुकाल मृगोपमा ।
भाविनस्ते महाधूर्ता, ह्यतत्कालमृगोपमा ॥२०३॥
निग्रहानुग्रहौ तेषामाचार्येणैव नान्यथा ।
यत सन्मार्गगा नैव, वर्तन्ते पार्थिवास्तत ॥२०४॥
तदर्थं राजचिह्नैश्च, भाव्य भृत्यैर्धनैरपि ।
आचार्यस्य हि तत्सर्वं, त्वत्सहायेन नान्यथा ॥२०५॥
—जैनाचार्य परम्परा महिमा हस्तलिखित प्रति

[2] गुरुणोक्त वच श्रुत्वा, नरेन्द्र पुनरब्रवीत् ।
स्वामिन्! दिगम्बराणा तच्छोभते कथमित्यपि ॥२०६॥

भट्टारक परम्परा के प्रथम आचार्य का पट्टाभिषेक—गुरु वचनो को शिरोधार्य कर महाराज गण्डादित्य ने उन्हे भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हुए निवेदन किया—"भगवन् ! आपके निर्देशानुसार मैं सब प्रकार की समुचित व्यवस्था कर दूगा।"

तत्पश्चात् आचार्य माघनन्दी के आदेशानुसार गण्डादित्य ने सकल आगमनिष्णात प्रकाण्ड विद्वान् मुनि सिहनन्दि को आचार्य पद पर अभिषिक्त करने की पूर्ण तैयारिया की। आचार्य माघनन्दि ने (भट्टारक परम्परा के प्रथम आचार्य के रूप मे) सिहनन्दि को आचार्य पद पर नियुक्त किया। महाराज गण्डादित्य ने सिंहनन्दि का आचार्य पद पर पट्टाभिषेक किया। महाराजा गण्डादित्य ने आचार्य सिंहनन्दि का आचार्य पद पर अभिषेक करते समय उन्हे (आचार्य सिहनन्दि को) एक अत्युत्तम शिविका (पालकी) रत्नजटित पिच्छ, चँवर और छत्र आदि राजचिन्ह प्रदान किये। विविध वाद्ययन्त्रो के घोष के साथ महाराज गण्डादित्य ने आचार्य सिहनन्दि की नगर मे शोभायात्रा निकाल कर उनकी महती प्रभावना की। तदनन्तर राजा ने आचार्य सिहनन्दि को विधिवत् चतुर्विध धर्म-सघ के सचालन के सर्वोच्च सत्तासम्पन्न सार्वभौम अधिकार प्रदान किये। महाराजेश्वर गण्डादित्य ने विभिन्न प्रान्तो तथा देश-देशान्तरो के राजा-महाराजाओ, जैन सघो एव सघ नायको को घोषणा-पत्र अथवा अधिकार-पत्र भेजे कि आचार्य सिहनन्दि को मूल सघ के सर्वोच्च अधिकार सम्पन्न आचार्य पद पर अभिषिक्त किया गया है।

इस प्रकार सुदूरस्थ प्रदेशो मे भी आचार्य सिहनन्दि की प्रसिद्धि हो गई कि ये मूल-सघ के सर्वोच्च सर्वाधिकारसम्पन्न महान् आचार्य है।[२]

शृणु राजन् पुरा तीर्थंकरादीनामपि स्थिता ।
बहिरग नभोयान, चामरादि विभूतय ।।२०७।।

किं स्यात्वहु प्रसगेन, कालशक्त्यनुसारत ।
क्रियते मतनिर्वाह—सिद्ध्यर्थं न तदिच्छया ।।२०८।।

२ इत्युक्त वचन श्रुत्वा, नत्वा गुरुकुलप्रभुम् ।
यन्निर्दिष्ट तदिच्छामीत्यब्रवीदति भक्तित ।।२०९।।

तदाखिलादिशास्त्रज्ञ, सिंहनन्दिमुनीश्वरम् ।
समाहूयाथ पट्टाभिषेक कृत्वा तत परम् ।।२१०।।

प्रदत्वा शिविकाच्छत्रचामरादि परिच्छदान् ।
दत्वा रत्नमय पिच्छ, चामरे च तथाविधे ।।२११।।

कारयित्वा पुरे नाना वाद्यैस्तस्य प्रभावनाम् ।
सर्वाधिकारपदवी दत्वेवाति प्रभावत ।।२१२।।

तथा देशातरस्थाना नरेन्द्राणा च लेखनम् ।
भिन्नसघाधिनाथानामपि प्रेषितवान्मुदा ।।२१३।।

श्री मूल-सघाचार्योऽयमिति सर्वप्रसिद्धिजम् ।
तदाभून्माघनन्द्यार्यस्यास्य नाम मनोहरम् ।।२१४।।

जैनाचार्य परम्परा महिमा (हस्तलिखित)

इस प्रकार की व्यवस्था से आ० माघनन्दि की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई।[1]

भट्टारक पीठो की सर्वप्रथम स्थापना—तत्पश्चात् आर्य माघनन्दि ने धर्म सघ (भट्टारक सम्प्रदाय) की समुचित व्यवस्था के लिए २५ पीठो की स्थापना की। उन सभी पीठो पर आर्य माघनन्दि ने अपने सुयोग्य एव शास्त्रज्ञ विद्वान् शिष्यो को पीठाधीशो के पद पर नियुक्त किया। उन पच्चीसो पीठाधीशो को छत्र चामरादि चिन्हरहित चाँदी के सिहासन और काष्ठ की पादुकाए प्रदान की गई। उन पच्चीसो ही पीठाधीशो को सम्बोधित करते हुए आचार्य माघनन्दि ने कहा—"तुम सब लोग आचार्य सिहनन्दि के सेवक हो।[2] तुम सब लोग अपने-अपने पीठो पर जाकर जिनशासन का प्रचार-प्रसार करो।" उन सबने भी अपने आचार्यदेव की आज्ञा को शिरोधार्य किया और अपने-अपने पीठ पर जाकर वे जिनशासन की सेवा मे निरत हो गये।

एक समय आचार्य सिहनन्दि अपने विशाल शिष्यसमूह से परिवृत्त हो विविध वाद्ययन्त्रो की सुमधुर ध्वनियो एव जय-जयकार के गगनभेदी निर्घोशो के साथ दक्षिण मथुरा गये। वहा के महाप्रतापी एव शौर्यशाली महाराजा राचमल्ल तथा उनके महामात्य चामुण्डराय ने आचार्य श्री की अगुवानी करते हुए महामहोत्सव के साथ उनका दक्षिण मथुरा मे नगरप्रवेश करवाया। राजाधिराज राचमल्ल ने आचार्य श्री को वहा एक चैत्यालय मे ठहराया। महाराजा राचमल्ल प्रतिदिन आचार्य सिहनन्दि के उपदेश सुनता और उनके प्रति अगाध श्रद्धा-भक्ति रखता था। आचार्य सिहनन्दि दक्षिण मथुरा (मदुरा) मे रहते हुए सद्धर्म का अनेक वर्षो तक प्रचार-प्रसार करते रहे। आचार्य सिंहनन्दि के ३०० शिष्यो मे प्रमुख शिष्य देवेन्द्र कीर्ति प्रकाण्ड पण्डित और शास्त्रज्ञ थे। सिहनन्दि के पश्चात् देवेन्द्रकीर्ति को आचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया। आचार्य देवेन्द्रकीर्ति का गुरुभ्राता अजितसेन भी विद्वानो मे अग्रणी और महान् प्रभावक था। अजितसेन को पण्डिताचार्य के पद से विभूषित किया गया। राजा चामुण्ड राज सदा उनकी सेवा मे उपस्थित रहता था।

---

[1] श्लोक सख्या २१४ के उत्तरार्द्ध "तदाभून्माघनन्द्यार्यस्यास्य नाम मनोहरम्।" से ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य माघनन्दि ने अभिनव भट्टारक परम्परा को जन्म देते समय अपने शिष्य सिंहनन्दि को प्रथम भट्टारकाचार्य बनाया और वे स्वय यथावत् नन्दिसघ के ही सदस्य बने रहे। इससे सर्वत्र उनका नाम हो गया अर्थात् उनकी कीर्ति फैल गई। वे भट्टारक परम्परा के जनक थे, पर उनके आचार्य नही बने।

—सम्पादक

[2] राजत पीठमेतेपा, पादुके दारुकल्पिते।
छत्रचामरशून्य तद्राजचिन्हमितीडितम् ॥२१६॥
प्रोक्त्वा तद्दापयित्वाथ, तानाहूय मुनीश्वर।
आचार्यसेवका यूयमिति तेपा समब्रवीत ॥२१७॥

जैनाचार्य परम्परा महिमा (हस्तलिखित)

आचार्य देवेन्द्रकीर्ति के पश्चात् उनके उत्तराधिकारी माघनन्दि (द्वितीय) को आचार्य पद प्रदान किया गया। माघनन्दि (द्वितीय) के पश्चात् उनके पट्ट शिष्य नेमिचन्द्र को आचार्य पद पर अभिषिक्त किया गया। आचार्य नेमिचद्र ने राजा चामुण्ड को प्रतिबोध दिया।

श्रवण बेल्गोल तीर्थ तथा वहा मुख्य पीठ की स्थापना

एक दिन शुभ मुहूर्त मे महाराजा चामुण्डराय आचार्य श्री नेमिचद्र और उनके शिष्य वर्ग के साथ बाहुबली की मूर्ति के दर्शनो की अभिलाषा लिये मदुरापत्तन से पोदनपुर की ओर प्रस्थित हुआ। उसके साथ उसकी विशाल वाहिनी और भृत्य गण भी थे। प्रयाण और स्थान-स्थान पर पडाव डालकर विश्राम करते हुए वे सब बेल्गोल के पास पहुचे। बेल्गोल के पास गगनचुम्बी, गिरिराज, विन्ध्याचल को देख महाराज चामुण्ड ने वहा रात्रि-विश्राम के लिए पडाव डाला।

रात्रि की अवसान बेला मे, राजा चामुण्ड के पूर्वार्जित पुण्यो के प्रताप से नख-शिख (आपादशीर्ष) शृगार की हुई सपुत्रा कुष्माण्डिनी देवी ने स्वप्न मे चामुण्डराज को दर्शन दे परम प्रसन्न मुद्रा मे उससे कहा—"ओ महिप चामुण्डराज! तुम सदल-बल इतनी दूरी पर अवस्थित पोदनपुर तक कैसे पहुँच सकोगे, अर्थात् वहा क्यो जा रहे हो? रावण द्वारा अर्चित-पूजित गोम्मटेश की मूर्ति यही विन्ध्य-गिरि के विशाल शिलाखण्डो से ढकी हुई विद्यमान है। तुम्हारे द्वारा बाण के प्रयोग मात्र से गोम्मटेश तुम पर प्रसन्न हो जायेगे और तुम्हे दर्शन दे देंगे।" बस इतना ही कह कर देवी कुष्माण्डिनी अदृश्य हो गई।[1]

सूर्योदय होते ही महाराज चामुण्ड ने आचार्य नेमिचद्र को अपना आद्योपान्त स्वप्न सुनाया और उनकी अनुज्ञा प्राप्त कर देवी द्वारा निर्दिष्ट स्थान मे बाण चलाया। बाण चलाते ही सबको दर्शन देते हुए गोम्मटेश प्रकट हो गये। तत्काल महाराज चामुण्ड ने गोम्मटेश जिन की पूजा की। आचार्य नेमिचन्द्र ने शास्त्रो से सार ग्रहण कर गोम्मटसार, त्रिलोकसार और लब्धिसार नामक तीन सारभूत उत्तम ग्रथो की रचना की। वही बेल्गोल पत्तन मे राजा चामुण्डराज ने भी लोक-भाषा मे त्रिषष्टि (श्लाघ्य) पुरुष पुराण नामक पुराण की रचना की।

बेल्गोल मे गोम्मटेश के प्रकट होने, गोम्मटसार आदि सारत्रय उत्तम ग्रन्थो के प्रणयन तथा त्रिषष्टि पुरुष पुराण की रचना—इन तीनो कारणो से बेल्गोल

---

[1] अस्मिन् विन्ध्याचले स्थूल, शिलाखण्डस्तिराहिते।
स एव गोम्मटेशोऽस्ति, रावणेन समर्चित ॥२३५॥
बाणप्रयोगमात्रेण, प्रसन्नस्तव जायते।
इति वाच समुद्गर्य, तिरोभूत्वा गता हि सा ॥२३६॥

पत्तन मे दक्षिणाचार्य प्रवर का महासिहासन स्थापित कर वहा भट्टारक परम्परा का प्रमुख पीठ स्थापित किया गया। श्रवण वेल्गोल के उस महा सिहासन पर विराजमान आचार्य नेमिचन्द्र सुशोभित होने लगे।[1]

महाराजा चामुण्ड अपने उन आचार्यदेव नेमिचन्द्र के पादप्रक्षालन एव उनकी अर्चा-पूजा के लिये सदा समुद्यत रहता था। महाराज चामुण्ड ने १,९६,००० (एक लाख छ्यानवे हजार) मुद्राओ की प्रतिवर्ष आय वाला विशाल भूखण्ड गोमटेश को भेंट के रूप मे सदा-सर्वदा के लिए समर्पित किया।[2] महाराज चामुण्ड ने श्रवणबेल्गुल मे नन्दीश्वर महापूजा आदि अनेक भव्य महोत्सव आयोजित किये। उन महोत्सवो के कारण श्रवणबेल्गुल नगर सदा धर्मनगर का रूप धारण किये रहता था।

इस प्रकार गोमटेश्वर तीर्थ की स्थापना, श्रवणबेल्गुल मे दक्षिणाचार्य के प्रधान पीठ की प्रतिष्ठापना और अनेक महोत्सवो के आयोजनो के पश्चात् चामुण्डराज अपने गुरु दक्षिणाचार्य श्री नेमिचन्द्र की आज्ञा प्राप्त कर शख नादो एव दुन्दुभि आदि नानाविध वाद्यो के निर्घोषो के साथ श्रवणबेल्गुल से सदलबल प्रस्थित हो अपने राज्य की राजधानी दक्षिण मथुरा (मदुरा) पहुचा और गोमटेश जिन के चरणयुगल का स्मरण करता हुआ न्यायनीतिपूर्वक प्रजा का पालन करने लगा। महाराज चामुण्ड की सेना मे ८००० हाथी, १०,००,००० अश्वारोही और अगणित पदाति सुभट थे।[3]

उधर सिद्धान्तदेव आचार्य नेमिचन्द्र श्रवणबेल्गुल मे रहते हुए तीर्थ का अभिवर्द्धन एव धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे। वे जिनेन्द्र मार्ग के सार्वभौम सर्वोच्च अधिकार एव सत्ता सम्पन्न अधिनायक आचार्य थे।

---

[1] दक्षिणाचार्यवर्यस्य, तस्माद्बेल्गुलपत्तनम्।
महासिहासनस्थान, जात सौख्याकर यत ॥२४२॥
तद्बेल्गुल महासिहासनासीनो मुनीश्वर ।
नेमिचन्द्राख्य सिद्धान्त देवो गुणनिधिर्विभौ ॥२४४॥

जैनाचार्य परम्परा महिमा (हस्तलिखित)

[2] षण्णवत्यन्वित भक्त्या, सहस्र लक्षपूर्वकम्।
राज्य चामुण्डभूपालो, गोमटेशस्य सददौ ॥२४६॥
नियुत षण्णवत्युद्ध, सहस्रान्वितमादरात् ।
राज्य चामुण्डभूपालो, गोमटेशस्य सददौ ॥२४७॥

[3] अष्टौ दन्तिसहस्राणि, दशलक्ष तुरगमा ।
भटाना गणना नैव, तद्भूपाल बलाम्बुधौ ॥२५१॥

—जैनाचार्य परम्परा महिमा—

आचार्य श्री नेमिचन्द्र के पश्चात् कलधौतनन्दि दक्षिणाचार्य के पद पर अधिष्ठित किये गये। आचार्य कलधौतनन्दि के पश्चात् हुए कतिपय दक्षिणाचार्यो के नाम, "जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक लघु ग्रन्थ मे निम्नलिखित क्रम से दिये गये है—

माघनन्दि (तृतीय), मेघचन्द्र, अभयचन्द्र, बालचन्द्र, माघनन्दि (चतुर्थ), अण्डविमुक्त, गुणचन्द्रदेव, हेमसेन पण्डित, वादिराज, मेघचन्द्र (द्वितीय), गुणचन्द्र, नयकीर्ति, कनकनन्दि पण्डित, भानुकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति, जयकीर्ति, गोपनन्दि, (जिनकी पालकी को व्यन्तर वहन करते थे), माघनन्दि (पचम), वासव सुचन्द्र (जो चालुक्य राज की सेना मे बाल सरस्वती के नाम से विख्यात थे), विशालकीर्ति, दामनन्दि, गुणनन्दि, मलधारी, श्रीधराचार्य, सुतनन्दि, माधवचन्द्र, उदयचन्द्र, मेघचन्द्र (इनके समय से बालचन्द्र पण्डिताचार्य पद पर विराजमान रहे), अभय-नन्दि, सोमदेव, ललितकीर्ति, कल्याणकीर्ति, महेन्द्रचन्द्र, शुभकीर्ति, जिनेन्द्रचन्द्र, यश कीर्ति, वासवचन्द्र, चन्द्रनन्दि, सुबाहु पण्डिताचार्य, वृषेन्द्रसेन, महेन्द्रसेन, धर्म-सेन, कुलभूषण, नन्दिपण्डित, माघनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती (षष्ठम), विशदकीर्ति, शुभचन्द्र, चारुकीर्ति, माघनन्दि (सप्तम), अभयचन्द्र, बालचन्द्र और रामचन्द्र।

इस भाति जिस प्रकार रोहणगिरि से अनमोल रत्न निकलते है, उसी प्रकार मुनिरत्नो की खान स्वर्णबेलगुल के मुख्य पीठ से अनेक महान् आचार्यो का उदय हुआ। ये सभी आचार्य विपुल विद्या वैभव के धनी और शाप तथा अनुग्रह दोनो ही विद्याओ मे सक्षम थे। यह श्रवणबेल्गुल मुख्य पीठ के सिहासन का ही चमत्कार था कि जो भी मुनि आचार्य पद पर अभिषिक्त हो इस सिहासन पर बैठता, वही इस सिहासन की शक्ति से स्वत ही शापानुग्रह–समर्थ और अद्‌भुत् विद्यावैभव-सम्पन्न हो जाता था।

भट्टारक रामचन्द्र के पश्चात् श्रवणबेलगुल के सिहासन पर भट्टारक शिरो-मणि देवकीर्ति हुए। तदनन्तर भट्टारक देवचन्द्र हुए, जिनके द्वार पर छोटिंग नामक यक्ष सदा बैठा रहकर इनके द्वारपाल का कार्य करता था। बैताली सदा इनके चरण युगल की सेवा करती थी और अनेको व्यन्तर इनकी पालकी को उठाते थे। अनेक भूतगण उनका आदेश पालने के लिए सदा तत्पर रहते थे। देवचन्द्र के पश्चात् उनके शिष्य चारुकीर्ति आचार्य पद पर आसीन हुए। ये चारुकीर्ति भट्टा-रको मे सूर्य के समान थे। चारुकीर्ति वस्तुत अद्‌भुत् प्रतिभासम्पन्न थे अत इनकी कलिकाल गणधर के नाम से चारो ओर ख्याति फैल गई थी। महाराजा वल्लाल के प्राणो की रक्षा करने के कारण आपकी यशोपताका सुदूर प्रान्तो तक फहराने लगी थी।

एकदा महाराजाधिराज वल्लाल के राजप्रासाद मे ज्वालामुखी के समान

एक भीषण बिवर (बिल) प्रकट हुआ। उस बिल मे से अग्नि की भीषण ज्वालाए निकलने लगी, बडे-बडे अगारे निकल कर चारो ओर फैलने लगे। उस बिल मे से इतना अधिक धुआ निकलने लगा कि प्रासाद और गगन-मण्डल उस धुए से इस प्रकार छा गया जैसे कि वर्षाकाल मे घुमडती हुई घनघटाओ से आकाश आच्छादित हो गया हो। उस बिल से जो प्रलयकर दृश्य उत्पन्न हुआ, वह इतना वीभत्स था कि उसे देखते ही लोग मूर्च्छित हो जाते थे। उस ज्वालामुखी की शान्ति के लिए अनेक उपाय सोचे गये। मिथ्या दर्शनियो ने उसकी शान्ति का उपाय बताते हुए राजा से कहा कि इस बिल को महिष, बकरो आदि पशुओ के रक्त से भर दिया जाय। बिना पशुओ के रक्त के यह बिल बन्द होने वाला नही है। राजाधिराज वल्लाल इस पापकृत्य के नाम मात्र से काप उठा। उसने भट्टारक चारुकीर्ति की सेवा मे उपस्थित हो सकट से रक्षा की प्रार्थना की। चारुकीर्ति भट्टारक ने कुष्माण्डिनी देवी का आह्वान कर कुष्माण्डो से उस बिल को भर दिया और उस पर सिहासन जमा कर वे उस पर बैठ गये। तत्काल ज्वालामुखी बिल द्वारा उत्पन्न घोर सकट नष्ट हो गया। अग आदि अनेक देशो के राजाओ ने साष्टाग प्रणाम कर चारुकीर्ति की स्तुति की और उन्हे "वल्लालराज सज्जीव रक्षक" के विरुद से विभूषित कर छहो दर्शनो की उपासक सम्पूर्ण प्रजा का स्थापनाचार्य घोषित किया।

इन भट्टारक चारुकीर्ति के आचार्यकाल मे जिनशासन की प्रतिष्ठा पराकाष्ठा पर पहुच गई। जन-जन के अन्तर्मन पर चारुकीर्ति के नाम की गहरी छाप अकित हो गई। चारुकीर्ति के नाम के चमत्कार को दृष्टि मे रखते हुए यह नियम वना दिया गया कि कालान्तर मे श्रवण बेलगुल के सिहासन पर अभिषिक्त होने वाले सभी भट्टारको का नाम चारुकीर्ति ही रखा जाय।[1]

भट्टारक देवचन्द्र के शिष्य उन चारुकीर्ति के पश्चात् कतिपय चारुकीर्ति नाम के भट्टारक हुए। उनके पश्चात् चारुकीर्ति नामक एक अन्य आचार्य हुए। वैकटार्य राजा की विनति स्वीकार कर वे चारुकीर्ति भट्टारक एक बार भल्लातकी पत्तन गये। वहा भैरव नामक एक राजा भी आपकी सेवा मे आया। भट्टारक चारुकीर्ति ६ मास तक भल्लातकीपत्तन मे रहे। भैरव नामक राजा सदा उनके दर्शन प्रवचनश्रवण करता। उसके अन्तर्मन मे चारुकीर्ति आचार्य के प्रति प्रगाढ भक्ति उत्पन्न हुई और उसने यह नियम ग्रहण कर लिया कि वह जीवनभर भ० चारुकीर्ति के चरणो की पूजा किये बिना भोजन नही करेगा। ६ मास पश्चात् जब वे भट्टारक चारुकीर्ति पुन श्रवणबेल्गुल आने के लिए उद्यत हुए तो राजा भैरव ने कहा—"आचार्यदेव! मुझे भी आप श्रमणधर्म की दीक्षा दे दीजिये। अन्यथा आपके चले जाने पर तो मुझे अपने नियम की रक्षा के लिए आमरण अनशन ही

---

[1] श्रवण बेलगुल मे अद्यावधि यही नियम प्रचलित है।

—सम्पादक

करना पडेगा। इस विकट समस्या को सुलझाने के लिए भ० चारुकीर्ति ने अपने एक शिष्य को अपना उत्तराधिकारी बना, उसे चारुकीर्ति नाम देकर वहा रख दिया। तदनन्तर चारुकीर्ति भट्टारक पुन स्वर्णबेल्गुल लौट आये। इस प्रकार भल्लातकी मे भी भट्टारको की एक शाखा स्थापित हो गई। ये चारुकीर्ति भट्टारक महाराजा वल्लाल के प्राणो की रक्षा करने वाले चारुकीर्ति के पश्चात् उनके २५वे पट्टधर हुए।

"जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक लघु ग्रन्थ के रचनाकार भी चारुकीर्ति हैं और उन्होने अपने आपको उन चारुकीर्ति का ३१वा पट्टधर बताया है, जिन्होने कि महाराजा वल्लाल के प्राणो की रक्षा की थी।

"जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक ३४६ श्लोको के हस्तलिखित लघु ग्रन्थ के आधार पर जो भट्टारक परम्परा पर प्रकाश डाला गया है, उसमे वर्णित आचार्य माघनन्दि, गण्डरादित्य राज-राजेश्वर, राजा वल्लाल, महासामन्त निम्ब-देव, आचार्य माघनन्दि का विशाल शिष्य परिवार आदि-आदि प्राय सभी पात्र वस्तुत ऐतिहासिक व्यक्ति है। इस तथ्य को सिद्ध करने वाले पुरातात्विक ठोस प्रमाण आज भी उपलब्ध होते है। महासामन्त निम्बदेव द्वारा निर्मित कोल्हापुर की रूप नारायण वसदि मे तथा कोल्हापुर सभाग के कागल नामक नगर के समीपस्थ होन्नूर के जैन मन्दिर मे और कुण्डी प्रदेशस्थ सागली विभाग के तेरदाल नगर के नेमिनाथ मन्दिर मे मिले शिलालेखो से इन सब की ऐतिहासिकता के साथ-साथ भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव एव माघनन्दि, वल्लाल, गण्डरादित्य (गण्डादित्य) निम्बदेव आदि का समय भी ऐतिहासिक आधार पर सुनिश्चित होता है। वे ऐतिहासिक तथ्य इस प्रकार है —

(१) कोल्हापुर सम्भाग मे कागल नगर के समीपस्थ होन्नूर नगर के जैन मन्दिर मे एक मूर्ति के आयाग पट्ट पर उट्टकित शिलालेख मे ऐतिहासिक महत्व की अनेक बातो पर प्रकाश डाला गया है। उस शिलालेख मे महामण्डलेश्वर वल्लाल देव एव गण्डरादित्य द्वारा इस मन्दिर को दिये गये एक बडे दान का उल्लेख है, जो साधु-साध्वियो के खान-पान की व्यवस्था हेतु दिया गया था। इस शिलालेख के लेखानुसार बम्मगावुण्ड नामक गृहस्थ द्वारा इस मन्दिर का निर्माण करवाया गया। वह बम्मगावुण्ड रात्रिमती नाम की एक जैन साध्वी का गृहस्थ शिष्य था। इससे यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि तामिलनाडु के समान कर्णाटक प्रदेश मे भी जैन साध्वियो का एक ऐसा सघ था जो जैनाचार्यो के समान ही श्रावक वर्ग पर अपना पूर्ण प्रभाव एव वर्चस्व रखता था और पुरुषो को अपना परम भक्त, अनुयायी और यहा तक कि गृहस्थ शिष्य भी बनाता था। तामिलनाड से प्राप्त प्राचीन शिलालेखो मे अनेक ऐसी साध्विमुख्याओं, महान् साध्वियो के उल्लेख उपलब्ध होते है, जो बडे-बडे सघो की आचार्य—बडे-बडे सघो यहा तक कि साधुओ, साध्वियो, श्रावको

एव श्राविकाओ के सघो की सर्वेसर्वा सचालिकाए थी। इनमे सघ कुरत्तीगल नामक सघाधिपा का नाम उल्लेखनीय है, जो एक सघ की प्रमुखा अर्थात् आचार्या थी।[१] उनमे तिरुमलै कुरत्ती (तिरुमलै जैन सघ की गुरुणी अथवा आचार्या) नामक ऐसी महान् साध्वी थी जो विशाल जैन सघ की आचार्या थी। उन आचार्या तिरुमल कुरत्ती (गुरुणी) के एक एनाडिकुट्टनन नामक साधु शिष्य का उल्लेख भी तामिलनाड से प्राप्त एक शिलालेख मे उपलब्ध होता है।[२] इन शिलालेखो मे से एक शिलालेख मे एक ऐसी तिरुपरत्ती कुरत्ती नामक साध्वी प्रमुखा का उल्लेख भी है जो भट्टारक पद पर आसीन पट्टिनी भट्टार नामक साध्वी भट्टारक की शिष्या थी।[३]

आगम साहित्य मे और प्रारम्भ से लेकर वर्तमान काल तक के श्वेताम्बर एव दिगम्बर परम्परा के आगमेतर साहित्य मे एक भी ऐसा उदाहरण उपलब्ध नही होता, जिसमे एक साध्वी को स्वतन्त्र रूप से साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूप सघ की सचालिका, आचार्य-भट्टारक अथवा गुरुणी के पद पर अधिष्ठित किया गया हो। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही सघो मे एक साध्वी को चाहे वह कितनी भी विदुषी, वयोवृद्धा अथवा ज्ञानवृद्धा क्यो न हो, आचार्य पद पर अधिष्ठित नही किया जाता। इन दोनो सघो मे कही ऐसा विधान उपलब्ध नही होता कि एक साध्वी एक पुरुष को श्रमण धर्म मे दीक्षित कर उसे अपना शिष्य बना सकती हो।

इन शिलालेखो से आभास होता है कि दक्षिणापथ मे "स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष" अर्थात् स्त्रिया भी पुरुषो के समान उसी भव मे मोक्ष पा सकती है"—इस बात पर विशेष बल देने वाले, इस बात का दक्षिणापथ मे प्रबल प्रचार करने वाले यापनीय सघ का कर्णाटक प्रान्त के समान तामिलनाडु मे भी प्राबल्य रहा हो और साध्वी आचार्यो द्वारा सचालित वे सघ यापनीय सघ के अभिन्न अग रहे हो। इस विषय मे गहन शोध की आवश्यकता है। विषयान्तर के भय से यहाँ इस विषय पर विशेष न कह कर यापनीय सघ विषयक अगले अध्याय मे विस्तार से प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

इस शिलालेख मे यह भी बताया गया है कि इस मन्दिर को जो दान दिया गया, वह कराड के शिलाहार वशीय दो राजकुमारो—महामण्डलेश्वर वल्लाल देव और गण्डरादित्य (गुरु परम्परा महिमा मे गण्डादित्य नाम दिया हुआ है, जो छन्द की दृष्टि से गण्डरादित्य का सस्कृत रूपान्तर प्रतीत होता है) द्वारा दिया गया। इस

---

१ South Indian Inscription Vol V (Inscription No 319, 322, 323).
२ " " No 370
३ " " No 372

शिलालेख मे मूल सघ के "पुन्नागवृक्षमूलगरण" का उल्लेख वस्तुत ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक महत्वपूर्ण है।[1] क्यो कि 'पुन्नागवृक्षमूलगरण' का सम्बन्ध सामान्य रूपेण अनेक शिलालेखो मे यापनीय सघ के साथ उपलब्ध होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि कोल्हापुर सम्भाग मे यापनीय सघ बडा लोकप्रिय था।

इस शिलालेख मे यद्यपि किसी सवत् अथवा तिथि आदि का उल्लेख नही है, तथापि पुरातत्त्वविद् विद्वानो ने इसे ई सन् १११० के आस-पास का माना है।

(२) कुण्डी प्रान्त के तेरिदाल नगर मे रट्ट राजवशीय महामाण्डलिक गोङ्क ने भगवान् नेमिनाथ के मन्दिर का निर्माण करवाया और वहा जैन साधुओ के भोजन आदि की व्यवस्था के लिये ई सन् ११२३—२४ के आस-पास एक बडे भू-भाग का दान उस मन्दिर को दिया। यह भू-दान महामाण्डलिक गोङ्क द्वारा रट्टवशीय राजा कार्त्तवीर्य (द्वितीय) की विद्यमानता मे दिया गया और इस अवसर पर आचार्य माघनन्दि सैद्धातिक को विशेष रूप से आमन्त्रित किया गया। वे माघनन्दि आचार्य कोल्हापुर प्रान्तीय मुनि सघ के अधिष्ठाता मण्डलाचार्य और कोल्हापुर की रूपनारायण वसदि के सर्वेसर्वा मठाधीश थे। वे मूल सघ कुन्दकुन्दान्वय, देशिगरण, पुस्तक गच्छ के आचार्य और कुलचन्द् देव के शिष्य थे। उन आचार्य माघनन्दि का शिष्य सघ सुविशाल था।

भूदान विषयक उपर्युक्त शिलालेख मे माघनन्दि के शिष्यो मे से प्रमुख शिष्यो—कनकनन्दि, श्रुतकीर्ति त्रैविद्य, चन्द्रकीर्ति पण्डित, प्रभाचन्द्र पण्डित और वर्द्धमान के नामो का उल्लेख है। आचार्य माघनन्दि के विषय मे इस शिलालेख मे उल्लेख है कि वे महासामन्त निम्बदेव के धर्मगुरु थे। महासामन्त निम्बदेव ने अपने स्वामी गण्डरादित्य (गण्डादित्य) के एक विरुद 'रूपनारायण' नाम पर 'रूपनारायण' वसदि का निर्माण करवाया। महाराजा गण्डरादित्य के अनेक विरुदो (उपाधियो—उपनामो) मे 'रूपनारायण' भी एक लोकप्रसिद्ध विरुद था। इसी शिलालेख के नीचे कालान्तर मे उट्टकित अभिलेख के अनुसार इसी मन्दिर के एक शिलालेख मे उल्लेख हैं कि गोक द्वारा इस मन्दिर के निर्माण और भूदान के ६० वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० सन् ११८२ के आस-पास व्यापारियो के 'अय्यावले पाच सौ' नामक महासघ ने व्यापारी मण्डियो मे इस मन्दिर की स्थायी आर्थिक व्यवस्था के निमित्त एक प्रकार का धार्मिक शुल्क लगा दिया। ई० सन् ११८७ मे महासेनापति तेजुगी दण्डनायक के पुत्र भाई देव ने, जो कि कुण्डी प्रान्त का प्रशासक था, इस मन्दिर को भूमि और भवनो का दान दिया।[2]

---

[1] Lbid, Vol XI, pp 1477

[2] Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs by P B Desai, p 119

(३) कोल्हापुर नगर के शुक्रवारी नगर द्वार के निकटस्थ पार्श्वनाथ मन्दिर के पास से उपलब्ध हुए एक शिलालेख मे भी कोल्हापुर नरेश गण्डरादित्य, उनके महासामन्त सेनापति निम्बदेव और इनके धर्मगुरु आचार्य माघनन्दि का उल्लेख है। इस शिलालेख मे उट्टंकित है कि शिलाहार वशीय महाराजा गण्डरादित्य के शासनकाल मे उनके महासामन्त निम्बदेव ने कोल्हापुर मे पहले 'रूपनारायण' नामक जैन मन्दिर का निर्माण करवाया। निम्बदेव एक निष्ठावान जैन धर्मावलम्बी एव जैन धर्म के नियमो का पालन करने वाले अग्रणी श्रावक थे। जैन धर्म के प्रसार एव उत्कर्ष के लिये निम्बदेव ने अपने धर्मनिष्ठ जीवन के प्रारम्भिक काल मे सर्वप्रथम रूपनारायण मन्दिर और तदनन्तर भगवान् पार्श्वनाथ के मन्दिर का निर्माण कवडे गोल्ला बाजार मे करवाया। 'अय्यावले पाच सौ' नामक एक व्यापारिक महासघ ने मण्डियो मे क्रय-विक्रय पर एक धार्मिक शुल्क लगाकर उससे होने वाली स्थायी आय का इस मन्दिर को ई० सन् ११३५ के आस-पास के विक्रम सवत् मे दान दिया। व्यापारियो के महासघ ने मन्दिर की स्थायी व्यवस्था के लिये यह दान आचार्य माघनन्दि के शिष्य एव रूपनारायण वसदि के मठाधीश आचार्य श्रुतकीर्ति त्रैवेद्य को प्रदान किया।[1]

यह ऊपर बताया जा चुका है कि कोल्हापुर नरेश महाराज गण्डरादित्य की अनेक उपाधियो मे से 'रूपनारायण' भी एक उपाधि थी और इस प्रकार निम्बदेव ने अपने स्वामी रूपनाराण उपाधिधर महाराज गण्डरादित्य के नाम पर रूपनारायण वसदि का निर्माण करवाया था। वर्तमान काल मे कोल्हापुर के शुक्रवारी नामक प्रवेश द्वार के पास जो भगवान् पार्श्वनाथ का मन्दिर है, वह सभवत निम्बदेव द्वारा निर्मापित प्राचीन मन्दिर का ही भग्नावशेष है।

शुक्रवारी दरवाजे के पास के उसी उपरिवर्णित स्थान से एक और दूसरा शिलालेख उपलब्ध हुआ है, जिसमे उल्लेख है कि ई० सन् ११४३ मे हाविर हरिलगे मे माघनन्दि के शिष्य वासुदेव ने पार्श्वनाथ के मन्दिर की आधारशिला रखी और इस मन्दिर के लिए कराड के शिलाहार वश के कोल्हापुर नरेश गण्डरादित्य के पुत्र नें धनराशि प्रदान की।[2]

(४) शिलाहार वशीय कोल्हापुर नरेश गण्डरादित्य के पुत्र महाराजा विजयादित्य ने ई० सन् ११५० मे मडलूर स्थित पार्श्वनाथ मन्दिर के जीर्णोद्धार एव उसकी दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये भूखण्ड एव भवनो का दान

---

[1] एपिग्राफिका इण्डिका, XIX पृष्ठ 30 ff

[2] Ibid Vol III pp 207 ff
Jainism in South India & Some Jaina Epigraphs, by P B Desai page 120 के आधार पर —सम्पादक

दिया। इस प्रकार का उल्लेख कागल क्षेत्र के बामनी ग्राम से प्राप्त हुए शिलालेख मे है। इस शिलालेख के अनुसार विजयादित्य ने यह दान आचार्य माघनन्दि के एक विद्वान् शिष्य अर्हन्नन्दि सिद्धान्त देव को दिया।[1]

(५) कोल्हापुर नगर के शुक्रवार नगर द्वार के पास जैन मन्दिर के एक शिलालेख स० ३२० और कागल नगर के समीपस्थ बामणी गाँव के जैन मन्दिर के दरवाजे पर अवस्थित शिलालेख स० ३३४ मे शिलाहार वशीय राजाओ की वशावलि उल्लिखित है। उसका क्रम इस प्रकार है —(१) शीलहार महाक्षत्रिय जतिग, (२) गोकल, (३) मारसिंह, (४) गूवल-गगदेव, बल्लाल देव, ओज देव, (५) गण्डरादित्य, (६) विजयादित्य। इन लेखो मे शिलाहार राजाओ को जीमूतवाहन का वशज बताया गया है और क्षुल्लकपुर का उल्लेख है। ये दोनो शिलालेख क्रमश शक स १०६५ (ई० सन् ११४३) और १०७३ (ई० सन् ११५१) के है।[2]

(६) कोल्हापुर के, विभिन्न शिलालेखो मे कोल्हापुर, कोलगिर और क्षुल्लकपुर ये ४ नाम उट्टकित मिलते हैं। कोल्हापुर का क्षुल्लकपुर नाम इस नगर मे भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव की उस अपने आप मे अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना को महत्व देते हुए ही रखा गया प्रतीत होता है, जिसका कि उल्लेख मेकेन्जो के सग्रह मे उपलब्ध "जैनाचार्य परम्परा महिमा" नाम की हस्तलिखित पुस्तक मे विद्यमान है, जो अभी तक प्रकाश मे नही आई है। भट्टारक परम्परा के प्रादुर्भाव पर प्रकाश डालने वाली उस ऐतिहासिक घटना का विवरण ऊपर प्रस्तुत कर दिया गया है कि आचार्य माघनन्दि, कोल्हापुर नृपति गण्डरादित्य और उनके महासामन्त सेनापति निम्बदेव की अभिसन्धि से आचार्य माघनन्दि को ७७० (सात सौ सत्तर) कुलीन, कुशाग्रबुद्धि, स्वस्थ, सुन्दर एव सशक्त किशोर, शिष्यो के रूप मे मिले। सिद्धान्तो एव सभी विद्याओ का शिक्षण देने से पूर्व ही आचार्य माघनन्दि ने अपने उन ७७० शिष्यो को भावनिर्ग्रन्थ दीक्षा देते समय कहा था —

गण्डादित्य नराधीश ! शृणु सर्वेऽपि बालका ।
इमे दीक्षा हि गृह्णन्ति, महद्भि पुरुषैर्धृताम् ।।१७५।।
क्व महाव्रतमेतद्धि, सुविरक्ति प्रबोधितै ।
महाधीरैर्धृत क्वैते, बालका बल वर्जिता ।।१७६।।
तथापि दीयते देश-काल शक्त्यनुसारत ।
शक्तितस्तप इत्येतत्सर्वसिद्धान्त सम्मतम् ।।१७७।।
एतेषा भाव नैर्ग्रन्थ्यमेव शक्ति प्रचोदितम् ।
अति बाला इमे यस्मान्न द्रव्यगमुदीरितम् ।।१७८।।

[1] एपिग्राफिका इण्डिका, वोल्यूम III, पृष्ठ २११ एफ एफ
[2] जैन शिलालेख सग्रह भाग ३, लेख स० ३२० और ३२४, पृष्ठ ५३-५६ और ६५-६८

सौवर्ण राजत लौहमय वेत्रान्वित च वा ।
मत वलयपिच्छ हि, यथा योग्य न चान्यथा ।।१७६।।
यस्मादिमे विस्मरन्ति, लीलासकल्प चोदिता ।
वेत्र दण्डान्वित पिच्छ, तस्मात्तद्वलयान्वितम् ।।१८०।।

सोना, चादी और लोहे के वलय से वेष्टित वेत्रदण्ड युक्त पिच्छ हाथ मे लिये और वस्त्र धारण किये हुए भाव—निर्ग्रन्थ श्रमणधर्म मे दीक्षित एक साथ ७७० मुनियो के विशाल जनसमूह को कोल्हापुर मे देखकर हर्षविभोर उपस्थित जनसमूह ने अवश्यमेव कहा होगा—"अहो ! आज तो यह कोल्हापुर वस्तुत क्षुल्लकपुर बन गया है । शिलालेखो मे क्षुल्लकपुर के नाम से कोल्हापुर के उल्लेख से भी "जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक पुस्तक की प्रामाणिकता सिद्ध होती है ।

उपरिवर्णित शिलालेखो मे आचार्य कुलचन्द्र के शिष्य आचार्य माघनन्दि, महाराजा गण्डादित्य और उनके महासामन्त निम्बदेव से सम्बन्धित जो उल्लेख है, ठीक उसी प्रकार का वर्णन "जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक अप्रकाशित एव हस्तलिखित पुस्तक मे भी विद्यमान है । इन दोनो मे परस्पर कितना साम्य है, इसका विद्वान् तुलनात्मक दृष्टि से पर्यालोचन कर सके, इस अभिप्राय से "जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक पुस्तक मे उल्लिखित एतद्विषयक श्लोक यहा उद्धृत किये जा रहे हैं —

कुलभूषण योगीन्द्र सधर्मा सम्प्रकीर्तिता ।
एते हि तस्य पट्टेऽभूत कुलचन्द्रो मुनीश्वर ।।६६।।
तस्य पट्टे हि सजातो, माघनन्दीति विश्रुत ।
जैनसिद्धान्त चक्रेश, कोल्लापुर मुनीश्वर ।।१००।।
त्रिगुप्ति भूषित सोऽपि, सकलाचार सयुत ।
सर्वतन्त्र स्वतन्त्रात्मा, नैमित्तिकविधौ विधि ।।१०१।।
तस्मिन्कोल्लापुरे सर्व - भूमीश्वरनतक्रम ।
वीरचूडामणिर्भाति, गण्डादित्यो नरेश्वर ।।१०२।।
तस्य सेनापति पुण्य मूर्ति- कीर्ति विभासुर. ।
श्री निम्बदेव सामन्तो, वीर सीमन्तिनीपति ।।१०६।।

भट्टारक परम्परा के पीठाधीश आचार्यो के पास भव्य भवन, भृत्य, भूमि, चल-अचल सम्पत्ति, विपुल धनराशि, छत्र, चामर, सिंहासनादि राजचिह्नो एव शिविका आदि रखने का भी प्रावधान आचार्य माघनन्दि ने रखा । यथा —

तदर्थ राजचिह्नैश्च, भाव्य भृत्यैर्वनैरपि ।
आचार्यस्य हि तत्सर्व, त्वत्सहायेन नान्यथा ।।२०५।।

तदाखिलादि शास्त्रज्ञ, सिहनन्दि मुनीश्वरम् ।
समाहूयाथ पट्टाभिषेक कृत्वा तत परम् ।।२१०।।
प्रदत्वा शिबिकाच्छत्र, चामरादि परिच्छदान् ।
दत्वा रत्नमय पिच्छ-चामरे च तथाविधे ।।२११।।
कारयित्वा पुरे नाना वाद्यैस्तस्य प्रभावनाम् ।
सर्वाधिकार पदवी, दत्वैवाति प्रभावत ।।२१२।।
तथा देशान्तर स्थाना, नरेन्द्राणा च लेखनम् ।
भिन्नसघाधिनाथानामपि प्रेषितवान्मुदा ।।२१३।।

आचार्य माघनन्दि कितने प्रतापी, यशस्वी, लोकप्रिय एव कुशल प्रभावक आचार्य थे, इस सम्बन्ध मे यशस्वी अग्रगण्य पुरातत्वविद् विद्वान् स्व० श्री पी बी. देसाई और "जैनाचार्य परम्परा महिमा" के शताब्दियो पूर्व हुए रचनाकार भट्टारक चारुकीर्ति (३१वे) के उल्लेखो मे कितना साम्य है। यह द्रष्टव्य एव मननीय है। स्व० श्री देसाई ने अपनी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक कृति—'Jainism In South India & Some Jaina Epigraphs' के पृष्ठ १२१ पर लिखा है —

Maghanandi of the Roopa Narayan temple of Kolhapur was an eminent personality in the history of Jaina church of this area, & he contributed immensely to the prosperity of the faith by his erudition & efficient administration of the ecelesiastical organisations under him & through the able band of his scholarly desciples, during his long regime of nearly three generations

और चारुकीर्ति (३१वे) ने अपनी रचना "जैनाचार्य परम्परा महिमा" मे लिखा है —

श्री मूलसङ्घाचार्योऽयमिति सर्व प्रसिद्धिजम् ।
तदाभून्माघनन्द्यार्यस्यास्य नाम मनोहरम् ।।२१४।।
धर्माचाराय कृतवान्पञ्चविंशति पीठिका ।
तत्तद्योग्यान्स्थापयित्वा, शिष्यान्शास्त्रविशारदान् ।।२१५।।
राजत पीठमेतेषा पादुके दारुकल्पिते ।
छत्र चामर शून्य तद्राजचिह्नमितीडितम् ।।२१६।।
प्रोक्त्वा तद्दापयित्वाथ, तानाहूय मुनीश्वर ।
आचार्य सेवका यूयमिति तेषा समब्रवीत् ।।२१७।।

आचार्य माघनन्दि ने युवावय के अपने ७७० शिष्यो को सिद्धातो के साथ करण, छन्दशास्त्र, ज्योतिष आदि सभी प्रकार की विद्याओ का उच्च कोटि

का प्रशिक्षण दे कर भारत के विभिन्न भागो मे २५ भट्टारक पीठ (आचार्य पीठ) स्थापित कर जैन धर्म के प्रचार-प्रसार और भट्टारक परम्परा के विस्तार के लिये देश के कोने-कोने मे भेजा। माघनन्दि द्वारा बडे पैमाने पर किये गये उस देशव्यापी सामूहिक अभियान के परिणामस्वरूप मध्य युग मे भट्टारक परम्परा एक बहुजन सम्मत सबल सगठन बन गई और देश के अति विशाल भू-भाग पर इसका उल्लेखनीय वर्चस्व छा गया।

इतिहास के विद्वानो, शोधार्थियो एव इतिहास मे अभिरुचि रखने वालो के लिये यह तथ्य चिन्तनीय, मननीय, पर्यालोचनीय एव आलोचनात्मक तथा तुलनात्मक सूक्ष्म दृष्टि से विचारणीय है कि दिगम्बर परम्परा के परम्परागत श्रमणाचार ही नही अपितु श्रमण वेष का पूर्णत परित्याग कर देने के उपरान्त भी भट्टारक परम्परा के मूर्द्धन्य आचार्यो, मण्डलाचार्यो, पीठाधीशो एव साधुओ ने अपनी परम्परा के नाम—मूल-सघ, कौण्ड-कौण्डान्वय (कुन्द-कुन्दान्वय), देशीगण और पुस्तक गच्छ आदि वही रखे जो दिगम्बर परम्परा मे प्रचलित थे। ऐसा अनुमान किया जाता है कि भट्टारक परम्परा के कर्णधारो ने पूर्व से प्रचलित इन नामो को अपनाने मे यापनीय सघ के आचार्यो एव यापनीय सघ के भट्टारको का अनुसरण किया हो। यह स्मरणीय है कि मध्ययुग मे कौण्ड-कुण्ड स्थान यापनीयो, भट्टारको एव दिगम्बरो का गढ रहा है।

दिगम्बर परम्परा के भट्टारको और यापनीय सघ के अनेक गणो तथा गच्छो द्वारा दिगम्बर सघ के गणो, गच्छो आदि के नाम अपना लिये जाने का दुष्परिणाम यह हुआ कि दिगम्बर, यापनीय और भट्टारक—इन तीनो परम्पराओ के मध्य युगीन आचार्यों, आचार्य परम्पराओ को पृथक्-पृथक् रूप से पहिचाननाछाटना, इनकी परम्पराओ के आचार्यो की क्रमबद्ध नामावलि तैयार करना, आज के शोधार्थियो के लिए अति दुष्कर ही नहीं अपितु नितान्त असम्भव कार्य हो गया है।

उदाहरण के लिये आचार्य माघनन्दि का नाम अथवा इनके द्वारा अभिनव रूप मे सस्थापित भट्टारक परम्परा के किसी भी आचार्य का नाम ले लिया जाय, इन सब ने अपनी परम्परा की पहिचान—मूल सघ, कुन्दकुन्दान्वय, देशी गण और पुस्तक गच्छ के नाम से दी है। परन्तु क्या कोई भी इतिहास का विद्वान् इस परम्परा के प्राचीन आचार्यो और आचार्य माघनन्दि तथा उनके द्वारा स्थापित भट्टारक परम्परा के आचार्यो को एक ही परम्परा के आचार्य मानने को तैयार है? कभी नही। इस भट्टारक परम्परा के आचार्यो ने और स्वय आचार्य माघनन्दि ने मन्दिरो, वसदियो, मठो आदि का पौरोहित्य किया, साधुओ के आहार आदि की व्यवस्था के लिए, मन्दिरो, वसदियो के निर्माण, पुनर्निर्माण, जीर्णोद्धार अथवा पूजा-अर्चा आदि की व्यवस्था के लिये ग्राम-दान, भूमि-दान, द्रव्य-दान आदि ग्रहण किये। इन आचार्यो द्वारा ग्रहण किये गये ग्राम-दान, भूमि-दान आदि दान का

प्राचीन अभिलेखो से विस्तृत विवरण तैयार किया जाय तो हजारो पृष्ठ की पुस्तक भी अपर्याप्त रहेगी। इस प्रकार दान ग्रहण करने वाले मठो, मन्दिरो एव वसदियो मे नियत निवास करने और स्वर्ण सिहासन, छत्र-चामरादि का उपभोग करने वाले भट्टारक परम्परा के आचार्यो और गिरि-गुहाओ मे साधनापूर्ण जीवन जीने वाले निष्परिग्रही आचार्यो को एक ही परम्परा का मानना वस्तुत उन निष्परिग्रही आचार्यों के साथ अन्याय होगा।

आचार्य माघनन्दि का समय

उपलब्ध शिलालेखो मे सर्वप्रथम आचार्य माघनन्दि का एक प्रख्यात एव समर्थ मण्डलाचार्य के रूप मे सागली क्षेत्र के तेरदाल नगर के भगवान् नेमिनाथ के मन्दिर मे रट्टवशीय मुख्य माण्डलिक गोक द्वारा दिये गये भूमिदान के शिलालेख मे अकित है। इस मन्दिर के निर्माण के पश्चात् इसकी प्रतिष्ठा के अवसर पर रट्टवशीय राजा कार्त्तवीर्य द्वितीय और कोल्हापुर के लोक विश्रुत मण्डलाचार्य माघनन्दि को विशेष रूप से तेरदाल मे आमन्त्रित किया गया था और वे दोनो ही उक्त शिलालेख के उल्लेखानुसार उस प्रतिष्ठा-महोत्सव के समय तेरदाल मे उपस्थित हुए थे। इस शिलालेख पर वर्ष विक्रम स ११८० तदनुसार ई सन् ११२३-२४ अकित है। इससे सिद्ध होता है कि आचार्य माघनन्दि की कीर्ति ईसा की १२वी शताब्दी के प्रारम्भ से पूर्व ११वी शताब्दी के अन्तिम चरण मे ही फैल चुकी थी। उस समय वे कोल्हापुर की रूपनारायण वसदि के अधिष्ठाता और कोल्हापुर राज्य के साथ-साथ उसके आस-पास के विशाल क्षेत्र के मण्डलाचार्य अर्थात् सत्तासम्पन्न प्रभावशाली आचार्य थे। रूप नारायण वसदि का निर्माण कोल्हापुर के शिलाहार वशीय राजा गण्डरादित्य के महा सामन्त निम्बदेव ने तेरदाल मे गोक द्वारा निर्मापित नेमिनाथ के मन्दिर से पर्याप्त समय पूर्व करवाया था। रूपनारायण वसदि के निर्माण के पश्चात् निम्बदेव ने कोल्हापुर के कवडेगोल्ला बाजार मे भगवान् पार्श्वनाथ का मन्दिर भी बनवाया, इस प्रकार का उल्लेख कोल्हापुर के शुक्रवारी दरवाजे के पास मिले एक शिलालेख मे है। इस शिलालेख मे इस मन्दिर की सर्वां गीण सुव्यवस्था के लिये व्यापारियो के "अय्यावले ५००" नामक महा-सघ ने अपने व्यापार की दैनन्दिन आय के अश का दान वि स ११६२ मे सदा के लिये रूपनारायण वसदि के तत्कालीन अधिष्ठाता आचार्य श्रुतकीर्ति को दिया जोकि मण्डलाचार्य माघनन्दि के शिष्य थे।

उपर्युक्त दोनो शिलालेखो की तिथियो के सम्बन्ध मे विचार करने पर विक्रम स ११८० तक आचार्य माघनन्दि की विद्यमानता और वि स ११६२ से पूर्व उनका स्वर्गगमन अनुमानित किया जा सकता है।

कोल्हापुर के शिलाहारवशीय महाराजा गण्डरादित्य और उनके महा-सामन्त सेनापति निम्बदेव का समय भी कोल्हापुर एव उसके आस-पास के तेरिदाल

से उपलब्ध हुए शिलालेखो से ईसा की ग्यारहवी शताब्दी के अन्तिम चरण से ई सन् ११४३ के पहले तक का अनुमानित किया जा सकता है। क्योकि तेरिदाल के ई सन् ११२३–२४ के शिलालेख मे तेरिदाल मे नेमिनाथ-मन्दिर की प्रतिष्ठा के अवसर पर माघनन्दि के साथ इन दोनो का उल्लेख है। कोल्हापुर के शुक्रवारी मुख्यद्वार के समीप से उपलब्ध हुए ई सन् ११४३ के शिलालेख मे दान-दाता के रूप मे गण्डरादित्य के स्थान पर उसके पुत्र महाराजा विजयादित्य का उल्लेख है। इससे गण्डरादित्य और निम्बदेव का समय ई सन् ११२३ से ११४३ के बीच का तो पूर्णरूपेण सुनिश्चित ही है।

इन सब पुरातात्विक साक्ष्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर आनुमानिक रूपेण यह सिद्धप्राय हो जाता है कि आचार्य माघनन्दि, महाराजा गण्डरादित्य और महासामन्त निम्बदेव की अभिसन्धि के परिणामस्वरूप जिन ७७० किशोरो को सवस्त्र श्रमण के रूप मे दीक्षित कर उन्हे उच्चकोटि का शिक्षण दे, उनमे से योग्यतम मुनियो को अनुक्रमश मुख्य भट्टारक पीठ तथा विभिन्न प्रदेशो मे नव-सस्थापित पच्चीस (२५) भट्टारक पीठो के भट्टारक पद पर प्रतिष्ठित अधिष्ठित किये जाने की यह आत्यन्तिक ऐतिहासिक महत्त्व की घटना ईसा की ग्यारहवी शताब्दी के अन्तिम चरण से बारहवी शताब्दी के प्रथम दशक के बीच के किसी समय मे घटित हुई।

उच्च कोटि का प्रशिक्षण प्राप्त किये हुए उन ७७० विद्वान् एव पूर्ण यौवन सम्पन्न श्रमणो ने भारत के विभिन्न प्रदेशो मे शकराचार्य के पीठो के अनुरूप अभिनव रूपेण सस्थापित पच्चीस भट्टारक पीठो के माध्यम से जैनधर्म का अदम्य उत्साह और पूरे वेग के साथ प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ किया। ये भट्टारक पीठ देश के विभिन्न प्रदेशो के ऐसे मध्यवर्ती महत्वपूर्ण स्थानो मे सस्थापित किये गये, जहा से उस प्रदेश की चारो दिशाओ मे अवस्थित सभी ग्रामो एव नगरो मे धर्म प्रचार कार्य का सुचारु रूपेण सचालन-सरक्षण-सवर्द्धन एव निरीक्षण किया जा सकता था।

उन पच्चीसो भट्टारक पीठो के पीठाधीश भट्टारको एव उनके आज्ञानुवर्ती लगभग साढे सात सौ विद्वान् एव युवक श्रमणो ने उन-उन प्रदेशो के राजाओ, सामन्तो, राज्याधिकारियो एव श्रीमन्तो के सहयोग से अतुल उत्साह एव प्रगाढ निष्ठा के साथ जैन धर्म का एव अपनी सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ किया। उन भट्टारको और उनके अधीनस्थ विशाल श्रमण समूह के सामूहिक प्रयास एव राज्याश्रय के परिणामस्वरूप प्रजा के सभी वर्गो से प्राप्त सहयोग का द्रुतगति से ऐसा प्रभाव हुआ कि ईसा की १२ वी शताब्दी मे भट्टारक परम्परा एक देशव्यापी सुदृढ धर्मसगठन के रूप मे उभर आई। राजपरिवारो और सभी वर्गो के श्रीमन्तो

ने ग्रामदान, भूमिदान, सम्पत्तिदान आदि के रूप मे उन भट्टारको, भट्टारक पीठो, उनके द्वारा सचालित विद्यालयो, सस्थानो आदि को मुक्तहस्त से आर्थिक सहायता प्रदान की।

राजाओ के समान ही छत्र, चामर, सिहासन, रथ, शिविका, दास, दासी, भूमि-भवन आदि चल-अचल सम्पत्ति और विपुल वैभव के धनी भट्टारक अपने-अपने पीठ से विद्या के प्रसार के साथ धार्मिक शासक के रूप मे जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे। उन भट्टारक पीठो द्वारा सचालित विद्यापीठो मे शिक्षा प्राप्त स्नातको ने धर्म प्रचार के क्षेत्र के समान ही साहित्य निर्माण के क्षेत्र मे भी अनेक उल्लेखनीय कार्य किये। जैन धर्म के मूल स्वरूप मे श्रमणो के शास्त्रीय मूल विशुद्ध स्वरूप मे विकृतियो के सूत्रपात्र के लिए उत्तरदायी होते हुए भी भट्टारक परम्परा द्वारा किये गये इन सब कार्यो का लेखा-जोखा करने के पश्चात् यदि यह कहा जाय कि एक प्रकार के उस सक्रान्तिकाल मे भट्टारक परम्परा ने जैन धर्म को एक जीवित धर्म के रूप मे बनाये रखने मे बडा ही श्लाघनीय कार्य किया, तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

भट्टारक परम्परा—अनेक परम्पराओ का सगम

प्रारम्भिक मध्य युग मे भट्टारक परम्परा के श्वेताम्बर (सघ की भट्टारक परम्परा) और दिगम्बर (सघ की परम्परा) ये दो भेद तो स्पष्टत परिलक्षित होते है। श्वेताम्बर सघ की भट्टारक परम्परा कालान्तर मे श्रीपूज्य परम्परा के नाम से प्रसिद्ध हो गई। इस प्रकार केवल दिगम्बर सघ की भट्टारक परम्परा ही भट्टारक परम्परा के नाम से अभिहित किये जाने तथा उसका और कोई दूसरा भेद अवशिष्ट न रह जाने के कारण केवल एक वही भट्टारक परम्परा दिगम्बर परम्परा के अग के रूप मे समझी जाने लगी। प्रसिद्ध विद्वान् दलसुख भाई मालवणिया का मत है कि श्वेताम्बरो मे श्रीपूज्य की अपेक्षा यति परम्परा कहना अधिक उपयुक्त होगा।

यह सब कुछ होते हुए भी प्राचीन शिलालेखो से यह अनुमान किया जाता है कि आज भट्टारक परम्परा का रूप है, वह वस्तुत पूर्वकाल मे समय-समय पर चैत्यवासी, यापनीय, श्वेताम्बर और दिगम्बर इन चारो ही परम्पराओ की कतिपय विभिन्न मान्यताओ का न्यूनाधिक सगम रहा है।

चैत्यवासी परम्परा का प्रभाव—अपने जन्मकाल मे भट्टारक परम्परा ने चैत्यवासी परम्परा की प्राय सभी प्रमुख मान्यताओ को अपनाया। दिगम्बर परम्परा द्वारा साधु के लिए अनिवार्य माने गये नग्नता के सिद्धान्त का परित्याग कर चैत्यवासी परम्परा के समान अपनी परम्परा के साधुओ के लिए सवस्त्र रहना

भट्टारक परम्परा ने मान्य किया। उग्र विहार के स्थान पर मठो, वसदियो मे नियत निवास, अपरिग्रह के स्थान पर चैत्यो का स्वामित्व तथा सोना, चादी, धन, धान्य, ग्राम, भूमि, भवन आदि परिग्रह का विपुल सग्रह, अहिंसा मूलक निरारम्भ के स्थान पर हिंसामूलक आरम्भ-समारम्भ, चैत्यनिर्माण, आध्यात्मिक भावभक्ति के स्थान पर जन्म, जरा, मृत्यु, क्षुधा, तृषाविहीन, अजरामर, निरजन-निराकार, अक्षय, अव्याबाध-अनन्त शाश्वत सुख मे विराजमान सिद्ध-बुद्ध-वीतराग जिनेन्द्र प्रभु का पाषाण, काष्ठ धातुओ की मूर्तियो मे आह्वान, उनका पत्र-पुष्प-फल-तोय-धूप-दीप-नैवेद्य-घण्टा-घडियाल से पूजन-अर्चन, उन्हे मेवा मिष्टान्नादि का भोग-समर्पण, भिक्षाटन के स्थान पर जितक्षुत्पिपास अलख-अगोचर प्रभु को भोग लगाने के निमित्त मन्दिरो की भोजनशालाओ मे निर्मित सुपक्व-सुस्वादु षड्रस गरिष्ठ भोजन से अपने उदर का भरण-पोषण आदि ये सभी श्रमणाचार-विरोधी आचरण एव आडम्बरपूर्ण द्रव्यपूजा के विधि विधान भट्टारक परम्परा ने चैत्यवासियो से ग्रहण किये। अधिकाधिक लोगो को अपनी परम्परा की ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से मन्दिरो मे विविध वाद्यवृन्दो की सम्मोहक स्वर लहरियो की धुन-तान-ताल पर सगीत-सकीर्तन आदि के आयोजनो के पश्चात् बडी-बडी प्रभावनाओ का वितरण भी भट्टारक परम्परा को चैत्यवासी परम्परा की ही देन थी। अतिविशाल भव्य जिन मन्दिरो मे नितरा मनोरजक आयोजनो-प्रभावनाओ से आकर्षित जैन-अजैन-सभी वर्गों के नर-नारियो की, भक्तो की भाव विभोर भीड को देखकर हर्षातिरेक से गद्गद् हुए भट्टारको ने उन मन्दिरो का निर्माण कराने वाले अपने भक्तो को यह कहना भी चैत्यवासी आचार्यों से ही सीखा—"जिन शासन की जडे पाताल मे पहुँच रही है। न केवल जैन अपितु अजैनो के जनौघ भी भक्तिवशात् मन्त्रमुग्ध की भाति उद्वेलित सागर की उत्ताल तरगो के समान हमारे इन मन्दिरो, वसदियो, मठो की ओर जिनेन्द्र प्रभु की शरण मे खिचे चले आ रहे हैं। इनका निर्माण करवाकर आप लोगो ने अगाध पुण्य का सचय कर लिया है, अक्षय कीर्ति अर्जित कर ली है। अब स्वर्ग के कपाट तो आप लोगो के हितार्थ सदा-सर्वदा के लिए खुल ही गये है। यदि आप लोग इसी प्रकार अधिकाधिक मन्दिरो, वसदियो, तीर्थो का निर्माण करवाते रहे, इन्हे मुक्त हस्त हो दान देते रहे तो सुनिश्चित रूपेण मुक्ति के सन्निकट पहुँचते जाओगे और अन्ततोगत्वा एक न एक दिन बडे-बडे योगियो के लिए भी दुर्लभ मुक्ति-साम्राज्य के स्वामी सहज ही बन जाओगे।"

वीर नि० स० ६०९ मे और उसके आस-पास भगवान् महावीर के अति विशाल एव सुदृढ धर्म सघ के श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय (यापुलीय अथवा गोप्य)—इन तीन भिन्न-भिन्न इकाइयो मे विभक्त हो जाने और चैत्यवासी परम्परा के जन्म (वीर नि० स० ८४०) के पश्चात् भी लगभग डेढ सौ वर्ष (वीर नि० स० १०००) तक विभिन्न इकाइयो के रूप मे गठित हुए तीनो सघो के अधिकाश श्रमणो ने अपनी-अपनी परम्परा द्वारा यत्किंचित् वैभिन्य के साथ निर्धारित साधुवेप

और मूल श्रमणाचार मे कोई विशेष अथवा आमूलचूल परिवर्तन नही किया। अपने अपने परम्परागत वेश एव श्रमणाचार को साधारण हेर-फेर के साथ अपनाये रखा।

वीर नि० स० १००० के उत्तरवर्ती काल मे पूर्वज्ञान जैसे विशिष्ट ज्ञान से सम्पन्न आचार्यो के न रहने के कारण चैत्यवासियो का जनसाधारण पर प्रभाव द्रुत वेग से बढने लगा। चैत्य वासियो द्वारा अपनाये गये चित्ताकर्षक एव आडम्बरपूर्ण विधि-विधानो—तौर-तरीको के परिणामस्वरूप चैत्यवासी परम्परा लोकप्रिय होती हुई जन-जन के मानस पर छाने लगी। श्वेताम्बर दिगम्बर और यापनीय—इन तीनो सघो के बहुसख्यक अनुयायियो का झुकाव चैत्यवासी परम्परा की ओर उत्तरोत्तर बढते रहने के फलस्वरूप इन तीनो परम्पराओ के अनुयायियो की सख्या क्षीण होने के साथ-साथ नये दीक्षार्थियो के न मिलने के कारण साधुओ और साध्वियो की सख्या भी क्षीण होने लगी। इससे इन तीनो परम्पराओ के कर्णधार आचार्यों को अपनी-अपनी परम्परा के विलुप्त हो जाने की आशका हुई। गहन चिन्तन-मनन और विचार-विनिमय के पश्चात् उन्होने अपनी-अपनी परम्परा के अस्तित्व को बनाये रखने के लिये उस समय के लोक प्रवाह और बदले हुए समय की माग को दृष्टिगत रखते हुए चैत्यवासी परम्परा के अनेक कार्य-कलापो द्रव्यार्चना के विधि-विधानो, तौर-तरीको आदि को कतिपय नवीनताओ के साथ अपनाते हुए अपने वेश एव श्रमणाचार मे भी आमूल-चूल परिवर्तन कर दिया। इस प्रकार भट्टारक परम्परा पर चैत्यवासी परम्परा का पर्याप्त प्रभाव पडा।

भट्टारक परम्परा पर यापनीय परम्परा का प्रभाव

प्राचीन अभिलेखो के गम्भीरतापूर्वक पर्यालोचन से भट्टारक परम्परा पर यापनीय परम्परा के प्रभाव के अनेक ऐसे आश्चर्यकारी तथ्य प्रकाश मे आते है, जिनकी ओर पुरातत्वविदो का ध्यान अद्यावधि आकर्षित नही हो पाया है। उनमे से कतिपय तथ्यो पर यहा प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा—

(१) सबसे पहला आश्चर्यकारी तथ्य तो यह है कि भट्टारक परम्परा का प्रमुख पीठ अथवा सिंहासन पीठ श्रवण बेल्गोल भी सर्वप्रथम यापनीय परम्परा के आचार्य नेमिचन्द्र के द्वारा सस्थापित किया गया और ससार प्रसिद्ध बाहुबली गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति की प्रतिष्ठा भी इन्ही यापनीय परम्परा के आचार्य नेमिचन्द्र ने गग राजवश के महाप्रतापी राजा राचमल्ल चतुर्थ के सेनापति एव महामन्त्री चामुण्ड राय के द्वारा करवायी। आचार्य नेमिचन्द्र महामन्त्री चामुण्डराय के गुरु गोम्मटसार के रचयिता और यापनीय परम्परा के काणूरगण के मेषपाषाण गच्छ के आचार्य थे।

अजित तीर्थंकर पुराण तिलकम् के रचयिता महाकवि रन्न (ई० सन् ९९३) ने अपनी इस महान् कृति के बारहवे अध्याय के पद्य सख्या २१ मे आचार्य नेमिचन्द्र का परिचय देते हुए लिखा है —

"श्री नेमिचन्द्र मुनिगल क्राणूरगण तिलकरवर शिष्यर सद्विद्या निलयण तानोदिसे कुसलनादन अण्णिगदेवम् ।"

कन्नड भाषा के महाकवि रन्न के इस उल्लेख की पुष्टि कल्लूरगुड्ड—शिमोगा परगना के सिद्धेश्वर मन्दिर की पूर्व दिशा मे पडे एक शिलालेख से भी होती है कि मेष पाषाण गच्छ, क्राणूरगण का ही गच्छ था । इस शिला लेख मे क्राणूरगण के आचार्य सिंहनन्दि को जैन धर्म के कट्टर अनुयायी—प्रबल पोषक एव प्रारम्भ से अन्त तक जैन धर्म का पालन करने वाले, जैन धर्म को पूर्णरूपेण सरक्षण देने वाले गग राजवश का सस्थापक बताते हुए क्राणूरगण मेषपाषाण गच्छ के १३ आचार्यो की पट्टावली भी दी गई है ।[1] ईसा की चौथी शताब्दी से दशवी—ग्यारहवी शताब्दी तक सगठित, प्रभावशाली और राज्यमान्य रहे यापनीय सघ को कदम्ब, चालुक्य, गग, राष्ट्रकूट, रट्ट आदि राजाओ का राज्याश्रय प्राप्त रहा । क्राणूरगण यापनीय सघ का ही गण था । इसके मेष पाषाण गच्छ और तिन्त्रिणीक गच्छ—ये दो गच्छ बडे ही प्रसिद्ध गच्छ थे । यापनीय सघ के श्रीमूल मूलगण, पुन्नाग वृक्ष मूलगण, कलकोपलगण, कुमुदी (कौमुदी) गण, सूरस्थगण, मडुव अथवा कोटि मडुव गण, वण्डियूरगण आदि अनेक गण थे । यापनीय सघ के इन गणो और गच्छो के अनेक शिलालेख स्थान-स्थान पर उपलब्ध होते है । ऐसी स्थिति मे क्राणूर गण को यापनीय सघ का गण मानने मे किसी प्रकार की शका के लिए कोई अवकाश ही नही रह जाता ।[2]

दिगम्बर परम्परा के शोधप्रिय विद्वान् श्री गुलाबचन्द्र चौधरी ने क्राणूर गण को यापनीय सघ का गण सिद्ध करते हुए अपना अभिमत व्यक्त किया है — मेष पाषाण का अर्थ है मेषो के बैठने का पाषाण । तिन्त्रिणीक एक वृक्ष का नाम है । ये पाषाणान्त और वृक्षपरक नाम इस गण के यापनीय सघ के साथ पूर्व सम्बन्ध की स्मृति दिलाते है ।[3]

---

१ लेख सख्या २७७, जैन शिलालेख सग्रह, भाग २ पृष्ठ ४०८-४२६

२ लेख सख्या २१९, २६७, २७७, २९०, ३५३—क्राणूर गण का मेष पाषाण गच्छ, लेख सख्या २०९, २६३, ३१३, ३७७, ५००, ३८९, ४०८, ४३१, ४५९, ५८२
—जैन शिलालेख सग्रह

३ जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३ की प्रस्तावना पृष्ठ ५९

जैन इतिहास के विद्वान् एव कर्णाटक के यशस्वी पुरातत्वज्ञ स्व श्री पी वी देसाई ने भी पुन्नागवृक्ष मूल गण, कुमुदी गण, कण्डूर गण और कारेय गण— इन गणो को यापनीय सघ का ही माना है।[1]

इन ऐतिहासिक साक्ष्यो से यह सिद्ध हो जाता है कि काणूर गण (काणूर-गण कण्डूरगण) यापनीय सघ का गण था और चामुण्ड राय के गुरु आचार्य नेमिचन्द्र मूलत काणूर गण के आचार्य थे।

आचार्य नेमिचन्द्र गगवशी महाराजा राचमल्ल के महामन्त्री एव सेनापति चामुण्डराय के गुरु थे, दक्षिण मदुरा से चामुण्डराय अपने गुरु के साथ बाहुबली की प्राचीन मूर्ति के दर्शन के लिए प्रस्थित हुए। श्रवण बेलगुल मे उन्होने बाहुबली की मूर्ति के सम्बन्ध मे स्वप्न देखा। प्रात काल अपने गुरु आचार्य नेमिचन्द्र के साथ परामर्श कर उनके निर्देशानुसार सब कार्य सम्पन्न कर बाहुबली (गोम्मटेश्वर) को प्रकट करने मे समर्थ हुए। उसके पश्चात् आचार्य नेमिचन्द्र ने गोम्मटसार की रचना की और चामुण्डराय ने उन्हे श्रवण बेल्गोल के मुख्य पीठ का पीठाधीश बनाया— इन सब बातो का उल्लेख प्राचीन ताडपत्रीय ग्रन्थो मे भी उपलब्ध होता है। उसके कुछ अश इस प्रकार हैं—

तच्छिष्यो नेमिचन्द्रार्य, सिद्धान्ताम्भोधि पारग।
येन सम्बोधितः क्षिप्र, चामुण्ड पृथिवीपति ॥२२६॥
नेमिचन्द्र मुनीन्द्रेण, साकमुक्त्वा महीपति ॥२३७॥
तदनुज्ञा परिग्राह्य, दृष्ट्वाबाण प्रयोगत।
गोमटाधीश्वर प्राज्ञ, पूजयामास त जिनम् ॥२३८॥
चामुण्डाध्ययनार्थं हि, तत्र बेल्गुल पत्तने।
सार सगृह्य सिद्धातान्नेमिचन्द्रो महामुनि ॥२३९॥
सारत्रयमितिख्यात, कृतवान्शास्त्रमुत्तमम्।
तद्गोमट त्रिलोकोद्य, लब्धिसार समाह्वयम् ॥२४०॥
तद् बेल्गुल महासिंहासनासीनो मुनीश्वर।
नेमिचन्द्राख्यसिद्धान्त देवो गुणनिधिबभौ ॥२४४॥
षण्नवत्यन्वित भक्त्या, सहस्र लक्षपूर्वकम्।
राज्य चामुण्ड भूपालो, गोमटेशस्य सददौ ॥२४६॥
वेल्गुलाख्य महातीर्थं, वर्धयन्मुनिपु गव।
नेमिचन्द्राख्य सिद्धान्त देव सतोषत स्थित ॥२५३॥[2]

---

[1] Jainism in South India & Some Jaina Epigraphs, pages 99, 142, 143 etc

[2] जैनाचार्य परम्परा महिमा (अप्रकाशित) हस्तलिखित प्रति, "आचार्य श्री विनय चद्र ज्ञान भण्डार, शोध प्रतिष्ठान, लाल भवन, चौडा रास्ता, जयपुर ३

भट्टारक परम्परा के अभिनव रूप से उद्भव, उत्कर्ष आदि के सम्बन्ध मे पूर्ण प्रकाश डालने वाले" जैनाचार्य-परम्परा महिमा" नामक हाल ही मे प्रकाश मे आये ग्रन्थ के उपर्युद्धृत उद्धरणो से निर्विवाद रूपेण यह सिद्ध होता है कि गोमटेश्वर (बाहुबली) की आश्चर्यकारी मूर्ति के निर्मापयिता एव प्रतिष्ठापक चामुण्ड राय के गुरु आचार्य नेमिचन्द्र बेल्गुल भट्टारक पीठ के आचार्य रहे, उन्होने श्रवण बेल्गुल तीर्थ को लोक प्रसिद्ध बनाया। 'अजित तीर्थंकर पुराण तिलकम्' के रचनाकार कन्नड भाषा के महाकवि रन्न के उल्लेखानुसार आचार्य नेमिचन्द्र काणूर गण के आचार्य थे। काणूर गण वस्तुत यापनीय परम्परा का, यापनीय सघ का गण था, यह भी उपर्युल्लिखित प्राचीन ऐतिहासिक साक्ष्यो से सिद्ध हो चुका है।

इन सब प्रमाणो से यही निष्कर्ष निकलता है कि भट्टारक परम्परा एक समय यापनीय परम्परा के आचार्यो के सचालन मे भी रही और उसके परिणामस्वरूप यापनीय परम्परा का प्रभाव भी भट्टारक परम्परा पर रहा।

२ यहा ऐतिहासिक दृष्टि से आत्यन्तिक महत्व का तथ्य भी प्रत्येक मनीषी के लिए मननीय है कि चैत्यवासी परम्परा के जन्म काल से लेकर यापनीय परम्परा के उत्कर्ष काल तक विभिन्न जैन सघो द्वारा केवल तीर्थंकरो की मूर्तियो का ही निर्माण करवाया जाता रहा। तीर्थंकरो की मूर्तियो के साथ-साथ उनके यक्ष-यक्षणियो की मूर्तियो की स्थापना भी तीर्थंकरो के मन्दिरो मे की जाने लगी। तीर्थंकरो के अतिरिक्त अन्य मुक्तात्माओ अथवा देव-देवियो के पृथक् रूप से मन्दिर बनाने की अथवा उनकी मूर्तियो की प्रतिष्ठापना की परम्परा नही रही। यापनीय परम्परा के उत्कर्ष काल मे ज्वालामालिनि, पद्मावती आदि देवियो की पृथक् रूपेण मूर्तिया बनाई जाने लगी, उनके पृथक् (स्वतन्त्र) मन्दिरो का निर्माण भी प्रारम्भ हुआ। इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए विचार करने पर इस बात की पुष्टि होती है कि श्रवण बेल्गुल मे बाहुबली की मूर्ति की प्रतिष्ठापना मे यापनीय परम्परा का भी प्रभाव रहा है।

भट्टारक पद पर साध्वियां

तीर्थंकरो द्वारा तीर्थ-प्रवर्तन काल से लेकर जैन-धर्म सघ के श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो विभागो मे विभाजन के समय तक और इस प्रकार के विभाजन के

---

१ Since a temple had been dedicated in honour of this deity in this tract and provision made for her worship

The preceptors of the Yapaniya sect seem to have played a substantial role in the spread of the Jvalini Cult

We may recall here the teachers of the Yapaniya order in the Sedan and Navalgund areas, who were versed in the occult lore and votaries of the deity Jvalamalini

—Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs
—by P B Desai Page 173

पश्चात् भी दोनो धर्म सघो मे आज तक एक भी ऐसा उदाहरण उपलब्ध नही होता कि साध्वियो का कोई स्वतन्त्र सघ रहा हो। किसी साध्वी को कभी साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका रूपी सम्पूर्ण सघ के सर्वोच्च पद—आचार्य पद पर अथवा भट्टारक पद पर अधिष्ठित किया गया हो—इस प्रकार का भी कोई उदाहरण नही मिलता। न इस प्रकार का ही कोई उदाहरण मिलता है कि इन दोनो परम्पराओ मे किसी साध्वी अथवा साध्वी प्रमुखा ने किसी पुरुष को साधु धर्म मे दीक्षित कर अपना शिष्य बनाया हो। तीर्थ प्रवर्तन काल से लेकर आज तक यही परम्परा चली आ रही है कि चतुर्विध सघ साधु वर्ग मे से ही किसी योग्यतम साधु को आचार्य पद पर आसीन करता है और उस परम्परा के सभी साधु और सभी साध्विया सघ द्वारा नियुक्त किये गये आचार्य के अधीन रहती है। साधुवर्ग और साध्वी वर्ग के लिये उस आचार्य की आज्ञा सर्वोपरि और सदा शिरोधार्य रहती है। किन्तु सुन्दर पाण्ड्य से पूर्व मदुरा के पाण्ड्य शासन काल और उसके पूर्व तथा उत्तरवर्ती काल के शिलालेखो मे साध्वियो के स्वतन्त्र सघ, भट्टारक साध्वियो, पट्टिनी कुरत्तियार (पट्टधर अथवा आचार्य गुरुणी), तिरुमले कुरत्ती (गुरुणी) के उल्लेख देख कर और उनके साधु शिष्यो को देख कर आश्चर्य का पारावार नही रहता। उनमे से कुछ का उल्लेख यहा किया जा रहा है—

१ South Indian Inscriptions Vol v के लेख स ३७० मे तिरुमलै कुरत्ती (तिरुमलै के जैन सघ की गुरुणी) का और उसके एक एनाडि कुट्टनन नामक पुरुष साधु का उल्लेख है। इस लेख से यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि तिरुमलै की वह गुरुणी एक स्वतन्त्र चतुर्विध सघ की अधिष्ठाता आचार्या अथवा भट्टारिका थी और उनके श्रमण-श्रमणियो के सघ मे साधु (पुरुष साधु) भी शिष्य रूप मे उनके आज्ञानुवर्ती थे।

२ इसी जिल्द के लेख सख्या ३७२ मे तिरुपरुत्ती कुरत्ती का उल्लेख है जो पट्टिनी भट्टार (प्रमुख स्त्री भट्टारिका) की शिष्या थी।

३ इसी वोल्यूम के लेख स ३२२–३२३ मे सग कुरत्तिगल (सघ गुरुणी) का और उसकी साध्वी शिष्या शिरिविषैय कुरुत्तियार का उल्लेख है। वह एक स्वतन्त्र सघ की आचार्या, अधिष्ठात्री अथवा अध्यक्षा थी।

४ लेख स (इसी वोल्यूम के) ३५५–५६ मे नालकूर अमलनेमी (साध्वी) भट्टार की शिष्या नालकूर कुरत्ती (गुरुणी भट्टार) का और उसकी एक शिष्या नाट्टिकप्पटारार (नाट्यक भट्टार) का उल्लेख है।

५ लेख स ३२४–३२६ मे तिरुचारणत्तु कुरत्तिगल (श्री चारण पर्वत की पूज्य अध्यक्षा गुरुणी) का उल्लेख है।

६ लेख स ३७१ मे मम्मइ कुरत्ति और उसकी साध्वी शिष्या अरट्टनेमि कुरत्ती का उल्लेख है।

७. लेख स. ३६४ मे मिग्रलूर कुरत्ति का उल्लेख है, जो कि पैरूर कुरत्ति (पैरूर की गुरुणी आचार्या) अथवा भट्टारिका की शिष्या और करैकान नाडु स्थित पिडानकुडी निवासी मिगैकुमान की पुत्री थी।

८ तिरुचारणम् पर्वत की पट्टिनी भट्टार के शिष्य वर्गुण द्वारा एक शिलाचित्र उट्टंकित करने का तिरुचारणार पर्वत के गुहाचित्रो मे एक उल्लेख विद्यमान है।

इन सब शिलालेखो एव गुहाचित्रो आदि से एक अत्यन्त आश्चर्यकारी तथ्य प्रकाश मे आता है कि तामिलनाडु मे—सुदूर दक्षिण मे प्राचीन काल मे जैनो के सुदृढ केन्द्र थे और साध्वियो के ऐसे स्वतन्त्र सघ थे जिनकी भट्टारक, आचार्य अथवा सर्वसत्ता सम्पन्न सचालिकाए साध्विया ही थी।

ये साध्वियो के सघ श्वेताम्बर अथवा दिगम्बर परम्परा के हो यह तो कल्पना नही की जा सकती क्योकि इन दोनो सघो मे परम्परा से, प्रारम्भ काल से लेकर वर्तमान काल तक साध्वियो के समूहो को साधु आचार्यों के ही अधीन रखा जाता रहा है। इन दोनो सघो मे साध्वियो को आचार्य पद पर अधिष्ठित करने अथवा भट्टारिका पद प्रदान करने की किसी भी काल मे परम्परा नही रही। इन दोनो सघो के समग्र आगमिक एव आगमेतर साहित्य के आलोडन पर भी इस प्रकार का कही कोई उदाहरण उपलब्ध नही होता, जहा किसी साध्वी को ऐसे सर्वाधिकार सम्पन्न एव स्वतन्त्र आधिकारिक पदो पर आसीन किया गया हो।

इन सब तथ्यो पर तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर प्रत्येक मनीषी इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि उपरिवर्णित भट्टारिकाए, पट्टिनियाँ, कुरत्तियाँ, सघ सचालिकाए-साध्वी मुख्याए श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनो ही सघो से भिन्न किसी अन्य ही जैन सघ की श्रमणी प्रमुखाए होगी।

सम्पूर्ण जैन वाङमय के आलोडन एव निदिध्यासन से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्त्रियो को पुरुषो के समान इस प्रकार का साधिकार सम्मान देने वाला अन्य कोई धर्मसघ नही अपितु यापनीय सघ ही हो सकता है और वे भट्टारिकाए पट्टिनियाँ, जिनका कि उल्लेख उपर्युल्लिखित शिलालेखो मे उपलब्ध होता है, यापनीय सघ की अथवा यापनीय सघ के द्वारा प्रोत्साहित साध्वी समूह की ही हो सकती है। कर्णाटक का इतिहास साक्षी है कि यापनीय सघ ने स्त्रियो को सर्वाधिक प्रोत्साहन दिया। दक्षिणापथ मे दिगम्बर सघ का उसी प्रकार का वर्चस्व रहा जिस प्रकार का कि उत्तरापथ मे श्वेताम्बर सघ का रहा। दिगम्बर सघ ने

अपनी इस मान्यता का दक्षिण मे प्रचार किया—"स्त्रीणा न तद्भवे मोक्ष" अर्थात् स्त्रिया अपने उसी भव मे मोक्ष प्राप्त नही कर सकती। इसके विपरीत यापनीय सघ ने श्वेताम्बर सघ की "स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष" अर्थात् स्त्रियो की उसी भव मे जन्म-जरा-मृत्यु से सदा सर्वदा के लिए मुक्ति हो सकती है, इस मान्यता के प्रचार के साथ-साथ साध्वियो को साधुओ के समान अधिकार देने मे श्वेताम्बर सघ को भी पीछे छोड दिया। यापनीय सघ ने साध्वियो को भी साधुओ के ही समान स्वतन्त्र रूप से सघ सचालन का, नर-नारी वर्ग को समान रूप से अपना गृहस्थ शिष्य के रूप मे अनुयायी बनाने तथा स्त्री एव पुरुषो को समान रूप से श्रमणधर्म मे दीक्षित कर अपना शिष्य बनाने का अधिकार दिया। उन्होने जैन सघ के अनेक कठोर नियमो को सरल बना उदार नीति का अवलम्बन लेते हुए देश-काल और मानव-मनोवृत्ति की बदली हुई परिस्थितियो के अनुरूप नियम बनाये। उन्होने श्वेताम्बर सघ की मान्यता के अनुरूप "स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष" के समान ही "सग्रन्थाना मोक्ष" अर्थात् सवस्त्र रहते हुए भी साधक मोक्ष प्राप्त कर सकता है और "परशासने मोक्ष" अर्थात्—जैनेतर धर्म का अनुयायी भी मोक्ष का अधिकारी हो सकता है—इन मान्यताओ का प्रचार किया।

यापनीय आचार्यों ने इस गूढ रहस्य को भलीभाति पहचान लिया था कि यदि स्त्रियो की धार्मिक भावनाओ को, आध्यात्मिक भावनाओ को उभार कर उन्हे प्रोत्साहित किया जाय तो वे पुरुषो की अपेक्षा कई गुना अधिक धर्म प्रचार कर सकती है। यापनीय सघ के आचार्यों द्वारा स्त्रियो का इस प्रकार सम्मान बढाया गया, स्त्रियो की धार्मिक भावनाओ को उभार कर उन्हे प्रोत्साहित किया गया और इस सबके साथ ही साथ कट्टरता का परित्याग कर धर्म सम्बन्धी नियमो मे उदारता के साथ सरलीकरण किया गया। उन सब का परिणाम यह हुआ कि मध्य युग मे जैनधर्म कर्णाटक प्रदेश का बहुजन सम्मत प्रधान धर्म बन गया। जैन धर्म के दिगम्बर आदि सब सघो से यापनीय सघ अधिक शक्तिशाली, अधिक लोकप्रिय बन गया। कर्णाटक मे जैन धर्म की गहरी नीव लग गई। कर्णाटक प्रान्त मे चारो ओर घर-घर ग्राम-ग्राम और नगर-नगर मे जैन धर्म का वर्चस्व दृष्टि-गोचर होने लगा।

तामिलनाडु के मदुरा तिरुचारणम् मलै आदि क्षत्रो मे जो भट्टारिकाओ, पट्टिनियो, कुरत्तियो आदि के उल्लेख उपरिचर्चित शिलालेखो मे उपलब्ध होते है, उनसे यह प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे तामिलनाडू मे भी यापनीय सघ बडा लोकप्रिय सघ रहा था। यद्यपि इसका कोई ठोस प्रमाण तो उपलब्ध नही होता किन्तु तामिलनाडु मे साध्वियो के द्वारा स्वतन्त्र रूप से सचालित सघो के अस्तित्व के उल्लेखो से यही अनुमान लगाया जाता है कि कर्णाटक के समान तामिलनाडु मे भी यापनीयो का सुनिश्चित रूप से बडा प्रभाव रहा होगा। दिगम्बर सघ ने

साध्वियो को इस प्रकार के अधिकार दिये हो, इस बात की तो कल्पना तक भी नही की जा सकती।

इन सब तथ्यो से यही प्रकट होता है कि भट्टारक परम्परा पर यापनीय सघ का न केवल प्रभाव ही पडा किन्तु इस सघ ने साध्वियो को साधुओ के समान ही पूर्ण अधिकारो के साथ भट्टारक पद पर आसीन कर भट्टारक परम्परा को किसी समय एक नया मोड भी दिया।

३ भट्टारक परम्परा पर यापनीय सघ के प्रभाव का एक और प्रमाण उपलब्ध होता है। वह यह है कि तिरुचारणत्थुमलै मे प्राचीन काल मे जैन सघ का विश्वविद्यालय था, उस पर प्रकाश डालने वाले कलुगुमलै से जो बडी सख्या मे शिलालेख मिले है, उनमे एक साध्वी भट्टारिका का उल्लेख है कि उस भट्टारिका ने उस विश्वविद्यालय मे जैन सिद्धान्तो का उच्चकोटि का प्रशिक्षण दे विद्वान् स्नातको को देश के विभिन्न प्रान्तो मे धर्म के प्रचार के लिये भेजा।[1]

इस सन्दर्भ मे ढेरो (अगणित) शिलालेख शोधार्थियो के लिए गहन शोध के विषय हैं, जिनमे इस जैन विश्वविद्यालय से उच्च सैद्धातिक शिक्षण प्राप्त स्नातक-स्नातिकाओ के नाम और सम्भवत उनकी शैक्षणिक योग्यता अकित की गई है। इन शिलालेखो मे कतिपय कुरत्तिगल (गुरुणियो अर्थात् साध्वियो) के नाम भी अकित प्रतीत होते हैं। पुरातत्वविदो एव शोधप्रिय विद्वानो का ध्यान आकर्षित करने के उद्देश्य से South Indian Inscriptions (Texts), Volume V मे बहुत बडी सख्या मे सग्रहीत शिलालेखो मे से तीन अभिलेख यहा प्रस्तुत किये जा रहे है—

न ३२१

(A R No 32 of 1894)

In the same place

1 श्री मिलझलुरुक्कु–
2 रत्तियार माना–
3 क्किआर तिरुचा–
4 रणत्थ [पडेइ] गल सै–
5 वित्त तिरुमेनी–

---

[1] There is epigraphic evidence to show that there was a reputed Jaina University at Tiruchcharanathumalai From the inscriptions found at Kalugumalai we find that a number of disciples trained by the priestess of this University went in different directions to preach Jain Dharma

—The Forgotten History of the Land's End

—by S Padmanabhan

न ३२४
(A R No 35 of 1894)
In the same place

1 श्री कोत्तूर नाथु—
2 सिरु श्रोल्लघली—
3 सिद्दाइश्रग कोरिश्राइ
4 सार्थि तिरुसार न–
5 थुक कुरत्तिगल से–
6 वित्त पडिमम्–

न ३२६
(A R No. 37 of 1894)
In the same place

1 श्री कोत्तूर नात्तु पे—
2 रोंम्पेरूं र कु–
3 श्थग कामने साथि–
4 तिरुचर नत्थु–
5 क कुरत्तिगल चेई–
6 त्त पडिमम्–

उपर्युद्धृत श्रभिलेखो मे कुरत्तिगल शब्द उल्लिखित है, उसका सस्कृत प्रारूप है, "आदरणीया गुरुणी" श्रौर "चेइत्त पडिम" अथवा "सेवित पडिम" शब्द जैन श्रागमो मे उल्लिखित "प्रतिमाधारी–अर्थात् साधक की विशेष योग्यता 'प्रतिमा' से सम्पन्न ।"

दक्षिण भारत के श्रभिलेख (मूल) की जिल्द सख्या ५ मे ऊपरिलिखित श्रभिलेखो के समान बहुत बडी सख्या मे अभिलेख है । उन सब श्रभिलेखो का सूक्ष्म शोधपरक दृष्टि से श्रध्ययन परिशीलन परमावश्यक है। इन सब श्रभिलेखो के समीचीन श्रध्ययन निदिध्यासन से कुरत्तिगल तथा चेइत्त (सेवित) पडिम श्रौर साध्वीसघ के सम्बन्ध मे किसी महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य के प्रकाश मे श्राने की सभावना है ।

इस श्रध्याय मे विस्तार के साथ जिन तथ्यो को प्रस्तुत किया गया है, उन से यह तो सुनिश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि भट्टारक परम्परा पर, श्राज से पाच-छ शताब्दी पूर्व ही विलुप्त हुई चैत्यवासी परम्परा का श्रौर प्रमुख रूप से यापनीय परम्परा का प्रभाव पडा । यापनीयो पर श्वेताम्बर परम्परा का पर्याप्त प्रभाव रहा है, यह एक सर्वसम्मत तथ्य है । इस दृष्टि से परोक्ष रूपेण श्वेताम्बर परम्परा का प्रभाव भी भट्टारक परम्परा पर रहा ।

उपरिवर्णित बातो पर विचार करने से एक और महत्वपूर्ण तथ्य जो प्रकाश मे आता है, वह यह है कि मध्य युग मे श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय इन तीनो ही सघो की भट्टारक परम्पराए पृथक्-पृथक् रूप से अस्तित्व मे रही। उनमे से यापनीय सघ की भट्टारक परम्परा उस सघ के विलुप्त होने के साथ ही समाप्त हो गई। श्वेताम्बर सघ की भट्टारक परम्परा अपने उद्भव काल से अल्प समय पश्चात् ही श्री पूज्य परम्परा और कालान्तर मे यतिपरम्परा के रूप मे परिवर्तित हो गई, जो वर्तमान काल मे भी विद्यमान है। मध्य युग मे उत्तर भारत मे यति परम्परा का सर्वाधिक वर्चस्व एव प्राबल्य रहा। इस प्रकार भट्टारक परम्परा के नाम से जो परम्परा आज विद्यमान है, वह केवल दिगम्बर आम्नाय की भट्टारक परम्परा ही है।

इस प्रकार भट्टारक परम्परा का स्वरूप वीर निर्वाण की सातवी-आठवी शताब्दी से १६वी शताब्दी तक समय-समय पर मोटे रूप मे तीन प्रकार का रहा। वीर निर्वाण की १०वी शताब्दी से इस परम्परा का वर्चस्व उत्तरोत्तर बढता ही रहा और वीर निर्वाण की सोलहवी शताब्दी के पश्चात् तो मुख्यत दक्षिण मे और सामान्य रूप से भारत के अनेक प्रान्तो मे इस परम्परा का पर्याप्त वर्चस्व शताब्दियो तक छाया सा रहा।

निष्कर्ष —प्राचीन शिलालेखो, ग्रन्थ-प्रशस्तियो, चैत्यवासी, यापनीय, भट्टारक आदि परम्पराओ द्वारा समय-समय पर किये गये कार्यो के उल्लेखो एव अभिनव शोध के परिणामस्वरूप प्राप्त मध्ययुगीन जैन वाग्मय और मुख्यत 'जैनाचार्य परम्परा महिमा' नामक अप्रकाशित पुस्तक के आधार पर इस प्रकरण मे विस्तार पूर्वक जो प्रकाश डाला गया है, उसके निष्कर्ष के रूप मे निम्नलिखित नवीन ऐतिहासिक तथ्यो को प्रतिष्ठापित किया जा सकता है —

१ श्वेताम्बर, दिगम्बर और यापनीय इन पृथक्-पृथक् तीन सघो के रूप मे भगवान् महावीर के धर्मसघ के विभक्त होने के समय ही जैन धर्म सघ मे भट्टारक परम्परा का एक प्रकार से बीजारोपण हो चुका था।

२ द्वितीय भद्रबाहु – नैमित्तिक (वीर नि० स० १०३२) के प्रशिष्य माघनन्दि ने भट्टारक परम्परा को एक शक्तिशाली सघ का रूप दिया। आचार्य माघनन्दि और उनके शिष्य आचार्य जिनचन्द्र के आचार्य काल मे भट्टारक-परम्परा का प्रभाव उत्तरोत्तर बढता ही गया।

३ आचार्य जिनचन्द्र के शिष्य आचार्य कुन्दकुन्द ने भट्टारक परम्परा द्वारा प्रतिष्ठापित मान्यताओ और शिथिलाचार का डटकर विरोध किया। वे भट्टारक परम्परा मे दीक्षित हुए थे किन्तु उन्होने अपने गुरु जिनचन्द्र और भट्टारक परम्परा का परित्याग कर अभिनव धर्म क्रान्ति की। उन्होने अध्यात्मपरक उपासना

यापनीय परम्परा

देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के पश्चात् भगवान् महावीर के मूल धर्म सघ मे से पृथक् इकाई के रूप मे अथवा पृथक् सघ के रूप मे उदित हो सम्पूर्ण धर्म सघ पर कुछ समय के लिए पूर्ण वर्चस्व के साथ छा जाने वाली दक्षिणापथ की परम्पराओ मे यापनीय परम्परा का अथवा यापनीय सघ का प्रमुख स्थान रहा है। प्राचीन शिलालेखो एव जैन वाग्मय मे इस परम्परा के यापनीय सघ यापुलीय सघ, यावनिक सघ और गोप्यसघ—ये नाम भी उपलब्ध होते है। आज यह यापनीय परम्परा भारत के किसी भी भाग मे विद्यमान नही है किन्तु इस परम्परा के विद्वान् आचार्यों व सन्तो द्वारा लिखित कतिपय ग्रन्थरत्न आज भी उपलब्ध है। इस परम्परा के उन ग्रन्थो मे प्रमुख है यापनीय आचार्य शिवार्य द्वारा प्रणीत २१७० गाथाओ का विशाल ग्रन्थ "आराधना" और यापनीय आचार्य अपराजित सूरि द्वारा रचित उसकी विजयोदया टीका। अपराजित सूरि के नाम से विख्यात यापनीय आचार्य विजयाचार्य द्वारा निर्मित दशवैकालिक सूत्र की 'विजयोदया टीका' के उद्धरण भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते है। इन तीन ग्रन्थो के अतिरिक्त यापनीय आचार्य शाकटायन अपर नाम पाल्यकीर्ति द्वारा प्रणीत 'स्त्रीमुक्ति प्रकरण', 'केवलिभुक्ति प्रकरण' और 'शब्दानुशासन अमोघवृत्ति' ये तीन ग्रन्थ भी उपलब्ध होते हैं।

इन्द्रश्चन्द्र कासकृत्स्न्यापिसली शाकटायन ।
पाणिन्यमर जैनेन्द्रा, इत्यष्टौ हि शाब्दिका ।।

सस्कृत साहित्य के इस लोकप्रसिद्ध श्लोक मे शाकटायन को महान् शाब्दिक (वैयाकरणी) माना गया है।

मूलाचार मे दृब्ध तथ्यो के सूक्ष्म विवेचन के पश्चात् कतिपय विद्वानो ने यह अभिमत अभिव्यक्त किया है कि इसके रचनाकार आचार्य वट्टकेर (ईसा की दूसरी शताब्दी) भी सम्भवत यापनीय परम्परा के ही आचार्य थे।[1]

यापनीय परम्परा और उसके अनेक गच्छो से सम्बन्धित कुल मिलाकर ३१ शिलालेख केवल एक ही ग्रन्थमाला, जैन शिलालेख सग्रह—प्रथम, द्वितीय और

[1] दी जैन पाथ आफ प्यूरिफिकेशन—श्री पद्मनाभ एस जैनी, पृष्ठ ७६

तृतीय भाग मे सकलित किये गये है । दक्षिण के यशस्वी इतिहासकार श्री पी बी देसाई ने अपने "जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स" नामक ग्रन्थ मे पूरी खोज के पश्चात् जिन गणो अथवा गच्छो को यापनीय परम्परा का सिद्ध किया है और शिलालेखो से जो गण अथवा गच्छ यापनीय सघ के गण एव गच्छ सिद्ध होते हैं, उनके नाम इस प्रकार है —

(१) **पुन्नाग वृक्ष मूल गण**—अनेक स्थलो पर इसका उल्लेख वृक्ष मूल गण के नाम से भी उपलब्ध होता है ।

(२) **बलात्कार गण**—बलहारि अथवा बलगार गण । बलगार, ऐसा प्रतीत होता है, दक्षिणापथ का कोई स्थान विशेष था । जिस प्रकार कोण्डकुन्द नामक स्थान से निकले यापनीय आचार्यो और दिगम्बर सघ के आचार्यो की परम्पराओ का नाम कौण्डकुन्दान्वय पड गया, उसी प्रकार बलगार नामक स्थान से निकले आचार्यो के गण का नाम बलहार, बलगारी और कालान्तर मे बलात्कार गण पड गया ।

(३) **कुमिदी गण**—गरग-मुगुद से प्राप्त शिलालेखो मे यापनीय सघ के इस गण का नाम कुमुदि गण उल्लिखित है ।

(४) **कण्डूर गण अथवा क्राणूर गण**—अदरगुची, होसूर, हुबली, हूली, हुल्लूर और सौदत्ती से उपलब्ध शिलालेखो मे कण्डूरगण का नाम प्राप्त होता है ।

(५) **मडुवगण**—सेडम से प्राप्त शिलालेख मे मडुवगण का नाम प्राप्त होता है ।

(६) **बण्डियूर गण**—इस गण का नाम आडकी, सूडी, तेगली और मनौली से प्राप्त शिलालेखो मे उपलब्ध होता है ।

(७) **कारेय गण और मेलाप अन्वय**—यह नाम बडली, हन्निकेरि, कलम्वाइ और सौदत्ती से प्राप्त शिलालेखो मे उपलब्ध होता है ।

(८) **कोटि मडुव गण**—यह मडुव गण का ही अपर नाम प्रतीत होता है । आन्ध्र प्रदेश से प्राप्त अम्मराज (द्वितीय) द्वारा दिये गये मलियपुण्डी दान के शिलालेख मे मडुव अथवा कोटि मडुव गण, यापनीय सघ और नन्दिगच्छ का उल्लेख है । आन्ध्र प्रदेश मे यापनीय सघ का एक मात्र यही शिलालेख अब तक उपलब्ध हो सका है ।

(९) **मेष पाषाण गच्छ**—इस गच्छ के नाम का उल्लेख तट्टे केरे से प्राप्त लेख सख्या २१६, निदिगि से प्राप्त लेख सख्या २६७, कल्लूरगुड्ड से प्राप्त लेख सख्या २७७, पुरले मे प्राप्त लेख सख्या २६६ और दीडगुरु से प्राप्त लेख सख्या

यापनीय परम्परा

देवर्द्धि गरिण क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के पश्चात् भगवान् महावीर के मूल धर्म सघ मे से पृथक् इकाई के रूप मे अथवा पृथक् सघ के रूप मे उदित हो सम्पूर्ण धर्म सघ पर कुछ समय के लिए पूर्ण वर्चस्व के साथ छा जाने वाली दक्षिणापथ की परम्पराओ मे यापनीय परम्परा का अथवा यापनीय सघ का प्रमुख स्थान रहा है। प्राचीन शिलालेखो एव जैन वाग्मय मे इस परम्परा के यापनीय सघ यापुलीय सघ, यावनिक सघ और गोप्यसघ—ये नाम भी उपलब्ध होते है। आज यह यापनीय परम्परा भारत के किसी भी भाग मे विद्यमान नही है किन्तु इस परम्परा के विद्वान् आचार्यो व सन्तो द्वारा लिखित कतिपय ग्रन्थरत्न आज भी उपलब्ध हैं। इस परम्परा के उन ग्रन्थो मे प्रमुख है यापनीय आचार्य शिवार्य द्वारा प्रणीत २१७० गाथाओ का विशाल ग्रन्थ "आराधना" और यापनीय आचार्य अपराजित सूरि द्वारा रचित उसकी विजयोदया टीका। अपराजित सूरि के नाम से विख्यात यापनीय आचार्य विजयाचार्य द्वारा निर्मित दशवैकालिक सूत्र की 'विजयोदया टीका' के उद्धरण भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते है। इन तीन ग्रन्थो के अतिरिक्त यापनीय आचार्य शाकटायन अपर नाम पाल्यकीर्ति द्वारा प्रणीत 'स्त्रीमुक्ति प्रकरण', 'केवलिभुक्ति प्रकरण' और 'शब्दानुशासन अमोघवृत्ति' ये तीन ग्रन्थ भी उपलब्ध होते है।

इन्द्रश्चन्द्र कासकृत्स्न्यापिसली शाकटायन।
पारिणन्यमर जैनेन्द्रा, इत्यष्टौ हि शाब्दिका॥

सस्कृत साहित्य के इस लोकप्रसिद्ध श्लोक मे शाकटायन को महान् शाब्दिक (वैयाकरणी) माना गया है।

मूलाचार मे दृब्ध तथ्यो के सूक्ष्म विवेचन के पश्चात् कतिपय विद्वानो ने यह अभिमत अभिव्यक्त किया है कि इसके रचनाकार आचार्य वट्टकेर (ईसा की दूसरी शताब्दी) भी सम्भवत यापनीय परम्परा के ही आचार्य थे।[1]

यापनीय परम्परा और उसके अनेक गच्छो से सम्बन्धित कुल मिलाकर ३१ शिलालेख केवल एक ही ग्रन्थमाला, जैन शिलालेख सग्रह–प्रथम, द्वितीय और

[1] दी जैन पाथ आफ प्यूरिफिकेशन—श्री पद्मनाभ एस जैनी, पृष्ठ ७९

काल के उपरिर्वाणित अभिलेखो से यही प्रकट होता है कि यापनीय सघ ईसा की चौथी शताब्दी से दशवी-ग्यारवी शताब्दी तक बडा ही राजमान्य सघ रहा है। कदम्ब, चालुक्य, गग, राष्ट्रकूट, रट्ट आदि राजवशो के राजाओ ने अपने-अपने शासनकाल मे इस सघ के विभिन्न गणो, गच्छो के आचार्यो तथा साधुओ को ग्रामदान, भूमिदान आदि के रूप मे सहयोग देकर जैन धर्मसघ को सरक्षण प्रदान किया। लगभग छ -सात शताब्दियो तक राजमान्य रहने के कारण यापनीय सघ की गणना मध्ययुग मे कर्णाटक के प्रमुख एव शक्तिशाली धर्म सघ के रूप मे की जाती रही।

यापनीय सघ के गणो अथवा गच्छो से सम्बन्ध रखने वाले जिन ३१ अभिलेखो का उल्लेख ऊपर किया गया है, वे सभी अभिलेख सस्कृत तथा कन्नड भाषा मे हैं, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यापनीय सघ का सर्वाधिक वर्चस्व कर्णाटक प्रदेश और उसके आस-पास के क्षेत्रो मे ही रहा।

कागवाड जैन मन्दिर के भौहरे मे विद्यमान शक सवत् १३१६ तदनुसार वि. स १४५१—वीर नि स १९२१ के शिलालेख मे यापनीय आचार्य नेमिचन्द्र को 'तुलुवरराज्यस्थापनाचार्य' की उपाधि से विभूषित किया गया है, इससे यह प्रमाणित होता है कि विक्रम की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध से लेकर १५वी शताब्दी तक अर्थात् लगभग ग्यारह सौ-बारह सौ वर्षो तक यापनीय सघ राजमान्य सघ के रूप मे प्रतिष्ठित रहा।

यापनीय सघ का प्रादुर्भाव कब हुआ, इसका सस्थापक प्रथम आचार्य कौन था, इसका किन परिस्थितियो मे पृथक् इकाई के रूप मे गठन किया गया और किस स्थान पर इसका गठन किया गया, इन सब प्रश्नो का समुचित उत्तर पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे अद्यावधि नही दिया जा सका है। इस स्थिति मे भी इस सघ के सम्बन्ध मे आज तक जितने अभिलेख एव उल्लेख एकत्रित किये जा सके है, उनके आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि श्वेताम्बर-दिगम्बर विभेद के उत्पन्न होने के समय अर्थात् वीर नि स ६०९ के लगभग अथवा उसके एक दो दशक पश्चात् की अवधि के अन्दर-अन्दर ही इस सघ का पृथक् इकाई के रूप मे गठन किया गया हो। प्राप्त उल्लेखो पर गहराई से विचार करने पर यह भी कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर के धर्मसघ के परम्परागत पुरातन वर्चस्व को यथावत् वनाये रखने तथा इसकी शक्ति को किंचित्मात्र भी विघटित न होने देने के सदुद्देश्य से श्वेताम्वर और दिगम्वर इन दोनो सघो के वीच की कडी के रूप मे इस यापनीय सघ का गठन किया गया।

वौद्ध, शैव, वैष्णव, आजीवक आदि अन्यान्य धर्मसघो द्वारा समय-समय पर करवाये जाने वाले सामूहिक धर्मपरिवर्तनो के परिणामस्वरूप होने वाली हानि से

३५३ मे उपलब्ध होता है । मेष पाषाण वस्तुत दक्षिणापथ के किसी स्थान विशेष का नाम था, उस स्थान से सम्बन्धित साधुसमूह के सगठन का नाम मेषपाषाण गच्छ पडा ।

(१०) **तिन्त्रिणीक गच्छ**—इस गच्छ का नामोल्लेख कुप्पुटूरू के लेख स० २०९, तिप्पूर के लेख स० २६३, बुद्रि के लेख स० ३१३, तेवरतेप्प के लेख स० ३७७, एलेवाल के लेख सख्या ३८९, चिक्क मागडि के लेख सख्या ४०८, आद्रि के लेख सख्या ४३१, बन्दलिके के लेख स ४५९ और बस्तिपुर के लेख सख्या ५८२ मे है ।[1]

(११) **कनकोत्पल सम्भूत वृक्षमूल गण**—वृक्ष मूल से सम्बन्धित जो गण हैं वे यापनीय परम्परा के नन्दिसघ से सम्बन्धित है ।

(१२) **श्रीमूल मूल गण**—जैन शिलालेख सग्रह, भाग २ के लेख सख्या १२१ मे श्रीमूल मूल गण द्वारा अभिनन्दित नन्दिसघ के एरेगित्तूर नामक गण के पुलिकल गच्छ के आम्नायो की छोटी सी नामावलि दी है ।

(१३) **सूरस्थ गण**—इस गण का उल्लेख लेख स० १८५, २६६, ३१८ और ४९० मे है ।

वृक्ष मूल से सम्बन्धित गण वस्तुत यापनीय सघ के गण है, यह जो कतिपय विद्वानो का अभिमत है, इसकी पुष्टि अनेक अभिलेखो से होती है । उदाहरण के रूप मे लेख सख्या १२४ मे स्पष्ट उल्लेख है —

" श्री यापनीयनन्दिसघ पुनागवृक्षमूलगणे श्री कीर्त्याचार्यान्वये बहुष्वाचार्येष्वतिक्रान्तेषु व्रतसमितिगुप्तिगुप्तमुनिवृन्दवन्दितचरण कुविलाचार्य आसीत् · ।"[2]

इस उल्लेख से निर्विवादरूपेण यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि नन्दि सघ यापनीय परम्परा का एक प्रमुख सघ था और पुन्नागवृक्षमूलगण उस यापनीय परम्परा के नन्दिसघ का एक प्रमुख गण ।

कदम्बवशी राजा मृगेश वर्मा (ई० सन् ४७०-४९०) और रविकीर्ति ने पलाशिका के यापनीय साधु-साध्वियो के लिए चातुर्मासावधि मे भोजन की व्यवस्था तथा प्रतिवर्ष जिनेन्द्र देव की महिमा पूजा तथा अष्टाह्निक महोत्सव मनाने के लिये पुरुखेटकग्राम आदि का दान दिया । इस प्राचीन अभिलेख और इसके उत्तरवर्ती

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह भाग २ और ३

[2] जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, कडब से प्राप्त सस्कृत तथा कन्नड भाषा मे राष्ट्रकूट राजा प्रभूतवर्ष का शक स० ७३५ का लेख सख्या १२४, पृ० १३१

काल के उपरिवर्णित अभिलेखो से यही प्रकट होता है कि यापनीय सघ ईसा की चौथी शताब्दी से दशवी-ग्यारवी शताब्दी तक बडा ही राजमान्य सघ रहा है। कदम्ब, चालुक्य, गग, राष्ट्रकूट, रट्ट आदि राजवशो के राजाओ ने अपने-अपने शासनकाल मे इस सघ के विभिन्न गणो, गच्छो के आचार्यो तथा साधुओ को ग्रामदान, भूमिदान आदि के रूप मे सहयोग देकर जैन धर्मसघ को सरक्षण प्रदान किया। लगभग छ -सात शताब्दियो तक राजमान्य रहने के कारण यापनीय सघ की गणना मध्ययुग मे कर्णाटक के प्रमुख एव शक्तिशाली धर्म सघ के रूप मे की जाती रही।

यापनीय सघ के गणो अथवा गच्छो से सम्बन्ध रखने वाले जिन ३१ अभिलेखो का उल्लेख ऊपर किया गया है, वे सभी अभिलेख सस्कृत तथा कन्नड भाषा मे हैं, इससे ऐसा प्रतीत होता है कि यापनीय सघ का सर्वाधिक वर्चस्व कर्णाटक प्रदेश और उसके आस-पास के क्षेत्रो मे ही रहा।

कागवाड जैन मन्दिर के भौहरे मे विद्यमान शक सवत् १३१६ तदनुसार वि. स १४५१—वीर नि स १९२१ के शिलालेख मे यापनीय आचार्य नेमिचन्द्र को 'तुलुवरराज्यस्थापनाचार्य' की उपाधि से विभूषित किया गया है, इससे यह प्रमाणित होता है कि विक्रम की तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध से लेकर १५वी शताब्दी तक अर्थात् लगभग ग्यारह सौ-बारह सौ वर्षो तक यापनीय सघ राजमान्य सघ के रूप मे प्रतिष्ठित रहा।

यापनीय सघ का प्रादुर्भाव कब हुआ, इसका सस्थापक प्रथम आचार्य कौन था, इसका किन परिस्थितियो मे पृथक् इकाई के रूप मे गठन किया गया और किस स्थान पर इसका गठन किया गया, इन सब प्रश्नो का समुचित उत्तर पुष्ट प्रमाणो के अभाव मे अद्यावधि नही दिया जा सका है। इस स्थिति मे भी इस सघ के सम्बन्ध मे आज तक जितने अभिलेख एव उल्लेख एकत्रित किये जा सके है, उनके आधार पर यह तो कहा ही जा सकता है कि श्वेताम्बर-दिगम्बर विभेद के उत्पन्न होने के समय अर्थात् वीर नि स ६०९ के लगभग अथवा उसके एक दो दशक पश्चात् की अवधि के अन्दर-अन्दर ही इस सघ का पृथक् इकाई के रूप मे गठन किया गया हो। प्राप्त उल्लेखो पर गहराई से विचार करने पर यह भी कहा जा सकता है कि भगवान् महावीर के धर्मसघ के परम्परागत पुरातन वर्चस्व को यथावत् बनाये रखने तथा इसकी शक्ति को किंचित्मात्र भी विघटित न होने देने के सदुद्देश्य से श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दोनो सघो के बीच की कडी के रूप मे इस यापनीय सघ का गठन किया गया।

बौद्ध, शैव, वैष्णव, आजीवक आदि अन्यान्य धर्मसघो द्वारा समय-समय पर करवाये जाने वाले सामूहिक धर्मपरिवर्तनो के परिणामस्वरूप होने वाली हानि से

जैन धर्मसघ की रक्षा के लिए तथा अपने से भिन्न धर्मो के अनुयायियो को अपने धर्म के अनुयायी बनाने की आकाक्षा से विभिन्न धर्मावलम्बियो द्वारा आयोजित किये जाने वाले आकर्षक जनरजनकारी धार्मिक अनुष्ठानो, भाति-भाति के आकर्षक धार्मिक आयोजनो, विधि-विधानो की ओर आकर्षित होते हुए स्वधर्मी बन्धुओ को अपने ही धर्म मे स्थिर रखने के उद्देश्य से अन्य तीर्थिको से मिलते जुलते नये-नये आकर्षक विधि-विधानो, अनुष्ठानो, आयोजनो का आविष्कार करने मे यापनीय सघ ने सभी धर्मसघो को बहुत पीछे रख दिया। अन्यान्य जैनेतर धर्मसघो ने अपने धर्म के गढ के रूप मे विशाल मन्दिरो का निर्माण करवाना प्रारम्भ किया और अन्यान्य धर्मावलम्बियो के समान जैन धर्मावलम्बी भी उन धर्म सघो की ओर आकर्षित होने लगे तो यापनीय सघ ने उन जैनेतर सघो द्वारा निर्मापित मन्दिरो एव मठो से भी अति भव्य मन्दिरो, मठो, साधु-साध्वियो के लिए विशाल वसतियो का निर्माण करवाना प्रारम्भ किया। जब अन्य धर्मावलम्बियो ने भौतिक प्रलोभनो के माध्यम से लोकमत को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए मन्त्र तन्त्रो, देव-देवियो की साधनाओ का सहारा लिया तो यापनीय भी इस दिशा मे उन जैनेतर धर्मसघो से सदा आगे ही रहे। यापनीयो ने भी मन्त्र-तन्त्रो और अनेक प्रकार के अनुष्ठानो तथा सिद्धियो का सहारा लिया। अधिकाश मन्त्र-तन्त्रो, यन्त्रो, पद्मावती, अम्बिका ज्वालामालिनी आदि देवियो के मन्दिरो का निर्माण कराना, ज्वालामालिनी कल्प, पद्मावती कल्प आदि मान्त्रिक अथवा तान्त्रिक कल्पो द्वारा लौकिक सिद्धि के अनुष्ठानो की जनमानस पर छाप जमाना यह सब अधिकाशत यापनीय सघ की ही प्रत्युत्पन्नमति-सम्पन्न दूरदर्शिता का प्रतिफल था। परिस्थिति के अनुरूप उन्होने श्रमणधर्म के सिद्धान्तो मे यत्किचित् परिवर्तन करना आवश्यक समझा तो वह भी किया। यापनीय सघ के आचार्यो ने ज्वालामालिनी देवी के स्वतन्त्र मन्दिर बनवाये, उसकी उपासना के भाति-भाति के अनुष्ठानो, जापो आदि को जैन प्रणाली का पुट देकर भौतिक सिद्धियो की प्राप्ति के इच्छुक जनमत को जैन धर्म की ओर आकर्षित किया। जैन धर्म के परम्परागत दुश्चर कठोर नियमो मे आवश्यक परिवर्तन कर उनमे पर्याप्त ढील दी। अनेक धार्मिक नियमो को उन्होने सरल बना दिया। उदाहरण स्वरूप इस सम्बन्ध मे सुदत्त मुनि द्वारा सल् को दिया गया "पोय् सल्"—इस सिह को मारो—यह आदेश ही पर्याप्त है। जिस समय दक्षिण के कर्णाटक प्रान्त मे दिगम्बर परम्परा का पर्याप्त वर्चस्व था, उन्होने बडी कडाई से इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि स्त्रियाँ उसी भव मे मोक्ष नही जा सकती। मुक्ति की राह मे वस्त्र सबसे बडा बाधक-परिग्रह है, वस्त्रो का पूर्णत परित्याग कर पूर्ण अपरिग्रह नग्नता स्वीकार किये बिना सिद्धि कभी प्राप्त की ही नही जा सकती। अपनी इस मान्यता पर अधिकाधिक बल देते हुए दिगम्बर परम्परा के कतिपय आचार्यो ने यहा तक कहना और उपदेश देना अथवा प्रचार करना प्रारभ कर दिया कि स्त्रियो को श्रमणधर्म की दीक्षा न दी जाय। "स्त्रीणा न तद्भवे मोक्ष" अपनी इस मान्यता की पुष्टि मे ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी से उत्तरवर्ती कतिपय

आचार्यो ने अनेकानेक युक्तिया दी है। "स्त्रीणा न तद्भवे मोक्ष" अपनी इस मान्यता की पुष्टि हेतु कालान्तर मे दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य प्रवचनसार नामक ग्रन्थ मे जो ११ गाथाए प्रक्षिप्त की गई है, वे जिज्ञासु विचारको द्वारा पठनीय एवं मननीय है।

कतिपय उत्तरवर्ती आचार्यो द्वारा किये गये इस प्रकार के प्रचार से यह स्वाभाविक ही था कि नारीवर्ग के मानस मे निराशा तरगित होती।

महिलावर्ग की इस प्रकार की मनोदशा के परिणामस्वरूप जैन धर्मसघ को किस प्रकार की क्षति हो सकती है, इस रहस्य को यापनीय सघ ने पहचाना। इसके साथ ही साथ यापनीय आचार्यो ने इस वास्तविक तथ्य को भी भलीभाति समझ लिया कि स्त्रियो को अध्यात्मिक पथ पर, धर्मपथ पर अग्रसर होने के लिए जितना अधिक प्रोत्साहित किया जायगा, उतना ही अधिक धर्मसघ शक्तिशाली, सुदृढ और चिरस्थायी बनेगा। उनकी यह दृढ मान्यता बन गई थी कि धर्म, धार्मिक विचारो, धार्मिक क्रियाओ एव उनके विविध आयोजनो के प्रति अटूट आस्था और प्रगाढ रुचि होने के कारण स्त्रिया धर्मसघ की आधारशिला को एव धर्म की जडो को सुदृढ करने मे और धार्मिक विचारो का प्रचार-प्रसार करने मे पुरुष वर्ग की अपेक्षा अत्यधिक सहायक सिद्ध हो सकती है। जो धर्मसघ महिला वर्ग की धर्म-भावनाओ को जागृत कर अथवा उसको उभार कर, महिलाओ को धर्म मार्ग पर अग्रसर होते रहने के लिये प्रोत्साहित कर उनका विश्वास प्राप्त कर लेगा, वह धर्म शीघ्र ही सम्पूर्ण समाज का अग्रणी धर्म बन जायगा। इसे सही रूप मे यापनीय सघ के आचार्यो ने पहिचाना और पहिचानकर श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य सिद्धान्त "स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष" का प्रचार प्रारम्भ किया। यापनीय परम्परा के आचार्यो, श्रमणो और श्रमणियो ने "स्त्री उसी भव मे मोक्ष जा सकती है, इस सिद्धान्त पर बल देते हुए ग्राम-ग्राम और नगर-नगर मे धर्म सभाओ मे अपने उपदेशो मे कहा —

णो खलु इत्थी अजीवो, ण यावि अभव्वा, ण यावि दसणविरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारिय उप्पत्ती, णो असखिज्जाउया णो अइकूरमई, णो ण उवसतमोहा, णो ण सुद्धाचारा, णो असुद्धबोदि णो ववसायवज्जिया, णो अपुव्वकरणविरोहिणी, णो णवगुणट्ठाणरहिया णो अजोग्गा लद्धीए, णो अकल्लाणभायण त्ति कह न उत्तमधम्मसाहिगत्ति।"[1]

"अर्थात् स्त्री कोई अजीव नही। न वह अभव्य है और न दर्शन विरोधिनी है। न स्त्री मानव योनि से भिन्न किसी अन्य योनि की है। वस्तुत वह मानव

[1] स्त्रीमुक्तौ यापनीय तन्त्रप्रमाण-यथोक्त यापनीय तन्त्रे-"णो खलु इत्थी अजीवो . ।" ललित विस्तरा, पृ० ४०२।

जैन धर्मसघ की रक्षा के लिए तथा अपने से भिन्न धर्मो के अनुयायियो को अपने धर्म के अनुयायी बनाने की आकाक्षा से विभिन्न धर्मावलम्बियो द्वारा आयोजित किये जाने वाले आकर्षक जनरजनकारी धार्मिक अनुष्ठानो, भाति-भाति के आकर्षक धार्मिक आयोजनो, विधि-विधानो की ओर आकर्षित होते हुए स्वधर्मी बन्धुओ को अपने ही धर्म मे स्थिर रखने के उद्देश्य से अन्य तीर्थिको से मिलते जुलते नये-नये आकर्षक विधि-विधानो, अनुष्ठानो, आयोजनो का आविष्कार करने मे यापनीय सघ ने सभी धर्मसघो को बहुत पीछे रख दिया। अन्यान्य जैनेतर धर्मसघो ने अपने धर्म के गढ के रूप मे विशाल मन्दिरो का निर्माण करवाना प्रारम्भ किया और अन्यान्य धर्मावलम्बियो के समान जैन धर्मावलम्बी भी उन धर्म सघो की ओर आकर्षित होने लगे तो यापनीय सघ ने उन जैनेतर सघो द्वारा निर्मापित मन्दिरो एव मठो से भी अति भव्य मन्दिरो, मठो, साधु-साध्वियो के लिए विशाल वसतियो का निर्माण करवाना प्रारम्भ किया। जब अन्य धर्मावलम्बियो ने भौतिक प्रलोभनो के माध्यम से लोकमत को अपनी ओर आर्कपित करने के लिए मन्त्र तन्त्रो, देव-देवियो की साधनाओ का सहारा लिया तो यापनीय भी इस दिशा मे उन जैनेतर धर्मसघो से सदा आगे ही रहे। यापनीयो ने भी मन्त्र-तन्त्रो और अनेक प्रकार के अनुष्ठानो तथा सिद्धियो का सहारा लिया। अधिकाश मन्त्र-तन्त्रो, यन्त्रो, पद्मावती, अम्बिका ज्वालामालिनी आदि देवियो के मन्दिरो का निर्माण कराना, ज्वालामालिनी कल्प, पद्मावती कल्प आदि मान्त्रिक अथवा तान्त्रिक कल्पो द्वारा लौकिक सिद्धि के अनुष्ठानो की जनमानस पर छाप जमाना यह सब अधिकाशत यापनीय सघ की ही प्रत्युत्पन्नमति-सम्पन्न दूरदर्शिता का प्रतिफल था। परिस्थिति के अनुरूप उन्होने श्रमणधर्म के सिद्धान्तो मे यत्किंचित् परिवर्तन करना आवश्यक समझा तो वह भी किया। यापनीय सघ के आचार्यो ने ज्वालामालिनी देवी के स्वतन्त्र मन्दिर बनवाये, उसकी उपासना के भाति-भाति के अनुष्ठानो, जापो आदि को जैन प्रणाली का पुट देकर भौतिक सिद्धियो की प्राप्ति के इच्छुक जनमत को जैन धर्म की ओर आर्कषित किया। जैन धर्म के परम्परागत दुश्चर कठोर नियमो मे आवश्यक परिवर्तन कर उनमे पर्याप्त ढील दी। अनेक धार्मिक नियमो को उन्होने सरल बना दिया। उदाहरण स्वरूप इस सम्बन्ध मे सुदत्त मुनि द्वारा सल् को दिया गया "पोय् सल्"— इस सिंह को मारो—यह आदेश ही पर्याप्त है। जिस समय दक्षिण के कर्णाटक प्रान्त मे दिगम्बर परम्परा का पर्याप्त वर्चस्व था, उन्होने बडी कडाई से इस सिद्धान्त का प्रचार किया कि स्त्रियाँ उसी भव मे मोक्ष नही जा सकती। मुक्ति की राह मे वस्त्र सबसे बडा बाधक-परिग्रह है, वस्त्रो का पूर्णत. परित्याग कर पूर्ण अपरिग्रह नग्नता स्वीकार किये बिना सिद्धि कभी प्राप्त की ही नही जा सकती। अपनी इस मान्यता पर अधिकाधिक बल देते हुए दिगम्बर परम्परा के कतिपय आचार्यो ने यहा तक कहना और उपदेश देना अथवा प्रचार करना प्रारभ कर दिया कि स्त्रियो को श्रमणधर्म की दीक्षा न दी जाय। "स्त्रीणा न तद्भवे मोक्ष" अपनी इस मान्यता की पुष्टि मे ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी से उत्तरवर्ती कतिपय

आचार्यो ने अनेकानेक युक्तिया दी है। "स्त्रीणा न तद्भवे मोक्ष" अपनी इस मान्यता की पुष्टि हेतु कालान्तर मे दिगम्बर परम्परा द्वारा मान्य प्रवचनसार नामक ग्रन्थ मे जो ११ गाथाए प्रक्षिप्त की गई है, वे जिज्ञासु विचारको द्वारा पठनीय एव मननीय है।

कतिपय उत्तरवर्ती आचार्यो द्वारा किये गये इस प्रकार के प्रचार से यह स्वाभाविक ही था कि नारीवर्ग के मानस मे निराशा तरगित होती।

महिलावर्ग की इस प्रकार की मनोदशा के परिणामस्वरूप जैन धर्मसघ को किस प्रकार की क्षति हो सकती है, इस रहस्य को यापनीय सघ ने पहचाना। इसके साथ ही साथ यापनीय आचार्यो ने इस वास्तविक तथ्य को भी भलीभाति समझ लिया कि स्त्रियो को अध्यात्मिक पथ पर, धर्मपथ पर अग्रसर होने के लिए जितना अधिक प्रोत्साहित किया जायगा, उतना ही अधिक धर्मसघ शक्तिशाली, सुदृढ और चिरस्थायी बनेगा। उनकी यह दृढ मान्यता बन गई थी कि धर्म, धार्मिक विचारो, धार्मिक क्रियाओ एव उनके विविध आयोजनो के प्रति अटूट आस्था और प्रगाढ रुचि होने के कारण स्त्रिया धर्मसघ की आधारशिला को एव धर्म की जडो को सुदृढ करने मे और धार्मिक विचारो का प्रचार-प्रसार करने मे पुरुष वर्ग की अपेक्षा अत्यधिक सहायक सिद्ध हो सकती है। जो धर्मसघ महिला वर्ग की धर्म-भावनाओ को जागृत कर अथवा उसको उभार कर, महिलाओ को धर्म मार्ग पर अग्रसर होते रहने के लिये प्रोत्साहित कर उनका विश्वास प्राप्त कर लेगा, वह धर्म शीघ्र ही सम्पूर्ण समाज का अग्रणी धर्म बन जायगा। इसे सही रूप मे यापनीय सघ के आचार्यो ने पहिचाना और पहिचानकर श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य सिद्धान्त "स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष" का प्रचार प्रारम्भ किया। यापनीय परम्परा के आचार्यो, श्रमणो और श्रमणियो ने "स्त्री उसी भव मे मोक्ष जा सकती है, इस सिद्धान्त पर बल देते हुए ग्राम-ग्राम और नगर-नगर मे धर्म सभाओ मे अपने उपदेशो मे कहा —

णो खलु इत्थी अजीवो, ण यावि अभव्वा, ण यावि दसणविरोहिणी, णो अमाणुसा, णो अणारिय उप्पत्ती, णो असखिज्जाउया णो अइकूरमई, णो ण उवसतमोहा, णो ण सुद्धाचारा, णो अशुद्धबोदि णो ववसायवज्जिया, णो अपुव्वकरणविरोहिणी, णो णवगुणट्ठाणरहिया णो अजोग्गा लद्धीए, णो अकल्लाणभायण त्ति कह न उत्तमधम्मसाहिगति।"[1]

"अर्थात् स्त्री कोई अजीव नही। न वह अभव्य है और न दर्शन विरोधिनी है। न स्त्री मानव योनि से भिन्न किसी अन्य योनि की है। वस्तुत वह मानव

[1] स्त्रीमुक्तौ यापनीय तन्त्रप्रमाण-यथोक्त यापनीय तन्त्रे-"णो खलु इत्थी अजीवो ।" ललित विस्तरा, पृ० ४०२।

योनि का ही अभिन्न अग मानव जाति की ही है । न नारी अनार्य देश की उत्पत्ति है, न असख्यात वर्षो की आयुष्य वाली और अतिक्रूर मतिवाली है । नारी उपशान्तमोहा न हो ऐसी बात भी नही है । अथवा वह शुद्ध आचार वाली नही हो, ऐसी बात भी नही है । न स्त्री अशुद्ध बोधि वाली है और न व्यवसाय-अध्यवसाय विहीन ही है । नारी अपूर्वकरण की विरोधिनी भी नही और न नव गुणस्थानो से रहित ही हैं । इसी प्रकार स्त्री लब्धियो को प्राप्त करने मे भी अयोग्य-अक्षम नही है और न वह अकल्याण की भाजन ही है । मुक्ति प्राप्ति के लिये परमावश्यक इन सभी योग्यताओ से सम्पन्न होते हुए भी स्त्री उत्तम धर्म की साधिका और मुक्ति की अधिकारिणी क्यो नही हो सकती ? हो सकती है और सुनिश्चित रूप से स्त्री भी पुरुषो के समान ही उसी भव मे मोक्ष पा सकती है ।"

यापनीय सघ के इस प्रचार का दक्षिणापथ मे ऐसा अचिन्त्य-अद्भुत प्रभाव पडा कि थोडे ही समय मे जैन धर्म का यह यापनीय सघ बडा ही लोकप्रिय और शक्तिशाली सगठन बन गया । "स्त्रिया उसी भवन मे मोक्ष नही जा सकती" दिगम्बर परम्परा के आचार्यो द्वारा किये गये इस प्रचार से महिला वर्ग मे जो एक प्रकार की निराशा घर किये हुए थी, वह यापनीय सघ के "स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष" इस प्रचार से पूर्ण रूपेण तिरोहित हो गई । नारि-वर्ग मे एक बलवती आशा की किरण का अभ्युदय हुआ और वे पूरे उत्साह के साथ यापनीय आचार्यो, श्रमणो एव श्रमणियो के मार्गदर्शन मे, धर्माचरण मे, धार्मिक आयोजनो मे, धर्म के अभ्युदय एव उत्कर्ष के लिए आवश्यक चैत्यनिर्माण, वसति निर्माण, तीर्थोद्धार, मन्दिरो के जीर्णोद्धार-पुनर्निर्माण आदि कार्यो मे, तन, मन, धन से पूर्णत सक्रिय सहयोग देने लगी ।

नारी जाति को धर्म-सघ मे पुरुषो के समान अधिकार देने मे यापनीय सघ वस्तुत श्वेताम्बर सघ से भी आगे बढ गया । स्त्रियो को पूर्ण मनोयोग पूर्वक धर्ममार्ग पर प्रवृत्त करने हेतु प्रोत्साहित करने के लिये स्त्रियो के साथ यापनीय सघ ने श्वेताम्बर आचार्यो से भी अधिक उदारता प्रदर्शित की । यापनीय सघ ने अपने धर्मसघ के अभिन्न अग साध्वी समूह के सचालन का सर्वोच्च अधिकार विदुषी एव महती प्रभाविका साध्वियो को प्रदान कर उन्हे साधु-सघ के आचार्यो के समान ही साध्वी सघ की आचार्या के पद पर अधिष्ठित किया । वस्तुत यह एक बडा ही क्रातिकारी एव अभूतपूर्व कदम था, जो यापनीय सघ ने उठाया ।

यापनीय सघ के कर्णधारो द्वारा लिये गये इस समयोचित निर्णय के फलस्वरूप दक्षिणापथ के नारी समाज मे नवजीवन की लहर के साथ धर्माभ्युदयकारी कार्यो मे न केवल सहभागी होने की ही अपितु सर्वाग्रणी बनने की भी एक ऐसी अदम्य लहर तरगित हो उठी कि समग्र दक्षिणापथ साधुओ के समान साध्वियो के मघो के भी आवास-स्थलो, मठो, मन्दिरो, चैत्यालयो, वसतियो, गिरिगुहाओ,

अभिनव तीर्थस्थलो और भाति भाति के धर्मस्थानो से मण्डित हो गया । राजरानियो, अमात्यपत्नियो, अधिकारियो की अर्द्धा गिनियो, श्रेष्ठिपत्नियो और सभी वर्गो की महिलाओ ने व्रत, नियम, धर्माचरण, तपश्चरण के साथ-साथ भूमिदान, द्रव्यदान आहारदान, भवनदान आदि लोक-कल्याणकारी कार्यो मे बडी उदारतापूर्वक उल्लेखनीय अभिरुचि लेकर जैन धर्म की महती प्रभावना की । इतना ही नही बहुत बडी सख्या मे महिलाओ ने ससार को दु ख का सागर समझ कर जन्म, जरा मृत्यु के दारुण दु खो से सदा के लिए छुटकारा पाने हेतु श्रमणी धर्म मे प्रव्रज्याए भी ग्रहण की । साधुओ, साध्वियो, विरक्तो और गृहस्थ किशोरो को सैद्धातिक शिक्षण देने के लिए अनेक स्थानो पर बडे-बडे शिक्षण सस्थानो, महाविद्यालयो की स्थापना हेतु मुक्त हस्त हो दान देने मे महिला वर्ग अग्रणी रहा । प्राचीन शिलालेख आज भी इस बात की साक्षी देते है कि कर्णाटक प्रान्त मे जैनधर्म के प्रचार प्रसार के लिये जैन धर्म के उत्कर्ष के लिये, जैनधर्म-सघ को एक सबल सगठन बनाने के लिए, जैन-धर्म की प्रभावना—वर्चस्वाभिवृद्धि के लिये, जैन-धर्म को लोकप्रिय बनाने के लिये और जैन-धर्म के प्रचार प्रसार के प्रवाह को चिरप्रवाही बनाये रखने के लिये दक्षिणापथ के सभी क्षेत्रो मे, कोने-कोने मे अनेक धर्मस्थानो का निर्माण महिला वर्ग ने करवाया ।

उस समय साध्वियो के स्वतन्त्र सघो मे साध्वियो की कितनी बडी सख्या होती थी, इस तथ्य का बोध हमे अनेक शिलालेखो से होता है । चोल वशयी महाराजा आदित्य प्रथम के शासनकाल के, वेदाल से उपलब्ध ईसा के नवी शताब्दी के अन्तिम चरण के एक शिला लेख से पता चलता है कि अकेले वेडाल क्षेत्र मे ई० सन् ८५० के आस-पास ९०० (नौ सौ) से भी अधिक साध्विया विद्यमान थी । वेडाल के इस शिलालेख मे उल्लेख है कि ५०० (पाच सौ) साध्वियो की अधिनायक आचार्या कुरत्तियार कनकवीर के साथ किसी अन्य जैन सघ की वेडाल मे ही विद्यमान ४०० (चार सौ) साध्वियो का मनोमालिन्य हो गया ।[1] साध्वियो के उन दोनो शक्तिशाली सघो के बीच हुआ वह झगडा बढते-बढते बडा उग्र रूप धारण कर गया । इस शिलालेख मे उल्लेख है कि वह कनकवीर कुरत्तियार (आचार्या) वेडाल के भट्टारक गुणकीर्ति की अनुयायिनी और शिष्या थी । गुणकीर्ति भट्टारक के धर्मसघ के अनुयायियो अर्थात् उस आचार्या कनकवीरा कुरतियार के भक्तो ने अपनी गुरुणी के समक्ष उपस्थित हो उन्हे आश्वासन दिया कि वे उनके साध्वीसघ की रक्षा और उनकी प्रतिदिन की सभी प्रकार की आवश्यकताओ की पूर्ति करेगे ।

इस शिलालेख मे कनकवीरा कुरत्तियार के गुरु का नाम गुणकीर्ति भट्टारक उल्लिखित है और यापनीय सघ के साधुओ तथा आचार्यो के नाम के अन्त मे प्राय कीर्ति और नन्दि होता है । इससे वह अनुमान किया जाता है कि कुरत्तियार कनक-

---

[1] एस आई आई (साउथ इण्डि० इन्स्क्रिप्शन्स) वोल्यूम ३, स० ९२

वीरा का साध्वीसघ यापनीय सघ का साध्वीसमूह था। ४०० साध्वियो के जिस समूह के साथ कुरत्तियार कनकवीरा का सघर्ष हुआ, वह अनुमानत दिगम्बर परम्परा के द्रविड सघ का साध्वी समूह होगा। कुरत्तियार कनकवीरा का नाम भी तमिलवासियो के नाम से पूर्णत भिन्न होने से यह अनुमान किया जा सकता है कि कर्णाटक प्रदेश से यापनीय सघ का यह साध्वीसमूह तमिल प्रदेश मे अपनी परम्परा के प्रचार-प्रसार के लिए आया होगा। सभवत कनकवीरा कुरत्तियार को और उसके साध्वीसमूह को यापनीय सघ के प्रचार-प्रसार मे और अपने सघ को लोकप्रिय बनाने मे आशातीत सफलता प्राप्त हुई होगी। इसके परिणामस्वरूप अपने तमिलप्रदेश मे अपनी परम्परा से अन्य परम्परा के साध्वीसमह की सफलता एव उसके बढते हुए प्रभाव को देखकर द्रविड सघ के साध्वीसमूह को सहज ही ईर्ष्या हुई होगी और यह ईर्ष्या ही शनै.-शनै उग्र रूप धारण कर सघर्ष का रूप बन गई होगी। बहुत सम्भव है तमिल प्रदेश के उस द्रविड सघ की साध्वियो ने अपने भक्त-अनुयायियो को इस प्रकार का निर्देश दिया हो कि वे न तो उन साध्वियो के उपदेश को सुने और न ही उन्हे आहार आदि का दान दे एव यापनीय सघ की साध्वियो के सम्मुख उपस्थित हुई उस सकट की घडी मे, उनके उपदेशो से प्रभावित हो जो तमिलवासी यापनीय सघ के अनुयायी बने उन्होने कुरत्तियार कनकवीरा के साध्वीसमूह के रक्षण एव भरण-पोषण का भार अपने ऊपर लेते हुए उन्हे आश्वस्त किया हो। तमिलनाडु के लिए उस समय यह धार्मिक असहिष्णुता की घटना बडी महत्त्वपूर्ण घटना रही होगी, अत· इसका उल्लेख इस शिलालेख मे किया गया प्रतीत होता है। कुरत्तियार कनकवीरा यापनीय सघ की ही साध्वीप्रमुखा रही होगी, इस अनुमान की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि साध्वियो को स्वतन्त्र सघ बनाने की स्वतन्त्रता यापनीय सघ के अतिरिक्त अन्य किसी दिगम्बर अथवा श्वेताम्बर सघ ने दी हो, इस प्रकार का एक भी प्राचीन अथवा अर्वाचीन उल्लेख भारत के किसी भाग मे आज तक उपलब्ध नही हुआ है।

तमिलनाडु मे स्वतन्त्र सघो की (जिनमे साधुवर्ग और साध्वीवर्ग दोनो ही प्रकार के वर्ग सम्मिलित थे) सर्वाधिकार सम्पन्न प्रमुखा अर्थात् आचार्या साध्विया होती थी, जिन्हे कुरत्तियार, कुरत्ति अथवा कुरत्तिगल के नाम से अभिहित किया जाता था। तमिलनाडु मे इस प्रकार की कुरत्तियार के जो शिलालेख अब तक उपलब्ध हो चुके है, जिनका सकलन साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शनस् वोल्यूम ५ १ मे किया गया है, उनमे से लेख सख्या ३२४ और ३२६ मे तिरुच्चारणत्तु कुरत्तिगल का उल्लेख है। इसके शिष्य के रूप मे वरगुण के नाम का उल्लेख है, जो सम्भवत पाण्ड्य राजवश का सदस्य था। इसी प्रकार लेख सख्या ३२२ और ३२३ मे सघ कुरत्तिगल का उल्लेख है, जो सम्भवत एक स्वतन्त्र साधु-साध्वीसघ की सचालिका, अधिनायका अथवा आचार्या थी। दक्षिण भारत के शिलालेखो की इसी जिल्द के लेख सख्या ३७० मे तिरुमल्लै कुरत्ति का उल्लेख है, जो एनाडि कुट्टनन मे रहती

थी । इसके एक साधु शिष्य का भी इस अभिलेख मे उल्लेख है । इसी प्रकार उक्त जिल्द के ५ अन्य अभिलेखो मे चिरुपोल्लल की पिच्चै कुरत्ति, मम्मई कुरत्ति, तिरुपरुत्ति कुरत्ति आदि गुरुणियो, सघ की सचालिका गुरुणियो का उल्लेख है ।

इन सब उल्लेखो से यह सिद्ध होता है कि तमिलनाडु मे जैन धर्मसघ मे ऐसे स्वतन्त्र सघ भी थे जिनकी सर्व सत्तासम्पन्न सचालिकाए कुरत्तियार, कुरत्तिगल अथवा कुरत्ति होती थी । ये कुरत्तियार यापनीय सघ की थी अथवा किसी अन्य सघ की, इस प्रकार का कोई उल्लेख न होने के कारण यह तो निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि ये अमुक सघ की ही थी, किन्तु यापनीय सघ ने साधारणत समग्र स्त्री समाज को और विशेषत साध्वियो को जो साधुओ के समान अधिकार दिये उनसे यही अनुमान लगाया जाता है कि तमिलनाडु मे भी ईसा की ८वी ६वी शताब्दी तक यापनीय सघ का बडा प्रभाव रहा हो । इस सम्बन्ध मे शोधार्थियो से अग्रेत्तर गहन शोध की अपेक्षा है । प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता और दक्षिण भारत के ख्यातनामा इतिहासकार श्री पी बी देसाई ने इन कुरत्तियार का यापनीय सघ से सम्बन्ध होने की सम्भावना प्रकट करते हुए निम्नलिखित विचार व्यक्त किये है —

"The Kurattiyars of the Tamil Country constitute a surprisingly unique class by themselves According to the conception of the Digambara School women are not entitled to attain Moksha in this life The Yapaniyas, a well known sect of Jainism in the South and having some common doctrines both with Digambaras and Swetambaras, are characteristically distinguished for their view which advocates liberation or Mukti for women in this life "स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष : " The factors that contributed to the growth of the institution of lady teachers in the Tamil land on such a large scale are not fully known This subject requires further study and research "

यह तो एक सर्वसम्मत तथ्य है कि प्रवर्तमान अवसर्पिणीकाल मे मानवता के, कर्मयुग के आदि सूत्रधार प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव द्वारा किये गये तीर्थप्रवर्तन-काल से ही स्त्रिया धर्माचरण मे पुरुषो से आगे रही है । चौबीसो तीर्थकरो के साधुओ, साध्वियो, श्रावको तथा श्राविकाओ की जो सख्याए श्वेताम्बर परम्परा के आगमो एव दिगम्बर परम्परा के आगम तुल्य ग्रन्थो मे उल्लिखित है, उन पर प्रथम दृष्टिपात से ही यह तथ्य प्रकाश मे आ जाता है कि सभी तीर्थंकरो के धर्मसघो मे पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो ने सक्रिय रूप से धर्माचरण मे कई गुना अधिक उत्साह से, अधिक सख्या मे रुचि ली है । श्वेताम्बर परम्परा के आगमो के अनुसार तो चौबीसो तीर्थकरो के धर्मसघ मे सिद्ध, बुद्ध, मुक्त हुए साधुओ तथा साध्वियो मे साधुओ की अपेक्षा साध्वियो की सख्या पर्याप्त रूपेण अधिक है ।

इस प्रकार परम्परा से ही नारीवर्ग की, धर्म के प्रति पुरुषो की तुलना मे अधिक रुचि रही है। तथापि ईसा की चौथी शताब्दी से लेकर १०वी शताब्दी तक की जो पुरातत्व की सामग्री देश के विभिन्न भागो से उपलब्ध हुई है, उसके तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट रूप से यही तथ्य प्रकाश मे आता है कि इस अवधि मे कर्णाटक प्रदेश की स्त्रियो ने अन्य प्रदेशो की स्त्रियो की अपेक्षा धार्मिक कार्यो मे अधिक सख्या मे अभिरुचि प्रकट की। यह सब वस्तुत. यापनीय सघ द्वारा उस युग की परिस्थितियो के अनुकूल अपनायी गई सुधारवादी, समन्वयवादी एव धर्माचरण के कठोर नियमो के सरलीकरण की नीति का ही प्रतिफल था। दिगम्बर परम्परा के आचार्यो द्वारा किये गये "स्त्रीणा न तद्भवे मोक्ष" की मान्यता के प्रचार के पश्चात् समन्वय नीति, सुधारवादी नीति का अथवा उदारतापूर्ण नीति का अनुसरण करते हुए यापनीयो द्वारा श्वेताम्बर परम्परा मे मान्य आगमो मे प्रतिपादित जिन तीन प्रमुख मान्यताओ का प्रचार-प्रसार किया गया, वे निम्न हैं —

(१) 'पर शासने मोक्ष'—अर्थात् जैनेतर मत मे रहते हुए भी मोक्ष प्राप्त कर सकते है।

(२) 'सग्रन्थाना मोक्ष'—अर्थात् यह कोई अनिवार्य नियम नही कि वस्त्ररहितो का ही मोक्ष हो सकता है, वस्त्रसहित—सग्रन्थ—स्थविरकल्पी साधुओ का भी मोक्ष हो सकता है एव गृहस्थाश्रमी साधक भी अपनी उत्कृष्ट साधना द्वारा मोक्ष प्राप्त कर सकता है।

(३) 'स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष'—अर्थात् स्त्रिया भी पुरुषो के समान उसी भव मे मोक्ष प्राप्त कर सकती हैं।

उत्तर भारत के निवासियो की ही तरह दक्षिणापथ के निवासियो को भी यापनीय सघ के इन उपदेशो ने बडा प्रभावित किया। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है यापनीय सघ की "स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष" इस घोषणा ने तो दक्षिण के नारी समाज मे धर्म जागरण की एक तीव्र लहर उत्पन्न कर दी। इसका तत्काल सुन्दर परिणाम यह हुआ कि यापनीय सघ दक्षिण का एक शक्तिशाली और लोकप्रिय धर्मसघ वन गया। कर्णाटक के अतिरिक्त अन्य दक्षिणी प्रान्तो मे इस सघ का कितना व्यापक प्रचार-प्रसार हुआ, इस सम्बन्ध मे यद्यपि निश्चित रूप से तो कुछ भी नही कहा जा सकता किन्तु जैसा कि पहले बताया जा चुका है तमिलनाडु के अकेले वेडाल क्षेत्र मे एक साध्वी सघ की ५०० साध्वियो के समूह और उसके प्रतिपक्षी साध्वीसंघ की ४०० साध्वियो के समूह—इस प्रकार केवल एक ही क्षेत्र मे ६०० की सख्या मे साध्वियो और साध्वीसघो की आचार्या—कुरत्तियार की विद्यमानता के उल्लेख को देखकर तो यही अनुमान लगाया जाता है कि किसी

समय तमिलनाडु मे भी नारी जाति को धर्म मार्ग पर अग्रसर होने की प्रवल प्रेरणा देने वाला यापनीय सघ एक लोकप्रिय और शक्तिशाली सघ के रूप मे रहा होगा।

जो प्राचीन शिलालेख उपलब्ध हुए है, उनके अध्ययन से यह तथ्य तो प्रकाश मे आता है कि ईसा की चौथी से ११ वी शताब्दी के बीच की सुदीर्घावधि मे स्त्रियो की बहुत बडी सख्या ने कर्णाटक प्रदेश मे जैन धर्म के प्रचार-प्रसार और उत्कर्ष के लिए अगणित उल्लेखनीय कार्य किये। दक्षिण के विभिन्न क्षेत्रो मे महिला वर्ग द्वारा जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए विशाल परिमाण मे अपूर्व उत्साह के साथ व्रत, नियम, प्रत्याख्यान, सलेखना (सथारा) आदि अध्यात्मपरक धर्माराधन और चैत्य, मठ, मन्दिर, वसदि, निषिधि-निर्माण आदि कार्यो के परिणामस्वरूप यापनीय सघ ईसा की चौथी से ग्यारहवी शताब्दी तक की अवधि मे कर्णाटक प्रदेश का एक प्रमुख एव शक्तिशाली धर्मसघ रहा।

इस सम्बन्ध मे दक्षिण के प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता एव इतिहासकार स्व० श्री पी बी देसाई ने अपनी पुस्तक "जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एन्ड सम जैन एपिग्राफ्स" मे लिखा है —

"**POSITION OF WOMEN** — By for the most outstanding factor, more than any thing else, that might have contributed to the success of the Jaina faith in south India, appears to be the liberal attitude towards women evinced by the Yapanias For, women are the most potent transmitters of the religious ideas and practices, particularly in India, and the teacher who is able to capture their religious propensities, rules the society Inspite of their rather not ungenerous attitude towards women, entertained by the teachers of the Brahmanical schools and also of the Buddhist faith, I think, no emphatic assurance like "स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष", was ever held forth by them Consequently women must have been induced, in large numbers, to follow the faith that gave them this assurance and quenched their spiritual yearnings

We meet with a large number of women as lay followers of the Jaina Creed in the inscriptions of Karnataka and it is realised from their social status and religious activities that they played a distinguished role in the propagation of the faith Besides these, we come accross a good many nuns also [1]

---

[1] जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स, पेज १६८

यापनीय सघ का उद्गम काल एवं इसका मूल स्रोत

यापनीय सघ का जन्म किस समय हुआ और इसके उद्गम स्रोत के रूप मे कौनसी परम्परा रही, इस सम्बन्ध मे विद्वानो द्वारा विभिन्न मान्यताए प्रकट की गई है और इस तरह यह प्रश्न अद्यावधि विवादास्पद ही बना हुआ है ।

दिगम्बर परम्परा के दो आचार्यो ने यापनीय सघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे केवल सूचनापरक उल्लेख किया है । उनमे प्रथम है आचार्य देवसेन । 'दर्शनसार' की प्रशस्ति के अनुसार देवसेन ने विक्रम सवत् ९९० मे प्राचीन आचार्यो की गाथाओ का सकलन कर 'दर्शनसार' नामक ५१ गाथाओ की एक छोटी सी कृति की रचना की, जिसमे यापनीय सघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उल्लेख है —

"कल्लाणे वरणयरे, दुण्णिसए पच उत्तरे जादे ।
जावणिय सघ भावो, सिरिकलसादो हु सेवडदो ।।"
(दर्शनसार -गाथा सख्या २९)

अर्थात्—कल्याण नामक सुन्दर नगर मे श्रीकलश नामक एक श्वेताम्बर साधु से विक्रम सवत् २०५ मे यापनीय सघ की उत्पत्ति हुई ।

आचार्य देवसेन के इस उल्लेख के अनुसार दिगम्बर परम्परा मे यह अभिमत प्रचलित है कि विक्रम स २०५ तदनुसार वीर नि स ६७५ एव ई सन् १४८ मे यापनीय सघ की उत्पत्ति हुई । आचार्य देवसेन की इस मान्यता के अनुसार श्वेताम्बर दिगम्बर मत विभेद (श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि स ६०९ और दिगम्बर परम्परा की मान्यतानुसार वीर नि स ६०६) के ६६ अथवा ६९ वर्ष पश्चात् यापनीय सघ की उत्पत्ति हुई ।

दर्शनसार के रचयिता देवसेन से पूर्ववर्ती देवसेन (आचार्य विमलसेन के शिष्य) ने अपनी रचना 'भाव सग्रह' मे श्वेताम्बर परम्परा की वि स १३६ (वीर नि स ६०६) मे उत्पत्ति होने का तो उल्लेख किया है किन्तु यापनीय सघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कोई विवरण नही दिया है ।

विक्रम की सत्रहवी शताब्दी के आचार्य रत्ननन्दि ने भी वि स १६२५ की अपनी कृति भद्रबाहुचरित्र मे अर्द्धफालक मत के रूप मे श्वेताम्बर सघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे बडे विस्तारपूर्वक विवरण प्रस्तुत किया है, जो कतिपय अशो मे विक्रम की दशवी शताब्दी के ग्रन्थकार भट्टारक हरिषेण द्वारा विक्रम स ९८९ की अपनी कृति वृहत् कथा कोष मे किये गये अर्द्धफालक मत की उत्पत्ति से मिलता-जुलता है । भट्टारक हरिषेण ने तो यापनीय सघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे कोई उल्लेख नही किया है किन्तु आचार्य रत्ननन्दि ने बिना किसी कालनिर्देश के निम्नलिखित रूप मे यापनीय सघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे अपनी कृति "भद्रबाहुचरित्र" मे लिखा है —

तदातिवेल भूपाद्यै, पूजिता मानिताश्च तै ।
धृत दिग्वाससा रूपमाचार सितवाससाम् ।। १५३ ।।
गुरुशिक्षातिग लिग, नटवद् भण्डिमास्पदम् ।
ततो यापनसघोऽभूत्तेषा कापथवर्तिनाम् ।। १५४ ।।

इस प्रकार आचार्य रत्ननन्दि ने श्वेताम्बर परम्परा से ही यापनीय सघ की उत्पत्ति बताई है, किन्तु इस सघ की उत्पत्ति किस सम्वत् मे हुई, इसका कोई उल्लेख नही किया है। आचार्य देवसेन के कथन से आचार्य रत्ननन्दि के कथन मे यह अन्तर है कि आचार्य देवसेन ने कल्याण नामक नगर मे श्रीकलश नामक आचार्य से यापनीय परम्परा की उत्पत्ति होने का उल्लेख किया है, जबकि देवसेन से ६३५ वर्ष पश्चात् हुए आचार्य रत्ननन्दि ने इस परम्परा के सस्थापक आचार्य का कोई नामोल्लेख न करते हुए केवल इतना ही लिखा है कि करहाटाक्ष नगर मे श्वेताम्बरो से यापनीय परम्परा की उत्पत्ति हुई ।

इस प्रकार दिगम्बर परम्परा के आचार्यो ने यापनीय सघ की उत्पत्ति श्वेताम्बर सघ से बताई है।

इसके विपरीत श्वेताम्बर आचार्य मलधारी राजशेखर ने अपनी एक महत्व-पूर्ण रचना 'षड्दर्शन समुच्चय' मे यापनीय सघ को गोप्य सघ नाम से अभिहित करते हुए स्पष्ट शब्दो मे दिगम्बर परम्परा का ही एक भेद बताया है। आचार्य राजशेखर ने इस सम्बन्ध मे लिखा है —

दिगम्बराणा चत्वारो, भेदा नाग्न्यव्रतस्पृश ।
काष्ठासघो मूलसघ, सघौ माथुरगोप्यकौ ।। २१ ।।

अर्थात् निर्वस्त्र रहने वाले दिगम्बरो के काष्ठासघ, मूलसघ, माथुरसघ और गोप्य अर्थात् यापनीय सघ ये चार भेद है। इसके अतिरिक्त श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे कही इस प्रकार का उल्लेख उपलब्ध नही होता कि दिगम्बर परम्परा मे यह सघ किस समय उत्पन्न हुआ और इसका आद्य प्रवर्तक आचार्य कौन था।

दिगम्बर परम्परा के आचार्य देवसेन द्वारा रचित 'दर्शनसार' की उपर्युद्धृत गाथा मे श्वेताम्बर आचार्य श्रीकलश से विक्रम सवत् २०५ मे यापनीय परम्परा के उत्पन्न होने की जो बात कही गई है, उस पर विचार करने और उसे तथ्यो की कसौटी पर कसने के अनन्तर तो आचार्य देवसेन का यह कथन तथ्यो से परे ही प्रतीत होता है। दर्शनसार की उपरिलिखित गाथा मे यापनीय परम्परा की उत्पत्ति श्वेताम्बर सघ से बताई गई है किन्तु यापनीय सघ के जितने भी गणो, गच्छो अथवा सघो के नाम जो आज तक प्राचीन शिलालेखो, अभिलेखो, ताम्रपत्रो आदि मे उपलब्ध हुए हैं, वे सब के सब दिगम्बर परम्परा के सघो, गणो, गच्छो एव

अन्वयो के समान नाम वाले है। इसके विपरीत श्वेताम्बर परम्परा के किसी भी गण अथवा गच्छ के समान नाम वाला यापनीय परम्परा का एक भी गण अथवा गच्छ आज तक उपलब्ध हुई पुरातत्व सामग्री मे प्राप्त नही हुआ है।

उदाहरण के रूप मे देखा जाय तो इस अध्याय के प्रारम्भ मे यापनीय परम्परा के सघो, गणो अथवा गच्छो के जो नाम दिये गये हैं, प्राय वे ही अधिकाश नाम दिगम्बर परम्परा के सघो, गणो, गच्छो एव अन्वयो के भी प्राचीन ग्रन्थो एव प्राचीन ऐतिहासिक पुरातत्व सामग्री मे आज भी उपलब्ध होते है। मूल सघ, मूल-मूल सघ, कनकोत्पलसभूत सघ, पुन्नागवृक्षमूलसघ, कुन्दकुन्दान्वय, कण्डूर गण काणूर गण आदि सघो, गणो और अन्वयो के नाम इन दोनो (यापनीय और दिगम्बर) परम्पराओ मे समान रूप से उपलब्ध होते है। दिगम्बर और यापनीय परम्पराओ के सघो, गणो आदि के जितने भी नाम आज तक उपलब्ध हुए हैं, अधिकाश मे परस्पर एक दूसरे के समान है। श्वेताम्बर परम्परा के सघो, गणो अथवा गच्छो के नामो से यापनीय परम्परा का एक भी सघ, गण, अथवा अन्वय मेल नही खाता।

जहा तक यापनीय सघ की उत्पत्ति का काल जो दर्शनसार की उपर्युद्धृत गाथा मे बताया गया है, वह भी तथ्यो की कसौटी पर खरा नही उतरता। आचार्य देवसेन ने यापनीय परम्परा की उत्पत्ति का समय विक्रम सवत् २०५ बताया है। इसका सीधा सा अर्थ यह है कि भगवान् महावीर के परम्परागत सघ मे सर्वप्रथम जो श्वेताम्बर और दिगम्बर सघो के नाम से विभेद उत्पन्न हुआ, आचार्य देवसेन की मान्यतानुसार अथवा किन्ही उन प्राचीन आचार्य के अभिमतानुसार, जिनकी कि गाथा का दर्शनसार मे देवसेन ने सकलन किया है, उस विभेद के उत्पन्न होने के ६६ वर्ष पश्चात् यापनीय सघ उत्पन्न हुआ। आचार्य देवसेन का यह अभिमत भी तत्कालीन परिस्थितियो एव एतद्विषयक घटनाचक्र के सन्दर्भ मे विचार करने पर सगत प्रतीत नही होता। इस सम्वन्ध मे यहा निम्नलिखित तथ्यो पर विचार करना प्रासगिक व उपयुक्त होगा —

(१) यह तो एक निर्विवाद एव सर्वसम्मत तथ्य है कि वीर निर्वाण सम्वत् ६०६ अथवा ६०६ मे भगवान् महावीर का महान् चतुर्विध सघ श्वेताम्बर सघ और दिगम्बर सघ के रूप मे दो भागो मे विभक्त हो गया था।

(२) वीर नि० स० ६०६ मे उत्पन्न हुए इस सघ भेद का जो सर्वाधिक प्राचीन उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे उपलब्ध है, वह इस सघभेद की उत्पत्ति से ४२३ वर्ष पश्चात् का है, जो इस प्रकार है —

सावत्थी उसभपुर, सेयविया मिहिल उल्लुगातीर।
पुरिमतरजिअ, रहवीरपुरं च णयराइ ॥ ७८१ ॥

पचसया चुलसीया, छच्चेव सया णवोत्तरा हुति ।
णाणुपत्ति य दुवे, उप्पण्णा णिव्वुए सेसा ।। ७८३ ।।

आवश्यक निर्युक्ति की इन दो गाथाओ मे अन्य घटनाचक्र के साथ यह बताया गया है कि वीर नि० स० ६०९ मे रथवीरपुर मे दिगम्बर सघ की उत्पत्ति हुई। आवश्यक निर्युक्ति के रचनाकार आचार्य भद्रबाहु का समय प्रमाण पुरस्सर वीर नि० स० १०३२ के आस-पास का निर्धारित किया जा चुका है।[1]

(३) भद्रबाहु द्वितीय के पश्चात् का एतद्विषयक उल्लेख है वीर नि० स० १०५५ से १११५ तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की महान् कृति विशेषावश्यक भाष्य और विशेषावश्यक भाष्य वृहद्वृत्ति का, जो इस प्रकार है —

छव्वास सयाइ, तइया, सिद्धि गयस्स वीरस्स ।
तो बोडियाण दिट्ठी, रहवीरपुरे समुप्पण्णा ।। २५५० ।।
रहवीरपुर नगर, दीवगमुज्जाणमज्जकण्हे य ।
सिवभूइस्सुवहिम्मि, पुच्छा थेराण कहणा य ।। २५५१ ।।
(विशे० भाष्य)

बोडिय सिवभूईओ, बोडियलिगस्स होई उप्पत्ति ।
कोडिय कोट्टवीरा, परम्पराफासमुप्पन्ना ।। १५५२ ।।[2]
(वि० भा० वृ० वृ०)

(४) इससे उत्तरवर्ती उल्लेख है जिनदास महत्तर की वीर नि० स० १२०३ की रचना आवश्यक चूर्णि का, जिसमे कि रथवीरपुर मे वीर नि० स० ६०९ मे दिगम्बर परम्परा की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है।[3]

(५) इस प्रकार सघभेद विषयक श्वेताम्बर परम्परा के ग्रन्थो मे जो उल्लेख हैं, वे क्रमश वीर नि स १०३२, वीर नि स १०५५ से १११५ के बीच की अवधि तथा वीर नि स १२०३ के है।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, सघभेद विषयक दिगम्बर परम्परा के ग्रन्थ वृहद्कथाकोष, दर्शनसार और भद्रबाहु चरित्र मे जो उल्लेख है, वे क्रमश वीर नि स १४५९, १४६० और २०९५ के होने के कारण श्वेताम्बर परम्परा के

---

[1] आवश्यक निर्युक्ति। भद्रबाहु द्वितीय के समय के सम्बन्ध मे विस्तृत जानकारी के लिये देखिये जैनधर्म का मौलिक इतिहास, भाग २, पृष्ठ ३२५ से ३७४।
[2] विशेषावश्यक भाष्य, स्वोपज्ञ वृहद् वृत्ति, पृष्ठ १०२०
[3] आवश्यक चूर्णि—उपोद्घात निर्युक्ति, पृ० ४२७—४२८

उल्लेखो से क्रमश. सवा चार सौ से लेकर १०६३ वर्ष बाद के है। ऐसी स्थिति मे श्वेताम्बर परम्परा के प्राचीन और उनकी तुलना मे दिगम्बर परम्परा के अर्वाचीन उल्लेखो मे से किस परम्परा के उल्लेख प्रामाणिकता की सीमा के समीप है, इसका अनुमान कोई भी विज्ञ सहज ही लगा सकता है।

श्वेताम्बर दिगम्बर मतभेद किन परिस्थितियो मे और किन कारणो से हुआ, इस सम्बन्ध मे दोनो परम्पराओ के आचार्यों ने अपने-अपने पक्ष की पुष्टि करते हुए अपने दृष्टिकोण से प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इन दोनो परम्पराओ द्वारा बताये गये कारणो के तथ्यातथ्य के निर्णय का यह प्रसग नही है। अभी तो हमे यापनीय परम्परा के उद्भवकाल पर विचार करना ही अभीष्ट है। ऐसी स्थिति मे तत्कालीन परिस्थितियो पर विचार करना आवश्यक होगा।

सघभेद के समय श्वेताम्बर परम्परा के आचार्य एव श्रमण-श्रमणी समूहो ने एकादशागी और अन्य आगमो को सर्वज्ञप्रणीत एव गणधरो द्वारा ग्रथित बताते हुए उन्हे प्रामाणिक माना और उनमे जैन धर्म के स्वरूप, सिद्धान्तो एव श्रमणाचार आदि का जिस रूप मे विवरण दिया गया है, उसे ही प्रामाणिक तथा आचरणीय माना। इसके विपरीत दिगम्बर परम्परा के आचार्यो, श्रमणो आदि ने यह अभिमत व्यक्त करते हुए कि एकादशागी विलुप्त हो गई है, एकादशागी सहित सभी आगमो को अमान्य घोषित कर दिया। मूलत इसी प्रश्न को लेकर भगवान् महावीर का महान् धर्म सघ दो भागो मे विभक्त हो गया। दिगम्बर परम्परा की ओर से मुनियो के नग्न रहने के पक्ष मे यह युक्ति प्रस्तुत की गई कि धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले तीर्थंकर स्वय नग्न रहते थे अत श्रमण को भी निर्वस्त्र ही रहना चाहिये। श्वेताम्बर परम्परा की ओर से मुनियो के लिए वस्त्र, पात्र, मुखवस्त्रिका रजोहरण आदि धर्मोपकरणो की आवश्यकता पर बल दिया जाता रहा और अपनी इस बात की पुष्टि के लिए यह युक्ति प्रस्तुत की गई कि द्वादशागी के प्रथम एव प्रमुख अग आचाराग मे मुनियो को एक वस्त्र, दो वस्त्र अथवा तीन वस्त्र, पात्र आदि रखने तथा साध्वियो को चार वस्त्र रखने का विधान किया गया है। इस प्रकार गणि-पिटक के पाचवे अग व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवतीसूत्र) मे भगवान् महावीर के प्रमुख शिष्य गणधर गोतमस्वामी के वस्त्र, पात्र मुखवस्त्रिका आदि धर्मोपकरणो का स्पष्ट उल्लेख विद्यमान है।

जिनप्रणीत आगमो मे मुनियो के वस्त्र, पात्र, मुखवस्त्रिका, रजोहरण आदि धर्मोपकरणो का स्थान-स्थान पर उल्लेख देखकर ही सभवत नग्न रहने वाले साधुओ के समूह ने उस काल मे उपलब्ध आगमो को अमान्य ठहराते हुए इस प्रकार की मान्यता प्रचलित की कि दुष्षम आरक के प्रभाव से आगमो का लोप हो गया है। वस्त्र, पात्र, मुखवस्त्रिका आदि धर्मोपकरणो को धारण करने वाले साधु

समूह ने आगमो के विलुप्त हो जाने की बात को अस्वीकार करते हुए यही मान्यता अभिव्यक्त की कि आगमो के कलेवर मे पूर्वापेक्षया कालप्रभावजन्य बुद्धिमान्द्य आदि अनेक कारणो से यत्किंचित् ह्रास अवश्य हुआ है, किन्तु जिस रूप मे आज आगम अवशिष्ट है, वे सर्वज्ञ-सर्वदर्शी, वीतराग भगवान् महावीर की वाणी के आधार पर गणधरो द्वारा ग्रथित ही है।

इन दो प्रकार की मान्यताओ के परिणामस्वरूप भगवान् महावीर का सघ दो भागो मे विभक्त हो गया। यह विभेद क्रमश कटु से कटुतर होता हुआ कालान्तर मे कही अतिगहन खाई का रूप धारण कर चिरस्थाई न हो जाय और उसके परिणामस्वरूप भगवान् महावीर का विश्वकल्याणकारी महान् धर्मसघ कही विभिन्न इकाइयो मे विभक्त हो छिन्न-भिन्न न हो जाय अथवा सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भ० महावीर की अमृतोपम दिव्यवाणी के आधार पर गणधरो द्वारा ग्रथित परम श्रेयस्कर आगम लोक मे सदा सर्वदा के लिए अमान्य न हो जाय, इस भावी आशका से चिन्तित हो कतिपय दूरदर्शी नग्न, अर्द्धनग्न अथवा एक वस्त्रधारी महामुनियो ने दो सघो के रूप मे विभक्त हो रहे महान् जैन सघ मे समन्वय बनाये रखने के सदुद्देश्य से, दोनो पक्षो के साधुओ को जोडे रखने वाली कडी के रूप मे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो पक्षो के लिए सुग्राह्य हो सके, इस प्रकार का अपना एक समन्वयकारी पक्ष निम्नलिखित रूप मे रखा —

१ आचाराग सूत्र के निर्देशानुसार गोप्य गुप्तागो को आच्छादित रखने हेतु सभी मुनि अल्प मूल्य वाला वस्त्र रखे।

२ चर अथवा अचर सूक्ष्म जन्तुओ के प्राणो की रक्षा हेतु मयूर के सुकोमल पखो से बना पिच्छ अथवा रजोहरण रखे।

३ अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त चरित्र, अनन्त आत्मबल एव अनुपम-अपरिमेय शारीरिक बल के धनी तीर्थंकर प्रभु के अनुरूप स्वरूप धारण करने का एकान्त मूलक हठाग्रह अथवा कदाग्रह इस उत्तरोत्तर हीयमान काल के मुनि न करे क्योकि तीर्थंकर प्रभु तीर्थप्रवर्तन के पश्चात् भिक्षाटन भी नही करते थे, मुनि विशेष के द्वारा पात्र मे लाया हुआ आहार ही ग्रहण करते थे। वे पिच्छ (रजोहरण), पात्र, मुखवस्त्रिका आदि धर्मोपकरणो मे से एक भी धर्मोपकरण धारण नही करते थे। ऐसी स्थिति मे क्या एक भी मुनि आज ऐसा है, जो पिच्छ और पात्र (कमण्डलु) का परित्याग कर सकता हो ?

४ आज जो आगम उपलब्ध है, वे सर्वज्ञ प्रणीत है। वीतराग की वाणी को हृदयगम कर गणधरो ने आगमो की रचना की है। प्रत्येक जैन के लिये, प्रत्येक

मुमुक्षु के लिये ये आगम परम प्रमाणभूत एव परम मान्य है। इन आगमो को ही अमान्य घोषित कर दिया गया तो आध्यात्मिक पथ अन्धकाराच्छन्न हो जायगा।

५ एकान्तत दिगम्बरत्व के पक्ष की पुष्टि हेतु वस्त्र को मुक्ति प्राप्ति मे बाधक तत्व बताकर जो 'स्त्रीणा न तद्भवे मोक्ष' इस सिद्धान्त की प्रतिष्ठापना का प्रयास किया जा रहा है, उसे निरस्त किया जाय। स्त्रियो मे भी पुरुषो के ही समान अध्ययन, चिन्तन, मनन, तपश्चरण, सयमाराधन आदि सभी प्रकार की योग्यताए है। सहनशक्ति, तपश्चरण आदि कतिपय गुण तो ऐसे है, जो पुरुषो की अपेक्षा स्त्रियो मे अधिक और सबल हो सकते है। पुरुषो के समान स्त्रिया भी उसी भव मे मोक्ष पा सकती है। अत 'स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष" यह सिद्धान्त सर्वमान्य होना चाहिये।

ऐसा प्रतीत होता है कि आगमानुसारिणी इन सब मान्यताओ के पक्षधर उन दूरदर्शी मुनियो ने अपनी इन मान्यताओ को भगवान् महावीर के धर्मसघ के समक्ष रखा। प्रमाणाभाव मे यह तो नही कहा जा सकता कि कितने श्रमण-श्रमणियो अथवा श्रावक-श्राविकाओ ने इन मान्यताओ का समर्थन अथवा विरोध किया, किन्तु यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण जैन सघ इन समन्वयकारी मान्यताओ पर एक मत नही हो सका और उस प्रथम विभेद के समय ही भगवान् महावीर का महान् श्रमण सघ तीन विभागो मे विभक्त हो गया। वीर नि० स० ६०६ अथवा ६०९ मे ही श्वेताम्बर सघ, दिगम्बर सघ और यापनीय सघ (गोप्य सघ-यापुलीय सघ) इन तीन विभिन्न इकाइयो ने वीर नि० स० ६०९ मे ही अपनी-अपनी मान्यताओ के अनुरूप जैन धर्म का प्रचार-प्रसार प्रारम्भ कर दिया।

इस प्रकार तत्कालीन घटनाचक्र के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने से यही अनुमान किया जाता है कि वीर नि० स० ६०६ अथवा ६०९ मे हुए सघभेद के समय मे ही यापनीय सघ का उदय हो गया था।

स्व० श्री नाथूराम प्रेमी, जिनकी सभी वर्गों के जैन विद्वानो मे एक निष्पक्ष चिन्तनशील विद्वान् के रूप मे गणना की जाती रही है, उन्होने अपने "जैन साहित्य और इतिहास" नामक ग्रन्थ मे देवसेन आदि दिगम्बराचार्यों की- "श्वेताम्बर दिगम्बर मतभेद के ६९ वर्ष पश्चात् यापनीय सघ की उत्पत्ति हुई"—इस मान्यता को निरस्त करते हुए अपना निष्पक्ष अभिमत निम्नलिखित रूप मे व्यक्त किया है —

"यदि मोटे तौर पर यह कहा जाय कि ये तीनो ही सम्प्रदाय लगभग एक ही समय के है, तो कुछ बडा दोष नही होगा। विशेषकर इसलिये कि सम्प्रदायो की उत्पत्ति की जो-जो तिथिया बताई जाती है, वे बहुत सही नही हुआ करती।"[1]

[1] जैन साहित्य और इतिहास—पृष्ठ ५६

सघ विभेद से ८५४ वर्ष पश्चात् हुए आचार्य देवसेन और सघ विभेद से १४८६ वर्ष पश्चात् हुए आचार्य रत्ननन्दि के उपरिलिखित यापनीय सघ की उत्पत्ति के समय से सम्बन्ध रखने वाले उल्लेख कितने प्रामाणिक है, इसका निर्णय कोई भी विचारक सहज ही कर सकता है।

यापनीय सघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जो उपर्युक्त अभिमत व्यक्त किया गया है, वह केवल अनुमान पर ही नही अपितु तत्कालीन तथ्यो पर भी आधारित है। दश पूर्वधर आचार्य वज्र स्वामी के (वीर नि० स० ५४८ मे ५८४) समय मे और आर्य रक्षित के (वीर नि०स० ५८४ से ५६५) समय मे भी आवश्यकतानुसार एकाधिक वस्त्र, पात्र रखने वाले मुनि और गोप्य अगो को (गुप्तागो को) आच्छादित रखने मात्र के उद्देश्य से, उस समय अग्रहार नाम से अभिहित किये जाने वाले वस्त्रखण्ड और परिमित एव आवश्यक धर्मोपकरण रखने वाले मुनि एकता के दृढ सूत्र मे आबद्ध जैन सघ मे विद्यमान थे, इस प्रकार के उल्लेख जैन वाङ्मय मे आज भी उपलब्ध होते है। स्वय आर्य वज्र वस्त्रपात्रधारी मुनिसघ के आचार्य के शिष्य थे और दूसरी ओर आर्य वज्र के पास ६ पूर्वो के ज्ञान का अध्ययन करने वाले आर्य रक्षित, अग्रहार, परिमित पात्र और आवश्यक धर्मोपकरणो के धारक मुनिसघ के आचार्य थे।[1] आचाराग, वियाह पण्णत्ति आदि प्रमुख अगशास्त्रो के उल्लेखो के अनुसार तीर्थप्रवर्तन काल से ही भगवान् महावीर के सघ मे वस्त्र-पात्रधारी साधु और अग्रहार आदि परिमित वस्त्र और परिमित पात्रादि धर्मोपकरणो के धारक मुनि—दोनो ही प्रकार के मुनि थे। पूर्वकाल मे विशिष्ट अभिग्रहधारी जिन-कल्पी साधुओ के उल्लेख भी आगमो और आगमिक साहित्य मे उपलब्ध होते है। वीर निर्वाण की छठी शताब्दी मे आर्य वज्र और आर्य रक्षित के आचार्यकाल मे भी दोनो प्रकार के वेष वाले मुनियो के उल्लेख उपलब्ध होते है। इससे उत्तरवर्ती काल मे अर्थात् देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् वीर नि० स० १००२ से १०१७ तक सत्ता मे रहे कदम्बवशी राजा विजयशिव मृगेश वर्मा के राज्यकाल मे भी दक्षिणापथ मे दिगम्बर और श्वेताम्बर महासघ की विद्यमानता के प्राचीन अभिलेख उपलब्ध होते है।

इण्डियन एन्टिक्वेरी, वोल्यूम ७, पृष्ठ ३७-३८ अभिलेख स० ३७ मे कदम्ब महाराजा श्रीविजयशिवमृगेशवर्म द्वारा दिये गये दानपत्र की प्रतिलिपि विद्यमान है। उसमे निम्नलिखित उल्लेख है —

" आदिकालराजवृत्तानुसारी धर्ममहाराज कदम्बाना श्रीविजयशिवमृगेश वर्म्म कालवगग्राम त्रिधा विभज्य दत्तवान्। अत्र पूर्वमर्हच्छाला—परम पुष्कल-

[1] विस्तृत जानकारी के लिये देखिये जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग २, आचार्य वज्र और रक्षित के प्रकरण।

स्थाननिवासिभ्य भगवदर्हन्महाजिनेन्द्रदेवताभ्य एकोभाग, द्वितीयोऽर्हत्प्रोक्तसद्धर्म-करणपरस्य श्वेतपटमहाश्रमणसघोपभोगाय, तृतीयो निर्ग्रन्थमहाश्रमण सघोप-भोगायेति ।"[1]

अर्थात् आदि काल के राजा भरतचक्रवर्ती की नीतियो का अनुसरण करने वाले कदम्ब राजवश के महाराजा श्रीविजयशिवमृगेशवर्म ने कालवग नामक ग्राम तीन भागो मे विभक्त कर जैन सघो को दान मे दिया । राजा ने उस कालवग नामक ग्राम के तीन भाग कर एक भाग अर्हत्शाला परम पुष्कल स्थान निवासी साधुओ तथा अर्हत्भगवान् जिनेन्द्रदेवो के लिये, ग्राम का दूसरा भाग वीतराग प्रणीत सद्धर्म की परिपालना मे अर्हनिश तत्पर श्वेताम्बर महा श्रमणसघ के उपभोग हेतु और अन्तिम तीसरा भाग निर्ग्रन्थ महाश्रमण सघ के उपभोग हेतु प्रदान किया ।

अनुमानत विक्रम की ५वी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ चरण के इस अभिलेख से भी यही सिद्ध होता है कि वीर नि० स० १००२ के आस-पास श्वेताम्बर मुनि और दिगम्बर मुनि—दोनो प्रकार के वेष वाले मुनि भारत के सुदूरस्थ दक्षिण प्रान्त मे भी विद्यमान थे ।

इसी प्रकार देवर्द्धि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल मे भी श्वेताम्बर, दिगम्बर, यापनीय और केवल अग्रहार धारण करने वाले तथा बाहर आने-जाने की आवश्यकता पडने पर ही कटिपट्ट को धारण करने वाले मुनि भी भारत के विभिन्न भागो मे विद्यमान थे । इस प्रकार के उल्लेख विपुल मात्रा मे जैनवाग्मय मे आज भी उपलब्ध होते है । आवश्यकता पडने पर ही कटिपट्ट धारण करने वाले अन्यथा केवल अग्रहार धारण करने वाले मुनि विद्यमान थे, इसकी साक्षी सम्बोध प्रकरण की निम्नलिखित गाथा देती है —

कीवो न कुणइ लोय, लज्जइ पडिमाइ जल्लमुवणेइ ।
सोवाहणो य हिण्डई, बधइ कडिपट्टमकज्जे ।।

इस गाथा का अन्तिम चरण "बन्धइ कडिपट्टमकज्जे" अर्थात् अकारण ही कटिपट्ट कमर मे बाधता है, इस बात का साक्षी है कि सम्बोध प्रकरण के रचनाकार आचार्य हरिभद्रसूरि के समय मे अर्थात् विक्रम स० ७५७ से ८२७—तदनुसार वीर नि० स० १२२७ से १२९७ के बीच की अवधि तक ऐसे साधु विद्यमान थे ।

इन सब उल्लेखो से यह सिद्ध होता है कि तीर्थप्रवर्तन काल से लेकर आचार्य हरिभद्रसूरि के समय तक निर्ग्रन्थ (विषय कषायो की ग्रन्थियो से विहीन) श्वेताम्बर, एक वस्त्र से लेकर तीन वस्त्र तक धारण करने वाले, केवल अग्रहार

[1] जैन शिलालेख सग्रह, भाग दो, लेख स० ९८, पृष्ठ ६९ से ७२

धारण करने वाले, केवल कटिपट्ट धारण करने वाले और दिगम्बर (निर्वस्त्र) मुनि भी भगवान् महावीर के श्रमणसघ मे विद्यमान थे ।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अप्रतिहत विहार करते समय तथा भिक्षाटन करते समय अग्रहार अथवा कटिपट्ट धारण करने वाले मुनि सघभेद के समय अर्थात् वीर नि० स० ६०९ मे भी विद्यमान थे और उन्होने भगवान् महावीर के सघ को छिन्न-भिन्न होने, छोटे-छोटे टुकडो मे बटकर विघटित न होने देने के सदुद्देश्य से ही श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदायो के बीच समन्वय बनाये रखने हेतु इन दोनो सम्प्रदायो के बीच का मध्यमार्ग अपनाया और उनका सघ यापनीय सघ—गोप्य सघ अथवा आपुलीय सघ के नाम से लोक मे प्रसिद्ध हुआ ।

यह है यापनीय सघ की उत्पत्ति का इतिहास जो श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो सघो मे भगवान् महावीर के धर्मसघ के विभक्त होने के समय अर्थात् वीर नि स ६०९ मे अथवा धर्मसघ के विभक्त होने के एक दो दशक पीछे अस्तित्व मे आया ।

यापनीय सघ की मान्यताए

यापनीय सघ की मान्यताए क्या थी, इस सम्बन्ध मे पूर्ण अथवा सागोपाग विशद् विवरण प्रस्तुत नही किया जा सकता क्योकि आज यापनीय परम्परा कही अस्तित्व मे नही है । उसकी समाचारी एव मान्यताओ का अथवा उसके दैनन्दिन कार्यकलापो अर्थात् दिनचर्या का विस्तृत विवरण बताने वाला साहित्य भी आज कही दृष्टिगोचर नही होता । केवल निम्नलिखित थोडे से ग्रन्थ उपलब्ध होते है —

१ शिवार्य की मूलाराधना,

२ यापनीय आचार्य अपराजित अपर नाम विजयाचार्य द्वारा रचित (मूलाराधना की) विजयोदया टीका ।

३ शाकटायन (पाल्यकीर्ति) द्वारा रचित स्त्रीमुक्ति प्रकरण,

४ यापनीय आचार्य अपराजितसूरि द्वारा रचित दशवैकालिकसूत्र की विजयोदया टीका के कतिपय उद्धरण

५ शाकटायन अपर नाम पाल्यकीर्ति द्वारा ही रचित केवली-मुक्ति प्रकरण

६ शाकटायन (पाल्यकीर्ति) द्वारा रचित शब्दानुशासन स्वोपज्ञ अमोघ-वृत्ति सहित ।

७ हरिभद्रसूरि द्वारा रचित "ललितविस्तरा" मे यापनीय परम्परा की मान्यताओ अथवा समाचारी के ग्रन्थ "यापनीय तन्त्र" के उद्धरण ।

८ एपिग्राफिका कर्णाटिका आदि पुरातत्व के शोध ग्रन्थो मे उपलब्ध यापनीय परम्परा और इसके गणो आदि से सम्बन्धित ३१ से ऊपर शिलालेख ताम्रानुशासन आदि ।

६ जैन साहित्य मे यत्र-तत्र विकीर्ण यापनीय सघ सम्बन्धी उल्लेख ।

इस साहित्य के अवलोकन से यापनीय परम्परा की मान्यताओ के सम्बन्ध मे जो थोडे बहुत तथ्य प्रकाश मे लाये जा सकते हैं, वे इस प्रकार हो सकते है —

दिगम्बराचार्य रत्ननन्दि ने 'भद्रबाहुचरित्र' नामक अपनी रचना मे उल्लिखित "धृत दिग्वाससा रूपमाचार सितवाससाम् ।" इस श्लोकार्द्ध से यह स्वीकार किया है कि यापनीय सघ के साधु-साध्वियो और आचार्यो आदि का आचार-विचार श्वेताम्बर परम्परा के साधु-साध्वियो के अनुरूप था । इससे यह स्वत सिद्ध हो जाता है कि यापनीय परम्परा की मान्यताए अधिकाश मे श्वेताम्बर परम्परा की मान्यताओ से मिलती-जुलती थी ।

२ यापनीय सघ की मान्यताओ के सम्बन्ध मे महत्त्वपूर्ण उल्लेख यापनीय आचार्य एव आठ महा वैयाकरणा मे से पाचवे महान् वैयाकरणी शाकटायन द्वारा रचित, पूर्वकाल मे अतीव लोकप्रिय व्याकरण 'शब्दानुशासन' की स्वोपज्ञ अमोघ-वृत्ति मे उपलब्ध होते है । उन उल्लेखो से यह सिद्ध होता है कि यापनीय सघ उन सभी आगमग्रन्थो (आवश्यक, छेदसूत्र, निर्युक्ति, दशवैकालिक आदि) को उसी प्रकार अपने प्रामाणिक धर्मग्रन्थ मानता था जिस प्रकार कि श्वेताम्बर परम्परा प्रारम्भ से लेकर आज तक मानती आ रही है । 'अमोघवृत्ति' के वे महत्त्वपूर्ण उल्लेख इस प्रकार है —

"एतमावश्यकमध्यापय", "इयमावश्यकमध्यापय ।" (अमोघवृत्ति, १-२-२०३-२०४)

"भवता खलु छेदसूत्र वोढव्यम् । निर्युक्तीरधीष्व निर्युक्ती-रधीयते ।" (अमोघवृत्ति ४-४-११३-४०)

"कालिकसूत्रस्यानध्यायदेशकाला पठिता ।" (अमोघवृत्ति ३-२-४७)
"अथो क्षमाश्रमणैस्ते ज्ञान दीयते ।" (अमोघवृत्ति १-२-२०१)

यापनीय सघ के इन्ही महावैयाकरणी आचार्य शाकटायन-अपर नाम पाल्यकीर्ति ने जैसा कि पहले बताया जा चुका है "स्त्रीमुक्ति प्रकरण" और "केवलिभुक्ति प्रकरण" नामक दो लघु ग्रन्थो की रचना कर "स्त्री उसी भव मे मोक्ष जा सकती है" और "केवली कवलाहार ग्रहण करते हैं" इन दोनो मान्यताओ को वडे ही

यौक्तिक ढग से सिद्ध किया है। यह तो सर्वविदित है कि दिगम्बर परम्परा "न स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष" और "केवलिन कवलाहारो न भवति", अर्थात् स्त्रिया उसी भव मे मोक्ष नही जा सकती और जिनको केवलज्ञान हो गया है, वे कवल यानि ग्रास के रूप मे आहार (स्थूल आहार) नही करते—इन दो मान्यताओ को मानती और इन मान्यताओ का प्रचार करती है। इसके विपरीत श्वेताम्बर परम्परा की यह मान्यता है कि स्त्रिया उसी भव मे मोक्ष जा सकती है और केवल ज्ञान की उत्पत्ति हो जाने के पश्चात् भी केवली कवलाहार ग्रहण करते है।

इस प्रकार यापनीय परम्परा भी श्वेताम्बर परम्परा की ही तरह स्त्री-मुक्ति और केवलीभुक्ति के सिद्धान्त की पक्षधर थी, यह स्पष्ट है।

यापनीय आचार्य शाकटायन (पाल्यकीर्ति) विक्रम की नवमी शताब्दी के आचार्य थे। इनसे पूर्व के (विक्रम की आठवी शताब्दी के) यापनीय आचार्य अपराजितसूरि (विजयाचार्य) ने विक्रम की पाचवी शताब्दी के अपनी परम्परा के प्राचीन आचार्य द्वारा रचित २१७० गाथाओ वाले वृहत् ग्रन्थ आराधना (मूलाराधना) पर विजयोदया नाम की टीका की रचना की। इन्ही यापनीय परम्परा के आचार्य अपराजितसूरि (विजयाचार्य) ने श्वेताम्बर और यापनीय—दोनो परम्पराओ द्वारा समान रूप से मान्य दशवैकालिकसूत्र पर भी विजयोदया नाम की टीका की रचना की। विजयोदया नाम की इन दोनो टीकाओ मे से आराधना की विजयोदया टीका आज भी उपलब्ध है। दशवैकालिक पर लिखी गई पूर्ण विजयोदया टीका तो वर्तमान मे उपलब्ध नही है किन्तु उसके अनेक उद्धरण आज भी उपलब्ध एव सुरक्षित है। आराधना की विजयोदया टीका मे स्वय अपराजितसूरि ने दशवैकालिकसूत्र पर स्वय द्वारा लिखी गई विजयोदया टीका का उल्लेख करते हुए लिखा है —दशवैकालिक टीकाया श्री विजयोदयाया प्रपचिता उद्गमादि दोषा इति नेह प्रतन्यते। अर्थात् दशवैकालिक की विजयोदया टीका मे उद्गमादि दोषो का वर्णन कर दिया गया है। अत यहा पिष्ट-पेषण नही किया जा रहा है। अपराजितसूरि द्वारा आराधना की विजयोदया टीका मे किये गये उल्लेख से यह भी सिद्ध होता है कि उन्होने अपने पूर्वाचार्य की रचना "आराधना" की अपेक्षा जैनागम दशवैकालिकसूत्र को अधिक महत्त्व देते हुए आराधना पर टीका की रचना करने से पूर्व दशवैकालिक पर टीका की रचना की।

अपराजितसूरि अपर नाम विजयाचार्य ने आराधना की टीका मे स्थान-स्थान पर अपने पक्ष की पुष्टि हेतु श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य आचाराग, उत्तराध्ययन आदि आगमो के उद्धरण प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत करते हुए मुनियो को धर्मोपकरण के रूप मे वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादपु छण, रखने, आवश्यकतानुसार एक, दो अथवा तीन वस्त्र रखने, उनकी प्रतिलेखना करने आदि का स्पष्ट शब्दो मे

समर्थन किया है। भगवती आराधना की विजयोदया टीका मे यापनीय आचार्य अपराजितसूरि ने आचारागादि आगमो के उद्धरण अपने पक्ष की पुष्टि मे दिये हैं, वे इस प्रकार है —

१ 'यद्य व मन्यसे पूर्वागमेषु वस्त्रपात्रादिग्रहणमुपदिष्ट तत्कथ ?'

२ 'आचारप्रणिधौ भणित'

३ 'प्रतिलेखेत् पात्रकम्बल ध्रुवमिति, असत्सु पात्रादिषु कथ प्रतिलेखना ध्रुव क्रियते ?'

४ आचारस्यापि द्वितीयाध्ययनो लोकविचयो नाम, तस्य पचमे उद्देशे एवमुक्तम्—"पडिलेहेण पादपुछण उग्गह कदासण अण्णादर उवधि पावेज्ज।"

५ वत्थेसणाए वुत्त तत्थ एसे हिरिमणे सेग वत्थ वा धारेज्ज, पडिलेहण बिदिय। एत्थ एसे जुग्गिदे देसे दुवे वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहण तिदिय। एत्थ एसे परिस्सह अणधिहासस्स तगो वत्थाणि धारेज्ज पडिलेहण चउत्थ।

६. पुनश्चोक्त तत्रैव—"आलाबुपत्त वा दारुगपत्त वा मट्टिगपत्त वा अप्पपाण अप्पबीज अप्पसरिद तहा अप्पाकार पात्रलाभे सति पडिग्गहिस्सामीति" वस्त्रपात्रे यदि न ग्राह्ये कथमेतानि सूत्राणि नीयन्ते ?

७ वरिस चीवरधारी तेन परमचेलगो जिणो।

८ ण कहेज्ज धम्मकह वत्थपत्तादिहेदुमिदि।

९ कसिणाइ वत्थकबलाइ जो भिक्खु पडिग्गहिदि पज्जदि मासिग लहुग इदि।

१० द्वितीयमपि सूत्र कारणमपेक्ष्य वस्त्रग्रहणमित्यस्य प्रसाधक आचारागे विद्यते—"अह पुण एय जाणेज्ज—पातिकते हेमतेहि सुपडिवण्णे से अथ पडिजुण्णमुवधि पदिट्ठावेज्ज।"[1]

विक्रम की पाँचवी शताब्दी के यापनीय आचार्य शिवार्य द्वारा भगवती आराधना मे उल्लिखित मेतार्य मुनि का आख्यान, अधिकाश गाथाए और उद्धृत कल्प व्यवहार आदि श्रुतशास्त्र जिस रूप मे श्वेताम्बर परम्परा मे मान्य है उसी प्रकार उसी रूप मे यापनीय परम्परा मे भी मान्य थे।

---

[1] भगवती आराधना की गाथा सख्या ४२७ की यापनीय आचार्य अपराजित (विजयाचार्य) द्वारा रचित विजयोदया टीका।

इन उपरि लिखित तथ्यो एव उद्धरणो से यह सिद्ध है कि प्रारम्भ मे यापनीय परम्परा की मान्यताए एव आचार-विचार श्वेताम्बर परम्परा की मान्यताओ और आचार-विचार के अधिकाशत अनुरूप ही थे ।

दर्शनप्राभृत के टीकाकार दिगम्बराचार्य श्रुतसागरसूरि ने यापनीयो की मान्यताओ पर कुछ और अधिक प्रकाश डालते हुए दर्शन प्राभृत की टीका मे लिखा है —"यापनीयास्तु वेसरा इव उभय मन्यन्ते, रत्नत्रय पूजन्ति, कल्प च वाचयन्ति, स्त्रीणा तद्भवे मोक्ष, केवलिजिनाना कवलाहार पर—शासने सग्रन्थाना मोक्ष च कथयन्ति ।" अर्थात्—यापनीय लोग तो बिना नाथ (नाक की रस्सी) के बैलो की तरह श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ की बातो को मानते हैं। वे लोग रत्नत्रय की पूजा करते हैं, कल्पसूत्र की वाचना करते है, स्त्रियो का उसी भव मे मोक्ष होना मानते है । वे केवलियो का कवलाहार और जैनेतर धर्म के अनुयायियो का सग्रन्थावस्था अर्थात् सवस्त्रावस्था मे भी मोक्ष मानते है ।

इस उल्लेख मे 'रत्नत्रय पूजयन्ति' इस वाक्य को देखकर शोधार्थियो के मन मे यह प्रश्न भी उत्पन्न हो सकता है कि क्या श्रुतसागरसूरि के समय मे यापनीयो मे कोई ऐसा साधुसमूह भी था जो तीर्थंकरो की मूर्ति के स्थान पर रत्नत्रय—सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र की पूजा करता था ? श्रुतसागरसूरि द्वारा उल्लिखित यापनीयो की शेष सब मान्यताए श्वेताम्बर परम्परा की मान्यताओ के समान ही है ।

दर्शन प्राभृत की टीका के उपर्युल्लिखित उद्धरण—'कल्प च वाचयन्ति'—इस वाक्य को देखकर तो ऐसा प्रतीत होता है कि श्वेताम्बरो और यापनीयो की मान्यताओ मे कोई अन्तर ही नही था, अथवा वे इस मान्यता की दृष्टि से तो श्वेताम्बरो के बिल्कुल समीप ही थे ।

श्वेताम्बराचार्य गुणरत्न ने यापनीय साधुओ के वेष और उनके दो तीन कार्य-कलापो पर प्रकाश डालते हुए षड्दर्शनसमुच्चय की टीका मे लिखा है कि यापनीय सघ के मुनि नग्न रहते है, मोर की पिच्छी रखते हैं, पाणितलभोजी है, नग्न मूर्तियो की पूजा करते हैं तथा वन्दन-नमस्कार करने पर श्रावको को 'धर्मलाभ' कहते है ।

'भगवती आराधना' (मूलाराधना) के गहन अध्ययन, चिन्तन और मनन से यापनीय सघ की और भी अनेक प्रमुख मान्यताओ का पता चलता है । उदाहरण के रूप मे मूलाराधना के 'विजहणाधिकार' की निम्नलिखित गाथाओ से विक्रम की पाचवी शताब्दी मे यापनीय परम्परा के साधुओ मे प्रचलित एक आश्चर्यकारी रीति-नीति अथवा प्रचलन का पता चलता है —

एव कालगदस्स दु, सरीरमतोवहिज्ज बाहिं वा ।
विज्जावच्चकए त, पय वि कि चति जदरणाए ॥ १६६६ ॥
वेमारिणश्रो थलगदो, सम्ममि जो दिसि य वाणवितरश्रो ।
गड्डाए भवरणवासी, एस गदी से समासण्णे ॥ २००० ॥

इन गाथाश्रो का साराश इस प्रकार है —यदि किसी साधु का देहावसान हो जाय तो साधु लोग ही उस शव को अपने कन्धो पर उठा कर दूर जगल मे एकान्त मे ले जाकर यतनापूर्वक वहा रख दे और अपने स्थान पर लौट श्रावे ।

दूसरे दिन पुन जगल मे उसी स्थान पर जाये और उसी शव की जाच पडताल करे । यदि वह शव जिस दशा मे रखा गया था, उसी दशा मे समतल भूमि पर मिले तो समझना चाहिये कि उस साधु का जीव वैमानिक देवो मे उत्पन्न हो गया है । यदि शव किसी दूसरी दिशा की श्रोर मुडा मिले तो समझ लिया जाय कि वह जीव बारणव्यन्तर देव के रूप मे उत्पन्न हो गया है । यदि वह शव किसी गड्ढे मे पडा मिले तो समझना चाहिये कि उस साधु का जीव भवनवासी देवो मे उत्पन्न हो गया है ।

इन गाथाश्रो से यह सिद्ध होता है कि विक्रम की पाचवी शताब्दी तक यापनीय सघ मे यह परिपाटी अथवा प्रथा प्रचलित थी कि किसी साधु के दिवगत हो जाने पर उसके शव को साधु ही अपने कधो पर उठाकर जगल मे ले जाकर रख आते थे ।

वीर नि० स० ५८४ (वि० स० ११४) से वीर नि० स० ५९५ (वि० स० १२५) के बीच की अवधि मे युगप्रधानाचार्य पद पर रहे आर्य रक्षित के समय मे श्वेताम्बर परम्परा मे भी इसी प्रकार की परिपाटी प्रचलित थी । किसी साधु का प्राणान्त हो जाने पर उसके शव को साधु ही अपने कन्धो पर उठा कर ले जाते थे और जगल मे यतनापूर्वक समतल भूमि पर रख आते थे। इस सम्बन्ध मे प्रभावक चरित्र के निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है —

अन्यदानशनात् साधौ, परलोकमुपस्थिते ।
सज्जिता मुनयो देहोत्सर्गाय प्रभुणा दृढम् ॥१६९॥
गीतार्था यतयस्तत्र, क्षमाश्रमणपूर्वकम् ।
अह प्रथमिका चक्रुस्तत्तनूद्वहने तदा॥१७०॥
कोपाभासाद् गुरु प्राह, पुण्य युष्माभिरेव तत् ।
उपार्जनीयमन्यून, न तु न स्वजनव्रजै ॥१७१॥
श्रुत्वेति जनक प्राह, यदि पुण्य महद् भवेत् ।
अह वहे प्रभु प्राह, भवत्वेव पुन शृणु ॥१७२॥

उपसर्गा भवन्त्यस्मिन्नुह्यमाने ततो निजम् ।
किं तातमनुमन्येऽहमस्मिन् दुष्करकर्मणि ।।१७३।।

उपसर्गैर्यदि क्षुभ्येत, तन्न स्यादपमगलम् ।
विज्ञायेत्युचित यत् तत्, तद् विधेहि समाधिना ।।१७४।।

वहिष्याम्येव किमह नि सत्वो दुर्बलोऽथवा ।
एतेभ्यो मामकीना तन्न कार्या काप्यनिर्वृति ।।१७५।।

पुरा प्रत्यूहसघातो, वेदमन्त्रैर्मया हृत ।
समस्तस्यापि राज्यस्य, राष्ट्रस्य नृपतेस्तदा ।।१७६।।

तत सबोढुरस्याशे, शव शवरथस्थितम् ।
आचकर्षु निर्वसन, शिशव पूर्वरक्षिता ।।१७७।।

अन्तर्दूनोऽप्यसौ पुत्र, प्रत्यूहभयतो न तत् ।
अमु चत् तत उत्सृज्य, स्थण्डिले ववले रयात् ।।१७८।।

इन श्लोको का साराश यह है कि एक दिन एक साधु ने अपनी आयु का अवसान काल समीप समझ कर अशन-पानादि का परित्याग कर दिया और आलोचना-सलेखनापूर्वक प्राणोत्सर्ग किया । उसको निमित्त बना सोमदेव से कटिवस्त्र छुडवाने के उद्देश्य से आर्य रक्षित ने एकात मे साधुओ से कहा—"मै खन्त के समक्ष कहूगा कि दिवगत साधु के शव को जो उठा कर ले जाता है, उसे महान् फल होता है। कर्मो की विपुल निर्जरा होती है। इस पर पूर्वदीक्षित और विद्वान् दोनो ही प्रकार के सभी साधु यह कहे कि हम इस साधु के पार्थिव शरीर को वहन करेंगे ।" तदनन्तर आचार्य रक्षित के यह कहने पर कि साधु के शव को उठाकर ले जाने वाले को बहुत बडा फल मिलता है, सभी साधु उस शव को उठाने अथवा वहन करने के लिये उठ खडे हुए और शव को उठाने के लिये तत्पर हो सभी क्रमश कहने लगे "इस शव को मैं उठाऊ गा क्योकि मै पूर्वदीक्षित हू । कोई कहने लगा कि मैं उठाऊ गा क्योकि मैं ज्ञानवृद्ध हू ।" इस पर कृत्रिम कोपपूर्ण स्वर मे आर्य रक्षित ने उन साधुओ से कहा—"आप ही सब लोग कहते है कि हम शव को ढोयेंगे, तो क्या आप सब यह चाहते है कि मेरा कोई आत्मीय अपने कर्मो की निर्जरा न करे, केवल आप लोग ही निर्जरा कर ले ?"

यह सुन कर वयोवृद्ध सन्त सोमदेव ने आर्य रक्षित से पूछा "क्या पुत्र ! इस कार्य मे विपुल निर्जरा होती है ?"

इस पर आचार्य ने कहा—"हा तात ! अवश्यमेव, इसमे कहना ही क्या है ।"

इस पर सोमदेव ने कहा—"तो मैं भी शव को अवश्य ही वहन करू गा ।"

आचार्य रक्षित ने कहा—"इस कार्य मे अनेक उपसर्ग होते है। बलाए बच्चो के रूप मे उपस्थित हो नग्न कर देती है। यदि उन उपसर्गो से आप कही विचलित हो गये तो मेरा अनिष्ट हो जायगा।"

सोमदेव का स्वाभिमान जागृत हो उठा और उन्होने कहा—"मै घोर से घोर उपसर्ग को सहन करने मे समर्थ हू। मै कोई निस्सत्व व्यक्ति नही हू। एक बार मैने राज्य, राजा, प्रजा और राष्ट्र की वेदमन्त्रो के बल पर घोर दैवी आपत्ति से रक्षा की थी। मै अवश्यमेव शव को उठाऊ गा।"

इस प्रकार आर्य रक्षित ने खन्त सोमदेव को सुदृढ एव सुस्थिर कर दिया और अन्य साधुओ के साथ वृद्ध साधु सोमदेव ने भी उस स्वर्गस्थ साधु के शव को अपने कन्धो पर वहन किया।

जिस मार्ग से शव ले जाया जा रहा था, उस मार्ग मे एक स्थान पर एक ओर आर्य रक्षित का साध्वी समूह खडा हुआ था। सकेतानुसार बालको ने सोमदेव के कटिवस्त्र को उतारा और कटि प्रदेश के अग्रभाग की ओर एक सूत्र से बाध दिया। इस पर सोमदेव लज्जित तो हुए कि मार्ग मे उनकी पुत्रवधुए, पुत्रिया और दोहित्रिया आदि देख रही है, किन्तु अपने पुत्र के अनिष्ट की आशका से शव को यथावत् ढोये हुए चलते रहे। शव को वे एकात प्रदेश मे ले गये और वहा समतल भूमि पर शव को रख अन्य साधुओ के साथ वही लौट आये जहा आर्य रक्षित विराजमान थे।

आराधना और प्रभावकचरित्र के उपर्युद्धृत उल्लेखो से यही सिद्ध होता है कि प्राचीन काल मे यापनीय और श्वेताम्बर दोनो सघो के साधुओ मे समान रूप से यह परिपाटी प्रचलित थी कि दिवगत साध के शव को साधु-वर्ग कन्धो पर उठा कर जगल मे रख आता था।

स्वय यापनीय परम्परा के आचार्यो द्वारा रचित ग्रन्थो तथा श्वेताम्बर और दिगम्बर परम्परा के आचार्यो द्वारा निर्मित ग्रथो के उपरिवर्णित उल्लेखो से यापनीय परम्परा की प्रमुख मान्यताओ एव उस परम्परा के साधुओ के आचार-विचार आदि पर पर्याप्त प्रकाश पडता है। इन सब उल्लेखो से यही निष्कर्ष निकलता है कि यापनीय परम्परा की मान्यताए, यापनीय परम्परा के साधुओ के आचार-विचार आदि श्वेताम्बर परम्परा की मान्यताओ और श्वेताम्बर परम्परा के आचार-विचार से दिगम्बर परम्परा की अपेक्षा अधिक मेल खाते थे।

शाकटायन के शब्दानुशासन की अमोघवृत्ति के उल्लेखो और अपराजित सूरि द्वारा मूलाराधना की विजयोदया टीका मे अपने पक्ष की पुष्टि हेतु प्रस्तुत किये गये

आचारागादि आगमो के उद्धरणो एव अपराजित सूरि द्वारा निर्मित दशवैकालिकसूत्र की विजयोदया टीका से यह एक अतीव महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश मे आता है कि यापनीय सघ आचाराग सूत्र से लेकर कल्प-सूत्र तक उन सभी आगमो को प्रामाणिक धर्मशास्त्र मानता था, जिनको श्वेताम्बर परम्परा मानती थी ।

इन सब उल्लेखो पर विचार करने के अनन्तर ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भ मे यापनीय परम्परा और श्वेताम्बर परम्परा के बीच टकराव को किंचित्मात्र भी अवकाश नही था । प्रारम्भिक स्थिति मे यदि यह कहा जाय कि श्वेताम्बर परम्परा और यापनीय परम्परा दोनो आगमानुसार ही धर्म के पालन एव उपदेश मे प्राय समान थी तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी ।

यापनीय परम्परा द्वारा एक बहुत बडा परिवर्तन

यापनीय परम्परा की उपरि वर्णित मान्यताओ और उस परम्परा के श्रमण-श्रमणी वर्ग के आचार-विचार से ऐसा प्रतीत होता है कि यापनीय परम्परा कतिपय शताब्दियो तक विहरूक अर्थात् अप्रतिहत विहारी ही रही । चातुर्मासकाल को छोड कर शेष वर्ष के आठ महीनो मे वे देश के विभिन्न प्रदेशो मे विचरण करते हुए धर्म का प्रचार-प्रसार करते रहे । पर कालान्तर मे सम्भव है कि चैत्यवासियो के बढते हुए प्रभाव को देखकर यापनीय सघ के साधु-साध्वियो ने, आचार्यों ने और अनुयायियो ने भी नियत निवास को अपने सघ के प्रचार के लिये परमावश्यक समझकर ईसा की चौथी शताब्दी मे अपनाना प्रारम्भ कर दिया हो । मूल आगम मे प्रतिपादित अप्रतिहत विहार को छोडकर जो नियतनिवास अगीकार किया गया यह जैनधर्म सघ मे, श्रमणाचार एव धर्म के स्वरूप मे एक बहुत बडे परिवर्तन का कारण बना ।

नियत निवास को अगीकार करने के कारण यापनीय परम्परा को भी अपने श्रमण-श्रमणियो के आवास हेतु वसतियो का निर्माण, मन्दिरो का निर्माण, धर्म के प्रचार हेतु विद्वानो को तैयार करने के लिए विद्यालयो आदि का निर्माण भी करवाना पडा । इन सब कार्यकलापो के लिये जब धन की आवश्यकता हुई तो यापनीयो ने भी श्रद्धालु भक्तो से एव भक्त राजाओ से द्रव्य दान, भूमि-दान और ग्राम-दान आदि लेने प्रारम्भ कर दिये । ईसा की पाँचवी शताब्दी मे कदम्बवशी राजा श्री विजयशिवमृगेशवर्म ने कालबग नाम ग्राम का एक तिहाई भाग, अर्हंत शाला, परम पुष्कल स्थान-निवासी साधुओ तथा जिनेन्द्र देवो के लिये जो दिया, वह वस्तुत यापनीय सघ के श्रमणो को ही दिया गया दान था । लेख सख्या ६६ (जैन शिलालेख सग्रह भाग २) मे कदम्ब वशी राजा शान्तिवर्मा द्वारा यापनीय सघ को पलाशिका नाम नगर मे जिनालय के निर्माण के लिये दान दिये जाने का उल्लेख है । इसी प्रकार लेख सख्या १०० मे कदम्बवशी राजा शान्तिवर्मा के पौत्र रविवर्मा द्वारा

यापनीय सघ के साधु-साध्वियो के लिये चार मास तक भोजन आदि की व्यवस्था हेतु पूरु खेटक नाम ग्राम-दान दिये जाने का उल्लेख है ।

यापनीयो द्वारा मान्य आचाराग आदि सभी आगमो मे किंचित्मात्र भी परिग्रह का रखना साधु के लिये पूर्ण रूपेण वर्जित है । पर ऐसा प्रतीत होता है कि नियत निवास अगीकार करने के अनन्तर ही यापनीय परम्परा के साधुओ को मन्दिरो और साधु-साध्वियो के आहार आदि की व्यवस्था के लिए दान ग्रहण करने की आवश्यकता पडी हो । शास्त्रो मे भिक्षुक के लिये भिक्षाटन द्वारा ही अपनी भोजन, वस्त्र, पात्र आदि की आवश्यकता-पूर्ति का कठोर विधान है । आधाकर्मी सदोष आहार एव राजपिण्ड तो साधु मात्र के लिये जैनागमो मे विषवत् वर्जनीय बताया गया है ।

मृगेश वर्म, श्री विजय शिवमृगेषवर्म और रवि वर्मा द्वारा दिये गये भूमि दानो, ग्राम-दानो आदि के अनन्तर तो ऐसे शिलालेखो से पुरातात्विक शोधग्रन्थ भरे पडे है, जिनमे यापनीय परम्परा, भट्टारक परम्परा, दिगम्बर परम्परा और श्वेताम्बर परम्परा के सघो और आचार्यो द्वारा भूमिदान, ग्रामदान, द्रव्यदान, भवनदान आदि ग्रहण किये जाने के अगणित उल्लेख है । वस्तुत यह सब आगम विरोधी आचरण नियत निवास अगीकार करने का ही प्रतिफल प्रतीत होता है । इसी तरह यापनीयो मे प्रचलित मूर्ति पूजा की परम्परा भी यापनीयो द्वारा नियत निवास अगीकार कर लेने का परिणाम लगता है । दर्शन प्राभृत के टीकाकार दिगम्बराचार्य श्रुतसागर सूरि ने दर्शन प्राभृत की टीका मे जो यापनीय परम्परा की मान्यताओ का दिग्दर्शन किया है, उसमे यापनीयो के लिये लिखा है "रत्नत्रय पूजयन्ति" । इससे यह प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक काल मे यापनीय साध-साध्वी श्रावक-श्राविका गण रत्नत्रय की पूजा करते थे न कि मूर्ति-पूजा । एक स्थान मे नियत निवास प्रारम्भ करने के पश्चात् चैत्यवासियो की देखा-देखी सम्भवत यापनीयो मे भी मूर्ति पूजा का प्रचलन प्रारम्भ हुआ हो ऐसा अनुमान किया जाता है । 'जैनिज्म इन अरली मीडिएवल कर्नाटक' नामक अपनी पुस्तक मे रामभूषणप्रसाद सिंह ने लिखा है—

"Naturally the early Jainas did not practice image worship, which finds no place in the Jaina canonical literature The early Digambara texts from Karnataka do not furnish authentic information on this point and the description of their मूल गुण and उत्तर गुण meant for lay worshippers do not refer to image worship But idol worship first appeared in the early centuries of the christian era, and elaborate rules were developed for performing the different rituals of Jaina worship during early mediaval times "[1]

---

१ जैनिज्म इन अरली मीडियेवल कर्णाटक बाई रामभूषण प्रसादसिंह पेज २३ मोतीलाल बनारसीदास द्वारा सन् १९७५ मे दिल्ली मे प्रकाशित ।

मूर्ति पूजा के सम्बन्ध मे एक नही, अपितु अनेक निष्पक्ष विद्वानो का अभिमत है कि प्राचीन काल मे जैन धर्मावलम्बियो मे मूर्तिपूजा का प्रचलन नही था। यापनीयो के विषय मे श्रुतसागर के--"रत्नत्रय पूजयन्ति", इस उल्लेख से यही अनुमान लगाया जाता है कि एक मात्र आध्यात्मिक भावपूजा मे अटूट आस्था रखने वाले जैनो मे समय की पुकार के अनुसार प्रारम्भ मे रत्नत्रय की एव तत्पश्चात् चरण युगल और अन्ततोगत्वा मूर्ति की पूजा प्रचलित हुई हो।

प्राचीन पुरातात्विक सामग्री के अवलोकन से यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि जैन धर्म के विभिन्न सघो के आचार्यो ने धार्मिक असहिष्णुता के मध्ययुगीन सक्रान्ति काल मे जैनेतर धर्मसघो द्वारा जैन धर्म सघ को क्षति पहुँचाने के सभी प्रकार के प्रयासो को विफल करने मे अपनी ओर से किसी प्रकार की कोर-कसर नही रखी। बौद्ध सघ आदि जैनेतर सघो द्वारा अन्य धर्मसघो के अनुयायियो--उपासको को अपनी ओर आकर्षित करने एव अपने धर्मसघ के सदस्य बनाने के लिये जिन-जिन आकर्षक उपायो का अवलम्बन लिया उन उपायो को निरस्त--निष्फल बनाने के लिये जैनाचार्यो ने भी नयी-नयी विधाओ, धार्मिक अनुष्ठानो की प्रणालियो, धार्मिक आयोजनो--उत्सवो, अष्टाह्निक--महोत्सवो सामूहिक तीर्थ यात्राओ आदि का समय-समय पर अभिनव रूपेण आविष्कार कर जैन धर्म सघ को क्षीण-दुर्बल अथवा नष्ट होने तथा अन्य शैव बौद्धादि धर्मावलम्बियो का शिकार होने से बचाया। तत्कालीन घटनाचक्र के पर्यवेक्षण से यही प्रतीत होता है कि यापनीय सघ उन अभिनव धार्मिक प्रणालियो के आविष्कार करने मे अन्य सघो से अपेक्षया अग्रणी ही रहा एव इस तरह अन्य तीर्थियो की छाया जैन धर्म सघ पर नही पडने दी।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि महाराजा कनिष्क ने बौद्ध धर्म मे सर्वप्रथम मूर्तिपूजा का प्रचलन किया। मूर्तिपूजा के प्रश्न को लेकर शक्तिशाली बौद्ध धर्म सघ महायान और हीनयान--इन दो सघो मे विभक्त हो गया। कनिष्क द्वारा प्रचलित बुद्ध प्रतिमा और उसकी आकर्षक प्रतिष्ठा--पूजा आदि विधाओ से जैन धर्म सघ की रक्षा हेतु कनिष्क के राज्य के चौथे वर्ष (वीर नि स ६०९) मे जैन सघ ने भी मथुरा के अति प्राचीन बौद्ध स्तूप (तीर्थकर की और्ध्वदेहिक क्रियानन्तर चितास्थल पर निर्मित स्मारक--स्तूप) मे जिनेन्द्र की मूर्ति की स्थापना की।

जैन धर्म मे मूर्तिपूजा का प्रचलन किस प्रकार हुआ, इस पर प्रकाश डालते हुए तटस्थ विद्वानो ने अपना अभिमत निम्नलिखित रूप मे अभिव्यक्त किया है --

"Kanyakumari, otherwise known as Cape Comorin, the Land's End of India is one of the most sacred centres of pilgrimage to the Hindus But it is astonishing to note that the sacred place was once a centre of Jain

pilgrimage One of the twin rocks now named after Swami Vivekananda, has been held in veneration from very ancient times Apart from its having assumed the Swamiji's name latterly the rock has been traditionally known as "Shri Paadapaarai' Sripada means the sacred feet and paarai is rock In all probability we can say that the Jain monks on the way to Ceylon consecrated a Shrine of Sripada on the rock which was part of the main land

There is on the rock a projection, similar to a human foot in form and a little brownish in colour, which has traditionally been revered as a symbol of one of the Tirthankaras The worship of foot prints is a common feature in Jainism During his visit to the Mount Abu, Sir Monier Williams writes in his book—"Buddhism" that, "Jains are quite ardent foot-print-worshippers Nearly every Shrine at the summit consisted of a little domed canopy of marble, covering two foot prints of some one of the 24 Tirthankaras (especially Parshwanath) impressed on a marble alter Groups of worshippers bowed down before the shrines and deposited offerings of money, rice, almonds, raisins and spices on the foot marks" He opines that Jainism first introduced foot-print-worship in Indian religion Practically the worship of foot prints is so closely connected to Jainism that no other religion can claim the origin of it There are a number of references to foot print worship in ancient Tamil literary works of Jain authors In Tamilnad the foot prints Gundagundacharya are revered in Ponnur hills and of Vamana Muni in Jain Kanchi In Sravanabelgola the foot prints of Bhadrabahu and of Chandra Gupta Maurya have been inscribed and they are held in high esteem by the pilgrims

The sacred rock bearing the foot prints of a Tirthankara played an important part in the life of Swamy Vivekanand It has the same significance in his life as the Bodhi tree in the life of Lord Buddha During his visit to Cape Comorin on the 25th December, 1892 Swamiji swam across the sea towards the rock nearly 200 yards from the land and sat there the whole night in deep meditation It is said that the Gnana (ज्ञान) he received here lit up his path and this devine enlightenment transformed the simple monk into a great master builder of the nation as well as a great religious teacher of the world Thereafter Sripaadapaarai began to be known as the Vivekananda rock The sanctity of the place was thus enhanced by the holy visit of Swami Vivekanand"

"कन्याकुमारी की उपर्युक्त दो पहाडियो मे से एक पहाडी पर जो पवित्र चरण उट्ट कित है, वह वस्तुत तीर्थंकर (सम्भवत भगवान् पार्श्वनाथ) का ही

चरण चिह्न है", अपने इस अभिमत की पुष्टि करते हुए एस पद्मनाभन ने अपनी पुस्तक "फोरगोटन हिस्ट्री आफ दी लैंड्स एण्ड" मे आगे लिखा है —

Monuments found in these parts testify to the prevalence of Jainism in the olden days There is epigrafic evidence to show that there were flourishing Jain settlements in Kottar, Kurandi, Tiruchcharanathumalai and Tirunandikka rai which are all in the present district of Kanyakumari From the Jain vestiges and inscriptions found in Samanarmalai, Kalugumalai and Tiruchcharanathumalai in the districts of Madurai, Tirunelveli and Kanyakumari respectively, we learn that a large number of Jain monks who were there hailed from the above four places in Kanyakumari district, the erudite scholars and their disciples from these centres of learning left votive images cut on the rocks in different centres of Jain culture "

एस पद्मनाभन द्वारा किये गये उपर्युल्लिखित उद्धरण का साराश यह है कि कन्याकुमारी प्रदेश प्राचीनकाल मे–जैन साधुओ, जैन विद्वानो, जैन धर्म के प्रचारको एव जैन दर्शन का शिक्षरण केन्द्र था। कन्याकुमारी से उस समय जैन श्रमण, जैन विद्वान् भारत के विभिन्न भागो तथा लका आदि विदेशो मे भी जैन धर्म के प्रचार के लिए जाते ही रहते थे। कन्याकुमारी के सागर तट के पास समुद्र मे जो दो पहाडिया है उनमे से एक पहाडी पर किसी महामानव के एक चरण का पवित्र चिह्न खुदा हुआ है। वह चरण चिह्न हल्के भूरे रग का है। इस पद चिह्न के कारण वह पहाडी परम्परा से "श्रीपादपारै" के नाम से लोको मे प्रसिद्ध है। श्रीपाद का अर्थ है पवित्र चरण और "पारै" का अर्थ है पहाडी। वर्तमान कन्याकुमारी जिले के कोत्तर, कुण्डी, तिरुचरनत्तुमलै और तिरुनन्दिक्करै क्षेत्रो से जो पुरातत्व की सामग्री प्राप्त हुई है, उससे यह भलीभाति सिद्ध होता है कि इन चारो क्षेत्रो मे प्राचीनकाल मे जैन धर्मावलम्बियो की अति घनी और बडी ही समुन्नत वस्तिया थी। श्रमणारमलै, कलुगुमलै एव तिरुच्चरनत्तुमलै, जो कि क्रमश मदुरइ, तिरुनेल्वेली और कन्याकुमारी जिलो मे अवस्थित है, इन तीन क्षेत्रो से जो प्राचीन जैन धर्म सम्बन्धी अवशेष एव शिलालेख आदि विपुल मात्रा मे पुरातत्व विभाग को प्राप्त हुए हैं, उनसे हमे विश्वास होता है कि इन तीन क्षेत्रो मे बहुत बडी सख्या मे जो जैन श्रमण उस प्राचीन कालावधि मे विद्यमान थे वे कन्याकुमारी जिले के उपरिलिखित कोत्तर, कुरण्डी आदि चार क्षेत्रो से आये थे। जैन सिद्धान्तो के उच्चकोटि के विद्वान् शिक्षाशास्त्रियो और उनके सकल विद्यानिष्णात स्नातक जब जैन सस्कृति के विश्वविद्यालय के स्तर के उन शिक्षा केन्द्रो से देश के विभिन्न भागो मे गये तो वे एक सुदीर्घावधि तक उन विश्वविद्यालयो मे अपनी उपस्थिति की आने वाली पीढियो को चिरकाल तक स्मृति दिलाते रहने के उद्देश्य से वहाँ की पर्वतमालाओ की चट्टानो मे अनेक मूर्तिया एव शिलालेख उट्ट कित कर वहा छोड गये। इन सब पुरातात्विक साक्ष्यो से हमारे इस अनुमान पर आधारित विश्वास की पुष्टि

होती है कि भगवान् पार्श्वनाथ का पदचिह्न भी कन्याकुमारी से लका की ओर प्रस्थान करने वाले विद्वान् श्रमणो ने अथवा जैन धर्म के प्रचारको ने कन्याकुमारी के सागर तट के पास समुद्र मे अवस्थित इन दो चट्टानो मे से एक चट्टान पर उट्ट-कित किया होगा ।

सागरतट से २०० गज की दूरी पर समुद्र मे अवस्थित "श्रीपादपारै" नामक चट्टान पर जो मानव का चरणचिह्न उट्ट कित है, वह चौबीस तीर्थकरो मे से किसी एक तीर्थकर का (सभवत भ० पार्श्वनाथ का) चरणचिह्न है, अपने इस अभिमत की पुष्टि मे श्री पद्मनाभन ने उपरिलिखित उद्धरणो मे सर विलियम मोन्योर नामक एक शोधप्रिय पाश्चात्य विद्वान् का अभिमत प्रस्तुत किया है, उसका साराश इस प्रकार है —

"चरणचिह्न की पूजा सुनिश्चित रूप से जैनधर्म मे ही किसी समय प्रचलित हुई, इस तथ्य की पुष्टि करते हुए सर मोन्योर विलियम ने आबू पर्वत की यात्रा करते समय "बुद्धिज्म–(बौद्ध धर्म)" नामक अपनी पुस्तक मे लिखा है—यह एक निर्विवाद सत्य है कि जैन लोग ही सबसे पहले चरणचिह्नो (पगलियो) की पूजा के आविष्कारक है । इस पर्वत पर जितने भी जैन मन्दिर है, उन सब मे स्तम्भो पर आधारित गुम्बजाकार छत वाले छोटे देहरे है, जिनमे मकराने के पत्थर के शिला-खण्ड पर चौबीस तीर्थकरो मे से किसी एक तीर्थकर के और मुख्यत २३ वे तीर्थकर पार्श्वनाथ के चरणयुगल के उभरवा चिह्न उट्ट कित है । इन चरणचिह्नो की पूजा करने के लिए श्रद्धालु भक्तो के समूह इन चरणचिह्नो के समक्ष मस्तक झुकाकर प्रणाम करते है । प्रणाम के पश्चात् इन चरणचिह्नो पर रुपया, चावल (अक्षत) एव अनेक प्रकार के नैवेद्य भेट करते है । भारतीय धर्मो मे सर्वप्रथम जैनधर्म मे चरणचिह्नो की पूजा प्रचलित हुई । वस्तुत चरणचिन्हो की पूजा जैनधर्म से इतनी अधिक निकटता से सम्बन्धित है कि कोई अन्य धर्म इसके प्रथम आविष्कारक के रूप मे अपना पक्ष प्रस्तुत नही कर सकता । प्राचीन तमिल साहित्य की कृतियो मे चरणचिह्नो की पूजा के अनेक उल्लेख उपलब्ध होते है । पोन्नूर की पहाडियो मे आचार्य कुन्दकुन्द के, जिनकाची मे वामन मुनि के और श्रवण बेल्गोल मे आचार्य भद्रबाहु एव चन्द्रगुप्त के चरणचिह्न विद्यमान है, जिनके प्रति तीर्थयात्री अपनी निस्सीम श्रद्धा प्रदर्शित करते है ।"

इन सब ऐतिहासिक तथ्यो के सन्दर्भ मे विचार करने पर विद्वान् लेखक पद्मनाभन ने यह अभिमत व्यक्त किया है कि कन्याकुमारी के पास सागर मे श्रीपाद-पारै नामक चट्टान पर जो मानव के चरण का एक भूरा चिह्न उट्ट कित है, वह निश्चित रूप मे चौबीस तीर्थकरो मे से किसी एक तीर्थकर के चरण का चिन्ह है ।

कन्याकुमारी के समुद्र तट के समीप सागरवर्ती चट्टान् पर उट्ट कित एक चरण का चिह्न किसी तीर्थंकर के चरणचिह्न का प्रतीक हे, इस सम्भावना के उपरिलिखित तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे पुष्ट हो जाने पर यह प्रश्न उपस्थित होता हे कि सर्वप्रथम इस प्रकार चरणचिह्न के अकन का प्रचलन किसके द्वारा, किस समय और किस अभिप्राय से प्रारम्भ किया गया।

अद्यावधि एतद्विषयक किसी ठोस प्रमाण के उपलब्ध न होने के कारण इस प्रश्न के हल के सम्बन्ध मे भी अनुमान का अवलम्बन लेने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय दृष्टिगोचर नही होता। हा, जहा तक चरणचिह्न स्थापित करने के उद्देश्य का प्रश्न है, यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि जिन क्षेत्रो मे साधु-साध्वी अथवा धर्मप्रचारको का थोडे-थोडे समय के व्यवधान से पहुचना सभव नही था उन सुदूरवर्ती क्षेत्रो मे निवास करने वाले जैनधर्मावलम्बियो को अपने धर्म मे स्थिर रखने के उद्देश्य से प्रारम्भिक उपाय के रूप मे तीर्थंकरो के चरणचिन्हो की स्थापना की गई हो।

सभी भारतीय धर्मो एव सस्कृतियो के गहन अध्ययन के पश्चात् भारतीय साहित्य को दो उच्चकोटि के शब्दकोषो की देन देने वाले पाश्चात्य विद्वान् सर-विलियम मोन्योर ने जो यह अभिमत व्यक्त किया है कि महापुरुषो के चरणचिन्हो की पूजा का सर्वप्रथम प्रचलन जैन धर्मावलम्बियो ने किया। इस सम्बन्ध मे प्रत्येक जिज्ञासु के मन मे यह जानने की अभिलाषा उत्पन्न होनी स्वाभाविक है कि पवित्र चरणचिन्हो की स्थापना एव पूजा का प्रचलन सर्वप्रथम किसके द्वारा और किस समय प्रारम्भ किया गया। इस जिज्ञासा का पूर्णरूपेण शमन करने वाला कोई ठोस प्रमाण न केवल जैन वाग्मय मे अपितु सम्पूर्ण भारतीय जैन वाग्मय मे अद्यावधि किसी इतिहास विद् एव शोधार्थी विद्वान् के दृष्टिगोचर नही हुआ है। किन्तु जैन वाग्मय के अध्ययन-अनुशीलन से इस एक निर्णायक निष्कर्ष पर तो सहज ही पहुचा जा सकता है कि धर्माराधन के विषय मे वर्णित नितात अध्यात्ममूलक उपायो से भिन्न अनेक प्रकार के उपायो, विधि-विधानो, अनुष्ठानो, नियमो आदि का समय-समय पर अभिनवरूपेण आविष्कार करने मे चैत्यवासी परम्परा और यापनीय परम्परा के आचार्य अथवा श्रमण सदा अग्रणी रहे हैं। जैन-धर्म के अधिकाधिक प्रचार-प्रसार हेतु उसे लोकप्रिय बनाने की उत्कट अभिलाषा से, अन्य धर्मावलम्बियो को अपने धर्मसघ की ओर आकर्षित करने हेतु, जैनेतर धर्मनायको द्वारा समय-समय पर प्रचलित किये गये परमाकर्षक उपायो से जैन धर्मावलम्बियो को अपने धर्मपथ से विचलित न होने देने के उद्देश्य से, अथवा दक्षिणापथ मे बौद्धो, शैवो एव वैष्णवो द्वारा समय-समय पर जैन धर्म का समूलोन्मूलन कर डालने के अभियानो से जैनधर्म की रक्षा करने के उद्देश्य से यापनीय सघ के दूरदर्शी आचार्यों ने किस-किस प्रकार के अभिनव उपायो का आविष्कार किया, इस विपय पर इसी

अध्याय के पिछले पृष्ठो पर विशद रूपेण प्रकाश डाला जा चुका है। इससे यही अनुमान लगाया जाता है कि यापनीय परम्परा के अज्ञातनामा आचार्यो ने ही सभवत सर्वप्रथम तीर्थकरो के चरणयुगल की पूजा, उससे पूर्व अथवा पश्चात् श्रुतसागर-सूरि के उपरि उद्धृत—"रत्नत्रय पूजयन्ति (यापनीया)" इस उल्लेख के अनुसार 'रत्नत्रयदेव' की पूजा और अन्ततोगत्वा कालान्तर मे किसी समय मूर्तिपूजा प्रारम्भ की हो।

जहा तक यापनीयो की प्रारम्भिक मूल मान्यताओ का प्रश्न है वर्तमान मे यद्यपि इस परम्परा की अथ से इति तक की सम्पूर्ण मान्यताओ का स्रोत "यापनीय तन्त्र" नामक विशाल ग्रन्थ उपलब्ध नही हो रहा है, तथापि मोटे रूप मे यही कहा जा सकता है कि आचाराग सूत्र से लेकर दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, व्यवहार कल्प आदि तक जितने भी जैनागम आज उपलब्ध है, उन आगमो मे उल्लिखित मान्यताए ही इस सघ की मूल मान्यताए थी। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य सभी आगमो को यापनीय सघ परम प्रामाणिक मानता था—इस तथ्य को स्वीकार करने मे किसी भी निष्पक्ष विचारक को किसी प्रकार का सकोच नही होना चाहिये। स्वय यापनीय सघ के आचार्यो द्वारा आचाराग आदि एकादशागी, छेद सूत्रो आदि सभी जैनागमो की प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे समय-समय पर किये गये उल्लेखो का विस्तृत रूप से जो विवरण इस अध्याय मे प्रस्तुत किया जा चुका है, उससे यह सिद्ध हो जाता है कि यापनीय परम्परा के साधु, साध्वी, श्रावक व श्राविका सभी आचारागादि जैन आगमो को पूर्णत प्रामाणिक मानते थे।

इस तरह यापनीय परम्परा ने रत्नत्रय की पूजा, तीर्थकरो के चरणचिह्नो की पूजा और मूर्तिपूजा को किस-किस समय किस क्रम से अपनाया, इस प्रश्न के समाधान के लिये आगमिक काल से लेकर यापनीय सघ के एक सुदृढ सघ के रूप मे उभरने और कतिपय प्रदेशो मे श्वेताम्बर सघ और दिगम्बर सघ से भी अपेक्षाकृत अधिक लोकप्रिय बनने के समय तक की ऐतिहासिक घटनाओ पर पूर्णत निष्पक्ष होकर सूक्ष्म दृष्टि से विचार करना होगा। इस सन्दर्भ मे निम्नलिखित तथ्य विचारणीय है —

१ आचाराग आदि सभी आगमो मे से किसी एक भी आगम मे चतुर्विध तीर्थ के साधु, साध्वी, श्रावक अथवा श्राविका वर्ग के लिये समुच्चय रूप से अथवा व्यक्तिगत रूप से इस प्रकार का एक भी उल्लेख गहन खोज के अनन्तर भी नही उपलब्ध होता, जिसमे यह कहा गया हो कि व्रत, नियम, प्रत्याख्यान, पौषध, उपवास, स्वाध्याय आदि आत्मोत्थान के दैनन्दिन कार्यो के समान, मूर्तिपूजा, मन्दिर निर्माण आदि कार्य भी प्रत्येक साधक के लिये अथवा सभी साधको के लिये परमावश्यक अथवा अनिवार्य कर्त्तव्य हैं।

२ पाचवे अगशास्त्र भगवती सूत्र (व्याख्या प्रज्ञप्ति) मे गणधर इन्द्रभूति द्वारा पूछे गये ३६,००० प्रश्नो एव भगवान् महावीर द्वारा दिये गये उत्तरो का विशद् वर्णन है। आध्यात्मिक अभ्युत्थान से सम्बन्ध रखने वाला एक भी विषय इन प्रश्नोत्तरो मे अछूता नही रहा है। आत्मोन्नति विषयक सभी तथ्यातथ्यो का विवेचन इन प्रश्नोत्तरो मे समाविष्ट है। इस तरह सभी प्रकार की जिज्ञासाओ का शमन एव सन्देहो का निवारण करने वाले उन ३६ हजार प्रश्नोत्तरो मे कही एक मे भी जिनमन्दिर के निर्माण, उसके अस्तित्व अथवा जिनमूर्ति की पूजा का कोई उल्लेख नही है।

३ भगवती सूत्र के दूसरे शतक मे तुगिया नगरी के श्रमणोपासको के सुसमृद्ध जीवन, उनकी धर्म के प्रति प्रगाढ आस्था, उनके धार्मिक कार्यकलापो आदि का विशद् वर्णन किया गया है। उसमे भी जिनमन्दिर अथवा जिनमूर्ति की पूजा का कही नामोल्लेख तक नही है। भगवती सूत्र मे एतद्विषयक विवरण निम्नलिखित रूप मे है —

"तत्थ ण तुगियाए नयरीए बहवे समणोवासया परिवसति अड्ढा, दित्ता, वित्थिन्न विपुल भवण सयणासण-जाण-वाहणाइण्णा बहुधण बहुजायरूव-रयया, आयोग-पयोगसपउत्ता, विच्छड्डियविपुल-भत्तापाण, बहुदासीदास-गो-महिस-गवेलयप्प-भूया, बहुजणस्स अपरिभूया, अभिगयजीवाजीवा, उवलद्धपुण्णपावा, आसव-सवर-निज्जर-किरिया-अहिकरण-बध-मोक्खकुसला, असहेज्ज देवासुरनाग-सुवण्ण जक्ख-रक्खस-किन्नर-किपुरिस-गरुल गधव्व-महोरगाइएहि देवगणेहि निग्गथाओ पावयणाओ अणतिक्कमणिज्जा, णिग्गथे पावयणे निस्सकिया निक्कखिया, निवितिगिच्छा, लद्धट्ठा, गहियट्ठा, पुच्छियट्ठा, अभिगयट्ठा, विणिच्छियट्ठा, अट्ठिमिजपेमा—अणूरागरत्ता, अयमाउसो ! निग्गथे पावयणे अट्ठे, अय परमट्ठे, से से अणट्ठे, असियफलिहा, अवगुयदुवारा, चियत्ततेउरघरप्पवेसा, बहूहि सीलव्वय-गुण-वेरमण-पच्चक्खाण-पोसहोववासेहि चाउद्दसट्ठमुदिट्ठ—पुण्णमासिणीसु परिपुण्ण पोसह सम्म अणु-पालेमाणा, समणे निग्गथे फासुएसणिज्जेण असणपाणखाइम—साइमेण, वत्थ-पडिग्गह—कबल—पायपुञ्छणेण, पीठ—फलग—सेज्जासथारएण, ओसह—भेसज्जेण पडिलाभेमाणा अहापडिग्गहिएहि तवोकम्मेहि अप्पाण भावेमाणा विहरति।"

अर्थात्—तुगिया नगरी मे बहुत से श्रमणोपासक रहते थे। वे धनसम्पन्न और वैभवशाली थे। उनके भवन बडे विशाल एव विस्तीर्ण थे। वे शयन, आसन, यान, वाहन से सम्पन्न थे। उनके पास विपुल धन, चादी तथा सोना था। वे रुपया व्याज पर देकर बहुत सा धन अर्जित करते थे। वे अनेक कलाओ मे निपुण थे। उन श्रमणोपासको के घरो मे अनेक प्रकार के भोजन-पान आदि तैयार किये जाते थे। वे लोग अनेक दास-दासियो, गायो, भैसो, एव भेडो आदि से समृद्ध थे। वे जीव-अजीव के स्वरूप को एव पुण्य और पाप को सम्यक्रूपेण जानते थे। वे

आस्रव, सवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बघ और मोक्ष के स्वरूप से अवगत थे। देव, असुर, नाग, सुवर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, गरुड, गन्धर्व महोरग आदि तक उन्हे निर्ग्रन्थ प्रवचन से नही डिगा सकते थे। निर्ग्रन्थ प्रवचन मे वे शकारहित, आकाक्षारहित और विचिकित्सारहित थे। शास्त्र के अर्थ को उन्होने ग्रहण किया था, अभिगत किया था और समझबूझ कर उसका निश्चय किया था। निर्ग्रन्थ प्रवचन के प्रति उनके रोम-रोम मे प्रेम व्याप्त था। वे केवल एक निर्ग्रन्थ प्रवचन के अतिरिक्त शेष सबको निष्प्रयोजन मानते थे। उनकी उदारता के कारण उनके द्वार सदा सब के लिये खुले रहते थे। वे जिस किसी के घर अथवा अन्त पुर मे जाते वहा प्रीति ही उत्पन्न करते। शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण, प्रत्याख्यान, पौषघ एव उपवासो के द्वारा चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या और पूर्णमासी के दिन वे पूर्ण पौषघ का पालन करते। श्रमण निर्ग्रन्थो को प्रासुक एव कल्पनीय अशन-पान-खाद्य-स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पादप्रोछन (रजोहरण), आसन, फलक, शय्या, सस्तारक, औषध-और भेषज से प्रतिलाभित करते हुए वे यथाप्रतिगृहीत तप कर्म द्वारा आत्म-ध्यान मे लीन हो विचरण करते रहते थे।

उपर्युद्धृत इस पाठ मे तु गियानगरी के उन आदर्श श्रमणोपासको की दिनचर्या की प्रत्येक धार्मिक क्रिया का विशद् विवरण दिया हुआ है किन्तु मूर्ति-पूजा अथवा जिनमन्दिर का कही कोई उल्लेख नही है। "जिन प्रतिमा जिन सारिखी (सदृशी)" जैसी मान्यता का जैनधर्म मे यदि उस समय किंचितमात्र भी स्थान होता तो ससार के समस्त जीवो पर करुणा कर उनके हित के लिये सर्वज्ञ सर्वदर्शी श्रमण भगवान् महावीर द्वारा तीर्थप्रवर्तनकाल मे दिये गये अमोघ उपदेशो के आधार पर गणधरो द्वारा ग्रथित जैनागमो मे मूर्तिपूजा, मन्दिर निर्माण आदि का साधु-साध्वी वर्ग के लिये न सही किन्तु श्रावक-श्राविका वर्ग के लिये तो अवश्यमेव आवश्यक कर्त्तव्य के रूप मे उल्लेख होता।

४ मूलागमो मे आनन्द, कामदेव, शख, पोखली, उदायन आदि श्रावक-रत्नो के पौषघोपवासो, श्रावक की एकादश प्रतिमारूप कठोर व्रत धारणा, सुपात्र-दान, पौषघशालागमन आदि विभिन्न धर्मकृत्यो का विस्तृत विवरण है किन्तु कही पर भी यह उल्लेख नही है कि वे एक बार भी किसी देवमन्दिर मे गये हो अथवा उनके द्वारा किसी जिन-प्रतिमा की स्थापना या पूजा की गई हो।

मूल आगमो मे श्री कृष्ण द्वारा की गई धर्म-दलाली एव उस उत्कृष्ट धर्म-दलाली के परिणामस्वरूप तीर्थंकर नामगोत्रोपार्जन का उल्लेख है। इसी तरह मगध सम्राट् बिम्बसार श्रेणिक द्वारा अमारी पटह-घोषणा एव धर्मदलाली का तथा उस धर्मदलाली के फलस्वरूप उनके भी तीर्थंकर नाम गोत्र कर्म के उपार्जन का पाठ आया है। साथ ही प्रदेशी राजा द्वारा दानशाला खोलने आदि सुकृत्यो का स्पष्ट रूप से उल्लेख है। परन्तु इनमे मे किसी के भी द्वारा जिनप्रतिमा की पूजा करने अथवा

जिनमन्दिर के निर्माण कराये जाने का कही कोई नाममात्र के लिये भी उल्लेख नही है।

५ मूल आगमो मे त्रिकालदर्शी प्रभु महावीर ने आदर्श श्रावको के घरो की भौतिक विपुल ऋद्धि-सिद्धि का भी वर्णन किया है, अनेक नगरो का वर्णन किया है पर इन वर्णनो मे जिन प्रतिमा और जिनमन्दिर का कही नामोल्लेख तक नही है। यदि उस समय जैन धर्म की मूल परम्परा मे मूर्तिपूजा का कोई स्थान होता तो उन आदर्श श्रावको के घरो मे अथवा नगरो के प्रागणो मे कही न कही तो जिनमन्दिर अथवा जिनप्रतिमा के अस्तित्व का उल्लेख अवश्य ही होता। जिन-प्रतिमा की पूजा की बात तो दूर वस्तुत श्रावको के घरो और नगरो तक मे जिन-मन्दिरो-जिनप्रतिमाओ के अस्तित्व तक का उल्लेख नही है। इससे यही प्रमाणित होता है कि जैन धर्म की मूल परम्परा मे प्रारम्भ मे मूर्तिपूजा के लिये कही कोई स्थान नही था। जैनधर्म का तीर्थप्रवर्तनकाल मे कैसा स्वरूप था, उस समय जैन धर्म मे क्या मान्य था और क्या अमान्य, क्या-क्या करणीय था और क्या-क्या अकरणीय, एतद्विषयक तथ्य आगमो से ही प्राप्त किये जा सकते है। जिस प्रकार कि हीरा हीरे की खान से ही उपलब्ध हो सकता है, पन्ने अथवा माणिक्य की खान से नही। ठीक उसी प्रकार जैनधर्म की मान्यताओ अथवा जैन धर्म के मूल विशुद्ध स्वरूप के सम्बन्ध मे प्रामाणित तथ्य जैन आगमो से ही उपलब्ध हो सकते है न कि अन्य ग्रन्थो अथवा साहित्य से।

६ जैनागम वस्तुत भगवान् महावीर की देशनाओ के आधार पर गण-धरो द्वारा ग्रथित किये गये, यह एक निर्विवाद एव सर्वसम्मत तथ्य है। मूल आगमो मे, आचाराग आदि ११ अगशास्त्र जो 'निग्गठ पावयरण' 'गरिणपिटक' आदि नामो से विख्यात है और जो जैनधर्म के सिद्धान्तो, जैनधर्म की मान्यताओ के परम प्रामा-णिक, मूल आधार माने जाते है, उनमे मूर्तिपूजा का, जिनमन्दिरो का निर्माण का जब कही नामोल्लेख तक नही है तो इसका सीधा सा अर्थ यही होता है कि तीर्थ-कर भगवान् महावीर ने अपनी प्रथम देशना से लेकर अन्तिम देशना तक मे जिन-प्रतिमा की प्रतिष्ठापना करने, मन्दिर-निर्माण करने और जिनप्रतिमा की पूजा करने के सम्बन्ध मे कभी एक भी शब्द अपने मुखारविन्द से नही कहा। इस बात से तो प्रत्येक जैन पूर्णत सहमत होगा कि वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर प्रभु श्रमण भगवान् महावीर की देशनाओ का एक-एक शब्द सभी जैनो के लिये सदा शिरोधार्य और परम मान्य है। यदि ससार के भव्य प्राणियो के लिये जिन-प्रतिमा की पूजा करना नि श्रेयस्कर होता तो "जगजीव हियदयट्ठयाए" चतुर्विध धर्मतीर्थ की स्थापना करते समय साधु, साध्वी, श्रावक अथवा श्राविका वर्ग मे से सभी के लिये अथवा किसी वर्ग विशेष के लिये जिन-प्रतिमा की पूजा का भी स्पष्ट शब्दो मे उसी प्रकार विस्तृत रूप से उपदेश देते जिस प्रकार कि मुक्ति प्राप्ति के लिये परमावश्यक अन्यान्य कर्त्तव्यो का उपदेश दिया था। आगमो मे चतुर्विध तीर्थ के कर्त्तव्यो

के रूप मे मूर्तिपूजा का कही कोई उल्लेख नही है, इससे यही फलित होता है कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् महावीर ने अपनी किसी भी देशना मे मूर्तिपूजा करने अथवा मन्दिर निर्माण करने का उपदेश नही दिया।

७ जैनधर्म अथवा आगम सम्बन्धी निर्वाणोत्तरकालीन प्रमुख ऐतिहासिक घटनाओ पर भी यदि निष्पक्ष रूपेण दृष्टिपात किया जाय तो यही तथ्य प्रकाश मे आता है कि पहली आगमवाचना के समय से लेकर चौथी आगमवाचना तक की कालावधि मे आगमानुसार विशुद्ध श्रमणाचार, श्रावकाचार एव धर्म के मूल अध्यात्मप्रधान स्वरूप का पालन करने वाले जैन सघ मे मूर्तिपूजा एव मन्दिरादि के निर्माण का प्रचलन नही हुआ था।

८ पहली आगम वाचना वीर नि० स० १६० के आस-पास आर्य स्थूलिभद्र के तत्वावधान मे पाटलीपुत्र मे हुई। इस पहली आगमवाचना के सम्बन्ध मे जैन वाङ्मय मे कोई क्रमबद्ध विस्तृत विवरण वर्तमान काल मे उपलब्ध नही होता। "तित्थोगालीपइन्नय" नामक प्राचीन ग्रन्थ मे अति सक्षेपत केवल इतना ही विवरण उपलब्ध होता है कि भीषण दुष्काल के समाप्त हो जाने पर भारत के सुदूरस्थ विभिन्न भागो मे गये हुए साधु पुन पाटलिपुत्र मे लौटे। दुष्कालजन्य सकटकालीन स्थिति मे शास्त्रो के अनभ्यास के परिणामस्वरूप श्रुत परम्परा से कण्ठस्थ शास्त्रो के जिन पाठो को श्रमण भूल गये थे, उन पाठो को परस्पर एक दूसरे से सुनकर उन्होने शास्त्रो के ज्ञान को पुन व्यवस्थित किया। पाटलिपुत्र मे हुई इस प्रथम आगम वाचना मे एकादशागी को पूर्ववत् व्यवस्थित एव सुरक्षित कर लिया गया किन्तु बारहवे अग दृष्टिवाद को व्यवस्थित करने मे वह श्रमणसघ पूर्णरूपेण असफल ही रहा, जो कि पाटलिपुत्र मे एकत्रित हुआ था। उस समय समस्त श्रमणसघ मे चौदह पूर्वो के ज्ञान के धारक एक मात्र अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु ही अवशिष्ट रह गये थे, परन्तु वे उस समय नेपाल प्रदेश मे महाप्राण ध्यान की साधना मे निरत थे।

इस प्रकार की स्थिति मे बडे विचार विनिमय के अनन्तर महा-मेधावी युवावय के श्रमण स्थूलभद्र को ५०० अन्य मेधावी मुनियो के साथ भद्रबाहु की सेवा मे रहकर चतुर्दश पूर्वो का ज्ञान प्राप्त करने और इस प्रकार श्रुतज्ञान की रक्षा करने के हेतु सघादेश से नेपाल भेजा गया। आचार्य भद्रबाहु उस समय उस अद्‌भुत चमत्कारी महाप्राण की साधना मे निरत थे, जिसकी साधना के अनन्तर साधक अन्तर्मुहूर्त मे ही सम्पूर्ण द्वादशागी का परावर्तन (पुनरावर्तन) करने मे समर्थ हो जाता है।[1] इस प्रकार की महत्ती साधना मे निरत रहने के उपरान्त भी

---

[1] यह कोई असम्भव अथवा असाध्य नही, दुस्साध्य अवश्य है क्योकि स्वप्नशास्त्रियो के अभिमतानुसार लम्बे मे लम्बा स्वप्न वस्तुत कतिपय इने-गिने क्षणो का ही होता है। सुषुप्त्यवस्था मे कुछ ही क्षणो के स्वप्न मे प्राणी वर्षो मे देखे जा सकने वाले दृश्य देख लेता है, इससे अनुमान किया जाता है कि महाप्राण ध्यान मे यह सभव हो सकता है।

आचार्य भद्रबाहु को सघादेश शिरोधार्य कर उन साधुओ को पूर्वो की वाचना देना प्रारम्भ करना पड़ा। महामुनि स्थूलभद्र के अतिरिक्त शेष सब मुनि पूर्वों की वाचना लेने मे असमर्थ रहे। स्थूलभद्र ने लगभग ८ पूर्वों की वाचना नेपाल मे रहते हुए आचार्य भद्रबाहु से ली और नौवे तथा दशवे पूर्व की वाचना नेपाल से पाटलिपुत्र की ओर भद्रबाहु के विहार काल मे तथा पाटलिपुत्र मे ली। दश पूर्वो की वाचना पूर्ण होने पर दर्शनार्थ आई हुई अपनी बहिनो--महासाध्वी यक्षा एव यक्षदिन्ना को मुनि स्थूलभद्र ने अपनी विद्या का चमत्कार बताया। इस घटना के परिणाम-स्वरूप आचार्य भद्रबाहु ने महामुनि स्थूलभद्र जैसे सुपात्र शिष्य को भी अन्तिम चार पूर्वो के ज्ञान के लिये अपात्र घोषित कर दिया। सघ द्वारा अनुनय-विनयपूर्ण अनुरोध करने पर उन्होने महामुनि स्थूलभद्र को अन्तिम चार पूर्वो की केवल मूल पाठ की ही वाचना दी अर्थसहित वाचना फिर भी नही थी।

प्रथम आगमवाचना की इस ऐतिहासिक घटना से दो तथ्य प्रकाश मे आते है। प्रथम तो यह कि उक्त प्रथम आगमवाचना मे आगमो के परम्परागत पाठो को जिस प्रकार यथावस्थित रूप मे व्यवस्थित किया गया था, उसी रूप मे वे आगम-पाठ समय-समय पर हुई दूसरी, तीसरी और चौथी आगम वाचनाओ मे व्यवस्थित किये जाते रहे। और दूसरा यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि प्रथम आगमवाचना के समय तक भी जैन धर्मसघ मे मूर्तिपूजा का प्रचलन नही हुआ था। यदि उस समय मूर्ति पूजा का प्रचलन हो गया होता तो उस काल की मूर्तिया, मन्दिर अथवा उनके अवशेष अवश्यमेव ही कही न कही उपलब्ध होते।

९ द्वितीय आगमवाचना वीर नि० स० ३२९ मे कलिंगराज महामेघवाहन खारवेल के प्रयास से कुमारीपर्वत पर हुई। उस आगमवाचना सम्बन्धी उपलब्ध प्राचीन ऐतिहासिक तथ्यो से भी यही प्रकट होता है कि वीर नि० स० ३२९ तक भी जैनसघ मे मूर्तिपूजा का अथवा मन्दिर निर्माण का प्रचलन नही हुआ था। उस आगम वाचना के अनन्तर कुमारी पर्वत पर खारवेल महामेघवाहन द्वारा सुविहित परम्परा के श्रमणो के सघहित के कार्यो पर विचार-विमर्श करने हेतु एकत्र होने और बैठने के लिये एक सघायन के निर्माण का, निषद्या पर जाप की व्यवस्था करने का, यापको की भृति निश्चित करने का तथा महारानी के लिये कुमारी पर्वत पर निषद्या के पास एक विशाल एव भव्य विश्रामभवन बनवाये जाने का तो उल्लेख उपलब्ध होता है किन्तु किसी मूर्ति की स्थापना करने का, पूजा करने का अथवा मन्दिर के निर्माण का कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता।[1]

१० तीसरी आगमवाचना वीर नि० स० ८३० मे इकवीसवे वाचनाचार्य आर्य स्कन्दिल के तत्वावधान मे मथुरा मे हुई और जिस प्रकार चौथी अन्तिम

[1] हाथीगुफा मे उपलब्ध कलिंगराज महामेघवाहन खारवेल के शिलालेख की पक्ति स० १५ और १६

आगमवाचना के समय देवर्द्धिक्षमाश्रमण को समस्त आगमो को पुस्तकारूढ करने के लिये वीर नि० स० ६८० से ६६४ तक अर्थात् लगभग १४-१५ वर्षो तक वल्लभी मे रहना पडा, उसी प्रकार आर्य स्कन्दिल भी वीर नि० स० ८३० से ८४० तक आगम वाचना को सम्पन्न करने के लिए मथुरा मे रहे। यदि जैनसघ मे सर्व-सम्मत रूप से मूर्तिपूजा का प्रचलन हो गया होता तो आर्य स्कन्दिल जैसे युगप्रवर्त्तक एव श्रुतशास्त्र की रक्षा करने वाले महान् आचार्य के १० वर्ष तक मथुरा मे ही रहने की अवधि मे निश्चित रूप से अनेक मूर्तियो की प्रतिष्ठा और जिन मन्दिरो का निर्माण उनके तत्वावधान मे हुआ होता। पर स्थिति इससे बिल्कुल भिन्न है। उस अवधि की बात तो दूर, उस पूरे शतक मे एक भी जिनमूर्ति अथवा जिनमन्दिर के निर्माण का उल्लेख कही नही मिलता।

आर्य स्कन्दिल का नाम जैन इतिहास मे अमर रहेगा। श्रुत शास्त्र की रक्षा कर उन्होने ससार पर अविस्मरणीय अनुपम उपकार किया है। श्वेताम्बर परम्परा के सभी गणो, गच्छो एव सम्प्रदायो के अनुयायी सर्वसम्मत रूप से समवेत स्वर मे उन्हे अपना महान् उपकारी पूर्वाचार्य मानते हैं। देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण ने भी नन्दिसूत्र के आदि मगल मे आपको प्रगाढ श्रद्धापूर्वक निम्नलिखित भावभरे शब्दो मे वन्दन किया है —

जेसिमिमो अणुओगो, पयरइ अज्जावि अड्ढभरहम्मि।
बहुनगर निग्गयजसे, ते वदे खदिलायरिए ॥३३॥

इसी प्रकार एक अज्ञातकर्तृक प्राचीन गाथा मे भी आर्य स्कन्दिलाचार्य द्वारा की गई श्रुतरक्षा का उल्लेख उपलब्ध होता है। वह प्राचीन गाथा इस प्रकार है —

दुभिक्खमि पणट्ठे, पुणरवि मिलिय समणसघाओ।
मिहुराए अणुओगो पवइयो खदिलो सूरि॥

अपने युग के लोकपूज्य, महान् अनुयोगप्रवर्त्तक, आगम मर्मज्ञ, श्रुतशास्त्र के रक्षक आचार्य स्कन्दिल के मानस मे यदि जिनमन्दिर निर्माण अथवा मूर्तिपूजा के प्रति किंचित्मात्र भी स्थान अथवा आकर्षण होता तो उनके एक ही परोक्ष इगित पर दश वर्ष के उनके मथुरावास काल मे सहस्रो जिनमूर्तियो और सैकडो जिन-मन्दिरो का निर्माण हो जाता और ककाली टीले की खुदाई मे अथवा मथुरा के विभिन्न स्थलो मे पुरातत्व विभाग द्वारा की गई खुदाइयो मे उन मूर्तियो एव मन्दिरो के अथवा शिलालेखो के अवशेष न्यूनाधिक मात्रा मे अवश्यमेव पुरातत्व विभाग को प्राप्त होते। पर ऐसा कुछ भी नही हुआ। ककाली देवी का मन्दिर और जैन बौद्ध स्तूप आचार्य स्कन्दिल के मथुरा प्रवास से पहले ही भूलुठित हो ककाली टीले का रूप धारण कर गये हो, इस प्रकार की आशका को भी वहा से प्राप्त ऐतिहासिक

एव पुरातात्विक अवशेषो ने निर्मूल कर दिया। क्योकि आर्य स्कदिल के स्वर्गस्थ होने के ६०—६४ वर्ष पश्चात् का एक शिलालेख जिस पर सवत् ६६ (कनिष्क सवत् २६६) तदनुसार वीर नि० स० ६०४ उट्टकित है, ककाली टीले की खुदाई करते समय उपलब्ध हुआ है। महान् प्रभावक आचार्य स्कन्दिल लगभग वीर नि० स० ८३० से ८४० तक —लगभग १० वर्ष तक मथुरा मे रहे पर उनके किसी भी श्रमणोपासक अथवा श्रमणोपासिका द्वारा वीर निर्वाण की ८वी शताब्दी से ९वी शताब्दी के अन्त तक अर्हत् मूर्ति की प्रतिष्ठा अथवा अर्हत् मन्दिर का निर्माण नही करवाया, यह एक निर्विवाद तथ्य मथुरा के ककाली टीले एव अन्यान्य स्थानो से उपलब्ध शिलालेखो से प्रकट होता है।

आर्य स्कन्दिल ने जिस समय मथुरा मे आगम — वाचना की, ठीक उसी समय आचार्य नागार्जुन ने भी दक्षिण आदि सुदूरस्थ प्रान्तो के मुनि—सघो को बल्लभी मे एकत्रित कर आगम वाचना की। आर्य स्कन्दिल की भाति आचार्य नागार्जुन को भी उस आगम वाचना — उस अनुयोग—प्रवर्तन के समय लगभग १० वर्ष तक तो बल्लभी मे रहना ही पडा होगा। आचार्य नागार्जुन भी यदि मूर्तियो एव मन्दिरो के निर्माण तथा मूर्तिपूजा के पक्षधर होते तो उनके समय की उनके श्रमणोपासको द्वारा प्रतिष्ठापित मूर्तियो और मन्दिरो के अवशेष—शिलालेख आदि कही न कही अवश्यमेव उपलब्ध होते। परन्तु आज तक भारत के किसी भाग मे इस प्रकार का न कोई शिलालेख ही उपलब्ध हुआ है और न कोई मूर्ति अथवा मन्दिर का अवशेष ही।

आर्य स्कन्दिल से लगभग ५०० वर्ष पूर्व हुए कलिग सम्राट् महा मेघवाहन खारवेल भिक्खुराय, के कुमारी पर्वत की हाथीगुफा मे उट्टकित करवाये गये शिलालेख से भी यही तथ्य प्रकाश मे आता है कि उसके शासन काल तक जैनधर्म सघ मे मूर्तिपूजा, एव मन्दिर निर्माण का प्रचलन नही हुआ था। खारवेल का यह शिलालेख जैनधर्म के सम्बन्ध मे अब तक प्रकाश मे आये हुए शिलालेखो मे सबसे प्राचीन और सबसे बडा शिलालेख है। इसमे आज तक अन्यत्र कही उपलब्ध नही हुए महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यो के साथ-साथ खारवेल द्वारा अपने १३ वर्षों (वीर नि० स० ३१६ से ३२९ तक) के शासनकाल मे किये गये सभी महत्वपूर्ण कार्यो का विवरण दिया गया है। वे महत्वपूर्ण कार्य इस शिलालेख मे निम्नलिखित क्रम से उट्टकित है —

(तीसरी पक्ति) —अभिषिक्त होते ही अपने राज्य के प्रथम वर्ष मे श्री खारवेल ने (पूर्व मे आये) तूफान से गिरे (क्षतिग्रस्त) नगरद्वारो, नगरप्राकार और निवेसमनो (निवासगृहो) का सस्कार अर्थात् जीर्णोद्धार करवाया, कलिंग नगरी (राजधानी) के फव्वारो, इपितालो (पोखरो), तालाबो तथा बाधो को बधवाया

(जीर्णोद्धार करवाया) सभी उद्यानो का प्रतिसस्थापन, वातविहत वृक्षो, गुल्मो आदि के स्थान पर नये सिरे से वृक्षारोपण पूर्वक सस्कार—

(चौथी पक्ति)—करवाया और अपने कलिग राज्य की ३५ लाख प्रजा का रजन किया। दूसरे वर्ष मे सातकर्णि (राजा) की कोई चिन्ता न कर उसने पश्चिम देश को बहुत से हाथी, घोडो, पदातियो और रथो की एक विशाल सेना (चढाई अथवा आक्रमण के लिये) भेजी। कृष्णवेणा नदी पर पहुची हुई उसकी सेना ने मूषिकनगर को बहुत त्रस्त किया। तदनन्तर तीसरे वर्ष मे,

(पाचवी पक्ति)—गन्धर्ववेद के पारगत पण्डित उस (खारवेल) ने दम्प, नृत्य, गीत, वादित्र, सदर्शनो (तमाशो), उत्सवो, समाजो, (नाटक-दगलो) आदि से नगरी को प्रमुदित किया। चौथे वर्ष मे उन विद्याधराधिवासो को, जो पूर्व मे कभी नही गिराये (विजित किये) गये तथा जो कलिग के पूर्वज राजाओ द्वारा बनाये गये थे (पराजित किया) उसने समस्त राष्ट्रिको तथा भोजको के मुकुटो को व्यर्थ कर उनके जिरह—बख्तरो अर्थात् लौह निर्मित कवचो—को तलवार के प्रहारो से दो पल्लो मे काट कर उनके छत्र और भृगारो को नष्ट भ्रष्ट एव भूलु ठित कर उनके रत्न एव बहुमूल्य सम्पत्ति का हरण कर उन राष्ट्रिको एव भोजको से अपने चरणो की वन्दना करवाई। तदनन्तर अपने राज्य के पाचवे वर्ष मे उसने नन्दराज (उदायी के उत्तराधिकारी नन्दिवर्द्धन—प्रथम नन्द द्वारा अपने राज्य के १९ वे वर्ष तदनुसार नन्द स० १९ और वीर नि० स० ७९ मे) द्वारा आज (हाथीगुफा के इस शिलालेख के उट्टकन काल से ३०० वर्ष पूर्व खुदवाई गई) नहर को तनसुलिय मार्ग से नगर (कलिग राजधानी) मे प्रविष्ट किया। (छठे वर्ष मे यज्ञार्थ) अभिषिक्त हो उसने राजसूय यज्ञ कर सब करो को (सातवी पक्ति) क्षमा कर दिया। अनेक प्रकार के अनुग्रह पौर एव जानपद (सस्थाओ) को प्रदान किये। सातवे वर्ष राज्य करते हुए वज्जिवश की धृष्टि नाम की गृहिणी (महारानी) ने मातृक पद को पूर्ण कर सुकुमार (पुत्र को जन्म दिया)

आठवे वर्ष मे खारवेल ने बडे प्राकार वाले गोरथगिरि पर एक बडी सेना द्वारा—

(आठवी पक्ति) आक्रमण कर के राजगृह को घेर लिया। उसके शौर्य के सन्नाद (इस समाचार) को सुन यवनराज डिमित (डिमिट्रियस) मथुरा (के घेरे) को छोडकर (स्वदेश की ओर) लौट गया। (नौवे वर्ष मे) उसने दिये पल्लव युक्त—(नौवी पक्ति)—कल्पवृक्ष, सारथी सहित हय—गज—रथ और सब को अग्निवेदिका सहित गृह आवास एव परिवसन। सब दान को ग्रहण कराये जाने के लिये उसने ब्राह्मणो की जाति पक्ति (जातीय सगठनो) को भूमि प्रदान की। अर्हत् व न गिय—(१०वी पक्ति) (क) f मान (ति—वि) उसने

महाविजय प्रासाद नामक राजसन्निवास अडतीस लाख (अठतीसाय सतसहसेहिं) की लागत का बनवाया ।

दशवे वर्ष मे उसने पवित्र विधानो द्वारा युद्ध की तैयारी करके देश जीतने की इच्छा से दण्ड, सन्धि एव शाम नीति से उत्तरी भारत की ओर प्रस्थान किया । उस आक्रमण मे बिना किसी क्लेश के आक्रान्त लोगो से मणि और रत्नो को प्राप्त किया ।

(११वी पक्ति) ग्यारहवे वर्ष मे, पूर्व राजा द्वारा १३०० वर्ष पूर्व मडप मे निवेशित (एव) समस्त (कलिग) जनपद की मनभावन, मोटी लकडी के बडे-बडे पहियो वाली, तिक्त (नीम की) काष्ठ से निर्मित केतुभद्र की ऊची और विशाल मूर्ति को उसने (खारवेल ने) उत्सव से निकाला ।

बारहवे वर्ष मे उसने उत्तरापथ—उत्तरी पजाब और सीमान्त प्रदेश के राजाओ मे त्रास उत्पन्न किया ।

(बारहवी पक्ति) और मगध के निवासियो मे बिपुल भय उत्पन्न करते हुए उसने अपने हाथियो को गगा पार कराया और मगध के राजा बृहस्पतिमित्र से अपने चरणो की वन्दना करवाई । नन्दराज द्वारा (पूर्व मे) ले जाये गये कालिग जिन (?? जन ??) सन्निवेश[1] (कालिग जिन सन्निवेश ? अथवा कलिग जन सन्निवेश ?) गृहरत्नो और अग तथा मगध के धन को भी वह (खारवेल) ले गया ।

(तेरहवी पक्ति)—उसने जठरोल्लिखित (जिनके भीतर की ओर लेख लिखित है) उत्तम शिखर, सौ कारीगरो को भूमि प्रदान कर बनवाये और यह बडे आश्चर्य की बात है कि वह पाण्ड्यराज से हस्तिनावो (हाथियो को ढोने वाली विशाल नावो) मे सभी प्रकार की बहुमूल्य वस्तुए—घोडे, हाथी, रत्न, माणिक्य, मौक्तिक और मणिरत्न खचाखच भरवा कर लाया । वहा रह कर

(चौदहवी पक्ति)—उसने के निवासियो को वश मे किया ।

तदनन्तर तेरहव वर्ष मे (उसने) उन जप—जाप करने वालो को, सब सुपर्वतो मे विजयी चक्र के समान अर्थात् श्रेष्ठ आदरणीय कुमारी पर्वत पर स्थित निषद्याओ (समाधियो) पर कुशल-क्षेम के लिये जप का जाप करने वाले लोगो को जप पूर्ण होने पर राजभृतिया वितरित की और उन्हे उसी प्रकार निषद्याओ पर

---

[1] मर विनियम मोन्योर का सस्कृत से आग्ल भाषा शब्दकोष देखें ।

पूजा जप जाप मे निरत रहने का आदेश दिया । उपासक अर्थात् श्रमणोपासक श्री खारवेल ने जीव और देह के भेद को परखा ।[1]

(१५वी पक्ति) सुकृति (स्व—पर—कल्याणकारी कार्यो मे निरत रहने वाले) शास्त्रनेत्र (धारक) ज्ञानी अथवा ज्ञात (ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर की शिष्य परम्परा के) तपस्वी ऋषि सुबिहित श्रमणो के लिये सघायन (एकत्र होने का भवन) बनाया । अर्हत् निषद्या (अर्हत् की समाधि) के पास अनेक योजनो की दूरी से लाई गई, श्रेष्ठ खदानो से निकाली गई भारी भरकम शिलाओ से अपनी सिंहप्रस्थी रानी घुसियाघृष्टि के लिये विश्रामागार

(१६वी पक्ति) पाटालिकाओ मे वैडुर्यजटित ऊचे स्तम्भो को पचहत्तर लाख पणो (मुद्राओ) के व्यय से प्रतिष्ठापित किया । मौर्य सवत्सर १६४ व्यतीत[2] होते-होते यह (शिलालेख) उट्टकित करवाया जाता है ।

वह क्षेमराज, वह बर्द्धराज, वह भिक्षुराज और धर्मराज कल्याणो को देखता हुआ, सुनता हुआ एव अनुभव करता हुआ

(१७वी पक्ति) गुणविशिष्ट कुशल, सब धर्मो का आदर करने वाला, सभी देवायतनो का सस्कार कराने वाला, अप्रतिहत रथसेना, हस्त्यारोही सेना, अश्वारोही सेना और पदातिसेना बाला, चक्रघुर (सेना मे सबसे आगे रहने वाला), सेना का सरक्षक, जिसकी सेना सदा विजय मे प्रवृत्त रही, जो राजर्षि कुल मे उत्पन्न हुआ, ऐसा वहाविजयी राजा था श्री खारवेल ।

हाथीगुफा मे वीर नि स ३७६ मे उट्ट कित करवाये गये सर्वाधिक प्राचीन और सबसे बडे जैन शिलालेख मे वीर नि स ३१६-१७ से ३२६ तक के अपने राज्य-काल मे महामेघवाहन खारवेल द्वारा किये गये सभी महत्त्वपूर्ण कार्यो का काल बद्ध विवरण दिया गया है । इस पूरे अभिलेख मे एक भी नये जिन मन्दिर के निर्माण का, किसी एक भी प्राचीन जिनमन्दिर के जीर्णोद्धार का, मूर्ति की प्रतिष्ठा का

---

१ जीव—देह सिरिका परिखिता "इस पद की सस्कृत छाया जीव—देह श्रीका परिक्षिता" होती है । इसका अर्थ है जीव और देह के भेद को समझा । सिरि अर्थात् श्री का एक अर्थ प्रकार और भेद भी होता है (पाइय सद्दमहण्णवो) यहा सिरिका शब्द भेद अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है ।

२ अशोक ने कलिंग विजय के पश्चात् समस्त कलिंग राज्य मे भी मौर्य सम्वत् का प्रचलन किया था, जैसा कि अप्रकाशित हिमवन्त स्थविरावली मे लिखा है —

"तयणतर वीराओ दोसयाहिय अउणचत्तालि वासेसु विइक्कतेसु मगहा हिवो असोग णिवो कलिंग जणवयमाकम्म खेमराज णिव णियाण मन्नावेइ । तत्थ ण से णिय गुत्त (गोत्र मौर्य) सवच्छर पवत्तावेइ ।"

हिमवन्त स्थविरावली की हस्तलिखित प्रति आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञानभण्डार, लाल भवन, चौडा रास्ता, जयपुर के सग्रह मे है ।

अथवा मूर्ति की पूजा का कही नाममात्र के लिए भी उल्लेख नही है । इस अभिलेख मे कलिगपति महामेघवाहन खारवेल को प्रजा के क्षेम-कुशल के लिये सदा सतत निरत रहने के कारण 'क्षेमराज,' राज्य, राजकोष और प्रजा की सुख समृद्धि मे सदा अभिवृद्धि करते रहने के कारण वर्द्धराज, भिक्षुओ,—जैन श्रमणो का परम भक्त रहने के कारण भिक्षुराज और मगधराज पुष्यमित्र के अत्याचारो से जैन धर्म की अथवा जैनधर्मावलम्बियो की रक्षा करने के कारण धर्मराज की विशिष्ट उपाधियो से विभूषित किया गया है । जिस प्रकार प्रगाढ विष्णुभक्ति के परिणामस्वरूप हिन्दु वैष्णव परम्परा के पुराणो मे महाराज अम्बरीष को परम भागवत के पद से विभूषित किया गया है, उसी प्रकार कलिगपति खारवेल को भी उनकी उत्कट अर्हत्‌भक्ति को देखते हुए यदि परमार्हत पद से विभूषित किया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी । इस प्रकार के परमार्हत् जिन शासनसेवा आदि धार्मिक कार्य-कलापो मे अत्यधिक रुचि रखने वाला महाराजा खारवेल अपने तेरह वर्षो के शासनकाल मे राजप्रासादो, नगरद्वारो, नगर प्राकार, फव्वारो, तालो, बान्धो, बाग-बगीचो, उपवनो का जीर्णोद्धार, पुर्ननिर्माण, सस्कार तो करवाये, नृत्यगीत, वाद्य, नाटक, उत्सव, सगोष्ठियो का आयोजन कर नगरनिवासियो का मनोरजन करे, राजसूय यज्ञ के अनुष्ठान के पश्चात् अनेक प्रकार के जनकल्याणकारी कार्य करे, ब्राह्मणो को विपुलतर महार्घ्य चल-अचल सम्पत्ति का दान करे, अडतीस लाख मुद्राओ के व्यय से महाविजय प्रासाद का निर्माण करवाये, केतुभद्र यक्ष की तिक्त काष्ठ से बनी अति विशालकाय मूर्ति को नगर मे महोत्सवपूर्वक निकाले, अर्हत् निषद्या (अर्हत् समाधि) पर याप-जापको द्वारा प्राणिमात्र के कुशल क्षेम के लिए जाप करवाये । याप-ज्ञापको को राजभृत्तिया प्रदान कर उन्हे उसी प्रकार जप जाप मे निरत रहने की आज्ञा दे और अपनी पट्टमहिषी धृष्टि के लिए अर्हत् समाधि के पास ही पचहत्तर लाख मुद्राए व्यय कर रत्नजटित स्तम्भो वाला अतिरमणीय अतिविशाल विश्रामागार बनवाये पर एक भी मूर्ति की प्रतिष्ठा न करे, एक भी मन्दिर का निर्माण अथवा जीर्णोद्धार न करे, किसी जिनमूर्ति अथवा जिनमन्दिर की पूजा आदि के लिए एक भी राजभृति प्रदान न करे तो इससे यही सिद्ध होता है कि खारवेल के शासनकाल तक जैन धर्म मे मूर्तिपूजा और मन्दिर—निर्माण का न केवल प्रचलन ही नही हुआ था अपितु मूर्तिपूजा के लिये धर्मकृत्यो मे विधिविधान न होने के कारण किसी भी जैनधर्मावलम्बी के मन, मस्तिष्क एव हृदय मे इनके लिये कोई स्थान भी नही था । यदि खारवेल के शासनकाल तक जैन धर्मावलम्बियो मे मूर्तिपूजा का प्रचलन हो गया होता, तो जहा खारवेल ने सुविहित परम्परा के श्रमणो के लिए सघायन का निर्माण करवाया, अर्हत्—समाधि (निषद्या) पर क्षेम-कुशल हेतु जप-जाप करने वालो के लिए राजभृत्तिया प्रदान की, महारानी के लिये यदा कदा उस रमणीय पवित्र पर्वत पर आगमन के अवसरो पर विश्राम हेतु अर्हत् समाधि स्थल के समीप भव्य विश्रामागार बनवाया उसी प्रकार वहा वे एक न एक जिन मन्दिर का निर्माण एव मूर्ति की प्रतिष्ठा अवश्य करवाते और उनकी नियमित

पूजा जप जाप मे निरत रहने का आदेश दिया । उपासक अर्थात् श्रमणोपासक श्री खारवेल ने जीव और देह के भेद को परखा ।[1]

(१५वी पक्ति) सुकृति (स्व—पर—कल्याणकारी कार्यो मे निरत रहने वाले) शास्त्रनेत्र (धारक) ज्ञानी अथवा ज्ञात (ज्ञातपुत्र श्रमण भगवान् महावीर की शिष्य परम्परा के) तपस्वी ऋषि सुविहित श्रमणो के लिये सघायन (एकत्र होने का भवन) बनाया । अर्हत् निषद्या (अर्हत् की समाधि) के पास अनेक योजनो की दूरी से लाई गई, श्रेष्ठ खदानो से निकाली गई भारी भरकम शिलाओ से अपनी सिंहप्रस्थी रानी धुसियाघृष्टि के लिये विश्रामागार

(१६वी पक्ति) पाटालिकाओ मे वैडुर्यजटित ऊचे स्तम्भो को पचहत्तर लाख पणो (मुद्राओ) के व्यय से प्रतिष्ठापित किया । मौर्य सवत्सर १६४ व्यतीत[2] होते-होते यह (शिलालेख) उट्टकित करवाया जाता है ।

वह क्षेमराज, वह बर्द्धराज, वह भिक्षुराज और धर्मराज कल्याणो को देखता हुआ, सुनता हुआ एव अनुभव करता हुआ

(१७वी पक्ति) गुणविशिष्ट कुशल, सब धर्मो का आदर करने वाला, सभी देवायतनो का सस्कार कराने वाला, अप्रतिहत रथसेना, हस्त्यारोही सेना, अश्वारोही सेना और पदातिसेना वाला, चक्रधुर (सेना मे सबसे आगे रहने वाला), सेना का सरक्षक, जिसकी सेना सदा विजय मे प्रवृत्त रही, जो राजर्षि कुल मे उत्पन्न हुआ, ऐसा वहाविजयी राजा था श्री खारवेल ।

हाथीगुफा मे वीर नि स ३७९ मे उट्टकित करवाये गये सर्वाधिक प्राचीन और सबसे बडे जैन शिलालेख मे वीर नि स ३१६-१७ से ३२९ तक के अपने राज्य-काल मे महामेघवाहन खारवेल द्वारा किये गये सभी महत्त्वपूर्ण कार्यो का काल बद्ध विवरण दिया गया है । इस पूरे अभिलेख मे एक भी नये जिन मन्दिर के निर्माण का, किसी एक भी प्राचीन जिनमन्दिर के जोर्णोद्धार का, मूर्ति की प्रतिष्ठा का

---

१ जीव—देह सिरिका परिखिता "इम पद की सस्कृत छाया जीव—देह श्रीका परिक्षिता" होती है । इसका अर्थ है जीव और देह के भेद को समझा । सिरि अर्थात् श्री का एक अर्थ प्रकार और भेद भी होता है (पाइय सद्दमहण्णवो) यहा सिरिका शब्द भेद अर्थ मे ही प्रयुक्त हुआ है ।

२ अशोक ने कलिंग विजय के पश्चात् समस्त कलिंग राज्य मे भी मौर्य सम्वत् का प्रचलन किया था, जैसा कि अप्रकाशित हिमवन्त स्थविरावली मे लिखा है —

"तयणतर वीराओ दोसयाहिय अउणचत्तालि वासेसु विइक्कतेसु मगहा हिवो असोग णिवो कलिंग जणवयमाकम्म खेमराज णिव णियाण मन्नावेइ । तत्थ ण से णिय गुत्त (गोत्र मौर्य) सवच्छर पवत्तावेइ ।"

हिमवन्त स्थविरावली की हस्तलिखित प्रति आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञानभण्डार, लाल भवन, चौडा रास्ता, जयपुर के सग्रह मे है ।

अथवा मूर्ति की पूजा का कही नाममात्र के लिए भी उल्लेख नही है । इस अभिलेख मे कलिगपति महामेघवाहन खारवेल को प्रजा के क्षेम-कुशल के लिये सदा सतत निरत रहने के कारण 'क्षेमराज,' राज्य, राजकोष और प्रजा की सुख समृद्धि मे सदा अभिवृद्धि करते रहने के कारण वर्द्धराज, भिक्षुओ,—जैन श्रमणो का परम भक्त रहने के कारण भिक्षुराज और मगधराज पुष्यमित्र के अत्याचारो से जैन धर्म की अथवा जैनधर्मावलम्बियो की रक्षा करने के कारण धर्मराज की विशिष्ट उपाधियो से विभूषित किया गया है । जिस प्रकार प्रगाढ विष्णुभक्ति के परिणामस्वरूप हिन्दु वैष्णव परम्परा के पुराणो मे महाराज अम्बरीष को परम भागवत के पद से विभूषित किया गया है, उसी प्रकार कलिगपति खारवेल को भी उनकी उत्कट अर्हत्भक्ति को देखते हुए यदि परमार्हत पद से विभूषित किया जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी । इस प्रकार के परमार्हत् जिन शासनसेवा आदि धार्मिक कार्य-कलापो मे अत्यधिक रुचि रखने वाला महाराजा खारवेल अपने तेरह वर्षो के शासनकाल मे राजप्रासादो, नगरद्वारो, नगर प्राकार, फव्वारो, तालो, बान्धो, बाग-बगीचो, उपवनो का जीर्णोद्धार, पुर्ननिर्माण, सस्कार तो करवाये, नृत्यगीत, वाद्य, नाटक, उत्सव, सगोष्ठियो का आयोजन कर नगरनिवासियो का मनोरजन करे, राजसूय यज्ञ के अनुष्ठान के पश्चात् अनेक प्रकार के जनकल्याणकारी कार्य करे, ब्राह्मणो को विपुलतर महार्घ्य चल-अचल सम्पत्ति का दान करे, अडतीस लाख मुद्राओ के व्यय से महाविजय प्रासाद का निर्माण करवाये, केतुभद्र यक्ष की तिक्त काष्ठ से बनी अति विशालकाय मूर्ति को नगर मे महोत्सवपूर्वक निकाले, अर्हत् निषद्या (अर्हत् समाधि) पर याप-जापको द्वारा प्राणिमात्र के कुशल क्षेम के लिए जाप करवाये । याप-ज्ञापको को राजभृत्तिया प्रदान कर उन्हे उसी प्रकार जप जाप मे निरत रहने की आज्ञा दे और अपनी पट्टमहिषी घृष्टि के लिए अर्हत् समाधि के पास ही पचहत्तर लाख मुद्राए व्यय कर रत्नजटित स्तम्भो वाला अतिरमणीय अतिविशाल विश्रामागार बनवाये पर एक भी मूर्ति की प्रतिष्ठा न करे, एक भी मन्दिर का निर्माण अथवा जीर्णोद्धार न करे, किसी जिनमूर्ति अथवा जिनमन्दिर की पूजा आदि के लिए एक भी राजभृति प्रदान न करे तो इससे यही सिद्ध होता है कि खारवेल के शासनकाल तक जैन धर्म मे मूर्तिपूजा और मन्दिर—निर्माण का न केवल प्रचलन ही नही हुआ था अपितु मूर्तिपूजा के लिये धर्मकृत्यो मे विधिविधान न होने के कारण किसी भी जैनधर्मावलम्बी के मन, मस्तिष्क एव हृदय मे इनके लिये कोई स्थान भी नही था । यदि खारवेल के शासनकाल तक जैन धर्मावलम्बियो मे मूर्तिपूजा का प्रचलन हो गया होता, तो जहा खारवेल ने सुविहित परम्परा के श्रमणो के लिए सघायन का निर्माण करवाया, अर्हत्—समाधि (निषद्या) पर क्षेम-कुशल हेतु जप-जाप करने वालो के लिए राजभृत्तिया प्रदान की, महारानी के लिये यदा कदा उस रमणीय पवित्र पर्वत पर आगमन के अवसरो पर विश्राम हेतु अर्हत् समाधि स्थल के समीप भव्य विश्रामागार बनवाया उसी प्रकार वहा वे एक न एक जिन मन्दिर का निर्माण एव मूर्ति की प्रतिष्ठा अवश्य करवाते और उनकी नियमित

पूजा व्यवस्था हेतु पुजारियो के लिये भूमिदान ग्रामदान आदि के रूप मे राजभृति की व्यवस्था निश्चित रूप से करते एव शिलालेख मे अन्यान्य कार्यों का जिस प्रकार क्रमश उल्लेख किया गया है उसी प्रकार इन आत्यन्तिक महत्व के कार्यों का भी निश्चित रूप से उल्लेख किया जाता । इस शिलालेख की १७वी पक्ति मे खारवेल को सर्वदेवायतन सस्कारक बताया गया है । यदि उसके राज्यकाल तक जैनो अथवा बौद्धो मे मूर्तिपूजा एव मन्दिर–निर्माण का प्रचलन हो गया होता तो वे जैन एव बौद्ध मन्दिर भी तूफान मे अवश्यमेव क्षतिग्रस्त होते और खारवेल तूफान मे क्षतिग्रस्त हुए प्रासाद, प्राकार, राजमहल, उपवन, फव्वारो आदि की तरह उन जैन मन्दिरो व बौद्ध मन्दिरो का जीर्णोद्धार भी अवश्य करवाता । इतना ही नही, यदि खारवेल के समय तक जैनो अथवा बौद्धो मे मूर्तिपूजा एव मन्दिरनिर्माण का प्रचलन हो गया होता तो खारवेल जैसा परमार्हत एव जैन धर्म के प्रति प्रगाढ निष्ठा रखने वाला राजा कलिंग की राजधानी मे और कुमारी पर्वत पर एक दो जैन मन्दिरो का नव्य-भव्य निर्माण तो अवश्यमेव ही करवाता । किन्तु शिलालेख साक्षी है कि ऐसा कुछ भी नही किया गया ।

खारवेल के इस शिलालेख से प्रकाश मे आये इन तथ्यो पर इतिहासज्ञ स्वय विचारकर निर्णय करे कि वे किस सत्य की ओर इगित कर रहे है ।

खारवेल के इस शिलालेख से एक यह तथ्य भी प्रकाश मे आता है कि वीर निर्वाण से लेकर इस शिलालेख के उट्टकनकाल (वीर नि स ३७९) तक मूर्तिपूजा और मन्दिर निर्माण का प्रचलन बौद्धो मे भी नही हुआ था । यदि उपर्युक्त अवधि मे बौद्धो मे मूर्तिपूजा अथवा मन्दिर निर्माण का प्रचलन हो गया होता तो मौर्य सम्राट् अशोक जैसा अपने समय का बौद्ध धर्म का सबसे बडा उपासक राजा कलिग विजय के पश्चात् कलिग मे किसी भव्य बौद्ध मन्दिर अथवा प्रतिमा का निर्माण अवश्य करवाता और सर्वधर्मो के देवायतनो के सस्कार के विरुद से विभूषित खारवेल उस मन्दिर का जीर्णोद्धार अवश्यमेव करवाता तथा उस जीर्णोद्धार का उल्लेख इस शिलालेख मे निश्चित रूप से होता । इसी प्रकार उपर्युक्त अवधि मे किसी समय जैनधर्म मे भी मूर्तिपूजा अथवा मन्दिर निर्माण को कोई स्थान मिला होता तो खारवेल के सिंहासनारूढ होने से केवल २६ वर्ष पहले स्वर्गस्थ हुआ मौर्य सम्राट् सम्प्रति भी कलिग की राजधानी अथवा पवित्र कुमारी पर्वत पर अवश्यमेव जिन-मूर्ति की प्रतिस्ठापना और जैन मन्दिर का निर्माण करवाता । खारवेल के सिंहासनारूढ होने से पूर्व कलिग मे आये तूफान मे जिस प्रकार राजप्रसाद, भवन गोपुर, प्राकार आदि भूलु ण्ठित अथवा क्षतिग्रस्त हुए, उसी प्रकार कोई न कोई जैन मन्दिर भी क्षतिग्रस्त होता और परमार्हत खारवेल द्वारा उसके जीर्णोद्धार का इस शिलालेख मे अवश्य ही उल्लेख होता ।

पर वस्तुस्थिति इससे पूर्णत विपरीत है, क्योकि खारवेल ने अपने १६ वर्ष के राज्यकाल मे धर्मरक्षा, धर्माभ्युदय और लोककल्याण के अनेक कार्य किये पर

न किसी मूर्ति की प्रतिष्ठा की, न एक भी मन्दिर का निर्माण करवाया और न केतुभद्र यक्ष की विशालकाय काष्ठमूर्ति के अतिरिक्त किसी मूर्ति अथवा मन्दिर के किसी उत्सव का ही आयोजन किया।

इस प्रकार इस शिलालेख मे उल्लिखित तथ्य सत्यान्वेषी सभी व र्णाचार्यो, इतिहासविदो, शोधार्थियो, गवेषको और प्रबुद्ध तत्वजिज्ञासुओ को उन निर्युक्तियो, चूर्णियो, महाभाष्यो, पट्टावलियो एव अन्याय ग्रन्थो के उन सभी उल्लेखो पर क्षीर-नीर-विवेकपूर्ण निष्पक्ष दृष्टि से गहन विचार करने की प्रेरणा देते है, जिनमे मौर्य सम्राट् परमार्हत् सम्प्रति के लिये कहा गया है कि उसने तीनो खण्डो की पृथ्वी को जिनमन्दिरो से मण्डित कर दिया था।

यह तो एक ऐतिहासिक तथ्य है कि खारवेल का हाथी गु फा वाला उपरि-वर्णित शिलालेख निर्युक्तियो, चूर्णियो भाष्यो एव पट्टावलियो से अनेक शताब्दियो पूर्व का है। ये निर्युक्तिया आदि वस्तुत इस शिलालेख से बहुत पीछे की कृतिया है। प्रसिद्ध पुरातत्वविद् विद्यामहोदधि श्री काशीप्रसाद जायसवाल, एम ए बार-एट ला ने तो इस शिलालेख के सम्बन्ध मे यहा तक लिखा है —

(१) ' पर ऐतिहासिक घटनाओ और जीवन चरित् को अकित करने वाला भारतवर्ष का यह सबसे पहला शिलालेख है।[1]

(२) जैन धर्म का यह अब तक सबसे प्राचीन लेख है।[2]

(३) "मालूम रहे कि कोई जैनग्रन्थ इतना पुराना नही है, जितना कि यह लेख है।[3]

एक ओर तो वीर नि० की चौथी शताब्दी मे उट्ट किल खारवेल के सर्वाधिक प्राचीन शिलालेख मे विविध धर्मकार्यो का विवरण होते हुए भी मूर्तिपूजा अथवा मन्दिर निर्माण का कही नामोल्लेख तक नही और दूसरी ओर इस शिलालेख से क्रमश ८००, ९००, १३७० और इससे भी बडे उत्तरवर्ती काल के भाष्यकारो,[4]

---

[1] कलिंग चक्रवर्ती महाराज के शिलालेख का विवरण (काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से सन् १९२८ मे प्रकाशित), पृष्ठ २

[2] वही पृष्ठ ६

[3] वही पृष्ठ ११

[4] अणुयाणे अणुयाति, पुप्फारूहणाइ उक्खीरणगाई।
पूय च चेतियाण, ते वि सरज्जेसु कारेति ॥ ५७५४ ॥
निशीथ भाष्य, भाग ४, पृष्ठ १३१

पूजा व्यवस्था हेतु पुजारियो के लिये भूमिदान ग्रामदान आदि के रूप मे राजभृति की व्यवस्था निश्चित रूप से करते एव शिलालेख मे अन्यान्य कार्यो का जिस प्रकार क्रमश उल्लेख किया गया है उसी प्रकार इन आत्यन्तिक महत्व के कार्यो का भी निश्चित रूप से उल्लेख किया जाता। इस शिलालेख की १७वी पक्ति मे खारवेल को सर्वदेवायतन सस्कारक बताया गया है। यदि उसके राज्यकाल तक जैनो अथवा बौद्धो मे मूर्तिपूजा एव मन्दिर-निर्माण का प्रचलन हो गया होता तो वे जैन एव बौद्ध मन्दिर भी तूफान मे अवश्यमेव क्षतिग्रस्त होते और खारवेल तूफान मे क्षतिग्रस्त हुए प्रासाद, प्राकार, राजमहल, उपवन, फव्वारो आदि की तरह उन जैन मन्दिरो व बौद्ध मन्दिरो का जीर्णोद्धार भी अवश्य करवाता। इतना ही नही, यदि खारवेल के समय तक जैनो अथवा बौद्धो मे मूर्तिपूजा एव मन्दिरनिर्माण का प्रचलन हो गया होता तो खारवेल जैसा परमार्हत एव जैन धर्म के प्रति प्रगाढ निष्ठा रखने वाला राजा कलिंग की राजधानी मे और कुमारी पर्वत पर एक दो जैन मन्दिरो का नव्य-भव्य निर्माण तो अवश्यमेव ही करवाता। किन्तु शिलालेख साक्षी है कि ऐसा कुछ भी नही किया गया।

खारवेल के इस शिलालेख से प्रकाश मे आये इन तथ्यो पर इतिहासज्ञ स्वय विचारकर निर्णय करे कि वे किस सत्य की ओर इगित कर रहे है।

खारवेल के इस शिलालेख से एक यह तथ्य भी प्रकाश मे आता है कि वीर निर्वाण से लेकर इस शिलालेख के उट्टकनकाल (वीर नि स ३७९) तक मूर्तिपूजा और मन्दिर निर्माण का प्रचलन बौद्धो मे भी नही हुआ था। यदि उपर्युक्त अवधि मे बौद्धो मे मूर्तिपूजा अथवा मन्दिर निर्माण का प्रचलन हो गया होता तो मौर्य सम्राट् अशोक जैसा अपने समय का बौद्ध धर्म का सबसे बडा उपासक राजा कलिग विजय के पश्चात् कलिंग मे किसी भव्य बौद्ध मन्दिर अथवा प्रतिमा का निर्माण अवश्य करवाता और सर्वधर्मो के देवायतनो के सस्कार के विरुद से विभूषित खारवेल उस मन्दिर का जीर्णोद्धार अवश्यमेव करवाता तथा उस जीर्णोद्धार का उल्लेख इस शिलालेख मे निश्चित रूप से होता। इसी प्रकार उपर्युक्त अवधि मे किसी समय जैनधर्म मे भी मूर्तिपूजा अथवा मन्दिर निर्माण को कोई स्थान मिला होता तो खारवेल के सिहासनारूढ होने से केवल २६ वर्ष पहले स्वर्गस्थ हुआ मौर्य सम्राट् सम्प्रति भी कलिग की राजधानी अथवा पवित्र कुमारी पर्वत पर अवश्यमेव जिनमूर्ति की प्रतिस्ठापना और जैन मन्दिर का निर्माण करवाता। खारवेल के सिहासनारूढ होने से पूर्व कलिग मे आये तूफान मे जिस प्रकार राजप्रसाद, भवन गोपुर, प्राकार आदि भूलु ण्ठित अथवा क्षतिग्रस्त हुए, उसी प्रकार कोई न कोई जैन मन्दिर भी क्षतिग्रस्त होता और परमार्हत खारवेल द्वारा उसके जीर्णोद्धार का इस शिलालेख मे अवश्य ही उल्लेख होता।

पर वस्तुस्थिति इससे पूर्णत विपरीत है, क्योकि खारवेल ने अपने १६ वर्ष के राज्यकाल मे धर्मरक्षा, धर्माभ्युदय और लोककल्याण के अनेक कार्य किये पर

न किसी मूर्ति की प्रतिष्ठा की, न एक भी मन्दिर का निर्माण करवाया और न केतुभद्र यक्ष की विशालकाय काष्ठमूर्ति के अतिरिक्त किसी मूर्ति अथवा मन्दिर के किसी उत्सव का ही आयोजन किया।

इस प्रकार इस शिलालेख मे उल्लिखित तथ्य सत्यान्वेषी सभी धर्माचार्यो, इतिहासविदो, शोधार्थियो, गवेपको और प्रबुद्ध तत्वजिज्ञासुओ को उन निर्युक्तियो, चूर्णियो, महाभाष्यो, पट्टावलियो एव अन्याय ग्रन्थो के उन सभी उल्लेखो पर क्षीर-नीर-विवेकपूर्ण निष्पक्ष दृष्टि से गहन विचार करने की प्रेरणा देते है, जिनमे मौर्य सम्राट् परमार्हत् सम्प्रति के लिये कहा गया है कि उसने तीनो खण्डो की पृथ्वी को जिनमन्दिरो से मण्डित कर दिया था।

यह तो एक ऐतिहासिक तथ्य है कि खारवेल का हाथी गुफा वाला उपरिवर्णित शिलालेख निर्युक्तियो, चूर्णियो भाष्यो एव पट्टावलियो से अनेक शताब्दियो पूर्व का है। ये निर्युक्तिया आदि वस्तुत इस शिलालेख से बहुत पीछे की कृतिया है। प्रसिद्ध पुरातत्वविद् विद्यामहोदधि श्री काशीप्रसाद जायसवाल, एम ए बार-एट ला ने तो इस शिलालेख के सम्बन्ध मे यहा तक लिखा है —

(१) ' पर ऐतिहासिक घटनाओ और जीवन चरित् को अकित करने वाला भारतवर्ष का यह सबसे पहला शिलालेख है।[1]

(२) जैन धर्म का यह अब तक सबसे प्राचीन लेख है।[2]

(३) "मालूम रहे कि कोई जैनग्रन्थ इतना पुराना नही है, जितना कि यह लेख है।[3]

एक ओर तो वीर नि० की चौथी शताब्दी मे उट्टकित खारवेल के सर्वाधिक प्राचीन शिलालेख मे विविध धर्मकार्यो का विवरण होते हुए भी मूर्तिपूजा अथवा मन्दिर निर्माण का कही नामोल्लेख तक नही और दूसरी ओर इस शिलालेख से क्रमश ८००, ९००, १३७० और इससे भी बडे उत्तरवर्ती काल के भाष्यकारो,[4]

---

[1] कलिंग चक्रवर्ती महाराज के शिलालेख का विवरण (काशी नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से सन् १९२८ मे प्रकाशित), पृष्ठ २

[2] वही पृष्ठ ६

[3] वही पृष्ठ ११

[4] अणुयाणे अणुयाति, पुप्फारुहणाइ उक्खीरणगाई।
पूय च चेतियाण, ते वि सरज्जेसु कारेंति ।। ५७५४ ।।
निशीथ भाष्य, भाग ४, पृष्ठ १३१

चूर्णिकारो,[१] परिरिशिष्ट पर्वकारो और पट्टावलीकारो[२] द्वारा स्थान-स्थान पर मूर्तिपूजा और जिनमन्दिर निर्माण के उल्लेखो के साथ-साथ खारवेल के सिंहासनारूढ होने से केवल २३ वर्ष पूर्व स्वर्गस्थ हुए सम्प्रति द्वारा स्थान-स्थान पर जिनमन्दिरो के निर्माण करवाये जाने और त्रिखण्ड की भूमि को जिनमन्दिरो से मण्डित कर दिये जाने के अनेकश उल्लेख किये गये है।

वीर नि स ३१६ से वीर नि स ३२९ तक एक परम धर्मनिष्ठ जैन राजा के राज्यकाल मे किये गये धर्मकार्यो एव अन्यान्य प्रमुख कार्यो के विवरण मे मूर्तिपूजा का, मन्दिर निर्माण का, रथयात्रा का, रथ पर पुष्पवर्षा का, रथ के आगे अनेक प्रकार के फलो, विविध खाद्य पदार्थो, कौडियो एव वस्त्र आदि की उछाल का कोई उल्लेख नही और उस लेख से ८०० से लेकर १८०० वर्ष पश्चात् लिखे गये ग्रन्थो मे मूर्तिपूजा, मन्दिर—निर्माण रथयात्रा आदि के उत्तरोत्तर अतिरजित अभिवृद्धि के साथ उल्लेख है, यह एक इस प्रकार की स्थिति है जो सर्वसाधारण को हठात् बडे असमजस मे डाल देने के साथ तत्वजिज्ञासुओ, तथ्य के गवेषको एव इतिहास मे अभिरुचि रखने वाले विज्ञो के मन—मस्तिष्क मे विचार—मन्थन उत्पन्न कर देती है।

यह तो एक सर्वसम्मत निर्विवाद सत्य है कि वीर निर्वाण के पश्चात् ३२९ (३१६ से ३२९ तक खारवेल का शासनकाल) से ३७९ (हाथीगुफा के शिलालेख के उट्टकन का अनुमानित काल) वर्ष की अवधि के बीच जो तथ्य शिला पर उट्टकित किये गये है, वे वीर नि० स० ११००, १२००, १७०० और २११६ मे निबद्ध किये गये भाष्य, चूर्णि, परिशिष्टपर्व, तपागच्छ पट्टावली आदि ग्रन्थो के उल्लेखो की अपेक्षा निश्चित रूपेण अधिक प्रामाणिक एव परम विश्वसनीय और तथ्यपरक हैं।

इन सब तथ्यो से अनुमान किया जाता है कि मूर्तिपूजा का प्रचलन चैत्यवासी परम्परा और यापनीय परम्परा ने कालान्तर मे प्रारम्भ किया। ऐसा प्रतीत होता है कि रत्नत्रयदेव की पूजा के अनन्तर यापनीय परम्परा ने चरणचिन्हो की पूजा का और तदनन्तर मूर्तिपूजा एव मन्दिर निर्माण आदि का प्रचलन किया।

---

१ अणुजाण रहजत्ता तेसु सो राया अणुजाणति भडचडगसहितो रहेण सह हिंडति, रहेसु पुप्फारूहणं करेंति, रहगतो य विविध फले खज्जगे य कवड्डग वत्थमादी य उक्खीरणे करेंति, अन्नेसिं च चेइयघरठियाण चेइया पूय करेंति, ते वि य रायाणो एव चेव सरज्जेसु कारवेंति ।। ५७४७ की चूर्णि —वही निशीथचूर्णि।

२ येन सम्प्रतिना त्रिखण्डमितापि मही जिनप्रासादमण्डिता विहिता। तपागच्छ पट्टावली। रचनाकाल वीर निर्वाण सम्वत् २११६ तदनुसार वि० स० १६४६

श्रुतसागर सूरि द्वारा यापनीय परम्परा की मान्यताओ के सम्वन्ध मे जो "रत्नत्रय पूजयन्ति" वाक्य का प्रयोग किया गया है, इसकी पुष्टि, "चिक्क मागडि" मे अवस्थित वसवण्ण मन्दिर के प्रागण मे जो एक स्तम्भ लेख विद्यमान है, उससे भी होती है। इस अति विस्तृत शिलालेख के अन्तिम भाग मे रत्नत्रय देव की वसदि के सम्बन्ध मे जो उल्लेख है वह निम्नलिखित रूप मे है —

"तत्पादपद्मोपजीवि श्रीमन्महा प्रधान वाहत्तर नियोगाधिपति महा प्रचड दडनायक रेचि देवरसनामा गुण्लिय रत्नत्रय देवर बसदियाचार्य्यर् भानुकीर्त्ति सिद्धान्त देवर बरिसि मुन्न समधिगत पच महा शब्द महामण्डलेश्वर बनवासिपुरवराधीश्वर पद्मावती देवी लब्धवरप्रसाद मृगमदामोद माक्कोॅल भैरव कादम्ब कण्ठी कामिनी लोल हुसिवर शूल निगलक मल्लनसु हृत् सेल्ल गण्डर दावरिण सुभट शिरोमरिण इत्यखिल नामावली समालकृतनप्प वाप्प देव वलिय बाड तलवेय त्रिभोगाभ्यन्तर विशुद्धियि सर्व्व बाधा परिहार सर्व्व नमश्यवागि परिकल्पिसिदुद शक वर्ष नूर नाल्कनेय सुद्ध पचमी बुधवारदन्दा रत्नत्रय देवर-भिषेकाद्यग भोग रग भोगक्क ऋपियराहार दानक्क विद्यार्थिगल वसदि पेस खण्ड स्पु (स्फो) टित जीर्णोद्धारक्कवेन्दु आ श्रीमन्मूल सघद काणूर ग्गरणद तिन्त्रिक गच्छद नुन्न वशद श्रीमद् भानुकीर्त्ति सिद्धान्त कोट्टु महाप्रधान कृत जयाकर्षरण विधान धनुर्विद्या धनजय नार्काण्णत रण रभस भीत भूद विद्याधर काव्य कला धरनेनिप मुरारि केशद देवगे धर्म्म प्रतिपालनम सर्मपिसिदनातन प्रभावमेन्तेन्दोडे ।।"[1]

इसमे रत्नत्रय देव वसदि और रत्नत्रय देव के अभिषेक अग भोग रग भोग और वहा रहने वाले मुनियो के और विद्यार्थियो के आहार आदि की व्यवस्था हेतु मूल सघ काणूरगणतिन्त्रिणीक गच्छ नुन्नवश के आचार्य भानुकीर्त्ति सिद्धान्तदेव को दान किये जाने का स्पष्ट उल्लेख है। इससे "रत्नत्रय पूजयन्ति" इस उपर्युल्लिखित उल्लेख की पुष्टि होती है कि यापनीय सघ मे रत्नत्रय (सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र) देव की पूजा किये जाने का पूर्व काल मे प्रचलन था। इस लेख मे रत्नत्रय देव मन्दिर के जीर्णोद्धार का भी इस दान के कारण के रूप मे उल्लेख होने से यह स्वत ही सिद्ध हो जाता है कि शक सम्वत् (१) १०४ तदनुसार ईसवी सन् (१) १८२ मे जिस वक्त यह दान दिया गया, यह रत्नत्रय देव का मन्दिर अथवा वसदि का भवन अति प्राचीन होने के कारण जीर्ण शीर्ण हो चुका था। रत्नत्रय देव की बसदि के अति प्राचीन और जीर्ण शीर्ण होने के उल्लेख से भी यह अनुमान किया जाता है कि यापनीय परम्परा मे प्रारम्भिक काल मे तीर्थंकरो की मूर्त्ति के स्थान पर रत्नत्रय देव की पूजा की परिपाटी प्रचलित थी।

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह लेख स० ४०८

इन सब के अतिरिक्त यापनीय परम्परा के विभिन्न गणो के आचार्यों की पट्टावलियो और अनेक लेखो मे यापनीय परम्परा के आचार्यो को दिये गये भूमि दान, ग्रामदान, एव उनकी भोजनादि की व्यवस्था के लिये किये गये क्षेत्रादि के दान से सम्बन्धित शिलालेख भी प्रचुर मात्रा मे उपलब्ध होते है। कम्बद हल्लि से प्राप्त शक सम्वत् १०४० के एक स्तम्भ लेख मे यापनीय परम्परा के प्राचीन सूरस्थ गण के आचार्यों की एक छोटी-सी पट्टावलि उल्लिखित है, जो इस प्रकार है

(१) आचार्य अनन्तवीर्य
(२) बालचन्द्र
(३) आचार्य प्रभाचन्द्र
(४) आचार्य क्लूनिले देव
(५) आचार्य अष्टोपवासी
(६) आचार्य हेमनन्दि
(७) आचार्य विनयनन्दि
(८) आचार्य एकवीर
(९) आचार्य पल्ल पण्डित अपर नाम अभिमानदानी।

इस पल्ल पण्डित को शाकटायन, व्याकरण (शब्दानुशासन) एव उसकी अमोघवृत्ति के रचनाकार यापनीय आचार्य पाल्यकीर्त्ति अपर नाम शाकटायन की उपमा दी गई है।[1]

जिन शिलालेखो मे यापनीय सघ के आचार्यों को अथवा यापनीय सघ को तथा यापनीय सघ के साधुओ के भोजन आदि की व्यवस्था के लिये राजाओ अथवा अन्य गृहस्थ भक्तो द्वारा भूमि, ग्राम, द्रव्यादि दान दिये गये है, उन सब का अति सक्षेप मे यहा विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

जैन शिक्षा लेख सग्रह भाग १ मे यापनीय सघ के सम्बन्ध मे जो शिलालेखीय उल्लेख है वह इस प्रकार है

१ लेख सख्या ५०० मे सूर्य वशी चोल कुल के महामण्डलेश्वर राजेन्द्र पृथ्वी कौगाल्व ने मूल सघ काणूर गण तगरीगल् गच्छ के गण्ड विमुक्तदेव के लिये एक वसति का निर्माण करवाया और देव पूजन के लिये भूमि का दान करवाया।

२ लेख सख्या ४८६ शक सम्वत् १०४१ मे गग राजवश के सस्थापक आचार्य सिहनन्दि का उल्लेख किया गया है। जैन शिलालेख सग्रह भाग २ मे याप-

---

[1] लेख सख्या २६६, जैन शिला लेख सग्रह भाग २ पृष्ठ ३९९ से ४०३ प्रकाशन विक्रम सम्वत् २००९

नीय सघ, उसके गरण आदि के सम्बन्ध मे जो शिलालेखीय उल्लेख है वे इस प्रकार है

१ लेख सख्या ९८ मे श्री विजय शिव मृगेश वर्मा ने अर्हत् शाला परम पुष्कल स्थान निवासी साधुओ के लिये और जिनेन्द्र देवो के लिये तथा श्वेताम्बर एव निर्ग्रन्थ महा श्रमरण सघो के लिये कालबग नामक ग्राम का दान किया ।

२ लेख सख्या ९९ के अनुसार कदम्ब वशी राजा रवि वर्मा ने यापनीय, निर्ग्रन्थ और कूर्च्चक सघो को पलाशिका मे भूमिदान दिया ।

३ लेख सख्या १०० के अनुसार यापनीय तपस्वियो की चातुर्मासावधि मे भोजन व्यवस्था के लिये पलाशिका नगरी मे कदम्ब वशी राजा रवि वर्मा द्वारा दान दिया गया ।

४ लेख सख्या १०५ के अनुसार यापनीय सघो के लिये कदम्ब वशी युवराज देववर्मा द्वारा भूमिदान दिया गया । इसमे 'यापनीय सघेभ्य' इस बहु वचन के प्रयोग से अनुमान किया जाता है कि यापनीय सघ मे कई विभिन्न सघ थे ।

५ लेख सख्या १४३ मे धर्मपुरी के दक्षिरण मे स्थित एक जिन मन्दिर के लिये दान दिये जाने का उल्लेख है, जो मन्दिर यापनीय सघ के एक मुनि के अधिकार मे था ।

इस शिलालेख मे यापनीय सघ के कोटिमडुव गरण के नन्दि गच्छ के आचार्य जिननन्दि, उनके शिष्य आचार्य दिवाकर और उनके शिष्य आचार्य श्रीमन्दिर देव का उल्लेख किया गया है । इस लेख मे दिवाकर नन्दि की "यत्केवलज्ञान निधिर्मंहात्मा स्वय जिनाना सदृशो गुरणौघै" इस श्लोकार्द्ध से अतिशयोक्तिपूर्ण स्तुति की गई है । इससे यह प्रतीत होता है कि यह यापनीय आचार्य अपने समय के कोई महान् प्रभावक आचार्य होगे ।

६ लेख सख्या १६० मे यापनीय सघ के कडूरगरण के आचार्य मौनिदेव की स्तुति की गई है । इनकी स्तुति से पहले कडूरगरण के आचार्य बाहुबलि, देवचन्द्र, बाहुबलि देवसिंह, रविचन्द्र स्वामी और शुभचन्द्र सिद्धान्तदेव का तथा मौनिदेव के पश्चात् प्रभाचन्द्र देव और बाहुबलि भट्टारक का नामोल्लेख किया गया है ।

७ लेख सख्या १८५ मे सूरस्थगरण के आचार्य वज्रपारिण पडितदेव और साध्वी प्रमुखा जाकीयब्बे का उल्लेख किया गया है । यह पहले बताया जा चुका है कि सूरस्थगरण यापनीय सघ का ही एक गरण था ।

जैन शिलालेख सग्रह भाग ३ मे यापनीय सघ के सम्बन्ध मे जो शिलालेख हैं उनका विवरण सक्षेप मे इस प्रकार है

१ अभिलेख सख्या ३१३ मे मूल सघ कौडकु डान्वय, क्राणूरगण के तिंत्रि-णीक गच्छ के आचार्य रामनन्दि, पद्मनन्दि, मुनिचन्द्र सिद्धान्तदेव, आचार्य भानु-कीर्ति सिद्धान्तदेव के नाम शिष्य परम्परा से देने के पश्चात् कनक जिनालय के लिये राजा एक्कल द्वारा आचार्य भानुकीर्ति को भूमिदान देने का उल्लेख किया गया है।

२ अभिलेख सख्या ३५३ मे मूल सघ, क्राणूरगण, मेषपाषाण गच्छ के आचार्य बालचन्द्र देव को हेगडि जक्कैय्य तथा उसकी पत्नि जक्कव्वे द्वारा दिडगुरु मे एक चैत्यालय के बनवाने, उसमे सुपार्श्व प्रभु की मूर्त्ति की स्थापना करने, देव की पूजा करने तथा मुनियो के आहार की व्यवस्था करने के लिये भूमिदान किये जाने का उल्लेख है।

३ अभिलेख सख्या ३७७ मे वनवासी मण्डल के कदम्ब वशी राजा सोरिदेव के शौर्य वर्णन के साथ मूलसघ कुण्ड कुण्डान्वय, क्राणूरगण, तीन्त्रिणिक गच्छ के मुनि चन्द्रदेव यमी के शिष्य आचार्य भानुकीर्ति को तेवरतप्प लोकगावुण्ड द्वारा भूमिदान दिये जाने का उल्लेख है। इस लेख मे भानुकीर्ति मुनि को वन्दनिका पुर का अधिपति बताया गया है।

४ अभिलेख सख्या ३८६ मे एलम्बल्ली देकिसेट्टि द्वारा शान्ति नाथ वसदि के जीर्णोद्धार, जीयस् तथा श्रमणो की चारो जातियो के आहार का प्रबन्ध करने के लिये शान्तिनाथघटिकास्थानमण्डलाचार्य भानुकीर्त्ति सिद्धान्तदेव को दान देने का और भानुकीर्ति द्वारा अपने मन्त्रवादी शिष्य मकरध्वज को वह दान समर्पित कर देने का उल्लेख है।

ये आचार्य भानुकीर्ति उपरि लिखित अभिलेख सख्या ३७७ मे वर्णित आचार्य चन्द्र देव के ही शिष्य थे।

५ अभिलेख सख्या ४३१ मे मूल सघ, क्राणूर गण, तीन्त्रिणिक गच्छ के आचार्य सकलचन्द्र भट्टारकदेव को महाप्रधान महादेव दण्डनायक द्वारा एरग जिना-लय बनवाकर, उसमे शान्तिनाथ की प्रतिष्ठा करके, महामण्डलेश्वर एक्कलरस की उपस्थिति मे हिडगण तालाब के नीचे 'भेरुण्ड' दण्डे से नाप कर तीन मत्तल चावल की भूमि, दो कोल्हू और एक दुकान का दान किये जाने का उल्लेख है। इस शिला-लेख मे यापनीय सघ के तिन्त्रीणिक गच्छ के आचार्यो की परम्परा भी उट्टकित है, जो निम्न प्रकार से है

(१) आचार्य पद्मनन्दि
(२) आचार्य रामनन्दि
(३) मुनिचन्द्र सिद्धान्तचक्रेश
(४) आचार्य कुलभूषण त्रैविद्य विद्याधर

(५) आचार्य सकलचन्द्र भट्टारक ।

६ अभिलेख सख्या ५८२ मे मूल सघ, क्राणूर गण, तीन्त्रिणिक गच्छ, कौड कुण्डान्वय के आचार्य श्री वासुपूज्यदेव और उनके शिष्य सकल चन्द्रदेव की प्रशसा के साथ उन्हे कुरिग्गीहल्ली के गौडो द्वारा पारुप देव की वसति बनवा कर उसे दान करने का उल्लेख है ।

७ अभिलेख सख्या ४५७ मे पोय्सल् (होय्सल्) राजवश के सस्थापक आचार्य सुदत्त का और उनके द्वारा क्षत्रिय कुमार सल् को चीते के मारने का आदेश देने का उल्लेख है ।

इस अभिलेख मे मूल सघ क्राणूरगण के आचार्य गुणचन्द्र का भी उल्लेख किया गया है ।

८ अभिलेख सख्या ४५९ मे श्री मूलसघ क्राणूरगण तीन्त्रिणिक गच्छ के आचार्य ललितकीर्ति के शिष्य आचार्य शुभचन्द्र के समाधिपूर्वक स्वर्गगमन और उनकी समाधि पर एक मण्डप खडा किये जाने का उल्लेख है ।

९ अभिलेख सख्या ४०८ मे मूल सघ, क्राणूर गण, तीन्त्रिणिक गच्छ, नुन्हवश के आचार्य भानुकीर्त्ति को रत्नत्रयदेव की बसति के जीर्णोद्धार के लिये, जैसा कि पहले विस्तारपूर्वक उल्लेख किया जा चुका है, दान दिये जाने का उल्लेख है ।

१० अभिलेख सख्या ७२४, शक सम्वत् १६२१ तदनुसार ईस्वी सन् १६९९ का एक बडा ही ऐतिहासिक महत्व का अभिलेख है । यह अभिलेख हागलहिल्ली से प्राप्त हुआ है । इसमे उल्लेख है कि मूल सघ तीन्त्रिणिक गच्छ के आचार्य आदिनाथ पण्डितदेव के श्रावक शिष्य, जोकि जाति से तेली था और जो तिप्पूर तीर्थ के हादिल वागिलु गाव का किसान था, और जिसका नाम चामगौड था, ने एक पत्थर का तेल निकालने का कोल्हू बनवाया ।

इस अभिलेख से यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि शक सम्वत् १६२१ अर्थात् ईस्वी सन् १६९९ तक यापनीय सघ एक धर्म सघ के रूप मे, चाहे वह कितना ही निर्बल सघ क्यो न रह गया हो, विद्यमान था ।

इन उपरिलिखित उल्लेखो से अनुमान लगाना सहज हो जाता है कि यापनीय परम्परा के आचार्यो एव साधु-साध्वियो द्वारा नियत निवास अगीकार करने के पश्चात् ही भूमिदान, ग्रामदान आदि ग्रहण करने की प्रवृत्ति और मूर्तिपूजा का प्रचलन प्रारम्भ हुआ ।

यापनीय परम्परा से सम्बन्धित जो शिलालेख उपलब्ध होते है उनके अध्ययन से यही निष्कर्ष निकलता है कि इस परम्परा के आचार्यों एव साधुओ ने जैन धर्म को एक जीवित धर्म के रूप मे बनाये रखने के लिए नई से नई विधाओ का आविष्कार किया। किसी भी जैन अथवा जैनेतर धर्म सघ ने अपने धर्म सघ को सबल बनाने, अपने धर्म के प्रचार प्रसार अथवा लोक प्रवाह को अपनी ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से जो-जो आडम्बरपूर्ण आयोजन, उत्सव महोत्सव आदि आविष्कृत किये, उन सब उपायो को बिना किसी हिचक के अपनाने मे और धर्म प्रचार के उपायो का नवीनतम आविष्कार करने मे यापनीय परम्परा के आचार्य एव साधु साध्वीगण अन्य सबसे आगे ही रहे। उदाहरण के तौर पर मूर्तिपूजा के प्रारम्भिक काल मे तीर्थंकरो की ही मूर्त्तिया प्रतिष्ठापित की जाती और तीर्थंकरो के ही मन्दिर बनवाये जाते थे, कालान्तर मे तीर्थङ्करो के मन्दिरो मे ही उनके यक्ष-यक्षणियो आदि की मूर्त्तिया जिन मन्दिर से बाहर रखी जाने लगी। किन्तु अपने सघ के प्रचार के लिये यापनीयो ने इससे भी एक कदम आगे बढकर श्रवणबेलगोल मे गगवशी महाराजा राचमल्ल के महामन्त्री एव सेनापति चामुडराय के माध्यम से यापनीय आचार्य नेमिचन्द्र ने ससार प्रसिद्ध बाहुबली की विशाल मूर्ति का निर्माण करवा कर उसकी प्रतिष्ठा की। **आचार्य नेमिचन्द्र वस्तुत यापनीय आचार्य थे, इसका उल्लेख पूर्व मे किया जा चुका है।**

जब बौद्ध और अन्य धर्मावलम्बी तान्त्रिको ने मन्त्र तन्त्र का सहारा लेकर अपने धर्मसघो का प्रचार प्रसार करना प्रारम्भ किया तो यापनीय सघ उस दिशा मे भी सबसे आगे ही रहा। यापनीय आचार्यो ने ही सर्वप्रथम ज्वालामालिनी देवी का स्वतन्त्र मन्दिर कर्नाटक मे बनवाया। यापनीयो ने ही ज्वालामालिनी कल्प, पद्मावती कल्प आदि कल्पो को कर्नाटक मे सर्वाधिक लोकप्रिय बनाया।

पच महाव्रत ग्रहण करते समय प्रत्येक जैन मुनि यह प्रतिज्ञा ग्रहण करता है कि वह त्रिकरण त्रियोग से सब प्रकार के सावद्य योगो का जीवनभर के लिए परित्याग करता है। वह छोटी से छोटी हिंसा न स्वय करता है, न दूसरो से करवाता है और न छोटी से छोटी हिंसा करने वाले का अनुमोदन ही करता है किन्तु जिस समय लगभग ईसा की पहली दूसरी शताब्दी मे जैनधर्म राज्याश्रय से वचित हो गया और उसके परिणामस्वरूप न केवल उसके प्रचार प्रसार मे ही अवरोध आने लगे अपितु जैन सघ का ह्रास भी होने लगा तो आचार्य सिहनन्दि ने दडिग् और माधव नामक दो क्षत्रिय पुत्रो को सभी विद्याओ मे पारगत कर उन्हे वनवासी राज्य के राजसिंहासन पर आसीन करने मे पूर्ण योगदान दिया। इस प्रकार जैन सघ के आचार्य सिहनन्दि ने गगराजवश की स्थापना की। यह गगराजवश प्रारम्भ से लेकर अन्त तक जैन धर्मावलम्बी रहा। श्रवणवेलगोल मे बाहुवलि की मूर्त्ति का निर्माण करवाने वाले महामन्त्री चामुडराय इसी गगराजवश के उत्तर कालवर्त्ती महाराजा

राचमल्ल के महासेनापति एव महामन्त्री थे। गगराजवश की स्थापना के पश्चात् आचार्य सिहनन्दि एक सैनिक अभियान मे भी दडिग् और माधव के साथ रहे। यही नही, इस राजवश की स्थापना के समय उन्होने दडिग् और माधव को तथा उनकी भावी पीढियो के राजाओ को जिन सात प्रतिज्ञाओ का पालन करते रहने के लिए निर्देश दिये उन सात प्रतिज्ञाओ मे से छठी प्रतिज्ञा यह थी कि रणागण से कभी पलायन नही किया जायगा। आचार्य सिहनन्दि ने स्पष्ट शब्दो मे गगराजवश के आदि राजा दडिग् और माधव को यह कहा था कि जिस दिन तुम अथवा तुम्हारे राजवश का कोई भी राजा युद्ध मे पीठ दिखाकर रणागण से पलायन कर जायगा उसी दिन तुम्हारा राजवश पराभव को प्राप्त हो जायगा। आचार्य सिहनन्दि के इस उपदेश का गगवशी प्राय सभी राजाओ ने अक्षरश पालन किया। इस बात की साक्षी अनेक शिलालेख देते है। प्राचीन शिलालेखो मे गगवश के अनेक राजाओ की प्रशसा मे इस प्रकार के उल्लेख आज भी उपलब्ध होते है कि इस वश के अमुक-अमुक राजा के सम्पूर्ण अग-प्रत्यग रणागण मे लगे शस्त्रो के प्रहारो के चिह्नो से मण्डित थे।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है जैन साधु के लिये इस प्रकार का उपदेश देना नितान्त निषिद्ध है किन्तु तत्कालीन देश काल और समाज की परिस्थितियो को देखते हुए आचार्य सिहनन्दि ने इस प्रकार का उपदेश देना धर्म की रक्षा के लिये आवश्यक समझा। यह आचार्य सिहनन्दि यापनीय आचार्य थे। लेख सख्या २७७ मे क्राणूरगण के इन आचार्य सिहनन्दि की एक पट्ट परम्परा दी हुई है जो इस प्रकार है —

१ आचार्य सिहनन्दि (गगराजवश के सस्थापक)
२ अर्हद्बल्याचार्य
३ बेट्टददामनन्दि भट्टारक
४ मेघचन्द्र त्रैविद्यदेव
५ गुणचन्द्र पण्डितदेव

६ शब्द ब्रह्म त्रैविद्य देव (इस शब्द से अनुमान लगाया जाता है कि इन्होने साख्यो, वैष्णवो आदि को प्रभावित कर जैनधर्म के प्रति उनमे मैत्री और सद्-भावना उत्पन्न की।)

७ प्रभाचन्द्र सिद्धान्त देव (ये महान् तार्किक एव वादी थे। ये मूल सघ कोण्डकुन्दान्वय, क्राणूरगण तथा मेष पाषाण-गच्छ के आचार्य थे। इनके शिष्य माघनन्दि सिद्धान्त देव हुए।)

८	माघनन्दि सिद्धान्त देव	(उनके शिष्य —प्रभाचन्द्र द्वितीय हुए।)
९	प्रभाचन्द्र द्वितीय	(इनके सधर्मा (गुरुभ्राता) अनन्तवीर्य मुनि और मुनिचन्द्र मुनि थे। उनके शिष्य श्रुतकीर्त्ति हुए।)
१०	श्रुतकीर्त्ति	
११	कनकनन्दि त्रैविद्य	(अनेक राजाओ की राजसभाओ मे इन्हे त्रिभुवन मल्ल वादिराज की उपाधि से अलकृत एव सम्मानित किया गया। इनके सधर्मा—गुरुभ्राता माधवचन्द्र हुए।)
१२	माधवचन्द्र	
१३	बालचन्द्र यतीन्द्र त्रैविद्य	
१४	अनन्तवीर्य सिद्धान्तदेव	
१५	मुनिचन्द्र सिद्धान्तदेव[1]	

क्राणूरगण यापनीय परम्परा का ही गण था इस बात की पुष्टि अनेक विद्वानो ने की है। कतिपय शिलालेखो मे भी क्राणूरगण को यापनीय सघ का ही गण बताया गया है। इसके अतिरिक्त इसी शिलालेख मे इस पट्ट परम्परा के सातवे पट्टधर प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव को क्राणूर गण तथा मेष पाषाण गच्छ का आचार्य बताया गया है। मेष पाषाण गच्छ यापनीय सघ का ही गच्छ था। इसे इतिहास के सभी विद्वानो ने एक मत से स्वीकार किया है। इन्ही प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव के शिष्य बुधचन्द्र देव थे। आचार्य बुधचन्द्र देव की विद्यमानता मे प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव के गृहस्थ शिष्य वर्म देव और भुजबलगग पेर्म्माडिदेव ने मडलि की पहाडी पर अवस्थित उस प्राचीन वसदि का पुनर्निर्माण करवाया जिसे पूर्व काल मे दडिग् और माधव ने आचार्य सिहनन्दि के निर्देश पर बनवाया था।

इसी यापनीय परम्परा के आचार्य मुनिचन्द्र ने रट्ट राजवश की सीमाओ का विस्तार कर उसे एक शक्तिशाली राज्य का रूप प्रदान किया। महामण्डलेश्वर रट्टराज लक्ष्मीदेव द्वितीय, जो कि अपनी राजधानी वेणुग्राम (साम्प्रतकालीन बेलगाव) मे रहकर रट्ट राज्य का सचालन कर रहे थे, द्वारा सौदत्ती से प्राप्त एक शिलालेख मे[2] इन आचार्य मुनिचन्द्र को एक कुशल राजनीतिज्ञ रणनीति निपुण और रट्ट महाराज्य का सस्थापक बताया गया है।

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह भाग २ पृष्ठ ४०८–४२६ लेख सख्या २७७

[2] जे बी आर ए एस, वाल्यूम १० पेज २६०, एफ एफ

इस शिलालेख मे आचार्य मुनिचन्द्र के एक शिष्य आचार्य लक्ष्मीदेव का भी नामोल्लेख किया गया है। इन आचार्य मुनिचन्द्र के नामोल्लेख के सम्बन्ध मे प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता एव इतिहासज्ञ पी बी देसाई ने लिखा है —

"Lastly, we may notice one more inscription from Saundatti, which offers interesting details about the Jain teachers The epigraph is dated A D १२२८ and refers itself to the reign of the Ratta Chief Maha Mandaleshwar Laxmi Deo II, who was governing the Kingdom from his capital Venugram (वेणुग्राम) or modern Belgaon (वेलगाव) The Jain teacher was Munichandra (मुनिचन्द्र), who is styled as the royal preceptor of the Ratta House (रट्ट राजगुरु) Munichandra's activities were not confined to the sphere of religion alone Besides being a spiritual guide and political adviser of the royal house hold, he appears to have taken a leading part not only in the administrative affairs, but also in connection with the military campaigns of the kingdom (वर–बाहा–बलदिम–विरोधी–निपरम् बेकोगडन) he is stated to have expended the boundaries of the Ratta territories and established their authority on a firm footing Both Laxmi Deo II and his father Kart Veerya IV (कार्त्त वीर्य चतुर्थ) were indebted to this divine for his sound advice and political wisdom Munichandra was well versed in sacred lore and proficient in military science "Worthy of respect, most able among ministers, the establishers of Ratta Kings, Munichandra surpassed all others in capacity for administration and in generousity"[1]

श्री देसाई द्वारा प्रस्तुत उपरिलिखित शिलालेख के साराश से यह एक बडा ही विस्मयकारी तथ्य प्रकाश मे आता है कि जिस प्रकार यापनीय सघ के आचार्य सिहनन्दि ने गग राजवश की स्थापना की और उस राजवश के आदि राजा और भावी राजाओ को युद्धभूमि मे शत्रु के सम्मुख डटे रहने का उपदेश दिया, उसी प्रकार उनके उत्तरवर्त्ती यापनीय आचार्य मुनिचन्द्र उनसे भी चार कदम आगे बढ गये। उन्होने रट्ट राजा लक्ष्मीदेव को प्रशासन चलाने मे और राज्य विस्तार हेतु सैनिक अभियान प्रारम्भ करने और उन सैनिक अभियानो को सुचारू रूप से चलाने हेतु सक्रिय सहयोग तक दिया। एक पच महाव्रतधारी आचार्य को इस शिलालेख मे सर्वश्रेष्ठ सुयोग्य महामन्त्री, कुशल राजनैतिक परामर्शदाता और रणनीति विशारद तक बताया गया है। इससे यही प्रतीत होता है कि उस युग की आवश्यकता को समझकर जैन सघ को एक सशक्त सघ के रूप मे बनाये रखने के

१ जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन इपिग्राफ्स बाई पी वी देसाई—पेज ११४, ११५ जैन सस्कृति रक्षक सघ, शोलापुर द्वारा १९५७ मे प्रकाशित।

लिये एव उसके प्रबल प्रचार प्रसार के सदुद्देश्य से राज्याश्रय प्राप्त करके उन यापनीय महान आचार्यो ने श्रमण धर्म के प्रतिकूल कार्यो को करना भी स्वीकार किया।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है न केवल यापनीय परम्परा अपितु अन्य परम्पराओ के आचार्यो ने भी मुनिधर्म के विपरीत मार्ग का अनुसरण करते हुए ग्रामादि का दान स्वीकार करने मे किसी प्रकार का सकोच नही किया। ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय मे मुनियो की भोजन व्यवस्था के लिये मन्दिरो के निर्माण एव उनकी दैनन्दिन आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये आचार्यो द्वारा दान ग्रहण करना एक व्यापक और सर्वसम्मत कार्य हो चुका था। मन्दिरो का पौरोहित्य करना, उनकी व्यवस्था करना एव उनका निरीक्षण करना आदि कार्य भी, जो कि वस्तुत एक मुनि के लिये सदोप होने के कारण त्याज्य है, आचार्यो ने समय के प्रभाव से प्रभावित होकर अपने हाथ मे ले लिये थे। कलभावी नामक ग्राम (सम्पगाव तालुक) के रामलिंग मन्दिर के बाहर से प्राप्त हुए शक सम्वत् २६१ के एक शिलालेख मे, जो शोध के पश्चात् ईसा की ग्यारहवी शताब्दी का माना गया है, यह उल्लेख है कि पश्चिमी गगवश के राजा शिवमार ने कुमुदवाड (कलभावी) मे एक जैन मन्दिर का निर्माण करवाया और उस मन्दिर की व्यवस्था के लिये वह पूरा का पूरा मेलाप अन्वय नामक ग्राम, कारेगरण के आचार्य देवकीर्त्ति को दान मे दे दिया गया। यह पहले बताया जा चुका है कि कारेगरण यापनीय सघ का एक प्रमुख गरण था। इस शिलालेख मे कारेगण के कुछ आचार्यो के नाम दिये गये है जो इस प्रकार है

१ शुभकीर्त्ति, २ जिनचन्द्र, ३ नागचन्द्र, और ४ गुणकीर्त्ति।

यापनीय संघ के प्राचीन केन्द्र

ईसा की दूसरी शताब्दी के आस-पास यापनीय सघ तामिलनाडु प्रदेश मे कन्याकुमारी तक सक्रिय रहा। इस सम्बन्ध मे पहले प्रकाश डाला जा चुका है। किन्तु ईसा की चौथी पाचवी शताब्दी मे और उसके पश्चात् यापनीय सघ वस्तुत कर्णाटक प्रान्त के उत्तरवर्ती भाग मे ही एक सर्वाधिक लोकप्रिय धर्मसघ के रूप मे सक्रिय रहा। कर्णाटक प्रदेश से प्राप्त शिलालेखो से ज्ञात होता है कि पलासिका जो कि आज बेलगाव जिले का हलसी ग्राम है, यापनीय सघ का प्रचार-प्रसार का ईसा की पाचवी व छठी शताब्दी मे केन्द्र रहा। इसके पश्चात् ईसा की सातवी शताब्दी मे बीजापुर जिले का ऐहोल ग्राम केन्द्र रहा। इसके अनन्तर ईसा की दसवी शताब्दी मे तुमकुर जिले मे अनेक स्थानो पर यापनीय सघ ने अपने मुनिसघो की वसदियो का निर्माण कर उनको अपना केन्द्र बनाकर धर्म का प्रचार व प्रसार किया। इस प्रकार ईसा की दसवी शताब्दी मे तुमकुर जिले मे भी यापनीय सघ का पूर्ण

प्रभुत्व स्थापित हो गया। इसके पश्चात् यापनीय सघ धारवाड कोल्हापुर और बेलगाव इन सभी जिलो का प्रमुख एव लोकप्रिय धर्मसघ बन गया। आगे चलकर ईसा की ग्यारहवी बारहवी शताब्दी मे यापनीय सघ का धर्मप्रचार क्षेत्र केवल उत्तरी कर्णाटक मे ही सीमित रह गया।

यापनीय सघ के आश्रयदाता राजवश

कर्णाटक के गग राजवश के और पोय्सल् राजवश के राजा प्रारम्भ से लेकर अन्त तक जैन धर्मावलम्बी रहे। इनके अतिरिक्त कदम्ब वश, राष्ट्रकूट वश, रट्ट वश, चालुक्य वश, शान्तर वश, कलचुरी वश आदि अनेक राजवशो के राजाओ ने समय-समय पर अपने शासनकाल मे जैनधर्म को सरक्षण दिया और जैनधर्म के प्रचार प्रसार मे इन राजवशो के राजाओ ने मुक्त हस्त हो सहायता की।

पोय्सल् राज्य के सस्थापक आचार्य सुदत्त किस परम्परा के आचार्य थे इस सम्बन्ध मे प्रमाणाभाव से सुनिश्चित रूपेण कुछ भी नही कहा जा सकता, किन्तु मैसूर-धारवाड सौरभ कुपत्तूर हलसी आदि क्षेत्रो मे ईसा की तीसरी, चौथी शताब्दी से ही यापनीय सघ का पूर्ण वर्चस्व रहा और कई राजवशो की स्थापना के लिये एव 'गग राजवश' जैसे जैन धर्मावलम्बी राजवश की अभिवृद्धि के लिये, जैनाचार्यो ने, जो अनुमानत यापनीय संघ के ही हो सकते है, बडी गहरी रुचि ली। जैनाचार्यों का अपने ऊपर वरद्हस्त होने के परिणामस्वरूप जैन राजवशो ने जैन धर्म की अभिवृद्धि के लिये अपनी पीढी प्रपीढी तक जो-जो उल्लेखनीय कार्य किये, उनके विवरण दक्षिण के प्राय सभी प्रान्तो से मुख्यत कर्णाटक से प्राप्त हुए अभिलेखो, शिलालेखो एव मूर्त्ति-लेखो आदि मे भरे पडे है जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन राजवशो के प्रकरण मे यथास्थान किया जायगा।

७

द्रव्य-परम्पराओ के प्रचार-प्रसार एवं उत्कर्ष मे सहयोगी राजवंश

चैत्यवासी, भट्टारक एव यापनीय प्रभृति द्रव्य परम्पराओ के प्रचार-प्रसार एव सवर्द्धन मे होयूसल (पोयूसल), कदम्ब, गग एव राष्ट्रकूट राजवशो का बडा ही उल्लेखनीय योगदान रहा।

उन चैत्यवासी आदि द्रव्य परम्पराओ ने परम्परागत नितान्त अध्यात्म-परक, भावार्चनापरक जैन सघ को किस प्रकार नया मोड देकर आध्यात्मिक भावा-र्चना के स्थान पर द्रव्यार्चना-द्रव्यपूजा-प्रधान स्वरूप प्रदान किया, इस सम्बन्ध मे विस्तारपूर्वक प्रकाश डालने का प्रयास इन द्रव्यपरम्पराओ के परिचय मे किया जा चुका है। जिन राजवशो को अपनी-अपनी द्रव्य-परम्परा का अनुयायी बनाकर अथवा जिन-जिन राजवशो का आश्रय ग्रहण कर उन द्रव्य परम्पराओ के आचार्यो ने अपनी-अपनी परम्परा का प्रचार-प्रसार किया, जिन-जिन राजवशो से उन द्रव्य परम्पराओ के आचार्यो, साधु-साध्वियो ने साधु-साध्वियो के आहार-विहार आवास आदि की व्यवस्था के लिये ग्रामदान, भूमिदान, द्रव्यदान आदि ग्रहण कर द्रुतगति से द्रव्य परम्पराओ का प्रचार-प्रसार एव विस्तार करने मे सफलता प्राप्त की, उन राजवशो का एव इन द्रव्य-परम्पराओ के उत्थान-उत्कर्ष के लिए उन राजवशो द्वारा किये गये कार्यो का परिचय देना ऐतिहासिक आदि सभी दृष्टियो से परमावश्यक है।

जैन धर्म के परम पवित्र एव परम मान्य आगम आज भी विद्यमान है, मध्य युग मे भी विद्यमान थे। सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थंकर भगवान् महावीर द्वारा उपदिष्ट उन जैन आगमो मे जैन धर्म के स्वरूप का, स्व तथा पर के लिये कल्याण-कारी करणीय कार्यो-कर्त्तव्यो का, श्रमण-श्रमणियो, आचार्यो के लिये आचरणीय आचार-विचार-आहार-विहार एव दैनन्दिन कार्य-कलापो का सुचारू रूपेण सुबोध्य शैली मे सुस्पष्ट दिग्दर्शन विद्यमान है, उल्लिखित है। उन आगमिक उल्लेखो-आदेशो से नितान्त भिन्न एव प्राय. प्रतिकूल दिशा मे चलकर भी वे द्रव्य परम्पराए मध्ययुग मे किस प्रकार उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होती गई, लोकप्रिय होती गई, उनके प्रचार-प्रसार और उत्कर्ष मे कौन सी शक्ति सहायक थी, इस दृष्टि से भी इन द्रव्य परम्पराओ को आश्रय अथवा प्रश्रय देने वाले राजवशो का परिचय देना परमा-वश्यक है।

इस तथ्य को तो प्रत्येक विज्ञ विचारक विना किसी प्रकार की हिचकिचाहट के स्वीकार करेगा कि—"जैन सघ किस प्रकार एक शक्तिशाली धर्मसघ के रूप मे ससम्मान जीवित रह सकता है"— यह भावना उन मध्ययुगीन द्रव्य-परम्पराओ के सूत्रधारो के अन्तर्मन मे ओत-प्रोत थी। इस प्रकार की पवित्र भावना उन द्रव्य परम्पराओ के सूत्रधारो की सफलता मे वस्तुत बडी सहायक सिद्ध हुई। उन द्रव्य परम्पराओ के सूत्रधारो, आचार्यो, श्रमण-श्रमणियो का इस दिशा मे निष्ठापूर्ण अथक प्रयास व परिश्रम भी उनकी सफलता मे प्रमुख सहायक रहा। यह सव कुछ होते हुए भी उन द्रव्य परम्पराओ को शक्तिशाली धर्म सघो के रूप मे लोकप्रिय बनाने का अधिकाश श्रेय उन राजवशो को ही दिया जा सकता है, जिन्होने तन-मन-धन और जन से सहयोग देकर इन परम्पराओ के उत्कर्ष के लिये न केवल जीवन भर ही अपितु पीढी प्रपीढियो तक अथक प्रयास किया।

जिस समय पूर्व से पश्चिम और हिमालय से परेवर्ती सुदूर उत्तरवर्ती सीमाओ से लेकर दक्षिण सागर तट तक ही नही अपितु दक्षिण सागरवर्ती द्वीपो तक मे प्रसृत—फैले हुए जैन सघ पर चारो ओर से एव मुख्यत दक्षिणापथ से विनाशकारी घोर सकट के बादल घुमड-घुमड कर घिर उठे थे, उन सकट की घडियो मे, उस घोर सक्रान्ति काल मे इन द्रव्य परम्पराओ के सूत्रधारो-आचार्यो ने समय-समय पर विभिन्न क्षेत्रो मे सत्तारूढ राजवशो का आश्रय ग्रहण कर एव आवश्यकता पडने पर पोय्सल (होय्सल), गग जैसे अभिनव राजवशो की स्थापना कर उनकी सहायता से जैन सघ को जीवित रखने मे जैन सघ की रक्षा करने मे जो उल्लेखनीय कार्य किये, वे सदा-सदा जैन इतिहास के पन्नो पर स्वर्णाक्षरो मे अकित रहेगे।

जैन सघ सदा से आर्य धरा पर एक सुदृढ शक्तिशाली धर्मसघ के रूप मे रहा है। आदिकाल से इक्ष्वाकु वश के राजाओ ने, तदनन्तर हरिवश-यदुवश, पौरववश, शिशुनाग वश, गर्दभिल्ल वश, सातवाहन वश, चेदिवश एव मौर्य वश आदि अनेक यशस्वी राजवशो के राजाओ ने समय-समय पर अपने-अपने शासन काल मे विश्वबन्धुत्व की भावनाओ से ओत-प्रोत विश्वकल्याणकारी जैन धर्म के प्रचार-प्रसार-पल्लवन उत्कर्ष के लिये जो-जो उल्लेखनीय कार्य किये उनका वीर नि० स०१००० तक का साररूप मे लेखा-जोखा इसी ग्रन्थमाला के प्रथम एव द्वितीय भाग मे प्रस्तुत किया जा चुका है।

वीर नि० स० १००० के उत्तरवर्ती काल मे समय-समय पर सातवाहन, चोल, चेर, पाण्ड्य, कदम्ब, गग, चालुक्य, राष्ट्रकूट, रट्ट, शिलाहार, पोयसल आदि राजवशो ने जैनधर्म को आश्रय-प्रश्रय प्रदान कर इसके अभ्युदय उत्कर्ष के कार्यो मे उल्लेखनीय योगदान दिया। ईसा की पाँचवी-छठी शताब्दी तक जैन धर्म मुख्य रूप

से दक्षिण पथ का एक प्रमुख, शक्तिशाली एव बहुजन सम्मत धर्म रहा। अनेक शिलालेखो, पुरातात्विक अवशेषो एव "जैन सहार चरितम्" आदि शैव परम्परा की प्राचीन साहित्यिक लघु कृतियो से यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि तमिलनाडु तथा आन्ध्र-कर्णाटक मे शैव सम्प्रदाय एव वैष्णव सम्प्रदाय के अभ्युदयोत्कर्ष से पूर्व जैन धर्म का दक्षिणी प्रान्तो मे सर्वाधिक ही नही अपितु अत्यधिक वर्चस्व था। इस तथ्य के प्रतिपादक "जैन सहार चरितम्" के कतिपय स्थलो का हिन्दी रूपान्तर सामान्यत सभी जिज्ञासुओ के लिये और विशेषत इतिहास मे अभिरुचि रखने वाले विज्ञो एव शोधार्थियो के लाभार्थ यहा प्रस्तुत किया जा रहा है —

"पूर्वकाल मे पृथ्वी भर मे श्रमण लोगो की सख्या अधिक मात्रा मे थी। राजा और प्रजा सभी इस धर्म (जैन धर्म) मे ऐक्यत्व को प्राप्त हो गये थे। इस (जैन) धर्म मे लोगो की आस्था अधिक होने के कारण अन्य धर्म की बाते उन्हे रुचिकर नही लगती थी। सब जगह अरिहन्त भगवान् की उपासना की जाती थी। तन पर के वस्त्र और शिर के केशो तक पर भी मोह नही रखने वाले एव समस्त प्रकार की आशाओ-आकाक्षाओ से रहित होकर गिरिगुहाओ मे एकान्त निवास पूर्वक तपश्चरण करने वाले तपोधन भी यही मानते थे कि अरिहन्त भगवान् ही सब कुछ है। सम्पूर्ण जनमानस मे यही एकमात्र अटल आस्था थी कि पहले (लौकिक) सुख देकर अन्त मे मुक्ति (मोक्ष) प्रदान करने वाले अर्हन्त भगवान् ही सर्वोपरि सर्वस्व अर्थात् सब कुछ है।

इस प्रकार जब श्रमण धर्म अति उन्नत दशा मे था, तब चोल मण्डल नामक प्रदेश के गाव मे ब्राह्मण कुल मे सुन्दर मूर्ति का जन्म हुआ। वे पाच वर्ष की वय मे ही अपने जन्म-स्थान से निकलकर मदुरै (दक्षिण मथुरा-मदुरई) पहुचे और वही रहने लगे। उस समय मदुरै नगर मे स्थित ८००० श्रमण सन्त 'सोक्कनादर' नामक शिव मन्दिर के कपाटो को पर्याप्त समय पूर्व ही बन्द करवाकर अपने धर्म का प्रचार करने मे सलग्न थे।

जब सुन्दर मूर्ति कुछ बडे हुए तब किसी कारणवश वे शैव सन्त बन गये। उन्होने अपने कर्त्तव्य के रूप मे श्रमण धर्म के प्रचारको को फासी पर लटका कर शैव धर्म का उद्धार करने का सकल्प किया। शिव भगवान् के परम भक्त होने के कारण उन पर भगवान्शिव प्रसन्न हुए। शिव ने उन्हे वरदान दिया—"तुम श्रमणो का सहार कर शैव धर्म का प्रचार-प्रसार करोगे।"

शैव सन्त बनने के पश्चात् वे सुन्दरमूर्ति नायनार एव ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति के नाम से विख्यात हुए। ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति ने (शिव द्वारा प्रदत्त) मोतियो से जडी पालकी मे बैठकर श्रमण-सहार के लिये प्रस्थान किया।

ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति ने पालकी मे बैठे-बैठे ही बन्द कपाटो वाले शिवमन्दिर को देख कर अनेक स्तोत्रो से शिव की स्तुति की। तत्काल शिव मन्दिर के कपाट खुल गये। इस प्रकार उन्होने अनेक बन्द पडे शिव मन्दिरो के कपाटो को खोला। वे वैगै नदी के दक्षिणी कूल पर अवस्थित शैव मठ मे ठहरे।

श्रुतिपुर के निवासियो ने ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति से प्रार्थना की—"हे धर्मोद्धारक! श्रमणो के द्वारा किये जा रहे अत्याचारो से हम लोग बडे दुःखी एव पतित अवस्था मे है। इस भूमि के शासक राजा भी श्रमणो के पक्ष मे है और बहुसख्यक प्रजा भी श्रमणो की अनुयायी है। इस प्रकार की परिस्थितियो मे शैव धर्म कैसे पनपेगा? इस स्कध नदी के दक्षिणी कूल पर इन श्रमणो का मन्दिर एव मठ है। वे नगर बसा कर वास करते है। वे श्रमण कहते है "शैवो को आखो से देखना और उनकी बात सुनना भी महापाप है।"

ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति की मोतियो से जटित पालकी, वृषभध्वज, श्वेत चामर एव तेवार का सघोष गान करते हुए शैव समूह के साथ ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति को देखते ही श्रमणो के तन-मन भय से प्रकम्पित हो उठे। वे श्रमण विचार करने लगे—"इस ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति ने मदुरै मे ८००० श्रमणो को मौत के घाट उतार दिया। अब हमे क्या करना चाहिये?"

तब सभी श्रमण मिलकर विचार करने लगे—"अब हम लोगो के विनाश का समय आ गया है, अब हम मे से एक भी जीवित नही बचेगा। ।"

यह देख कर ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति ने राजा से कहा—"इन श्रमणो मे से जो-जो अपने ललाट मे भस्म लगाकर शैव बन जाय, उनको तो जीवन दान दे दिया जाय। जो भाल मे भस्म लगाकर शैव न बने उन श्रमणो को फासी पर लटका दिया जाय।"

इस पर श्रमण धर्म मे आस्था रखने वाले बहुसख्यक श्रमण स्वय फासी पर चढ गये। कुछ लोग शैव बन गये तो कुछ लोग प्राण बचाकर वहा से तत्काल पलायन कर गये।"[1]

उपर्युद्धृत उल्लेखो से यह स्पष्टत सिद्ध होता है कि सुन्दर पाण्ड्य के शासनकाल मे समस्त दक्षिणापथ मे और विशेषत तामिलनाड मे जैन धर्मावलम्बियो की गणना प्रबल बहुसख्यक के रूप मे की जाती थी।

---

[1] ओरियन्टल ओल्ड मेनुस्क्रिप्ट्स लायब्रेरी, मेकेन्जे कलेक्शन (मद्रास यूनिवर्सिटी परिकर) की ताडपत्रीय "जैन सहार चरितम्" प्रति।

से दक्षिणा पथ का एक प्रमुख, शक्तिशाली एव बहुजन सम्मत धर्म रहा । अनेक शिलालेखो, पुरातात्विक अवशेषो एव "जैन सहार चरितम्" आदि शैव परम्परा की प्राचीन साहित्यिक लघु कृतियो से यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि तमिलनाडु तथा आन्ध्र-कर्णाटक मे शैव सम्प्रदाय एव वैष्णव सम्प्रदाय के अभ्युदयोत्कर्ष से पूर्व जैन धर्म का दक्षिणी प्रान्तो मे सर्वाधिक ही नही अपितु अत्यधिक वर्चस्व था। इस तथ्य के प्रतिपादक "जैन सहार चरितम्" के कतिपय स्थलो का हिन्दी रूपान्तर सामान्यत सभी जिज्ञासुओ के लिये और विशेषत इतिहास मे अभिरुचि रखने वाले विज्ञो एव शोधार्थियो के लाभार्थ यहा प्रस्तुत किया जा रहा है —

"पूर्वकाल मे पृथ्वी भर मे श्रमण लोगो की सख्या अधिक मात्रा मे थी। राजा और प्रजा सभी इस धर्म (जैन धर्म) मे ऐक्यत्व को प्राप्त हो गये थे। इस (जैन) धर्म मे लोगो की आस्था अधिक होने के कारण अन्य धर्म की बाते उन्हे रुचिकर नही लगती थी। सब जगह अरिहन्त भगवान् की उपासना की जाती थी। तन पर के वस्त्र और शिर के केशो तक पर भी मोह नही रखने वाले एव समस्त प्रकार की आशाओ-आकाक्षाओ से रहित होकर गिरिगुहाओ मे एकान्त निवास पूर्वक तपश्चरण करने वाले तपोधन भी यही मानते थे कि अरिहन्त भगवान् ही सब कुछ है। सम्पूर्ण जनमानस मे यही एकमात्र अटल आस्था थी कि पहले (लौकिक) सुख देकर अन्त मे मुक्ति (मोक्ष) प्रदान करने वाले अर्हन्त भगवान् ही सर्वोपरि सर्वस्व अर्थात् सब कुछ है।

इस प्रकार जब श्रमण धर्म अति उन्नत दशा मे था, तब चोल मण्डल नामक प्रदेश के गाव मे ब्राह्मण कुल मे सुन्दर मूर्ति का जन्म हुआ। वे पाच वर्ष की वय मे ही अपने जन्म-स्थान से निकलकर मदुरै (दक्षिण मथुरा-मदुरई) पहुचे और वही रहने लगे। उस समय मदुरै नगर मे स्थित ८००० श्रमण सन्त 'सोक्कनादर' नामक शिव मन्दिर के कपाटो को पर्याप्त समय पूर्व ही बन्द करवाकर अपने धर्म का प्रचार करने मे सलग्न थे।

जब सुन्दर मूर्ति कुछ बडे हुए तब किसी कारणवश वे शैव सन्त बन गये। उन्होने अपने कर्त्तव्य के रूप मे श्रमण धर्म के प्रचारको को फासी पर लटका कर शैव धर्म का उद्धार करने का सकल्प किया। शिव भगवान् के परम भक्त होने के कारण उन पर भगवान्शिव प्रसन्न हुए। शिव ने उन्हे वरदान दिया—"तुम श्रमणो का सहार कर शैव धर्म का प्रचार-प्रसार करोगे।"

शैव सन्त बनने के पश्चात् वे सुन्दरमूर्ति नायनार एव ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति के नाम से विख्यात हुए। ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति ने (शिव द्वारा प्रदत्त) मोतियो से जडी पालकी मे बैठकर श्रमण-सहार के लिये प्रस्थान किया।

ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति ने पालकी मे बैठे-बैठे ही बन्द कपाटो वाले शिवमन्दिर को देख कर अनेक स्तोत्रो से शिव की स्तुति की। तत्काल शिव मन्दिर के कपाट खुल गये। इस प्रकार उन्होने अनेक बन्द पडे शिव मन्दिरो के कपाटो को खोला। वे वैगै नदी के दक्षिणी कूल पर अवस्थित शैव मठ मे ठहरे।

श्रुतिपुर के निवासियो ने ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति से प्रार्थना की—"हे धर्मोद्धारक! श्रमणो के द्वारा किये जा रहे अत्याचारो से हम लोग बडे दु खी एव पतित अवस्था मे है। इस भूमि के शासक राजा भी श्रमणो के पक्ष मे है और बहुसख्यक प्रजा भी श्रमणो की अनुयायी है। इस प्रकार की परिस्थितियो मे शैव धर्म कैसे पनपेगा? इस स्कध नदी के दक्षिणी कूल पर इन श्रमणो का मन्दिर एव मठ है। वे नगर बसा कर वास करते है। वे श्रमण कहते है "शैवो को आखो से देखना और उनकी बात सुनना भी महापाप है।"

ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति की मोतियो से जटित पालकी, वृषभध्वज, श्वेत चामर एव तेवार का सघोष गान करते हुए शैव समूह के साथ ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति को देखते ही श्रमणो के तन-मन भय से प्रकम्पित हो उठे। वे श्रमण विचार करने लगे—"इस ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति ने मदुरै मे ८००० श्रमणो को मौत के घाट उतार दिया। अब हमे क्या करना चाहिये?"

तब सभी श्रमण मिलकर विचार करने लगे—"अब हम लोगो के विनाश का समय आ गया है, अब हम मे से एक भी जीवित नही बचेगा। ।"

यह देख कर ज्ञान सम्बन्ध मूर्ति ने राजा से कहा—"इन श्रमणो मे से जो-जो अपने ललाट मे भस्म लगाकर शैव बन जाय, उनको तो जीवन दान दे दिया जाय। जो भाल मे भस्म लगाकर शैव न बने उन श्रमणो को फासी पर लटका दिया जाय।"

इस पर श्रमण धर्म मे आस्था रखने वाले बहुसख्यक श्रमण स्वय फासी पर चढ गये। कुछ लोग शैव बन गये तो कुछ लोग प्राण बचाकर वहा से तत्काल पलायन कर गये।"[1]

उपर्युद्धृत उल्लेखो से यह स्पष्टत सिद्ध होता है कि सुन्दर पाण्ड्य के शासनकाल मे समस्त दक्षिणापथ मे और विशेषत तामिलनाड मे जैन धर्मावलम्बियो की गणना प्रबल बहुसख्यक के रूप मे की जाती थी।

---

[1] ओरियन्टल ओल्ड मेनुस्क्रिप्ट्स लायब्रेरी, मेकेन्जे कलेक्शन (मद्रास यूनिवर्सिटी परिकर) की ताडपत्रीय "जैन सहार चरितम्" प्रति।

मदुरै मे ज्ञान सम्बन्धर[1] से प्रतिस्पर्धा मे जैन श्रमणो के पराजित हो जाने पर सुन्दर पाण्ड्य जैनधर्म का परित्याग कर शैव बन गया और उसने स्पर्धा की शर्त के अनुसार पराजित ५००० जैन श्रमणो को फासी के फदो पर लटका दिया।

इस दुर्भाग्यशालिनी घटना को इतिहास के अनेक विद्वानो ने केवल काल्पनिक न मानकर इसे एक ऐतिहासिक तथ्य की परिधि मे आने वाली घटना माना है। मदुरै के मीनाक्षी मन्दिर की भित्तियो पर भित्तिचित्रो मे श्रमण सहार की इस घटना को चित्रित किया गया है।[2]

पाण्ड्य राजवश द्वारा जैन धर्म के स्थान पर शैवधर्म स्वीकार कर लिये जाने के पश्चात् चोलराजवश ने भी शैव धर्म अगीकार कर जैन धर्मानुयायियो पर अत्याचार करना प्रारम्भ कर दिया। उसके पश्चात् बसवा, एकातद रमैया एव रामानुजाचार्य द्वारा दक्षिणापथ मे क्रमश शैव एव वैष्णव (रामानुज) सम्प्रदाय के प्रचार के एव शैवो द्वारा जैनो पर किये गये सामूहिक लूट-खसोट हत्या एव बलात् धर्म परिवर्तन के परिणामस्वरूप जो आन्ध्र प्रदेश शताब्दियो से जैनो का मुख्य गढ था, वहा से जैनो का अस्तित्व तक मिट गया। तमिलनाड मे भी शताब्दियो से बहुसख्यक के रूप मे माने जाते रहे जैन धर्मावलम्बी अतीव स्वल्प अथवा नगण्य सख्या मे ही अवशिष्ट रह गये।

इस प्रकार के सक्रातिकाल मे जैन धर्म की रक्षा करने मे, जैन धर्म को एक सम्मानास्पद धर्म के रूप मे बनाये रखने मे जिन राजवशो ने महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया, उनमे से प्रमुख राजवशो का, एव उनके द्वारा जैनधर्म के अभ्युदय-उत्कर्ष के लिये किये गये कार्यो का सक्षेप मे यहा परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है —

---

[1] Both he (K V Subrahmanya Aiyer) and Mr Ramaswami Ayyangar would therefore place Tirugnansambandhar in the Seventh Century A D-

—MEDIAEVAL JAINISM (Critical times) p २७५

[2] Here on the walls of the same temple are found paintings depicting the persecution and impaling of the Jainas at the instance of Tirujnana sambandhar And what is still more unfortunate is that even now the whole tragedy is gone through at five of the twelve annual festivals at that famous Madura temple ?

—MEDIAEVAL JAINISM (Critical times) p २७६

गंग राजवश

(ईसा की दूसरी से ग्यारहवीं शताब्दी)

भारत के दक्षिण प्रदेश मे जैन धर्म के प्रति श्रद्धा, आस्था एव उदारतापूर्ण व्यवहार रखने वाले मध्ययुगीन राजवशो मे गग राजवश का वडा महत्वपूर्ण स्थान रहा है।

गग राजवश का शासन काल बडे अथवा छोटे रूप मे, स्वतन्त्र राजाधिराज अथवा किसी अन्य महाराजाधिराज के वशवर्त्ती सामन्तो के रूप मे, ईस्वी सन् १०३ से १६०० के आसपास तक रहा। इस राजवश के शासन काल मे इस राजवश के राजाओ, रानियो, राजकुमारो, मन्त्रियो एव सेनापतियो आदि के सहयोग से जैनधर्म दक्षिण भारत के प्रमुख एव लोकप्रिय धर्म के रूप मे पुष्पित एव पल्लवित हुआ। इस राजवश के राजाओ ने अपनी राजधानी सर्वप्रथम कुवलाल (कोल्हार) मे और तत्पश्चात् कावेरी के तट पर तलकाड मे रक्खी। ईस्वी सन् १०६४ मे चोलो द्वारा तलकाड पर अधिकार कर लिये जाने पर इस राजवश की एक शाखा ने कलिग मे और कलिग के साथ-साथ लका मे भी राज्य किया। दूसरी शाखा ने तलकाड के पतन के पश्चात् उद्धरे मे अपनी राजधानी स्थापित की।

अमर कृति

इसी राजवश के इक्कीसवे राजा रायमल्ल द्वितीय सत्यवाक्य (ईस्वी सन् ९७४ से ९८४) के शासनकाल मे उनके महामात्य चामुण्डराय ने सुवर्ण वेलगुल (कर्णाटक) मे विन्ध्यगिरि नाम की पहाडी पर उसी पहाडी के शिखर पर उपलब्ध एक अखड शिलाखड को काट, तराश एव घड कर भगवान बाहुबली की एक ५६ फीट ऊची मूर्ति का निर्माण ईस्वी सन् ९८० मे कराया। पैर से लेकर सिर तक एक ही शिलाखण्ड से निर्मित यह बाहुबली (गोम्मटेश्वर) की अतीव भव्य एव विशाल मूर्ति वास्तव मे ससार के आज दिन तक ज्ञात अनेक आश्चर्यो मे से एक आश्चर्य है।

चामुण्डराय ने विन्ध्यगिरि पहाडी की पार्श्वस्थ चन्द्रगिरि नामक पहाडी पर भी भगवान् नेमिनाथ के एक भव्य मन्दिर का ईसा की दसवी शताब्दी मे निर्माण कराया। इन अमरकृतियो के कारण चामुण्डराय के साथ-साथ गग राजवश का नाम भी जैन साहित्य एव इतिहास मे चिरकाल तक स्मरणीय रहेगा।

गग राजवश के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक प्राय सभी राजा जैनधर्म के प्रति पूरे निष्ठावान् रहे। ईसा की चौथी शताब्दी से बारहवी शताब्दी तक की पुरातात्विक सामग्री, ग्रन्थो, ताडपत्रो, एव शिलालेखो आदि से यह प्रमाणित होता

की ओर प्रस्थित कर दिया। उन दोनो राजकुमारो के नाम बदलकर क्रमश द डि ग और मा घ व रख दिये गये। अनुक्रम से अनेक स्थानो पर पडाव डालते हुए वे कर्णाटक प्रदेश मे एक ऐसे स्थान पर पहुचे, जहा एक पहाडी के पास विशाल पे रू र (सरोवर) के किनारे पर एक चैत्यालय बना हुआ था और उस सरोवर के चारो ओर चन्दन, मन्दार एव नमेरु आदि वृक्षो से भरापूरा एक सुन्दर वन भी था। प्राकृतिक सौन्दर्य से भरे पूरे उस स्थान पर उन्होने अपना डेरा डाला। चैत्यालय की तीन बार प्रदक्षिणा कर उन्होने सर्वप्रथम जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति की। वही पास मे निवास कर रहे का ग़ू र गण के (ग्रामनीय सघ के) आचार्य सिहनन्दि के दर्शन कर उन्हे विनयपूर्वक वन्दन नमन किया। आचार्य सिहनन्दि द डि ग और मा घ व की श्रद्धा और विनय भक्ति से बडे प्रसन्न हुए और उनका वास्तविक परिचय प्राप्त होने पर उन्हे अनेक विद्याओ का प्रशिक्षण देकर इन विद्याओ मे पारगत बनाया।

एक दिन आचार्य सिहनन्दि के देखते-देखते ही माघव ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर एक पाषाण स्तम्भ पर तलवार का भरपूर वार किया। पाषाणस्तम्भ तत्काल दो टुकडे होकर पृथ्वी पर गिर पडा। माधव के इस अतुल बल को देखकर सिहनन्दि परम प्रसन्न हुए। आचार्य सिहनन्दि की सहायता से दडिग और माघव ने एक राज्य की स्थापना की। उन्होने कुवलाल (कोल्हार) को अपनी राजधानी बनाया और कुवलाल ९६००० राज्य के अधिपति हुए। जिस स्थान पर उन्हे आचार्य सिहनन्दि के दर्शन हुए थे वह स्थान लोक मे गग पेरूर के नाम से विख्यात हुआ। नन्दिगिरि पर उन्होने एक सुदृढ किले का निर्माण करवाया।

इस शिलालेख (स २७७) के उल्लेखानुसार गग राजवश की स्थापना करते समय आचार्य सिहनन्दि ने इस गग राजवश के मूल पुरुष दडिग और माधव को पीढी प्रपीढियो तक जैन धर्म के सिद्धान्तो के प्रतिपालन करते रहने की प्रतिज्ञा कराते हुए निम्नलिखित सात बातो से उन्हे और उनके वशजो को सावधान किया था

१ जो प्रतिज्ञाए तुमने की है, उनका जिस दिन तुम पालन करना छोड दोगे,
२ जैन धर्म की शिक्षाओ को यदि अपने जीवन मे नही ढालोगे,
३ यदि तुम स्त्री को छीनोगे, उसका उपभोग करोगे,
४ यदि तुम लोग मद्य एव मास का सेवन करोगे,
५ यदि तुम नीच लोगो से सम्बन्ध स्थापित करोगे,
६ यदि तुम लोग अथवा तुम्हारे वशज रणागण मे पीठ दिखाकर रणागण से पलायन करोगे,

७ यदि तुम लोग या तुम्हारे वशज अभावग्रस्त अभ्यर्थियो की आवश्यकतापूर्ति के लिये अर्थ प्रदान नही करोगे, तो इन दशाओ मे से किसी भी एक दशा मे तुम्हारा राजवश नष्ट हो जायगा। अन्यथा तुम्हारा राजवश और तुम्हारा राज्य दोनो अक्षुण्ण रहेगे।

इन सात शिक्षाओ को गग वश के राजाओ ने गुरुमत्र के समान गाठ वाँधकर अपने अन्तर्मन से ग्रहण किया। गग राजवश के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक के राजाओ के जीवन वृत्तो के इस सन्दर्भ मे सूक्ष्म रीति से पर्यवेक्षण करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य माघनन्दि की इन सात शिक्षाओ को शिरोधार्य करने के साथ-साथ उन्हे अपने जीवन मे पूरी तरह से उतारने के परिणामस्वरूप ही इस वश के प्राय सभी राजा दृढ प्रतिज्ञ, अन्तर्मन से जैन धर्मावलम्बी, पर स्त्री विमुख प्रवृत्ति वाले, निरामिष भोजी, सन्त चरण रत, उदार, दानी एव अप्रतिम योद्धा हुए है। शिलालेखो के उल्लेख इस बात के साक्षी है कि जिस प्रकार नववधु विविध प्रकार के आभूषणो से अलकृत रहती है उसी प्रकार समर भूमि मे अग्रिम पक्ति मे जूझते रहने के कारण कोगरिणवर्मा, दुर्विनीत, भूविक्रम, मारसिह द्वितीय, शिवमार (चौदहवा राजा) प्रभृति गगवशी राजाओ के अगोपागो के अग्रिम भाग शस्त्रो के घावो से अलकृत थे। मारसिह द्वितीय ने तो अपने शरणागत की रक्षा के लिये पाड्यराज वरगुण से घोर सग्राम किया और युद्ध मे विजयी होने के पश्चात् अपने शरणागत के प्राणो की रक्षा के लिये अपने प्राणो तक को अर्पित कर दिया।

आचार्य सिहनन्दि की शिक्षाओ को शिरोधार्य कर गग राजवश के राजाओ ने जिस प्रकार शौर्य का उत्कृष्ट प्रदर्शन किया उसी प्रकार आचार्य सिहनन्दि की आध्यात्मिक शिक्षाओ के पालन मे भी वे सदा अग्रणी रहे। महाराजा नीतिमार्ग (८९३ से ९१६) ने अन्त समय मे सलेखना सथारा करके पडित मरण का वरण किया। मारसिह तृतीय (९६१ से ९७४) ने वाकापुर मे अजित भट्टारक के पास तीन दिन का सथारा सलेखना कर अरिहन्त सिद्ध साधु का स्मरण करते हुए अनशनपूर्वक पडित मरण किया। गग राजवश के राजाओ द्वारा निर्मित करवाये गये मन्दिरो, वसतियो एव दानशालाओ के उल्लेखो से पुरातात्विक अभिलेख भरे पडे हैं।

इन सब तथ्यो से यह विदित होता है कि आचार्य सिहनन्दि ने गग वश की स्थापना के समय गग राजवश को जो सात शिक्षाए दी थी उन शिक्षाओ का विष्णुगोप को छोडकर बाकी के प्राय सभी राजाओ ने पालन किया।

यहा यह विचारणीय है कि आचार्य सिहनन्दि ने इस राजवश की स्थापना के समय दडिग और माधव को जो सात शिक्षाए दी उनमे सातवी शिक्षा है

है कि इस राजवश के शासको ने अनेक जिन मन्दिरो, जिन मूर्तियो एव जैन साधुओ के निवास के लिए अनेको गुफाओ आदि का निर्माण करवाकर जैनाचार्यो को उनका दान कर दिया ।

गग राजवश का उद्भव

नगर से प्राप्त ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण शिलालेख सख्या ३५ ईस्वी सन् १०७७ मे गग राजवश के इतिहास पर विशद् प्रकाश डाला गया है। सोरब से प्राप्त ईस्वी सन् १०८५ के त ति के रे शिलालेख (सो र ब १० जिल्द ७) पु र ले से प्राप्त ईस्वी सन् १११२ (सो र ब ६४) के तथा क न्नूर गु ड् डा से प्राप्त ईस्वी सन् ११२२ के (सो र ब ४) शिलालेखो मे भी नगर से प्राप्त उपरोक्त लेख सख्या ३५ ईस्वी सन् १०७७ के शिलालेख मे उट्टकित तथ्यो के समान ही गग वश का इतिहास प्राप्त होता है । इन सब अभिलेखो मे नगर का लेख सख्या ३५ सबसे पहले का है ।

नगर के शिलालेख मे गग राजवश की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जो विवरण दिया गया है, उसके साथ-साथ प्रख्यात पुरातत्वविद् एव इतिहासज्ञ बी लूइस राइस और अन्य विद्वानो द्वारा लिखे गये विवरणो के आधार पर गग राजवश के उद्भव, उसके शासनकाल एव इस वश के राजाओ द्वारा किये गये ऐतिहासिक महत्व के कार्यो का विवरण यहा प्रस्तुत किया जा रहा है

ट्ठुम्मच से प्राप्त शक सवत् ९९९ (ईस्वी सन् १०७७) के लेख सख्या २१३, नि दि मि से प्राप्त ईस्वी सन् १११७ के लेख सख्या २६७, क ल्लू र गु डु से प्राप्त ईस्वी सन् ११२१ के लेख सख्या २७७ और पु र ले (बिदरे परगना) से प्राप्त लेख सख्या २९९ मे गगवश की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे विस्तार से विवरण प्रस्तुत किया गया है। लेख सख्या २१३ मे गग राजवश का सूर्यवशी इक्ष्वाकु क्षत्रियो से सम्बन्ध बताते हुए राजाओ का क्रम इस प्रकार दिया है

गग राजवश के पूर्व पुरुष

१ धनजय इक्ष्वाकु कुल गगन भानु अयोध्यापति धनजय ने कान्यकुब्जाधीश (नाम नही दिया है) को युद्ध मे आहत कर बन्दी बनाया । उनकी महारानी गान्धारी देवी से हरिश्चन्द्र का जन्म हुआ । हरिश्चन्द्र की रानी रोहिणी देवी से राम और लक्ष्मण नामक दो पुत्रो का जन्म हुआ । ये राम और लक्ष्मण आगे चलकर क्रमश द डि ग और मा ध व के नाम से विख्यात हुए । ये दोनो भाई ही गग वश के पूर्व पुरुष है ।

लेख सख्या २७७ मे गग वश के उद्भव के सम्बन्ध मे निम्नलिखित रूप से विवरण दिया गया है .

१ हरिश्चन्द्र इक्ष्वाकु वशी अयोध्या का राजा भगवान् ऋषभदेव के शासनकाल मे हुआ। उसका पुत्र

२ भरत। भरत की रानी विजया महादेवी को लोल लहरो, मत्स्यो, चक्रवातो और राजहसो से सकुल गगा मे स्नान करने का दोहद उत्पन्न हुआ। दोहद की पूर्ति के पश्चात् विजय महादेवी ने एक तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया, जिसका नाम गगदत्त रक्खा गया।

३ गगदत्त से गग राजवश का प्रवर्त्तन हुआ। गगदत्त के अनन्तर अनुक्रम से अनेक राजाओ के पश्चात् नेमिनाथ के तीर्थ मे इसी वश का विष्णुगुप्त नामक राजा हुआ।

४ विष्णुगुप्त अनेक वर्षो तक अहिच्छत्रपुर मे राज्य करता रहा। उसने अपने बडे पुत्र भगदत्त को कलिग का राज्य और छोटे पुत्र श्रीदत्त को अहिच्छत्रपुर का राज्य दिया। इस प्रकार गगवश की दो शाखाए हो गई। एक अहिच्छत्रपुर मे और दूसरी कलिग मे शासन करने लगी। भगदत्त और उनके वशज कलिग गग के नाम से लोक मे विख्यात हुए।[1]

५ श्रीदत्त। श्रीदत्त का पुत्र प्रियबन्धु।

६ प्रियबन्धु जिस समय अहिच्छत्रपुर मे राज्य कर रहा था। उस समय भगवान् पार्श्वनाथ को केवलज्ञान हुआ। इन्द्र जिस समय भगवान् पार्श्वनाथ के केवलज्ञानोत्पत्ति की महिमा गान के लिये उपस्थित हुआ, उसी समय राजा प्रियबन्धु भी वहा उपस्थित हुआ और उसने बडी श्रद्धा भक्ति से पार्श्व प्रभु के केवलज्ञान की महिमा गाई। प्रियबन्धु द्वारा की गई केवलज्ञान महिमा से प्रसन्न होकर इन्द्र ने उसे पाच दिव्य आभरणालकार प्रदान किये और उसने अहिच्छत्रपुर का नाम विजयपुर रख दिया।

इस वश के अनेक राजाओ के पश्चात् कालान्तर मे

७ कम्ब नामक राजा हुआ। कम्ब के बाद पद्मनाभ हुआ।

८ पद्मनाभ के राम और लक्ष्मण नाम के दो पुत्र हुए। जब ये दोनो कुमार किशोर वय मे प्रविष्ट हुए उस समय उज्जयिनी के राजा महीपाल ने विजयपुर पर आक्रमण कर पद्मनाभ से वे पाचो दिव्य आभरण मागे। पद्मनाभ इससे सहमत नही हुआ। उसने चालीस चुने हुए ब्राह्मणो के साथ अपने राम लक्ष्मण नाम के दोनो राजकुमारो और उनकी छोटी बहिन को प्रच्छन्न रूप से विजयपुर से दक्षिण

---

[1] उत्तरवर्ती काल मे गग राजवश की शाखा ने कलिग मे शताब्दियो तक शासन किया। इस ऐतिहासिक तथ्य के सन्दर्भ मे यह उल्लेख विचारणीय है। —सम्पादक।

की ओर प्रस्थित कर दिया। उन दोनो राजकुमारो के नाम बदलकर क्रमश द डि ग और मा ध व रख दिये गये। अनुक्रम से अनेक स्थानो पर पडाव डालते हुए वे कर्णाटक प्रदेश मे एक ऐसे स्थान पर पहुचे, जहा एक पहाडी के पास विशाल पे रू र (सरोवर) के किनारे पर एक चैत्यालय बना हुआ था और उस सरोवर के चारो ओर चन्दन, मन्दार एव नमेरु आदि वृक्षो से भरापूरा एक सुन्दर वन भी था। प्राकृतिक सौन्दर्य से भरे पूरे उस स्थान पर उन्होने अपना डेरा डाला। चैत्यालय की तीन बार प्रदक्षिणा कर उन्होने सर्वप्रथम जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति की। वही पास मे निवास कर रहे क्रा णू र गण के (ग्रामनीय सघ के) आचार्य सिहनन्दि के दर्शन कर उन्हे विनयपूर्वक वन्दन नमन किया। आचार्य सिहनन्दि द डि ग और मा ध व की श्रद्धा और विनय भक्ति से बडे प्रसन्न हुए और उनका वास्तविक परिचय प्राप्त होने पर उन्हे अनेक विद्याओ का प्रशिक्षण देकर इन विद्याओ मे पारगत बनाया।

एक दिन आचार्य सिहनन्दि के देखते-देखते ही माधव ने अपनी पूरी शक्ति लगाकर एक पाषाण स्तम्भ पर तलवार का भरपूर वार किया। पाषाणस्तम्भ तत्काल दो टुकडे होकर पृथ्वी पर गिर पडा। माधव के इस अतुल बल को देखकर सिहनन्दि परम प्रसन्न हुए। आचार्य सिहनन्दि की सहायता से दडिग और माधव ने एक राज्य की स्थापना की। उन्होने कुवलाल (कोल्हार) को अपनी राजधानी बनाया और कुवलाल ९६००० राज्य के अधिपति हुए। जिस स्थान पर उन्हे आचार्य सिहनन्दि के दर्शन हुए थे वह स्थान लोक मे गग पेरूर के नाम से विख्यात हुआ। नन्दिगिरि पर उन्होने एक सुदृढ किले का निर्माण करवाया।

इस शिलालेख (स २७७) के उल्लेखानुसार गग राजवश की स्थापना करते समय आचार्य सिहनन्दि ने इस गग राजवश के मूल पुरुष दडिग और माधव को पीढी प्रपीढियो तक जैन धर्म के सिद्धान्तो के प्रतिपालन करते रहने की प्रतिज्ञा कराते हुए निम्नलिखित सात बातो से उन्हे और उनके वशजो को सावधान किया था

१ जो प्रतिज्ञाए तुमने की है, उनका जिस दिन तुम पालन करना छोड दोगे,
२ जैन धर्म की शिक्षाओ को यदि अपने जीवन मे नही ढालोगे,
३ यदि तुम स्त्री को छीनोगे, उसका उपभोग करोगे,
४ यदि तुम लोग मद्य एव मास का सेवन करोगे,
५ यदि तुम नीच लोगो से सम्बन्ध स्थापित करोगे,
६ यदि तुम लोग अथवा तुम्हारे वशज रणागण मे पीठ दिखाकर रणागण से पलायन करोगे,

७ यदि तुम लोग या तुम्हारे वशज अभावग्रस्त अभ्यर्थियो की आवश्य-कतापूर्ति के लिये अर्थ प्रदान नही करोगे, तो इन दशाओ मे से किसी भी एक दशा मे तुम्हारा राजवश नष्ट हो जायगा। अन्यथा तुम्हारा राजवश और तुम्हारा राज्य दोनो अक्षुण्ण रहेगे।

इन सात शिक्षाओ को गग वश के राजाओ ने गुरुमत्र के समान गाठ बाँध-कर अपने अन्तर्मन से ग्रहण किया। गग राजवश के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक के राजाओ के जीवन वृत्तो के इस सन्दर्भ मे सूक्ष्म रीति से पर्यवेक्षण करने पर स्पष्ट प्रतीत होता है कि आचार्य माघनन्दि की इन सात शिक्षाओ को शिरोधार्य करने के साथ-साथ उन्हे अपने जीवन मे पूरी तरह से उतारने के परिणामस्वरूप ही इस वश के प्राय सभी राजा दृढ प्रतिज्ञ, अन्तर्मन से जैन धर्मावलम्बी, पर स्त्री विमुख प्रवृत्ति वाले, निरामिप भोजी, सन्त चरण रत, उदार, दानी एव अप्रतिम योद्धा हुए है। शिलालेखो के उल्लेख इस बात के साक्षी है कि जिस प्रकार नववधु विविध प्रकार के आभूषणो से अलकृत रहती है उसी प्रकार समर भूमि मे अग्रिम पक्ति मे जूझते रहने के कारण कोगणिवर्मा, दुर्विनीत, भूविक्रम, मारसिह द्वितीय, शिवमार (चौदहवा राजा) प्रभृति गगवशी राजाओ के अगोपागो के अग्रिम भाग शस्त्रो के घावो से अलकृत थे। मारसिंह द्वितीय ने तो अपने शरणागत की रक्षा के लिये पाड्यराज वरगुण से घोर सग्राम किया और युद्ध मे विजयी होने के पश्चात् अपने शरणागत के प्राणो की रक्षा के लिये अपने प्राणो तक को अर्पित कर दिया।

आचार्य सिंहनन्दि की शिक्षाओ को शिरोधार्य कर गग राजवश के राजाओ ने जिस प्रकार शौर्य का उत्कृष्ट प्रदर्शन किया उसी प्रकार आचार्य सिंहनन्दि की आध्यात्मिक शिक्षाओ के पालन मे भी वे सदा अग्रणी रहे। महाराजा नीतिमार्ग (८९३ से ९१६) ने अन्त समय मे सलेखना सथारा करके पडित मरण का वरण किया। मारसिंह तृतीय (९६१ से ९७४) ने वाकापुर मे अजित भट्टारक के पास तीन दिन का सथारा सलेखना कर अरिहन्त सिद्ध साधु का स्मरण करते हुए अन-शनपूर्वक पडित मरण किया। गग राजवश के राजाओ द्वारा निर्मित करवाये गये मन्दिरो, वसतियो एव दानशालाओ के उल्लेखो से पुरातात्विक अभिलेख भरे पडे हैं।

इन सब तथ्यो से यह विदित होता है कि आचार्य सिंहनन्दि ने गग वश की स्थापना के समय गग राजवश को जो सात शिक्षाए दी थी उन शिक्षाओ का विष्णुगोप को छोडकर बाकी के प्राय सभी राजाओ ने पालन किया।

यहा यह विचारणीय है कि आचार्य सिंहनन्दि ने इस राजवश की स्थापना के समय दडिग और माधव को जो सात शिक्षाए दी उनमे सातवी शिक्षा है

रणागण मे डटे रहोगे, पलायन नही करोगे तब तक तुम्हारा राज्य अक्षुण्ण रहेगा। रणागण मे पीठ दिखाकर अगर युद्ध भूमि से पलायन करोगे तो तुम्हारा राजवश नष्ट हो जायगा। यह जो शिक्षा आचार्य सिहनन्दि ने दी इस प्रकार की शिक्षा इतने स्पष्ट शब्दो मे देने की परम्परा पुरातनकाल से ही जैन मुनियो मे नही रही है। देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल मे चैत्यवासी, यापनीय, एव भट्टारक आदि अनेक नवीन परम्पराओ को गौण कर देश काल की बदलती परिस्थितियो के नाम पर अनेक नई मान्यताए प्रचलित की। प्राचीन अभिलेखो के पर्यावलोचन से यह सहज ही सिद्ध हो जाता है कि अभिनव मान्यताए प्रचलित करने की दिशा मे जनमत को अधिकाधिक जैन मत की ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से यापनीय सघ के आचार्य अपेक्षाकृत चैत्यवासियो से भी आगे रहे। गोम्मटेश की मूर्ति के निर्माण, ज्वालामालिनी देवी के स्वतन्त्र एव पृथक् मन्दिर के निर्माण आदि कार्यो से तीर्थंकरो के अतिरिक्त अन्य मूर्तियो एव मन्दिरो की रचना का श्रीगणेश यापनीय सघ ने किया। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि नवीन मान्यताओ के रूप मे उपरिलिखित सातवी शिक्षा का आविष्कार भी बदलती हुई परिस्थितियो के सन्दर्भ मे यापनीयो ने किया हो।

किसी राजा द्वारा दिग्विजय के लिये किये गये सैनिक अभियान मे कोई पच महाव्रतधारी जैन मुनि विजय अभियान मे प्रवृत्त राजा के साथ-साथ गया हो, इस प्रकार का उदाहरण भगवान् महावीर की मूल श्रमण परम्परा के इतिहास मे खोजने पर भी नही मिल सकता। किन्तु इस शिलालेख सख्या २७७ मे एक तथ्य के रूप मे यह उल्लेख विद्यमान है कि राज्य प्राप्त करने के पश्चात् दडिग और माधव ने सेना के साथ कोकण विजय के लिये अभियान किया। मार्ग मे उन्होने एक गडलि (पहाडी) देखी। वहा कमल दलो से आच्छादित एव मछलियो से सकुल सरोवर के पास उन्होने पडाव डाला। पहाडी के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर आचार्य सिहनन्दि ने राजा से वहा एक चैत्यालय का निर्माण कराने की प्रेरणा की। दडिग और माधव ने आचार्य की आज्ञा को शिरोधार्य कर वहा चैत्य का निर्माण करवाया।

इससे भी अधिक आश्चर्यकारी शिलालेख सौन्दत्ती से उपलब्ध हुआ है। ईस्वी सन् १२२८ के इस शिलालेख मे रट्ट राजवश के गुरु आचार्य मुनिचन्द्र को इस राजवश के धर्मगुरु के साथ-साथ राजनैतिक परामर्शदाता, राज्य के प्रशासकीय कार्यो मे सक्रिय सहयोगी और दिग्विजय हेतु राजा लक्ष्मीदेव द्वितीय (मुख्यमहामण्डलेश्वर वेणुग्राम वर्तमान मे बेलगाव) द्वारा किये गये सैनिक अभियानो (आक्रमणो) मे प्रमुख परामर्शदाता, प्रमुख सहयोगी बताया गया है। इस अभिलेख मे उल्लेख है कि आचार्य मुनिचन्द्र ने वेणुग्राम के रट्ट राज्य का सीमाओ की अभिवृद्धि के साथ अभिवर्द्धन कर उसे सुदृढ किया। आचार्य मुनिचन्द्र धर्मशास्त्रो

मे पारगत और सैनिक अभियानो द्वारा राजा लक्ष्मीदेव को विजय श्री का वरण कराने के विज्ञान मे निष्णात थे। परम श्रद्धादृ सर्वाधिक सुयोग्य मन्त्री और रट्ट राज्य के सस्थापक सरक्षक आचार्य मुनिचन्द्र ने प्रशासन कौशल और उदारता आदि गुणो मे सभी मन्त्रियो को पीछे छोड दिया। वे सब मे सर्वाग्रणी मूर्धन्य रहे।[1] रट्ट राज्य के अधिपति राजा लक्ष्मीदेव द्वितीय और उसके पिता कार्त्तवीर्य चतुर्थ इन महान् आचार्य के राजनैतिक कौशल और ठोस सत्परामर्शो के परिणामस्वरूप उनके प्रति महाऋणी थे।[2] ये आचार्य मुनिचन्द्र भी यापनीय सघ के ही आचार्य प्रतीत होते है क्योकि इस शिलालेख मे प्रभाचन्द्र सिद्धान्त देव एव उनके (प्रभाचन्द्र के) शिष्य इन्द्र कीर्त्ति और श्रीधर देव के सम्बन्ध मे थोडा सा विवरण उल्लिखित है। ये सभी आचार्य निर्विवाद रूपेण यापनीय सघ के थे।

सामान्यत पाठको और विशेषत शोधार्थियो के लाभार्थ एतद् सम्बन्धी कतिपय ज्ञातव्य तथ्यो का यहा प्रसगवशात् उल्लेख किया गया है।

उपरि वर्णित शिलालेखो मे, मुख्यत शिलालेख सख्या २७७ बी लूइस राइस और बी लूइस राइस द्वारा अनेक शिलालेखो के आधार पर तैयार की गई इस राजवश की क्रमबद्ध (सक्षिप्त विवरण सहित) सूची मे गग राजवश के प्रथम से लेकर अन्तिम तक राजाओ का जो अनुक्रम दिया गया है वह सक्षेप मे इस प्रकार है

(१) दडिग् और माधव कोगणिवर्मा महाधिराज।[3] कोकण के अभियान और राज्य की अभिवृद्धि के पश्चात् दडिग् और माधव कुवलाल (कोलाल कोल्हार) मे शान्तिपूर्वक राज्य करने लगे। कालान्तर मे दडिग् को पुत्र की प्राप्ति हुई और उसका नाम माधव द्वितीय रखा गया, जो आगे चलकर किरिया माधव के नाम से विख्यात हुआ। दडिग् और माधव कोगणिवर्मा ने अपनी विजयपताका पर अपने गुरु और राज्य की स्थापना करने मे सहायभूत आचार्य सिहनन्दि के धर्मोपकरण मयूरपिच्छी का चिन्ह अकित किया। उन्होने बाणमण्डल पर अधिकार करके वहा पर अपनी मयूर पिच्छाकित पताका फहराई। इन दोनो भाइयो की सम्पूर्ण देहयष्टिया युद्धो मे लगे शस्त्रास्त्रो के प्रहारो के घावो से अलकृत हो गई थी।

---

[1] जैनिज्म इन साउथ इडिया एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स पृष्ठ ११५

[2] जर्नल आफ दी बोम्बे ब्राच आफ दी रोयल एसियाटिक सोसायटी, बम्बई, वोल्यूम X, पी पी २६०

[3] गग राजवश के प्रत्येक राजा के नाम के आगे यह उपाधि लगी हुई है। जब तक विशिष्ट उल्लेख नही किया जाय तब तक प्रत्येक राजा को उसके पूर्व के राजा का पुत्र समझा जाय।

(२) माधव द्वितीय—किरिया माधव यह राजा उच्च कोटि का विद्वान् एव विद्वानो तथा कवियो के गुणावगुणो की परख मे कसौटी के समान बडा ही पारखी था, निपुण था। इसने 'दत्तक सूत्र' पर वृत्ति की रचना की।[1]

इसके राज-सिंहासनासीन होने के पूर्व ही गग राज्य कटकविहीन और एक सुदृढ राज्य बन चुका था। अत. इस राजा का शासनकाल शान्ति एव सर्वतोमुखी समृद्धि का काल माना गया है।

(३) हरि वर्मा (ईस्वी सन् २४७–२६६) इस राजा की हस्ति सेना बडी ही शक्तिशालिनी थी। इसने अपनी हस्ति सेना के बल पर अनेक युद्धो मे विजय प्राप्त की। यह अपने समय का अप्रतिम धनुर्धर था। अपने धनुष की प्रत्यचा के प्रताप से अर्जित विपुल सम्पदा से इसने अपने राज्यकोष के बल मे उल्लेखनीय अभूतपूर्व अभिवृद्धि की। ये सभी राजा जैन धर्म के प्रगाढ निष्ठावान् अनुयायी रहे। इनके राज्य मे प्रजा सभी भाति सम्पन्न और सुखी थी।

(४) विष्णु गोप। इस राजा ने जैन धर्म का त्याग कर वैष्णव धर्म स्वीकार किया और उसके परिणामस्वरूप परम्परा से इस वश के अधिकार मे चले आ रहे पाचो दिव्य आभूषण विलुप्त हो गये।[2]

(५) पृथ्वीगग। इस राजा ने पुन जैन धर्म स्वीकार किया और केवल एक पीढी के व्यवधान से यह राजवश पुन जैन धर्मावलम्बी बन गया।

(६) माधव तृतीय। तड्गाल माधव (ईस्वी सन् ३५७ से ३७०)। इस राजा का विवाह कदम्बवशी राजा कृष्ण वर्मा की बहिन से हुआ। इसने अपने दादा के समय से बन्द हुए जन कल्याणकारी एव धार्मिक अनुदानो को राज्यकोष से पुन प्रारम्भ किया। इससे लेख सख्या २७७ मे उल्लिखित राजा विष्णुगोप के अजैन बन जाने के उल्लेख की पुष्टि होती है। सम्भवत विष्णुगोप ने जैन धर्म के परित्याग और अन्य धर्म के अगीकार के साथ-साथ जैन धार्मिक सस्थाओ को राज्य की ओर से दी जाने वाली सहायता सुविधाओ आदि को बन्द कर दिया होगा, जिन्हे कि राजा तडगाल माधव ने पुन प्रारम्भ किया। यह राजा निष्ठा सम्पन्न जैन धर्मावलम्बी था। इस राजा को—कलियुग के कीचड मे फसे हुए धर्म रूपी वृषभ का उद्धार करने मे सदा तत्पर रहने वाला बताया गया है।[3]

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह भाग २ लेख सख्या ९४ पृष्ठ ६०–६२

[2] जैन शिलालेख सग्रह भाग २ लेख सख्या २७७, पृष्ठ सख्या ४१४, ४२४

[3] जैन शिलालेख सग्रह भाग २ लेख सख्या ९४

७ अविनीत गग। (ईस्वी सन् ४२५ से ४७८) यह राजा परम आस्थावान जिनभक्त था। दक्षिण मे धर्म और चातुर्वर्ण्य की रक्षा की दिशा मे इसकी वैवस्वत मनु से तुलना की गई है। यह कदम्ब वशी राजा काकुत्स्थ वर्मा का दौहित्र और कदम्बवशी राजा कृष्णवर्मा का भागिनेय था।[1] इसका विवाह पुन्नाड् के राजा स्कन्धवर्मा की पुत्री से हुआ। इनकी अन्तरात्मा विद्या और विनय से ओत-प्रोत थी। यह राजा अजेय योद्धा और विद्वानो मे अग्रगण्य माना जाता था। देशीय गण के भट्टारक चन्द्रनन्दि ने शक सम्वत् ३८८ तदनुसार ईस्वी सन् ४६६ मे तलवन नगर के श्री विजय जिनालय के लिये वदणे गुप्पे नामक एक सुन्दर ग्राम अकाल वर्ष पृथ्वी वल्लभ के मन्त्री के माध्यम से महाराज अविनीत से दान मे प्राप्त किया।[2]

अपने सम्बन्ध मे शतजीवी होने की बात सुनकर राजाधिराज अविनीत इस बात की परीक्षा हेतु बाढ के कारण उद्वेलित एव महावेगा कावेरी नदी के प्रवाह मे कूद गया और उसे तैरकर पार कर गया।[3]

८ दुर्विनीत-कोगणिवृद्ध (ईस्वी सन् ४७८ से ५१३) इस राजा ने शब्दानुशासन के रचनाकार पूज्यपाद से विद्याध्ययन किया। आन्द्री, अलानूर, पौरुलरे, पेन्नगर आदि क्षेत्रो पर अधिकार करने के लिये अनेक भीषण सग्राम किये तथा पेनाड् और पुन्नाड् पर शासन किया। दुर्विनीत ने युद्धभूमि मे कान्ची के महाराजा कोडुवेट्टि को बन्दी बनाकर अपने भानजे को जयसिंह की परम्परागत राजधानी कान्ची के राज सिंहासन पर आसीन किया। दुर्विनीत ने किरातार्जुनीय महाकाव्य के १५ सर्गो पर टीका का निर्माण किया। दक्षिण मे धर्म एव वर्ण व्यवस्था की रक्षा के लिए इसे भी वैवस्वत मनु की उपमा दी गई है।

९ मुष्कर-मोक्कर-कोगणि वृद्ध (ईस्वी सन् ५१३ से) यह राजा प्राणी मात्र के प्रति मैत्रीभाव रखने वाला सच्चा जिन भक्त था। समस्त प्राणी वर्ग के प्रति इसकी प्रगाढ वात्सल्यवृत्ति के परिणामस्वरूप हिंस्र वन्य जन्तुओ के समूह इसके चरणो के पास उपस्थित हो इसके प्रति अपनी श्रद्धा और स्नेह प्रकट करते थे। उसका विवाह सिंधुराज की राजकुमारी के साथ हुआ।

१० श्री विक्रम-कागणिवृद्ध। यह राजा परमार्हत अर्थात् जिनेश्वर भगवान् का निष्ठावान् परम भक्त होने के साथ-साथ अपने समय का एक माना हुआ राजनीतिज्ञ एव रणनीति विशारद् था। इसके राज्य की सीमाए तावी नदी

---

1 जैन शिलालेख सग्रह भाग २, लेख सख्या ९५ पृष्ठ ६३–६६

2 वही

3 वही लेख सख्या २७७ पृष्ठ ४१४–४२४

के तट तक फैली हुई थी। यहा यह ध्यान देने की बात है कि इस वश के नवमे राजा मुश्कर का शासनकाल ईस्वी सन् ५१३ से प्रारम्भ होना बताया गया है। उसका राज्य कब तक रहा और उसका पुत्र श्री विक्रम कब सिहासनासीन हुआ और कब तक वह सिंहासनारूढ रहा इसका कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता है। इसके पुत्र भूविक्रम का शासनकाल ईस्वी सन् ६७० तक माना गया है। इससे केवल यही अनुमान किया जा सकता है कि ईस्वी सन् ५१३ से ईस्वी सन् ६७० की बीच की १५७ वर्ष की अवधि मे गग वश के क्रमश नवमे, दसवे और ग्यारहवे राजाओ का शासन रहा।

११ भूविक्रम—श्री वल्लभ-भूरि विक्रम (ईस्वी सन् से ६७० तक)। यह अपने समय का श्रेष्ठ योद्धा था। इसने काची पति पल्लव राज को युद्ध भूमि मे पराजित एव बन्दी बनाकर उसके सम्पूर्ण राज्य पर अधिकार कर लिया था। हस्ति सेना के युद्धो मे लगे गजदन्तो के गहरे घावो से इस राजा का विशाल वक्षस्थल चित्रित हो गया था।

१२ शिवमार (—प्रथम नवकाम—शिष्टप्रिय—पृथ्वीकौगरिण—चागी—नवलोक—कम्बय्य। ईस्वी सन् ६७०—७१३) इसके सम्बन्ध मे कोई विशेष जानकारी अद्यावधि उपलब्ध नही हुई है।

१३ एरग-गग। यह शिवमार प्रथम का भाई था।

१४ एरे यग। यह राजा एरग का पुत्र था। इन दोनो पिता पुत्र के शासन काल के सम्बन्ध मे कोई उल्लेख अभी तक कही उपलब्ध नही हुआ है।

१५ मारसिंह प्रथम यह राजा बडा ही शरणागत प्रतिपाल था। इसने डिडिकोज, एरिग् और नाग दड नामक तीन राजनैतिक शरणार्थियो, जिनमे से एक अमोघवर्ष के राज्य से भाग कर आया था, को अपने यहा शरण दी। शरणागतो की रक्षा के लिए उसे घोर युद्ध करने पडे। इस प्रकार के वैम्बल गुलि के एक युद्ध में उसे गहरा घाव लगा। घाव के अन्दर की अपनी एक हड्डी को उसने काटकर गगा मे प्रवाहित किया। शरणागत की रक्षा के लिये उसने पाड्यराज वरगुण के साथ युद्ध करके उसे पराजित किया। इस विजय के पश्चात् अपने शरणागत की रक्षा करते हुए मारसिंह प्रथम ने अपने प्राणो का बलिदान तक कर दिया।

१६ श्रीपुरुष—पृथ्वीकौगरणी—केसरी—मुत्तरस (ईस्वी सन् ७२७ से ८०४)। इसने मान्यपुर मे निवास करते हुए शासन किया। इसकी महारारणी का नाम श्रीजा था। इस राजा ने बारण राजवश को सरक्षरण प्रदान कर इस राजवश की सहायता की। जिस वारण राजा की उसने सहायता की वह चोलराज वर्गुण का समकालीन राजा था। इसके शासनकाल मे इसके पुत्र शिवमार, दुग्गमार, एरेयप्पा अथवा

मेरेयप्पा और लोकादित्य विभिन्न क्षेत्रो के प्रशासक (राज्यपाल) थे। इसने गज शास्त्र की रचना की।

१७ शिवमार द्वितीय–कौगरिग महाराजाधिराज परमेश्वर–सैगोट्ट (ईस्वी सन् ८०४–८१४)। गग राजवश इस वश की स्थापना के काल से सदा ही अपराजेय रहा किन्तु नवमे राष्ट्रकूट वशी राजा निरुपम अथवा धारावर्ष ने राजा शिवमार को ईस्वी सन् ८०५ के आस-पास एक युद्ध मे पराजित करके बन्दी बना लिया। निरुपम के पुत्र प्रभूतवर्षगोविन्द ने उसे मुक्त कर दिया। किन्तु उसकी राष्ट्रकूट राज्य विरोधी गतिविधियो से क्रुद्ध हो ईस्वी सन् ८०७ के आस-पास उसे पुन बन्दी बना लिया। उस समय से ईस्वी सन् ८१३ तक राष्ट्रकूटो का चाकीराज नामक राज्यपाल गग मडल की प्रशासनिक देख-रेख करता रहा। शिवमार किसी न किसी प्रकार से राष्ट्रकूटो के शिकजे से बच निकलने मे सफल हुआ। और सैन्य सग्रह कर उसने गोविन्द के सेनापतित्व मे गुड गुटूर के रणक्षेत्र मे एकत्रित हुई राष्ट्रकूटो, चालुक्यो और हैहयो की सम्मिलित सेनाओ को युद्ध मे पराजित कर दिया। इस प्रकार ईस्वी सन् ८१४ मे गग मडल से राष्ट्रकूटो के स्वल्पकालीन शासन को शिवमार द्वितीय ने उखाड फैका।

शिवमार के पुन राज सिंहासनारोहण के आयोजन मे राष्ट्रकूटवशी राजा गोविन्द एव पल्लवराज नन्दीवर्मा सम्मिलित हुए और उन दोनो ने अपने हाथो से शिवमार के भाल पर राजतिलक किया। पूर्वी चालुक्यो के साथ शिवमार ने बारह वर्ष तक युद्ध किया। युद्धो मे उसके शरीर पर शस्त्रो के १०८ घाव लगे।

धर्म धौरेयता के साथ-साथ युद्ध शौडीरता का सद्भाव वस्तुत गग राजवश की विशेषता रही है। इस विशिष्ट गुण के कारण गग राजवश के राजाओ ने "ये कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा" इस शाश्वत सूक्ति को चरितार्थ कर बताया। इसने "गज शतक" की रचना की। इस राजा ने "मालव सप्तकी" विजय कर पाषाण पर 'गग मालव' उट्टकित करवाया। इसने एक युद्ध मे कण्णमुज्जे के राजा के छोटे भाई जयकेसि को युद्ध मे मारा।

(१८) विजयादित्य—रण विक्रम (ईस्वी सन् ८१५ से)

यह शिवमार द्वितीय का भ्राता था।

(१९) मारसिंह द्वितीय—ईरेयप्पा-लोकत्रिनेत्र।

(२०) राछमल्ल (राजमल्ल) प्रथम–सत्यवाक्य–कोगणिवर्म-धर्म महाराजाधिराज परमानदी (ईस्वी सन् ८६९ से ८९३) इसका कोवलाल और नन्दगिरि पर आधिपत्य था। गग राज्य के जिन क्षेत्रो पर राष्ट्रकूटो ने बहुत समय से अपना अधिकार कर रखा था उन्हे राजमल्ल प्रथम ने राष्ट्रकूटो से छीनकर पुन गग राज्य

की सीमाओ मे सम्मिलित किया। इस राजा ने शक सम्वत् ८०६ ईस्वी सन् ८७० मे पेन्वे कडग के सत्यवाक्य जिन चैत्यालय के लिए विलियूर के बारह गाव दान मे दिये।[1] ईस्वी सन् ८७० मे भूतरस नामक इसका एक पुत्र युवराज पद पर आसीन था।

(२१) नीति मार्ग—सत्यवाक्य—राछमल्ल—रणविक्रमैया-नन्नियगग। (ईस्वी सन् ८६३ से ६१६) पल्लव नोलम्बाधिराज इस राजा का अधीनस्थ प्रशासक था।

(२२) ईरेयप्पा—राजमल्ल—राचमल्ल। (ईस्वी सन् ६१६ से ईस्वी सन् ६२१)

(२३) सत्यवाक्य—राचमल्ल—नन्निय गग-जयद उत्तरग-गग गागेय (भीष्म) (ईस्वी सन् ६२१ से ६६३) इसने अपनी पुत्री का विवाह राष्ट्रकूटवशी राजा कृष्णराज अपरनाम कन्नदेव के साथ किया और उसकी सहायता से इसने अपने राज्य का विस्तार किया। हिस्टोरिकल रिसर्च सोसायटी को मिले धनवाद शिलालेख के अनुसार मेलपाडी मे सेना के पडाव के साथ ठहरे हुए मारसिंह द्वितीय ने सूरस्थ गण के आचार्य रविनन्दि के शिष्य एलाचार्य को अपनी माता कलब्बे द्वारा मेलपाडि के समीपस्थ उत्तरी आरकाट जिले के हेमग्राम मे निर्मापित जिनमन्दिर की मूर्त्तियो और देवो तथा मुनियो के चित्रो की पूजा के लिए तथा मुनियो को चार प्रकार का दान देने के लिये कोगलिदेश के काडलूर ग्राम का दान दिया। यह एलाचार्य ज्वालामालिनी कल्प के अपने समय के विख्यात विशेषज्ञ थे।

(२४) मारसिंह—गगकन्दर्प—सत्यवाक्य—नोलम्ब कुलान्तक देव। (ईस्वी सन् ६६३ से ६७४) यह बडा शक्तिशाली राजा था। लेख सख्या १४६ और १५२ के अनुसार उन्होने गग कन्दर्प जिनालय के निर्माण के साथ-साथ जैनधर्म के सर्वतोमुखी अभ्युत्थान के अनेक कार्य किये। इस राजा ने अपने बहनोई राष्ट्रकूटवशी राजा कृष्णराज चोलान्तक की प्रार्थना पर गूर्जर राज्य पर आक्रमण किया। राष्ट्रकूटवश के राजाओ के महा सामन्त के रूप मे इसने अनेक देश जीतकर राष्ट्रकूटो के राज्य का विस्तार किया। यह चालुक्य राजकुमार राजादित्य के लिये कराल काल के समान भयानक था। अपने समय का जैन धर्म का महान् प्रभावक सेनापति चामुडराय इस राजा का और इसके पश्चात् इसके पुत्र का भी सेनापति एव महामन्त्री था। मारसिंह ने एपिग्राफिका कर्णाटिका भाग १० और मूलबागल लेख सख्या ८४ के अनुसार बकापुर मे अजितसेन भट्टारक के समीप सलेखनापूर्वक शक सम्वत् ८६६ (ईस्वी सन् ६७४) मे पडित मरण का वरण किया।

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह भाग २, लेख सख्या १३१ पृष्ठ १५४–१५५

(२५) राचमल्ल-राजमल्ल चतुर्थ-सत्यवाक्य (ईस्वी सन् ६७४ से ६८४) इसका लघु भ्राता रक्कस–अन्नन–बठ इसके अधीन राज्यपाल था। इसके शासन-काल के लेख सख्या १५४ के अनुसार इसने श्रवण बेलगोल के अनन्तवीर्य को पेगी-दूर नामक ग्राम और कतिपय अन्य दान दिये। इसके मन्त्री एव सेनापति चामु ड-राय ने आमूलचूल एक ही ठोस पाषाणपु ज पर्वतराज के उच्चतम श्रृग को काट छाट करवाकर उच्चकोटि की कलापूर्ण कृति की प्रतीक स्वरूपा गोम्मटेश्वर की विश्व के लिए आश्चर्यभूत ५६।। फीट ऊची विशाल मूर्त्ति का श्रवणबेलगोल मे निर्माण करवाया। इस अनुपमकला की प्रतीक गोम्मटेश्वर की गगनचु बी मूर्ति पर न केवल श्रवणबेलगोल अथवा कर्णाटक को ही अपितु सम्पूर्ण भारतवर्ष को गर्व है। गोम्मटेश्वर की मूर्त्ति का निर्माण करवाकर चामु डराय ने स्वय के साथ-साथ गग राजवश का नाम भी अमर कर दिया।

इन गग राज राचमल्ल को श्रवणबेलगोल के लेख सख्या २७७ मे जिन धर्म समुद्र के लिये पूर्ण चन्द्र तुल्य बताया है। गोम्मटेश्वर की इस विशाल मूर्त्ति की प्रतिष्ठा चामु डराय ने श्रवणबेलगोल मे जिस समय की उसका उल्लेख बाहुबलि चरित्र मे निम्नलिखित रूप से किया गया है

> कल्क्यब्दे षट्शताख्ये विनुत विभव सवत्सरे मासि चैत्र,
> पचम्या शुक्लपक्षे दिनमरिण दिवसे कुम्भलग्ने सुयोगे।
> सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटित भगरणे सुप्रशस्ता चकार,
> श्रीमच्चामु डराजो बेल्गुलनगरे गोमटेशप्रतिष्ठाम्॥

अर्थात् वेलगोल नगर मे चामु डराय ने कल्की सम्वत् ६०० के विभव नामक सवत्सर मे चैत्र शुक्ला पचमी रविवार के दिन कुम्भ लग्न, सौभाग्य योग और मृगशिरा नक्षत्र मे गोम्मटेश्वर की प्रतिष्ठा की। बाहुबलि चरित मे उल्लिखित उपर्यु द्धृत सवत् एव तिथि के अनुसार प्रमुख ऐतिहासज्ञो ने सिद्ध किया है कि ईसवी सन् १०२८ मे २३ मार्च के दिन चामु डराय नें गोम्मटेश्वर की गगनचुम्बी प्रतिमा की प्रतिष्ठा की।[१]

(२६) गग रक्कस—राचमल्ल (ईसवी सन् ६८४ से ६६६) इसके छोटे भाई अरुमलि देव के चट्टल और कचन देवी नाम की दो राजकुमारिया थी। इन दो पुत्रियो के पश्चात् एक पुत्र हुआ। उसके जन्म पर रक्कस गग ने यह कहते

---

१ (क) मैसूर आर्चियोलोजिकल रिपोर्ट ईस्वी सन् १६२३, डा० श्याम शास्त्री का शोध प्रबन्ध।
(ख) स्वामी कन्नू पिल्लई का इडियन एफेमेरिस।
(ग) जैन शिलालेख सग्रह भाग १ की भूमिका पृष्ठ ३१।

हुए—"अन्ततोगत्वा इस विशाल राज्य का उत्तराधिकारी उत्पन्न हो ही गया है।"—कई दिनो तक आनन्दोत्सव मनाया। उस पुत्र का नाम नीतिमार्ग रक्खा और अपने राजप्रासाद मे बडे ठाठ-बाट और दुलार से उसका लालन-पालन किया। रक्कस गग ने चट्टल का विवाह टोडेनाड् ४८ हजार के महाराजा काचिपति पल्लव-राज काडुवेट्टि के साथ और कचनदेवी का विवाह शान्तर राजवश के राजा वीर-देव के साथ किया। हेमसन्ति के शिष्य आचार्य श्री विजय इसके गुरु थे।

(२७) जयद् अककार—कौगरिण वेडेग—कावेरी वल्लभ (ईस्वी सन् ६६६ से अनुमानत १०२२)।

(२८) गग रस—सत्य वाक्य (ईस्वी सन् १०२२ से १०६४) यह राजा परम श्रद्धानिष्ठ जिनोपासक था। इसकी बाचलदेवी नामक एक रानी ने अपने बडे भाई बाहुबलि से परामर्श कर गगवाडी के अन्तर्गत मडलिनाड् के तिलक स्वरूप बन्निकेरे नगर मे एक भव्य जिनालय का निर्माण करवाया। चालुक्य विक्रम के राज्य के ३७ वे वर्ष मे (ईस्वी सन् ११११२) मे राजा ने कुमारो एव मन्त्रियो की उपस्थिति मे बुदगेगे और बन्निगेरे नगरो की कुछ भूमि, कोल्हुओ और चुगी का पार्श्व प्रभु की पूजा अर्चना एव मन्दिर की व्यवस्था के लिये दान दिया।[1] इसकी गग राजकुमारी मयलल देवी चालुक्यराज सोमेश्वर (ईस्वी सन् १०४२ से १०६८) की पटरानी थी। राजेन्द्र चोल ने ईस्वी सन् १०६४ मे गगरस पर आक्रमण कर उसे परास्त किया और इस प्रकार लगभग ६०० वर्षो तक न्याय नीति-पूर्वक शासन करने के पश्चात् गग राजाओ की राजधानी तलकाड् के पतन के साथ ही गग राजवश का शक्तिशाली एव जैन धर्मानुयायी राज्य समाप्त हो गया। अपने राज पर राजेन्द्र चोल का अधिकार हो जाने पर गगरस होय्सल् राज्य का अधीनस्थ सामन्त बन गया। इसके दो पुत्रो को चालुक्यराज सोमेश्वर की महारानी मयलल देवी ने अपने पास रक्खा। कालान्तर मे उन दोनो ने गग राजाओ की सभी उपाधियो को धारण किया।

यद्यपि राजेन्द्र चोल के साथ युद्ध मे महाराजा गगरस के पराजित होने और तलकाड् के गग राज्य पर चोलो का अधिकार हो जाने के कारण गग राजवश का विशाल और शक्तिशाली राज्य समाप्त हो गया। किन्तु गग वशियो ने इसके उपरान्त भी ईसा की पन्द्रहवी शताब्दी तक अपने आपको सामन्तो, सेनापतियो और शासको की स्थिति मे बनाये रक्खा। गगवशी राजाओ, शासको, सामन्तो, सेनापतियो और राजरानियो की जैन धर्म के प्रति प्रगाढ श्रद्धा रही।

पुरले और कुल्लूरगुड्डा के शिलालेखो से यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि गग राजवश की एक शाखा ने कलिग मे अपनी राजसत्ता स्थापित की। ई०सन् १०७७

[1] जैन शिलालेख सग्रह भाग २, लेख सख्या २५३

से १५३४ तक गग राजवश की इस शाखा के राजा कलिग के प्रभुसत्ता सम्पन्न राजा रहे। ईस्वी सन् ११९६ मे कलिग की शाखा के एक मात्र "चोल गग" राजवश के नाम से लका मे गगो का राज्य था। इस प्रकार के अभिलेख मिले है। कलिगाधिपति गगराज ने ईस्वी सन् १५५० के आसपास शिव समुद्रम् की विधा स्थापित की। गग राज के पश्चात् नन्दिराज कलिग का राजा बना। इनके पश्चात् गगराज द्वितीय कलिग के सिहासन पर बैठा। इस गगराज द्वितीय के पश्चात् गगराजवश का नाम तक शिलालेख आदि मे कही नही मिलता और इस प्रकार इतिहास से इस राजवश का नाम तिरोहित हो जाता है।

गग राजवश की राजधानी तलकाड् के पतन के पश्चात् भी जिद्दुलिगेनाड् (वनवासीनाड् के अन्तर्गत) मे गग राजवश के राजाओ का प्रथमत चालुक्यो के अधीनस्थ राजाओ के रूप मे और तदनन्तर होय्सल् राजवश के अधीनस्थ राजाओ के रूप मे राज्य था एव उद्धरे मे उनकी राजधानी थी। यह तथ्य इस राजवश के ईस्वी सन् ११२९ से लेकर ११९८ तक के शिलालेखो से प्रकाश मे आता है। नगर के लेख सख्या १४० मे गगवश के उद्धरे शाखा के राजाओ के जिन नामो का उल्लेख है, वे क्रमश इस प्रकार है

१ गगराजा बिट्टिग। उसका पुत्र—

२ मारसिह देव।

३ कीर्त्तिदेव।

४ मारसिह देव द्वितीय। इसने काचि को लूटा और वहा से विपुल सम्पदा अपनी राजधानी उद्धरे मे ले गया। इसकी छोटी बहिन सुग्मियव्व रसि बडी ही धर्मिष्ठा थी। इसने एक भव्य वसदि का निर्माण करवा कर उसके लिए भूमिदान दिया। इसकी बडी बहिन कनकियव्व रसि ने स्थान-स्थान पर जिनमन्दिर बनवाये और उनकी व्यवस्था के लिये भूमिदान दिये। जहा जिन मुनियो के आय का कोई साधन नही था वहा उसने भूमिदान दिया।

५ एक्कल देव। इसकी बहिन चट्टियव्व रसि को वुद्री के ईस्वी सन् ११३९ के शिलालेख सख्या ३१३ मे—इसके द्वारा दिये गये अनेक भूमिदान द्रव्यदान आहार दान आदि के कारण कामधेनु और चिन्तामणि की उपमा दी गई है।

६ एरग। एरग का छोटा भाई—

७ नरसिह अथवा नन्निय गग।

८ एक्कल। इसने विभिन्न प्रान्तो के विद्वानो तथा कवियो को उदारतापूर्वक बडे-बडे प्रीतिदान दिये।

गगवश की मूल शाखा के अन्तिम महाराजाधिराज से पश्चाद्वर्त्ती इसके वशजो का अनुक्रम निम्नलिखित रूप मे मिलता है :

उदयादित्य (गगरस का पुत्र) गग पेम्मीवडि भुवनैकवीर। यह क्रमश भुवनैकमल्ल और विक्रमादित्य त्रिभुवनमल्ल इन दो चालुक्य राजाओ का एक महायशस्वी सेनापति और महा मगलेश्वर था । ये दोनो चालुक्य राज उदयादित्य की भुआ के लडके थे । इसका महामण्डलेश्वर काल ईस्वी सन् १०७० से ११०२ तक माना जाता है ।

यह गगवशी नही अपितु ब्रह्म क्षत्रिय थे । इनका परिचय जैन सेनापतियो के शीर्षक के नीचे अन्यत्र दिया जायगा ।

कदम्ब राजवश

मयूर वर्मन अथवा मयूर शर्मन को कदम्ब राजवश का सस्थापक माना जाने के कारण सामान्य रूप से प्राय सभी इतिहासविदो ने इस राजवश का उद्भव काल ई० सन् ३४० मान्य किया है, किन्तु इस राजवश के उद्भव काल के सम्बन्ध मे यशस्वी इतिहासज्ञ एम एस रामास्वामी अय्यगर और बी शेषगिरि राव ने अनेक ऐसे तथ्य प्रस्तुत किये है, जिनसे इस राजवश का समय ईसा की दूसरी शताब्दी अथवा उससे भी पूर्व का प्रतीत होता है । इन दोनो विद्वानो की मान्यता है कि कदम्ब राजवश एक प्राचीन जैन राजवश रहा है । इन दोनो विद्वानो ने अपने शोधपूर्ण इतिहास ग्रन्थ "स्टडीज इन साउथ इडिया जैनिज्म" के द्वितीय अध्याय मे कदम्ब राजवश के प्राचीन राजवश होने के सम्बन्ध मे जो *विचारणीय तथ्य प्रस्तुत* किये है, वे इस प्रकार है —

१ श्री टेलर द्वारा रचित प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थो अथवा पत्रो की सूची (वोल्यूम III पृष्ठ ६०) मे एक कन्नड रचना का उल्लेख है, जिसमे कदम्ब वश के उन राजाओ की नामावलि दी हुई है जो कि मगध मे राज्य करते थे ।

इस प्रकार की स्थिति मे जब कदम्ब राजवश ने मगध से दक्षिण मे आने का निश्चय किया तो कोशल और कलिग प्रदेश मे आना उनके लिये अनिवार्य हो गया क्योकि मगध से दक्षिण की ओर सामूहिक कूच का यही एक मात्र सभी दृष्टियो से निरापद और सुखद मार्ग सिद्ध हो सकता था ।

श्री टेलर के इसी तीसरे वोल्यूम के पी पी ७०४–५ पर एक *मराठी कृति* का उल्लेख है, जिसमे उत्तरकालीन कदम्ब वशी राजा मयूर वर्मा के उत्तर से दक्षिण मे आने का विवरण दिया हुआ है । इस प्रकार उत्तरी भारत से कदम्ब-राजवश के दक्षिण भारत मे आने का अविस्मरणीय आख्यान एक थाती के रूप मे हमारे प्राचीन साहित्य मे सुरक्षित है ।

२ कदम्ब वशियो का दल-बल मगध से दक्षिण की ओर बढता हुआ जब कलिग मे आया तो वहा उसने कदम्ब राज्य की स्थापना की।[1] कदम्व वशी राजा जैन धर्मावलम्बी थे अत यह स्वाभाविक ही था कि कलिग मे जहा वे बसे, जहा उन्होने राज्य किया उन स्थानो मे जैन धर्म के साथ-साथ अपने वश की स्मृति को चिरस्थायी बनाने के प्रयास करते। उन्होने एक पर्वत का कदम्वगिरि नाम रखा। शत्रुजय माहात्म्य मे जैनो के जिन पवित्र पर्वतो के नाम दिये गये है, उनमे कदम्व-गिरि का भी उल्लेख है। केवल यही नही, अपितु कलिग मे अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर कदम्बो ने अनेक नगरो, ग्रामो, बसतियो आदि का निर्माण कर वहा निवास किया। उन वसतियो आदि के नाम आज भी इस वात की साक्षी देते है कि वे स्थान, वे ग्राम, वे वसतिया, वे धर्म स्थान कदम्बो द्वारा स्थापित किये गये थे।

गजम जिले की पारला की मेडी तालुका मे 'कदम्व सिगी' नामक पहाडी है जो कदम्बो के शासन काल से ही जैनो की पवित्र पहाडी के रूप मे विख्यात है। यही पास मे मुनि सिगी (मुनि शृगी) नामक स्थान है, जहा जैन मुनियो की वसदी थी जिसके आस-पास जैन मुनि तपश्चरण करते थे। इसी के समीप काला नगर मे कदम्बो ने अपने राज्य को सुदृढ करने के पश्चात् वहा के वनो को साफ कर मैदान मे वैजयन्तीपुर नामक नगर बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया।

जैपुर (भगवान महावीर के तृतीय पट्टधर प्रभव स्वामी की जन्मभूमि) क्षत्र मे कदम्बो ने अपने राजा जयवर्मा के नाम पर जयपुरा एव जयनगरम् बसाकर एक पहाड का नाम जयन्तिगिरि रखा। जैपुर क्षेत्र मे कदम्ब गुडा नाम के न केवल एक अथवा दो अपितु आठ ग्राम है। विस्सम कटक (विश्वम्भर देव कटक) क्षेत्र मे एक गाव का नाम कदम्ब गुडा और दूसरे का ककदम्ब है। गुडा शब्द की उत्पत्ति द्रविडियन भाषा के कूडम् शब्द से हुई है जिसका अर्थ है सम्पात अथवा सामूहिक रूप से एकत्रित हो साथ-साथ मे बसे हुए, इसलिये इन ग्रामो का नाम कदम्ब गुडा रक्खा गया।

यह एक महत्वपूर्ण विचारणीय तथ्य है कि जिस प्रकार पूर्वकालीन कदम्बो ने मगध से दक्षिण की ओर प्रयाण करते समय कलिग मे अपनी राज्य सत्ता स्थापित करने के पश्चात् वहा के मैदानी प्रदेश के वनो को साफ कर वहा वैजयन्तीपुर बसा कर उसे अपनी राजधानी बनाया उसी प्रकार उत्तरवर्ती कदम्बो ने भी कर्णाटक मे काञ्चीपति पल्लव राज के कुन्तल राज्य के सीमान्त वन्य प्रदेश को साफ कर वहा

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह, भाग २ लेख सख्या २७७ पृष्ठ ४२२ पर अति प्राचीन समय मे कलिग राज भगदत्त का गगराज के रूप मे उल्लेख है और इसे गग वश का राजा वताया गया है।

वैजयन्ती पुर नामक नगर बसा कर बनवासी बारह हजारी राज्य की स्थापना की। कलिग का जयन्तिपुर जयन्तगिरि जयपुरा एव जयनगर और कर्णाटक के बनवासी बारह हजारी राज्य की कदम्बो द्वारा बसाई गई राजधानी पलासिका अथवा वैजयन्ती एक इतिहास सिद्ध तथ्य है। उत्तरकालीन कदम्बो की राजधानी जिस प्रकार कर्नाटक मे पलासिका मे थी उसी प्रकार पूर्वकालीन कदम्बो की कलिग मे राजधानी गजम जिले मे पलासा थी। इस प्रकार पलासा पलासिका जयन्तीपुर अथवा वैजयन्ती[1] वस्तुत पूर्ववर्ती कदम्बगिरि जयन्तगिरि जयनगरम् आदि नाम कदम्बो के साथ इन उत्तरवर्ती कदम्बो के घनिष्ठ सम्बन्ध को जोडने वाली सुदृढ कडिया है। कलिग मे कदम्ब गुडा नाम के कम से कम १७ गावो और कदम्ब सिगी कदम्ब गिरि की विद्यमानता इस बात का प्रबल प्रमाण है कि ईसा की पहली—दूसरी शताब्दी मे कदम्ब राजवश का कलिग मे राज्य था और वे शताब्दियो तक कलिग के निवासियो के रूप मे और शासको के रूप मे वहा सत्ता मे रहे। विजगा पट्टम जिले के रायगढ क्षेत्र मे एक गाव का नाम कदम्बगिरि गुडा है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि कलिग से कदम्ब राज्य की समाप्ति कर सम्भवत गगवशी जैन राजवश अथवा किसी अन्य विजेता ने शकारि के समान ही कदम्बगिर विरुद धारण कर इस ग्राम को बसाया होगा। उस प्रदेश के गावो के नामो का सूक्ष्म दृष्टि से पर्यवेक्षण करने पर पता चलता है कि वहा आज भी यत्र-तत्र पर्याप्त सख्या मे जैनो और भूजो द्वारा बसाये गये ग्राम है।

३ कलिग के कोल और खोण्ड (गोड) जाति के लोगो मे परम्परागत पीढियो से यह धारणा चली आ रही है कि कोलो और खोण्डो ने कलिग की धरती से जैनो एव भुयो (भूजो) को बाहर ढकेल दिया।

रामास्वामी अय्यगर और शेष गिरिराव—इन दोनो विद्वानो की मान्यता है कि वे जैन जिन्हे कोलो एव खोण्डो ने कलिग से बाहर निकाला वे वस्तुत कदम्ब राजवश के ही शासक थे और बूहलर के मन्तव्यानुसार आज जो तेलुगु-कन्नड, आदि जो दक्षिणी भारत की लिपिया है वे वस्तुत उन पूर्ववर्ती कदम्बो की वर्णमाला का ही परिष्कृत स्वरूप है।[2]

विजगापट्टम जिले की विस्सय कटक, जैपुर, कोरपट, भल्कन गिरि, नव-रगपुर इन क्षेत्रो मे कचगी भट्ट, रानी भट्ट, अमल भट्ट, दबू भट्ट, वुष्क भट्ट,

---

[1] देखिये जैन शिलालेख सग्रह, भाग २ लेख स० ६६। इसमे उत्तरकालीन कदम वश के राजा मृगेश वर्मा के वैजयन्ती (जयन्तीपुर, वर्तमान वनवासी) मे निवास करने का उल्लेख है।

[2] Shri Buhler is of opinion that it was the Kadamba script that latterly developed into the Telugu-Canarese or Andhra, Karnataki variety of South Indian Alphabets

कोषर भट्ट, कोड् भट्ट, मोह भट्ट, आदि भट्ट स्थविरो (विद्वानो) के भट्टान्त नाम अद्यावधि विद्यमान है, जिन्हे देखकर अनुमान लगाया जाता है कि कदम्वो ने कलिग मे स्थान-स्थान पर विद्वानो को रखकर कलिग की प्रजा को अनेक प्रकार की विद्याओं, कलाओ, शिल्पो और समुन्नत भारतीय सस्कृति की कलिग वासियो को शिक्षा दी थी।

इन सब तथ्यो पर यद्यपि अद्यावधि गम्भीर शोध की आवश्यकता है तथापि इन तथ्यो से यह तो प्रकट होता है कि कदम्व राजवश वस्तुत वहुत प्राचीन राजवश था और जैन धर्म का अनुयायी था।

कदम्ब राजवश की उत्तरवर्ती शाखा के तो अनेक शिलालेख उपलब्ध भी हैं।

कदम्ब राजवश दक्षिणा पथ का प्राचीन राजवश था। लेख सख्या ९६-१०५ तक के १० लेखो से[1] लेख स २८२ से एव अन्य पुरातत्व सामग्री[2] से यह प्रकट होता है कि इस वश के प्राय सभी राजाओ ने अपने २ शासन काल मे जैन धर्म के प्रति श्लाघनीय सम्मान प्रकट करते हुए जैन धर्मावलम्बियो को अपनी ओर से तथा अपने राज्य की ओर से सदा सरक्षण प्रदान किया। उपलब्ध अभिलेखो से यह भी सिद्ध होता है कि इस राजवश के कतिपय राजा तो जैन धर्म मे प्रगाढ आस्थावान् और जिनेन्द्र भगवान् के परम उपासक थे। इस राजवश के पाचवे महाराजा काकुत्स्थ वर्मा की राजकुमारी का विवाह प्रारम्भ से अन्त तक जैन कहे जाने वाले गग राजवश के पाचवें महाराजा तडगाल माधव (माधव तृतीय) के साथ किया गया था। लेख स ९५, १२१ और १२२ मे गगवशी महाराजा काकुत्स्थ वर्मा के उत्तराधिकारी पुत्र महाराजा कृष्णवर्मा का भागिनेय (भानजा) बताया गया है।[3] लेख स० १०५ से विदित होता है कि काकुत्स्थ वर्मा के एक पुत्र कृष्णवर्मा ने अपने अग्रज शान्ति वर्मा से विद्रोह कर अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। इसका पुत्र युवराज देव वर्मा जैन धर्मावलम्बी था। जिस समय युवराज देववर्मा त्रि पर्वत प्रदेश का शासक था उस समय उसके द्वारा यापनीय सघो को सिद्ध केदार ग्राम मे अर्हत् प्रभु के चैत्यालय के जीर्णोद्धार, पूजा महिमा आदि हेतु कृषि भूमि प्रदान किये जाने का इस लेख मे उल्लेख है।[4]

लेख स० १०३ मे उल्लेख है कि कदम्बराज हरिवर्मा ने अपने चाचा शिवरथ के सत्परामर्श से पलाशिका मे सिह सेनापति के पुत्र मृगेश द्वारा स्थापित जिनायतन मे प्रतिवर्ष अष्टान्हिक महोत्सव एव समस्त सघ के भोजन आदि के व्यय भार

---

१ जैन शिलालेख सग्रह, भाग २ माणिक चन्द्र दि० जैन ग्रन्थ माला समिति
२ " " भाग १ " " "
३ " " भाग २ " " "
४ वही

को वहन करने के लिये बसन्तवाटिका नामक ग्राम का दान कूर्चको के वारिषेणाचार्य के सघ को प्रदान किया ।[१] इस लेख से यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि कदम्ब राजवश के अन्यान्य सदस्य भी जैन धर्म के उपासक थे । लेख स० १०४ मे[२] उल्लेख है कि रवि वर्मा के उत्तराधिकारी पुत्र महाराजा हरिवर्मा ने अपने सामन्त सेन्द्रक राजभानु शक्ति की प्रार्थना पर पलासिका मे अहिरिष्टि नामक श्रमण सघ की सम्पत्ति माने जाने वाले जिनेन्द्र चैत्यालय की सभी प्रकार की आवश्यक व्यवस्था के लिये उक्त सघ के आचार्य धर्म्मनन्दि को यरदे नामक ग्राम का दान किया । इस लेख से यह भी सिद्ध होता है कि कदम्ब वश के न केवल राजा ही अपितु इस राजवश के अन्य सदस्य और सामन्त भी जैन धर्म के अनुयायी एव परमोपासक थे ।

लेख स० ९७ मे कदम्ब वशी काकुत्स्थान्वयी शान्ति वर्मा के पुत्र द्वारा अपने महाराजा मृगेशवर्मा द्वारा अपने शासनकाल के राज्य के तीसरे वर्ष मे अर्हंद् भगवन्तो की मूर्तियो के सम्मार्जन उपवेशन, एव मन्दिर की पुष्पवाटिका आदि के लिये वृहत्परधूरे के चैत्यालय को ४६ निवर्तन भूमि का दान दिये जाने का उल्लेख है ।[३]

लेख स० ९८ मे उल्लेख है कि कदम्ब राज विजय शिव मृगेश वर्मा ने कालबङ्ग नामक ग्राम के तीन भाग कर के एक भाग सुविशाल अर्हत शाला के अर्हत जिनेन्द्र भगवन्तो के लिये, दूसरा भाग वीतराग प्ररूपित जिन धर्म का आचरण करने मे अर्हनिश तत्पर श्वेताम्बर महाश्रमण संघ के उपभोगार्थ और तीसरा भाग निर्ग्रन्थ महाश्रमण सघ के उपभोग के लिये दान मे दिया ।[४]

लेख स०९९ मे उल्लेख है कि कदम्ब राज काकुत्स्थ के पौत्र एव शान्ति वर्मा के पुत्र कदम्बवशी महाराजामृगेश ने अपनी विजय के आठवे वर्ष मे पलाशिका नगर मे यापनीय श्रमण सघ, निर्ग्रन्थ श्रमण सघ और कूर्चक श्रमण सघ को मातृ सरित से लेकर इगिणी सगम पर्यन्त ३३ निवर्तन कृषि भूमि अर्हद् भगवन्तो के नाम पर दान मे दी ।[५]

हलसी से प्राप्त हुआ कदम्ब नरेश रवि वर्मा का उक्त ताम्रपत्रीय अभिलेख (लेख स० १००) ऐसे तीन तथ्यो पर प्रकाश डालता है जो जैन इतिहास की दृष्टि से बडे ही महत्वपूर्ण हैं । कदम्बवशी महाराजा काकुत्स्थ, उसके पुत्र शान्ति वर्मा उसके

---

[१] जैन शिलालेख सग्रह भाग २
[२] वही
[३] वही
[४] वही
[५] वही

(शान्ति वर्मा के) उत्तराधिकारी राजा मृगेश वर्मा और मृगेश वर्मा के पुत्र महाराजा रवि वर्मा द्वारा दिये गये ग्राम दानो के उल्लेख मे अन्तिम दान के सम्बन्ध मे लिखा गया है कि इस ग्राम से जो आय हो वह धन राशि प्रतिवर्ष कार्तिक मास के अन्त मे जिनेन्द्र भगवान् की महिमा के लिये अष्टाह्निक महोत्सव मनाने के कार्य मे और चातुर्मासावासावधि मे यापनीय सघ के तपस्वी साधुओ को आहार प्रदान करने के कार्य मे व्यय की जाय। इसमे ऐतिहासिक महत्व की निम्नलिखित तीन बाते है —

(१) इन कदम्ब वशी चारो राजाओ के शासन काल मे यापनीय सघ एक बडा शक्तिशाली तथा राजा एव प्रजा दोनो ही का श्रद्धाभाजन और लोकप्रिय सघ था।

(२) कुमारदत्त प्रमुखा हि सूरय अनेक शास्त्रागमखिन्न बुद्धय ।
जगत्यतीतास्सुतपोधनान्विता, गणोऽस्य (गणश्च) तेषा भवति प्रमाणत ॥

इस ताम्र पत्र की १८ वी से २० वी पक्ति मे उट्ट कित इस श्लोक से यापनीय सघ के सुदीर्घ अतीत के इतिहास का सकेत मिलता है कि इस सघ के गण विशेष मे आचार्य कुमारदत्त प्रमुख अनेक तपोधन एव आगम निष्णात आचार्य हुए और उनका यह गण लोक मे प्रामाणिक माना जाता था।

(३) धर्मेप्सुभिर्ज्जनै पदैस्सनागरै, जिनेन्द्र पूजा सतत प्रणेया।
इति स्थिति स्थापितवान् रवीश पलाशिकायानगरे विशाले ॥
यस्मिन्जिनेन्द्र पूजा प्रवर्तते, तत्र तत्र देशवृद्धि ।
नागराणा निर्भयता, तद्देश स्वामिनाञ्चोर्ज्जा नमो नम ॥

ताम्र पत्र मे उल्लिखित इन श्लोको से स्पष्टत प्रकट होता है कि कदम्ब वशी राजा न केवल स्वय ही जिनेन्द्र प्रभु के उपासक थे अपितु वे प्रजा के लिये धर्माराधन की इस प्रकार की मर्यादा स्थापित कर अपनी प्रजा को भी जिनेन्द्र की उपासना के लिये प्रोत्साहनपूर्ण निर्देश देते थे।

इसी प्रकार कदम्ब वश के पाचवे प्रतापी महाराजा काकुत्स्थ वर्मा का ताम्र पत्रीय अभिलेख स० ९६ भी अनेक दृष्टियो से एक बडा ऐतिहासिक महत्व का लेख है [1]। इस ताम्रपत्रीय अभिलेख का शब्दश सारार्थ इस प्रकार है—"नमन है उन गुण निधि अगाध दया सिन्धु जिनेन्द्र भगवान् को! जय-विजय हो उनकी, जिनकी त्रिलोक के समग्र प्राणी वर्ग को अभय दान द्वारा आश्वस्त करने वाली दयामयी पताका निखिल ब्रह्माण्ड मे फहरा रही है–लहरा रही है। प्रजाजनो के आशा केन्द्र कदम्ब राजवश के युवराज काकुत्स्थ वर्मा ने ८० वे वर्ष (गुप्त स० ८० तदनुसार ई० सन् ३९९) मे, ससार के सभी प्राणियो को ससार सागर से पार उतारने वाले

[1] जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख सख्या ९६, पृष्ठ ६६–६७

अरिहन्त भगवन्तो के अर्थात् अर्हतो के नाम पर प्रदत्त खेट् ग्राम मे आत्म कल्याण के लिये अपने सेनापति श्रुतकीर्ति को बदोवर क्षेत्र प्रदान किया ।"

आज से लगभग १५८३ वर्ष पूर्व उट्टकित इस अभिलेख के एक-एक अक्षर से आज भी यही प्रतिध्वनित होता है कि कदम्ब वश के पञ्चम नरेश महाराजा काकुत्स्थ वर्मा वस्तुत जैन धर्म के उपासक थे। इस लेख मे जो ८०वे वर्ष का उल्लेख है उससे कदम्ब वशी राजाओ के काल निर्णय मे बडी सहायता मिलती है। यह अस्सी वा वर्ष किस सवत्सर का है, इस विषय की ऐतिहासिकता पर विचार करने पर यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि कदम्बवशी राजाओ ने तो अपना कोई सवत्सर नही चलाया। गुप्त राजवश के साथ कदम्ब राजवश का घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्ध था। कदम्ब वश के पाचवे राजा काकुत्स्थ वर्मा की एक कन्या का विवाह गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के एक पुत्र के साथ किया गया था।[1] उस समय तक गुप्त सवत् लोकप्रिय एव बहुजनमान्य हो चुका था। अत इस घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्ध के परिणाम स्वरूप कदम्ब वशी राजाओ ने भी, बहुत सम्भव है प्रतापी गुप्त राजाओ के बहुजन सम्मत सवत् को मान्य कर लिया होगा। इससे यह अनुमान किया जाता है कि युवराज काकुत्स्थ वर्मा ने उक्त ताम्र पत्र मे वर्णित यह क्षेत्र दान गुप्त सवत् ८० तदनुसार ई सन् ३९९ (गुप्त सम्राट चन्द्र गुप्त (द्वितीय) के शासन के २४वे वर्ष) मे दिया। गुप्त वशीय राजाओ के इतिहास सम्मत काल के अनुसार गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त द्वितीय का शासनकाल ई सन् ३७५ से ४१४ तक का माना गया है।[2] इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि काकुत्स्थ वर्मा ने ही अपनी पुत्री का विवाह अपने समकालीन चन्द्रगुप्त के पुत्र के साथ ई सन् ४०० से ४१० के बीच की अवधि मे किसी समय कराया होगा।

कदम्ब वशी राजाओ की जैन मन्दिरो-मठो आदि के प्रति प्रगाढ रुचि थी। उनके जीर्णोद्धार के लिए इन के द्वारा दिये गये दानो के विवरण प्राचीन अभिलेखो मे उपलब्ध होते हैं, किन्तु मन्दिरो-मठो मे झाडू निकालने व उन्हे सदा साफ-सुथरा रखने के लिये मृगेश वर्मा द्वारा दिये गये दान से कदम्ब वशी राजाओ की जैन धर्म के प्रति प्रगाढ आस्था का परिचय प्राप्त होता है कि वे न केवल जैन धर्म के प्रति ही अपितु जैन धर्म स्थानो के प्रति भी कितने सजग थे।

कदम्ब वशी राजाओ के शासनकाल के ई सन् ८०० से १३०७ ई की अवधि के अब तक अनेक अभिलेख उपलब्ध हुए हैं।[3]

---

१ दि च सरकार द्वारा लिखित सक्सेसर आफ सात वाहनाज पृष्ठ २५६

२ जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग २, पृ ६९८—६९९ (रचनाकार आचार्य श्री हस्तीमल जी महाराज)

३ Epigraphic Karnatika Vol VIII Introduction

सोरब से प्राप्त अभिलेख स २६२ मे उल्लेख है कि कदम्बराज कीर्ति वर्मा अथवा कीर्तिदेव (ई सन् १०७० से ११००) की महारानी मालल देवी ने शक स ६६७ तदनुसार ई सन् १०७५ मे कुप्पुटूर के पार्श्वदेव चैत्यालय को सुसस्कृत करवा कर उसका नाम ब्रह्म जिनालय रखा और उस ब्रह्म जिनालय के लिये कुन्द कुन्दान्वय-मूल सघ, क्राणूर गण, तिन्त्रिणीक गच्छ के यापनीय सघ के आचार्य वन्दणिगे तीर्थ तथा अनेक मन्दिरो के मुख्य पुरोहित सिद्धान्त चक्रवर्ती पद्मनन्दि को बहुत सी भूमियो का दान दिया। इस अवसर पर महारानी मालल देवी ने वनवासी राज्य के १८ मन्दिरो के पुरोहितो के साथ वनवासी मधुकेश्वर को बुलवाकर वहा के ब्राह्मणो से पार्श्वदेव चैत्यालय का नाम ब्रह्म जिनालय रखवाया। महारानी मालल देवी ने अपने पति महाराज कीर्तिदेव से भी बहुत सी भूमि प्राप्तकर मूर्ति की दैनिक पूजा और साधुओ के आहार के लिये यापनीय आचार्य पद्मनन्दि को दान मे दी।[1]

इन सबसे और उपरिवर्णित अभिलेखो से यह तो निर्विवाद रूपेण सिद्ध हो जाता है कि कदम्बवशी राजाओ ने अपने ६०० वर्ष के सुदीर्घ शासनकाल मे जैन धर्म को उल्लेखनीय प्रश्रय एव राज्याश्रय देकर दानादि द्वारा जैन धर्म के प्रचार-प्रसार मे महत्वपूर्ण योगदान दिया।

कदम्बवशी राजाओ के लेख स ६७, ६८, १००, १०३, १०४ और १०५ के प्रारम्भ मे कदम्बवशी राजाओ के लिए जो विशेषण प्रयुक्त किये गये है, उन विशेषणो से कदम्बवशी राजाओ के वर्ण का निर्णय करने मे बडी सहायता मिल सकती है। इन लेखो मे कदम्ब राजवश का परिचय देते हुए जो-जो वाक्य उल्लिखित है, वे इस प्रकार हैं —

"सिद्धम्। स्वस्ति स्वामि महासेन मातृगणानुध्याताभिषिक्ताना, मानव्यस गोत्राणा हारितीपुत्राणा प्रतिकृत स्वाध्याय चर्चापारगाणा (लेख स १०५) आदिकाल राजर्षि बिम्बाना आश्रितजनम्वाना कदम्बाना —"[2]

अल्तेम जिल्हा कोल्हापुर से शक स ४११ के ताम्रपत्राभिलेख[3] मे चालुक्य वशी क्षत्रियो के लिये भी इसी प्रकार की शब्दावलि प्रयुक्त की गई है। भगवान् महावीर की स्तुति के पश्चात् इस अभिलेख मे चालुक्य राजवश का परिचय देते हुए लिखा है—श्रीमता विश्व-विश्वम्भराभि सस्तूयमान मानव्यस गोत्राणा हारीति

---

[1] कुप्पुटूरु का अभिलेख स २०६ जैन शिलालेख सग्रह भाग २, पृ २६६–२७१ (माणिक्यचन्द्र दि जैन ग्रन्थ माला)

[2] जैन शिलालेख सग्रह भाग २, पृ ६७ से ८४

[3] जैन शिलालेख सग्रह भाग २, पृष्ट ८५ से ६०

पुत्राणा सप्तलोक मातृभिस्सप्त मातृभि र्वद्धिताना कार्तिकेय परिरक्षण प्राप्त कल्याण परम्पराणा   चालुक्याना कुलमलकरिष्णो।

उपर्युद्धृत लेखो मे विख्यात क्षत्रियकुल के चालुक्यवशी राजाओ के समान ही कदम्ब राजवश के राजाओ को भी षण्मुख कार्तिकेय द्वारा सरक्षित सप्तमातृकाओ द्वारा स्वामि कार्तिकेय महासेन के समान ही परिपालित मानव्यगोत्र वाले और हारीति के पुत्र (वशज) बताने के साथ-साथ प्राचीन राजर्षियो के समान बताया गया है। इससे निर्विवाद रूपेण यह सिद्ध होता है कि कदम्ब राजवश वस्तुत क्षत्रियो की ही एक शाखा थी। चालुक्यो के समान मानव्य गोत्र-हारीति पुत्र स्वामी महासेन-सप्त मातृकाओ द्वारा अभिवर्द्धित आदि विशेषण कदम्बो के लिए प्रयुक्त देखकर अनुमान किया जाता है कि प्राचीन काल मे सभव है चालुक्यो (सोलकियो) और कदम्बो के पूर्व पुरुष किसी एक ही क्षत्रिय राजा की सतति रहे हो। एक दो विद्वानो की सर्वथा अपुष्ट कल्पना के अनुसार यदि कदम्बवशी राजा ब्राह्मण जाति के होते तो लेख स १०५ मे उनके लिये आदिकाल राजर्षि बिम्बाना के स्थान पर "आदिकाल ब्रह्मर्षि बिम्बाना" अथवा "परशुराम बिम्बाना" का प्रयोग किया जाता।

इन पुष्ट प्रमाणो के अतिरिक्त कदम्बवशी राजाओ की राज कन्याओ के विवाह गगवशी क्षत्रिय राजकुमारो[1] एव शान्तर राजवश के राजकुमारो के साथ होने के जो प्राचीन अभिलेखो[2] मे उल्लेख आज भी उपलब्ध होते है, वे इस बात के प्रबल साक्षी है कि कदम्बवशी राजा क्षत्रिय थे। यह तो एक निर्विवाद तथ्य है कि प्राचीन काल मे विवाह की जो मर्यादा मनु आदि द्वारा स्मृतियो मे निर्धारित की गई थी उससे ब्राह्मण कन्या के साथ क्षत्रिय कुमार के विवाह का कडाई के साथ निषेध किया गया था।

कदम्ब वंशी राजाओ का शासन काल

१—मयूर शर्मन (ई० सन् ३४०—३७०) जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इस राजवश का सस्थापक और प्रथम राजा मयूर शर्मन् था। काञ्चीपति पल्लवराज के सीमावर्ती वनवासी प्रदेश को विजित कर इसने एक स्वतन्त्र राज्य की नीव डाली। मयूर शर्मन् ने अमरार्णव (पश्चिमी समुद्र के तट से लेकर प्रेमार

---

[1] लेख सख्या ६५, १०५, १२१, १२२ जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, माणिक्यचन्द्र दि जैन ग्रन्थ माला

[2] शान्तर राजवश के राजा त्यागी शान्तर का विवाह कदम्ब राजा हरिवर्मा की राजकुमारी नागल देवी के साथ हुआ। देखिये एपिग्राफिका कर्णाटिका वोल्यूम VIII पृष्ठ ६।

प्रदेश (मालव) तक अपने राज्य का विस्तार किया और अनुमानत ई सन् ३४० से ३७० तक राज्य किया। उपरि वर्णित लेख सख्या २०६ मे कदम्ब राजवश के प्रथम राजा का नाम मयूर शर्मन् न लिख कर मयूर वर्म्मन लिखा गया है। इसमे उल्लेख है कि इसने मोर के पखो का बना पट्ट अपने शिर पर धारण किया, इसलिये वह मयूर वर्मन् के नाम से विख्यात हुआ। कतिपय उत्तरवर्त्ती अभिलेखो मे उल्लेख प्राप्त होता है कि मयूर शर्मा ने १८ अश्वमेध यज्ञ किये किन्तु अनेक विद्वानो ने उन अभिलेखो की प्रामाणिकता मे सन्देह अभिव्यक्त किया है।

२—कगु वर्मन—अपर नाम स्कन्द वर्मन् (ई सन् ३७० से ३६५) अजन्ता के अभिलेख से अनुमान किया जाता है कि सम्भवत यह कदम्ब वशी राजा वाकठिक राजा विन्धसेन का समकालीन और कुन्तल का वही कदम्ब वशी राजा हो जिसका विन्धसेन द्वारा युद्ध मे पराजित किये जाने का अजन्ता के अभिलेख मे उल्लेख है। इस प्रकार इसका शासन काल ई सन् ३७० से ३६५ तक का अनुमानित किया जाता है। कगु वर्मन् ने धर्म महाराजाधिराज की उपाधि धारण की थी।

३—भगीरथ (ई सन् ३६५ से ४२०) कगु वर्मन के पश्चात् उसका पुत्र भगीरथ कदम्ब राज्य के सिंहासन पर बैठा। इसने कदम्ब राज्य की नीवो को सुदृढ किया। इतिहास विदो का अभिमत है कि गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त (द्वितीय) विक्रमादित्य ने भगीरथ के यहा कालीदास को अपना राजदूत बनाकर भेजा।[1] इससे विदित होता है कि भगीरथ एक प्रतापी राजा था। इसका शासनकाल ई सन् ३६५ से ४२० तक अनुमानित किया जाता है।

४—रघु अथवा रघुपार्थिव (ई सन् ४२० से ४३०) कदम्बराज भगीरथ के रघु और काकुत्स्थ वर्मा नामक दो पुत्र थे। महाराजा भगीरथ के निधन पर रघु राज सिंहासन पर बैठा और उसने अपने लघु भ्राता काकुत्स्थ वर्मा को युवराज बनाया। हलसी (जिला बेलगाव) से प्राप्त (ईसा की पाचवी शताब्दी के) काकुत्स्थ वर्मा के दान पत्र मे भी इसे (काकुत्स्थ वर्मा को) "कदम्बाना युवराज" लिखा है।[2]

५—काकुत्स्थ वर्मा (ई सन् ४३० से ४५०) रघु के पश्चात् कदम्ब वश का ५वा राजा काकुत्स्थ वर्मा हुआ। इनके राज्य काल मे राज्य एव प्रजा ने चहुमुखी प्रगति की। ताल गुण्ड के अभिलेख से विदित होता है कि काकुत्स्थ वर्मा के शासन काल मे सर्वत्र शान्ति और समृद्धि का साम्राज्य रहा। पडोसी राजाओ के साथ आपका बडा मधुर सम्बन्ध रहा और वे सब इनका बडा सम्मान करते थे। काकुत्स्थ वर्मा ने अपनी एक पुत्री का विवाह गुप्त सम्राट् चन्द्रगुप्त (द्वितीय)

---

[1] दी क्लासिकल एज (भारतीय विद्या भवन, बम्बई) पृष्ठ १८३, २७२

[2] लेख म० ६६ जैन शिलालेख सग्रह भाग २, पृष्ठ ६६

विक्रमादित्य के राजकुमार के साथ और अपनी दूसरी पुत्री का विवाह गग राज वश के पाचवे महाराजा तडगाल (माधव तृतीय) के साथ किया ।[1]

जैन धर्म के प्रति काकुत्स्थ वर्मा की कैसी प्रगाढ श्रद्धा थी यह उपरि वर्णित लेख स ६६ से सहज ही स्पष्टत प्रकट हो जाता है । काकुत्स्थ वर्मा ने जन कल्याण के अनेक उल्लेखनीय कार्य किये और तालगुण्ड मे एक विशाल जलाशय का निर्माण करवाया । अपने समकालीन शक्तिशाली राजवशो के साथ वैवाहिक सम्वन्ध स्थापित कर अपने राज्य को सुदृढ बनाने के साथ-साथ शान्ति की स्थापना मे भी इसने बडा ही महत्वपूर्ण योगदान दिया । इसके दो पुत्र थे शान्ति वर्मन और कृष्ण वर्मन ।

६—शान्ति वर्मन् (ई सन् ४५० से ४७५) काकुत्स्थ वर्मन् की मृत्यु हो जाने पर उसका बडा पुत्र शान्ति वर्मन् बनवासी के राज-सिहासन पर बैठा । दूसरी शाखा के राजा—शान्ति वर्मन् के छोटे भाई कृष्ण वर्मन् ने अपने भाई से विद्रोह कर कदम्ब राज्य के दक्षिणी भाग पर अधिकार किया और त्रिपर्वत (सम्भवत· हलेविद) मे अपनी राजधानी स्थापित की । उसने अपने आपको स्वतन्त्र राजा घोपित किया और इस प्रकार वह कदम्ब राजवश की दूसरी शाखा का सस्थापक हुआ । कृष्ण वर्मा की बहिन का विवाह गग वश के महाराजा तडगल माधव के साथ हुआ था यह ऊपर वताया जा चुका है । इस कारण सम्भवत गगराज वश का इसे प्रश्रय मिला हो ऐसा अनुमान किया जा सकता है । इसने अपनी सैन्य शक्ति को बढाया और अश्वमेध यज्ञ करने का निश्चय किया किन्तु पल्लवराज के हाथो बुरी तरह पराजित हुआ । पल्लवो ने कृष्ण वर्मन के पुत्र विष्णु वर्मन को त्रिपर्वत के राज-सिहासन पर बैठाया । इससे ज्ञात होता है कि विष्णु वर्मन् पल्लवो का अधीनस्थ राजा रहा ।

७—मृगेश वर्मन् (ई सन् ४७५ से ४६०) शान्ति वर्मन् के पश्चात् उसका पुत्र मृगेश वर्मन् बनवासी मे कदम्ब राजवश के सिंहासन पर बैठा । यह बडा प्रतापी और धर्मात्मा राजा था । इसने पल्लवो और पश्चिमी गगो को युद्ध मे पराजित किया । मृगेश वर्मा के जिन दान पत्रो का ऊपर विवरण प्रस्तुत किया जा चुका है, वे इस बात के साक्षी है कि इस राजा की जैन धर्म के प्रति प्रगाढ श्रद्धा-भक्ति थी । जैन धर्म शताब्दियो से दक्षिण मे समुन्नत दशा मे रहा था । मृगेश वर्मन् ने अपने शासन काल मे जैन धर्म के उस समय के सभी शक्तिशाली श्वेताम्बर महा श्रमण सघ, निर्ग्रन्थ महा श्रमण सघ यापनीय सघ, कूर्चक सघ—इन सघो को दान सम्मानादि से प्रश्रय देकर उनके और अधिकाधिक फलने-फूलने मे वडा योग-दान दिया ।

---

[1] जैन शिला लेख सग्रह, भाग २ लेख स० ६५, १२१, १२२

८—रवि वर्मा (ई सन् ४९० से ५३७)। मृगेश वर्मा के पश्चात् उसका पुत्र रवि वर्मा कदम्ब वश के राज-सिंहासन पर आसीन हुआ। यह बडा ही प्रतापी राजा हुआ है। इसे अपने प्रारम्भिक शासन काल मे अनेक कठिनाइयो का सामना करना पडा। इसी वश की दूसरी शाखा के सस्थापक कृष्ण वर्मन् के पुत्र विष्णु वर्मन ने पल्लवो की सहायता से रवि वर्मा पर ई० सन् ४९७ मे आक्रमण किया। उस युद्ध मे रवि वर्मा शत्रुओ को पराजित कर विजयी हुआ। विष्णु वर्मन् उस युद्ध मे मारा गया। रवि वर्मा ने काञ्चीपति चण्डदण्ड (सम्भवत पल्लव राज) के राज्य को विनष्ट कर पलाशिका (वर्तमान मे हलसी) मे अपनी राजधानी स्थापित की। जैन धर्म के प्रति इसकी प्रगाढ प्रीति थी। यह जैन धर्म का प्रबल समर्थक था। वर्षा काल मे यापनीय साधुओ की भोजन व्यवस्था के लिये और प्रति वर्ष निर्धारित तिथियो पर जिनेन्द्र भगवान् के पूजा-अर्चना महोत्सवो को ठाठ से मनाने का इसने प्रजाजनो को आदेश दिये। रवि वर्मन् की मृत्यु हो जाने पर उसकी रानी अपने पति के साथ चिता मे जलकर सती हो गई।[1]

९—हरि वर्मा (ई० सन् ५३७—५४७)। रवि वर्मा की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र हरि वर्मा कदम्ब राजवश के सिंहासन पर बैठा जो कि अशक्त एव अकुशल राजा सिद्ध हुआ। इसके एक शक्तिशाली सामन्त पुलकेसिन (प्रथम) चालुक्य ने इसकी अशक्तता का लाभ उठा कर इसके विरुद्ध विद्रोह किया और उसने बादामी मे अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित किया। कृष्ण वर्मा द्वारा सस्थापित कदम्ब राजवश की दूसरी शाखा के राजा के साथ हरि वर्मा का सघर्ष हुआ और उस गृह कलह के परिणामस्वरूप हरि वर्मा के साथ ही कदम्ब राजवश की मूल शाखा ई० सन् ५४७ मे समाप्त हो गई। कदम्ब राजवश का स्थान चालुक्य राजवश ने ग्रहण किया। यद्यपि चालुक्य राजवश के अभ्युदय के साथ ही ईसा की छठी शताब्दी के मध्य भाग मे कदम्ब राजवश का सूर्य अस्त हो गया तथापि सोरब से प्राप्त शिलालेखो से यह ज्ञात होता है कि कदम्ब वशी शासक अपनी पैतृक राजधानी बनवासी बारह हजारी मे ईसा की दशवी शताब्दी के सात दशको तक अधीनस्थ सामन्तो के रूप मे रहे और ई० सन् ९७१ मे वे बनवासी बारह हजारी के सम्भवत स्वतन्त्र शासक बन गये। इस प्रकार कदम्ब वशी राजाओ ने शक्ति सचय कर पुन अपनी स्थिति को सुदृढ बनाया और वे ई० सन् १३०७ तक बनवासी बारह हजारी पर शासन करते रहे।

उन बनवासी के उत्तरवर्ती कदम्ब वशी राजाओ का समय निम्नलिखित रूप मे उपलब्ध होता है —

शान्ति वर्मा (द्वितीय)	ई० सन् ९७१
तैलह देव	„ ९७५

[1] सोरब का शिला लेख (स० ५२३)

गौरवर्ष	ई सन् १०१८
कु दम रस	„ १०२६
कीर्ति वर्मा अथवा कीर्ति देव	„ १०७०-११००

इस राजा की महारानी मलल देवी की जैन धर्म के प्रति प्रगाढ श्रद्धा-भक्ति थी। मलल देवी ने जैसा कि ऊपर वताया जा चुका है ई० सन् १०७५ मे कुप्पतूरु जिला सोरब मे पार्श्वनाथ चैत्यालय को सुसस्कारित करवा वनवासी के १८ प्रमुख मन्दिरो के पुरोहितो एव विख्यात मधुकेश्वर नाम के विष्णु भक्त पुरोहित को आमन्त्रित किया। महारानी ने विपुल दान देकर उन सभी पुरोहितो से भगवान् पार्श्वनाथ का विधिवत् अर्चन पूजन करवाया। तदनन्तर महारानी मललदेवी ने यापनीय सघ के आचार्य पद्मनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के परामर्शानुसार वहा बहुत बडी सख्या मे उपस्थित विद्वान् ब्राह्मणो से उस पार्श्व जिन चैत्यालय का नाम 'ब्रह्म जिनालय' रखवा कर उस ब्रह्म जिनालय की दैनिक पूजा अर्चा एव जैन मुनियो के आहार की व्यवस्था के लिये विष्णु भक्त मधुकेश्वर पुरोहित से एव कदम्बराज कीर्ति वर्मा से अनेक विशाल कृषि भूखण्ड यापनीय आचार्य पद्मनन्दि को दान मे दिलवाये।[1] ऐतिहासिक दृष्टि से यह शिलालेख बडा ही महत्वपूर्ण है। यापनीय सघ के आचार्य एव मुनि अन्य धर्मावलम्बियो एव जनमत को जैन धर्म के सन्निकट सम्पर्क मे रखने मे एव जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एव वर्चस्व के अभिवर्द्धन मे कितने सजग और प्रयत्नशील रहते थे, इस दिशा मे यह लेख गहरा प्रकाश डालता है।

तैलपदेव	ई सन	११०० से ११०३
कीर्तिदेव (द्वितीय)	„	११०३ से १११६
तैलपदेव (द्वितीय)	„	११२६ तक
मल्लिदेव	„	११४३ तक
कावदेव	„	११४७ तक
कीर्तिदेव (तृतीय)	„	११५१ से ११७८ तक
सोयीदेव (इसी वश का कीर्तिदेव का ही समकालीन अन्य राजा)	„	११६० से ११७१
तैलहदेव	„	११७८
कोन्डेरस	„	११८७
काव अथवा कामदेव	„	११८८ से १२१६
मल्लिदेव (द्वितीय)	„	१२१६ से १२३१
सोयीदेव (द्वितीय)	„	१२३७
कावदेव (तृतीय)	„	१२३८ से १३०७[2]

[1] जैन शिला लेख सग्रह, भाग २, लेख स० २०६, पृष्ठ २६६–२७१

[2] इपीग्राफिका कर्णाटिका वाल्यूम ८, पेज २-३

कदम्ब वश की दूसरी शाखा के राजाओ का शासन काल निम्नलिखित रूप से उपलब्ध होता है —

१ कृष्ण वर्मा (प्रथम । शाति वर्मा का भाई) ई सन् ४७५ से ४८५ (पल्लवो द्वारा पराजित)

२ विष्णु वर्मा (पल्लवो का अधीनस्थ राजा) ई सन् ४८५ से ४९७

इसमे पल्लवो की सहायता से कदम्ब वश की बडी शाखा के राजा रवि वर्मा पर ईस्वी सन् ४९७ मे आक्रमण किया । इस युद्ध मे पराजय के साथ-साथ अपने प्राणो से भी हाथ धोना पडा ।

३ सिंह वर्मा (रवि वर्मा का अधीनस्थ राजा) ई सन् ४९७ से ५४०

४ कृष्ण वर्मा (द्वितीय) „ ५४० से ५६५

कृष्ण वर्मा ने जब देखा कि अपने वश की बडी शाखा के राजा हरि वर्मा के एक शक्तिशाली चालुक्य सामन्त पुलकेशिन् प्रथम ने अपने स्वामी के प्रति विद्रोह कर बाकामी मे अपना पृथक् राज्य स्थापित कर लिया है और इस प्रकार बनवासी कदम्ब राज की शक्ति क्षीण हो गई है तो उसने हरि वर्मा पर आक्रमण कर उसे परास्त कर अपने राजवश की बडी शाखा के राज्य को समाप्त कर दिया । कृष्ण वर्मा द्वितीय ने एक अश्वमेध यज्ञ किया और गग वश के एक राजकुमार के साथ अपनी बहिन का विवाह कर अपनी शक्ति को अभिवृद्ध किया ।

५ अज वर्मा ई सन् ५६५ से ६०६

यह चालुक्य राज कीर्ति वर्मा का अधीनस्थ राजा रहा । कीर्ति वर्मा को अभिलेखो मे "कदम्ब कुल काल रात्रि" कहा गया है ।

६ भोगी वर्मा ई सन् ६०६ से ६१०

भोगी वर्मा ने चालुक्य राज की दासता के जूडे को उतार फेंकने और स्वतन्त्र राजा बनने का प्रयास किया किन्तु चालुक्य राज पुलकेसिन द्वितीय ने उसके विद्रोह को कुचल बनवासी के राज्य पर अधिकार कर लिया ।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध मे भोगी वर्मा और उसके पुत्र की मृत्यु हो जाने के पश्चात् कदम्ब वश की इस दूसरी शाखा के राज्य का भी अन्त हो गया । इसके पश्चात् कदम्ब वश की इस शाखा के शासक सामन्तो के रूप मे रहे । ई सन् ६४२ मे पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् कदम्बो के स्वतन्त्र राज्य की सस्थापना के प्रयास किये गये किन्तु ई सन् ६५५ (वीर निर्वाण स० ११८२) मे विक्रमादित्य प्रथम के सिंहासनासीन होने पर उन्हे अपने प्रयास मे सफलता प्राप्त नही हुई । अन्ततोगत्वा

[1] ऐहोल का अभिलेख ।

गौरवर्ष	ई सन् १०१८
कु दम रस	,, १०२६
कीर्ति वर्मा अथवा कीर्ति देव	,, १०७०-११००

इस राजा की महारानी मलल देवी की जैन धर्म के प्रति प्रगाढ श्रद्धा-भक्ति थी। मलल देवी ने जैसा कि ऊपर वताया जा चुका है ई० सन् १०७५ मे कुप्पतूरु जिला सोरब मे पार्श्वनाथ चैत्यालय को सुसस्कारित करवा वनवासी के १८ प्रमुख मन्दिरो के पुरोहितो एव विख्यात मधुकेश्वर नाम के विष्णु भक्त पुरोहित को आमन्त्रित किया। महारानी ने विपुल दान देकर उन सभी पुरोहितो से भगवान् पार्श्वनाथ का विधिवत् अर्चन पूजन करवाया। तदनन्तर महारानी मललदेवी ने यापनीय सघ के आचार्य पद्मनन्दि सिद्धान्त चक्रवर्ती के परामर्शानुसार वहा बहुत बडी सख्या मे उपस्थित विद्वान् ब्राह्मणो से उस पार्श्व जिन चैत्यालय का नाम 'ब्रह्म जिनालय' रखवा कर उस ब्रह्म जिनालय की दैनिक पूजा अर्चा एव जैन मुनियो के आहार की व्यवस्था के लिये विष्णु भक्त मधुकेश्वर पुरोहित से एव कदम्बराज कीर्ति वर्मा से अनेक विशाल कृषि भूखण्ड यापनीय आचार्य पद्मनन्दि को दान मे दिलवाये।[1] ऐतिहासिक दृष्टि से यह शिलालेख बडा ही महत्वपूर्ण है। यापनीय सघ के आचार्य एव मुनि अन्य धर्मावलम्बियो एव जनमत को जैन धर्म के सन्निकट सम्पर्क मे रखने मे एव जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एव वर्चस्व के अभिवर्द्धन मे कितने सजग और प्रयत्नशील रहते थे, इस दिशा मे यह लेख गहरा प्रकाश डालता है।

तैलपदेव	ई सन	११०० से ११०३
कीर्तिदेव (द्वितीय)	,,	११०३ से १११६
तैलपदेव (द्वितीय)	,,	११२६ तक
मल्लिदेव	,,	११४३ तक
कावदेव	,,	११४७ तक
कीर्तिदेव (तृतीय)	,,	११५१ से ११७८ तक
सोयीदेव (इसी वश का कीर्तिदेव का ही समकालीन अन्य राजा)	,,	११६० से ११७१
तैलहदेव	,,	११७८
कोन्डेरस	,,	११८७
काव अथवा कामदेव	,,	११८८ से १२१६
मल्लिदेव (द्वितीय)	,,	१२१६ से १२३१
सोयीदेव (द्वितीय)	,,	१२३७
कावदेव (तृतीय)	,,	१२३८ से १३०७[2]

[1] जैन शिला लेख सग्रह, भाग २, लेख स० २०६, पृष्ठ २६६-२७१

[2] इपीग्राफिका कर्णाटिका वाल्यूम ८, पेज २-३

कदम्ब वश की दूसरी शाखा के राजाम्रो का शासन काल निम्नलिखित रूप से उपलब्ध होता है —

१ कृष्ण वर्मा (प्रथम । शाति वर्मा का भाई) ई सन् ४७५ से ४८५ (पल्लवो द्वारा पराजित)

२ विष्णु वर्मा (पल्लवो का अधीनस्थ राजा) ई सन् ४८५ से ४९७

इसमे पल्लवो की सहायता से कदम्ब वश की बडी शाखा के राजा रवि वर्मा पर ईस्वी सन् ४९७ मे आक्रमण किया। इस युद्ध मे पराजय के साथ-साथ अपने प्राणो से भी हाथ धोना पडा।

३ सिंह वर्मा (रवि वर्मा का अधीनस्थ राजा) ई सन् ४९७ से ५४०

४ कृष्ण वर्मा (द्वितीय) „ ५४० से ५६५

कृष्ण वर्मा ने जब देखा कि अपने वश की बडी शाखा के राजा हरि वर्मा के एक शक्तिशाली चालुक्य सामन्त पुलकेशिन् प्रथम ने अपने स्वामी के प्रति विद्रोह कर बाकामी मे अपना पृथक् राज्य स्थापित कर लिया है और इस प्रकार बनवासी कदम्ब राज की शक्ति क्षीण हो गई है तो उसने हरि वर्मा पर आक्रमण कर उसे परास्त कर अपने राजवश की बडी शाखा के राज्य को समाप्त कर दिया। कृष्ण वर्मा द्वितीय ने एक अश्वमेध यज्ञ किया और गग वश के एक राजकुमार के साथ अपनी बहिन का विवाह कर अपनी शक्ति को अभिवृद्ध किया।

५ अज वर्मा ई सन् ५६५ से ६०६

यह चालुक्य राज कीर्ति वर्मा का अधीनस्थ राजा रहा। कीर्ति वर्मा को अभिलेखो मे "कदम्ब कुल काल रात्रि" कहा गया है।

६ भोगी वर्मा ई सन् ६०६ से ६१०

भोगी वर्मा ने चालुक्य राज की दासता के जूडे को उतार फैकने और स्वतन्त्र राजा बनने का प्रयास किया किन्तु चालुक्य राज पुलकेसिन द्वितीय ने उसके विद्रोह को कुचल बनवासी के राज्य पर अधिकार कर लिया।[1] ऐसा प्रतीत होता है कि युद्ध मे भोगी वर्मा और उसके पुत्र की मृत्यु हो जाने के पश्चात् कदम्ब वश की इस दूसरी शाखा के राज्य का भी अन्त हो गया। इसके पश्चात् कदम्ब वश की इस शाखा के शासक सामन्तो के रूप मे रहे। ई सन् ६४२ मे पुलकेशिन द्वितीय की मृत्यु के पश्चात् कदम्बो के स्वतन्त्र राज्य की सस्थापना के प्रयास किये गये किन्तु ई सन् ६५५ (वीर निर्वाण स० ११८२) मे विक्रमादित्य प्रथम के सिंहासनासीन होने पर उन्हे अपने प्रयास मे सफलता प्राप्त नही हुई। अन्ततोगत्वा

[1] ऐहोल का अभिलेख।

ईसा की दशवी शताब्दी के अन्तिम दशक मे इस शाखा ने पुन शक्ति-सचय कर अपनी स्थिति को स्वतन्त्र शासक के रूप मे सुधारा।[१]

इस प्रकार आज तक उपलब्ध हुए प्राचीन शिलालेखो एव ताम्र पत्रादि से यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि कदम्बवशी राजाओ, उनके मन्त्रियो, सेनापतियो एव उनके परिवार के सदस्यो की जैन धर्म के प्रति प्रगाढ सहानुभूति, अटूट आस्था अथवा श्रद्धा-भक्ति रही। यदि इस विषय मे और शोध की जाय तो अनेक महत्व-पूर्ण तथ्य प्रकाश मे आ सकते है, क्योकि, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, कदम्ब राजवश का राज्य दक्षिणापथ के विशाल भू-भाग पर ईसा की प्रथम शताब्दी एव इससे भी पूर्वकाल मे रहा है। वे सब पूर्वकालीन कदम्बवशी राजा जैन थे, ऐसा उच्च कोटि के कतिपय इतिहासविदो का अभिमत है।[२] मृगेश वर्मा, हरि वर्मा उनके पितृव्य शिवरथ, युवराज देववर्मा, रविवर्मा, महारानी मालल देवी आदि ने जैन धर्म के प्रति अनन्य निष्ठा-श्रद्धा-भक्ति प्रकट की, वह उनके पूर्व पुरुषो के जैन धर्म के प्रति श्रद्धा-भक्ति के परम्परागत पुरातन सस्कारो का ही प्रतिफल हो सकता है।

इस प्रकार कदम्ब राजवश ने जैन धर्म की अभ्युन्नति के लिये उल्लेखनीय एव अनमोल योगदान दिया और इस राजवश के समग्र शासनकाल मे जैन धर्म सदा पल्लवित तथा पुष्पित होता रहा।

यद्यपि वनवासी शाखा के कदम्बवशी राजाओ ने अपना वश परिचय-मानव्य गोत्र, हारिति पुत्र, स्वामी महासेन (षण्मुख कार्तिकेय) पादानुध्यात, आश्रित जनम्बाना के रूप मे दिया गया है किन्तु प्रारम्भ से अन्त तक इस राजवश के राजाओ का अद्भुत् एव विशिष्ट झुकाव जैन धर्म के प्रति ही रहा है। इन राजाओ के जितने राज्याश्रित कवि थे, वे जैन थे। इनके मन्त्रीगण और सामन्त भी जैन थे। कदम्बवशी राजाओ द्वारा जिन पवित्र स्थानो के नाम रखे गये, वे जैनो के पवित्र क्षेत्रो के रूप मे अद्यावधि माने जाते है। कदम्बवशी राजाओ ने जो दान दिये वे प्राय सभी जैनाचार्यो एव जैन सघो को दिये, यह तथ्य इस राजवश के राजाओ के दानपत्रो-ताम्रपत्रो, शिलालेखो आदि से प्रकाश मे आया है।

गोआ प्रदेश मे कदम्ब राजवश की शाखा का सुदीर्घ काल तक राज्य रहा। उन्होने जैन साहित्य मे अभिवृद्धि कर जैन वाग्मय को समृद्ध किया।[३]

---

१ The Classical Age, Chap, XIII p 273

२ Similarly in the Saka Taluq of the Ganjam Dist there is a village Called Jaisingh, possibly named after Jaya Varma the early Kadamba King of 2nd Centuary A D (1) or a Kosala Jayaditya preserved in the traditions of the present day Andhra Kshatriyas
—Epigraphia Jainica (chapter II) in Studies in South Indian Jainism—

३ गोआ के कदम्ब वशी राजाओ के ताम्रपत्र।

गजम जिले की पारला की मेडी क्षेत्र मे कदम्ब सिगी ग्रार मुनिसिगी नामक जैनो के दो पवित्र स्थान है। कदम्ब सिंगी जैन धर्मावलम्बियो द्वारा प्राचीन काल से पवित्र पहाडी मानी जाती रही है। इस पवित्र पहाडी के आस-पास ही कदम्बवशी राजाओ द्वारा निर्मित मुनि-सिगी नाम से विख्यात विशाल जैन वस्ती थी, जहा बडी सख्या मे जैन मुनि निवास करते थे। कदम्बवशी राजाओ के शासन-काल मे ये स्थान जैन धर्म के, जैन विद्या के और जैन सस्कृति के गढ थे। इसी ताल्लुक (क्षेत्र) के मैदानो मे कदम्बो ने प्राचीनकाल मे वैजयन्तीपुर बसाकर वहा अपनी राजधानी स्थापित की।[1] ये सब तथ्य इस बात के साक्षी है कि कदम्बवशी राजा जैन थे।

राष्ट्रकूट राजवश

राष्ट्रकूट राजवश के राजाओ, रानियो, राजकुमारो, राजमाताओ, सेनानायको, मन्त्रियो एव प्रजाजनो ने जैनधर्म की सर्वतोमुखी समुन्नति के लिये जो महत्वपूर्ण योगदान दिया, उसे प्राचीन शिलालेखो और शोधकर्त्ताओ के शोधपूर्ण निबन्धो को पढकर तीर्थंकर काल के धर्म धुरा धौरेय भरत, श्रीकृष्ण, श्रेणिक आदि राजाओ की स्मृति स्मृति-पटल पर उभर आती है।

राष्ट्रकूट राजवश के राज्य का दक्षिण मे सर्व प्रथम अभ्युदय किस समय हुआ, इस सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णायक शोध न हो सकने के कारण इतिहासज्ञ अभी तक किसी सर्व-सम्मत निर्णय पर नही पहुच पाये है। इस राजवश के राजाओ से सम्बन्धित लेखो मे सब से पुराना अभिलेख मर्करा के खजाने से प्राप्त गगवशी राजा अविनीत द्वारा दिये गये दान का शक स० ३८८ तदनुसार ई० सन् ४६६ का एक ताम्र पत्र है। इस ताम्र-पत्र मे उल्लेख है कि अकालवर्ष पृथ्वी वल्लभ (राष्ट्रकूट वशीय राजा) के मत्री ने वणदे गुप्पे नामक एक ग्राम शक स० ३८८ की माघ शुक्ला पचमी सोमवार के दिन स्वाति नक्षत्र मे गगवशी महाराजाधिराज अविनीत से प्राप्त कर मूल सघ कौण्डकुन्दान्वय देशीय गण के गुणनन्दि भट्टार के शिष्य चन्दणन्दि भट्टार को तलवन नगर के श्रीविजय जिनालय के लिये दान मे दिया।

इस ताम्र पत्राभिलेख की भाषा से अनुमान किया जाता है कि राष्ट्रकूट वशीय राजा अकालवर्ष पृथ्वीवल्लभ एक शक्तिशाली साम्राज्य के महाराजाधिराज अविनीत ई० सन् ४६६ के आसपास के समय मे उनके अधीनस्थ राजा थे।

---

[1] The place of Parlakı medı Agency of the Ganjam District has called Kadamba-sıngı and Munı-sıngı suggesting a sacred hill (Sacred to Jaına) a colony of Jaın Munıs near about ıt The place names are sıgnıficant and suggestıve of relıgıous culture At a latter date, ıt was ın this taluq, that the Kadambas built their Capıtal Vaıjayantipurı ın the plaıns

—Epıgraphıca Jaınıca (chapter II) ın Studıes ın South Indıan Jaınısm—

इस प्रकार के किसी अन्य प्राचीन एव ठोस प्रमाण के अभाव मे दक्षिणा पथ मे राष्ट्रकूट वश के राज्य के आद्य सस्थापक के नाम एव समय के सम्बन्ध मे प्रामाणिक रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता ।

रट्ट वश के राजाओ की वशावली

इन सब तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए जैन धर्म के प्रति प्रगाढ अनुराग-श्रद्धा-निष्ठा एव भक्ति रखते हुए जैन धर्म की सर्वतोमुखी समुन्नति मे महत्वपूर्ण योगदान देने वाले इस यशस्वी राजवश के राजाओ की एक क्रमबद्ध सूचि इतिहास प्रेमियो अथवा शोधार्थियो को उपलब्ध कराने के उद्देश्य से डा० बूहलर और मि० फ्लीट द्वारा प्रकाशित प्राचीन अभिलेखो के आधार पर बी लुइस राइस ने बडी ही सावधानी के साथ इस राजवश के राजाओ की जो वशावली तैयार की है उसे ही मान्य किये जाने के अतिरिक्त अद्यावधि अन्य कोई उपाय नही है ।

जैन धर्म के परम हितैषी आश्रय दाता इस राजवश के राजाओ द्वारा जैन धर्म की अभिवृद्धि के लिये जो योगदान दिया गया, उस सबका जो सक्षिप्त विवरण यहा प्रस्तुत किया जा रहा है, उसमे इस वश के राजाओ के पूर्वापर अनुक्रम का जहा तक सम्बन्ध है, उसमे अद्यावधि उपलब्ध सामग्री के साथ-साथ मि० राइस द्वारा तैयार की गई सूचि को भी आधार माना गया है और इस प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री के परिप्रेक्ष्य मे इस राजवश के राजाओ का अनुक्रम निम्नलिखित रूप मे मान्य किया जा सकता है —

१ कृष्ण अकालवर्ष—जैसा कि लेख स० ६५ के उद्धरण के साथ ऊपर बताया जा चुका है कि गगवशी राजा अविनीत ई० सन् ४२५-४७८ के समय मे दक्षिणापथ के किन्ही प्रदेशो पर राष्ट्रकूट वशीय राजा अकालवर्ष राज्य कर रहा था । इसके एक मत्री ने वरणे गुप्पे नामक एक ग्राम चन्दणन्दि भट्टारक को दान मे दिया । इस राजा का राज्य कहा से कहा तक था अथवा इसकी राजधानी कहा थी, इस सम्बन्ध मे कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध नही होने के कारण कुछ भी नही कहा जा सकता । किन्तु इसका राज्य गगवश की सीमाओ से लगता हुआ था, यह इस लेख से प्रतिध्वनित होता है । इस लेख मे यह भी अनुमान किया जा सकता है कि अकालवर्ष कोई शक्तिशाली राजा होगा अत उसके मत्री की प्रार्थना पर गगराज अविनीत ने एक सुन्दर ग्राम जिनालय की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये दान मे देना स्वीकार किया । क्योकि यह दान ई० सन् ४६६ मे किया गया इसलिये सुनिश्चित रूपेण यह राजा अकालवर्ष इस वश के सातवें राजा कृष्ण अकालवर्ष-वल्लभ-शुभतु ग कन्नर ई० सन् ७५३-७७८ से लगभग २०० वर्ष पूर्ववर्ती होने के कारण सुनिश्चित रूपेण भिन्न था ।

२ कृष्ण अकालवर्ष के पश्चात् ई० सन् ४६६ से ६१० ई० के बीच इस वश के कितने और कौन-२ से राजा हुए तथा उनकी राजधानी कहा थी इसका अद्यावधि उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री मे कोई उल्लेख नही मिलता ।

३ गोविन्द—अप्पायिक गोविन्द—इसके सम्बन्ध मे डा० बूहलर, श्री फ्लीट और बी लुइस राइस का अनुमान है कि यह राजा उत्तर भारत से दक्षिण मे अपने सैन्य दल के साथ आया किन्तु पुलकेसिन ने ई० सन् ६१० के आस पास इसके दक्षिण विजय अभियान को विफल कर किया । दिग्विजय अथवा देश विजय के इस स्वप्न के धूलिसात् होने के अनन्तर राजा अप्पायिक गोविन्द मध्य प्रदेश अथवा उत्तर प्रदेश की ओर लौटा अथवा गुजरात की ओर, इस सम्बन्ध मे प्रमाणाभाव के कारण कुछ भी नही कहा जा सकता । क्योकि आज भी उत्तर प्रदेश मे भी एव गुजरात मे भी राठोर पर्याप्त सख्या मे विद्यमान हैं, जो इतिहासज्ञो के अनुमान से राष्ट्रकूट वशीय हो सकते है । इससे और अन्य प्रमाणो से सिद्ध होता है कि प्राचीन काल मे राष्ट्रकूट वश के राज्य उत्तर प्रदेश मे भी थे और गुजरात मे भी ।

इन पूर्व पुरुपो के पश्चात् राष्ट्रकूट वश के राजाओ का दक्षिण के शासको के रूप मे निम्नलिखित अनुक्रम उक्त विद्वानो द्वारा निर्धारित किया गया है ।

१—दन्ति वर्मा । २—इन्द्र । ३—गोविन्द । ४—कर्क-कक्क (प्रथम) ५—इन्द्र प्रथम—इसका चालुक्य राज की राजकुमारी के साथ विवाह हुआ ।

इन पाचो राष्ट्रकूट वशीय राजाओ के राज्य काल के सम्बन्ध मे अद्यावधि कोई ठोस ऐतिहासिक आधार उपलब्ध नही हुआ है ।[1]

६—दन्ति दुर्ग—इस राजा के दन्ति वर्मा, खडगावलोक, पृथ्वी वल्लभ, वैर मेघ और साहस तु ग—ये विरुद थे । विरुद के रूप मे अन्य नाम भी उपलब्ध होते है । इसका राज्य काल अनुमानत ७३० से ७५३ माना जाता है ।

राष्ट्रकूट वश का यह छठा राजा बडा प्रतापी, साहसी और जैन धर्म के प्रति निष्ठा रखने वाला हुआ । इसने ई० सन् ७३० से ७३५ के बीच की अवधि मे चालुक्य राजा कीर्ति वर्मा को रणक्षेत्र मे पराजित कर राष्ट्रकूट वश के एक शक्तिशाली राज्य की नीव डाली । राष्ट्रकूट वश के राज्य को शक्तिशाली बनाने के कारण इतिहासज्ञ ईसा की आठवी शताब्दी के प्रथमार्द्ध से राष्ट्रकूट राज्य का अभ्युदय मानते है । श्रवण बेलगोल से प्राप्त एक शिलालेख के अनुसार न्याय शास्त्र

[1] It is only from this point that we have a connection account of the line —B Lewis Rice EPIGRAFICA Karnataka Vol .. Appendix—B Page 71

के उद्भट विद्वान् महावादी दिगम्बराचार्य अकलक इस राजा के सम सामयिक आचार्य थे। इस राजा की प्रशसा मे आचार्य अकलक का निम्नलिखित श्लोक इस शिलालेख मे उट्टकित है —

राजन् साहसतु ग सन्ति बहव श्वेतातपत्रा नृपा
किन्तु त्वत्सदृशा रणे विजयिनस्त्यागोन्नता दुर्लभा ।
त्वद्वत्सन्ति बुधा न सन्ति कवयो वादीश्वरा वाग्मिनो,
नाना शास्त्रविचारचातुरधिय , काले कलौ मद्विधा ।।२१।।[1]

महाराज दन्ति दुर्ग परम जिन भक्त होने के साथ-साथ बडा ही शक्तिशाली एव लोकप्रिय नरेश था। इसकी अजेय एव दुर्द्धर्ष हस्ति सेना ने रेवा अथवा नर्मदा महानदी के तटवर्ती सुदूरस्थ प्रदेशो पर विजय प्राप्त की। चालुक्य राजा कीर्ति वर्मा की जिस विजयिनी सेना ने चोलराज, पाड्यराज वज्रट और श्री हर्ष की सेनाओ को पराजित किया था, उस शक्तिशाली कर्णाटकी सेना को भी दन्ति दुर्ग ने रणागण मे छिन्न-भिन्न कर उस पर पूर्ण विजय प्राप्त की।

७—कृष्ण प्रथम—ई० सन् ७५३ से ७७८— यह राष्ट्रकूट वश के पाचवे राजा इन्द्र का छोटा भाई था। अकाल वर्ष, बल्लभ, शुभतुङ्ग और कन्नर ये उसके उपाधि सूचक अपर नाम भी थे। इसने चालुक्य राज्य के अन्तर्गत शेष रहे और भी अनेक क्षेत्रो पर अपनी विजय पताका फहरा कर सम्पूर्ण चालुक्य राज्य को अपने अधीन कर लिया। लेख स १२३ के अनुसार कृष्ण प्रथम ने चालुक्य राजवश से लक्ष्मी को छीन लिया।[2] इसने एलपुर मे एक बडा ही सुन्दर शिव मन्दिर बनवाया। गोविन्द और ध्रुव अपरनाम धोर नामक इसके दो पुत्र थे।

८—गोविन्द द्वितीय—प्रभूत वर्ष—वल्लभ—यह ई सन् ७७८ मे राष्ट्रकूट राज-सिहासन पर बैठा। इसका शासन थोडे ही वर्षो तक रहा और इसका लघु भ्राता ध्रुव इसे सिहासनच्युत करके स्वय राजा बन गया। शक स० ७०५ ई सन् ७८३ मे तो सुनिश्चित रूप से इसका शासन था। यह आचार्य जिनसेन द्वारा अपने ग्रन्थ 'हरिवश पुराण' मे किये गये इस उल्लेख से सिद्ध होता है कि उन्होने शक स० ७०५ मे राष्ट्रकूट वशीय राजा गोविन्द द्वितीय के राज्यकाल मे इस ग्रथ की रचना की। इसने अपने कुछ वर्षो के शासन काल मे भी राष्ट्रकूट राज्य का उल्लेखनीय विस्तार किया। इसके सोरब ताल्लुक से ई० सन् ७६७ से ई० सन् ८०० की बीच की अवधि के ५ शिलालेख प्राप्त हुए है। इससे अनुमान किया जाता है कि इसके छोटे भाई ने, इसे राष्ट्रकूट राज्य के सिंहासन से च्युत करने के उपरान्त भी सोरब क्षेत्र के स्वतन्त्र राजा के रूप मे इसे रखा हो।

---

[1] जैन शिला लेख सग्रह, भाग १, लेख स ५४ पृष्ठ १०४

[2] जैन शिला लेख सग्रह भाग २, पृष्ठ १२५ श्लोक स ३

९—ध्रुव-धोर-धारा वर्ष-निरुपम-कलिवल्लभ-इद्धतेजस । अपने वडे भाई गोविन्द द्वितीय को सिहासनच्युत कर राज-सिहासन पर आसीन होने के पश्चात् इसने ई० सन् ८०३ तक शासन किया । यह बडा ही साहसी एव युद्ध शौण्डीर राजा था । उपरिवर्णित लेख स० १२३ मे इसके विजय अभियानो के उल्लेखो मे वताया गया है कि ये अपने सम्पूर्ण जीवनकाल मे कभी किसी से भी परास्त नही हुए । सदा अविजेय गगो को पराजित किया और पल्लवो, गोडो एव वत्सराज को भी रणागण मे हृतप्रभ कर परास्त किया और इसने अपने वडे पुत्र कम्ब को गग प्रदेश दिया और छोटे पुत्र गोविन्द को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त किया । इसके शासन काल मे राष्ट्रकूट राज्य की उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई ।

१०—गोविन्द तृतीय-प्रभूतवर्ष-जगत्तु ग-वल्लभ नरेन्द्र-श्री वल्लभ-पृथ्वी-वल्लभ-अतिशय धवल-कीर्तिनारायण । इसका शासन काल ई० सन् ८०३ से ८१४ तक रहा । यह राष्ट्रकूट वश के अपने सभी पूर्वज राजाओ से बडा शक्तिशाली एव अधिक प्रतापी राजा सिद्ध हुआ । इसने राज-सिहासन पर आरूढ होते ही दिग्विजय का अभियान आरम्भ किया । इस विजय अभियान मे उसने अपने समय के बारह शक्तिशाली एव विख्यात राजाओ से सघर्ष कर उनकी सैन्य शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया । केरल, मालवा, गुजरात, चित्रकूट (वुन्देल खण्ड) के विन्ध्याद्रि, पल्लव, शान्तर एव वेगी के चालुक्य राज आदि राजाओ को युद्ध मे परास्त कर अपने राष्ट्रकूट वश के राज्य की सीमाओ का विन्ध्य से लेकर काञ्ची तथा मालवा से लेकर गुजरात तक विस्तार कर लिया । गुजरात के अन्तर्गत लाया हुआ नव विजित लाट प्रदेश—इसने अपने लघु भ्राता इन्द्रराज को प्रदान कर उसे वहा का शासक बना दिया ।

गोविन्द तृतीय ने अपने पिता ध्रुव द्वारा अनेक वर्षो से बन्दी बनाये गये गगवश के सत्रहवे राजा शिवमार को मुक्त कर दिया था, किन्तु उसकी राष्ट्रकूट राज्य विरोधी गतिविधियो से अप्रसन्न हो उसने उसे पुन बन्दी बना लिया । कालान्तर मे उसने पल्लव राजा नन्दिवर्मा के स्थान पर गगराजा शिवमार को पुन राज्य सिहासन पर आरूढ कर दिया ।

राष्ट्रकूट वशी इस राजा ने शक स० ७३५ (वि० स० ८१३) मे अपने गग वशीय सामन्त चाकिराज की प्रार्थना पर जाल मगल नामक एक गाव यापनीय सघान्तर्गत नन्दिसघ के पुन्नागवृक्षमूलगण के यापनीय आचार्य अर्क कीर्ति को दान स्वरूप प्रदान किया । अर्ककीर्ति ने इनके सामन्त विभवादित्य को शनि की पीडा से उन्मुक्त किया था ।[1]

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह भाग २ लेख सख्या १२४

इसके शासनकाल मे उसके बडे भाई कम्ब का गग प्रदेश पर राज्य रहा। ई सन् ८०७ मे जिस समय कम्ब का तलवन नगर मे शिविर था, उस समय उसने अपने पुत्र शकर गरण की प्रार्थना पर जैनाचार्य वर्द्धमान को एक ग्राम का दान दिया।[1]

उपरिचर्चित लेख सख्या १२३ के उल्लेखानुसार गोविन्द तृतीय की आज्ञा से रजावलोक शौच कम्मदेव (गोविन्द तृतीय के भाई) ने पेर्व्वडियूर नामक ग्राम को कर विमुक्त कर महासामन्त श्री विजय द्वारा निर्मापित मान्यपुर (मलखेड) के दक्षिणी भाग मे अवस्थित जिनेन्द्र भगवान के मन्दिर के लिये कोण्ड कुन्दान्वय शाल्मली गरण के तोरणाचार्य के प्रशिष्य श्रा प्रभाचन्द्र को शक स ७२४ ई सन् ८०२–८०३ मे दान मे दिया। इसने मयूर खण्डी (मोर खण्ड) नासिक के अन्तर्गत राजधानी मे रहते हुए शासन किया।

११ अमोघवर्ष प्रथम—सर्व (कक्क)–नृपतुग (ई सन् ८१४–८७५)— इसने मान्यखेट को अपने राज्य की राजधानी बनाया। इसने युद्ध क्षेत्र मे चालुक्यो को करारी हार दी जिससे विवश हो चालुक्यो को विगुवल्ली मे इसके साथ सन्धि करनी पडी। इसने शान्तर (शिलाहार) राजवश के राजा कर्पदि को कोकरण का क्षेत्र भेट स्वरूप प्रदान किया। यह बहुत बडे भूभाग का सार्वभौम सत्ता सम्पन्न शक्तिशाली शासक था। गृह कलह के परिणामस्वरूप इसके राज्य मे तीन बार भयकर विद्रोह हुए किन्तु इसने उन सभी विद्रोहो को कुचल दिया। तीसरा विद्रोह बडा ही उग्र था। क्योकि इस विद्रोह मे अमोघवर्ष के उत्तराधिकारी कृष्ण द्वितीय ने भी प्रारम्भ मे विद्रोहियो का साथ दिया था। अमोघवर्ष ने अपने सामन्त वन-वासी के शासक बकेय को इस विद्रोह का दमन करने की आज्ञा प्रदान की। बकेय के रणागण मे पहुचते ही कृष्ण (द्वितीय) ने विद्रोहियो का साथ छोड दिया और बकेय ने विद्रोहियो के दुर्ग को अपने रण कौशल से जीत कर विद्रोह को कुचल दिया। बकेय ने अनेक विद्रोहियो को बन्दी बना लिया और अनेक को मौत के घाट उतार दिया। बकेय के इस अद्भुत शौर्य से प्रसन्न हो अमोघवर्ष ने उसे शक स ७७२ (ई सन् ८६०) मे जब कि वे मान्यखेटपुर मे सेना का पडाव डाले हुए थे, बकेय द्वारा कोलनूर निर्मापित जिन मन्दिर के लिए तलेयूर नामक पूरा ग्राम और कतिपय अन्य ग्रामो की कृषि योग्य भूमिया देवेन्द्र मुनि को दान स्वरूप प्रदान की।[2] इस बकेय के नाम पर बकापुर बसाया गया। उत्तर पुराण के उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि राष्ट्रकूट वश का ११वा राजा यह अमोघवर्ष जैन धर्म का प्रबल सरक्षक

---

1 मैसोर ग० रिपोर्ट सन् १९२० पृ० ३

2 जैन शिलालेख सग्रह भाग २, पृ २४१–२५० लेख स० १२७

जैन धर्मानुयायी एव परम जिनभक्त था।[1] अमोघवर्ष के धर्म गुरु सघ के भट्टारक जिन सेनाचार्य थे जिन्होने शक स ७५६ (वि स ८६२) ई सन् ८३७ मे कषाय प्राभृत पर जय धवला नामक विशाल टीका ग्रथ की रचना की। इन्होने आदि पुराण और पार्श्वाभ्युदय नामक काव्य ग्रथ की भी रचना की। उत्तर पुराण मे गुणभद्राचार्य के उल्लेखानुसार राजा अमोघवर्ष अपने गुरु जिन सेनाचार्य को प्रणाम कर अपने आपको धन्य मानता था। महाराजाधिराज अमोघवर्ष परम जिन भक्त होने के साथ एक समर्थ कवि और उद्भट विद्वान भी था। उसने रत्नमालिका (प्रश्नोत्तर मालिका) और 'कविराजमार्गालकार' नामक दो ग्रन्थो की रचना की। प्रश्नोत्तरमालिका का उस समय तिब्बती भाषा मे अनुवाद किया गया था। यह दक्षिण से उत्तर तक लोकप्रिय रही।[2] रत्नमालिका मे स्वय अमोघवर्ष ने निम्न-लिखित पद्य द्वारा ससार से स्वय के विरक्त होने और राजसिहासन के त्याग का उल्लेख किया है —

विवेकात्त्यक्त राज्येन, राज्ञेय रत्नमालिका।
रचितामोघवर्षेण, सुधिया सदलकृति ॥

इस उल्लेख से अनुमान किया जाता है कि अमोघवर्ष ने राज्य-पाट को स्वेच्छापूर्वक त्यागकर मुनिधर्म स्वीकार किया हो। इस राजा के शासनकाल मे दक्षिणापथ के सुविशाल क्षेत्र मे जैन धर्म की उल्लेखनीय उन्नति हुई।

१२ कृष्ण द्वितीय-अकालवर्ष-कन्नर-कन्दरवल्लभ–कृष्णवल्लभ–शुभतु ग–परमेश्वर-परम भट्टारक-पृथ्वीवल्लभ-ई सन् ८७५–६१२ त्रिपुरा अथवा तेवार के चेदिवश की कलचूरी शाखा के राजा कोक्कल की राजकुमारी से इसका विवाह हुआ। पूर्वी चालुक्यो के साथ इसका युद्ध चलता रहा। लेख सख्या १४० के अनुसार नागर खण्ड सत्तर के सामन्त सत्तरस नागार्जुन की मृत्यु हो जाने पर इस राजा ने उसकी पत्नी जक्कियब्बे को आनुतबुर और नागर खण्ड शत्तर का राज्य प्रदान किया। लगभग ६ वर्ष तक जक्कियब्बे वहा शासन करती रही। उसने जक्कबि के जिन मन्दिर को ७ मत्तल चावल की भूमि प्रदान की और अन्त मे ई सन् ६१८ मे उसने श्रवण बेलगोल मे जाकर सल्लेखनापूर्वक समाधि मरण का वरण किया।

१३ गोविन्द चतुर्थ-जगत्तु ग-प्रभूत वर्ष (ई सन् ६१२–६१३)। इसका पहला विवाह अपने मामा रण विग्रह (कोक्कल चेदिराज) की पुत्री लक्ष्मी से और दूसरा विवाह शकर गण (सभवत रण विग्रह के छोटे भाई) की पुत्री गोविन्दम्मा से हुवा।

---

[1] Amoghavarsha I was the Greatest patron of the Digambara Jains and there is no reason to doubt that he .
Studies in south Indian Jainism by Ms Ramaswami & B Rao chapter VII

[2] JBBRAS XXII, Page 80

१४ इन्द्र-नीति वर्ष-(ई सन् ६१६–६३०) इसका विवाह भी इसके मामा अम्मन (अर्जुन के पुत्र और कोक्कल के पौत्र) की पुत्री द्विजाम्बा से हुवा। इसने कन्नोज पर आक्रमण कर कुछ समय के लिए वहाँ के राजा महिपाल को राजसिंहासन से अपदस्थ कर दिया।

१५ गोविन्द-सुवर्ण वर्ष-वल्लभ नरेन्द्र-गोज्जिग-नृपतु ग-वीरनारायण-रट्ट-कन्दर्प। इसका शासन ई सन् ६३० से ६३३ तक रहा।

१६ कृष्ण यह १३वे राजा जगत्तु ग (कृष्ण चतुर्थ) का पुत्र था। यह ई सन् ६३३ मे राष्ट्रकूट राज्य के सिंहासन पर बैठा। इसका राज्य कब तक रहा, इस सम्बन्ध मे कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता।

१७ अमोघवर्ष (कृष्ण का छोटा भाई)—इसका विवाह त्रिपुरा के कलचुरी वश के युवराज की पुत्री कुन्दक देवी से हुआ। इसके राज्यकाल का उल्लेख प्राप्त नही होता। इसके पश्चात् इसका बडा पुत्र खोट्टिग राजसिंहासन पर आसीन हुवा।

१८, खोट्टिग-कोट्टिग-नित्यवर्ष-इसके कोई सन्तति नही हुई अत ई सन् ६४५ मे इसके पश्चात् इसका छोटा भाई कृष्ण राष्ट्रकूट राज्य के राज्य सिंहासन पर बैठा।

१९ कृष्ण (खोट्टिग का छोटा भाई) कन्नर, अकालवर्ष और निरुपम-ये उपाधि परक नाम भी इसके उपलब्ध होते है। इसका शासन काल ई सन् ६४५ से ६५६ तक रहा। इस राजा के समय मे सोमदेव, पुष्पदन्त, इन्द्रनन्दि आदि अनेक बडे-बडे जैनाचार्य हुए। यह राष्ट्रकूट वश का एक प्रतापी राजा था। इसने राजादित्य चोल को ई सन् ६४६ मे युद्ध मे परास्त किया। सभवत शैव धर्मावलम्बी चोलो के अत्याचारो से पीडित जैन सघ की रक्षार्थ यह युद्ध हुआ होगा, ऐसा विद्वानो द्वारा अनुमान किया जाता है। इसके शासन काल मे कलचुरी राजा वल्लाल जैन धर्म का परित्याग कर शैव बन गया और जैन सघ पर अत्याचार करने लगा। इस राजा कृष्ण ने अपने साले मारसिह (गग वश के २४ वें राजा) को सभवत उसके यौवराज्य काल मे बडी सेना देकर वल्लाल पर आक्रमण किया। गग युवराज मारसिंह ने वल्लाल को पराजित कर ठीक उसी प्रकार जैन सघ की रक्षा की जिस प्रकार कि भिक्खुराय खारवेल ने पुष्यमित्र शुग पर आक्रमण कर जैनो की रक्षा की थी।[1]

२० कक्क-कर्क द्वितीय-अमोघवर्ष-कक्कल-कर्कर-वल्लभ नरेन्द्र-नृपतुग ई सन् ६५६–६७२। इसने गूर्जरो, हूणो, चोलो और पाण्ड्यो पर विजय प्राप्त की

---

१ जैन शिलालेख सग्रह भाग २ पृ १६–२१ लेख सख्या ३८

किन्तु ई सन् ६७२ मे धारा के परमार राजा हर्ष सियाल क द्वारा परास्त हो गया ।[1] इसकी पुत्री जकब्बे अपर नाम जाकलदेवी इसी चालुक्यराज तैल को व्याही गई थी ।

राष्ट्रकूट वश के २०वे राजा कर्क-अमोघवर्ष की पराजय एव राष्ट्रकूट राज्य की राजधानी मान्यखेट के पतन के साथ ही जैन धर्म के प्रबल पोपक राष्ट्रकूट वश के शक्तिशाली साम्राज्य का सूर्य अस्त प्राय हो गया ।

कवि धनपाल ने अपनी महत्वपूर्ण कृति "पाइय लच्छी नाम माला" नामक ग्रथ की प्रशस्ति मे राष्ट्रकूट राज्य के अत एव मान्य खेट के पतन की इस ऐतिहासिक घटना का काल निर्देश के साथ निम्नलिखित रूप मे उल्लेख किया है —

विक्कम कालस्स गए, अउणत्तीसुत्तरे सहस्समि ।
मालवनरिंद धाडीए लूडिए मन्नखेडमि ।।
धारा नयरीए परिठिए ण, मग्गे ठियाए अणवज्जे ।
कज्जे कणिठ्ठ बहिणीए, सु दरी नाम धिज्जाए ।
कइणो अधजण किवा कुसलत्ति पयाणमतिया वण्णा ।
नाममि जस्स कमसो,तेणेसा विरइया देसी ।।

राष्ट्रकूट वश के राजाओ की राजधानी मान्यखेटपुर के पतन के समय के इस प्राचीन उल्लेख से भी इस ऐतिहासिक तथ्य की पुष्टि होती है कि राष्ट्रकूट वश का दक्षिण मे जो जैन धर्म पोषक एव शक्तिशाली राज्य था वह विक्रम स० १०२६ ई० सन् ६७२ मे समाप्त हो गया ।

मान्यखेटपुर के पतन पर अपभ्र श, सस्कृत और जैन दर्शन से प्रकाण्ड पण्डित महाकवि पुष्पदत ने अपने अन्तस्तल के शोकोद्गार प्रकट करते हुए बडे ही मार्मिक शब्दो मे कहा है —

दीनानाथधन सदा बहुजन प्रोत्फुल्लवल्लीवन,
मान्याखेटपुर पुरन्दरपुरीलीलाहर सुन्दरम् ।
धारानाथ नरेन्द्र कोपशिखिना, दग्ध विदग्धप्रिय ।
क्वेदानीवर्सात करिष्यति पुन श्री पुष्पदन्त कवि ।।

---

[1] तत्र क्षितीशे नृपतिप्रदीपे, प्रचण्ड तैलप्प समीरणेन ।
विध्यापिते दुष्षमकाल भावात्, कथावशेपे सति रट्ट राज्ये ।।१५।।
शिलाहार राजा अपराजित द्वारा दिये गये दान का ताम्रपत्र शक स ६१५ ई सन् ६६३
Important Inscription, from the Baroda State, Vol 1, Page ५८

जो मान्य खेटनगर दीन दुखियो एव अनाथो का आशा केन्द्र कल्पतरु और बहुजन सकुल था, जिसकी पुष्पवाटिकाए सदा पुष्पो से सुरभित एव हरी भरी रहती थी, जो अपनी अनुपम शोभा से सौन्दर्य मे अलकापुरी को भी तिरस्कृत करता था, वह विद्वद्वृन्द का प्राणो से प्रिय पुर आज धाराधिपति के कोपानल से जल गया है। हा ! अब पुष्पदत कवि कहा निवास करेगा ?

हर्ष सियाक के लौट जाने पर गगराज मारसिह द्वितीय ने खोटिग को ई सन् ९७३ मे पुन मान्यखेट के सिहासन पर बैठाया। किन्तु कुछ ही दिनो तक राज्य करने के पश्चात खोटिग की मृत्यु हो गई और खोटिग का भतीजा (कृष्ण का पुत्र) कर्क द्वितीय ईस्वी सन् ९७३ मे राज्य सिंहासन पर बैठा। कुछ ही महीने पश्चात् चालुक्यराज तैल द्वितीय ने कर्क द्वितीय को पराजित कर मान्यखेटपुर पर अधिकार कर लिया। कृष्ण तृतीय ने कर्क को तरदावादि की जागीर प्रदान की और वह वही रहने लगा।

इस प्रकार जैन धर्म के प्रबल पोषक, दीन दुखियो और अनाथो के आशा केन्द्र महाकवियो एव विद्वानो के आश्रयदाता राष्ट्रकूट वश के राजाओ के अन्त एव मान्यखेट के पतन के साथ ही दक्षिण मे जैन सघ का एक बहुत बडा सबल सम्बल समाप्त हो गया। राष्ट्रकूट वश के सुदीर्घ शासनकाल मे दक्षिणापथ मे जैन धर्म उल्लेखनीय रूपेण पुष्पित-पल्लवित और उत्तरोत्तर अभ्युत्थान के पथ पर अग्रसर हो रहा था। राष्ट्रकूट राजवश के राज्य के समाप्त होते ही न केवल उसकी प्रगति मे अवरोध आया अपितु उत्तरोत्तर उसका ह्रास होना आरम्भ हो गया।

यद्यपि ई० सन् ९७२ (वि० स० १०२९) मे मान्य खेट के पतन के साथ ही राष्ट्रकूट वश का राज्य समाप्त हो गया तथापि इस वश के २० वे राजा कर्कराज के पुत्र २१ वे राष्ट्रकूट वशीय राजा इन्द्र का नाम ई० सन् ९८२ तक उपलब्ध होता है।[1]

लेख स० ३८ मे उल्लेख है कि गगवश के २४ वें राजा मारसिंह द्वितीय ने राष्ट्रकूट वश के २० वे राजा कर्क के पुत्र इन्द्र का राज्याभिषेक किया, जो मारसिह द्वितीय का भानजा था।

लेख स० ५७ मे उल्लेख है कि इन्द्रराज गगगाङ्गेय (सत्य वाक्य राचमल्ल की उपाधि) का दौहित्र और राजा राज चूडामणि का दामाद था।[2] राजा इन्द्र

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह भाग २, लेख सख्या ३८ व ५७

[2] जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, के शक स० ९०४ (ई० सन् ९८२) के लेख सख्या ५८ मे उल्लेख है कि राजा राज चूडामणि मार्गण्डे मल्ल ने अपने एक भावन गन्ध हस्ति नामक वीर योद्धा को उसके अनुपम शौर्य के उपलक्ष मे अपनी सेना का नायक बनाया था।

राज रट्ट कन्दर्प, राज मार्तण्ड आदि अनेक उपाधियो से विभूषित था। वह घोडे पर बैठकर दण्ड से गेंद का खेल खेलने वालो मे परम निष्णात और अद्वितीय था। इन्द्रराज ने शक स० ९०४ (ई० सन् ९८२) की चैत्र शुक्ला ८ को भोमवार के दिन समाधि मरण का वरण किया।

गन्धवारणवस्ति के इस स्तम्भ लेख से दो महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश मे आते है। पहला तो यह कि आज से १००० वर्ष पहले आजकल के पोलो जैसा कोई खेल खेला जाता था। उस खेल मे अनेक अश्वारोही दण्ड से गेद खेलते थे।

दूसरा महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य यह प्रकाश मे आता है कि ई स ९७२ मे राष्ट्रकूट वश के राजाओ की राजधानी मलखेड के पतन के पश्चात् भी राष्ट्रकूट वश का दक्षिण मे कर्णाटक के किसी भू-भाग पर ई सन् ९८२ तक शासन रहा।

२१--इन्द्र--रट्ट कन्दर्प देव-राज मार्तण्ड-कालिक कोलमण्ड आदि-आदि अनेक विरुदो का धारक इन्द्र नामक राजा हुआ। इन्द्र ने श्रवण बेलगुल मे ई सन् ९८२ मे सल्लेखना-समाधि पूर्वक प्राणो का परित्याग किया। इन्द्र के पश्चात् कर्णाटक मे इस राजवश के अन्य राजा का उल्लेख उपलब्ध नही होता।

राष्ट्रकूट वशी राजाओ के शासन काल मे जैन धर्म एव जैन सघ के साथ-साथ जैन साहित्य की भी अभूतपूर्व उन्नति हुई। अकलक की 'अष्टशती', विद्यानन्दि की 'अष्टसहस्री', माणिक्य नन्दि का 'परीक्षामुख सूत्र', इस पर प्रभाचन्द्र का विशद टीका ग्रन्थ 'प्रमेय कमल मार्तण्ड', मल्लवादी का नय चक्र, वीरसेन का षट्खण्डागम पर ७२ हजार श्लोक प्रमाण धवला नामक महान ग्रन्थ, वीर सेन और जय सेन का कषाय पाहुड पर 'जय धवला' नामक महान टीका ग्रन्थ, जिन सेन और गुण भद्र का आदि पुराण, जिन सेन का 'पार्श्वाभ्युदय' नामक काव्य, गुण भद्र का 'उत्तर पुराण' और आत्मानुशासन, राष्ट्रकूट वशी महाराजा अमोघवर्ष का 'कविराजमार्ग' और 'प्रश्नोत्तर मालिका', अपभ्रश के महाकवि पुष्पदन्त का 'महापुराण' और 'यशोधर काव्य', सोमदेव का 'यशस्तिलक चम्पू', वादीभ सिंह उदय देव का 'क्षेत्र चूडामणि' एव 'गद्य चिन्तामणि', इन्द्रनन्दि का लोक प्रिय 'ज्वाला मालिनी स्तोत्र' आदि जैन साहित्य महोदधि के ग्रन्थ रत्न इसी राष्ट्रकूट वश के राज्य काल की दिव्य देन हैं। राष्ट्र कूट वश के राजाओ के शासन काल मे पम्प, रत्न, आसग, चामुण्ड राय आदि कन्नड भाषा के जैन कवियो ने कन्नड भाषा मे अभिनव उच्च कोटि के साहित्य का निर्माण कर कन्नड को समृद्ध भाषा बना ससार की प्रतिष्ठित भाषाओ मे उसे स्थान दिलाया। जैन साहित्य के निर्माण की दृष्टि से राष्ट्रकूट वशी राजाओ के शासन काल को साहित्य सृजन का स्वर्ण-युग कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

होय्सल राजवश

ई० सन् ६७२ मे चालुक्य राज तैल द्वारा राष्ट्रकूट वश के २० वे राजा कर्क राज द्वितीय (अपर नाम अमोघ वर्ष, वल्लभ नरेन्द्र, नृपतुग) के पराजित होने और राष्ट्रकूट राजाओ की राजधानी मान्य खेट (मलखेड) के पतन के पश्चात् जैन सघ कुछ समय तक राज्याश्रय से वचित रहा। वह समय वस्तुत धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता का युग था। सुदीर्घावधि से राज्याश्रय प्राप्त जैन सघ जब ईसा की दशवी शताब्दि के अन्तिम चतुर्थ चरण मे राज्याश्रय विहीन हो गया तो शैवो एव वैष्णव धर्मावलम्बियो ने राज्याश्रय प्राप्त कर जैन सघ के प्रचार-प्रसार मे अनेक प्रकार के अवरोध उपस्थित करने का क्रम प्रारम्भ कर दिया। अन्य धर्मावलम्बियो द्वारा जैन धर्म के प्रचार-प्रसार मे उपस्थित किये गये अवरोधो के परिणामस्वरूप दक्षिण का प्राचीन और सबल जैन सघ शनै शनै क्षीण होने लगा।

जैन धर्म के इस प्रकार के ह्रासोन्मुखी प्रवाह को पुन पूर्ववत् विकासोन्मुख कैसे बनाया जाय, क्या-क्या उपाय किये जाय—यह एक ज्वलन्त समस्या जैन सघाग्रणियो के समक्ष उपस्थित हुई। मनीषी आचार्यो ने इस समस्या के समाधान के लिये चिन्तन किया। तत्कालीन परिस्थितियो के सम्बन्ध मे विचार मन्थन करते-करते इसी निष्कर्ष पर पहुँचे कि कटुतापूर्ण धार्मिक प्रतिद्वन्द्विता एव धार्मिक असहिष्णुता के युग मे दृढ जैन धर्मावलम्बी किसी सशक्त राजा का राज्याश्रय प्राप्त करके ही इस प्रकार के सक्रान्ति काल मे अन्य धर्मावलम्बियो द्वारा राज्याश्रय के बल पर किये जाने वाले जैन धर्म के ह्रास को रोक सकते है।

जैन धर्म के अभ्युत्थान के उत्कट आकाक्षी अनेक मनीषी उस दिन की प्रतीक्षा करने लगे जब कि कोई पुरुषसिह जैन सघ के उत्कर्ष की आन्तरिक उत्कट आकाक्षा लिये अभिनव राज्य शक्ति के साथ उभर कर आगे आवे।

परोपकारैक व्रती मनस्वी महात्माओ की आन्तरिक अभिलापाए अधिक समय तक अपूर्ण नही रहती, वे लम्बी प्रतीक्षा न करवा स्वल्पावधि मे ही पुष्पित-पल्लवित हो वृहदाकार धारण कर विराट स्वरूपा हो जाती हैं।

राज्याश्रय से वचित जैन सघ को सरक्षण प्रदान करने वाला कोई उदीयमान नर शार्दूल आगे आये और एक सुदृढ प्रबल राज शक्ति के रूप मे उदित हो जिन धर्म को राज्याश्रय प्रदान करे—इस प्रकार की उत्कट अभिलाषा को अन्तर्मन मे सजोये सुदत्त नामक एक जैनाचार्य विकट वन्य प्रदेश मे अङ्गडि नामक स्थान पर साधना विरत थे। उस समय एक यादव वशी किशोर वय का राजकुमार उस स्थान पर आया। उसने भक्ति सहित आचार्य सुदत्त को वन्दन किया और उनके सम्मुख बैठ गया। आचार्य देव के इगित पर उसने अपना नाम सल बताया।

मुनीन्द्र ने मन ही मन विचार किया कि इस क्षत्रिय किशोर मे उनकी आशाओ के अनुरूप सभी शुभ लक्षण विद्यमान है। इस प्रकार विचार कर वे पुन पद्मावती देवी की साधना मे लीन हो गये और क्षत्रिय राज किशोर उनके मुखार विन्द की ओर अपलक निहारता हुआ उनके समक्ष बैठा रहा। कुछ ही क्षणो के अनन्तर सिंह की गर्जना से वह स्थान गुजरित हो उठा। ध्यान के पारण के साथ ज्यो ही आचार्य सुदत्त ने पलके खोली तो देखा कि एक कराल केसरी सिंह उन दोनो की ओर झपटा चला आ रहा है। अपने स्थान पर निर्भय अडोल बैठे क्षत्रिय कुमार को सम्बोधित करते हुए मुनीन्द्र सुदत्त ने उस प्रदेश की भाषा मे कहा—"पोय स ल।" अर्थात् "सल इसे मारो।"

आचार्य देव की आज्ञा को शिरोधार्य कर राज किशोर सल नें सुदत्ताचार्य की ओर छलाग मारते हुए शेर को एक ही बार मे ढेर कर सदा के लिये धराशायी कर दिया।

यदुवीर सल के अनुपम शौर्य और अद्भुत् साहस को देख कर आचार्य सुदत्त की प्रसन्नता का पारावार नही रहा। उन्हे विश्वास हो गया कि यह पराक्रमी पुरुष नवीन राज्य की स्थापना करने मे और राज्य का स्वामी होने के पश्चात् जैन सघ को समुचित सरक्षण देने मे भी सर्वथा सक्षम है। आचार्य सुदत्त ने उसी समय से उस यादव किशोर को "पोय् सल" के नाम से सम्बोधित करना प्रारम्भ कर दिया।[1] इस कारण यह यादव राज वश पोय्सल और कालान्तर मे होय्सल नाम से विख्यात हुआ।

आचार्य सुदत्त और जैन सघ की सहायता से पोय् सल ने चालुक्यो के पतन के समय उनके राज्य के दक्षिणी भाग पर अधिकार कर ई० सन् १००४ के आस-पास पोय्सल (होय्सल) राज्य की स्थापना की।[2]

जैन शिलालेख सग्रह भाग १ के लेख स० ५६, पृष्ठ स० १२३-१२६, लेख सख्या ४६४, ४६५ (पृ स ४०२-४११) और जैन शिला लेख सग्रह भाग २ के लेख स० ३०१ (पृष्ठ स० ४७१ से ४८२) मे भी पोय्सल राजवश के अभ्युदय के सम्बन्ध मे लेख सख्या ४५७ से प्राय मिलता-जुलता वर्णन किया गया है किन्तु इनमे सुदत्त मुनि का नामोल्लेख न कर उनके स्थान पर केवल "किसी मुनि" का ही उल्लेख है। इन लेखो मे पोय्सल अथवा होय्सल वश की उत्पत्ति मूलत ब्रह्मा से बताते हुए कहा गया है कि ब्रह्मा से अत्रि, अत्रि से सोम, उनसे पुरुरवा उनसे आयु, आयु से

---

१ जैन शिलालेख सग्रह भाग ३, लेख स० ४५७ पृष्ठ ३०१-३०६

२ The Hoyasalas came to power on the subversion of the Gangas by the Cholas, in 1004 A D—Studies in south Indian Jainism by M S Ramaswami Ayyangar & B Sheshgiri Rao, Chapter VII

नहुष, नहुष से ययाति और ययाति से महाराज यदु उत्पन्न हुए। महाराजा यदु की राजवश परम्परा मे अनेक राजाओ के पश्चात् पोय्सल राज्य सस्थापक यादव सल का जन्म हुआ। सल की राज्य श्री की अभिवृद्धि के सकल्प के साथ एक जैनाचार्य ने मन्त्रो द्वारा शशकपुर की पद्मावती देवी को प्रसन्न करने के लिए साधना प्रारम्भ की। एक दिन वे जैनाचार्य जब साधना मे निरत थे और यादववशी सल उनके पास बैठा हुआ था, उस समय एक चीते ने जैनाचार्य की साधना को भग करने हेतु उन पर आक्रमण किया। उस समय मुनिराज ने अपने चामर पिच्छ की मूठ सल को थमाते हुए उसे कहा—"पोय् सल।" अर्थात्—सल ! इसे मारो। सल ने तत्काल उस चीते को मार दिया। उसी समय से सल का नाम पोय्सल और उसके परम्परागत यादव राजवश का नाम "पोय्सल" लोक प्रसिद्ध हो गया। सल ने अपनी राज्य-पताका पर चीते का चिह्न लगाया।[1] उसी समय वहा अगडि नामक स्थान के चारो ओर दूर दूर तक बसन्त ऋतु हो गई अथवा बसन्त ऋतु का आगमन हो गया। पोयसल ने इसे यक्षी (पद्मावती देवी) का कृपा प्रसाद समझ कर उसका वासन्ति देवी के नाम से पूजन किया। यही पद्मावती देवी सल के समय से ही पोयसल राजवश की कुल देवी के रूप मे विख्यात हुई। वर्तमान काल मे भी वहा वासन्ति देवी का मन्दिर विद्यमान है। हसन ताल्लुके के कोन्नावर नामक ग्राम के केशव मन्दिर मे ई० सन् ११२३ का एक शिलालेख उपलब्ध हुआ है। उस शिलालेख मे इस घटना का विवरण निम्नलिखित रूप मे उपलब्ध है "सल नामक एक यदुवशी राजा सह्याद्रि की ढालू पहाडियो के मार्ग से निकल रहा था उस समय उसने देखा कि एक सिह एक साधनारत जैन मुनि की ओर झपट रहा है। मुनि ने सल के शौर्य की परीक्षा हेतु कहा :—"सल ! इसे मारो।" सल ने तत्काल कटार के एक ही वार से सिह को मार डाला। मुनि ने प्रसन्न हो उसे पोयसल नाम देने के साथ-साथ अपनी पताका पर सिह का चिह्न लगाने का परामर्श भी दिया।"

इस प्रकार कर्णाटक प्रान्त के पश्चिमी घाट की पहाडियो के प्रदेश मे कादुर जिले के मुदेगेरे ताल्लुक मे जो अगडि नामक स्थान है, वही जैन धर्म के शक्तिशाली सरक्षक, परम जिन भक्त एव निष्ठावान जैन धर्मानुयायी पोयसल राजवश का उद्भव स्थान है। श्री लुइस राइस के अभिमतानुसार प्राचीन काल मे यह अगडि नामक स्थान सोसे वूर अथवा शशकपुर के नाम से विख्यात था। यहा यह उल्लेखनीय है

---

[1] (क) Ibid Hn ११६ ई० सन् ११२३ पृष्ठ ३३, Ibid (II) १३२, पृष्ठ ५८, Ibid VBL १७१ ई० सन् ११६० पृष्ठ १०० पर स्पष्ट उल्लेख है—सल ! इसे मारो ! सल ने शेर को एक ही बार मे सदा के लिये सुला दिया, दूसरी बार झपटने का अवसर ही नहीं दिया।

(ख) लेख सख्या ५६ मे उल्लेख है कि सल ने अपने मुकुट पर सिह का चिह्न धारण किया। देखिये—जैन शिलालेख सग्रह भाग १ पृष्ठ १२६

कि अगडि ग्राम वस्तुत पश्चिमी घाट की पहाडियो के ढलान वाले प्रदेश मे अवस्थित है।

पश्चिमी चालुक्य वश के राजा तैल द्वारा जैन धर्म के प्रबल सरक्षक राष्ट्रकूट वश के मलखेड राज्य का अन्त कर दिये जाने के पश्चात् दक्षिण मे जैन सघ के राज्याश्रय विहीन हो जाने के परिणामस्वरूप अनेक प्रकार की कठिनाइयो का साक्षात्कार करने के साथ-साथ अन्य धर्मावलम्बी राजाओ एव अजैन प्रजा मे उग्ररूप से बढती हुई धार्मिक असहिष्णुता के फल स्वरूप जैन सघ का न केवल विकास ही अवरुद्ध हुआ अपितु उसका शनै-शनै ह्रास भी होने लगा था। उस सब से होय्सल राजवश जैसे जैन धर्म के प्रबल समर्थक एव सरक्षक शक्तिशाली राज्य के अभ्युदय से जैन सघ को बडी भारी शान्ति मिली। होय्सल राज्य का बल पाकर जैन सघ का मनोबल बढा और वह पुन द्विगुणित उत्साह एव गति से अभिवृद्ध होने लगा। होय्सल राजवश और जैनसघ—दोनो ही एक दूसरे की अभिवृद्धि को अपनी अभिवृद्धि समझकर परस्पर एक दूसरे की उन्नति-अभिवृद्धि के लिये होय्सल राज्य के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक पूर्णत प्रयत्नशील रहे। होय्सल राजवश के राजाओ ने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एव उसके वर्चस्व की अभिवृद्धि तथा जैन सघ पर किसी प्रकार के सकट के उपस्थित होने पर उस सकट से जैन धर्म की रक्षा के लिये अनेक उल्लेखनीय कार्य किये—इस बात की मूक साक्षी दक्षिणापथ के विभिन्न क्षेत्रो से बहुत बडी सख्या मे उपलब्ध प्राचीन शिलालेख, ताम्र पत्र, वसदिया, मन्दिर और भव्य जिन भवनो के ध्वसावशेष वर्तमान युग मे भी देते है।

जैन धर्म के प्रति प्रगाढ निष्ठावान् जैन धर्म के प्रबल समर्थक एव शक्तिशाली सरक्षक तथा परम जिन भक्त होय्सल राजवश के राजाओ का अथ से इति तक का सक्षिप्त परिचय यहा इस अभिप्राय से दिया जा रहा है कि आज के युग का प्रत्येक जैन धर्मावलम्बी तीर्थंकर कालीन राजाओ का स्मरण दिलाने वाले इन होय्लस राजाओ के धर्म प्रेम से प्रेरणा लेकर दृढ सकल्प के साथ जिन शासन की सेवा का व्रत ले सके।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इस राजवश का होय्सल नाम वस्तुत सुदत्त नामक एक जैनाचार्य का दिया हुआ है। मूलत इस राजवश के राजागण यादव वशी थे। यद्यपि कोई पूर्णत स्पष्ट उल्लेख तो नही मिलता किन्तु सोरव मे दण्डवती नदी के पूर्वीय तट पर अवस्थित अवभृत मण्डप के स्तम्भ पर के शक स० ११३० के लेख स० ४५७ (जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३) की प्रारम्भिक तीसरी पक्ति से दसवी पक्ति मे जो इस प्रकार का उल्लेख है कि कुन्तल देश के वनवासे प्रदेश और जलधि परिवेष्टित अन्यान्य प्रदेशो का स्वामी यदुकुल के सल को कुन्तल देश का वनवास प्रदेश देना चाहता था—उसे देखते हुए अनुमान किया

जाता है कि पोय्सल राजवश का सस्थापक यादव वशी सल मैसूर के शिकारपुर जिले के अन्तर्गत अगडि (शशकपुर) क्षेत्र का सभवत चालुक्यो का अधीनस्थ सामन्त था। होय्सल राज्य का सस्थापक और इस राजवश का प्रथम राजा वही यादव राज सल माना गया है। होय्सल राजा सल और उसके वश के राजाओ का क्रमिक विवरण प्राचीन शिलालेखो से निम्नलिखित रूप मे मिलता है —

१ सल (पोय्सल)—ऊपर उद्धृत किये गये शिलालेखो मे पोय्सल अथवा होय्सल राज्य का सस्थापक और होय्सल राजवश का प्रथम राजा इस सल को माना गया है। सल यादव वशी क्षत्रिय कुमार था और सम्भवत अपनी किशोरावस्था तक चालुक्यो का अधीनस्थ सामन्त था। सल शशकपुर मैसूर के अन्तर्गत जिला कादुर के मुदगेरे (शिकारपुर) तालुक मे अवस्थित वर्तमान अगडि का शासक था। यह स्थान कर्णाटक प्रान्त के पश्चिमी घाट की पहाडियो के प्रदेश मे अवस्थित है। पोय्सल नरेशो ने अपने आपको 'मल परोलगण्ड' अर्थात्—पहाडी सामन्तो मे मुख्य कहा है। इससे भी यह सिद्ध होता है कि होय्सल वशी ये शासक दक्षिण मे मूलत इसी पहाडी प्रदेश के निवासी थे। आचार्य सुदत्त और सघ की सहायता से सल ने शशकपुर मे स्वतन्त्र राज्य की स्थापना की। जैनाचार्य सुदत्त किस सघ के आचार्य थे, इस सम्बन्ध मे कोई प्रामाणिक उल्लेख अद्यावधि उपलब्ध न होने के कारण निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता, तथापि मैसूर, धारवाड, सोरब, कुप्पुतुर, हलसी, आदि क्षेत्रो मे ईसा की तीसरी-चौथी शताब्दी से ही यापनीय सघ का उल्लेखनीय वर्चस्व रहा, इससे यह अनुमान किया जाता है कि सम्भवत आचार्य सुदत्त यापनीय सघ के आचार्य हो।

ऐसा प्रतीत होता है कि शशकपुर प्रदेश मे अपना स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के उपरान्त भी होय्सल राज के सस्थापक राजा सल ने चालुक्यो के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रक्खे और अपने आपको चालुक्य राज का आज्ञानुवर्ती महामण्डलेश्वर अथवा मण्डलेश्वर सामन्त ही मानते रहे। सल की राजधानी शशकपुर (वर्तमान अगडि) मे ही रही। पोय्सल राज्य के सस्थापक राजा सल के सम्बन्ध मे इससे विशेष विवरण अद्यावधि उपलब्ध नही हुआ है।

पोय्सल राज्य के सस्थापक अथवा प्रथम राजा सल का राज्यकाल ई सन् १००४ से १०२२ तक रहा।

२ विनयादित्य प्रथम। इसके सम्बन्ध मे कोई महत्वपूर्ण विवरण उपलब्ध नही होता।

३ नृप काम होय्सल राजवश का राजा हुआ। नृप काम का दूसरा नाम

राचमल पेर्म्मार्वाड भी उपलब्ध होता है।[1] यद्यपि अनेक इतिहास विदो ने पोय्सल राजाओ की नामावलि मे इस वश के तीसरे नरेश नृप काम के नाम का उल्लेख नही किया है किन्तु अर्सिकेरे के लेख स० १४१ और १५७ मे इस वश के तीसरे नरेश विनयादित्य के पिता का नाम नृपकाम उल्लिखित है[2] तथा मञ्जराबाद के लेख स ४३, अर्कल्गुद के लेख स ७६ और[3] मूद्गेरे के लेख स १६ मे शशकपुर पर नृप काम के राज्य के उल्लेख[4] आदि पुरातात्विक साक्ष्य से सिद्ध होता है कि सल के पश्चात् और विनयादित्य से पहले शशकपुर के होय्सल राज्य पर नृप काम का शासन रहा।

इन ऐतिहासिक महत्व के शिलालेखो के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सल के पश्चात् और विनयादित्य से पूर्व पोय्सल राजवश मे नृप काम अथवा काम नायक दूसरा राजा हुआ। डा के ए नीलकण्ठ शास्त्री ने पोय्सल वश के नृप काम नामक राजा का राज्य काल ई सन् १०२२ से १०४७ तक माना है।[5]

४ विनयादित्य (द्वितीय)—नृप काम के पश्चात् उसका पुत्र विनयादित्य होय्लस राज्य का तीसरा नरेश हुआ। विनयादित्य इस वश का बडा प्रतापी राजा था। यह चालुक्य राज विक्रमादित्य-छठे- का वश वर्ती राजा था। इसके गुरु का नाम आचार्य शान्ति देव मुनि था। पार्श्वनाथ वसति के एक स्तम्भ लेख (शक स० १०५० तद्नुसार ई सन् ११२८) के श्लोक स० ५१ के अनुसार मुनि शान्ति देव के कृपा प्रसाद से विनयादित्य लक्ष्मी का स्वामी बना।[6] यह राजा परम जिन भक्त था। इसकी जिन भक्ति और इसके द्वारा किये गये धार्मिक कार्यो की प्रशसा करते हुए गन्धवारण वसति के द्वितीय मण्डप के तृतीय स्तम्भ पर उट्ट कित शक स० १०५० (ई सन् ११२८) के लेख मे बताया गया है कि राजा विनयादित्य ने बहुत बडी सख्या मे तालाबो एव जिन मन्दिरो का निर्माण करवाया। विशाल जिन मन्दिरो के निर्माण हेतु ईटो के लिये जिस-जिस स्थान पर भूमि को खोदा गया, वहा विशाल सरोवर बन गये और जिनेन्द्र प्रभु के मन्दिरो के निर्माणार्थ जिन पर्वतो से पत्थर निकाले गये वे पर्वत आधे हो गये। जिन मार्गो से ईट, चूना और पत्थरो

---

1 रोवर्ट सेवल द्वारा लिखित हिस्टोरिकल इन्स्क्रिप्शन्स आफ सदर्न इण्डिया, पृ ३५१

2 एपिग्राफिका कर्णाटिका जिल्द ५

3 " " ५

4 " " ६

5 दक्षिण भारत का इतिहास, डॉ के ए नीलकण्ठ शास्त्री, हिन्दी अनुवाद डॉ वीरेन्द्र वर्मा, पृष्ठ १६१

6 एपिग्राफिका कर्णाटिका Vol II (2nd एडीशन) पृ ५३ पक्ति, १४६-१४८
जैन शिलालेख सग्रह, भाग १ लेख स ५४ (६७), पृष्ठ ११०

से भरी गाडिया निकली वे सब मार्ग भाराक्रान्त गाडियो के निरन्तर आवागमन के परिणामस्वरूप गहन घाटियो के रूप मे परिणत हो गये ।[1]

विनयादित्य ने मन्तावर मे एक नहर पहुचाई और दूसरी बार जब वह मन्तावर के पार्श्वस्थ पर्वत पर स्थित वसदि मे गया तो वहा के निवासियो की प्रार्थना पर पास के ग्राम मे भी वसदि का और वसदि के आस-पास भवनो का निर्माण करवा कर ग्राम के करो का वसदि के लिये दान किया एव उस वसदि का नाम ऋषि हल्लि रखा ।[2]

विनयादित्य ने अपने १६ वर्ष के शासन काल मे जैन सघ की श्रीवृद्धि के साथ-साथ होय्सल राज्य की सीमाओ का भी दूर-दूर तक विस्तार किया । इसकी महारानी—केलेयब्बरसी भी परम जिन भक्त और बडी ही श्रद्धानिष्ठ एव दानी महिला थी । केलेयब्बरसी ने समय पर एक पुत्र को जन्म दिया । उसका नाम एरेयग रखा गया । विनयादित्य के शासन काल मे जैन धर्म खूब फला-फूला ।

अगडि से प्राप्त लेख स० २०० के उल्लेखानुसार (जैन शिला लेख भाग २ पृष्ठ २४५–४६) राजा विनयादित्य के गुरु शान्ति देव ने अगडि मे शक स ६८४ (ई सन् १०६२) की आषाढी पूर्णिमा के दिन सन्यस्त–सस्तारक (अन शन) अगीकार कर श्रावण के दिन स्वर्गारोहण किया । राजा और नगर के व्यापारियो ने राष्ट्रसन्त अपने गुरु शान्ति देव का स्मारक बनवाया ।

होय्सल राजवश के तीसरे राजा इस विनयादित्य का राज्य ई सन् १०४७ से १०६३ तक रहा ।[3] इसके शासन काल के अनेक शिला लेख उपलब्ध हुए है ।

५—एरेयग—यह होय्सल राजवश का चौथा राजा हुआ । विनयादित्य के पश्चात् ई सन् १०६३ मे यह शशकपुर के राज सिहासन पर बैठा । एरेयग की पटरानी का नाम एचल देवी था । ये दोनो राज दम्पति परम जिन भक्त थे । इन दोनो ने जैन सघ की श्रीवृद्धि एव अभिवृद्धि के लिये अनेक कार्य किये ।

श्रवण बेलगोल—अक्कना वसदि के एक शिलालेख (स ४४४ [३२७])[4] मे एरेयग को अप्रतिम योद्धा और चालुक्य राज का दक्षिण भुजदण्ड बताया गया है । भण्डार वसदि (श्रवण बेलगोल) के शिलालेख सख्या ४८१ (३४६) के उल्लेखानुसार राजा एरेयग स्वय बडा विद्वान् होने के साथ-साथ विद्वानो की विद्वत्ता

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह भाग १, लेख स ५३ (१४३) पृ ८८

[2] एम ए आर (मैसोर आर्कोलोजिकल रिपोर्ट For १६३२ P/—१७२–१७४

[3] दक्षिण भारत का इतिहास, नील कण्ठ शास्त्री, पृष्ठ १६६

[4] एपि ग्राफिका कर्णाटिका, भाग २, पृष्ठ २६८–२७३ और पृष्ठ ५०१

की परख करने मे बडा ही निपुण और अपने समय का अप्रतिम योद्धा था। इस शिलालेख के उल्लेखानुसार इसने धारा नगरी पर आक्रमण कर मालव राज को पराजित किया, चोलराज की शक्तिशाली सेना को युद्ध मे पराजित एव छिन्न-भिन्न कर रणांगण से पलायन करने के लिये विवश कर दिया। चक्र गोट्ट को नष्ट-भ्रष्ट करने के पश्चात् कलिग राज का समूलोच्छेद कर डाला।[1] एरेयग ने होय्सल राज्य की सीमाओ का उल्लेखनीय विस्तार किया। इसने चालुक्य राज के लिये अनेक युद्ध किये और मालव, कलिग आदि राज्य शक्तियो को रणभूमि मे परास्त किया। हले बेल्गोल की भग्नावशेष बसदि से प्राप्त शिलालेख स ५६८ के उल्लेखानुसार शक स० १०१५ (ई सन् १०९३) के आस-पास सम्पूर्ण गग मण्डल पर होय्सल राजवश का अधिकार था। इस शिलालेख मे इस बात का भी उल्लेख है कि होय्सल राज एरेयग के धर्मगुरु आचार्य गोपनन्दी पण्डित देव बडे ही विचक्षण प्रतिभाशाली महान् वादी, महान् धर्म प्रभावक और लोकप्रिय जैनाचार्य थे। कोण्ड कुन्दान्वय मूल सघ और देशी गण के इन आचार्य गोपनन्दी ने अपने समकालीन-अजैन विद्वानो को शास्त्रार्थ मे पराजित कर होय्सल राज की सहायता से जैन धर्म को पुन गग राजवश के शासन काल के समान ही सर्वोच्च प्रतिष्ठित पद पर प्रतिष्ठापित किया। एरेयग ने अपने इन गुरु को कोबप्पु पहाडी तीर्थ की बसदियो के पुनरुद्धार, मन्दिरो की सेवापूजा, अन्न-वस्त्र दान आदि के लिये राचन हल्ल और बेल्गोल १२ का दान दिया।[2] यह शिलालेख होय्सल महाराजा एरेयग के राज्यारोहण के ३० वे वर्ष का है।

एरेयग ने अपने समय की प्रमुख पडोसी राजशक्तियो पर अपने अद्भुत पौरुष-पराक्रम की युद्धो मे ऐसी गहरी छाप जमाई कि इनका शेष शासन काल बडी शान्ति के साथ व्यतीत हुआ। एरेयग का शासन काल ई सन् १०६३ से ११०० ई तक रहा। इसके शासन काल मे जैन सघ खूब फला-फूला और जैन धर्म की दक्षिण मे उल्लेखनीय उन्नति हुई। राजा एरेयग अपने अनुपम शौर्य के कारण 'त्रिभुवनमल्ल' के विरुद से भी विख्यात हुआ।

एरेयग की पटरानी एचल देवी ने क्रमश बल्लाल, विष्णु और उदयादित्य नामक तीन पुत्रो को जन्म दिया। होय्सल वश मे महाराज एरेयग ही प्रथम राजा था, जिसने 'वीर गग' यह उपाधि धारण की, जिसे उत्तरवर्ती प्राय सभी होय्सल राजाओ ने बडी शान के साथ धारण किया।

---

[1] एपिग्राफिका कर्णाटिका, भाग २, पृष्ठ ५१९

[2] वही, पृष्ठ ५४८-५४९, इस लेख मे गोपनन्दि को चतुर्मुख देव का शिष्य बताया गया है। गवर्नमेन्ट ओरियन्टल मेनुस्क्रिप्ट्स लायब्रेरी, मद्रास यूनिवर्सिटी मे प्राप्त "जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक हस्तलिखित ग्रन्थ के २६२ वें श्लोक मे एक गोपनन्दि भट्टारक का नाम उल्लिखित है, जो भट्टारक जयकीर्ति के शिष्य थे।

से भरी गाडिया निकली वे सब मार्ग भाराक्रान्त गाडियो के निरन्तर आवागमन के परिणामस्वरूप गहन घाटियो के रूप मे परिणत हो गये ।[1]

विनयादित्य ने मन्तावर मे एक नहर पहुचाई और दूसरी बार जब वह मन्तावर के पार्श्वस्थ पर्वत पर स्थित वसदि मे गया तो वहा के निवासियो की प्रार्थना पर पास के ग्राम मे भी वसदि का और वसदि के आस-पास भवनो का निर्माण करवा कर ग्राम के करो का वसदि के लिये दान किया एव उस वसदि का नाम ऋषि हल्लि रखा ।[2]

विनयादित्य ने अपने १६ वर्ष के शासन काल मे जैन सघ की श्रीवृद्धि के साथ-साथ होय्सल राज्य की सीमाओ का भी दूर-दूर तक विस्तार किया । इसकी महारानी—केलेयव्वरसी भी परम जिन भक्त और बडी ही श्रद्धानिष्ठ एव दानी महिला थी । केलेयव्वरसी ने समय पर एक पुत्र को जन्म दिया । उसका नाम एरेयग रखा गया । विनयादित्य के शासन काल मे जैन धर्म खूब फला-फूला ।

अगडि से प्राप्त लेख स० २०० के उल्लेखानुसार (जैन शिला लेख भाग २ पृष्ठ २४५-४६) राजा विनयादित्य के गुरु शान्ति देव ने अगडि मे शक स ९८४ (ई सन् १०६२) की आषाढी पूर्णिमा के दिन सन्यस्त-सस्तारक (अन शन) अगीकार कर श्रावण के दिन स्वर्गारोहण किया । राजा और नगर के व्यापारियो ने राष्ट्रसन्त अपने गुरु शान्ति देव का स्मारक बनवाया ।

होय्सल राजवश के तीसरे राजा इस विनयादित्य का राज्य ई सन् १०४७ से १०६३ तक रहा ।[3] इसके शासन काल के अनेक शिला लेख उपलब्ध हुए है ।

५—एरेयग—यह होय्सल राजवश का चौथा राजा हुआ । विनयादित्य के पश्चात् ई सन् १०६३ मे यह शशकपुर के राज सिहासन पर बैठा । एरेयग की पटरानी का नाम एचल देवी था । ये दोनो राज दम्पति परम जिन भक्त थे । इन दोनो ने जैन सघ की श्रीवृद्धि एव अभिवृद्धि के लिये अनेक कार्य किये ।

श्रवण बेलगोल—अक्कना वसदि के एक शिलालेख (स ४४४ [३२७])[4] मे एरेयग को अप्रतिम योद्धा और चालुक्य राज का दक्षिण भुजदण्ड बताया गया है । भण्डार वसदि (श्रवण बेलगोल) के शिलालेख सख्या ४८१ (३४९) के उल्लेखानुसार राजा एरेयग स्वय बडा विद्वान् होने के साथ-साथ विद्वानो की विद्वत्ता

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह भाग १, लेख स ५३ (१४३) पृ ८८
[2] एम ए आर (मैसोर आर्कोलोजिकल रिपोर्ट For १९३२ P/—१७२-१७४
[3] दक्षिण भारत का इतिहास, नील कण्ठ शास्त्री, पृष्ठ १९९
[4] एपि ग्राफिका कर्णाटिका, भाग २, पृष्ठ २६८-२७३ और पृष्ठ ५०१

की परख करने मे बडा ही निपुण और अपने समय का अप्रतिम योद्धा था। इस शिलालेख के उल्लेखानुसार इसने धारा नगरी पर आक्रमण कर मालव राज को पराजित किया, चोलराज की शक्तिशाली सेना को युद्ध मे पराजित एव छिन्न-भिन्न कर रणागण से पलायन करने के लिये विवश कर दिया। चक्र गोट्ट को नष्ट-भ्रष्ट करने के पश्चात् कलिग राज का समूलोच्छेद कर डाला।[1] एरेयग ने होय्सल राज्य की सीमाओ का उल्लेखनीय विस्तार किया। इसने चालुक्य राज के लिये अनेक युद्ध किये और मालव, कलिग आदि राज्य शक्तियो को रणभूमि मे परास्त किया। हुले बेल्गोल की भग्नावशेष वसदि से प्राप्त शिलालेख स ५६८ के उल्लेखानुसार शक स० १०१५ (ई सन् १०९३) के आस-पास सम्पूर्ण गग मण्डल पर होय्सल राजवश का अधिकार था। इस शिलालेख मे इस बात का भी उल्लेख है कि होय्सल राज एरेयग के धर्मगुरु आचार्य गोपनन्दी पण्डित देव बडे ही विचक्षण प्रतिभाशाली महान् वादी, महान् धर्म प्रभावक और लोकप्रिय जैनाचार्य थे। कोण्ड कुन्दान्वय मूल सघ और देशी गण के इन आचार्य गोपनन्दी ने अपने समकालीन–अजैन विद्वानो को शास्त्रार्थ मे पराजित कर होय्सल राज की सहायता से जैन धर्म को पुन गग राजवश के शासन काल के समान ही सर्वोच्च प्रतिष्ठित पद पर प्रतिष्ठापित किया। एरेयग ने अपने इन गुरु को कोबप्पु पहाडी तीर्थ की वसदियो के पुनरुद्धार, मन्दिरो की सेवापूजा, अन्न-वस्त्र दान आदि के लिये राचन हल्ल और बेल्गोल १२ का दान दिया।[2] यह शिलालेख होय्सल महाराजा एरेयग के राज्यारोहण के ३० वे वर्ष का है।

एरेयग ने अपने समय की प्रमुख पडोसी राजशक्तियो पर अपने अद्भुत पौरुष-पराक्रम की युद्धो मे ऐसी गहरी छाप जमाई कि इनका शेष शासन काल बडी शान्ति के साथ व्यतीत हुआ। एरेयग का शासन काल ई सन् १०६३ से ११०० ई तक रहा। इसके शासन काल मे जैन सघ खूब फला-फूला और जैन धर्म की दक्षिण मे उल्लेखनीय उन्नति हुई। राजा एरेयग अपने अनुपम शौर्य के कारण 'त्रिभुवन-मल्ल' के विरुद से भी विख्यात हुआ।

एरेयग की पटरानी एचल देवी ने क्रमश वल्लाल, विष्णु और उदयादित्य नामक तीन पुत्रो को जन्म दिया। होय्सल वश मे महाराज एरेयग ही प्रथम राजा था, जिसने 'वीर गग' यह उपाधि धारण की, जिसे उत्तरवर्ती प्राय सभी होय्सल राजाओ ने बडी शान के साथ धारण किया।

---

[1] एपिग्राफिका कर्णाटिका, भाग २, पृष्ठ ५१६

[2] वही, पृष्ठ ५४८–५४९, इस लेख मे गोपनन्दि को चतुर्मुख देव का शिष्य बताया गया है। गवर्नमेन्ट ओरियन्टल मेनुस्क्रिप्ट्स लायब्रेरी, मद्रास यूनिवर्सिटी मे प्राप्त "जैनाचार्य परम्परा महिमा" नामक हस्तलिखित ग्रन्थ के २६२ वें श्लोक मे एक गोपनन्दि भट्टारक का नाम उल्लिखित है, जो भट्टारक जयकीर्ति के शिष्य थे।

६—बल्लाल प्रथम । होय्सल राजवश का पाचवा राजा बल्लाल प्रथम हुआ। अपने पिता एरेयग की मृत्यु के पश्चात् बल्लाल ई सन् ११०० मे राज-सिहासन पर बैठा और इसने ११९० ई तक राज्य किया।[1]

सिद्धरवसदि के स्तम्भ लेख मे उल्लेख है कि राजा बल्लाल अपनी विजय वाहिनी के साथ जिस समय शत्रुओ को परास्त करते हुए विजय अभियान पर अग्र-सर हो रहे थे, उस समय उसको अकस्मात् किसी भीषण व्याधि ने आक्रान्त कर लिया और वे मरणासन्न हो गये, चारुकीर्ति भट्टारक देव ने औषधोपचार से उनकी भीषण व्याधि का निवारण कर बल्लाल को मृत्यु के मुख से बचा उसके जीवन की रक्षा की।[2] बल्लाल प्रथम ने अपनी राजधानी शशपुरी (शशकपुर-वर्तमान अगडि) से बेलूर मे स्थानान्तरित की। तदनन्तर बल्लाल ने समुद्र (दोर समुद्र) को होय्सल राज्य की राजधानी बनाया।

७ विष्णुवर्द्धन। बल्लाल के अल्पकालीन शासन के अनन्तर उसका लघु सहोदर विष्णुवर्द्धन ई सन् १११० मे होय्सल राज्य के सिंहासन पर बैठा। इसने, इसकी पटरानी शान्तल देवी ने और इसके गगराज, बोप्प, पुणिस, बलदेवण्ण, मरियाने, भरत (देखो लेख स० ११५), ऐच और विष्णु इन आठ जैन सेनापतियो एव सभी वर्गो के प्रजाजनो ने जैन धर्म की सर्वतोमुखी अभिवृद्धि मे और जैन धर्म के वर्चस्व को सर्वोच्च प्रतिष्ठा के पद पर प्रतिष्ठापित करने के लिए जो अपूर्व योगदान दिया, एतद्विषयक प्राचीन अभिलेखो से जो विवरण प्राप्त होता है, उसे पढते समय तीर्थंकर कालीन महाराजा चेटक, श्रेणिक, महारानी चेलना, आदर्श जैन सेनापति वरुण नाग नटुआ, जीर्ण श्रेष्ठि आदि की परमाह्लाद प्रदायिनी स्मृति हृदय पटल पर हठात् उभर आती है।

वस्तुत विष्णुवर्द्धन होय्सल राजवश के सभी राजाओ मे सर्वाधिक प्रतापी, महान् योद्धा, साहसी, शक्तिशाली और लोकप्रिय नरेश था। इसने होय्सल राज्य की अभिवृद्धि एव प्रतिष्ठा के साथ-साथ जैन धर्म की प्रतिष्ठा मे भी उल्लेखनीय

---

[1] बी ए सेलेटोर ने इसका शासन काल ११०० से ११०६ ही माना है। देखें मिडियेवल जैनिज्म पृष्ठ ७८

[2] एपिग्राफिका कर्णाटिका, भाग २, पृष्ठ ४७८
तच्छिष्यो दक्षिणा चार्यान्वियाम्बर विभाकर ।
चारुकीर्ति मुनीन्द्रोऽभूत् पण्डिताचार्य सज्ञक ।।२८८।।
स एवेत प्रसिद्धोऽभूत्कलिकाल गणेश्वर ।
बल्लाल राय तत्प्राणरक्षक सुप्रसिद्धिभाक् ।।२८६।।
जैनाचार्य परम्परा महिमा, मेकेन्जी का सग्रह, मद्रास (अप्रकाशित)
जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३, लेख सख्या ६७३

अभिवृद्धि की। विष्णुवर्द्धन ने सम्पूर्ण कर्णाटक प्रदेश को चोल राजवश के आधिपत्य से विमुक्त कर उस पर होय्सल राजवश का आधिपत्य स्थापित किया।

गन्धवारण वसदि के द्वितीय मण्डप के तृतीय स्तम्भ पर उट्टकित शक स १०५० के लेख स ५३ (१४३) और इसी वसदि के पूर्व की ओर के लेख स ५६ (१३२–शक स १०४५) और शक स १०८१ के लेख सख्या १३८ (३४९) मे विष्णुवर्द्धन के शौर्य और प्रताप का वर्णन करते हुए बताया गया है कि इसने युद्धो मे अनेक माण्डलिक राजाओ को पराजित कर होय्सल राज्य की सीमाओ का बहुत दूर-दूर तक विस्तार किया। चक्रगोट्ट, तलकाडु, नीलगिरि, कोगु, नगलि, कोलाल, तेरेयूरु, कोयतूरु, कोगलिय, उच्चगि, तलेयूरु, पोम्बुर्च, बन्धासुर, चौकवलेय, येन्दिबु, मोरलाग आदि अनेक दुर्भेद्य दुर्गो पर अपना अधिकार कर उस समय की बडी से बडी राजशक्तियो को हतप्रभ–एव आश्चर्याभिभूत कर दिया।[1] रणनीति विशारद विष्णुवर्द्धन ने कोयतूर, कोग, राय, रायपुर, काञ्चीपुर, वनवास, तलवनपुर, केलपाल एवं अगरन के राजाओ और चोल सामन्त अदियम एव पल्लव नरसिह वर्मा को युद्ध मे पराजित कर उन राज्यो पर अपनी विजय वैजयन्ती फहराई।[2] उस समय की बडी राज शक्तिया विष्णुवर्द्धन का लोहा मानती थी। तलकाडु, कोग, नगलि, गगवाडी, बोलम्बवाडी, मासवाडी, हुलिगेरे, हलसिगे, वनवसे, हानुगल, अग, बग, कुभल, मध्यदेश, काञ्ची, विनीत और मदुरा पर अपनी विजय-पताका फहरा उन सब पर शासन किया।[3]

इतना सब कुछ होते हुए भी लेख स ३१८ (शक स १०६४ ई सन् ११४२) मे विष्णुवर्द्धन के लिये महा मण्डलेश्वर[4] शब्द का प्रयोग किया गया है तथा शक स १०५० के लेख सख्या ४९७ मे [5] इनको चालुक्य राज त्रिभुवन मल्ल का पाद पद्मोपजीवी महा मण्डलेश्वर बताया गया है, इससे अनुमान किया जाता है कि उस समय सम्पूर्ण दक्षिणापथ मे अपने साहस-शौर्य और युद्ध कौशल की धाक जमा देने और शक्ति-शाली स्वतन्त्र राजा होते हुए भी होय्सल राज विष्णुवर्द्धन ने चालुक्यो के साथ पीढियो से चले आ रहे मधुर सम्बन्ध को उसने विक्रमादित्य षष्ठम के राज्यकाल १०७६–११२६ ई तक तो यथावत् बनाये रखकर अपने आपको चालुक्य साम्राज्य का सामन्त कहलवाना ही समुचित समझा। पर चालुक्य राज सोमेश्वर तृतीय (११२६–११३८ ई) के शासनकाल मे उसने

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, पृष्ठ ८८-९० और १२३ से १२६
[2] वही-लेख स १३८ (३४९) पृष्ठ २७८-२८१
[3] जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख स ३०१, पृष्ठ ४७१-४८२
[4] जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३ पृष्ठ ४२-४५
[5] जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, पृष्ठ ४१३-४१७

चालुक्य राज से सम्बन्ध विच्छेद कर अपने आपको स्वतन्त्र घोषित किया और नोलम्बवाडी, वनवासी एव हगल क्षेत्रो पर अधिकार कर लिया। राज्य विस्तार के लिये विष्णुवर्द्धन का कल्याणी के चालुक्यो के साथ यह सघर्ष सोमेश्वर के दोनो पुत्रो–पेरमा जगदेक मल्ल (ई सन् ११३८–५०) एव तैल तृतीय (ई सन् ११५०–६३) के साथ मे चलता रहा। उसने ई सन् ११४६ मे होय्सल राज्य की राजधानी द्वार समुद्र मे अपने जयसिंह नामक एक पुत्र को रखा और स्वय वकापुर (धारवाड) मे रहने लगा। ई सन् ११४७ के लेख स ३२७ मे विष्णुवर्धन के लिये "महा मण्डलेश्वर" के साथ-साथ "मलय चक्रवर्ती" का विशेषरण प्रयुक्त करते हुए उसका राज्य सेतु (सेतुबन्ध रामेश्वर) से विन्ध्याचल तक बताया गया है। इससे स्पष्ट है कि वह विशाल राज्य का स्वामी और शक्तिशाली स्वतन्त्र राजा था।[1]

श्री बी एल राइस के अभिमतानुसार विष्णुवर्द्धन ने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया था।[2]

इण्डियन एन्टिक्वेरी वोल्यूम २ (सन् १८७३) के पृष्ठ स १२६ से १३३ पर प्रकाशित केप्टिन मेकेन्जी के श्रवण बेल्गोल सम्बन्धी लेख मे होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन के धर्म परिवर्तन के सम्बन्ध मे जो विवरण दिया गया है, वह इस प्रकार है —

"शक स ७७७ (ई सन् ८५५) मे यह (श्रवण बेलगोल के चारो ओर का) प्रदेश होय्सल वशी क्षत्रिय राजाओ के अधिकार मे आ गया। आदित्य नामक होय्सल राजा ने गोम्मटेश के दर्शन कर इस तीर्थ के प्रबन्ध के लिये चामुण्डराय द्वारा प्रदत्त गावो के अतिरिक्त ६६,००० पैगोडा की वार्षिक आय वाले गॉव दान मे दिये और सोमगन्धाचार्य को गोमटेश की पूजा और वहा के सब प्रकार के प्रबन्ध के लिये भट्टारक पद पर आसीन किया। होय्सल नरेश आदित्य के पश्चात् उसके उत्तराधिकारी अमर कीर्ति बल्लाल ने ५००० पैगोडा प्रतिवर्ष की आय के ग्राम गोम्मटेश की अर्चा-पूजा एव आवश्यक प्रबन्ध के लिए दान मे दिये और त्रिदाम विबुधानन्दाचार्य को इसके प्रबन्ध के लिये मठ का मठाधीश भट्टारक नियुक्त किया। होय्सल नरेश अमर कीर्ति बल्लाल देव द्वारा की गई यह व्यवस्था ४६ वर्ष तक सुचारू रूप से चलती रही। तत्पश्चात् होय्सल महाराजा अगराज ने प्रभाचन्द्र सिद्धाताचार्य को मठाधीश भट्टारक नियुक्त कर ५६ वर्षो तक उनके द्वारा तीर्थ का समुचित प्रबन्ध और देव-पूजा आदि व्यवस्था को सुचारू रूपेण चलवाया। तदनन्तर होय्सल नरेश प्रताप बल्लाल ने गुणचन्द्राचार्य को मठाधीश बना ६४ वर्षो तक उनके तत्वावधान

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह भाग ३, लेख सख्या ३२७, पृ ७४–७८

[2] राइस मैसूर एण्ड कुर्ग, पृष्ठ ६६

मे इस तीर्थ का पूजा-अर्चा आदि सभी भाति का प्रबन्ध सम्यक् रीत्या सम्पन्न करवाया ।

उदयादित्य वल्लाल, वीर वल्लाल और गगराय वल्लाल—इन तीन राजाओ मे से प्रत्येक ने गोम्मटेश तीर्थ की अपने शासनारूढ होने से पूर्व की आय व्यवस्था को यथावत् अक्षुण्ण रखते हुए अपनी ओर से पाच-पाच हजार पैंगोडा की आय वाले गाव गोम्मटेश को दान स्वरूप अभिनव रूपेण अर्पित किये ।

तदनन्तर होय्सल नृप बेट्ट वर्द्धन वल्लाल देव ने गोम्मटेश तीर्थ की व्यवस्था के लिये ५०००० (पचास हजार) पैंगोडा प्रतिवर्ष की आय के गावो का दान किया और शुभचन्द्राचार्य को इस तीर्थ की व्यवस्था की देख-रेख हेतु भट्टारक पद पर मठाधीश नियुक्त किया । यह व्यवस्था ३१ वर्षो तक सुचारु रूप से चलती रही ।

आगे चलकर शक स १०३६ (तदनुसार ई सन् १११७) मे इस होय्सल नरेश बेट्ट वर्द्धन ने अपने विश्वासपात्र परामर्श दाताओ (मन्त्रियो) के परामर्श और रामानुजाचार्य की अकाट्य युक्तियो से 'तप्त मुद्रा' (वैष्णव सम्प्रदाय का चिह्न) धारण कर लिया और इस प्रकार अपने वश परम्परागत धर्म जैन धर्म का परित्याग कर वैष्णव धर्मावलम्बी बन गया । बेट्ट वर्द्धन ने न केवल धर्म-परिवर्तन ही किया अपितु धर्म परिवर्तन के साथ-साथ उसने अपना नाम भी बदल कर बेट्ट वर्द्धन से विष्णुवर्द्धन रख लिया । वैष्णव धर्म अगीकार करते ही उसके अन्तर्मन मे जैन धर्म के प्रति तीव्र घृणा उत्पन्न हो गई और इसके फलस्वरूप उसने शक ७६० पूर्व मे बने जैन मन्दिरो, जैन वसदियो और जैन धर्मस्थानो को धूलिसात् करवा दिया और दिये गये सभी प्रकार के दान रद्द कर दान से दिये गये ग्राम भूमि आदि अग्रहारो को छीन लिया । वैष्णव धर्मावलम्बी बनने के पश्चात् विष्णुवर्द्धन ने वेलूर मे चेन्निग नारायण, तलकाडु मे कीर्तिनारायण, विजयपुर मे विजयनारायण, गदग मे वीरनारायण और हरदन हल्ली मे लक्ष्मी नारायण का मन्दिर—इसप्रकार पचनारायणो के मन्दिरो का निर्माण करवाकर पूर्व मे जैन वसति एव मन्दिरो को जितने भी दान दिये गये थे वे सब छीन कर इन पच नारायणो के मन्दिरो को समर्पित कर दिये ।

इस प्रकार ध्वस्त करवाये गये जैन मन्दिरो के पत्थरो से विष्णुवर्द्धन ने टोन्डा मिरु मे तिरुमल सागर नामक एक विशाल सरोवर का और उसके नीचे—तिरुमल सागर सत्रागार का निर्माण करवा कर उस सत्रागार मे वैष्णव सम्प्रदाय के साधुओ को प्रतिदिन भोजन-दान की व्यवस्था की ।

इस प्रकार विष्णुवर्द्धन द्वारा जैन वसतियो और मन्दिरो को ध्वस्त किये जाने का अनवरत कार्यक्रम उत्तरोत्तर वढता ही गया तो धरती इस देव द्रोह के

इस पाप को सहन नही कर सकी। बेल्लूर ताल्लुक के अडुगुरु के पास धरित्री फट गई। धरती ने अपना मुख खोल कर उस ताल्लुक के अनेक ग्रामो को निगलना प्रारम्भ कर दिया। धरा का वह विशाल गहरा विवर उत्तरोत्तर बढता ही गया और बेल्लूर ताल्लुक के बहुसख्यक ग्राम रसातल मे धसने लगे। जब इस महाविनाशकारी खण्ड प्रलय के समाचार विष्णुवर्द्धन के पास पहुचे तो वह अत्यन्त दुखित हुआ। उसने वयोवृद्ध विज्ञो, विद्वानो और भू विशेषज्ञो को बुलाकर इस प्रलय का कारण पूछा। सभी विज्ञो ने यही कहा कि जिन मन्दिरो को नष्ट करवाने के महापाप के परिणामस्वरूप ही प्रकृति रुष्ट हो गई है। राजा ने सभी वर्गों, सभी जातियो एव धर्मों के प्रजाजनो को आमन्त्रित कर शान्ति पाठ करवाये। मान्त्रिको से मन्त्र जाप और तान्त्रिको से तन्त्रादि करवाये। किन्तु वे सब उपाय निरर्थक सिद्ध हुए। पृथ्वी का वह विवर उत्तरोत्तर बढता ही गया और प्रकृति का वह ताण्डव नृत्य अहर्निश उग्र से उग्रतर होता गया। जैनेतर सभी धर्मों को मानने वाले प्रजाजनो एव विज्ञो ने राजा विष्णुवर्द्धन से निवेदन किया कि किसी महान् जैनाचार्य की शरण मे गये बिना प्रकृति की यह प्रलयकर लीला शान्त होने वाली नही है।

महा विनाश से बचने का अन्य कोई उपाय न देखकर राजा विष्णुवर्द्धन न अन्ततोगत्वा किसी जैनाचार्य की शरण मे जाने का निश्चय किया। अपने गुरु रामानुजाचार्य और अनेक प्रमुख प्रजाजनो के साथ श्रवण बेलगोल के भट्टारक शुभ चन्द्राचार्य की सेवा मे उपस्थित हो विष्णुवर्द्धन ने उनसे बडे अनुनय-विनयपूर्ण स्वर मे प्रार्थना की—"करुणा सिन्धो! आचार्य प्रवर! इस अनभ्र वज्रपात तुल्य प्राकृतिक प्रकोप से हमारी रक्षा कीजिये। महात्मन्! हमने सभी प्रकार के उपाय कर लिये है। सब ओर से पूर्णत निराश होकर हम अब आपकी सेवा मे उपस्थित हुए है। दया कर इस सकट से हमारे धन जन परिजन की रक्षा कीजिये। हम सभी प्रमुखजन अपने सभी विरुद आपके चरणो मे समर्पित करते है। गोम्मटेश्वर तीर्थ के प्रबन्ध के लिये १२००० पैगोडा प्रतिवर्ष की आय वाले गाव भी दे देंगे। जिनमन्दिरो के छीन लिये गये दानादि पुन पूर्ववत् प्रचलित कर दिये जायेगे। जिन मन्दिरो की पूजा मे किसी ओर से किसी प्रकार का व्यवधान नही होने दिया जायगा और इस अभिप्राय के शिलानुशासन स्थान-स्थान पर उट्टकित करवा दिये जावेगे।"

राजा विष्णु वर्द्धन एव प्रजाजनो द्वारा की गई अनुनय-विनय से द्रवित हो भट्टारक शुभ चन्द्राचार्य ने १०८ श्वेत कूष्माण्ड मगवाये और इन्हे अभिमन्त्रित एव तन्त्रो से आपूरित कर राजा को देते हुए कहा—"राजन्! प्रतिदिन इनमे से एक-एक कूष्माण्ड को उस विवर मे प्रक्षिप्त करते रहना। इसके प्रभाव से वह विवर स्वत भरता जाएगा।"

राजा और प्रजाजनो ने भट्टारक शुभचन्द्राचार्य के आदेश का अक्षरश. पालन किया। धरित्री का वह पाताल तुल्य गहन एव विशाल विवर प्रतिदिन अप्रत्याशित रूप से भरते-भरते प्राय पूर्णरूपेण भर गया। थोडा-सा विवर उस आश्चर्यकारी घटना की स्मृति को बनाये रखने के लिये अवशिष्ट रहा, जो आज भी स्पष्टत दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार भट्टारक शुभ चन्द्राचार्य के कृपा प्रसाद से कर्णाटक के राजा एव प्रजा को महा विनाश से मुक्ति मिली। राजा और प्रजा ने सर्व सम्मति से शुभ चन्द्राचार्य को चारु कीर्ति पण्डिताचार्य की उपाधि से अलकृत कर श्रवण वेल गोल और मेलु कोट मे इस आशय के शिलानुशासन उट्टकित करवाये कि वहा की १२०० पगौडा की भूराजस्व से होने वाली आय श्रवण वेलगोल तीर्थ को अर्चा-पूजा आदि के लिये सदा मिलती रहेगी। यदि जैन धर्मावलम्बी किन्ही परिस्थितियो के कारण गोम्मटेश की पूजा न कर सके तो राज्य की प्रजा के प्रत्येक घर से एक फन्नम चन्दे के रूप मे एकत्रित कर पूजा की जायगी।

इस विवरण को पढने पर प्रत्येक विज्ञ इतिहास प्रेमी इसी निष्कर्ष पर पहुचेगा कि यह समग्र विवरण विभिन्न काल की, विभिन्न व्यक्तियो से सम्बन्धित किवदन्तियो का एक सकलन मात्र है। इस सम्पूर्ण विवरण मे ऐतिहासिकता का लवलेश भी दृष्टिगोचर नही होता। इसमे होय्सल राजाओ की जो नामावली और क्रम दिया गया है वह भी इतिहास सम्मत नामावली एव क्रम से नितान्त भिन्न और ऐतिहासिक तथ्यो से परे है।

तथ्य यह है कि महासन्त रामानुजाचार्य, उनके विरुद्ध चोलराज द्वारा रचे गये षड्यन्त्र से बचकर ई सन् १११६ मे होय्सल राज्य मे विष्णुवर्द्धन के पास पहुचे। विष्णुवर्द्धन ने उनकी रक्षा के सब प्रकार के प्रबन्ध कर उन्हे अपने यहा बडे सम्मान के साथ रखा।[१] रामानुजाचार्य ने कर्णाटक और आन्ध्रप्रदेश मे एक नवीन धर्मक्रान्ति का सूत्रपात किया था और उन दिनो रामानुजाचार्य के वैष्णव सम्प्रदाय का प्रचार-प्रसार बढ रहा था। विष्णुवर्द्धन के यहा रामानुजाचार्य के ठहरने का

---

१ King Vishnuwardhan's reign was also important because an event which had a profound effect on the whole history of Jainism in Karnataka and Southern India Thisw as the convertion from Janism into Vaishnavism under the influence of the Great Acharya Ramanuja, who to escape persecution at the hands of a Kola King, had taken refuge in the Hoysal Country (Shri) Rice placed this event before A D 1116 and attributed the series of extensive conquests to the new religion, which king Vishnu had embraced

कारण चारो ओर यह प्रचारित किया गया कि होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन ने जैन धर्म का परित्याग कर वैष्णव धर्म अगीकार कर लिया है। इस पर से अनेक प्रकार कि किंवदन्तिया न केवल दक्षिणापथ मे अपितु उत्तरापथ मे भी फैल गई और कालान्तर मे उन किंवदन्तियो को साहित्य मे भी स्थान दे दिया गया। वस्तुत शिलालेखादि के रूप मे आज तक एक भी ऐसा ठोस प्रमाण उपलब्ध नही हुआ है, जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि होयसल् राजा विष्णुवर्द्धन ने जैन धर्म का परित्याग कर वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया हो।

इसके विपरीत ऐसे प्रमाण मिलते है जिनसे यह सिद्ध होता है कि होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन, उसकी रानी एव उसका समस्त राज परिवार, उसके आठो ही सेनापति आदि अपनी-अपनी आयु के अवसान काल तक न केवल जैन धर्मानुयायी रहे अपितु जैन धर्म के प्रबल पोषक, प्रचारक एव प्रसारक भी रहे। जैनाचार्य सुदत्त ने होय्सल राजवश की स्थापना की। जैनाचार्य शान्तिदेव ने इस राजवश को दक्षिण के एक शक्तिशाली राज्य का रूप दिया तथा समय-समय पर अनेक जैनाचार्यो ने इस राजवश को उत्तरोत्तर अधिकाधिक शक्तिशाली बनाने मे सभी-भाति पूर्ण सक्रिय सहयोग तक दिया और यह राजवश भी अपने ऊपर अपने धर्म गुरु जैन धर्माचार्यो द्वारा किये गये असीम उपकारो के प्रति पूर्णत कृतज्ञ रहा। प्राचीन अभिलेख इस बात के साक्षी है कि सभी होय्सल वशी राजाओ ने जैन धर्म के उत्कर्ष के लिये अनेक उल्लेखनीय कार्य किये। होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन भी जीवन भर सम्यक्त्व धारी जैन श्रमणोपासक बना रहा। स्वय रामानुजाचार्य के हस्ताक्षरित एक ताडपत्रीय अभिलेख[1] के अनुसार रामानुजाचार्य ई० सन् ११२५ (पिगल सवत्सर मे मकर शुक्ल पुनर्वसु के योग के शुभ दिन) के आस पास कर्णाटक के तिरुनारायणपुर ग्राम (वर्तमान मेलकोटे, जिला-मण्ड्या) से श्री रगपुर के लिये प्रस्थित हुए। रामानुजाचार्य के मैसूर से चले जाने के पश्चात् भी महाराजा विष्णुवर्द्धन द्वारा जैन धर्म के उत्कर्ष के लिये किये गये कतिपय कार्यो से यही सिद्ध होता है कि वह जीवन पर्यन्त निष्ठावान् जैन धर्मानुयायी एव पूर्ववत् जैन धर्म का सरक्षक बना रहा।

रामानुजाचार्य के मैसूर से चले जाने के आठ वर्ष पश्चात् शक स १०५५ (ई सन् ११३३) के हलेबीड–बस्ति हल्लि मे पार्श्वनाथ बसदि के बाहर की भित्ति मे लगे पाषाण पर के अभिलेख मे विष्णुवर्द्धन द्वारा किये गये ऐतिहासिक कार्यो का विवरण उट्टकित किया गया है जिसका साराश इस प्रकार है —

"होय्सल महाराजा विष्णुवर्द्धन के महादण्डनायक गगराज ने अगणित जीर्ण शीर्ण जिन मन्दिरो का पुनरुद्धार कर गगवाडि ९६००० को कोपण के समान

[1] आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार जयपुर मे इस ताडपत्र की उपलब्ध प्रति।

उन्हे समृद्धि शाली एव सुन्दर बनाया। उसकी धर्मपत्नी नागल देवी की कुक्षि से उत्पन्न उसके पुत्र बोप्प (बप्प) सेनापति ने दोर समुद्र के मध्य भाग मे एक भव्य जिन मन्दिर का निर्माण करवाया। बोप्प चमूपति ने अपने पिता महादण्डनायक गगराज के स्वर्गस्थ हो जाने पर उनकी स्मृति मे उस मन्दिर की प्रतिष्ठा नयकीर्ति सिद्धान्त चक्रवर्ती से करवायी। हल सोगे बलि के द्रोह घरट्ट जिनालय की प्रतिष्ठा के पश्चात् जिस समय पुरोहित लोग भगवान् को लगाये गये भोग का प्रसाद लेकर महाराजा विष्णुवर्द्धन के पास बकापुर पहुचे, उस समय विष्णुवर्द्धन ने होय्सल राज्य पर एक शक्तिशाली अति विशाल वाहिनी के साथ आक्रमण करने के लिये चढकर आये हुए दुर्दान्त शत्रु मसरण को युद्ध मे पूर्णत पराजित कर उसके विशाल राज्य को अपने अधिकार मे कर लिया। उसी समय विष्णुवर्द्धन की महारानी लक्ष्मी देवी ने एक पुत्र को जन्म दिया। हर्षातिरेक मे विष्णुवर्द्धन के मुख से ये शब्द फूट पडे —"इन्ही भगवान् पार्श्वनाथ के जिनालय की प्रतिष्ठा के परिणाम-स्वरूप मुझे युद्ध मे विजय एव पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है अत इन देवाधि देव के जिनालय का नाम विजय पार्श्व और सद्य–प्रसूत राजकुमार का नाम विजय–नरसिह देव रखता हू।"

राजा ने उस मन्दिर के लिये आसन्दि नाड के जावगल ग्राम के दान के साथ अनेक प्रकार के अन्य दान भी दिये।"[1] स्वय विष्णुवर्द्धन ने ११३३ ई० मे इस विजय-पार्श्वमन्दिर मे जाकर वन्दन-नमन एव अर्चन किया।[2]

इसी प्रकार सम्भवत रामानुजाचार्य की मैसूर राज्य मे विद्यमानता के समय अथवा उनके मैसूर से प्रस्थान कर देने के कुछ ही दिनो पश्चात् शक स १०४७ (ई सन् ११२५) मे विष्णुवर्द्धन द्वारा वसदियो के जीर्णोद्धार एव जैन ऋषियो के आहार दान हेतु जैनाचार्य श्रीपाल त्रैविद्य देव को शल्य चमक ग्राम के दान मे दिये जाने का उल्लेख है।[3]

इन सब के अतिरिक्त जिन शासन की श्रीवृद्धि के लिए विष्णुवर्द्धन द्वारा जिनमन्दिरो, वसदियो आदि की व्यवस्था एव जैन मुनियो के आहार आदि के लिये दान दिये जाने के अनेक उल्लेख उपलब्ध होते है।

यहा उस सन्दर्भ मे यह भी महत्त्वपूर्ण विचारणीय बात है कि बहु प्रचलित निराधार किवदन्तियो के अनुसार यदि होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन जैन धर्म का

---

1 जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख स० ३०१, पृ ४७१–४८२

2 This temple which King Narsingha now visited was the same temple which King Vishnu had visited in A D 1133

(मीडिएवल जैनिज्म, बी०ए० सेलाटोर लिखित, पेज–८४)

3 जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, लेख सख्या ४९३ पृ० स० ३९५ से ४०१

परित्याग कर रामानुजाचार्य के उपदेशो से वैष्णव बना होता तो यह निश्चित था कि विष्णुवर्द्धन के अनन्य आत्मीयो, रानी, पुत्र, पुत्रियो आदि मे से अथवा उसके सदा निकट सम्पर्क मे रहने वाले मन्त्रियो, सेनापतियो आदि मे से किसी न किसी ने तो अवश्यमेव ही वैष्णव धर्म अगीकार किया होता। परन्तु वस्तुस्थिति पूर्णत इसके विपरीत है। विष्णुवर्द्धन के अनन्य आत्मीयो—पत्नी, पुत्र, पुत्रियो और उसके कृपापात्र—विश्वासपात्र आश्रितो अथवा अधिकारियो—मन्त्रियो, सेनापतियो—सेनापति पुत्रो आदि मे से किसी एक ने भी—वैष्णव धर्म अगीकार नही किया। पुरातन कालीन अगणित शिलालेखो मे से जो शिलालेख विप्लवो, विपम परिस्थितियो और काल की थपेडो से बचे रह सके हैं, वे इस बात की आज भी साक्षी देते हैं।

स्वय होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन से और उसके शासन काल से सम्बन्धित उपलब्ध अनेक शिला-लेखो मे विष्णुवर्द्धन के लिये "सम्यक्त्व चूडामणि" विशेषण प्रयुक्त किया गया है।[1] यहाँ यह बताने की आवश्यकता नही कि जिस मुमुक्षु भव्यात्मा ने जीव, अजीव आदि समस्त तत्त्वो को भली भाति समझ व हृदयगम कर एक मात्र वीतराग जिनेन्द्र देव को ही अपने आराध्य देव, पचमहाव्रतधारी सच्चे साधु को अपना गुरु और ससार के समस्त दु खो का अन्त कर शाश्वत अनन्त अक्षय-अव्याबाध शिव सुख प्रदान कराने मे सक्षम भवाब्धि पोत तुल्य वीतराग सर्वज्ञ तीर्थंकर भगवान् द्वारा प्ररूपित धर्म को ही अपना धर्म मान लिया है, उसी सम्यग् दृष्टि भव्यात्मा के लिये "सम्यक्त्व चूडामणि" विशेषण का प्रयोग किया जाता है।

इसका एक सर्वाधिक पुष्ट प्रमाण शक स १०५९, (ई० सन् ११३७) का एक शिलालेख है। बेलूर स्थित सोमनाथ मन्दिर की छत पर उट्टकित इस कन्नड शिलालेख मे उल्लेख है कि होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के महा प्रचण्ड दण्डनायक, सर्वाधिकारी विष्णु दण्डाधिप-अपर नाम इम्मदि दण्डनायक बिट्टियण्ण ने शक स १०५९ (ई० सन् ११३७) मे होय्सल राज्य की राजधानी वीर समुद्र मे "विष्णु वर्द्धन जिनालय" नामक एक भव्य जिन मन्दिर का निर्माण करवाया। उस समय (उक्त तिथि को) **इम्मडि दण्डनायक बिट्टियण्ण** ने आचार्य **श्रीपाल त्रैविद्यदेव** को भगवान् की पूजा, ऋषियो को आहार दान मन्दिर के प्रबन्ध एव भविष्य मे आवश्यकता पडने पर इस जिनालय के जीर्णोद्धार (मरम्मत) आदि के लिये **मरुसेनाड के बीज बोल्ल गांव** का दान स्वय विष्णुवर्द्धन के हाथ से दिलवाया। इस शिलालेख मे **इम्मडि दण्डनायक बिट्टियण्ण को विष्णुवर्द्धन की दक्षिण भुजा**, परम विश्वास पात्र एव प्रगाढ प्रीति पात्र बताने के साथ-साथ यह

[1] जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, लेख सख्या ४५, ५६, १३२, ४९३ एव भाग २ लेख सख्या २६३, २६४

उल्लेख भी किया गया है कि महाराज विष्णुवर्द्धन ने उसका पुत्रवत् लालन-पालन किया, उसे सभी विद्याओ एव कलाओ का प्रशिक्षण दिलवा कर उसका अपने प्रधानमन्त्री की पुत्री के साथ बडे ही हर्षोल्लास से विवाह किया ।[1]

इस शिलालेख मे उल्लिखित तथ्यो पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि ई० सन् ११३७ तक अर्थात् रामानुजाचार्य के मैसूर राज्य से चले जाने के १२ वर्ष पश्चात् तक होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन जैन धर्मानुयायी था। अगर उसने वैष्णव धर्म स्वीकार कर लिया होता तो राजा को अपने पिता से भी अधिक पूज्य मानने वाले इम्मडि दण्डनायक बिट्टियण्ण पर इसका प्रभाव पडता। यदि किसी तरह मान भी लिया जाय कि इम्माडे दण्डनायक पर प्रभाव न भी पडा तो वैष्णव सम्प्रदाय के अनुयायी बन जाने की स्थिति मे विष्णुवर्द्धन उसे न तो अपने नाम पर जिनालय बनाने की अनुमति देता और न उसे ग्रामदान ही करता।

इन सब के अतिरिक्त एक और प्रमाण है विष्णुवर्द्धन होय्सल नरेश के पुत्र युवराज नरसिंह देव द्वारा ई० सन् ११४७ मे एल्कोटि जिनालय की मुगुलूर बसदि के लिये दिये गये भूमिदान का शिलालेख, इस शिलालेख मे होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के लिये "सम्यक्त्व चूडामणि" विशेषण का प्रयोग किया गया है।[2]

अपने जीवन के अन्तिम क्षणो तक प्रगाढ निष्ठा सम्पन्न जैन धर्मानुयायी बने रहने के उपरान्त भी श्री राइस जैसे विद्वान् ने उसके सम्बन्ध मे जो यह आशकापूर्ण अभिमत व्यक्त किया है कि रामानुजाचार्य के उपदेशो से विष्णुवर्द्धन ने जैन धर्म का परित्याग कर वैष्णव धर्म अगीकार कर लिया था उसके पीछे अनेक कारणो मे से एक कारण यह भी हो सकता है कि एक शिलालेख मे उसके लिये प्रयुक्त किये गये विशेषणो मे एक विशेषण "श्रीमत् केशवदेव पादाराधक" का भी प्रयोग किया गया है।[3] किन्तु केवल एक इस विशेषण के आधार पर उसे केशव के चरणारविन्द का आराधक मान लेने से पहले इसको भी भुलाना नही होगा कि इस विशेषण से पहले विष्णुवर्द्धन के लिये इसी शिलालेख मे "सम्यक्त्व चूडामणि" विशेषण का भी प्रयोग किया गया है, जो कि केवल कट्टर जैन के लिये ही प्रयुक्त किया जाता है। वास्तविकता यह है कि विष्णुवर्द्धन सच्चा जैन होने के साथ-साथ दूसरे धर्मो के प्रति भी बडा उदार था। अपनी इसी उदारता एव धर्म सहिष्णुता की वृत्ति के परिणामस्वरूप उसने हसन जिले के बेलूर नगर मे केशव का मन्दिर बनवाया। उस मन्दिर के लिये विष्णुवर्द्धन की पटरानी शान्तल देवी ने भी एक ग्राम ब्राह्मणो को दान मे दिया। केशव के मन्दिर के लिये दान

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३, पृष्ठ १–१२
[2] जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३, पृष्ठ ७४–७८
[3] जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३, लेख-सख्या ५३ (१४३), शक-स १०५०

दे देने मात्र से शान्तल देवी जैन से वैष्णव नही बन गई। वह जीवनभर जैन रही एव आयु के अवसान काल मे उसने सच्ची जैन साधिका की भाति समाधिपूर्वक देह त्याग किया।[1]

जिन शासन के उत्कर्ष के लिये शान्तल देवी द्वारा किये गये कार्यों के परिणामस्वरूप ही शक स १०५० (ई० सन् ११२८) के एक शिलालेख मे उसके लिये—"मुनिजन चिनेयजन विनीते यु", "चतुस्स मय समुद्धरणेयु", "व्रत गुणशील चारित्रान्त करणे यु", "सम्यक्त्व चूडामणि यु", "उद्वृत सवतिगन्ध वारणे यु", "पुण्योपार्जन करण कारणेयु", "जिन समय समुदित प्राकारेयु", "जिन धर्म कथा कथन प्रमोदेयु", "आहाराभय भैषज्य शास्त्र दान विनोदेयु", "जिन धर्म निमलेयु", "भव्य जन वत्सलेयु" एव "जिन गन्धोदक पवित्री कृतोत्त भागेयु"—इन उत्कृष्ट विशेषणो का प्रयोग कर उसकी श्लाघा की गई है।[2]

लेख सख्या ५३ और ५६ के अनुसार शान्तल देवी ने शक स १०४० (ई० सन् १११८) मे, श्रवण बेलगोल मे सवति गन्ध वारण वसदि नामक ६६ फुट लम्बा और ३५ फुट चौडा अति भव्य एव विशाल मन्दिर बनवाया। शान्तल देवी ने प्रभु के अभिषेक के लिये एक तालाब का निर्माण करवाया और इस मन्दिर की सभी प्रकार की व्यवस्था के लिये अपने गुरु प्रभाचन्द्र को एक ग्राम का दान किया।[3] शान्तल देवी ने इस मन्दिर मे भगवान् शान्तिनाथ की पाँच फुट ऊँची एक आकर्षक मूर्ति की प्रतिष्ठा की। इस मूर्ति के पाद-पीठ पर इसका निर्माण कराने वाली शान्तल देवी की प्रशसा मे उट्टङ्कित श्लोक इस प्रकार है —

प्रभाचन्द्र मुनीन्द्रस्य, पद पकज षट् पदा।
शान्तला शान्ति–जैनेन्द्र–प्रतिबिम्बमकारयत् ।।१।।

सिंह पीठ पर—

उत्तौ वक्त्र गुण दृशोस्तरलता सद् विभ्रम भ्रूयुगे।
दोषानेव गुणी करोषि सुभगे सौभाग्य भाग्य तव,
वक्त शातल देवि वक्तुमवनौ शक्नोति को वा कवि ।।२।।

[1] She also gave a village to the Brahmans and she was associated with the Keshava Temple at Bailur and Hasan that her husband Bittideva Vishnuvardhana, built Although the royal couple were Jains by persuation, they supported Vaishnavism and Shaivism also They had as their teacher Prabhachandra Siddhant Deva

(जैनिज्म इन साउथ इण्डिया—एस०के० रामचन्द्र राव द्वारा लिखित)

[2] जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, लेख स ५३ (१४३) पृष्ठ ६२

[3] जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, पृष्ठ ८८–१०० और १२३–१२

राजते रार्जासहीव, पार्श्वे विष्णु मही भृत ।
विख्यात्या शान्तलाख्या सा, जिनागारमकारयत् ॥३॥[1]

लेख सख्या ५३ (१४३) शक सम्वत् १०५० के उल्लेखानुसार शान्तल देवी की माता (माचिकव्वे) के पितामह दण्डनायक नागवर्म, माता की दादी चन्दिकव्वे, माता के पिता बलदेव, माता की माता माचिकव्वे तथा उसके मामा मारसिंगैय (शान्तल के पिता और मामा दोनो समान नाम वाले थे)—यह समस्त परिवार परम जिन भक्त एव परम्परागत प्रगाढ श्रद्धानिष्ठ जैन धर्मावलम्बी परिवार था।

, इस लेख के श्लोक सख्या २८ से ३२ मे नाग वर्म दण्डनायक की, श्लोक सख्या २९ मे बलदेव दण्डनायक की तथा श्लोक सख्या ३६ व ३७ मे शान्तल देवी के मामा मारसिंगैय की जिनपति भक्त, मुनि चरणाम्बुजातयुगभृ ग, जिनधर्माम्बर तिग्मरोचि आदि एव अन्य प्रशस्त विशेषणो से प्रशसा की गई है ।[2]

श्लोक सख्या १८ मे शान्तल देवी के पिता, जिनका नाम भी मारसिंगैय था, के लिये हरपादाम्बुज भक्ति योलु विशेषण प्रयुक्त किया गया है। इससे निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि शान्तल देवी के पिता मारसिंगैय शैव धर्मावलम्बी थे। शान्तल देवी ने शक स १०५० (तदनुसार ई सन् ११२८) की चैत्र शुक्ला ५ सोमवार के दिन **शिव गागेय तीर्थ मे** समाधि पूर्वक पण्डित मरण का वरण कर स्वर्गारोहण किया।[3]

शान्तल देवी के समाधि मरण के पश्चात् उसके माता-पिता का निधन हुआ। इसकी माता माचिकव्वे ने अपने गुरु प्रभाचन्द्र सिद्धान्त देव, वर्धमान देव और रविचन्द्र देव की साक्षी से सन्यास (सथारा पडित मरण) अगीकार कर एक मास के अनशन के पश्चात् मृत्यु का वरण किया।[4] शान्तल देवी के मातुल ने भी श्रवण बेल्गोल मे समाधि पूर्वक पण्डित मरण का वरण किया और उसकी पत्नी और भावज ने शक सवत् १०४१ की कार्तिक शुक्ला १२ के दिन उसके समाधिस्थल पर निषद्या का निर्माण करवाया।[5]

होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन की पुत्री **हरियब्बरसी** भी जीवनभर परम जिनोपासिका रही। कर्णाटक प्रान्त मे केवल वैष्णव विद्वानो के ही नहीं अपितु रामानुज

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह भाग १, लेख स ६२ (१३१) पृ० १४६–१४७
[2] जैन शिलालेख सग्रह भाग १, पृ० स ८८ से १००
[3] जैन शिलालेख सग्रह भाग १, लेख स ५३, पृ० ९३
[4] जैन शिलालेख सग्रह भाग १, लेख स ५३, पृ०९५
[5] जैन शिलालेख सग्रह भाग १, लेख स ५२, पृ० ८७

सम्प्रदाय के जन-जन के मुख से भी एक जनश्रुति सुनने को मिलती है कि होय्सल वशीय राजा बिट्टिग देव विष्णुवर्द्धन की पुत्री पर एक ब्रह्म राक्षस ने अपना प्रभाव जमा लिया था। औषध-भेषज्य तन्त्र-मन्त्र आदि अनेक उपायो के उपरान्त भी ब्रह्म राक्षस ने राजकुमारी का पीछा नही छोडा। जब रामानुजाचार्य विष्णुवर्द्धन के राज महल मे आये और राजपरिवार के अन्य सदस्यो की भाति उस राजकुमारी ने भी जब रामानुजाचार्य के चरणो का स्पर्श किया तो उनके चरणो के स्पर्श मात्र से ब्रह्म राक्षस राजकुमारी को अपने प्रभाव से सदा के लिए मुक्त कर अन्यत्र चला गया।

इस जनश्रुति की प्रामाणिकता हेतु जब पुरातत्व सामग्री का अवलोकन करते है तो यह जनश्रुति नितान्त निराधार किंवदन्ती ही सिद्ध होती है।

हन्तूरू (हन्तियूर-गोणी बीड्ड परगना) की ध्वस्त जैन वसदि से प्राप्त शक स १०५२ (ई सन् ११३०) के शिला लेख स २९३ से सिद्ध होता है कि विष्णुवर्द्धन की पुत्री हरियब्बरसि जीवनभर जैन धर्म की अनन्य उपासिका रही। इस शिलालेख मे उल्लेख है कि जिस समय विष्णुवर्द्धन का पुत्र 'त्रिभुवनमल्ल कुमार वल्लाल देव राज्य कर रहा था, उस समय विष्णुवर्द्धन की पुत्री और कुमार वल्लाल देव की ज्येष्ठ भगिनी तथा गण्ड विमुक्त-सिद्धान्त देव की गृहस्था शिष्या हरियब्बरसि ने हन्तियूर के रत्न जटित उत्तुग शिखरो वाले चैत्यालय तथा मन्दिर के जीर्णोद्धार, पूजा, ऋषियो एव वृद्ध महिलाओ को आहार दान देने आदि कार्यो की व्यवस्था हेतु सभी भाति के करो से विमुक्त भूमि का दान गण्ड विमुक्त सिद्धान्त देव को दिया।[1]

विष्णुवर्द्धन का उत्तराधिकारी नरसिहदेव भी जीवनभर प्रगाढ निष्ठा सम्पन्न जैन धर्मावलम्बी और जैन धर्म का 'सरक्षक रहा, यह भी इतिहास सिद्ध तथ्य है। इन सब प्राचीन अभिलेखो से यह सिद्ध होता है कि होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन और उनके परिवार का प्रत्येक सदस्य जीवन पर्यन्त जैन धर्म का अनुयायी, सवर्द्धक और जैन श्रमणो का श्रद्धालु उपासक रहा। यदि विष्णुवर्द्धन ने वैष्णव धर्म अगीकार किया होता तो निश्चित रूप से उसके आश्रित उसके परिवार के सदस्यो, मन्त्रियो, सेना नायको आदि मे से कोई न कोई तो उसका अनुसरण करके अवश्यमेव वैष्णव धर्मावलम्बी बना होता।

गग राज चमूपति

होय्सल नरेश विष्णुवर्धन के महा दण्डनायक सेनापति गगराज अपने समय के महान योद्धा और परम धर्मनिष्ठ जिन भक्त थे।

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, पृष्ठ ४४५—४४९

गगराज का जन्म कर्णाटक प्रदेश के कौण्डिन्य गोत्रीय ब्रह्मक्षत्र परिवार मे हुआ। यह परिवार परम जिन भक्त और जैन धर्मानुयायियो मे अग्रणी माना जाता था। ईसा की ग्यारहवी शताब्दी के अनेक शिलालेख इस कट्टर जैन धर्मानुयायी सेनापति की यशोगाथाओ से भरे पडे है। गगराज द्वारा जैन धर्म की श्रीवृद्धि, प्रचार, प्रसार एव सरक्षरण के लिये किये गये कार्यो का लेखा-जोखा करने पर उन्हे सम्पूर्ण दक्षिरणा पथ का, जैन धर्म का प्रमुख आधार स्तम्भ कहा जाय तो भी अतिशयोक्ति नही होगी। श्रवरण वेल्गोल की शासन वस्ति के सम्मुख एक गिला पर उट्ट कित लेख मे इन्हे गोम्मटेश्वर की विशाल मूर्ति के निर्माता एव प्रतिष्ठापक चामुण्डराय से भी शतगुना अधिक जिन प्रभावक बताया गया है।[1] अनेक शिलालेखो मे गगराज को "श्री जैन धर्म्मामृताम्वुधिविवर्धन सुधाकर", "सम्यक्त्वरत्नाकर", "विष्णुवर्द्धन भूपाल होय्सल महाराज राज्याभिषेक पूर्ण कुम्भ", "धर्म हर्म्योद्धरण मूल स्तम्भ', "विष्णुवर्द्धन होय्सल महाराज राज्य समुद्धरण", "जिनराज राजत् पूजा पुरन्दर", "कर्णाटकधरामरो त्रस", "जिन मुख चन्द्रवाक् चन्द्रिका, चकोर", "विशुद्धरत्न त्रया कर", "चारित्र लक्ष्मी कर्णपूर", "जिन शासन रक्षामरिण" एव "द्रोह घरट्ट" आदि उच्चकोटि की उपाधियो से विभूषित किया गया है।[2]

सेनापति गगराज ने अगरिणत ध्वस्त जैन मन्दिरो एव वसदियो का पुनर्निर्माण एव अनेक मन्दिरो एव वसदियो का नव-निर्माण, करवाकर उनके प्रबन्ध एव श्रमणो के आहार आदि के लिए स्थान-स्थान पर भूमिदान दिया। महा दानी गगराज ने जैन धर्म की श्रीवृद्धि हेतु अनेक उल्लेखनीय दान प्रदान कर गगवाडी ६६००० को कोपरण के समान चमकाया।[3]

होय्सल राजा विष्णुवर्द्धन के राज्य को शक्तिशाली और विशाल बनाने मे उसके प्रधान सेनापति गगराज का सर्वाधिक उल्लेखनीय योगदान रहा। गगराज ने अपने स्वामी के दुर्जेय प्रबल शत्रु नरसिंह वर्म और चोल राज के अधीनस्थ इडियम आदि अनेक शत्रु शासको की सम्मिलित विशाल सेनाओ को रणागरण मे पराजित कर विशाल भू भाग पर अपने स्वामी की विजय वैजयन्ती फहराई। इस अति महत्वपूर्ण विजय से विष्णुवर्द्धन का राज्य एक प्रबल शक्तिशाली राज्य बन गया। इस विजय से विष्णुवर्द्धन इतना अधिक प्रसन्न हुआ कि उसने गगराज को मुह मागा वरदान देने की प्रतिज्ञा की। गगराज ने उस वरदान के उपलक्ष मे तिप्पूर का स्वामित्व मागा। राजा ने तत्काल गगराज को तिप्पूर का स्वामित्व प्रदान कर दिया। गगराज ने क्राणूर गण तिन्त्रिरिणक गच्छ के आचार्य मेघचन्द्र

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह भाग १, लेख म ५६ (७३) पृ० स १३८–१४३
[2] जैन शिलालेख मग्रह भाग १, लेख स ४४ एव भाग २ का लेख सख्या ३०१
[3] जैन शिलालेख मग्रह भाग २, लेख स ५६, ६० और ३०१

सिद्धान्त देव को उस तिप्पूर का दान कर दिया। सभवत. मेघचन्द्र सिद्धान्त देव यापनीय सघ के आचार्य थे।[1]

गगराज ने तैलगो और कन्नेगाले मे चालुक्य नरेश त्रिभुवन मल्ल पेर्माडि देव को रणभूमि मे पराजित कर अपने साहसपूर्ण पराक्रम का परिचय दिया।[2]

गगराज ने तलकाडु, कोगु, चेंगिरि आदि दुर्जेय दुर्गो पर अधिकार किया और अदिपम, तिगल, दाम, दामोदर आदि शत्रुओ को युद्ध मे परास्त किया। दुर्जेय शत्रुओ को परास्त करने के उपलक्ष मे प्रसन्न हो विष्णु वर्द्धन ने उन्हे गोविन्द वाडी नामक ग्राम परितोषिक रूप मे प्रदान किया जिसे भी गगराज ने गोम्मटेश्वर की पूजा व्यवस्था के निमित्त दान मे दे दिया।[3]

विष्णुवर्द्धन के प्रधान सेनापति गगराज ने शक स १०४० (ई मन् १११८) के आस-पास श्रवण बेलगोल से उत्तर मे आधा कोस पर "जिननाथ पुर" नामक एक नगर बसाया।[4] शक स १०३९ (ई० सन् १११७) के आस पास गोमटेश्वर के चारो ओर परकोटे का निर्माण करवाया।[5]

प्रधान सेनापति गगराज पुस्तक गच्छ के आचार्य शुभचन्द्र सिद्धान्त देव के श्रद्धा निष्ठ श्रावक शिष्य थे।[6] गगराज ने अपने गुरु शुभचन्द्र सिद्धान्त देव, अपनी माता पोचि कब्बे और धर्मपत्नि लक्ष्मी के स्मारक बनवाये। प्रधान सेनापति गगराज ने जैनधर्म को प्रतिष्ठा के सर्वोच्च पद पर अधिष्ठित करने के लिये इतने अधिक महत्वपूर्ण कार्य किये कि उन सबकी पुष्टि करने वाले शिलालेखो आदि का विस्तारभय से यहा उल्लेख करना सभव नही। यही कारण है कि ईसा की दशवी से बारहवी शताब्दी के बीच की अवधि मे चामुण्डराय, गगराज और बोप्पदेव दक्षिणा पथ मे जैनधर्म के तीन महान् आधार स्तम्भ एव सरक्षक गिने गये। इनमे भी गगराज का स्थान सर्वोपरि माना गया है।

गगराज ने अनेक जिन मन्दिरो एव वसदियो की ही भाति अनेक ध्वस्त नगरो का भी पुनर्निर्माण करवाया।[7] मानव जीवन के परम लक्ष्य—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारो की साधना मे जीवन भर निरत रहते हुए गगराज ने

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख स० २६३
[2] ,, ,, ,, १, लेख स० ५९
[3] ,, ,, ,, लेख स० ५९ और ९०
[4] ,, ,, ,, लेख स० ४७८ (३८८) पृ० ३७७-३७८
[5] ,, ,, ,, लेख स० ७५ और ७६
[6] ,, ,, ,, लेख स० ५९ (७३)
[7] जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३, लेख स० ४११

धर्म की धुरा का वहन करने के साथ-साथ राज्य की धुरा के वहन करने मे भी अद्भुत धौरेयता प्रदर्शित की। गगराज ने न केवल कर्णाटक के ही अपितु सम्पूर्ण दक्षिणापथ के अभ्युदय, अभ्युत्थान एव उत्कर्ष के लिये जीवन-पर्यन्त बडी ही महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया।

होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन का सन्धि-विग्रहिक पुणिस भी परम जिनोपासक और जैन धर्मावलम्बी अधिकारियो मे अग्रगण्य एव जैन सघ को उत्कर्ष की ओर अग्रसर करने वाले कार्यो मे महादण्ड नायक गगराज का अनन्य सहयोगी था। राज्य सेवा और धर्म सेवा के साथ-साथ पुणिस ने मानव सेवा के अनेक उल्लेखनीय कार्य किये। उसने अनेक युद्धो मे विजय प्राप्त कर होय्सल राज्य की प्रतिष्ठा और शक्ति मे अभिवृद्धि की। युद्ध पीडित किसानो, व्यापारियो एव प्रजा के सभी वर्गो को उसने सभी भाति की सहायता प्रदान कर उनके अस्त-व्यस्त जीवन को सुचारु रूपेण पुनर्सस्थापित किया। पुणिस ने त्रिकूट वसदि का निर्माण करवाया और गगवाडी की सभी वसदियो को आत्मनिर्भर बनाया।

होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन का पुत्रवत् प्रिय एव परम विश्वास पात्र दूसरा दण्डनायक इम्मडि बिट्टियण भी तत्कालीन जैनधर्मावलम्बियो मे अग्रणी एव प्रमुख जिन भक्त था। छाया के समान सदा विष्णुवर्द्धन के साथ रहने के कारण वह राज भवन मे एव लोक मे विष्णु दण्ड नायक के नाम से विख्यात था। आचार्य श्रीपाल त्रैविद्य जी विष्णुवर्द्धन के गुरु थे। उन्ही का विष्णु दण्डनायक भी निष्ठावान् गृहस्थ शिष्य था। उस समय के महादानियो मे इसकी गणना की जाती थी। दण्ड नायक विष्णु ने जैन धर्म की श्रीवृद्धि एव लोक कल्याण के अनेक कार्य किये।

जैसा कि पहले उल्लेख किया जा चुका है दण्डनायक विष्णु ने होय्सल राज्य की राजधानी दोर समुद्र मे, ई० सन् ११३७ मे विष्णुवर्द्धन की चिर स्मृति के लिये "विष्णुवर्द्धन जिनालय" नामक एव भव्य एव विशाल जिनालय का निर्माण करवाया। इस जिनालय की सुव्यवस्था, सार सम्हाल एव मुनिजनो के आहार आदि की व्यवस्था के लिये महादण्ड नायक विष्णु ने महाराजा विष्णुवर्द्धन के हाथो वीज बोलल नामक ग्राम प्राप्त कर अपने गुरु श्रीपाल त्रैविद्य को दान मे दिया।[1]

विष्णुवर्द्धन का तीसरा दण्डनायक बोप्प भी अपने पिता महा दण्डनायक गगराज के समान जैन धर्म का सबल सरक्षक, शूरवीर, धर्म निष्ठ और परम जिन भक्त था। इसने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एव श्रीवृद्धि के अनेक कार्यो के निष्पादन

[1] जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३, लेख सख्या ३०५, पृष्ठ १–१२

के साथ-साथ "द्रोह घरट्ट जिनालय" "शान्तिश्वर वसदि", "त्रैलोक्य रजन वसदि" अपर नाम "वोप्पण चैत्यालय" आदि भव्य मन्दिरो तथा वसदियो का ई० सन् ११३३ और ११३८ के आस-पास निर्माण करवाया। वोप्प का अपर नाम एचण भी था।[1] बोप्प दण्डनायक ने जिन धर्म की प्रभावना वर्द्धक एव सर्व साधारण के हित के अनेक कार्य किये। जब गगराज के ज्येष्ठ भ्राता-बम्म चमू पति के पुत्र दण्ड नायक ऐच ने ई० सन् ११३५ मे श्रवण बेल्गुल मे सल्लेखना पूर्वक घर-द्वार, असन-पानादि का त्याग कर सन्यसन (पडित मरण) विधि से प्राणोत्सर्ग किया, उस समय बोप्प दण्डनायक ने अपने दिवगत ज्येष्ठ बन्धु दण्डनायक ऐच की स्मृति मे निषद्या का निर्माण करवाया और ऐचिराज द्वारा निर्मित कराई गई वसदियो के प्रबन्ध आदि के लिये गंग समुद्र की कुछ भूमि का माघचन्द्र देव को दान किया।[2]

होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के चौथे और पाचवे दण्डनायक (सेनापति) भ्रातृद्वय क्रमश मरियाने और भरत अपने समय के अग्रणी जैन धर्मानुयायी और परम जिन भक्त थे। ये दोनो भाई अग्रगण्य धर्मिष्ठ होने के साथ-साथ बडे ही शूर-वीर, साहसी एव अप्रतिम योद्धा थे। तत्कालीन शिलालेखो के अनुसार इन बन्धु द्वय का होय्सल राजवश के साथ पोढियो का घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण महा-राजा विष्णुवर्द्धन ने सर्वाधिकारी, माणिक्य भण्डारी, प्राणाधिकारी, चमूपति आदि महत्वपूर्ण पद प्रदान किये।[3] विष्णुवर्द्धन ने अपने राज्य की धुरा को वहन करने मे मरियाने को पट्ट-राज्य-गजेन्द्र तुल्य सक्षम-समर्थ समझकर महासेना पति पद पर अधिष्ठित किया। दण्डनायक मरियाणे के लघु सहोदर महामत्री तथा दण्ड-नायक भरत ने गगवाडी मे ८० नवीन बस्तियो का निर्माण और २०० जीर्ण-शीर्ण वसदियो का जीर्णोद्धार करवाया। भरत चमूपति ने गोमटेश की सीढियो, इस तीर्थ स्थान मे द्वार की शोभा-वृद्धि हेतु भरत और बाहुबलि की मूर्तियो का निर्माण करवाया। महाप्रधान भरत ने गोमटेश्वर की रग शाला का परकोटा भी बनवाया। सिदगेर की वसदि के लिये इन्होने विष्णुवर्द्धन से भूमि भी प्राप्त की। इस प्रकार इन दोनो भाइयो ने जिन धर्म की प्रभावना एव जैन सघ की श्रीवृद्धि के अनेक कार्य किये।[4]

इन दोनो महादण्डनायको के गुरु देशी गण पुस्तक गच्छ के आचार्य माघ-नन्दि के शिष्य गण्डविमुक्त मुनि थे। महाराजाधिराज विष्णुवर्द्धन के ये दोनो महा दण्डनायक विष्णुवर्द्धन के पुत्र महाराजाधिराज सिंहदेव प्रथम के शासन काल मे भी कतिपय वर्षो तक महादन्ड नायक पद पर रहे।

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह, भाग १ लेख स० ६६ (१२०), पृष्ठ १४६

[2] जैन शिलालेख स० भाग १ लेख स० १४४ (३८४), पृष्ठ २६४-२६६

[3] जैन शिलालेख सग्रह भाग ३ लेख स० ३०७, ३०८, ४११

[4] जैन शिलालेख स० भाग १, लेख स० ११५ (२६७), पृष्ठ २२७-२२८

होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के छठे सेनापति ऐच थे। ये महादण्डनायक गगराज के ज्येष्ठ भ्राता बम्म चमूपति के पुत्र थे। दण्डनायक ऐच अपने पिता, पितृव्य एव चचेरे लघु भ्राता के समान धर्म-नीति और राजनीति दोनो ही मे समान रूप से निष्णात थे। ये युद्ध शौण्डीर भी थे और धर्म धुरा धौरेय भी। ऐच ने अपने जीवनकाल मे एक ओर अनेक युद्धो मे विजयश्री प्राप्त की, तो दूसरी ओर कोपण बेल्गुल आदि अनेक स्थानो मे जिन मन्दिरो एव वसदियो का निर्माण भी करवाया और अन्त मे आयु का अवसान काल उपस्थित होने पर समस्त सासारिक कार्य-कलापो से उन्मुख हो अशन-पानादि का जीवन-पर्यन्त त्याग करके तथा सम्पूर्ण पापो की आलोचना कर सलेखना-सथारा पूवक पण्डित-मरण (सन्यसन) विधि से शक स १०५७ (ई सन् ११३५) मे मृत्यु का वरण किया।[1]

महाराजाधिराज विष्णु वर्द्धन के सातवे दण्डनायक बलदेवण्ण और आठवे दण्डनायक मादिराज भी आदर्श जिनभक्त थे।

इस प्रकार होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के आठो ही सेनापति प्रगाढ निष्ठा-वान् जैन धर्मानुयायी एव आदर्श श्रावकोत्तम थे। विष्णुवर्द्धन के आठो ही स्वामिभक्त सेनापतियो ने जीवनभर अपने स्वामी के चरण-चिह्नो का अनुसरण करते हुए होय्सल राज्य की अभिवृद्धि एव समृद्धि के अभिवर्द्धन के साथ-साथ जिन शासन की सेवा के, जैन धर्म की रक्षा के तथा जैन सघ की प्रतिष्ठा को उत्कर्ष की ओर अग्रसर करने के अनेक उल्लेखनीय कार्य किये और अपने-अपने जीवन के अन्तिम क्षणो तक एक आदर्श सच्चे जैन के रूप मे श्लाघा योग्य पण्डित मरण का वरण किया। वे सब के सब सच्चे अर्थो मे कर्मठ कर्मवीर एव धर्मवीर थे।

इन सब तथ्यो से सिद्ध होता है कि होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन अपने बाल्य-काल से जीवन के अन्तिम क्षणो तक जैन धर्मावलम्बी, जिन शासन का सरक्षक और सवर्द्धक रहा। मर्कुलि किले के अन्दर की वसदि के एक शिलालेख के अनु-सार विष्णुवर्द्धन का राज्य अति विशाल था। पूर्व, दक्षिण और पश्चिम मे इसके राज्य की सीमा समुद्र और उत्तर मे पेद्दोरे को इसने अपने राज्य की सीमा बनाया।[2]

नरसिह प्रथम (ई सन् ११५२ से ११७३) महाप्रतापी होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के पश्चात् इस राजवश का राजा नरसिहदेव हुआ। यह भी अपने पिता के ही समान धर्मनिष्ठ, साहसी, योद्धा, प्रजावत्सल और लोकप्रिय राजा था। नरसिह देव ने जैन धर्म के वर्चस्व की अभिवृद्धि एव प्रचार-प्रसार के अनेक कार्य किये।

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, लेख स १४४ (३८४) पृ २६४–६६

[2] जैन शिलालेख सग्रह, भाग १, लेख स ३७६ पृ १५७–१६३

नरसिंह देव के सेनापति **चाविमय्य** भी परम जिन भक्त था। अपने यौवन काल मे यह सेनापति सम्पूर्ण दक्षिणा पथ मे होय्सल नरेश विष्णुवर्द्धन के गरुड के नाम से विख्यात हुआ। इसने होय्सल राज्य की समृद्धि के साथ-साथ जैन सघ की श्रीवृद्धि मे भी उल्लेखनीय सहयोग दिया। सेनापति **चाविमय्य** की धर्म-पत्नी **जक्कव्वे** ने हेरगू मे एक विशाल जिन मन्दिर का निर्माण करवा कर वहाँ **चेन्न पार्श्वनाथ** की प्रतिमा की प्रतिष्ठा करवायी। जिनेश्वर की पूजा-अर्चा एव ऋषियो के आहार आदि की व्यवस्था एव भविष्य मे आवश्यकता पडने पर मन्दिर की मरम्मत के लिए **जिक्कव्वे** ने नरसिंह देव से प्रार्थना कर उनसे भूमि प्राप्त की और उस भूमि का दान ई सन् ११५५ के लगभग मन्दिर को किया।[1]

नरसिंह देव के एक अन्य दण्डनायक **शान्तियण** ने अपने पिता **पारिसण्ण** की स्मृति मे एक वसदि का निर्माण करवाकर **मल्लिषेण** पण्डित को कृषि भूमि का दान किया।[2]

होय्सल राजवश के शासनकाल मे सर्व धर्म समभाव का भी एक उदाहरण ई सन् ११५० के **कंदाल** के एक शिलालेख से प्रकाश मे आया है। मान्य खेटपुर के अधीश्वर **गूलिवाचि** ने—जो कि होय्सल नरेश विष्णुवर्धन का और उसके पुत्र नरसिंह देव का भी अधीनस्थ सामन्त था, **कद्दाल** (कंदाल) मे एक जिनेश्वर मन्दिर, एक गणेश्वर मन्दिर (शिव मन्दिर), एक नारायण मन्दिर और एक **चल वरिवेश्वर** मन्दिर—इस प्रकार चारो धर्मो के चार मन्दिरो का निर्माण करवाकर सब धर्मो के प्रति अपना समभाव दर्शाया। इस मान्य खेटपुराधीश्वर की रानी **भीमले** परम जिन भक्त और जैन धर्म की प्रमुख उपासिका थी। अपनी जेन धर्मा-वलम्बिनी रानी के नाम पर राजा **गूलिवाचि** ने **भीम जिनालय** नामक **वसदि** और भीम **समुद्र** नामक एक सुन्दर सरोवर का निर्माण करवाया। मान्य खेट पति राजा गूलिवाचि ने इस जिनालय की पूजा-अर्चा एव मुनियो के लिए आहार आदि की व्यवस्था हेतु भूमि का दान किया।[3]

होय्सल नरेश नरसिंह के मन, मस्तिष्क पर वश परम्परागत जैन सस्कृति के सस्कारो की अमिट छाप उसके बाल्यकाल से ही अकित हो चुकी थी, यह **गुगुली** से प्राप्त एक शिलालेख से विदित होता है। इस शिलालेख मे उल्लेख है कि शक स १०६९ (तदनुसार ई, सन् ११४७) मे जिस समय कि होय्सल नरेश विष्णुवर्धन का शासनकाल था, कुमार नरसिंह देव ने गुगुलि **अग्रधार** के **"गोविन्द जिनालय"** की

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह, भाग ३, लेख स ३३९

[2] जैन शिलालेख सग्रह भाग ३, लेख स ३४७ पृ० ११० से ११७

[3] जैन शिलालेख सग्रह भाग ३, लेख स ३३३ पृ० ८५ से ९५

सभी भाति की समुचित व्यवस्था के लिए मन्दिर के नाम पर कृपि योग्य एक उपजाऊ भूखण्ड का दान किया ।[१]

चालुक्य साम्राज्य वस्तुत होय्सल नरेश विष्णुवर्धन के बकापुर मे निवास करने के समय से ही लडखडाना प्रारम्भ हो गया था । चालुक्य सम्राट तैल तृतीय (ई, ११४९–६३) के एक अशक्त एव अयोग्य शासक होने के परिणामस्वरूप चालुक्य साम्राज्य का विघटन आरम्भ हो गया । चालुक्यो के कलचुरी सामन्त विज्जल के अन्तर्मन मे, जो कि सैनिक सेवा के लिए उसके पूर्वजो को चालुक्यो द्वारा दी गई तारद वाडी की जागीर का उपयोग कर रहा था, तैल तृतीय की अयोग्यता अशक्तता को देखकर एक महात्वाकाक्षा का उदय हुआ । उसने तैल तृतीय की अयोग्यता का लाभ उठाकर शनै -शनै अपनी शक्ति को सुदृढ करना प्रारम्भ किया । कलचुरी सामन्त बिज्जल की ही भाति काकतीय सामन्तो ने भी चालुक्य साम्राज्य द्वारा, ई सन् १००० मे उन्हे प्रदत्त सब्बी जिले और अनुप कोण्डा की अपनी पुरानी जागीर मे निरन्तर विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया ।

कलचूरियो और काकतीय सामन्तो की भाति देवगिरि के यादवो ने भी चालुक्य साम्राज्य के प्रति परम्परागत अपनी स्वामिभक्ति को तिलाजलि दे अपने स्वतन्त्र राज्य की स्थापना के लिये अपनी शक्ति और सीमा का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया ।

बिज्जल ने अपनी महत्वाकाक्षा की पूर्त्ति के लिये बडी दूरदर्शिता से काम लिया । उसने तैल के समक्ष उसके विरुद्ध भीतर ही भीतर सुलगती हुई विद्रोह की आग का अतिरजित चित्र प्रस्तुत करते हुए विद्रोह को भडकाने से पहले ही कुचल डालने का उसे परामर्श दिया । तैल तृतीय ने बिज्जल को अपना अनन्य हितैषी समझ कर उसे सैन्य सचालन, कोषोपयोग आदि के अनेक उच्चाधिकार प्रदान किये । इन अधिकारो का उपयोग बिज्जल ने अपनी महत्त्वाकाक्षा की पूर्ति हेतु शक्ति सचय मे किया । इसका परिणाम यह हुआ कि तैल तृतीय नाम मात्र का सम्राट रह गया क्योकि वस्तुत साम्राज्य सचालन की सम्पूर्ण शक्ति बिज्जल ने ई सन् ११५२ और श्री क्लीट के अभिमतानुसार ईस्वी सन् ११५६ मे ही अपने मे केन्द्रित करली थी ।[२] कूटनीति का आश्रय लेकर बिज्जल ने तैल तृतीय को काकतियो के विरुद्ध उकसा कर उससे काकतीय सामन्त प्रोल की राजधानी अनुमकोण्डा पर आक्रमण करवा दिया । प्रोल सतर्क था और पर्याप्त शक्ति सचय

---

[१] जैन शिलालेख मग्रह भाग ३, लेख स ३२७

[२] जम्बू खण्डी तालुक के चिक्कलगी शिलालेख के अनुसार बिज्जल ने "महाभुज बल चक्र की उपाधि धारण कर ली थी । An report S I एपिग्राफी 938–39

कर चुका था और इसके विपरीत तैल तृतीय की शक्ति उसके सामन्तो की दुरभिसन्धि के परिणामस्वरूप क्षीण हो चुकी थी। ऐसी स्थिति मे अनुमकोण्डा पर आक्रमण करते ही प्रोल अपनी शक्तिशाली सेना के साथ तैल तृतीय को परास्त कर उसे रणागण मे ही बन्दी बना लिया। परन्तु प्रोल ने चालुक्य साम्राज्य के साथ अपने परम्परागत सम्बन्धो को दृष्टिगत रखते हुए तैल तृतीय को मुक्त कर उसे सकुशल उसकी राजधानी की ओर लौटने का समुचित प्रबन्ध कर दिया। प्रोल के पश्चात् उसके पुत्र रुद्र और तैल तृतीय के बीच शत्रुता चलती रही और रुद्र के आतक से तैल तृतीय सग्रहणी रोग का रोगी बन ई० सन् ११६२ मे पञ्चत्व को प्राप्त हुआ। तैल तृतीय की मृत्यु के पश्चात् बिज्जल विशाल साम्राज्य का स्वामी बन बैठा।

चालुक्य साम्राज्य के अवशेषो पर कलचूरी राज्य की स्थापना करते ही बिज्जल ने होय्सल राज्यान्तर्गत वनवासी प्रदेश पर आक्रमण कर उस पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।[1]

---

[1] बाम्बे गजट Vol 1 Pt II P 474

समन्वय का एक ऐतिहासिक पर असफल प्रयास

पिछले प्रकरणो मे चैत्यवासी परम्परा, भट्टारक परम्परा, यापनीय परम्परा आदि विभिन्न परम्पराओ के उद्भव, विकास, प्रचार-प्रसार एव उनके कार्य-कलापो पर जो प्रकाश डाला गया है उससे सहज ही यह प्रकट हो जाता है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने के उत्तरवर्त्ती काल मे जैन धर्म की अध्यात्मपरक मूल परम्परा के स्थान पर द्रव्य परम्पराओ का प्रायश सर्वत्र वर्चस्व स्थापित हो गया था और लोक प्रवाह भाव अर्चना को भूल कर द्रव्यार्चना को ही धर्म और धर्म के स्वरूप का मूल समझने लगा था।

द्रव्य परम्परा, द्रव्यार्चना अथवा द्रव्य पूजा के वर्चस्व काल मे जो मूल भाव परम्परा मे शिथिलाचार का प्राबल्य उत्तरोत्तर बढता गया उससे मुमुक्षु साधुओ को बडी चिन्ता हुई।

मूल परम्परा के वर्चस्व को पुन स्थापित करने के लिये अनेक आत्मार्थी मुमुक्षु आचार्यो एव श्रमणो आदि ने अनेक बार प्रयास किये। पर उनके परिणाम आशानुकूल नही मिकले। इस सम्बन्ध मे विस्तृत रूप से आगे यथास्थान विचार किया जायेगा। ऐसे प्रयत्नो के असफल होने पर भी वे महापुरुप निराश नही हुए। उनके प्रयत्न निरन्तर जारी रहे। इसका प्रमाण है समय-समय पर चैत्यवासी परम्परा के अन्दर से ही प्रकट हुए क्रियोद्धारक सन्त।

जैन परम्परा का देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्त्ती काल का साहित्य इस वात का साक्षी है कि इन द्रव्य परम्पराओ के वार्द्धक्य काल मे भी समय-समय पर अनेक आत्मार्थी श्रमणो ने आगमो से धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझ कर इन द्रव्य परम्पराओ के विरुद्ध विद्रोह किया। उन्होने अपनी द्रव्य परम्पराओ से पूर्णत वचकर भाव परम्परा के प्रचार-प्रसार के लिये जीवन भर अथक प्रयास किये। उनके प्रयास आशिक रूप मे ही सफल हुए। यदि यह कह दिया जाय कि उन क्रियोद्धारको मे से अधिकाश को अपने प्रयास मे वस्तुत असफलता का ही

मु ह देखना पडा तो अतिशयोक्ति नही होगी । उनकी असफलता का मूल कारण यह था कि द्रव्य परम्पराओ के समर्थको ने न केवल सत्ताधीशो को ही अपितु जन मानस को भी पूर्ण रूपेण प्रभावित कर अपनी ओर कर लिया था । द्रव्य परम्पराओ के सचालको द्वारा प्रचचन मे लाये हुए चित्ताकर्षक धार्मिक आयोजनो के परिणाम-स्वरूप इन परम्पराओ द्वारा प्रचलित की गई सभी मान्यताए लोक मे धर्म के नाम पर रूढ हो गई थी । इसके साथ ही उन क्रियोद्धारको के असफल होने का दूसरा प्रमुख कारण यह था कि इन शक्तिशाली बनी हुई द्रव्य परम्पराओ के अनुयायी राजाओ, सामन्तो, कोट्याधीशो, व्यापारियो आदि के द्वारा जन साधारण को जो प्रलोभन उस समय प्राप्त थे, उस प्रकार के प्रलोभन देने की स्थिति मे ये नये क्रियोद्धारक पूर्णत अक्षम थे ।

भाव परम्परा की पुन स्थापना के लिये समय-समय पर मुमुक्षुओ द्वारा किये गये प्रयासो के पुन॰ पुन असफल हो जाने के उपरान्त भी भाव परम्परा के पक्षधर साधु साध्वी श्रावक श्राविका वर्ग हतोत्साहित नही हुआ । भाव परम्परा को पुन स्थापित करने और द्रव्य परम्परा को निसत्व एव निर्बल करने के प्रयास अध्यात्मपरक आत्मार्थी मुमुक्षुओ द्वारा समय-समय पर किये ही जाते रहे ।

"महानिशीथ सूत्र" के अथ से इति तक अध्ययन व पर्यालोचन से यह प्रकट होता है कि भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित जैन धर्म के मूल स्वरूप मे आस्था रखने वाला श्रमण वर्ग एव साधक वर्ग वस्तुत जैन धर्म के स्वरूप मे और श्रमणाचार मे द्रव्य परम्पराओ द्वारा लाई गई विकृतियो से बडा चिन्तित रहा । धर्म के मूल स्वरूप मे उत्तरोत्तर बढती गई विकृतियो और श्रमण वर्ग मे उत्तरोत्तर बढता हुआ शिथिलाचार यह सब कुछ उन आचार्यो श्रमणो और साधुओ के हृदय मे शल्य की तरह खटकता रहा ।

महानिशीथ के पर्यालोचन से ऐसा प्रतीत होता है कि विभिन्न इकाइयो मे विभक्त धर्म सघ मे उत्तरोत्तर बढते हुए मान्यता भेदो पर यदि किसी प्रकार का अकुश लगाकर जैन सघ को एकता के सूत्र मे आबद्ध नही किया गया तो इसके दूरगामी परिणाम बडे भयावह सिद्ध होगे इस आशका से चिन्तित होकर विभिन्न परम्पराओ के नायको ने भाव परम्परा और अनेक गणो, गच्छो, सम्प्रदायो एव धर्म सघो मे विभक्त हुई द्रव्य परम्पराओ के बीच समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया ।

महानिशीथ की रचना किसके द्वारा और किस समय मे की गई इस सम्बन्ध मे तो, प्रमाणाभाव मे निश्चित रूप से कुछ नही कहा जा सकता, परन्तु महानिशीथ मे ही विद्यमान उल्लेख से यह निश्चित रूपेण कहा जा सकता है कि विक्रम

सवत् ७५७ से ८२७ के बीच हुए आचार्य हरिभद्र सूरि ने इसका शोधन परिवर्द्धन पुनरालेखन आदि के रूप मे पुनरुद्धार किया।[1]

महानिशीथ की उस समय मे उपलब्ध एक मात्र प्रति के बहुत से स्थल दीमको द्वारा खा लिये गये थे। कही पक्तिया, कही अक्षर, कही पृष्ठ तो कही पूरे के पूरे तीन-तीन पत्र नष्ट हो गये थे। उस सडी-गली और दीमको द्वारा खाई हुई महानिशीथ की प्रति के उद्धार के पीछे आचार्य हरिभद्र का और उनके साथ मधुर सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न परम्पराओ के कतिपय आचार्यो का मूल उद्देश्य जैन धर्म सघ मे उत्तरोत्तर बढते हुए मान्यता भेद को यथा सम्भव मिटाना अथवा कम करना और अनेक सघो, गणो, गच्छो अथवा सम्प्रदायो के रूप मे छिन्न-भिन्न हुए धर्मसघ मे एक समान मान्यताए प्रचलित कर समन्वय स्थापित करने का था। अपने इस उद्देश्य की पूर्त्ति के लिये हरिभद्र सूरि ने और तत्कालीन विभिन्न सघो के आचार्यो ने महानिशीथ के मूल पाठ मे अनेक नवीन आलापक पृष्ठ के पृष्ठ भी जोडे है, यह महानिशीथ के निम्नलिखित पाठो से स्वत· ही सिद्ध होता है।

(१) तहा ओसन्ने सु जाणे नेत्थ लिहिज्जइ।

(२) पासत्थे नाणमादीण।

(३) सच्छन्दे उस्सुत्तमग्गगामी।

(४) सबले नेत्थ लिहिज्जति गथवित्थरभयाओ।

(५) भगवया उण एत्थ पत्थावे कुसीलादी महया पबधेण पन्नविए।

(६) एत्थ च जा जा कत्थइ अन्नन्न वायणा सा सुमुणिय-समय-सारेहि न पओसेयव्वा, जओ मूलादरिसे चेव बहु गथ विप्पणट्ठ।

---

[1] एत्थ य जत्थ पय पएणानुलग्ग सुत्तालावग न सपज्जइ, तत्थ तत्थ सुयहरेहिं कुलिहिय दोसो न दायव्वो त्ति।

किन्तु जो सो एयस्सा अचिंत चिन्तामणि कप्प भूयस्स महानिसीह सुयक्खधस्स पुव्वायरिसो आसि, तहिं चेव खडाखडीए उद्देहियाइएहिं हेऊहिं बहवे पण्णगा परिसडिया।

तत्था वि "अच्चत सुमह" अत्थाइसय ति इम महानिसीह सुयक्खध कसिण पवयणस्स परम सारभूय पर तत्त महत्थ "त्ति कलिऊण"।

पवयण वच्छलत्तणेण बहु भव्व सत्तोवयारिय च नाउ तहा य आय हियट्ठाए आयरिय हरिभद्देण ज तत्थ आयरिसे दिट्ठ त सव्व स मतीए साहिऊण लिहिय ति।

अन्नेहि पि सिद्धसेण दिवाकर वुड्ढवाई जक्खसेण देवगुत्त जसवद्धण खमासमण-मीस रविगुत्त नेमिचद जिनदास गणि खमग सव्व रिसि पमुहेहिं जुगप्पहाण सुयहरेहिं बहुमन्निय इण ति।

(महानिशीथ जैतारण से प्राप्त हस्तलिखित प्रति)

(७) ताहिं च जत्थ जत्थ सबधागुलग्ग सबुज्झइ, तत्थ तत्थ बहुएहिं सुयहरेहिं समिलिउण सगोवग दुवालस अगाओ सुयसमुद्दाओ अन्न-मन्न-अग-उवग-सुयक्खध-अज्झयण उद्देसगाण समुच्चिणिऊण किंचि किंचि सवज्झमाण एत्थ लिहिय, नउण सक कव्व कय ति ।

(महानिशीथ, तीसरा अध्ययन, पृष्ठ ७१, पैरा ४६—हेम्बर्ग (जर्मनी) से सन् १९६३ मे प्रकाशित ।

(२) एयस्स य कुलिहिय दोसो न दायव्वो सुयहरेहिं । किंतु जो चेव एयस्स पुव्वायरिसो आसि तत्थ एव कत्थइ सिलोगो, कत्थइ सिलोगद्ध, कत्थइ पयक्खर, कत्थइ अक्खर, पतिया, कत्थइ पण्णगा पुत्थिय कत्थइ बे तिन्नि पन्नगाणि एवमाइ बहु गन्थ परिगलिय ति ।

(वही, हेम्बर्ग मे प्रकाशित महानिशीथ पृष्ठ ३० पैरा २८)

अर्थात्— "इस महानिशीथ मे कही-कही जो वाचना भेद दृष्टिगोचर होता है, उसके लिये सिद्धान्तो और शास्त्रो के मर्मज्ञो को चाहिये कि वे दोष न दे क्योकि इस ग्रन्थ की जो मूल आदर्श प्रति थी, उसमे बहुत सा अश नष्ट हो गया था । जिन जिन स्थलो पर नष्ट हुए मूल पाठ के स्थान पर जो कुछ सुसम्बद्ध और समुचित पाठ प्रतीत होता था, इस प्रकार के पाठ स्थान-स्थान पर बहुत से शास्त्रज्ञ निष्णात श्रुतधरो ने एक साथ बैठकर एव विचार विमर्श करके श्रुतसमुद्र के अर्थात् द्वादशागी, अन्यान्य अग, उपाग, श्रुतस्कन्ध, अध्ययन एव उद्देशको से चुन-चुन कर उन रिक्त स्थलो मे उससे सम्बन्धित नया पाठ लिख दिया । वह कोई उनकी स्वतन्त्र कृति नही थी ।

श्रुतधरो को इस प्रकार का दोष नही देना चाहिये कि इस महानिशीथ के पाठो को समुचित रूप मे नही लिखा गया है, बुरे ढग से लिखा गया है । क्योकि इसकी जो मूल आदर्श प्रति थी, उसमे कही श्लोक, कही श्लोकार्द्ध, कही पद, कही अक्षर, कही पक्तिया, कही पृष्ठ और कही-कही दो-तीन पन्ने नष्ट हो गये थे । इस प्रकार ग्रन्थ का बहुत-सा भाग गल गया था ।"

घाणेराव सादडी (राजस्थान) से प्राप्त हुई महानिशीथ की हस्तलिखित प्रति के पृष्ठ २४ (१) के दक्षिणी हाशिये मे निम्नलिखित पाठ लिखा हुआ मिलता है —

"मूल सूत्र मे लिख्यो जिहा पद, आलावा, (आलापक) न सपजै तिहा सूत्र धरै कुलिख्या नो दोष न देवो जे भणी (इसलिये कि) ए सूत्र ना घणा पाना सड्या देखी भवजीव निमित्तै आठ आचार्यै हरिभद्र सूर, सिद्धसेन दिवाकर, वृद्धवादी, जक्खसैण (यक्षसेन), देवगुप्त, जिनदासगणि, जसवद्धण और नेमिचन्द्र सात-आठ नवा आलावा (आलापक) घाल्या छे ।"

उपर्युल्लिखित इन सब उद्धरणो से यह स्पष्टत प्रतीत होता है कि आचार्य श्री हरिभद्र ने अपने समय के प्रसिद्ध एव जनप्रिय सात अन्य विद्वान् आचार्यों के साथ विचार-विमर्श कर दीमको द्वारा खाई हुई अथवा सडी-गली महानिशीथ सूत्र की प्रति मे कुछ नये आलापक नये वाक्य नये शब्द और नये पृष्ठ जोडकर उस महानिशीथ का उद्धार किया। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है महानिशीथ के इस उद्धार के पीछे मूल उद्देश्य विभिन्न इकाइयो मे विभक्त जैनधर्मसघ को एकता के सूत्र मे आबद्ध करना था। अपने इस प्रयास मे आचार्य श्री हरिभद्र और उनके समय के, समकालीन विभिन्न सम्प्रदायो के, मान्यताओ के आचार्यो ने ऐसी धार्मिक क्रियाओ को भी जैन धर्मावलम्बियो की धार्मिक दैनन्दिनी मे जोडने का प्रयास किया, जिनका कि मूल आगमो मे सर्वथा निषेध किया गया है। उनके द्वारा ऐसा किये जाने के पीछे क्या-क्या कारण रहे होगे, उन कारणो के सम्बन्ध मे निश्चित रूप से तो कुछ भी नही कहा जा सकता पर अनुमान यही किया जाता है कि जो द्रव्य परम्पराओ द्वारा प्रचालित द्रव्यार्चना के जो-जो विधि-विधान धार्मिक रीति-रिवाजो के रूप मे जन-जन के मानस मे घर कर गये थे अथवा जो विधि-विधान बहुसख्यक जैन धर्मावलम्बियो के जीवन मे रूढ हो गये थे और जिनको हटाना अथवा जिनका खुले शब्दो मे विरोध करना उन आचार्यो को सम्भव प्रतीत नही हो रहा था, उन कतिपय धार्मिक रीति-रिवाजो को, उन धार्मिक दैनिक कर्त्तव्यो को उन्होने धर्म के अभिन्न अग के रूप मे मान्य कर लिया। ऐसा करने मे उनके अन्तर्मन पर सम्भवत काफी बोझ पडा, ऐसा आभास महानिशीथ की तद्-तद् प्रसगिनी भाषा से होता है। उदाहरण के रूप मे लिया जाय तो पच मगल प्रकरण मे चैत्यवन्दन का अविरत गृहस्थ के लिये विधान किया है, द्रव्य पूजा का विधान किया गया है किन्तु दूसरी ओर सावद्याचार्य के नाम से चैत्यवासियो द्वारा अभिहित (सम्बोधित) किये जाने वाले आचार्य कुवलयप्रभ के प्रकरण मे चैत्य निर्माण के कार्य को ऐसा सावद्य कार्य बताया गया है जिसका एक चरित्रनिष्ठ पच महाव्रतधारी साधु वचनमात्र से भी अनुमोदन नही कर सकता। इस प्रकार के अनेक प्रसग है, जिनसे यह स्पष्ट रूप से प्रकट होता है कि जिन कार्यों का एक ओर साधारण रूप से विधान किया गया है तो दूसरी ओर उन्ही बातो का बडी शक्तिशाली निर्णायक भाषा मे निषेध किया गया है।

महानिशीथ सूत्र मे जो इस प्रकार के प्रकरण उल्लिखित हैं, उनसे तो ऐसा ही प्रतीत होता है कि उनके द्वारा द्रव्य परम्पराओ का, मूल भावपरम्परा के साथ समन्वय करने का प्रयास किया गया है। उन सब पर यहा प्रकाश डाला जा रहा है :—

द्रव्य परम्परा और भाव परम्परा, द्रव्य पूजा और भाव पूजा, द्रव्यस्तव और भावस्तव अथवा द्रव्य अर्चना और भाव अर्चना—ये कतिपय विषय आर्य

देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमण के उत्तरवर्ती काल के प्रारम्भ से लेकर अर्थात् चैत्यवासी आदि द्रव्य परम्पराओं के अभ्युदयकाल से लेकर अद्यावधि पर्यन्त बडे चर्चा के विषय रहे है। इस विषय मे महानिशीथ सूत्र मे बडे सुन्दर ढग से प्रकाश डाला गया है। वह मूल प्रकरण साराश के साथ यहा अविकल रूप से दिया जा रहा है।

(१६)

३४ तेसिं य तिलोग महियाण धम्म तित्थकराण जग गुरूण।
भावच्चण दव्वच्चरण भेदेन दुह अच्चरण भरिणय ।।

३५ भावच्चरण चरित्ताणुट्ठाण कट्ठुग्ग घोर तव चरण।
दव्वच्चण विरयाविरय सील-पूया-सक्कार-दाणादि ।।

ता गोयमा। ण एस एत्थ परमत्थे, त जहा

३६ भावच्चण उग्ग विहारया य दव्वच्चण तु जिण-पूया।
पढमा जतीण, दोन्नि वि गिहीण, पढमाच्चिय पसत्था ।।

(१७)

(१) एत्थ च गोयमा! केइ अमुणिय समय सब्भावे, (अव) ओसन्न विहारी, नीय वासिणो, अदिट्ठ परलोग पच्चवाए, सय मति, इड्ढि रस साय गारवाइ मुच्छिए राग दोस मोहाहकार ममिकाराइसु पडिबद्धे,

(२) कसिण सजय सद्धम्म परमुहे, निद्दय निर्त्तिस निग्घिण अकलुण निक्किवे, पावायरणेक्क अभिनिविट्ठ बुद्धि एगतेण अइचड रोद्द कूराभिग्गहिय मिच्छदिट्ठिणो,

(३) कय सव्व सावज्ज जोग पच्चक्खाण विप्पमुक्कासेस सगारभ परिग्गहे तिविहेण पडिवन्न सामाइए य दव्वत्ताए न भावत्ताए नाममेत्त मुडे, अणगारे महव्वयधारी समणे वि भवित्ताण एव मन्नमाणे सव्वहा उम्मग्ग पवत्तति,

(४) जहा किन्न "अम्हे अरहताण भगवताण गध मल्ल पदीव समज्जणोवलेवण विचित्त वत्थ बलि धूयाइएहिं पूयासक्कारेहिं अणुदियह अब्भच्चण पकुव्वाणा तित्थुच्छप्पण करेमो।"

(५) त च नो ण "तह" त्ति गोयमा! समणुजाणेज्जा।

(१८)

(१) "से भयव ! केण अत्थेण एव वुच्चइ, जहा ण त च नो ण "तह" ति समणुजाणेज्जा ?"

(२) गोयमा ! तय अत्थाणुसारेण असजम बाहुल, असजम वाहुलेण च थूल कम्मासव, थूल कम्मासवाओ य अज्झवसाय पडुच्चा थूलयर सुहासुह कम्म-पयडि बधो सव्व सावज्ज विरयाण च वयभगो

(३) वयभगेण च आणाइक्कम, आणाइक्कमेण तु उम्मग्ग गामित्त उम्मग्ग गामित्तेण च सम्मग्गपलोयण उम्मग्गपवत्तण

(४) सम्मग्ग विप्पलोयणेण च जईण महती आसायणा, ताओ य अणत ससार आहिडण

(५) एएण अत्थेण गोयमा । एव वुच्चइ जहा ण गोयमा । नो ण त "तह" त्ति समणुजाणेज्जा ।

(१९)

३७ दव्वत्थवाओ भावत्थव तु, दव्वत्थओ बहुगुणो भवउ तम्हा ।
अबुह जणे बुद्धीय, छक्काय हिय तु गोयमाणुट्ठे ।।

३८ अकसिण पवित्तगाण विरया विरयाण एस खलु जुत्तो ।
जे कसिण सजम विऊ पुप्फादिय न कप्पए तेसिं तु ।।

३९ कि मन्ने गोयमा ! एस बत्तीसिं दाणुट्ठिए ।
जम्हा तम्हा उ उभय पि अणुट्ठेज्ज एत्थ न बुज्झसि ।।

४० विणिओग एव त त सि भावत्थवासभवो तहा ।
भावच्चणा य उत्तमय दसण्णभद्देण पायडे ।।

४१ जहेव दसण्णभद्देण उयाहरण तहेव य ।
चक्कहर भाणु ससि दत्त दमगादिहिं विणिद्दिसे ।

४२ पुच्छ ते गोयमा ! ताव ज सुरिंदेहिं भत्तिओ ।
सव्विड्ढिए अणन्नसमे पूया सक्कारे कए ।।

४३ ता कि त सव्व-सावज्ज-तिविह विरएहिमणुट्ठिय ।
उयाहु सव्वठामेसु सव्वहा अविरएसु उ ? ।।

४४ नणु भयव सुरवरिंदेहिं सव्वठामेसु सव्वहा ।
अविरएहिं सुभत्तीए पूया सक्कारे कए ।।

४५ ता जइ एव तओ बुज्झ गोयमा नीससय ।
देस-विरय अविरयाण तु विणिओगम् उभयत्थ वि ।।

४६ सयम एव सव्व तित्थकरेहिं ज गोयमा ! समायरियम् ।
कसिण अट्ठ कम्म खय-कारिय तु भावत्थय अणुट्ठे ।।

४७ भवती उ गमागम जतु फरिसणाइ पमद्दण जत्थ ।
स-पर हिओवरयाण न मण पि पवत्तए तत्थ ।।

४८ ता स-पर हिओवरएहि सव्वट्ठाण एसियव्व विसेस ।
ज परम सार भूय विसेसवत च अणुट्ठेय ।।

४६ ता परम सार भूय विसेसवत च साहु वग्गस्स ।
एगतहिय पच्छ सुहावह एय परमत्थ ।।

त जहा —

(२०)

५० मेरुत्तुगे मणि मडिएक्क कचणमए परम रम्मे ।
नयण मणाणदयरे पभूय विन्नाण साइसए ।।

५१ सुसिलिट्ठ विसिट्ठ सुलट्ठ चड सुविभत्त सुणिवेसे ।
बहु सिंहयण्ण घटा धयाउले पवर तोरण सणाहे ।।

५२ सुविसाल सुवित्थिण्णे पए पए पेच्छियव्व य सिरीए ।
मघ मघ मघेत डज्झत अगरु कप्पूर चदणामोए ।।

५३ बहु विह विचित्त बहु पुप्फमाइ पूयारुहे सुपूए य ।
निच्च पणच्चिर नाडय सयाउले महुर मुर व सद्दाले ।।

५४ कुट्टत रास जण सय समाउले जिण कहा खित्त चित्ते ।
पकहत कहग नच्चत चत्त गधव्व तूर निग्घोसे ।।

५५ एमादि गुणोवेए पए पए सव्व मेइणी वत्थे (ट्ठे) ।
निय भुय विघत्त पु ण्णज्जिएण नायागएण अत्थेण ।।

५६ कचण मणि सोमाणे थभ सहस्सूसिए सुवण्ण तले ।
जो कारवेज्ज जिणहरे तओ वि तव सजमो अणत गुणो त्ति ।।

(२१)

५७ तव सजमेरा बहु भव समज्जिय पाव कम्म मल लेव।
निद्धोविऊण अइरा अरणत सोक्ख वए मोक्ख ।।

५८ काउ पि जिणाययणेहि मडिय सव्व मेइणी वट्ट।
दाराइ चउक्केण सुट्ठु वि गच्छेज्ज अच्चुय न परओ गोयमा गिहि त्ति ।।

५९ जइ ता लव सत्तम सुरविमाराावासी बि परिवडति सुरा।
सेस चितिज्जत ससारे सासय कयर ? ।।

६० कह त भण्णउ सोक्ख सुचिरेरा वि जत्थ दुख अल्लियइ।
ज च मरणावसाण सुथेव कालीय तुच्छ तु ? ।।

६१ सव्वेरा वि कालेरा ज सयल नरामरारा भवइ सुह।
त न घडइ समयणुभूय मोक्ख सोक्खस्स अरणत भागे वि ।।

६२ ससारिय सोक्खाण सुमहताण पि गोयमाणेगे।
मज्झे दुक्ख सहस्से घोर पयडे रणु भुज्जति ।।

६३ ताइ च साय वेओयएण न यराति मदबुद्धीए।
मणिकणग सेलमय लोढग गले जहव वरिणय धूया ।।

६४ मोक्ख सुहस्स उ धम्म सदेव मरणुयासुरे जगे एत्थ।
नो भाणिऊण सक्का नगरगुणे जहव य पुलिंदो ।।

६५ कह त भणणउ पुण्णा सुचिरेणवि जस्स दीसए अत।
ज च विरसावसारा ज ससाराणुबंधि च ? ।।

६६ त सुर विमारा विहव चितिय चवरा च देवलोगाओ।
अइवलिय चिय हियय ज न वि सय-सिक्कर जाइ ।।

६७ नरएसु जाइ अइदूसहाइ दुक्खाइ परमतिक्खाइ।
को वण्णेहि ताइ जीवत्तो वास कोडिं पि ? ।।

६८ ता गोयमा ! दस विह धम्म घोर तव सजमाणुट्ठाणस्स।
भावत्थव इति नाम तेणेव लभेज्ज अक्खय सोक्ख ति ।।

(२२)

६९ नारग भव तिरिय भवे अमरभवे सुरवइ त्तणे वा बि।
नो त लब्भइ गोयम ! जत्थ व तत्थ व मणुय जम्मे ।।

७० सुमह अच्चत-पहीणे सुसजमावरण-नामधेज्जेसु ।
ताहे गोयम ! पाणी भावत्थय-जोगय उवेइ ।।

७१ जम्मतर सचिय गरुय पुण्ण पब्भार सविढत्तेण ।
माणुसजम्मेण विणा नो लब्भइ उत्तम धम्म ।।

७२ जस्साणुभावओ सुचरियस्स निसल्ल दभ रहियस्स ।
लब्भइ अउलमणत अक्खय सोक्ख तिलोयग्गे ।।

७३ त बहु भव सचिय तु ग-पाव-कम्मट्ठ-रासि-दहणट्ठ ।
लद्ध माणुसजम्म विवेगमादिहि सजुत्त ।।

७४ जो न कुणइ अत्तहिय सुयाणुसारेण आसवनिरोह ।
चत्तिग सीलग-सहस्स-धारणेण तु अपमत्तो ।।

७५ सो दीहर अव्वोच्छिन्न घोर दुक्खग्गि दाव पज्जलिओ ।
उव्वेविय सतत्तो अणतहुत्तो सुबहुकाल ।।

७६ दुग्गधामेज्झ चिलीण-खार-पित्तोज्झ-सिभ-पडहत्थे ।
वस जलुस पूय दुद्दिण चिलिच्चिले रुहिर चिक्खल्ले ।।

७७ कढ कढ कढत चल चल चलस्स तलतलतलस्स रज्झतो ।
सपिडियगमगो जोणि जोणि वास गब्भे ।
एक्केक्क गब्भवासे सुजतियगो पुणरवि भमेज्जा ।।

७८ ता सताव उव्वेवग जम्म जरा मरण गब्भवासाइ ।।
ससारिय दुक्खाण विचित्तरूवाण भीएण ।

७९ भावत्थवाणुभाव असेस भव भय खयकर नाउ ।
तत्थ एव महताभ उज्झमेण दढ अच्चत पयइयव्व ।।

८० इय विज्जाहर किन्नर नरेण ससुरासुरेण वि जगेण ।
सथुव्वते दुविहत्थवेहि ते तिहुयणेक्कीसे ।
गोयमा ! धम्म तित्थकरे जिणे अरिहते त्ति ।।

अर्थात्—"उन जगद्गुरु त्रिलोक पूज्य धर्म तीर्थंकरो की अर्चना दो प्रकार की कही गई है। एक भाव अर्चना और दूसरी द्रव्य-अर्चना। चरित्र का पालन, घोर कठोर उग्र तप का आचरण-यह भाव अर्चना है और पूजा सत्कार करना एव दान देना आदि

द्रव्यार्चना है। तो गौतम ! निश्चित रूप से जो कल्याणकारी है वह इस प्रकार है —

उग्र विहार भावार्चन है और जिन पूजा यह द्रव्यार्चन है तथा पहली उग्र विहार रूप भाव अर्चना यतियो के लिए है और गृहस्थो के लिये दोनो ही प्रकार की अर्चना कही गई है, पर इन मे पहली भाव अर्चना ही प्रशस्त है।

गौतम ! यहा सिद्धान्तो के मर्म से अनभिज्ञ अनेक ऐसे साधु जो विहार का परित्याग कर नियत निवास करने वाले है, परलोक मे उनका कैसा घोर अहित होगा, इस पर विचार न करके स्वेच्छाचारी बने हुए ऋद्धि, रस, साता, गर्व-मूर्च्छित है और जो राग, द्वेष, मोह, अहकार और ममत्व आदि के दास बने हुए है, जो सयम और सद्धर्म से परागमुख है, निर्दय निस्त्रिश, घृणास्पद, क्रूर, पापाचार-परायण, एकान्तत अति चड, रौद्र एव क्रूर मनोभाव वाले मिथ्या दृष्टि लोग सब प्रकार के सावद्य योगो का सग, आरम्भ-परिग्रह जीवन भर त्रिकरण त्रियोग से त्याग कर भी द्रव्य रूप से सयम ग्रहण किये हुए है, न कि भाव रूप से, जो नाम मात्र के अणगार है, वे यह कहते हुए उन्मार्ग मे प्रवृत्त होते है कि हम अर्हन्त भगवन्तो का गन्ध, माला, प्रदीप, स्नान, उपलेपन, सुन्दर, वस्त्र, बलि, धूप आदि से पूजा सत्कार करते हुए और प्रतिदिन अभ्यर्चन करते हुए धर्म तीर्थ का उत्थान करते है। हे गौतम ! उन लोगो का यह कथन वस्तुत सत्य नही है। क्योकि उनके इस प्रकार के कार्य कलापो मे असयम का बाहुल्य है। असयम की बहुलता से स्थूल कर्मो का आश्रव होता है और स्थूल कर्मो के आश्रव से अति स्थूल कर्म प्रकृतियो का बन्ध और सब प्रकार के सावद्य कर्मो के त्यागी साधुओ के व्रत का भग होता है। व्रत भग से तीर्थंकरो की आज्ञा का अतिक्रमण होता है। आज्ञा के अतिक्रम से उन्मार्ग गामिता उत्पन्न होती है। उन्मार्ग गामी हो जाने से समग्र अच्छाइयो का लोप हो जाता है। सब प्रकार की अच्छाइयो के लोप हो जाने से यतियो की बडी आसातना होती है। यतियो की आसातना से वह अर्हन्तो की आज्ञा का अतिक्रमण करने वाला साधु अनन्त काल तक ससार मे परि-भ्रमण करता रहता है।

द्रव्यस्तव और भावस्तव, इनमे द्रव्यस्तव बडा गुणकारी है—इस प्रकार की वुद्धि अप्रबुद्ध व्यक्तियो मे होती है क्योकि हे गौतम ! सर्वथा षड्जीव निकाय का हित करना उचित है। जिन्होने सम्पूर्ण

सावद्य कर्मो का त्याग नही किया है, उन विरताविरतो के लिये यह द्रव्यस्तव उपयुक्त है किन्तु जिन्होने सम्पूर्ण सावद्य कर्मो का त्याग कर एव सयम ग्रहण कर सयम के महत्व को जान लिया है, उनके लिये पुष्पादिक कभी नही कल्पते। हे गौतम ! यह कहा जाता है कि ३२ इन्द्रो ने भी पुष्पादिक से पूजा की इसलिये जिस किसी भी तरह हो द्रव्य पूजा और भाव पूजा दोनो ही करनी चाहिये। गौतम ! वस्तुत यहा उन्हे वास्तविक तत्व का बोध नही है। वास्तविकता यह है कि उन देव देवेन्द्रो के लिये भावस्तव असम्भव है। भाव-अर्चना वस्तुत अत्युत्तम है, यह तो दशार्ण भद्र के दृष्टान्त से प्रकट ही है। जिस प्रकार दशार्णभद्र का उदाहरण है, उसी प्रकार चक्रवर्ती, भानु, शशिदत्त और द्रमुक आदि के दृष्टान्त समझने चाहिये। गोतम ! देवेन्द्रो ने अपनी सम्पूर्ण ऋद्धि के साथ भक्तिपूर्वक तीर्थ-करो की पूजा की, उनका सत्कार किया। वह सब कुछ क्या सभी प्रकार के सावद्य कर्मो का त्रिविध त्रिकरण से त्याग करने वाले विरतो द्वारा किया गया था ? अथवा सर्वथा सदा सभी अवस्थाओ मे अविरत लोगो द्वारा किया गया था ! भगवन् ! देवेन्द्रो ने जो अपूर्व भक्ति के साथ तीर्थकरो का पूजा सत्कार किया, वह सब भाति सभी दशाओ मे अविरत प्राणियो द्वारा किया गया पूजा सत्कार था। तो हे गौतम ! यदि ऐसी बात है तो इस तथ्य को नि सशय होकर हृदयगम करो कि देशविरत और अविरत इन दोनो मे भी कितना अन्तर है ? इस बात को समझ कर हे गौतम ! सभी तीर्थ-करो ने स्वय जो आचरण किया है, सम्पूर्ण आठो कर्मो को समूल नष्ट करने वाले उस भावस्तव का ही अनुष्ठान करना चाहिये। गौतम ! जहा अर्थात् जिस द्रव्यार्चना मे गमनागमन काल मे पृथ्वी अप, तेज, वायु और वनस्पति एव त्रस इन षड् जीव निकाय के प्राणियो की स्पर्श, मर्दन एव हिंसा रूप जो पाप कर्म होते है, उस कार्य मे स्व तथा पर के हित मे निरत रहने वाले व्यक्ति मन मात्र से भी प्रवृत्ति नही करते। इसलिये स्व पर हित मे निरत रहने वाले विज्ञो को सभी कार्यो मे जो श्रेष्ठ हो, उसी को चुनना चाहिये तथा जो कार्य परम सारभूत और सर्वोत्तम विशेषताओ से युक्त हो, उसी कार्य को करना चाहिये।"

वह सारभूत सर्वोत्तम कार्य इस प्रकार है—

"पर्वताधिराज सुमेरु पर्वत के उच्चतम शिखर के सन्निभ गगनस्पर्शी विशुद्ध स्वर्ण से निर्मित, सभी भाति की उत्कृष्ट कोटि

की मणियो से जटित खचित अतीव सुन्दर परम नयनाभिराम स्थापत्यकला के उच्चतम विज्ञान के उदाहरणस्वरूप अनेक प्रकार के मनोहारी चित्रो से चित्रित भित्ती वाले अगणित शृ गाटको, घटाओ, ध्वजाओ से सुशोभित, अति सुन्दर तोरणो से युक्त, अति विशाल, अति विस्तीर्ण, पग-पग पर दर्शनीय प्रियदर्शी दृश्यो से सकुल, जलते हुए अगर, कपूर, चन्दन आदि के धूप से मगमगायमान, विचित्र वर्णों के सभी जातीय पुष्पो से आच्छादित, अति मधुर सम्मोहक नाट्य नृत्य वादित्र आदि की ध्वनियो से निरन्तर मुखरित, जिनेश्वरो की जीवन कथाओ से चित्रित भित्तिचित्रो वाले, जहा जिनेश्वरो के जीवन वृत्तो पर निरन्तर रास, कथानक, कीर्त्तन आदि विविध वाद्य वृन्दो के अति सुन्दर ताल स्वरो पर चल रहे हो, इत्यादि अनेक गुणो से युक्त पग-पग पर सम्पूर्ण वसुन्धरा के शृ गारभूत, अपनी भुजाओ के बल से अर्जित पुण्य के प्रभाव से न्यायपूर्वक उपार्जित द्रव्य द्वारा क्रीत कचन मणियो के सहस्रो सहस्र स्तम्भो पर आधारित और स्वर्ण निर्मित आगन, भित्ति एव छत वाले जिनेश्वरो के मन्दिरो से यदि कोई व्यक्ति सम्पूर्ण धरातल को आच्छादित कर दे, तो भी लव मात्र आचरित तप सयम इस प्रकार के उस विचित्र जिन मन्दिर-निर्माण-कार्य की तुलना मे अनन्त गुणा श्रेष्ठ है ।"

"क्योकि तप और सयम कोटि-कोटि भवो मे उपार्जित पाप कर्म लेप को धोकर स्वल्प काल मे ही अनन्त-अनन्त सुखो के निधान मोक्ष धाम को प्रदान करता है। हे गौतम ! सम्पूर्ण वसुन्धरा के तल को जिनायतनो से मडित करने और दानादि चतुष्क के देने के उपरान्त भी एक गृहस्थ अच्युत नामक स्वर्ग तक जा सकता है, उससे आगे नही। लव सत्तम देव विमानो के वासी देवता भी एक न एक दिन वहा से च्यवन करते हैं तो फिर ससार मे और दूसरो की तो गणना ही क्या है। वस्तुत इस ससार मे शाश्वत है ही क्या ? उसे सुख कैसे कहा जा सकता है, जिसे अन्ततोगत्वा दुख आ घेरता है ? क्योकि बहुत लम्बे काल के पश्चात् भी जहा मृत्यु और अवसान के लिये अवकाश है, वह वस्तुत तुच्छ ही है। अनादि भूत, अनन्त भविष्य और वर्तमान इन तीनो काल के समस्त देव देवेन्द्रो और नर नरेन्द्रो के सम्पूर्ण सुख को एक स्थान पर पिंडी भूत कर दिया जाय तो भी वह सारा सासारिक सुख मोक्ष के एक समय (काल का सूक्ष्मातिसूक्ष्म परिमाण) मात्र के सुख के अनन्तवे भाग की भी तुलना नहीं कर सकता। गौतम ! ससार के बडे से बडे सर्वोत्कृष्ट सुख मे भी हजारो प्रकार के दु ख, घोर अनुताप और

प्रचण्ड वेदनाए अनुभव की जाती है। उन वेदनाओ को, उन घोर दुखो को, उन सहस्रो सहस्र ताप सतापो को प्राणी अपनी मन्द बुद्धि के कारण और साता वेदनीय के परिणामस्वरूप ठीक उसी प्रकार नही जानता जिस प्रकार कि मणि मडित स्वर्णपत्र से वेष्टित प्रस्तर शिला को अपने गले मे लटकाये हुए वणिक् वधूटि उस शिला के भार को अनुभव नही करती। ससारवासी देवो, मनुष्यो एव असुरो आदि मे से कोई भी ससारी प्राणी मोक्ष के सुखो का ठीक उसी प्रकार वर्णन नही कर सकता, जिस प्रकार कि जीवन भर विकट अटवी मे ही रहा हुआ एक पुलिन्द (भिल्ल) नगर के गुणो का वर्णन करने मे असमर्थ-अक्षम रहता है। उसे पुण्ण (पूर्ण और पुण्य दोनो का प्राकृत रूप) कैसे कहा जा सकता है, जिसका कि सुदीर्घ काल से ही सही पर एक न एक दिन अन्त होना सुनिश्चित है और वस्तुत जिसमे विरसता (कटुता दुखानुभूति के भाव), अवसान (अन्त-समाप्ति) और भव भ्रमण की शृ खला का बन्ध कराने वाली शक्ति विद्यमान है। देव विमान से च्यवनकाल मे वहा से च्युत होने वाला प्राणी देव विमान के वैभव और देवलोक से च्यवन की बात सोचकर गहन चिन्ता मे मग्न हो जाता है। उसका हृदय इस प्रकार आकुल व्याकुल हो जाता है मानो उसके सौ-सौ टुकडे हो रहे हो। नरक योनि मे अति दु सह्य एव अति कठोर और घोर जो दुख है, उसका वर्णन कोई व्यक्ति कोटि-कोटि वर्षो की आयुष्य पाकर भी नही कर सकता। इसलिये हे गौतम! दस प्रकार के धर्म, घोर तपश्चरण और सयम के परिपालन का ही नाम भावस्तव है। वस्तुत इस भावस्तव से ही अक्षय अव्याबाध शाश्वत सुख की प्राप्ति की जा सकती है। गौतम! उस भावस्तव के करने का सौभाग्य नरक, तिर्यन्च और देव भवो मे तथा इन्द्र पद प्राप्त कर लेने पर भी प्राप्त नही किया जा सकता। यह सौभाग्य तो केवल मनुष्य भव मे ही प्राप्त किया जा सकता है। गौतम! सयमावरण नाम कर्म के विपुल क्षय होने पर प्राणी को भावस्तव करने की योग्यता प्राप्त होती है। जन्म-जन्मान्तरो मे सचित गुरुतर पुण्य के प्रभाव से सप्राप्त मानव भव के बिना उत्तम धर्म—भावस्तव प्राप्त नही होता। शल्य और दम्भ से पूर्णत रहित, त्रिकरण-त्रियोग से विशुद्ध रूपेण आचरित उस भावस्तव अथवा उत्तम धर्म के कृपा प्रसाद से ही प्राणी तीनो लोको के मूर्धन्य अग्रभाग मे अतुल अनन्त शाश्वत शिव सुख प्राप्त करता है। जन्म-जन्मान्तरो मे सचित आठो पापकर्मो की उत्तु ग अपार राशियो को भस्मावशिष्ट करने के लिये विवेक आदि से सयुक्त मनुष्य जन्म को पाकर भी जो प्राणी आश्रवो के निरोध के साथ

अप्रमत्त भाव से शास्त्राज्ञा के अनुसार इस उत्तम धर्म भावस्तव के धारण के द्वारा अपना आत्म-कल्याण नही कर करता, वह सुदीर्घ काल तक घोरातिघोर दारुण दुखो की अविच्छिन्न दाहक परम्परा मे दग्ध होता हुआ अनन्त काल तक अनन्त बार घोर सतापो से सत्रस्त एव प्रकम्पित होता रहता है। वह दु सह्य दुर्गन्ध, मल-मूत्र, रुधिर, मज्जा, क्षार, पित्त, वसा के कीचड से भरी हुई विविध योनियो के गर्भावास मे घोर दुखो का भाजन बनता है। अत सताप उद्वेग, जन्म, जरा, मृत्यु, पुन पुन गर्भावास आदि ससार के घोर दुखो से भयभीत होने वाले मानव को जन्म, जरा, मृत्यु आदि सब प्रकार के भयो को नष्ट करने वाले भावस्तव के महत्व को जानकर पूरी दृढता, निष्ठा और कठोर परिश्रम के साथ उसे जीवन मे ढालने के लिये प्राणप्रण से प्रयास करना चाहिये।"

इस प्रकार आचार्य हरिभद्र ने और उनके समकालीन कतिपय आचार्यो ने द्रव्यस्तव और भावस्तव के प्रश्न को लेकर अनेक अथवा अगणित पृथक्-पृथक् इकाइयो मे विभक्त हुए भगवान् महावीर के धर्मसघ को एकता के सूत्र मे आबद्ध करने के उद्देश्य से महानिशीथ का उद्धार करते समय उपरिलिखित पाठ के माध्यम से प्रथम प्रयास किया। मूल पाठ के इन शब्दो से प्रत्येक विज्ञ सहज ही अनुमान लगा सकता है कि इस प्रकार के समन्वय के प्रयास मे महत्व द्रव्यस्तव का अधिक रहा अथवा भावस्तव का।

इस प्रकार द्रव्यार्चना और भावार्चना की एक विवादास्पद समस्या मे समाधान के लिये हरिभद्रादि आठ आचार्यों ने समन्वयकारिणी इस प्रथम मान्यता को एकमत से स्वीकार किया।

दूसरी जो मान्यता रखी गई वह है चैत्यवासी परम्परा के अभ्युदय काल से ही द्रव्य परम्पराओ के माध्यम से जैन धर्म सघ मे रूढ हुई चैत्य वन्दन की मान्यता। उपरोक्त आठो ही आचार्यो ने सम्भवत इसे एक मत से स्वीकार किया। चैत्य वन्दन की मान्यता के सम्बन्ध मे जो कतिपय पाठ महानिशीथ के तृतीय अध्ययन मे हरिभद्र द्वारा महानिशीथ के उद्धार के समय लिखे गये, वे इस प्रकार है —

१ से भयव कयराए विहीए पच मगलस्स ण विणओवहाण कायव्व ?

२ गोयमा ! इमाए विहीए पच मगलस्स ण विणओवहाण कायव्व, त जहा सुपसत्थे चेव सोहणे तिथि करण मुहुत्त नक्खत जोग लग्गससिवले

३ विप्पमुक्क जायाए मयासकेरण, सजाय सद्धा सवेग सुतिव्वतर महतुल्ल-सत सुहज्भवसायाणुगय भत्ति बहुमाणपुव्व निण्णियाण दुवालस भत्तट्ठियेरण

४ चेइग्रालये जतुविरहिग्रोगासे

५ भत्तिब्भर निब्भरुद्धुसिय स सीसरोमावलि पफुल्ल वयण सयवत्त पसत सोम थिर दिट्ठी

६ नव नव सवेग समुच्छलत सजाय बहुल घण निरन्तर ग्रचित परम सुह परिणाम विसेसुल्लसिय सजीव वीरियाणुसमय विवद्ध त पमोय सुविसुद्ध सुरिणम्मल विमल थिर रढयरन्तकरणेण

७ खिति निहिय जानु नसि उत्तमग कर कमल मउल सोहजलिपुडेण

८ सिरि उसभाइ पवर-वर-धम्मतित्थयर पडिमा बिब विणिवेसिय नयरण माणसेगग्ग तग्गय ग्रज्भवसाएण

६ समयण्णु दढ चरित्तादि गुरण सपग्रोववेय गुरु सद्दत्थ ग्रट्ठाणुट्ठाए करणेक्क वद्ध लक्ख तवाहिय गुरु वयण विणिग्गय

१० विरणयादि बहुमाण परिग्रोसारणुकपोवलद्ध

११ ग्ररणेगसोग सतावुव्वेग महावाहि वेयरणा घोर दुक्ख दारिद्द किलेस रोग जम्म जरा मरण गब्भवास निवासाइ दुट्ठ सावगागाह भीम भवोदहि तरडगभूय इरणमो

१२ सयलागममज्भवत्तगस्स पिच्छत दोसोवहय विसिट्ठबुद्धि परिकप्पिय कुभरिणय ग्रघडमारण ग्रसेस हेउ दिट्ठत जुत्ति विद्ध सरणेक्क पच्चल पोढस्स पचमगल महासुयक्खधस्स

१६ सव्व महामत पवर विज्जाण परम बीयभूय

१७ नमोग्ररहताण ति

१८ पढमज्भयण ग्रहिज्जेयव्व ।

(विनयचन्द्र ज्ञान भडार, जयपुर मे उपलब्ध महानिशीथ की प्रति का पृष्ठ ५३ का पैरा ६)

१ "से भयव एव जहुत्त विणग्रोवहाणेण पञ्चमगल महा सुयक्खध अहिज्जित्ताण पुव्वाणुपुव्वीए पच्छाणुपुव्वीए अणाणुपुव्वीए सर वञ्जण मत्ताबिन्दु पयक्खर विसुद्ध थिर परिचय काऊण महया पबधेण सुतत्थ च विण्णाय, तओ य ण कि अहिज्जे ?

२ गोयमा । इरियावहिय

३ "से भयव केण अत्थेण एव वुच्चई जहा ण पच मगल महा-सुयक्खध अहिज्जित्ताण पुणो इरियावहिय अहीए ?"

४ गोयमा । जे एसे आया से ण जया गमणागमणाइ परिणाम परिणए अणेगजीव पाण भूय सत्ताण अणोवउत्तपमत्ते सघट्टण अवद्दावण किलामण काऊण अणालोइय अपडिक्कते चेव असेस कम्म खयट्ठाए किंचि चिइ वदण सज्झाय झाणाइएसु अभिरमेज्जा तया से एग चित्ता समाही भवेज्जा न वा ।

५ जओ ण गमणागमणाइ अणेग अन्न वावार परिणामासत्त चित्त-त्ताए केइ पाणी त एव भावतर अच्छड्डिय अत्त दुहत्त अज्झवसिए कंचि काल खण विरत्तेज्जा ताहे त तस्स फलेण विसवएज्जा ।

६ जया उण कहिं चि अण्णाण मोह पमाय दोसेण सहसा एगिंदियादीण सघट्टण परियावर्ण वा कय भवेज्जा ।

७ तया य पच्छा "हा ! हा ! हा ! दुट्ठु कय अम्हेहि ! त्ति घण राग दोस मोह मिच्छत्त अण्णाण अवेहि अदिठ्ठ परलोग पच्चवाएहिं क्रूर कम्म निग्घिणेहिं !" त्ति परम सवेग आवन्ने ।

८ सुपरिफुड आलोएत्ताण निंदित्ताण गरहेत्ताण पायच्छित्त अणु-चरेत्ताण नीसल्ले अणाउल चित्ते असुह कम्म खयट्ठा किंचि आय-हिय चिइ वदणाइ अणुट्ठेज्जा ।

९ तया तय अट्ठे चेव उवउत्ते से भवेज्जा ।

१०. जया ण से तय अट्ठे उवउत्ते भवेज्जा तया तस्स ण परमेगग्ग चित्त-समाहि हवेज्जा तया चेव सव्व जग जीव पाण भूय सत्ताण जह इट्ठ फल सपत्ती भवेज्जा ।

११ ता गोयमा । ण अप्पडिक्कताए इरियावहियाए न कप्पइ चेव काउ किंचि चिइ-वदण सज्झायाइय फल आसाय अभिकखुगाण ।

१२ एतेण अट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ जहा ण गोयमा ! ससुत्तत्थोभय पञ्च मगल थिर परिचिय काऊण तओ इरियावहिय अज्झीए ।

(वही पृष्ठ ५३ पैरा ६)

१ से भयव कयराए विहीए त इरियावहिय अहीए ?

२ गोयमा ! जहा ण पञ्च मगल महासुयक्खध ।

३ से भयव इरियावहिय अहिज्जित्ताण तओ किं इहिज्जे ?

४ गोयमा ! सक्कत्थवाइय चेइय वदणविहाण णवर सक्कत्थय एगत्थ बत्तीसाए आयबलेहि   अहिएत्ताण

(वही पृष्ठ ६३ पैरा २७)

१. एव सुतत्थोभयत्थग चिइ वदणाविहाण अहिज्जेताण तओ सुपत्थे सोहणे तिहिकरण   ससिबले

२ जहा सत्तीए जगगुरुण सपाइय पूयोवयारेण पडिलाहिय साहु वग्गेण य भत्तिब्भर निब्भरेण रोमच कचु पुलइज्जमाण तनु सहरिस विसत्त वयणारविदेण सद्धा सवेग विवेग परम वेरग्ग मूल विणिहिय घण राग दोस मोहमिच्छत्त मल कलकेण

३ सुविसुद्ध सुणिम्मल विमल शुभ सुभयराणुसमय समुल्लसत सुपसत्थ अज्झवसाय गएण भुवणगुरु जिणिदपडिमा विणिवेसिय नयण माण-सेण अणन्न माणसेगग्ग चित्तयाए य

४ "धन्नो ह पुण्णो ह" ति जिणवदणाइ सहलीकयजम्मोत्ति इइ मन्न-माणेण विरइय कर कमलजलिणा हरिय तण बीय जतु विरहिय भूमीए निहिओभयजाणुणा सुपरिफुड सुविइय नीसक जहत्थ सुत्त-त्थोभय पए-पए भावेमाणेण

५ दढचरित्त समयण्णु अप्पमायाइ अणेग गुण सपओववेएण गुरुणा सद्धि साहु साहुणि साहम्मियअसेस बन्धु परिवग्ग परियरिएण चेव पढम चेइए वदियव्वे

६ तयणतर च गुणड्ढे य साहुणो य ।

(वही पृष्ठ ६३ पैरा २८)

मन्त्र एवं विद्यासिद्धि की परिपाटी का विधान

आचार्य श्री हरिभद्र ने अपने समकालीन श्री सिद्धसेन दिवाकर, वृद्धवादी जिनदासगणि महत्तर, नेमिचन्द्र प्रभृति सात आचार्यों के परामर्श से विभिन्न इकाइयो मे विभक्त जैनधर्म सघ मे एकता एव एकरूपता लाने की उत्कट अभिलाषा से चैत्यवन्दन के साथ-साथ मन्त्र जाप और विद्यासिद्धि को भी जैन धर्मावलम्बियो के दैनिक धार्मिक कर्त्तव्यो मे समाविष्ट किया। इस सम्बन्ध से महानिशीथ का मूल पाठ इस प्रकार है —

१ तहासाहम्मिय जणस्स ण जहासत्तीए पणावाइ जाव ण सुमहग्घ मउय चोक्ख वत्थ पयाणाइणा वा महा सम्माणो कायव्वो।

२ एयावसरम्मि सुविइग्र समय सारेण गुरुणा पबधेण अक्खेव निक्खेवाइएहिं पबधेहिं समार निव्वेय जणणि सद्धा सवेगुप्पायग धम्म देसण कायव्व।

३ तम्रो परम सद्धा सवेग पर नाऊण आजम्माभिग्गह च दायव्व जहा ण

४. सहलीकय सुलद्ध मणुए भवे। भो! देवाणुप्पिया।

५ तए अज्जप्पभिईए जावज्जीव तिकालिय अणुदिण अणुत्तावल एगग्ग चित्तेण चेइए वदेयव्वे।

६ इण चेव भो मणुयत्ताम्रो असुइ असासय खण भगुराम्रो सार ति।

७ तत्थ पुव्वह्ने ताव उदगपाण न कायव्व जाव चेइए साहूय न वदिए।

८ तहा मज्झह्ने ताव असण किरिय न कायव्व जाव चेइए न वदिए।

९ तहा अवरह्ने चेव तहा कायव्व जहा अवदिएहिं चेइएहिं नो सझा याल अइक्कमेज्जा।

१० एव चाभिग्गह बध काऊण जावज्जीवाए ताहे य गोयमा! इमाए चेव विज्जाए अहिमतियाम्रो सत्तगध मुट्ठीम्रो तस्सुत्तमगे "नित्थारग पारगो भवेज्जासि।" त्ति उच्चारमाणेण गुरुणा घेतव्वाम्रो

११ ओम् नमो भगवम्रो अरहम्रो।

१२ सिज्झउ मे भगवती महाविज्जा।

१३ वीरे महावीरे जयवीरे सेणवीरे वद्धमाणवीरे जयते अपराजिए स्वाहा।

१४ उपचारो चउत्थ भत्तेण साहिज्जइ।

१५ एयाएविज्जाए सव्वगग्रो निट्ठारग पारगो होइ उवत्थावरगाए वा गरिगस्स वा अरगुण्गाए सत्त वारा परिजावेयव्वा ।

१६ निट्ठारग पारगो होइ उत्तिमट्ठा पडिवन्ने वा ग्रभिमतिज्जइ ग्राराहगो भवइ विग्घ विरगायगा उवसमति सूरो सगामे पविसतो अपरा जिग्रो भवइ कप्प समत्तीए मगल वहरगी खेम वहरगी हवइ ।"

(वही महानिशीथ की प्रति, पृष्ठ ६४ पैरा २९)

उपरिलिखित महानिशीथ के चारो पाठो का साराश क्रमश इस प्रकार है —

१ "किस विधि से पच मगल का 'विरगग्रोवहारग' करना चाहिये इस प्रश्न के उत्तर मे बताया गया है कि श्रेष्ठ तिथि नक्षत्रादि के दिन पाच उपवास करके विशुद्ध ग्रन्त करण से विशुद्ध भक्तिपूर्वक किसी चैत्यालय मे जन्तुविहीन स्थान पर बैठ कर श्री ऋषभदेव भगवान ग्रथवा ग्रन्य धर्म तीर्थंकर की प्रतिमा ग्रथवा बिम्ब की ग्रोर ग्रपलक दृष्टि लगाये गुरु के मुख से हृदयगम किये गये सब प्रकार के शोक, सन्ताप, व्याधि, वेदना, जन्म, जरा, मृत्यु ग्रौर गर्भावास ग्रादि सासारिक दु खो का समूल नाश करने वाले, ससार सागर से पार करने मे पोत तुल्य सब महामन्त्रो ग्रौर विद्याग्रो के बीज तुल्य नमो ग्ररिहताण रूप पच मगल महाश्रुतस्कघ के प्रथम ग्रध्ययन का पाठ करना चाहिये ।

२ "पच मगल महाश्रुतस्कघ का यथोक्त 'विनयोपधान' से ग्रध्ययन करने के ग्रौर इसके सूत्र ग्रौर ग्रर्थ दोनो का सुचारु रूपेरग ज्ञान करने के पश्चात् क्या सीखना चाहिए ?" गौतम के इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है —"ईर्याविहिय का ग्रध्ययन करे, क्योकि गमनागमनादि क्रियाग्रो मे ग्रनेक जीव, प्रारगी, भूत, सत्वो का सस्पर्श, सघट्टन, प्रमर्दन, उद्दापन, किलामना होती है उस पाप की ग्रालोचना शुद्धि कर लेने के पश्चात् ग्राठो कर्मो के क्षय हेतु चैत्य-वन्दन, सज्भाय व ध्यान मे निमग्न होना चाहिए। यदि प्रमादवश एकेन्द्रिय ग्रादि जीवो का सघट्टन, परितापन हो गया हो तो— "हाहा ! मैने बहुत बुरा किया, राग, द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, ग्रज्ञान ग्रादि से ग्रन्धे होकर परलोक का बिना किसी प्रकार का ध्यान रक्खे, यह पाप किया है," इस प्रकार परम सवेग को प्राप्त हो कर ग्रपने पाप की ग्रालोचना निन्दा प्रायश्चित ग्रादि करके नि शल्य होकर ग्रशुभ कर्मो का क्षय करने के लिये ग्रात्महितार्थ

चैत्यवन्दन आदि का अनुष्ठान करे। विना ईर्यापथिक के चैत्य-वन्दन सज्झाय आदि करना उचित नही है।

३ "हे भगवन्! ईर्यापथिक का अध्ययन किस विधि से करे?" "गौतम! पचमगल महाश्रुतस्कध के समान ही।" "प्रभो! ईर्यापथिक का अध्ययन करने के पश्चात् किसका अध्ययन करना चाहिये?" "गौतम! शक्रस्तव और चैत्यवन्दन विधान का करना चाहिये।"

४ "इस प्रकार सूत्र अर्थ तदुभय चैत्यवन्दन, विधान आदि का अध्ययन करने के पश्चात् सुप्रशस्त शुभ तिथिकरण, नक्षत्र, लग्न, चद्र, बल आदि देखकर यथाशक्ति तीर्थकरो की पूजा, साधुवर्ग का प्रतिलाभन करने के अनन्तर अन्त करण को भक्ति से ओतप्रोत कर, हर्षातिरेक से रोमाचित हो, श्रद्धा, सवेग, विवेक, परम वैराग्य, अतीव निर्मल अध्यवसायो के साथ, जगद्गुरु जिनेन्द्रो की प्रतिमा मे एकटक नयन जुडा कर, इस प्रकार की भावना के साथ कि मै धन्य हू, मै पुण्यशाली हू कि मैने जिन वन्दन से अपने जन्म को सफल कर लिया है, हाथ जोडकर वनस्पति, तृण, बीज, जन्तु आदि से रहित भूमि मे दोनो जानु और शीष को भुकाकर निर्मल चरित्र का पालन करने वाले, सिद्धान्तो मे निष्णात, अप्रमादी गुरु के साथ साधु, साध्वी, सधर्मी एव परिजनो से परिवृत्त हो सर्वप्रथम चैत्यो का वन्दन करना चाहिये और तदनन्तर गुणाढ्य साधुओ का।"

उपरिलिखित महानिशीथ के इन चारो पाठो मे चैत्य वन्दन का विधान किया गया है। इससे पहले भावस्तव की महिमा के सम्बन्ध मे जो भाषा एव जो भाव महानिशीथ मे व्यक्त किये गये है उनके साथ तुलनात्मक दृष्टि से चैत्यवन्दन के इन पाठो का अध्ययन करने से वास्तविक स्थिति क्या है यह निष्पक्ष दृष्टि से देखने पर विज्ञजनो के लिए स्पष्ट हो जाती है।

महानिशीथ के १६ की सख्या मे दिये गये ऊपरि लिखित पाठ से ऐसा प्रतीत होता है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल मे अथवा उससे कुछ पूर्व उद्भूत हुई चैत्यवासी आदि द्रव्य परम्पराओ के व्यापक प्रचार प्रसार एव उत्कर्ष काल मे उन द्रव्य परम्पराओ के सूत्रधारो द्वारा भगवान् महावीर के चतुर्विध धर्म सघ मे चैत्यवन्दन, चैत्य-निर्माण, वासक्षेप अथवा चूर्णक्षेप आदि की परिपाटिया, इहलौकिक अभीप्सित कार्यो की सिद्धि के लिये और यहा तक कि शत्रुओ को पराजित करके सग्राम मे विजय प्राप्ति की अभिलाषा आकाक्षा की पूर्ति हेतु मन्त्र जाप विद्या सिद्धि आदि अनुष्ठान इतने लोकप्रिय एव बहुसख्यक जैन धर्माव-

लम्बियो के जीवन की दैनन्दिनी के ऐसे अभिन्न अग बन चुके थे कि जिनका निषेध करना, उस वक्त की जनता के इनके प्रति गहरे लगाव को देखते हुए, महान से महान प्रभावक आचार्य के लिये भी असम्भव सा हो गया था। इसीलिये सम्भवत महानिशीथ के उद्धार के समय अन्य सात आचार्यों की अनुमति से आचार्य हरिभद्र द्वारा जो सात आठ नये आलापक महानिशीथ मे जोडे गये बताये, उनमे से यह भी एक प्रतीत होता है।

महानिशीथ के ऊपर उल्लिखित उद्धरण मे चैत्य वन्दन, मन्त्र, जाप, विद्या, सिद्धि एव वासक्षेप आदि का विधान करते हुए सार रूप मे निम्नलिखित बाते कही गई हैं —

> "अपने स्वधर्मी बन्धुओ का यथाशक्ति अशन-पान, वस्त्रादि से हार्दिक सम्मान करना चाहिये। इस प्रकार के प्रसग पर शास्त्रो के मर्मज्ञ गुरुओ द्वारा वासक्षेप—चूर्ण निक्षेप आदि के पश्चात् ससार से विरक्ति कराने वाली तथा श्रद्धा एव सवेग उत्पन्न करने वाली धर्मदेशना करवानी चाहिये। देशनानन्तर धर्मगुरुओ द्वारा परम श्रद्धा और सवेग के रग मे रगे हुए श्राद्ध वर्ग को जीवन भर के लिये इस प्रकार का अभिग्रह करवाना चाहिए :—"जन्म-जन्मान्तरो के पुण्य प्रताप से प्राप्त मानव जीवन को सफल करने वाले देवानुप्रियो ! आपको आज से ही जीवन पर्यन्त प्रतिदिन एकाग्रचित्त से त्रिकाल चैत्य वन्दन करना चाहिए। हे भव्यो ! यही इस अशुचि से ओतप्रोत अशाश्वत एव क्षणभगुर मनुष्यता का सर्वोत्कृष्ट सार है। पूर्वाह्न (प्रात) मे आप लोगो को जलपान तक नही करना चाहिये जब तक कि चैत्यो का और साधुओ का आप वन्दन न कर ले। इसी प्रकार मध्याह्न मे जब तक आप चैत्यो का वन्दन न कर ले तब तक भोजन नही करना चाहिये। इसी प्रकार अपराह्न मे अर्थात् तीसरे प्रहर मे चैत्यवन्दन करना चाहिये और इस बात का पूरा ध्यान रखना चाहिये कि चैत्यवन्दन के बिना सन्ध्याकाल न बीत जाय।" इस प्रकार का अभिग्रह—सकल्प अथवा प्रतिज्ञा जीवन भर के लिए कर लेने के पश्चात् हे गौतम ! "निट्ठारग—पारगो भविज्जासि" इस विद्या से अभिमन्त्रित सात मुट्ठिया भरकर वासक्षेप गन्ध निक्षेप उन श्राद्धो के मस्तक पर करना चाहिये। फिर गुरु से निम्न विद्या ग्रहण करनी चाहिये —
>
> "भगवान् अरहन्त को नमस्कार, मुझे भगवती महाविद्या सिद्ध हो, वीर, महावीर, जयवीर, सेणवीर, वर्द्धमानवीर, जयन्त, अपराजित स्वाहा।" "इस मन्त्र को एक उपवास से सिद्ध करना चाहिये। इस विद्या की सिद्धि के उपरान्त साधक कही भी जाय सर्वत्र सफल होता है। उपस्थापना के समय आचार्य की आज्ञा से इसका सात बार जाप करना चाहिये। सर्वत्र सफलता प्राप्त होती है। कोई बडा काम उपस्थित होने

पर पुन इसका सात बार जाप करना चाहिये। वह आराधक होता है। विघ्नोपसर्ग शात हो जाते है। शूरवीर सग्राम मे अपराजित होता है अर्थात् विजय को प्राप्त करता है। कल्प की पूरी सिद्धि के बाद यह विद्या मगल प्रदायिनी क्षेमकारिणी होती है।''

इस प्रकार द्रव्य परम्पराओ द्वारा प्रचलित की गई अगणित नई-नई मान्यताओ के फलस्वरूप अनेक इकाइयो मे विभक्त हुए जैनसघ को एकता के सूत्र मे आबद्ध करने के सदुद्देश्य से आचार्य हरिभद्र ने निशीथ के उद्धार के माध्यम से समन्वय की नीति का अनुसरण करते हुए जैन धर्मसघ मे घर की हुई चैत्यवन्दन मन्त्र जाप विद्या सिद्धि और वासक्षेप आदि परिपाटियो को जैन धर्मानुयायियो के दैनिक धार्मिक कर्त्तव्यो मे सम्मिलित कर लिया।

द्रव्य परम्पराओ के उत्कर्ष काल मे बडी ही धूम-धाम और आडम्बर के साथ तीर्थयात्रा करना स्वपर कल्याण एव धर्म के उद्योत का प्रमुख साधन समझा जाने लगा था। देश के सभी हिस्सो मे आत्म-कल्याण और धर्मोद्योत के लिए विशाल सघ यात्राए सामूहिक तीर्थ यात्रा के रूप मे यत्र तत्र यदा कदा आयोजित की जाती थी। जैन धर्मावलम्बियो मे तीर्थो की बडी आडम्बरपूर्ण सघ यात्राओ के आयोजन की परिपाटी वस्तुत एक प्रमुख धर्मकृत्य मे रूप मे रूढ हो गई थी। यह परिपाटी इतनी लोकप्रिय बन चुकी थी कि इसके विरोध मे कुछ भी सुनने के लिये उस समय का बहु सख्यक जैन जन मानस तैयार नही था। इस तीर्थयात्रा की परिपाटी को एक धर्मकृत्य के रूप मे साधारण रूप से सुविहित परम्परा के साधु-साध्वियो के लिये अनाचरणीय सिद्ध करने वाला एक बडा ही सुन्दर आख्यान महानिशीथ मे दिया गया है। यह आख्यान मध्य युग से लेकर अद्यावधि जैन धर्मसघ की विभिन्न इकाइयो मे एक विवादास्पद विषय रहा है। द्रव्य परम्पराओ के उत्कर्ष काल मे भिन्न-भिन्न मान्यताओ वाले जैन श्रमण सघो के अधिनायक आचार्यगण इस सम्बन्ध मे क्या अभिमत रखते थे इस सम्बन्ध मे सामूहिक रूप से प्रचलित तीर्थयात्रा पर इस आख्यान से स्पष्ट रूप से प्रकाश पडता है। अत जिज्ञासुओ एव इतिहासविदो के लाभार्थ उस आख्यान को यहा अविकल रूप से उद्धृत किया जा रहा है —

"गोयमा ! ण इमाए चेव उसभ चउवीसीगाए अतीताए तेवीसइमाए चउवीसिगाए, जाव ण परिणिव्वुडे चउवीसइमे अरहा, ताव ण अइक्कतेण केवइएण कालेण गुण निप्फन्ने कम्मसल्लमुसुसूरणे महायसे महासत्ते, महाणुभागे, सुगहिय नामधिज्जे णाम गच्छाहिवई भूए। तस्स ण पच सय गच्छ निग्गथीहिं विणा। निग्गथीहिं सम दो सहस्से य अहेसि। ता गोयमा ! ताओ निग्गथीओ अच्चत परलोग भीरुयाओ सुविसुद्ध निम्मलतकरणाओ, खताओ, दताओ, गुत्ताओ,

जिइंदियाओ, अच्चत भणिरीओ, निय सरीरस्सा वि य छक्कायवच्छलाओ, जहावइट्ठं अच्चत घोर वीर तव चरण सोसिय सरीराओ। जहा ण तित्थयरेण पन्नविय, तहा चेव अदीणमणसाओ, माया मय अहकार रति हास खेड कदप्पणाहवाय विप्पमुक्काओ तस्सायरियस्स सगासे सामण्णमणुचरति । ते य साहुणो सव्वे वि गोयमा ! न तारिसा मणाग । अहन्नया गोयमा ! ते साहुणो त आयरिय भणति। जहा ण जइ भयव तुम आणत्तेहि ता ण अम्हेहि तित्थयत्त करिया चदप्पह सामिय वदिया धम्मचक्क गतूणमागच्छामो। ताहे गोमया ! अदीण मणसा अणुत्ताल गभीर महुराए भारतीए भणिय तेणायरिएण । जहा इच्छायारेण न कप्पइ तित्थयत्त गतु सुविहियाण, ता जाव ण दोलेइजत्ता ताव ण अह तुम्हे चदप्पह वदावेहामि। अन्न च जत्ताए गएहि असजमे पडिज्जई। एएण कारणेण तित्थ यत्ताए पडिसेहिज्जइ । तओ तेहि भणिय जहा भयव केरिसो ? उण तित्थ यत्ताए गच्छमाणाण असजमो भवई। सो पुण इच्छायारेण विइज्ज वार परिस उल्लावेज्जा बहु जणेण वाउल गो भत्ति हि से। ताए गोयमा ! चितिय तेण आयरिएण जहा ण मम वइक्कमिय निच्छयओ एए गच्छिहिति। तेण तु मए समय च दुत्तरेहि वयति। अहन्नया सुबहु मणसा सधारेऊण चेव भणिय तेण आयरिएण। जहा ण तुब्भे कि चि वि सुत्तत्थ वियाणहव्विय ता जारिस तित्थयत्ताए गच्छमाणाण असजम भवइ तारिस सयमेव वियाणेह। कि एत्थ बहु पलविएण। अन्न च विदिय तुम्हे हि पि ससार सहाव जीवाई पयत्थ तत्त च। अहन्नया बहु उवाएहि ण विणिवादितस्स वि तस्सायरियस्स गए चेव ते साहुणो, कुद्धेण कयते ण पेरिए (क्रुद्धेन कृतान्तेन प्रेरिता)। तित्थयत्ताये तेसि गच्छमाणाण कत्थइणेसण कत्थइ हरियकाय सघट्टण कत्थइ बीयक्कमण कत्थइ पिवीलियादीण तसाण सघट्टण परितावणोद्दावणाइ सभव। कत्थइ वइट्ठ पडिक्कमण कत्थइ ण कीरए चेव चाउकालियसज्झाय कत्थइ ण ण पडिज्जा मत्त भडोवगरणस्स विहीए उभयकाल पेह पमज्जण पडिलेहण पक्खोडण कि बहुणा गौयमा ! किंत्तिय मन्निहिय अट्ठारसण्ह सीलग महल्लाण सत्तरस विहस्स ण सजमस्स दुवालस विहस्स ण सब्भतर बाहिरस्स तवस्स जाव ण खतदि अहिंसा लक्खणस्स दस विहस्स अणगारधम्मस्सजत्थेक्किक्क पय चेव सुबहुएण पि कालेण थिरपरिचिएण दुवालसगमहासुयक्खधेण बहुभग सयसद्धत्ताणाए दुक्ख निरइयार परिवालिऊण जे एय च सव्व जहाभणिय निरइयारमणुट्ठियति । एव सभरिऊण (सचारिऊण) चितिय तेण गच्छाहिवइणा जहा ण मे विप्परुक्खेण ते दुट्ठ सीसे मज्झ अणाभोग पव्वएण सुवहु असजम काहिति।

त च सव्व मम मच्छति य होही जश्रो ण ह तेसि गुरु। ता ह तेसि पट्टीये (पुट्ठिए) गतूणपडिजागरामि जेणाहमित्थ पए पायच्छित्तेण णो सवज्जिज्जत्ति वियप्पिऊण गश्रो सो श्रायरियो तेसि पट्ठीए जाव ण दिट्ठे तेण असमजसेण गच्छमाणे। ता हे गोयमा ! समहुर मजुलालावेण भणिय ते ण गच्छाहिवइणा। जहा भो! भो! उत्तमकुल निम्मलवस विहूसणा ! असुगाइ महासत्ता (असुग पसुगाई) साहूउ पहपडिवन्नाण पच महव्वयाहिय तणूण महाभागाण साहु साहुणीण सत्तावीस सहस्साइ थडिलाण सव्वदसीहि पण्णत्ताइ। ते य सु उवउत्तेहि विसोहिज्जति ण उण अन्नोव उवत्तेहि। ता किमेय सुन्नासुन्नीए अणोवउत्तेहि गम्मइ इच्छायारेण। उवश्रोग देह। अन्न च इणमो सुत्तत्थ तुम्हाण वि सुमरिउ भविज्जा ज सार सव्व परम तत्ताण। जहा एगे बेइदिए पाणीयग सयमेव हत्थेण वा पाएण वा अन्नयरेण वा सलागाइ अहिगरण भूश्रोवगरण जायेण ज ण केई सघट्टाविज्जए वा एव सघट्टिय वा परेहि समणुजाणिज्जा से ण त कम्म जया उदिन्न भविज्जा तया जहा उच्छु खडाइ ज ते (यन्त्रे) तहा निपीलिज्जमाणे छम्मासेण खविज्जा। एव गाढे दुवालसेहिं सवच्छरेहि त कम्म वेदिज्जा। एव अगाढ परियावणे वास सहस्स गाढ परियावणे दसवास सहस्से। एव अगाढ किलावणे वासलक्ख गाढ किलावणे दस वास लक्खाइ उद्दवणे वास कोडी। एव तेइदियाइसु पि णेय। ता एव च वियाण माणा मा तुम्हे छुम्भहत्ति। एव गोमया ! सुत्ताणुसारेण सारयतस्सावि तस्सायरियस्स ते महापावकम्मेगम गम हल्ल प्फलेण हल्लो हली भूए ण त श्रायरियाण श्रासमपाव कम्मट्ठदुक्ख विमोयण णो बहु मन्नति। ताहे गोयमा ! मुणियते णायरियेण जहा निच्छयश्रो, उम्मग्गपडिये सव्व पगारेहि चेव इमे पावमई दुट्ठसीसे, ता किमट्ठमहमिमेसि पट्ठीए लल्लीवागरण करेमाणोणुगच्छमाणो य सुक्काए गयजलाए णदीए उवुम्भ (उब्बुड उदबूड तैरना)। एते गच्छतु दस दुवारेहिं अह य तु तावायहियमेवाणुविट्ठिश्रो, मो, किं मज्झ परकएण। सुमहतेणावि पुन्न पब्भारेण थेवमवि किची परित्ताण भविज्जा सपरक्कमेण चेवमे श्रागमुत्त तव सजमाणुठाणेण भवोयही नयरेयव्वे। एस उण तित्थयराएसो जहा—"अप्पहिय कायव्व, जई सक्को परहिय व पयरिज्जा। अप्पहिय परहियाण, अप्पहिय चेव कायव्व।" अन्न च जइ एते तव सजम किरिय अणुपालिहिति तश्रो एएसि चेव सेय होहिइ। ण करेहिंति तश्रो एएसि चेव दुग्गइ गमणमणुत्तर हविज्जा। नवर, तहावि मम गच्छो समप्पिश्रो, गच्छाहिवई अहय भणामि। अन्न च जे तित्थयरेहिं भगवतेहि छत्तीस श्रायरियगुणे समाइट्ठे। तेसिं तु अहय एक्कमवि णाइक्कमामि, जइवि पाणो-

वरम भविज्जा। त चागमे इहपरलोगविरुद्ध त णायरामि ण कार यामि, ण कज्जमाण समणुजाणामि। तामे रिस गुणजुत्तास्सा वि जइ भणिय ण करेति, ताहमिमेसि वेसग्गहण उद्दालेमि। एव च समए-पन्नत्ती जहा जे केई साहू वा साहुणी वा वायामित्तेणावि असजम मणुव्वेट्टिज्जा, से ण सारेज्जा वारेज्जा चोइज्जा पडिचोइज्जा। से ण सारिज्जते वा वारिज्जते वा चोइज्जते वा पडिचोइज्जते वा जे ण त वयण मवमन्निय अलसाईमाणे वा अभिनिवेट्ठेइ वा न तहत्ति पडिवज्जिभय इच्छ पउ जिद्दाण तट्ठामाओ पडिक्कमेज्जा। से ण तस्स वेसगहण उद्दालिज्जा। एव तु आगमुत्तणाएण। गोयमा! जाव तेणायरियेणा एगस्स सेहस्स वेसग्गहण उद्दालिय ताव ण अवसेसे दिसो दिस्सि पणाट्ठे। ताहे गोयमा! सो आयरिओ सणिय सणिय तेसि पट्ठीये जाउमारद्धो, णो थ तुरिय तुरिय। से भयव! किमट्ठ तुरिय तुरिय णो पयाइ? गोयमा! खाराए भूमीए जो महुर सक मिज्जा, महुराए खार, किण्हाए पीय, पीयाओ किण्ह, जलाओ थल, थलाओ जल सकमेज्जा। ते ण विहीए पाए पमज्जिय सकमेयव्व। णो पमज्जेज्जा तओ दुवालस सवच्छरिय पच्छित्त भविज्जा। एएणमट्ठेण गोयमा! सो आयरिओ ण तुरिय तुरिय गच्छे। अह-न्नया उत्त विहीए थडिल सकमण करेमाणस्स ण गोयमा! तस्सायरियाए आगओ बहु वासर खुहापरिगय सरीरो वियड दाढाकरालकयत भासुरो, पलयकालमिव घोर रूवो केसरी। मुणिय च तेण महाणुभागेण गच्छा हिवइणा, जहा जइ दुय गच्छिज्जइ ता बुक्किज्जइ इमस्स। नवर दुय गच्छमाणेण असजम। ता वर सरीर वोच्छेय ण असजम पवत्तण (त्ति) चिंतिऊण विहीए उवट्ठियस्स सेहस्स जस्सुद्दालिय वेसग्गहण त दाऊण ठिओ निप्पडिकम्प पायवोवगमणेणासणेण। से वि सेहो तहेव। अहन्नया अच्चत विरुद्धतकरणे पच मगल पेर[1] सुहज्झवसायत्ताए दुन्नि वि गोयमा! वावाइए तेण सीहेण। अत गडे केवली जाएट्ठप्पयारमलकलकविप्पमुक्के, सिद्धे य ते उण गोयमा! एकूणे पचसये साहूण तक्कम्मदोसेण ज दुक्ख मणभवमाणे चिट्ठति, ज वाणुभूय, ज वाणु भविहिति अणत ससारसागर परिभमते त को अणतेणपि कालेण भाणिउ समत्थो। एए ते गोयमा! एगूण पचसए साहूण, जेहिं च ण तारिस गुणोववेयस्स ण महाणुभागस्स गुरुणो आण अइक्कमिय णो आराहिय। अणत ससारिए जाए।"

[महानिशीथ हस्तलिखित पत्र ४१ (१) से ४३ (१)]

---

[1] पेर प्रईरय पाइयसद्दमहण्णवो। "पचमगल पेर" पच मगल (स्मरण) से जुड़े हुए।

अर्थात् "हे गौतम ! इस ऋषभादि महावीरान्त चौबीसी से पूर्व की तेबीसवी-चौबीसी के चौबीसवे तीर्थङ्कर के सिद्ध बुद्ध हो जाने के अनन्तर कुछ काल पश्चात् महायशस्वी महान् सत्वशाली महानुभाग यथा नाम तथागुण वाले वज्र नाम के गच्छाधिपति हुए। उनके गच्छ मे पाँच सौ साधु और पन्द्रह सौ साध्वियाँ थी। हे गौतम ! आर्य वज्र की वे शिष्याएँ अत्यन्त भवभीरु, अति विशुद्ध निर्मल अन्त करण वाली शात दात जितेन्द्रिय और अध्ययनशीला थी। वे षड्जीव निकाय के प्राणियो को अपने प्राणो से भी अधिक प्रिय समझती थी। उन्होने शास्त्र वचनानुसार अत्यन्त उग्र तपश्चरण से अपनी देह यष्टियो को शोषित कृश और शुष्क बना लिया था। तीर्थङ्करो के उपदेशानुसार वे अदीन मन वाली साध्वियाँ माया, मद, अहकार, हास-परिहास से विहीन और सब प्रकार के लौकिक सगो से रहित थी। वे आर्य वज्र के अनुशासन मे रहकर श्रमणी धर्म का समीचीन रूप से परिपालन करती थी। किन्तु गौतम ! आचार्य वज्र के सभी साधु इस प्रकार के नही थे।

एक दिन उन साधुओ ने आचार्य से निवेदन किया — "भगवन् ! यदि आप आज्ञा प्रदान करे तो हम भी तीर्थयात्रा करके चन्द्रप्रभ स्वामी को वन्दन कर और धर्मचक्र की यात्रा करके यहाँ लौट आये।" गौतम ! उन साधुओ द्वारा किये गये निवेदन के उत्तर मे आचार्य वज्र ने बडे ही घनरव गम्भीर मृदु भाषा मे कहा — "सुविहित परम्परा के साधुओ के लिये यदा कदा इच्छानुसार तीर्थयात्रा के लिये जाना कल्पनीय नही है। उचित नही है। जब सघयात्रा समाप्त हो जायेगी तब मै तुम्हे चन्द्रप्रभ स्वामी की वन्दना करवा दूँगा। मेरे निषेध का एक और भी कारण है। वह यह है कि यात्रा मे जाने वाले असयम के दोष मे लिप्त हो जाते हैं। इसी कारण तीर्थयात्रा का मैं निषेध कर रहा हूँ।"

इस पर आचार्य वज्र के शिष्यो ने प्रश्न किया —"भगवन् ! तीर्थयात्रा मे जाने वाले श्रमणो को किस प्रकार का असयम होता है ?"

इस पर आचार्य वज्र ने मन ही मन मे विचार किया कि ऐसा लगता है कि ये शिष्य मेरी आज्ञा का अतिक्रमण करके यात्रा मे चले जायेंगे इसी कारण मेरे द्वारा प्रतिषेध किये जाने के उपरान्त भी ये इस प्रकार प्रति प्रश्न कर रहे है। उन्होने चिन्तन के पश्चात् अपने शिष्यो से कहा —"वत्सो ! यदि तुम थोडा-बहुत भी

सूत्रो के रहस्य को जानते हो तो तीर्थयात्रा मे जाने वालो को किस प्रकार का असयम दोष लगता है यह तुम स्वयमेव सोच सकते हो। इस विषय मे अधिक कहने की आवश्यकता नही है। तुम लोग जीव-अजीव, ससार-स्वभाव और धर्म के मर्म को अच्छी तरह से जानने वाले हो।"

इस प्रकार आचार्य वज्र द्वारा पुन -पुन निषेध किये जाने के उपरान्त भी आचार्य वज्र की अनुपस्थिति मे कराल काल से प्रेरित हो वे सभी शिष्य तीर्थयात्रा के लिये चल पडे। तीर्थयात्रा मे जाते हुए उन साधुओ को अनैषणीय आहार ग्रहण करने, कही वनस्पति-काय के जीवो का सघटन समर्दन करने, कही अनेक प्रकार के बीजो का प्रमर्दन करने, कही कीडे-मकोडे, चीटी आदि त्रस जीवो का सस्पर्शन सघट्टन, परितापन, उद्रापण करने, कही प्रतिक्रमण का अभाव, कही चतुर्कालिक स्वाध्याय का अभाव, तो कही उभयकाल प्रेक्षण, प्रमार्जन, प्रतिलेखन का उल्लघन आदि अनेक प्रकार के दोषो का भाजन होना पडा। गौतम ! अधिक क्या कहा जाय, उन शिष्यो ने तीर्थयात्रा मे अट्ठारह प्रकार के शीलागो, सत्तरह प्रकार के सयम, बारह प्रकार के बाह्याभ्यन्तर तप एव शान्ति व अहिसा लक्षणवाले दस प्रकार के अणागारधर्म के परिपालन मे पग-पग पर प्रमाद किया।

इससे खिन्न हो आचार्य वज्र ने विचार किया कि मेरी आज्ञा का उल्लघन कर वे दुष्ट शिष्य विपुल असयम के भागी होगे और क्योकि मै उनका गुरु हूँ इसलिये उन सबके इस दोष के लिये मै भी किसी न किसी रूप मे उत्तरदायी माना जाऊँगा व प्रायश्चित का भागी बनूँगा। अत मेरा यह भी कर्त्तव्य है कि मैं उनके पीछे-पीछे जाकर उनको इन सब दोषो से बचने के लिये सावधान करूँ—सजग करूँ। इस प्रकार विचार कर आर्य वज्र अपने शिष्यो के पीछे-पीछे गये। उन्होने अपने शिष्य समुदाय को अयतनापूर्वक जाते हुए देखा। आर्य वज्र ने अतीव मृदु मञ्जुल वाणी मे अपने शिष्यो को सम्बोधित कर कहना प्रारम्भ किया —"उच्च कुल और निर्मल वश मे उत्पन्न हुए वत्सो ! सुनो। पच महाव्रतधारी साधु-साध्वियो के लिये सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्कर महाप्रभुओ ने जो विशुद्ध श्रमणाचार बताया है उसका परिपालन उपयोगपूर्वक-यतनापूर्वक उद्यम करने से ही होता है। बिना उपयोग के, बिना यतना के नही। ऐसी स्थिति मे तुम लोग स्वेच्छाचारी बनकर श्रमणाचार की उपेक्षा कर इस प्रकार

अविवेकपूर्वक जा रहे हो। इस पर ठण्डे दिल से विचार करो। इसके साथ ही ससार मे सबसे परम सारभूत सूत्र के मर्म का तुम्हे स्मरण ही होगा कि जो व्यक्ति बेइन्द्रिय प्राणी का स्वय अपने हाथ से पैर से अथवा अन्य किसी प्रकार के उपकरण से सस्पर्श करता है उनको किलामना उपजाता है अथवा उनकी हिंसा करता है अथवा किसी दूसरे से किलामना हिंसा आदि करवाता है या हिंसा आदि करने वाले की अनुमोदना करता है तो वह उस सस्पर्श कर्म के उदयकाल मे यन्त्र मे पीले जाने वाले इक्षु दण्ड की तरह भीषण वेदनाओ मे पीला जाता हुआ छ मास मे उस कर्म का क्षय करता है। इसी प्रकार यदि प्रगाढ भाव से बेइन्द्रिय जीवो की हिंसा आदि करता करवाता अथवा अनुमोदन करता है तो वह व्यक्ति बारह वर्ष की अवधि तक दु खो मे इक्षु खण्ड की तरह पिलता हुआ उस कर्म के फल को भोगता है। इसी प्रकार अगाढ परितापना पहुँचाने वाला एक हजार वर्ष तक, गाढ परितापना पहुँचाने वाला दस हजार वर्ष तक, अगाढ किलामना पहुँचाने वाला एक लाख वर्ष तक, गाढ किलामना पहुँचाने वाला दस लाख वर्ष तक, उद्रापण करने वाला करोड वर्ष तक यन्त्र मे पीले जाते हुए इक्षुखण्ड की तरह दु खो मे पिलता हुआ उस कर्म के फल को भोगता रहता है। इसी प्रकार त्रीन्द्रिय आदि जीवो के सम्बन्ध मे समझना चाहिये। तो इस प्रकार इन सब तथ्यो के जानकार होते हुए तुम इस प्रकार श्रमणाचार से विपरीत आचरण मत करो।"

"गौतम! इस प्रकार सूत्रानुसार समझाने वाले उस आचार्य के उन समस्त पाप कर्मो का नाश करने वाले हितकर वचन को भी उन लोगो ने नही माना। आचार्य ने मन मे विचार किया कि निश्चित रूप से ये दुष्ट शिष्य उन्मार्गगामी हो गये है। ऐसी स्थिति मे इन पापमति शिष्यो के पीछे इन्हे समझाने का व्यर्थ प्रयास करता हुआ मै सूखी नदी मे तैरने जैसा व्यर्थ प्रयास क्यो करू ? ये लोग अपनी इच्छानुसार जहा चाहे वहाँ जाएँ। मुझे तो अपनी आत्मा का कल्याण करना है। मुझे इन दूसरो के कार्य से क्या प्रयोजन ? महान् पुण्य के प्रभाव से यदि थोडा बहुत भी मेरा परित्राण हो जाय तो उत्तम है। मुझे आगमानुसार विशुद्ध सयम का पालन करते हुए इस भव सागर को तैरना चाहिए। यह तीर्थङ्कर प्रभु का आदेश है "यदि सम्भव हो तो आत्महित के साथ-साथ पर हित भी करना चाहिये। आत्म हित और पर हित इन दोनो मे से पहले आत्म हित करना श्रेयस्कर होगा।" यदि ये लोग तप सयम आदि क्रिया

का अच्छी तरह से पालन करेंगे तो इन्ही का कल्याण होगा और यदि नही करेंगे तो नीची से नीची दुर्गति मे इन्ही का पतन होगा। तथापि मुझ को गच्छ सौपा गया है मुझे गच्छाधिपति कहा जाता है। तीर्थङ्कर प्रभु ने आचार्य के ३६ गुण बताये है। उनमे से एक का भी अति-क्रमण प्राणान्त सकट आने पर भी नही करूँगा। आगम मे भी कहा गया है —"जो इस लोक और परलोक दोनो लोको के लिये निषिद्ध है उसका न मै आचरण करता हूँ और न दूसरो से आचरण करवाता हू और यदि कोई व्यक्ति इस प्रकार का आचरण करता है तो उसका मै अनुमोदन भी नही करूँगा और न ऐसा करने की अनुमति ही दूँगा।" इस प्रकार के आचार्य गुणो से सम्पन्न मुझ जैसे गच्छाधिपति की बात भी ये लोग नही मानते है तो ऐसी स्थिति मे मैं अपने इन शिष्यो का वेष ही उतार कर इनसे छीन लूँ। शास्त्र मे भी इसी प्रकार का निर्देश है यथा — "जो कोई साधु अथवा साध्वी यदि वचन मात्र से भी असयम का आचरण करे तो उसको आचार्य समझावे, असयम का आचरण करने से रोके, असयम का आचरण न करने की प्रेरणा दे, निर्भर्त्सना पूर्ण प्रेरणा दे। यदि वे इस प्रकार आचार्य द्वारा सारणा, वारणा, प्रेरणा और निर्भर्त्सना पूर्वक प्रेरणा किये जाने के उपरान्त भी आलस्यवश अथवा कदाग्रहवश होकर आचार्य के वचन की अवहेलना करता रहे" "भगवन्! आपकी आज्ञा शिरोधार्य है, जैसी आपकी आज्ञा है मै वही करूँगा," ऐसा न कह कर स्वेच्छानुसार उस असयमपूर्ण कर्म से निवृत्त न हो अर्थात् असयम का पश्चातापपूर्वक परित्याग न करे तो उस दशा मे आचार्य उस साधु अथवा साध्वी के वेष को उतार दे।"

"गौतम! इस प्रकार आगमोक्त न्याय से उस आचार्य ने ज्यो ही उन शिष्यो मे से एक शिष्य का साधुवेष उतारा, त्यो ही शेष ४९९ शिष्य विभिन्न दिशाओ मे भाग खडे हुए। तदनन्तर गौतम! वह आचार्य अपने उन दिशो-दिशि मे भागते हुए शिष्यो के पीछे-पीछे शीघ्रतापूर्वक नही अपितु शनै-शनै जाने लगा।

गौतम —"भगवन्! वह आचार्य त्वरित गति से क्यो नही चला?"

भगवान् महावीर —"गौतम! जो क्षारयुक्त भूमि से क्षार-विहीन, मधुर अथवा कोमल भूमि मे, मधुर भूमि से क्षारयुक्त मे, कृष्णवर्णा भूमि से, पीतवर्णा भूमि मे, पीतवर्णा से कृष्णवर्णा मे,

जल से स्थल मे और स्थल से जल मे सक्रमण करे तो उसे उस प्रकार के सक्रमण करने से पूर्व विधिपूर्वक पैरो का प्रमार्जन करना आवश्यक है। यदि कोई इस प्रकार से सक्रमण से पूर्व पैरो का परिमार्जन नही करता है, तो वह द्वादश सावत्सरिक प्रायश्चित का भागी हो जाता है। गौतम! इस कारण वह आचार्य त्वरित गति से नही चला।"

उक्त विधि से भूमि का सक्रमण करते हुए उस आचार्य के समक्ष कुछ समय पश्चात् कई दिनो का क्षुधातुर विकट दष्ट्रा करालो वाला साक्षात् महाकाल के समान वीभत्स प्रतीत होता हुआ और प्रलयकाल के समान भीषण केशरी सिंह आ गया। सिंह को देखकर उस महाभाग गच्छाधिपति वज्र ने मन ही मन विचार किया — "यदि मै द्रुतगति से चलू तो इस सिंह से बचा जा सकता हूँ। किंतु द्रुतगति से चलने की दशा मे मैं सयम से भ्रष्ट हो जाऊँगा। इस प्रकार की स्थिति मे सयम से पतित होने की अपेक्षा शरीरोत्सर्ग श्रेयस्कर है।" इस प्रकार निश्चय कर शिष्य की परिपाटी के अनुसार थोडी ही दूर पीछे खडे शिष्य को—उस शिष्य को, जिसका कि स्वय आचार्य ने साधुवेष उतार लिया था, पुन साधुवेष प्रदान कर अनशन पूर्वक निष्कम्प पादपोपगमन आसन से आचार्य वज्र अवस्थित हुए। वह शिष्य भी अपने आचार्य का अनुसरण करते हुए उनकी ही भाति अनशन कर पादपोपगमन आसन से निश्चल हो अवस्थित हो गया। गौतम! वे दोनो अत्यन्त विशुद्ध अन्त करण से पञ्चमगल के स्मरण मे निमग्न हो गये। शुभ अध्यवसायो के परिणामस्वरूप उसी जन्म मे मुक्ति पाने वाले केवली होकर उस सिंह के द्वारा मारे जाने पर आठ प्रकार के कर्मो के मैल से पूर्णत विप्रमुक्त होकर दोनो सिद्ध बुद्ध और मुक्त हो गये।"

"शेष ४९९ शिष्य अपने उस अपराधपूर्ण कर्म के दोष से जिस दुख को भोग रहे है, जो जो दुख भोग चुके है और भविष्य मे अनन्त काल तक ससार मे भटकते हुए जो दुख भोगेगे, उन दुखो का अनन्त काल तक वर्णन करते रहने पर भी पूरी तरह बताने मे कौन समर्थ है? गौतम! इस प्रकार उन ४९९ साधुओ ने ऐसे गुण सम्पन्न अपने महान् गुरु की आज्ञा का अतिक्रमण कर सयम की आराधना नही की और उसके परिणामस्वरूप वे अनन्त ससारी बन गये।"

इस प्रकार तीर्थयात्रा के सम्बन्ध मे आर्य वज्र के इस आख्यान से तीर्थ यात्रा की अपेक्षा सयम-आराधना को ही आत्म कल्याण का प्रमुख-साधन बताया गया है। द्रव्य परम्पराओ के उत्कर्ष काल मे सामूहिक तीर्थयात्राओ को एक अत्यन्त

महत्वपूर्ण एव उत्कृष्ट धार्मिक कृत्य मान लिया गया था। उस लोकप्रिय बनी हुई परिपाटी के सम्बन्ध मे महानिशीथ का यह आख्यान बडा ही चिन्तनीय और मननीय है जिसमे, गुरु द्वारा तीर्थयात्रा का निषेध किये जाने के उपरान्त भी गुरु की आज्ञा का उल्लघन करके तीर्थ यात्रा के लिये जाने वाले ४९९ साधुओ को अनन्त काल तक भव भ्रमण करने वाला बताया गया है। इसके विपरीत तीर्थयात्रा का (मिलापको के समय) निषेध करने वाले आर्य वज्र को और उनके समझाने पर तीर्थ यात्रा से विरत हुए शिष्य को विशुद्ध सयम के पालन के परिणामस्वरूप सिद्ध बुद्ध और मुक्त होना बताया गया है।

द्रव्य परम्पराओ के उत्कर्ष काल मे चैत्य निर्माण, चैत्य पूजा और नियत निवास की क्रियाए जैन धर्मसघ मे लोकप्रिय होने के साथ-साथ जनमानस मे गहराई से घर कर गई थी। एक प्रकार से रूढ हो गई थी। विशुद्ध श्रमणाचार किस प्रकार का होता है, निरतिचार पच महाव्रतो का पालन करने वाला श्रमण परम्परा का प्रतीक स्वरूप श्रमण कैसा होता है, चैत्य निर्माण मे इस प्रकार के श्रमणत्व के प्रतीक श्रमण का क्या कर्तव्य है, इन सब बातो पर महानिशीथ मे बडे ही प्रभावकारी शब्दो मे आचार्य कुवलयप्रभ (कमलप्रभ अथवा सावद्याचार्य) के आख्याल मे प्रकाश डाला गया है। इस अत्यन्त महत्वपूर्ण आख्यान के सम्बन्ध मे चैत्यवासी परपरा का परिचय देते हुए पिछले प्रकरण मे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। अत इस पर कुछ अधिक न कहकर सभी दृष्टियो से अत्यन्त महत्वपूर्ण एव अत्यावश्यक प्रसगोचित समझकर सावद्याचार्य के उस प्रकरण का मूल पाठ भी इतिहासविदो एव जिज्ञासुओ के विचारार्थ यहा उद्धृत किया जा रहा है, जो इस प्रकार है —

देवार्चन पर सावद्याचार्य सम्बन्धी उद्धरण

"से भयव के जे ण केइ आयरिय इवा मयहर इ वा असई कहिं च कयाई वे (त) हा विसह विहाणगमासज्ज इणमो निग्गथ पवयणमन्नहा पन्नविज्जा, से ण कि पाविज्जा ? गोयमा ! ज सावज्जायरियेण पाविय। से भयव कयरेण ? से सावज्जायरिए किं वा तेण पावियति ? गोयमा ! ण इओ पउ उसभादि तित्थकर चउवीसगाए अणतेण कालेण जा अतीता अन्ना चउवीसमा ताये जारिसो अह य तारिसो चेव सत्तरयणी पमाणे ण जगच्छेरय भूओ देविंद विंद वदिओ पवरवर धम्मसिरी नाम चरिम धम्मतित्थकरो अहेसि। तस्स य तित्थे सत्र अच्छेरगे पभूए। अहन्नया परिनिव्वुडस्स ण तित्थकरस्स कालक्कमेण असजयाण सक्कारकारवणेणामच्छेरगे बहिउमारेहे। तत्थ ण लोगाणुवत्तीए मिच्छत्तोवहय असजय पूयाणुरय बहुजण समूहे ति वि यायाणि ऊण तेण कालेण तेण समयेण अभुणिय समय सब्भावेहिं तिगारव मइएमोहिएहिं णाममित्त आयरिय मयहरेहिं महाईण

(सावय) सा (वि) याओ दविणजाय पडिगाहिय रच्छ (त्थ) भसयस्सूसिए सकसकिममतिए चेइयालए कारविऊण त चेव दुरतपत लक्खणाह माहमेहिं आसइए। ते चेव चेइयालए मासीय गोविऊण च बलवीरिय पुरिसक्कारक्कम सते वले सति वीरिए मते पुरिसक्कार परक्कमे वइ (चइउ) उग्गामिग्गहे अणियविहार णीयावाव्भइत्ताण सिढीली होऊ ण सजमाइ सुद्धिए पच्छा परिविज्जाण इहलोग परलोगावाय अगीकाऊण य सुदीह ससार ते सु चेव मढ देवउलासु अव्वत्थ (च्छ) मदिरे मुच्छिरे ममीकारा हकारेहि ण अभिभूए सयमेव विचित्तमल्ल दाभाइहिण देवच्चरण काउमव्भुज्जए जे पुण समयसार पर इम सव्वभुवयण त दूरयरेण उज्झियन्ति। त जहा "सव्वे जीवा सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे सत्ता (ण हतव्वा) ण अज्झावेयव्वा ण परियावेयव्वा ण परिघेत्तव्वा ण विराहेयव्वा ण किलामेयव्वा ण उद्दवेयव्वा। जे केई सुहुमा जे केई बायरा, जे केई तसा जे केई पज्जत्ता जे केई अपज्जत्ता जे केई थावरा जे केई एगिंदिया जे केई बेइदिया जे केई तेइदिया जे केई चउरिदिया जे केई पचिदिया गोयमा! मेहुण त एगतेण ३ णिच्छयओ २ बाढ ३। तहा आउ तेउ समारभ च सव्वहा सव्व पयारेहि ण सयय विवज्जिजज्जा मुणीति। एस धम्मे (घ) वे सासए णीए (निये) से मिच्च लोग खेयन्नूहि पवेइयति।।छ। से भयव जे ण केई साहू वा साहुणी वा। नग्गथे अणगारे दव्व थय कुज्जा से ण किमालहेज्जा ? गोयमा! जे ण केइ साहू वा साहुणी वा निग्गथे अणगारे दव्वथय कुज्जा से ण अजयएइ वा असजएइ वा देव भोहए इ वा देवव्वा (च्चा) मेइ वा जाव ण उम्मग पइए वा दूरुज्झियसीले वा कुसीलेइ वा सच्छदा यारिएई वा अलविज्जा। छ। एव गोयमा! तेसिं अणायार पवत्ताण वहूण आयरियरादीण एगे मरयच्छवी कुवलयप्पहा हिहाणा नाम अणगारे महा तवस्सी अहेसि। तस्स ण महामहते जीवाइ पयत्थे सुत्तत्थ परिनाणे सुमहते च ससार सागरे तासु तासु जोणीसु ससरणभय सव्वहा सव्व पगारेहिं ण अच्चत आसायणारुयत्त ण तक्काल तारिसे वी वी (वि) असमजसे अणायारे बहुसाहम्मिय पवत्तिए तहावि सो तित्थयराणमाण णाइक्कमेइ। अहन्नया सो अणगूहिय बलवीरिय पुरिसक्कार परक्कमे सुसीसगण परियरि परिओ सव्वन्नुप्पणीयामग सुत्तत्थोभयाणु सारेण ववगय राग दोस मोह मिच्छत्त ममकाराहकारो सव्वत्थ अपडिबद्धि कि बहुणा सत्वगुणगणाहिट्ठिय सरीरो अणेग गामागर नगर पुर खेड कव्वड मडव दोण मुहाइ सन्निवेस विसेसे सु अणेगेसु भव्वसत्ताण ससार वार विमोक्खणि धम्मकह परिकहिंतो विहरि। एव वच्चति रियहा। सो महाणुभागो विहरमाणो आगओ गोयमा! तेसिं णीयविहारीण-

मावासगे। तेसि च महातवस्सी काउश्रण सम्माणिश्रो कि इस्सम्मास-णपयाणाइणा सुविणएण। एव च सुहनिसिन्नो चिट्ठित्ताण धम्मक-हाइणाविणोएण पुणो गतूपयत्तो। ताहे भणिश्रो सो महाणुभावो। गोयमा! तेहि दुरत पत लक्खणेहि लिंगोवजीविहिं ण भट्ठायारु भग्गे पवत्तगानिग्गहियमिच्छदिट्ठीहि।

जहा ण भयव! जइ तुममिहइ एक्क वासारत्तिय चाउम्मासिश्र पउ जियताणमिच्छाए श्रणेगे चेइयालगे भवति णूण तुज्भाणत्तीए। ताकीर उमणुग्गहमम्हाण इहेव चाउम्मासिय। ताहे भणिय तेण महाणुभागेण गोयमा! जहा भो भो पियवरा! जई वि जिणालए तहावि सावज्जमिण णाह वाया मित्तेण पि एय श्रायरिज्जा।

एव च समयसारपर तत्त जहट्ठिय श्रविवरीय णीसक भणमा-णण तेसिं मिच्छदिट्ठिलिगीण साहुवेस धारीण मज्भे गोयमा! श्रस कलिय तित्थयरणामकम्मगोय तेण कुवलयप्पमेण एग भवावसेसीवश्रो भवोयही। तत्थ य दिठो श्रणुलविज्ज नाम सघमेलावगो श्रहेसि। तेहि च बहुहि हेसितेहिं च बहूहिं पावमईहिं लिगिणियाहि परोप्परमेगमय काऊण गोयमा! ताल दाऊण विप्पलोइय चेव। ते तस्स महाणुभा-गसुमहतवस्सिणो कुवलयप्पहाहिहाण कय च से सावज्जायरियामि-हाण सद्दकरण गय च पसिद्धि ए। एव च सद्दिज्जमाणो वि सो तेणापसत्थ सद्दकरणेण। तहावि गोयमा! ईसि पि ण कुप्पो। श्रहन्नया तेसिं दुरायाराण सद्धम्मपरमुहाण श्रगार धम्मो श्रणगार धम्मोभय भट्टाण लिंगमित्त नाम पव्वइयाण श्रगार धम्मो श्रणगार धम्मोभय भट्टाण लिंगमित्त नाम पव्वइयाण कालक्कमेण सजाश्रो परोप्पर श्रागम वियारो।

जहा ण सड्ढगाण श्रसइ सजया चेव मढ देउले पडिजागरेंति खडपडिए य समारययति। श्रन्न च जाव करणिज्ज त पइसमारभे कज्जमाणे जइस्स वि ण णत्थि दोस सम्भवे एव च केइ भणति सजम मोक्खनेयार। श्रन्ने भणति जहा ण पासाय वडिसए पूया सक्कार बलि विहाणाइ सुण तित्थुत्थावणाए चेव मोक्ख गमण।

एव तेसिम विइयपरमत्थाण पावकम्माण ज जेण सिद्ध त चे वुद्दामुस्सिखाण मुहेणापलवति। ताहे समुट्ठिय वादसघट्ट। नत्थि य कोई तथ्य श्रागमकुसला तेसिं जो तत्थजुत्ता जुत्त वियारेइ जो पमा-णमुवइस्सई। तहा एगे भणति जहा श्रमुगो श्रमुग गच्छम्मि चिट्ठे

(चिट्ठइ)। अन्ने भणाति अमुगो, अन्ने भणति किमित्थ बहुणा पलविएण सव्वेसिमम्हाण सावज्जायरिओ एत्थ पमाण ति। तेहि भणिय जहा एव होउत्ति हक्कारावेह लहु। तओ हक्काराविओ गोयमा! सो तेहि सावज्जाय रिओ आगओ दूर देसाओ अप्पडिवद्ध-त्ताए विहरमाणो सत्तहिंमासेहिं। जाव ण दिट्ठो एगाए अज्जाए। सा य त कट्टुग्गतवचरण सोसिय सरीर चम्मट्ठिसेस तणु अच्छत तवसिरीए दिप्पत सावज्जायारय पेच्छिये सुविम्हियतकरणा वियक्किउ (वितर्कितु) पयत्ता (पवन्ना प्रपन्ना) अहो कि एस महाणु-भागो ण सो अरहा कि वा ण धम्मो चेव मुत्तिमतो।

किं बहुणा तियसिद वदाण पि वदणिज्ज पायजुओ एस ति चितिऊण भत्तिब्भरनिब्भरा आयाहिण पयाहिण काऊण उत्ति-मगेण सघट्टेमाणी झगिति निवडिया चलणेसु। गोयमा! तस्स ण सावज्जायरियस्स दिट्ठो य सो तिहि दुरायारेहि पणमिज्ज माणे। अन्नया ण सो तेसि दुरायारेहि पणमिज्जमाणो अन्नया ण सो तेसि तत्थ जहा जग गुरुहिं उवइट्ठ तहा चेव गुरुवएसाणुसारे ण आणुसारेण आणुपुव्वीए जहट्ठिय सुत्तत्थ वागरेइ। ते वि तहा चेव सद्दहति।

अन्नया ताव वागरिय गोयमा! जाव ण एक्कारसण्ह मगाण चोद्द-सण्ह पुव्वाण दुवालस्सगस्स ण सुयनाणस्स णवणीय सारभूय सयल-पाव परिहारट्ठकम्म निम्महण आगम इणामेव गच्छमेरा पवत्तण (पन्नवण) महानिसीह सुयक्खधस्स पचम अज्झयण। अत्थेव गोयमा! ताव ण वक्खाणि य जाव ण आगया इमा गाहा—

जत्थित्थीकरफरिस अतरिय कारणे वि उप्पन्ने।
अरहा वि करेज्ज सय त गच्छ मूलगुण मुक्क॥

तओ गोयमा! अप्पसकिए ण चेव चितिय तेण सावज्जाय-रिएण जइ एय जहट्ठिय पन्नमे तओ ज मम वदणग दाडमाणीए तीए अज्जाए उत्तिमगे ण चलणगे पुट्ठे त सव्वेहिं पि दिट्ठमेएहि त्ति। ता जहा मम सावज्जायरियामि हाण कय तहा अन्नमवि कि चि एत्थु मुद्दक काहिति मो सावज्जायरिओ चितिओ (उ)। तह ज मम सावज्जायरियाभिहाण कय इमेहि तहा त किं पि सपय काहिति। जे ण तु सव्व लोए अपुज्जो भविस्स। ता अन्नहा सुतत्थ पन्नवेमि ता ण महती आसायणा, तो किं करियव्वमे त्थ त्ति कि एय गाह एव उपचयामि किं वाण अन्नहा पन्नवेमि। अह वा हा हा ण जुत्त-मिण उभयहा वि। अच्चत गरहि य आयहि यट्ठीणमेय। ज उण-

भेय जग्रग्रोभे समयाभिप्पाग्रो जहा ण जे भिक्खू दुवालसगस्स ण सुय-
नाणस्सग्रसई चुक्कक्खलिय पमाया सकादी मनयत्तेण (सभयत्तेण)
पयक्खरमत्ता बिदुमवि एक्क पउ विज्जा ग्रन्नहा वा पन्नविज्जा
सदिद्ध वा सुत्तत्थ वक्खाणेज्जा ग्रविहिए ग्रणुग्रोगस्स वा वक्खा-
णिज्जा से भिक्खू ग्रणत ससारी भविज्जा।

ताकि चेवेत्थ ज होही त च भवउ। जहट्ठिय चेव गुरुवए
साणुसारेण सुत्तत्थ पवक्खामि त्ति चितिऊण गोयमा! पव-
क्खाया णिखिलावयव विसुद्धा सा तेण गाहा। एया वसरमि
चोइग्रो गोयमा! सो तेहि दुरत पत लक्खणेहि जहा जइ एव
ता तुम पि ताव मूल गुण हीणो जाव ण सभरसु त ज तद्दि-
वसे तीए ग्रज्जाए तुज्झ वदणग दाउकाभाए पाए उत्तमगेण
पुट्ठे। ताहे इहलोयगा वयसहीरू खरसत्थरीहूग्रो गोयमा! सो साव-
ज्जायरिग्रो चितिग्रो जहा से ज मम सावज्जायरियामिहाण कय
इमेहि तहा य कि पि सपइ काहिति, जे ण तु सव्व लोए अपुज्जो
भविस्स वा किमित्थ परिहारग दाहामित्ति चितमाणेण समारिय
तित्थयर वयण। जहा ण जे केई ग्रायरिएइ वा (गणहरेहि वा)
भयहर एइ वा गच्छाहिवई सुयहरे भविज्जा, से ण ज किचि सव्व-
न्नूहि ग्रणतनाणीहि पावाययण ठाण पडिसेहिय त सव्व सुयाणु-
सारेण विन्नाय सव्वहा सव्व पयारेहि णो समायरिज्जा णो ण समा-
यरिज्जमाण समणुजाणिज्जा। से कोहेण वा माणेण वा मायाए वा
लोभेण वा भएण वा हासेण वा गारवेण वा दप्पेण वा पमाएण वा
ग्रसती चुक्कखलिएण वा दिया वा राग्रो वा एगग्रो वा परिसागग्रो
वा सुत्ते वा जागरमाणे वा तिविह तिविहेण मणेण वायाए काएण
एतेसिमेव पयाण जे केई विराहगे भवेज्जा से ण भिक्खू भूग्रो निंद-
णिज्जे गरहणिज्जे खिसणिज्जे दुगु छणिज्जे सव्व लोग परिभूए बहु
वाहि (वाउ) वेयणापरिगय सरीरे उक्कोसट्ठिइए ग्रणत ससार
सागर परिभमेज्जा। तत्थ ण परिभममाणे खणमेक्क पि न कहि वि
कयाइ निव्वुइ सपावेज्जा। ता पमाय गोयरगयस्स ण मे पावाउहमा-
हम हीण सत्त काउरिसस्स इहइ चेव समुट्ठियाए महता ग्रावइ जेण
ण सक्को ग्रहमेत्थ जुत्तीखम कि वि पडि उत्तर पयाउ जे तहा पर-
लोगे य ग्रणत भव पर पर भममाणो घोर दारुणाणतसोय दुक्खस्स-
भागी भविहामि।

ग्रह मदभागोत्ति चितयतो ग्रविलक्खिग्रो। सो साज्जायरिग्रो।
गोयमा! तेहि दुरायारपावकम्म दुट्ठ सोयारेहि जहा ण ग्रलियखर-

मच्छरी भूओो एस तओो सक्खुद्धमण खरमच्छरीभूय कलिऊण च भणिय तेहि दुट्ठ सोया रेहि जहा जाव ण तो छिन्न भिण्ण माससय ताव ण उट्ठ वक्खाण अच्छित्ता एत्थ त परिहारग वायरिज्जा ज पोढजुत्ती-खम कुग्गाहणिम्म हरा पव्बल ति ।

तओो तेरा चिंतिय । जहा नाहअरिन्नेण परिहारगेण भो चुक्किमो एसि ता किमित्थ परिहारग दाहामित्ति चितयतो पुणो वि गोयमा ! भणिओो सो तेहि दुरायारेहि जहा किमट्ठ चितासागरे णिमज्जिऊण ठिओो सिग्घमेत्थ कि चि परिहार गवयाहि णवर त परिहारग भणेज्जा ज जहुत्तत्थ किरियाए अव्वभिचारी । ताहे सुदूर परितप्पिऊण हियएण भरिणय सावज्जाय-रिएण जहा एएण अत्थे ण जगगुरुहि वागरिय ज अओोगस्स मुभत्थ न दायव्व । जओो —"आमे घडे निहत्त जहा जल त घड विणासेइ । इय सिद्धातरहस्स अप्पाहार विणा सेइ ।।' १ ।।

ताहे पुणो वि तेहि भणिय जहा किमेयाइ अरडबरडाइ असबद्धाइ दुब्भासियाइ पलवह जइ परिहारग दाउ न सक्को ता उप्फिडसु सुआसरा ओसर सिग्घ इमाओो ठाणाओो कि देवस्स रूसेज्जा जत्थ तुम पि पमारणी काऊण सव्वसघेरा समय सव्भाव वायारेउ ज समाइट्ठो । तओो पुरणो वि सुइर परितप्पिऊण गोयमा ! अन्न परिहारगमलभमा-णेरा अगीकाऊरा दीहससार भरिणय च सावज्जायरिएण । जहा रा उस्सग्गाववाएहिं आगमो ठिओो तुज्झे रा यारणह । "एगत मिच्छत्त जिराराामाराामणेगता ।" एय च वयण गोयमा ! गिण्हाय वसति वियहि सिलिकुलेहि व (वर्षंति वियति शिखि कुलैरिव) अहिराव-पाउसघरणोरल्लिमिव सबहुमाण इच्छिय तेहि तेहिं दुट्ठसोयारेहिं । तओो एगवयरादोसेण गोयमा ! निबधिऊरााणत ससारि यत्तरा अपडिक्कमिऊरा च तस्स पाव समुदाय महाखध मेलावगस्स मरिऊण उववन्नो वाणमतरेसु सो सावज्जायरिओो तिओो चुओो समाणो उव-वन्नो पवसिय भत्ताराए पडिवासुदेव पुरोहिय धूयाए कुच्छिसि ।"

(महानिशीथ हस्त लिखित प्रति पृष्ठ ४७ (२)
से पृष्ठ ५० (१) तक)

महानिशीथ के उपर्युद्धृत आख्यानो एव उद्धरणो पर गहराई से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि अपने समय की भगवान् महावीर के धर्म सघ की ह्रासोन्मुख स्थिति को देखकर सवेग परम्परा के विद्वान् आचार्य हरिभद्र सूरि ने विभिन्न सम्प्रदायो अथवा गच्छो के मुख्य रूपेरा सात अन्य आचार्यों के साथ मिल

बैठकर उनके साथ गहराई से विचार-विमर्श कर विभिन्न इकाइयो मे विभक्त जैन सघ को एकता के सूत्र मे आबद्ध करने और धार्मिक मान्यताओ एव कार्यकलापो मे एकरूपता लाने के सदुद्देश्य से समन्वयवादी उदात्त नीति को अपनाया। विभिन्न विचारधाराओ वाले गणो अथवा गच्छो की भिन्न-भिन्न मान्यताओ को दृष्टिगत रखते हुए उन्होने जन मानस मे एक प्रकार से गहराई से घर की हुई उन मान्यताओ को भी केवल इसी सदुद्देश्य से प्रेरित होकर धार्मिक कर्त्तव्य के रूप मे बोझिल मन से स्वीकार किया, जो न तो शास्त्र सम्मत ही समझी गई थी और न परम्परागत ही।

दीमको द्वारा खाई हुई, सडी-गली एव खडित-विखडित जो प्रति महानिशीथ की आचार्य हरिभद्र को मिली, उसका उद्धार करते समय उन्होने किन-किन शब्दो, किन-किन पक्तियो, किन-किन पृष्ठो और किन-किन पत्रो को नये रूप से जोडा और कौन-कौन से शब्द, वाक्य, पृष्ठ, पत्र आदि उस खण्डित मूल प्रति के अनुरूप थे इस बात का उल्लेख आचार्य हरिभद्र ने कही नही किया है। इस प्रकार की स्थिति मे आज के किसी भी विद्वान् के लिये निर्णायक रूप मे यह कहना नितान्त असम्भव है कि वर्तमान मे उपलब्ध महानिशीथ का कितना व कौनसा भाग परम्परागत मूल स्वरूप वाला है और कितना व कौनसा भाग आचार्य हरिभद्र के द्वारा जोडा गया है। हाँ, यह जानने का अनुमानत एक रास्ता अवश्य हो सकता है—और वह है आचाराग आदि शास्त्रो मे समाविष्ट शाश्वत तथ्यो के कतिपय स्थलो और महानिशीथ के विभिन्न आख्यानो के विभिन्न प्रसगो पर प्रयुक्त भाषा शैली वाले स्थलो पर क्षीर नीर विवेकपूर्ण विश्लेषणात्मक एव अनुसधानपरक दृष्टि से चिन्तन-मनन करने का। जिस पर से तत्त्व मर्मज्ञ सुविज्ञ जिज्ञासु इतिहासविद् यह अनुमान लगा सके कि वर्तमान मे उपलब्ध महानिशीथ का अमुक-अमुक भाग वस्तुत' परम्परागत मूल वाला है और अमुक-अमुक भाग आचार्य हरिभद्र द्वारा उनके समकालीन सात आचार्यो की अनुमति से इसी सदुद्देश्य से प्रेरित होकर जोडा गया है कि येन केन प्रकारेण श्रमण भगवान् महावीर के धर्म सघ की विघटन की प्रक्रिया समाप्त हो जाय और सम्पूर्ण जैन सघ मे एकरूपता स्थापित होकर वह एकता के सूत्र मे आबद्ध हो जाय। वे विचारणीय आख्यान, प्रकरण अथवा स्थल मुख्यत निम्नलिखित हैं —

"(१) द्रव्यस्तव और भावस्तव पर जहाँ महानिशीथ मे विचार किया गया है उसमे भावस्तव को सर्वोत्कृष्ट एव परम स्वपर कल्याणकारी बताते हुए बडे ही प्रभावशाली शब्दो मे यह बताया गया है कि एक व्यक्ति सुमेरु तुल्य अति विशाल एव गगनचुम्बी रत्नखचित स्वर्ण-निर्मित जिन मन्दिरो से सारी पृथ्वी को आच्छादित कर दे तो भी उसका वह कार्य लव-निमेष मात्र अवधि तक किये गये भावस्तव के अनन्तवे भाग की भी तुलना नही कर सकता।

इससे आगे पञ्च मगल के प्रकरण मे द्रव्यस्तव के रूप मे यह विधान किया गया है कि पूर्वाह्न, मध्याह्न और अपराह्न मे नियमित रूप से सदा त्रिकाल चैत्यवन्दन करना चाहिये। चैत्यवन्दन के साथ-साथ इस प्रकरण मे विद्या सिद्धि मन्त्र जाप और वासक्षेप का भी विधान किया गया है।

इन दोनो प्रकार के स्तवो का वर्णन करते समय जो भाषा-शैली अपनाई गयी है उस पर विचार करने से सहज ही यह स्पष्ट हो जाता है कि भावस्तव का महत्त्व बताने मे जिस अन्तस्तलस्पर्शी ठोस भाषा का प्रयोग किया गया है उसका वासक्षेप मन्त्र सिद्धि आदि द्रव्य स्तवो का विधान करने एव उसका महत्त्व बताने वाली भाषा मे नितान्त अभाव है।

(२) आर्य वज्र और उनके पाँच सौ शिष्यो के आख्यान मे तीर्थयात्रा को असयम का कारण बताया गया है। आर्य वज्र की १५०० शिष्या साध्वियो को विशुद्ध सयम का पालन करने वाली और इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करने वाली श्रेष्ठ श्रमणिया बताते हुए उनकी श्लाघा की गई है। उन साध्वियो ने तीर्थयात्रा के लिए अपने गुरु से कोई निवेदन नही किया। इसके विपरीत आचार्य वज्र के ५०० शिष्यो ने अपने गुरु से तीर्थयात्रा एव चन्द्रप्रभ स्वामी का वदन करवाने की प्रार्थना की। गुरु ने उनको अनुमति नही दी। गुरु की अनुमति के बिना ही वे ५०० शिष्य तीर्थयात्रा के लिए प्रस्थित हुए। इस पर गुरु ने उन्हे ऐसा न करने के लिये अनेक भाति से समझाया। गुरु आज्ञा को शिरोधार्य न करने की दशा मे गुरु ने उन्हे दुष्ट शिष्य बताते हुए उनके साधु वेष को उनसे छीन लेने का निश्चय किया। गुरु ने एक शिष्य के वेष को तो छीन भी लिया। किन्तु शेष शिष्य विभिन्न दिशाओ मे भाग गये।

इस आख्यान के अन्त मे ४९९ शिष्यो के अनन्तकाल तक दुर्गतियो मे भटकते रहने का तथा गुरु और एक शिष्य के, जो कि तीर्थयात्रा के लिये नही गये, उसी भव मे मुक्त होने का उल्लेख किया गया है।

(३) देव देवेन्द्रो ने पुष्पवृष्टि आदि से तीर्थङ्करो का द्रव्यस्तव किया इस प्रकार के शास्त्रीय उल्लेखो से द्रव्यस्तव सभी के लिये अनुकरणीय है कि नही इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महानिशीथ मे निम्नलिखित तथ्य प्रकट किये गये हैं :—

(क) देवगण एकान्तत अविरत है इस कारण वे केवल द्रव्यस्तव के ही पात्र है ।

(ख) श्रावक श्राविकागण विरताविरत है । नितान्त अविरत देवताओ मे और विरताविरत गृहस्थ मानवो मे बहुत बडा अन्तर है । अत वस्तुतः भावस्तव नितान्त श्रेष्ठ एव आत्म-हित साधक है । यहा पर दर्शाणभद्र का दृष्टान्त पर्याप्त है । मुमुक्षुओ के लिये मुक्ति प्राप्ति का वही एक श्रेष्ठ मार्ग अनुकरणीय है जिस पर स्वय तीर्थङ्कर प्रभुओ ने चलकर आठो कर्मो को नष्ट किया और भव्य प्राणियो को जन्म जरा मृत्यु से सदा सर्वदा के लिये छुटकारा दिलाने हेतु धर्म तीर्थ का प्रवर्त्तन किया ।

(ग) जो सर्वाधिक आत्महित साधक और श्रेष्ठ है विज्ञ साधक को वही करना चाहिये जैसा कि तीर्थङ्करो ने किया । सजीव निकाय मे से किसी भी जीव निकाय के प्राणियो की हिसा महान् अनर्थकारिणी और अनन्त काल तक ससार मे भट-काने वाली है । इस बात को सदा दृष्टि मे रखते हुए जो सर्वाधिक आत्महित के साधन रूप हो, वही साधक को करना चाहिये ।

(४) पञ्च मगल प्रकरण मे त्रिकाल चैत्यवदन आदि द्रव्यस्तव का यद्यपि विधान किया गया है, किन्तु कमलप्रभ जिनको चैत्यवासियो ने सावद्याचार्य के नाम से अभिहित करना प्रारम्भ कर दिया था उन कमलप्रभाचार्य के आख्यान मे श्रमणाचार का और भगवान् महावीर की श्रमण परम्परा के प्रतीक श्रमण का जो वर्णन किया गया है वह वडा ही सजीव एव मननीय है । इसमे दो मुख्य बातो पर विशेष बल दिया गया है । पहली बात तो यह है कि चैत्य निर्माण की वाणी मात्र से भी बात करना सच्चे श्रमण के लिये अकल्पनीय एव अनाचरणीय है । "आप हमारे यहा एक चातुर्मास आवास तक रहने की कृपा करे । आपके यहा रहने से हमारे यहा अनेक चैत्यो का निर्माण हो जायगा ।" चैत्यवासियो द्वारा की गई इस प्रार्थना के उत्तर मे आचार्य कमलप्रभ ने कहा —"यद्यपि यह जिनालयो की बात है । किन्तु मै तो इस सावद्य कार्य का वाणी मात्र से भी अनु-मोदन नही कर सकता ।" इस आख्यान मे इस तथ्य पूर्ण बात को उन नियत निवासी वेष मात्र से साधु चैत्यवासियो के सम्मुख साहस के साथ कहकर कमलप्रभ ने सर्वोत्कृष्ट पुण्य का वन्ध कर लिया ।

दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्कर प्रभु द्वारा प्ररू-पित शाश्वत सत्य सिद्धातो मे अपवाद मार्ग का विधान करने वाला साधु सावद्याचार्य के समान अनन्त काल तक भयावहा भवाटवी मे भटकता रहता है। इस आख्यान मे वस्तुत सच्चे श्रमण के लिये चैत्य निर्माण की बात तक करना और अपवाद मार्ग का विधान करना पूर्ण रूपेण वर्जनीय है एव अनाचरणीय है ऐसा बताया गया है। आचार्य हरिभद्र का समय वास्तव मे अपवाद मार्ग के विधानो से ओतप्रोत था। इस बात का इतिहास साक्षी है। चैत्यवासियो द्वारा अगीकार किये गये और परिचालित दसो ही नियम वस्तुत अपवाद मार्ग के अवलम्बन से ही निर्मित किये गये थे। सावद्याचार्य के इस आख्यान के माध्यम से महानिशीथ मे चैत्य निर्माण और अपवाद मार्ग का विरोध किया गया है।"

महानिशीथ मे उल्लिखित इन उपरि वरिणत तथ्यो पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य हरिभद्र ने समन्वयकारिणी नीति का अव-लम्बन लेकर भगवान् महावीर के धर्मसघ को एकता के सूत्र मे आबद्ध करने का एक ऐतिहासिक प्रयास किया। किन्तु उनका यह प्रयास केवल असफल ही नही रहा किन्तु उसके दूरगामी दुष्परिणाम भी हुए।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु महावीर द्वारा तीर्थ प्रवर्त्तन काल मे उपदिष्ट धर्म और विशुद्ध श्रमणाचार मे विश्वास, आस्था एव निष्ठा रखने वाले श्रमणो ने आचार्य हरिभद्र एव उनके समकालीन आचार्यो द्वारा जैन सघ के समक्ष प्रस्तुत की गई इस समन्वयवादी नीति के साथ किसी प्रकार का समझौता नही किया। परम्परागत धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप और विशुद्ध श्रमणाचार के आदर्श सिद्धातो से हटकर वे किसी के साथ कोई समझौता करने को उद्यत नही थे।

आचार्य भद्रबाहु के उस समन्वयवादी प्रयास का दूरगामी दुष्परिणाम यह हुआ कि चैत्यवासी आदि जिन द्रव्य परम्पराओ द्वारा जो नये विधि-विधान धार्मिक कर्त्तव्यो के रूप मे प्रचलित किये गये थे और उनमे से जिन कतिपय को सघ की एकता के सदुद्देश्य से प्रेरित होकर आचार्य हरिभद्र ने महानिशीथ मे मान्य किया था उन कार्य-कलापो एव विधि-विधानो को सुविहित परम्परा के गच्छो गणो एव सम्प्रदायो ने तो अपना लिया, किन्तु चैत्यवासी आदि उन द्रव्य परम्पराओ ने समन्वय की दृष्टि से महानिशीथ मे स्वीकृत भाव परम्परा द्वारा विहित श्रमणाचार को नही अपनाया।

(क) देवगण एकान्तत अविरत है इस कारण वे केवल द्रव्यस्तव के ही पात्र हैं ।

(ख) श्रावक श्राविकागण विरताविरत हैं । नितान्त अविरत देवताओ मे और विरताविरत गृहस्थ मानवो मे बहुत बडा अन्तर है । अत वस्तुतः भावस्तव नितान्त श्रेष्ठ एव आत्म-हित साधक है । यहा पर दशार्णभद्र का दृष्टान्त पर्याप्त है । मुमुक्षुओ के लिये मुक्ति प्राप्ति का वही एक श्रेष्ठ मार्ग अनुकरणीय है जिस पर स्वय तीर्थङ्कर प्रभुओ ने चलकर आठो कर्मो को नष्ट किया और भव्य प्राणियो को जन्म जरा मृत्यु से सदा सर्वदा के लिये छुटकारा दिलाने हेतु धर्म तीर्थ का प्रवर्त्तन किया ।

(ग) जो सर्वाधिक आत्महित साधक और श्रेष्ठ है विज्ञ साधक को वही करना चाहिये जैसा कि तीर्थङ्करो ने किया । सजीव निकाय मे से किसी भी जीव निकाय के प्राणियो की हिंसा महान् अनर्थकारिणी और अनन्त काल तक ससार मे भट-काने वाली है । इस बात को सदा दृष्टि मे रखते हुए जो सर्वाधिक आत्महित के साधन रूप हो, वही साधक को करना चाहिये ।

(४) पञ्च मगल प्रकरण मे त्रिकाल चैत्यवदन आदि द्रव्यस्तव का यद्यपि विधान किया गया है, किन्तु कमलप्रभ जिनको चैत्यवासियो ने सावद्याचार्य के नाम से अभिहित करना प्रारम्भ कर दिया था उन कमलप्रभाचार्य के आख्यान मे श्रमणाचार का और भगवान् महावीर की श्रमण परम्परा के प्रतीक श्रमण का जो वर्णन किया गया है वह बडा ही सजीव एव मननीय है । इसमे दो मुख्य बातो पर विशेष बल दिया गया है । पहली बात तो यह है कि चैत्य निर्माण की वाणी मात्र से भी बात करना सच्चे श्रमण के लिये अकल्पनीय एव अनाचरणीय है । "आप हमारे यहा एक चातुर्मास आवास तक रहने की कृपा करे । आपके यहा रहने से हमारे यहा अनेक चैत्यो का निर्माण हो जायगा ।" चैत्यवासियो द्वारा की गई इस प्रार्थना के उत्तर मे आचार्य कमलप्रभ ने कहा —"यद्यपि यह जिनालयो की बात है । किन्तु मै तो इस सावद्य कार्य का वाणी मात्र से भी अनु-मोदन नही कर सकता ।" इस आख्यान मे इस तथ्य पूर्ण बात को उन नियत निवासी वेष मात्र से साधु चैत्यवासियो के सम्मुख साहस के साथ कहकर कमलप्रभ ने सर्वोत्कृष्ट पुण्य का बन्ध कर लिया ।

दूसरी बात यह है कि सर्वज्ञ सर्वदर्शी तीर्थङ्कर प्रभु द्वारा प्ररूपित शाश्वत सत्य सिद्धातो मे अपवाद मार्ग का विधान करने वाला साधु सावद्याचार्य के समान अनन्त काल तक भयावहा भवाटवी मे भटकता रहता है। इस आख्यान मे वस्तुत सच्चे श्रमण के लिये चैत्य निर्माण की बात तक करना और अपवाद मार्ग का विधान करना पूर्ण रूपेण वर्जनीय है एव अनाचरणीय है ऐसा बताया गया है। आचार्य हरिभद्र का समय वास्तव मे अपवाद मार्ग के विधानो से ओतप्रोत था। इस बात का इतिहास साक्षी है। चैत्यवासियो द्वारा अगीकार किये गये और परिचालित दसो ही नियम वस्तुत अपवाद मार्ग के अवलम्बन से ही निर्मित किये गये थे। सावद्याचार्य के इस आख्यान के माध्यम से महानिशीथ मे चैत्य निर्माण और अपवाद मार्ग का विरोध किया गया है।"

महानिशीथ मे उल्लिखित इन उपरि वर्णित तथ्यो पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य हरिभद्र ने समन्वयकारिणी नीति का अवलम्बन लेकर भगवान् महावीर के धर्मसघ को एकता के सूत्र मे आबद्ध करने का एक ऐतिहासिक प्रयास किया। किन्तु उनका यह प्रयास केवल असफल ही नही रहा किन्तु उसके दूरगामी दुष्परिणाम भी हुए।

सर्वज्ञ सर्वदर्शी प्रभु महावीर द्वारा तीर्थं प्रवर्त्तन काल मे उपदिष्ट धर्म और विशुद्ध श्रमणाचार मे विश्वास, आस्था एव निष्ठा रखने वाले श्रमणो ने आचार्य हरिभद्र एव उनके समकालीन आचार्यो द्वारा जैन सघ के समक्ष प्रस्तुत की गई इस समन्वयवादी नीति के साथ किसी प्रकार का समभौता नही किया। परम्परागत धर्म के आध्यात्मिक स्वरूप और विशुद्ध श्रमणाचार के आदर्श सिद्धातो से हटकर वे किसी के साथ कोई समभौता करने को उद्यत नही थे।

आचार्य भद्रबाहु के उस समन्वयवादी प्रयास का दूरगामी दुष्परिणाम यह हुआ कि चैत्यवासी आदि जिन द्रव्य परम्पराओ द्वारा जो नये विधि-विधान धार्मिक कर्त्तव्यो के रूप मे प्रचलित किये गये थे और उनमे से जिन कतिपय को सघ की एकता के सदुद्देश्य से प्रेरित होकर आचार्य हरिभद्र ने महानिशीथ मे मान्य किया था उन कार्य-कलापो एव विधि-विधानो को सुविहित परम्परा के गच्छो गणो एव सम्प्रदायो ने तो अपना लिया, किन्तु चैत्यवासी आदि उन द्रव्य परम्पराओ ने समन्वय की दृष्टि से महानिशीथ मे स्वीकृत भाव परम्परा द्वारा विहित श्रमणाचार को नही अपनाया।

आगमानुसार जैन श्रमण व श्रमणी का वेष, धर्म शास्त्र एवं आचार विचार

भगवान् महावीर के धर्मसघ मे जिस प्रकार मान्यताओं की दृष्टि से अनेकरूपता दिखाई देती है वैसी ही अनेक रूपता उसके साधु साध्वियो के वेषादि मे भी दिखाई देती है।

श्वेताम्बर मूर्त्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरहपन्थी आदि तथा दिगम्बर तेरहपन्थ, भट्टारक, मयूरपिच्छ, गृध्रपिच्छ, निष्पिच्छक आदि मे वेष की दृष्टि से न मध्यकाल मे एकरूपता थी न आज है। ये सभी परम्पराएँ दावा करती हैं कि जिस वेष को उन्होने मान्य कर रखा है वही वास्तविक जैन श्रमण व श्रमणी का वेष है। हाँ एक दो परम्पराएँ ऐसी है जिनकी यह मान्यता है कि श्रमण वेष तथा उनके वस्त्र व पात्रो की सख्या मे वीर निर्वाण की छठी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ चरण से लेकर सातवी शताब्दी के प्रथम दशक के बीच किसी समय शारीरिक सहनन आदि की दृष्टि से आवश्यक समझकर थोडा सा परिवर्तन अवश्य किया गया था। शेष उनका वेष वही चला आ रहा है जो महावीर के शासनकाल मे था।

ऐसी स्थिति मे वास्तविक वेष क्या होना चाहिये इसके निर्णय के लिये हमे जैन आगमो को देखना होगा।

जैनागम आचाराग सूत्र और भगवती सूत्र मे इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इनके अतिरिक्त अन्य प्रश्न व्याकरण आदि आगमो मे भी यत्र तत्र इसके उल्लेख मिलते है। सक्षेप मे कतिपय उल्लेख प्रसगवशात् यहा दे रहे है —

> आउर लोयमायाए, चइत्ता पुव्वसजोग, हिच्चा उवसम, वसित्ता बम्भचेरसि, वसु वा अणुवसु वा जाणित्तु धम्म अहा तहा अहेगे तमचाइ, कुसीला वत्थ, पडिग्गह कवल पायपुछण विउसिज्जा, अणुपुव्वेण अणहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए, कामे ममायमाणस्स इयाणि वा मुहुत्तेण वा अपरिमाणाए भेए, एव से अन्तराएहिं कामेहि आकेवलिएहि अवइन्ना चेए ॥१॥"
>
> (आचाराग सूत्र, प्रथमश्रुत स्कन्ध, अध्ययन ६)

अर्थात्—कितने ही साधक ससार को दु खमय जान कर, पूर्वकालीन सयोग को त्यागकर, उपशम और ब्रह्मचर्य को धारण करके और धर्म के वास्तविक स्वरूप को समझ करके भी कालान्तर मे परिषहो से घबराकर सदाचार—शील से रहित हो धर्म का पालन करने मे अक्षम असमर्थ हो वे वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण का परित्याग कर काम—भोगो की अभिलाषा करते है। वे तत्काल

अथवा मुहूर्त पश्चात् या थोडे समय पश्चात् काम भोगो मे तीव्र ममता रखने वाले अन्तरायो से युक्त वे साधक आत्मा और शरीर के भेद को भूल जाते है और काम-भोगो से कभी तृप्त न होते हुए विभिन्न योनियो मे उत्पन्न हो ससार मे भटकते रहते है ।

"जे भिक्खु तिहि वत्थेहि परिवुसिए पायचउत्थेहि, तस्स ण नो एव भवइ—चउत्थ वत्थ जाइस्सामि, से अहेसणिज्जाइ पत्थाइ जाइज्जा, अहापरिग्गहियाइ वत्थाइ धारिज्जा नो धोइज्जा नो रएज्जा नो धोयरत्ताइ वत्थाइ धारिज्जा, अपलिउञ्चमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए, एय खु वत्थधारिस्स सामग्गिय ।।१।।"

(आचाराग सूत्र, प्रथम श्रुत स्कन्ध, अध्ययन ८, उद्देशक ४)

अर्थात्– जो अभिग्रहधारी मुनि एक पात्र और तीन वस्त्रो से युक्त है, उसके मन मे शीतादि के कारण से यह विचार उत्पन्न नही होना चाहिये कि —"मै चौथे वस्त्र की याचना करूँ ।" यदि तीन वस्त्रो से कम उसके पास है तो वह निर्दोष दूसरे या तीसरे वस्त्र की याचना करे और याचना करने पर जैसा भी वस्त्र उसे मिल जाय उसे धारण करे । वह उस वस्त्र को न तो धोवे और न धोकर रगे हुए वस्त्र को धारण ही करे । वह मुनि परिमाण मे स्वल्प ओर अल्प मूल्य वाले वस्त्र रखने के कारण अल्प वस्त्र वाला कहलाता है । यह वस्त्रधारी मुनि की सामग्री है ।

"जे भिक्खु एगेण वत्थेण परिवुसिए पायवीइएण तस्स न णो एव भवइ बिइय वत्थ जाइस्सामि से अहेसणिज्ज वत्थ जाइज्जा अहापरिग्गहिय वत्थ धारिज्जा जाव गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्न वत्थ परिट्ठविज्जा अदुवा एकसाडे अदुवा अचेले लाघविय आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभिजाणिया ।

जस्स ण भिक्खुस्स . ।।१।।

(आचाराग सूत्र अध्ययन ८, उद्देशक ६)

अर्थात्—जो भिक्षु एक वस्त्र और एक पात्र से युक्त है, उसकी इस प्रकार की इच्छा नही होनी चाहिये कि—'मै दूसरे वस्त्र की याचना करूँ ।' उसका वह वस्त्र यदि पूर्णतः जीर्ण-शीर्ण हो गया हो तो वह दूसरे वस्त्र की याचना कर सकता है । याचना करने पर उसे जैसा भी वस्त्र मिले उसे धारण करे और ग्रीष्म ऋतु आने पर उस जीर्ण वस्त्र को परिष्ठापित कर दे—त्याग दे, अथवा एक चादर रखे अथवा अचेलक बन जाये । इस प्रकार वह कमी करता हुआ भली प्रकार समभाव को जाने—समभाव से रहे ।

"से भिक्खु वा भिक्खुणी वा अभिकखिज्जा वत्थ एसित्तए, से पुण ज वत्थ जाणिज्जा, त जहा जगिय वा, भगिय वा साणिय वा, पोत्तग वा, खोमिय वा, तूलकड वा, तहप्पगार वत्थ वा जे निग्गथे तरुणे जुगव बलव अप्पायके थिरसघयणे से एग वत्थ धारिज्जा नो

वित्थार, दो तिहत्थवित्थाराओ, एग चउहत्थवित्थार । तहप्पगारेहि वत्थेहि असन्धिज्जमाणेहि अह पच्छा एगमेग ससिविज्जा ।।१।।"

(आचाराग द्वितीय श्रुत स्कन्ध,पञ्चम अध्ययन)

अर्थात्—यदि कोई साधु अथवा साध्वी वस्त्र की गवेषणा करने की अभिलाषा रखे तो वे वस्त्र के सम्बन्ध मे इस प्रकार जाने कि ऊन (आदि) का वस्त्र, विकलेन्द्रिय जीवो की लारो से बनाया गया रेशमी वस्त्र, सन तथा वल्कल का वस्त्र, ताड आदि के पत्तो से निष्पन्न वस्त्र और कपास एव आक की तूल से बना हुआ सूती वस्त्र एव इस तरह के अन्य वस्त्र को भी मुनि ग्रहण कर सकता है । जो साधु तरुण, बलवान्, रोगरहित और दृढ शरीर वाला है वह एक ही वस्त्र धारण करे, दूसरा वस्त्र धारण नही करे । परन्तु साध्वी चार वस्त्र (चादरे) धारण करे । उनमे एक चादर दो हाथ प्रमाण चौडी, दो चादरे तीन-तीन हाथ प्रमाण चौडी और एक चादर चार हाथ प्रमाण चौडी होनी चाहिये । इस प्रकार के वस्त्र नही मिलने पर वह एक वस्त्र को दूसरे वस्त्र के साथ सी ले ।"

"एव खु मुणी आयाण सयासुयक्खायधम्मे विहूयकप्पे निज्झोसइत्ता जे अचेले परिवुसिए तस्स ण भिक्खुस्स नो एव भवइ परिजुण्णे मे वत्थे, वत्थ जाइस्सामि, सुत्त जाइस्सामि, सूइ जाइस्सामि, सधिस्सामि सीविस्सामि उक्कसिस्सामि वुक्कसिस्सामि परिहिस्सामि पाउणिस्सामि, अदुवा तत्थ परक्कमत भुज्जो अचेल तणफासा फुसति, एगयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ, अचेले लाघव आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवइ ।।१।।"

(आचाराग सूत्र प्रथम श्रुत स्कन्ध, अध्ययन ६, उद्देशक ३)

अर्थात्—इन पूर्वोक्त धर्मोपकरणो के अतिरिक्त उपकरणो को कर्मबन्ध का हेतु समझकर जिस मुनि ने उनका परित्याग कर दिया है, वह धर्म का पालन करने वाला है । वह आचारसम्पन्न अचेलक साधु सदा सयम मे अवस्थित रहता है । वह आचारसम्पन्न अचेलक (विहूयकप्प) साधु सदा सयम मे अवस्थित रहता है । उस भिक्षु को इस प्रकार का विचार नही होता कि मेरा वस्त्र जीर्ण हो गया है अत मै नये वस्त्र की याचना करू, अथवा सुई धागे की याचना करू और फटे हुए वस्त्रो को सीऊ, अथवा छोटे से वडा वा वडे से छोटा करू और उससे शरीर को आवृत करू । उस अचेलक अवस्था मे पराक्रम करते हुए मुनि को तृणो के स्पर्श चुभते है, उष्ण स्पर्श, दश मशक के स्पर्श का परीषह होता है तो वह इस प्रकार के परीषहो को सहन करता है । अचेलक भिक्षु लाघवभाव को जानता हुआ कायक्लेष तप से युक्त होता है । जिस प्रकार भगवान् ने प्रवेदित किया है, उसे समीचीनतया जानकर जिन धीर-वीर पुरुषो ने पूर्वो अथवा वर्षो तक सयम का समीचीनतया पालन करते

वीय। जा निग्गथी सा चत्तारि सघाडीओ धारेज्जा एग दुहत्थ-
हुए परीषहो को सहन किया, उसे देख समझकर, मोक्ष मार्ग पर चलने वाले साधको के लिये ये परीषह सहन करने योग्य है।

मुनियो द्वारा अथवा साध्वियो द्वारा वस्त्र धारण किये जाने के सम्बन्ध मे और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए आचाराग सूत्र मे जो उल्लेख किया गया है, वह इस प्रकार है —

"से भिक्खु वा अहेसणिज्जाइ वत्थाइ जाइज्जा अहा परिग्गहियाइ वत्थाइ धारिज्जा नो धोइज्जा, नो रएज्जा, नो धोयरत्ताइ वत्थाइ धारिज्जा, अपलिउचमाणो गामतरेसु ओमचेलिए एय खलु वत्थधारिस्स सामग्गिय।"

(आचाराग, द्वितीय श्रुतस्कध, अध्ययन ५, उद्देशक २)

अर्थात्—सयमशील साधु अथवा साध्वी भगवान् द्वारा दी गई आज्ञा के अनुरूप निर्दोष एषणीय वस्त्र की गृहस्थ से याचना करे तथा प्राप्त होने पर उन वस्त्रो को धारण करे। किन्तु विभूषा हेतु न उन वस्त्रो को धोए न रगे और न धोये हुए अथवा रगे हुए वस्त्रो को पहने ही। उन अल्प परिमाण एव अल्प मूल्य वस्त्रो को धारण कर ग्राम आदि मे सुखपूर्वक विचरण करे। वस्त्रधारी मुनि का वस्त्र धारण करने सम्बन्धी यह सम्पूर्ण आचार है, यही उसका भिक्षुभाव है।

"जे भिक्खु अचेले परिवुसिए तस्स ण भिक्खुस्स एव भवइ—चाएमि अह तणफास अहियासित्तए, दस मसग फास अहियासित्तए, एगयरे अन्नतरे विरूवरूवे फास अहियासित्तए, हिरिपडिच्छायण चाह नो सचाएमि अहियासित्तए, एव से कप्पेइ कडिबन्धण धारित्तए।

(आचाराग, प्रथम श्रुतस्कध, अध्ययन ८, उद्देशक ७)

अर्थात्— जो अभिग्रहधारी अचेलक मुनि सयम मे अवस्थित है और उसका यह अभिप्राय है अर्थात् उसके मन मे यह विचार उत्पन्न होता है—"मै तृणस्पर्श, शीत, उष्णता, डास-मच्छर आदि के स्पर्श, अन्य जाति के स्पर्श और नानाविध अनुकूल अथवा प्रतिकूल स्पशो को तो सहन कर सकता हू किन्तु पूर्ण नग्न होकर लज्जा को जीतने मे असमर्थ हू।" तो ऐसी स्थिति मे उस मुनि को कटिबन्ध-चोलपट्टा धारण करना कल्पता है।

"तए ण भगव गोयमे छट्ठखमण पारणगसि पढमाए पोरिसीए सज्झाय करेइ, बीयाए पोरिसीए झाण झियाइ, तइयाए पोरिसीए अतुरियमचवलमसभते, मुहपोत्तिय पडिलेहेइ, पडिलेहेत्ता भायणवत्थाइ पडिलेहेइ पडिलेहेत्ता भायणाइ पमज्जइ, पमज्जित्ता भायणाइ उग्गाहेइ, उग्गाहेत्ता जेणेव समणे भगव महावीरे तेणेव उवागच्छइ

उवागच्छित्ता समण भगव महावीर वदइ नमसइ, वदित्ता नमसित्ता एव वयासी इच्छामि ण मते भिक्खायरियाए अडित्तए ।

(भगवती सूत्र, शतक २, उद्देशक ५, पैरा १०७)

अर्थात्—उन भगवान् इन्द्रभूति गौतम गणधर ने छट्ठ के पारण के दिन प्रथम पौरुषी मे स्वाध्याय कर, द्वितीय पौरुषी मे ध्यान सूत्रार्थ का चिन्तन कर तृतीय पौरुषी मे शारीरिक एव मानसिक चपलता से रहित होकर असभ्रान्त ज्ञान-पूर्वक मुखवस्त्रिका की प्रतिलेखना की, तदनन्तर भाजनादि अर्थात् भाजनो एव वस्त्रो की प्रतिलेखना की। प्रतिलेखना कर भाजनो की प्रमार्जना की। फिर पात्रो को लिया और पात्रो को लेकर जहा श्रमण भगवान् महावीर विराजमान थे, वहा आये, वहा आकर उन्होने श्रमण भगवान् महावीर की स्तुति की। उन्हे अपने पाचो अगो को झुकाकर नमस्कार किया। वन्दना नमस्कार कर उन्होने प्रभु से इस प्रकार निवेदन किया :—"हे प्रभो ! मैं आपसे आज्ञा प्राप्त कर आज छट्ठ (बेले) के पारण के दिन राजगृह नगर के उच्च-नीच एव मध्यम कुलो मे भिक्षाचर्या की विधि के अनुसार भिक्षा लेने के निमित्त जाना चाहता हू।"

आगमो के इन सक्षिप्त उल्लेखो से यह स्पष्ट है कि भगवान् महावीर के समय से श्रमण-श्रमणियो के वेष मे मुखवस्त्रिका, वस्त्र पात्र आदि धर्मोपकरणो का प्रमुख स्थान था।

वज्र ऋषभ नाराच सहनन एव समचतुस्र सस्थान के धनी महा तपस्वी तथा उसी भव मे मोक्षगामी महामुनि स्कन्दक अणगार की दुश्चर अति घोर तपश्चर्या का वर्णन करते हुए वस्त्र पात्र का उल्लेख भी भगवती सूत्र मे आता है जो इस प्रकार है —

तए ण से खदए अणगारे समणेण भगवया महावीरेण अभणुण्णाए समाणे हट्ठ तुट्ठे जाव नमसित्ता गुणरयण सवच्छर तवो कम्म उवसपज्जित्ता ण विहरति, त जहा —

पढम मास चउत्थ चउत्थेण अणिक्खित्तेण तवो कम्मेण दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावण भूमिए आयावेमाणे, रत्ति वीरासणेण अवाउडेण य।

दोच्च मास छट्ठ छट्ठेण रत्ति वीरासणेण अवाउडेण य। सोलसम मास चोत्तीसइम चोत्तीसइमेण अणिक्खित्तेण तवोकम्मेण दिया ठाणुक्कुडुए सूराभिमुहे आयावण भूमिए आयावेमाणे, रत्ति वीरासणेण अवाउडेण य।

(भगवती सूत्र शतक २, उद्देशक १ पैरा ६२)

अर्थात् - तब स्कन्दक अणगार श्रमण भगवान् महावीर से आज्ञा प्राप्त कर हर्षित एव तुष्ट हो यावत् भगवान् को नमस्कार कर गुणरत्न सवत्सर तप को अगीकार कर विचरने लगे। गुणरत्न सवत्सर तप की विधि इस प्रकार है—प्रथम मास मे व्यवधान रहित निरन्तर एकान्तर उपवास करते हुए दिन मे उत्कुटुक आसन से बैठ कर सूर्याभिमुख हो आतापना भूमि मे आतापना लेते हुए और रात्रि मे वस्त्र से आवृत शरीर को उद्घाटित (खुला) कर वीरासन से स्थित रहते।

दूसरे मास मे दो-दो उपवास, तीसरे मास मे तीन-तीन उपवास, चौथे मे चार-चार उपवास यावत् सोलहवे मास मे सोलह उपवास के पश्चात् पारण की व्यवधान रहित तपस्या करते हुए प्रतिदिन दिन के समय सूर्याभिमुख हो उत्कुट आसन से आतापना लेते और रात्रि के समय शरीर को खुला रख वीर आसन से स्थिर रहते।

इससे प्रकट होता है कि भगवान् महावीर की विद्यमानता मे उनके श्रमण सघ के महान् तपस्वी श्रमणश्रेष्ठ स्कन्दक अणगार जैसे तद्भव मोक्षगामी महामुनि भी वस्त्र धारण करते थे।

> ज पि य समणस्स सुविहियस्स तु पडिग्गह धारिस्स भवति भायण भडोवहि उवगरण, पडिग्गहो, पादबधण, पादकेसरिया, पादठवण च, पडलाइ तिन्नेव, रयत्ताण च, गोच्छओ, तिन्नेव, य पच्छाका, रयोहरण चोल पट्टक मुहणतकमादीय एय पि य सजमस्स उववूहणट्ठयाए वाया यव दसमसग सीय परिरक्खणट्ठयाए उवगरण रागदोसरहिय परिहरियव्व सजएण णिच्च पडिलेहण पप्फोडण पमज्जणाए अहो य राओ य अप्पमत्ते ण होइ सतत निक्खि वियव्व च गिण्हियव्व च भायण, भडोवहि उवगरण एव से सजते विमुत्ते निस्सगे निप्परिग्गहरूई निम्ममे निन्नेह बंधणे सव्व पाव विरते वासी चदण समाण कप्पे सम तिण मणि मुत्ता लेट्ठु कचणे समे य माणावमाणणाए, समियरते, समित रागदोसे, समिए समितिसु, सम्मदिट्ठी समे य जे सव्वपाण भूएसु सेहु समणे सुय धारते उज्जुत्ते सजते।
>
> [प्रश्न व्याकरण (पचम सवर द्वार)]

अर्थात् और जो भी पात्रधारी सुविहित क्रियापात्र साधु के पास पात्र, मिट्टी के भाँड और सामान्य उपधि तथा सकारण रखने के उपकरण होते हैं, जैसे पात्र, पात्र बधन, पात्र केसरिका पोछने का वस्त्र और पात्र स्थापन जिस पर पात्र रक्खे जाय, पटल पात्र ढकने के तीन वस्त्र और रजस्त्राणपात्र लपेटने का वस्त्र, गोच्छक पात्र वस्त्र आदि प्रमार्जन करने के लिये पू जनी और तीन ही प्रच्छाद ओढने के वस्त्र, रजोहरण ओघा, चोलपट्टक पहनने का वस्त्र और मुखानन्तक मुखवस्त्रिका आदि ये

सब भी सयम के उपबृहरण वृद्धि के लिये है। वात, प्रतिकूल वायु, सूर्य का ताप, डास मच्छर और शीत से सरक्षरण करने के लिये रजोहरण आदि उपकरण को राग द्वेष रहित होकर साधु को सदा धारण करना चाहिये। प्रतिलेखना, आखो से देखना, प्रस्फोटन, झाडना और प्रमार्जन रूप क्रिया मे दिन और रात निरन्तर प्रमाद रहित भाजन, भाड और उपधि रूप उपकरण नीचे रखना और ग्रहरण करना योग्य होता है। इस प्रकार वह सयमी धनादि रहित, निस्सग, मोह रहित, परिग्रह रुचि से दूर, ममता रहित, स्नेह और बन्धन से रहित, सब पापो से निवृत्त, कुल्हाडी मारने वाले और चन्दन का लेप करने वाले दोनो पर समभाव रखने वाला, तृण और मणि, मोती और पत्थर व सुवर्ण मे समबुद्धि रखने वाला और मान अपमान की क्रिया मे भी सम, हर्ष विषाद् रहित, उपशान्त पाप-रज वाला, अथवा विषय रति के उपशम वाला या शान्त वेगवाला, उपशान्त राग द्वेष वाला व पाच समितियो मे सम्यग् प्रवृत्ति वाला, सम्यग् दृष्टि और जो समस्त त्रस स्थावर जीवो मे समान भाव रखता है वही श्रमण श्रुतधारक ऋजु निष्कपट व आलस्य रहित व सयमी है।

विशेषावश्यक भाष्य मे भी इस विषय पर प्रकाश डाला गया है। इसके अनुसार जिनकल्पी, पडिमाधारी अथवा अभिग्रहधारी श्रमणो के लिये भी कम से कम रजोहरण और मुखवस्त्रिका रखना आवश्यक माना गया है।

मध्यकाल मे जैसे जैसे नये नये सघ व सम्प्रदाये आदि बनती गई वैसे वैसे इनकी भिन्नता की पहिचान के लिये सम्प्रदाय, सघ एव क्षेत्र भेद से भी 'लोके लिग प्रयोजनम्' की उक्ति के अनुसार थोडा बहुत वेषादि मे परिवर्तन इनके द्वारा होना सम्भव है। फिर भी कुछ न कुछ अशो मे महावीर के धर्मसघ की मौलिकता से जुडे रहने का सभी ने प्रयत्न किया है यह नि सकोच कहा जा सकता है।

इन कतिपय उल्लेखो से स्पष्ट है कि श्रमण श्रमणियो का भगवान् महावीर के समय मे किस प्रकार का वेष था।

पिछले प्रकरणो मे चैत्यवासी, यापनीय एव भट्टारक परम्पराओ के आचार-विचार एव उनके द्वारा प्रतिष्ठापित एव आविष्कृत अभिनव धार्मिक विधि विधानो पर, जिनका कि मूल आगमो मे कही उल्लेख तक नही है, विस्तारपूर्वक प्रकाश डालते हुए तीर्थ प्रवर्तन काल से पूर्वधर काल तक के प्रभु महावीर के धर्म सघ मे आये उतार चढाव का सक्षिप्त विवरण दिया गया है।

मूल विषय मे प्रवेश से पूर्व देवर्द्धि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल मे जैन सघ मे आये उतार चढाव का निरूपण करने के लिये यह सब कुछ विस्तार से बताना आवश्यक था। साथ ही यह बताना आवश्यक था कि इन भिन्न आचार-विचार अथवा मान्यताओ वाली नवोदित मध्यकालीन परम्पराओ के वर्चस्व के

परिणामस्वरूप छ सौ वर्षो से भी अधिक समय तक सुचारू रूप से चले आ रहे भगवान् महावीर के धर्मसघ पर एव उसके मूल स्वरूप, आचार विचार व्यवहार उपासना पथ अथवा वेष आदि पर, उसके दैनन्दिन अध्यात्म साधना के विधि विधानो एव कार्यकलापो पर क्या प्रभाव पडा एव किस प्रकार विशुद्ध परम्परा का प्रवाह गौण हो गया और किस प्रकार वीर प्रभु की भाव प्रधान आध्यात्मिक उपासना का स्थान भौतिकता प्रधान द्रव्यार्चना एव द्रव्य पूजादि ने ले लिया ।

भगवान् महावीर के धर्म सघ का एक वर्ग कहने लगा कि सवस्त्र को किसी भी दशा मे मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती और चू कि स्त्रिया निर्वस्त्र नही रह सकती अत वे उस भव मे मोक्ष प्राप्त नही कर सकती ।

इसके विपरीत दूसरा वर्ग कहता रहा कि सवस्त्र भी और स्त्री भी मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं ।

वही पहला वर्ग कहने लगा कि द्वादशागी का लोप सा हो गया अत द्वादशागी मे से एक भी आगम आज अस्तित्व मे नही रहा । इसके विपरीत दूसरा वर्ग अपनी बात कहता रहा कि द्वादशागी मे से ११ अग आज भी विद्यमान है । भले ही काल प्रभाव से उसका यत्किंचित् ह्रास हुआ हो । यह वर्ग आगमोत्तरवर्ती काल अर्थात् वीर निर्वाण सम्वत् १००० के पश्चात् आचार्यों द्वारा निर्मित किये गये भाष्यो, निर्युक्तियो, चूर्णियो, अवचूर्णियो, प्रकीर्णको आदि को यथावत् समग्र रूपेण मान्य नही करता । सिद्धान्तो से सम्बन्धित विवादास्पद विषयो मे अतिम निर्णायक एव प्रामाणिक अग शास्त्रो के उल्लेखो को ही मानता है, भाष्यो, चूर्णियो, निर्युक्तियो, टीकाओ, वृत्तियो आदि को पूरी तरह नही । वही श्वेताम्बर परम्परा का एक वर्ग आगमो को और भाष्यो, चूर्णियो, निर्युक्तियो, टीकाओ, वृत्तियो आदि सभी को समान रूप से मान्य करने की बात कहता है ।

एक वर्ग नग्न मूर्तियो की पूजा प्रतिष्ठा मे विश्वास करता है तो दूसरा सवस्त्र मूर्तियो की पूजा प्रतिष्ठा मे । तीसरा वर्ग मूर्ति पूजा का मूलत ही विरोध करता है । वह निरजन निराकार की अध्यात्म उपासना मे ही विश्वास रखता है ।

इस तरह भगवान् महावीर के धर्म सघ मे वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी के पश्चात् आज तक जितने सघ, गण, गच्छ, सम्प्रदाय, आम्नाय आदि उत्पन्न हुए, उनकी यदि कोई गणना एव विवेचना करना चाहे तो वर्षो लग सकते हैं ।

फिर इन सबके वेष का जहा तक सम्भव है इसमे भी अनेक प्रकार के विभेद है । दिगम्बर परम्परा के गणो गच्छो आदि का जहा तक प्रश्न है इसमे नग्न रहने वाले साधु सूत का एक धागा तक अपने शरीर पर धारण नही करते तो दूसरी

और उसी वर्ग के भट्टारक गद्दिका, सिंहासन, छत्र, चामर, भवन, भूमि, दास-दासी, धन सम्पत्ति आदि सभी प्रकार का परिग्रह रखते है। दिगम्बर साधु केवल पादचारी होते है, तो भट्टारक रेल, वायुयान, कार आदि वाहनो का उपयोग करने वाले है।

श्वेताम्बर साधु-साध्वियो का जहा तक प्रश्न है, उनमे मूर्ति पूजा मे विश्वास करने वाला वर्ग मुखवस्त्रिका मुह पर नही रखता, हाथ मे रखता है। मान्यता की दृष्टि से श्वेताम्बर सघ की सभी सम्प्रदायो ने मुखवस्त्रिका को उपकरण के रूप से मान्य किया है। इसी वर्ग का एक उपवर्ग केवल वस्त्र के अचल से ही मुखवस्त्रिका का काम लेता है। वे हाथ मे दण्ड रखते है।

इसके विपरीत स्थानकवासी साधु मुख पर मुखवस्त्रिका रखते है। रजोहरण, पात्र व पुस्तकादि के अतिरिक्त हाथ मे दड नही रखते। इसी परम्परा के एक वर्ग के साधु साध्वी स्थानकवासी श्रमण श्रमणियो की भाति मुख पर मुखवस्त्रिका आदि रखते है किन्तु इन दोनो वर्गो द्वारा रखी जानेवाली मुखवस्त्रिका के आकार प्रकार मे थोडा अन्तर रहता है।

जहा तक आगम धर्म शास्त्रो के विलुप्त हो जाने की बात को मान्य करने वालो की बात है भारत के अन्य दर्शनो वैष्णव, शैव, वैदातियो आदि धर्मों के अपौरुषेय कहे जाने वाले वेद, भाष्य, उपनिषद्, श्रुतियाँ, भागवत्, महाभारत, गीता आदि धर्मग्रन्थो मे से एक भी धर्मग्रन्थ विलुप्त नही हुआ। वे विलुप्त होने की कोई बात नही कहते। भगवान् महावीर के समकालीन महात्मा बुद्ध ने जो बौद्ध आगमो का प्रणयन किया, उनके भी विलुप्त हो जाने की बात बौद्ध दर्शन वाले नही करते। फिर केवल जैनधर्म के दिगम्बर सघ के अनुयायी ही ऐसी बात क्यो कहते है? उनके ही धर्म शास्त्र, ग्यारह अग, उपाग, छेदसूत्र आदि आगम ग्रन्थ कैसे विलुप्त हो गये? दुष्काल आदि के प्रकोप विलुप्त होने के कारण बताये जाते है तो ऐसी सूरत मे भी क्या अकेले जैनियो के आगम ग्रन्थ ही इनसे प्रभावित हुए, जैनेतरो के नही हुए?

ऐसी स्थिति मे इन सम्पूर्ण आगम शास्त्रो के विलुप्त होने की बात किसी भी विज्ञ के गले उतरना सम्भव नही लगता।

इसके साथ ही यह प्रश्न भी उपस्थित होता है कि "नष्टे मूले कुतो शाखा" अर्थात् मूल के नष्ट हो जाने पर वृक्ष की शाखा-प्रशाखाएं किस प्रकार अस्तित्व मे रह सकती है? इनकी मान्यता के अनुसार जब धर्म के मूल आधार स्तम्भ स्वरूप सर्वज्ञ प्रणीत आगम ही विच्छिन्न हो गये तो आज की इस वर्ग की मान्यताओ का एव इनके द्वारा मान्य ग्रन्थो का आधार क्या रह जाता है?

वीर निर्वाण सम्वत् १००० से उत्तरवर्ती काल की चार्य परम्परा

यह एक तथ्य है कि तीर्थ प्रवर्तन काल मे भगवान् महावीर ने जिस रूप मे जैनधर्म का उपदेश दिया उस रूप मे कालान्तर मे काल प्रभाव से अनेक परिवर्तन आये ।

लगभग ६०० वर्षो से भी अधिक समय तक जिस धर्म सघ ने अपनी एकरूपता को बनाये रक्खा वह फिर कालान्तर मे अनेक सघो मे विभिन्न इकाइयो मे विभक्त क्यो हो गया ? निज कल्याण के साथ-साथ विश्व के प्राणी मात्र का कल्याण करने की दृढ प्रतिज्ञा के साथ जिन महान् आत्माओ ने ससार के सब प्रपचो का, भोगोपभोगो का, घर बार का, स्वजन स्नेहियो का और सभी प्रकार की भौतिक सुख-सुविधाओ का तृणवत् त्याग कर के दुश्चर श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की, आचार्य पद के गरिमापूर्ण कर्त्तव्यो के निर्वहन का भाराक्रान्त दायित्व अपने सिर पर उठाया, उन्होने समय समय पर विभिन्न सघो का, विभिन्न परम्पराओ का सृजन कर प्रभु महावीर के धर्म सघ मे विघटन का सूत्रपात क्यो किया ? किन कारणो से एव किन प्रलोभनो से किया ? किन परिस्थितियो से विवश होकर किया ? विज्ञ, तत्वज्ञ एव परम ज्ञानी ध्यानी होते हुए भी वे विवश क्यो हुए ? इस प्रकार के अनेकानेक प्रश्न प्रत्येक विचारक के मन मे उत्पन्न होना स्वाभाविक है । इन प्रश्नो का समाधान प्राप्त करने के लिये उन विघटनकारी प्रसगो का निष्पक्ष दृष्टि से अध्ययन करने पर विज्ञ विचारक स्वत उनका समाधान प्राप्त कर सकेंगे ।

इस प्रकार के प्रश्नो का समाधान ढू ढते समय यदि कोई व्यक्ति यह समझे कि केवल शिथिलाचार के वशीभूत होकर, अथवा एकमात्र अपनी महत्वाकाक्षाओ की पूर्ति अथवा लोक मे यश प्राप्ति, सघ मे सम्मान, सत्ता, प्रतिष्ठा, ऐश्वर्य, वैभव अथवा उच्च पद प्राप्ति आदि आकाक्षाओ की पूर्त्ति हेतु उन श्रमण श्रेष्ठो अथवा आचार्यो ने समय-समय पर अपने अपने सघो, मम्प्रदायो एव परम्पराओ का पृथक्-पृथक् इकाइयो के रूप मे गठन किया होगा तो एकान्तत ऐसा समझना भी उनके साथ न्याय करना नही होगा ।

उस मध्यकालीन ऐतिहासिक, सामाजिक एव धार्मिक असहिष्णुता भरे युग के घटनाचक्र के सन्दर्भ मे तटस्थ दृष्टि से विचार करने पर विदित होगा कि प्रारम्भ मे इस प्रकार के सगठनो के पृथक् इकाई के रूप मे गठित किये जाने के पीछे मूल कारण अधिकाशत वे तत्कालीन विषम परिस्थितिया ही रही है।

धर्म सघ पर आये सकट के बादल कैसे दूर हो इसके लिये सोचे गये अथवा किये जाने वाले उपायो को लेकर सघ मे उत्पन्न हुए मतभेद ही समय-समय पर हुए इस प्रकार के विघटन के प्रमुख कारण रहे है। धार्मिक अध श्रद्धा का एव तज्जनित धार्मिक असहिष्णुता का वह युग था।

दूसरे धर्मों के आकर्षक आयोजनो, उनके द्वारा निर्मापित मन्दिरो, उन मन्दिरो मे प्रतिदिन पूरे आडम्बर के साथ की जाने वाली आरतियो, हृदयहारी भजन कीर्त्तनो, चित्ताकर्षक उत्सवो महोत्सवो आदि की ओर हठात् बहुत बडी सख्या मे खिचे जा रहे अपने धर्म सघ के अनुयायियो को देखकर जब जैन सघ के धर्म नायको को आशका हुई कि दूसरे धर्म सघो की ओर उमडते हुए जैन धर्मावलम्बियो के इस प्रवाह को यदि किसी समुचित उपाय से नही रोका गया तो जैन धर्म का अस्तित्व तक घोर सकट मे पड सकता है, तो जैन सघ के वे श्रमण श्रेष्ठ और आचार्य भी उत्तरोत्तर क्षीण होते जा रहे अपने धर्म सघ की रक्षा की उदात्त भावना से अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये उन्ही तौर तरीको को, आयोजनो को, आडम्बरपूर्ण प्रदर्शनात्मक अथवा प्रभावोत्पादक कार्य-कलापो, अनुष्ठानो आदि को अपनाने के लिये विवश हुए जिनको अन्य धर्मावलम्बियो ने अपना रक्खा था।

जैन सघ के जो लोग इस प्रकार के कार्य-कलापो अथवा इस प्रकार की अभिनव प्रक्रिया को अपनाने के पक्ष मे थे उनका एक पृथक् सघ बन गया और जो किसी भी मूल्य पर अपने धर्म के स्वरूप मे स्खलनात्मक परिवर्तन लाने के पक्ष मे नही हुए वे अपने मूल सघ मे ही बने रहे। इस प्रकार जैन सघ की एकरूपता पृथक् पृथक् कई सघो मे विभक्त होती चली गई।

लोक प्रवाह को दृष्टि मे रखते हुए जो लोग अपने धर्म को, अपने धर्मसघ को जीवित रखने के लिये धर्म के स्वरूप मे समयानुकूल परिवर्तन के पक्ष मे थे, उनकी सख्या उत्तरोत्तर बढती गई। इसके विपरीत जो सनातन स्वरूप को यथावत् बनाये रखने के पक्षधर थे ऐसे सुविहितो की सख्या लगातार घटती गई। वे अल्पसख्यक बनकर रह गये। परिवर्तन की यह प्रक्रिया समय देश काल के साथ-साथ तीव्रता से चलती रही जिसके परिणामस्वरूप अनेको अभिनव सघो, सम्प्रदायो, गच्छो एव परम्पराओ का जन्म हुआ और वे अपने-अपने समय मे भौतिक आराधना की उन्नति के सर्वोच्च शिखर तक भी पहुचे। पर कालक्रम से वे लडखडाये और एक समय ऐसा भी आया जब कि वे जैन जगत् के क्षितिज से तिरोहित होते

गये और उनका स्थान दूसरे लेते गये। चैत्य वासी, यापनीय आदि सघो के नाम ऐसे ही सघो मे गिनाये जा सकते है।

मथुरा के ककाली टीले की खुदाई से निकले जैन जगत् के प्राचीन इतिहास के महत्वपूर्ण अवशेष (मूर्तिया, आयागपट्ट, शिलालेख आदि) इसकी साक्षी दे रहे है।

यह एक सयोग की बात है कि वीर निर्वाण सम्वत् ६०९ के आस पास जैन सघ मे विभेद का सूत्रपात्र हुआ और लगभग उसी समय मे कुषाणवशीय विदेशी महाराजा कनिष्क ने काश्मीर के कु डलवन नामक स्थान पर बौद्ध सगीति का आयोजन किया। इतिहास के अनेक विद्वानो के अभिमतानुसार कनिष्क ने सिहासनारूढ होते ही बौद्धधर्म के प्रचार-प्रसार की दृष्टि से भगवान् बुद्ध की एक भव्य मूर्ति का निर्माण करवाया। उस बौद्ध सगीति मे भगवान् बुद्ध की मूर्ति की पूजा प्रतिष्ठा के प्रश्न को लेकर बौद्ध सघ महायान और हीनयान इन दो सघो के रूप मे विभक्त हो गया। जिस सघ के अनुयायियो की सख्या अत्यधिक थी वह महायान सघ कहलाया और जिस सघ के अनुयायी अल्पमत मे रह गये वह हीनयान सघ कहलाया। चू कि बुद्ध की मूर्ति का निर्माण महाराजा कनिष्क ने करवाया था और वह बुद्ध की मूर्ति की पूजा प्रतिष्ठा का प्रबल पक्षधर था अत यह स्वाभाविक ही था कि उसका सघ (महायान सघ) प्रबल शक्तिशाली होता।

कनिष्क के राज्यारोहण के चौथे वर्ष (वीर निर्वाण सवत् ६०९) का एक मूर्ति शिलालेख ककाली टीले से उपलब्ध हुआ है जो जैन समाज मे प्रचलित मूर्ति पूजा के इतिहास से सम्बन्धित सबसे पहला और सबसे पुराना शिलालेख है।[1] यक्षो और नागो की मूर्तियो को छोडकर कनिष्क सम्वत् ४ से पहले की किसी देवाधिदेव तीर्थंकर प्रभु की एक भी मूर्ति मथुरा के इस अति प्राचीन स्तूप के ध्वसावशेष टीले की खुदाई से प्राप्त नही हुई है।

वीर निर्वाण सम्वत् ६०९ मे जैन धर्म सघ मे विभेद का उत्पन्न होना, लगभग उसी समय बौद्ध सघ मे मूर्ति पूजा के प्रश्न का उठना तथा इस प्रश्न को लेकर बौद्ध सघ मे भी विभेद का उत्पन्न होना और ठीक उसी समय अर्थात् वीर निर्माण सम्वत् ६०९ (कनिष्क सवत् ४) मे तीर्थंकर प्रभु की सर्व प्रथम निर्मित मूर्ति का ककाली टीले से उपलब्ध होना ये तीनो ही घटनाए निम्नलिखित तीन अत्यन्त महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटनाओ की सबल साक्षी है —

१ कनिष्क ने सर्वप्रथम वीर निर्माण की सातवी शताब्दी के प्रथम दशक

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह भाग २

के पाचवे अथवा छठे वर्ष मे बुद्ध की मूर्ति की स्थापना एव उसकी पूजा प्रतिष्ठा प्रारम्भ की।

२ बुद्ध की प्रतिमा की प्रतिष्ठापना के प्रश्न को लेकर बौद्ध सघ मे मत-भेद उत्पन्न हो गया और उसके परिणाम स्वरूप बौद्ध महासघ महायान और हीनयान इन दो भागो मे विभक्त हो गया।

३ मथुरा के बोद्दू स्तूप (देवनिर्मित माने जाने वाले स्तूप) मे कनिष्क सवत् ४ (वीर निर्वाण सम्वत् ६०६) मे तीर्थंकर भगवान् की प्रथम मूर्ति रक्खी गई, जो ककाली टीले की खुदाई के समय भारत सरकार के पुरातत्व विभाग को प्राप्त हुई। इसी को लेकर महावीर का धर्म सघ भी बौद्ध सघ की भाति दो अथवा तीन विभेदो मे (भागो मे) विभक्त हो गया।

इस प्रकार के सुदीर्घ सक्रान्तिकालीन सकटो से भरे अन्धकारपूर्ण काल से महावीर का यह धर्मसघ गुजरा। पर विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा पूर्णत विच्छिन्न फिर भी नही हुई। धर्म का विशुद्ध मूल स्वरूप, स्वल्प मात्रा मे ही सही, बना रहा। प्राचीन जैन वाग्मय मे इसके अनेक ठोस प्रमाण उपलब्ध होते है।

इन्ही के आधार पर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्ती काल की मूल श्रमण परम्परा के आचार्यों को प्रमुख स्थान पर रखते हुए उनके क्रमबद्ध आचार्य-काल के पश्चात् उनके साथ ही साथ युग प्रधानाचार्यो के क्रमबद्ध युगप्रधानाचार्य काल का विवरण भी हम यहा प्रस्तुत करने मे सफल हो रहे है।

सामान्य श्रुतधर काल (१)

भगवान् महावीर के शासन के सत्ताईसवे पट्टधर देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल (वीर निर्वाण सम्वत् १००६) से लेकर वीर निर्वाण सम्वत् २१६८ तक के देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण के उत्तरवर्ती काल की कुल ११५६ वर्षो की स्थानकवासी परम्परा द्वारा मान्य जैतारण से प्राप्त प्रति के आधार पर आचार्य पट्टावली क्रम से यहा प्रस्तुत की जा रही है :—

(२७वे पट्टधर देवर्द्धिगणि के स्वर्गारोहण काल वीर निर्वाण स० १००६ तक का परिचय जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग २ मे दिया जा चुका है)

पट्टधर आचार्य-क्रमसंख्या	नाम आचार्य	आचार्य-काल वीर नि० स०
२८	वीरभद्र	१००६–१०६४
२६	शकरसेन	१०६४–१०६४
३०	जसोभद्र स्वामी	१०६४–१११६
३१	वीरसेन	१११६–११३२
३२	वीरजस	११३२–११४६
३३	जयसेन	११४६–११६७
३४	हरिसेण	११६७–११६७
३५	जयसेन	११६७–१२२३
३६	जगमाल स्वामी	१२२३–१२२६
३७	देव ऋषि	१२२६–१२३४
३८	भीम ऋषि	१२३४–१२६३
३६	किशन ऋषि	१२६३–१२८४
४०	राज ऋषि	१२८४–१२६६
४१	देवसेन स्वामी	१२६६–१३२४
४२	शकरसेन	१३२४–१३५४

४३	लक्ष्मीवल्लभ	१३५४–१३७१
४४	रामऋषि स्वामी	१३७१–१४०२
४५	पद्मनाभ स्वामी	१४०२–१४३४
४६	हरिशर्म स्वामी	१४३४–१४६१
४७	कलशप्रभ	१४६१–१४७४
४८	उमरण ऋषि	१४७४–१४६४
४६	जयसेण	१४६४–१५२४
५०	विजयऋषि	१५२४–१५८६
५१	देव ऋषि	१५८६–१६४४
५२	सूरसेन	१६४४–१७०८
५३	महासूरसेन	१७०८–१७३८
५४	महासेन	१७३८–१७५८
५५	जीवराजजी	१७५८–१७७६
५६	गजसेन	१७७६–१८०६
५७	मत्रसेन	१८०६–१८४२
५८	विजयसिंह	१८४२–१६१३
५६	शिवराजजी	१६१३–१६५७
६०	लालजी स्वामी	१६५७–१६८७
६१	ज्ञान ऋषि	१६८७–२००७
६२	नानगजी स्वामी	२००७–२०३२
६३	रूपजी स्वामी	२०३२–२०५२
६४	जीवराजजी	२०५२–२०५७
६५	बडा वरसिंहजी	२०५७–२०६५
६६	लघु वर सिंहजी	२०६५–२०७५
६७	जसवन्तजी	२०७५–२०८६
६८	रूपसिंहजी	२०८६–२१०६
६६	दामोदरजी	२१०६–२१२६
७०	घनराजजी	२१२६–२१४८
७१	चिन्तामरिण	२१४८–२१६३
७२	क्षेमकरणजी	२१६३–२१६८

सामान्य श्रुतधर काल (२)

(युगप्रधानाचार्य पट्टावली के अनुसार)

(२८वे युग प्रधानाचार्य तक का परिचय जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग २ मे दे दिया गया है)

युगप्रधानाचार्य क्रमसख्या	नाम युगप्रधानाचार्य	युगप्रधानाचार्यकाल वीर नि०स०
२९	हारिल	१०००–१०५५
३०	जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण	१०५५–१११५
३१	स्वाति (हारितगोत्रीय श्री स्वाति से भिन्न)	१११५–११९७
३२	पुष्यमित्र	११९७–१२५०
३३	सभूति	१२५०–१३००
३४	माढर सभूति	१३००–१३६०
३५	धर्म ऋषि	१३६०–१४००
३६	ज्येष्ठाग गरिण	१४००–१४७१
३७	फल्गुमित्र	१४७१–१५२०
३८	धर्मघोष	१५२०–१५९७
३९	विनय मित्र	१५९७–१६८३
४०	शीलमित्र	१६८३–१७६२
४१	रेवतिमित्र	१७६२–१८४०
४२	सुमिरणमित्र	१८४०–१९१८
४३	हरिमित्र	१९१८–१९६३
४४	विशाखगरिण	१९६३–२०००

भ० महावीर के २८वे पट्टधर ाचार्य वीरभद्र के समकालीन २९वे युग प्रधानचार्य श्री हारिल सूरि

अपर नाम (१) हरिभद्र सूरि (प्रथम) (२) हरि गुप्त सूरि

जन्म[1]	—	वीर नि स ९४३
दीक्षा	—	" " ९६०
सामान्य साधु पर्याय	—	" " ९६०—१००१
युगप्रधानाचार्यकाल	—	" " १००१—१०५५
स्वर्ग	—	" " १०५५
सर्वायु	—	११२ वर्ष, ५ मास एव ५ दिन

वीर नि० स० १००० मे २८वे युगप्रधानाचार्य आर्य सत्यमित्र के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् आर्य हारिल को चतुर्विध सघ द्वारा युग-प्रधानाचार्य पद पर आसीन किया गया और इस प्रकार आप जिन शासन के २९वे युगप्रधानाचार्य हुए। आपका क्रमबद्ध पूर्ण जीवन परिचय तो उपलब्ध नही होता किन्तु आपके जीवन से सम्बन्धित ऐतिहासिक एव धार्मिक महत्व की घटनाओ के जो यत्किंचित् उल्लेख प्राप्त होते है, उनसे यह प्रमाणित होता है कि देवर्द्धिगणि क्षमा-श्रमण के पश्चात् आप अप्रतिम प्रतिभा सम्पन्न युगपुरुष हुए है।

जिस समय हमारे राजनैतिक पराभव के रूप मे विदेशी हूण आक्रान्ताओ के विनाशकारी चरण भारतवर्ष पर निरन्तर बढते चले जा रहे थे, उन विदेशियो

---

[1] एक मान्यता यह भी है —

जन्म-	वीर नि० स० ९५३
दीक्षा-	वीर नि० स० ९७०
सामान्य साधु पर्याय	वीर नि० स० ९७०—१००१
युगप्रधानाचार्य पर्याय	वीर नि० स० १००१—१०५५

पूर्वापर युगप्रधानाचार्य के जन्म, दीक्षा आदि के काल पर विचार करने के उपरान्त उपर्युलिखित मान्यता ही उचित प्रतीत होती है।

—सम्पादक

के आक्रमणो एव अमानुषिक अत्याचारो से भारत के अनेक भू-भागो की प्रजा सत्रस्त थी एव राजनैतिक दृष्टि से हम विशृ खलित थे ऐसे सक्रान्तिकाल मे इन हारिल्लसूरि ने एक सच्चे युगपुरुष के अनुरूप अविचल धैर्य, अडिग साहस एव अनूठी सूझबूझ के साथ उस आततायी का अपने अहिंसात्मक ढग से प्रतिकार किया। उसे मानवता का पाठ पढाकर पीडित की जा रही प्रजा के त्राण के लिये एक सुदृढ प्राचीर का काम किया। उस युग के उस अद्वितीय अध्यात्मयोगी आचार्य हारिल के उपदेशो एव अलौकिक प्रतिभा से प्रभावित हो हूणराज तोरमाण उन्हे अपना गुरु बनाकर सदा के लिये उनका उपासक बन गया। तोरमाण जैसे भयानक आततायी को मानवता का पाठ पढाने के कारण युगप्रधानाचार्य हारिल की कीर्ति दूर-दूर तक फैली।

हूणराज तोरमाण ने २९वे युगप्रधानाचार्य हारिल को गुरु माना, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। इस ऐतिहासिक तथ्य को, इन्ही हारिलसूरि की शिष्य परम्परा की छठी पीढी मे हुए आचार्य दाक्षिण्य चिह्न—उद्योतनसूरि ने अपनी शक स० ७०० की कृति—"कुवलयमाला" की प्रशस्ति मे निम्न रूप मे उल्लिखित किया है —

अत्थि पुहई—पसिद्धा, दोण्णिपहा दोण्णि चेय देसत्ति।
तत्थत्थि पह णामेण, उत्तरा बुहजणाइण्ण ।।

सुई दिय चारुसोहा, वियसिय कमलाणणा विमलदेहा।
तत्थत्थि जलहि दइया, सरिया अह चदभायत्ति ।।

तीरम्मि तीय पयडा, पव्वइया णाम रयण सोहिल्ला।
जत्थ ठिएण भुत्ता, पुहई सिरि तोरराएण ।।

तस्स गुरु हरिउत्तो, आयरिओ आसि गुत्त वसाओ।
तीए णयरीए दिण्णो, जेण णिवेसो तहि काले।[1]

अर्थात्—पृथ्वीमण्डल मे प्रसिद्ध द्रोणपथ अथवा द्रोण नामक एक देश है। वहा उत्तरापथ नामक एक पथ है, जो विद्वानो से भरा हुआ है—व्याप्त है। उस उत्तरापथ मे समुद्रप्रिया चन्द्रभागा नाम की एक नदी है, जो पवित्र, कान्तिमान, सुमनोहर शोभाशालिनी, खिले हुए कमल के समान सुमुखी और निर्मल देहयष्टि वाली है। उस चन्द्रभागा नदी के तट पर रत्नजडित आकार प्राकारादि से सुशोभित

[1] कुवलयमाला, प्रशस्ति, पृष्ठ २८२

पार्वतिका (पव्वइया) नाम की वह नगरी है, जहा सिहासनारूढ रहते हुए तोरमाण ने पृथ्वी का उपभोग किया। उस तोरमाण के गुरु गुप्तवशावतस आचार्य हरिगुप्त (अपर नाम हारिल तथा हरिभद्र) थे। उन दिनो आचार्य हरिगुप्त ने उस पव्वइया नगरी मे कुछ समय के लिये निवास किया था।

"तस्स गुरु हरिउत्तो, आयरिओ आसि गुत्तवसाओ।" इस गाथार्द्ध से यह प्रमाणित होता है कि आचार्य हारिल (आचार्य हरिगुप्त अपर नाम हरिभद्र) का जन्म यशस्वी गुप्त राजवश मे हुआ था। आचार्य हारिल के, गुप्त राजवश मे उत्पन्न होने विषयक उद्योतन सूरि के इस उल्लेख की पुष्टि मे विद्वानो द्वारा अहिच्छत्रा से मिले एक ताम्र के सिक्के को भी अनुमानित प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है। श्री सर कनिघम को अहिच्छत्रा[1] मे मिले एक ताम्र के सिक्के से अनेक विद्वानो द्वारा यह अनुमान किया जाता है कि युगप्रधानाचार्य हारिल (हरिगुप्त—अपर नाम हरिभद्र) श्रमण धर्म मे दीक्षित होने से पूर्व सभवत अहिच्छत्रा के शासक गुप्तवश के महाराजा थे। ई० सन् १८८४ मे सर कनिघम को जो ताम्र का सिक्का मिला है, उस पर एक ओर "श्री महाराज हरिगुप्तस्य" यह वाक्य उल्लिखित है।[2] उसी सिक्के के दूसरी ओर पद्मपुष्प के पिधान (ढक्कन) वाले कुम्भ—कलश की आकृति अकित है। पद्म पुष्प सहित कुम्भ-कलश वस्तुत जैन परम्परा मे अति प्राचीन काल से मान्य अष्ट महामगलो मे से एक मगल है। तीर्थङ्करो की माताएं तीर्थङ्करो के गर्भावतरण काल मे जो चौदह महामगलकारी स्वप्न देखती है, उनमे भी नौवा स्वप्न पद्मपिधान सयुत कचन-कलश-दर्शन का है।[3]

प्राचीन सिक्को के सूक्ष्म परीक्षण से विदित होता है कि जो राजा जिस धर्म का अनुयायी होता, वह अपने सिक्को के दूसरी ओर अपनी धार्मिक मान्यता के प्रतीक स्वरूप कोई चित्र अकित करवाता था। पूर्व मे रही इसी प्रवृत्ति के परिणाम-स्वरूप प्राचीन काल के सिक्को पर भिन्न-भिन्न प्रकार के चिह्नाकित चित्र उपलब्ध होते है। अधिकाशत वैदिक धर्मानुयायी राजाओ के सिक्को पर यज्ञीय अश्व की

---

[1] अहिच्छत्रा नगरी रामनगर (जिला बरेली) के दक्षिण पार्श्व मे थी। आज भी वहाँ चार माइल के घेराव मे टीला विद्यमान है।

[2] कनिघम आर्चियोलोजिकल सर्वे आफ इण्डिया, वोल्यूम १।

[3] हेमन्त–बाल–दिणयर, समप्पभ सुरभिवारिपडिपुण्ण।
दिव्व कचण–कलस, पउमपिहाण तु पेच्छन्ति ॥११०॥

अर्थात्—हेमन्त ऋतु के उदीयमान सूर्य के समान नयनाभिराम प्रभा वाले, सुगधित जल से परिपूर्ण, पद्मपुष्प के पिधान से पिहित दिव्य कञ्चन-कलश को उन जिन-जननियो ने ९वें स्वप्न मे देखा।

—तित्थोगाली पइण्णय

आकृति, शैव राजाओ के सिक्को पर वृषभ (नन्दी) की आकृति, विष्णु के उपासक राजाओ के सिक्को पर लक्ष्मी की मूर्ति और बौद्ध धर्मानुयायी राजाओ के सिक्को पर चैत्य की आकृति उपलब्ध होती है ।

अहिच्छत्रा मे मिले उपरिवर्णित महाराज हरिगुप्त के तावे के सिक्के पर पुष्पयुक्त कुम्भकलश का चिह्न अकित है, इससे विद्वानो द्वारा यह अनुमान किया जाता है कि अहिच्छत्रा का गुप्त वशीय राजा हरिगुप्त जैनधर्मावलम्वी था । पुरातत्त्ववेत्ता हरिगुप्त के इस सिक्के को विक्रम की छठी शताब्दी का मानते है, और यही काल युगप्रधानाचार्य हारिल अर्थात् हरिगुप्त सूरि का रहा है । इन परस्पर पुष्टिपरक सभी तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर यह अनुमान करना नितान्त निराधार नही अपितु साधार प्रतीत होता है कि आचार्य हारिल अपने श्रमण-जीवन से पूर्व गुप्तवशीय महाराजा थे ।

यह एक अनुमान है । इस अनुमान की पुष्टि के लिये इस सम्बन्ध से समुचित शोध की आवश्यकता है कि यदि हारिल सूरि अपने गृहस्थ जीवन मे हरिगुप्त नामक महाराजा थे तो उनके पिता का नाम क्या था ? अपने पिता के पश्चात् उन्होने कितने वर्षों तक राज्य किया, ससार से विरक्त होने पर उन्होने अपना उत्तराधिकारी किसे बनाया, वे वस्तुत गुप्तवश की मूल परम्परा के शासक थे अथवा उसकी किसी शाखा के ? यदि गुप्तवश की किसी शाखा के थे तो उसकी राजधानी कहा थी आदि-आदि । इस प्रकार के अनेक प्रश्नो पर शोध के माध्यम से जब तक पूरा प्रकाश नही डाला जाता तब तक निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि युगप्रधानाचार्य हारिल अपने श्रमण-जीवन से पूर्व गुप्तवशी हरिप्तगु नामक महाराजा थे ।

युगप्रधानाचार्य हारिल की आयु-परिमाण के सम्बन्ध मे "दुस्समा समणसघ थय" की अवचूर्णि के अन्त मे दो भिन्न अभिमत दिये गये हैं । पहली मान्यता के अनुसार उनका जन्म वीर नि० स० ९४३ मे, दीक्षा ९६० मे, और दूसरी मान्यतानुसार उनका जन्म वीर नि० स० ९५३ मे और दीक्षा वीर नि० स० ९७० मे मानी गई है । उक्त दोनो प्रकार की मान्यताओ मे आर्य हारिल सूरि का युगप्रधानाचार्य काल वीर नि स १००१ से वीर नि स १०५५ तक, कुल मिलाकर ५४ वर्ष का माना गया है । दुस्समा समणसघ थय की अवचूरि के अन्त मे जो समय सारिणी दी गई है, उसमे आपका सम्पूर्ण आयुष्य ११५ वर्ष, ५ मास और ५ दिन, उल्लिखित है, जो पहली मान्यता के अनुसार ही ठीक बैठता है ।

ऐसी स्थिति मे उपर्युल्लिखित सभी तथ्यो से यही फलित होता है कि आचार्य हारिल का जन्म वीर नि० स० ९४३ मे, दीक्षा ९६० मे, युगप्रधानाचार्य पद वीर नि० स० १००१ मे और स्वर्गारोहण वीर नि० स० १०५५ मे हुआ ।

१७ वर्ष की अवस्था मे हरिगुप्त के दीक्षित हो जाने की बात सिद्ध हो जाने की स्थिति मे जिस सिक्के पर एक ओर 'श्री महाराज हरिगुप्तस्य' और दूसरी ओर पद्म-पिधानयुक्त कलश अंकित है, उसे युगप्रधानाचार्य हारिल का सिक्का मानने की दशा मे यह प्रश्न सहज ही उपस्थित होता है कि क्या वे १७ वर्ष की वय प्राप्त होने से पूर्व ही राज्य सिहासन पर आरूढ हो गये थे ? यदि हा तो किस वय मे, कितने वर्ष तक सत्ता मे रहे और १७ वर्ष की स्वल्पायु मे ही किस कारण दीक्षित हो गये ? राजा के मरने पर उसका वास्तविक उत्तराधिकारी चाहे छोटी से छोटी उम्र का अथवा नवजात ही क्यो न हो, उसे राजा बना दिये जाने की परम्परा पर्याप्त रूपेण प्राचीन रही है, अत पहले प्रश्न का उत्तर तो सन्तोषजनक रूप से मिल जाता है कि सम्भवत हरिगुप्त को अल्पायुष्कावस्था मे ही राज्य-सिहासनारूढ कर दिया गया हो। शेष दो प्रश्नो का सन्तोषप्रद उत्तर तब तक नही दिया जा सकता, जब तक कि एतद्विषयक प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध न हो।

इन सब तथ्यो पर चिन्तन-मनन के पश्चात् यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि युगप्रधानाचार्य हारिल का जन्म गुप्त वश मे हुआ पर वे दीक्षित होने से पूर्व राजा रहे अथवा नही, इस सम्बन्ध मे न तो निश्चयपूर्वक 'हा' ही कहा जा सकता है और न 'ना' ही।

हा, कुवलयमाला के 'तस्स गुरु हरिउत्तो आयरिओ आसि गुत्तवसाओ'—इस उल्लेख एव एक ओर 'श्री महाराज हरिगुप्तस्य' तथा दूसरी ओर पद्मपुष्प-पिधान वाले कलश से अंकित विक्रम की छठी शताब्दी के आस-पास के ताम्र के सिक्के—इन परस्पर दो एक-दूसरे की पुष्टि करने वाले तथ्यो के आधार पर प्रत्येक मनीषी यह अनुमान अवश्य कर सकता है कि—सम्भव है आचार्य हारिल श्रमण-परम्परा मे प्रव्रजित होने से पूर्व कुछ समय तक महाराज रहे हो।

अस्तु, किसी भी श्रमण अथवा श्रमणो मे अग्रणी श्रमण प्रमुख की महानता किसी भौतिक मापदण्ड से नही अपितु आध्यात्मिक मापदण्ड से ही आकी-पहचानी जाती है। अपने श्रमण पूर्व जीवन मे वह कोई राजा महाराजा रहा कि साधारण नागरिक, विपुल वैभवसम्पन्न श्रीमन्त रहा अथवा रक, इस मापदण्ड का एक श्रमण की महत्ता पर विचार के समय कोई विशेष महत्व नही। वहा तो महत्व इस बात का रहता है कि उसने स्व तथा पर कल्याण के कौन-कौन से महान् कार्य किये। भगवान् महावीर द्वारा प्ररूपित मूल श्रमण परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखते हुए उसके सरक्षण मे—सवर्द्धन मे जीवन भर किस प्रकार अथक प्रयास किया और लोक-जीवन के सामाजिक नैतिक एव आध्यात्मिक धरातल को समुन्नत करने के साथ-साथ प्रभु महावीर के धर्मशासन को किस सीमा तक अभिवृद्ध, अभ्युन्नत तथा लोकप्रिय बनाया। इस कसौटी पर कसते समय जिस महासन्त के सयमपूत जीवन

मे जितना अधिक निखार परिलक्षित होगा, वह महासन्त उतना ही अधिक महान् गिना जायगा।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यद्यपि युगप्रधानाचार्य हारिल का क्रमबद्ध आद्योपान्त जीवनवृत्त कही उपलब्ध नही होता तथापि उनके जीवन से सम्बन्धित यत्किचित् सूचनाए जैन साहित्य मे कही-कही केवल सकेत के रूप मे दृष्टिगोचर होती है, उनसे उपरिलिखित कसौटी पर शत-प्रतिशत खरी उतरने वाली उनकी महानता का सहज ही आभास हो जाता है। वे सकेत इस प्रकार हैं —

(१) अठावीसवे युगप्रधानाचार्य आर्य सत्यमित्र के स्वर्गस्थ होने पर वीर नि० स० १००१ मे उस समय के महान् प्रतिष्ठित एव प्रभावक पद युगप्रधानाचार्य पट्ट पर उन्हे अधिष्ठित किया गया। अप्रतिम प्रतिभा, अनुपम प्रकाण्ड पाण्डित्य, विशुद्ध, निरतिचार, निर्मल श्रमणाचार, सार्वभौम–सार्वजनीन लोकप्रियता आदि उत्कृष्ट गुणो के धारक श्रमण श्रेष्ठ को ही उस समय युगप्रधानाचार्य जैसे गौरव–गरिमापूर्ण पद पर प्रतिष्ठित किया जाता था– इससे यह तथ्य स्वत सिद्ध हो जाता है कि श्रमणोत्तम हारिल वस्तुत युगप्रधानाचार्य पद के लिये अपेक्षित सभी गुणो से विभूषित थे, इसीलिये उन्हे युगप्रधानाचार्य पद पर प्रतिष्ठापित किया गया।

(२) आर्य हारिल के युगप्रधानाचार्यकाल मे हूण आक्रान्ता तोरमाण ने भारत पर भयकर आक्रमण किया था। इतिहास के प्राय सभी विद्वानो ने तोरमाण द्वारा किये गये भीषण नरसहारो के परिप्रेक्ष्य मे उसे क्रूरता का अधिष्ठाता पिशाच और नरक का अवतार तक बताते हुए लिखा है कि जहा-जहा तक वह बढा वहा-वहा तक के ग्राम-नगर उसके द्वारा किये गये नरसहारो और व्यापक अग्निकाण्डो से नरक तुल्य वीभत्स लगते थे।

व्यापक जन-धन क्षय के उस सक्रान्तिकाल मे अहिंसा, एव शान्ति के अग्रदूत आर्य हारिल ने क्रूरता के अवतार तोरमाण को मानव बनाने का दृढ सकल्प किया। प्राणो के मोह का परित्याग कर, उत्कट साहस के साथ आर्य हारिल ने तोरमाण की राजधानी पव्वइया नगरी की ओर विहार किया। अप्रतिहत विहारक्रम से पव्वइया नगरी मे पदार्पण कर हारिलसूरि ने क्रूर हूणराज तोरमाण को उपदेश दिया। आचार्य हारिल के अन्तस्तलस्पर्शी उपदेशो से तोरमाण की गर्हित नारकीय क्रूरता की उन्मादपूर्ण तन्द्रा टूटी। उसे अपने जीवन मे सम्भवत पहली बार यह आभास हुआ कि

वह घोर रसातल की ओर उन्मुख हो रहा है। उद्योतन सूरि द्वारा कुवलयमाला मे किये गये इस उल्लेख से कि 'तोरमाण की राजधानी पव्वइया मे तोरमाण के गुरु गुप्तवशावतस हरिगुप्त ने निवास किया था, यह विश्वास किया जाता है कि इन्ही युगप्रधानाचार्य हारिल अपर नाम हरिगुप्त अथवा हरिभद्र के प्रथम उपदेश को सुनने के पश्चात् तोरमाण ने इन्हे अपना गुरु बना कुछ समय के लिये उन्हे पर्वतिका (पव्वइया) मे रहने की प्रार्थना की हो और लोक-कल्याण की भावना से सर्वजनहिताय आचार्य हारिल तोरमाण के अनुरोध को स्वीकार कर कुछ काल तक वहा विराजे रहे हो। उन्होने वहा रह कर अपने अमृतोपम उपदेशो से एक ऐसे नृशस-निर्मम आततायी को जिसे इतिहासकार क्रूरता और नरक का अवतार बताते हैं—नरसहार से विमुख और मानवता की ओर उन्मुख किया। तोरमाण के हृदय परिवर्तन से वस्तुत. जन-साधारण ने सुख की सास ली। हरिभद्र के इस जनकल्याणकारी महान् ऐतिहासिक कार्य की प्रशसा घर-घर की जाने लगी। जो यह एक प्राचीन गाथा आज उपलब्ध होती है, उससे यह प्रमाणित होता है कि युगप्रधानाचार्य हारिल ने लोककल्याणकारी कोई ऐसा महान् कार्य किया था जिससे कि वे उस युग के जन-जन के आराध्य बन गये थे।

(३) सभवत आचार्य हारिल द्वारा किये गये उस अनन्य उपकार के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए किसी अज्ञात कवि ने उनके स्वर्गारोहण को एक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक घटना मानकर उनकी स्मृति को चिर-स्थायिनी बनाने के लिये निम्नलिखित ऐतिहासिक गाथा की रचना की —

> पच सए पणसीए, विक्कम कालाओ झत्ति अत्थमिओ।
> हरिभद्द सूरि ए सूरो, भविआण दिसउ कल्लाण॥

अर्थात्—विक्रम सवत् ५८५ मे हरिभद्रसूरि नामक सूर्य अकस्मात् ही अस्त हो गया, वह भव्य प्राणियो का कल्याण का पथ प्रदर्शित करे।

इस गाथा मे युगप्रधानाचार्य हरिभद्रसूरि को सूर्य की उपमा दी गई है। इससे यही प्रकट होता है कि युगप्रधानाचार्य हारिल (अपर नाम हरिभद्र अथवा हरि गुप्त) अपने समय के एक महान युगप्रवर्तक, युगस्रष्टा एव श्रमणश्रेष्ठ थे। यह गाथा मेरुतुग सूरि ने किसी प्राचीन कृति मे से लेकर अपनी कृति "विचारश्रेणि" मे उद्धृत की है।

(४) आर्य हारिल ने वीर नि० स० ९६० मे दीक्षा ग्रहण की थी। इससे यह विश्वास किया जाता है कि ये देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण और २८वे युगप्रधानाचार्य आर्य सत्यमित्र के समय विद्यमान थे एव श्रमण हारिल ने उस समय के इन दोनो महान् युगपुरुषो की सेवा मे रह-कर सम्पूर्ण एकादशागी और अवशिष्ट पूर्वज्ञान का भी अशत ज्ञान प्राप्त किया हो एव आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के तत्वावधान मे वीर नि० स० ९८० से ९९३ तक हुई आगम-वाचना मे भी आर्य हारिल ने महत्वपूर्ण योगदान दिया हो और उनकी इन्ही सब आत्य-तिक महत्व की सेवाओ के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करने हेतु उपरि-लिखित ऐतिहासिक गाथा की रचना की गई हो।

(५) युगप्रधानाचार्य हारिल के नाम पर (सभवत इनके स्वर्गस्थ होने के पश्चात्) हारिल गच्छ की किसी समय स्थापना की गई। उस समय तक किसी भी नवीन गच्छ अथवा गण की स्थापना अधिकाशत ऐसे महान् श्रमण के नाम पर ही की जाती थी, जो लोकविश्रुत, प्रतिभा-सम्पन्न और श्रुतसागर का पारगामी विद्वान् हो। आचार्य हारिल के नाम पर एक नवीन गच्छ की स्थापना की गई, इससे भी फलित होता है कि आचार्य हारिल अपने समय के सर्वोत्कृष्ट श्रुतधर, महान प्रभावक एव समर्थ युगप्रधानाचार्य थे।

उपरिर्वणित उल्लेखो से यह निष्कर्ष निकलता है कि युगप्रधानाचार्य हारिल ने अपने युगप्रधानाचार्य काल मे हूण आततायी तोरमाण की विशाल वाहिनी के अत्याचारो से सन्त्रस्त देशवासियो को अभय प्रदान किया।

आर्य हारिल के अपर नाम

जैन वाग्मय मे युगप्रधानाचार्य आर्य हारिल के तीन नाम उपलब्ध होने है। यथा —(१)हारिल, (२) हरिगुप्त और (३) हरिभद्र।

"दुस्समासमणसघथय" मे युगप्रधान पट्टावली मे और हारिल वश पट्टावली के शीर्षक मात्र मे आपके हारिल नाम का ही उल्लेख है। "कुवलयमाला" मे आपका नाम हरिगुप्त उल्लिखित है। इससे यह ज्ञात होता है कि आपका दूसरा नाम हरि-गुप्त था। आचार्य मेरुतुगसूरि ने अपने एक ऐतिहासिक महत्व के ग्रन्थ "विचार-श्रेणि" मे एक प्राचीन गाथा उद्धृत की है। उस गाथा से यह ऐतिहासिक तथ्य प्रकट होता है कि विक्रम सवत् ५८५ मे हरिभद्रसूरि नामक सूर्य अकस्मात् अस्त हो गया। वे भव्यो का कल्याण मार्ग प्रदर्शित करें। विचारश्रेणि मे इस गाथा के

तत्काल पश्चात् ही "ततो जिनभद्र क्षमाश्रमण" यह उल्लिखित है। यह तो एक निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य है कि २६वे युगप्रधान हारिल विक्रम स० ५८५ तदनुसार वीर नि० स० १०५५ मे स्वर्गस्थ हुए और उनके पश्चात् ३०वे युगप्रधानाचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण युगप्रधान पद पर अधिष्ठित किये गये। तो इस प्रकार विचारश्रेणि मे उद्धृत प्राचीन गाथा मे हरिभद्र के वि स ५८५ मे स्वर्गस्थ होने और उसी समय उनके उत्तराधिकारी पट्टधर के रूप मे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के युगप्रधान पद पर आसीन होने का उल्लेख है। इससे इस तथ्य को मानने मे किसी प्रकार की कोई शका को अवकाश नही रह जाता कि युगप्रधानाचार्य हारिल का तीसरा नाम हरिभद्र भी था।

एक ही आचार्य के तीन नाम होने के औचित्य पर थोडा विचार करने पर प्रतीत होता है कि आचार्य हारिल का गृहस्थ जीवन का नाम हरिगुप्त था। दीक्षा के समय सम्भवत उनका नाम हरिभद्र रखा गया हो। अपने युगप्रधानाचार्यकाल मे जब उन्होने अपने अलौकिक वर्चस्व, निर्भीकता, प्रतिभा एव प्रभाव द्वारा हूणो के भीषण सहारकारी अत्याचारो से देश की रक्षा की तो वे न केवल जैनधर्मावलम्बियो के ही अपितु भारत की सम्पूर्ण प्रजा के भी आदरणीय बन गये। सम्भवत इसी कारण सर्वसाधारण अपने लोकप्रिय त्राता को 'हारिल'—इस अगाध श्रद्धा और प्यार भरे सुमधुर एव लालित्यपूर्ण नाम से सम्बोधित करने लगा हो एव आचार्य हारिल का जन्म यशस्वी शासक गुप्तवश मे हुआ था, इस तथ्य को कालान्तर मे कही लोग भूल न जाये इस उद्देश्य से उनका हरिगुप्त नाम भी ग्रन्थकारो द्वारा अपनी कृतियो मे उल्लिखित किया जाता रहा हो। वस्तुत अनेक आचार्यो के दो दो नाम जैन वाग्मय मे उपलब्ध होते है। तित्थोगाली पइन्नय मे अन्तिम श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का नाम 'साधम्मभद्द' (स्वधर्मभद्र) एव कुवलय माला मे शीलाकाचार्य का अपर नाम तत्वाचार्य (तत्तायरिओ) उल्लिखित है। इसी तरह पन्नवणाकार आर्य श्याम का अपर नाम कालकाचार्य भी लोकविश्रुत है। हमारे शासन नायक स्वय भगवान् महावीर के भी वर्द्धमान, वीर, महावीर, सन्मति, नायपुत्र आदि नाम आगमो एव प्राचीन ग्रन्थो मे उल्लिखित है। ठीक इसी प्रकार २६वे युगप्रधानाचार्य के भी विभिन्न ग्रन्थो मे आर्य हारिल, हरिगुप्त और हरिभद्र—ये तीन नाम उपलब्ध होते है। इसमे किसी प्रकार के असमजस अथवा ऊहापोह के लिये कोई अवकाश नही रहना चाहिए।

नाम-साम्य से उत्पन्न भ्रान्ति

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है युगप्रधानाचार्य हारिल का अपर नाम हरिगुप्त के अतिरिक्त हरिभद्र भी था। इन युगप्रधानाचार्य हरिभद्र से लगभग २०० वर्ष पश्चात् विद्याधर कुल मे हरिभद्र नाम के एक और आचार्य हुए हैं, जो

महान् टीकाकार, ग्रन्थकार, दार्शनिक एव विचारक थे। वे आचार्य हरिभद्र (द्वितीय) विद्याधर कुल के आचार्य जिनदत्त के शिष्य थे। आचार्य जिनदत्त के शिष्य आचार्य हरिभद्र अपनी कृतियो की प्रशस्ति मे अपने नाम के आगे "धर्मतो याकिनी महत्तरासूनु" तथा भवविरह लिखते थे।

युगप्रधानाचार्य हरिभद्र का स्वर्गवास, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, वीर नि० स० १०५५ तदनुसार वि० स० ५८५ मे हुआ। आपके स्वर्गवास काल का बोध कराने वाली एक प्राचीन गाथा, जिसका कि प्रथम चरण—"पचसए पणसीए" है, ऊपर उद्धृत की गई है। विद्याधर शाखा के आचार्य याकिनी महत्तरासूनु—भवविरह का सत्ताकाल वीर नि० स० १२२७ से १२९७ (वि० स० ७५७–८२७) तक का रहा है।

इस प्रकार इन दोनो आचार्यो के बीच २०० वर्षो से भी अधिक काल का अन्तराल होते हुए भी नाम-साम्य और उपर्युक्त गाथा मे हरिभद्र नाम उल्लिखित होने के कारण पूर्वकाल से ही इस प्रकार की भ्रान्त मान्यता प्रचलित हो गई है कि याकिनी महत्तरासूनु—भवविरह हरिभद्र सूरि का स्वर्गवास वि० स० ५८५ मे ही हो गया था।

यद्यपि इस सम्बन्ध मे प्रस्तुत ग्रन्थमाला के द्वितीय भाग मे पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है तथापि यहा कुछ और ऐसे नवीन तथ्य प्रस्तुत किये जा रहे है, जिनसे याकिनी महत्तरासूनु—भवविरह हरिभद्रसूरि का सत्ताकाल निश्चित रूप मे विक्रम की आठवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से नौवी शताब्दी के प्रथम चरण तक का सिद्ध होता है। वे तथ्य निम्नलिखित रूप मे है —

(१) आचार्य हरिभद्र "भवविरह"—ने "महानिसीह" छेदसूत्र की एक मात्र सडी-गली एव दीमको द्वारा खाई हुई प्रति के आधार पर अपनी मति अनुसार उसका शोध एव शुद्धिपूर्वक पुनर्लेखन कर उसका पुनरुद्धार किया। सिद्धसेन (तत्वार्थसूत्र के टीकाकार), वुड्ढवाई (आचार्य बडेश्वर अथवा चित्रपुर गच्छ के आचार्य बुढागणि) आचार्य यक्षसेन (हारिलगच्छ के आचार्य यज्ञदत्त महत्तर), देवगुप्त (सम्भवत उपकेशगच्छ के आचार्य), जसवद्धण क्षमाश्रमण (सम्भवत यशोदेव सूरि हो सकते हैं) के शिष्य रविगुप्त, जिनदास गणि महत्तर (शक स० ५९८, वि० स० ७३३ तदनुसार वीर नि० स० १२०३ मे नन्दीचूर्णि के रचनाकार) आदि लोकविश्रुत श्रुतधरो ने याकिनी

महत्तरासूनु—भवविरह आचार्य हरिभद्रसूरि द्वारा पुनरुद्धरित महानिशीथ की प्रति को बहुत मान्य किया है।[1]

महानिशीथ के द्वितीय अध्ययन के अन्त मे उल्लिखित पुष्पिका के उद्धरण मे जिन आचार्यो एव महान् श्रुतधरो के नाम दिये गये है, वे सब आचार्य हरिभद्र (भवविरह) के समकालीन थे। जिनदास गणि महत्तर ने शक स० ५९८ तदनुसार वि० स० ७३३ मे नन्दीसूत्र चूर्णि की रचना की।[2] आचार्य हरिभद्र ने जिनदासगणि महत्तर द्वारा रचित आवश्यक चूर्णि और नन्दी चूर्णि के आधार पर आवश्यक सूत्र और नन्दी सूत्र की टीकाओ की रचना की। महानिशीथ की गलित-खण्डित आदर्श प्रति से जो उन्होने महानिशीथ का पुनर्लेखनपूर्वक पुनरुद्धार किया, उसे जिनदास गणि महत्तर ने मान्य किया, इस प्रकार का स्पष्ट उल्लेख महानिशीथ के द्वितीय अध्ययन की पुष्पिका मे है। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य हरिभद्र (भवविरह) निर्विवादरूप से जिनदास गणि महत्तर के लघुवयस्क समकालीन आचार्य थे।

(२) आचार्य हरिभद्र (भवविरह) ने अपने ग्रन्थो मे विभिन्न धर्मावलम्बी जिन दार्शनिको, ग्रन्थकारो, वैयाकरणो आदि का उल्लेख किया है, उनमे से धर्मपाल का समय वि० स० ६५६ से ६९१ के बीच का, धर्मकीर्ति का वि० स० ६९१ से ७०६ तक का, वैयाकरण भर्तृहरि का अवसानकाल वि० स० ७०६ और कुमारिल्ल का समय वि० स० ७५० के आस-पास का माना जाता है। इससे सिद्ध होता है कि आचार्य हरिभद्र वि० स० ७५० से पश्चात् ही स्वर्गस्थ हुए है।

---

[1] जो एयस्स अचिंतचिंतामणिकप्पभूयस्स महानिसीह सुयक्खधस्स पुव्वायरिसो आसी, तहि चेव खडाखडीए उद्देहियाइएहि हेउहि बहवे पत्तगा परिसडया तहावि अच्चत सुहुमत्थातिसय ति इम महानिसीहसुयक्खध कसिणपवयणस्स परमसारभूय पर तत्त महत्थति कलिऊण पवयणवच्छल्लत्तेण बहुभव्वसत्तोवकारय च काउ, तहा य आयहियट्ठाए आयरिय हरिभद्देण ज त तत्थायरिसे दिट्ठ त सव्व समतीए साहिऊण लिहिय ति। अन्नेहि पि सिद्धसेण दिवायर, वुड्ढवाइ, जक्खसेण, देवगुत्त जसवद्धणखमासमणसीस रविगुत्त नेमिचद, जिणदासगणि खमग सव्वरिसिपमुहेहि जुगप्पहाण सुयहरेहि बहुमन्नियमिण ति ॥

(महानिशीथ (हस्तलिखित), द्वितीय अ० के अन्त की पुष्पिका)

[2] शकराज्ञ पचसु वर्षशतेषु व्यतिक्रान्तेषु अष्टनवतिषु नन्द्याध्ययनचूर्णि समाप्ता।

(नन्दिचूर्णि की हस्तलिखित प्रति, भण्डारकर इन्स्टीट्यूट, पूना)

(३) आचार्य हरिभद्र (भवविरह) के वि० स० ७८५ मे विद्यमान होने का स्पष्ट उल्लेख एक प्राचीन गाथा मे किया गया है जिसे हर्ष-निधान सूरि ने अपनी कृति 'रत्नसचय' मे कही से उद्धृत किया है। वह गाथा इस प्रकार है :—

पणपन्न बारस सए, हरिभद्दसूरि आसीऽपुव्वकई।
तेरस सय वीस अहिए, वरिसेहि बप्पभट्टिपहू ॥२८२॥

अर्थात्—वि० स० १२५५ मे अपूर्व रचनाकार आचार्य हरिभद्र सूरि विद्यमान थे और वि० स० १३२० मे बप्प भट्टिसूरि हुए।

इस प्रकार परस्पर एक दूसरे की पुष्टि करने वाले उपर्युक्त प्रमाणो से, नाम साम्य के कारण हुई भ्रान्ति के निराकरण के साथ-साथ यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि विक्रम सवत ५८५ मे जिन हरिभद्र नामक आचार्य के स्वर्गस्थ होने का 'विचार श्रेणि' से उद्धृत गाथा मे उल्लेख है, वे युगप्रधानाचार्य हारिल थे और उनके वस्तुत हरिगुप्त और हरिभद्र ये दो अपर नाम भी थे।

इसी नाम साम्य के कारण एक और भ्रान्ति भी बडे लम्बे समय से चली आ रही है। अनेक ग्रन्थकारो ने अपनी यह मान्यता अभिव्यक्त की है कि युगप्रधानाचार्य हरिभद्र (जिनका कि स्वर्गवास वि० स० ५८५ तदनुसार वीर निर्वाण स० १०५५ मे हुआ) ने महानिशीथ की सडी-गली और दीमको से खाई हुई तथा खण्डित-विखण्डित हुई एक मात्र प्रति से, उसमे शोध और शुद्धिया करके महानिशीथ नामक छेदसूत्र का उद्धार अर्थात् पुनर्लेखन किया। उपर्युल्लिखित महानिशीथ के द्वितीय अध्ययन की पुष्पिका मे दिये हुए तथ्यो और महानिशीथ मे प्रयुक्त भव-विरह शब्द पर विचार करने के पश्चात् यह भ्रान्त धारणा भी अनायास ही निरस्त हो जाती है और यह निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है कि महानिशीथ का उद्धार अथवा आवश्यक सशोधन परिवर्धन के साथ पुनर्लेखन वीर नि० स० १२५५ मे उन भवविरह, याकिनी महत्तरासूनु हरिभद्र ने किया है, जिन हरिभद्र की विद्यमानता का उल्लेख उपरिलिखित गाथा मे है।" प्रभावक चरित्रकार की भी यही मान्यता है[1]

युगप्रधानाचार्य हारिल की कोई कृति अभी तक प्रकाश मे नही आई है।

---

[1] चिरलिखितविशीर्णवर्णभग्नप्रविवरपत्रसमूहपुस्तकस्थम्।
कुशलमतिरिहोद्धार जैनोपनिषदिक स महानिशीथशास्त्रम् ॥२१६॥
(प्रभावक चरित्र, हरिभद्रसूरिचरितम्, पृष्ठ ७५)

२८वे पट्टधर आचार्य वीरभद्र एवं युग प्रधानाचार्य हारिल सूरि के समकालीन निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) का जीवन परि

वीर नि० स० १००० से १०४५ की बीच की अवधि मे आचार्य भद्रबाहु नामक एक महान् ग्रन्थकार हुए है। वे अपने समय के विशिष्ट विद्वान्, निमित्तज्ञ एव निर्युक्तिकार थे।

२८वे युगप्रधानचार्य हारिलसूरि का युगप्रधानाचार्यकाल वीर नि० स० १००१ से १०५५ तक रहा। कतिपय ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय), इन्ही २८ वे युगप्रधानाचार्य और हूण राज तोरमाण के गुरु श्री हारिलसूरि के समकालीन और समवयस्क आचार्य थे।

वर्तमान मे उपलब्ध निर्युक्ति साहित्य के निर्माताओ मे आचार्य भद्रबाहु का स्थान अग्रगण्य माना जाता है। उन्होने आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, आचाराग, सूत्रकृताग, दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार, सूर्यप्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित इन दश सूत्रो पर दश निर्युक्तियो की रचनाए की।[1]

आगमो का अध्ययन करने के इच्छुक मुनियो एव साधको के लिए ये निर्युक्तिया प्रकाश-प्रदीप तुल्य हैं। आगमो के गूढार्थो की, पारिभाषिक शब्दो की इन निर्युक्तियो मे दृष्टान्तो, कथानको आदि के माध्यम से बोधगम्य शैली मे सुस्पष्ट रूपेण व्याख्या की गयी है, अत ये आगमो के अध्येताओ तथा अध्यापको—दोनो ही के लिए समान रूप से बडी उपयोगी सिद्ध होती है। निर्युक्ति साहित्य की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे "सागर को गागर मे सुसमाहित कर देने वाली" सक्षेप शैली को अपनाया गया है। विशद - विशाल अर्थ, आख्यानो, दृष्टान्तो, कथानको

---

[1] आयारस्स दसवैकालियस्स, तह उत्तरज्झमायारे।
सुयगडे निज्जुत्ति, वोच्छामि तहा दसाण च ॥९४॥
कप्पस्स य णिज्जुत्ति, ववहारस्सेव परमनिउणस्स।
सूरियपन्नत्तीए, वुच्छ इसिभासियाण च ॥९५॥
(आवश्यक निर्युक्ति)

एव घटनाओ की ओर सकेतकारी बिन्दु मे सिन्धु की सूक्ति को सार्थक करने वाले नपे-तुले शब्दसमूह से निर्मित इन निर्युक्तियो की एक-एक गाथा को ज्ञान का कोश कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी । इस सारपूर्ण साकेतिक शैली मे निवद्ध होने के कारण ये निर्युक्तिया शास्त्रो के गूढार्थो को हृदयगम करने और शास्त्रो मे निहित अथाह ज्ञान को क्रमबद्ध रूप से कण्ठस्थ करने मे सदा से ही सवल साधन समझी जाती रही है । इसी कारण आगमो के व्याख्या ग्रन्थो मे निर्युक्ति–साहित्य का वडा महत्वपूर्ण स्थान रहा है । निर्युक्तियो मे महापुरुषो के जीवनचरित्रो, सूक्तियो, दृष्टान्तो और कथानको के माध्यम से आगम ज्ञान के साथ-साथ आर्यधरा के प्राचीन धार्मिक, सामाजिक एव आर्थिक जीवन पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया हे, जिसमे हमे उस समय के जनजीवन के आचार-व्यवहार, उसके जीवन-दर्शन और हमारी प्राचीन सस्कृति के दर्शन होते है ।

दश सूत्रो के गूढार्थ को स्पष्टत अभिव्यक्त करने वाली दश निर्युक्तियो की सरचना कर आचार्य भद्रबाहु ने जिनशासन की महती सेवा की । जैनसमाज, भद्रबाहु द्वारा किये गये इस महान् उपकार से अपने आपको विगत चौदह-पन्द्रह शताब्दियो से उनका उपकृत और ऋणी समझता चला आ रहा है । वस्तुत वे जैन जगत् के दिव्य ज्योतिर्धर नक्षत्र थे ।

विगत कतिपय शताब्दियो से नामसाम्य के परिणाम स्वरूप अनेक विद्वान् वीर निर्वाण स० १७० मे स्वर्गस्थ हुए अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को ही उपरि-लिखित दश निर्युक्तियो के रचनाकार मानते चले आ रहे थे । परन्तु शोधबुद्धि विद्वानो ने न केवल एक दो, अपितु अनेक सबल प्रमाणो से यह सिद्ध कर दिया है कि निर्युक्तियो के रचनाकार श्रुतकेवली भद्रबाहु नही अपितु उनके स्वर्गस्थ होने के लगभग पौने नव सौ (८७५) वर्ष पश्चात् तक विद्यमान निमितज्ञ भद्रबाहु (द्वितीय) थे ।[1]

"उत्तराध्ययन-निर्युक्ति" मे स्वय निर्युक्तिकार स्पष्ट शब्दो मे कह रहे है कि वे चतुर्दशपूर्वधर नही है —

सव्वे एए दारा, मरणविभत्तीइ वण्णिया कमसो ।
सगलणिउणे पयत्थे, जिण चउद्दसपुव्वि भासति ।।[2]

---

[1] विस्तृत विवेचन के लिये देखिये "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग २," पृ. ३६३-३७१ ।
—सम्पादक

[2] उत्तराध्ययन-निर्युक्ति, मरण विभक्ति, गाथा स० २३३

अर्थात्—मैने मरणविभक्ति से सम्बन्धित समस्त द्वारो का अनुक्रम से वर्णन किया है। वस्तुत पदार्थो का सम्पूर्णरूपेण विशद वर्णन तो केवलज्ञानी और चतुर्दश पूर्वधर ही करने मे समर्थ है।

इसके अतिरिक्त दशाश्रु तस्कन्ध-निर्यु क्ति की पहली गाथा मे निर्यु क्तिकार द्वारा अपने से बहुत पहले हुए अन्तिम श्रु तकेवली भद्रबाहु को निम्नलिखित शब्दो मे नमस्कार किया है —

वदामि भद्दबाहु, पाइुण चरिमसगलसुयनाणि।
सुत्तस्य कारगमिसि, दसासु कप्पे य ववहारे ॥१॥

अर्थात्—दशाश्रु तस्कन्ध, कल्प और व्यवहार-इन तीन सूत्रो की, पूर्वो से निर्यूहनपूर्वक रचना करने वाले महर्षि एव अन्तिम श्रु तकेवली, प्राचीन आचार्य श्री भद्रबाहु को मैं वन्दना करता हू।

इस गाथा से यह सिद्ध हो जाता है कि अन्तिम श्रु तकेवली भद्रबाहु ने दशाश्र तस्कन्ध, कल्प और व्यवहार इन तीन सूत्रो की रचना की। उन्होने निर्यु क्तियो की रचना नही की। निर्यु क्तियो के रचनाकार तो उनसे बहुत काल पश्चात् हुए निमितज्ञ भद्रबाहु नामक दूसरे आचार्य है, जो कि श्रु तकेवली भद्रबाहु से बहुत काल पश्चात् हुए। निर्यु क्तिकार निमितज्ञ भद्रबाहु ने अपने आपको अन्तिम श्रु तकेवली भद्रबाहु से भिन्न बताते हुए, उन्हे प्राचीन, अन्तिम श्रु तकेवली और दशा, कल्प और व्यवहार कार इन तीन विशेषणो से अलकृत कर वन्दन किया है।

इस प्रकार के स्तुतिपरक अलकारो द्वारा अपने मुख से, अपनी लेखनी से अपनी ही स्तुति कर स्वय द्वारा स्वय को नमस्कार करने की भद्रबाहु श्रु तकेवली जैसे महर्षि से अपेक्षा करना अत्यन्त अनुचित और अविचारपूर्ण ही माना जायगा।

ये दो तथ्य ही इस बात का अन्तिम निर्णय करने के लिए पर्याप्त है कि उपर्यु ल्लिखित दश निर्यु क्तियो के रचनाकार अन्तिम श्रु तकेवली आचार्य भद्रबाहु नही अपितु उनसे आठ सौ, पौने नव सौ वर्ष पश्चात् की अवधि के बीच हुए निमितज्ञ भद्रबाहु थे।

जहा तक निर्यु क्तिकार निमितज्ञ भद्रबाहु के जीवन परिचय का प्रश्न है, इस सम्बन्ध मे मध्ययुगीन कथा साहित्य मे, इन आठ सौ नव सौ वर्षो के अन्तर से हुए दोनो महान् आचार्यो के जीवन की घटनाओ को अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के जीवन की घटनाओ के रूप मे ही प्रस्तुत किया गया है। तथापि ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर निमितज्ञ एव निर्यु क्तिकार भद्रबाहु का जीवनचरित्र निम्नलिखित रूप मे मान्य किया जा सकता है —

वीर निर्वाण की आठवी शताब्दी के अन्तिम दशक मे महाराष्ट्र के प्रतिष्ठानपुर नामक नगर मे भद्रबाहु और वराहमिहिर नामक दो ब्राह्मणकिशोर रहते थे। वे दोनो सहोदर थे तो बडे कुशाग्रबुद्धि और विद्वान्, किन्तु थे नितान्त निराश्रित और निर्धन।

एक दिन उन दोनो भ्राताओ को एक विद्वान् जैनाचार्य के प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन महापुरुष का उपदेश सुनकर ब्राह्मण किशोर भद्रबाहु का रोम-रोम वैराग्य के रग मे रग गया। उसने श्रमण धर्म मे दीक्षित होने का दृढ सकल्प कर अपने लघु सहोदर वराहमिहिर से कहा—"प्रिय अनुज ! मुझे इस ससार से विरक्ति हो गई है। अत मैं तो इन समर्थ गुरुचरणो की शरण ग्रहण कर जीवन पर्यन्त सयम की साधना करूगा। तुम घर लौट जाओ और पूरी दक्षता के साथ अपने जीवन को सुखी बनाने मे जुट जाओ। तुम्हारा जीवन सुखमय हो, यही मेरी कामना है।"

इस पर वराहमिहिर ने कहा—"आदरणीय अग्रज ! जब आप इस ससार सागर से पार होने के लिए महान् धर्मपोत का आश्रय ग्रहण करने का दृढ निश्चय कर चुके है तो फिर मै पीछे रहकर भवसागर मे क्यो डूबूगा। मै आपका अनुज हू, मैं भी आपका अनुगमन करूगा।"

उन दोनो ब्राह्मण किशोरो ने आचार्यदेव के पास श्रमणधर्म की दीक्षा अगीकार की। दोनो मुनि भ्राताओ ने गुरुचरणो मे बैठकर शास्त्रो का अध्ययन किया। मुनि भद्रबाहु ने विनयपूर्वक बडी निष्ठा के साथ आगमो का अध्ययन किया और उनकी गणना आगम-मर्मज्ञ मुनियो मे की जाने लगी। मुनि भद्रबाहु बडे ही विनीत, सेवाभावी, स्वाध्यायपरायण और आगमज्ञान के रसिक थे। दूसरी ओर मुनि वराह मिहिर का पूरा झुकाव चमत्कार प्रदर्शन की ओर रहा। वे अपने गुरु और ज्येष्ठ बन्धु भद्रबाहु की हितशिक्षाओ की उपेक्षा कर केवल ज्योतिष शास्त्रो के अध्ययन मनन मे ही अपने जीवन की सफलता को आकने लगे। वराहमिहिर ने चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति एव अन्यान्य ज्योतिष ग्रन्थो का अध्ययन गहरी रुचि से किया। वे निमित्तज्ञानी बन गये एव अपने इस निमित्तज्ञान के बल पर स्वय को आचार्यपद का वास्तविक अधिकारी समझने लगे। अपने ज्योतिष ज्ञान पर उनके अन्तर मे अहकार भी जागृत हो उठा और वह उत्तरोत्तर बढता ही गया। अपने अन्तिम समय मे इन दोनो के गुरु ने अपने उत्तराधिकारी के रूप मे आचार्य पद प्रदान करने के लिए अपने शिष्यवर्ग मे से किसी सुयोग्य शिष्य का चयन करने का निश्चय किया। इस सम्बन्ध मे विचार करते-करते निम्नलिखित एक गाथा उनके ध्यान मे आई —

वूढो गणहर सद्दो, गोयमाईहिं धीरपुरिसेहिं।
जो त ठवइ अपत्ते, जाणतो सो महापावो ॥

१

अर्थात्—मैंने मरणविभक्ति से सम्बन्धित समस्त द्वारो का अनुक्रम से वर्णन किया है। वस्तुत पदार्थो का सम्पूर्णरूपेण विशद वर्णन तो केवलज्ञानी और चतुर्दश पूर्वधर ही करने मे समर्थ है।

इसके अतिरिक्त दशाश्रु तस्कन्ध-नियुंक्ति की पहली गाथा मे नियुंक्तिकार द्वारा अपने से बहुत पहले हुए अन्तिम श्रु तकेवली भद्रबाहु को निम्नलिखित शब्दो मे नमस्कार किया है —

वदामि भद्दबाहु, पाइुण चरिमसगलसुयनाणि।
सुत्तस्य कारगमिसि, दसासु कप्पे य ववहारे ॥१॥

अर्थात्—दशाश्रु तस्कन्ध, कल्प और व्यवहार-इन तीन सूत्रो की, पूर्वो से निर्यूहनपूर्वक रचना करने वाले महर्षि एव अन्तिम श्रु तकेवली, प्राचीन आचार्य श्री भद्रबाहु को मै वन्दना करता हू।

इस गाथा से यह सिद्ध हो जाता है कि अन्तिम श्रु तकेवली भद्रबाहु ने दशाश्र तस्कन्ध, कल्प और व्यवहार इन तीन सूत्रो की रचना की। उन्होने नियुंक्तियो की रचना नही की। नियुंक्तियो के रचनाकार तो उनसे बहुत काल पश्चात् हुए निमितज्ञ भद्रवाहु नामक दूसरे आचार्य है, जो कि श्रु तकेवली भद्रबाहु से बहुत काल पश्चात् हुए। नियुंक्तिकार निमितज्ञ भद्रबाहु ने अपने आपको अन्तिम श्रु तकेवली भद्रबाहु से भिन्न बताते हुए, उन्हे प्राचीन, अन्तिम श्रु तकेवली और दशा, कल्प और व्यवहार कार इन तीन विशेषणो से अलकृत कर वन्दन किया है।

इस प्रकार के स्तुतिपरक अलकारो द्वारा अपने मुख से, अपनी लेखनी से अपनी ही स्तुति कर स्वय द्वारा स्वय को नमस्कार करने की भद्रबाहु श्रु तकेवली जैसे महर्षि से अपेक्षा करना अत्यन्त अनुचित और अविचारपूर्ण ही माना जायगा।

ये दो तथ्य ही इस बात का अन्तिम निर्णय करने के लिए पर्याप्त है कि उपर्यु ल्लिखित दश नियुंक्तियो के रचनाकार अन्तिम श्रु तकेवली आचार्य भद्रबाहु नही अपितु उनसे आठ सौ, पौने नव सौ वर्ष पश्चात् की अवधि के बीच हुए निमितज्ञ भद्रबाहु थे।

जहा तक नियुंक्तिकार निमितज्ञ भद्रबाहु के जीवन परिचय का प्रश्न है, इस सम्बन्ध मे मध्ययुगीन कथा साहित्य मे, इन आठ सौ नव सौ वर्षो के अन्तर से हुए दोनो महान् आचार्यो के जीवन की घटनाओ को अन्तिम चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु के जीवन की घटनाओ के रूप मे ही प्रस्तुत किया गया है। तथापि ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर निमितज्ञ एव नियुंक्तिकार भद्रबाहु का जीवनचरित्र निम्नलिखित रूप मे मान्य किया जा सकता है —

वीर निर्वाण की आठवी शताब्दी के अन्तिम दशक मे महाराष्ट्र के प्रतिष्ठानपुर नामक नगर मे भद्रबाहु और वराहमिहिर नामक दो ब्राह्मणकिशोर रहते थे। वे दोनो सहोदर थे तो बडे कुशाग्रबुद्धि और विद्वान्, किन्तु थे नितान्त निराश्रित और निर्धन।

एक दिन उन दोनो भ्राताओ को एक विद्वान् जैनाचार्य के प्रवचन सुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उन महापुरुष का उपदेश सुनकर ब्राह्मण किशोर भद्रबाहु का रोम-रोम वैराग्य के रग मे रग गया। उसने श्रमण धर्म मे दीक्षित होने का दृढ सकल्प कर अपने लघु सहोदर वराहमिहिर से कहा—"प्रिय अनुज! मुझे इस ससार से विरक्ति हो गई है। अत मैं तो इन समर्थ गुरुचरणो की शरण ग्रहण कर जीवन पर्यन्त सयम की साधना करूगा। तुम घर लौट जाओ और पूरी दक्षता के साथ अपने जीवन को सुखी बनाने मे जुट जाओ। तुम्हारा जीवन सुखमय हो, यही मेरी कामना है।"

इस पर वराहमिहिर ने कहा—"आदरणीय अग्रज! जब आप इस ससार सागर से पार होने के लिए महान् धर्मपोत का आश्रय ग्रहण करने का दृढ निश्चय कर चुके है तो फिर मै पीछे रहकर भवसागर मे क्यो डूबूगा। मै आपका अनुज हू, मैं भी आपका अनुगमन करूगा।"

उन दोनो ब्राह्मण किशोरो ने आचार्यदेव के पास श्रमणधर्म की दीक्षा अगीकार की। दोनो मुनि भ्राताओ ने गुरुचरणो मे बैठकर शास्त्रो का अध्ययन किया। मुनि भद्रबाहु ने विनयपूर्वक बडी निष्ठा के साथ आगमो का अध्ययन किया और उनकी गणना आगम-मर्मज्ञ मुनियो मे की जाने लगी। मुनि भद्रबाहु बडे ही विनीत, सेवाभावी, स्वाध्यायपरायण और आगमज्ञान के रसिक थे। दूसरी ओर मुनि वराह मिहिर का पूरा झुकाव चमत्कार प्रदर्शन की ओर रहा। वे अपने गुरु और ज्येष्ठ बन्धु भद्रबाहु की हितशिक्षाओ की उपेक्षा कर केवल ज्योतिष शास्त्रो के अध्ययन मनन मे ही अपने जीवन की सफलता को आकने लगे। वराहमिहिर ने चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति एव अन्यान्य ज्योतिष ग्रन्थो का अध्ययन गहरी रुचि से किया। वे निमित्तज्ञानी बन गये एव अपने इस निमित्तज्ञान के बल पर स्वय को आचार्यपद का वास्तविक अधिकारी समझने लगे। अपने ज्योतिष ज्ञान पर उनके अन्तर मे अहकार भी जागृत हो उठा और वह उत्तरोत्तर बढता ही गया। अपने अन्तिम समय मे इन दोनो के गुरु ने अपने उत्तराधिकारी के रूप मे आचार्य पद प्रदान करने के लिए अपने शिष्यवर्ग मे से किसी सुयोग्य शिष्य का चयन करने का निश्चय किया। इस सम्बन्ध मे विचार करते-करते निम्नलिखित एक गाथा उनके ध्यान मे आई —

वूढो गणहर सद्दो, गोयमाईहिं धीरपुरिसेहिं।
जो त ठवइ अपत्ते, जाणतो सो महापावो॥

अर्थात् गणधर जैसे गरिमामय पद को गौतम आदि धीर गम्भीर महापुरुषो ने वहन किया है। ऐसे महान् पद पर यदि कोई जानबूझ कर इस पद के अयोग्य किसी अपात्र को नियुक्त कर देता है तो वह घोरातिघोर पाप का भागी होता है।

इस बात को ध्यान मे रखते हुए उन आचार्य ने वराहमिहिर को आचार्य पद के अयोग्य और भद्रबाहु को आचार्य पद के योग्य समझ कर मुनि भद्रबाहु को अपना उत्तराधिकारी घोषित कर उन्हे आचार्य पद प्रदान किया।

अपने गुरु के इस निर्णय से वराहमिहिर के हृदय को गहरा आघात पहुचा। वह मन ही मन अपने ज्येष्ठ भ्राता भद्रबाहु से ईर्ष्या और विद्वेष रखने लगा। उसने इसे अपना अपमान समझ कर सदा के लिये अपने बडे भाई भद्रबाहु का साथ छोड कर अन्यत्र चले जाने का निश्चय कर लिया। तीव्र कषाय एव मिथ्यात्व के उदय से उसके मन मे भद्रबाहु के विरुद्ध विद्वेषाग्नि इतनी प्रबल वेग से भडक उठी कि अपने बारह वर्ष के श्रमण जीवन को तिलाजलि दे वे पुन गृहस्थ बन गये।

उन्होने प्राचीन ग्रन्थो से चमत्कारी मन्त्रो एव तन्त्रो का चयन कर अनेक श्रीमन्तो के हृदय पर अपना प्रभाव जमाया और उनसे विपुल धन प्राप्त करने लगे। ज्योतिष मन्त्र, तन्त्र आदि के चमत्कारिक प्रभाव से ज्यो-ज्यो उन्हे धन की उपलब्धि होती गई, त्यो-त्यो उनकी भौतिक महत्वाकाक्षाए बढती गई। जनमानस पर अपनी महत्ता की अमिट छाप जमाने के लिए उन्होने अपने भक्तो के माध्यम से इस प्रकार का प्रचार करवाना प्रारम्भ कर दिया कि वे बारह वर्ष तक सूर्यमण्डल मे रहकर आये है। स्वय सूर्य ने उसे ग्रहमण्डल के उदय, अस्त, गति, स्थिति और उनके शुभाशुभ फल आदि प्रत्यक्ष दिखा कर ज्योतिप शास्त्र की सम्पूर्ण शिक्षा दी है। स्वय सूर्य ने उसे ज्योतिष विद्या मे पूर्णत पारगत कर पृथ्वी पर भेजा है।

उन्होने सूर्य प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति एव अन्यान्य ज्योतिष ग्रन्थो से ज्योतिष के सार को लेकर एक अपूर्व ज्योतिष ग्रन्थ की रचना की। इस प्रकार उनकी अनेक चमत्कारपूर्ण कृतियो एव किवदन्तियो के परिणामस्वरूप वराहमिहिर की चारो ओर प्रसिद्धि फैलने लगी। इस लोकप्रसिद्धि से प्रभावित होकर प्रतिष्ठानपुर के महाराजा ने वराहमिहिर को अपना राजपुरोहित बना लिया। राजपुरोहित का पद प्राप्त कर लेने के अनन्तर तो वराहमिहिर के ज्योतिष ज्ञान की ख्याति चारो ओर और भी तीव्रता से फैलने लगी।

उन्ही दिनो निमित्तज्ञ आचार्य भद्रबाहु का प्रतिष्ठानपुर मे आना हुआ। इस शुभ सम्वाद को सुनकर प्रतिष्ठानपुर का राजा भी अपने परिजनो एव पौरजनो के साथ आचार्यश्री के दर्शन और प्रवचन श्रवण के लिये नगर के बाहर उद्यान मे

पहुचा। राजपुरोहित वराहमिहिर भी महाराजा के साथ था। धर्मोपदेश के समापन के पश्चात् राजा अपने राजपुरोहित के साथ आचार्यश्री से ज्ञान चर्चा मे निमग्न हो गया। उसी समय एक सदेशवाहक ने वराहमिहिर के पुत्रजन्म होने का सबको सम्वाद सुनाया। महाराजा ने सदेशवाहक को पारितोषिक प्रदान कर वराहमिहिर से प्रश्न किया—"पुरोहितजी ! आपका यह पुत्र किन-किन विद्याओ मे निष्णात, कितनी आयुष्य वाला एव किन-किन के द्वारा सम्मानित होगा ? सौभाग्य से आज सकल विद्याओ के निधान आचार्यदेव भी यहा विद्यमान है, अत इनसे भी हमे ज्योतिष विद्या की पूर्णता का प्रमाण प्राप्त हो सकेगा।"

वराहमिहिर ने कहा —"महाराज ! इस बालक के जन्मकाल, ग्रहगोचर, नक्षत्र, लग्न आदि पर विचार करने के अनन्तर मै यह कहने की स्थिति मे हू कि यह बालक शतायु, समस्त विद्याओ मे निष्णात और आपके द्वारा एव आपके पुत्रो एव पौत्रो द्वारा भी पूजित होगा।"

निमित्त शास्त्र मे पारगत विद्वान् आचार्य भद्रबाहु से भी नृपति ने प्रार्थना-परक स्वर मे प्रश्न किया —"भगवन् ! क्या ऐसा ही होगा, जैसा कि पुरोहितजी कह रहे है ?"

आचार्य भद्रबाहु शान्त निश्चल भाव मे मौनस्थ रहे। राजा द्वारा पुन पुन आग्रहपूर्ण प्रार्थना किये जाने पर 'यद्यपि जैन श्रमण के लिये शास्त्रो मे निमित्त कथन का स्पष्टत निषेध है तथापि रोग निवारणार्थ कटु औषध का पिलाना भी कभी आवश्यक होता है'—यह विचार कर निमित्तज्ञ आचार्य भद्रबाहु ने कहा — "राजन् ! वास्तविकता कुछ और ही है, जिसे मुझे प्रकट नही करना चाहिये। उसके प्रकट करने से कोई लाभ नही है। फिर भी आपके अत्यन्त आग्रह को देखकर मै इतना ही कहना चाहूगा कि कर्म विपाक का फल अनिवार्य और अचिन्त्य है। जो होने वाला है, वह सातवे ही दिन सबको विदित हो जायगा।"

आचार्य भद्रबाहु के प्रति वराहमिहिर के अन्तर्मन मे जो विद्वेषाग्नि वर्षो से प्रच्छन्न रूप से जल रही थी, और जिसे वह प्रयत्नपूर्वक अब तक दबाये हुए था, वह भद्रवाहु की यह बात सुनकर सहसा भडक उठी। उसने आक्रोशपूर्ण चुनौती भरे स्वर मे कहा —"राजन् ! इन जैन श्रमणो की ज्योतिष शास्त्र मे नाम मात्र की भी गति नही है। यदि इन्हे थोडा बहुत भी ज्योतिष शास्त्र का ज्ञान हो तो स्पष्ट रूप से बतायें कि सातवें दिन क्या विदित होने वाला है। मैंने समस्त ज्योतिष शास्त्रो का अवगाहन किया है। मेरी भविष्यवाणी मे कही किंचित् मात्र भी अन्तर नही आने वाला है। केवल मेरी बात का विरोध करने के लिये इन्होने ऐसी अस्पष्ट बात कही है, जिसका कोई अर्थ नही निकलता। यदि इनमे इस

विषयक ज्ञान है तो साहस के साथ स्पष्ट रूप से ये बताये कि मेरी भविष्यवाणी के विपरीत कब-कब क्या-क्या होने वाला है ?"

इस पर राजा ने पुन आचार्य भद्रबाहु से प्रार्थना की ,—भगवन् ! आपका ज्ञान सागर के समान अगाध है। आपके वचनो की प्रामाणिकता पर किसी को सन्देह नही है। पर ज्योतिष शास्त्र को प्रामाणिकता के सम्बन्ध मे आज का यह प्रसग वस्तुत एक कसौटी है। मेरी भी जिज्ञासा है कि अपने कथन को थोडा स्पष्ट करे कि सातवे दिन क्या होने वाला है।"

आचार्य भद्रबाहु ने शान्त स्वर मे कहा—"इस प्रश्न पर मेरा मौनस्थ रहना ही उचित था किन्तु आपके बार-बार के आग्रह को ठुकराना भी उचित नही समझ कर मै यही कहूगा कि ज्योतिष शास्त्र के अनुसार वास्तविक भवितव्यता यह है कि सातवे दिन के अन्त मे इस बालक की बिडाल से मृत्यु हो जायगी।"

यह सुनकर सभी स्तब्ध रह गये। किन्तु वराहमिहिर बडा क्रुद्ध हुआ और यह कहता हुआ अपने घर की ओर चल पडा —"महाराज ! भद्रबाहु का कथन असत्य सिद्ध होगा और उस दशा मे आठवे दिन इनको कठोर दण्ड दिया जाय।"

पर उसका मन सशकित हो उठा। उसने अपने घर के चारो ओर सैनिको का कडा पहरा लगा दिया। प्रसूतिगृह मे भी सभी प्रकार की आवश्यक सामग्री का समुचित प्रबन्ध कर उसने अपने पुत्र की रक्षा के लिये दक्ष धात्री को सात दिन तक प्रतिक्षण सतर्कता बरतने और सूतिका गृह मे ही रहने का आदेश दिया। उसने इस बात का पूरा प्रबन्ध कर दिया कि कोई भी बिडाल उसके घर के आस-पास भी नही आने पाये।

अन्ततोगत्वा अनिष्ट की आशका वाला वह सातवा दिन आया। सबको और भी अधिक सजग रहने के लिये सावधान कर वराहमिहिर स्वय अत्यन्त सतर्क हो प्रसूतिगृह के द्वार पर पहरा देने लगा।

सातवे दिन की समाप्ति के अन्तिम क्षणो मे सूतिकागृह के सुदृढ कपाटो की बिडालमुखी भारी भरकम लोहमयी अर्गला उस नन्हे से बालक पर गिरी और वह तत्काल कालकवलित हो गया। बालक की मृत्यु का समाचार तत्काल सम्पूर्ण नगर मे फैल गया। नरेन्द्र पुरोहित के घर पहुचे। उन्होने वराहमिहिर को सान्त्वना देने के पश्चात् बालक की मृत्यु का कारण जानना चाहा। उत्तर मे अश्रुधारा बहाती हुई धात्री ने वह लोहमयी अर्गला महाराजा के सम्मुख प्रस्तुत कर दी। आगल के मुख पर बनी बिडाल की आकृति को देखकर राजा आश्चर्या-भिभूत हो कह उठे—"भद्रबाहु का निमित्त ज्ञान पूर्ण, अथाह और अनुपम है।"

वराहमिहिर को अपनी यह पराजय मृत्यु से भी अधिक भयकर अनुभव हुई। पुत्रशोक और लोक मे व्याप्त अपनी अपकीर्ति के सताप से सतप्त हो वह अपने घर-द्वार को छोडकर परिव्राजक वन गया। उसके मन मस्तिष्क मे यह विचार गहरा घर कर गया कि भद्रबाहु के कारण ही उसे सयम का परित्याग करना पडा, उन्ही के निमित्त से उसकी अनेक वर्षो के अथक् प्रयास से उपार्जित समग्र प्रतिष्ठा क्षण भर मे ही नष्ट हो गई। वराहमिहिर अपने ज्येष्ठ सहोदर भद्रबाहु को अपना सबसे बडा शत्रु समझ कर येन केन प्रकारेण उनसे प्रतिशोध लेने के उपाय सोचने लगा। अज्ञान के वशीभूत हो उसने प्रतिशोध की भावना से अनेक प्रकार के कठोर तप किये। महाव्रतो के भग के महापाप का और अपने मिथ्या अह का प्रायश्चित किये बिना ही मर कर वह हीन ऋद्धि वाला वाण व्यन्तर देव हुआ। उस व्यन्तर ने विभग ज्ञान से अपने पूर्वजन्म का वृत्तान्त जानकर भद्रबाहु से अपने पूर्व जन्म के वैर का बदला लेने का निश्चय किया। पर धर्मकवचधारी आचार्य भद्रबाहु का अनिष्ट करने मे अपने आपको असमर्थ पाकर उस व्यन्तर ने उनके जैन सघ के कतिपय श्रमणो एव गृहस्थ समूह को अनेक प्रकार के कष्टोपसर्ग देना प्रारम्भ किया। व्यन्तरकृत उपसर्गो से सत्रस्त श्रावक सघ ने भद्रबाहु से प्रार्थना की—"भगवन्! यह कैसी विचित्र विडम्बना है कि —

हस्तिस्कन्धाधिरूढोऽपि, भषणैर्भक्ष्यते जना ।

"गजराज की पीठ पर बैठे हुए लोगो को भी कुत्ते काट रहे है।" आप जैसे महान् आचार्य के श्रमण एव श्रमणोपासक वर्ग को भी एक सामान्य व्यन्तर इस कहावत को चरितार्थ कर अनेक प्रकार की यातनाए दे प्रपीडित कर रहा है।

इस पर आगमज्ञान और ज्योतिष शास्त्र मे निष्णात आचार्य भद्रबाहु ने एक चमत्कारी स्तोत्र की रचना कर जैनसघ को सुनाया। सघ ने उसका पाठ किया। उस महान् चमत्कारी स्तोत्र के प्रभाव से वह व्यन्तरकृत उपसर्ग सदा सर्वदा के लिये शान्त हो गया। वह चमत्कारी स्तोत्र आज भी "उवसग्गहर स्तोत्र" के नाम से बडा लोकप्रिय है।

आचार्य भद्रबाहु ने "भद्रबाहु सहिता" नामक एक ज्योतिष ग्रन्थ की और "अर्हत् चूडामणि" नामक प्राकृत ग्रन्थ की भी रचना की। आपकी 'भद्रबाहु सहिता' नाम की कृति वर्तमान मे उपलब्ध नही है। वर्तमान मे जो इस नाम की कृति उपलब्ध है, वह किसी अन्य विद्वान् की कृति प्रतीत होती है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन की घटनाओ के साथ उनसे लगभग ८०० वर्ष पश्चात् हुए द्वितीय भद्रबाहु के जीवन की घटनाओ को सपृक्त कर जो जीवन-वृत्त अनेक ग्रन्थो मे दिया गया है, उन ग्रन्थो मे से ऐतिहासिक घटनाओ के आधार पर छाट-छाट कर निमित्तज्ञ भद्रबाहु का कुछ परिचय प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। इस सम्बन्ध मे आगे और शोध की आवश्यकता है।

✡

भगवान् महावीर के २८वें पट्टधर आचार्य वीर भद्र के समय के प्रभावक ाचार्य मल्लवादी सूरि

२९वें युगप्रधानाचार्य हारिल सूरि के युग प्रधानाचार्य काल मे मल्लवादी नामक एक महान् शास्त्रार्थ कुशल वादी और जिन शासन के प्रभावक आचार्य हुए। प्रभावक चरित्र की "सी" सज्ञक एक हस्तलिखित प्रति मे ऋषि मण्डल स्तोत्र के एक श्लोक को उद्धृत करते हुए आचार्य मल्लवादी को नागेन्द्र कुल का शिरोमणि और शास्त्रार्थ निपुण वादियो मे अग्रणी बताया गया है।[1] इससे विदित होता है कि वे नागेन्द्र कुल के आचार्य थे। आचार्य मल्लवादी के गुरु का नाम जिनानन्द सूरि था।

प्रभावक चरित्र के उल्लेखानुसार जिनानन्द सूरि एक बार चैत्ययात्रार्थ भृगुकच्छ गये। वहा नन्द अथवा बुद्धानन्द नामके एक बौद्ध भिक्षु रहते थे। वह अपने समय के एक विख्यात वादी एव तार्किक थे। उधर जिनानन्द भी स्व-पर समय के ज्ञाता और उच्च कोटि के विद्वान् थे। वह वाद प्रधान युग था। विभिन्न धर्मो, मतो एव मान्यताओ के विद्वानो मे उस समय यत्र-तत्र शास्त्रार्थ होते ही रहते थे। जिनानन्द सूरि की चारो ओर फैलती हुई ख्याति को बुद्धानन्द सहन नही कर सके। उन्होने जिनानन्द सूरि के साथ शास्त्रार्थ करने का निश्चय किया। जिनानन्द और बुद्धानन्द का शास्त्रार्थ कई दिन चला और अन्त मे वितण्डावाद के बल पर बुद्धानन्द ने वाद मे विजय प्राप्त की।[2] इस पराभव के पश्चात् आचार्य जिनानन्द ने भृगुकच्छ मे ठहरना सम्मानजनक न देख वल्लभी की ओर विहार किया।

---

[1] श्रीनागेन्द्रकुलैकमस्तकमणि प्रामाणिकग्रामणी —
रासीदप्रतिमल्ल एव भुवने श्रीमल्लवादी गुरु।
प्रोद्यत्प्रातिभवैभवोद्भवमुदा श्री शारदा सूनवे।
यस्मै त निजहस्तपुस्तकमदाज्जैत्रम् त्रिलोक्या अपि ॥ऋषिमण्डलात्॥

(प्रभावकचरित्र, पृ० ७९)

[2] चैत्ययात्रासमायात, जिनानन्दमुनीश्वरम्।
जिग्ये वितडया बुद्ध्या, नन्दाख्य सौगतो मुनि।

(प्रभावकचरित्र, पृष्ठ ७७)

वल्लभी मे जिनानन्द सूरि की बहिन रहती थी जिसका नाम था वल्लभ देवी। उसके तीन पुत्र थे। बडे का नाम अजितयश, मझले का नाम यश और सबसे छोटे का अर्थात् तीसरे पुत्र का नाम मल्ल था।[1] वल्लभदेवी के तीनो ही पुत्र बडे ही प्रतिभा सम्पन्न बालक थे। आचार्य जिनानन्द सूरि ने वल्लभी के विशाल जन-समूह के समक्ष ससार के सभी प्रकार के दु खो से सदा-सर्वदा के लिये मुक्ति दिलाने वाले मोक्ष मार्ग पर प्रकाश डालते हुए अपने प्रवचनो मे ससार की अनित्यता, जीवन की क्षणभगुरता एव दुर्लभ तथा अनमोल मानव जीवन के वास्तविक कर्त्तव्यो का दिग्दर्शन करवाया। आचार्यश्री के प्रेरणाप्रदायी प्रवचनामृत का पान कर दुर्लभदेवी और उसके तीनो पुत्रो का अन्तर्मन विरक्ति के गहरे रग मे रग गया। उन चारो प्राणियो ने अक्षय सुख की प्राप्ति के लिये मुक्ति पथ पर चलने का दृढ सकल्प अपने आराध्य आचार्यदेव के समक्ष रखा। माता और तीनो पुत्रो ने जयानन्द सूरि से श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की।

प्रभावक चरित्र मे आचार्य मल्लवादी के पिता और कुल का कोई परिचय नही दिया गया है। 'प्रबन्धकोश' मे मल्लवादी का जो परिचय दिया गया है, उसमे बताया गया है कि दुर्लभदेवी सौराष्ट्र के शक्तिशाली एव महान् प्रतापी महाराजा शिलादित्य की बहिन थी और इस प्रकार आचार्य मल्लवादी महाराजा शिलादित्य के भागिनेय थे।

श्रमणधर्म मे दीक्षित होने के अनन्तर अजितयश, यश और मल्ल इन तीनो सहोदर श्रमणो ने न्याय, नीति, व्याकरण, साहित्य एव लक्षणादि महाशास्त्रो का प्रगाढ निष्ठा एव परिश्रम से अध्ययन किया और वे तीनो ही श्रमण शास्त्रो के गहन-गम्भीर ज्ञान से सम्पन्न उद्भट विद्वान बन गये। उनकी विद्वत्ता की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई।

मल्ल श्रमण ने स्थविर श्रमणो से सुना कि बौद्ध भिक्षु बुद्धानन्द ने उनके गुरु जिनानन्द को शास्त्रार्थ मे पराजित कर दिया था।[2] अपने आराध्य गुरुदेव की पराजय का वृत्तान्त सुनकर उनके अन्तर मे असह्य दु ख हुआ। अपने गुरु की पराजय और जिनशासन का घोर अपमान उनके हृदय मे तीक्ष्ण काटे की तरह खटकने लगा। उन्होने मन ही मन गुरु और जिनशासन की भृगुकच्छ मे उस खोयी हुई

---

[1] तत्र दुर्लभदेवीति, गुरोरस्ति सहोदरी। तस्या पुत्रास्त्रय सन्ति ज्येष्ठो जितयशोऽभिध ॥
द्वितीयो यशनामाभूत्, मल्लनामा तृतीयक। ससारासारता चैषा मातुलै प्रतिपादिता ॥
जनन्या सह ते सर्वे, बुद्ध्वा दीक्षामथाददु। सप्राप्ते हि तरण्डे क पाथोधि न विलघयेत् ॥
(प्रभावकचरित्र, पृष्ठ ७८)

[2] मल्ल समुल्लसन्मल्लीफुल्लयेन्लद्यशोनिधि। शुश्राव स्थविराख्यानात् न्यक्कारम् बौद्धतो गुरो।
(वही)

प्रतिष्ठा को पुन प्राप्त करने का प्रण किया। मल्ल श्रमण ने किन्ही पूर्वाचार्य द्वारा ज्ञान प्रवाद नामक पञ्चम पूर्व से निर्यूढ (सारग्रहण पूर्वक रचित) 'नयचक्र' ग्रन्थ को पढने का निश्चय किया। जिनानन्द सूरि और आर्या दुर्लभदेवी ने मेधावी नवयुवक श्रमण मल्ल को समझाया कि परम्परागत पूर्वाचार्यो ने इस पुस्तक को खोलने तक का निषेध किया है, अत इसे खोलने तथा पढने का प्रयास कदापि न करना। किन्तु मल्ल मुनि तो बौद्ध भिक्षु को पराजित करने के लिये नयचक्र पढने का निश्चय कर चुके थे। अत उन्होने नयचक्र महाग्रथ को खोलकर पढना प्रारम्भ किया। उन्होने नयचक्र ग्रथ के प्रथम पत्र पर आर्या छन्द की निम्नलिखित गाथा को पढा —

विधिनियमभगवृत्तिव्यतिरिक्तत्वादनर्थकमवोचत्।
जैनादन्यच्छासनमनृतम् भवतीति वैधर्म्यम् ।।

वे इस गाथा के अर्थ का मनन कर ही रहे थे कि वह उस पत्र सहित पुस्तक उनके हाथ से किसी अदृष्ट शक्ति के प्रभाव से लुप्त हो गई। मुनि मल्ल आश्चर्याभिभूत हो शोकसागर मे निमग्न हो गये। "हाय! गुरुवचन की अवमानना का घोर दुष्परिणाम मुझे भोगना पड रहा है"—यह कर कर वे रुदन करने लगे। आखिर थी तो उनकी बाल्यावस्था ही न, इसलिये वे फूट-फूट कर रोने लगे। उनकी माता आर्या दुर्लभदेवी ने पास आ उन्हे रोने का कारण पूछा। मल्ल मुनि ने 'नयचक्र' ग्रथ को खोलने, उसकी एक गाथा पढने और हठात् उनके हाथ से आश्चर्यजनक रूप से पुस्तक के तिरोहित हो जाने का पूरा वृत्तात यथावत् अपनी माता को कह सुनाया।

सघ को जब उस अलभ्य ग्रन्थ के लुप्त होने की आश्चर्यजनक घटना विदित हुई तो सब को गहरा दु ख हुआ। "जो वस्तु मेरे हाथ से विलुप्त हुई है, उसकी रचना मुझे ही करनी चाहिये।" यह विचार कर मल्ल मुनि ने श्रुतदेवी की आराधना करने का दृढ निश्चय किया। समीपस्थ खण्डल पर्वत पर जा उसकी एक गुफा मे वे तपश्चरण मे लीन हो गये। दो-दो दिन तक निराहार रहकर वे षष्टम भक्त तप की तपाराधना करने लगे। प्रत्येक षष्टम तप के पारणक के दिन वे नितात रूक्ष भोजन और वह भी, अल्प मात्रा मे ग्रहण करते। वे चार मास तक निरन्तर इसी प्रकार घोर तपश्चरण करते रहे। चातुर्मासिक पारणक के दिन मा दुर्लभदेवी और चतुर्विध सघ की अतीव आग्रहपूर्ण प्रार्थना पर उन्होने श्रमणो द्वारा लाये हुए सरस स्निग्ध भोजन को निरीह भाव से ग्रहण किया। तदनन्तर वे पुन उसी प्रकार तपश्चरण मे लीन हो गये।

६ मास तक निरन्तर इसी प्रकार कठोर तपश्चरण करते रहने के परिणामस्वरूप उनके अन्तर्हृदय मे वाद और ग्रथप्रणयन की अद्भुत दिव्य शक्ति प्रकट हुई। तदनन्तर मल्ल मुनि ने एक अति विशाल नवीन 'नयचक्र' ग्रथरत्न की रचना की।

सभी विद्वानो ने उस ग्रथरत्न को परम उपादेय बताते हुए मल्ल मुनि की भूरि-भूरि प्रशसा की ।

गुरु ने हर्षविभोर हो उन्हे सूरि पद प्रदान किया और इस प्रकार वे अल्प वयस्क साधु होते हुए भी मल्ल मुनि से मल्ल सूरि बन गये । इस प्रकार तपस्या के प्रभाव से अलौकिक शक्ति सचित कर मल्लसूरि ने भृगुकच्छ की ओर अप्रतिहत विहार किया । भृगुकच्छ पहुच कर मल्लसूरि ने राजसभा मे बौद्ध भिक्षु बुद्धानन्द के साथ शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया । उन्होने ६ मास तक स्वय द्वारा प्रणीत 'नयचक्र' नामक ग्रथरत्न मे निहित अति निगूढ तत्त्वो, नयो एव अकाट्य युक्तियो के आधार पर बुद्धानन्द के साथ शास्त्रार्थ किया । अन्त मे बुद्धानन्द पराजित हुआ । राजा ने आचार्य मल्ल को विजयी घोषित किया और उन्हे 'वादी' की उपाधि से विभूषित कर सम्मानित किया । उसी दिन से मल्लसूरि मल्लवादी के नाम से प्रख्यात हुए । इस प्रकार मल्ल वादी ने भृगुकच्छ मे जैन सघ को उसकी खोई हुई प्रतिष्ठा पुन प्रदान की । जिन शासन की बडी प्रभावना हुई और भृगुकच्छ मे पुन जैन सघ का वर्चस्व स्थापित हो गया ।

भृगुकच्छ का सघ तत्काल वल्लभी की ओर प्रस्थित हुआ । जयानन्दसूरि की सेवा मे पहुच सघ ने उन्हे भृगुकच्छ की भूमि को अपने पावन पदार्पण से पवित्र करने की प्रार्थना की । सघ की प्रार्थना स्वीकार कर जयानन्दसूरि अपने श्रमण-श्रमणी समूह के साथ भृगुकच्छ पधारे । गुरु-शिष्य का मधुर-मिलन हुआ । जिनानन्द सूरि ने दुर्लभदेवी की ओर कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से देखते हुए गम्भीर स्वर मे कहा—"बहिन ! वस्तुत तुमने पुत्रवतियो की श्रेणी मे प्रथम स्थान प्राप्त कर लिया है ।"

जिनानन्दसूरि पहले ही अपने शिष्य मल्ल को सूरि पद प्रदान कर चुके थे । अब उन्होने अपने सघ का समस्त कार्यभार अपने सुयोग्य शिष्य मल्लवादी को सौप कर स्वय पूर्णत आत्महित साधना मे सलग्न हो गये ।

मल्लवादी सूरि ने 'नयचक्र' और पद्मचरित (रामायण) इन दो विशाल ग्रथरत्नो की रचना की ।[1] इन दो ग्रथरत्नो के प्रणयन के साथ ही साथ मल्लवादी ने आ० सिद्धसेन प्रणीत सन्मतितर्क की टीका भी लिखी । उन्होने अपने अनेक कुशाग्र-बुद्धि शिष्यो को द्वादशारचक्र तुल्य बारह अध्याय वाले नयचक्र महाग्रथ का अध्ययन करा उन्हे अनेकात दर्शन, न्याय और तर्कशास्त्र का पारगत विद्वान् बनाया । शास्त्रार्थ प्रधान उस युग मे उच्च कोटि के न्याय ग्रथ का निर्माण कर स्वय मल्लवादी ने अजेय सौगत प्रतिवादी बुद्धानन्द को पराजित कर और अपने अनेक शिष्यो को

---

[1] श्रीपद्मचरित नाम रामायणमुदाहरत् । चतुर्विंशतिरेतस्य सहस्रा ग्रथमानत ॥७०॥
(प्रभावकचरित्र, पृष्ठ ७९)

तर्क शास्त्र के गहरे अध्ययन से अजेय वादी बनाकर जिनशासन की महती सेवा की। स्याद्वाद, न्याय और तर्कशास्त्र पर गहरा प्रकाश डालने वाला मल्लवादी का वह महान् ग्रन्थ 'नयचक्र' आज मूल रूप मे उपलब्ध नही है किन्तु इस पर सिंहगरिण क्षमाश्रमण द्वारा प्रणीत टीका उपलब्ध है।

आचार्य मल्लवादी सूरि के दोनो बडे भाई भी बडे विद्वान् थे। मुनि अजितयश ने "प्रमाण" ग्रन्थ की और उनके अनुज तथा मल्लवादी के अग्रजन्मा मुनि यश ने "अष्टाग निमित्त बोधिनी सहिता" की रचना की। मल्लवादी के बडे भाई अजितयश और यश—इन दोनो मुनियो द्वारा रचित उपरोक्त दोनो ग्रन्थ आज उपलब्ध नही है।

आचार्य मल्लवादी के सत्ताकाल के सम्बन्ध मे यद्यपि प्रभावक चरित्र मे कोई उल्लेख नही किया गया है तथापि अनेक ऐसे तथ्य जैन वाङ्मय मे उपलब्ध है, जिनसे उनका सत्ताकाल वीर निर्वाण की ११वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है। मल्लवादी सूरि द्वारा रचित 'नयचक्र' पर सिंहगणि क्षमाश्रमण (अपर नाम—सिंह-सूरि) ने टीका की रचना की थी। वह टीका आज भी उपलब्ध है। सिंह गणि क्षमाश्रमण 'वसुदेव हिडी' के रचनाकार सघदासगणि, 'धम्मिल्ल हिंडी' के रचनाकार धर्मसेनगणि और पञ्चकल्प भाष्य के सयुक्त रचनाकार सघदासगणि और धर्मसेनगणि के उत्तराधिकारी प्रतीत होते है। सघदासगणि और धर्मसेनगणि का सत्ताकाल विक्रम की छठी शताब्दी है। इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि सिहगणि विक्रम की सातवी शताब्दी मे विद्यमान थे। सिहगणि ने मल्लवादी के नयचक्र ग्रन्थ पर टीका की रचना की, इससे यह तो निर्विवाद सिद्ध है कि मल्लवादी सिहगणि से पूर्ववर्ती आचार्य थे और इस पर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि मल्लवादी का सत्ताकाल विक्रम की छठी शताब्दी हो सकता है।

दूसरा प्रमाण यह है कि हरिभद्र सूरि (याकिनी महत्तरासूनु) ने अपनी रचना "अनेकात जय पताका" मे मल्लवादी कृत "सन्मति तर्क की टीका" के अनेक अवतरण दिये है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि आचार्य मल्लवादी वस्तुत याकिनी महत्तरासूनु हरिभद्र के पूर्ववर्ती ग्रन्थकार और आचार्य थे। याकिनी महत्तासूनु हरिभद्र का समय वि स ७५७ से ८२७ तदनुसार वीर नि स १२२७ से १२९७ के बीच का रहा। वि स ७८५ (वीर नि स १२५५) मे हरिभद्रसूरि की विद्यमानता को सूचित करने वाली एक प्राचीन गाथा उपलब्ध होती है।[1] इन तथ्यो से यह स्पष्ट रूप से सिद्ध होता है कि हरिभद्र सूरि से और सिहगणि से पूर्ववर्ती आचार्य होने के कारण आचार्य मल्लवादी विक्रम की छठी शताब्दी के आचार्य थे।

---

[1] देखिए, प्रस्तुत ग्रन्थ मे ही हारिलसूरि का जीवन वृत्त। (सम्पादक)

प्रबन्धकोश मे उल्लिखित कतिपय ऐतिहासिक तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर आचार्य मल्लवादीसूरि का समय विक्रम स० ५७३ तदनुसार वीर निर्वाण स० १०४३ के आसपास का प्रमाणित होता है। 'प्रबन्धकोश' मे जो ऐतिहासिक तथ्य उल्लिखित है, उनसे इस बात की पुष्टि होती है कि वि स ५७३ मे आचार्य मल्लवादीसूरि विद्यमान थे।

प्रबन्धकोशकार रत्नशेखरसूरि ने आचार्य मल्लवादी के विषय मे प्रभावक चरित्रकार से कुछ भिन्न विवरण दिया है। उन्होने आचार्य मल्लवादी को वल्लभी के महाराजा शिलादित्य का भागिनेय बताते हुए लिखा है कि वल्लभी पर अधिकार करने के पश्चात् शिलादित्य ने अपनी बहिन का विवाह भृगुकच्छ के राजा के साथ किया। समय पर शिलादित्य की बहिन ने एक महान् तेजस्वी पुत्ररत्न को जन्म दिया। उस पुत्र का नाम "मल्ल" रखा गया।[1] प्रबन्धकोशकार के अनुसार शिलादित्य प्रारम्भ मे जैनधर्म का अनुयायी था। उसने शत्रुजय पर्वत पर चैत्य का उद्धार किया और वह अपने आपको महाराज श्रेणिक जैसे जिनशासन प्रभावक श्रावको की श्रेणि मे समझता था। उस समय वल्लभी का जैनसघ एक शक्तिशाली और सुगठित सघ था।

उन्ही दिनो एक महान् तार्किक एव वादकुशल बौद्ध आचार्य महाराजा शिलादित्य की राजसभा मे उपस्थित हुआ और उसने जैन विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ करने की अभिलाषा प्रकट की। उस बौद्धवादी ने शास्त्रार्थ के विषय मे यह शर्त रखी कि जो पक्ष शास्त्रार्थ मे पराजित हो जायगा वह पक्ष वल्लभी राज्य को छोड कर चला जायगा। दोनो पक्षो द्वारा इस शर्त को स्वीकार किये जाने के अनन्तर दोनो पक्षो के बीच शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। शास्त्रार्थ अनेक दिनो तक चला और अन्त मे बौद्ध तार्किक विजयी घोषित किया गया और देवसयोग से श्वेताम्बरो को पराजय का मुख देखना पडा। पूर्वनिर्धारित शर्त के अनुसार श्वेताम्बरो को वल्लभी राज्य के बाहर जाना पडा। शिलादित्य भी बौद्ध धर्म अनुयायी बन गया। वल्लभी राज्य मे जो जैन तीर्थ थे उन पर बौद्धो ने अधिकार कर लिया और इस प्रकार वल्लभी राज्य मे बौद्धो का वर्चस्व स्थापित हो गया।

उन्ही दिनो भृगुकच्छ के राजा की मृत्यु हो गयी। इस कारण शिलादित्य की भगिनी को सासारिक कार्यकलापो से विरक्ति हो गई और उसने प्रवर्तिनी जैन साध्वीमुख्या के पास क्षमणधर्म की दीक्षा ग्रहण करने के साथ-साथ अपने अष्ट वर्षीय पुत्र मल्ल को भी जैनाचार्य के पास श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण करवा दी।

---

[1] निजा 'स्वसार' म ददौ, भृगुक्षेत्रमही भुजे।
प्रसूत सा मुत दिव्यतेजम दिव्यलक्षणम् ॥२१॥
(प्रबन्धकोश, पृष्ठ २२)

तार्किक बौद्ध भिक्षु के वाद कौशल तथा शिलादित्य के बौद्ध धर्मानुयायी बन जाने से बौद्ध सघ की अभिवृद्धि के परिणामस्वरूप जैन सघ क्षीण होने लगा ।

एक दिन उस ओजस्वी और विचारशील बालक मुनि मल्ल ने अपनी माता साध्वी से पूछा—"मातर् ! अपना सघ इतना क्षीण क्यो है ? और पूर्वापेक्षया उत्तरोत्तर क्षीण से क्षीणतर क्यो होता चला जा रहा है ? इसका कारण क्या है ?"

अपने पुत्र बालक मुनि का प्रश्न सुनकर साध्वी माता की आखो मे आसू छलक उठे । उसने कहा—"मुने ! हमारा सघ पहले ग्राम-ग्राम और नगर-नगर मे फैला हुआ था । पूर्व मे महान् जिन—शासन प्रभावक आचार्यो के प्रताप से हमारा सघ बडा ही शक्तिशाली था । दुर्भाग्य से अब उस प्रकार के प्रभावक आचार्यो का अभाव हो गया है । एक बौद्ध तार्किक ने श्वेताम्बर आचार्य को वाद मे वितण्डावाद पूर्वक पराजित कर दिया और इस कारण जैन साधु वल्लभी राज्य को छोडकर अन्यत्र चले गये है । तुम्हारा मामा शिलादित्य बौद्धधर्मावलम्बी बन गया है और यहाँ जैन सघ के न रहने के कारण आज सभी जैन तीर्थो पर बौद्धो ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया है । यही कारण है कि हमारा जैन सघ दिन प्रतिदिन क्षीण होता चला जा रहा है ।"

यह सुनकर बालक मुनि मल्ल के हृदय को गहरा आघात पहुचा । मुनि मल्ल ने तत्क्षण उच्च स्वर मे प्रतिज्ञापूर्वक कहा—"यदि इन बौद्धो को यहा से मैं मूलत उखाड कर नही फैंक दू तो मुझे मुनि हत्या का पाप लगे ।"

इस प्रकार की कठोर प्रतिज्ञा करने के पश्चात् बालक मुनि मल्ल अपनी माता की अनुमति लेकर एक पर्वत की गुफा मे चले गये और वहा वे घोर तपश्चरण करने लगे । लम्बी तपस्या के पश्चात् वे उस पर्वत की तलहटी मे बसे पास ही के किसी ग्राम मे भिक्षाटन करते और वहाँ से रूखा-सूखा आहार लाकर छट्ठ, अष्टम आदि अनेक प्रकार की दुष्कर तपस्या का पारण करते । इस प्रकार घोर तपश्चरण करते हुए मुनि मल्ल को लगभग एक वर्ष व्यतीत हो गया । निरन्तर चिन्तन, एकाग्र ध्यान और कठोर तपश्चरण के प्रभाव से उनकी प्रज्ञा जागृत हुई । उनके अन्तर मे ज्ञान की दिव्य ज्योति प्रकट हुई और वे सरस्वती के परम कृपापात्र बन गये । तपस्या के प्रभाव से शासनदेवी उन पर प्रसन्न हुई और उसने उन्हे अजेय वादी होने का वरदान दिया । तर्कशास्त्र पर गहन चिन्तन-मनन कर उन्होने 'नयचक्र' नामक ग्रन्थराज की रचना की । उनमे अमित आत्मशक्ति और असीम क्षमता का अभ्युदय हुआ । उन्हे दृढ विश्वास हो गया कि उनका 'नयचक्र' शास्त्रार्थ मे बडे से बडे प्रतिपक्षियो पर विजय प्राप्त कराने मे दिव्य अस्त्र के समान है । जिनशासन की प्रभावना हेतु मुनि मल्ल वल्लभी की ओर प्रस्थित हुए । वल्लभी की राज्यसभा मे शिलादित्य के समक्ष उपस्थित हो उन्होने कहा—"मैं आपका भानजा मल्लवादी हू और

आपकी सभा मे बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ करने के लिए प्रतिमल्ल के रूप मे उपस्थित हुआ हू ।[1]

दोनो पक्षो मे से जो भी पक्ष शास्त्रार्थ मे पराजित हो जायगा उसे वल्लभी राज्य की सीमा से निष्काषित कर दिया जायगा, इस शर्त को दोनो पक्षो द्वारा स्वीकार कर लिये जाने पर शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ ।

किशोर मुनि मल्ल द्वारा प्रस्तुत किये गये अकाट्य तर्को के समक्ष वह लब्ध प्रतिष्ठ बौद्ध तार्किक हतप्रभ हो गया ।[2]

दिन भर शास्त्रार्थ चला । साध्यवेला सन्निकट देखकर शिलादित्य ने शास्त्रार्थ को दूसरे दिन के लिये स्थगित कर सभा विसर्जित की ।

दूसरे दिन यथा समय शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ । बौद्धानन्द ने अपना पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा —

"आत्मा क्षणिक है, क्षण विध्वसी है, वह शाश्वत नही, अजर अमर नही । क्योकि ससार मे जितनी भी वस्तुए दिखती है, वे सब विनाशशील है, क्षण विध्वसी है, उन सबका विनाश प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है, प्रत्येक वस्तु मे परिवर्तन स्पष्टत. परिलक्षित है । जब ससार की सब वस्तुए विनाशशील है, क्षण विध्वसी है, ससार की कोई भी वस्तु शाश्वत नही, अमर नही तो इससे यही प्रमाणित होता है कि आत्मा भी क्षणविध्वसी है । ससार मे जब कि कोई वस्तु शाश्वत नही तो आत्मा ससार के क्षण विध्वसी विनाशशील स्वभाव के विपरीत शाश्वत अथवा अजर अमर कैसे हो सकती है ।"

किशोर मुनि मल्ल ने उत्तर देते हुए कहा —"महाराज ! कल जिस बौद्धानन्द नामक वादी ने राज्यसभा मे शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया था, उसी बौद्धानन्द वादी को यहा उपस्थित किया जाय । मैं उसी बौद्धानन्द को आपके समक्ष वाद मे पराजित करना चाहता हू । कल वाले बौद्धानन्द के स्थान पर आये हुए इन नये छद्म नामधारी बौद्धानन्द से कहा जाय कि वह कल वाले बौद्धानन्द को शीघ्रातिशीघ्र राज्य सभा मे उपस्थित करे । राजन् ! इसके साथ ही मेरा यह भी निवेदन है कि उन कल वाले बौद्धानन्द के यहा उपस्थित हो जाने पर आज यहा वाद के लिए उपस्थित

---

[1] बौद्धैर्मु था जगज्जग्ध, प्रतिमल्लोऽहमुत्थित ।
अप्रमादी मल्लवादी, त्वदीयो भगिनीसुत ।।४६।।

[2] शिलादित्यनृपोपान्ते बौद्धाचार्येण वाग्मिना ।
वादिवृन्दारकश्चक्रे तर्कवर्करमुल्वणम् ।।४७।।
(सिंघी जैन ज्ञानपीठ, विश्वभारती, शान्तिनिकेतन से प्रकाशित प्रबन्धकोष, पृष्ठ २३)

मेरे इन पूज्य बौद्धानन्द को राज्यसभा के सभ्यो की वचना करने के अपराध मे दडित भी किया जाय।"

बौद्धानन्द ने कहा —"महाराज ! आपका वर्षो का जाना पहिचाना बौद्धानन्द मैं ही तो हू।"

तत्क्षण मुनि मल्ल ने कहा —"महाराज ! मै इनसे यही कहलवाना चाहता था। जो कार्य मुझ करना चाहिये था, वह इन्होने स्वय कर दिया है। बौद्धानन्द ने अभी अपना पूर्व पक्ष रखते हुए स्पष्ट शब्दो मे कहा था कि 'आत्मा क्षण विध्वसी है। इस दृश्यमान जगत मे शाश्वत नाम की कोई वस्तु नही।' इसके अनुसार तो कल जो बौद्धनन्द मेरे साथ शास्त्रार्थ कर रहे थे क्षण विध्वसी होने से वे कल ही ध्वस हो गये। अत इस समय जो बोल रहे है वे कल वाले बौद्धानन्द नही, अपितु कोई अन्य है।

अब ये भरी सभा मे जो यह कह रहे है कि ये ही है वे कल वाले बौद्धानन्द। तो ऐसी दशा मे इनके इन दो परस्पर विरोधी वक्तव्यो मे से कौन सा वक्तव्य सच है और कौनसा झूठ। यदि इनके इस दूसरे कथन को सत्य मान लिया जाय कि ये वे ही कल वाले बौद्धानन्द हैं तो इनके द्वारा रखा गया इनका यह पूर्वपक्ष कि "आत्मा भी क्षण विध्वसी है" स्वत ही खण्डित हो जाता है।

अनात्मवादपरक पूर्वपक्ष इनके स्वय के धर्मशास्त्रो से भी असत्य सिद्ध होता है। बुद्धप्रणीत इनके आगमो मे एक आख्यान इस प्रकार का है —

"एक शान्त, दान्त, सर्वभूतानुकम्पी अतिवृद्ध शाक्य भिक्षु अपने शिष्यवृन्द के साथ एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर विहार कर रहे थे। विचरण करते हुए वे स्थविर जिस समय एक वन मे पहुचे, उस समय उनके नग्न पाव मे एक तीक्ष्ण कटक धँस गया। शूल के कारण स्थविर को पीडा होने लगी। एक चतुर शिष्य ने बडे मनोयोगपूर्वक उस काटे को निकाला और इस प्रकार उन महास्थविर की पीडा शान्त हुई। वे पुन पदयात्रा करने लगे।

एक मेधावी शिष्य ने उन महास्थविर से प्रश्न किया—"भगवन् ! आप तथागत प्रणीत सिद्धान्तो का त्रिकरण एव त्रियोग से अक्षरश पालन करते हैं। समस्त भूतसघ को आत्मवत् समझते हुए सदा प्राणिमात्र के साथ अनन्य आत्मीय के समान व्यवहार करते हैं। पूज्यपाद ! आप जैसे शान्त-दान्त-निष्पाप विश्वबन्धु महान् सन्त के पैर मे यह काटा किस कारण चुभ गया। हम सब को बडा आश्चर्य हो रहा है ? अकारण करुणाकर ! आप कृपाकर हम सब शिष्यो की इस जिज्ञासा को शान्त कीजिये।"

उन स्थविर शाक्याचार्य ने अपने शिष्यो की जिज्ञासा का शमन करते हुए कहा —

इत एकनवति कल्पे, शक्त्या मे पुरुषो हत ।
तेन कर्मविपाकेन, पादे विद्धोऽस्मि भिक्षव ॥

हे भिक्षुओ ! आज से १६० कल्प पूर्व मेरे द्वारा प्रक्षिप्त एक शक्ति के प्रहार से एक पुरुष मर गया था । क्रमश पतले पडते गये उस दुष्कर्म के परिणाम स्वरूप आज मेरा पैर काटे से बिंध गया है ।"

तो बौद्धानन्द के धर्मशास्त्रो मे उल्लिखित यह कथानक स्पष्ट बता रहा है कि एक आत्मा ने १६० कल्प पूर्व जो पापकर्म किया उसका फल १६० कल्प पश्चात् उसी आत्मा को भोगना पडा । इस तरह आत्मा का अनवच्छिन्न अस्तित्व इस कथानक से सिद्ध होता है ।

इस आख्यान के अतिरिक्त बौद्ध धर्म के प्रवर्तक तथागत बुद्ध तथा अन्य बुद्धो के अनेक पूर्व जन्मो के चरित्र बौद्ध धर्म के आगमग्रन्थो मे यत्र-तत्र उपलब्ध होते है, जिनमे स्पष्ट उल्लेख है कि सुदीर्घ अतीत मे बोधिसत्व (बुद्ध का जीव) कबूतर था, अमुक बुद्ध के जीव बोधिसत्व ने अतीव प्राचीनकाल मे अमुक-अमुक प्रकार की साधना की । बौद्ध आगमो मे उल्लिखित इन सब आख्यानो से न केवल आत्मा का अस्तित्व ही सिद्ध होता है किन्तु यह भी सत्य प्रकट होता है कि आत्मा वस्तुत अजर-अमर है, शाश्वत अविनाशी तत्व है न कि क्षणविध्वसी ।"

अपने वक्तव्य का निष्कर्ष के रूप मे उपसहार करते हुए मुनि मल्ल ने कहा—"इस प्रकार मै ही कल वाला बौद्धानन्द हू, इस कथन से भी और तथागत बुद्ध द्वारा प्रणीत बौद्ध आगमो से भी आत्मा क्षणविध्वसी है, यह पक्ष स्वत निरस्त हो जाता है ।" साध्य वेला हो जाने से शास्त्रार्थ अगले दिन के लिए स्थगित हो गया ।

इधर वल्लभी के राजपथो पर एकत्रित जन समूह मुनि मल्ल के वादकौशल की सराहना देर रात तक करते रहे और उधर बौद्धाचार्य बौद्धानन्द अपने बौद्ध-विहार मे रात भर बडे-बडे वाद ग्रथो को देखने मे व्यस्त रहे ।

समय पर तीसरे दिन शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ जो चौथे-पाचवे और इस प्रकार पूरे ६ मास तक चलता रहा ।

अन्ततोगत्वा छ मास पूर्ण होने पर दूसरे दिन शास्त्रार्थ का निर्णय सुनाने व विजयपत्र प्रदान किये जाने की घोषणा की गई ।

दूसरे दिन मुनि मल्ल राज्यसभा मे उपस्थित हुए । पर आचार्य बौद्धानन्द अनुपस्थित थे । मुनि मल्ल विजयी घोषित किये गये । जब विजय-पत्र देने का

अवसर आया तो एक सभ्य ने कहा कि विजय-पत्र आचार्य बौद्धानन्द की उपस्थिति मे दिया जाय। इस पर महाराज शिलादित्य ने बौद्धाचार्य को ससम्मान राज्यसभा मे लाने हेतु राजपुरुषो को एव कुछ विद्वानो को बौद्ध-मठ मे भेजा। पर बौद्ध सघाराम बद मिला।

पुन पुन आग्रह करने पर भी सघाराम के द्वार जब नही खोले गये तो राजपुरुष लौट आये एव इससे महाराज शिलादित्य को अवगत करा दिया। यह जानकर शिलादित्य कुछ क्षरण के लिये विचार मग्न हो गये। उन्हे विचार मग्न देख मुनि मल्ल ने कहा—"राजन्! वस्तुस्थिति तो यह है कि वे बौद्धाचार्य अपनी पराजय के शोक को सहन नही कर सके है और शोकातिरेक वशात् उनका देहात हो गया है।"[1]

यह सुनकर महाराज शिलादित्य राजवैद्य एव अन्य उच्चाधिकारियो के साथ बौद्ध सघाराम गये। महाराज शिलादित्य के पहुचते ही बौद्ध भिक्षुओ ने सघाराम के कपाट खोल दिये। शिलादित्य ने बौद्धाचार्य के कक्ष मे प्रवेश कर देखा कि आचार्य बौद्धानन्द निष्प्राण पडे हुए है। एक वृहदाकार ग्रन्थ उनके दक्षिण-पार्श्व मे खुला पडा है और उनके सिरहाने की ओर तथा दोनो पार्श्वो मे ग्रन्थो का अम्बार लगा है।

महाराज शिलादित्य ने राजवैद्य को उन्हे देखने का आदेश दिया। राजवैद्य ने उनका निरीक्षण व परीक्षण कर निवेदन किया—"महाराज! अत्यधिक चिन्ता एव शोक के कारण ये अपनी इहलीला समाप्त कर चुके है।" महाराज शिलादित्य

---

[1] मल्लवादिनि जल्पाके, नयचक्रवलोल्वणे।
हृदये हारयामास षण्मासाते स शाक्यराट् ॥४८॥
षण्मासातनिशाया स, ख निशातमुपेयिवान्।
तर्कपुस्तकमाकृष्य, कोशात्किचिदवाचयत् ॥४९॥
चिन्ताचक्रहृते चित्ते, नार्थास्तान्घतुं मीश्वर।
बौद्ध स चिन्तयामास, प्रातस्तेजोवधो मम ॥५०॥
श्वेताम्बरस्फुलिंगस्य किंचिदन्यदहो महा।
निर्वासयिष्यते ऽमी, हा! बौद्धा साम्राज्यशालिन ॥५१॥
इति दु खौघसघट्टाद्विदद्रे तस्य हृत्क्षणात्।
नृपाह्वान समायात, प्रातस्तस्य द्रुतम् द्रुतम् ॥५३॥
नोद्घाटयन्ति तच्छिष्या, गृहद्वार वराकका।
मन्दो गुरुनाद्यभूपसभामेतेति भाषिण ॥५४॥
तद्गत्वा तत्र तैरुक्त, श्रुत्वा तन्मल्ल उल्लसन्।
अवोचच्च शिलादित्य मृतोऽसौ शाक्यराट् शुचा ॥५५॥

राज्यसभा मे लौट गये । उन्होने विजयी मल्लवादी महामुनि को अपना गुरु वनाया और बौद्ध भिक्षुओ को शास्त्रार्थ की शर्त की अनुपूर्ति मे वल्लभी राज्य से निर्वासित करने का आदेश दिया । उसी समय महाराज शिलादित्य ने वल्लभी राज्य मे जैन साधु-साध्वियो के यथेष्ठ विहार की छूट देते हुए अपने अमात्यो को आदेश दिया कि वे अन्य राज्यो मे विचरण करने वाले जैन साधुओ से वल्लभी राज्य मे विचरण करने के लिये प्रार्थना करे । शत्रुन्जय तीर्थ भी पुन जैन सघ के अधिकार मे दे दिया गया ।[1]

इस तरह महान् प्रभावक महावादी मल्लमुनि के प्रयत्नो से पुन जैन साधु-साध्वीगण वल्लभी राज्य मे यथेच्छ सर्वत्र विचरण कर धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे ।

आचार्य मल्लवादी के आचार्यकाल मे जैनधर्म की उल्लेखनीय प्रगति हुई । वल्लभी राज्य मे लुप्तप्राय जैनसघ को उन्होने पुनर्जीवित किया । इस धर्मप्रभावना का पूरा श्रेय मल्लवादी को ही प्राप्त हुआ क्योकि उन्ही के अप्रतिम वाद कौशल, तपस्या एव त्याग से वल्लभी राज्य मे जैनसघ को अपना खोया हुआ स्थान प्राप्त करने के साथ ही साथ अपनी प्रतिष्ठा को पुन प्रतिष्ठापित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ ।

कालनिर्णायक ऐतिहासिक प्रमाण

आचार्य मल्लवादी विक्रम की छठी शताब्दी के एक महान् प्रभावक आचार्य थे, एतद्विषयक ऐतिहासिक प्रमाण जैन वाग्मय मे उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है :—

महाराजा शिलादित्य के राज्यकाल मे वल्लभी नगरी मे काकू नामक एक वैश्य रहता था । अपने प्रारम्भिक जीवन मे वह बडा ही दीन, हीन एव निर्धन था अत जनसाधारण मे वह रक नाम से प्रसिद्ध हो गया । सयोगवशात् कालान्तर मे वह अपरिमित धन-सम्पत्ति का स्वामी बन गया और वह वल्लभी राज्य का सबसे

---

[1] स्वय गत्वा शिलादित्यस्त तथास्थमलोकत ।
बौद्धान्प्रावासयद्देशाधिक् प्रतिष्ठाच्युत नरम् ॥५६॥
मल्लवादिनमाचार्य, कृत्वा वागीश्वरम् गुरुम् ।
विदेशेभ्यो जैनमुनीन् सर्वानाजूहवन्नृप ॥५७॥
शत्रुञ्जये जिनाधीश भवपञ्जरभञ्जनम् ।
कृत्वा श्वेताम्बरायत्त, यात्रां प्रावर्तयन्नृप ॥५८॥

(प्रबन्धकोश, पृष्ठ २३)

बडा श्रीमन्त समझा जाने लगा । पर था वह अत्यन्त कृपण । न तो वह अच्छा खाता था, न अच्छा पहनता ही था । यही कारण था कि सर्वाधिक सम्पत्ति-शाली हो जाने पर भी लोग उसे उसके पूर्व के रक नाम से ही पुकारते थे । उस रक श्रेष्ठि की इकलौती पुत्री की मैत्री शिलादित्य को राजपुत्री से हो गई । वे परस्पर एक दूसरी के यहा आती जाती और हास्य-विनोद करती रहती । राजपुत्री ने एक दिन रकपुत्री के पास एक अनूठी कघी देखी । कघी स्वर्णनिर्मित, रत्नजटित तथा इतनी अधिक सुन्दर थी कि वह राजकुमारी के चित्त पर चढ गई । राजपुत्री ने रकपुत्री की उस कघी की भूरि-भूरि सराहना करते हुए कहा—"सखि ! यह कघी मुझे बहुत अच्छी लगी है । यह कघी मुझे दे दो ।"

रकपुत्री ने उत्तर दिया—"यह कघी मुझे अधिक प्रिय है, इसे तो मै नही दूगी ।"

राजकुमारी ने मचलते हुए कहा—"नही, मै तो यही कघी लूगी । जिस कलाकार ने इसे बनाया है, उससे तुम और बनवा लेना ।"

"यह कघी तो मै नही दूगी । आप राजपुत्री है, महाराज को कह कर आप इससे भी अच्छी बनवा सकती है, वल्लभी राज्य मे एक से एक उच्चकोटि के कला-कार इसके बनाने वाले हैं ।" रकपुत्री ने उत्तर दिया ।

राजकुमारी ने आदेशात्मक स्वर मे कहा—"देखो सखि ! अब भी समय है । इसी समय यदि यह कघी तुम मुझे देती हो तो मै तुम्हे इसके बदले मुहमागा मूल्य देने को समुद्यत हू । पर यदि तुम अपने हठ पर अडी रही तो मुझे भी हठाग्रह करना पडेगा । मैंने यदि हठ कर लिया तो तुम्हे इस कघी से तो हाथ धोना ही पडेगा, बदले मे तुम्हे एक फूटी कौडी भी प्राप्त नही होगी ।"

रकपुत्री ने कहा—"यदि बाड ही खेत को खाने लगेगी तो देश चौपट हो जायगा । मैने आपके साथ मैत्री की, यह मेरी अपने जीवन की सबसे बडी भूल थी । नीति मे कहा गया है —

नदीना शस्त्रपाणीना, नखीना शृगिणा तथा ।
विश्वासो नैव कर्त्तव्यो स्त्रीषु राजकुलेषु च ।।

मैने इस नीतिवाक्य की अवहेलना कर बडी भारी भूल की । मै अपनी इस भूल का दण्ड भोगने के लिये सहर्ष समुद्यत हू । आप भी सुन लीजिए—"यह कघी मेरी अपनी है, इस पर मेरा न्यायसगत स्वामित्व है । यह कघी मैं स्वेच्छा से किसी को नही दूगी । चाहे इसका कुछ भी परिणाम मुझे क्यो न भुगतना पडे ।'

"यह तो समय ही बतायेगा कि किसका हठ सफल सिद्ध होता है।" यह कहती हुई राजकुमारी क्रुद्ध होकर अपने राजप्रासाद की ओर लौट गई।

राजपुत्री ने अपनी माता के पास जाकर रकपुत्री के पास देखी गई कघी को येन केन प्रकारेण मगवाने का हठ किया। माता ने बहुत समझाया, कहा—"बेटी! तुझे मैं दूसरी कघी बनवा दू गी, एक नही सौ, उस कघी से भी उत्कृष्ट कोटि की। दूसरे की वस्तु पर हाथ डालना हमारे राजधर्म के विपरीत है। वह कघी उस श्रेष्ठिपुत्री की है। वह अपनी वस्तु किसी को दे अथवा नही दे, यह उसी की इच्छा पर निर्भर करता है। इस प्रकार का अन्यायपूर्ण हठ एक राजपुत्री को शोभा नही देता।"

पर राजपुत्री ने अपना हठ नही छोडा और वह हठात् अपनी माता के समक्ष यह प्रतिज्ञा कर बैठी—वह की वह कघी जब तक मेरे हाथ मे नही आ जाएगी, मै अन्न-जल ग्रहण नही करू गी।"

बात महाराजा शिलादित्य के पास पहुची। शिलादित्य ने भी अन्त पुर मे पहुच कर अपनी पुत्री को समझाने मे किसी प्रकार की कोरकसर नही रखी। व्यापारियो को बुलवा कर बहुमूल्य हीरो और मणियो से जटित सोने की कघियो का ढेर राजपुत्री के समक्ष लगवा दिया। पर राजकुमारी अपने हठ से टस से मस तक नही हुई और बोली—"मै तो उसी कघी को लेकर अन्न-जल ग्रहण करू गी, अन्यथा निर्जल और निराहार रहकर प्राणो का परित्याग कर दू गी।"

पुत्री के हठ के आगे शिलादित्य का पितृहृदय पिघल गया। उसने प्रधानामात्य को आदेश दिया कि वह रकश्रेष्ठि से उसके मुहमागे मूल्य पर वह कघी प्राप्त करे। प्रधानामात्य ने रकश्रेष्ठि के पास जाकर कघी प्राप्त करने के सभी प्रकार के प्रयास किये किन्तु रकश्रेष्ठि की पुत्री के हठ के समक्ष उसके सभी प्रयास विफल रहे, शाम, दाम, और भेद इन सभी प्रकार के उपायो के निष्फल होने पर प्रधानामात्य ने शिलादित्य की मौन सम्मति से दण्ड का सम्बल ग्रहण किया और वल प्रयोग से वह कघी प्राप्त कर राजकुमारी को दे दी गई।

राजकुमारी ने तो कघी प्राप्त होते ही अपने हठ की पूर्ति हो जाने के कारण अन्न-जल ग्रहण कर लिया किन्तु रकश्रेष्ठि और उसकी पुत्री के हृदय पर इस अन्यायपूर्ण घटना से गहरा आघात पहुचा। अपने अर्थबल पर रकश्रेष्ठि ने राजा द्वारा किये गये इस अत्याचार का प्रतिशोध लेने की ठानी।

बडा श्रीमन्त समझा जाने लगा । पर था वह अत्यन्त कृपण । न तो वह अच्छा खाता था, न अच्छा पहनता ही था । यही कारण था कि सर्वाधिक सम्पत्ति-शाली हो जाने पर भी लोग उसे उसके पूर्व के रक नाम से ही पुकारते थे । उस रक श्रेष्ठि की इकलौती पुत्री की मैत्री शिलादित्य की राजपुत्री से हो गई । वे परस्पर एक दूसरी के यहा आती जाती और हास्य-विनोद करती रहती । राजपुत्री ने एक दिन रकपुत्री के पास एक अनूठी कघी देखी । कघी स्वर्णनिर्मित, रत्नजटित तथा इतनी अधिक सुन्दर थी कि वह राजकुमारी के चित्त पर चढ गई । राजपुत्री ने रकपुत्री की उस कघी की भूरि-भूरि सराहना करते हुए कहा—"सखि ! यह कघी मुझे बहुत अच्छी लगी है । यह कघी मुझे दे दो ।"

रकपुत्री ने उत्तर दिया—"यह कघी मुझे अधिक प्रिय है, इसे तो मै नही दूगी ।"

राजकुमारी ने मचलते हुए कहा—"नही, मै तो यही कघी लूगी । जिस कलाकार ने इसे बनाया है, उससे तुम और बनवा लेना ।"

"यह कघी तो मैं नही दूगी । आप राजपुत्री हैं, महाराज को कह कर आप इससे भी अच्छी बनवा सकती है, वल्लभी राज्य मे एक से एक उच्चकोटि के कला-कार इसके बनाने वाले है ।" रकपुत्री ने उत्तर दिया ।

राजकुमारी ने आदेशात्मक स्वर मे कहा—"देखो सखि ! अब भी समय है । इसी समय यदि यह कघी तुम मुझे देती हो तो मै तुम्हे इसके बदले मुहमागा मूल्य देने को समुद्यत हू । पर यदि तुम अपने हठ पर अडी रही तो मुझे भी हठाग्रह करना पडेगा । मैंने यदि हठ कर लिया तो तुम्हे इस कघी से तो हाथ धोना ही पडेगा, बदले मे तुम्हे एक फूटी कौडी भी प्राप्त नही होगी ।"

रकपुत्री ने कहा—"यदि बाड ही खेत को खाने लगेगी तो देश चौपट हो जायगा । मैने आपके साथ मैत्री की, यह मेरी अपने जीवन की सबसे बडी भूल थी । नीति मे कहा गया है —

नदीना शस्त्रपाणीना, नखीना शृ गिणा तथा ।
विश्वासो नैव कर्त्तव्यो स्त्रीषु राजकुलेषु च ।।

मैंने इस नीतिवाक्य की अवहेलना कर बडी भारी भूल की । मै अपनी इस भूल का दण्ड भोगने के लिये सहर्ष समुद्यत हू । आप भी सुन लीजिए—"यह कघी मेरी अपनी है, इस पर मेरा न्यायसगत स्वामित्व है । यह कघी मैं स्वेच्छा से किसी को नही दूगी । चाहे इसका कुछ भी परिणाम मुझे क्यो न भुगतना पडे ।"

"यह तो समय ही बतायेगा कि किसका हठ सफल सिद्ध होता है।" यह कहती हुई राजकुमारी क्रुद्ध होकर अपने राजप्रासाद की ओर लौट गई।

राजपुत्री ने अपनी माता के पास जाकर एकपुत्री के पास देखी गई कघी को येन केन प्रकारेण मगवाने का हठ किया। माता ने बहुत समझाया, कहा—"बेटी! तुझे मैं दूसरी कघी बनवा दूगी, एक नही सौ, उस कघी से भी उत्कृष्ट कोटि की। दूसरे की वस्तु पर हाथ डालना हमारे राजधर्म के विपरीत है। वह कघी उस श्रेष्ठिपुत्री की है। वह अपनी वस्तु किसी को दे अथवा नही दे, यह उसी की इच्छा पर निर्भर करता है। इस प्रकार का अन्यायपूर्ण हठ एक राजपुत्री को शोभा नही देता।"

पर राजपुत्री ने अपना हठ नही छोडा और वह हठात् अपनी माता के समक्ष यह प्रतिज्ञा कर बैठी—वह की वह कघी जब तक मेरे हाथ मे नही आ जाएगी, मै अन्न-जल ग्रहण नही करूगी।"

बात महाराजा शिलादित्य के पास पहुची। शिलादित्य ने भी अन्त पुर मे पहुच कर अपनी पुत्री को समझाने मे किसी प्रकार की कोरकसर नही रखी। व्यापारियो को बुलवा कर बहुमूल्य हीरो और मणियो से जटित सोने की कघियो का ढेर राजपुत्री के समक्ष लगवा दिया। पर राजकुमारी अपने हठ से टस से मस तक नही हुई और बोली—"मैं तो उसी कघी को लेकर अन्न-जल ग्रहण करूगी, अन्यथा निर्जल और निराहार रहकर प्राणो का परित्याग कर दूगी।"

पुत्री के हठ के आगे शिलादित्य का पितृहृदय पिघल गया। उसने प्रधानामात्य को आदेश दिया कि वह रकश्रेष्ठि से उसके मुहमागे मूल्य पर वह कघी प्राप्त करे। प्रधानामात्य ने रकश्रेष्ठि के पास जाकर कघी प्राप्त करने के सभी प्रकार के प्रयास किये किन्तु रकश्रेष्ठि की पुत्री के हठ के समक्ष उसके सभी प्रयास विफल रहे, शाम, दाम, और भेद इन सभी प्रकार के उपायो के निष्फल होने पर प्रधानामात्य ने शिलादित्य की मौन सम्मति से दण्ड का सम्बल ग्रहण किया और बल प्रयोग से वह कघी प्राप्त कर राजकुमारी को दे दी गई।

राजकुमारी ने तो कघी प्राप्त होते ही अपने हठ की पूर्ति हो जाने के कारण अन्न-जल ग्रहण कर लिया किन्तु रकश्रेष्ठि और उसकी पुत्री के हृदय पर इस अन्यायपूर्ण घटना से गहरा आघात पहुचा। अपने अर्थबल पर रकश्रेष्ठि ने राजा द्वारा किये गये इस अत्याचार का प्रतिशोध लेने की ठानी।

वल्लभी भग

एक घोर अंधेरी रात मे वह वल्लभी से प्रच्छन्नरूपेण निकला। वह बडी तीव्र गति से चलते-चलते शको के राज्य मे पहुचा। शकराज के समक्ष उपस्थित हो रकश्रेष्ठि ने अनेक अनमोल रत्न शकराज को भेंट किये। विपुल स्वर्णराशि का प्रलोभन दे रकश्रेष्ठि ने शकराज को वल्लभी पर आक्रमण करने के लिये राजी किया। स्वर्ण के लोभ मे आकर शकराज ने अपने सैन्यवल के साथ वल्लभी की ओर प्रयाण किया।

निकट भविष्य मे ही वल्लभी नगरी पर घोर सकट आने वाला है, इस आसन्नसकट का ज्ञानबल से आभास होते ही मल्लवादी ने अपने श्रमण सघ के साथ वल्लभी से विहार कर अन्य राज्यो मे विचरण प्रारम्भ कर दिया।

वल्लभी पहुच कर एक दिन अचानक शकराज ने नगरी पर भयङ्कर आक्रमण कर दिया। इधर रकश्रेष्ठि ने महाराजा शिलादित्य के अनुचरो को स्वर्ण देकर अपने स्वामी के साथ विश्वासघात करने के लिये प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप शिलादित्य एकाकी ही शको के सैन्य से घिर गया और रणक्षेत्र मे शको द्वारा मार दिया गया। शिलादित्य के मारे जाने पर वल्लभी की सेना के पैर उखड गये। शको ने वल्लभी को जी भर कर लूटा और भीषण नरसहार के साथ-साथ वल्लभी को एक प्रकार से नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। वल्लभी भग का जो चित्रण प्रबन्धकोश मे किया गया है, वह इस प्रकार है —

> वचयित्वा कार्पटिक, रक सोऽभून्महाधन ।
> तत्पुत्र्या राजपुत्र्याश्च, सख्यमासीत्परस्परम् ।।६१।।
>
> हैमी ककतिकामेका, दिव्यरत्नविभूषिताम् ।
> रकपुत्रीकरे दृष्ट्वा, याचते स्म नृपात्मजा ।।६२।।
>
> ता न दत्ते पुन रको, राजा त याचते बलात् ।
> तेनैव मत्सरेणासौ म्लेच्छ सैन्यमुपानयत् ।।६३।।
>
> भग्नायुर्वल्लभी तेन, सजातमसमजसम् ।
> शिलादित्य क्षय नीतो, वाणिजा स्फीतऋद्धिना ।।३४।।

उन्ही दिनो वल्लभी की ओर बढते हुए हूणराज तोरमाण के साथ इन शको का युद्ध हुआ। हूणो द्वारा उस शकराज और उसकी सेना का सम्भवत पूर्णरूपेण सहार कर डाला गया। इस तथ्य का सकेत प्रबन्धकोश के निम्नलिखित श्लोक से मिलता है —

ततोऽथाकृष्य वणिजा, प्रक्षिप्ताश्च रणे शका ।
तृष्णया ते स्वय ममुर्हता व्याधिर्महानयम् ॥६५॥

आचार्य मल्लवादी किस शताब्दी के आचार्य थे, उनका बौद्ध आचार्य बौद्धानन्द के साथ किस समय शास्त्रार्थ हुआ और वल्लभी का भग किस सम्वत् मे हुआ, इन सब ऐतिहासिक तथ्यो को अन्धेरे से प्रकाश मे लाने वाला एक श्लोक प्रबन्धकोश मे विद्यमान है, जो इस प्रकार है —

विक्रमादित्यभूपालात्पर्चाषित्रिक वत्सरे ।
जातोऽय वल्लभीभगो, ज्ञानिन प्रथम ययु ॥६६॥

अर्थात् – विक्रम सवत् ५७३ मे वल्लभी का यह पतन अथवा भग हुआ । अपने ज्ञान बल से ज्ञानियो को इस घटना का पूर्वाभास हो गया और वे वल्लभी के इस पतन से पूर्व ही वल्लभी छोडकर अन्यत्र चले गये ।

वस्तुत यह तथ्य विभिन्न ऐतिहासिक तथ्यो से परिपुष्ट है । वल्लभी भग की यह घटना विक्रम स ५७३ तदनुसार वीर नि स १०४३ की है । युगप्रधानाचार्य पट्टावली के अनुसार २६वे युगप्रधानाचार्य हारिल का युगप्रधानाचार्य काल वीर नि स १००० से १०५५ तक माना गया है । 'कुवलयमाला' के उद्धरणो के साथ यह भी पहले बताया जा चुका है कि आचार्य हारिल के युगप्रधानाचार्यकाल के पूर्वार्द्ध मे हूणराज तोरमाण भारतवर्ष की उत्तरी सीमा मे काफी अन्दर तक के भू-भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित कर चुका था और चन्द्रभागा नदी के तटवर्ती पर्वतिका नाम के नगर को अपनी राजधानी बनाकर शासन सचालन कर रहा था । पर्वतिका नगरी मे तोरमाण ने आचार्य हारिल को अपना गुरु बनाया ।

कुवलयमाला के इस उल्लेख से यह तो सिद्ध हो जाता है कि तोरमाण आचार्य हारिल का समकालीन महत्वाकाक्षी विदेशी आक्रान्ता था और उसने वीर निर्वाण की ग्यारहवी शताब्दी के तृतीय दशक के समाप्त होते-होते भारत की उत्तरी सीमा के अधिकाश भूभाग पर अपना आधिपत्य जमा लिया था । इसके पश्चात् भारत विजय की अपनी महत्वाकाक्षा की पूर्ति के लिये वह आगे बढा और कच्छ विजय के पश्चात् उसकी मुठभेड शको से विक्रम स ५७३ तदनुसार वीर नि० स० १०४३ मे हुई और उस युद्ध मे हूणराज तोरमाण ने शकराज और उसकी सेना को हरा कर वल्लभी के राज्य पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया । भारत के प्राचीन इतिहास के पर्यालोचन से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि इतिहासज्ञो के अभिमतानुसार गुजरात, काठियावाड, कच्छ, राजस्थान और उज्जयिनी पर भी हूणराज तोरमाण ने वीर निर्वाण की ११ वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के प्रारम्भ होने से पूर्व ही अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया था ।

इन सब ऐतिहासिक उल्लेखो से निम्नलिखित ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश मे आते है —

(१) वि० स० ५७० (वीर नि० स० १०४०) के आस-पास किसी समय मे वल्लभीपति महाराज शिलादित्य की राजसभा मे मल्लवादी नें बौद्धाचार्य बौद्धानन्द को शास्त्रार्थ मे पराजित किया।

(२) वि० स० ५८३ मे रक श्रेष्ठि ने छद्म रूप से शक आक्रान्ताओ को लाकर शिलादित्य का अन्त एव वल्लभी का पतन करवाया। अपने ज्ञानबल से मल्लवादी को वल्लभी का पतन का पूर्वाभास हो जाने के कारण उन्होने अपने शिष्यो के साथ वल्लभी छोडकर पचासरपुरी की ओर विहार कर दिया।[1]

(३) स्तम्भनक तीर्थ मे उनके गुरु और समस्त सघ ने मल्लवादी को वल्लभी के पतन के पश्चात् आचार्य पद पर अधिष्ठित किया। प्रबन्ध कोष मे आचार्य मल्लवादी को नागेन्द्रगच्छ का आचार्य बताया गया है।[2]

इस प्रकार युगप्रधानाचार्य हारिल के वीर नि० स० १००० से १०५५ तक तक के युगप्रधानाचार्य काल मे आचार्य मल्लवादी विक्रम की छठी तदनुसार वीर निर्वाण की ११वी शताब्दी के महान् प्रभावक आचार्य माने गये हैं। इनका आचार्यकाल वीर नि० स० १०४१ के पश्चात् कितने समय तक रहा, इसका कोई प्रामाणिक उल्लेख उपलब्ध जैनवाग्मय मे दृष्टिगोचर नही होता।

—o—

[1] एतच्च प्रथमं ज्ञात्वा, मल्लवादी महामुनि ।
सहित परिवारेण, पचासरपुरीमगात् ॥६८॥
(प्रबन्धकोष, पृष्ठ २३)

[2] नागेन्द्रगच्छसत्केषु, धर्मस्थानेष्वभूत् प्रभु ।
श्री स्तम्भनकतीर्थेऽपि, सघस्तस्येशतामदात् ॥६९॥
(वही)

भगवान् महावीर के २८वे पट्टधर वीरभद्र तथा २९वे युगप्रधानाचार्य हारिल सूरि के समकालीन प्रमुख ग्रन्थकार

मल्लवादी —जैसा कि पहले बताया जा चुका है आ० वीरभद्र और हारिलसूरि के समय मे उनके समसामयिक महान् तार्किक आचार्य मल्लवादी हुए। आ० मल्लवादी ने नयचक्र नामक दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की। उन्होने सन्मति-तर्क नामक ग्रन्थ की टीका की रचना भी की थी किन्तु वर्तमान मे वह टीका उपलब्ध नही है।

चन्द्रर्षि महत्तर —इन्होने पच सग्रह (सटीक) नामक कर्मग्रन्थ के प्रकरण की रचना की। इससे अधिक इनके बारे से कोई जानकारी उपलब्ध नही है। इनके माता, पिता, गुरु, नगर आदि का कोई उल्लेख नही मिलता।

सघदासगणि वाचक —कथा-साहित्य की प्राचीनतम कृति 'वसुदेवहिंडी' के रचनाकार सघदासगणि वाचक और धर्मसेनगणि का नाम कथासाहित्य के निर्माताओ मे सर्वप्रथम लिया जाता है।

इस ग्रन्थ मे श्री कृष्ण के पिता वसुदेव के भ्रमण का बडी ही प्रभावकारी रुचिकर शैली मे विस्तृत वृतान्त दिया गया है। वसुदेव के भ्रमण (हिण्डन) का वृतान्त दिये जाने के कारण इस ग्रन्थ का नाम "वसुदेव-हिण्डी" रखा गया है।

इसके दो खण्ड हैं। ग्यारह हजार श्लोक प्रमाण २९ लम्भकात्मक प्रथम खण्ड के कर्ता सघदासगणि वाचक है। द्वितीय खण्ड के रचनाकार धर्मसेनगणि ने सत्रह हजार श्लोक प्रमाण ७१ लम्भको मे इस ग्रन्थ के दूसरे खण्ड को पूर्ण किया है।

जिनदासगणि महत्तर ने आवश्यक चूर्णि मे वसुदेव हिण्डी का उल्लेख किया है। नन्दिसूत्र-चूर्णि की प्रशस्ति के उल्लेखानुसार जिनदासगणि महत्तर ने शक स ५९८ तदनुसार वीर नि स १२०३ मे नन्दिचूर्णि की रचना सम्पूर्ण की।

३०वे युगप्रधानाचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अपनी रचना विशेषणवती मे वसुदेव हिण्डी का उल्लेख किया है।

जिनभद्रगणि का समय दुष्पमा समणसघथय के अनुसार वीर नि स १०५५ से १११५ तक (६० वर्ष) का माना गया है। इससे यह अनुमान किया जाता है

कि वसुदेव हिण्डी के रचनाकार सघदासगरिण और धर्मसेनगरिण २६वे युगप्रधानाचार्य हारिल्लसूरि के समकालीन आचार्य थे ।

वसुदेव हिडी न केवल कथा साहित्य की दृष्टि से अपितु धार्मिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, व्यावसायिक, सामाजिक, नैतिक, सास्कृतिक आदि सभी दृष्टियो से बडा उपयोगी ग्रन्थ है ।

कथाओ के माध्यम से इसमे स्थान-स्थान पर धर्म और नीति का बडा ही हृदयस्पर्शी वर्णन किया गया है । हरिवश, इक्ष्वाकुवश के प्रमुख महापुरुषो के जीवनवृत्त के साथ-साथ इस ग्रन्थ मे अनेक अन्तर्कथाए भी दी गई है, जो बडी ही रोचक है ।

वेदो की उत्पत्ति और विदेशो के साथ भारत के व्यापार का भी इसमे वर्णन किया गया है । प्रमुख रूपेण इस गद्यात्मक ग्रन्थ मे सभी चित्रण बडे सजीव, सहज-स्वाभाविक, सम्मोहक एव सभी रसो से ओत-प्रोत है । घटनाओ के चित्रण तो ऐसे लोमहर्षक है कि उनको पढते समय रोमावलि बारम्बार अनजाने मे ही अचित हो उठती है ।

वसुदेव हिण्डी को पढने से पाठक पर स्पष्ट रूप से यह छाप अकित होती है कि वस्तुत सघदास और धर्मसेन दोनो गरिणवर वज्रलेखनी के धनी थे और वे सभी विषयो के पारदृश्वा प्रकाण्ड पण्डित थे ।

"सह नौ वीर्य करवावहे"—इस आप्त-वचन की अक्षरश पालना करते हुए इन दोनो गरिणयो ने सयुक्तरूपेण पचकल्पभाष्य की रचना की ।

भाष्य युग

वर्तमान मे उपलब्ध भाष्यो के पर्यालोचन के पश्चात् सघदास क्षमाश्रमण और धर्मसेन गणि को भाष्ययुग का प्रवर्तक कहा जा सकता है ।

आगमेतर जैन वाग्मय एव जैन धर्म के इतिहास के गवेषणात्मक अध्ययन से एक और तथ्य प्रकाश मे आया है कि अन्तिम एक पूर्वधर आचार्य देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल वीर नि स १००० तक चतुर्विध जैनसघ मे केवल आगमिक विधि-विधान ही सर्वोपरि और सर्वमान्य रहे । यही स्थिति कुछ न्यूनाधिक परिमाण मे युगप्रधानाचार्य हारिल के प्रारम्भिक युगप्रधानाचार्य काल मे भी रही ।

किन्तु आचार्य हारिल के युगप्रधानाचार्य काल के लगभग दो दशक व्यतीत होने के अनन्तर उस स्थिति मे परिवर्तन होना प्रारम्भ हुआ । श्रावकाचार और

श्रमणाचार मे शनै -शनै शैथिल्य घर करने लगा। श्रमणो के बहुसख्यक वर्ग मे उत्तरोत्तर अधिकाधिक व्यापक होते जा रहे शैथिल्य की पुष्टि हेतु आगमो की विशद् व्याख्या के नाम पर नव्य नूतन आगमिक व्याख्या ग्रन्थो का भाष्य आदि के रूप मे प्रणयन प्रारम्भ किया गया। उन आगमिक ग्रन्थो मे अपवाद मार्ग के नाम पर शैथिल्य के प्रतीक ऐसे-ऐसे नये-नये विधि-विधानो का समावेश किया गया, जिनका मूल आगमो मे कही कोई उल्लेख की बात तो दूर, सकेत तक नही था।

हारिल सूरि के युगप्रधानाचार्य काल का अन्तिम चरण वस्तुत चैत्यवासियो के उत्कर्ष का समय था। चैत्यवासियो ने जनमन को आकर्षित करने के लिये अध्यात्मप्रधान जैनधर्म के मूल स्वरूप मे धर्म के नाम पर बाह्याडम्बरपूर्ण कर्म-काण्डो, नये-नये आकर्षक विधि-विधानो को प्रधानता देकर जैन धर्म के मूल स्वरूप को ही बदल दिया। यदि यह कहा जाय कि चैत्यवासियो ने जैन धर्म के मूल आध्यात्मिक स्वरूप को विकृत कर दिया तो अतिशयोक्ति नही होगी। अपने शिथिलाचार को समयोचित सिद्ध करने एव अपनी अकर्मण्यता को लोकदृष्टि से छुपाने के अभिप्राय से चैत्यवासियो द्वारा आविष्कृत नये-नये आडम्बरपूर्ण विधि-विधानो ने न केवल जनमत को ही अपनी ओर आकर्षित किया अपितु आगमानु-सारी कठोर मूल श्रमणाचार की परिपालना से कतराने वाले श्रमण-श्रमणीवर्ग को भी पर्याप्त रूप मे प्रभावित किया। इसका दुष्परिणाम यह हुआ कि कठोर श्रमणाचार की परिपालना मे क्रियाभीरु साधारण वर्ग के अधिकाश श्रमणो एव श्रमणियो ने अपना शेष जीवन सुखपूर्वक बिताने के लिये उस समय उत्तरोत्तर लोकप्रिय बनते जा रहे चैत्यवास का आश्रय लिया।

जो श्रमण ओजस्वी, मेधावी, विद्वान् एव वाग्मी थे, उन्होने चैत्यवासियो के उत्तरोत्तर बढते हुए प्रभाव से अपनी-अपनी आचार्य परम्परा की रक्षा के लिये, चैत्यवासियो की ओर उमडे हुए जनमानस को अपनी परम्परा मे ही स्थिर एव निष्ठावान् बनाये रखने के लिये चैत्यवासियो द्वारा आविष्कृत आकर्षक विधि-विधानो को थोडा नवीन रूप देकर अपना लिया। चैत्यवासियो के कतिपय कार्य-कलापो एव आडम्बरपूर्ण विधि-विधानो को पर्याप्त निखरे रूप मे अपनाकर उन विद्वान् वाग्मी श्रमणो एव आचार्यो ने भी आगमिक व्याख्यापरक भाष्यो आदि का निर्माण किया।

इस प्रकार के भाष्यो के अभिनव निर्माण के परिणामस्वरूप उन विद्वान् श्रमणो की परम्पराए, चैत्यवासियो के उत्तरोत्तर बढते हुए प्रभाव के उपरान्त भी कतिपय पीढियो तक विभिन्न इकाइयो के रूप मे न्यूनाधिक प्रभावशील भी रही और इस प्रकार उन्होने येन केन प्रकारेण अपना अस्तित्व बनाये रखा। जहा तक आगमो के अति गहन, गम्भीर एव पारिभाषिक विषय को समझने तथा हृदयगम करने का प्रश्न है, निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य और टीका साहित्य बडा ही

उपयोगी सिद्ध हुआ है। यह तो एक निर्विवाद तथ्य है। किन्तु इसमे मूल आगमो से भिन्न अनेक मान्यताओ को कई स्थलो पर समाविष्ट कर लिया गया, जिनके कारण जैन धर्म का मूल स्वरूप ही परिवर्तित हुआ दृष्टिगोचर होता है।

इस प्रकार हारिल सूरि के युगप्रधानाचार्य काल के उत्तरार्द्ध मे मूल आगमो के स्थान पर जिस भाष्य-निर्युक्ति-चूर्णि युग का प्रादुर्भाव हुआ, उसका प्रभाव उत्तरोत्तर बढता ही गया। आगमो मे प्रतिपादित मूल विधि-विधानो के सर्वोपरि सर्वमान्य स्थान को निर्युक्तियो, चूर्णियो अथवा भाष्यो ने ले लिया और इसके परिणामस्वरूप धर्म के मूल स्वरूप मे ही बहुत बडा परिवर्तन आ गया।

इतना सब कुछ होते हुए भी आगमानुसारी विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले जैन धर्म के मूल स्वरूप के पक्षपाती श्रमणो का वर्ग चाहे क्षीण रूप मे ही सही पर अस्तित्व मे अवश्य रहा।

भाष्य-निर्युक्ति-चूर्णि-वृत्ति आदि की प्राधान्यता के जिस युग का आरम्भ सर्व प्रथम आचार्य हारिल के युगप्रधानाचार्य काल के उत्तरार्द्ध मे हुआ, उस युग का वर्चस्व उत्तरोत्तर उत्तरवर्त्ती काल मे बढता ही गया। अन्ततोगत्वा लगभग वीर निर्वाण की बारहवी शताब्दी के प्रारम्भकाल मे ही श्रमणाचार, श्रावकाचार, एव सभी प्रकार के धार्मिक कार्यकलापो से सम्बन्धित सभी विवादास्पद विषयो के निर्णय के लिए आगमो के स्थान पर भाष्यो, वृत्तियो तथा चूर्णियो को जैनसघ का बहुत बडा भाग धार्मिक सविधान के रूप मे मानने लगा। यह स्थिति शताब्दियो तक जैनसघ मे बहुजनसम्मत रही। मूल आगमो की भावना के प्रतिकूल नवनिर्मित भाष्य आदि आगम साहित्य मे समाविष्ट किये जाते रहे अनेकानेक प्रावधानो के परिणाम-स्वरूप श्रमणाचार मे व्यापक शैथिल्य के प्रसार के साथ-साथ धर्म के आगमिक मूल स्वरूप मे भी अधिकाशत परिवर्तन लाने का पूरा प्रयास किया गया।

इतना सब कुछ होते हुए भी आगमानुसारी विशुद्ध श्रमणाचार के पक्षधर भवभीरू आत्मार्थी श्रमणो ने अल्पसख्यक रह जाने पर भी धर्म को आडम्बरपूर्ण भौतिक परिधान पहनाने के लक्ष्य से नवनिर्मित सभी मूलागमप्रतिपन्थी प्रावधानो एव शिथिलाचार का बडे साहस के साथ डटकर विरोध किया। आगम प्रतिपादित विशुद्ध श्रमणाचार के पक्षपाती उन साहसी श्रमणोत्तमो द्वारा उस प्रकार की सक्रा-मक स्थिति के विरुद्ध प्रकट किये गये विरोध के प्रसग आज भी जैन वाग्मय मे यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते हैं। उस प्रकार के विरोधो का यहा उल्लेख करना प्रासगिक एव आवश्यक है, अत उनमे से कतिपय प्रमुख विरोधो का उल्लेख यहा किया जा रहा है —

१ पहला सर्वाधिक महत्वपूर्ण उल्लेख खरतर गच्छ वृहद् गुर्वावलि का है, जो इस प्रकार है :—

"ततो मुख्य सूराचार्येणोक्तम्—"ये वसतौ वसन्ति मुनयस्ते षड्-दर्शनबाह्या प्रायेण। षड्दर्शनानीह क्षपणकजटिप्रभृतीनि"—इत्यर्थ-निर्णयाय नूतनवादस्थलपुस्तिका वाचानार्थ गृहीता करे। तस्मिन् प्रस्तावे—भाविनि भूतवदुपचार -इति न्यायात् श्रीजिनेश्वरसूरिणा भणितम्—"श्री दुर्लभ महाराज! युष्माक लोके कि पूर्वपुरुषविहिता नीति प्रवर्तते अथवा आधुनिक पुरुषदर्शिता नूतना नीति ?"

ततो राज्ञा भणितम्—"अस्माक देशे पूर्वजवर्णिता राजनीति प्रवर्तते नान्या।"

ततो जिनेश्वरसूरिभिरुक्तम्—"महाराज! अस्माक मतेऽपि यद्गणधरैश्चतुर्दशपूर्वधरैश्च यो दर्शितो मार्ग स एव प्रमाणीकर्तु युज्यते नान्य।"

"ततो राज्ञोक्तम्—"युक्तमेव।"

ततो जिनेश्वरसूरिभिरुक्तम्—"महाराज वय दूरदेशादागता, पूर्वपुरुषविरचित स्व सिद्धान्तपुस्तकवृन्द नानीतम्। एतेषा मठेभ्यो महाराज! यूयमानयत पूर्वपुरुषविरचितसिद्धान्तपुस्तकगण्डलक येन मार्गामार्गनिश्चय कुर्म।"

ततो राज्ञा स्वपुरुषा प्रेषिता—शीघ्र सिद्धान्त पुस्तकगण्डलक-मानमत। शीघ्रमानीतम्। आनीतमात्रमेव छोटितम्। तत्र देवगुरु-प्रसादात् दशवैकालिक चतुर्दशपूर्वधरविरचित निर्गतम्। तस्मिन् प्रथममेवेय गाथा निर्गता —

अन्नट्ठ पगड लेण, भइज्ज सयणासण।
उच्चारभूमिसपन्न, इत्थीपसुविवज्जिय॥

एव विधाया वसतौ वसन्ति साधवो न देवगृहे।
राज्ञा भावित "युक्तमुक्तम्।"
सर्वेऽधिकारिणो विदन्ति निरुत्तरीभूता अस्माक गुरव।[1]

जिस समय शिथिलाचार की पोषक एव धर्म के मूल स्वरूप को नितान्त विकृत कर देने वाली चैत्यवासी परम्परा का भारत मे चारो ओर बोलबाला था, और जिस समय विशुद्ध आगमानुसारी श्रमणाचार एव श्रावकाचार के प्रति निष्ठा

---

[1] (क) खरतरगच्छ बृहद्गुर्वावलि (सिंघी जैन शास्त्र विद्यापीठ, भारतीय विद्या भवन, बम्बई) पृ० ३–४

(ख) प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ९२ व ९३ भी देखें।

रखने वाला साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविकावर्ग उत्तरोत्तर क्षीण होते-होते नितान्त नगण्य सख्या मे अवशिष्ट रह गया था, उस समय वि स १०८० मे महाराज दुर्लभ-राज की राज्यसभा मे जिनेश्वरसूरि ने आगमेतर साहित्य को जैनधर्मावलम्बियो के लिए अमान्य घोषित करते हुए स्पष्ट शब्दो मे कहा कि सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग तीर्थंकर प्रभु की वाणी को गणधरो ने आगमो के रूप मे ग्रथित किया है और उन आगमो से चतुर्दश पूर्वधरो ने शिष्यो अथवा भव्यजनो के हित के लिये सार रूप मे अर्थ निर्यूढ कर जिन आगमो का प्रणयन किया है, केवल वे आगम ही जैनधर्माव-लम्बियो के लिए प्रामाणिक रूप से मान्य है। आगमो के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ सर्वथा प्रामाणिक नही।

२ चैत्यवासियो के चहुमुखी बढते हुए प्रभाव के कारण जिस समय यत्र-तत्र जिनगृहो-जिनमन्दिरो के निर्माण का सर्वव्यापी प्रचार-प्रसार बढने लगा, उस समय भी उसके विरोध मे आगमो को सर्वोपरि प्रामाणिक मानने वाले आत्मार्थियो ने स्पष्ट एव ठोस शब्दो मे अपना अभिमत जैनसघ के समक्ष रखा —

गड्डरि-पवाहओ जो, पइ नयर दीसए बहुजणेहि।
जिणगिह कारवणाई, सुत्तविरुद्धो असुद्धो य ।।६।।
सो होइ दव्वधम्मो, अपहाणो नेव निव्वुइ जणइ।
सुद्धो धम्मो बीओ, महिओ पडिसोयगामीहिं ।।७।।
पढम गुणठाणे जे जीवा, चिट्ठति तेसि सो पढमो।
होइ इह दव्वधम्मो, अविसुद्धो बीयनायेण ।।१०।।
अविरइ गुणठाणाइसु, जे य ठिया तेसि भावओ बीओ।
तेण जुया ते जीवा, हुति सबीया अओ सुद्धो ।।११।।[1]

अर्थात्—आज जो भेडचाल के समान प्रत्येक नगर मे बहुत से लोगो द्वारा जिनगृहो (जिनमन्दिरो) के निर्माण करवाने आदि का कार्य किया जा रहा है, वह सूत्रविरुद्ध एव अशुद्ध है। वस्तुत वह तो केवल अप्रधान द्रव्यधर्म है, जो निर्वृत्ति का जनक अर्थात् मोक्षदायक नही है। शुद्ध धर्म तो वस्तुत इससे भिन्न दूसरा ही है, जो प्रतिश्रोतगामियो अर्थात् भौतिक-प्रवाह के प्रतिकूल आध्यात्मिक पथ पर अग्रसर होने वाले महापुरुषो-तीर्थंकरो द्वारा प्रशसित-पूजित अथवा आचरित है। प्रथम गुणस्थान (मिथ्यादृष्टि गुणस्थान) मे जो जीव सस्थित है, उनके लिये यह प्रथम द्रव्यधर्म है, जो बीज न्याय-मूल न्याय अथवा बोधि (सम्यक्त्व) बीज के अभाव की दृष्टि से अविशुद्ध है। जो जीव अविरत (चौथे) गुणस्थान आदि मे स्थित हैं, उनके

[1] (क) देखिये सन्दोह दोहावली।
(ख) प्रस्तुत ग्रन्थ का पृष्ठ १७ भी देखें।

लिए वस्तुत भावधर्म नामक वह दूसरा धर्म ही शुद्ध धर्म है, जो कि प्रतिश्रोतगामी तीर्थंकरो द्वारा सेवित है। क्योकि उससे युक्त जीव सबीज-बोधिबीज-सम्यक्त्व सहित होते है, अत वह दूसरा भावधर्म—आध्यात्मिक धर्म ही वस्तुत शुद्ध धर्म है—प्रशस्त धर्म है।

चैत्यवासियो के उत्कर्षकाल मे धर्म के नाम पर बढते हुए बाह्याडम्बर, चारो ओर प्रसृत होती हुई द्रव्यपूजा, और लोकप्रिय बनते जा रहे द्रव्यधर्म के विरुद्ध इन पक्तियो मे प्रबल विरोध प्रकट करते हुए मूल विशुद्ध जैन धर्म का, तीर्थंकरो द्वारा आचरित विशुद्ध श्रमणाचार और श्रमणोपासक परम्परा के वास्तविक स्वरूप का कैसा नितरा अतीव सहज-सुन्दर चित्रण किया गया है। यहा भौतिकता एव आडम्बर के लिए कोई किंचित्मात्र भी स्थान नही, सब कुछ आध्यात्मिक ही आध्यात्मिक है। आगमो मे जैन धर्म के जिस चिरन्तन शाश्वत सत्य स्वरूप का भव्य चित्र प्रस्तुत किया गया है, उसी के अनुरूप इन पक्तियो मे साररूप मे दिग्दर्शन कराया गया है।

आचार्य हारिलसूरि के युगप्रधानाचार्यकाल के उत्तरार्द्ध मे ज्यो-ज्यो चैत्यवासियो का प्रचार, प्रसार, प्रभाव और प्राबल्य बढता गया और उनके द्वारा धर्म के नाम पर गढे गये बाह्याडम्बरपूर्ण नित्य नवीन विधि-विधान—तीर्थयात्रा, जिनमन्दिर निर्माण, जिनमन्दिरो मे मूर्तियो की प्रतिष्ठा, धूमधाम एव आडम्बरपूर्ण ठाटबाट के साथ बलिनेवैद्यनिवेदन, पूजन, अर्चन, प्रभावना, उद्यापन आदि लोकप्रिय होते गये त्यो-त्यो जैनसघ के अन्यान्य विभिन्न गण, गच्छ एव आम्नाय भी उन आकर्षक बाह्याडम्बरो को अपनी-अपनी कल्पना शक्ति के अनुरूप भाष्य, वृत्ति आदि के निर्माण के माध्यम से नया रूप देकर अपनाने लगे।

इस प्रकार उन आडम्बरपूर्ण आयोजनो को अधिकाधिक आकर्षक बनाने की प्राय समस्त जैनसघ मे होड-सी लग गई। इस सब का परिणाम यह हुआ कि धर्म का वास्तविक पुरातन स्वरूप धूमिल हो गया, नूतन मान्यताओ एव परम्पराओ के प्रबल प्रवाह मे धर्म का मूल स्वरूप, धर्म की आध्यात्मपरक मूल मान्यताएँ तिरोहित सी प्रतीत होने लगी। आध्यात्मिकता के स्थान पर प्रभावना, प्रतिष्ठा और तीर्थयात्रा मे ही धर्म की इतिश्री रह गई।

उस प्रकार के सक्रातिकाल मे धर्म के आगमानुसारी मूल की धारा पर्याप्तरूपेण क्षीण तो अवश्य हुई किन्तु अपनी मथर गति से प्रवाहित होती रही, इसके प्रमाण प्राचीन जैन वाग्मय मे उपलब्ध होते है।

भाष्य-चूर्णि-वृत्ति साहित्य के उत्तरोत्तर अधिकाधिक लोकप्रिय हो जाने के उपरात भी धर्म के मूल आध्यात्मिक स्वरूप के प्रति आस्थावान् एव विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करने वाले श्रमणवर्ग द्वारा शिथिलाचार का, भाष्य-चूर्णि-वृत्ति

आदि साहित्य का एव उनके माध्यम से प्रचलित की गई बाह्याडम्बरपूर्ण मान्यताओ का विरोध शताब्दियो तक किया जाता रहा, इसके प्रमाण खोजने पर उत्तरकालीन साहित्य मे भी उपलब्ध हो जाते है ।

खरतरगच्छीय आचार्य जिनपतिसूरि, जिनका कि आचार्यकाल वि० स० १२२३ से १२७७ तक का माना गया है, एक समय विशाल सघ के साथ तीर्थयात्रा करने के लिये प्रस्थित हुए । अनेक स्थानो मे भ्रमण करता हुआ सघ जब आगे की ओर बढ रहा था, उस समय एक स्थान पर पूर्णिमा गच्छ के आचार्य श्री अकलकदेवसूरि उस सघ मे आचार्य जिनपतिसूरि से मिलने के लिए उपस्थित हुए ।

वार्तालाप के प्रसग मे उन्होने जिनपतिसूरि से प्रश्न किया —

"   भवत्विदमेव, पर सघेन सह यात्रा क्वापि सिद्धाते साधूना विधेयतया भणितास्ति, यदेव यूय प्रस्थिता ?"   आचार्यमिश्रा ! व्रतिना सता सघेन सह तीर्थयात्राया न गन्तव्यमित्यादीनि निषेध वाक्यानि सिद्धाते किं वा वय दर्शयाम , कि वा यूय विधायकाक्षराणि दर्शयथ ।"

विक्रम की तेरहवी शताब्दी मे, गुजरात मे तीर्थयात्रा का विरोध करने वाले, तीर्थयात्रा को अशास्त्रीय सिद्ध करने वाले केवल पूर्णिमा गच्छ के आचार्य अकलकदेवसूरि ही अकेले नही थे, वस्तुत तीर्थयात्रा को अशास्त्रीय मानने वाले लोग गुजरात मे उस समय पर्याप्त सख्या मे थे, इस बात का सकेत जिनपतिसूरि के निम्नलिखित उत्तर से मिलता है ।

जिनपतिसूरि ने अकलकसूरि के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा था—

"   ·· तथा सघेन गाढतर वयमभ्यर्थिता, यद्दुत प्रभो अनेक चार्वाक लोकसकुलाया गुर्जरत्राया तीर्थानि सन्ति, तानि च ज्योत्कर्तुं चलितानस्मान् दृष्ट्वा कश्चिच्चार्वाकस्तीर्थ-यात्रानिषेधाय प्रमाणयिष्यति, तदा सिद्धातरहस्यापरिज्ञानाद्वैदेशिकत्वाच्चास्माभिर्न किमप्युत्तर दातु शक्यते, अत मा जिनशासने लाघवमभूदिति यूय यथातथास्माभि सैह तीर्थवन्दनार्थमागच्छत इत्यादि सघाभ्यर्थनया वयमागता   ।"[1]

अपने विरोधियो के लिये प्राय चार्वाक शब्द का प्रयोग साधारणतया कर दिया जाता रहा है । इससे यही प्रकट होता है कि विक्रम की तेरहवी शताब्दी मे भी जैन धर्म के आगम प्रतिपादित आध्यात्मपरक मूल विशुद्ध स्वरूप के प्रति आस्था रखने वाले आचार्य, श्रमण एव श्रमणोपासक पर्याप्त सख्या मे विद्यमान थे ।

---

[1] खरतरगच्छ वृहद्गुर्वावली, पृष्ठ ३५

इसी प्रकार वीर नि० की ग्यारवी-बारहवी शताब्दी मे जिनमन्दिर निर्माण एव मूर्तिपूजा का प्रबल प्रवाह चैत्यवासियो के प्रबल प्रयासो से जनमानस मे चारो ओर प्रवाहित हुआ, उस समय भी जिनमन्दिर निर्माण को सावद्य कार्य मानने वाले, द्रव्यपूजा को नि श्रेयस्करी—मुक्तिप्रदायिनी नही मानने वाले तथा प्रतिश्रोत-गामी तीर्थंकरो द्वारा आध्यात्मपरक-भावपूजा को ही मोक्षप्रदायी मानने वाले महा-श्रमणो की विद्यमानता के प्रमाण महानिशीथ मे आज भी उपलब्ध है, जिन पर पिछले प्रकरण मे प्रकाश डाला जा चुका है।

उन उद्धरणो से यही निष्कर्ष निकलता है कि देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गवास के अनन्तर चैत्यवासियो की उत्तरोत्तर बढती हुई सर्वस्व सहारकारिणी बाढ से अपनी-अपनी परम्परा की, अपने-अपने गण गच्छ आम्नाय अथवा सम्प्रदाय की रक्षा हेतु जैन धर्म के विशुद्ध मूल स्वरूप एव आगमानुसारी विशुद्ध श्रमणाचर तथा श्रावकाचार मे विश्वास रखने वाली श्रमणपरम्परा की विभिन्न इकाइयो ने भी चैत्यवासियो द्वारा प्रचलित की गई और कालातर मे अत्यधिक लोकप्रियता प्राप्त की हुई अनेक नूतन मान्यताओ को अपना लिया। उन मान्यताओ का आगमो मे तो कही उल्लेख तक नही था। अत उन नूतन मान्यताओ को प्रामाणिकता का परिधान पहनाने के निर्गूढ आतरिक उद्देश्य से अभिनव भाष्यो, वृत्तियो, टीकाओ आदि की रचना का कार्य अन्तिम पूर्वधर देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण के लगभग अर्द्धशती पश्चात् अनेक विद्वान् आचार्यो एव श्रमणो ने अपने हाथ मे लिया। यह उल्लेखनीय एव विचारणीय है कि आज जितने भी भाष्य उपलब्ध होते है, वे सब के सब आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के उत्तरवर्त्ती काल की कृतिया है। इसी प्रकार चूर्णिया, अवचूर्णिया एव विशेष चूर्णिया भी देवर्द्धिगणि से उत्तर-वर्त्ती काल की रचनाएँ है।

यह तो एक निर्विवाद तथ्य है कि आगमो के पारिभाषिक और गम्भीर अर्थ को समझने मे आगमो का व्याख्या साहित्य निर्युक्ति, चूर्णि, अवचूर्णि, विशेष चूर्णि, भाष्य, टीका, विवरण, वृत्ति, विवृत्ति दीपिका, पञ्जिका, टव्वा, वचनिका, भाषा टीका आदि ग्रन्थ बडे ही उपयोगी है किन्तु इनमे से अनेक ग्रन्थो मे स्थान-स्थान पर अनेक ऐसी अभिनव मान्यताओ को समाविष्ट कर लिया गया है, जिनका मूल आगमो मे कोई स्थान नही, कोई उल्लेख तक नही।

उन नवीन मान्यताओ को आगमो के व्याख्या साहित्य मे स्थान देने का दुष्परिणाम यह हुआ कि शिथिलाचार को प्रोत्साहन मिलने के साथ-साथ अध्या-त्ममूलक जैन धर्म के मूल विशुद्ध स्वरूप मे अनेक प्रकार की विकृतिया उत्पन्न हुई और कालातर मे वे विकृतिया धर्म के अभिन्न अग के रूप मे जैन सघ मे रूढ हो गई, घर कर गई। इसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति से खिन्न हो नवागी वृत्तिकार अभयदेवसूरि को आगम अष्टोत्तरी नामक अपनी रचना मे कहना पडा :—

देवड्ढि खमासमण जा, परम्पर भावश्रो वियाणेमि ।
सिढिलायरे ठविया, दव्वेण परम्परा बहुहा ॥[1]

निर्युक्ति, चूरिण, भाष्य आदि आगम-व्याख्या-ग्रन्थो के माध्यम से शिथिलाचार के साथ पनपी हुई अनेक प्रकार की विकृतिया कालातर मे लोकप्रिय एव बहुजनसम्मत भी बन गई पर उन विकृतियो का विशुद्ध श्रमणाचार का पालन एव आगम मे प्रतिपादित धर्म के विशुद्ध स्वरूप पर श्रद्धा एव निष्ठा रखने वाले श्रमणोत्तमो ने समय-समय पर विरोध प्रकट किया, जिसका कि विवरण उपरिलिखित उद्धरणो मे विस्तारपूर्वक दिया जा चुका है ।

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ की पृष्ठ सख्या ११ तथा ५६ भी देखें ।

हारिलसूरि से पूर्ववर्ती ग्रन्थकार : ाचार्य समन्तभद्र

दिगम्बर परम्परा मे समन्तभद्र नामक एक महान् जिनशासन प्रभावक प्राचीन आचार्य हुए है। वे अपने समय के मूर्धन्य कोटि के विद्वान्, अपराजेय, तार्किक, अप्रतिम कवि और महान् ग्रन्थकार थे। आपके सत्ताकाल के सम्बन्ध मे इतिहासविदो मे बडा मतभेद है। यशस्वी कोशकार जिनेन्द्रवर्णी ने इन्हे ईशा की दूसरी शताब्दी का विद्वान् आचार्य माना है।[1] स्वर्गीय प० जुगलकिशोर मुख्त्यार ने आचार्य समन्तभद्र को विक्रम की दूसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध का दिगम्बर आचार्य सिद्ध किया है।[2] जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार नामक एक इतिहास विषयक पुस्तक मे श्री फतेहचन्द बेलानी, न्याय, व्याकरण तीर्थ, न्यायरत्न ने आचार्य समन्तभद्र को विक्रम की ७वी शताब्दी का ग्रन्थकार अनुमानित किया है।[3] त्रिपुटी मुनि श्री दर्शन विजयजी, मुनिश्री ज्ञान विजयजी और मुनिश्री न्याय विजयजी ने अपने इतिहास ग्रन्थ 'जैन परम्परा नो इतिहास' में वनवासी परम्परा के प्रवर्तक श्वेताम्बर आचार्य सामन्तभद्र और दिगम्बर आचार्य समन्तभद्र दोनो को वीर निर्वाण की ७वी शताब्दी का एक ही यशस्वी आचार्य बताते हुए लिखा है कि आचार्य समन्तभद्र श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ के समान रूप से मान्य आचार्य थे। उन्होने श्वेताम्बर और दिगम्बर–इस भेद को मिटाकर दोनो ही परम्पराओ को एक करने के लिये पूरा प्रयास किया।[4]

"जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग २" मे भी इस प्रकार की सम्भावना व्यक्त की गई है कि सम्भवत दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा के समन्तभद्र और सामन्तभद्र कोई पृथक् दो आचार्य न होकर एक ही आचार्य हो।[5] श्वेताम्बर परम्परा द्वारा सम्मत इन आचार्य के सामन्तभद्र नाम को देखते हुए यही अनुमान किया जाता है कि क्षत्रिय कुलोत्पन्न किसी राजाधिराज के अधीनस्थ सामन्त राजा के पुत्र हो। दिगम्बर परम्परा मे भी इन्हे क्षत्रिय कुलोत्पन्न राजकुमार बताया गया है। इसके अतिरिक्त समन्तभद्र का सत्ताकाल दोनो ही परम्पराओ के विद्वानो ने वीर निर्वाण की सातवी शताब्दी ईशा की दूसरी शताब्दी का प्रथम चरण और

---

[1] जैनेन्द्र सिद्धान्तकोप, भाग १, पृष्ठ ३३६

[2] जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, पृ० ६६७

[3] जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार, फतेचन्द बेलानी, पृ० ५

[4] जैन परम्परा नो इतिहास, भाग १, पृ० ३४५

[5] जैन घम का मौलिक इतिहास, पृ० ६३३

विक्रम की दूसरी शताब्दी का अन्तिम चरण माना है। इससे भी इस अनुमान की पुष्टि होती है कि एक ही काल मे हुए ये नगण्य नामभेद के आचार्य बहुत सम्भव है एक ही हो। जहा तक समन्तभद्र की रचनाओ का प्रश्न है 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' को छोड शेष रचनाओ मे दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओ के विभेद को प्रकट करने वाली कोई महत्वपूर्ण बात उल्लिखित नही है। रत्नकरण्ड श्रावकाचार को डा० हीरालाल ने सामन्तभद्र की रचना न मानकर इसे अन्य कर्तृक सिद्ध किया है। इन सब तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर इस प्रकार का अनुमान करना अनौचित्य की परिधि मे नही आता कि दोनो परम्पराओ द्वारा भिन्न-भिन्न विद्वान् के रूप मे माने गये सामन्त भद्र अथवा समन्तभद्र भिन्न व्यक्ति न होकर एक ही आचार्य हो। अस्तु यह कोई ऐसा विषय नही जिस पर अन्तिम रूपेण साधिकारिक शब्दो मे कुछ कहा जा सके। यदि ऐसा कहा भी जाय तो यह बहुत सम्भव है कि जिनके अन्तर्मन मे पूर्वाभिनिवेश घर किया हुआ है वे लोग इसे न भी माने। अस्तु, इस विषय मे और अधिक अग्रेतर शोध की परम आवश्यकता है, इसमे तो किसी का मतभेद नही होगा।

दिगम्बर परम्परा के विद्वान् इतिहासविदो द्वारा आचार्य समन्तभद्र का जो जीवन परिचय दिया गया है, वह सार रूप मे इस प्रकार है —

अत्युच्च कोटि के वाग्मी, कवि और तार्किक आचार्य समन्तभद्र दक्षिणापथ के फणिमण्डलान्तर्गत उरगपुर के एक राजा के क्षत्रिय राजकुमार थे। उनका जन्म-नाम था शान्ति वर्मा। उन्हे ससार से विरक्ति हो गई और उन्होने राज्य, ऐश्वर्य और विपुल मात्रा मे उपलब्ध ऐहिक भोगोपभोग आदि को विषवत् त्याग कर जैन निर्ग्रन्थ श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। उन्होने कब और किसके पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की, किन के पास विद्याध्ययन कर व्याकरण, न्याय, काव्य आदि अनेक विद्याओ तथा आगमो के तलस्पर्शी ज्ञान मे निष्णातता प्राप्त की, इन सब बातो का कही कोई उल्लेख नही होता।

आचाराग अथवा मूलाचार मे एक ज्ञान-क्रियानिष्ठ श्रमणोत्तम के लिये जिस प्रकार के विशुद्ध श्रमणाचार का विधान किया गया है, उस विशुद्ध श्रमणाचार की परिपालना मे वे सदा प्रतिपल, प्रतिक्षण सतत जागरूक रहते थे। जिनेन्द्र प्रभु के विश्वकल्याणकारी सन्देश को आर्यधरा के विस्तीर्ण भूमण्डल पर विभिन्न क्षेत्रो मे बसे हुए जन-जन तक अप्रतिहत विहार के माध्यम से पहुचाने मे उनका शरीर सक्षम रहे, उनका शरीर ज्ञान, क्रिया, की आराधना और सयम साधना का समीचीन रूप से निर्वहन करने योग्य रहे, केवल इसी स्व तथा पर के कल्याण की भावना से वे आहार-पानीय आदि ग्रहण करते थे। रसास्वादन रसगृद्धि अथवा शरीर पर मोह की भावना से उन्होने कभी मधुकरी नही की। ऐसे श्रमणश्रेष्ठ थे आचार्य समन्तभद्र।

किसी जन्म-जन्मान्तर मे अर्जित कर्म के दुर्विपाक से वे भस्मक रोग द्वारा आक्रान्त हो गये। मधुकरी मे मिले रूक्ष एव मित भोजन से उनकी भस्मक व्याधि उत्तरोत्तर बढती और भयकर रूप धारण करती ही गई। इस असाध्य भीषण व्याधि से उनके शरीर मे पीडा प्रचण्ड रूप धारण कर उनके शरीर को, रुधिर, मज्जा, चर्म और अस्थियो तक को जलाने लगी। इस दुस्सह्य—दारुण व्याधि से प्रपीडित हो समन्तभद्र ने अपने गुरु से प्रार्थना की कि वे उन्हे अनशनपूर्वक समाधि मरण के स्वेच्छा वरण की आज्ञा प्रदान करें। ज्ञाननिधि तपोधन गुरुदेव ने कुछ क्षण ध्यानमग्न रहने के पश्चात् कहा—'वत्स ! तुम जिनशासन की महती प्रभावना करोगे। अभी तुम्हारी पर्याप्त आयु अवशिष्ट है। इस भयावहा भीषण भस्मक व्याधि की अग्नि के शमन के लिये विपुल मात्रा मे गरिष्ठ भोजन की आवश्यकता रहती है। अत तुम पच महाव्रत स्वरूप सयम का कुछ समय के लिये परित्याग कर यथेष्ट गरिष्ठ भोजन करो। कुछ समय पश्चात् इस भस्मक व्याधि के नष्ट हो जाने पर तुम प्रायश्चित करके पुन सयम ग्रहण कर स्व-पर-कल्याण मे निरत हो जाना।

सयम व विशुद्ध श्रमणाचार समन्तभद्र को प्राणाधिक प्रिय था उसका त्याग करने मे उन्हे मर्मान्तिक पीडा का अनुभव हो रहा था किन्तु अपने विशिष्ट ज्ञानी गुरुवर की आज्ञा को उन्होने अनिच्छा होते हुए भी शिरोधार्य करते हुए मुनिवेष का परित्याग किया। अपने शरीर पर भस्म रमा कर स्थान-स्थान पर घूमते हुए वे काचीराज के राजप्रासाद मे पहुचे। भस्मविभूषित समन्तभद्र को देखते ही काचिपति के मन मे हठात् यह विचार उत्पन्न हुआ कि कही साक्षात् शिव ही तो उस पर कृपा कर उसके यहा नही आ गये है। काचीश ने उठ कर उनका अभिवादन करते हुए उनको प्रणाम किया। जब उसे विदित हुआ कि वे महात्मा हैं और प्रभु उपासना ही उनके जीवन का एक मात्र लक्ष्य है तो काच्यधीश ने उन्हे राजप्रासाद के शिवमन्दिर मे रहने और शकर की उपासना करते रहने की प्रार्थना की। उस समय के परम समृद्ध काची राज्य के राजकीय मन्दिर मे प्रतिदिन शिव को भोग के समय अर्पण की जाती रही अति गरिष्ठ उत्तमोत्तम भोज्य सामग्री के नित्य नियमित भोजन से समन्तभद्र की भस्मक व्याधि कतिपय मासो मे ही मूलत नष्ट हो गई।

एक दिन काचीश द्वारा शिव की स्तुति करने का आग्रह किये जाने पर समन्तभद्र ने "स्वयभू-स्तोत्र" की रचना कर शिवपिण्डी के समक्ष खडे हो जिनेश्वर की स्तुति करना प्रारम्भ किया। चन्दप्पह चरिउ की प्रशस्ति की निम्नलिखित गाथा के अनुसार समन्तभद्र द्वारा किये जा रहे स्तुति पाठ मे जहा प्रभु को प्रणाम करने का प्रसग आया, वही तत्काल शिवपिण्डी के अन्दर से प्रवर्तमान अवसर्पिणी

काल की जम्बूद्वीपस्थ हमारे भारत क्षेत्र की चौबीसी के ८वें तीर्थंकर प्रभु चन्द्रप्रभ की मूर्ति प्रकट हुई। वह गाथा इस प्रकार है —

> गामे समतभद्दु वि मुणिदु, अइगिम्मलु ण पुण्ण महिचदु।
> जिउरज्जिउ राया रुद्द कोडि, जिणथुत्ति-मिस्सि सिवपिंडि फोडि ।।

इस विस्मयकारिणी चमत्कारपूर्ण घटना से काञ्चीश और जन-जन के मन पर जैन धर्म के अचिन्त्य प्रभाव की अमिट छाप अंकित हो गई।"

इससे अनुमान किया जाता है कि काची का पल्लव राजवश ईसा की प्रारम्भिक शताब्दी से लेकर ईसा की सातवी शताब्दी के प्रथम चरण मे शैव महासन्त अप्पर द्वारा जैन से शैव धर्मावलम्बी बनाये गये काचिपति पल्लवराज महेन्द्र वर्मन के शासन के मध्यवर्ती काल तक सभवत. इसी अद्भुत चमत्कारपूर्ण घटना के प्रभाव के परिणामस्वरूप शताब्दियो तक प्राय जैन धर्मावलम्बी ही बना रहा।

आचार्य समन्तभद्र वस्तुत बहुमुखी प्रतिभाओ के अप्रतिम धनी थे। उनकी विविध विषयो पर एकछत्र आधिपत्य रखने वाली अद्भुत कृतियो के ग्रन्थ समूह को देखकर प्रत्येक सुविज्ञ समीक्षक के समक्ष यह समस्या उपस्थित हो जाती है कि उन्हे महाकवि कहा जाय, नितान्त अध्यात्मनिष्ठ श्रमणोत्तम कहा जाय, उन्हे महान् ग्रन्थकार की उपाधि से विभूषित किया जाय, महान् दार्शनिक कहा जाय अथवा सर्वजयी वादिराज के विशिष्ट सबोधन से अभिहित किया जाय, क्योकि इन सभी प्रकार की उच्च कोटि की विशेषताओ से उनका जीवन ओत-प्रोत था।

अपने समय के यशस्वी कवि वादीभसिंह के इन शब्दो मे—

> "सरस्वती-स्वैर-विहारभूमय,
> समन्तभद्र प्रमुखा मुनीश्वरा।
> जयन्ति वाग्वज्र-निपात-पारित-
> प्रतीप राद्धान्त महीध्रकोटय ।।"
>
> (गद्यचिन्तामणि)

आचार्य समन्तभद्र की अजेय महावादी के रूप मे विशिष्ट ख्याति भूमण्डल मे प्रसृत रही प्रतीत होती है।

आचार्य समन्तभद्र के सर्वतोमुखी प्रतिभाशाली असाधारण व्यक्तित्व पर प्रकाश डालने वाला एक श्लोक दिल्ली के पचायती मन्दिर मे उपलब्ध पुष्टे (पुलिन्दे) मे रखी स्वयभूस्तोत्र की प्राचीन प्रति के अन्त मे उल्लिखित है, जो इस प्रकार है —

आचार्योऽहं कविरहमहं वादिराट् पण्डितोऽहं,
दैवज्ञोऽहं भिषगहमहं मान्त्रिकस्तान्त्रिकोऽहम् ।
राजन्नस्यां जलधिवलया-मेखलायामिलायां,
आज्ञासिद्धि किमिति बहुना सिद्ध सारस्वतोऽहम् ।।

अर्थात् हे राजन् ! मै आचार्य तो हू ही, कवि भी हू, वादी भी हू और पण्डित भी हू । मै ज्योतिषी, चिकित्सक, मान्त्रिक और तान्त्रिक भी हू । कटि पर करधनी धारण की हुई नवोढा के समान चारो ओर समुद्र से परिवेष्टित इस वसुन्धरा पर मै सिद्ध-सारस्वत अर्थात् सरस्वती पुत्र हू । इस धरित्री पर मै जिस प्रकार का आदेश देता हू, अर्थात् जैसा मैं चाहता हू, वही होता है । इस श्लोक का साराश यह है कि आचार्य समन्तभद्र केवल वादी, कवि अथवा सकल विद्यानिधान ही नही अपितु सब कुछ थे ।

शक स० १०५० मे उट्ट कित, श्रवणबेलगोल स्थित पार्श्वनाथ बस्ति के एक स्तम्भ लेख मे आचार्य समन्तभद्र की यशोगाथाओ का गान करते हुए बताया गया है कि इस आर्यधरा के किन-किन सुदूरस्थ प्रदेशो मे जिन शासन का वर्चस्व स्थापित करने के लिये अप्रतिहत विहार कर विपक्षियो को शास्त्रार्थ मे पराजित करते हुए जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किया । उस स्तम्भलेख मे उट्ट कित श्लोक इस प्रकार है—

पूर्व्व-पाटलिपुत्र मध्य-नगरे भेरी मया ताडिता,
पश्चान्मालव-सिन्धु-ठक्क-विषये काचीपुरे वैदिशे ।
प्राप्तोऽहं करहाटकं बहु-भटं विद्योत्कटं सकटं,
वादार्थी विचराम्यहं नरपते शार्दूल-विक्रीडितम् ।। ७ ।।
अवटु-तटमटतिझटिति स्फुट-पटु-वाचाटधूर्ज्जटेरपि जिह्वा ।
वादिनि समन्तभद्रे स्थितवति तव सदसि भूप ! कास्थान्येषाम्[1] ।।८।।

आचार्य समन्तभद्र ने भस्मक रोग से ग्रस्त होने के अनन्तर विभिन्न प्रदेशो के किन-किन नगरो मे और किस-किस धर्म के साधु के रूप मे भ्रमण करते हुए निवास किया, इस सम्बन्ध मे निम्नलिखित श्लोक मे विवरण दिया गया है —

काच्यां नग्नाटकोऽहं मलमलिनतनुर्लाम्बुशे पाण्डुपिण्ड ,
पुण्ड्रोण्ड्रे शाक्यभिक्षु दशपुर नगरे मिष्टभोजी परिव्राट् ।
वाराणस्यामभूवं शशधरधवलं पाण्डुरोगस्तपस्वी,
राजन् ! यस्यास्ति शक्ति स वदतु पुरतो जैन निर्ग्रन्थवादी ।।

आचार्य समन्तभद्र की यशोगाथा गाने वाले इन श्लोको को पढने से सहसा इस प्रकार का आभास होता है मानो स्वय उन्होने ही गर्वोक्तियो से भरे इन श्लोको

१ जैन शिला लेख सग्रह, भाग १ (माणिकचन्द्र दि० जैन ग्रन्थमाला समिति) पृ० १०२

की रचना की हो। वस्तुत ये चारो श्लोक समन्तभद्र से पर्याप्त उत्तरकालवर्ती विद्वानो की रचनाए है। इसका प्रमाण है शक स १०५० तदनुसार वीर नि स १६५५ के श्रमण बेल्गोल के स्तम्भलेख मे उट्ट कित श्लोक–युगल। यह तो साधारण से साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति भी मानेगा कि अनन्तज्ञान–दर्शन एव अक्षय अव्याबाध अनन्त शाश्वत सुख प्राप्ति को ही अपना चरम-परम लक्ष्य समझने वाले समन्तभद्र जैसे उच्चकोटि के तत्वज्ञ विद्वान् स्वय के लिये इस प्रकार के अह से भरे गर्वोक्तिपूर्ण उद्‌गार अपने मुख से अथवा लेखनी से कभी अभिव्यक्त नही कर सकते।

आचार्य समन्तभद्र का जिस श्रद्धाभक्ति के साथ जिनसेन आदि दिगम्बर परम्परा के महान् ग्रन्थकारो ने स्मरण किया है, उसी श्रद्धा एव सम्मान सहित कलिकाल सर्वज्ञ के (अतिशयोक्तिपूर्ण) विरुद से विभूषित आचार्य हेमचन्द्र तथा आवश्यकसूत्र–टीका के निर्माता यशस्वी टीकाकार मलयगिरि–इन श्वेताम्बर परम्परा के आचार्यो ने भी महान् स्तुतिकार और स्वयम्भूस्तोत्र के श्लोक के उल्लेख के साथ आद्यस्तुतिकार इन महिमास्पद शब्दो मे इन्हे स्मरण किया है। इससे यह प्रकट होता है कि विक्रम की ११वी बारहवी शताब्दी तक श्वेताम्बर परम्परा मे भी समन्तभद्र अपने ही आचार्य के रूप मे मान्य थे। श्रुतकेवली भद्रबाहु के पश्चात् समन्तभद्र ही एक ऐसे आचार्य है, जिन्हे श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनो ही परम्पराओ द्वारा अपनी-अपनी परम्परा का आचार्य मानने का गौरव प्राप्त हुआ है।

आचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध है —(१) आप्त-मीमासा–अपर नाम देवागम, (२) स्वयभूस्तोत्र, अपर नाम चतुर्विशति जिन स्तुति, (३) स्तुति विद्या और (४) युक्त्यनुशासन। (५) रत्नकरण्ड श्रावकाचार को भी समन्तभद्र की ही कृति माना जाता रहा है किन्तु प्रोफेसर डा० हीरालालजी ने, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, रत्नकरण्ड श्रावकाचार को अन्यकर्तृक सिद्ध किया है।

अनेक विद्वानो ने आचार्य समन्तभद्र की उपरिवर्णित कृतियो मे इस प्रकार के अनेक तथ्यो को खोजा है जो कि श्वेताम्बर मान्यता के पोषक बताये जाते है। इस विषय मे गहन शोध के अनन्तर ही आधिकारिक रूप मे कुछ कहा जा सकता है।

ाचार्य शिवशर्मसूरि

शिवशर्म सूरि नामक एक प्राचीन आचार्य ने 'कम्मपयडि' और 'पचम शतक' नामक दो महान् उपयोगी ग्रन्थरत्नो की रचना कर साधक वर्ग पर असीम उपकार किया है। उन्होने दृष्टिवाद के दूसरे पूर्व की पाचवी च्यवनवस्तु के चौथे कर्मप्रकृतिप्राभृत मे से सार निकाल कर कर्म सिद्धान्त विषयक 'कम्मपयडि' नामक ग्रन्थ का निर्माण किया। वर्तमान मे उपलब्ध कर्मसिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थो मे 'कम्मपयडि' ग्रन्थ की गणना एक सर्वाधिक प्राचीन ग्रन्थ के रूप मे की जाती है। प्राचीन जैन वाग्मय के अध्ययन से यह प्रकट होता है कि पूर्वकाल मे शिवशर्मसूरि द्वारा रचित यह कम्मपयडि नामक ग्रन्थ दिगम्बर एव श्वेताम्वर—इन दोनो ही परम्पराओ मे समान रूप से प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता था। इस ग्रन्थ मे ४७५ गाथाए है। उत्तरवर्ती काल के अनेक आचार्यो ने "कम्मपयडि" नामक इस ग्रन्थ पर भाष्य, चूर्णि और टीकाग्रन्थो की रचनाए की है।

आचार्य शिवशर्मसूरि द्वारा रचित एक और ग्रन्थ शताब्दियो से जैन जगत् मे लोकप्रिय रहा है। वह है पचम शतक नामक "कर्मग्रन्थ"। आचार्य शिवशर्म ने इस ग्रन्थ की रचना भी "कम्मपयडिपाहुड" के आधार पर की है। इस ग्रन्थ मे कुल १११ गाथाए है। इस पर भी अनेक विद्वान् आचायो ने चूर्णि, टीका, भाष्य आदि की रचनाए की है। वर्तमान मे आचार्य शिवशर्मसूरि की ये दो रचनाए ही उपलब्ध होती है। ये दोनो ही ग्रन्थ मुमुक्षुओ को अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर होने मे प्रकाशस्तम्भ का काम करती है।

आचार्य शिवशर्मसूरि का इससे अधिक और कोई परिचय नही मिलता कि उन्होने इन दो ग्रन्थ रत्नो की रचना की। इसी कारण इनके सत्ताकाल के सम्बन्ध मे विद्वानो के पास अनुमान के अलावा और कोई अवलम्बन नही है। कतिपय विद्वानो ने इनका समय विक्रम की तीसरी शताब्दी अनुमानित किया है तो किसी ने विक्रम की तीसरी शताब्दी के बीच का। कर्म सिद्धान्त पर उनके आधिकारिक अगाध ज्ञान और कम्मपयडि की भाषा और शैली को देखते हुए प्रत्येक निष्पक्ष विचारक का, यह मानने को मन करता है कि आचार्य शिवशर्म पूर्व ज्ञान की व्युच्छित्ति से पूर्व के महान् तत्वज्ञ विद्वान् थे।

हारिल्ल सूरि के समकालीन प्रभावक ग्रन्थकार
ध ॅ ासगणि महत्तर

धर्मदासगणि महत्तर की 'उपदेशमाला' नाम की एक ही कृति उपलब्ध होती है। इसके अतिरिक्त उनकी कोई रचना उपलब्ध नही होती। उनकी यह एक ही कृति मुमुक्षु साधको के लिये परम हितकारिणी है।

उपदेशमाला मे ५४४ गाथाए है, जिनमे अन्तर्मन पर आध्यात्मिकता की अमिट छाप अकित कर देने वाले हृदयग्राही उपदेश आध्यात्मिक साधना को ही सारभूत सिद्ध करने वाली अकाट्य युक्तिया और अनेक ऐतिहासिक दृष्टान्त अति सुन्दर प्रभावशाली शैली मे प्रतिपादित किये गये है। इन्ही विशेषताओ के कारण यह ग्रन्थ अपने प्रणेता धर्मदासगणि महत्तर को अक्षय कीर्ति प्रदान करता हुआ अपने रचनाकाल से लेकर अद्यावधि पर्यन्त बडा लोकप्रिय रहा है।

धर्मदासगणि ने उपदेशमाला की ५४०वी गाथा मे अपना नाम धर्मदास गणि 'धम्मदासगणिणा' इस पद से स्पष्ट रूपेण बताया है। इस गाथा से पूर्व की गाथा सख्या ५३७ मे एक निगूढ शैली मे अपने नाम का सकेत किया है, जो इस प्रकार है —

धत–मणि–दाम–ससि–गय–णिहि, पयपढमक्खराभिहाणेण। उवएसमाल-पगरणमिणमो, रइय हिअट्ठाए ॥५३७॥

गाथा के प्रथम चरण से 'धर्मदासगणि' यह नाम ग्रन्थकार का प्रकट होता है। कतिपय विद्वानो का अभिमत है कि इस गाथा के प्रथम चरण मे धर्मदास गणि ने ग्रन्थ रचना के काल का निर्देश भी किया है। इस सम्बन्ध मे जोड-तोड बैठाने का पूरा प्रयास किया गया किन्तु वह प्रचलित सवतो की सख्या और परस्पर एक-दूसरे के अन्तराल के जोडने पर समुचित और मन को समाधानकारी नही प्रतीत होता। धत–१, मणि–७, दाम–५, ससि १, गय–८ और णिहि–९, इस प्रथम चरण से अनुमानित की जाने वाली ६ सख्याओ मे से धत (ध्वात–अन्धकार–१, सग्नि –१, और दाम – ५ को "अकाना वामतो गति" इस नियम से विक्रम सवत् ५११ और ससि – १, गय – ८ और णिहि – ९ इन अको से वीर नि स ९८१ निकलता है। इससे यह फलित होता है कि विक्रम सवत् ५११ तदनुसार वीर नि स ९८१ मे धर्मदासगणि महत्तर ने 'उपदेश माला' की रचना की। वीर निर्वाण

के ४७० वर्ष पश्चात् विक्रम सवत् प्रचलित हुआ—इस दृष्टि से इन अको की जोड-तोड की कल्पना सही (ठीक) तो बैठती है पर इस प्रकार की जोड-तोड का आधार गाथा मे कही सकेतित नही है ।

'उपदेशमाला' पर सिद्धर्षि द्वारा रचित टीका, एक प्राचीन कृति है। विक्रम सवत् १२३८ मे रत्नप्रभ सूरि ने इस पर दोघट्टीवृत्ति की रचना की। इस पर तीसरी टीका रामविजयजी द्वारा निर्मित, उपलब्ध है ।

दोघट्टी वृत्ति मे धर्मदास गरिण महत्तर को स्वय भगवान् महावीर का हस्तदीक्षित शिष्य बताया गया है, जो किसी भी दृष्टि से मान्य नही हो सकता। हो सकता है कि मुमुक्षुओ के लिये परमोपयोगी उनकी कृति उपदेशमाला के महत्व को प्रकट करने की दृष्टि से अथवा पूर्व जन्म मे भगवान् महावीर के पास दीक्षित होने की कल्पना के आधार पर टीकाकार ने ऐसा लिखा हो ।

उपदेशमाला मे सविग्न-परम्परा के पक्ष पर प्रकाश डाला गया है। विनय रत्न, महामुनि स्थूलभद्र, सिंहगुहावासी मुनि, आर्य मगू, आर्य वज्र और देवर्द्धिगरिण क्षमाश्रमरण के तत्वावधान मे वल्लभी मे हुई आगम वाचना अथवा आगम लेखन के समय विद्यमान कालकाचार्य आदि वीर निर्वाण की तीसरी शताब्दी से दसवी-ग्यारहवी शताब्दी के बीच हुए आचार्यो के सम्बन्ध मे अनेक बाते कही गई है, इससे यह अनुमान लगाया जाता है कि उपदेशमाला के रचनाकार धर्मदासगरिण महत्तर युगप्रधानाचार्य हारिल्ल सूरि के समकालीन राजर्षि हो ।

इनका कोई प्रामारिणक जीवन परिचय नही मिलता। दोघट्टीवृत्ति जैसे उत्तरवर्त्ती जैन वाग्मय मे यह बताया गया है कि वे अपने गृहस्थ जीवन मे विजयपुर के विजयसेन नामक राजा थे। अजया और विजया नाम की इनकी दो रानिया थी। रानी विजया की कुक्षि से एक पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम रणसिंह रखा गया। सौतिया डाह के वशीभूत हो अजया नामक रानी ने षड्यन्त्र रच कर बालक राजकुमार रणसिंह का अपहरण करवा दिया। राजा विजयसेन और रानी विजया के हृदय को इस घटना से गहरा आघात लगा। उन दोनो को ससार से विरक्ति हो गई और उन दोनो ने पच महाव्रतो की भागवती दीक्षा ग्रहण करली। उन दोनो के साथ विजयारानी का सहोदर सुजय भी श्रमणधर्म मे दीक्षित हो गया। राजा विजयसेन धर्मदासगणि के नाम से विख्यात हुए ।

उधर राजकुमार रणसिंह का लालन-पालन एक कृषक के घर मे हुआ। रणसिंह ने युवावस्था मे प्रवेश करते ही अपने पौरुष से विजयपुर के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिया। कालान्तर मे राजा रणसिंह धर्मविमुख हो प्रजा पर अन्याय करने लगा ।

अपने ज्ञानातिशय से जब धर्मदासगणि को यह विदित हुआ कि उनका पुत्र पापपूर्ण कार्यों मे सलग्न है तो उन्होने धर्ममार्ग से विमुख अपने पुत्र को सन्मार्ग पर लाने के लिए उपदेश माला की रचना की। उन्होने जिनदासगणि को उपदेश माला का अध्ययन करवाया और जिनदासगणि ने उसे कण्ठस्थ कर लिया। धर्मदासगणि महत्तर ने रणसिह को उपदेश देने के लिए जिनदासगणि और साध्वी विजयश्री को भेजा। उन दोनो ने विजयपुर पहुचकर राजा रणसिह को "उपदेश माला" के माध्यम से धर्मोपदेश दिया। उपदेश माला के उपदेश का राजा रणसिह पर गहरा प्रभाव पडा। वह विशुद्ध सम्यक्त्वधारी श्रावक बन गया और कालान्तर मे अपने पुत्र को राज्य सम्हलाकर आ० मुनिचन्द्र के पास श्रमणधर्म मे दीक्षित हो गया।

वस्तुत उपदेशमाला एक ऐसा ग्रन्थरत्न है जो भूलो-भटको को सत्पथ पर आरूढ करने वाला है।

न्य ग्रंथकार

निर्युक्तिकार भद्रबाहु के समसामयिक जिन विद्वानो ने महत्वपूर्ण ग्रन्थो की रचना की वे इस प्रकार है —

१ बट्टकेर—ईसा की पाचवी-छठी शताब्दी के इन विद्वान् आचार्य ने "मूलाचार" नामक आगमिक ग्रन्थ की रचना की। इनके सम्बन्ध मे यह धारणा चली आ रही थी कि ये दिगम्बर परम्परा के आचार्य थे किन्तु शोधार्थी विद्वान् खोज के पश्चात् यह मानने लगे है कि ये यापनीय परम्परा के आचार्य थे।[१]

२ शिवार्य (शिवनन्दी)—इन यापनीय आचार्य ने २१७० गाथात्मक आराधना नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। साधको के लिए यह ग्रन्थ बडा ही उपयोगी है, यही कारण है कि शताब्दियो से यह ग्रन्थ जैनो मे बडा ही लोकप्रिय रहा है।

आज से दो दशक पूर्व तक दिगम्बर परम्परा इसे अपना आगमिक ग्रन्थ मानती थी किन्तु अब दिगम्बर विद्वानो ने इस ग्रन्थ को यापनीय परम्परा का मान लिया है। इसके उपरान्त भी श्रद्धालु साधको द्वारा इस ग्रन्थ का बडी श्रद्धा से पारायण किया जाता है।

३ सर्वनन्दि—दिगम्बर परम्परा के विद्वान् सर्वनन्दि ने शक स० ३८० तदनुसार वि० स० ५५५ मे दक्षिण के तत्कालीन शक्तिशाली पाण्ड्य राज्य के पाटलिक नामक स्थान पर प्राकृत भाषा के लोक विभाग नामक एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की।[२] कालान्तर मे सिंह सूरर्षि ने प्राकृत से इस ग्रन्थ का सस्कृत भाषा के पद्यो मे अनुवाद किया। वर्तमान मे प्राकृत भापा का लोक विभाग कही उपलब्ध नही है। केवल सस्कृत भाषा मे निबद्ध लोक विभाग ही उपलब्ध है।

४ यतिवृषभाचार्य—प्राचीन आचार्यो मे यतिवृषभ आचार्य का बडा ही महत्वपूर्ण स्थान है। इनकी दो अतीव महत्त्वपूर्ण कृतिया जैन जगत् मे बडी लोकप्रिय हैं। पहली है 'कषाय प्राभृत चूर्णि' और दूसरी 'तिलोय पण्णत्ति'। यद्यपि अनेक विद्वानो ने आचार्य यति वृषभ को विक्रम की पाचवी-छठी शताब्दी का आचार्य माना है। जयधवला मे कषाय पाहुड के चूर्णिकार यति वृषभ को वाचक आर्य

---

[१] The Jaina Path of Purification page 79 Padmanabh S Jaini, published by Motilal Banarasidas Delhi, Bungalow Road, Jawahar Nagar, Delhi 7.

[२] जैनधर्म का मौलिक इतिहास भाग २, पृष्ठ ४४–४५

मक्षु और नागहस्ति का शिष्य बताया है। परन्तु कषाय पाहुड की चूर्णि मे अथवा अन्यत्र कही यति वृषभ ने अपने आप को आर्य मक्ष का शिष्य और नागहस्ती का अन्तेवासी प्रकट नही किया है। इतना सब कुछ होते हुए भी जयधवलाकार के इस कथन मे विश्वास न करने का कोई कारण प्रतीत नही होता कि आर्य मक्षु के शिष्य और नागहस्ती के अन्तेवासी आचार्य यतिवृषभ ने कषाय पाहुड चूर्णि की रचना की।

"आचार्य यतिवृषभ वाचक आर्य मक्षु और वाचक आर्य नागहस्ती के शिष्य थे"—जयधवलाकार के इस कथन पर विश्वास कर लेने के पश्चात् एक नवीन तथ्य प्रकाश मे आता है। वह यह है कि 'कषाय पाहुड चूर्णि' के रचनाकार आचार्य यतिवृषभ और 'तिलोय पण्णत्ति' के रचनाकार यतिवृषभ भिन्न-भिन्न काल मे हुए एक ही नाम के दो भिन्न आचार्य थे।

कषाय पाहुड चूर्णि के रचनाकार पहले यतिवृषभ आर्य मक्षु और आर्य नागहस्ती के शिष्य होने के परिणाम स्वरूप वीर निर्वाण की पाचवी शताब्दी (वीर नि० स० ४५४ अर्थात् श्वेताम्बर-दिगम्बर भेद से १५५ वर्ष पूर्व) के आचार्य थे।

इसी नाम के दूसरे यतिवृषभाचार्य ने अपने ग्रन्थ तिलोय पण्णत्ति मे वीर नि स १००० तक के काल मे हुए राजाओ का उल्लेख किया है, इससे यह सिद्ध होता है कि तिलोय पण्णत्तिकार यतिवृषभाचार्य विक्रम की पाचवी छठी शताब्दी के आचार्य थे।

यतिवृषभाचार्य के काल निर्णय मे यही इति श्री नही हो जाती। वस्तुत यह शोध का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है। अब तक विद्वानो ने इस नितरा निगूढ ऐतिहासिक तथ्य की गहन शोध के स्थान पर यही कहकर टालने का प्रयास किया है कि यतिवृषभाचार्य के गुरु मक्षु और नागहस्ती ये दोनो आचार्य श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य मक्षु और नागहस्ति से भिन्न है।

जयधवलाकार की निम्नलिखित गाथाएँ महत्त्वपूर्ण है —

> गुणहरवयण विणिग्गय, गाहाणत्थोऽवहारिओ सव्वो।
> जेणज्जमखुणा सो, स णागहत्थी वर देऊ ॥७॥
> जो अज्ज मखु सीसो, अतेवासी वि णाग हत्थिस्स।
> सो वित्ति सुत्तकत्ता, जइवसहो मे वर देऊ ॥८॥

ये दो गाथाए शोधार्थी विद्वानो को शोध के लिये प्रेरणा देने वाली हैं। जयधवला और श्रुतावतार मे आचार्य गुणधर को कषाय-पाहुड का कर्त्ता माना

[1] आर्य मक्षु के समय के लिए देखिये जैनधर्म का मौलिक इतिहास भाग २, पृष्ठ ५३२।

है। दिगम्बर परम्परा की एक भी पट्टावली मे इन आचार्य गुणधर का नाम कही दृष्टिगोचर नही होता। इन्द्रनन्दी ने तो श्रुतावतार मे स्पष्ट रूपेण लिखा है कि गुणधर और धरसेन की गुरु शिष्य परम्परा का पूर्वापर क्रम कही उपलब्ध नही होता। उन गुणधर द्वारा रचित कषाय पाहुड के गहन गूढार्थ को वाचक आर्य मक्षु और वाचक आर्य नागहस्ती ने सम्यगरूपेण हृदयङ्गम किया। यतिवृषभ ने कपाय पाहुड की गाथाओ के गहन अर्थ को आर्य मक्षु और आर्य नागहस्ती से ग्रहण किया। इन वाचक द्वय आर्य मक्षु और आर्य नागहस्ती के नाम भी दिगम्वर परम्परा की पट्टावलियो मे कही उपलब्ध नही होते। उपलब्ध होने की सभावना भी नही क्योकि वाचक परम्परा श्वेताम्बर सघ की परम्परा रही है। दिगम्बर सघ मे उसका कभी अस्तित्व ही नही रहा।

इस प्रकार की स्थिति मे शोधप्रिय विद्वानो के समक्ष निम्नलिखित प्रश्न उभर कर आते है :—

१ कषाय पाहुड के रचनाकार गुणधर वस्तुत कही श्वेताम्बर परम्परा की मान्यतानुसार भगवान् महावीर के ११वे पट्टधर आचार्य गुण-सुन्दर ही तो नही है जिनका आचार्य काल वीर नि० स० २९१ से वीर नि० स० ३३५ रहा और जो दशपूर्वधर आचार्य थे। गुणसुन्दर और गुणधर ये दोनो नाम भी परस्पर एक दूसरे के पूरक ही प्रतीत होते हैं।

२ आर्य गुणसुन्दर से ११९ वर्ष पश्चात् अर्थात् वीर नि० स० ४५४ मे वाचनाचार्य पद पर आसीन हुए आर्य मक्षु और उनके शिष्य नाग-हस्ती से यतिवृषभ नामक मेधावी मुमुक्षु ने उन दोनो का शिष्यत्व स्वीकार कर उनसे कषाय पाहुड का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्तकर कषाय पाहुड चूर्णि की कही रचना नही की हो और इस प्रकार कषाय पाहुड कही श्वेताम्बर-दिगम्बर विभेद से ३००–३२५ वर्ष पूर्व का दशपूर्वधर द्वारा रचित आगम तो नही है।

—०—

२९वे युगप्रधानाचार्य हारिल्ल सूरि के नाम पर नवीन गच्छ की उत्पत्ति : हारिल गच्छ

कुवलयमाला नामक ग्रन्थ के रचयिता आचार्य उद्योतनसूरि-अपर नाम दाक्षिण्यचिह्न ने अपने ग्रन्थ के अन्त मे जो प्रशस्ति दी है, उसके अनुसार हारिल गच्छ की पट्ट-परम्परा इस प्रकार है —

१ युगप्रधानाचार्य हरिगुप्त—अपर नाम हारिल। इसके नाम पर हारिल गच्छ की स्थापना की गई।

२ देवगुप्त। ये आचार्य महाकवि थे इस प्रकार का उल्लेख 'कुवलयमाला' के रचनाकार ने किया है।

३ शिवचन्द्र। ये स्थान-स्थान पर जिनालयो के दर्शन करते हुए भिन्न-माल पहुचे और शेष जीवन उन्होने वही व्यतीत किया। उद्योतनसूरि ने इन्हे भिन्नमाल निवासियो के लिये कल्पवृक्ष तुल्य बताया है।

४ यक्षदत्त गरिण। हारिल गच्छ के ये महा यशस्वी प्रभावक आचार्य हुए है। आचार्य यक्षदत्त के नाग, वृन्द, मम्मट, दुर्ग, अग्नि शर्मा और बटेश्वर नामक ६ शिष्य थे।

५ बटेश्वर—इन्होने नाग, वृन्द आदि पाच गुरुभ्राताओ के साथ दूर-दूर के क्षेत्रो मे धर्म की प्रभावना की एव अनेक मन्दिरो का निर्माण कर-वाया। आकाशवप्र नामक नगर मे आचार्य बटेश्वर ने एक अति विशाल और मनोहर जिनालय का निर्माण करवाया।

६ तत्वाचार्य इनके जीवनवृत्त का कही उल्लेख नही मिलता।

७ दाक्षिण्यचिह्न अपर नाम उद्योतन सूरि। इन्होने लोकप्रिय कुवलय-माला नामक ग्रन्थ की रचना की। इनका जीवन परिचय यथास्थान आगे दिया जायगा।

जोधपुर नगर से ९ कोश उत्तर दिशा मे स्थित गाधाणी नामक ग्राम से प्राप्त भगवान् ऋषभदेव की सर्व धातुओ से निर्मित मूर्ति के पृष्ठ भाग पर उट्टङ्कित

अभिलेख से श्री उद्योतन सूरि के दो शिष्यो के नाम प्रकाश मे आये है। यह सर्व-धातुनिर्मित जिनेश्वर की मूर्ति गाधाणी ग्राम के तालाब पर अवस्थित जिनमन्दिर मे उपलब्ध हुई है। वह मूर्ति अभिलेख अक्षरश इस प्रकार है —

(१) ओम् ॥ नवसु शतेष्वब्दाना । सप्तत् (त्रि) शदधिकेषु । श्रीवच्छ-लागलीभ्या ज्येष्ठार्याभ्या

(२) परम भक्त्या ॥ नाभेयजिनस्यैषा ॥ प्रतिमा पाढार्द्धनिष्पन्ना श्रीम—

(३) त्तोरण कलिता। मोक्षार्थ कारिता ताभ्या ॥ ज्येष्ठार्यपद प्राप्तौ । द्वावपि

(४) जिनधर्म वच्छलो ख्यातौ । उद्योतन सूरेस्तौ शिष्यौ श्री वच्छ—बल देवौ ॥

(५) स० ४३७ आषाढार्द्धे ।

अर्थात्—ओम् । सवत् ९३७ के आधे आषाढ के व्यतीत हो जाने पर (अनुमानत आषाढ शुक्ला प्रतिपदा के दिन—क्योकि अमावस्या इस प्रकार के श्रेष्ठ कार्यो मे वर्जित मानी गई है) ज्येष्ठार्य (सभवतः वाचक) श्री वत्स और लागली (बलदेव का अपर नाम लागली—हलधर) ने उत्कृष्ट भक्ति से तोरण सहित इस आदिनाथ ऋषभदेव का निर्माण मुक्ति की अभिलाषा से करवाया। इन दोनो मुनियो ने ज्येष्ठार्य पद (सभवत वाचक पद) प्राप्त किया और जिनधर्मवत्सल के रूप मे ख्याति को प्राप्त हुए। वे दोनो—श्रीवत्स और बलदेव श्री उद्योतन सूरि के शिष्य थे। सवत् ९३७ आषाढार्द्ध मे।

उद्योतन सूरि की पट्टावली मे इन (उद्योतन सूरि) का वि० स० ९९४ मे स्वर्गस्थ होने का उल्लेख उपलब्ध होता है। उद्योतनसूरि आचार्य पद पर किस समय हुए इसका कोई उल्लेख पट्टावली मे उपलब्ध नही होता। इस अभिलेख से यह तो निश्चित रूपेण सिद्ध हो जाता है कि उद्योतन सूरि वि० स० ९३७ मे आचार्य पद पर अधिष्ठित थे और इससे कुछ कम अथवा अधिक समय पूर्व ही आचार्य पद प्राप्त कर चुके थे।

श्रमण भग न् महावीर के २९वे पट्टधर आचार्य श्री शंकरसेन

जन्म	—	वीर नि०स० १०१९
दीक्षा	—	" " " १०४१
आचार्य पद	—	" " " १०६४
स्वर्गारोहण	—	" " " १०९४
गृहवास पर्याय	—	२२ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२३ "
आचार्य पर्याय	—	३० "
पूर्ण साधु पर्याय	—	५३ "
पूर्ण आयु	—	७५ "

वीर प्रभु के २८वे पट्टधर आचार्य श्री वीरभद्र के स्वर्गस्थ हो जाने पर वीर नि स १०६४ मे आगम मर्मज्ञ विद्वान् मुनिश्री शकरसेन को आचार्यश्री वीरभद्र के उत्तराधिकारी के रूप मे भगवान् महावीर के २९वे पट्टधर आचार्य पद पर आसीन किया गया।

इसके अतिरिक्त इनके जीवनकाल की किसी घटना का कोई उल्लेख नही मिलता।

श्रमण भगवान् महावीर के ३०वे पट्टधर आचार्य श्री जसोभद्र स्वामी

जन्म	—	वीर नि स १०४४
दीक्षा	—	" " " १०७१
आचार्य पद	—	" " " १०९४
स्वर्गारोहण	—	" " " १११६
गृहवास पर्याय	—	२७ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२३ "
आचार्य पर्याय	—	२२ "
पूर्ण साधु पर्याय	—	४५ "
पूर्ण आयु	—	७२ "

शासनपति भगवान् महावीर के २९वें पट्टधर आचार्यश्री शकरसेन के स्वर्गारोहण के अनन्तर उनके उत्तराधिकारी श्रमणश्रेष्ठ विद्वान् मुनिश्री जसोभद्र स्वामी को वीरप्रभु के ३०वें पट्टधर के रूप मे श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध सघ के आचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया।

इनके जीवनकाल के घटना चक्र के विषय मे भी कोई उल्लेख अद्यावधि कही किसी ग्रथ मे हमे उपलब्ध नही हुआ है। शोधार्थियो से इस बारे मे अग्रेत्तर शोध की अपेक्षा है।

श्रमण भगवान् महावीर के २६वे पट्टधर   चार्य
श्री शंकरसेन

जन्म	—	वीर नि०स० १०१६
दीक्षा	—	„ „ „ १०४१
आचार्य पद	—	„ „ „ १०६४
स्वर्गारोहण	—	„ „ „ १०६४
गृहवास पर्याय	—	२२ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२३ „
आचार्य पर्याय	—	३० „
पूर्ण साधु पर्याय	—	५३ „
पूर्ण आयु	—	७५ „

वीर प्रभु के २८वे पट्टधर आचार्य श्री वीरभद्र के स्वर्गस्थ हो जाने पर वीर नि स १०६४ मे आगम मर्मज्ञ विद्वान् मुनिश्री शकरसेन को आचार्यश्री वीरभद्र के उत्तराधिकारी के रूप मे भगवान् महावीर के २६वे पट्टधर आचार्य पद पर आसीन किया गया।

इसके अतिरिक्त इनके जीवनकाल की किसी घटना का कोई उल्लेख नही मिलता।

श्रमण भगवान् महावीर के ३०वे पट्टधर आचार्य श्री जसोभद्र स्वामी

जन्म	—	वीर नि स १०४४
दीक्षा	—	„ „ „ १०७१
आचार्य पद	—	„ „ „ १०९४
स्वर्गारोहण	—	„ „ „ १११६
गृहवास पर्याय	—	२७ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२३ „
आचार्य पर्याय	—	२२ „
पूर्ण साधु पर्याय	—	४५ „
पूर्ण आयु	—	७२ „

शासनपति भगवान् महावीर के २९वे पट्टधर आचार्यश्री शकरसेन के स्वर्गारोहण के अनन्तर उनके उत्तराधिकारी श्रमणश्रेष्ठ विद्वान् मुनिश्री जसोभद्र स्वामी को वीरप्रभु के ३०वे पट्टधर के रूप मे श्रमण-श्रमणी, श्रावक-श्राविका रूप चतुर्विध सघ के आचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया।

इनके जीवनकाल के घटना चक्र के विषय मे भी कोई उल्लेख अद्यावधि कही किसी ग्रथ मे हमे उपलब्ध नही हुआ है। शोधार्थियो से इस बारे मे अग्रेत्तर शोध की अपेक्षा है।

श्रमण भगवान् महावीर के २९वे पट्टधर चार्य
श्री शंकरसेन

जन्म	—	वीर नि०स० १०१९
दीक्षा	—	,, ,, ,, १०४१
आचार्य पद	—	,, ,, ,, १०६४
स्वर्गारोहण	—	,, ,, ,, १०९४
गृहवास पर्याय	—	२२ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२३ ,,
आचार्य पर्याय	—	३० ,,
पूर्ण साधु पर्याय	—	५३ ,,
पूर्ण आयु	—	७५ ,,

वीर प्रभु के २८वे पट्टधर आचार्य श्री वीरभद्र के स्वर्गस्थ हो जाने पर वीर नि स १०६४ मे आगम मर्मज्ञ विद्वान् मुनिश्री शकरसेन को आचार्यश्री वीरभद्र के उत्तराधिकारी के रूप मे भगवान् महावीर के २९वे पट्टधर आचार्य पद पर आसीन किया गया।

इसके अतिरिक्त इनके जीवनकाल की किसी घटना का कोई उल्लेख नही मिलता।

के दिन वल्लभी मे महाराजा शिलादित्य (प्रथम) के राज्यकाल मे विशेपावश्यक भाष्य की रचना की। आपसे उत्तरवर्ती रचनाकारो ने आपकी कृति विशेपावश्यक भाष्य को जैन सिद्धात ज्ञान का महोदधि एव अक्षय भण्डार और जैन साहित्य रत्नाकर का अनमोल ग्रन्थरत्न वताकर आपकी प्रशसा की है। अनेक जैनाचार्यो ने आपकी इस कृति को दु षमाकाल के निविडतम अधकार मे निमग्न जिन-प्रवचनो को प्रकाशित करने वाले प्रशस्त प्रदीप की उपमा दी है। वस्तुत देखा जाय तो जैन सिद्धातो से सम्बन्धित ऐसा कोई विषय अवशिष्ट नही रहा है, जिस पर विशेपा-वश्यक भाष्य मे आप द्वारा प्रकाश न डाला गया हो।

वीर निर्वाण की ११वी शताब्दी वास्तव मे भाष्यो और चूर्णि साहित्य के निर्माण का प्रारम्भिक युग था। आपके युगप्रधानाचार्य पद पर आसीन होने से पूर्व "वसुदेव हिंडी" के यशस्वी रचनाकार सघदास क्षमाश्रमण और उनके सहयोगी "धम्मिल्लहिंडी" के रचनाकार धर्मसेनगणि ने पचकल्प भाष्य की रचना की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी से आपको विशेषावश्यक भाष्य के प्रणयन की प्रेरणा मिली हो। आपने अनुयोग चूर्णि की भी रचना की।

चूर्णि साहित्य के निर्माण का प्रारम्भ भी जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण से ही हुआ। आपके समकालीन पर लघुवयस्क आचार्य सिद्धसेन क्षमाश्रमण ने आप द्वारा रचित ग्रन्थ जीतकल्प पर चूर्णि का निर्माण किया। वर्तमान मे उपलब्ध चूर्णि साहित्य मे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित अनुयोगचूर्णि की गणना सबसे पहली चूर्णि के रूप मे की जाती है। जिनदासगणि और हरिभद्रसूरि ने अपनी कृतियो मे इसका पूरा उपयोग किया है।

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्त्ती आचार्यो मे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को आगमो का प्रबल पक्षधर माना गया है। उन्होने अपनी रचनाओ मे आगम को सर्वोपरि मान कर आगम के आधार पर दर्शन को प्रतिष्ठापित किया है, न कि दर्शन के आधार पर आगम को।

निर्युक्ति, अवचूर्णि, चूर्णि, भाष्य और टीका— इन सब की गणना आगमो के व्याख्या ग्रन्थो के रूप मे की जाती है। जहा आगमो का गूढार्थ समझ मे न आये वहा पहले निर्युक्ति की, निर्युक्ति से भी समझ मे न आये तो क्रमश अवचूर्णि, चूर्णि, भाष्य और टीका ग्रन्थो की सहायता की अपेक्षा रहती है। इस दृष्टि से भी जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अनुयोग चूर्णि, विशेषावश्यक भाष्य और विशेषावश्यक भाष्य की टीका की रचना कर जिनशासन की महती सेवा की।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ३० वर्ष तक सामान्य साधु-पर्याय मे और ६० वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहते हुए कुल मिलाकर ९० वर्ष के अपने साधना-काल मे विपुल साहित्य का सृजन कर जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा की। १००

भगवान् महावीर के २९वे एवं ३०वे पट्टधर क्रमशः श्री शंकर सेन और जसोभद्र के आचार्य काल के ३०वे युगप्रधानाचार्य श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण

जन्म	—	वीर नि० स० १०११
दीक्षा	—	,, ,, ,, १०२५
सामान्य साधु पर्याय	—	,, ,, ,, १०२५–१०५५
युगप्रधानाचार्यकाल	—	,, ,, ,, १०५५–१११५
स्वर्ग	—	,, ,, ,, १११५
सर्वायु	—	१०४ वर्ष, ६ मास और ६ दिन

युगप्रधानाचार्य श्री जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण का जन्म वीर नि०स० १०११ मे हुआ। आपने १४ वर्ष की अल्प वय मे, वीर नि० स० १०२५ मे श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की। ३० वर्ष की अपनी सामान्य श्रमण पर्याय मे विशुद्ध श्रमणाचार के पालन के साथ-साथ आपने आगमो, धर्मग्रन्थो, न्याय, व्याकरण, काव्य, स्व तथा पर सिद्धातो एव नीतिशास्त्र का बडी ही लगन के साथ तलस्पर्शी गहन अध्ययन किया। वीर नि०स० १०५५ मे २९वे युगप्रधानाचार्य श्री हारिलसूरि के स्वर्गस्थ हो जाने पर आपको युगप्रधानाचार्य पद प्रदान किया गया।

जीतकल्पचूर्णि के आद्य मगल मे, उसके रचनाकार आचार्य सिद्धसेन क्षमाश्रमण द्वारा की गई जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण की षड् गाथात्मका स्तुति से यह विदित होता है कि जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण अपने समय के अप्रतिम उद्भट विद्वान्, मुनिसमूह द्वारा सेवित, आगमो के तलस्पर्शी ज्ञान के ज्ञाता एव व्याख्याता, बहुश्रुताग्रणी, स्व–पर सिद्धात पारगामी आदर्श क्षमाश्रमण थे।[1] इसी प्रकार विशेषावश्यक तथा जीतकल्प के वृत्तिकारो ने भी आपके विशिष्ट गुणो के प्रति आतरिक श्रद्धा अभिव्यक्त करते हुए आपकी स्तुति की है।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने जीतकल्प, सभाष्य विशेषणवती, वृहत्क्षेत्रसमास, ध्यानशतक, वृहत्सग्रहणी और वीर नि०स० १०७६ की चैत्र शुक्ला १५, बुधवार

[1] पचकल्प चूर्णि

के दिन वल्लभी मे महाराजा शिलादित्य (प्रथम) के राज्यकाल मे विशेषावश्यक भाष्य की रचना की। आपसे उत्तरवर्ती रचनाकारो ने आपकी कृति विशेषावश्यक भाष्य को जैन सिद्धात ज्ञान का महोदधि एव अक्षय भण्डार और जैन साहित्य रत्नाकर का अनमोल ग्रन्थरत्न बताकर आपकी प्रशसा की है। अनेक जैनाचार्यो ने आपकी इस कृति को दु षमाकाल के निबिडतम अधकार मे निमग्न जिन-प्रवचनो को प्रकाशित करने वाले प्रशस्त प्रदीप की उपमा दी है। वस्तुत देखा जाय तो जैन सिद्धातो से सम्बन्धित ऐसा कोई विषय अवशिष्ट नही रहा है, जिस पर विशेपावश्यक भाष्य मे आप द्वारा प्रकाश न डाला गया हो।

वीर निर्वाण की ११वी शताब्दी वास्तव मे भाष्यो और चूर्णि साहित्य के निर्माण का प्रारम्भिक युग था। आपके युगप्रधानाचार्य पद पर आसीन होने से पूर्व "वसुदेव हिंडी" के यशस्वी रचनाकार सघदास क्षमाश्रमण और उनके सहयोगी "धम्मिल्लहिंडी" के रचनाकार धर्मसेनगणि ने पचकल्प भाष्य की रचना की थी। ऐसा प्रतीत होता है कि इसो से आपको विशेषावश्यक भाष्य के प्रणयन की प्रेरणा मिली हो। आपने अनुयोग चूर्णि की भी रचना की।

चूर्णि साहित्य के निर्माण का प्रारम्भ भी जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण से ही हुआ। आपके समकालीन पर लघुवयस्क आचार्य सिद्धसेन क्षमाश्रमण ने आप द्वारा रचित ग्रन्थ जीतकल्प पर चूर्णि का निर्माण किया। वर्तमान मे उपलब्ध चूर्णि साहित्य मे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा रचित अनुयोगचूर्णि की गणना सबसे पहली चूर्णि के रूप मे की जाती है। जिनदासगणि और हरिभद्रसूरि ने अपनी कृतियो मे इसका पूरा उपयोग किया है।

देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्त्ती आचार्यो मे जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को आगमो का प्रबल पक्षधर माना गया है। उन्होने अपनी रचनाओ मे आगम को सर्वोपरि मान कर आगम के आधार पर दर्शन को प्रतिष्ठापित किया है, न कि दर्शन के आधार पर आगम को।

निर्युक्ति, अवचूर्णि, चूर्णि, भाष्य और टीका— इन सब की गणना आगमो के व्याख्या ग्रन्थो के रूप मे की जाती है। जहा आगमो का गूढार्थ समझ मे न आये वहा पहले निर्युक्ति की, निर्युक्ति से भी समझ मे न आये तो क्रमश अवचूर्णि, चूर्णि, भाष्य और टीका ग्रन्थो की सहायता की अपेक्षा रहती है। इस दृष्टि से भी जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने अनुयोग चूर्णि, विशेषावश्यक भाष्य और विशेषावश्यक भाष्य की टीका की रचना कर जिनशासन की महती सेवा की।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने ३० वर्ष तक सामान्य साधु-पर्याय मे और ६० वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद पर रहते हुए कुल मिलाकर ९० वर्ष के अपने साधना-काल मे विपुल साहित्य का सृजन कर जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा की। १००

वर्ष से ऊपर की अवस्था हो जाने पर भी वे साहित्य-सृजन मे लीन रहे। उन्होने अपने जीवन के अन्तिम वर्षो मे विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना प्रारम्भ की। वे इस वृत्ति की पष्ठ गणधरवाद तक ही रचना कर पाये थे कि वे स्वर्गस्थ हो गये। उनके इस प्रारम्भ किये हुए कार्य को कोट्याचार्य ने सम्पन्न किया।

इस प्रकार जीवन पर्यन्त जिनशासन की महती सेवा कर युगप्रधानाचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण १०४ वर्ष, ६ मास और ६ दिन की आयु पूर्ण कर वीर नि स १११५ मे स्वर्गस्थ हुए। अपने पार्थिव शरीर के रूप मे वे आज नही रहे पर प्रकाशप्रदीप के समान उनकी कृतिया विगत लगभग १४०० वर्षो से श्रमण-श्रमणी वर्ग, साधक वर्ग विद्वद्वर्ग को मार्गदर्शन करती आ रही है और भविष्य मे भी करती रहेगी।

जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण के युगप्रधानाचार्य काल के विशिष्ट प्रतिभाशाली आचार्य

(१) सिद्धसेन क्षमाश्रमरण

तीसवे युगप्रधानाचार्य जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण के युगप्रधानाचार्य काल मे सिद्धसेन क्षमाश्रमरण नामक एक विशिष्ट प्रतिभाशाली आचार्य हुए है। वे जिनभद्र-गरिण क्षमाश्रमरण का गुरु तुल्य सम्मान करते थे। श्री सिद्धसेन क्षमाश्रमरण ने जीत-कल्प चूर्णि और निशीथ भाष्य की रचना की। उन्होने जीतकल्प चूरिण के आद्य मगल मे जिनभद्रगरिण को नमस्कार करते हुए उनके लिए "मुरिणवरा सेवति सया" (गाथा स ६) और "दससु वि दिसासु जस्स य अरगुओगो भमई" (गाथा स ७) इन पदो मे वर्तमान काल का प्रयोग किया है। इससे अनुमान किया जाता है कि वे जिनभद्रगरिण के साक्षात् शिष्य अथवा समकालीन लघुवयस्क आचार्य हो।

(२) कोट्याचार्य

युगप्रधानाचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के युगप्रधानाचार्य काल मे कोट्याचार्य नामक एक विद्वान् आचार्य हुए। जैसा कि पहले बताया जा चुका है, जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण ने अपने जीवन के अन्तिम दिनो मे विशेषावश्यक भाष्य की स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना प्रारम्भ की थी और वे षष्टम गरणधरवाद तक ही इस वृत्ति की रचना कर पाये थे कि १०४ वर्ष, ६ मास और ६ दिन की आयु पूर्ण कर स्वर्गवासी हो गये। इस प्रकार आपकी वह विशेषावश्यक की स्वोपज्ञ वृत्ति अपूर्ण ही रह गई थी।

कोटचाचार्य ने उस अपूर्ण रही हुई वृत्ति को १३७०० श्लोक परिमाण मे पूर्ण किया। ऐसा अनुमान किया जाता है कि श्री कोट्याचार्य उन महान् ग्रन्थकार युग-प्रधानाचार्य जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण के ही शिष्य थे और उन्होने निरन्तर अपने गुरु की सेवा मे रहकर इन महान् ग्रन्थो के प्रणयन मे उनको उनके अन्तिम दिनो तक सहयोग देते रहे थे। वे अपने गुरु जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण के आगमपक्षीय ज्ञान और उनकी शैली से पर्याप्तरूपेण परिचित कृपा पात्र शिष्य थे। अपने गुरु की अपूर्ण रही रचना को शिष्य के द्वारा पूर्ण किये जाने के अनेक उदाहरण जैन वाग्मय मे उपलब्ध होते है। अपने गुरु की ग्रन्थप्रणयन शैली से परिचित होने के परिणाम-स्वरूप ही वे विशेषावश्यक भाष्य की अपूर्ण रही विशाल वृत्ति को पूर्ण करने मे सफल हुए।

युग प्रधानाचार्य जिनभद्रगरिण के आचार्यकाल के अन्य गरण एव गच्छ

जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण के युगप्रधानाचार्य काल मे वीर नि स १०७६ मे नागेन्द्र गच्छ की स्थापना हुई।

शंकरसेन, जसोभद्र एवं जिनभद्रगरिण के आचार्यकाल के रा ंश

युगप्रधानाचार्य जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण के युगप्रधानाचार्य काल मे वल्लभी पर शीलादित्य प्रथम का राज्य था। शीलादित्य के राज्यकाल मे ही उन्होने वल्लभी मे विशेषावश्यक भाष्य की रचना की।

हूरण राजवश

जिनभद्रगरिण क्षमाश्रमरण के युगप्रधानाचार्य काल मे हूरण राज मिहिरकुल का मालवा और राजस्थान के अनेक हिस्सो पर राज्य था। वीर नि० स० १०२६ के आस-पास अपने अपने पिता मालवराज तोरमारण की मृत्यु के उपरान्त यह मालवा के राजसिंहासन पर आरूढ हुआ था। चीनी यात्री ह्य त्साग ने अपने यात्रा विवरण मे लिखा है कि श्रावस्ती का राजा मिहिरकुल बौद्धो का बडा शत्रु था। इतिहासज्ञो का अभिमत है कि मिहिरकुल शैवमतानुयायी था। विदेशी हूरण होते हुए भी उसने हिन्दूधर्म अगीकार कर लिया था और वह शिव का परम भक्त था। मिहिरकुल बौद्ध स्तूपो और सघारामो को नष्ट कर बौद्धो को लूट लिया करता था। उसने अपने शासनकाल मे बौद्ध भिक्षुओ को अनेक प्रकार के कष्ट दिये। वीर नि० स० १०५६ के लगभग यशोधर्मा ने मिहिरकुल को युद्ध मे करारी हार दी, इस प्रकार का उल्लेख मन्दसौर के विजयस्तम्भ पर उत्कीर्ण शिलालेख मे विद्यमान है।[1]

चीनी यात्री ह्य त्साग ने अपने यात्रा विवरण मे लिखा है कि —

---

[1] स्थाणोरन्यत्र येन प्रणतिकृपणता प्रापित नोत्तमागे,
यन्याश्लिष्टो भुजाभ्या वहति हिमगिरिर्दुर्ग शब्दाभिमानम्।
नीचैस्तेनापि यस्य प्रणति भुजबलावर्जने क्लिष्ट मूर्द्धना,
चूडापुष्पोपहारैर्मिहिरकुल नृपेणार्चित पादयुग्मम्॥
(फ्लीकोरपस इन्स्क्रिप्शनम् जुडिकेरम, जिल्द ३, गुप्ता इन्सक्रिप्शन्स, पृष्ठ १४२ वर्स ६)

"जब मगध के राजा बालादित्य ने मिहिरकुल के अत्याचारो के सम्बन्ध मे सुना तो उसने अपने राज्य की सीमाओ की सुरक्षा के लिये प्रयत्न किया और मिहिरकुल को कर देना वन्द कर दिया। इस पर मिहिरकुल ने क्रुद्ध होकर उस पर आक्रमण कर दिया। बालादित्य ने उस युद्ध मे मिहिरकुल को पूर्णरूपेण पराजित कर बन्दी बना लिया। कालान्तर मे मिहिरकुल की माता की प्रार्थना पर बालादित्य ने उसे मुक्त कर दिया। मिहिरकुल की पराजय के समाचार सुन कर उसके छोटे भाई ने उसके राज्य पर अधिकार कर लिया था। इस कारण मिहिरकुल ने बालादित्य के कारागार से मुक्त होते ही काश्मीर मे शरण ली। कुछ ही समय पश्चात् उसने काश्मीर के राजा को मारकर काश्मीर पर अपना अधिकार जमा लिया। तदनन्तर उसने गान्धार प्रदेश पर अधिकार कर वहा के बौद्ध सघारामो को नष्ट किया।"

अधिकाश इतिहासकार चीनी यात्री के इस विवरण को इसलिये प्रामाणिक नही मानते कि राजतरगिणी के उल्लेखानुसार मिहिरकुल का पहले से ही काश्मीर पर अधिकार था। अधिकाश विद्वान् मन्दसौर के विजयस्तम्भ के उपरोक्त शिलालेख को ही प्रामाणिक मानते है।

विचार करने पर चीनी यात्री के यात्रा-विवरण पर भी सन्देह करने का कोई कारण प्रतीत नही होता। यह सभव है कि मिहिरकुल को यशोधर्मा ने पराजित किया हो। मदसौर के विजयस्तम्भ के शिलालेख की अतिम पक्ति "चूडापुष्पोपहारैर् मिहिरकुलनृपेणार्चित पादयुग्मम्" से स्पष्ट रूपेण यही प्रकट होता है कि यशोधर्मा ने मिहिरकुल को पराजित कर न तो मारा ही और न बन्दी ही बनाया। केवल उसने उससे अपने चरणयुगल की सेवा करवाई—उसे अपना अधीनस्थ करदाता राजा बना कर छोड दिया। उसके पश्चात् मिहिरकुल की शक्ति को क्षीण हुई देखकर सभवत बालादित्य ने मिहिरकुल को कर देना बन्द किया हो और इस कारण उसने बालादित्य पर आक्रमण कर दिया हो। इस पर सभवत. उन दोनो के बीच युद्ध हुआ हो और उसमे बालादित्य ने मिहिरकुल को, जिसकी कि शक्ति यशोधर्मा ने पहले ही क्षीण कर दी थी, बन्दी बना लिया हो। जहा तक काश्मीर राज्य का प्रश्न है, मिहिरकुल ने काश्मीर विजय पहले ही कर ली थी। उसका राज्य वलख से मध्यप्रदेश तक और पूर्वी भारत मे कौशाम्बी तक फैला हुआ था। परन्तु जब वह यशोवर्धन और बालादित्य से युद्धो मे उलझा रहा और दोनो ही युद्धो मे पराजित हुआ तो सभव है उस समय काश्मीर पर उसी के द्वारा नियत किये हुए शासक ने अधिकार कर लिया हो और काश्मीर मे शरण ले उसने येन केन प्रकारेण पुन काश्मीर राज्य पर अधिकार कर लिया हो।

जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के युगप्रधानाचार्य काल मे ही वीर नि० स० १०६६ मे उसकी मृत्यु हो गई। कल्हण की राजतरगिणी मे उल्लेख है कि मिहिर-कुल ने श्रीनगर मे मिहिरेश्वर महादेव की स्थापना की और मिहिरपुर नामक नगर बसाया। उस अवसर पर उसने कन्दहार (कन्धार) के ब्राह्मणो को विपुल दान दिया। अन्त समय मे वह रोगग्रस्त हो गया और असह्य पीडा के कारण उसने अग्निप्रवेश किया। इस प्रकार कुल मिलाकर ७० वर्ष तक राज्य कर वह पचत्व को प्राप्त हुआ।

श्रमण भगवान् के ३१वे प धर आचार्य
श्री वीर सेन

जन्म	—	वीर नि. स १०४०
दीक्षा	—	,, ,, १०७५
आचार्य पद	—	,, ,, १११६
स्वर्गारोहण	—	वीर वि स ११३२
गृहवास-पर्याय	—	३५ वर्ष
सामान्य साधु-पर्याय	—	४१ वर्ष
आचार्य-पर्याय	—	१६ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	५७ वर्ष
पूर्ण आयु	—	९२ वर्ष

भ महावीर के ३०वें पट्टधर आचार्य श्री जसोभद्र स्वामी के स्वर्गस्थ हो जाने के पश्चात् उनके सकल विद्या निष्णात, क्रियानिष्ठ एव शास्त्रसार मर्मज्ञ विद्वान् शिष्य श्री वीरसेन को वीर नि स १११६ तदनुसार विक्रम स ६४६ मे भगवान् महावीर की मूल श्रमण परम्परा के आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया। इस प्रकार आचार्य वीरसेन वीर प्रभु के ३१वे पट्टधर हुए।

—o—

श्रमण भगवान् महावीर के ३२वे पट्टधर   चार्य
श्री वीरजस

जन्म	—	वीर नि० स० ११०३ ।
दीक्षा	—	वीर नि० स० १११८
आचार्य पद	—	वीर नि० स० ११३२
स्वर्गारोहण	—	वीर नि० स० ११४६
गृहवास पर्याय	—	१५ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	१४ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	१७ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	३१ वर्ष
पूर्ण आयु	—	४६ वर्ष

वीर निर्वाण स० ११३२ मे भगवान् महावीर की मूल परम्परा के ३१वे आचार्य श्री वीरसेन के दिवगत हो जाने पर उनके उत्तराधिकारी प्रमुख विद्वान् शिष्य श्री वीरजस को उसी वर्ष मे भगवान् महावीर के ३२वे पट्टधर के रूप मे आचार्य पद पर आसीन किया गया। श्री वीरजस ने १५ वर्ष की स्वल्पायु मे प्रभु के ३१वे पट्टधर आचार्य वीरसेन से पच महाव्रत रूप श्रमण धर्म की दीक्षा अगीकार कर अपनी १४ वर्ष की सामान्य साधु पर्याय मे आगमो के साथ-साथ विविध विषयो के ग्रन्थो का अध्ययन किया। मुनि वीरजस की सुतीक्ष्ण बुद्धि एव आर्जव-मार्दव वाग्मिता, विनय, भव्य व्यक्तित्व आदि गुणो पर मुग्ध होकर चतुर्विध सघ ने उन्हे २६ वर्ष जैसी पूर्ण यौवन-वय मे आचार्य पद के गुरुतर भार को वहन करने के योग्य समझ कर भगवान् महावीर के ३२वे पट्टधर के रूप मे आचार्य पद पर आसीन किया।

श्रमण भगवान् महावीर के ३३वे पट्टधर ाचार्य श्री जयसेन

जन्म	—	वीर नि० स० ११००
दीक्षा	—	वीर नि० स० ११३५
आचार्य पद	—	वीर नि० स० ११४९
स्वर्गारोहण	—	वीर नि० स० ११६७
गृहवास पर्याय	—	३५ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	१४ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	१८ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	३२ वर्ष
पूर्ण आयु	—	६७ वर्ष

श्रमण भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा के ३२वे पट्टधर आचार्य श्री वीरजस के स्वर्गवास के अनन्तर वीर निर्वाण स० ११४९ मे प्रभु के ३३वे पट्टधर के रूप मे विद्वान् श्रमण श्रेष्ठ श्री जयसेन को चतुर्विध तीर्थ के आचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया। आपने वीर नि० स० ११३५ से ११६७ पर्यन्त ३२ वर्ष तक विशुद्ध श्रमणाचार का पालन करते हुए एव वीर निर्वाण स० ११४९ से ११६७ तक आचार्य पद के गुरुत्तर कार्यभार को सफलतापूर्वक वहन कर जिन शासन की महती सेवा की।

श्रमण भगवान् महावीर के ३४वे पट्टधर   चार्य
श्री हरिषेण

जन्म	—	वीर नि० स० ११०२
दीक्षा	—	वीर नि० स० ११४०
आचार्य पद	—	वीर नि० स० ११६७
स्वर्गारोहण	—	वीर नि० स० ११९७
गृहवास पर्याय	—	३८ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२७ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	३० वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	५७ वर्ष
पूर्ण आयु	—	९५ वर्ष

प्रभु महावीर के ३३वे पट्टधर आचार्य जयसेन के स्वर्गस्थ हो जाने के पश्चात् उनके शिष्य मुनि हरिषेण को वीर प्रभु के ३४वे पट्टधर के रूप मे वीर नि० स० ११६७ मे चतुर्विध सघ द्वारा आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया।

—०—

भगवान् महावीर के २९ वे एवं तीसवे पट्टधर क्रमशः शंकर ेन ौर जसोभद्र के आचार्य काल के समय के प्रमु ग्रन्थकार ।

(१) कोट्टाचार्य—इन्होने जिन भद्रगणि क्षमाश्रमण द्वारा लिखित विशेषावश्यक की अपूर्ण टीका को पूर्ण किया। इन्होने जिनभद्र गणि से शास्त्रो का शिक्षण प्राप्त किया था। इससे अधिक इनके सम्बन्ध मे विशेष परिचय उपलब्ध नही होता।

(२) सिंहगणि (सिंहसूर)—इन्होने नयचक्र टीका नामक दार्शनिक ग्रन्थ की रचना की। इनका भी इतना ही परिचय उपलब्ध है।

(३) कोट्याचार्य—ये कोट्टाचार्य से भिन्न उत्तरकालवर्ती विद्वान् आचार्य थे। इन्होने विशेषावश्यक भाष्य पर टीका की रचना की। ये विक्रम की आठवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आचार्य थे।

इकत्तीसवे (३१) युग प्रधानाचार्य श्री स्वाति
(हारित गोत्रीय स्वाति से भिन्न)

जन्म	—	वीर नि० स० १०८७
दीक्षा	—	वीर नि० स० ११०७
सामान्य साधु पर्याय	—	वीर नि० स० ११०७ से १११५
युगप्रधानाचार्य काल	—	वीर नि० स० १११५ से ११९७
स्वर्ग	—	वीर नि० स० ११९७
सर्वायु	—	११० वर्ष, २ मास और दो दिन

तीसवे युगप्रधानाचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गस्थ होने पर वीर निर्वाण सवत् १११५ मे चतुर्विध सघ ने आर्य स्वाति को युगप्रधानाचार्य पद पर आसीन किया।

आर्य स्वाति का नाम उमास्वाति भी उपलब्ध होता है। अनेक पट्टावलियो मे इन्हे वाचक भी लिखा गया है।

आर्य स्वाति का जन्म वीर निर्वाण सम्वत् १०८७ मे हुआ। वीर निर्वाण स० ११०७ मे २० वर्ष की अवस्था मे आपने श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की।

वीर निर्वाण सम्वत् १११५ से ११९७ तदनुसार ८२ वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद का गुरुतर भार वहन करते हुए आर्य स्वाति ने जिन शासन की महती सेवा की।

११० वर्ष, २ मास और २ दिन की आयु पूर्ण कर आप वीर निर्वाण सम्वत् ११९७ मे स्वर्गस्थ हुए।

उमा स्वाति के सम्बन्ध मे 'विचार श्रेणि' मे एक गाथा उपलब्ध होती है जो इस प्रकार है —

बारसवास सएसु, पन्नासहिएसु वद्धमाणाओ ।
चउद्दसि पढम पवेसो, पकप्पिओ साइसूरिहि ।।

अर्थात्—पन्नासहिएसु यानि वीर निर्वाण के बारह सौ (१२००) वर्ष बीतने मे जब ५० (पचास) वर्ष कम रहे, उस समय अर्थात् वीर निर्वाण सम्वत् ११५० मे स्वाति सूरि द्वारा सर्व प्रथम चतुर्दशी के दिन पाक्षिक प्रतिक्रमण करने की परिपाटी प्रारम्भ की गई ।

'रत्नसचय' ग्रन्थ मे इससे कुछ भिन्न निम्नलिखित गाथा उपलब्ध होती है –

वारसवास सएसु पुणिम दिवसाओ पक्खिय जेण ।
चाउद्दसी पठवेसु पकप्पिओ साहिसूरिहि ।।

अर्थात् वीर निर्वाण से १२०० (बारह सौ) वर्ष पश्चात् साहि सूरि ने पाक्षिक प्रतिक्रमण पूर्णिमा से हटाकर चतुर्दशी के दिन प्रचलित की ।

उमास्वाति और ये स्वाति भिन्न-भिन्न है । एक नही ।

इससे अधिक जानकारी इनके सम्बन्ध मे उपलब्ध नही होती ।

थारपद्रगच्छ

श्रमण भगवान् महावीर के ३४वे पट्टधर आचार्य श्रीहरिषेण के आचार्य-काल मे हारिलगच्छ के पाचवे पट्टधर आचार्य बटेश्वर सूरि हारिल गच्छ की ही उपशाखा स्वरूप थारपद्र गच्छ के सस्थापक थे।

सोलकी परमार राजा थिरपाल ध्रुव ने वि० स० १०१ मे थराद नामक नगर बसाया। इसी नगर मे चन्द्रकुल के हारिल गच्छ के आचार्य बटेश्वरसूरि ने थारपद्र नामक एक गच्छ की स्थापना की। थराद अथवा थारपद्र नगर मे इस गच्छ की स्थापना की गई थी इसलिए बटेश्वर सूरि द्वारा सस्थापित यह गच्छ लोक मे थारपद्रगच्छ के नाम से विख्यात हुआ।

हारिल वश अथवा हारिल गच्छ की पट्टावली मे युगप्रधानाचार्य हारिलसूरि अपरनाम हरिगुप्त सूरि अथवा हरिभद्रसूरि को इस गच्छ का प्रथम आचार्य बताया गया है। उनके पश्चात् क्रमश देवगुप्तसूरि, शिवचन्द्रगणि और यक्षदत्त गणि को हारिलसूरि का द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पट्टधर बताया गया है। हारिल गच्छ की परम्परा मे बटेश्वर क्षमाश्रमण को हारिल गच्छ का पाचवा आचार्य बताया है।

हारिल गच्छ के चौथे आचार्य यक्षदत्त के नाग, वृन्द, मम्मड, दुर्ग, अग्नि शर्मा और बटेश्वर ये ६ प्रमुख शिष्य थे। इन ६ के अतिरिक्त उनके और अनेक शिष्य थे। आचार्य यक्षदत्तगणि क्षमाश्रमण ने अपने उपरि नामाकित छहो विद्वान् शिष्यो को आचार्य पद प्रदान किये।

उनके इन छहो शिष्यो मे वय की दृष्टि से बटेश्वर सबसे छोटे थे।

आचार्य पद प्राप्त करने के पश्चात् नाग बटेश्वर प्रभृति छहो आचार्य अपने गुरुदेव की आज्ञानुसार अपने-अपने श्रमणसमूह सहित विभिन्न क्षेत्रो मे जैनधर्म का प्रचार करते हुए विचरण करने लगे।

आचार्य बटेश्वर विचरण करते हुए थारपद्र नगर मे आये। वहा उन्होने अपने उपदेशो से अनेक भव्यो को धर्म मार्ग पर स्थिर किया। अनेको को सम्यक्त्व का बोध प्रदान कर सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र मे आस्थावान् बनाया। स्वल्प समय मे ही बटेश्वरसूरि के भक्तो की सख्या मे आशातीत वृद्धि हुई। अपने भक्तो के अनुरोध पर सघ का सुचारू रूप से सचालन करने के लिए उन्होने थारपद्र नगर मे थारपद्रगच्छ की स्थापना की।

इस नवीन गच्छ की स्थापना के पश्चात् आचार्य वटेश्वर ने थराद, उमरकोट—जो उस समय आकाशवप्र के नाम से विख्यात था, आदि अनेक क्षेत्रो मे जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ अनेक जिनमन्दिरो का निर्माण करवाया ।

बटेश्वरसूरि बडे ही शान्त और सौम्य प्रकृति के आचार्य थे । अपने प्रतिभाशाली प्रभावक व्यक्तित्व और वाणी की माधुरी के कारण वे उन सभी क्षेत्रो मे, जहा-जहा उन्होने विचरण किया, बडे ही लोकप्रिय हो गये । उन्होने अन्तस्तलस्पर्शी उपदेशो से विभिन्न क्षेत्रो के अनेक भव्य प्राणियो को धर्म-मार्ग पर आरूढ एव स्थिर किया ।

आचार्य बटेश्वरसूरि के पट्टधर शिष्य का नाम तत्वाचार्य और प्रपट्टधर आचार्य का नाम उद्योतन सूरि था । इनके प्रशिष्य उद्योतनसूरि ने "कुवलयमाला" नामक एक उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थ की रचना की, जो प्राकृत कथा साहित्य का अनेक शताब्दियो से बडा लोकप्रिय ग्रन्थ रत्न रहा है ।

उद्योतनसूरि के गुरुभ्राता यक्ष महत्तर के एक महातपस्वी प्रमुख शिष्य कृष्णर्षि ने कालान्तर मे कृष्णर्षिगच्छ की स्थापना की, जो हारिल गच्छ का ही उपगच्छ अथवा प्रशाखा रूपी गच्छ माना गया है ।

इस थारपद्र गच्छ की एक प्रशाखा के रूप मे वि० स० १२२२ मे पिप्पलक गच्छ की उत्पत्ति हुई ।

थारपद्र गच्छ मे अनेक प्रभावक आचार्य हुए है । इस गच्छ के विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के एक आचार्य वादिवैताल विरुद से विभूषित शान्ति सूरि ने उत्तराध्ययन सूत्र पर टीका की रचना की । आचार्य शान्तिसूरि द्वारा रचित उत्तराध्ययन वृत्ति अनेक गूढ तत्त्वो को समीचीनतया बडी सुगमता से समझा देने वाले अतीव रोचक एव शिक्षाप्रद दृष्टातो एव हृदयस्पर्शी कथानको से ओत-प्रोत है । इनके स्वर्गारोहण काल के सम्बन्ध मे पट्टावली समुच्चयकार ने लिखा है —

विक्रम षण्णवत्यधिक सहस्र १०९६ वर्षे श्री उत्तराध्ययनसूत्रवृत्तिकृत् थारपद्रीय गच्छीय वादि वैताल श्री शान्तिसूरि स्वर्गभाक् ।

इन्ही वादि वैताल शान्तिसूरि के सम्बन्ध मे धर्मघोषसूरि ने दुस्समासमणसघथय की अवचूरि मे लिखा है —

वल्लभीसघकज्जे, उज्जमिओ जुगपहाणतुल्लेहिं ।
गघव्ववाइवेआल, सतिसूरिहिं बहुलाए ।।

अर्थात्—वल्लभी पर सकट के समय वादिवैताल शान्ति सूरि ने एक युगप्रधान आचार्य के समान वल्लभी के सघ के हित साधन के लिए अति कठोर परिश्रम के साथ अनेक उल्लेखनीय कार्य किये ।

थारपद्रगच्छ

श्रमण भगवान् महावीर के ३४वे पट्टधर आचार्य श्रीहरिषेण के आचार्य-काल मे हारिलगच्छ के पाचवे पट्टधर आचार्य बटेश्वर सूरि हारिल गच्छ की ही उपशाखा स्वरूप थारपद्र गच्छ के सस्थापक थे ।

सोलकी परमार राजा थिरपाल ध्रुव ने वि० स० १०१ मे थराद नामक नगर बसाया । इसी नगर मे चन्द्रकुल के हारिल गच्छ के आचार्य बटेश्वरसूरि ने थारपद्र नामक एक गच्छ की स्थापना की । थराद अथवा थारपद्र नगर मे इस गच्छ की स्थापना की गई थी इसलिए बटेश्वर सूरि द्वारा सस्थापित यह गच्छ लोक मे थारपद्रगच्छ के नाम से विख्यात हुआ ।

हारिल वश अथवा हारिल गच्छ की पट्टावली मे युगप्रधानाचार्य हारिलसूरि अपरनाम हरिगुप्त सूरि अथवा हरिभद्रसूरि को इस गच्छ का प्रथम आचार्य बताया गया है । उनके पश्चात् क्रमश देवगुप्तसूरि, शिवचन्द्रगणि और यक्षदत्त गणि को हारिलसूरि का द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ पट्टधर बताया गया है । हारिल गच्छ की परम्परा मे बटेश्वर क्षमाश्रमण को हारिल गच्छ का पाचवा आचार्य बताया है ।

हारिल गच्छ के चौथे आचार्य यक्षदत्त के नाग, वृन्द, मम्मड, दुर्ग, अग्नि शर्मा और बटेश्वर ये ६ प्रमुख शिष्य थे । इन ६ के अतिरिक्त उनके और अनेक शिष्य थे । आचार्य यक्षदत्तगणि क्षमाश्रमण ने अपने उपरि नामाकित छहो विद्वान् शिष्यो को आचार्य पद प्रदान किये ।

उनके इन छहो शिष्यो मे वय की दृष्टि से बटेश्वर सबसे छोटे थे ।

आचार्य पद प्राप्त करने के पश्चात् नाग बटेश्वर प्रभृति छहो आचार्य अपने गुरुदेव की आज्ञानुसार अपने-अपने श्रमणसमूह सहित विभिन्न क्षेत्रो मे जैनधर्म का प्रचार करते हुए विचरण करने लगे ।

आचार्य बटेश्वर विचरण करते हुए थारपद्र नगर मे आये । वहा उन्होने अपने उपदेशो से अनेक भव्यो को धर्म मार्ग पर स्थिर किया । अनेको को सम्यक्त्व का बोध प्रदान कर सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यग्चारित्र मे आस्थावान् बनाया । स्वल्प समय मे ही बटेश्वरसूरि के भक्तो की सख्या मे आशातीत वृद्धि हुई । अपने भक्तो के अनुरोध पर सघ का सुचारू रूप से सचालन करने के लिए उन्होने थारपद्र नगर मे थारपद्रगच्छ की स्थापना की ।

इस नवीन गच्छ की स्थापना के पश्चात् आचार्य वटेश्वर ने थराद, उमरकोट—जो उस समय आकाशवप्र के नाम से विख्यात था, आदि अनेक क्षेत्रो मे जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के साथ-साथ अनेक जिनमन्दिरो का निर्माण करवाया ।

बटेश्वरसूरि बडे ही शान्त और सौम्य प्रकृति के आचार्य थे । अपने प्रतिभाशाली प्रभावक व्यक्तित्व और वाणी की माधुरी के कारण वे उन सभी क्षेत्रो मे, जहा-जहा उन्होने विचरण किया, बडे ही लोकप्रिय हो गये । उन्होने अन्तस्तलस्पर्शी उपदेशो से विभिन्न क्षेत्रो के अनेक भव्य प्राणियो को धर्म-मार्ग पर आरूढ एव स्थिर किया ।

आचार्य बटेश्वरसूरि के पट्टधर शिष्य का नाम तत्वाचार्य और प्रपट्टधर आचार्य का नाम उद्योतन सूरि था । इनके प्रशिष्य उद्योतनसूरि ने "कुवलयमाला" नामक एक उत्कृष्ट कोटि के ग्रन्थ की रचना की, जो प्राकृत कथा साहित्य का अनेक शताब्दियो से बडा लोकप्रिय ग्रन्थ रत्न रहा है ।

उद्योतनसूरि के गुरुभ्राता यक्ष महत्तर के एक महातपस्वी प्रमुख शिष्य कृष्णर्षि ने कालान्तर मे कृष्णर्षिगच्छ की स्थापना की, जो हारिल गच्छ का ही उपगच्छ अथवा प्रशाखा रूपी गच्छ माना गया है ।

इस थारपद्र गच्छ की एक प्रशाखा के रूप मे वि० स० १२२२ मे पिप्पलक गच्छ की उत्पत्ति हुई ।

थारपद्र गच्छ मे अनेक प्रभावक आचार्य हुए है । इस गच्छ के विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के एक आचार्य वादिवैताल विरुद से विभूषित शान्ति सूरि ने उत्तराध्ययन सूत्र पर टीका की रचना की । आचार्य शान्तिसूरि द्वारा रचित उत्तराध्ययन वृत्ति अनेक गूढ तत्त्वो को समीचीनतया बडी सुगमता से समझा देने वाले अतीव रोचक एव शिक्षाप्रद दृष्टातो एव हृदयस्पर्शी कथानको से ओत-प्रोत है । इनके स्वर्गारोहण काल के सम्बन्ध मे पट्टावली समुच्चयकार ने लिखा है —

विक्रम षण्णवत्यधिक सहस्र १०९६ वर्षे श्री उत्तराध्ययनसूत्रवृत्तिकृत् थारपद्रीय गच्छीय वादि वैताल श्री शान्तिसूरि स्वर्गभाक् ।

इन्ही वादि वैताल शान्तिसूरि के सम्बन्ध मे धर्मघोषसूरि ने दुस्समासमणसघथय की अवचूरि मे लिखा है —

वल्लभीसघकज्जे, उज्जमिओ जुगपहाणतुल्लेहिं ।
गधव्ववाइवेआल, सतिसूरिहिं बहुलाए ।।

अर्थात्—वल्लभी पर सकट के समय वादिवैताल शान्ति सूरि ने एक युगप्रधान आचार्य के समान वल्लभी के सघ के हित साधन के लिए अति कठोर परिश्रम के साथ अनेक उल्लेखनीय कार्य किये ।

इस अवचूरि के रचयिता धर्मघोष वि स १३२७ से १३५७ तक अर्थात् ३० वर्ष तक आचार्य पद पर रह कर स्वर्गस्थ हुए।

यहा एक बात विचारणीय है, वह यह है कि वल्लभी का अन्तिम भग अथवा अन्तिम पतन अनेक इतिहासविदो ने वि स ८४५ के लगभग अनुमानित किया है और शान्तिसूरि का स्वर्गवास विक्रम स १०९६ मे हुआ। इस प्रकार की स्थिति मे अपने स्वर्गस्थ होने से २५१ वर्ष पूर्व हुए वल्लभी भग से प्रपीडित वल्लभी के सघ की किसी प्रकार की सहायता की हो, इस बात की तो कल्पना तक भी नही की जा सकती।

यह सभव हो सकता है कि विक्रम स १०५० से १०९६ के बीच की अवधि मे वल्लभी के जैन सघ पर किसी प्रकार का सकट आया हो और उस सकटकाल मे वादिवैताल शान्ति सूरि ने वल्लभी के सघ की सहायतार्थ कठोर परिश्रम किया हो।

विक्रम की ९१५, भाद्रपद शुक्ला ५ बुधवार, स्वाति नक्षत्र मे, जिस समय नागौर मे ग्वालियर के महाराज आम के पौत्र महाराज भोजदेव का राज्यकाल था उस समय थारपद्रगच्छ के आचार्य जयसिह सूरि (कृष्णर्षि के शिष्य) ने अपनी ९८ गाथात्मक धर्मोपदेश माला और उस पर ५७७८ श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञ वृत्ति का निर्माण किया। वृत्ति की प्रशस्ति मे उन्होने थारपद्र गच्छ के सस्थापक वटेश्वरसूरि से प्रारम्भ कर स्वय तक की अपने गच्छ (थारपद्रगच्छ) की पट्टावली दी है। उस पट्टावली मे जयसिहसूरि ने वटेश्वरसूरि को देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण की स्थविरावली का आचार्य और क्षमाश्रमण विरुदधर बताया है।

थारपद्र गच्छ के सस्थापक आचार्य वटेश्वर थे, इस लिए इस गच्छ का अनेक स्थानो पर वटेश्वर गच्छ और थारपद्र गच्छ इन दोनो नामो से उल्लेख किया गया है।

राजनैतिक स्थिति

कलभ्रो द्वारा सम्पूर्ण तमिल प्रदेश पर अधिकार

'पेरियपुराण', वेल्वीकुण्डी के दानपत्र और त्रिचनापल्ली से दो माइल की दूरी पर अवस्थित सेण्डलाई (पुराना नाम चेन्द्रलेघाई चतुर्वेद मगलम्) के अभिलेख से, (जो टी ए गोपीनाथ द्वारा सेन तामिल के वाल्यूम स० ६ मे प्रकाशित किया गया), बौद्ध ग्रन्थो मे उपलब्ध कलभ्र कुल के अच्युतविक्रान्त सम्बन्धी उल्लेखो, तमिल साहित्य की उत्तरकालीन कथाओ और तमिल के दसवी शताब्दी के जैन वैयाकरण अमित सागर द्वारा कलभ्रो के सम्बन्ध मे उद्धृत किये गये गीतो से यह एक ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश मे आता है कि ईसा की छठी तदनुसार वीर निर्वाण की ग्यारहवी शताब्दी मे विशाल सैन्यदल लेकर प्रचण्ड वेग से सम्पूर्ण तमिल प्रदेश को आक्रान्त कर कलभ्रो ने पाण्ड्य, पल्लव, चोल और चेर—इन चार शक्तिशाली राज्यो को नष्ट कर दिया जो शताब्दियो से तमिल प्रदेश के विभिन्न विशाल भागो पर राज्य करते आ रहे थे ।

उन्हे पराजित कर सम्पूर्ण (तमिल) प्रदेश पर कलभ्रो ने अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया । पेरिय पुराणकार ने आगे लिखा है कि उन कलभ्रो ने तमिल प्रदेश की धरती मे आते ही जैनधर्म अगीकार कर लिया । उस समय तमिलदेश मे जैनो की सख्या अगणित (अपरिगणनीय) थी । जैनो के प्रभाव मे आकर उन कलभ्रो ने शैव सन्तो का सहार करना प्रारम्भ कर दिया । उन्होने शैव देवताओ की पूजा बन्द करवा दी । यहा यह विचारणीय है कि अहिंसा के दृढ उपासक गिने जाने वाले जैनो ने कही किन्ही का सहार जैसा कार्य किया हो, चाहे फिर उन्हे कितना ही राज्याश्रय प्राप्त रहा हो । सम्प्रति एव खारवेल के समय भी ऐसा कोई उल्लेख नही मिलता । इस सम्बन्ध मे इतिहासज्ञो से आगे शोध की अपेक्षा है ।

'पेरियपुराणम्' के इन विवरणो को पढने से प्रत्येक पाठक को ऐसा आभास होता है—मानो स्वय जैनो ने ही कलभ्रो को तमिल प्रदेश मे इस अभिप्राय से आमन्त्रित किया हो कि उनके धर्म की स्थिति तमिल प्रदेश मे और अधिक सुदृढ एव सशक्त हो जाय ।

कलभ्रो द्वारा तमिल प्रदेश पर आक्रमण, मदुरा के पाण्ड्यराज की कलभ्रो द्वारा पराजय, चोल, चेर और पल्लवो के राज्यो पर कलभ्रो द्वारा अधिकार—इस पूरे घटनाचक्र के सम्वन्ध मे उपरिलिखित पेरियपुराणम् आदि के उल्लेखो के अतिरिक्त और कोई उल्लेख वर्तमान मे उपलब्ध नही है ।

सेण्डलेइ (चेन्द्रलेघई) के जिस उपर्युल्लिखित अभिलेख को श्री टी ए गोपीनाथ राव ने सेन तमिल के वोल्यूम स० ६ मे प्रकाशित करवाया है, वह सेण्डलेइ ग्राम के 'मीनाक्षी सुन्दरेश्वरार' नामक शैव मन्दिर के स्तम्भो पर बडे ही सुन्दर ढग से उट्टकित है। इन स्तम्भो के सम्बन्ध मे श्री गोपीनाथ राव का अभिमत है कि वस्तुत ये स्तम्भ किसी अन्य मन्दिर के स्तम्भ थे, सभवत पूर्वकाल मे ये किसी सिल्वन देवी के मन्दिर के स्तम्भ हो। इन स्तम्भो पर 'पेरम्पिड्गु मुत्तराइयन' नामक राजा और उसके उत्तराधिकारी राजाओ के नाम उट्टकित है, जो इस प्रकार हैं —

१ पेरम्पिड्गु मुत्तरायन प्रथम-अपर नाम कुवावन मारन्। उसका पुत्र —

२ ल्लगोवति एरैयन-अपरनाम-मारन परमेश्वरन्, उसका पुत्र —

३ पेरम्पिड्गु मुत्तराइयन द्वितीय, अपरनाम-सुवरन मारन्

४ श्री मारन्

५ श्री कल्वरकल्वन,

६ श्री शत्रुकेसरी

७ श्री कलभ्रकल्वन

८ श्री कल्वकल्वन्

इस कल्वकल्वन के स्थान पर कही-कही पण्डारम् भी है। इनकी मारन् और नेन्दुमारन् इन उपाधियो से यही प्रकट होता है कि ये पाण्ड्यो के विजेता थे। उक्त अभिलेख मे उल्लिखित राजाओ के आगे कल्वरकल्वन, कलभ्रकल्वन और कल्वकल्वन—ये तीन उपाधिया उट्टङ्कित हैं, उन तीनो का एक ही अर्थ होता है—लुटेरो के लुटेरे, अथवा राजाओ को लूटने वाले। इससे यह अनुमान किया जाता है कि वेल्विकुण्डी के दानपत्र मे जिन कलभ्रो का उल्लेख है, वे वास्तव मे कल्वर अथवा कल्लार थे। कल्वर शब्द भी देखा जाय तो कलभ्र शब्द का ही दूसरा रूप है क्योकि कन्नड भाषा मे 'भ' को 'व' पढा जाता है।

जब उन कलभ्रो ने पाण्ड्य राज्य पर विजय प्राप्त कर उसे कुछ समय के लिये अपने अधिकार मे कर लिया तो इस विजय के उपलक्ष मे कलभ्र राजाओ ने 'मुत्ताराइन' की उपाधि धारण कर ली। 'मुत्ताराइन' शब्द का एक अर्थ तो होता है 'तीन राज्यो अथवा तीन धरतियो के स्वामी' और दूसरा अर्थ होता है 'मोतियो के स्वामी।' इन राजाओ द्वारा धारण की गई 'मुत्ताराइन' उपाधि का यहा पहला अर्थ ही उपयुक्त प्रतीत होता है, क्योकि वेल्विकुण्डी—दानपत्र के उल्लेखानुसार

उन्होने चोल, पाण्ड्य और चेर इन तीन देशो अर्थात् इन तीन राज्यो को जीता था। पूर्वकालीन साहित्य मे देश शब्द राज्य के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता रहा है।

उत्तरकालीन तमिल कथासाहित्य से भी इस बात की पुष्टि होती है कि कलभ्रो ने चोल, चेर और पाण्ड्य इन तीनो ही शक्तिशाली राज्यो के राजाओ को युद्ध मे परास्त करके तमिल प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। कलभ्रो के आक्रमण के परिणामस्वरूप चोल राज्य पूर्णत नष्ट हो गया और चोलो के द्वारा स्थापित सुन्दर प्रशासनिक व्यवस्था भी समाप्त हो गई। चोलो द्वारा सस्थापित प्रशासनिक व्यवस्था मे स्थानीय स्वशासनाधिकार को बडा प्रोत्साहन दिया गया था पर साथ ही समग्र प्रशासनिक व्यवस्था पर केन्द्र का सुदृढ और सबल नियन्त्रण भी रहता था।

कलभ्रो द्वारा तमिल प्रदेश पर किये गये इस अधिकार के सम्बन्ध मे पेरियपुराण मे जो विवरण दिया गया है, उसमे यह नही बताया गया है कि ये कलभ्र कौन थे और किस प्रान्त से अथवा किस राज्य से आये थे, इस सम्बन्ध मे केवल इतना ही उल्लेख है कि वे लोग बडुग कर्णाटक लोग थे। इससे कुछ विद्वानो का यह अनुमान है कि कलभ्र कर्णाटक तथा आन्ध्र प्रदेश के निवासी थे।

त्रिचनापल्ली जिले मे, वर्तमान काल मे मुत्ताराइर है, जो साधारण भूस्वामी है। आन्ध्र प्रदेश मे वे मुत्तुराजक्कल के नाम से अभिहित किये जाते है। मेलुर ताल्लुक मे जो मुत्ताराइन है वे अम्बलकारन कहे जाते है और उनकी जाति कल्लार है।

कलभ्रो के सम्बन्ध मे इन सब तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर निश्चित रूप से तो यह नही कहा जा सकता कि वे आन्ध्र प्रदेश से आये थे अथवा कर्णाटक प्रदेश से, अथवा वे तमिल प्रदेश के ही निवासी थे। पर यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि कलभ्र दक्षिण भारत के ही निवासी थे।

इतिहास के कतिपय मूर्धन्य विद्वानो ने, दिगम्बर परम्परा के दर्शनसार नामक केवल ५१ गाथाओ के छोटे से किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण ग्रन्थ की गाथा स० २४ से २८ मे वर्णित द्रविड सघ की वि० स० ५२६ (वीर नि० स० ६९६, तदनुसार ई० सन् ४६६) मे मदुरा मे उत्पत्ति की घटना को लेकर जैनो द्वारा हिन्दुओ की प्रतिस्पर्धा मे नये साहित्यिक सगम की स्थापना की कल्पना कर ली है। इस कल्पना के आधार पर उन्होने अपना अभिमत व्यक्त किया है कि इस प्रकार नये साहित्यिक सगम की स्थापना से हिन्दुओ और जैनो के हृदयो मे परस्पर मनोमालिन्य उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होता ही गया। मदुरा मे द्रविड सघ के निर्माण के थोडे समय पश्चात् ही कलभ्रो ने तमिल प्रदेश के चोल, चेर और पाण्ड्य इन तीनो राजाओ के राज्यो पर आक्रमण कर उन पर अधिकार कर लिया।

वस्तुस्थिति वास्तव मे इससे नितान्त भिन्न ही है। दर्शनसार मे केवल द्रविड सघ ही नही अपितु जैनो मे समय-समय पर श्वेतपट सघ, यापनीय सघ, काष्ठा सघ, माथुर सघ आदि विभिन्न इकाइयो के रूप मे उत्पन्न हुए जैन सघ के ही भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो, आम्नाओ अथवा शाखा-प्रशाखाओ के प्रादुर्भाव का वर्णन है। विक्रम की प्रथम शताब्दी के लगभग सभी धर्मो के भेदभाव की भावना से रहित उच्चकोटि के विद्वानो के जो सगम आयोजित किये जाते रहते थे और जिनमे सर्वोत्कृष्ट ग्रन्थ—रचनाओ को उस सगम की ओर से मान्यता प्रदान की जाती थी, उस प्रकार के सगम से मदुरा मे हुए द्रविड सघ का कोई सम्बन्ध नही। जैन श्रमण के लिये परम्परा मे जो कार्य वर्जनीय माने गये है, वज्रनन्दि ने अपने पक्ष के श्रमणो को उनमे से कतिपय कार्य करने की अनुज्ञा प्रदान की, अर्थात् जैन श्रमण की दिनचर्या के कठोर आचरणीय कार्यो से कतिपय मे छूट दी। वह कोई देश के चोटी के विद्वानो की महान् कृतियो के गुणावगुण आकने के लिये आमन्त्रित विद्वद्वर्यो का सगम नही अपितु पहले से ही अनेक इकाइयो मे विभक्त हुए जैन सघ मे एक और फूट उत्पन्न करने वाला कतिपय साधुओ का सम्मिलन मात्र था, जिसमे निम्नलिखित घोषणाए की गईं —

वीजो मे कोई जीव नही होता। प्रासुक, सावद्य अथवा गृहीकल्पित आदि को हम नही मानते। कृषि, वाणिज्य आदि से साधु अपना पोषण करे और शीतल जल से स्नान करे। इसमे कोई दोष अथवा पाप नही है।

तमिल भाषा के प्राचीन जैन साहित्य मे सर्वप्रथम स्थान पर 'तिरु कुरल' और दूसरे स्थान पर 'नालडियार' की गणना की जाती है। नालडियार मे 'मुत्तरायर' के नाम से कलभ्रो का वडे आदर एव सम्मान के साथ दो स्थानो पर उल्लेख किया गया है। यह पहले वताया जा चुका है कि तमिल प्रदेश पर अपना अधिकार स्थापित कर लेने एव चोल, चेर एव पाण्ड्य इन तीन शक्तिशाली राज्यो के स्वामी बन जाने के पश्चात् कलभ्रो ने यह मुत्तरायर उपाधि धारण की।

नालडियार के पद अथवा छद सख्या २०० मे कलभ्रो की दानशीलता की प्रशसा करते हुए कहा गया है—"तीन भूमियो अर्थात् तीन शक्तिशाली राज्यो के स्वामी बडी ही उदारतापूर्ण प्रसन्नता के साथ पेट भर चावल और स्वादिष्ट भोजन लोगो को देते है। वस्तुत वे (तीन भूमियो के स्वामी) महान् है।"

इसी प्रकार नालडियार के छन्दोवद्ध पद सख्या २९६ मे कलभ्रो को तीन भूमियो के स्वामी के नाम से स्मरण करते हुए कहा गया है—"वे लोग वास्तव मे गरीव अथवा कगाल ही हैं, जो अपार सम्पत्ति के स्वामी दिखते हुए भी लोगो को (अन्न, वन आदि के रूप मे) कुछ भी नही देते। तीन शक्तिशाली राज्यो के स्वामी मुत्तरायर (कलभ्र) वस्तुत ऐसे सम्पत्तिशाली मानव है, जिनकी सम्पत्ति का कोई पारावार नही।"

इस नालडियार की रचना के सम्बन्ध मे परम्परा से यह धारणा अथवा मान्यता चली आ रही है कि अपने क्षेत्रो मे दुष्काल की स्थिति उत्पन्न हो जाने पर ८००० जैन श्रमण, जब तक उनके क्षेत्रो मे दुष्काल का प्रभाव कम नही हुआ तब तक पाण्ड्य राज्य की राजधानी मे रहे। दुष्काल की समाप्ति के पश्चात् जब उनके क्षेत्रो मे पुन सभी भाति की सुखद स्थिति उत्पन्न हो गई तो वे ८ हजार जैन साधु अपने प्रदेश की ओर लौटने के लिए उद्यत हुए।

पाण्ड्यराज उन विद्वान् जैन साधुओ की सत्सगति से बडा प्रभावित हो चुका था और अब वह इस प्रकार के महापुरुषो की सत्सगति से वचित नही रहना चाहता था, अत जब उसे ज्ञात हुआ कि वे ८ हजार जैन श्रमण स्वदेश की ओर लौट रहे है तो पाण्ड्यराज ने उन्हे स्वदेश लौटने की अनुमति प्रदान नही की।

कतिपय दिनो के अन्तराल के पश्चात् उन सभी श्रमणो ने अपने-अपने आसन के नीचे ताडपत्र पर एक-एक पद्य लिखकर रख दिया और वे सब रात्रि के अध-कार मे नगर से बाहर निकलकर स्वदेश की ओर प्रस्थान कर गये। उन श्रमणो के चले जाने की बात सुनकर पाण्ड्यराज बडा क्रुद्ध हुआ और उसने उसी समय जहा वे ८ हजार मुनि इतने समय तक रहे थे, उस स्थान की राज्याधिकारियो के द्वारा तलाशी ली, जिसमे उन्हे वे ८ हजार पत्र मिले जिन पर ८ हजार छन्दबद्ध पद्य लिखे हुए थे। उन पत्रो को लेकर राजपुरुष अपने स्वामी की सेवा मे उपस्थित हुए। पाण्ड्य नरेश ने अपने अधिकारियो को आज्ञा प्रदान की कि उन सब पत्रो को तत्काल वैगाई नदी के प्रवाह मे बहा दिया जाय।

पाण्ड्यराज ने जब यह देखा कि ८ हजार पत्रो मे से ४०० पत्र नदी के प्रवाह की विपरीत दिशा मे बहने लगे और धीरे-धीरे नदी के उस तट की ओर बहते हुए, जिस तट पर कि राजा, राज्याधिकारी एव प्रजाजन खडे थे, भूमि पर आ लगे हैं, तो पाण्ड्यराज के आश्चर्य का पारावार नही रहा। उसने उन छदो मे किसी अलौकिक शक्ति का चमत्कार जान कर उन सब पत्रो को एकत्रित करवाया। तद-नन्तर एक ग्रन्थ के रूप मे उनकी अनेक प्रतिया लिखवाई। यही ग्रन्थ उन अज्ञात-नामा श्रमणो द्वारा रचित नालडियार के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

नालडियार के सबध मे इस प्रकार की परपरागत मान्यता के अतिरिक्त यह भी स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि ४०० छदोबद्ध पद्यो और ४० अध्यायो वाले इस नालडियार ग्रन्थ के कतिपय छन्द मदुरा के अध्यात्मनिष्ठ श्रमणो द्वारा मदुरा पर कलभ्रो के शासनकाल मे बनाये गये है। तीन शक्तिशाली राज्यो के स्वामियो के रूप मे नालडियार के दो छन्दो (छन्द अथवा पद्य सख्या २०० से २९६) के कलभ्रो का उल्लेख इस बात की सबल साक्षी के रूप मे विद्यमान है। इससे यह सिद्ध होता

है कि नालडियार जिस समय वर्तमान रूप मे लिपिबद्ध किया गया, उस समय मदुरा पर कलभ्रो का राज्य था।[1]

कलभ्रो का तमिल प्रदेश पर अनुमानत अर्द्ध शताब्दी तक शासन रहा। कडुगोन नामक मदुरा के पाण्ड्य राजा ने एक ओर से तथा दूसरी ओर से काचीपति पल्लव राज सिंह विष्णु ने सैनिक दृष्टि से सुनियोजित ढग से कलभ्रो पर आक्रमण प्रारम्भ किये और उन्होने एक कडे सघर्ष के पश्चात् कलभ्रो की सत्ता को समाप्त करने मे सफलता प्राप्त की।

कलभ्रो के शासन को समाप्त करने के अनन्तर भी काचीपति पल्लवराज सिह विष्णु ने सन्तोष नही किया। उसने अपने राज्य की सीमाओ का कावेरी तक के सम्पूर्ण भूभाग को जीतकर कावेरी तक उसका विस्तार किया। उसे अनेक बार पाड्यराज कडुगोन और श्री लका के शासक के साथ भी सघर्ष करने पडे। अनेक सैनिक अभियानो मे निरन्तर सफलता प्राप्त करने के पश्चात् सिंह विष्णु ने अवनि-सिंह की उपाधि धारण की। मामल्लपुरम् (महाबलीपुरम्) मे जो भगवान् वराह की गुफा है, उस गुफा मे सिंह विष्णु तथा उसके पुत्र महेद्रवर्मन् के चित्र, उभरी हुई नक्काशी मे चित्रित, आज भी विद्यमान है।

पल्लवराज सिंह विष्णु ने वीर नि स ११०२ से ११२७ तक काची के सिंहासन से राज्य करते हुए अपने राज्य को सुदृढ और शक्तिशाली बनाया। सिंह विष्णु विष्णुभक्त था। किन्तु उसका पुत्र महेन्द्रवर्मन् (प्रथम) जैनधर्मावलम्बी था।

वीर नि स ११२७ मे महेद्रवर्मन (प्रथम) काची मे पल्लवो के राजसिंहा-सन पर आसीन हुआ। वह बहुमुखी प्रतिभाओ का धनी, कुशल राज्य निर्माता, कवि एव सगीतज्ञ था। उसमे उसके पिता के समान ही राज्य विस्तार की लालसा थी और उसने उत्तर मे कृष्णा नदी के तट से भी आगे तक अपनी राज्य सीमाओ का विस्तार किया।

तमिल प्रदेश मे जैन धर्म के शताब्दियो से चले आ रहे वर्चस्व पर घातक प्रहार करने वाला शैव महासन्त तिरुअप्पर इसका न केवल समकालीन ही था अपितु उसका गुरु भी था। अप्पर के ससर्ग मे आने के पश्चात् काचीपति पल्लवराज महेन्द्रवर्मन् ने जैनधर्म का परित्याग कर शैव धर्म अङ्गीकार कर लिया।

तिरु अप्पर के समकालीन शैव महासन्त ज्ञानसम्बन्धर के चमत्कारो से प्रभावित होकर मदुरा का राजा सुन्दर पाण्ड्य भी जैन धर्म का परित्याग कर शैव

---

[1] स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म, एम एस रामास्वामी अय्यगर एण्ड बी शेषगिरि राव एम ए विजयनगर, पृष्ठ ८६

धर्मावलम्बी बन गया था। सुन्दर पाण्ड्य के तीन और नाम उपलब्ध होते है, पहला नेदुमार, दूसरा कुन पाण्ड्यन और तीसरा कुब्ज पाण्ड्य।

जिस प्रकार पल्लवराज महेन्द्रवर्मन (प्रथम) (काचिपति) और कुन् पाण्ड्यन, नेदुमारन अपर नाम सुन्दर पाण्ड्यन (मदुरा का पाण्ड्य राजा) ये दोनो समकालीन थे, उसी प्रकार शैव महासन्त ज्ञानसम्बन्धर और शैव महासन्त तिरु अप्पर—ये दोनो शैव सत भी समकालीन थे। इनमे ज्ञानसम्बन्धर स्वल्पजीवी[1] और अप्पर दीर्घजीवी अनुमानित किये जाते हैं। अप्पर और ज्ञानसम्बन्धर को तमिल प्रदेश मे शैव धर्मक्रान्ति के सूत्रधार तथा पल्लवराज महेन्द्रवर्मन (प्रथम) एव मदुरा के पाण्ड्य महाराजा सुन्दर पाण्ड्य (कुन् पाण्ड्यन) को उनके सक्रिय प्रबल पोषक अथवा प्रसारक समझा जाता है। पल्लवराज महेन्द्रवर्मन (प्रथम) का शासनकाल विक्रम स० ६५७ से ६८७ तदनुसार वीर नि० स० ११२७ से ११५७ तक का अनुमानित किया जाता है, जो कि लगभग निश्चित सा ही है।

तिरु ज्ञानसम्बन्धर ने सुन्दर पाण्ड्य को अपना परम भक्त बना कर अपने निर्देशन मे उसके आदेश से सर्वप्रथम मदुरा मे ५००० जैन साधुओ को धानी मे पिलवा दिया। इसी प्रकार तिरु अप्पर ने काचिपति पल्लवराज महेन्द्रवर्मन् (प्रथम) को अपना दृढ अनुयायी बना कर जैनो का सामूहिक रूप से बलात् धर्म परिवर्तन करवाया। तिरु अप्पर शैव सन्त बनने से पहले न केवल एक अग्रगण्य जैनाचार्य ही थे अपितु पाटलिपुरम् (वर्तमान तिरुप्पपुलियु—तिरु पल्हिरिपुरम्) नगर के जैन मुनियो के मठ के प्रधान भी थे। इस रूप मे घर के भेदो को जानने वाला व्यक्ति यदि घर को उजाडने के लिये उद्यत हो जाय तो साधारण घर की तो बात ही क्या लका जैसे अभेद्य सुदृढ दुर्ग वाली लका नगरी को भी देखते ही देखते धराशायी करवा सकता है—इस लोकोक्ति के अनुसार शैव सन्त बनने के पश्चात् तिरु अप्पर जैन धर्म के लिये सर्वाधिक घातक सिद्ध हुए। इन दोनो सन्तो के जीवन वृत्त एव उनके द्वारा जैन धर्म पर किये गये घातक प्रहारो के सम्बन्ध से आगे विस्तार के साथ प्रकाश डाला जायगा।

विक्रम की सातवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक जैन धर्म तमिल प्रदेश का प्रमुख, सशक्त एव बहुजनसम्मत धर्म रहा किन्तु मदुरा के राजा सुन्दर पाण्ड्य और काञ्ची के पल्लव राज महेन्द्रवर्मन (प्रथम) के शासन काल मे इस पर सकट के बादल मडराने लगे। वस्तुत दक्षिणापथ मे जैन सघ पर यह एक घातक प्रहार था। इस प्रहार से दक्षिण मे जैनधर्म की ऐसी अपूरणीय क्षति हुई कि जिसकी पूर्ति लगभग १३ शताब्दियो के प्रयासो के उपरान्त भी आज तक नही हो पाई है।

---

[1] हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दी इडियन पिपुल वाल्यूम ३, पेज ३३० तीसरी आवृत्ति सन् १९७० भारतीय विद्या भवन, बम्बई द्वारा प्रकाशित।

जैन धर्म दक्षिणापथ में संकटापन्न स्थिति मे

गग, कदम्ब, राष्ट्रकूट और होय्सल (पोय्सल)—इन चार राजवशो के परिचय मे बताया जा चुका है कि शताब्दियो तक जैनधर्म को प्रमुख प्रश्रय देने वाले इन राजवशो के राजाओ, रानियो, प्रधानामात्यो, दण्डनायको, सामन्तो, अमात्यो और प्राय सभी वर्गो के प्रजाजनो द्वारा जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एव उत्कर्ष की दिशा मे किये गये विविध आयामी कार्यों के परिणामस्वरूप जैनधर्म की गणना दक्षिण के प्रमुख धर्मो मे की जाने लगी और उसका प्राय सभी दक्षिणी प्रदेशो मे, राज्यो मे ईसा की दूसरी शताब्दी से ईसा की सातवी शताब्दी के प्रथम चरण तक पूर्ण वर्चस्व रहा।[1]

एतद्विषयक पूर्व मे किये गये जैन सहार चरितम् और पेरियपुराण के उल्लेखो से भी इस बात की पुष्टि होती है कि तमिल प्रदेश मे ज्ञानसम्बन्धर, अप्पर आदि शैव सन्तो द्वारा शैवधर्म के प्रचार-प्रसार एव अभ्युदय के लिये प्रारम्भ की गई धर्मक्रान्ति के समय भी जैनधर्म दक्षिणापथ का बहुजनसम्मत और सर्वाधिक वर्चस्वशाली धर्म था। अपने इस वर्चस्वकाल मे जैन आचार्यो, श्रमणो और विद्वानो ने तमिल, तेलुगू, कन्नड आदि दक्षिण की भाषाओ मे अनेक अनमोल एव अप्रतिम ग्रन्थरत्नो की रचनाए कर वहा के निवासियो मे ज्ञान के चहुँमुखी प्रसार के साथ-साथ दक्षिणापथ के साहित्य को सदा सर्वदा के लिये समृद्ध बना दिया। सरस्वती की इस उत्कट उपासना के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण दक्षिणापथ मे जैन मुनियो को ज्ञान का प्रतीक मानकर सर्वत्र उनकी यशोगाथाए गाई जाने लगी। उन गाई जाने वाली यशोगितिकाओ के पदो मे से एक पद इस प्रकार है —

सवण बलपगोले गाडिवि बिल्गोले बलविरोधि वज्रङ्गोले दा-
नवरिपु चक्रगोले कौरवारि गदेगोले पोणर्केगाव निल्व ।।

अर्थात्—विद्या के क्षेत्र मे–ज्ञान के क्षेत्र मे जैन मुनि के समक्ष कौन खडा रह सकता है ? जिस प्रकार अर्जुन के गाण्डीव धनुष उठाने पर, इन्द्र के वज्र उठा लेने पर, विष्णु के चक्र उठाने और

---

1 In fact a close study of Indian religious movements particularly those in the Peninsula, would reveal that for nearly four centuries, second to the beginning of the seventh century Jainism was the predominant faith

(स्टडीज इन साउथ इडियन जैनिज्म, रामास्वामी एम एस अय्यगर लिखित)

भीम के गदा उठा लेने पर उनके समक्ष कोई खडा नही रह सकता, उसी प्रकार जैन मुनि द्वारा लेखनी उठा लिये जाने पर उसके समक्ष ससार का कोई व्यक्ति नही ठहर सकता।

इस प्रकार अधिकाधिक लोकप्रिय होता हुआ जैन धर्म जिस समय चहुमुखी उत्कर्ष के पथ पर अग्रसर हो रहा था, उस समय ईसा की सातवी शताब्दी मे[1] शैव सन्तो ने तमिलनाडु के पाण्ड्य राज्य की राजधानी मदुरा और पल्लव राज्य की राजधानी काची मे शैव धर्म के प्रचार-प्रसार का अभियान चलाया।

उस समय जैनधर्म का दक्षिण मे वर्चस्व होने के साथ-साथ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे जन-जीवन के स्तर को ऊपर उठाने वाले जनकल्याणकारी कार्यो मे जैन धर्मावलम्बियो के सर्वाधिक सक्रिय योगदान के फलस्वरूप जैन धर्म बहुजन सम्मत एव सर्वाधिक लोकप्रिय बना हुआ था। शैव सन्तो ने अनुभव किया कि जब तक जैन धर्म के वर्चस्व को, उसकी लोकप्रियता को समाप्त नही कर दिया जाता, उन्हे अपने लक्ष्य की पूर्ति मे सफलता नही मिल सकती। जैन धर्म को अपने अभीप्सित लक्ष्य की पूर्ति मे बाधक समझ कर उन्होने सर्वप्रथम जैन धर्म पर प्रहार करने का निश्चय किया। किन्तु मदुरा और काची के जैन सघ सुगठित एव सशक्त थे और उन्हे राज्याश्रय भी प्राप्त था। ऐसी दशा मे जैन धर्म को जड से समाप्त करने की बात तो दूर रही, उसे किसी प्रकार की हानि पहुचाना भी उस समय बडा दुस्साध्य कार्य था। शैव सन्तो ने इसे सुसाध्य बनाने के लिये सर्वप्रथम येन केन प्रकारेण राजसत्ता को अपने पक्ष मे करने की सोची।

मदुरापति सुन्दर पाण्ड्य जैन धर्मावलम्बी था। किन्तु उसकी रानी (चोल राजपुत्री) और पाण्ड्यराज का प्रधान मन्त्री— दोनो ही शैव थे। प्रसिद्ध शैव सन्त ज्ञान सम्बन्धर ने सुन्दर पाण्ड्य की रानी और प्रधानमन्त्री के साथ सम्पर्क स्थापित किया। मन्त्रणा करते समय सुन्दर पाण्ड्य की रानी ने उपाय सुझाते हुए कहा — "गुरुवर! पाण्ड्यराज की कमर मे घूब (कूबड) की ग्रन्थि उभर आने के परिणामस्वरूप वे कुबडे हो गये है। उनकी कमर पूरी तरह झुक गई है। इस कारण वे सदा चिन्तित और दुःखी रहते हैं। यदि आप किसी औषधोपचार से

---

[1] (क) डा० के ए नीलकण्ठ शास्त्री ने काची के राजा महेन्द्रवर्मन का शासनकाल ई० सन् ६००–६३० माना है। इससे इसके समकालीन कुब्ज पाण्ड्य, अप्पर, ज्ञानसम्बन्धर और शैवो के हाथो जैनधर्म पर आये सकट का भी ईसा की सातवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आस-पास का समय निश्चित किया जा सकता है। दक्षिण भारत का इतिहास, पृ १२६

(ख) के वी सुब्रह्मण्यम् एव रामास्वामी अयगर भी इसे ईसा की सातवी शताब्दी की घटना मानते हैं। (मीडिएवल जैनिज्म, बी ए सेलेटोर, पृ २७५)

जैन धर्म दक्षिणापथ मे संकटापन्न स्थिति मे

गग, कदम्ब, राष्ट्रकूट और होय्सल (पोय्सल)—इन चार राजवशो के परिचय मे बताया जा चुका है कि शताब्दियो तक जैनधर्म को प्रमुख प्रश्रय देने वाले इन राजवशो के राजाओ, रानियो, प्रधानामात्यो, दण्डनायको, सामन्तो, अमात्यो और प्राय सभी वर्गो के प्रजाजनो द्वारा जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एव उत्कर्ष की दिशा मे किये गये विविध आयामी कार्यो के परिणामस्वरूप जैनधर्म की गणना दक्षिण के प्रमुख धर्मो मे की जाने लगी और उसका प्राय सभी दक्षिणी प्रदेशो मे, राज्यो मे ईसा की दूसरी शताब्दी से ईसा की सातवी शताब्दी के प्रथम चरण तक पूर्ण वर्चस्व रहा ।[1]

एतद्विषयक पूर्व मे किये गये जैन सहार चरितम् और पेरियपुराण के उल्लेखो से भी इस बात की पुष्टि होती है कि तमिल प्रदेश मे ज्ञानसम्बन्धर, अप्पर आदि शैव सन्तो द्वारा शैवधर्म के प्रचार-प्रसार एव अभ्युदय के लिये प्रारम्भ की गई धर्मक्रान्ति के समय भी जैनधर्म दक्षिणापथ का बहुजनसम्मत और सर्वाधिक वर्चस्वशाली धर्म था । अपने इस वर्चस्वकाल मे जैन आचार्यो, श्रमणो और विद्वानो ने तमिल, तेलुगू, कन्नड आदि दक्षिण की भाषाओ मे अनेक अनमोल एव अप्रतिम ग्रन्थरत्नो की रचनाए कर वहा के निवासियो मे ज्ञान के चहुँमुखी प्रसार के साथ-साथ दक्षिणापथ के साहित्य को सदा सर्वदा के लिये समृद्ध बना दिया । सरस्वती की इस उत्कट उपासना के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण दक्षिणापथ मे जैन मुनियो को ज्ञान का प्रतीक मानकर सर्वत्र उनकी यशोगाथाए गाई जाने लगी । उन गाई जाने वाली यशोगितिकाओ के पदो मे से एक पद इस प्रकार है —

> सवण बलपगोले गाडिवि विल्गोले बलविरोधि वज्रङ्गोले दा-
> नवरिपु चक्रगोले कौरवारि गदेगोले पोणर्केगाव निल्व ।।

अर्थात्—विद्या के क्षेत्र मे—ज्ञान के क्षेत्र मे जैन मुनि के समक्ष कौन खडा रह सकता है ? जिस प्रकार अर्जुन के गाण्डीव धनुष उठाने पर, इन्द्र के वज्र उठा लेने पर, विष्णु के चक्र उठाने और

---

1 In fact a close study of Indian religious movements particularly those in the Peninsula, would reveal that for nearly four centuries, second to the beginning of the seventh century Jainism was the predominant faith

(स्टडीज इन साउथ इडियन जैनिज्म, रामास्वामी एम एस अय्यगर लिखित)

भीम के गदा उठा लेने पर उनके समक्ष कोई खडा नही रह सकता, उसी प्रकार जैन मुनि द्वारा लेखनी उठा लिये जाने पर उसके समक्ष ससार का कोई व्यक्ति नही ठहर सकता।

इस प्रकार अधिकाधिक लोकप्रिय होता हुआ जैन धर्म जिस समय चहुमुखी उत्कर्ष के पथ पर अग्रसर हो रहा था, उस समय ईसा की सातवी शताब्दी मे[१] शैव सन्तो ने तमिलनाडु के पाण्ड्य राज्य की राजधानी मदुरा और पल्लव राज्य की राजधानी काची मे शैव धर्म के प्रचार-प्रसार का अभियान चलाया।

उस समय जैनधर्म का दक्षिण मे वर्चस्व होने के साथ-साथ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे जन-जीवन के स्तर को ऊपर उठाने वाले जनकल्याणकारी कार्यो मे जैन धर्मावलम्बियो के सर्वाधिक सक्रिय योगदान के फलस्वरूप जैन धर्म बहुजन सम्मत एव सर्वाधिक लोकप्रिय बना हुआ था। शैव सन्तो ने अनुभव किया कि जब तक जैन धर्म के वर्चस्व को, उसकी लोकप्रियता को समाप्त नही कर दिया जाता, उन्हे अपने लक्ष्य की पूर्ति मे सफलता नही मिल सकती। जैन धर्म को अपने अभीप्सित लक्ष्य की पूर्ति मे बाधक समझ कर उन्होने सर्वप्रथम जैन धर्म पर प्रहार करने का निश्चय किया। किन्तु मदुरा और काची के जैन सघ सुगठित एव सशक्त थे और उन्हे राज्याश्रय भी प्राप्त था। ऐसी दशा मे जैन धर्म को जड से समाप्त करने की बात तो दूर रही, उसे किसी प्रकार की हानि पहुचाना भी उस समय बडा दुस्साध्य कार्य था। शैव सन्तो ने इसे सुसाध्य बनाने के लिये सर्वप्रथम येन केन प्रकारेण राजसत्ता को अपने पक्ष मे करने की सोची।

मदुरापति सुन्दर पाण्ड्य जैन धर्मावलम्बी था। किन्तु उसकी रानी (चोल राजपुत्री) और पाण्ड्यराज का प्रधान मन्त्री— दोनो ही शैव थे। प्रसिद्ध शैव सन्त ज्ञान सम्बन्धर ने सुन्दर पाण्ड्य की रानी और प्रधानमन्त्री के साथ सम्पर्क स्थापित किया। मन्त्रणा करते समय सुन्दर पाण्ड्य की रानी ने उपाय सुझाते हुए कहा — "गुरुवर! पाण्ड्यराज की कमर मे घूब (कूबड) की ग्रन्थि उभर आने के परिणामस्वरूप वे कुबडे हो गये है। उनकी कमर पूरी तरह झुक गई है। इस कारण वे सदा चिन्तित और दु खी रहते हैं। यदि आप किसी औषधोपचार से

---

[१] (क) डा० के ए नीलकण्ठ शास्त्री ने काची के राजा महेन्द्रवर्मन का शासनकाल ई० सन् ६००–६३० माना है। इससे इसके समकालीन कुब्ज पाण्ड्य, अप्पर, ज्ञानसम्बन्धर और शैवो के हाथो जैनधर्म पर आये सकट का भी ईसा की सातवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आस-पास का समय निश्चित किया जा सकता है। दक्षिण भारत का इतिहास, पृ १२६

(ख) के वी सुब्रह्मण्यम् एव रामास्वामी अयगर भी इसे ईसा की सातवी शताब्दी की घटना मानते हैं। (मीडिएवल जैनिज्म, बी ए सेलेटोर, पृ २७५)

अथवा मन्त्र तन्त्र के चमत्कार से उनकी कमर सीधी कर सके तो अपना अभीप्सित कार्य अनायास ही सिद्ध हो सकता है।"

कुछ क्षण विचार के पश्चात् ज्ञानसम्बन्धर ने कहा —"मुझे विश्वास है कि भगवान् शकर के कृपाप्रसाद से यह काम तो मैं कर दू गा।"

रानी ने हर्षावरुद्ध कण्ठस्वर से कहा :—"गुरुवर ! तो समझ लीजिये कि अपना काम सिद्ध हो गया।"

कुछ क्षण विचारमग्न रहने के अनन्तर पाण्ड्य राजरानी ने कहा —"मेरे मस्तिष्क मे एक बडी सुन्दर योजना आई है। मैं आज ही महाराजा से निवेदन करू गी कि जैन साधु बडे ही पहुचे हुए और अनेक प्रकार की सिद्धियो से सम्पन्न होते है। आपके राज्य मे उनके रहते हुए आपका यह रोग दूर नही हो सके, आपकी कमर उत्तरोत्तर अधिकाधिक झुकती ही जाय, यह न हमारे लिये शोभास्पद है और न उनके लिये ही। अत कल प्रात काल ही उन्हे यहा राजसभा मे बुलवा कर कहा जाय कि वे अपनी तप की, अद्‌भुत सिद्धियो की, अथवा मन्त्र-तन्त्र आदि चमत्कारो की शक्ति लगाकर आपकी कमर को सीधी कर दे।"

अपना कथन प्रारम्भ रखते हुए रानी ने अपने गुरु ज्ञानसम्बन्धर से कहा :— "मेरा विश्वास है कि महाराज रोग से मुक्ति पाने के लिये उन जैन साधुओ को अवश्यमेव बुलायेंगे और रोग से मुक्ति दिलाने की उनसे प्रार्थना भी करेंगे। पर वे ऐसा कोई चमत्कार करने मे समर्थ नही हो सकेंगे। इससे पहले कि जैन साधु कुछ कहे, मैं राजा, राजसभा और उन जैन साधुओ के समक्ष स्पष्ट शब्दो मे यह बात रख दू गी कि जो धर्मगुरु राज-राजेश्वर पाण्ड्राज को इस रोग से मुक्ति दिलायेगा, वही पाण्ड्यराज और उसकी प्रजा का धर्मगुरु और उनका धर्म ही सबका धर्म होगा। पाण्ड्यराज अपने इस असाध्य रोग से छुटकारा पाने के लिये बडे ही आतुर हैं अत वे तत्काल इस पण (शर्त) को सहर्ष स्वीकार कर लेंगे और इस तरह पाण्ड्यराज को शैव-धर्मावलम्ली बना लिये जाने के पश्चात् सम्पूर्ण पाण्ड्य राष्ट्र मे आपको यथेप्सित रूप से शैव धर्म का प्रचार-प्रसार करने मे किसी प्रकार की कठिनाई नही आयेगी। हमारे समक्ष करणीय कार्य यही है कि पाण्ड्यराज किसी प्रकार आपके हाथ से ही रोगमुक्त हो।"

महारानी द्वारा सुझाये गये उपाय को अपने कार्य की सिद्धि का अमोघ उपाय मानते हुए शैव सन्त ज्ञानसम्बन्धर ने कहा —"आप विश्वास रखिये कि यौगिकी क्रिया के माध्यम से मैं पाण्ड्यराज को इस असाध्य माने जा रहे रोग से जीवन भर के लिये मुक्त कर दू गा।"

रानी ने बडी ही चतुराई के साथ अपनी योजना के क्रियान्वयन हेतु अपने पति से निवेदन किया —"स्वामिन् ! भाति-भाति के उपचारादि करवाये जाने के

उपरान्त भी आपका यह रोग शान्त नही हुआ, बल्कि और भी उग्र रूप धारण करता जा रहा है। यह हमारे लिये बडी चिन्ता का विषय बना हुआ है। अब हमे इसके लिये धर्म की शरण ग्रहण करनी चाहिये। यही एक मार्ग बचा हे। कल प्रात काल ही धर्मगुरुओ को बुलाकर उनसे प्रार्थना की जाय कि वे अपनी आध्यात्मिक शक्ति द्वारा, अपने त्याग–तप के बल पर अथवा किसी भी प्रकार की अलौकिक सिद्धि के प्रताप से अथवा चमत्कारादि से किसी भी प्रकार हो, आपको रोगमुक्त कर पूर्ण स्वस्थ बना दे।"

"पाण्ड्य राजराजेश्वरी ! तुम्हारा यह प्रस्ताव परमोपयोगी होने के साथ-साथ वस्तुत बडा प्रशसनीय है। इस प्रकार की व्यवस्था तो हमे इस रोग के प्रादुर्भाव काल मे ही कर लेनी चाहिये थी। अस्तु, कल अवश्य ऐसा ही करेंगे।"

यह कहते हुए सुन्दर पाण्ड्य ने प्रात काल साधुओ को ससम्मान राजसभा मे निमन्त्रित करने का निर्देश सम्बन्धित अधिकारी को दिया।

दूसरे दिन प्रात काल राजसभा मे जैन साधु उपस्थित हुए। महामन्त्री ने उनसे प्रार्थना की कि वे कृपा कर अपने विशिष्ट विज्ञान अथवा विद्यावल से पाण्ड्य-राज के रोग का समूल नाश कर दें।

महारानी ने भी जैन मुनियो से निवेदन किया—"भगवन् ! आप राजगुरु है। सब सिद्धिया आपकी चरण दासिया बनी हुई आपकी आज्ञा का पालन करने के लिये प्रति पल तत्पर रहती हैं। कृपा कर आप अपने सिद्धिबल के चमत्कार से मेरे स्वामी को पूर्ण रूपेण स्वस्थ कर दे। राजराजेश्वर के रोगग्रस्त होने के कारण स्वय महाराज, समस्त प्रजाजन और हम सब चिंतित है। महाराज को रोगमुक्त करने के प्रयास मे किसी भी प्रकार की कमी न रह जाय, इसलिये हम सब और स्वय पाण्ड्यराज की ओर से यह पण (शर्त) रखा गया है कि जो धर्मगुरु पाण्ड्य-राज को इस रोग से मुक्त कर देगा वही राजगुरु होगा। राजगुरु होने के कारण सर्वप्रथम आपको यह अवसर दिया जा रहा है। आपके असफल रहने पर अन्य को अवसर दिया जाएगा।"

पेरियपुराण के उल्लेखानुसार सर्व प्रथम जैन मुनियो ने पाण्ड्यराज को रोगमुक्त करने के लिये मन्त्र-तन्त्र आदि सभी प्रकार के उपचारो का प्रयोग किया किन्तु उनको सफलता प्राप्त नही हुई।

अन्ततोगत्वा शैव सन्त ज्ञानसम्बन्धर को आमन्त्रित किया गया और पण को सुनाने के पश्चात् उनसे भी यही प्रार्थना की गई कि वे अपनी अलौकिक शक्ति से पाण्ड्यराज को उस असाध्य रोग से मुक्ति दिलाए।

ज्ञान सम्बन्धर ने आशुतोष शकर के ध्यान के साथ राजा को रोगमुक्त करने के प्रयास प्रारम्भ किये और सब के देखते-देखते ही झुकी हुई कमर वाले पाण्ड्य नरेश को पूरी तरह सीधा खडा कर पूर्णत रोगमुक्त करते हुए उन्हे कुब्ज पाण्ड्य से सुन्दर पाण्ड्य बना दिया ।

सुन्दर पाण्ड्य ने पण (शर्त) के अनुसार रोग से मुक्ति दिलाने वाले ज्ञान-सम्बन्धर को अपना धर्मगुरु बनाते हुए स्वय ने भी विधिवत् शैवधर्म अगीकार कर लिया ।

सुन्दर पाण्ड्य को जैनधर्मावलम्बी से शैवधर्मावलम्बी बना लेने के पश्चात् राजा और प्रजावर्ग के मन पर ज्ञानसम्बन्धर का पर्याप्त प्रभाव पडा । ज्ञानसम्बन्धर ने पाण्ड्यराज की महारानी (चोलराजपुत्री) और पाण्ड्यराज के महामन्त्री के साथ मन्त्रणा कर जैन मुनियो को अपने धर्म की महानता सिद्ध करने की चुनौतियो पर चुनौतिया दी और अपनी पक्षधर राजसत्ता के बल पर पणपूर्वक जैनो के साथ चमत्कारिक द्वन्द्व किये । उन धार्मिक द्वन्द्वो मे जैनो को पराजित कर पेरिय पुराण एव जैन-सहार चरितम् आदि शैव साहित्य के उल्लेखानुसार मदुरा मे ५००० जैन श्रमणो को सुन्दर पाण्ड्य की आज्ञा से घानी मे पिलवा दिया गया । इस तरह ज्ञान-सम्बन्धर के निदेशन मे शैवो ने जैन मठो और जैन मन्दिरो को नष्ट करना और जैनधर्मावलम्बियो को बलात् धर्मपरिवर्तन कर शैव बनाना प्रारम्भ किया ।

उधर अप्पर नामक शैव सन्त ने पल्लवराज महेन्द्रवर्मन को जैन से शैव-धर्मावलम्बी बना कर उसके सहयोग से काची मे जैनो पर ज्ञानसम्बन्धर के समान ही सामूहिक सहार, बलात् सामूहिक धर्मपरिवर्तन, मठ-मन्दिर-वसदि प्रभृति जैन धर्मस्थानो के विध्वसन आदि के रूप मे जैनधर्मावलम्बियो पर अनेक प्रकार के अत्याचार करने प्रारम्भ किये ।

इन सबका परिणाम यह हुआ कि बहुत से जैन प्राण बचाने के लिये मदुरा और काची नगर से भाग कर अन्यत्र चले गये । पीछे रहे जैनो मे से अधिकाश को बलात् शैवधर्मावलम्बी बना दिया गया और जिन लोगो की धर्म पर अटूट आस्था थी और जो धर्म को प्राणो से भी प्रिय मानते थे उन जैनो को इन दोनो शैव सन्तो के अनुयायियो द्वारा मौत के घाट उतार दिया गया ।

जैन धर्म पर यह एक ऐसा प्रहार था, जिसे धार्मिक विप्लव कहा जा सकता है । इस धार्मिक विप्लव से जैन धर्म की, तमिलनाड मे सदियो से गहराई से जमे हुए जैन सघ की अपूरणीय क्षति हुई जिसकी पूर्ति लगभग १३ शताब्दियो की सुदीर्घ कालावधि के व्यतीत हो जाने पर भी अद्यावधि नही हो पाई है ।

पेरियपुराण, स्थलपुराण आदि शैव साहित्य मे तमिलनाड मे जैनधर्म को समूल उखाड फेकने के लिये शैवो द्वारा किये गये इस धार्मिक अभियान की सफलता का श्रेय तिरु ज्ञानसम्बन्धर, तिरु अप्पर, सुन्दर पाण्ड्य की रानी और उसके प्रधानमन्त्री को दिया गया है ।

शैव सन्तो ने, मुख्यत ज्ञानसम्बन्धर ने अपने इस धार्मिक अभियान मे सर्वाधिक महत्वपूर्ण सहायता देने वाली सुन्दर पाण्ड्य की रानी को और सुन्दर पाण्ड्य के प्रधानमत्री को ६३ महान् शैव सन्तो की पक्ति मे प्रमुख स्थान दिया है ।[1]

तिरु ज्ञानसम्बन्धर के चमत्कारो से प्रभावित सुन्दर पाण्ड्य और तिरु अप्पर से प्रभावित हुए पल्लवराज महेन्द्रवर्मन की सहायता से लगभग एक ही समय मे शैवो द्वारा जैन श्रमणो एव जैन धर्मानुयायियो का मदुरा और काची मे जो सामूहिक सहार एव बलात् सामूहिक धर्म परिवर्तन किया गया तथा जैनो के मन्दिरो, मठो, वसदियो एव अन्यान्य धार्मिक केन्द्रो को नष्ट-भ्रष्ट किया गया और जैनधर्मावलम्बियो पर और भी अनेक प्रकार के अत्याचार किये गये, इस सब घटनाचक्र को केवल किंवदन्तिया अथवा शैव पुराणकारो की कोरी कल्पना की उडान अथवा अतिशयोक्तिपूर्ण विवरण मानने से इन्कार करते हुए डा० विन्सेन्ट स्मिथ ने इन विवरणो को ऐतिहासिक तथ्य प्रकट करने वाले विवरण माना है ।

इन घटनाओ को ऐतिहासिक घटनाए मानने के अपने अभिमत की पुष्टि मे डा० विन्सेन्ट स्मिथ ने मदुरा के विशाल मीनाक्षी मन्दिर की दीवारो पर चित्रो के रूप मे प्रस्तुत किये गये इन घटनाओ के विवरणो को प्रबल प्रमाण के रूप मे प्रस्तुत किया है । मदुरा के मीनाक्षी मन्दिर की दीवारो पर और दक्षिण के बडे-बडे मन्दिरो की दीवारो पर उन अत्याचारो की स्मृति दिलाने वाले चित्रो को डा० विन्सेन्ट स्मिथ ने इस तथ्य की सबल साक्षी माना है कि शैव साहित्य मे उपलब्ध मदुरा और काची मे शैवो द्वारा किये गये जैनो के सहार के विवरण वस्तुत ऐतिहासिक विवरण है ।

डा० विन्सेन्ट स्मिथ के इस अभिमत को उद्धृत करते हुए एस० कृष्णस्वामी अय्यगर ने अपने इतिहास ग्रन्थ सम कन्ट्रीब्यूशन्स आफ साउथ इडिया टू इडियन कल्चर के चैप्टर १५ मे लिखा है—

---

1 Both the queen and the minister are counted among the sixty three canonical devotees
(सम कन्ट्रीब्यूशन्स आफ साउथ इडिया टू इडियन कल्चर, कृष्ण स्वामी अय्यगर एम ए पी-एच डी लिखित चैप्टर १३)

"The story has it that the whole body of Jains were impaled by order of the monarch at the instigation of the saint The late Dr Vincent Smith has so far gone in accepting this story as embodying a historical incident that he regards it as one of the genuine though exceptional instances of persecution for religion He relies principally upon the evidence of a painting of this incident on the walls of the great temple at Madura It is not only on the walls of the temple at Madura, but in all the bigger Siva Temples of the South the representation of this story is found The historicity of this incident will have to depend upon the particular date at which the painting or even a stone representation of this incident, was set where it is When once the hagiologists set the fashion by giving currency to these stories, it is not difficult to understand that they passed into popular currency, and in the representation of various 'Lilas' of Shiva or Vishnu (performance of miracles in sport) or any other God, these would naturally figure This position is most clearly illustrated in the revovation of temples carried out by the class of Nathukottai Chettis at the present time Whether pictures of these already existed or not, such representations, as constituted one of the 'Lilas' of Shiva are made by them without sacredotal impropriety It does not require much interval of time even, as we have already stated, that a lithic representation of the performance of EKANTADA Ramayya is found built in a temple constructed at a period following close upon the age of this Ramayya"

लब्धप्रतिष्ठ इतिहासकार स्व पी बी देसाई ने शैव सन्तो तिरु ज्ञानसम्बन्धर और अप्पर के नेतृत्व मे तामिलनाड के जैनो के विरुद्ध चलाये गये घातक अभियान मे सुन्दर पाड्य और महेद्रवर्मन पल्लवराज की सहायता से जैनो पर जो अत्याचार किये, उन घटनाओ को ऐतिहासिक तथ्य के रूप मे स्वीकार करते हुए भी पेरिय-पुराण, स्थल-पुराण तथा शैवो के अन्य साहित्य मे जिस रूप मे इन घटनाओ का विवरण दिया गया है उसे अतिरजित और अतिशयोक्तिपूर्ण माना है। जैनो पर शैवो द्वारा किये गये अत्याचारो के सम्बन्ध मे श्री पी बी. देसाई ने लिखा है —

"As it was the doom of the faith in other parts of India, Jainism had to encounter formidable opposition in its carrier in the Tamil Country also This was in the period of the seventh and eightth centuries A D to start with, and its opponents were the champions of the Shaivite and Vaishnavite faiths of the Brahmanical religion Almost simultaneously, under the leadership of Appar

and Sambandhar, the advocates of the Shaivite School launched ruthless attacks against the adherents of the Jain Law and earned signal success in the Pallawa and Pandya Kingdoms The Pallawa king Mahendravarman I and the Pandya ruler Marwarman or Sunder Pandya became converts to the Brahmanical faith

This must have dealt a severe blow to the cause of the Jain religion Jain Law was challenged, Jaina philosophy was questioned, Jain religions practices were diverted everywhere Polemics were raised, disputations were held between the supporters of rival creeds regarding their superiority, proofs were demanded, and some times even ordeals and miracles were resorted to The elated victors backed by the authority of the State indulged in violent activities The vanquished were pursued and persecuted

The accounts of the persecution of the Jains given in the Periyapuranam and other literary works of the Brahmanical School present a highly coloured and exaggerated picture of the times Still it must be a fact that the Jains met with iniquities and maltreatment at the hands of their intolerant opponents The scenes of these persecutions are found sculptured on the walls of the temple at Tiruvattur in the North Arcot District Similar scenes are depicted in the form of painting on the wall of the manlapam of the Golden Lily Tank of the famous Minakshi Temple at Madura "[1]

श्री देसाई द्वारा दिये गये उपरिलिखित तथ्यो पर विचार करने से तो स्पष्ट रूपेण सिद्ध हो जाता है कि पेरियपुराण, स्थलपुराण एव शैव साहित्य के अन्य ग्रन्थो मे जैन श्रमणो एव जैन धर्मावलम्बियो के सामूहिक सहार के साथ-साथ बलात्धर्म-परिवर्तन आदि के जो विवरण उपलब्ध होते हैं, वे मदुरा और काची के शासको और शैवसन्तो की अभिसन्धि से हुए अवश्य हैं। पर जहा तक पेरियपुराण आदि के एतद्विषयक विवरणो मे अतिशयोक्ति का एव अतिरजन का प्रश्न है, वह वस्तुत विचारणीय है।

पेरियपुराण आदि शैव ग्रन्थो मे विद्यमान उल्लेखो मे इस बात पर सर्वाधिक बल दिया गया है कि तमिलनाड मे जैनो के सामूहिक सहार से पहले जैन धर्मावलम्बियो की सख्या अगणित थी, अतिविशाल थी। जैन धर्मानुयायी, विशेषत जैन श्रमण-जैनाचार्य राजाओ, अमात्यो, राज्याधिकारियो और प्रजा के प्राय सभी वर्गों पर पूर्णरूपेण छाये हुए थे, सर्वत्र जैन धर्मावलम्बियो का ही वर्चस्व दृष्टिगोचर होता था।

[1] जैनिज्म इन साउथ इडिया एड सम जैन इपिग्राफ्स–पी वी देसाई लिखित–पेज ८१–८२

शैव साहित्य मे उपलब्ध इन विवरणो पर विचार करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि इन सामूहिक सहार और वलात्धर्मपरिवर्तन की घटनाओ से पूर्व जैन धर्म सख्या, क्षेत्र विस्तार, वर्चस्व सम्मान आदि सभी दृष्टियो से तमिलनाड का एक शक्तिशाली और बहुजनसम्मत प्रमुख धर्म था। सक्षेप मे यदि यह कह दिया जाय कि उस समय तमिलनाड की भूमि मे जैन धर्म की जडे बहुत गहरी पहुच गई थी, तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

पेरियपुराण मे वर्णित जैन धर्मावलम्बियो की तमिलनाड मे हुए सामूहिक सहारो और बलात्धर्मपरिवर्तन से पूर्व की स्थिति की तुलना मे वहा जैनो की वर्तमान स्थिति पर विचार करे तो प्रत्येक विचारक को दोनो मे आकाश-पाताल जितना अन्तर दृष्टिगोचर होगा। कहा तो सामूहिक सहार से पूर्व तमिलनाड मे जैनो की अगणित सख्या, और कहा आज तमिलनाड के मूल निवासी जैनो की १४ हजार जैसी नगण्य सख्या और वह भी अन्यत्र कही नही, केवल नार्थ आर्कट जिले मे। इस पर से प्रत्येक निष्पक्ष विचारक स्वत इस निष्कर्ष पर पहुचेगा कि वहा जैनो का सहार वास्तव मे इतना भीषण एव हृदय विदारक था जिसके सामने कोई भी शैव साहित्य मे किया गया इस सम्बन्धी विवरण फीका ही लगेगा। यदि ऐसा नही होता तो शताब्दियो से गहरी जड जमाया हुआ सर्वाधिक लोकप्रिय और वहुजन सम्मत जैन धर्म अपने सुदृढ समझे जाने वाले गढ मदुरा एव काची से, इस प्रकार लुप्त नही हो पाता।

धर्मान्धता से उन्मत्त लोगो द्वारा किये गये अपने प्रतिद्वन्द्वी धर्म के अनुयायियो के इस प्रकार के भीषण सामूहिक नरसहार के विवरण इतिहास के पत्रो मे आज भी उपलब्ध हैं। आध्रप्रदेश मे श्रीशैलम् पर अवस्थित मल्लिकार्जुन मन्दिर के मुख्य मण्डप के दक्षिणी एव वाम पार्श्व के स्तम्भो पर सस्कृत भाषा मे उट्ट कित सम्वत् १४३३ की माघ कृष्णा चतुर्दशी, सोमवार के शिलालेख मे श्वेताम्बर साधुओ के भीषण सहार का विवरण आज भी देखा व पढा जा सकता है। उस शिलालेख मे लिगा नामक एक वीर शैवो के नायक द्वारा मन्दिर को की गई अनेक भेटो के विवरण के साथ उसकी इस बात के लिये प्रशसा की गई है कि उसने (अनेक) श्वेताम्बर साधुओ के सिर अपनी तलवार से काट कर उन्हे मौत के घाट उतार दिया। नायक लिंगा द्वारा किये गये श्वेताम्बर साधुओ के नृशस सहार को उक्त शिलालेख मे एक पवित्र कार्य बताया गया है।[1]

इससे ऐसा आभास होता है कि तिरु ज्ञान सम्बन्धर और तिरु अप्पर के तत्वावधान मे तमिलनाड मे शासको की सहायता से जो जैनो का सामूहिक सहार किया गया था, उसी से प्रेरणा लेकर वीर शैवो के मुखिया लिंगा ने भी अपनी तलवार से श्वेताम्बर जैन साधुओ के सिर काटे हो।

---

[1] एपिग्राफिका इन्डिका, जिल्द ५ पीपी १४२ एफ एफ

तेवारम् के माध्यम से तिरु ज्ञानसम्वन्धर और तिरुअप्पर ने जैन श्रमणो के प्रचण्ड विरोध के साथ उनके विरुद्ध जन-जन के मन मे जिस प्रकार घोर घृणा फैलाने के प्रयास किये, उनसे भी अनायास अतीत मे किये गये उन अत्याचारो की विभीषिकाओ के रोमाचकारी दृश्य हमारे सामने उपस्थित हो जाते हैं, जो अप्पर आदि शैव सन्तो द्वारा जैनो के विरुद्ध फैलाई गई तीव्र घृणा के परिणामस्वरूप शैवो द्वारा तमिलनाड मे जैनो पर किये गये। जैनो के विरुद्ध घृणा फैलाने वाले तेवारम् के उन पदो पर आगे दिये जाने वाले ज्ञानसम्वन्धर के परिचय मे प्रकाश डालने का प्रयास किया जायगा।

शैव साहित्य मे उपलब्ध इस विषयक अधिकाश विवरण चमत्कार प्रदर्शन की दिशा मे अतिशयोक्तियो और उपमालकारो से ओतप्रोत है। अधिकाशत अशिक्षित अथवा अर्द्धशिक्षित भक्त समुदाय के मानस पर अपने धर्म की एव धर्मगुरुओ की महानता की छाप अकित करने के लिए उन विवरणो मे चमत्कारपूर्ण अलकारिक अतिशयोक्तियो को प्रमुख स्थान दिया गया है। मदुरा के स्थलपुराण के आनैमलेइ, नागमलेइ और पशुमलेइ ये तीन विवरण इस दृष्टि से पठनीय एव मननीय हैं, जो इस प्रकार है —

> मदुरा नगर के पास उपर्युक्त तीन नामो की तीन पहाडिया है, जिनका आकार ध्यानपूर्वक देखने पर क्रमश हाथी, नाग और गाय के आकार से मिलता-जुलता प्रतीत होता है।
>
> यह कहने की तो कोई आवश्यकता नही कि क्रमश हाथी नाग और गाय के आकार की मदुरा के पास-पडोस की ये तीनो पहाडिया पुरातन एव प्रकृति की कृतिया है। किन्तु स्थल पुराण मे इन पहाडियो को उपरिवर्णित शैव-जैन सघर्ष काल की शैवो के चमत्कार से उत्पन्न हुई पहाडिया बताया गया है।
>
> आनैमलेइ पहाडी के सम्बन्ध मे स्थलपुराण मे उल्लेख है कि एक बार कजीवरम् के जैन श्रमणो ने मदुरा के निवासियो को जैन धर्मावलम्बी वनाने के लिये अपने काले जादू के प्रभाव से एक अति विशाल पर्वताकार हाथी बनाकर पूरे मदुरा नगर को धूलिसात् करने के लिये मदुरा की ओर भेजा। मदुरा के राजा ने अपनी और अपने नगर की रक्षा के लिए शिव से प्रार्थना की। शिव ने तत्काल वहा प्रकट हो एक ही बाण के प्रहार से उस हाथी को मारकर धराशायी बना दिया। वही निष्प्राण हुआ हाथी आनैमलेइ पहाडी के रूप मे मदुरा के पार्श्व मे आज भी विद्यमान है।
>
> अपने प्रथम काले जादू को इस प्रकार धराशायी हुआ देख उन जैन साधुओ ने अपने काले जादू से एक अति विशाल काला विषधर बनाकर

मदुरा को नष्ट करने के लिए भेजा। उसे भी शिव ने एक ही शर के प्रहार से धराशायी कर दिया। नागमलेइ पहाडी जैनो के काले जादू के काले नाग की ही अवशेष मात्र है।

तदनन्तर जैन साधुओ ने अपने काले जादू के प्रभाव से गौ (साड वृषभ) उत्पन्न कर मदुरा की ओर भेजा। पिनाकपाणि शिव की कृपा से एक ही बाण के प्रहार से निष्प्राण हो वह वृषभ भी मर गया जो पशुमलेइ पहाडी के रूप मे आज भी मदुरई के पास एक ओर विद्यमान है।[1]

उपरोक्त विवरणो से पाठक की यह धारणा बनना स्वाभाविक हो सकता है कि उस धार्मिक विप्लव के परिणाम स्वरूप जैनधर्म अपने शताब्दियो के सुदृढ गढ तमिलनाड से उस समय प्राय. लुप्त ही हो गया होगा। परन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न ही रही। इन सामूहिक सहारो के घातक प्रहारो के उपरान्त भी उस समय और उससे उत्तरवर्त्ती काल के ऐसे अनेक प्रमाण उपलब्ध होते है, जिनसे यह सिद्ध होता है कि इन अत्याचारो के चार-पाच शताब्दियो पश्चात् तक भी, वल्लिमलै (वन्दिवाश ताल्लुक), उत्तरी आर्काट जिला, तिरुक्कुरण्डी, (सलेम जिले) मे स्थित तग्दूर (धर्मपुरी), त्रावनकोर के कतिपय भागो, चोल राज्य, पाण्ड्यराज, टोण्ड-इमण्डलम् उत्तरी आर्काट जिले के विलप्पाकम्, तिरुमलई, उत्तरी आर्काट जिले का वेडाल-विडाल अथवा मादेवी अरिन्दमण्डलम्, कोयम्बतूर जिले के भुडिगोण्डकोल-पुरम्, वेणबुवलनाडु के कुम्बनूर, शत्तमगलम् के देवदान नामक ग्राम, नेलूर जिले के कनुपरतिपाडु आदि तमिलनाड के अनेको क्षेत्रो मे जैन धर्म खूब फलता-फूलता रहा। इनमे से अनेक स्थान जैनधर्म के प्रचार-प्रसार के उस सक्रान्ति-काल से उत्तर-वर्ती कालावधि के प्रमुख केन्द्र थे। पुन एक बडी राजशक्ति के रूप मे उदित हुए चोल शासन ने जैन धर्मावलम्बियो के प्रति सहानुभूतिपूर्ण मधुर व्यवहार करना प्रारम्भ किया। तमिलनाड मे स्थान-स्थान पर जैनो के धर्मस्थानो और जैनधर्म के केन्द्रो को ग्राम, भूमि, सम्पत्ति आदि के दान विपुल मात्रा मे दिये गये। इससे जैन-धर्म तमिलनाड मे शैवो के प्रहारो से पहले की स्थिति मे भले ही नही आ सका किन्तु फिर भी उसने अपनी स्थिति को पर्याप्तरूपेण अपेक्षाकृत सुदृढ किया।[2]

---
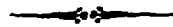
[1] जैनिज्म इन साउथ इडिया एण्ड सम जैन इपिग्राफ्स पी बी देसाई लिखित—पेज ६२

[2] मैन्युअल आफ पुदु कोट्टाई स्टेट, वाल्यूम २, पार्ट १ पेज ५७४-७ व ६८७-८

देला महत्तर (देला सूरि)

विक्रम की ७वी शताब्दी के प्रथम चतुर्थ भाग मे और वीर निर्वाण की ११वी शताब्दी मे देला सूरि महत्तर नामक एक महान् आचार्य हुए है। ये जिन शासन प्रभावक महावादी और विद्वान् मुनिप श्री सूराचार्य के शिष्य तथा दुर्गस्वामी और "उपमिति भवप्रपञ्च कथा" नामक महान् आध्यात्मिक ग्रन्थ के रचनाकार श्री सिद्धर्षि के गुरु थे। श्री सिद्धर्षि के उल्लेखानुसार ये निवृत्ति कुल के आचार्य थे। ये ज्योतिषशास्त्र के अपने समय के आधिकारिक विद्वान् थे। निवृत्ति कुल की विशेषता है कि इसमे अविच्छिन्न अनेक पट्टपरम्पराओ तक उच्चकोटि के विद्वान् और जिनशासन प्रभावक आचार्य होते रहे। देलासूरि महत्तर ने लाट प्रदेश मे अनेक वर्षों तक विचरण कर अनेक भव्यो को प्रतिबोध देते हुए जैन धर्म का उल्लेखनीय प्रचार-प्रसार किया।

इनके अनेक शिष्यो मे से दुर्ग स्वामी और सिद्धर्षि इन दो विद्वान् शिष्यो ने निवृत्ति कुल की कीर्त्ति दिग्दिगन्त मे प्रसृत कर दी। दुर्गसूरि अपने गृहस्थ जीवन मे विपुल सम्पदाओ के स्वामी थे। देलाचार्य के उपदेश सुनकर इन्हे ससार से विरक्ति हो गई और उन्होने तत्काल युवावस्था मे ही स्त्री-परिवार और अपार सम्पदा का परित्याग कर देलाचार्य के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। ये सिद्धर्षि के ज्येष्ठ गुरुभ्राता थे। सिद्धर्षि ने इनका सदा गुरु के समान सम्मान किया। अनेक वर्षों तक सयम की पालना के साथ-साथ भव्यो को धर्ममार्ग पर आरूढ एव स्थिर करते हुए आपने जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा की।

उच्चकोटि की विदुषी साध्वी गणा आपकी ही शिष्य थी जिसने सिद्धर्षि की अमर आध्यात्मिक कृति 'उपमिति भव प्रपञ्च कथा' की प्रथम प्रति का अतीव सुन्दर एव शुद्ध रूप मे आलेखन किया।

अन्त मे सल्लेखना-सन्थारा पूर्वक आपने भिन्नमाल नगर मे समभाव एव समाधि के साथ स्वर्गारोहण किया।

—०—

शैव महासन्त तिरु ज्ञान सम्बन्धर का उपलब्ध संक्षिप्त जीवन वृत्त

शैव सम्प्रदाय का भारत के दक्षिणी प्रदेश तमिलनाड मे पुनरुद्धार अथवा पुनरुत्थान करने वाले शैव सन्तो मे तिरु ज्ञान सम्बन्धर और तिरु अप्पर के नाम शीर्ष स्थान मे आते है। तिरु ज्ञान सम्बन्धर और तिरु अप्पर जिस प्रकार दक्षिण मे और मुख्यत तमिलनाड मे शैवधर्म के पुनरुद्धार के अभियान के सूत्रधार माने गये है, उसी प्रकार जैनधर्म को गहरी क्षति पहुचाने वालो के भी ये सूत्रधार माने जाते हैं। इनके जीवन के सम्बन्ध मे जो परिचय पर्याप्त प्रयास के पश्चात् प्राप्त हो सका है, उसे यहा सक्षेप मे प्रस्तुत किया जा रहा है —

तिरु ज्ञान सम्बन्धर को शैव साहित्य मे स्थान-स्थान पर ज्ञान सम्बन्धर मूर्ति नायनार और सम्बन्धर के नाम से अभिहित किया गया है। इसका एक और नाम—पिल्ले नायनार भी उपलब्ध होता है। पिल्ले नायनार का जन्म तन्जौर जिले के शियाली नामक ग्राम के एक ब्राह्मण परिवार मे हुआ। ज्ञान सम्बन्धर द्वारा रचित तेवारम् के कतिपय पदो के आधार पर कतिपय विद्वानो द्वारा अनुमान किया गया है कि वे शिरुत्तोडा अपर नाम दभ्रभक्त नामक एक यशस्वी सेनापति का परम मित्र था। पल्लवराज नरसिंहवर्मन (महेन्द्रवर्मन प्रथम जिसे अप्पर ने जैन से शैव बनाया था, उसके पुत्र) ने पश्चिमी चालुक्यो की राजधानी वातापी (बादामी) पर आक्रमण कर उस पर अधिकार किया, उस युद्ध मे यह शिरुत्तोडा दभ्रभक्त सेनापति था। इस नरसिंहवर्मन का शासनकाल ६३० से ६६८ ई० माना गया है।

डा० शाम शास्त्री ने शोध के पश्चात् यह अभिमत व्यक्त किया है कि ज्ञानसम्बन्धर और अप्पर के साथ वादीभसिंह नामक एक महान् दार्शनिक एव कवि तथा वादीश (जैन मुनि) ने शैव धर्म के गुण-दोष विषय पर वाद-विवाद किया था। जयधवला एव आदि पुराण के रचनाकार पचस्तूपान्वयी आचार्य जिनसेन ने वादीभसिंह के गुणो का कीर्तन करते हुए आदि पुराण मे उनका निम्नलिखित रूप मे स्मरण किया है —

> कवित्वस्य परासीमा, वाग्मितस्य पर पदम्।
> गमकत्वस्य पर्यन्तो, वादिसिंहोऽर्च्यते न कै ॥

जिनसेन ने ई० सन् ८३७ मे जयधवला टीका की रचना पूर्ण की। जिनसेन ने अपने से पूर्व हुए वादीभसिह को वडी श्रद्धा के साथ स्मरण किया है, इससे

वादीभसिंह का समय ईसा की सातवी-आठवी शताब्दी के वीच का अनुमानित किया जा सकता है।

जो इतिहास प्रसिद्ध व्यक्ति इनके समकालीन थे उनके नाम है -

(१) तिरु ज्ञानसम्बन्धर, (२) सुन्दर पाण्ड्य, (३) पल्लव-राज महेन्द्रवर्मन, (४) पल्लवराजा नरसिंहवर्मन, (५) पल्लव सेनापति शिरुत्तौण्डादभ्रभक्त, और वादीभसिंह (अपर नाम आचार्य अजितसेन और ओडयदेव)।

तिरु ज्ञानसम्बन्धर ने मदुरा मे जैनो का सामूहिक सहार और धर्मपरिवर्तन करवाने के अनन्तर शैव धर्म के प्रचार-प्रसार के साथ स्थान-स्थान पर घूम-घूम कर अपनी कविताओ के माध्यम से जनमानस मे जैन साधुओ एव बौद्धो के प्रति घृणा फैलाने का प्रयास किया। उन कविताओ मे से कतिपय पद यहा प्रस्तुत किये जा रहे हैं —

(१) बुद्ध रोडु पोरियिन समनुम पुरकूरि नेरीनल्लार
"ब्रह्मपुर पदीकम्"

अर्थात् बौद्ध मुनि बुद्धिहीन और जैन मुनि सत्य के वदले झूठ बोलने वाले होते है। ऐसे लोग धर्म के रास्ते मे कभी नही टिक सकेंगे।

(२) सैद अवत्तर मीगु तेररगल साक्कियर सेप्पिर पोरुल अल्लाकद। अवत्तर मोलियै तविर वारगल "तिरु पुगलूर पदीक्कम"

अर्थात्—इन लोगो (बौद्धो और जैनो) की अर्थहीन वातो को लोग मानना छोड देंगे, क्योकि उनकी बातो से किसी कार्यसिद्धि का होना असभव है। अत उनकी बाते अर्थहीन और किसी भी काम की नही।

(३) आसियार मोलियार अमन (जैन साधु) साक्कियर अल्लादवर। "कूडि-कूडी एसी ईरमिलराय मोलि सैदवर सोल्लै पोरुलेन्नेल।"

अर्थात्—अपने भक्तजनो को बौद्ध मुनि और जैन मुनि जो आशीष युक्त वचन बोलते हैं, धर्म बोध देते है, उनकी उन बातो को कोई सच न मानें।

(४) अरैक्कुरैइल्लार कूरुवदु आगु गुनम् अल्ल ।
कडीर तिरुक्काट्टुप्पपल्ली ।।

अर्थात्—कमर पर वस्त्र न पहनने वाले जैनो की बाते न तो गुणयुक्त हैं और न उपयोगी ही, यह बात सभी लोग अच्छी तरह से जान ले ।

(५) इलै मरुदेअल्गाग नारुम हरु तुवरकायोड्डु ।
(अदररक) सुक्कु तिन्नुम निलै अमन्दोरै नीगी निन्रु"
(तिरुमगेल पदीकम्)

अर्थात—मेहदी लगाकर सुन्दर बनाये हुए हाथो मे रखे अदरक एव सुपारी की कतलियो से युक्त पान खाने वाले इन जैन एव बौद्ध मुनियो से सदा दूर ही रहे ।

(६) तुड्डुक्कुडै कैयरुम साक्कीयरुम-साक्कीयरुम जातियिन (सातियिन) नीगिय अवत्तवत्तवर—तिरुनल्लारु पदीकम ।
(अस्पष्ट)

(७) मासेरिय उड्ल समन् गुरुक्कल ।

अर्थात् —ये मैले शरीर वाले जैन मुनि गुरु कैसे हो सकते है ।

(८) वेरवन्दूर मासूरदर वैइलीनरु उललवर—"तिरु नन्नामलै"

अर्थात्—पसीने से तर-वतर मैले शरीर वाले जैन मुनि गर्मी मे इधर से उधर भटकते है ।

(६) मजगल समन् मन्डैकरियर गुन्डर गुणमिलिगल
"तिरु विलीमिललै"

अर्थात्—ये जैन मुनि भिक्षापात्र धारण करने वाले गुण्डे हैं। ये लोगो को कुचक्र मे फसाने के लिये और सम्मोहित करने के लिये इधर-उधर घूमने वाले हैं।

(१०) मत्तमली सित्तर इरैमदी इल्ला समनर—"तिरुनैदानम"

अर्थात्—मद मे मतवाले (घमड मे चूर) ये जैन मुनि—"भगवान् हैं"—इस भावना से कोसो दूर है, अर्थात् भगवान् के अस्तित्व को नही मानने वाले हैं।

(११) तडुक्कै उडल् इडुक्की—तलै परिक्कुम समनर

अर्थात्—शरीर पर ताड के पत्तो को लपेटे हुए अपने सिर के बालो को नोचने वाले ये जैन मुनि है ।

(१२) पैरुक्क पिदट्रुम समनर—सीरकाली

अर्थात्—जिस वात मे सच्चाई का लवलेश मात्र भी नही इस प्रकार की गप्पे मारने वाले है जैन मुनि ।

(१३) गुडुमुट्रि कूरै इन्रिये पिंडम् उन्नुम पिरान्दर सोल्ल केलेल—तिरुपुलवूर

अर्थात्—मोटे-धाटे एव नग्न (नग-धडग) खडे होकर खाने वाले बौद्ध की बातो को कभी मत मानो ।[1]

इस प्रकार तिरु ज्ञान सम्बन्धर जीवन पर्यन्त शैव धर्म के उत्कर्ष के साथ-साथ तमिलनाड की धरती से जैन धर्म के अस्तित्व को मिटाने के लिये सतत प्रयास करते रहे ।

तिरु अप्पर और तिरु ज्ञान सम्बन्धर—ये दोनो ही शैव महासन्त समकालीन थे । इन दोनो के प्रयास से तमिलनाड मे शैवधर्म का प्रचुर प्रचार-प्रसार हुआ । तिरु अप्पर ने अपने जीवन के अन्तिम काल मे शैव धर्म का त्याग कर पुन जैनधर्म अगीकार किया। ये पल्लवराज महेन्द्र वर्मन के समकालीन सुन्दर पाण्ड्य के गुरु थे, यह पहले बताया जा चुका है। पल्लव राजा महेन्द्रवर्मन का राज्यकाल यशस्वी इतिहासकार डा० के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री ने ई० सन् ६००-६३० तक निर्धारित किया है । इससे ज्ञानसम्बन्धर का समय भी ईसा की सातवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध स्वत प्रमाणित होता है ।

संत तिरु अप्पर का उपलब्ध जीवन-वृत्त

अपनी युवावस्था मे वर्षो तक जैन धर्म के एक सघ विशेष के परम सम्मानास्पद आचार्य जैसे महत्वपूर्ण पद पर रहने के पश्चात् शैव सन्त बनकर तिरु अप्पर ने तमिलनाड मे जैनधर्म के सर्वतोमुखी वर्चस्व को समाप्त प्राय करने और शैव धर्म का व्यापक प्रचार करने मे जो युगपरिवर्तनकारी कार्य किये, उन कार्यो के

---

[1] स्व बावाजी श्री जयन्त मुनिजी के ससार पक्ष के सुपौत्र श्री रेख चन्द्रजी चौधरी के सौजन्य से श्री विनयचन्द ज्ञान भण्डार, जयपुर को प्राप्त विवरण-पत्र के आधार पर ।
—सम्पादक

लिये तिरु अप्पर का जैन और शैव दोनो ही धर्मो के इतिहास मे सदा सर्वदा क्रमश विषाद और हर्ष के साथ स्मरण किया जाता रहेगा।

तमिलनाड मे जैन धर्म पर कभी भुलाये नही जाने योग्य घातक प्रहार कर उसे निर्बल बनाने वाले शैव सन्तो में जिस प्रकार अप्पर का नाम शीर्ष स्थान पर आता है उसी प्रकार तमिलनाड मे शैवधर्म को उत्कर्ष के शिखर पर बैठाने वाले शैव सन्तो मे भी अप्पर का नाम मूर्धन्य स्थान पर आता है।

काचिपति पल्लवराज महेन्द्रवर्मन प्रथम जैसे कवि, वाग्मी और विज्ञ जैन धर्मानुयायी राजा को न केवल शैव धर्मानुयायी ही अपितु जैनधर्म का प्रबल शत्रु बनाकर उससे अपनी इच्छानुसार जैनधर्मावलम्बियो पर हृदयद्रावक अत्याचार करवाने वाला अप्पर कैसा प्रभावशाली वाग्मी और अद्‌भुत् प्रतिभा का धनी होगा, इसका सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

पल्लवराज महेन्द्रवर्मन प्रथम को यशस्वी इतिहासविदो ने एक महान् राज्य निर्माता, कवि, लेखक तथा सगीतज्ञ माना है। वह 'मत्त विलास', 'विचित्र-चित्र' एव 'गुणभार' जैसी अनेक उपाधियो से विभूषित था। उसने 'मत्त विलास प्रहसन' नामक एक हास्य रस की कृति की भी रचना की। ऐसा अनुमान किया जाता है कि उसकी हास्य रस की उत्कृष्ट साहित्यिक कृति से प्रभावित जैनो ने महेन्द्रवर्मन प्रथम को 'मत्तविलास' की उपाधि से विभूषित किया। अपनी उस 'मत्तविलास-प्रहसन' नामक कृति मे महेन्द्रवर्मन ने इसके पात्रो मे पाशुपत परिव्राजक, कापालिक, कापालिक की पत्नी और एक बौद्ध (भिक्ष) को तो सम्मिलित किया है किन्तु किसी जैन श्रमण अथवा गृहस्थ को उस प्रहसन के पात्रो मे सम्मिलित नही किया। इसे इतिहासविदो ने इस बात का एक सबल प्रमाण माना है कि महेन्द्रवर्मन जैन था। इस प्रकार के विशिष्ट विद्वान् और दृढ आस्थावान् जैन राजा को भी अप्पर ने शैवधर्मानुयायी बना लिया, यह अप्पर की अप्रतिम प्रतिभा का ही प्रभाव था।

शैव एव जैन—दोनो धर्मों के साहित्य तथा शिलालेख आदि मे अप्पर के जो अपर नाम उपलब्ध होते है, वे है —

(१) तिरु अप्पर
(२) अप्पर
(३) तिरु नावुकरसर
(४) धर्मसेन
(५) तिरु नावुकरसर नायनार और वागीश।

तिरुवाडी, जिसे देवारम् साहित्य और आधिराजमागल्यपुर के शिलालेख मे तिरुवाडिगाई के नाम से अभिहित किया गया है, एक ऐसा ऐतिहासिक और

प्रसिद्ध नगर है, जहा अप्पर को धर्मपरिवर्तन करवा कर जैन साधु से शैव साधु बनाया गया। अप्पर को जैन साधु से शैव साधु बनाने मे उस पर अनेक प्रकार के अद्भुत चमत्कारो का प्रयोग करना पडा।[1]

अन्ततोगत्वा जब अप्पर को एक चमत्कार के प्रयोग द्वारा असाध्य रोग से मुक्त और पूर्ण स्वस्थ कर दिया गया तो उसने जैन श्रमणधर्म का परित्याग कर शैव धर्म अगीकार कर लिया जो बडा ही प्रभावशाली और महान् शैव सन्त सिद्ध हुआ।

जैन श्रमण से जब वह शैव साधु बना उस समय उसका नाम अप्पर रखा गया। अप्पर की तिरुनावुक्करस अर्थात् वागीश (वृहस्पति का पर्यायवाची शब्द) के नाम से भी प्रसिद्धि हुई।

जिस समय वह जैन साधु और पाटलिका (पाटलिपुरम्) के प्राचीन जैन श्रमणकेन्द्र अथवा मठ का आचार्य था उस समय उसका नाम धर्मसेन था। शैव साधु बनते ही अप्पर ने पाटलिका के जैनसस्कृति के एक प्रसिद्ध केन्द्र के मठ को और मन्दिर को धूलिसात् कर उसके स्थान पर "तिरु वाडिगाई" नामक एक विशाल शिवमन्दिर बनवाया।

जैनवाग्मय के अध्ययन से सत तिरु अप्पर के विषय मे एक तथ्य प्रकाश मे आता है कि उसने शैव सन्त बनने से पहले अपने जैन श्रमण-जीवन मे एक ऐसे प्राचीन जैन मठ मे जैन शास्त्रो का अध्ययन किया जो जैन सस्कृति के अध्ययन का एक प्रमुख केन्द्र स्थल गिना जाता था। आगे चलकर अपनी महान् प्रतिभा के बल पर वे उस विद्या-केन्द्र के आचार्य बनाये गये। इस सम्बन्ध मे इतिहास के विद्वानो और शोधार्थियो को इस बात की खोज करने की आवश्यकता है कि वस्तुत: जैन सस्कृति का वह प्राचीन केन्द्र यापनीय परम्परा का केन्द्र था अथवा दिगम्बर परम्परा का या अन्य किसी परम्परा का। जैन सस्कृति का वह प्राचीन केन्द्रस्थल पाण्ड्य राज्य के पाटलिका नामक नगर मे था, इस बात के अनेक प्रमाण उपलब्ध है।

शक सवत् ३८० (ई० सन् ४५८, तदनुसार वीर नि० स० ९८५ और वि० स० ५१५) मे काचीपति सिंहवर्मन के शासनकाल के २० वे वर्ष मे पाण्ड्यराज्य के पाटलिक ग्राम मे सर्वनन्दि नामक जैनाचार्य ने प्राकृत भाषा के 'लोकविभाग' नामक ग्रन्थ की रचना सम्पन्न की।[2]

---

[1] एपिग्राफी रिपोर्ट्स, मद्रास, वोल्यूम ५।

[2] विश्वे स्थिते रविसुते वृषभे च जीवे, राजोत्तरेषु सितपक्षमुपेत्य चन्द्रे।
ग्रामे च पाटलिकनामनि पाण्ड्यराष्ट्रे, शास्त्र पुरा लिखितवान्मुनि सर्वनन्दि ॥२॥
सवत्सरे तु द्वाविंश, काचीशसिंहवर्मण।
अशीत्यग्रे शकाब्दाना, सिद्धमेतच्छतत्रये ॥३॥ (शक स ३८०)

—लोकविभाग, (सस्कृत)

पाटलिका को ही वर्तमान मे तिरुप्पपुलियुर, तिरु पल्हिरिपुरम् अथवा पाटलिपुरम् के नाम से अभिहित किया जाता है । पाटलिका के उस प्राचीन जैन सस्कृति के केन्द्र (मठ) के स्थान पर ही अप्पर द्वारा बनवाया हुआ तिरुवाडिगाई नामक शिवमन्दिर आज विद्यमान है, यह एपिग्राफी रिपोर्ट्स, मद्रास, वोल्यूम ५ से सिद्ध है ।

आज प्राकृत भाषा का लोकविभाग कही उपलब्ध नही है पर उसका सिंहसूर्रिष द्वारा किया हुआ सस्कृत रूपान्तर आज विद्यमान है । सस्कृत लोकविभाग की प्रशस्ति मे एक श्लोक है, जो शोधार्थी विद्वानो का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करता है । वह श्लोक इस प्रकार है —

भव्येभ्य सुरमानुषोरुसदसि श्री वर्द्धमानार्हता,
यत्प्रोक्त जगतो विधानमखिल ज्ञात सुधर्मादिभि ।

आचार्यावलिकागत विरचित तत् सिंहसूर्रिषणा,
भाषाया परिवर्तनेन निपुणै सम्मानित साधुभि ॥

इस श्लोक मे "ज्ञात सुधर्मादिभि" यह पद वस्तुत मननीय है । क्योकि दिगम्बर परम्परा के सभी ग्रन्थो मे भ० महावीर का पट्टधर, भ० महावीर से सम्पूर्ण ज्ञान ग्रहण करने वाला, उस ज्ञान के आधार पर द्वादशागी रूपी समस्त जैन आगमो का ग्रथयिता और उस आगमज्ञान का दूसरो को ज्ञान कराने वाला गौतम को ही माना गया है, सुधर्मा को नही ।

श्वेताम्बर परम्परा मे भ० महावीर का प्रथम पट्टधर सुधर्मा को माना गया है । आचारागादि आगमो के सम्बन्ध मे यापनीय परम्परा की मान्यता भी श्वेताम्बर परम्परा के अनुरूप ही है, यह यापनीय परम्परा के यत्किंचित उपलब्ध साहित्य से निर्विवाद रूप से सिद्ध हो जाता है । 'लोकविभाग' के ऊपर उद्धृत श्लोक मे सुधर्मा को भ० महावीर से ज्ञान ग्रहण करने वाला और सुधर्मा से ही उस ज्ञान के उत्तरवर्ती आचार्य परम्परा मे चले आने का उल्लेख किया है । इससे यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आचार्य सर्वनन्दि और उनसे दो तीन पीढी पश्चात् हुए आचार्य धर्मसेन (तिरु अप्पर) कही यापनीय परम्परा अथवा किसी अन्य परम्परा के आचार्य तो नही थे । यह प्रश्न शोधार्थियो के लिए एक महत्वपूर्ण शोध का विषय है । आशा है शोधप्रिय विद्वान् इस पर शोधपूर्ण प्रकाश डालने का प्रयास अवश्य करेंगे । इतिहासविदो की यह मान्यता है कि यापनीय परम्परा के आचार्यों एव साधुओ के नाम अधिकाशत पूर्वकाल मे नन्द्यन्त और कीर्त्यन्त हुआ करते थे । इस दृष्टिकोण को ध्यान मे रखते हुए लोकविभाग के रचयिता सर्वनन्दि के सम्बन्ध मे शोध करना आवश्यक हो जाता है ।

सर्वनन्दि का समय लोकविभाग की प्रशस्ति मे शक स ३८०, तदनुसार ई सन् ४५८ उल्लिखित है और अप्पर के समकालीन एव अप्पर द्वारा जैन से शैव बनाये गये पल्लवराज महेन्द्रवर्मन का शासनकाल ई सन् ६०० से ६३० माना गया है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि सर्वनन्दि के पाटलिका जैन मठ का उत्तरवर्ती आचार्य धर्मसेन उनसे दो तीन पीढी उत्तरवर्ती काल का लगभग १२५ वर्ष पीछे का आचार्य होगा।

अप्पर शैव सन्त बनने से पहले जैन साधु था और पाटलिका नगर के जैन मठ का अधिष्ठाता और जैन सघ का आचार्य था, इसकी पुरातात्विक प्रमाणो से पुष्टि होती है। अप्पर के जैन साधु होने के सम्बन्ध मे एपिग्राफी रिपोर्ट्स, मद्रास, की जिल्द ५ का निम्नलिखित अश प्रमाण के रूप मे यहा प्रस्तुत किया जा रहा है—

Tiruvadi—The Tiruvadigai of the Devaram literature and the Adhirajamangalya-pura inscriptions, is famous as the place where Appar, originally a Jaina, got converted to the Saiva Creed after many trying spiritual ordeals The inscriptions of the temple which date from the Pallava King "Nripatunga varman" (A D ८५४ to ८८०), The Pallava design of the Linga enshrined in the temple, and the Jaina image which is reported to have been dug out of an adjoining field and which is now placed within the temple compound, bear ample testimony to the antiquity of this village and to its former associations with the Jaina faith The court religion of the Pallavas before Mahendravarman was won over to the Saiva religion by Appar, other-wise called Tirunavukkaradu Nayanar (Sdt Vagisa)

This town like Tirukkoyitur appears to have also been fortified in ancient times It was also the scene of a battle between the forces of the later Pallava King Kopperunjiviga and Hoysala Narashimha II (Epigraphica Indica Volume VII Page २६०-६६) Local tradition has it that during one of the modern Muhammadan or British occupations, the temple Gopura suffered serious damage and was in ruins until repaired about fifty years ago by the head of the local Tirunavukkarasar—Matha, which is a dependency of the Tiruppanandal—Adhimam in the Tanjore district It is interesting to note that a Tamil Brahman poet of the १६th century, called Uddandavelayudha—Bharati, composed a Kalambagam on the god of the temple and obtained a gift of some land and house site in Saka १४५८ (No ३७६ of Appendix B), but it is regrettable that this composition is not now known to be extant

हेस्टिग्स एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलिजन एण्ड एथिक्स मे अप्पर की जीवनी के सम्बन्ध मे थोडा प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि अप्पर अपनी युवावस्था मे एक जैन साधु था। अपनी प्रौढ अवस्था मे वह कट्टर शैव साधु था और वृद्धावस्था मे वह, अपनी प्रौढावस्था मे स्वय द्वारा (शैव सन्त के रूप मे) किये गये आचरण पर पश्चात्ताप करता हुआ, पुन जैन धर्म का अनुयायी बन गया। पुन जैन बन जाने के पश्चात् यह अप्पर कही शैव धर्म का घोर अनिष्ट न कर बैठे— इस आशका से सशक हो शैव धर्मानुयायियो ने रहस्यपूर्ण ढग से अप्पर की हत्या कर दी और एक काल्पनिक आश्चर्यकारी कथानक की सरचना कर लोगो मे इस प्रकार का समाचार प्रसृत कर दिया कि अप्पर को एक सिह ने मारकर खा लिया है। वह सिह अन्य कोई नही भगवान् शकर का गण ही था।

भगवान् जिनेश्वर अथवा अर्हत् की स्तुति के रूप मे अप्पर द्वारा तमिल भाषा मे रचित स्तोत्र आज भी जैन धर्मावलम्बी भक्तो द्वारा बडी श्रद्धा एव प्रेम के साथ गाये जाते है। अप्पर के वे स्तुतिपरक पद्य कतिपय अशो मे तेवारम् से मिलते-जुलते हैं और जैनो मे बडे ही लोकप्रिय हैं। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अप्पर ने सम्भवत इन लोकप्रिय स्तुतियो—स्तोत्रो की रचना अपनी आयु के अन्तिम भाग मे की थी।

एन्साइक्लोपीडिया मे जो एतद्विषयक उल्लेख है, वह इस प्रकार है —

Note The Jains give an altogether different version of Appar's life thus —

"Appar was a Jain ascetic in his youth, a staunch Shaiva in his middle age and a repented follower of Jainism in his old age On accoant of his reconversion to Jainism he was murdered by his Saivite followers lest he should undo by popularising a mysterious story that he was devoured by a tiger which was only a manifestation of Shiva Certain Tamil hymns in praise of Jina or Arhat are attributed to Appar and are most popularly sung by the Jains even to day The hymns resemble the Tevaram in many ways perhaps they were sung by Appar during the latter period of his life

(एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स हैस्टिग्स लिखित—पेज ४६५)

अप्पर ने शैव सन्त बनने से बहुत पहले पाटलिका (पाटलिपुरम्) के मठ मे जैन श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण की थी। वर्षो तक उस मठ मे रहकर जैन सिद्धान्तो का गहन अध्ययन किया था। निश्चित रूप से वह बडा मेधावी, वाग्मी

और विद्वान् श्रमण रहा होगा और उसके उन गुणो से प्रभावित होकर जैन सघ ने उन्हे पाटलिपुरम् के मठ का अधिष्ठाता और वहा के जैन सघ का आचार्य बनाया था। धर्म सघ के सचालन का उसे प्रत्यक्ष और सक्रिय अनुभव था। किन-किन कार्यक्रमो को जन-कल्याण की भावना से हाथ मे लेकर जनमत को अपनी ओर आकर्षित किया जा सकता है और उन कार्यक्रमो के माध्यम से धर्म सघ को अभ्युदय—उत्थान के पथ पर अग्रसर किया जा सकता है, इन सब बातो का अप्पर को जैनाचार्य के पद पर वर्षो तक कार्य करते रहने के कारण अच्छा अनुभव था।

शैव धर्म अगीकार करने के पश्चात् अपने उन अनुभवो के आधार पर शैव धर्म की स्थिति को तमिलनाडु की भूमि मे सुदृढ करने के लिये जैन सघ द्वारा सचालित उन सब जन-कल्याणकारी कार्यक्रमो को और कार्य प्रणालियो को सैद्धान्तिक रूप से शैव धर्म के कर्त्तव्यो मे सम्मिलित किया। वे जन-कल्याणकारी सार्वभौम मानवीय सिद्धान्त, जिनको अप्पर ने जैनो का अनुसरण करते हुए शैव धर्म के कर्त्तव्यो मे सैद्धान्तिक रूप मे स्वीकार किया, वे मोटे रूप मे इस प्रकार है —

(१) जैन धर्मानुयायी प्रतिदिन अपने आराध्यदेव तीर्थकरो की स्तोत्रो से सस्वर पाठ के साथ स्तुति—पूजा—अर्चा करते है। इसी का अनुसरण करते हुए अप्पर आदि शैव सन्तो ने भी शैवो के धर्म स्थानो और मन्दिरो आदि मे अपने आराध्य देव शिव की स्तुति—पूजा—अर्चा आदि का शैवो के लिये विधान किया।

(२) जैन धर्मानुयायी ६३ शलाका (श्लाघ्य) महापुरुषो के जीवन-चरित्रो का पठन-पाठन करते है। अप्पर आदि शैव सन्तो ने भी ६३ महान् शैव सन्तो के जीवन चरित्रो का निर्माण एव सकलन किया और उनके पठन-पाठन, श्रवण-श्रावण को शैव धर्मावलम्बियो का आवश्यक कर्त्तव्य निर्धारित कर दिया।

(३) जैन धर्म मे आहारदान, अभय दान (प्राणदान), भैषज्यदान और ज्ञान दान अथवा शास्त्र दान को महान् पुण्यप्रदायी और उच्च कोटि का जन-कल्याणकारी कार्य माना गया है। अप्पर आदि शैव सन्तो ने भी अपने शैव धर्म के सार्वत्रिक प्रचार-प्रसार और सर्वतोमुखी अभ्युत्थान के लिये जैनो का अनुसरण करते हुए आहाराभय—भैषज्य—शास्त्र—दान को सैद्धान्तिक रूप से शैवधर्म के प्रमुख कर्त्तव्यो मे स्थान दिया।

(४) जैन धर्म मे वर्ण व्यवस्था के लिये कही कोई स्थान नही है, केवल कर्म को ही जैन धर्म मे महत्व दिया गया है। वैष्णव धर्म की मान्यताओ के पूर्णत प्रतिकूल होते हुए भी "अप्पर आदि शैव सन्तो ने जाति-पाति को शैव धर्म मे कोई स्थान नही दिया।" इसे अप्पर आदि शैव सन्तो ने न केवल सिद्धान्त रूप मे ही स्वीकार किया किन्तु तत्काल जाति-पाति—वर्गविहीन शैव समाज के सिद्धान्त को कार्यरूप मे परिणत कर दिया। उन्होने परिगणित अथवा अछूत गिनी जाने वाली

जातियो और वर्गो के लोगो को, शैव धर्म सघ मे समान स्तर पर सम्मिलित किया। यही नही अपितु शैव धर्म मे परम पवित्र, परम पूज्य माने गये ६३ महान् शैव सन्तो मे मछुआ वर्ग के अतिभक्त नायनार नामक सन्त को भी सम्मिलित कर उसे महान् शैव सन्तो मे समान स्तर का स्थान और सर्वोच्च सम्मान प्रदान किया। अप्पर आदि शैव सन्तो का यह एक ऐसा क्रान्तिकारी कदम था, जिसने शैव धर्म सघ को जन-जन का परम लोकप्रिय धर्म सघ बना दिया।

(५) एक बहुत बडा महत्वपूर्ण कार्य, जिसे जैनाचार्य अथवा जैनधर्मावलम्बी प्राचीन काल से ही निरन्तर करते आ रहे थे, वह था राजसत्ता का—राजाओ का सरक्षण प्राप्त करना। अपने धर्म सघ के उत्तरोत्तर अभ्युत्थान के लिये अप्पर आदि शैव सन्तो ने इस कार्य को परम आवश्यक मान कर इस कार्य मे भी जैनो का, जैनाचार्यो का अनुसरण किया।

उन्होने पल्लवराज महेन्द्रवर्मन, पाण्ड्यराज सुन्दर पाण्ड्य आदि राजाओ को अपनी वाग्मिता एव अपने चमत्कारो आदि से प्रभावित कर अपने शैव धर्म सघ के उत्कर्ष के लिये, उन राजाओ का सरक्षण प्राप्त किया। शैव धर्म ने राज्याश्रय अथवा राजाओ का सरक्षण प्राप्त कर अपने प्रतिद्वन्द्वियो को कुचल कर अपने धर्म सघ को सबल, सुदूरव्यापी और बहुजन सम्मत बनाने मे किस प्रकार अद्भुत् एव आशातीत सफलता, स्वल्पकाल मे ही प्राप्त कर ली, इसका प्रस्तुत प्रकरण मे उल्लिखित तथ्यो से सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

इस प्रकार जैनो द्वारा पूर्वकाल मे अपनायी गयी कार्य प्रणालियो का अनुसरण करते हुए अप्पर आदि शैव सन्तो ने अपने लक्ष्य की पूर्ति मे उल्लेखनीय सफलता प्राप्त की।

जहा तक अप्पर के समय का सम्बन्ध है, यह पहले बताया जा चुका है कि यह ई० सन् ६०० से ६३० तक सत्ता मे रहे काचीपति पल्लवराज महेन्द्रवर्मन प्रथम का गुरु और ज्ञानसम्बन्धर, सुन्दरपाण्ड्य, पल्लव सेनापति शिरुत्तोण्डा दभ्रभक्त और जैनाचार्य वादीभसिंह (ओडयदेव) का समकालीन था। अत इस शैव महा सन्त अप्पर का समय भी ईसा की सातवी शताब्दी के प्रारम्भ से लेकर इसी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आस-पास का अनुमानित किया जाता है।

तिरु अप्पर के जीवन की एक विशेषता है कि जैन सघ मे वह आचार्य पद जैसे गौरवगरिमापूर्ण पद पर पहुचा। कालान्तर मे शैव धर्म अगीकार कर शैव सन्तो मे भी शीर्षस्थान पर पहुचा और अन्त मे पुन जैनधर्मावलम्बी बन गया और अन्ततोगत्वा जिन शैवो को उत्कर्ष के उच्च शिखर पर पहुचाया, उन्ही के द्वारा उसकी हत्या कर दी गई।

तिरु अप्पर और ज्ञानसम्बन्धर के समकालीन जैनाचार्य वादीभसिंह अपर नाम ओडयदेव

वीर निर्वाण की ग्यारहवी-बारहवी शताब्दी के सधिकाल के जैनाचार्यों मे दिगम्बर जैनाचार्य वादीभसिह का नाम प्रमुख ग्रन्थकारो मे गिना जाता है।

जयधवला जैसे महान् टीकाग्रन्थ के यशस्वी रचनाकार जिनसेनाचार्य के आदिपुराण मे उल्लिखित शब्दो के अनुसार वादीभसिंह महाकवि योग्य प्रतिभा की पराकाष्ठा, उच्च कोटि के वाग्मी गमकानुप्रासादादि के पारदृश्वा और वादियो के हस्तियूथ के लिये विकराल केसरी-सिह तुल्य थे।

वे अपने समय के लब्धप्रतिष्ठ महान् तार्किक भी थे। डा० श्याम शास्त्री द्वारा प्रकाश मे लाये गये इस तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए वादीभसिंह ने शैवक्रान्ति के सूत्रधार शैव महासन्त तिरु ज्ञानसम्बन्धर और तिरु अप्पर के साथ शैवधर्म के सिद्धान्तो के विषय मे वादविवाद किया था।[1] इनका (वादीभसिंह का) परिचय एक विशेष ऐतिहासिक महत्व रखता है। इन सब तथ्यो को दृष्टिगत रखते हुए वादीभसिंह का सक्षेप मे परिचय दिया जा रहा है।

इनका वास्तविक नाम ओडय देव था। अपराजेय वादी अथवा महान् तार्किक होने के कारण उन्हे वादीभसिंह की उपाधि से विद्वानो ने विभूषित किया था।

इनकी 'स्याद्वादसिद्धि', 'क्षेत्रचूडामणि' और 'गद्य चिन्तामणि'—ये तीन रचनाए वर्तमान मे उपलब्ध है। ये तीनो ही ग्रन्थ वस्तुत ग्रन्थरत्न है। 'स्याद्वाद-सिद्धि' नामक न्याय और दर्शन के ग्रन्थ मे १४ अधिकार है किन्तु इसके अन्तिम अधिकार मे केवल ६ कारिकाए ही है और शेष दो कृतियो की तरह इसमे अन्तिम पुष्पिका का भी अभाव है। इससे स्पष्टत ही यह प्रकट होता है कि यह ग्रन्थ या तो अपूर्ण रह गया है अथवा किसी लिपिकार ने इसका पूरा आलेखन नही किया।

वादीभसिंह की शेष 'क्षत्रचूडामणि' और 'गद्यचिन्तामणि' इन दोनो ही कृतियो मे कथानक एक ही है, कथानायक भी वही है और कथा के पात्र भी भिन्न नही, वे ही है।

इन दोनो कृतियो मे कथा, कथानायक और पात्रो का सादृश्य होते हुए भी पाठको को ये दोनो ग्रन्थ एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न प्रतीत होते है, यह वादीभसिंह की अद्भुत कल्पना शक्ति का ही चमत्कार है, जो अन्यत्र कही दृष्टिगोचर नही होता।

---

[1] एम ए आर फोर १९२५ पी पी १२-१३ पेज ८

क्षत्रचूडामणि एक उच्च कोटि का नीति काव्य है जिसमे सरस सूक्तिया और हृदयस्पर्शी उपदेश है।

गद्य चिन्तामणि एक गद्य काव्य है। इसकी भाषा प्रौढ और कुछ जटिल है। इसमे दिये गये उपदेश के नीति-वाक्य बडे ही सरस एव चित्ताकर्षक है।

विद्वान कवि वादीभसिह ने अपने गुरु के नामोल्लेख के साथ अपना परिचय देते हुये गद्य चिन्तामणि मे लिखा है —

> श्री पुष्पसेन मुनिनाथ इति प्रतीतो
> दिव्यो मनुर्हृदि सदा मम सविदध्यात्।
> यच्छक्तित प्रकृति मूढमतिर्जनोऽपि
> वादीभसिह मुनि पुगवतामुपैति ।।

अर्थात्—पुष्पसेन नामक आचार्य मेरे गुरु है। उनमे ऐसी दिव्य शक्ति है कि उनकी उस शक्ति के प्रताप से मेरे जैसा बुद्धिहीन व्यक्ति भी वादीभसिह आचार्य बन गया।

आचार्य पुष्पसेन को मल्लिषेण प्रशस्ति मे अकलक का गुरु भ्राता बताया गया है इससे यह सिद्ध होता है कि वादीभसिंह के गुरु पुष्पसेन और महान् विद्वान् आचार्य अकलक समकालीन विद्वान् थे।

जहाँ तक वादीभसिह के समय का प्रश्न है, कही इनके निश्चित समय का उल्लेख उपलब्ध नही होता। इनका जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण मे और पार्श्व-नाथ चरित्र के रचनाकार वादीराज सूरि ने स्मरण किया है।

जिनसेनाचार्य का समय ई० सन् ८३७ है और वादीराज सूरी का समय ई सन् १०२५ है। इससे यह तो निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि वादीभसिह ईसा की आठवी शताब्दी से पूर्व के विद्वान् थे। तिरु ज्ञानसम्बन्धर और तिरु अप्पर के प्रकरण मे यह बताया जा चुका है कि पल्लवराज महेन्द्रवर्मन प्रथम और सुन्दर-पाण्ड्य यह सब समकालीन थे। वहा यह भी बताया जा चुका है कि काचीपति पल्लवराज महेन्द्रवर्मन प्रथम का शासन काल ई सन् ६०० से ६३० तक का है। वादीभसिह भी अप्पर और ज्ञानसम्बन्धर के समकालीन विद्वान् थे अत इनका समय भी स्वत ईसा की सातवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध हो जाता है।

आचार्य वादीभसिह का शैव सत ज्ञानसम्बन्धर और अप्पर के साथ जो वाद-विवाद हुआ उसका क्या निर्णय रहा इस सम्बन्ध मे आज तक कोई तथ्य प्रकाश मे नही आया है। आशा है इतिहास के विद्वान् इस ओर अग्रेतर शोध कर इस पर प्रकाश डालने का प्रयास करेगे।

श्रमण भगवान् महावीर के ३५वे पट्टधर आचार्य श्री जयसेन (द्वितीय)

जन्म	—	वीर नि स ११४२
दीक्षा	—	वीर नि स ११७४
आचार्यपद	—	वीर नि स ११९७
स्वर्गारोहण	—	वीर नि स १२२३
गृहवास पर्याय	—	३२ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२३ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	२६ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	४९ वर्ष
पूर्ण आयु	—	८१ वर्ष

श्रमण भगवान् महावीर के ३४वे पट्टधर आचार्य श्री हरिषेण के स्वर्ग गमनानन्तर उनके विद्वान् शिष्य मुनि श्री जयसेन (द्वितीय) को चतुर्विध तीर्थ द्वारा आचार्य पद पर विराजमान किया।

आप प्रभु महावीर के ३५वे पट्टधर हुए। ४९ वर्ष की पूर्ण साधु पर्याय मे निरतिचार-विशुद्ध श्रमणाचार का परिपालन करने के साथ-साथ आपने २६ वर्ष तक आचार्य पद को सुशोभित करते हुए जिनशासन की बडी निष्ठा के साथ महती सेवा की।

इससे अधिक इनके विषय मे कोई उल्लेख कही उपलब्ध नही होता। इतिहासविदो से इसके लिए अग्रेतर शोध की अपेक्षा है।

क्षत्रचूडामणि एक उच्च कोटि का नीति काव्य है जिसमे सरस सूक्तिया और हृदयस्पर्शी उपदेश है।

गद्य चिन्तामणि एक गद्य काव्य है। इसकी भाषा प्रौढ और कुछ जटिल है। इसमे दिये गये उपदेश के नीति-वाक्य बडे ही सरस एव चित्ताकर्षक है।

विद्वान कवि वादीभसिह ने अपने गुरु के नामोल्लेख के साथ अपना परिचय देते हुये गद्य चिन्तामणि मे लिखा है —

श्री पुष्पसेन मुनिनाथ इति प्रतीतो
दिव्यो मनुर्हृदि सदा मम सविदध्यात्।
यच्छक्तित प्रकृति मूढमतिर्जनोऽपि
वादीभसिह मुनि पुगवतामुपैति ।।

अर्थात्—पुष्पसेन नामक आचार्य मेरे गुरु है। उनमे ऐसी दिव्य शक्ति है कि उनकी उस शक्ति के प्रताप से मेरे जैसा बुद्धिहीन व्यक्ति भी वादीभसिह आचार्य बन गया।

आचार्य पुष्पसेन को मल्लिषेण प्रशस्ति मे अकलक का गुरु भ्राता बताया गया है इससे यह सिद्ध होता है कि वादीभसिह के गुरु पुष्पसेन और महान् विद्वान् आचार्य अकलक समकालीन विद्वान् थे।

जहाँ तक वादीभसिह के समय का प्रश्न है, कही इनके निश्चित समय का उल्लेख उपलब्ध नही होता। इनका जिनसेनाचार्य ने आदिपुराण मे और पार्श्वनाथ चरित्र के रचनाकार वादीराज सूरि ने स्मरण किया है।

जिनसेनाचार्य का समय ई० सन् ८३७ है और वादीराज सूरी का समय ई सन् १०२५ है। इससे यह तो निश्चित रूप से सिद्ध हो जाता है कि वादीभसिह ईसा की आठवी शताब्दी से पूर्व के विद्वान् थे। तिरु ज्ञानसम्बन्धर और तिरु अप्पर के प्रकरण मे यह बताया जा चुका है कि पल्लवराज महेन्द्रवर्मन प्रथम और सुन्दरपाण्ड्य यह सब समकालीन थे। वहा यह भी बताया जा चुका है कि काचीपति पल्लवराज महेन्द्रवर्मन प्रथम का शासन काल ई सन् ६०० से ६३० तक का है। वादीभसिह भी अप्पर और ज्ञानसम्बन्धर के समकालीन विद्वान् थे अत इनका समय भी स्वत ईसा की सातवी शताब्दी का पूर्वार्द्ध हो जाता है।

आचार्य वादीभसिह का शैव सत ज्ञानसम्बन्धर और अप्पर के साथ जो वाद-विवाद हुआ उसका क्या निर्णय रहा इस सम्बन्ध मे आज तक कोई तथ्य प्रकाश मे नही आया है। आशा है इतिहास के विद्वान् इस ओर अग्रेतर शोध कर इस पर प्रकाश डालने का प्रयास करेंगे।

श्रमण भगवान् महावीर के ३५वे पट्टधर आचार्य
श्री जयसेन (द्वितीय)

जन्म	—	वीर नि स ११४२
दीक्षा	—	वीर नि स ११७४
आचार्यपद	—	वीर नि स ११९७
स्वर्गारोहण	—	वीर नि स १२२३
गृहवास पर्याय	—	३२ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२३ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	२६ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	४९ वर्ष
पूर्ण आयु	—	८१ वर्ष

श्रमण भगवान् महावीर के ३४वे पट्टधर आचार्य श्री हरिषेण के स्वर्ग गमनानन्तर उनके विद्वान् शिष्य मुनि श्री जयसेन (द्वितीय) को चतुर्विध तीर्थ द्वारा आचार्य पद पर विराजमान किया।

आप प्रभु महावीर के ३५वे पट्टधर हुए। ४९ वर्ष की पूर्ण साधु पर्याय मे निरतिचार-विशुद्ध श्रमणाचार का परिपालन करने के साथ-साथ आपने २६ वर्ष तक आचार्य पद को सुशोभित करते हुए जिनशासन की बडी निष्ठा के साथ महती सेवा की।

इससे अधिक इनके विषय मे कोई उल्लेख कही उपलब्ध नही होता। इतिहासविदो से इसके लिए अग्रेतर शोध की अपेक्षा है।

श्रमण भगवान् महावीर के ३६वे पट्टधर ाचार्य
श्री जग ल स्वामी

जन्म	—	वीर नि स ११८७
दीक्षा	—	वीर नि स. १२१४
आचार्य पद	—	वीर नि स १२२३
स्वर्गारोहण	—	वीर नि स १२२९
गृहवास पर्याय	—	२७ वर्ष
सामान्य साधु-पर्याय	—	९ वर्ष
आचार्य-पर्याय	—	६ वर्ष
पूर्ण साधु-पर्याय	—	१५ वर्ष
पूर्ण आयु	—	४२ वर्ष

वीर प्रभु के ३५वे पट्टधर आचार्य श्री जयसेन (द्वितीय) के दिवगत हो जाने पर श्रमणोत्तम श्री जगमाल स्वामी को भ महावीर के ३६वें पट्टधर के रूप मे चतुर्विध सघ द्वारा प्रभु की मूल विशुद्ध श्रमण-परम्परा का आचार्य बनाया गया।

उन्होने ९ वर्ष तक सामान्य साधु पर्याय मे और ६ वर्ष तक आचार्य पद पर रहकर भगवान् महावीर की मूल परम्परा के विशुद्ध श्रमणाचार की ज्योति को अपने समय के सक्रान्ति काल मे भी अखण्ड बनाये रखा। आपने चैत्यवासी परम्परा के एकाधिपत्य काल की विकट परिस्थितियो मे भी मूल श्रमण परम्परा के विशुद्ध श्रमणाचार को अक्षुण्ण एव निरतिचार बनाये रखकर जिनशासन की जो सेवाए की है, वे जैन धर्म के इतिहास मे युग-युगान्तरो तक मुमुक्षु साधु-साध्वियो एव श्रावक-श्राविकाओ के वर्गो को स्व पर कल्याण के प्रशस्त पथ पर अग्रसर होते रहने के लिये प्रदीप स्तम्भ के समान सदा-सदा मार्गदर्शन करती रहेगी।

श्रमण भगवान् महावीर के ३७वे पट्टधर आचार्य
श्री देव ऋषि

जन्म	—	वीर नि स ११४६
दीक्षा	—	वीर नि स ११६०
आचार्य पद	—	वीर नि स १२२६
स्वर्गारोहण	—	वीर नि स १२३४
गृहवास पर्याय	—	४१ वर्ष
सामान्य साधु-पर्याय	—	३६ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	५ वर्ष
पूर्ण साधु-पर्याय	—	४४ वर्ष
पूर्ण आयु	—	८५ वर्ष

शासन नायक वीर प्रभु के ३६वे पट्टधर श्री जगमाल स्वामी के वीर नि. स १२२६ मे स्वर्गारोहण कर लेने पर मुनिश्रेष्ठ श्री देवऋषि को महावीर के ३७वे पट्टधर पद पर आचार्य बनाया गया।

आप वीर निर्वाण की १३वी शताब्दी के आचार्य हुए। वीर नि स १२२६ से १२३४ पर्यन्त केवल ५ वर्ष के अपने आचार्य काल मे प्रतिकूल परिस्थितियो के उपरान्त भी श्रमण-श्रमणी वर्ग के हृदय मे विशुद्ध श्रमणाचार के प्रति एक ललक उत्पन्न कर उत्तरोत्तर क्षीण से क्षीणतम होते जा रहे मूल श्रमण-परम्परा के प्रवाह को अक्षुण्ण-अविच्छिन्न बनाये रखकर जिनशासन की महती सेवा की।

श्रमण भगवान् महावीर के ३६वे पट्टधर ाचार्य
श्री जग ल स्वामी

जन्म	—	वीर नि स ११८७
दीक्षा	—	वीर नि स. १२१४
आचार्य पद	—	वीर नि स १२२३
स्वर्गारोहण	—	वीर नि स १२२६
गृहवास पर्याय	—	२७ वर्ष
सामान्य साधु-पर्याय	—	६ वर्ष
आचार्य-पर्याय	—	६ वर्ष
पूर्ण साधु-पर्याय	—	१५ वर्ष
पूर्ण आयु	—	४२ वर्ष

वीर प्रभु के ३५वे पट्टधर आचार्य श्री जयसेन (द्वितीय) के दिवगत हो जाने पर श्रमणोत्तम श्री जगमाल स्वामी को भ महावीर के ३६वे पट्टधर के रूप मे चतुर्विध सघ द्वारा प्रभु की मूल विशुद्ध श्रमण-परम्परा का आचार्य बनाया गया।

उन्होने ६ वर्ष तक सामान्य साधु पर्याय मे और ६ वर्ष तक आचार्य पद पर रहकर भगवान् महावीर की मूल परम्परा के विशुद्ध श्रमणाचार की ज्योति को अपने समय के सक्रान्ति काल मे भी अखण्ड बनाये रखा। आपने चैत्यवासी परम्परा के एकाधिपत्य काल की विकट परिस्थितियो मे भी मूल श्रमण परम्परा के विशुद्ध श्रमणाचार को अक्षुण्ण एव निरतिचार बनाये रखकर जिनशासन की जो सेवाए की है, वे जैन धर्म के इतिहास मे युग-युगान्तरो तक मुमुक्षु साधु-साध्वियो एव श्रावक-श्राविकाओ के वर्गों को स्व पर कल्याण के प्रशस्त पथ पर अग्रसर होते रहने के लिये प्रदीप स्तम्भ के समान सदा-सदा मार्गदर्शन करती रहेगी।

श्रमण भगवान् महावीर के ३७वे पट्टधर आचार्य
श्री देव ऋषि

जन्म	—	वीर नि स ११४६
दीक्षा	—	वीर नि स ११६०
आचार्य पद	—	वीर नि स १२२६
स्वर्गारोहण	—	वीर नि स १२३४
गृहवास पर्याय	—	४१ वर्ष
सामान्य साधु-पर्याय	—	३६ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	५ वर्ष
पूर्ण साधु-पर्याय	—	४४ वर्ष
पूर्ण आयु	—	८५ वर्ष

शासन नायक वीर प्रभु के ३६वे पट्टधर श्री जगमाल स्वामी के वीर नि. स १२२६ मे स्वर्गारोहण कर लेने पर मुनिश्रेष्ठ श्री देवऋषि को महावीर के ३७वे पट्टधर पद पर आचार्य बनाया गया।

आप वीर निर्वाण की १३वी शताब्दी के आचार्य हुए। वीर नि स १२२६ से १२३४ पर्यन्त केवल ५ वर्ष के अपने आचार्य काल मे प्रतिकूल परिस्थितियो के उपरान्त भी श्रमण-श्रमणी वर्ग के हृदय मे विशुद्ध श्रमणाचार के प्रति एक ललक उत्पन्न कर उत्तरोत्तर क्षीण से क्षीणतम होते जा रहे मूल श्रमण-परम्परा के प्रवाह को अक्षुण्ण-अविच्छिन्न बनाये रखकर जिनशासन की महती सेवा की।

श्रमण भगवान् महावीर के ३६वें पट्टधर चार्य
श्री जग ल स्वामी

जन्म	—	वीर नि स ११८७
दीक्षा	—	वीर नि स. १२१४
आचार्य पद	—	वीर नि स १२२३
स्वर्गारोहण	—	वीर नि स १२२६
गृहवास पर्याय	—	२७ वर्ष
सामान्य साधु-पर्याय	—	६ वर्ष
आचार्य-पर्याय	—	६ वर्ष
पूर्ण साधु-पर्याय	—	१५ वर्ष
पूर्ण आयु	—	४२ वर्ष

वीर प्रभु के ३५वे पट्टधर आचार्य श्री जयसेन (द्वितीय) के दिवगत हो जाने पर श्रमणोत्तम श्री जगमाल स्वामी को भ महावीर के ३६वे पट्टधर के रूप मे चतुर्विध सघ द्वारा प्रभु की मूल विशुद्ध श्रमण-परम्परा का आचार्य बनाया गया।

उन्होने ६ वर्ष तक सामान्य साधु पर्याय मे और ६ वर्ष तक आचार्य पद पर रहकर भगवान् महावीर की मूल परम्परा के विशुद्ध श्रमणाचार की ज्योति को अपने समय के सक्रान्ति काल मे भी अखण्ड बनाये रखा। आपने चैत्यवासी परम्परा के एकाधिपत्य काल की विकट परिस्थितियो मे भी मूल श्रमण परम्परा के विशुद्ध श्रमणाचार को अक्षुण्ण एव निरतिचार बनाये रखकर जिनशासन की जो सेवाए की हैं, वे जैन धर्म के इतिहास मे युग-युगान्तरो तक मुमुक्षु साधु-साध्वियो एव श्रावक-श्राविकाओ के वर्गो को स्व पर कल्याण के प्रशस्त पथ पर अग्रसर होते रहने के लिये प्रदीप स्तम्भ के समान सदा-सदा मार्गदर्शन करती रहेगी।

बत्तीसवें (३२) युगप्रधानाचार्य श्री पुष्यमित्र

जन्म	—	वीर निर्वाण सम्वत् ११५२
दीक्षा	—	वीर निर्वाण सम्वत् ११६०
सामान्य साधु पर्याय	—	वीर निर्वाण सम्वत् ११६० से ११९७ तक ।
युगप्रधानाचार्य काल	—	वीर निर्वाण सम्वत् ११९७ से १२५० तक ।
स्वर्ग	—	वीर निर्वाण सम्वत् १२५०
सर्वायु	—	९८ वर्ष

युगप्रधानाचार्य पुष्यमित्र प्राचीनकाल मे एक महान् प्रभावक आचार्य हुए हैं। यह एक दुर्भाग्य की बात है कि युगप्रधानाचार्य परम्परा के आचार्यो के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध मे वर्तमान काल मे सामान्यत उपलब्ध साहित्य मे कोई अधिक आधिकारिक जानकारी नही मिलती ।

'तित्थोगालिपइण्णय' के प्रकाश मे आने के पश्चात् इस परम्परा के कतिपय आचार्यो के सम्बन्ध मे कुछ महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश मे आये हैं। इस ग्रन्थ मे इस परम्परा के आचार्यो के सम्बन्ध मे जो उल्लेख है, उन पर विचार करने से यह स्पष्टत प्रतीत होता है कि इस परम्परा का अनेक शताब्दियो तक जैन जगत् मे एक परम प्रामाणिक परम्परा के रूप मे सर्वांगीण वर्चस्व रहा है ।

'तित्थोगालि पइण्णय' के उल्लेखो के अनुसार आचार्य पुष्यमित्र ८४००० पदो वाले सर्वांगपूर्ण व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती सूत्र) के अन्तिम धारक हुए हैं। वे महान् चिन्तक और विशुद्ध श्रमणाचार की रक्षा मे निपुण थे ।

आपके स्वर्गस्थ होते ही ८४००० पदो वाला गुणो से ओतप्रोत पाचवा अग व्याख्या प्रज्ञप्ति रूपी कल्पवृक्ष सहसा सकुचित हो गया और इसके गुण रूपी

श्रमण भगवान् के ३८वे पट्टधर ा र्य
श्री भीम ऋषि

जन्म	—	वीर नि स ११६०
दीक्षा	—	वीर नि स १२११
आचार्य पद	—	वीर नि स १२३४
स्वर्गारोहण	—	वीर नि स १२६३
गृहवास पर्याय	—	५१ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२३ वर्ष
आचार्य-पर्याय	—	२९ वर्ष
पूर्ण साधु-पर्याय	--	५२ वर्ष
पूर्ण आयु	—	१०३ वर्ष

प्रवर्तमान अवसर्पिणी काल के चरम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर क ३७व पट्टधर आचार्य श्री देवऋषि के स्वर्गस्थ होने पर वीर नि स १२३४ मे मुनि पुगव श्री भीम ऋषि को वीर प्रभु के ३८वे पट्टधर के रूप मे चतुर्विध सघ द्वारा आचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया।

अपने आचार्यकाल मे शिथिलाचार परायणा चैत्यवासी परम्परा के एकाधिपत्य, सार्वत्रिक प्रचार-प्रसार एव काल प्रभाव से बढते हुए वर्चस्व के उपरान्त भी भगवान् महावीर की विशुद्ध मूल श्रमण परम्परा की क्षीण धारा को अपने तप त्याग के बल पर प्रवाहित रखते हुए उसे विलुप्त होने से बचाया। अपने २९ वर्ष के आचार्यकाल मे आचार्य श्री भीम ऋषि ने 'यथा नाम तथा गुणा.' की कहावत को चरितार्थ कर जिनशासन की महती सेवा की।

हर्षवर्द्धन– पर नाम शीलादित्य

वीर निर्वाण की बारहवी शताब्दी मे स्थानेश्वर और कन्नौज का महाराजा हर्षवर्द्धन महान् प्रतापी और भारतीय इतिहास मे बडा ही यशस्वी राजा हुआ है। हर्ष स्वय बडा विद्वान्, यशस्वी साहित्य-निर्माता, विद्वानो का समुचित समादर करने वाला, साहसी योद्धा रणनीति मे विशारद और शाति का भी पुजारी था।

अपनी मातृभूमि से विदेशी हूणो के शासन को सदा-सर्वदा के लिये समाप्त कर देने के अपने जीवन के लक्ष्य की पूर्ति हेतु जो सफल अभियान हर्ष ने प्रारम्भ किया, उससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि उसका न केवल अन्तस्तल अपितु रोम-रोम देशप्रेम के प्रगाढ रग मे रगा हुआ था। सब धर्मो को वह समान दृष्टि से देखता था। बौद्ध चीनी यात्री ह्वेनत्साग हर्ष को बुद्ध का परम भक्त और कट्टर बौद्ध धर्मानुयायी बताता है, तो दूसरी ओर हर्षवर्द्धन के शासनकाल की उसकी मुद्राएँ उसे शिव का भक्त—परम शैव सिद्ध करती हैं। तीसरी ओर जैन साहित्य मे "भक्तामर" नाम से प्रसिद्ध आदिनाथ भगवान् के स्तोत्र के रचयिता आचार्य मान-तुग द्वारा निर्मित इस स्तोत्र निर्माण की घटना का हर्ष के साथ सम्बन्ध जोडकर हर्ष को जैन धर्म के प्रति विशिष्ट अनुराग रखने वाला बताया गया है।

सब धर्मों के अनुयायी हर्ष को अपने-२ धर्म का अनुयायी बताते है तो इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि राजा हर्ष सभी धर्मो को समान दृष्टि से देखता था।

हर्षवर्द्धन के जीवनवृत्त पर विशद प्रकाश डालने वाले मुख्य रूप से दो स्रोत है। एक तो है हर्ष के परमप्रीतिपात्र महाकवि बाणभट्ट द्वारा रचित हर्ष चरित्र और दूसरा स्रोत है चीनी यात्री ह्वेनत्साग द्वारा लिखे गये हर्ष सम्बन्धी विवरण।

चीनी यात्री ह्वेनत्साग के हर्षसम्बन्धी विवरणो को पढने से साधारण पाठक को भी सहज ही यह आभास हो जाता है कि उनमे उसने हर्ष का बौद्ध धर्म के अनन्यभक्त के रूप मे एक अतिरजित चित्र प्रस्तुत किया है।

महाकवि बाण के उल्लेखानुसार स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर) राज्य का नाम किसी नगर के नाम पर प्रचलित हुआ, जो श्रीकण्ठ नामक देश मे अवस्थित था। थानेश्वर राज्य का सस्थापक आदि पुरुष पुष्पभूति था।

थानेश्वर राज्य की प्राचीन राजकीय सीलो (मुहरो) और प्राचीन अभि-लेखो के आधार पर इतिहासविदो ने इस राजवश की जो पुष्पभूति के उत्तरवर्ती काल की राजावली तैयार की है, वह इस प्रकार है[1] —

(१) महाराजा नरवर्द्धन, उसकी रानी वज्रिणी देवी।
(२) महाराजा राज्यवर्द्धन, उसकी रानी अप्सरा देवी।
(३) महाराजा आदित्यवर्द्धन, उसकी रानी महासेना—गुप्ता देवी।

अमृत फलो से वञ्चित भव्य साधक सहसा भ्रान्त एव हतप्रभ हो गये। 'तित्थोगालि पइन्नय' की वे गाथाए इस प्रकार है —

पण्णासा वरिसेहिं य, बारस वरिस सएहिं वोच्छेदो।
दिन्नगणि पूसमित्ते, सविवाहाण छलगाण ।।८१२।।
नामेण पूसमित्तो, समणो समणगुण निउण चिंतविश्रो।
होही अपच्छिमो किर वियाह सुयधारश्रो वीरो ।।८१३।।
तम्मिय वियाहरुक्खे, चुलसीति पयसहस्सगुण कलिए।
सहस्सचिए सभतो, हो ही गुण निफ्फलो लोगो ।।८१४।।

अर्थात्—वीर निर्वाण सम्वत् १२५० मे दिन्नगणि श्री पुष्यमित्र के समय मे व्याख्या प्रज्ञप्ति सहित छ अगो का व्यवच्छेद (ह्रास) हो जायगा।

विशुद्ध श्रमणाचार के परिपालक और दूसरो से पालन करवाने मे निपुण एव महान् चिन्तक वीरवर पुष्यमित्र नामक श्रमण सम्पूर्ण व्याख्या प्रज्ञप्ति का अन्तिम धारक होगा।

गुणो से ओतप्रोत, चौरासी हजार पदो वाले पचम अग शास्त्र व्याख्या प्रज्ञप्ति रूपी कल्पवृक्ष के सहसा सकुचित हो जाने पर उसके गुण रूपी फलो से वचित हुए लोग दिग्भ्रान्त हो किंकर्त्तव्यविमूढ हो जायेगे।

इसके अतिरिक्त इनके बारे मे कोई उल्लेखनीय जानकारी अद्यतन प्रयत्न करने पर भी हमे नही मिल सकी है। भावी शोधकर्त्ताओ से पूर्ण अपेक्षा है।

—o—

व्यक्त करते हुए हर्ष से आग्रह किया कि वह थानेश्वर के राजसिंहासन पर बैठे। किन्तु हर्ष ने अपने बडे भाई के प्रस्ताव को अस्वीकार करते हुए कहा कि वह भी अपने ज्येष्ठ भ्राता के पदचिह्नो का अनुसरण कर सन्यस्त हो अध्यात्मसाधना मे निरत हो जायगा।

जिस समय दोनो भाई इस प्रकार वार्तालाप कर रहे थे, उसी समय कन्नौज के एक समाचारवाहक ने आकर उन दोनो भाइयो को सूचना दी कि जिस दिन महाराजा प्रभाकरवर्द्धन के स्वर्गस्थ होने के समाचार कन्नौज पहुचे उसी दिन मालवा के राजा ने कन्नौज के महाराजा ग्रहवर्मन (राज्यवर्द्धन के बहनोई) की हत्या कर दी और महारानी राज्यश्री को बन्दी बना लिया। अब वह थानेश्वर पर आक्रमण करना चाहता है।

इस दु खद समाचार को सुनते ही राज्यवर्द्धन १० हजार अश्वारोहियो की सेना ले मालवराज के साथ युद्ध करने के लिए प्रस्थित हुआ और उसने हर्ष को थानेश्वर-राज्य की रक्षा के लिये वही रखा। वायुवेग से आगे बढकर राज्यवर्द्धन ने मालव नरेश की सेना पर भीषण आक्रमण किया। देखते ही देखते राज्यवर्द्धन ने मालव सेना को नष्ट कर दिया।

मालव सेना पर इस विजय के पश्चात् गौड राजा शशाक ने विश्वासघात कर राज्यवर्द्धन की हत्या कर दी। यह हर्षवर्द्धन पर अनभ्र वज्रपात था।

हर्षचरित्र मे महाकवि बाण के उल्लेखानुसार इस महाशोकप्रद समाचार के सुनते ही हर्ष के क्रोध का पारावार न रहा। उसने शपथपूर्वक प्रतिज्ञा की कि यदि वह कुछ ही दिनो मे पृथ्वी को गौडविहीन नही कर सका तो अग्निप्रवेश कर लेगा। उसने उसी समय पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक समस्त भारत पर विजय प्राप्त करने का निश्चय किया और अपने मन्त्रियो को आदेश दिया कि वे सब राजाओ को इस प्रकार का सदेश भेज दे कि वे सब उसकी (हर्ष की) अधीनता स्वीकार करे अन्यथा शीघ्र ही युद्ध के लिए सन्नद्ध हो जाय। तदनन्तर हर्षवर्द्धन एक बडी सेना लेकर सर्वप्रथम गौडराज शशाक से प्रतिशोध लेने और तदनन्तर चारो दिशाओ पर अपना आधिपत्य स्थापित करने के लिये प्रस्थित हुआ।

हर्षवर्द्धन को मार्ग मे प्राग्ज्योतिष (आसाम) के राजा कुमार अपर नाम भास्करवर्मन का दूत मिला और उसने अपने स्वामी की ओर से यह प्रस्ताव किया कि वे दोनो परस्पर एक दूसरे की समय-समय पर सहायता करे। हर्ष ने उस प्रस्ताव को स्वीकार किया और अपनी सेना के साथ आगे बढा। कुछ दिनो तक कूच पर कूच करते आगे बढते समय हर्ष को भण्डी मिला जो राज्यवर्द्धन की सेना, शत्रुसेना के बन्दियो, मालवराज की सेना से लूट मे प्राप्त शस्त्रास्त्रादि सामग्री और मालवराज के छत्र, चामर, गज, अश्व और धनागार आदि लिए थानेश्वर की ओर लौट रहा था। हर्ष को उससे राज्यश्री के सम्बन्ध मे यह सूचना मिली कि बन्दीगृह से मुक्त की जाने पर राज्यश्री अपनी परिचारिकाओ के साथ विन्ध्याटवी मे प्रविष्ट

(४) परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन अपर नाम प्रतापशील।
रानी यशोमती देवी।

परम भट्टारक महाराजाधिराज राज्यवर्द्धन | परम भट्टारक महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन

पुरातत्व-सामग्री से यह प्रकट होता है कि राज्यवर्द्धन के अतिरिक्त इस वश के सभी राजा शैव धर्मावलम्बी थे। राज्यवर्द्धन बौद्ध धर्मानुयायी था।

थानेश्वर राजवश की उपरिलिखित वशावलि को देखने से यह स्पष्टत प्रकट होता है कि इनमे प्रभाकरवर्द्धन से पहले के इस वश के राजा केवल महाराजा विरुद के ही धारक थे। इस राजावलि मे केवल प्रभाकरवर्द्धन ने ही सर्वप्रथम परम भट्टारक महाराजाधिराज पद धारण किया। इससे यह प्रमाणित होता है कि थानेश्वर राज्य सर्वप्रथम प्रभाकरवर्द्धन के शासनकाल मे ही स्वतन्त्र राज्य बना। इससे पहले सभवत इसके ई० सन् ५०० से ५८० के बीच हुए सभी पूर्वज गुप्त साम्राज्य के अधीनस्थ सामन्त राजा रहे होगे। महाराजा आदित्यवर्मन का विवाह गुप्त सम्राट् महासेन की बहिन महासेना से हुआ और इस वैवाहिक सम्बन्ध के पश्चात् थानेश्वर राज्य शनै-शनै शक्तिशाली राज्य के रूप मे उभरने लगा और अततोगत्वा महासेन का भागिनेय प्रभाकरवर्द्धन शक्तिशाली स्थानेश्वर राज्य का महाराजाधिराज बन गया। गुप्त सम्राट् महासेन के समय को देखते हुए अनुमान किया जाता है कि प्रभाकरवर्द्धन ई० सन् ५८० के आस-पास स्वतन्त्र महाराजाधिराज बना। महाकवि बाण ने हर्षचरित्र मे प्रभाकरवर्द्धन के लिये लिखा है —

> "परमभट्टारक महाराजाधिराज प्रभाकरवर्द्धन हूण रूपी मृगो के लिये सिंह, सिन्धुराज के लिये साक्षात्काल गुर्जरराज की निद्रा को क्षण-क्षण पर भग कर देने वाला भयकर स्वप्न, गान्धार के राजा के लिये भयकर शीतज्वर, लाटराज की रणचातुरी को चूर्णित-विचूर्णित कर देने वाला और मालवराज की सार्वभौम सत्ता रूपिणी वल्लरी के लिये कुठार था।"

प्रभाकरवर्द्धन ने अपने बडे पुत्र राज्यवर्द्धन को अपनी मृत्यु से कुछ समय पूर्व एक बडी सेना देकर भारत से हूणो के समूलोच्छेद के लिये उत्तरापथ मे भेजा था। किन्तु प्रभाकरवर्द्धन रुग्ण हो गया, इस कारण राज्यवर्द्धन को शीघ्र ही उत्तरापथ से लौटना पडा। बाण ने इस बात का कोई उल्लेख नही किया है कि राज्यवर्द्धन का हूणो के साथ युद्ध हुआ कि नही। राज्यवर्द्धन के उत्तरापथ से लौटने से पहले ही प्रभाकरवर्द्धन की मृत्यु हो गई और रानी यशोमती भी सरस्वती नदी के तट पर अपने पति के साथ चिता मे जलकर सती हो गयी।

अपने पिता की मृत्यु और माता के सती हो जाने के पश्चात् राज्यवर्द्धन को ससार से विरक्ति हो गयी। उसने सन्यास ग्रहण करने की आन्तरिक अभिलाषा

हो सका। हर्षवर्द्धन के इस स्वप्न के पूर्ण न होने देने मे सबसे बडा हाथ रहा बादामी के चालुक्य साम्राज्य का।

बादामी का चालुक्य पुलकेशिन ईसा की ७वी शताब्दी मे ही (ई सन् ६१० के आसपास) राष्ट्रकूटवशीय शक्तिशाली राजा अप्पायिक गोविन्द को जो कि दक्षिण विजय करता हुआ आगे बढ रहा था, भीमरथी नदी के उत्तर मे हुई लडाई मे पराजित कर एक शक्तिशाली राजा के रूप मे उभर आया था।

हर्षवर्द्धन एक विशाल साम्राज्य की स्थापना के अपने स्वप्न को पूरा करने के लिये जब दक्षिण-विजय के लिये दक्षिणापथ मे बढ रहा था, उस समय पुलकेशिन द्वितीय ने एक विशाल सेना लेकर हर्षवर्द्धन की बढती हुई सेनाओ को रोका। नर्मदा के तट पर हर्षवर्द्धन और चालुक्यराज पुलकेशिन द्वितीय की सेनाओ के बीच निर्णायक युद्ध हुआ। कडे सघर्ष के पश्चात् हर्षवर्द्धन की पराजय हुई। पुलकेशिन ने हर्षवर्द्धन के अनेक हाथियो को पकड कर अपने अधिकार मे कर लिया।

हर्षवर्द्धन की इस पराजय के और अपने सैनिक अभियानो मे सफल न होने के पीछे रहे कारणो पर प्रकाश डालते हुए प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डॉ के ए नीलकण्ठ शास्त्री ने 'दक्षिण भारत का इतिहास' नामक अपने ग्रन्थ मे लिखा है —

> "पुलकेशिन के सैन्यबल की प्रसिद्धि तथा उत्तर मे हर्ष की बढती हुई शक्ति ने एक-एक कर लाट, मालव तथा गुर्जर, सभी को पुलकेशिन की अधीनता स्वीकार करने को प्रेरित किया। इस तरह चालुक्य साम्राज्य की सीमा एक स्थान पर मही नदी को स्पर्श करती थी। जब हर्ष ने दक्षिण पर हमला किया तो पुलकेशिन ने उसका सामना किया और नर्मदा-तट पर उसे बुरी तरह पराजित कर उसके अनेक हाथियो को पकडवा लिया। हर्ष को अपने विजयी जीवन मे सिर्फ यही मुह की खानी पडी। ये सारी सफलताएँ पुलकेशिन को अपने शासनकाल के प्रथम तीन-चार वर्षो मे ही मिल गयी।"[1]

यह तो इतिहास प्रसिद्ध ही है कि चालुक्यो का चाहे वे वातापी के हो, चाहे वैगी के अथवा विजयनगरम् के, गुजरात के साथ पारस्परिक पूर्वजो के समय से ही प्रगाढ सम्बन्ध रहा है। इस दृष्टि से भी हर्ष की महत्वाकाक्षाओ और बढती हुई शक्ति को देख कर गुजरात के वल्लभी, लाट आदि के राजाओ ने सम्भवत. चालुक्यराज पुलकेशिन द्वितीय की विजयिनी सेनाओ और अजेयता को देखकर हर्षवर्द्धन से अपनी रक्षा करने के लिये पुलकेशिन की अधीनता स्वीकार कर ली हो। अपने समय की शक्तिशाली राजसत्ताओ—गग, राष्ट्रकूट, कदम्ब आदि राजवशो पर पुलकेशिन द्वितीय ने विजय प्राप्त कर ली थी। एलिफेन्टा द्वीपस्थ मौर्यों की राजधानी पुरी पर आक्रमण कर के पुलकेशिन ने मौर्यो को भी अपनी आधीनता स्वीकार

[1] दक्षिण भारत का इतिहास, डा० के० ए० नीलकण्ठ, पृष्ठ १२५

हो गयी है। उसकी खोज के लिये चारो ओर सैनिक टुकडिया भेजी गई किन्तु अभी तक राज्यश्री नही मिली है।

हर्ष ने तत्काल भण्डी को राज्यवर्द्धन के साथ मालवराज पर आक्रमण करने के लिये गई सेना और अपनी सेना के साथ शशाक पर आक्रमण करने का आदेश दे स्वय राज्यश्री की खोज मे विन्ध्याटवी की ओर द्रुतवेग से बढा। बडी खोज के बाद एक दिन हर्ष ने विन्ध्याटवी मे देखा कि राज्यश्री चिता मे आग लगाकर उसमे प्रवेश करने को उद्यत है। हर्ष ने विद्युत्वेग से आगे बढकर राज्यश्री को चिताग्नि मे प्रवेश करने से बचा लिया और उसको साथ लेकर गगा तट पर अपने शिविर मे लौटा।

बाण अपने विवरण को सहसा यही अधूरा ही छोड देता है। इस प्रकार की स्थिति मे हर्ष द्वारा प्रारम्भ किये गये अभियान से हर्ष को कौन-कौनसी उपलब्धिया हुई, किन-किन राजाओ को जीता, इस विषय मे सुनिश्चित एव प्रामाणिक रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता।

मजूश्री—मूलकल्प के एतद्विषयक उल्लेख से इतना अवश्य प्रकट होता है कि हर्षवर्द्धन ने शशाक की राजधानी पुण्ड्र पर आक्रमण किया। उस युद्ध मे हर्ष ने शशाक को पराजित कर आज्ञा दी कि वह उसके राज्य से सदा के लिये बाहर चला जाय। अपने बडे भाई राज्यवर्द्धन की विश्वासघातपूर्वक हत्या करने वाले शशाक को पराजित कर देने के पश्चात् भी हर्ष ने न तो उसे मारा और न बन्दी ही बनाया, यह बात कहा तक विश्वसनीय है, कहा नही जा सकता। यह घटना ई० सन् ६०७-६०८ के बीच के किसी समय की हो सकती है। किन्तु इसके पश्चात् ई० सन् ६३७-३८ के आसपास तक शशाक का बगाल, दक्षिणी बिहार और उडीसा पर राज्य रहा। ई० सन् ६३७-६३८ मे मगध मे भ्रमण करते समय स्वय हुएनत्साग ने अपने सस्मरणो मे लिखा है कि शशाक ने गया के एक बौधि वृक्ष को काट दिया और इसके कुछ समय पश्चात् ही वह मर गया।

अपनी बहिन राज्यश्री के साथ हर्षवर्द्धन कन्नोज गया। वहा उसने कतिपय वर्षो तक अपनी बहन की ओर से कन्नोज राज्य के शासन भार को सम्हाला और इस प्रकार वह थानेश्वर और कन्नोज दोनो ही राज्यो पर शासन करता रहा। कुछ समय पश्चात् उसने अपने आपको कन्नोज का राजा घोषित कर दिया और परम भट्टारक राजाधिराज का पद भी धारण किया। यह पहले बताया जा चुका है कि राज्यवर्द्धन की मृत्यु का समाचार सुनकर हर्ष ने भारत मे एक सार्वभौम सत्तासम्पन्न साम्राज्य की स्थापना द्वारा भारत को एक सूत्र मे आबद्ध करने का निश्चय किया था। उस निश्चय-पूर्त्ति के लिए हर्षवर्द्धन एक लम्बे समय तक प्रयत्न करता रहा। पूर्व और उत्तर मे उसे पर्याप्त सफलताएँ मिली किंतु भारत मे पूर्व से पश्चिम तक और दक्षिण से उत्तर तक एक ही सशक्त केन्द्रीय शासन की स्थापना के माध्यम से सम्पूर्ण भारत को शासन के एकसूत्र मे वाधने का हर्षवर्द्धन का स्वप्न साकार नही

मयूर जैसे उच्चकोटि के भारत के अग्रगण्य विद्वान् कवि विद्यमान थे। स्वय हर्ष ने "रत्नावली", "प्रियदर्शिका" और "नागानन्द" जैसे उच्च कोटि के नाटको की रचना की। ये तीनो नाटक उस समय बडे ही लोकप्रिय थे, यत्र-तत्र नृत्य और सगीत के साथ इन नाटको का अभिनय किया जाता था। चीनी विद्वान् इत्सिग ने हर्षवर्द्धन को उच्च कोटि की साहित्यिक अभिरुचि वाला विद्वान् बताया है। हर्ष के परमप्रीति पात्र बाण और मयूर ने गुणज्ञ हर्ष का आश्रय पा जिन महान् ग्रन्थो की रचनाए की, वे आज भी भारतीय साहित्य की अनमोल रत्नमालिकाए मानी जाती है।

हर्ष अपने शासन के प्रत्येक पाचवे वर्ष मे प्रयाग मे अपने पूर्वजो की ही भाति एक विशाल धार्मिक मेला आयोजित करता और इस अवसर पर वह अपने राज्य की पाच वर्षों की आय दान मे दे देता था।

चीनी यात्री प्रयाग के इस समारोह के सम्बन्ध मे अपने सस्मरणो मे लिखता है कि हर्षवर्द्धन इस अवसर पर सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्ति के समक्ष बहुमूल्य रत्नो की भेट चढाता था। तदनन्तर वह पास-पडौस और दूर-दूर से इस अवसर पर एकत्रित हुए बौद्ध-भिक्षुओ को, तदनन्तर महान् साहित्यिको, निराश्रितो, अपगो और रको को क्रमश भेट, पारितोषिक, अनुदान आदि दानादि के रूप मे देता था।

चीनी यात्री हुएनत्साग ने हर्षवर्द्धन द्वारा कन्नोज मे निरन्तर २१ दिनो तक आयोजित किये गये धार्मिक सम्मेलन अथवा धार्मिक मेले का उल्लेख किया है। चीनी यात्री के उल्लेखानुसार उस मेले मे कामरूप का महाराजा भाष्करवर्मन (परमशैव) मुख्य अतिथि के रूप मे सम्मिलित हुआ था। भाष्करवर्मन के अतिरिक्त १८ अन्य राजा भी इस धार्मिक मेले मे उपस्थित हुए थे। उस मेले के आयोजन से पूर्व हर्षवर्द्धन ने १०० फीट ऊचा एक स्तूप बनवाया। हर्ष ने अपने ही शरीरोत्सेध के बराबर (मानव कद की) भगवान् बुद्ध की एक स्वर्णमयी मूर्ति का निर्माण करवाया और उस स्तूप के गुम्बज मे उसे प्रतिष्ठापित किया। हर्षवर्द्धन ने एक दूसरी छोटी स्वर्णमयी बुद्ध की मूर्ति को रत्नजटित सोने की झूल से सुसज्जित गजराज की पृष्ठ पर अम्वावारी मे रखा। स्वय शक्र (देवेन्द्र) जैसा रूप बनाकर बुद्ध की मूर्ति पर छत्र किये बैठा। मूर्ति के दक्षिण पार्श्व मे ब्रह्मा का वेष धारण किये भाष्करवर्मन बैठा। भाष्करवर्मन बुद्ध की स्वर्णमयी मूर्ति पर चवर ढुराता (दौलाता) रहा। सहस्रो लोगो ने इस शोभायात्रा मे बडे उत्साह के साथ भाग लिया। विविध वाद्य-यन्त्रो की सुमधुर ध्वनियो एव जयघोषो से कन्नौज के धरातल और गगनमण्डल को गु जरित करता हुआ शोभायात्रा का उद्वेलित सागर के समान विशाल जनसमूह जब गगनचुम्बी गुम्बज के प्रकोष्ठ के द्वार के पास पहुचा तो महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन ने बुद्ध की उस स्वर्ण-मूर्ति को अपने स्कन्ध पर उठाया। मूर्ति को कन्धे पर लिये हर्षवर्द्धन पैदल चलकर उस गुम्वज के पास पहुचा। तदनन्तर उसने भगवान्

करने के लिये बाध्य कर दिया था। मालवराज ने भी पुलकेशिन की अधीनता स्वीकार कर ली थी।

इस प्रकार उस समय की छोटी-बडी अनेक सत्ताओ को अपनी पक्षधर बना कर पुलकेशिन ने अपनी शक्ति को सुदृढ बना हर्षवर्द्धन के शक्तिसचय के अनेक बडे-बडे स्रोतो को प्राय अवरुद्ध सा कर दिया था। इसी कारण हर्ष को भारत मे एक सार्वभौम सत्ता स्थापित करने के अपने लक्ष्य की पूर्ति मे अन्य राजाओं का सहयोग प्राप्त न हो सकने के कारण अपेक्षित सफलता नही मिल सकी। परन्तु उत्तरी भारत मे हर्षवर्द्धन को अपने राज्य का विस्तार करने मे पर्याप्त सफलताए प्राप्त हुई और वह उत्तर का एक शक्तिशाली राजा बन गया।

चीन की एन्साइक्लोपीडिया के निर्माता विद्वान मा-त्वान-लिन के उल्लेखानुसार हर्षवर्द्धन अपर नाम शीलादित्य (चीन मे इसे शीलादित्य और मगधराज के नाम से ही अभिहित किया जाता था) ने ई० सन् ६४१ मे "मगधराज" की उपाधि धारण की।[1] चीनी यात्री ह्वेनत्साग ने ई० सन् ६४३ मे अपनी कामरूप की यात्रा के विवरण मे लिखा है कि जब वह कामरूप देश के राजा भास्करवर्मन के निमन्त्रण पर कामरूप गया उस समय हर्षवर्द्धन–शीलादित्य–मगधराज कागोदा और उडीसा पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् गगा के तट पर अवस्थित 'राजमल' के समीप कजगला मे अपना शिविर डाले हुए था।

इससे यह सिद्ध होता है कि हर्षवर्द्धन ने पूर्वी भारत मे सुदूर तक अपनी विजय वैजयन्ती फहराई थी और शशाक की मृत्यु के पश्चात् सभवत शशाक के सम्पूर्ण राज्य पर अधिकार कर लिया था।

हर्ष के राजसिहासनारूढ होने से पूर्व ही उसे अनेक आपत्तियो ने आ घेरा किन्तु वह धैर्य और साहस के साथ भारत मे एक सार्वभौम सत्ता सम्पन्न केन्द्रीय सशक्त राज्य की स्थापना के लिये जीवन भर सघर्ष करता रहा। प्रतिकूल परिस्थितियो के उपरान्त भी वह अपने लक्ष्य से च्युत नही हुआ। वह समस्त भारत को एक ही सशक्त शासन के सूत्र मे तो आबद्ध नही कर सका किन्तु यह एक स्फुट सत्य है कि वह उत्तर भारत के एक सशक्त राजा के रूप मे लगभग तीन दशक से अधिक समय तक शासन करता रहा। रणचातुरी, साहसिकता, साहित्य सेवा, शालीनता आदि उसके उत्कृष्ट गुण भारत के इतिहास मे अकित है। वस्तुत वह एक महान् शासक था। चीन के सम्राट ने तीन बार (ई सन् ६४३, ६४५ और ६४७ मे) बहुमूल्य भेट भेजकर हर्ष को सम्मानित किया। अन्तिम भेट के कन्नोज पहुचने से पूर्व ही हर्ष का देहावसान हो गया था।

हर्ष जिस प्रकार तलवार चलाने मे निष्णात था, उसी भाति लेखनकला, साहित्यसृजन-कला मे भी पूर्णत निष्णात था। उसकी राजसभा मे बाण और

[1] हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इन्डियन पीपल, क्लासिकल एज, पृ० १०७

मयूर जैसे उच्चकोटि के भारत के अग्रगण्य विद्वान् कवि विद्यमान थे। स्वय हर्ष ने "रत्नावली", "प्रियदर्शिका" और "नागानन्द" जैसे उच्च कोटि के नाटको की रचना की। ये तीनो नाटक उस समय बडे ही लोकप्रिय थे, यत्र-तत्र नृत्य और सगीत के साथ इन नाटको का अभिनय किया जाता था। चीनी विद्वान् इत्सिग ने हर्षवर्द्धन को उच्च कोटि की साहित्यिक अभिरुचि वाला विद्वान् वताया है। हर्ष के परमप्रीति पात्र बाण और मयूर ने गुणज्ञ हर्ष का आश्रय पा जिन महान् ग्रन्थो की रचनाए की, वे आज भी भारतीय साहित्य की अनमोल रत्नमालिकाए मानी जाती हैं।

हर्ष अपने शासन के प्रत्येक पाचवे वर्ष मे प्रयाग मे अपने पूर्वजो की ही भाति एक विशाल धार्मिक मेला आयोजित करता और इस अवसर पर वह अपने राज्य की पाच वर्षों की आय दान मे दे देता था।

चीनी यात्री प्रयाग के इस समारोह के सम्बन्ध मे अपने सस्मरणो मे लिखता है कि हर्षवर्द्धन इस अवसर पर सर्वप्रथम बुद्ध की मूर्ति के समक्ष वहुमूल्य रत्नो की भेट चढाता था। तदनन्तर वह पास-पडौस और दूर-दूर से इस अवसर पर एकत्रित हुए बौद्ध-भिक्षुओ को, तदनन्तर महान् साहित्यिको, निराश्रितो, अपगो और रको को क्रमश भेट, पारितोषिक, अनुदान आदि दानादि के रूप मे देता था।

चीनी यात्री हुएनत्साग ने हर्षवर्द्धन द्वारा कन्नोज मे निरन्तर २१ दिनो तक आयोजित किये गये धार्मिक सम्मेलन अथवा धार्मिक मेले का उल्लेख किया है। चीनी यात्री के उल्लेखानुसार उस मेले मे कामरूप का महाराजा भाष्करवर्मन (परमशैव) मुख्य अतिथि के रूप मे सम्मिलित हुआ था। भाष्करवर्मन के अतिरिक्त १८ अन्य राजा भी इस धार्मिक मेले मे उपस्थित हुए थे। उस मेले के आयोजन से पूर्व हर्षवर्द्धन ने १०० फीट ऊचा एक स्तूप बनवाया। हर्ष ने अपने ही शरीरोत्सेध के बराबर (मानव कद की) भगवान् बुद्ध की एक स्वर्णमयी मूर्ति का निर्माण करवाया और उस स्तूप के गुम्बज मे उसे प्रतिष्ठापित किया। हर्षवर्द्धन ने एक दूसरी छोटी स्वर्णमयी बुद्ध की मूर्त्ति को रत्नजटित सोने की झूल से सुसज्जित गजराज की पृष्ठ पर अम्बावारी मे रखा। स्वय शक्र (देवेन्द्र) जैसा रूप बनाकर बुद्ध की मूर्ति पर छत्र किये वैठा। मूर्ति के दक्षिण पार्श्व मे ब्रह्मा का वेष धारण किये भाष्करवर्मन वैठा। भाष्करवर्मन बुद्ध की स्वर्णमयी मूर्ति पर चवर ढुराता (दौलाता) रहा। सहस्रो लोगो ने इस शोभायात्रा मे बडे उत्साह के साथ भाग लिया। विविध वाद्य-यन्त्रो की सुमधुर ध्वनियो एव जयघोषो से कन्नौज के धरातल और गगनमण्डल को गु जरित करता हुआ शोभायात्रा का उद्वे लित सागर के समान विशाल जनसमूह जव गगनचुम्वी गुम्वज के प्रकोष्ठ के द्वार के पास पहुचा तो महाराजाधिराज हर्षवर्द्धन ने बुद्ध की उस स्वर्ण-मूर्ति को अपने स्कन्ध पर उठाया। मूर्ति को कन्धे पर लिये हर्षवर्द्धन पैदल चलकर उस गुम्वज के पास पहुचा। तदनन्तर उसने भगवान्

बुद्ध की मूर्ति के समक्ष दासियो (सर्वोत्कृष्ट एव महार्घ्य वस्त्र) सैकडो (पूर्व से कुछ कम महार्घ्य) और हजारो रेशमी वस्त्र भेट किये।

निरन्तर २१ दिनो तक इसी प्रकार राजकीय ठाट-बाट के साथ यह महोत्सव चलता रहा। प्रीतिभोज के अनन्तर धार्मिक सम्मेलन का आयोजन किया गया। उसमे सभी धर्मो और विभिन्न धर्मो की शाखाओ एव उपशाखाओ के विद्वानो को आमन्त्रित किया गया। चीनी यात्री हुएनत्साग को २१ दिनो तक प्रतिदिन किये जाने वाले धार्मिक सम्मेलनो का हर्षवर्द्धन ने अध्यक्ष नियुक्त किया। सभी धर्मो के प्रतिनिधियो ने अपने-अपने धर्म की विशेषता सिद्ध करने के प्रयास किये। हुएनत्साग ने सब की युक्तियो का खण्डन करते हुए कहा यदि कोई विद्वान् मेरी एक भी युक्ति को असत्य सिद्ध कर देगा तो मै तत्काल अपना सिर काट कर उसे भेट कर दू गा। उसकी उस चुनौती को ५ दिन तक किसी ने स्वीकार नही किया। उसके पश्चात् हीनयान के प्रमुखो ने हुएनत्साग की हत्या करने का षड्यन्त्र रचा किन्तु हर्ष को पहले ही पता चल गया और उसने घोषणा करवा दी कि यदि किसी ने हुएनत्साग को छूने का प्रयास किया तो उसे तत्काल मौत के घाट उतार दिया जायगा और यदि किसी ने हुएनत्साग के विरुद्ध एक भी शब्द कहा तो उसकी जिह्वा काट ली जायगी। हर्ष की इस घोपणा से सभी हीन यानी विरोधियो ने इस सम्मेलन का बहिष्कार कर दिया।

इस सम्मेलन के अन्तिम २१वे दिन रात्रि मे जिस समय कि हुएनत्साग के सभापतित्व मे धर्म चर्चा चल रही थी, उस समय अचानक उस विशाल गुम्बज मे आग लग गई। बडा कोलाहल हुआ, सब इधर-उधर भागने लगे। उस समय एक युवक हाथ मे शस्त्र लिये हर्षवर्द्धन की हत्या करने के लिये हर्षवर्द्धन की ओर झपटा। हर्ष तक पहुचने से पहले ही उसे राजपुरुषो द्वारा पकड लिया गया। हर्ष के पूछने पर उस युवक ने स्वीकार किया कि विरोधी ब्राह्मणो ने उसे बहुत बडा प्रलोभन देकर आपकी (हर्ष की) हत्या करने के लिये प्रोत्साहित किया है। राजा भोज द्वारा प्रश्न किये जाने पर ५०० ब्राह्मण मुख्यो ने स्वीकार किया कि बौद्ध यात्री, बौद्ध धर्म और बौद्ध धर्मानुयायियो के प्रति प्रगाढ पक्षपात और शैवो, वैष्णवो तथा अन्य धर्मावलम्बियो के प्रति आपके घोर उपेक्षापूर्ण व्यवहार से तिरस्कृत एव प्रपीडित हो हमने इस प्रकार का निश्चय किया है। चीनी यात्री हुएनत्साग के कथनानुसार राजा हर्ष ने षड्यन्त्र के मुख्य सूत्रकारो को दण्डित एव ५०० ब्राह्मणो को अपने राज्य की सीमाओ से निष्कासित कर दिया।

हुएनत्साग के इस विवरण मे अपने धर्म के प्रति अन्धानुराग की गन्ध के साथ अतिशयोक्तियो एव अतिरजना का आभास होता है।

हर्ष का कोई उत्तराधिकारी न होने के कारण पुष्पभूति वश का शक्तिशाली राज्य उसकी मृत्यु के बाद समाप्त हो गया।

वीर निर्वाण की १३वीं शताब्दी के महान् प्रभावक एवं महान् ग्रन्थकार
ाचार्य हरिभद्र सूरि

(वीर नि स १२२७–१२६८ तदनुसार वि स ७५७–८२७)

श्री हरिभद्र सूरि। चित्रकूट के महाराज जितारि के राजपुरोहित श्री हरिभद्र अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान् थे। वे वेद वेदाग आदि के निष्णात विद्वान् और सभी विद्याओ मे पारगत थे। उन्हे अपने पाडित्य पर बडा गर्व था।

उन्होने एक दिन मार्ग मे चलते हुए एक जिनमन्दिर मे जिनेश्वर की मूर्ति देखी। जिनेश्वर की प्रतिमा को देखते ही उन्होने उपहासपूर्ण शब्दो मे अपने ये उद्गार व्यक्त किये —

"वपुरेव तवाचष्टे स्पष्टमिष्टान्नभोजनम्।
न हि कोटरसस्थेऽग्नौ तरुर्भवति शाद्वल ।।१७।।"

एक दिन राज सभा मे कार्याधिक्यवशात् उन्हे रात्रि मे भी पर्याप्त समय तक राज प्रासाद मे रुकना पडा। रात्रि मे जब वे अपने निवास स्थान पर लौट रहे थे तो मार्ग मे उनके कर्ण रन्ध्रो मे किसी वृद्धा की मधुर स्वर लहरियो के माध्यम से निम्नलिखित गाथा गू ज उठी —

"चक्किदुग्ग हरिपणग, पणग चक्कीण केसवो चक्की।
केसव चक्की केसव दुचक्की केसी य चक्की य ।।२१।।"

यह पद्य हरिभद्र को बडा मनोहारी प्रतीत हुआ। किन्तु वे इसके अर्थ को समझने मे बार-बार प्रयास करने पर भी असफल रहे।

प्रात काल होने पर वे अपने घर से निकले और सीधे उसी भवन के पास पहुचे जहा उन्होने रात्रि मे वह मनोहारी पद सुना था। उस भवन के द्वार मे घुसते ही उन्होने देखा कि एक तपोपूता सौम्य मुखाकृति वाली वृद्धा साध्वी वहा विराजमान है। हरिभद्र ने उस वृद्धा साध्वी का अभिवादन करते हुए पूछा —"अम्ब! क्या रात्रि मे आप ही चाक चिक्य से ओतप्रोत एक पद्य का उच्चारण कर रही थी?"

वृद्धा साध्वी ने उत्तर दिया —"हा पुत्र !"

वृद्धा साध्वी की अनुभवी आखो से यह छुपा नही रह सका कि आगे चलकर यह युवक जिनशासन की महती प्रभावना करने वाला होगा।

हरिभद्र ने कहा —"मा ! आप मुझे उस पद्य का पूरी तरह से अर्थ समझाइये। उस पद्य के अर्थ को जानने के लिए मेरा अन्तर्मन वडा लालायित है।"

वृद्धा साध्वी ने उत्तर दिया —"हे पुत्रक ! अगर जिनागमो के गहन ज्ञान की तुम्हे भूख है, तो इसके लिए तुम हमारे गुरु के पास जाओ।"

हरिभद्र गुरु का स्थान नामादि पूछकर आचार्य जिनभट्ट सूरि के पास पहुचे। आचार्य के दर्शन करते ही हरिभद्र के हृदय मे वडी श्रद्धा उत्पन्न हुई।

आचार्य जिनभट्ट सूरि के मन मे उन्हे देखकर यह विचार आया कि यह वही विद्वान् ब्राह्मण तो नही है जिसे अपने पाडित्य पर वडा गर्व है और जो राजा के द्वारा पूजित है। यह यहा किस कारण से आया है।

उन्होने प्रकट मे हरिभद्र से कहा —"भद्र ! तुम्हारा कल्याण हो। कहो यहाँ किस प्रयोजन से आये हो ?"

पुरोहित हरिभद्र ने वडे विनम्र स्वर मे निवेदन किया .—"पूज्यवर ! मैंने वृद्धा जैन साध्वी महत्तरा याकिनी के मुख मे एक प्राकृत पद सुना है उसका अर्थ मैं पूरे प्रयास के पश्चात् भी अभी तक नही समझ सका हू। मैंने उनसे उस पद्य का अर्थ वताने के लिए निवेदन किया। उन्होने मुझे आपकी सेवा मे उपस्थित हो अपनी ज्ञानपिपासा शान्त करने का परामर्श दिया है। इसलिए मैं आपके पास आया हू।"

गुरु ने कहा — "जैन सिद्धान्तो का ज्ञान अगाध है। अगर उसे प्राप्त करने की वास्तविक भूख है तो मेरा शिष्यत्व ग्रहण करो।"

हरिभद्र जिनभट्ट सूरि के पास जैन दीक्षा ग्रहण कर उनके शिष्य वन गये।

जिनभट्ट सूरि ने उन वृद्धा साध्वी मुख्या का परिचय कराते हुए मुनि हरिभद्र से कहा .—"सौम्य ! यह मेरी गुरु भगिनी महत्तरा याकिनी है। यह सव आगमो मे प्रवीण और सव साध्वियो की शिरोमणि है।"

मुनि हरिभद्र ने विनयावनत स्वर मे कहा —"पूज्यवर ! भव भवान्तरो मे भ्रमण करवाने वाले शास्त्रो का पारगामी विद्वान् होते हुए भी मैं अव यह अनुभव करता हू कि मैं मूर्ख ही रहा। मेरे पूर्व पुण्य के उदय से ही मेरी इस धर्म माता याकिनी महत्तरा ने मेरे कुल की कुलदेवी की भाति मुझे प्रवुद्ध किया है।"

उसी दिन से मुनि हरिभद्र ने अपने आपको "याकिनी महत्तरा सूनु" कहना लिखना प्रारम्भ कर दिया। अहर्निश गुरु चरणो की सेवा मे रहते हुए मुनि हरिभद्र ने सब आगमो का अध्ययन प्रारम्भ किया। अगाध श्रद्धा भक्ति एव निष्ठापूर्वक अध्ययन करते हुए उन्होने आगमो का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया।

आचार्य जिनभट्ट सूरि ने अपने शिष्य हरिभद्र को सभी भाति आचार्य पद के योग्य समझकर शुभ मुहूर्त्त मे आचार्य पद प्रदान किया।

आचार्य पद पर आसीन होने के पश्चात् हरिभद्र सूरि स्थान-स्थान पर अप्रतिहत विहार करते हुए जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगे। उन्होने अनेक भव्यो को प्रबोध दिया।

एक समय हरिभद्र शौच निवृत्यर्थ जब वन मे जा रहे थे तो उन्होने अपने दो भानजो हस और परमहस को चिन्ताग्रस्तावस्था मे देखा। चिन्ता का कारण पूछने पर हस और परमहस ने आचार्य हरिभद्र से कहा कि घर वालो के हृदय को आघात पहुचाने वाले कर्कश स्वर पिता के मुख से सुनकर हमे ससार से विरक्ति हो गई। हम घर से निकल पडे है।

उन दोनो भाइयो ने उत्कृष्ट भावना से आचार्य हरिभद्र के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। वे दोनो उनके पास विद्याध्ययन करने लगे। आचार्य हरिभद्र ने स्वल्प समय मे ही हस और परमहस नामक उन दोनो मुनियो को आगमो और न्यायशास्त्र मे पारगामी विद्वान् बना दिया। हस और परमहस परम मेधावी मुनि थे। उनके अन्तर्मन मे बौद्ध दर्शन और बौद्ध तर्क शास्त्रो के गहन अध्ययन की उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। उन दोनो बन्धुओ ने हरिभद्र के चरणो पर अपने मस्तक झुका कर उनके समक्ष अपनी यह इच्छा प्रकट की। अपने निमित्त ज्ञान के बल पर भावी अनिष्ट की आशङ्का से आचार्य ने उन अपने प्रिय शिष्यो को वही पर रहते हुए अध्ययन करते रहने का परामर्श दिया और कहा कि यहा पर भी उच्च कोटि के अनेक विद्वान् है। उनके पास रहकर ही अपना अभीप्सित ज्ञान प्राप्त करो। क्योकि तुम्हारे बाहर जाने पर मुझे अनिष्ट की आशङ्का हो रही है।

हस ने हसते हुए निवेदन किया —हम लोगो पर आपका यह वात्सल्य भाव होना स्वाभाविक ही है। आपके द्वारा परिपालित और शिक्षित होकर हम अल्प वयस्क किशोर होते हुए भी आपके पदचिन्हो का अनुसरण करते हुए क्या प्रभावशाली नही होगे ? आपके नाम का हमने चिरकाल तक जाप किया है। आपके कृपा प्रसाद ने हम लोगो को सजग-समर्थ बनाया है। ऐसी दशा मे दूर देश मे, शत्रुओ के नगर मे अथवा विकट पथो मे हम दोनो पर किसी भी प्रकार के कष्ट का अथवा अपशकुन का क्या प्रभाव हो सकता है ? आपके नाम का जाप सब जगह सभी अवस्थाओ मे सदा हमारी रक्षा करता रहेगा।"

दोनो शिष्यो की अनवरत अभ्यर्थना पर आचार्य हरिभद्र ने अपनी आन्तरिक इच्छा न होते हुए भी उन्हे बौद्ध तर्क शास्त्रो के अध्ययन के लिये सुदूरस्थ नगर मे जाने की अनुज्ञा प्रदान कर दी। वे दोनो गुरु को प्रणाम कर भवितव्यता वशात् बौद्ध दर्शनो के अध्ययन के लिये प्रस्थित हुए। वे दोनो वेष परिवर्तन कर उन सब चिन्हो को, जिनसे कि उनके जैन होने का किंचित्मात्र भी सकेत किसी को मिल सके, पूर्णत गुप्त कर के चलते हुए एक दिन बौद्ध राजा द्वारा शासित बौद्ध राज्य की राजधानी मे पहुचे। वहा से वे विद्या की भूख का शमन करने के लिये प्रसिद्ध बौद्ध विद्यापीठ मे गये। वहा उन्होने देखा कि विद्यार्थियो के आवास हेतु विहारो की अनेक पक्तिया बनी हुई है और विद्यार्थियो की अशन वसन पान पुस्तकादि की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये वहा बडी-बडी दानशालाए भी विद्यमान हैं। उन्होने यह भी देखा कि वहा विशाल विद्यापीठ है और उनमे अनेकानेक विषयो के अध्यापन को उत्कृष्ट व्यवस्था है। वहा उच्च कोटि के विद्वान् बौद्धाचार्य अपने-अपने शिष्यो को, जिस विषय को वे पढना चाहे, वही विषय पढाने मे निरन्तर सलग्न है। हस और परमहस को यह सब देखकर परम प्रसन्नता हुई। उन्होने भी बौद्ध विद्यापीठ मे प्रवेश प्राप्त कर लिया। खान, पान, रहन, सहन आदि की सभी तरह की अति उत्तम व्यवस्था होने के कारण कुशाग्र बुद्धि मेधावियो के लिये भी अति दुर्गम बौद्ध तर्क शास्त्रो को सहज ही हृदयगम करते हुए वे बडे ही आनन्द के साथ अपने अभीप्सित बौद्ध दर्शन के अध्ययन मे निरत हो गये। जैन दर्शन के खडन के लिये जो जो अकाट्य तर्क बौद्धाचार्यो द्वारा दिये जाते थे उन तर्को को निरस्त करने वाले एव जैन सिद्धान्तो की शाश्वत सत्यता को सिद्ध करने वाले अपने पूर्व पठित आगम पाठो से परिपुष्ट अनेक अकाट्य प्रतितर्को, युक्तियो और प्रमाणो को वे दोनो भाई पृथक्-पृथक् पत्रो मे लिपिबद्ध करने लगे। इस प्रकार उन्होने गुप्त रूप से लिखकर जो पत्र एकत्रित किये थे उनमे से दो पत्र एक दिन सयोगवशात् आये वातूल से हवा मे उड गये। वे दोनो पत्र बौद्ध विद्यार्थियो के हाथ लग गये। उन बौद्ध विद्यार्थियो ने उन पत्रो को पढकर अपने गुरु के समक्ष उन्हे प्रस्तुत कर दिया। जब विषय से सम्बन्धित बौद्धाचार्य ने उन पत्रो को पढा तो अपने पक्ष के निर्बल होने तथा जैन पक्ष के सबल होने की आशका से वह आतकित हो उठा।

आश्चर्याभिभूत होकर बौद्धाचार्य ने कहा —"यहा कोई न कोई जैन धर्म का उपासक अत्यन्त मेधावी छात्र हमारे विद्यापीठ मे है। अन्यथा मैंने जिन तर्क-जालो का खडन कर दिया उनका मण्डन करने मे अन्य कौन समर्थ हो सकता है।"

उस बौद्ध विद्यापीठ मे आये हुए ऐसे जैन विद्यार्थियो को किस उपाय से खोजा जाय इस विचार मे वह बौद्धाचार्य निमग्न हो गया। कुछ क्षणो तक विचार मग्न रहकर बौद्धाचार्य ने उसका उपाय खोज लिया। उसने तत्काल एक जिन बिम्ब आवागमन के प्रमुख स्थल पर रखवा दिया और वहा के सभी आवासियो को आदेश दिया कि उस जिन बिम्ब पर पैर रखकर ही आवागमन किया जाय।

जो इस प्रकार जिन बिम्व पर चरण युगल रख कर आवागमन नही करेगा उसको इस विद्यापीठ मे नही रहने दिया जायगा ।

अपने गुरु की इस आज्ञा को शिरोधार्य कर सव वौद्ध विद्यार्थियो आदि ने जिन बिम्ब पर पैर रखते हुए एव उस पर पार्ष्णि प्रहार करते हुए आवागमन प्रारम्भ कर दिया । हस और परमहस ने अपने समक्ष उपस्थित हुए इस घोर सकट से दुखित हो अपने मन मे विचार किया : "अब क्या किया जाय ?" यदि हम ऐसा नही करते है तो इन हृदयहीन बौद्धो से जीवन की कोई आशा नही । हमने अपने गुरु की आज्ञा का उल्लघन किया है उसका परिणाम आज दिखाई दे रहा है । हम गुरु की अवज्ञा के कारण इस घोर धर्म और प्राण सकट मे फस गये है ।" फिर भी उन्होने गुरु नाम स्मरण करते हुए धीरज, साहस और अपनी प्रत्युत्पन्न मति से काम लिया । अत्यन्त चतुरतापूर्वक छिपे रूप से उन्होने खडिया से जिन बिम्ब पर बौद्ध चिन्ह बनाकर उस पर पैर रखते हुए आवागमन किया । पर वौद्धो की तीव्र दृष्टि से यह बात छिपी नही रह सकी । उन्हे सन्देह हो गया । जिसकी पुष्टि हेतु बौद्धाचार्य ने एक दूसरा उपाय खोज निकाला । एक दिन अर्द्ध रात्रि मे जबकि सभी विद्यार्थी प्रगाढ निद्रा मे सोये हुए थे कतिपय कास्यपात्रो का एक ढेर बडी ऊचाई से हस और परमहस के पार्श्व मे तेजी से गिराया गया । इन पात्रो के गिरने से हुए तीव्र खड-खड झन न न न करते कोलाहल से उन दोनो सहोदरो की निद्रा भग हो गई । वे हडबडा कर उठ बैठे । किसी आसन्न सकट की आशका से उनके मुख से अनायास ही उनके इष्टदेव नमोअरिहताण नमो सिद्धाण के स्मरण का स्वर गू ज उठा । जैसे ही वे स्थिर हुए, सारी स्थिति उनकी समझ मे आ गई । उन्होने देखा कि इस प्रकार की सकट की आशका भरी स्थिति मे हमारे मुख से हमारे इष्टदेव का नाम हठात् निकलता है कि नही, यह जानने के लिये चार बौद्धचर उनके चारो ओर लगे हुए है । उन्होने उनके मुख से आकस्मिक रूप से अभिव्यक्त हुए नमस्कार मन्त्र के उच्चारण को सुन लिया है और वे इस बात से बौद्धाचार्य को अवगत कराने के लिये वहा से चल पडे है ।

यह समझकर कि अब निश्चित रूप से उनके प्राणो पर सकट आने वाला है, उन्होने तत्काल अपने आपको एक छाते से बाधा और उस छत्र को तानकर एक छाताधारी सैनिक की भाति वे ऊपर से नीचे कूद पडे । इससे उनको किसी तरह का कष्ट नही हुआ । वे बहुत ऊँचाई से पृथ्वी पर बडी आसानी से उतर पडे । उतरते ही वे वहा से भागे ।

वहा चारो ओर बडी सख्या मे नियत बौद्ध सैनिक भी उनको भागते देख कर उनको पकडने के लिये दौड पडे । उन सैनिको को निकट आते देखकर हस ने अपने छोटे भाई परमहस से कहा —"बन्धो ! तुम अब द्रुतगति से भाग जाओ । गुरु को प्रणाम कर उनसे मेरे अविनयपूर्ण अपराध की क्षमा मागना । अभी तो यह

जो नगर दिख रहा है इसमे सूरपाल नाम का एक शरणागत प्रतिपाल राजा रहता है। तुम उसके पास चले जाना। वह तुम्हे गुरु के पास पहुँचाने का प्रबन्ध कर देगा।"

हस और परमहस दोनो ही शतयोधि थे। अत शतयोधि हस ने समीप आये बौद्ध सुभटो की उस बहुत बडी सैनिक टुकडी का एकाकी ही बडे साहस के साथ सामना किया। पर अन्त मे रोम-रोम मे लगे बाणो से बिद्ध हस निष्प्राण हो पृथ्वी पर गिर पडा।

परमहस अपने ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञानुसार सूरपाल राजा के पास पहुँच गया। बौद्धभटो की वह सैनिक टुकडी भी उसका पीछा करते हुए राजा सूरपाल के पास पहुँच गई और परमहस को उन्हे सौपने के लिये बार-बार उस राजा से बलपूर्वक आग्रह करने लगे। राजा ने कहा —"मेरी शरण मे आये हुए अबोध से अबोध और अकिंचन से अकिंचन व्यक्ति को भी ले जाने की किसमे सामर्थ्य है ? तिस पर यह तो महान् विद्वान् सकल कलाओ का निष्णात न्यायनिष्ठ और धर्मनिष्ठ, महान् आत्मा प्रतीत होता है। मै इसे किसी भी दशा मे तुम्हे नही दे सकता।"

बौद्ध सैनिक टुकडी के नायक ने कहा —"एक दूर देश से आये हुए व्यक्ति के लिये तुम अन्न, धन, जन, सकुल समृद्ध अपने राष्ट्र और राज्य से हाथ धोने के लिये क्यो उद्यत हो रहे हो ? हमारे बौद्ध नरेश को प्रकुपित कर देने से आपको कोई लाभ नही होने वाला है।"

राजा सूरपाल ने उत्तर दिया —"मेरे पूर्व पुरुषो ने जो यह व्रत ग्रहण किया है कि प्राणो का विसर्जन भले ही कर दिया जाय किन्तु शरणागत को किसी भी दशा मे नही त्यागा जाय, मैं तो उस व्रत का पालन प्राणपण से करूगा। हा, मैं एक उपाय इसका बताता हू। आप लोगो के विद्यापीठ का कोई एक विद्वान् इस परमहस के साथ शास्त्रार्थ करे। यदि यह वाद मे पराजित हो जाय तो इसे तुम ले जा सकते हो और यदि यह वाद मे तुम्हे पराजित कर दे तो तुम्हे क्षमायाचनापूर्वक तुरन्त लौट जाना होगा। इसे तुम नही ले जा सकोगे।"

बौद्धो के नायक ने कहा —"आपका यह प्रस्ताव हमे स्वीकार है। किन्तु एक बात है कि वाद मे हमारे विद्वानो मे से एक भी इस दुष्ट का मुख नही देखेगा क्योकि इसने भगवान् बुद्ध के मस्तक पर पैर रखकर चलने का गुरुतर अपराध किया है। जिसका दण्ड मृत्यु है। यदि इसमे शक्ति है तो अपनी युक्तियो की पुष्टि और हमारे विद्वानो के तर्को का खण्डन करे। यदि शास्त्रार्थ मे वह विजयी होता है तो यह कुशलतापूर्वक अपने घर जा सकता है। पर यदि यह पराजित हो जाता

है तो भगवान् बुद्ध के अपमान करने के गुरुतर अपराध के दण्डस्वरूप इसका वध निश्चित है।"

नियत समय पर दोनो मे वाद प्रारम्भ हुआ। एक पर्दे के अन्दर बैठी हुई बौद्धो की शासनाधिष्ठात्री देवी घटमुखवादिनी बोलती है और दूसरी ओर हरिभद्र सूरि के शिष्य परमहस बोलते है। उन दोनो ने परस्पर एक दूसरे को नही देखा। वाद लम्बा चलने लगा।

वाद को लम्बा चलते देख परमहस ने सोचा —"बौद्धाचार्य छल-छद्म मे बडे निष्णात होते है। किसी अदृश्य शक्ति से वे मुझे छल रहे प्रतीत होते है। यदि इनके पास कोई अदृश्य शक्ति न हो तो इन बौद्धाचार्यो मे कोई सामर्थ्य नही कि मेरी युक्तियो का ये खण्डन कर सके और मेरे तर्को को निरस्त कर सके।"

जब शास्त्रार्थ चलते-चलते अनेक दिन व्यतीत हो गये तो परमहस को बडी चिंता हुई। उसे किसी सकट का आभास हुआ। उसने उस सकट की वेला मे अपनी जिन शासनाधिष्ठात्री देवी अम्बा का स्मरण किया। वह तत्काल परमहस के समक्ष प्रकट हुई और बोली —"वत्स ! बौद्धधर्म की अधिष्ठात्री तारादेवी उस घट मे बैठी हुई है। निरन्तर अस्खलित वाणी से बोलती रहती है। परमहस ! तुम जैसे महान् विद्वान् के अतिरिक्त ससार मे अन्य कौन विद्वान् देव-देवियो के साथ विवाद मे क्षण भर भी ठहर सकता था। तुम ऐसा करो कि अब आगे शास्त्रार्थ के समय आक्रोशपूर्ण शब्दो मे कहना कि वाद तो वादी तथा प्रतिवादी के एक-दूसरे के अभिमुख होने पर ही होता है। एक-दूसरे के सम्मुख हुए बिना वाद ही कैसा ? ऐसी स्थिति मे वादी मेरे सम्मुख आए। अन्यथा मे उसे बलात् सम्मुख लाता हू।"

"तुम्हारे इस प्रकार के व्यवहार से बौद्धो का सारा छल-छद्म तत्काल प्रकट हो जायेगा और अन्त मे निश्चित रूप से विजय तुम्हारी ही होगी।"

परमहस ने कृतज्ञतापूर्ण शब्दो मे देवी अम्बा से निवेदन किया — "मातेश्वरी ! आपके बिना मेरी सार सम्हाल करने वाला और है ही कौन ?"

जिनशासनदेवी इसके बाद तत्काल वहा से तिरोहित हो गई।

दूसरे दिन शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ तो बौद्धो की देवी के बोलते रहने पर भी मौन धारण कर बैठे हुए परमहस ने आगे बढकर पर्दे (यवनिका) को ऊपर उठा दिया। वहा कोई नही था। केवल एक घट पडा हुआ था और उसी मे से वह देवी बोल रही थी।

परमहस ने एक ही पाद प्रहार से उस घट को खण्डित-विखण्डित कर दिया जिसमे बैठी हुई बौद्ध देवी अस्खलित वाणी मे उससे शास्त्रार्थ कर रही थी। घट

को चूर्णित-विचूर्णित करने के अनन्तर परमहस ने घनरव सम गम्भीर स्वर मे कहा —"ए नराधम बौद्धो ! दम्भपूर्ण वाद मुद्रा मे जो अब तक बोल रहा था, उसे यहा सम्मुख लाओ ।"

राजा सूरपाल को उन बौद्धो के इस छल-छद्म को देखकर बडा आश्चर्य हुआ । वह बडा क्रोधित भी हुआ । उसने बौद्ध सैनिको के नायक एव बौद्ध विद्वानो को सम्बोधित करते हुए कहा —"तुम शत्रु भाव से इस महा मुनि परमहस का अन्यायपूर्वक वध करने के लिये कृत सकल्प प्रतीत होते हो । पर न्यायपूर्ण विजय का धनी, एव प्राणी मात्र से प्रशसा प्राप्त करने योग्य साधु पुरुष क्या वध्य होता है ? अब यदि तुम अपनी इस दुरभिसन्धि को छोडने के लिये उद्यत नही हो तो सावधान होकर सुन लो कि मैं इसे कभी सहन नही करूगा । तुम्हारी शर्त के अनुसार तुम वाद मे हार चुके हो । अब तो तुम मुझे युद्ध मे पराजित करके ही इसे ले जा सकते हो ।"

पर विरोधी के अपार सैन्य बल को देखकर राजा ने आख के इशारे से परमहस को वहा से भाग जाने का सकेत किया एव उसे एक तीव्र चाल से दौडने वाला घोडा दे दिया ।

राजा के सकेतानुसार परमहस ने बडी तीव्र गति से वहा से पलायन किया । पलायन करते हुए उसने नगर के बाहर एक धोबी को देखा । धोबी के पास के वस्त्रो के गट्ठरो मे से उसने रजक योग्य एक दो वस्त्र लेकर अपना वेष परिवर्तन किया । परमहस स्वय तो रजक बन गया और उस धोबी को अपने वस्त्र पहनाकर कहा—"तुम मेरे इस घोडे पर बैठ कर जितनी द्रुतगति से भाग सको, भाग जाओ । अन्यथा तुम्हारे खून के प्यासे ये बौद्ध सैनिक जो पीछे-पीछे आ रहे हैं, तुम्हे देखते ही मौत के घाट उतार देंगे ।"

धोबी ने तत्काल परमहस के कपडे पहने और उसी के घोडे पर बैठकर अपने प्राणो की रक्षा के लिए विकट अटवी की ओर बडी ही द्रुत गति से भाग गया । इधर परमहस पास के ही एक सरोवर मे कपडे धोने मे तल्लीन हो गया । थोडी ही देर मे बौद्ध सुभट सरोवर के पास आ पहुचे और उससे पूछने लगे—"अरे ओ रजक ! क्या तुमने इधर भाग कर आते हुए एक घुडसवार को देखा है ? पथ पर उसके पदचिन्ह दृष्टिगोचर नही होते, वह किधर भागा है ?"

हाथ के वस्त्रो को सरोवर के जल मे आस्फालित करते हुए रजक वेषधारी परमहस ने ग्राम्यभाषा बोलते हुए विकृत स्वर मे उत्तर दिया —

"वह चोर उस वनी की ओर भाग गया है । मेरे बहुत से वस्त्र भी चुराकर ले गया है । मैं बहुत चिल्लाया पर मेरी एक न सुनी । हाय राम ! मैं तो लुट ही गया ।"

बौद्ध सुभट उस रजक को वही छोड उसके द्वारा बताई हुई दिशा की ओर दौड पडे और कुछ ही क्षणो मे वे परमहस की आखो से ओझल हो गये । परमहस भी जिस दिशा मे बौद्ध सुभट गये थे उससे भिन्न दिशा मे भागने लगा ।

अनेक दिनो तक निरन्तर भागते हुए परमहस अन्ततोगत्वा एक दिन अपने स्थान चित्रकूट नगर मे पहुचा । गुरुचरणो की सेवा मे उपस्थित होते ही अपना मस्तक गुरुचरणो पर रखते हुए उसने सर्वप्रथम अपने ज्येष्ठ सहोदर और स्वय द्वारा गुरु आज्ञा के प्रतिकूल किये गये अपराध के लिये क्षमायाचना करते हुए— "तन्मे मिथ्या भवतु दुष्कृतम्" का अन्तर्मन से उच्चारण कर अपने दुष्कृत की शुद्धि की । तदनतर परमहस ने अथ से इति तक सारे घटनाचक्र को यथावत् अपने गुरु को सुनाया । परमहस ज्यो ही अपने गुरु के समक्ष अपने ज्येष्ठ बन्धु की मृत्यु का वृतान्त सुना रहा था कि उसी समय उस पर हृदयाघात हुआ और वह निष्प्राण हो गुरु चरणो पर लुढक गया ।

आचार्य हरिभद्र सूरि को अपने प्रभावक एव मेधावी शिष्यो के आकस्मिक अवसान पर बडा दुख हुआ । उनके मुह से सहसा अवसादपूर्ण वाक्य निकल पडे :— "यह मेरा कैसा दुर्भाग्य है कि इन होनहार यशस्वी कुल मे उत्पन्न हुए जिनशासन प्रभावक मेरे दोनो योग्य और विनीत शिष्यो का इस प्रकार असमय मे ही अवसान हो गया । क्या मेरे योग है कि मैं शिष्य सम्पत्ति विहीन ही रहूगा ?"

अपने सुयोग्य शिष्यो की वियोगाग्नि से सन्तप्त हरिभद्र सूरि के हृदय मे सहसा बौद्धो पर क्रोध उग्र रूप धारण कर गया । वे सोचने लगे —"बौद्धो द्वारा किये गये इस नृशस अपराध का यदि मैंने प्रतिशोध नही ले लिया तो अन्तिम समय तक यह शल्य मेरे हृदय मे त्रिशूल के समान खटकता रहेगा ।"

इस प्रकार प्रतिशोध लेने का दृढ सकल्प करके हरिभद्र बिना अपने गुरु को पूछे अपने उपाश्रय स्थल से चल पडे । वे सीधे राजा सूरपाल के पास पहुचे । उन्होने राजा को आशीष देते हुए कहा —"हे शरणागत प्रतिपाल ! नरपति ! तुमने परमहस की रक्षा के लिये जो साहस दिखाया है उसकी शब्दो द्वारा प्रशसा नही की जा सकती । यह आप ही का प्रशसनीय अनुपम साहस था कि अपार सैन्यबल के धनी बौद्धराज की किंचित्मात्र भी परवाह किये बिना आपने अपने शरणागत की रक्षा की । मेरे प्राणप्रिय निरपराध शिष्यो के साथ जो अमानवीय व्यवहार इन बौद्धो द्वारा किया गया है उसके प्रतिकार के लिए मैं समस्त बौद्धो को पराजित करना चाहता हू ।"

राजा सूरपाल ने कहा —"महात्मन् ! जिस प्रकार आप उन्हे जीतना चाहते है उसी प्रकार मेरी भी उनको पराजित करने की उत्कट इच्छा है । परन्तु वे लोग बडे ही प्रपची कुटिल और छल छद्म से भरे हुए है । उनका सैन्यबल भी

अपार है। इन सब तथ्यो को ध्यान मे रखते हुए उन अजेय बौद्धो को किसी प्रपच से ही जीता जा सकता है। ऐसा प्रपच तो मैं रचना जानता हू जिससे वे स्वत ही नष्ट हो जाये। पर इसके साथ एक बात मै आपसे जानना चाहता हू कि क्या आप मे कोई ऐसी अद्भुत शक्ति है कि जिससे आप वाद मे उनसे पराजित नही हो सको। वाद मे उनके विद्वानो को जीत सको।"

आचार्य हरिभद्र ने कहा —"राजन् अभी तो इस धरती पर मुझे शास्त्रार्थ मे जीतने वाला कोई पैदा नही हुआ। शासनाधिष्ठात्री अम्बिकादेवी अहर्निश मेरे पार्श्व मे रहती है।"

हरिभद्र की बात सुनकर राजा सूरपाल के आनन्द का पारावार न रहा। उसने तत्काल एक अतीव वाक्पटु, प्रपचरचना मे प्रवीण और विचक्षण बुद्धिशाली दूत को बौद्धो की राजधानी मे भेजा। उस दूत ने बौद्ध गुरु के समक्ष उपस्थित होकर निवेदन किया कि साक्षात् सरस्वती स्वरूप गुरुवर! मेरे राजा सूरपाल ने प्रगाढ श्रद्धाभक्ति के साथ आपको प्रणाम करते हुए यह प्रार्थना की है —"मेरे नगर मे एक विद्वान् आया है जो अपने आपको अजेय उद्भटवादी कहता है। आप जैसे त्रिभुवन विख्यात विद्वान् के समक्ष उस गर्वोन्मत्त विद्वान् का अपने आपको वादी के रूप मे अभिहित करना हमे सहन नही होता। वह आपके द्वारा विजित हो जाने पर स्वयमेव निधन को प्राप्त हो जाय, इस प्रकार की व्यवस्था की जानी चाहिये।"

वह बौद्ध आचार्य बोला —"मैं उसे क्षण भर मे ही पराजित कर दूगा। किन्तु तुम यह बताओ कि क्या वह वादी इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने को उद्यत है कि यदि वह मुझ से वाद मे पराजित हुआ तो स्वयमेव निर्धारित रीति से अपना प्राणान्त कर लेगा?"

वचन चातुरी मे निष्णात दूत ने कहा :—"मैं इसके लिए उसे राजी कर लूगा। मैं अपनी वाक्पटुता से असम्भव को भी सम्भव बनाने की क्षमता रखता हू। आप तो बस इतना प्रतिज्ञा-पत्र भर दीजिये कि शास्त्रार्थ मे जो भी पराजित हो जायगा वह प्रतप्त तेल से भरे हुए कडाह मे कूदकर अपना प्राणान्त कर लेगा।"

बौद्धाचार्य वाछित प्रतिज्ञा पत्र भरने को राजी हो गये। दो-चार दिनो के पश्चात् बौद्धाचार्य अति विशाल सेवक समूह के साथ राजा सूरपाल की सभा मे पहुचे और वाछित प्रतिज्ञा-पत्र भरकर हरिभद्र सूरि के साथ शास्त्रार्थ करना प्रारम्भ किया।

बौद्धाचार्य ने मन ही मन सोचा—"इस साधारण जैनवादी के साथ वाद करने के लिये अपनी अधिष्ठात्री देवी को स्मरण करने का क्या प्रयोजन है क्योकि वैसे भी वह पराजित शत्रु का तत्काल प्राणान्त नही करती। मै

उसे वैसे ही आसानी से पराजित करके शर्त के अनुसार उसका प्राणान्त करवा दू गा ।" यह विचार कर बौद्धाचार्य ने विना देवी का स्मरण किये ही हरिभद्र के साथ शास्त्रार्थ प्रारम्भ करते हुए बौद्ध धर्म के प्रमुख सिद्धान्त क्षणिकवाद को अपने पक्ष के रूप मे प्रस्तुत किया । आचार्य हरिभद्र ने वौद्धाचार्य की युक्तियो को खडित विखडित करते हुए अपनी अकाट्य युक्तियो से कुछ ही क्षणो मे निरुत्तर एव पराजित कर दिया ।

'बौद्धाचार्य पराजित हो गया ।' सभ्यो के इस निर्णय को सुनते ही वौद्धाचार्य को शर्त के अनुसार प्रतप्त तेल के कडाह मे कूदकर अपने प्राण देने पडे । वहा उपस्थित कई बौद्ध विद्वान् वाद के लिये एक के बाद एक हरिभद्र के समक्ष उपस्थित हुए और हरिभद्र से पराजित हो जाने पर शर्त के अनुसार उन्होने भी प्रतप्त तेल के कडाह मे कूदकर अपने प्राणान्त कर लिये ।

अन्ततोगत्वा पीछे बचे हुए बौद्ध विद्वानो मे निराशा छा गई और वे सभी अपनी अधिष्ठात्री देवी को कोसने लगे । देवी प्रकट होकर कहने लगी—"मै तुम्हारे कटु वचनो से किंचितमात्र भी रुष्ट नही हू । किन्तु एक बात जो मैं तुम्हे कहना चाहती हू उसे ध्यान से सुनो । तुम्हारे सिद्धान्तो का अध्ययन करने की उत्कट इच्छा से जो दो किशोर बडे दूर देश से तुम्हारे यहा आये थे, उनकी ज्ञान की भूख इतनी तीव्र थी कि इसके लिये तुम्हारे द्वारा बाध्य किये जाने पर अपने आराध्य जिनेश्वर के सिर पर पैर रखने जैसे घोर पाप कार्य करने मे भी सकोच नही किया । हालाकि इसमे कुछ चतुराई से उन्होने काम लिया । न्यायमार्ग के पथिक वे दोनो मुनि जब अपने प्राणो की रक्षा के लिये पलायन कर रहे थे उस वक्त उन भागते हुए दोनो भाइयो मे से एक को तुमने नृशसतापूर्वक मार डाला था । उसी पाप का फल अब तुम लोग भोग रहे हो । इसलिये अब शोक को दूर कर शीघ्र ही अपने अपने स्थान को लौट जाओ । इस जैनाचार्य से वाद मे मत पडो ।

इतना कहकर देवी तिरोहित हो गई । वे बचे हुए बौद्ध विद्वान् भी अपने अपने स्थान को लौट गये ।

बौद्धो के प्रतप्त तेलकुण्ड मे कूदने की घटना के सम्बन्ध मे कुछ लेखक यह मानते हैं कि हरिभद्र सूरि ने अपने मन्त्रबल से बौद्धो को आकृष्ट करके उन्होने उन्हे तपे हुए तेल के कुण्ड मे डाला ।

जिन भट्ट सूरि ने अपने शिष्य हरिभद्र के इस अद्भुत प्रकोप के सम्बन्ध मे अपने शिष्यजनो से जब सुना तो वे स्वय चलकर सूरपाल के पास आये । उन्होने धीर गम्भीर मधुर वचनो से हरिभद्र को समझा-बुझाकर शान्त किया । "मैने शिष्यो के मोह मे पडकर इस प्रकार का घोर दुष्कर्म किया है" ऐसा समझकर परम गुरु भक्त हरिभद्र ने अपने पाप की शुद्धि के लिये गुरु के आदेशानुसार घोर तपश्चरण प्रारम्भ

किया। कठिन तपश्चर्या से उन्होने अपने शरीर को सुखा डाला। पर शिष्यो का शोक उनको सदा सन्तप्त करता ही रहा। उन्हे अति चिन्तित देखकर अधिष्ठात्री देवी ने उनके समक्ष प्रकट होकर कहा—"घर द्वार अन्न, धन, पुत्र कलत्रादि के सग से पूर्णत विमुक्त तुम्हारे जैसे नि सग साधक के हृदय मे परिताप कैसा ? जिन शासन के सिद्धान्तो और शास्त्रो मे निष्णात, विशुद्ध बुद्धि के धनी ! यह तुम से छिपा नही है कि अपने-अपने कर्मो का फल समय आने पर सबको भोगना पडता है। आचार्य वर ! गुरु के चरण कमलो को अपने हृदय मे रखते हुए विशुद्ध तपश्चरण से अपने जन्म को सफल बनाओ जिससे कि तुम्हारे सब दुष्कृत नष्ट हो जाय।"

हरिभद्र ने शासन देवी से निवेदन किया "अम्बे ! मुझे इस बात का शोक नही है कि मेरे दो विनीत शिष्य पचत्व को प्राप्त हुए। पर मुझे इस बात का बडा दु ख है कि मेरे पश्चात् मेरा पवित्र गुरुकुल समाप्त हो जायगा।"

इस पर अम्बा ने कहा "वत्स ! वस्तुत तुमने कुल वृद्धि का पुण्य सचित नही किया है। महामुने ! तुमने तो केवल अपनी शास्त्र सन्तति के रूप मे विशाल शास्त्रो के समूह की रचना का ही पुण्य सचय किया है।"

हरिभद्र ने यह सुनकर अपने शोक को दूर कर दिया। उन्होने सर्वप्रथम समरार्क चरित्र (समराइच्चकहा) की रचना की, जो लगभग बारह शताब्दियो से जैन साहित्य के क्षितिज मे महान् ग्रन्थ रत्न के रूप मे लोकप्रिय है।

समराइच्चकहा की रचना के पश्चात् हरिभद्रसूरि ने लगभग १५०० प्रकरणो की रचना की और इन ग्रन्थ रत्नो को ही हरिभद्र सूरि ने अपनी सन्तति के रूप मे माना। अपने अत्यन्त प्रिय शिष्यो के विरह को न भुला पाने के कारण उन्होने अपनी प्रत्येक रचना के अन्त मे अपने नाम के साथ 'भव विरह' पद का प्रयोग किया है।

आचार्य हरिभद्र महान् कृतज्ञ थे। यदि उन्हे कृतज्ञ शिरोमणि भी कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी। जिस वयोवृद्धा साध्वी ने

"चक्किदुग्ग हरिपणग "

इस गाथा के माध्यम से न केवल सम्यग् बोध का किन्तु श्रमण धर्म का भी उन्हे लाभ करवाया था उनको जीवन भर वे अपनी धर्म माता ही कहते रहे। आचार्य हरिभद्र ने उस महनीया साध्वी के प्रति अपनी असीम कृतज्ञता व्यक्त करने हेतु अपनी प्रत्येक कृति के अन्त मे अपने नाम से पहले 'भव विरह' के पश्चात् 'याकिनी महत्तरासूनु' इस पदावलि का भी प्रयोग किया है।

स्वय द्वारा रचित उन लगभग १५०० से भी अधिक शास्त्रो की टीकाओ तथा ग्रन्थो का देश के कौने-कौने मे किस प्रकार से प्रचार-प्रसार किया जाय वे इस विचार मे निरत रहने लगे ।

एक दिन उन्होने कार्पासिक नामक एक व्यक्ति को देखा जिसके हृदय मे जिनशासन के प्रति थोडा प्रेम अवशिष्ट रह गया था । उसको देखते ही शुभ शकुन हुए । निमित्त ज्ञान से आचार्य हरिभद्र जान गये कि इसी व्यक्ति के माध्यम से उनकी उन सहस्रो महत्वपूर्ण धर्म रचनाओ का देश मे चारो ओर प्रसार होने वाला है ।

यह जानकर उन्होने उस कार्पासिक वणिक् से प्रकट मे कहा —"जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये अधिकाधिक सख्या मे धर्मग्रन्थो की, सुन्दर कृतियो की प्रतिया लिखवा कर और उन्हे श्रमण श्रमणी वर्ग को दान देकर तुम अपूर्व पुण्य का अर्जन करो । तुम्हे इससे इतना पुण्य होगा कि जिसकी तुम कल्पना नही कर सकते ।"

इस पर वह इस कार्य को करने के लिये सहर्ष समुद्यत हो गया । आचार्य हरिभद्र ने उससे फिर कहा —"आज से तीन दिन पश्चात् दूसरे देश के व्यापारियो का एक बहुत बडा समूह तुम्हारे नगर के बाहर आवेगा । उनके पास जितना भी जैसा भी क्रयाणक हो वह तुम क्रय कर लेना । उस क्रयाणक से तुम देश के एक माने हुए प्रमुख ऋद्धिवन्त श्रीमन्त बन जाओगे ।"

श्रेष्ठी कार्पासिक ने अक्षरश आचार्य देव के कथन का परिपालन किया । वह विपुल ऋद्धि का स्वामी बन गया । उसने आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित सभी धर्मग्रन्थो को लिपिकारो से लिखवा लिखवा कर उन्हे देश के कौन-कौने मे श्रमण श्रमणियो मे वितरित किया । उसने अनेक जिनमन्दिरो का निर्माण भी करवाया । आचार्य हरिभद्र ने कार्पासिक श्रेष्ठी की भाति ही अन्य भव्यो को प्रबुद्ध कर उनके माध्यम से जिनशासन की प्रभावना के अनेको कार्य करवाये ।

आचार्य हरिभद्र सूरि को एक अति प्राचीन जीर्ण-शीर्ण स्थान-स्थान पर दीमको द्वारा खाई हुई महानिशीथ शास्त्र की प्रति मिली । उनके समय मे उस प्रति के अतिरिक्त महानिशीथ की कोई अन्य प्रति कही भी उपलब्ध नही थी । आचार्य हरिभद्र सूरि ने अहर्निश अथक् श्रम करते हुए अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य एव प्रबल मति वैभव के बल पर उस महानिशीथ शास्त्र ग्रन्थ का उद्धार किया । रिक्त स्थानो पक्तियो पत्रो आदि की पूर्वापर प्रसग के अनुसार पुनर्रचना करते हुए महानिशीथ सूत्र का कुछ पुनर्लेखन भी किया ।

आचार्य हरिभद्र सूरि के सत्ताकाल के सम्बन्ध मे कुछ ही वर्षो पूर्व अनेक प्रकार की भ्रान्तिया थी। देश के गण्यमान्य जैन विद्वानो ने समुचित शोध के पश्चात् इनका सत्ताकाल विक्रम सम्वत् ७५७ से ८२७ के बीच निर्णीत किया है। इन सब पर इसी ग्रन्थमाला के द्वितीय भाग तथा प्रस्तुत तृतीय भाग मे भी विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला जा चुका है।[1]

कुलगुरुओ के सम्बन्ध मे मर्यादा का निर्धारण

बत्तीसवे (३२) युग प्रधानाचार्य पुष्यमित्र के आचार्य काल मे घटित हुई कतिपय घटनाओ के पर्यालोचन से प्रकट होता है कि उस समय तक अपने आप को सुविहित परम्परा के नाम से अभिहित करने वाली अधिकाश श्रमण परम्पराओ पर भी चैत्यवासी परम्परा के शिथिलाचार का पर्याप्त प्रभाव पड चुका था।

अमुक परिवार का मै कुलगुरु हू, परम्परा से अमुक श्रावक परिवार मेरा उपासक रहा है। इस विषय को लेकर समय-समय पर चौरासी गच्छो के आचार्यो मे विवाद होने लगे। इस प्रकार के विवादो का एक स्पष्ट उल्लेख प्राचीन पत्रो मे उपलब्ध होता है जो इस प्रकार है —

विक्रम स २०२ (वीर नि स ६७२) मे भिन्नमाल के विशाल राज्य पर सोलकी वश का राजा अजितसिह राज्य करता था। अनेक शताब्दियो तक भिन्नमाल पर इसी वश का शासन रहा। वि स ५०३ (वीर नि स ९७३) मे भिन्नमाल पर इसी वश के राजा सिह का राज्य था। राजा सिंह के कोई पुत्र नही हुआ अत उसने अवन्ती निवासी मोहक नामक क्षत्रिय के सद्यप्रसूत पुत्र को अपना दत्तक पुत्र घोषित कर उसका लालन पालन एव शिक्षण-दीक्षण किया। राजा सिंह ने अपने इस दत्तक पुत्र का नाम 'जइआण' रखा।

वि स ५२७ (वीर नि स ९९७) मे राजा सिंह का देहावसान हो जाने पर 'जइआण' भिन्नमाल के राज सिहासन पर आसीन हुआ। जइआण के पश्चात् उसका पुत्र श्री कर्ण और श्री कर्ण के पश्चात् श्री कर्ण का पुत्र समूल वि स ६०५ (वीर नि स १०७५) मे भिन्नमाल के विशाल राज्य का स्वामी बना। राजा स मूल की मृत्यु के पश्चात् वि स ६४५ (वीर नि स १११५) मे उसका पुत्र गोपाल भिन्नमाल के राज्य सिंहासन पर आसीन हुआ। ३० वर्ष तक शासन करते के अनन्तर राजा गोपाल के पचत्व को प्राप्त हो जाने पर उसका पुत्र रामदास वि

---

[1] जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग २, प्रथम सस्करण, पृष्ठ ७१२, भाग ३ हारिल सूरि का प्रकरण।

स ६७५ (वीर नि स ११४५) मे भिन्नमाल के राजसिहासन पर आसीन हुआ। वि स ७०५ (वीर नि स ११७५) मे रामदास का पुत्र सामन्त भिन्नमाल राज्य का स्वामी बना।

राजा सामत के जयत और विजयत नामक दो पुत्र हुए। सामतराज ने अपने विशाल राज्य को भिन्नमाल और लोहियाण इन दो भागो मे विभक्त कर अपने दोनो पुत्रो मे बाट दिया। वि स ७१६ (वीर नि स ११८६) मे जयन्त को भिन्नमाल के राजसिहासन पर और विजयन्त को लोहियाण के राजसिहासन पर अभीषिक्त किया गया। किन्तु अपने पिता की मृत्यु के कुछ समय पश्चात् ही जयन्त ने बलात् अपने भ्राता विजयन्त के लोहियाण राज्य को उससे छीनकर अपने भिन्न-माल राज्य मे सम्मिलित कर लिया।

विजयन्त लोहियाण से पलायन कर वेणा के तीर पर अवस्थित शखेश्वर नामक ग्राम मे अपने मामा रत्नादित्य के पुत्र व्रजसिह के पास रहने लगा। उस समय शखेश्वर मे वृहद्गच्छीय आचार्य सर्वदेव सूरि का चातुर्मास था। विजयन्त प्रतिदिन आचार्य श्री का उपदेश सुनने जाता और उनके उपदेशो से प्रबोध पा वह विक्रम स ७२३ (वीर नि स ११९३) की कार्तिक शुक्ला १० गुरुवार के दिन समकित के साथ-साथ बारह व्रत अगीकार कर जैन धर्म का अनुयायी बन गया।

तदनन्तर रत्नादित्य ने अपने दोनो भानजो मे सन्धि करवा कर विजयन्त को पुन लोहियाण के राजसिहासन पर आरूढ करवाया। लगभग १२ वर्षो तक विजयन्त लोहियाण की प्रजा पर न्याय नीतिपूर्वक शासन करता रहा। वि स ७३५ (वीर नि स १२०५) मे विजयन्त का देहावसान हो गया और उसका पुत्र जयमल लोहियाण के राजसिंहासन पर बैठा। छ वर्ष तक शासन करने के पश्चात् जयमल कालधर्म को प्राप्त हुआ। उसके कोई पुत्र नही था अत उसका मझला भाई जोगा वि स ७४१ (वीर निर्वाण स १२११) मे लोहियाण का अधिपति बन गया। जोगराज के भी पुत्र नही हुआ। अतः वि स ७४९ (वीर नि स १२१९) मे उसके परलोकवासी होने पर उसका छोटा भाई जयवत लोहियाण राज्य का स्वामी हुआ।

जयवन्त के बना और श्रीमल्ल नामक दो पुत्र हुए। बना की जयवन्त के राज्यकाल मे ही मृत्यु हो गई और श्रीमल्ल ने नागेन्द्र गच्छ मे श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली जो आगे चलकर सोम प्रभाचार्य के नाम से विख्यात हुआ। इसी कारण जयवन्त की मृत्यु के पश्चात् उसका पौत्र (बना का पुत्र) भाण वि स ७६४ (वीर नि स १२३४) मे लोहियाण के राज सिहासन पर बैठा।

उन्ही दिनो भिन्नमाल के अति वृद्ध राजा जयन्त की मृत्यु हो गई। उसके कोई पुत्र नही था। अत उत्तराधिकार के प्रश्न को लेकर उसके कुटम्बियो मे कलह

प्रारम्भ हो गया। भिन्नमाल राज्य मे हुए इस गृह कलह का लाभ उठाकर लोहियाण के राजा भाण ने भिन्नमाल के राजसिहासन पर भी अधिकार कर लिया। लोहियाण और भिन्नमाल इन दोनो राज्यो के परस्पर विलय के कारण राजा भाण एक शक्तिशाली शासक के रूप मे उभरा। उसने शौर्य एव साहस के साथ भिन्नमाल राज्य का क्रमश विस्तार करके गगानदी के तट तक उसकी सीमाए स्थापित की।

ऊपर यह बताया जा चुका है कि भिन्नमाल के राजा सामन्त का कनिष्ठ पुत्र विजयन्त वि स ७२३ मे वेणातटवर्ती शखेश्वर ग्राम मे जैन धर्म का अनुयायी बन गया था। उस विजयन्त के पश्चात् भाण तक लोहियाण के जितने राजा हुए वे सभी जैनधर्म के अनुयायी हुए। राजा भाण भी जैन धर्म का दृढ अनुयायी एव परम श्रद्धालु श्रावक था। उस समय के जैन सघ मे राजा भाण की सर्वाग्रणी प्रमुख श्रावक के रूप मे गणना की जाती थी।

वि स ७७५ (वीर नि स १२४५) मे वृहद् गच्छ के आचार्य श्री सोमप्रभ का भिन्नमाल मे आगमन हुआ। उनके उपदेश से राजा जयन्त की मृत्यु के पश्चात् राज परिवार मे जो कलह उत्पन्न हुआ था, वह शान्त हो गया। राजा भाण ने श्री सोम प्रभाचार्य से उस वर्ष भिन्नमाल मे ही चातुर्मासावास करने की आग्रह पूर्ण प्रार्थना की। समस्त श्री सघ तथा सघाग्रणी राजा भाण की प्रार्थना स्वीकार कर वीर नि स १२४५ मे सोमप्रभाचार्य ने भिन्नमाल नगर मे चातुर्मासावास किया। राजा और प्रजा ने चातुर्मासावधि मे नियमित रूप से आचाय श्री के वचनामृत का पान करते हुए धार्मिक कार्य-कलापो मे गहरी अभिरुचि ली।

उस समय तक सदल बल सघ के साथ तीर्थयात्राए करने का प्रचलन पर्याप्त लोकप्रिय हो चुका था। सोमप्रभ सूरि के उपदेश से भिन्नमाल के चतुर्विध सघ ने सर्वसम्मति से विशाल सघ के साथ शत्रुजय तथा गिरनार की यात्रा करने का निश्चय किया। भिन्नमाल के श्री सघ ने वृहत्गच्छीय आचार्य श्री सोमप्रभ और अन्यान्य गच्छो के अनेक आचार्यो को तीर्थ यात्रा के लिये उस विशाल यात्रा सघ मे सम्मिलित होने की प्रार्थना की। उस समय राजा भाण ने कुल परम्परा से चले आ रहे कुलगुरु उदयप्रभ सूरि को भी उस सघ यात्रा मे सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया। उस सघ यात्रा मे सम्मिलित होने के लिये चौरासी गच्छो के आचार्य, साधु साध्वी एव श्रावक श्राविकागण भिन्नमाल मे एकत्रित हुए। भाण राजा के उस सघ मे ७००० रथ, १२५०० घोडे, १००११ हाथी, ७००० पालकिया, २५००० ऊट, ५००० माल ढोने के गाडे और ११००० बैलगाडिया सुसज्जित की गई।

राजा भाण को सघवी पद पर अभिषिक्त करने के समय कुलगुरु उदयप्रभ सूरि राजा भाण के तिलक करने के लिए उद्यत हुए। उस समय राजा भाण के ससारी पक्ष के पितृव्य (चाचा) सोमप्रभ सूरि ने कहा—"राजा भाण के सघवी पद

का तिलक मै करू गा क्योकि मेरे उपदेश से ही इस सघ यात्रा का आयोजन किया गया है।"

इस पर आचार्य सोमप्रभ और आचार्य उदयप्रभ के वीच परस्पर विवाद उठ खडा हुआ। राजा भाण ने विभिन्न सघो के आचार्यो को मन्त्रणा हेतु एक स्थान पर एकत्रित किया और उनसे पूछा कि वस्तुत सघवी पद का तिलक करने का अधिकार आचार्य श्री सोमप्रभ का है या आचार्य श्री उदयप्रभ का ? सभी आचार्यो ने मन्त्रणा कर निर्णय दिया कि तिलक करने का अधिकार राजा के कुल परम्परागत कुलगुरु आचार्य उदयप्रभ का है, न कि सघ यात्रार्थ प्रतिवोध अथवा प्रेरणा देने वाले आचार्य सोमप्रभ सूरि का।

विभिन्न गच्छो के आचार्यो द्वारा दिये गये उस निर्णय को सभी ने शिरोधार्य किया और आचार्य उदयप्रभ ने राजा भाण के भाल पर सघवी का तिलक किया। सघवी पद पर राजा भाण के अभिषिक्त किये जाने पर वह विशाल सघ तीर्थयात्रार्थ प्रस्थित हुआ।

कुलगुरु के प्रश्न को लेकर भविष्य मे कभी किसी प्रकार का कोई विवाद खडा न हो इस उद्देश्य से कुलगुरुओ की मर्यादाए सदा के लिए निर्धारित कर देने का राजा भाण ने निश्चय किया। इस सम्बन्ध मे राजा भाण, जहा जहा भी सघ का पडाव होता वहा वहा सघ के साथ आये हुए सभी आचार्यो से मन्त्रणा एव विचार विनिमय करता। इस प्रकार अनेक दिनो के विचार-विनिमय के पश्चात् राजा भाण और सभी सघो के आचार्य इस विषय मे एक निर्णय पर पहुचे और उन्होने कुलगुरुओ के अधिकारो की निम्नलिखित मर्यादा निर्धारित की।

> "जो कोई आचार्य जिस किसी भी व्यक्ति को प्रतिबोध देगा, वही आचार्य और उसके पट्टधर उस प्रतिबोधित व्यक्ति के सम्पूर्ण परिवार के पीढी प्रपीढियो तक कुलगुरु माने जायेगे। प्रत्येक कुलगुरु स्वय द्वारा अथवा अपने शिष्य प्रशिष्यो एव गुरु-प्रगुरुओ द्वारा प्रतिबोधित श्रावको के नाम तथा उसके परिवार के सभी सदस्यो के नाम अपनी बही मे लिखेगा। इस प्रकार कुलगुरुओ द्वारा अपनी-अपनी बहियो मे अपने-अपने श्रावको के नाम लिख लिये जाने की प्रवृत्ति से पर देश मे रहने वाले श्रावको के सम्बन्ध मे भी सब लोगो को यह विश्वास रहेगा एव यह ज्ञात रहेगा कि अमुक परिवार-अमुक व्यक्ति अमुक गुरु का श्रावक है।
>
> इसी प्रकार एक गच्छ का आचार्य किसी दूसरे गच्छ के व्यक्ति को प्रतिबोध देकर श्रमण धर्म की दीक्षा लेने के लिये कृत-सकल्प

बनाता है, श्रमणत्व ग्रहण करने के लिये तैयार करता है तो उस दशा मे उस विरक्त व्यक्ति के कुलगुरु की आज्ञा लेकर ही उसे दीक्षा दी जाय। यदि उसमे कुलगुरु की आज्ञा न मिले तो उसे दीक्षित नही किया जाय।

इसी भाति प्रतिष्ठा, सघवी पद का तिलक और व्रत प्रदान आदि कार्य भी अपने-अपने कुलगुरु के हाथ से ही सम्पन्न करवाये जाये। ऐसा प्रसग उपस्थित होने पर कि जब कुलगुरु कही अन्यत्र दूरस्थ प्रदेश मे गये हुए हो तो उन्हे आमन्त्रित कर बुलाया जाय। इस प्रकार बुलाने पर भी यदि कुलगुरु नही आवे तो उस दशा मे वह गृहस्थ किसी दूसरे गच्छ के आचार्य अथवा गुरु के हाथो प्रतिष्ठादि उन कार्यो को सम्पन्न करवाले। इन कार्यो के सम्पन्न होने पर प्रतिष्ठा आदि कराने वाले अन्य गच्छ के आचार्य ही उस समय से उस श्रावक के कुलगुरु माने जाएगे और भविष्य मे प्रतिष्ठा आदि का प्रसग उपस्थित होने पर उन नये कुलगुरु बने हुए आचार्य अथवा गुरु से ही प्रतिष्ठा आदि कार्य करवाये जाएगे।"

इस प्रकार मर्यादाओ के सम्बन्ध मे सर्वसम्मत निर्णय से कुलगुरुओ की मर्यादाए बाधी गई और उन्हे अभिलेख के रूप मे लिखा गया। उस लिखत पर अथवा मर्यादा पत्र पर नागेन्द्र गच्छीय श्री (१) सोमप्रभाचार्य, (२) उपकेश-गच्छीय श्री सिद्धसूरि, (३) निवृत्ति गच्छीय श्री महेन्द्र सूरि, (४) विद्याधर गच्छीय श्री हरियाणन्द सूरि, (५) ब्राह्मण गच्छीय श्री जज्जग सूरि, (६) साडेर गच्छीय श्री ईश्वर सूरि, तथा (७) वृहद् गच्छीय श्री उदयभद्र सूरि प्रभृति चौरासी गच्छो के नायको ने हस्ताक्षर किये। राजा भाण ने साक्षी के रूप मे उस लिखत पर अपने हस्ताक्षर किये।

यह अभिलेख वर्द्धमानपुर मे वि स ७७५ (वीर नि स १२४५) की चैत्र शुक्ला सप्तमी के दिन लिखा एव हस्ताक्षरित किया गया।

विक्रम की ८वी शताब्दी मे श्रमणो मे शिथिलाचार किस सीमा तक बढ चुका था इस पर इस लिखत से पर्याप्त प्रकाश पडता है। अपने-अपने श्रावक को अपनी-अपनी आचार्य परम्परा का अनुयायी बनाये रखने के लिये सतत प्रयत्नशील ही नही, अपितु विवाद तक के लिये कटिबद्ध रहना, एव व्यापारी की तरह बहिया रख कर उनमे अपने-अपने श्रावको, उनके परिवार के सभी सदस्यो के नाम लिखना, दूसरे गच्छ के अनुयायी श्रावको को अपने गच्छ का अनुयायी बनाने का प्रयास करना, ममत्व भाव से श्रावक वर्ग को अपने गच्छ मे ही सुदृढ रखने के लिये विवाद मे उलझना और प्रतिष्ठा, तीर्थयात्रा आदि के प्रसग पर श्रावको के भाल

पर तिलक करना आदि आदि कार्यकलाप श्रमणो द्वारा, आचार्यो द्वारा वडे-वडे समारोहो के साथ किये जाते थे।

कुलगुरुओ की मर्यादा-निर्धारण विपयक इस लिखत से यह स्पष्ट हो जाता है कि चैत्यवासी परम्परा द्वारा अपनाये गये शिथिलाचार और वाह्याडम्वर पूर्ण अनुष्ठानो, आयोजनो एव क्रिया-कलापो से जैन धर्म तथा श्रमण परम्परा मे मूल विशुद्ध स्वरूप की रक्षा के उद्देश्य से जिस सुविहित परम्परा का प्रादुर्भाव किया गया था, उस सुविहित परम्परा पर भी वीर निर्वाण की १२वी-१३वी शताव्दी मे चैत्यवासियो द्वारा अपनाये गये शिथिलाचार, वाह्याडम्वर और आगम विरोधी तथा कथित धार्मिक आयोजनो का पर्याप्त प्रभाव पड चुका था।

इन कुलगुरुओ ने इस प्रकार परिग्रह रखना तो प्रारम्भ कर दिया और इनका परिग्रह उत्तरोत्तर बढता ही गया, किन्तु इस समय तक इन्होने दार परिग्रह स्वीकार नही किया था। आगे चलकर ये कुलगुरु गृहस्थ वन गये।

ा र्य लंक

आचार्य अकलक दिगम्बर परम्परा के एक महान् प्रभावक आचार्य हुए है। इनका समय विद्वानो ने ई० सन् ७२० से ७८० तक का निर्धारित किया है। इन्होने अनेक ग्रन्थो की रचनाए की। उनमे मुख्य है —

(१) तत्वार्थ वार्तिक सभाष्य, (२) अष्टशती (समन्तभद्र कृत आप्त मीमासा–देवागमस्तोत्र की वृत्ति), (३) लाघवस्तव सवृत्ति, (४) न्याय विनिश्चय सवृत्ति, (५) सिद्धि विनिश्चय, (६) प्रमाण मीमासा, (७) प्रमेय मीमासा, (८) नय मीमासा, (९) निक्षेप मीमासा, तथा (१०) प्रमाण सग्रह।

आचार्य अकलक का जो जीवन परिचय उपलब्ध होता है उसमे इनके पिता का नाम पुरुषोत्तम बताया गया है। पुरुषोत्तम मान्य खेट के राष्ट्रकूट वशीय राजा शुभतुग के मत्री थे। अकलक के छोटे भाई का नाम निकलक था। ये दोनो भाई कुशाग्र बुद्धि थे। एक दिन ये दोनो भाई अपने माता-पिता के साथ आचार्य रविगुप्त के दर्शनार्थ गये। माता-पिता के साथ दोनो बालको ने भी अपने गुरु से ब्रह्मचर्य व्रत अङ्गीकार किया।

जब इन दोनो भाइयो ने किशोरवय पार की, उस समय माता-पिता ने इन दोनो भाइयो का विवाह करने का निश्चय किया किन्तु अकलक और निकलक ने माता-पिता के आग्रह को अस्वीकार करते हुए स्पष्ट शब्दो मे कह दिया कि उन्होने बाल्यावस्था मे ही ब्रह्मचर्य व्रत गुरुदेव से ग्रहण कर लिया था। अत अब वे जीवन पर्यन्त अखण्ड ब्रह्मचारी ही रहेगे। इन दोनो भाइयो ने अपने सकल्प पर दृढ रहते हुए विद्याध्ययन किया और अकलक की बुद्धि इतनी तीव्र थी कि कठिन से कठिन पाठ भी उन्हे एक बार सुनने मात्र से ही कठस्थ हो जाता था। वही पाठ निकलक को दो बार सुनने से कठाग्र हो जाता था। इस प्रकार के कुशाग्र बुद्धि होने के कारण उन दोनो भाइयो ने स्वल्प समय मे ही अनेक विद्याओ और शास्त्रो मे पारगतता प्राप्त कर ली।

उन दिनो बौद्ध न्याय की चारो ओर धूम थी। बौद्धो की न्याय और तर्कशास्त्र पद्धति का अध्ययन करने की उन दोनो भाइयो के मन मे तीव्र उत्कठा उत्पन्न हुई और वे बौद्ध न्याय का अध्ययन करने के लिये बौद्ध मठ मे गये। उन्होने अपना

धर्म छिपा कर बौद्ध विद्यापीठ मे प्रवेश प्राप्त कर लिया और वे वहा बडी निष्ठा के साथ बौद्ध शास्त्रो का अध्ययन करने लगे। उन दोनो भाइयो ने थोडे समय मे ही बौद्ध शास्त्रो मे पारगतता प्राप्त कर ली।

एक दिन उनके आचार्य जब उन्हे अनेकान्त के खण्डन का पाठ पढा रहे थे, तो पूर्व पक्ष का पाठ कुछ त्रुटिपूर्ण रह जाने के कारण स्वय आचार्य की समझ मे नही आ रहा था। अत उन्होने उस दिन वह पाठ पढाना स्थगित कर दिया। दोनो भाइयो ने बौद्धाचार्य दिग्नाग के अनेकात के खण्डन के अशुद्ध पूर्व पक्ष के पाठ को रात्रि के समय शुद्ध कर दिया। प्रात काल अध्ययन कक्ष मे लिखे पाठ पर जब आचार्य की दृष्टि पडी तो वे शुद्ध पाठ को देखकर स्तब्ध रह गये। उन्हे विश्वास हो गया था कि उनके विद्यार्थियो मे से निश्चित रूप से कोई न कोई जैन शिक्षार्थी छद्म वेष मे उनके विद्यापीठ मे प्रविष्ट हो गया है। उन्होने जैन विद्यार्थियो को खोज निकालने का निश्चय किया।

आचार्य हरिभद्र के हस और परमहस नामक दोनो शिष्यो को जिन उपायो से बौद्धाचार्य ने खोज निकाला था, उसी प्रकार के उपायो को अकलक और निकलक को खोज निकालने के लिये भी उपयोग मे लाया गया।

अपने शिष्यो मे छद्मवेषधारी जैन कौन आ गया है, इस बात का पता लगाने के लिये बौद्धाचार्य ने मार्ग मे ऐसे स्थान पर जिनेन्द्र की मूर्ति रख दी जहा से अनिवार्य रूपेण प्रत्येक शिक्षार्थी को आवागमन करना ही पडता था। अकलक और निकलक ने उस मूर्ति पर धागा डाल कर उसे अन्य छात्रो की ही तरह लाघ लिया। उस परीक्षा से अपने अभीष्ट की सिद्धि न हुई देख बौद्धाचार्य ने एक दूसरा अचूक उपाय खोज निकाला। मध्य रात्रि मे जब सब शिक्षार्थी निश्शक प्रगाढ निद्रा मे सो रहे थे, उस समय बौद्धाचार्य ने कास्यपात्रो से भरा एक बोरा बडी ऊचाई से छात्रो के शयनकक्ष मे मध्य भाग के रिक्त स्थान पर गिराया। कास्यपात्रो के गिरने से विद्युत की कडकडाहट के समान हुए कर्णभेदी भीषण निघोष को सुन कर सभी शिक्षार्थी तत्काल जाग उठे। अपने ऊपर प्राणापहारी घोर सकट आया समझ सभी छात्रो ने अपने-अपने इष्ट देव का सस्वर स्मरण किया। अकलक और निकलक दोनो भाइयो के मुख से भी सहसा "णमो अरिहताण, णमो सिद्धाण आदि पच-परमेष्टि-नमस्कार मन्त्र" के स्वर गू ज उठे। परीक्षा हेतु सजग प्रहरी के समान वहा खडे बौद्धाचार्य ने उन दोनो भाइयो को तत्काल पकड कर विद्यापीठ के एकात कक्ष मे वन्दी बनाकर रख दिया।

रात्रि की निस्तब्धता मे अकलक और निकलक दोनो भाई एक छत्र को पकड कर विद्यापीठ के ऊपरी कक्ष से कूद पडे। बडी ही कुशलतापूर्वक उस छत्र को कभी तीर्च्छा तो कभी सीधा रखते हुए वे दोनो भाई बौद्ध विद्यापीठ क्षेत्र से बाहर

सकुशल पृथ्वी पर उतर गये और उन्होने दबे पावो बडी तीव्र गति से प्राण रक्षार्थ पलायन प्रारम्भ किया ।

प्रात काल होने पर उस बौद्ध विद्यापीठ के नियमानुसार उन दोनो भाइयो को प्राणदण्ड दिलाने हेतु राजा के समक्ष उपस्थित करने के लिये जब उस कक्ष के द्वार खोले गये, जिसमे कि दोनो भाइयो को बन्दी बनाकर रक्खा गया था, तो उस कक्ष मे उन्हे न पा उनकी खोज मे चारो ओर राजा की आज्ञा से 'अश्वारोही सैनिक' दौडाये गये ।

विकट वनी को पार कर जब वे दोनो भाई एक सरोवर के पास पहुचे तो निकलक ने देखा कि अश्वारोही उनका पीछा करते हुए भागे आ रहे है । उसने अकलक से कहा—"भैया ! आज जिनशासन को आप जैसे एकसन्धि सुतीक्ष्ण बुद्धि विद्वान् की आवश्यकता है । जिन शासन के लिये अनमोल—अमूल्य अपने जीवन को आप येन-केन-प्रकारेण बचाइये । देखिये यह विशाल सरोवर तीन ओर से पहाडियो और विशाल वृक्षो की पक्तियो से घिरा हुआ है । लम्बी झीलो के समान इस सरोवर की जलराशिया पहाडो के बीच की टेढी-मेढी अति गहरी खाइयो तक फैली हुई है । आप सुयोधन के समान श्वास निरोधपूर्वक जलस्तम्भन की यौगिकी क्रिया मे निष्णात हैं । इस विशाल सरोवर मे आपको शत्रुओ का टिड्डी दल भी आ जाय तो नही खोज सकेगा । मैं आपसे हाथ जोड कर प्रार्थना करता हू कि आप सभी प्रकार के मोह ममत्व का एक ही झटके मे परित्याग कर इस सरोवर की अगाध जल राशि मे छुप जाइये । जिनेन्द्र प्रभु के विश्वकल्याणकारी धर्म शासन के हित के लिये आप शीघ्रतापूर्वक जलराशि मे प्रविष्ट हो जाइये । शत्रुओ के घोडो की टापो से उडती हुई धूलि के बादल बडी तीव्र गति से हमारे पास उडे आ रहे है । अभी शत्रुओ की क्रूर दृष्टि हम पर नही पडी है । आपको जिनेन्द्र प्रभु की सौगन्ध है, जिनशासन की शपथ है । शीघ्रता कीजिये और वृक्षो की, लता-गुल्मो के झुरमुटो की ओट मे दबे पावो भागते हुए द्रुतगति से जाइये और इस अगाध विस्तीर्ण जल-राशि मे शत्रुओ की आखो से ओझल हो जाइये ।"

जिनेन्द्र प्रभु की एव जिनशासन की शपथ के पश्चात् अकलक के समक्ष और कोई रास्ता नही था । एक बार मे ही क्षणभर मे अपने अन्तर्ह्रद् से पीयूषोपम स्नेहसागर दोनो दृगो से अपने स्नेह केन्द्र लघु सहोदर पर उडेलता हुआ अकलक झुरमुटो की ओट मे द्रुततर गति से बढता हुआ दो पर्वतो के बीच की टेढी-मेढी जल राशि मे समा गया ।

यह देखकर पूर्णत आश्वस्त हो निकलक भी बडी तेज गति से विपिन की ओर गुल्म-लता कुजो की ओट लेता हुआ भागा । उसे भागता देख वस्त्र प्रक्षालनार्थ

सरोवर के घाट पर उसी समय आया हुआ एक रजक (धोवी) भी किसी भयकर आपत्ति की आशका से निकलक का पीछा करता हुआ भागने लगा ।

बौद्धराज के अश्वारोही निकलक और धोवी के पदचिन्हो का अनुसरण करते हुए उनके पीछे तीव्र गति से घोडे दौडाते हुए उस विकट अटवी की ओर बढे । कुछ ही क्षणो मे बौद्ध सेना के अश्वारोही उन दोनो भागने वालो के पास जा पहुचे और उन्होने अपनी तलवार की तीखी धार के एक ही प्रहार से उन दोनो के सिर काट दिये ।

उन्हे मरा हुआ जानकर बौद्ध सैनिक लौट गये । बौद्ध सैनिको के लौट जाने पर अकलक जलाशय से बाहर निकले और कलिंग के रत्नसचयपुर नगर मे पहुचे । वहा उन्होने राजा हिमशीतल की राजसभा मे बौद्धाचार्य सघश्री के साथ शास्त्रार्थ किया । शास्त्रार्थ प्रारम्भ करते समय सघश्री ने यह शर्त रखी थी कि वह यवनिका (पर्दे) के पीछे बैठ कर शास्त्रार्थ करेगा ।

शास्त्रार्थ बडे लम्बे समय तक चलता रहा और ६ महीने चलते रहने पर भी जब जय-पराजय का निर्णय नही हो सका तो अकलक ने इसमे कुछ रहस्य की आशका से चक्रेश्वरी देवी का स्मरण किया ।

चक्रेश्वरी देवी ने अकलक को बताया —"बौद्धाचार्य शास्त्रार्थ नही कर रहा है बल्कि उनकी आराध्या देवी तारा पर्दे के पीछे रखे घट मे बैठी हुई शास्त्रार्थ कर रही है । कल तुम उसे आज के शास्त्रार्थ मे उसके द्वारा कही गई अन्तिम बात को दोहराने को कहना । देवी एक बार कही हुई बात को नही दोहराती । अत वह मौन रहेगी । तुम उसी समय यवनिका के अन्दर प्रवेश कर पार्ष्णि-प्रहार से उस घट को फोड देना । बौद्धाचार्य घट मे बैठी हुई तारादेवी के बल पर ही अभी तक शास्त्रार्थ मे पराजित नही हो सका है । घट के फोड दिये जाने पर वह पूर्णत शक्तिविहीन हो जायगा और शास्त्रार्थ मे तुम्हारे समक्ष क्षण भर भी टिक नही सकेगा ।"

दूसरे दिन हिमशीतल की राजसभा मे शास्त्रार्थ को प्रारम्भ करते हुए अकलक ने कल कही हुई बात दोहराने को कहा । प्रतिपक्ष की ओर से अकलक के कथन का कोई उत्तर नही मिला ।

प्रतिपक्षी को मौन देख कर अकलक ने तत्काल यवनिका का पटाक्षेप करते हुए उसके अन्दर प्रवेश किया । वहा घट को देख उन्होने पाद-प्रहार से उस घडे को फोड दिया । अकलक द्वारा पुन पुन प्रश्न किये जाने पर भी बौद्धाचार्य सघश्री की जिह्वा तो दूर ओष्ठ तक नही हिले । वह अवाक् बना अकलक की ओर देखता ही रहा ।

शास्त्रार्थ के निर्णायको ने अकलक को विजयी और बौद्धाचार्य को पराजित घोषित किया। इससे जैन धर्म की सर्वत्र महती प्रभावना हुई।

जैन वाग्मय के कतिपय कथानको मे किंवदन्ती के आधार पर इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं कि राजा हिमशीतल की राज्यसभा मे हुए शास्त्रार्थ मे बौद्धाचार्य सघश्री के पराजित हो जाने पर आचार्य अकलक ने अपने लघु भ्राता निकलक की बौद्धो द्वारा की गई हत्या के प्रतिशोध की भावना से अपने प्रभाव मे आये हुए राजा हिमशीतल से बौद्धो का सामूहिक सहार करवाया। किन्तु तत्कालीन सभी तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे तटस्थ भाव से चिन्तन-मनन करने पर यही सिद्ध होता है कि इस प्रकार के उल्लेखो का एक किंवदन्ती से अधिक कोई मूल्य नही।

अकलक-निकलक का बौद्ध विद्यापीठ मे छद्म रूप से अध्ययन, रहस्योद्घाटन, दोनो भाइयो का पलायन, निकलक और धोबी की बौद्ध सैनिको द्वारा हत्या, अकलक का उस सकट से बच निकलना, अकलक का बौद्धाचार्य से ६ माह तक शास्त्रार्थ, चक्रेश्वरी का स्मरण, चक्रेश्वरी द्वारा घट सम्बन्धी रहस्य का प्रकाशन, अकलक द्वारा—"कल अन्त मे आपने क्या कहा था, कृपया पुन दोहराइएगा"—इस वाक्य के माध्यम से बीते कल की बात पुन कहने का बौद्धाचार्य से निवेदन, बौद्धाचार्य की ओर से किसी उत्तर का प्राप्त न होना, अकलक का पर्दे को हटा कर अन्दर प्रवेश तथा पादप्रहार से उस घट का विस्फोटन, जिसमे बैठी तारा देवी शास्त्रार्थ कर रही थी, और अन्ततोगत्वा बौद्धाचार्य की पराजय और अकलक की विजय। यह पूरा का पूरा विवरण आचार्य हरिभद्रसूरि के हस और परमहस नामक शिष्यो के कथानक से मिलता-जुलता है।[1]

यशस्वी विद्वान् श्री दलसुखभाई मालवणिया आदि ने प्रमाण पुरस्सर अकलक का समय ई० सन् ७२० से ७८० के बीच का निर्धारित किया है, यह पहले बताया जा चुका है। इस अभिमत की पुष्टि इस तथ्य से भी होती है कि अकलक ने राष्ट्रकूटवशीय राजा साहसतुङ्ग की राजसभा मे उपस्थित हो उसके साहस की प्रशसा के साथ-साथ विजय अभियान मे उसके साथ अपनी तुलना की थी। साहसतुङ्ग के अपर नाम दन्तिदूर्ग, दन्तिवर्मा, खड्गावलोक, पृथ्वीवल्लभ और वैर मेघ भी प्रसिद्ध थे। उसका नाम वस्तुत दन्तिदुर्ग था और साहसतुङ्ग उसका विरुद था। साहसतु ग का समय ई० सन् ७३० से ७५७ तक का माना गया है। अकलक का उससे साक्षात्कार हुआ था, इससे साहसतु ग और अकलक समकालीन होने के कारण अकलक का समय भी ई० सन् ७३० से ७५७ के आसपास का ही निश्चित होता है।[2]

---

[1] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ मे ही आचार्य हरिभद्र का प्रकरण।

[2] देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ २८६, २६०

अकलक नाम के और भी अनेक विद्वान् हुए हैं। उनके नाम अनुमानित काल के अनुसार इस प्रकार है —(१) अकलक पण्डित–ई० १०६८, (२) अकलक त्रैविद्य–ई० ११६३ मे स्वर्गस्थ हुए, (३) अकलकचन्द्र–ई० १२००, (४) अकलकदेव ई० १२५६ मे स्वर्गस्थ हुए, (५) अकलक मुनि नन्दिसघ, वलात्कारगण के जयकीर्ति के शिष्य, (६) अकलकदेव मूलसघ–ई० १५५०–१५७५, (७) भट्टारक अकलकदेव कर्णाटक शब्दानुशासन के रचनाकार–ई० १५८६ से १६१५ तक। ये ६ भाषाओ मे कविता करने की अद्भुत क्षमता रखते थे। इन्होने रायबहादुर नरसिंहाचार्य के अभिमतानुसार अनेक राजसभाओ मे हुए शास्त्रार्थो मे विजयी होकर जिनशासन की महती प्रभावना की, (८) अकलक मुनिप –देशीगण, पुस्तकगच्छ के कार्कल मठ के भट्टारक–ई० १८१३ मे स्वर्गस्थ हुए, (९) अकलकदेव—अनुपलब्ध प्रतिष्ठाकल्प के रचयिता। इनका समय ईसा की १८वी शताब्दी का पूर्वार्द्ध अनुमानित किया जाता है, (१०) अकलक—परमागमसार नामक कन्नड ग्रन्थ के रचनाकार। समय अज्ञात, (११) अकलक—चैत्यवन्दन, प्रतिक्रमणसूत्र, साधु श्राद्ध प्रतिक्रमण एव पदपर्याय मजरी आदि के कर्त्ता। समय अनिर्णीत।[1]

---

[1] विशेष जानकारी के लिए देखिये, जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग २, परमानन्द शास्त्री लिखित पृष्ठ १५४, १५५

भगवान् महावीर के ३४ एवं ३५वे पट्टधर क्रमशः हरिषेण व जयसेण के आचार्य ल के समय के प्रमु ग्रन् ार

जिनदास गणि महत्तर जैन जगत् के चूर्णिकारो मे जिनदास गणि महत्तर का मूर्धन्य स्थान है। इन्होने नन्दिचूर्णि, निशीथ सूत्र चूर्णि और आवश्यक चूर्णि नामक बडे ही महत्वपूर्ण ग्रन्थो की रचनाए की। इन्होने अपने परिचय के साथ निशीथ चूर्णि की रचना का समय अपनी इन निम्नलिखित गाथाओ मे दिया है —

> सकरजड मउड विभूसणस्स तन्नामसरिस णामस्स।
> तस्स सुतेणेसकता विसेस चुण्णी णिसीहस्स॥
>
> तत्थो चेव विधि पागडो फुड पदत्थो रइतो परिभासाए साहूण अणुगहट्ठाए।
>
> ति चउपण अट्ठम वग्गा ति पण ति तिग अक्खरावते तेसिं।
> पढम ततिएहिंति दु सर जुएहि णामकय जस्स॥
>
> गुरुदिण्ण च गणित्त महत्तरत्त च तस्स मुद्धेहि।
> तेण कएसा चुण्णी विसेसनामा निसीहस्स॥

नन्दि सूत्र की चूर्णि के अन्त मे दी हुई प्रशस्ति मे जिनदास गणि महत्तर ने उल्लेख किया है कि शक सम्वत् ५६८ तदनुसार विक्रम सम्वत् ७३३ तदनुसार वीर निर्वाण मम्वत् १२०३ मे नन्दि सूत्र चूर्णि पूर्ण की।

महत्तर जिनदासगणि द्वारा रचित चूर्णिया श्रमण-श्रमणी वर्ग एव साधक वर्ग के लिए अपने शास्त्रीय ज्ञान का अभिवर्द्धन करने मे परम सहायक होने के साथ साथ, ऐतिहासिक दृष्टि से भी बडी महत्वपूर्ण है। आवश्यक चूर्णि को यदि जैन इतिहास की अक्षय निधि कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।

यापनीय परम्परा के आचार्य
अपराजित सूरि (विजयाचार्य)

विक्रम की आठवी शताब्दी मे यापनीय परम्परा के भी एक बहुत बडे विद्वान् आचार्य हुए है जिनका नाम अपराजित सूरि है।

यापनीय परम्परा के सम्बन्ध मे प्रस्तुत ग्रन्थ के छठे प्रकरण मे विस्तार-पूर्वक परिचय दिया गया है। उसमे अपराजित सूरि का भी यत्किंचित परिचय दिया गया है।

जैन इतिहास की दृष्टि से यापनीय आचार्य अपराजित सूरि का स्थान बहुत ऊचा और बडा ही महत्वपूर्ण है। इन्होने बहुत सम्भव है कि दशवैकालिक सूत्र के समान ही अनेक सूत्रो पर टीकाओ की रचनाए की हो। किन्तु इनके द्वारा लिखी गई आगमो की टीकाओ मे से केवल दशवैकालिक टीका के कतिपय उद्धरण ही आज जैन वाग्मय मे उपलब्ध होते है।

मूलाराधना की टीका मे इनके द्वारा रचित दशवैकालिक टीका के अनेक उद्धरण उपलब्ध होते है। इनके द्वारा लिखित वर्तमान मे केवल एक ही टीका ग्रन्थ उपलब्ध होता है, वह है आराधना की विजयोदया टीका। आराधना की विजयोदया टीका मे ही दशवैकालिक सूत्र की विजयोदया टीका का उसके अनेक उद्धरणो के साथ मे उल्लेख उपलब्ध होता है।

इन अपराजित सूरि का अपर नाम विजयाचार्य था इसलिये अपने इस अपर नाम पर ही अपनी उन दो महत्वपूर्ण टीकाओ का उन्होने नामकरण किया है।

जैन इतिहास मे अपराजित सूरि का और इनके द्वारा निर्मित उपरिलिखित दोनो टीकाओ का इस लिये बडा ऐतिहासिक महत्व है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो परम्पराओ के रूप मे श्रमण भगवान् महावीर के धर्मसघ के विभक्त हो जाने पर यापनीय परम्परा के इन आचार्य ने इन दोनो सघो को एकसूत्र मे पुन आबद्ध करने की दृष्टि से सम्भवत पूरा-पूरा प्रयास किया।

यापनीय परम्परा के आचार्य उन सभी आगमो को प्रामाणिक मानते थे जिन्हे कि श्वेताम्बर परम्परा प्रामाणिक मानती है। इस सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य

का बोध अपराजित सूरि द्वारा निर्मित विजयोदया नाम की उपरि नामांकित टीकाओ से होता है। इस सम्बन्ध मे प्रस्तुत ग्रन्थ के छठे प्रकरण मे बडे विस्तार के साथ प्रकाश डाला जा चुका है।[1]

अपराजितसूरि यापनीय परम्परा के अनेक गणो मे से किस गण के आचार्य थे, इनके गुरु कौन थे, इनके पश्चात् इनके पट्टधर आचार्य कौन हुए, इस सम्बन्ध मे जैन वाग्मय मे अद्यावधि कोई उल्लेख प्राप्त नही हुआ है। इस परम्परा के आचार्यो की एक दो छोटी मोटी पट्टावलियो, भिन्न-भिन्न काल मे हुए अनेक आचार्यो, साधुओ, इस परम्परा के अनेक गणो आदि के उल्लेख तो अनेक शिलालेखो मे उपलब्ध होते है। किन्तु काल क्रमानुसार क्रमबद्ध उल्लेख कही उपलब्ध नही होता।

इनसे पूर्व विक्रम की पाचवी छठी शताब्दी मे शिवार्य नामक एक महान् आचार्य इस परम्परा मे हुए थे जिन्होने कि 'आराधना' नामक दो हजार एक सौ सत्तर (२१७०) गाथाओ के विशाल ग्रन्थ की रचना की थी, जिस पर कि, जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, अपराजित सूरि ने टीका का निर्माण किया। इनके पश्चाद्वर्ती काल विक्रम की नवमी शताब्दी मे शाकटायन नामक एक महान् वैयाकरण एव ग्रन्थकार आचार्य हुए है। इनका परिचय भी आगे यथास्थान दिया जायगा।

शाकटायन ने अपने शब्दानुशासन की अमोघवृत्ति मे 'उपसर्वगुप्त व्याख्यातार' इस पद से सर्वगुप्त नाम के किसी आचार्य को सबसे बडा व्याख्याता बताया है। वर्तमान मे उपलब्ध जैन वाग्मय मे सर्वगुप्त नाम के किसी व्याख्याकार, वृत्तिकार अथवा टीकाकार का कोई नाम कही दृष्टिगोचर नही होता। इससे अनुमान किया जाता है कि अपराजित सूरि से कतिपय शताब्दियो पूर्व यापनीय परम्परा मे सर्वगुप्त नाम के कोई महान् व्याख्याता पूर्वाचार्य हुए हो।

यापनीय आचार्य शिवार्य ने सर्वगुप्त नाम के आचार्य की सेवा मे रहकर शास्त्रो का अध्ययन किया था। इस प्रकार का उल्लेख सम्भवत मूलाराधना मे अथवा अन्यत्र कही देखने मे आया है। इस प्रकार यापनीय परम्परा के केवल तीन ग्रन्थकारो के ही नामो का उल्लेख और उनके ग्रन्थ आज तक उपलब्ध हो सके हैं।

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ (जैनधर्म का मौलिक इतिहास भाग—३) का पृष्ठ २१३–२१४

३५वे से ३८वे पट्टधर तथा युगप्रधानाचार्य पुष्यमित्र के समय की राजनैतिक घटनाएँ

ईसा की सातवी शताब्दी मे दक्षिण मे काची के पल्लवो और चालुक्यो मे सघर्ष चलता रहा। इस लम्बे सघर्ष का सूत्रपात उस समय हुआ, जब पुलकेशिन (द्वितीय) ने ईसा की ७वी शताब्दी के प्रथम चरण मे पल्लवराज महेन्द्र वर्मन पर आक्रमण किया। पुलकेशिन अपनी शक्तिशाली सेना के साथ पल्लव राज्य की सीमा मे दूर तक बढता हुआ जब काची से उत्तर मे लगभग १५ मील की दूरी पर ही रह गया तब पल्लव सेना के प्रतिरोध पर पुल्लकूर मे दोनो सेनाओ के बीच भीषण युद्ध हुआ। पल्लव राज्य का उत्तरी भाग पुलकेशिन को देकर महेन्द्र वर्मन ने उसके साथ सन्धि की और इस प्रकार उसने अपनी राजधानी की शत्रु से रक्षा की।

पल्लवो और चालुक्यो के बीच सघर्ष का सूत्र-पात इसी घटना से हुआ। ई० सन् ६२१ मे राजधानी मे लौटते ही उस समय के अपने सामन्त विष्णुवर्द्धन को अपने प्रतिनिधि के रूप मे आन्ध्र का शासक बना कर वहा विरोधी शक्तियो को नष्ट करने और अपने राज्य को सुदृढ एव विशाल बनाने के लिये भेजा।

विष्णुवर्द्धन[1] ने १० वर्ष तक आन्ध्र का शासन करते हुए वहा पुलकेशिन के राज्य की सीमा मे भी उल्लेखनीय अभिवृद्धि के साथ-साथ राज्य को निष्कण्टक बना दिया।[2] आन्ध्र मे अपने राज्य की स्थिति के सुदृढ हो जाने पर पुलकेशिन द्वितीय ने ई० सन् ६३१ के पश्चात् अपने भाई की स्वीकृति से एक राजवश की स्थापना की, जिसकी तेलुगु देश पर ५०० वर्ष तक सत्ता रही। पुलकेशिन बडा शक्तिशाली राजा था। इसने ई० सन् ६२५–६२६ मे अपना राजदूत ईरान के शाह खुसरो (द्वितीय) के यहा और ईरान के शाह ने पुलकेशिन की राजधानी बादामी मे भेजा।

अपनी सफलताओ से प्रोत्साहित हो पुलकेशिन द्वितीय ने पल्लवराज महेन्द्रवर्मन के पुत्र नरसिंह वर्मन (ई० सन् ६३०–६६८) के शासन काल मे पल्लव राज्य पर पुन आक्रमण किया। पुलकेशिन (द्वितीय) के इस आक्रमण का पल्लवो

---

[1] यह विष्णुवर्द्धन इतिहास प्रसिद्ध होय्सल महाराजा विष्णुवर्द्धन से भिन्न ही पुलकेशिन (द्वितीय) का सामन्त—सेनापति था। होय्सल महाराजा विष्णुवर्द्धन का शासनकाल ई० सन् १११० से ११५२ था।

[2] दक्षिण भारत का इतिहास, (डा के ए नीलकण्ठ शास्त्री) पृष्ठ १२६

के सामन्त बाणवशी राजाओ ने जिनका कि रायल सीमा पर शासन था, बडा प्रतिरोध किया। उस भीषण सघर्ष मे वारण राज्य पूर्णत नष्ट हो गया, किन्तु इसके परिणामस्वरूप पुलकेशिन (द्वितीय) की सेना को वडी भारी क्षति उठानी पडी। वह अपनी सेना के साथ पल्लव राज्य की सीमा मे आगे बढा। नरसिंह वर्मन (प्रथम) महामल्ल ने लका के राजकुमार मानवर्मा की सहायता से काचीपुरम् से २० मील पूर्व मे स्थित मरिगमगला नामक स्थान पर पुलकेशिन (द्वितीय) की सेना पर आक्रमरण कर भीषरण युद्ध के पश्चात् उसे परास्त कर दिया। इस युद्ध के पश्चात् तो पुलकेशिन की नरसिह वर्मन के साथ हुए छोटे-बडे सभी युद्धो मे पराजय पर पराजय होती ही रही और उसे अपनी राजधानी वादामी मे लौटने के लिये वाध्य होना पडा।

इस विजय से पल्लवराज नरसिह वर्मन (प्रथम) बडा उत्साहित हुआ। उसने अपनी विशाल एव शक्तिशालिनी सेना से बादामी पर आक्रमरण कर उस पर अधिकार कर लिया। इस युद्ध मे पुलकेशिन (प्रथम) की युद्ध भूमि मे मृत्यु हो गई।

नरसिह वर्मन द्वारा वादामी पर अधिकार किये जाने की इस घटना की एक ऐतिहासिक घटना के रूप मे पुष्टि नरसिंह वर्मन की "वातापिकोण्डा" अर्थात्— वातापी का विजेता—इस उपाधि से होती है। वातापि वस्तुत बादामी का ही पुरातन नाम है। इसके अतिरिक्त मल्लिकार्जुन मन्दिर के पीछे की चट्टान पर उट्टंकित नरसिंह वर्मन के शासन के तेरहवे वर्ष के शिलालेख से भी इस घटना की पुष्टि होती है।

पुलकेशिन द्वितीय की बादामी के युद्ध मे पराजय एव मृत्यु से विशाल चालुक्य साम्राज्य एक बार तो बुरी तरह बिखर गया। उसके अधीनस्थ राजाओ और चालुक्य साम्राज्य के प्रतिनिधियो के रूप मे प्रशासक पद पर नियुक्त पुलकेशिन (द्वितीय) के पुत्रो ने भी अपने आपको अपने-अपने अधीनस्थ प्रदेशो का स्वतन्त्र राजा घोषित कर दिया।

बादामी के चालुक्य राज्य पर आयी हुई इस घोर सकट की घडियो मे भी पुलकेशिन (द्वितीय) के एक पुत्र ने, जिसने कि आगे चलकर विक्रमादित्य के विरुद् को धारण किया, बडे ही साहस से काम लिया। चालुक्य राज्य के इस आपातकाल मे गगराज भूविक्रम[1] अपरनाम श्रीवल्लभ—भूरिविक्रम ने, पुलकेशिन द्वितीय के इस

[1] इसका शासनकाल ई सन् ६७० तक था। देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का पृष्ठ २६६, डा के एस नीलकण्ठ शास्त्री ने अपने "दक्षिण भारत का इतिहास" नामक ग्रन्थ मे (पृष्ठ १२७) गग अविनीत को विक्रम का नाना बताया है किन्तु गग अविनीत का शासन काल ई० सन् ४२५ से ४७८ तक है। देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ का पृष्ठ २६५।

विक्रम की अपने कोशबल और सैन्यशक्ति से बडी सहायता की। गगराज भू विक्रम की सहायता से विक्रम ने कडे सघर्ष के पश्चात् नरसिह वर्मन को बादामी से खदेड दिया। बादामी के राजसिहासन पर पुन अधिकार करते ही विक्रम ने विद्रोही सामन्तो और बादामी साम्राज्य को आघात पहुचाने वाले अपने भाइयो को युद्ध मे परास्त कर ई० सन् ६५४-६५५ मे बादामी मे चालुक्य राज्य की पुन प्रतिष्ठा की। इसने अपने भाई जयसिह को जिसने कि सकट की घडियो मे विक्रम का सदा साथ दिया था, दक्षिणी गुजरात का अपना प्रतिनिधि प्रशासक नियुक्त कर उसे पुरस्कृत किया।

उधर नरसिह वर्मन ने काची मे लौट कर अपने मित्र मानवर्मा की सहायता के लिये दो नौ सैनिक बेडे लका भेजे। नरसिह वर्मा द्वारा दी गई इस सैनिक सहायता से मानवर्मा ने अपने शत्रु राजा को युद्ध मे पराजित एव मार कर अनुराधापुर के राजसिहासन पर अधिकार कर लिया।

नरसिह वर्मन की नौ सेना बडी शक्तिशाली थी। काची के पल्लव राजवश मे इसे महान् निर्माता राजा माना गया है। नरसिह वर्मन की ई० सन् ६६८ के लगभग मृत्यु हो गई। इसके पश्चात् इसका पुत्र महेन्द्र वर्मन (द्वितीय) काची के सिंहासन पर बैठा। बादामी के चालुक्य विक्रमादित्य ने काची पर आक्रमण किया। इस युद्ध मे गगराज भूविक्रम भी इसके साथ था। गग भूविक्रम ने महेन्द्र वर्मन (द्वितीय) को इस युद्ध मे परास्त किया।

महेन्द्र वर्मन का काची पर स्वल्प काल तक ही शासन रहा। उसके पश्चात् उसका पुत्र परमेश्वर वर्मन काची के राजसिंहासन पर बैठा। इसके शासन काल मे भी बादामी के चालुक्यराज विक्रमादित्य ने आक्रमण किया। इस युद्ध मे भी गगराज भूविक्रम चालुक्यराज विक्रमादित्य प्रथम के साथ था। इस युद्ध मे भूविक्रम ने परमेश्वर वर्मन को पराजित कर उसे बन्दी बना लिया। परमेश्वर वर्मन ने अपने मुकुट का बहुमूल्य रत्न और उग्रोदय मणिजटित हार देकर कारागार से मुक्ति पायी। इस युद्ध मे परमेश्वर वर्मन की पराजय का एक और भी कारण था, वह यह कि पाण्ड्यराज अरिकेसरी वर्मन अपनी सेना के साथ विक्रमादित्य (प्रथम) से जा मिला।

परमेश्वर वर्मन ने इस पराजय के उपरान्त भी बडे साहस से काम लेकर पुन अपनी सेना को सुगठित किया। उसने विक्रमादित्य का ध्यान बटाने के लिए अपनी सेना के एक भाग को बादामी पर आक्रमण करने के लिए भेजा और स्वय एक शक्तिशाली सेना लेकर उडइयूर से उत्तर पश्चिम दिग्विभाग मे स्थित पेरुवल्लनल्लूर नामक स्थान पर चालुक्य सेनाओ के समक्ष आ डटा। उसकी यह रणनीति

पूर्णत सफल रही। घोर सघर्ष के पश्चात् चालुक्य सेना के पैर उखड गये और वह बादामी की रक्षा के लिये बादामी की ओर लौट पडा। परमेश्वर वर्मन की वह सेना जो बादामी पर आक्रमण करने जा रही थी, वह भी पराजित चालुक्य सेना को स्वदेश लौटते देख काची की ओर मुड गई। पृथक्-पृथक् टुकडियो मे बादामी की ओर लौटती हुई चालुक्य सेना के कई दलो को पल्लव सेना ने लूटा और वह लूट मे प्राप्त हुई विपुल सामग्री लिये काची लौट गई। परमेश्वर वर्मन ई सन् ६८० तक काची राज्य पर शासन करता रहा।

इस युद्ध के पश्चात् पल्लवो और चालुक्यो का सघर्ष शान्त हो गया। विक्रमादित्य के पश्चात् ई सन् ६८१ मे उसका पुत्र विनयादित्य बादामी के राज-सिहासन पर बैठा। इसने उत्तर भारत पर आक्रमण किया। इसके पुत्र विजयादित्य ने इस युद्ध मे विजय के साथ विपुल कीर्ति अर्जित की। विनयादित्य का शासनकाल ई सन् ६८१ से ६९६ तक रहा।

ई सन् ६९६ मे इसका पुत्र विजयादित्य बादामी के चालुक्य राजसिंहासन पर आसीन हुआ। इसने ई सन् ७३३ पर्यन्त ३७ वर्ष तक सुचारू रूप से शासन किया। इसका शासन काल राज्य और प्रजा—उभय पक्ष के लिए शान्ति और समृद्धि का सुखद काल रहा। इस ३७ वर्षो की अवधि मे मन्दिरो के निर्माण के अनेक कार्य हुए।

दूसरी ओर काची मे परमेश्वर वर्मन के पश्चात् ई सन् ६८० मे नरसिंह वर्मन् (द्वितीय) राज सिंह काची का राजा बना। यह बादामी के चालुक्य राज विनयादित्य और उनके पुत्र विजयादित्य का समकालीन था। इसने ४० वर्ष तक शासन किया। इसके शासनकाल मे भी चारो ओर शान्ति और समृद्धि का साम्राज्य रहा। इसके शासनकाल मे सामुद्रिक व्यापार मे उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई।

अभिनव साहित्य के साथ-साथ अतीव सुन्दर एव विशाल मन्दिरो के निर्माण हुए। इसने अपना राजदूत चीन सम्राट के दरवार मे भेजा।

जैन   पर दूसरा देशव्यापी संकट

यह पहले विस्तारपूर्वक बताया जा चुका है कि जैन सघ पर अथवा जैन धर्म पर पहला सकट पल्लवराज काचिपति महेन्द्रवर्मन प्रथम (ई सन् लगभग ६०० से ६३०) और मदुरा के शासक सुन्दरपाण्ड्य के शासन काल मे आया। जैन सघ पर आया हुआ वह पहला सकट केवल तमिल प्रान्त तक ही सीमित रहा।

जैन सघ पर जो दूसरा सकट कुमारिल्ल भट्ट और शकराचार्य की दिग्विजयो के माध्यम से लगभग ई सन् ७०० से प्रारम्भ हुआ वह सकट वस्तुत सुसगठित, सुनियोजित और देशव्यापी था।

शकराचार्य ने आर्यधरा के पूर्व छोर से पश्चिम और दक्षिण छोर से उत्तर दिशा के छोर तक दिग्विजय का अभियान चलाकर चारो दिशाओ मे चार शकराचार्य-पीठो की स्थापना कर इस उद्देश्य से सुदृढ व्यवस्था की कि इन चारो ही मठो अथवा शकरपीठो के अधिष्ठाता-अध्यक्ष अपने-अपने पीठ की निर्धारित परिधि मे निरन्तर परिभ्रमण करते रहकर शताब्दियो तक ही नही अपितु सुदीर्घतर काल तक उनके ब्रह्माद्वैत सज्ञक वैदिक धर्म का प्रचार करते रहे।

इससे इतर किसी भी मान्यता अथवा सिद्धान्त को चाहे वह बौद्ध, जैन, आदि वेदेतर मान्यताए हो चाहे नैयायिक, साख्य, मीमासक आदि द्वैताद्वैत सिद्धान्तो का प्रचार करने वाली वैदिक परम्परा का नाम धराने वाली मान्यताए हो, उन सभी मान्यताओ मे से किसी भी मान्यता को आर्यधरा पर न पनपने दे, यह उनके अद्वैत अथवा ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त का मूलमन्त्र था। उन्होने कहा —

"ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव, नापर।"

अर्थात्— केवल ब्रह्म ही सत्य है (१), यह दृश्यमान जगत् मिथ्या है (२), जीव कोई पृथक्सत्ताक नही (३) और जीव ब्रह्म से कदापि, कथमपि, किंचिदपि भिन्न नही है (४)।

"तत्त्वमसि"—ओ आत्मन्! हे जीव! तू वही है जो परब्रह्म है, तू ब्रह्म है।

शकराचार्य द्वारा आर्यधरा की चारो दिशाओ मे आज से लगभग ११००, १२०० वर्ष पूर्व स्थापित किये गये वे चारो मठ आज भी विद्यमान हैं एव शकराचार्य द्वारा निर्धारित लक्ष्य की पूर्ति के कार्य मे येन-केन-प्रकारेण गतिमान है।

वैदिक धर्म के प्रचार-प्रसार हेतु वैदिकेतर धर्मों के विरुद्ध अभियान शकर से वय मे लगभग ८० वर्ष बडे कुमारिल्ल भट्ट ने ईसा की सातवी शताब्दी के अन्तिम, दशक अथवा आठवी शताब्दी के प्रथम चरण मे प्रारम्भ किया।

कुमारिल्ल भट्ट द्वारा की गयी दिग्विजय के कोई विशेष उल्लेख वर्तमान मे उपलब्ध नही हैं किन्तु जो भी उल्लेख मिलते हैं, उनसे स्पष्टत यही प्रकट होता है कि कुमारिल्ल के समय मे भारत के विभिन्न प्रान्तो मे, विशेषत दक्षिण के कर्णाटक आदि प्रान्तो मे जैनधर्म का वर्चस्व था और वहा जैनधर्मावलम्बियो की सख्या बहुत बडी थी। वहा जैनधर्म राजमान्य, बहुजन सम्मत और लोकप्रिय धर्म था। अपने द्वैताद्वैत (वेदो के अद्वैत और औपनिषदिक द्वैत) सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार मे अनेक क्षेत्रो मे बहुजन सम्मत और लोकप्रिय जैनधर्म व बौद्धधर्म को मुख्यत बाधक समझकर अपने समय के अप्रतिम मीमासकाचार्य कुमारिल्ल भट्ट ने जैनो और बौद्धो के वर्चस्व को समाप्त करने का निश्चय किया।

वैदिक धर्म के पुनरुत्थान और उसकी पुन प्रतिष्ठा के दृढ सकल्प के साथ मीमासक आचार्य सभी वैदिकेतर विद्वानो पर विजय प्राप्त करने की अभिलाषा लिए दिग्विजय के लिए प्रस्थित हुए। शबर स्वामी के मीमासा भाष्य पर विद्वत्तापूर्ण विशाल वार्तिक की रचना कर भारत के मूर्द्धन्य कहे जाने वाले विद्वन्मण्डल के हृदय पर कुमारिल्ल ने अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य की अमिट छाप पहले से ही अकित कर रखी थी। उन्होने सर्वप्रथम उत्तरी भारत के वैदिकेतर विद्वानो को शास्त्रार्थ मे पराजित कर विपुल ख्याति प्राप्त की।

तदनन्तर वे दिग्विजय हेतु दक्षिणापथ की ओर बढे। शकर दिग्विजय मे कुमारिल्ल का उल्लेख है कि स्थान-स्थान पर वैदिक धर्म का प्रचार-प्रसार करते हुए भट्ट कुमारिल्ल कर्णाटक प्रदेश के उज्जैनी नामक नगर मे पहुचे। उस समय कर्णाटक मे सुधन्वा नामक महाराजा राज्य करता था। राजा सुधन्वा बडा ही न्यायपरायण राजा था। उसकी राजधानी उज्जैनी मे थी।[1] शकर दिग्विजय के उल्लेखानुसार वह राजा सुधन्वा अन्तर्मन से तो वेदो पर आस्था रखने वाला था किन्तु जैनियो के पजे मे पड कर वह जैन धर्म मे आस्था रखने लगा था। "जिस समय कुमारिल्ल भट्ट दिग्विजय करते हुए कर्णाटक मे आये उस समय कर्णाटक मे बौद्ध धर्म और जैन धर्म का बडा बोलबाला था। ज्ञान का भण्डार वेद कूडे कर्कट के समान फैंका जाने लगा था और वेदो के रक्षक ब्राह्मणो की निन्दा होने लगी थी।"[2]

---

[1] न तो कर्णाटक से उपलब्ध हुए शिलालेखो मे और न ही किसी जैन वाग्मय मे अद्यावधि कर्णाटक के उज्जयिनी नामक नगर का उल्लेख है और राजा सुधन्वा का नाम भी कही दृष्टिगोचर नही हुआ है। —सम्पादक

[2] "श्री शकर"—श्री बलदेव उपाध्याय, एम ए साहित्याचार्य, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, प्रथम सस्करण, १९५०, पृष्ठ ६१।

कर्णाटक के राजा सुधन्वा की तो जैनधर्म के प्रति श्रद्धा थी किन्तु उसकी रानी वैदिक धर्म के प्रति प्रगाढ आस्था वाली वैदिक धर्मानुयायिनी थी। वैदिक धर्म की अपने राज्य मे इस प्रकार की अवनत दशा देखकर वह वडी खिन्न और चिन्ता-मग्न रहती थी। एक दिन वह राजप्रासाद के अन्त पुर मे एक गवाक्ष मे बैठी हुई वैदिक धर्म की ह्रासोन्मुख स्थिति पर चिन्तन कर रही थी। वह परम विदुषी थी। उसके पीडित अन्त करण से सहसा इस प्रकार के उद्गार उद्गत हो उठे :—

"कि करोमि क्व गच्छामि, को वेदानुद्धरिष्यति ?"

अर्थात्—ओह ! अब मै क्या करू और कहा जाऊ, इन वेदो का उद्धार कौन करेगा ?

राजप्रासाद के गवाक्ष के पार्श्वस्थ पथ से सयोगवशात् जाते हुए कुमारिल्ल भट्ट के कर्णरन्ध्रो मे रानी के ये शोकपूर्ण उद्गार गू ज उठे। उन्होने महारानी को आश्वस्त करने के उद्देश्य से उच्च स्वर मे, उसके प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा .—

"मा विषीद वरारोहे ! भट्टाचार्योऽस्मि भूतले।"

अर्थात्—हे राजराजेश्वरी ! आप चिन्ता न करे, अभी तक तो इस धरित्री पर मैं भट्टाचार्य विद्यमान हू। यह कह कर वे राजसभा मे गये।

श्री बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ "श्री शकराचार्य" मे आगे लिखा है— "राजा सुधन्वा स्वय तो परम आस्तिक थे परन्तु जिस कर्णाटक देश के वे अधिपति थे, वहा जैन धर्म का चिरकाल से बोलबाला था। इनके दरबार मे भी जैनियो की प्रभुता बनी हुई थी। कुमारिल्ल ने इस विषम परिस्थिति को देखा कि राजा तो स्वय वेद धर्म मे आस्था रखने वाला है परन्तु उसका दरबार वेदविरोधियो का गढ बना हुआ है। इसी को लक्ष्य कर कुमारिल्ल ने कहा —

"मलिनैश्चेन्न सगस्ते, नीचै काककुलै पिक !
श्रुतिदूषकनिर्ह्रादै श्लाघनीयस्तदा भवे ॥६५॥"[1]

अर्थात्—हे राजन् ! तुम वस्तुत कोकिल हो। यदि मलिन, काले, नीच, वेदो और कर्णरन्ध्रो को दूषित करने वाले इन कौओ से तुम्हारा ससर्ग नही होता तो निस्सदेह तुम प्रशसा के पात्र होते।

जैनो ने कुमारिल्ल भट्ट के इस कथन को सीधा अपने ऊपर ही कटुतर कटाक्ष अनुभव किया और वे बडे रुष्ट हुए। राजा सुधन्वा तो मन ही मन इस

---

[1] शकरदिग्विजय, नवकालिदास की उपाधि से भूषित माधव द्वारा रचित सर्ग १, श्लोक स ६५।

अवसर की टोह मे था कि जैन विद्वानो और वैदिक विद्वानो की परीक्षा ली जाय। उसने जैनो को आश्वस्त करते हुए कहा, "कल इन नवागन्तुक विद्वान् की और आप लोगो की परीक्षा ली जायगी। परीक्षा के अनन्तर ही इस पर आगे विचार किया जायगा।"

दूसरे दिन राजा ने गुप्त रूप से एक विषैले सर्प को घडे मे बन्द करवाकर उस घडे को एक ओर रख दिया। जब दोनो पक्ष राजसभा मे उपस्थित हुए तो राजा सुधन्वा ने घडा मगवा कर उनके समक्ष रखवाते हुए जैनो से और कुमारिल्ल भट्ट से प्रश्न किया कि उस घडे मे क्या है।

जैनो ने इसके लिए समय मागते हुए राजा से निवेदन किया—"राजन्! हम इस प्रश्न का उत्तर कल देगे।" इसके विपरीत कुमारिल्ल ने उसी समय राजा के प्रश्न का उत्तर एक पत्र मे लिखा और उसे दूसरे पत्र मे लपेट कर तथा सील लगाकर राजा को समर्पित कर दिया।

तदनन्तर दोनो पक्ष अपने-अपने स्थान को लौट गये। जैनो ने रात भर अपने आराध्य देव की आराधना की और प्रात काल राजसभा मे उपस्थित हो राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"राजन्! इस घट मे सर्प है।"

राजा ने तत्काल कुमारिल्ल भट्ट द्वारा लिखे गये पत्र को खोलकर पढा तो राजा के आश्चर्य का यह देख कर पारावार न रहा कि उसमे भी वही उत्तर लिखा हुआ था।

दोनो पक्षो के समान उत्तर होने के कारण निर्णय हेतु राजा ने दूसरा प्रश्न किया—"आप लोग बताइये कि क्या इस सर्प के किसी अग विशेष पर कोई चिह्न है कि नही?"

जैनो ने इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये भी एक दिन की अवधि का समय मागा। किन्तु कुमारिल्ल भट्ट ने तत्काल ही राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"राजन्! इस सर्प के सिर पर पैर के दो चिह्न बने हुए है।"

घडे को खुलवाकर देखा गया तो कुमारिल्ल भट्ट का उत्तर अक्षरश सत्य सिद्ध हुआ, वास्तव मे उस सर्प के सिर पर दो पैरो के निशान थे। जैन लोग ऐसे हतप्रभ हुए कि उन्होने कुमारिल्ल भट्ट के साथ शास्त्रार्थ करने का साहस ही नही किया राजा ने वेदबाह्य जैनो को राजसभा से निकाल कर बाहर किया और अपने राजवश मे वैदिक धर्म की पुन प्रतिष्ठा की। इस घटना के पश्चात् तो किसी भी दर्शन के किसी भी विद्वान् ने कुमारिल्ल भट्ट के साथ शास्त्रार्थ करने का साहस नही किया और इस प्रकार कुमारिल्ल की विजयपताका सर्वत्र फहराने लगी।[1]

[1] श्री बलदेव उपाध्याय के "श्री शकराचार्य"—ग्रन्थ के पृष्ठ ६१ एव ६२ के आधार पर।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है राजा सुधन्वा का और कर्णाटक मे उसकी राजधानी उज्जैनी नगरी का जैन वाग्मय मे अथवा कर्णाटक के शिलालेखो मे कही कोई उल्लेख नही है । इतना सब कुछ होते हुए भी इस राजा सुधन्वा को केवल काल्पनिक पुरुष नहीं माना जा सकता क्योकि स्वय शकराचार्य ने इस राजा सुधन्वा के सम्बन्ध मे अनेक बार उल्लेख किया है । शकर दिग्विजय मे भी स्पष्ट उल्लेख है कि राजा सुधन्वा अपने सैनिको के साथ शकराचार्य की दिग्विजय यात्रा मे प्रारम्भ से लेकर अन्त तक साथ रहा ।

शकराचार्य के शिष्य माधव ने तो यहा तक उल्लेख किया है कि जव शकराचार्य के साथ दिग्विजय करते हुए वे लोग कर्णाटक मे पहुचे तो वहा के कापालिको की सशस्त्र सेना के नायक क्रकच्च ने अपने सैनिको के साथ शकराचार्य के शिष्यो पर आक्रमण किया । माधव लिखते है कि यदि राजा सुधन्वा अपने अस्त्र-शस्त्रो से उन्हे मार नही भगाते तो क्रकच्च और उसकी सेना शकर के सभी शिष्यो को मौत के घाट उतार देते । राजा सुधन्वा ने बडी वीरता के साथ भैरव की सेना को अपने तीरो के तीखे प्रहारो से यमधाम भेज दिया और इस प्रकार राजा सुधन्वा ने शकर के शिष्यो की प्राणरक्षा की । क्रकच्च इस पराजय से बडा क्षुब्ध हुआ । उसने स्वय भगवान् भैरव का अपनी सहायता के लिये आह्वान किया । माधव आगे लिखते है कि भैरव ने प्रकट होते ही अपने परम भक्त क्रकच्च को फटकारते हुए कहा —"तुझे पता नही है कि ये भगवान् शकर के ही अवतार है ।"[१] शकर की दिग्विजय यात्रा के विवरण मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि इस दिग्विजय यात्रा मे उनके भक्त शिष्यो की एक विशाल मण्डली के साथ-साथ वैदिक धर्म का परम हितैषी राजा सुधन्वा भी शकराचार्य के शिष्य मडल की आकस्मिक आपत्तियो से रक्षा करने के लिये शकराचार्य की शिष्य मण्डली के प्रारम्भ से अन्त तक साथ रहा ।

स्वय शकराचार्य ने महाराजा सुधन्वा का निम्नलिखित रूप मे अपने महान् शासन मे उल्लेख किया है —

> सुधन्वन समौत्सुक्यनिवृत्यै धर्म्महेतवे ।
> देवराजोपचाराश्च यथावदनुपालयेत् ।।१५।।
> सुधन्वा हि महाराजस्तदन्ये च नरेश्वरा ।
> धर्म्मपारम्परीमेता पालयन्तु निरन्तरम् ।।१७।।[२]

स्वय शकराचार्य तथा उनके शिष्यो द्वारा किये गये उपर्यु
यही फलित होता है कि कर्णाटक मे सुधन्वा नाम का राजा था
भट्ट ने जैन से वैदिक परम्परा का अनुयायी बनाया ।

---

[१] श्री शकराचार्य पृष्ठ सख्या १०५, १०८

[२] वही महानुशासनम्, पृष्ठ २०६, २१०

अवसर की टोह मे था कि जैन विद्वानो और वैदिक विद्वानो की परीक्षा ली जाय। उसने जैनो को आश्वस्त करते हुए कहा, "कल इन नवागन्तुक विद्वान् की और आप लोगो की परीक्षा ली जायगी। परीक्षा के अनन्तर ही इस पर आगे विचार किया जायगा।"

दूसरे दिन राजा ने गुप्त रूप से एक विषैले सर्प को घडे मे बन्द करवाकर उस घडे को एक ओर रख दिया। जब दोनो पक्ष राजसभा मे उपस्थित हुए तो राजा सुधन्वा ने घडा मगवा कर उनके समक्ष रखवाते हुए जैनो से और कुमारिल्ल भट्ट से प्रश्न किया कि उस घडे मे क्या है।

जैनो ने इसके लिए समय मागते हुए राजा से निवेदन किया—"राजन् ! हम इस प्रश्न का उत्तर कल देंगे।" इसके विपरीत कुमारिल्ल ने उसी समय राजा के प्रश्न का उत्तर एक पत्र मे लिखा और उसे दूसरे पत्र मे लपेट कर तथा सील लगाकर राजा को समर्पित कर दिया।

तदनन्तर दोनो पक्ष अपने-अपने स्थान को लौट गये। जैनो ने रात भर अपने आराध्य देव की आराधना की और प्रात काल राजसभा मे उपस्थित हो राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"राजन् ! इस घट मे सर्प है।"

राजा ने तत्काल कुमारिल्ल भट्ट द्वारा लिखे गये पत्र को खोलकर पढा तो राजा के आश्चर्य का यह देख कर पारावार न रहा कि उसमे भी वही उत्तर लिखा हुआ था।

दोनो पक्षो के समान उत्तर होने के कारण निर्णय हेतु राजा ने दूसरा प्रश्न किया—"आप लोग बताइये कि क्या इस सर्प के किसी अग विशेष पर कोई चिह्न है कि नही ?"

जैनो ने इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये भी एक दिन की अवधि का समय मागा। किन्तु कुमारिल्ल भट्ट ने तत्काल ही राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"राजन् ! इस सर्प के सिर पर पैर के दो चिह्न बने हुए है।'

घडे को खुलवाकर देखा गया तो कुमारिल्ल भट्ट का उत्तर अक्षरश. सत्य सिद्ध हुआ, वास्तव मे उस सर्प के सिर पर दो पैरो के निशान थे। जैन लोग ऐसे हतप्रभ हुए कि उन्होंने कुमारिल्ल भट्ट के साथ शास्त्रार्थ करने का साहस ही नहीं किया राजा ने वेदबाह्य जैनो को राजसभा से निकाल कर बाहर किया और अपने राजवंश मे वैदिक धर्म की पुन. प्रतिष्ठा की। इस घटना के पश्चात् तो किसी भी दर्शन के किसी भी विद्वान् ने कुमारिल्ल भट्ट के साथ शास्त्रार्थ करने का साहस नहीं किया और इस प्रकार कुमारिल्ल की विजयपताका सर्वत्र फहराने लगी।[1]

---

[1] श्री बलदेव उपाध्याय के "श्री शंकराचार्य"—ग्रन्थ के पृष्ठ ३१ एवं ३२ के आधार पर।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है राजा सुधन्वा का और कर्णाटक मे उसकी राजधानी उज्जैनी नगरी का जैन वाग्मय मे अथवा कर्णाटक के शिलालेखो मे कही कोई उल्लेख नही है। इतना सब कुछ होते हुए भी इस राजा सुधन्वा को केवल काल्पनिक पुरुष नही माना जा सकता क्योकि स्वय शकराचार्य ने इस राजा सुधन्वा के सम्बन्ध मे अनेक बार उल्लेख किया है। शकर दिग्विजय मे भी स्पष्ट उल्लेख है कि राजा सुधन्वा अपने सैनिको के साथ शकराचार्य की दिग्विजय यात्रा मे प्रारम्भ से लेकर अन्त तक साथ रहा।

शकराचार्य के शिष्य माधव ने तो यहा तक उल्लेख किया है कि जब शकराचार्य के साथ दिग्विजय करते हुए वे लोग कर्णाटक मे पहुचे तो वहा के कापालिको की सशस्त्र सेना के नायक क्रकच्च ने अपने सैनिको के साथ शकराचार्य के शिष्यो पर आक्रमण किया। माधव लिखते है कि यदि राजा सुधन्वा अपने अस्त्र-शस्त्रो मे उन्हे मार नही भगाते तो क्रकच्च और उसकी सेना शकर के सभी शिष्यो को मौत के घाट उतार देते। राजा सुधन्वा ने बडी वीरता के साथ भैरव की सेना को अपने तीरो के तीखे प्रहारो से यमधाम भेज दिया और इस प्रकार राजा सुधन्वा ने शकर के शिष्यो की प्राणरक्षा की। क्रकच्च इस पराजय से बडा क्षुब्ध हुआ। उसने स्वय भगवान् भैरव का अपनी सहायता के लिये आह्वान किया। माधव आगे लिखते है कि भैरव ने प्रकट होते ही अपने परम भक्त क्रकच्च को फटकारते हुए कहा—"तुझे पता नही है कि ये भगवान् शकर के ही अवतार है।"[1] शकर की दिग्विजय यात्रा के विवरण मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि इस दिग्विजय यात्रा मे उनके भक्त शिष्यो की एक विशाल मण्डली के साथ-साथ वैदिक धर्म का परम हितैषी राजा सुधन्वा भी शकराचार्य के शिष्य मडल की आकस्मिक आपत्तियो से रक्षा करने के लिये शकराचार्य की शिष्य मण्डली के प्रारम्भ से अन्त तक साथ रहा।

स्वय शकराचार्य ने महाराजा सुधन्वा का निम्नलिखित रूप मे अपने महान् शासन मे उल्लेख किया है —

> सुधन्वन समौत्सुक्यनिवृत्यै धर्म्महेतवे।
> देवराजोपचाराश्च यथावदनुपालयेत् ॥१५॥
> सुधन्वा हि महाराजस्तदन्ये च नरेश्वरा।
> धर्म्मपारम्परीमेता पालयन्तु निरन्तरम् ॥१७॥[2]

स्वय शकराचार्य तथा उनके शिष्यो द्वारा किये गये उपर्युक्त उल्लेखो से यही फलित होता है कि कर्णाटक मे सुधन्वा नाम का राजा था जिसे कुमारिल्ल भट्ट ने जैन से वैदिक परम्परा का अनुयायी बनाया।

---

[1] श्री शकराचार्य पृष्ठ सख्या १०५, १०८
[2] वही महानुशासनम्, पृष्ठ २०६, २१०

अवसर की टोह मे था कि जैन विद्वानो और वैदिक विद्वानो की परीक्षा ली जाय। उसने जैनो को आश्वस्त करते हुए कहा, "कल इन नवागन्तुक विद्वान् की और आप लोगो की परीक्षा ली जायगी। परीक्षा के अनन्तर ही इस पर आगे विचार किया जायगा।"

दूसरे दिन राजा ने गुप्त रूप से एक विषैले सर्प को घडे मे बन्द करवाकर उस घडे को एक ओर रख दिया। जब दोनो पक्ष राजसभा मे उपस्थित हुए तो राजा सुधन्वा ने घडा मगवा कर उनके समक्ष रखवाते हुए जैनो से और कुमारिल्ल भट्ट से प्रश्न किया कि उस घडे मे क्या है।

जैनो ने इसके लिए समय मागते हुए राजा से निवेदन किया—"राजन् ! हम इस प्रश्न का उत्तर कल देगे।" इसके विपरीत कुमारिल्ल ने उसी समय राजा के प्रश्न का उत्तर एक पत्र मे लिखा और उसे दूसरे पत्र मे लपेट कर तथा सील लगाकर राजा को समर्पित कर दिया।

तदनन्तर दोनो पक्ष अपने-अपने स्थान को लौट गये। जैनो ने रात भर अपने आराध्य देव की आराधना की और प्रात काल राजसभा मे उपस्थित हो राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"राजन् ! इस घट मे सर्प है।"

राजा ने तत्काल कुमारिल्ल भट्ट द्वारा लिखे गये पत्र को खोलकर पढा तो राजा के आश्चर्य का यह देख कर पारावार न रहा कि उसमे भी वही उत्तर लिखा हुआ था।

दोनो पक्षो के समान उत्तर होने के कारण निर्णय हेतु राजा ने दूसरा प्रश्न किया—"आप लोग बताइये कि क्या इस सर्प के किसी अग विशेष पर कोई चिह्न है कि नही ?"

जैनो ने इस प्रश्न का उत्तर देने के लिये भी एक दिन की अवधि का समय मागा। किन्तु कुमारिल्ल भट्ट ने तत्काल ही राजा के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"राजन् ! इस सर्प के सिर पर पैर के दो चिह्न बने हुए है।"

घडे को खुलवाकर देखा गया तो कुमारिल्ल भट्ट का उत्तर अक्षरश सत्य सिद्ध हुआ, वास्तव मे उस सर्प के सिर पर दो पैरो के निशान थे। जैन लोग ऐसे हतप्रभ हुए कि उन्होने कुमारिल्ल भट्ट के साथ शास्त्रार्थ करने का साहस ही नही किया राजा ने वेदबाह्य जैनो को राजसभा से निकाल कर बाहर किया और अपने राजवश मे वैदिक धर्म की पुन प्रतिष्ठा की। इस घटना के पश्चात् तो किसी भी दर्शन के किसी भी विद्वान् ने कुमारिल्ल भट्ट के साथ शास्त्रार्थ करने का साहस नही किया और इस प्रकार कुमारिल्ल की विजयपताका सर्वत्र फहराने लगी।[1]

---

[1] श्री बलदेव उपाध्याय के "श्री शकराचार्य"—ग्रन्थ के पृष्ठ ६१ एव ६२ के आधार पर।

जैसा कि पहले बताया जा चुका है राजा सुधन्वा का और कर्णाटक मे उसकी राजधानी उज्जैनी नगरी का जैन वाग्मय मे अथवा कर्णाटक के शिलालेखो मे कही कोई उल्लेख नही है। इतना सब कुछ होते हुए भी इस राजा सुधन्वा को केवल काल्पनिक पुरुष नही माना जा सकता क्योकि स्वय शकराचार्य ने इस राजा सुधन्वा के सम्बन्ध मे अनेक बार उल्लेख किया है। शकर दिग्विजय मे भी स्पष्ट उल्लेख है कि राजा सुधन्वा अपने सैनिको के साथ शकराचार्य की दिग्विजय यात्रा मे प्रारम्भ से लेकर अन्त तक साथ रहा।

शकराचार्य के शिष्य माधव ने तो यहा तक उल्लेख किया है कि जब शकराचार्य के साथ दिग्विजय करते हुए वे लोग कर्णाटक मे पहुचे तो वहा के कापालिको की सशस्त्र सेना के नायक ऋकच्च ने अपने सैनिको के साथ शकराचार्य के शिष्यो पर आक्रमण किया। माधव लिखते है कि यदि राजा सुधन्वा अपने अस्त्र-शस्त्रो मे उन्हे मार नही भगाते तो ऋकच्च और उसकी सेना शकर के सभी शिष्यो को मौत के घाट उतार देते। राजा सुधन्वा ने बडी वीरता के साथ भैरव की सेना को अपने तीरो के तीखे प्रहारो से यमधाम भेज दिया और इस प्रकार राजा सुधन्वा ने शकर के शिष्यो की प्राणरक्षा की। ऋकच्च इस पराजय से बडा क्षुब्ध हुआ। उसने स्वय भगवान् भैरव का अपनी सहायता के लिये आह्वान किया। माधव आगे लिखते है कि भैरव ने प्रकट होते ही अपने परम भक्त ऋकच्च को फटकारते हुए कहा —"तुझे पता नही है कि ये भगवान् शकर के ही अवतार है।"[१] शकर की दिग्विजय यात्रा के विवरण मे यह स्पष्ट उल्लेख है कि इस दिग्विजय यात्रा मे उनके भक्त शिष्यो की एक विशाल मण्डली के साथ-साथ वैदिक धर्म का परम हितैषी राजा सुधन्वा भी शकराचार्य के शिष्य मडल की आकस्मिक आपत्तियो से रक्षा करने के लिये शकराचार्य की शिष्य मण्डली के प्रारम्भ से अन्त तक साथ रहा।

स्वय शकराचार्य ने महाराजा सुधन्वा का निम्नलिखित रूप मे अपने महान् शासन मे उल्लेख किया है —

> सुधन्वन समौत्सुक्यनिवृत्यै धर्म्महेतवे।
> देवराजोपचाराश्च यथावदनुपालयेत् ॥१५॥
> सुधन्वा हि महाराजस्तदन्ये च नरेश्वरा।
> धर्म्मपारम्परीमेता पालयन्तु निरन्तरम् ॥१७॥[२]

स्वय शकराचार्य तथा उनके शिष्यो द्वारा किये गये उपर्युक्त उल्लेखो से यही फलित होता है कि कर्णाटक मे सुधन्वा नाम का राजा था जिसे कुमारिल्ल भट्ट ने जैन से वैदिक परम्परा का अनुयायी बनाया।

---

[१] श्री शकराचार्य पृष्ठ सख्या १०५, १०८

[२] वही महानुशासनम्, पृष्ठ २०६, २१०

सुधन्वा की राज सभा मे घटित हुई उपरोक्त घटना से जैन सघ को कोई बहुत बडा आघात पहुँचा हो, अथवा इसका जैन धर्म के प्रचार-प्रसार के प्रतिकूल प्रभाव पडा हो, ऐसी बात नही है क्योकि कुमारिल्ल भट्ट के समकालीन और उत्तर-वर्त्ती काल मे कर्णाटक प्रदेश जैन धर्म का, जैन धर्म के दिगम्बर, यापनीय, श्वेताम्बर, कूर्चक आदि सघो का एक सुदृढ गढ रहा। इस बात की साक्षी उस काल के शिला-लेख, मठ, मन्दिर, निसद्याए और श्रमण-श्रमणियो के विहार आदि स्पष्ट रूप से दे रहे हैं। यही नही, अपितु जैन धर्म को कर्णाटक के राजाओ का भी पूर्ण-रूपेण प्रश्रय और आश्रय उस काल मे बराबर प्राप्त रहा।

राजवशो द्वारा कुमारिल्ल के उत्तरवर्त्ती काल मे भी जैन धर्म के प्रचार एव प्रसार के लिये जो सेवाएँ की गई उनकी साक्षी भी सैकडो शिलालेखो मे आज भी हमे देखने और पढने को मिलती है। इन सब तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर यही प्रकट होता है कि कुमारिल्ल भट्ट की दिग्विजय यात्रा का सम्भवत किसी क्षेत्र विशेष मे अल्पकालिक ही प्रभाव हुआ होगा। एकातद रमैया, बसवा (विश्वेश्वर) और चैन्न बसवा के समय के शैव तथा लिगायत साहित्य के उल्लेखो से यह स्पष्टत सिद्ध होता है कि लिगायत सम्प्रदाय और रामानुज सम्प्रदाय के अभ्युदय से पूर्व जैन धर्म कर्णाटक प्रदेश का बहुजन सम्मत और लोकप्रिय धर्म था। इसके अनुयायियो की सख्या भी अपेक्षाकृत सर्वाधिक थी।

इतिहासज्ञो का यह अभिमत है कि जैनधर्म के प्रचार-प्रसार और उसकी अभिवृद्धि को रोकने मे कुमारिल्ल भट्ट का बहुत बडा हाथ रहा। इसलिये यहा कुमारिल्ल भट्ट का सक्षेप मे परिचय दिया जाना सगत है।

कुमारिल्ल भट्ट की जन्मभूमि के सम्बन्ध मे विद्वानो मे बडा मत वैभिन्य है। तिब्बत के यशस्वी इतिहासवेत्ता तारानाथ ने कुमारिल्ल भट्ट को दक्षिण भारत के चूडामणि राज्यान्तर्गत त्रिमलय नामक स्थान का निवासी बताया है। इसके विपरीत आनन्द गिरी ने शकर दिग्विजय मे इन्हे उद्‌गदेश (उत्तर भारत) निवासी बताते हुए लिखा है कि इन्होने उद्‌गदेश से आकर दुष्ट मतावलम्बी जैनो तथा बौद्धो को परास्त किया। उनका वह उल्लेख इस प्रकार है —

"भट्टाचार्यो द्विजवर कश्चित्, उद्‌ग देशात् समागत्य दुष्ट
मतावलबिनो बौद्धान् जैनान् असख्यातान् निर्जित्य निर्भयो वर्तते।"

(शकर विजय, पृष्ठ १८०)

उद्‌गदेश प्राय पजाब और काश्मीर को ही समझा जाता है इस पर से यह ध्वनि निकलती है कि कुमारिल्ल भट्ट उत्तर भारत के निवासी थे।

कुमारिल्ल भट्ट से तीन सौ ढाई सौ वर्ष पश्चात् हुए मीमासक सालिकनाथ ने कुमारिल्ल भट्ट का नामोल्लेख 'वार्त्तिक कार मिश्र' के रूप मे किया है। मिश्र शब्द प्राय उत्तर भारत के ब्राह्मणो से ही सम्बन्धित है।

मैथिल प्रात मे यह पारम्परिक जनश्रुति प्रसिद्ध है कि कुमारिल्ल भट्ट मैथिल ब्राह्मण थे। इनके जीवन का कही विशेष परिचय उपलब्ध नही होता। तिब्बत के विद्वान् तारानाथ के उल्लेखानुसार कुमारिल्ल भट्ट बडे ही समृद्ध एव सम्पन्न गृहस्थ थे। इसके पास धान के अनेक खेत थे। इनके घर मे पाच सौ दास तथा पाच सौ दासिया थी।

तारानाथ ने विख्यात बौद्धाचार्य धर्मकीर्त्ति के साथ कुमारिल्ल भट्ट के शास्त्रार्थ का और शास्त्रार्थ मे धर्मकीर्त्ति से हार जाने पर बौद्धधर्म स्वीकार कर लेने की घटना का विस्तार के साथ उल्लेख करते हुए लिखा है कि धर्मकीर्त्ति ने नालन्दा विश्वविद्यालय मे वहा के पीठस्थविर बौद्धाचार्य धर्मपाल के साथ बौद्ध-शास्त्रो का और बौद्धन्याय का गहन अध्ययन किया। बौद्धदर्शन मे निष्णातता प्राप्त करने के पश्चात् इनके अन्तर्मन मे उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई कि वे वैदिक दर्शन के गूढ रहस्यो का भी अध्ययन करे।

उस समय कुमारिल्ल भट्ट वैदिक दर्शन के अप्रतिम विद्वान् गिने जाते थे। उनके पास वैदिक दर्शन का अध्ययन करने का उन्होने निश्चय किया। किन्तु एक वैदिक दर्शन का विद्वान् किसी बौद्ध विद्यार्थी को वैदिक दर्शन का ज्ञान कैसे दे सकता है ? यह विचार कर वह एक परिचारक के छद्म वेष मे कुमारिल्ल के घर मे रहने लगे। वहा उन्होने बडी लगन और तत्परता के साथ गृहकार्य करते हुए गृह-स्वामिनी की कृपा प्राप्त कर ली। कुमारिल्ल भट्ट भी इनकी सेवाओ से बडे प्रसन्न हुए। उन्होने अपनी धर्मपत्नी के आग्रह पर वेदपाठी दूसरे विद्यार्थियो के साथ वैदिक दर्शन शास्त्र का पाठ सुनने की उन्हे अनुमति दे दी। कुशाग्र बुद्धि धर्मकीर्त्ति ने स्वल्प काल मे ही वैदिक दर्शन के गूढ रहस्यो को हृदयगम कर लिया और वे वैदिक दर्शन के पारदृश्वा विद्वान् बन गये।

अपनी आकाक्षा के पूर्ण हो जाने पर धर्म कीर्ति ने अपना वास्तविक परिचय देते हुए वैदिक विद्वानो को शास्त्रार्थ के लिये चुनौती दी। धर्मकीर्ति ने कणाद् गुप्त नामक एक वैशेषिक आचार्य को और वैदिक दर्शन के कतिपय उच्चकोटि के विद्वानो को शास्त्रार्थ मे पराजित किया। अन्ततोगत्वा उसने कुमारिल्ल भट्ट को भी शास्त्रार्थ के लिये आमन्त्रित किया। गुरु शिष्य दोनो के बीच बहुत दिनो तक वह शास्त्रार्थ चलता रहा और अन्त मे कुमारिल्ल भट्ट ने धर्मकीर्त्ति के समक्ष अपनी पराजय स्वीकार करते हुए अपने पाच सौ शिष्यो के साथ बौद्धधर्म स्वीकार कर लिया।[1]

यह सब कुछ तारानाथ ने तिब्बतीय जनश्रुति के आधार पर उल्लेख किया है। इसके विपरीत कुमारिल्ल भट्ट ने शकराचार्य के समक्ष स्पष्ट रूप से कहा था

[1] शकर दिग्विजय, (माधव कृत) सर्ग ७, श्लोक सख्या ९४ से ९९

"अवादिष वेदविघातदक्षे तान्नाशक जेतुमबुध्यमान ।
तदीयसिद्धान्तरहस्यवार्धीन्, निषेध्यबोद्धाद्धि निषेध्यबाध ।।"
(माधव-लिखित शकरदिग्विजय ७।९३)

अर्थात्—किसी भी दर्शन का अथवा शास्त्र का तब तक समीचीन रूप से खण्डन नही किया जा सकता जब तक कि उसके गूढ रहस्यो का पूर्ण रूपेण ज्ञान नही कर लिया जाता । मुझे बौद्ध दर्शन की धज्जिया उडानी थी अत नम्र होकर मैं बौद्धो के विश्वविद्यालय मे उनके सिद्धान्तो का अध्ययन करने के लिये गया । नालन्दा मे उन्होने सम्भवत धर्मपाल नामक बौद्धाचार्य के पास, जो कि उस समय नालन्दा विश्वविद्यालय के अध्यक्ष थे, बौद्ध दर्शन का अध्ययन प्रारम्भ किया ।

बौद्ध दर्शन मे निष्णातता प्राप्त कर चुकने के पश्चात् की घटना का उल्लेख करते हुए कुमारिल्ल भट्ट ने शकराचार्य से कहा था कि एक दिन धर्मपाल बौद्ध धर्म की व्याख्या अपने शिष्यो के समक्ष कर रहे थे । उस समय उन्होने प्रसग आने पर वेदो की निन्दा करना प्रारम्भ कर दिया । वेदो की निन्दा सुनकर मेरी आखो से अश्रुओ की अविरल धारा बहने लगी । मेरे पास बैठे हुए मेरे सहपाठियो ने धर्मपाल का ध्यान मेरी ओर आकृष्ट किया । धर्मपाल द्वारा इसका कारण पूछे जाने पर मैंने स्पष्ट रूप से उन्हे कहा कि आप वेदो के गूढ रहस्यो को नही समझ पाये है इसलिये अपनी इच्छानुसार वेदो की निन्दा कर रहे हैं ।

मेरा इतना कहना था कि बौद्ध विद्यार्थियो ने मुझे वैदिक ब्राह्मण समझ कर बौद्ध विहार के उच्चतम शिखर से पृथ्वी पर धकेल दिया । सब ओर से अपने आपको असहाय पाकर मैंने वेदो की शरण ली और उच्च स्वर मे कहा

पतन् पतन् सौधतलान्वरोरुह, यदि प्रमाण श्रुतयो भवन्ति ।
जीवेयमस्मिन् पतितो समस्थले, यदि
मज्जीवने तत् श्रुतिमानता गति ।।
(शकर दिग्विजय ७।९८)

सशयात्मक 'यदि' शब्द के प्रयोग कर देने के परिणामस्वरूप मेरी केवल एक आख ही फूटी और मै पूर्ण-रूपेण अक्षत अवस्था मे धरातल पर इस प्रकार उतरा मानो पुष्प शय्या पर गिरा होऊ । वेद भगवान् ने मेरी रक्षा की ।

तदनन्तर कुमारिल्ल ने बौद्धाचार्य धर्मपाल से पण रखकर शास्त्रार्थ किया । धर्मपाल आचार्य कुमारिल्ल भट्ट से पराजित हुआ और अपनी प्रतिज्ञानुसार भूसे की आग मे धर्मपाल ने अपने आपको जला डाला ।

जहा तक कुमारिल्ल भट्ट के समय का प्रश्न है इस सम्बन्ध मे भी विद्वानो मे मतैक्य के स्थान पर मत वैभिन्य है । प्रसिद्ध नाटककार भवभूति निस्सन्दिग्ध

रूप से कुमारिल्ल भट्ट के शिष्य थे और भवभूति कन्नौज के राजा यशोवर्मा की सभा के पण्डित थे। यशो वर्मा का शासनकाल ईस्वी सन् ७२५ से ७५२ तक का सुनिश्चित सा है। कल्हण ने अपने विख्यात ग्रन्थ 'राजतरगिणी' मे उल्लेख किया है कि ईस्वी सन् ७३३ मे काश्मीर के राजा ललितादित्य मुक्तापीड ने भवभूति को पराजित कर दिया था। कल्हण का वह श्लोक इस प्रकार है

कविर्वाक्पति राज श्री भवभूत्यादि सेवित ।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुति वन्दिताम् ।।

(राजतरगिणी)

इन दोनो तथ्यो के आधार पर निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भवभूति का समय ईस्वी सन् ७०० से ७५२ के बीच का था। इस तथ्य को दृष्टि मे रखते हुए विचार किया जाय तो भवभूति के गुरु कुमारिल्ल भट्ट का समय ईसा की सातवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध रहा होगा।

शकराचार्य ने अपनी सौन्दर्य लहरी मे जगदम्बिका की स्तुति करते हुए लिखा है

तवस्तन्य मन्ये धरणिधरकन्ये हृदयत,
पय पारावार परिवहति सारस्वत इव।
दयावत्या दत्त द्रविडशिशुरास्वाद्य तव यत्,
कवीना प्रौढानामजनि कमनीय कवयिता ।।

प्राय सभी टीकाकारो ने इस द्रविड शिशु तमिलनाड के प्रसिद्ध शैव सन्त एव शैव क्रान्ति के सूत्रधार ज्ञानसम्बन्धर को ही माना है जिसे भगवती ने स्वय अपने स्तन का दुग्धपान करवाया और इस दैवी कृपा से वह द्रविड शिशु महान् कवि बन गया।

यह इतिहास प्रसिद्ध है कि ज्ञानसम्बन्धर महान् कवि थे। तेवारम् मे निबद्ध उनकी क्रान्तिकारी कविताए जन-मन को उद्वेलित कर शैव सम्प्रदाय के प्रति उन्हे हठात् आकृष्ट कर लेती थी।

ज्ञान सम्बन्धर का समय प्रस्तुत ग्रन्थ के पिछले पृष्ठो मे दिया जा चुका है कि ईस्वी सन् ६४० के आस-पास उन्होने पाण्ड्यराज सुन्दरपाण्ड्य को जैन से शैव धर्म मे दीक्षित कर उसकी सहायता से जैनो का सहार और शैव धर्म का उद्धार करवाया। शकराचार्य के इस उपर्युल्लिखित श्लोक से यह सिद्ध होता है कि शैव सन्त ज्ञान सम्बन्धर शकराचार्य से पूर्वकाल मे हुए थे। शकराचार्य ज्ञान सम्बन्धर के पश्चाद्वर्त्ती काल के धर्माचार्य थे। इससे यह सिद्ध होता है कि कुमारिल्ल भट्ट,

जो कि शकराचार्य के समकालीन होते हुए भी शकराचार्य से लगभग ८०-८५ वर्ष वय की दृष्टि से बडे थे, का समय ज्ञान सम्बन्धर से पश्चात् का अर्थात् ईसा की सातवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध का था ।

कुमारिल्ल भट्ट की विद्वत्ता के प्रति अपने आन्तरिक उद्‌गार प्रकट करते हुए बलदेव उपाध्याय ने अपने ग्रन्थ 'श्री शकराचार्य' मे लिखा है

"वैदिक धर्म के पुनरुत्थान व पुनः प्रतिष्ठा के लिये हम आचार्य कुमारिल्ल के चिर ऋरिण है । बौद्धो का वैदिक कर्मकाण्ड के खण्डन के प्रति महान् अभिनिवेष था । कुमारिल्ल ने इस अभिनिवेष को दूर कर वैदिक कर्मकाण्ड को दृढ भित्ति पर स्थापित किया तथा वह परम्परा चलाई जो आज भी अक्षुण्ण रीति से विद्यमान है । सच तो यह है कि इन्होने ही शकराचार्य के लिये वैदिक धर्म प्रचार का क्षेत्र तैयार किया । आचार्य शकर की इस अव्याहत सफलता का बहुत कुछ श्रेय इन्ही आचार्य कुमारिल्ल भट्ट को प्राप्त है ।"

आचार्य कुमारिल्ल ने अपने गुरु बौद्धाचार्य को अपमानित कर आत्म दाह के लिये बाध्य किया और जैमिनी के सिद्धान्तो की पुष्टि के लिये ईश्वर मे अखण्ड विश्वास रखते हुए भी जो कर्म को प्रधानता दी इसके प्रायश्चित स्वरूप उन्होने तुस की भूसी की आग मे अन्तिम समय मे आत्मदाह कर लिया ।

शंकराचार्य

वैदिक धर्म के पुनरुद्धार एव अद्वैत (ब्रह्माद्वैत) सिद्धान्त की पुन प्रतिष्ठापना के लिये शकराचार्य ने अपने जीवन के ३२ वर्ष जैसे स्वल्प काल मे विपुल वैदिक साहित्य के निर्माण के साथ-साथ आर्य धरा के दक्षिण सागर से उत्तर मे हिमाचल के क्रोड मे स्थित तिब्बत तथा नैपाल प्रदेश तक और पूर्व सागर से पश्चिम सागर तक जिस आश्चर्यजनक द्रुतगति से घूम-घूम कर न केवल बौद्ध एव जैन सिद्धान्तो का ही अपितु ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त से भिन्न मीमासक, साख्य, नैयायिक, वैशेषिक आदि वैदिक मतो के सिद्धान्तो का खण्डन करते हुए अपने ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त का विशाल भारत के कोने-कोने मे प्रचार किया, उसे देखते हुए सहज ही प्रत्येक मनीषी यही अनुभव करता है कि शकराचार्य अपने समय के धर्माचार्यो एव विद्वानो मे वस्तुत अद्भुत मेधा शक्ति, प्रभावोत्पादक अप्रतिम प्रतिभा, अनुपम कर्मठता और अपराजेय अथवा सर्वजयी वाग्मिता के धनी थे।

शकराचार्य ने १२ वर्ष की वय मे वेद-वेदागो के तलस्पर्शी ज्ञानार्जन के साथ उसमे पारीणता प्राप्त कर, तथा १६ वर्ष की वय मे प्रस्थानत्रयी पर महान् भाष्यो का निर्माण कर आर्य धरा के तत्कालीन मूर्धन्य विद्वानो को चमत्कृत एव आश्चर्याभिभूत कर दिया।

"तत्त्वमसि"

ओ जीव! तू वही है, जिसे ब्रह्म कहा गया है, कहा जाता है और कहा जाता रहेगा। और—

ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापर ।।

उनके ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त का यह मूल मत्र जीवन भर शकराचार्य के कण्ठस्वर से उद्घोषित एव उनके रोम-रोम से, देह-यष्टि के अणु-अणु से प्रतिध्वनित होता रहा। उनकी प्रस्थानत्रयी पर भाष्य आदि सभी कृतियो से, उनके दिग्विजय, मठ-स्थापन आदि सभी कार्यकलापो से "तत्त्वमसि" और "जीवो ब्रह्मैव नापर:" यही ध्वनि गुजरित होती है। उनकी जीवनचर्या से स्पष्टत. प्रकट होता है कि अद्वैत सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार को उन्होने अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लिया था। शकराचार्य की यह आन्तरिक आकाक्षा थी कि वैदिक सिद्धान्त ब्रह्माद्वैतवाद का आर्यधरा पर वर्चस्व रहे, आकल्पात ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त का ही आर्य धरा पर एकछत्र आधिपत्य रहे।

जो कि शकराचार्य के समकालीन होते हुए भी शकराचार्य से लगभग ८०-८५ वर्ष वय की दृष्टि से बडे थे, का समय ज्ञान सम्बन्धर से पश्चात् का अर्थात् ईसा की सातवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध का था ।

कुमारिल्ल भट्ट की विद्वत्ता के प्रति अपने आन्तरिक उद्‌गार प्रकट करते हुए बलदेव उपाध्याय नें अपने ग्रन्थ 'श्री शकराचार्य' मे लिखा है

"वैदिक धर्म के पुनरुत्थान व पुनः प्रतिष्ठा के लिये हम आचार्य कुमारिल्ल के चिर ऋणि है । बौद्धो का वैदिक कर्मकाण्ड के खण्डन के प्रति महान् अभिनिवेष था । कुमारिल्ल ने इस अभिनिवेष को दूर कर वैदिक कर्मकाण्ड को दृढ भित्ति पर स्थापित किया तथा वह परम्परा चलाई जो आज भी अक्षुण्ण रीति से विद्यमान है । सच तो यह है कि इन्होने ही शकराचार्य के लिये वैदिक धर्म प्रचार का क्षेत्र तैयार किया । आचार्य शकर की इस अव्याहत सफलता का बहुत कुछ श्रेय इन्ही आचार्य कुमारिल्ल भट्ट को प्राप्त है ।"

आचार्य कुमारिल्ल ने अपने गुरु बौद्धाचार्य को अपमानित कर आत्म दाह के लिये बाध्य किया और जैमिनी के सिद्धान्तो की पुष्टि के लिये ईश्वर मे अखण्ड विश्वास रखते हुए भी जो कर्म को प्रधानता दी इसके प्रायश्चित स्वरूप उन्होने तुस की भूसी की आग मे अन्तिम समय मे आत्मदाह कर लिया ।

शंकराचार्य

वैदिक धर्म के पुनरुद्धार एव अद्वैत (ब्रह्माद्वैत) सिद्धान्त की पुन. प्रतिष्ठापना के लिये शकराचार्य ने अपने जीवन के ३२ वर्ष जैसे स्वल्प काल मे विपुल वैदिक साहित्य के निर्माण के साथ-साथ आर्य धरा के दक्षिण सागर से उत्तर मे हिमाचल के क्रोड मे स्थित तिब्बत तथा नैपाल प्रदेश तक और पूर्व सागर से पश्चिम सागर तक जिस आश्चर्यजनक द्रुतगति से घूम-घूम कर न केवल बौद्ध एव जैन सिद्धान्तो का ही अपितु ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त से भिन्न मीमासक, साख्य, नैयायिक, वैशेषिक आदि वैदिक मतो के सिद्धान्तो का खण्डन करते हुए अपने ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त का विशाल भारत के कोने-कोने मे प्रचार किया, उसे देखते हुए सहज ही प्रत्येक मनीषी यही अनुभव करता है कि शकराचार्य अपने समय के धर्माचार्यो एव विद्वानो मे वस्तुत अद्भुत मेधा शक्ति, प्रभावोत्पादक अप्रतिम प्रतिभा, अनुपम कर्मठता और अपराजेय अथवा सर्वजयी वाग्मिता के धनी थे।

शकराचार्य ने १२ वर्ष की वय मे वेद-वेदागो के तलस्पर्शी ज्ञानार्जन के साथ उसमे पारीणता प्राप्त कर, तथा १६ वर्ष की वय मे प्रस्थानत्रयी पर महान् भाष्यो का निर्माण कर आर्य धरा के तत्कालीन मूर्धन्य विद्वानो को चमत्कृत एव आश्चर्याभिभूत कर दिया।

"तत्त्वमसि"

ओ जीव! तू वही है, जिसे ब्रह्म कहा गया है, कहा जाता है और कहा जाता रहेगा। और—

ब्रह्म सत्य जगत् मिथ्या, जीवो ब्रह्मैव नापर ।।

उनके ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त का यह मूल मत्र जीवन भर शकराचार्य के कण्ठस्वर से उद्घोषित एव उनके रोम-रोम से, देह-यष्टि के अणु-अणु से प्रतिध्वनित होता रहा। उनकी प्रस्थानत्रयी पर भाष्य आदि सभी कृतियो से, उनके दिग्विजय, मठ-स्थापन आदि सभी कार्यकलापो से "तत्त्वमसि" और "जीवो ब्रह्मैव नापरः" यही ध्वनि गुजरित होती है। उनकी जीवनचर्या से स्पष्टत. प्रकट होता है कि अद्वैत सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार को उन्होने अपने जीवन का एकमात्र लक्ष्य बना लिया था। शकराचार्य की यह आन्तरिक आकाक्षा थी कि वैदिक सिद्धान्त ब्रह्माद्वैतवाद का आर्यधरा पर वर्चस्व रहे, आकल्पात ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त का ही आर्य धरा पर एकछत्र आधिपत्य रहे।

अपने इस लक्ष्य की, अपनी इस आन्तरिक आकाक्षा की पूर्ति के लिये शकराचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर ब्रह्मसूत्र भाष्य, गीताभाष्य और उपनिषद् भाष्य, इन तीन महाभाष्यो, चार अन्य भाष्यो, ११ स्तोत्रो और सर्व साधारण को ब्रह्माद्वैत सिद्धान्तो का बोध कराने वाले ३९ प्रकरण ग्रन्थो की रचना की। भाष्यो मे उन्होने जैन बौद्ध मीमासक आदि प्राय सभी धर्मों के सिद्धान्तो का खण्डन करते हुए ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त की पुष्टि की।

अद्वैतवाद की पुष्टि पूर्वक, इससे इतर अन्य सभी धर्मों के सिद्धान्तो व मान्यताओ के खण्डन के साथ वैदिक धर्म की प्रतिष्ठापना एव इसके प्रचार-प्रसार के लिये विशाल भारत की दिग्विजय यात्रा करने का शकर ने निश्चय किया।

आचार्य शकर ने सबसे पहले और सबसे पहला शास्त्रार्थ मण्डन मिश्र के साथ किया। इससे पूर्व कि मण्डन मिश्र के साथ शकराचार्य के शास्त्रार्थ का विवरण प्रस्तुत किया जाय, यहा यह बताना आवश्यक है कि सर्वप्रथम वे मण्डन मिश्र के पास ही शास्त्रार्थ के लिये क्यो गये।

ब्रह्म सूत्र भाष्य का निर्माण करने पर शकराचार्य ने सोचा कि यदि कोई उच्च कोटि का विद्वान् इस महाभाष्य पर वार्त्तिक की रचना कर दे तो अत्युत्तम रहेगा। उन्होने कुमारिल्ल भट्ट की प्रशसा सुनी कि वार्त्तिक लिखने की कला मे वे अति निपुण है। कुमारिल्ल ने साबर भाष्य पर श्लोकवार्त्तिक और तन्त्रवार्त्तिक ये दो भाष्य लिखकर भारत की सम्पूर्ण विद्वान्मण्डली पर पूरी-पूरी धाक जमा ली थी। शकराचार्य के मन मे कुमारिल्ल के वार्त्तिक कार के रूप मे उत्कृष्ट अनुभव और उनके प्रकाड पाडित्य का लाभ उठाने की उत्कट उत्सुकता जागृत हुई। वे अपने शिष्यो सहित त्रिवेणी के तट पर पहुचे। जब उन्हे यह विदित हुआ कि कुमारिल्ल भट्ट तुषानल मे अपना शरीर जला रहे हैं, तो उन्हे बडा दु ख हुआ। वे तत्काल कुमारिल्ल के पास गये और उन्होने देखा कि वस्तुत उनके शरीर का नीचे का भाग तुषानल मे जल रहा है। शकराचार्य ने देखा कि उनके मुख मण्डल पर अलौकिक आभा और निस्सीम शान्ति का साम्राज्य छाया हुआ है। कुमारिल्ल भट्ट ने शकराचार्य की दिग्दिगन्त व्यापिनी कीर्त्ति को पहले ही सुन रक्खा था। सहसा शकर को अपने सम्मुख देखकर उनकी प्रसन्नता का पारावार नही रहा। अपने शिष्यो से कुमारिल्ल ने शकर की पूजा करवाई। शकर ने अपना भाष्य कुमारिल्ल को दिखाया। भाष्य को देखकर कुमारिल्ल ने बडी प्रसन्नता व्यक्त की और कहा—"मैं तुषानल मे जलने की दीक्षा ग्रहण कर चुका हू। अन्यथा मै इस पर वार्त्तिक की अवश्यमेव रचना करता।" शकर दिग्विजय मे कुमारिल्ल के इस कथन का निम्नलिखित रूप मे उल्लेख है —

अष्टौ सहस्राणि विभान्ति विद्वन् !
सद्वार्तिकाना प्रथमेऽत्र भाष्ये ।
अह यदि स्यामगृहीतदीक्षो,
ध्रुव विधास्ये सुनिबन्धमस्य ।।

(शकर दिग्विजय ७ । ८३)

शकराचार्य ने इस प्रकार तुषानल मे जलने का कारण पूछा तो कुमारिल्ल ने कहा –"मैंने दो बडे पाप किये है। एक तो अपने बौद्ध गुरु धर्मपाल का तिरस्कार अथवा शास्त्रार्थ के पण के अनुसार उसके अग्नि मे जल मरने का कारण बना, दूसरा पाप मैंने यह किया कि जैमिनीय के मत की रक्षा के लिए मैने स्थान-स्थान पर ईश्वर का खण्डन किया। ईश्वर मे मेरी पूर्ण आस्था है। वस्तुत मीमासा का एक मात्र उद्देश्य है कर्म की प्रधानता दिखलाना। इसी उद्देश्य से मैंने जगत् के कर्त्ता और कर्म फल के दाता के रूप वाले ईश्वर का खण्डन किया है। कुछ भी हो, इन्ही दोनो अपराधो के प्रायश्चितस्वरूप मैंने यह तुषानल मे दाह की प्रतिज्ञा की है। मेरे भाव वस्तुत दोषहीन थे किन्तु लोक शिक्षण के लिये ही मैं इस प्रकार का प्रायश्चित स्वेच्छा से ग्रहण कर रहा हू। आप मेरे पट्ट शिष्य मण्डन मिश्र को वेदान्त के अपने अद्वैत मत मे दीक्षित कर लीजिये। वह आपके अद्वैत की वैजयन्ती भारत के क्षितिज मे अवश्यमेव फहरावेगा। ऐसा मेरा दृढ विश्वास है।"

शकर ने उसी समय कुमारिल्ल से विदा ले मण्डन मिश्र से शास्त्रार्थ करने का निश्चय किया। वे मण्डन मिश्र के भव्य भवन पर पहुचे।

मण्डन मिश्र वस्तुत तत्कालीन भारत के विद्वानो मे उच्चकोटि का विद्वान् और अद्वैत से भिन्न सभी मतावलम्बियो का वह अग्रणी था। शकराचार्य ने यह अनुभव किया कि मण्डन मिश्र को पराजित करना भारत की समस्त विद्वन्मण्डली को परास्त करने के तुल्य होगा। शास्त्रार्थ के माध्यम से इस प्रकार का विद्वान् शिष्य प्राप्त हो जाय तो अद्वैत के प्रचार-प्रसार मे भी उससे बडी सहायता मिलेगी। इन्ही विचारो से प्रेरित होकर शकराचार्य ने मण्डन मिश्र के साथ शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया।

शास्त्रार्थ मे जय-पराजय का निर्णय देने के लिये मण्डन मिश्र की परम विदुषी धर्मपत्नी भारती को मध्यस्थ बनाया गया। शकर ने अपना पूर्व पक्ष प्रस्तुत करते हुए कहा —

ब्रह्मैक परमार्थसच्चिदमलम् विश्वप्रपञ्चात्मना,
शुक्ती रूप्यपरात्मनेव बहलात्रानावृतम् भासते।

तज्ज्ञानान्निखिल प्रपञ्चनिलया स्वात्मव्यवस्थापर,
निर्वाण जनिमुक्तमभ्युपगत मान श्रुतेर्मस्तकम् ।।
वाढ जये यदि पराजयभागह स्या,
सन्यासभग परिहृत्य कषाय चैलम् ।
शुक्ल वसीय वसन द्वयभारतीयम्,
वादे जयाजयफल प्रतिदीपिकास्तु ।।
(माधव शकर दिग्विजय ८।६१–६२)

अर्थात् इस जगत मे ब्रह्म एक सत् चित् निर्मल तथा शाश्वत सत्य स्वरूप है। वह इस ससार के रूप से उसी प्रकार भासित होता है जिस प्रकार कि सीप चादी का रूप धारण करके उद्भासित होती है। सीप मे चादी के आभास की तरह यह ससार भी वस्तुत एकातत मिथ्या है। उस ब्रह्म का ज्ञान हो जाने पर उस मिथ्या प्रपच का कोहरा नष्ट हो जाता है और जीव वाह्य पदार्थो से निकल कर अपने विशुद्ध स्वरूप मे स्थित हो जाता है। और इस प्रकार विशुद्ध आत्म-स्वरूप मे लीन होते ही जीव सदा सर्वदा के लिये जन्म जरा मृत्यु से मुक्त हो जाता है। यही मेरा सिद्धात है। इसमे स्वय उपनिषद् ही प्रमाण है।

इस प्रकार अपने पूर्व पक्ष को रखते हुए शकराचार्य ने घोपणा की कि "यह मेरी अटल प्रतिज्ञा है कि यदि मैं शास्त्रार्थ मे मण्डन मिश्र से पराजित हो जाऊगा तो अपने इन काषाय वस्त्रो को फैंककर गृहस्थ के धारण करने योग्य श्वैत वस्त्रो को धारण कर लू गा।"

शकराचार्य की प्रतिज्ञा को सुनने के पश्चात् मण्डन मिश्र ने भी अपने मीमासक दर्शन का प्रतिपादन करने वाली प्रतिज्ञा इस रूप मे की .—

वेदान्ता न प्रमाण चिति वपुषि पदे पत्र सगत्ययोगात्,
पूर्वो भाग प्रमाण पदचयगमिते कार्यवस्तुन्यशेपे ।
शब्दाना कार्यमात्र प्रति ममधिगता शक्तिरभ्युन्नताना,
कर्मभ्यो मुक्तिरिष्टा तदिह तनुभृतामाऽऽयुष स्यात् समाप्ते ।।
(शकर दिग्विजय, ८/६४)

अर्थात् वेद का कर्मकाड भाग ही प्रमाण है। उपनिषदो को मैं प्रमाण की कोटि मे नही मानता क्योकि वह चैतन्य स्वरूप ब्रह्म का प्रतिपादन करके सिद्ध वस्तु का वर्णन करता है। वेद का तात्पर्य है—विधि का प्रतिपादन करना। किन्तु विधि का प्रतिपादन न करके विधि का समीचीन रूप मे वर्णन न करके ब्रह्म के स्वरूप का ही प्रतिपादन करता है। शब्दो की शक्ति कार्य मात्र के प्रकट करने मे है। वस्तुत दु खो से मुक्ति तो कर्म के द्वारा ही होती है। अत प्रत्येक मुमुक्षु को जीवन

पर्यन्त कर्म का अनुष्ठान करते रहना चाहिये क्योकि केवल कहने मात्र से अथवा जान लेने मात्र से तब तक मुक्ति नही होने वाली है जब तक कि कथनी के अनुरूप ही और ज्ञान के अनुरूप ही करणी न की जाय । कार्य न किया जाय । कर्म मे प्रवृत्ति न की जाय ।

मण्डन मिश्र ने घनरव गम्भीर स्वर मे प्रतिज्ञा की—"यह मेरी प्रतिज्ञा है कि यदि मै इस शास्त्रार्थ मे पराजित हो गया तो मैं गृहस्थ धर्म को छोडकर सन्यास धर्म ग्रहण कर लू गा ।"

बडा अद्भुत और अभूतपूर्व वह शास्त्रार्थ था इन दोनो मूर्धन्य विद्वानो का ।

मण्डन मिश्र ने औपनिषदिक द्वैतवाद की पुष्टि मे अनेक युक्तिया प्रयुक्तिया प्रस्तुत की क्योकि वे मीमासक अनुयायी होने के कारण द्वैतवादी थे । वेदाती होने के कारण शकराचार्य अद्वैत के पक्षधर थे अत उन्होने तत् त्वमसि के मूल मन्त्र के माध्यम से ब्रह्म और जीव को सर्वथा अभिन्न सिद्ध करने के लिये दोनो की अद्वैतता की पुष्टि करते हुए अनेक प्रकार की युक्तिया-प्रयुक्तिया प्रस्तुत की । दोनो विद्वान् परस्पर एक दूसरे की युक्ति-प्रयुक्तियो को बडे कौशल के साथ निरस्त करते रहे । मण्डन ने कहा :—"जीव अल्पज्ञ है और ब्रह्म है सर्वज्ञ सर्वदर्शी । यह तो ससार मे प्रत्येक को प्रत्यक्ष है । ऐसी स्थिति मे अल्पज्ञ की और सर्वज्ञ की एकता मानना प्रत्यक्ष प्रमाण से भी और अनुमान प्रमाण से भी सर्वथा अनुचित ही सिद्ध होता है ।"

शकराचार्य ने इस युक्ति को निरस्त करते हुए कहा —"बस, इसी सिद्धात मे त्रुटि है आपकी, क्योकि प्रत्यक्ष और श्रुति मे कभी कोई विरोध नही हो सकता । क्योकि दोनो के आश्रय भिन्न-भिन्न हैं । प्रत्यक्ष प्रमाण वस्तुत अविद्या से युक्त जीव मे और माया से युक्त ईश्वर मे भेद बतलाता है । श्रुति अविद्या और माया दोनो से रहित शुद्ध चैतन्य रूप आत्मा और ब्रह्म मे अभेद दिखलाती है ।" इसे और स्पष्ट करते हुए शकराचार्य ने कहा —"इस प्रकार प्रत्यक्ष का आश्रय कलुषित जीव और ईश्वर है और श्रुति का आश्रय विशुद्ध आत्मा और ब्रह्म है । विरोध वहा होता है जहा कि एक आश्रय हो । भिन्न आश्रय होने के कारण यहा किसी प्रकार का विरोध परिलक्षित नही होता । ऐसी स्थिति मे प्रत्यक्ष प्रमाण से अभेद श्रुति का किसी प्रकार का विरोध न होने के कारण उस श्रुति का किसी भी दशा मे तिरस्कार नही किया जा सकता ।"

मण्डन मिश्र ने ऋग्वेद के निम्नलिखित मन्त्र को शकराचार्य के समक्ष प्रस्तुत किया —

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समान वृक्ष परिषस्वजाते ।
तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्ति, अनश्नन्यो अभिचाकशीति ।।

और कहा —"यह मन्त्र पूर्णत स्पष्ट रूपेण जीव और ईश्वर के भेद को प्रकट कर रहा है। इसमे स्पष्ट उल्लेख है कि जीव कर्म फल का भोक्ता है और इसके विपरीत ईश्वर कर्म फल से किंचित्मात्र भी सम्बन्ध नही रखता।"

शकर ने कहा —"यह भेद प्रतिपादन नितात निष्फल है। इस ज्ञान से न तो स्वर्ग की प्राप्ति हो सकती है और न अपवर्ग की ही। श्रुति मे वस्तुत बुद्धि और पुरुष का भेद प्रदर्शित किया गया है, ईश्वर और जीव का नही। हा, श्रुति तो यही कहती है कि कर्म के फल को भोगने वाली वस्तुत बुद्धि ही है। पुरुष उस बुद्धि से नितात भिन्न है। इसीलिये उसे सुख-दु ख भोगने का फलाफल कदापि नही मिल सकता।"

मण्डन मिश्र ने कहा —"मैं आप द्वारा कहे गये इस अर्थ का विरोध करता हू। क्योकि बुद्धि तो जड है और भोक्ता जीव चैतन्य है, जड पदार्थ नही। इस प्रकार की स्थिति मे यदि कोई मन्त्र (श्रुति वाक्य) बुद्धि जैसे जड पदार्थ को भोक्ता बतलाता है तो इसे कोई भी बुद्धिमान् कदापि स्वीकार नही करेगा। आप फिर सोचिए कि उक्त श्रुति का अभिप्राय वस्तुत जीव और ईश्वर के भेद को प्रकट करना ही है।"

शकराचार्य ने ब्राह्मण ग्रन्थ के पैंगी रहस्य के निम्नलिखित वाक्य को उद्धृत किया —

तयोरन्य पिप्पल स्वाद्वत्ति इति सत्व अनश्नन्नन्यो
अभिचाकशीति इति अनश्नन् अन्य अभिपश्यति
ज्ञस्तावेतौ तत्व क्षेत्रज्ञौ इति ।
तदेतत्सत्व येन स्वप्न पश्यति । अथ योऽय शारीर
उपद्रष्टा स क्षेत्रज्ञ तावेतौ सत्वक्षेत्रज्ञौ

(पैंगी रहस्य ब्राह्मण)

और कहा —"इस ब्राह्मण ग्रन्थ मे स्पष्ट रूप से लिखा है कि बुद्धि (सत्व) कर्म फल को भोगती है और जीव केवल साक्षी मात्र रहता है। इससे बुद्धि और जीव की भिन्नता स्पष्ट है। तत्व दर्शन का कर्त्ता नही वल्कि करण है। इस तरह इस पद का अर्थ जीव न होकर बुद्धि ही है। और क्षेत्रज्ञ के साथ 'शरीर' विशेषण होने के कारण इस पद का अर्थ जीव है जो कि क्षेत्र मे अर्थात् शरीर मे रहता है, न कि ईश्वर।"

मण्डन मिश्र ने कण्ठोपनिषद् के निम्नलिखित श्लोक को उद्धृत करते हुए यह कहा —"कण्ठोपनिषद् की इस प्रसिद्ध श्रुति पर विचार कीजिये । जो जीव और ईश्वर मे ठीक उसी प्रकार का भेद स्वीकार कर रही है जिस प्रकार का कि भेद छाया और धूप मे है ।

ऋत पिबन्तौ सुकृतस्य लोके, गुहा प्रविष्टौ परमे परार्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति, पचाग्नयो ये च त्रिणाचिकेता ॥"

(कण्ठोपनिषद् १ । ३ । १)

शकराचार्य ने कहा—"यह तो लोकसिद्ध भेद का प्रतिपादन मात्र है । जो लोक मे सिद्ध नही दृष्टिगोचर होता श्रुति अभेद प्रतिपादक उसी नवीन अर्थ को प्रकट करती है । भेद तो जगत मे सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है । अत उसे सिद्ध करने का प्रयास श्रुति कदापि नही कर सकती । क्योकि श्रुति तो सदा अपूर्व वस्तु के वर्णन मे ही निरत रहती है । इस दृष्टि से यह अपूर्व वस्तु अभेद का प्रतिपादन है, न कि भेद का । श्रुतियो के बलाबल के विषय मे आपने भलीभाति विचार नही किया है । उनकी प्रबलता के विषय मे यह सिद्धान्त है कि यदि कोई श्रुति दूसरे प्रमाणो से पुष्ट की जाती है तो वह प्रबल नही मानी जा सकती । प्रबल श्रुति तो वह है जो प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि के द्वारा न प्रकट किये गये अर्थ को प्रकट करे । पदार्थों की परस्पर विभिन्नता जिसे आप अनेक युक्तिया देकर सिद्ध करना चाहते हैं वह विभिन्नता तो विश्व मे सर्वत्र प्रत्यक्ष ही दृष्टिगोचर होती है । अत उसको प्रतिपादन करने वाली श्रुति दुर्बल होगी । अभेद तो जगत् मे कही दिखाई नही देता । अत. उसको वर्णन करने वाली श्रुति ही पूर्व की अपेक्षा प्रबलतम होगी । बलाबल की इस कसौटी पर श्रुति की उक्ति को कसने पर "तत् त्वमसि" का अभेद प्रतिपादन ही श्रुति का प्रतिपाद्य विषय प्रतीत होता है । अत उपरिलिखित वाक्य का अर्थ जीव और ब्रह्म की एकता सिद्ध करने वाला है, जिसका विरोध न तो प्रत्यक्ष से है, न अनुमान से है और न श्रुति से ही है ।"

शकराचार्य की इस युक्ति को सुनते ही मण्डन मिश्र निरुत्तर हो गये । उनके गले की माला मलिन पड गयी । शास्त्रार्थ को देखने के लिये विशाल सख्या मे उपस्थित हुआ विद्वद् समाज आश्चर्याभिभूत हो अवाक् रह गया । भारती ने शकर को विजयी और अपने पति मण्डन मिश्र को पराजित घोषित किया ।

उस समय के भारत के सबसे उच्च कोटि के विद्वान् मण्डन मिश्र को पराजित कर देने से भारत भर के विद्वानो पर शकराचार्य के अजेय पाडित्य की धाक सी जम गई ।

भारती ने शकर से कहा —"विद्वन् ! आपने शास्त्रार्थ मे अभी तक मेरे पति को ही जीता है, मुझे नही , आपकी यह विजय पूरी तभी मानी जायगी जब कि आप

मुझे वाद मे परास्त कर देगे । अभी आपकी यह विजय अधूरी ही है। क्योकि नारी अपने नर की अर्द्धांगिनी होती है ।"

शकर ने उसकी उक्ति को स्वीकार करते हुए भारती के साथ शास्त्रार्थ प्रारम्भ किया । बहुत दिनो तक वह शास्त्रार्थ चलता रहा । जय पराजय का निर्णय न होते देख भारती ने कामशास्त्र से सम्बन्धित एक साथ अनेक प्रश्न शकराचार्य से पूछे कि—

कला कियन्त्यो वद पुष्पधन्वन ,
किमात्मिका कि च पद समाश्रिता ।
पूर्वे च पक्षे कथमन्यथा स्थिति ,
कथ युवत्या कथमेव पूरुषे ।।

(शकर दिग्विजय ६।६६)

अर्थात् काम की कितनी कलाए होती है ? उनका स्वरूप क्या है ? वे कलाए किस स्थान पर रहती है ? शुक्ल एव कृष्ण पक्षो मे इनकी स्थिति समान ही रहती है अथवा भिन्न-भिन्न ? पुरुषो मे तथा युवतियो मे इन कलाओ का निवास किस प्रकार होता है ?

इस प्रश्न को सुनकर शकर कुछ क्षण अवाक् रहे । उन्होने अनुभव किया कि उनके समक्ष धर्म सकट आ उपस्थित हुआ है । प्रश्न का उत्तर न देने पर सर्वत्र उनकी अल्पज्ञता ही सिद्ध होगी । अपने सन्यास धर्म की रक्षा करते हुए इन प्रश्नो का उत्तर दिया जाना कैसे सम्भव हो सकता है । इस प्रकार विचार मग्न रहने के पश्चात् शकर ने भारती से इन प्रश्नो का उत्तर देने के लिए एक मास की अवधि चाही ।

भारती ने यह विचार करके कि एक माह मे इनके एतद् विषयक ज्ञान मे क्या परिवर्तन आने वाला है, उनको एक मास की अवधि प्रदान की ।

शकर दिग्विजय आदि अनेक ग्रन्थो मे उल्लेख है कि काम शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करने के लिये शकराचार्य ने अमरूक नामक किसी राजा के मृत शरीर मे प्रवेश किया और वहा रहकर उन्होने कामशास्त्र मे भी निष्णातता प्राप्त कर ली ।[1]

---

[1] नास्मिन् शरीरे कृतकिल्विषोऽह जन्मप्रभृत्यम्ब न सदिहेऽहम् ।
व्यधायि देहान्तरसश्रयाद्यन्नतेन लिप्येत हि कर्मणाऽन्य ।।

(शकर दिग्विजय १६/८६)

जब शकर अपनी प्रतिज्ञानुसार शास्त्रार्थ के लिये भारती के पास पहुचे तो भारती ने समझ लिया कि शकर ने काम शास्त्र मे भी निष्णातता प्राप्त कर ली है। शकराचार्य द्वारा दिये गये अपने प्रश्नो के उत्तर सुनकर भारती निरुत्तर हो गई।

अपनी प्रतिज्ञानुसार मण्डन मिश्र ने गृहस्थाश्रम का परित्याग कर शकराचार्य का शिष्यत्व स्वीकार करते हुए सन्यास ग्रहण किया। सन्यास ग्रहण करने के अनन्तर मण्डन मिश्र का नाम शकराचार्य ने सूरेश्वर रक्खा।

मण्डन मिश्र और शकराचार्य के शास्त्रार्थ का थोडे विस्तार के साथ यह जो विवरण दिया गया है वह यह बताने के लिये दिया गया है कि शकराचार्य ने अद्वैत मत का एकच्छत्र साम्राज्य आर्यधरा पर प्रतिष्ठापित करने के लिये वैदिक धर्म के अनुयायी मीमासक विद्वान् मण्डन मिश्र तक को शास्त्रार्थ मे पराजित करने का दृढ निश्चय किया क्योकि वे वैदिक धर्म के अनुयायी होते हुए भी श्रुतियो (उपनिषदो आदि) को प्रामाणिक नही मानते थे। इस प्रकार की स्थिति मे जैनो और बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ करने और इनके सिद्धान्तो का खण्डन करने मे किसी प्रकार की कोर-कसर क्यो रखते।

इस प्रकार विभिन्न धर्मो के सुदृढ गढ तुल्य केन्द्र समझे जाने वाले ४३ नगरो अथवा स्थानो पर शकराचार्य ने अन्य दर्शनो के आचार्यो एव विद्वानो के आचार्यो एव विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ किये।

शकराचार्य के शिष्यो प्रशिष्यो द्वारा लिखित शकर दिग्विजय के विवरणो के उल्लेखानुसार शकराचार्य ने उन शास्त्रार्थो मे सभी धर्मो के विद्वानो को पराजित किया। उन पराजित विद्वानो मे से अधिकाश को अद्वैतवादी वैदिक धर्म का अनुयायी बनाया।

वैदिक अद्वैतवाद के प्रति शकराचार्य की ऐसी प्रगाढ आस्था थी कि उससे किंचित्मात्र भी भिन्न मान्यता वाले किसी भी वैष्णव, शैव अथवा वैदिक सम्प्रदाय को अपनी दिग्विजय यात्रा के अद्वैत मत मण्डनात्मक एव अद्वैतेतर मत खण्डनात्मक शास्त्रार्थो मे अछूता नही छोडा। शकर दिग्विजय मे स्पष्ट उल्लेख है कि अनन्तशयन नामक स्थान उस समय वैष्णवो के भक्त, भागवत, वैष्णव, पाचरात्र, वैखानस और कर्महीन (नैष्कर्म्य) की इन छ सम्प्रदायो का एक सुदृढ गढ तुल्य केन्द्रस्थल था। उस अनन्तशयन नामक स्थान पर शकराचार्य ने अपनी शिष्य मण्डली और अपने परम भक्त महाराजा सुधन्वा के दलबल के साथ एक मास तक निवास किया। शकराचार्य ने उन सम्प्रदायो के आचार्य एव विद्वानो से शास्त्रार्थ कर उन्हे पराजित किया। शकराचार्य की अकाट्य युक्तियो से प्रभावित एव सन्तुष्ट होकर उन वैष्णव सम्प्रदाय के नायको एव अनुयायियो ने भी शकराचार्य के ब्रह्माद्वैतवादी वैदिक धर्म को अगीकार कर लिया।

इसी प्रकार प्रयाग मे भी साख्य योगवादियो, वैशेषिको, शून्यवादियो, वराह मतानुयायियो तथा वरुण एव वायु आदि के उपासको के साथ शकराचार्य के शास्त्रार्थ का और शकराचार्य द्वारा उनके पराजित किये जाने का माधव ने शकर विजय मे विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

इन सारे दिग्विजय के विवरणो मे केवल एक उज्जैनी के विवरण को छोडकर नामोल्लेखपूर्वक जैनो और बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ का और उन शास्त्रार्थो मे शकर द्वारा उनके पराजित कर दिये जाने का कोई उल्लेख कही दृष्टिगोचर नही होता।

उज्जैनी मे शकराचार्य द्वारा उन्मत्त भैरव नामक शूद्र जाति के कापालिको, चार्वाको, जैनो एव बौद्ध मतानुयायियो को पराजित किये जाने का उल्लेख आनन्दगिरि ने किया है। शकर दिग्विजय के विवरणो मे जैनो और बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ करने अथवा शकर द्वारा उन्हे पराजित किये जाने का अन्य कोई उल्लेख दृष्टिगोचर नही होता।

शकराचार्य का समय

शकराचार्य के समय के सम्बन्ध मे विद्वानो मे परस्पर बडा मतभेद है। किन्तु अद्ययुगीन विद्वानो ने एक प्रकार से अन्तिम रूप से शकराचार्य का समय विक्रम सम्वत् ८४५ से ८७७ तदनुसार ईस्वी सन् ७८८ से ८२० तक का माना है। इसकी पुष्टि कृष्ण ब्रह्मानन्द द्वारा रचित "शकर विजय" के निम्नलिखित उल्लेख से भी होती है —

निधि नागेम वह्न्यब्दे विभवे शकरोदय,
कलौ तु शालिवाहस्य सखेन्दु शतसप्तके। (शक सवत् ७१०)
कल्यब्दे भूद्वयाकाग्नि सम्मिते शकरो गुरु, (ईस्वी सन् ७८८)
शालिवाह शके त्वक्षिसिन्धुसप्तमितेऽभ्यगात्। (शक स ७४२)
(ईस्वी सन् ८२०)

दूसरा प्रमाण, ज्ञान सम्बन्धर का शकर ने सौन्दर्य लहरी मे उल्लेख किया है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है ज्ञान सम्बन्धर ईस्वी सन् ६४० के लगभग विद्यमान था। उसने सुन्दर पाण्ड्य को जैन से शैव बनाकर शैवो का प्रचार और जैनो का सहार करवाया था। इससे यह सिद्ध होता है कि शकराचार्य शैव सन्त ज्ञान सम्बन्धर के पश्चाद्वर्त्ती होने के कारण ईसा की आठवी शताब्दी के पूर्व के नही हो सकते।

इसके अतिरिक्त कुमारिल्ल भट्ट के समय का निर्णय करते समय यह सप्रमाण बताया जा चुका है कि कुमारिल्ल भट्ट का समय ईसा की सातवी शताब्दी

का उत्तरार्द्ध रहा होगा। शकराचार्य जिस समय १६ वर्ष की वय के थे उस समय कुमारिल्ल के साथ उनका साक्षात्कार उस समय हुआ जबकि वे तुषानल मे अपने आपको जला रहे थे। इससे अनुमान किया जाता है कि कुमारिल्ल शकराचार्य से वय मे लगभग ८० वर्ष बडे होगे। इससे भी शकराचार्य का समय लगभग वही ७८८ से ८२० ईस्वी सन् का आता है। शकराचार्य की पूर्णायु के सम्वन्ध मे निम्नलिखित श्लोक से निस्सन्दिग्ध रूप से प्रकाश पडता है —

अष्ट वर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्व शास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्य द्वात्रिशे मुनिरभ्यगात्॥

शकर दिग्विजय और उपरि वर्णित शकराचार्य के जीवन वृत्त से यह तो सिद्ध होता है कि उन्होने अद्वैतवादियो के मण्डन के साथ-साथ अन्य सभी मतो का चाहे वे वैदिक परम्परा के हो, वैष्णव परम्परा के हो, साख्य, बौद्ध, जैनादि परम्पराओ के हो, उसका अपने जीवन काल मे बडे ही सयौक्तिक ढग से खण्डन किया। अद्वैतवाद के अतिरिक्त और कोई भी मत इस आर्यधरा पर न पनप सके इस उद्देश्य से शकराचार्य ने चिरकाल तक प्रभावशील योजना भारत की चारो दिशाओ मे चार पीठो की स्थापना के माध्यम से की।

जैसा कि किवदन्तियो मे बौद्धो के सहार और जैनो पर अत्याचार की लोक कथाए प्रसिद्ध है ऐसा शकर के दिग्विजय के विवरणो से कोई आभास नही मिलता। ऐसा प्रतीत होता है कि यह सब लेखनी का, युक्तियो का और शास्त्रार्थो का युग था। शैवो और लिंगायतो के धर्मोन्माद मे जिस प्रकार प्रतिपक्षी धर्मावलम्बियो का रुधिर बहाया गया उस प्रकार की एक भी घटना कुमारिल्ल भट्ट द्वारा प्रारम्भ किये गये और शकराचार्य द्वारा अग्रेतर विकसित किये गये वैदिक धर्म के पुनर्सस्थापनार्थ किये गये शास्त्रार्थो मे अथवा समग्र धार्मिक अभियानो मे इस प्रकार की एक भी घटना न घटी होगी ऐसा हमारा विश्वास है। फिर भी इस किंवदन्ती की ऐतिहासिकता की खोज के किये अग्रेत्तर शोध की आवश्यकता है।

कर्णाटक प्रदेश का सुधन्वा नामक राजा दलबल सहित शकराचार्य के दिग्विजय अभियान मे प्रारम्भ से लेकर अन्त तक साथ था। इससे भी यह अनुमान किया जाता है कि श्री शैलम् के कापालिक क्रकच्च को छोड किसी भी अन्य मतावलम्बी ने शकराचार्य के शिष्य मण्डल के विरुद्ध बल प्रयोग का साहस तक नही किया होगा।

शकराचार्य के इस दिग्विजय अभियान से तत्काल जैनो पर किसी प्रकार का कुप्रभाव पडा हो या उससे जैन सघ को कोई बडी हानि पहुँची हो, ऐसा प्रतीत नही होता। किन्तु जिस प्रकार कर्णाटक के जैन राजा सुधन्वा को कुमारिल्ल भट्ट द्वारा जैन से वैदिक धर्म का अनुयायी बनाया गया, बहुत सम्भव है शकराचार्य ने

इसी प्रकार प्रयाग मे भी साख्य योगवादियो, वैशेषिको, शून्यवादियो, वराह मतानुयायियो तथा वरुण एव वायु आदि के उपासको के साथ शकराचार्य के शास्त्रार्थ का और शकराचार्य द्वारा उनके पराजित किये जाने का माधव ने शकर विजय मे विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

इन सारे दिग्विजय के विवरणो मे केवल एक उज्जैनी के विवरण को छोडकर नामोल्लेखपूर्वक जैनो और बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ का और उन शास्त्रार्थो मे शकर द्वारा उनके पराजित कर दिये जाने का कोई उल्लेख कही दृष्टिगोचर नही होता।

उज्जैनी मे शकराचार्य द्वारा उन्मत्त भैरव नामक शूद्र जाति के कापालिको, चार्वाको, जैनो एव बौद्ध मतानुयायियो को पराजित किये जाने का उल्लेख आनन्द-गिरि ने किया है। शकर दिग्विजय के विवरणो मे जैनो और बौद्धो के साथ शास्त्रार्थ करने अथवा शकर द्वारा उन्हे पराजित किये जाने का अन्य कोई उल्लेख दृष्टिगोचर नही होता।

शकराचार्य का समय

शकराचार्य के समय के सम्बन्ध मे विद्वानो मे परस्पर बडा मतभेद है। किन्तु अद्ययुगीन विद्वानो ने एक प्रकार से अन्तिम रूप से शकराचार्य का समय विक्रम सम्वत् ८४५ से ८७७ तदनुसार ईस्वी सन् ७८८ से ८२० तक का माना है। इसकी पुष्टि कृष्ण ब्रह्मानन्द द्वारा रचित "शकर विजय" के निम्नलिखित उल्लेख से भी होती है —

> निधि नागेम वह्न्यब्दे विभवे शकरोदय,
> कलौ तु शालिवाहस्य सखेन्दु शतसप्तके। (शक सवत् ७१०)
> कल्यब्दे भूद्वयाकाग्नि सम्मिते शकरो गुरु, (ईस्वी सन् ७८८)
> शालिवाह शके त्वक्षिसिन्धुसप्तमितेऽभ्यगात्। (शक स ७४२)
> (ईस्वी सन् ८२०)

दूसरा प्रमाण, ज्ञान सम्बन्धर का शकर ने सौन्दर्य लहरी मे उल्लेख किया है। जैसा कि पहले बताया जा चुका है ज्ञान सम्बन्धर ईस्वी सन् ६४० के लगभग विद्यमान था। उसने सुन्दर पाण्ड्य को जैन से शैव बनाकर शैवो का प्रचार और जैनो का सहार करवाया था। इससे यह सिद्ध होता है कि शकराचार्य शैव सन्त ज्ञान सम्बन्धर के पश्चाद्वर्त्ती होने के कारण ईसा की आठवी शताब्दी के पूर्व के नही हो सकते।

इसके अतिरिक्त कुमारिल्ल भट्ट के समय का निर्णय करते समय यह सप्रमाण बताया जा चुका है कि कुमारिल्ल भट्ट का समय ईसा की सातवी शताब्दी

श्रमण भगवान् महावीर के ३९वे पट्टधर आचार्य श्री किशन ऋषि

जन्म	—	वीर नि स १२०८
दीक्षा	—	" " १२३२
आचार्य पद	—	" " १२६३
स्वर्गारोहण	—	" " १२८४
गृहवास पर्याय	—	२४ वर्ष
सामान्य साधुपर्याय	—	३१ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	२१ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	५२ वर्ष
पूर्ण आयु	—	७६ वर्ष

चतुर्विध तीर्थ के प्रवर्तक अन्तिम तीर्थङ्कर शासनेश भगवान् महावीर के ३८वें पट्टधर आचार्य श्री भीमऋषि के स्वर्गगमन के अनन्तर प्रभु के ३९वे पट्टधर के रूप मे मुनिश्रेष्ठ श्री किशन ऋषि को चतुर्विध तीर्थ ने वीर नि स १२६३ मे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। अपने २१ वर्ष के आचार्य काल मे आपने चतुर्विध तीर्थ को अध्यात्म साधना मे अग्रसर करते रहकर जिनशासन की महती सेवा की।

आपके आचार्य काल मे वि स ८०२ तदनुसार वीर नि स १२७२ मे चैत्यवासी परम्परा के महाप्रभावशाली आचार्य शीलगुण सूरि ने जो कि गुजरात के शक्तिशाली राजा वनराज चावडा के धर्म गुरु थे, अपने परम भक्त राजा वनराज चावडा को कहकर इस प्रकार को राजाज्ञा प्रसारित करवा दी कि जिससे चैत्यवासी परम्परा के साधु-साध्वियो को छोड शेष किसी अन्य परम्परा के साधु-साध्वी पाटण राज्य मे विचरण करना तो दूर, उसकी सीमाओ मे प्रवेश तक न कर पाये।

भी अपनी दिग्विजय यात्रा मे दक्षिण के अथवा विभिन्न प्रदेशो के जैन राजाओ को वैदिक मत का अनुयायी बनाया हो। इस अभियान से जैन सघ पर यदि कोई घातक प्रहार हुआ होता तो शकराचार्य से उत्तरवर्त्ती काल मे भी राष्ट्रकूट, गग, होय्सल, कदम्ब आदि राजाओ द्वारा जैनधर्म के अभ्युत्थान के लिए किये गये कार्यो का विवरण आज जो शिलालेखो मे उपलब्ध होता है वह नही होता।

एक बहुत ही महत्वपूर्ण उल्लेखनीय तथ्य यह है कि कुमारिल्ल भट्ट और शकराचार्य द्वारा सभी दर्शनो के विरुद्ध जो धार्मिक अभियान चलाया गया उससे बौद्ध धर्म आर्यधरा से पूर्ण रूप से ही तिरोहित हो गया। किन्तु जैन धर्म की नीव विश्व कल्याणकारी ऐसे सिद्धान्तो पर आधारित थी कि बौद्धो के समान ही अथवा बौद्धो से भी अधिक कुमारिल्ल भट्ट एव शकराचार्य द्वारा जैनो के विरुद्ध किये गये प्रचार के उपरान्त भी जैनधर्म आर्यधरा के जीवित और सम्मानित धर्म के रूप मे अपने अस्तित्व को बनाये रहा।

श्रमण भगवान् महावीर के ३६वे पट्टधर आचार्य श्री किशन ऋषि

जन्म	—	वीर नि स १२०८
दीक्षा	—	,, ,, १२३२
आचार्य पद	—	,, ,, १२६३
स्वर्गारोहण	—	,, ,, १२८४
गृहवास पर्याय	—	२४ वर्ष
सामान्य साधुपर्याय	—	३१ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	२१ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	५२ वर्ष
पूर्ण आयु	—	७६ वर्ष

चतुर्विध तीर्थ के प्रवर्तक अन्तिम तीर्थङ्कर शासनेश भगवान् महावीर के ३८वें पट्टधर आचार्य श्री भीमऋषि के स्वर्गगमन के अनन्तर प्रभु के ३६वे पट्टधर के रूप मे मुनिश्रेष्ठ श्री किशन ऋषि को चतुर्विध तीर्थ ने वीर नि स १२६३ मे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। अपने २१ वर्ष के आचार्य काल मे आपने चतुर्विध तीर्थ को अध्यात्म साधना मे अग्रसर करते रहकर जिनशासन की महती सेवा की।

आपके आचार्य काल मे वि स ८०२ तदनुसार वीर नि स १२७२ मे चैत्यवासी परम्परा के महाप्रभावशाली आचार्य शीलगुण सूरि ने जो कि गुजरात के शक्तिशाली राजा वनराज चावडा के धर्म गुरु थे, अपने परम भक्त राजा वनराज चावडा को कहकर इस प्रकार को राजाज्ञा प्रसारित करवा दी कि जिससे चैत्यवासी परम्परा के साधु-साध्वियो को छोड शेष किसी अन्य परम्परा के साधु-साध्वी पाटण राज्य मे विचरण करना तो दूर, उसकी सीमाओ मे प्रवेश तक न कर पाये।

श्रमण भगवान् महावीर के ४०वे पट्टधर ा र्य
श्री राजऋषि

जन्म	—	वीर नि स १२४२
दीक्षा	—	,, ,, १२६१
आचार्य पद	—	,, ,, १२८४
स्वर्गारोहण	—	,, ,, १२६६
गृहवास पर्याय	—	१६ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२३ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	१५ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	३८ वर्ष
पूर्ण आयु	—	५७ वर्ष

भगवान् महावीर के ३६वें पट्टधर आचार्य श्री किशन ऋषि के दिवगत हो जाने के पश्चात् वीर नि स १२८४ मे चतुर्विध सघ ने श्री राज ऋषि को श्री वीर प्रभु के ४०वे पट्टधर के रूप मे आचार्य पद पर आसीन किया ।

३३वें युगप्र   र्य श्री   भूति

जन्म	—	वीर नि स १२२१
दीक्षा	—	,, ,, १२३१
सामान्य व्रतपर्याय	—	,, ,, १२३१–१२५०
युगप्रधानाचार्यकाल	—	,, ,, १२५०–१३००
स्वर्ग	—	,, ,, १३००
सर्वायु	—	७८ वर्ष, २ मास और २ दिन

आर्य पुष्यमित्र के पश्चात् ३३वे युगप्रधानाचार्य आर्य सभूति हुए ।

आर्य सभूति का जन्म वीर नि. स १२२१ मे हुआ । आपने वीर नि स १२३१ मे १० वर्ष की अवस्था मे दीक्षा ग्रहण की । वीर नि स १२५० मे युगप्रधानाचार्य पुष्यमित्र के स्वर्गगमन के पश्चात् चतुर्विध सघ द्वारा आगम निष्णात आर्य सभूति को युगप्रधानाचार्य पद प्रदान किया गया । ५० वर्ष के अपने युगप्रधानाचार्य काल मे आर्य सभूति ने जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा करते हुए स्वय का तथा अनेक भव्यात्माओ का कल्याण किया । वीर नि स १३०० मे समाधिपूर्वक ७८ वर्ष, २ मास और २ दिन की आयु पूर्ण कर आर्य सभूति स्वर्गस्थ हुए ।

"सिरि दुष्षमाकाल समरण सघ थय" 'युगप्रधानाचार्य पट्टावली' एव युगप्रधानाचार्य परम्परा से सम्बन्धित जो सामग्री कतिपय वर्ष पूर्व तक प्रकाश मे आई है, इन सब मे तेतीसवें युगप्रधानाचार्य के रूप मे आचार्य सभूति के नाम का उल्लेख है । परन्तु "तित्थोगाली पइन्नय" जो युगप्रधानाचार्य परम्परा के सम्बन्ध मे अद्यावधि पर्यन्त उपलब्ध सामग्री मे सर्वाधिक प्राचीन है, उसमे उल्लिखित तथ्यो को दृष्टिगत रखते हुए विचार करने पर ऐसा सदेह होता है कि युगप्रधानाचार्य श्री सभूति और माढर सभूति के पूर्वापर क्रम के सम्बन्ध मे दुष्षमाकाल श्रमणसघस्तवकार एव उनके उत्तरवर्त्ती पट्टावलीकारो द्वारा त्रुटि हो गई हो ।

चतुर्दश पूर्व तथा एकादशागी समय-समय पर भूत एव भावी ह्रास अथवा व्यवच्छेद के प्रसग मे तित्थोगाली पइन्नयकार ने वीर नि स १००० के पश्चात् वीर नि स १५२० तक हुए युगप्रधानाचार्यो मे से ४ युगप्रधानाचार्यों के स्वर्गस्थ होने

तथा विवाह पण्णत्ति आदि पाच अगो के ह्रास का उल्लेख किया है। माढर सम्भूति से सम्बन्धित जो गाथा तित्थोगाली पइन्नय मे है, वह इस प्रकार है —

समवाय ववच्छेदो, तेरसहिं स तेहिं होहिति वासाणा ।
माढर गोत्तस्स इह, सम्भूत पतिस्स मरणम्मि ॥८१५॥

अर्थात्—वीर नि०स० १३०० मे माढर गोत्रीय सभूत श्रमणवर के स्वर्गस्थ हो जाने के अनन्तर समवायाग–सूत्र का ह्रास हो जायेगा ।

इस प्रकार तित्थोगाली पइन्नयकार ने स्पष्ट शब्दो मे उल्लेख किया है कि वीर नि०स० १३०० मे माढर सम्भूति का स्वर्गवास हो गया।

इसके विपरीत दुस्समाकाल समण सघथय की गाथा सख्या १४ मे "सभूई माढर सभूइ" इन तीनो शब्दो के द्वारा ३३वे और ३४वे युगप्रधानाचार्य–सभूति—माढर सभूति अथवा माढर सभूति—सभूति का उल्लेख किया गया है। इसी समण सघ थय की अवचूरि के अन्तर्गत जो—"द्वितीयोदय युगप्रधान यन्त्र" दिया हुआ है, उसमे पहले सभूति का और उनके पश्चात् माढर सभूति का नाम दिया हुआ है। युगप्रधानाचार्यो के जन्म, दीक्षा, युगप्रधान पद, स्वर्ग एव पूर्णायु का जो समय इस यन्त्र मे दिया हुआ है, उसमे श्री सभूति को ३३वा युगप्रधानाचार्य बताकर, उनका वीर नि० स० १३०० मे स्वर्गवास होना बताया गया है।[1]

'तित्थोगाली पइन्नय' मे केवल माढर सभूति का ही उल्लेख है। स्पष्ट रूप से सभूति का इसमे कोई उल्लेख उपलब्ध नही है। तथापि गाथा सख्या ८१६ मे जिन आर्जव यति के वीर नि स १३५० मे स्वर्गस्थ होने पर स्थानाग सूत्र का ह्रास होना बताया गया है, वहा तित्थोगाली पइन्नयकार ने अज्जव अर्थात् ऋजु-सरल सम्बोधन की दृष्टि से सभूति को ही आर्ज्जव यति के नामसे तो कही सम्बोधित नही किया है, इस प्रकार का ईहापोह अन्तर मे उत्पन्न होता है। 'तित्थोगाली पइन्नय' के उल्लेखानुसार माढर सभूति का स्वर्गवास वीर नि० स० १३६० मे मान लिये जाने की स्थिति मे उनके पश्चाद्वर्ती युगप्रधानाचार्य सभूति का स्वर्गवास वीर नि० स० १३५० के आसपास होना युक्तिसगत प्रतीत होता है। अन्तर केवल दस वर्ष का रहता है। तित्थोगाली पइन्नयकार ने आर्जव यति (सम्भवत सभूति) का वीर नि० स० १३५० मे स्वर्गस्थ होना बताया है और 'दुस्समाकाल समण सघथय' की अवचूरि के अन्तर्गत 'द्वितीयोदय युगप्रधान यन्त्र' मे उल्लिखित काल गणना की एक

[1] एतत्ग्रन्थकर्तृ णा श्री धर्म घोष सूरीणा विक्रम स १३२७ तम वर्षे सूरिपद, वि स १३५७ तम वर्षे स्वर्गगमनम् ।

पट्टावली समुच्चय (दुष्षमाकाल श्री श्रमणसघस्तवम्) पृ १६ (रिघण)

मान्यता के अनुसार ३४वे युगप्रधान का देहावसान वीर नि०स० १३६० और दूसरी मान्यता के अनुसार वीर नि० स० १३५० मे होना भी अनुमानित किया जा सकता है ।

इसके अतिरिक्त "तित्थोगाली पइन्नय" "दुस्समाकाल समरण सघ थय" की अपेक्षा अति प्राचीन होने के साथ ही साथ तीर्थ के उद्गम, प्रवाह, ह्रास, अवसान अथवा व्यवच्छेद जैसी आत्यन्तिक महत्त्व की अनेक ऐतिहासिक घटनाओ पर प्रकाश डालता है, इस दृष्टि से भी एतद्विषयक इसका उल्लेख तब तक प्रामाणिकता की कोटि मे प्रविष्ट होने योग्य है, जब तक कि इससे भी प्राचीन और विश्वसनीय कोई अन्य प्रमाण इसके विपरीत प्रकाश मे न आ जाय ।

इन सब तथ्यो के पर्यालोचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि माढर सभूति ३३वे और सभूति ३४वे युगप्रधानाचार्य थे ।

तथा विवाह पण्णत्ति आदि पाच अगो के ह्रास का उल्लेख किया है। माढर सम्भूति से सम्बन्धित जो गाथा तित्थोगाली पइन्नय मे है, वह इस प्रकार है —

समवाय ववच्छेदो, तेरसहिं स तेहिं होहिति वासाणा।
माढर गोत्तस्स इह, सम्भूत पतिस्स मरणम्मि ॥८१५॥

अर्थात्—वीर नि०स० १३०० मे माढर गोत्रीय सभूत श्रमणवर के स्वर्गस्थ हो जाने के अनन्तर समवायाग–सूत्र का ह्रास हो जायेगा।

इस प्रकार तित्थोगाली पइन्नयकार ने स्पष्ट शब्दो मे उल्लेख किया है कि वीर नि०स० १३०० मे माढर सम्भूति का स्वर्गवास हो गया।

इसके विपरीत दुस्समाकाल समण सघथय की गाथा सख्या १४ मे "सभूई माढर सभूइ" इन तीनो शब्दो के द्वारा ३३वे और ३४वे युगप्रधानाचार्य–सभूति—माढर सभूति अथवा माढर सभूति—सभूति का उल्लेख किया गया है। इसी समण सघ थय की अवचूरि के अन्तर्गत जो—"द्वितीयोदय युगप्रधान यन्त्र" दिया हुआ है, उसमे पहले सभूति का और उनके पश्चात् माढर सभूति का नाम दिया हुआ है। युगप्रधानाचार्यो के जन्म, दीक्षा, युगप्रधान पद, स्वर्ग एव पूर्णायु का जो समय इस यन्त्र मे दिया हुआ है, उसमे श्री सभूति को ३३वा युगप्रधानाचार्य बताकर, उनका वीर नि० स० १३०० मे स्वर्गवास होना बताया गया है।[1]

'तित्थोगाली पइन्नय' मे केवल माढर सभूति का ही उल्लेख है। स्पष्ट रूप से सभूति का इसमे कोई उल्लेख उपलब्ध नही है। तथापि गाथा सख्या ८१६ मे जिन आर्जव यति के वीर नि स १३५० मे स्वर्गस्थ होने पर स्थानाग सूत्र का ह्रास होना बताया गया है, वहा तित्थोगाली पइन्नयकार ने अज्जव अर्थात् ऋजु-सरल सम्बोधन की दृष्टि से सभूति को ही आर्ज्जव यति के नामसे तो कही सम्बोधित नही किया है, इस प्रकार का ईहापोह अन्तर मे उत्पन्न होता है। 'तित्थोगाली पइन्नय' के उल्लेखानुसार माढर सभूति का स्वर्गवास वीर नि० स० १३६० मे मान लिये जाने की स्थिति मे उनके पश्चाद्वर्ती युगप्रधानाचार्य सभूति का स्वर्गवास वीर नि० स० १३५० के आसपास होना युक्तिसगत प्रतीत होता है। अन्तर केवल दस वर्ष का रहता है। तित्थोगाली पइन्नयकार ने आर्जव यति (सम्भवत सभूति) का वीर नि० स० १३५० मे स्वर्गस्थ होना बताया है और 'दुस्समाकाल समण सघथय' की अवचूरि के अन्तर्गत 'द्वितीयोदय युगप्रधान यन्त्र' मे उल्लिखित काल गणना की एक

---

[1] एतत्ग्रन्थकर्तृणा श्री धर्म घोष सूरीणा विक्रम स १३२७ तम वर्षे सूरिपद, वि स १३५७ तम वर्षे स्वर्गगमनम्।

पट्टावली समुच्चय (दुष्षमाकाल श्री श्रमणसघस्तवम्) पृ १६ (रिषण)

और दुर्दैव से इस समय अपने विपत्ति के दिन इस प्रकार वन्यजीवन की विपन्नावस्था मे बिता रही हो। सब के दिन सदा एक समान नही रहते, यह तो भाग्य का एक अटल विधान है।"

यह सुनते ही उस महिला के स्मृतिपटल पर उसके विगत जीवन का घटनाचक्र उभर आया और उसके विशाल लोचनो से अश्रुओ की अविरल धारा प्रवाहित हो उठी।

सात्वना भरे स्वर मे शीलगुणसूरि बोले—"पुत्री! तुम्हारे ये दुर्दिन भी सदा रहने वाले नही है। तुम्हारा यह बालक महान् भाग्यशाली है। भविष्य मे यह गुर्जरधरा का भाग्य विधाता बनेगा। यदि तुम्हे किसी प्रकार की आपत्ति नही हो तो मैं यह जानना चाहूगा कि तुम कौन हो, यह बालक किस कुल का प्रदीप है। भौतिक ऐषणाओ से सदा दूर रहने वाले साधुओ पर तुम निर्भय होकर विश्वास कर सकती हो। तुम्हारे साहस को देखकर हमे बडी प्रसन्नता हुई है। हम लोगो से तुम्हे सदा अच्छाई की ही आशा करनी चाहिये। अब तुम हमसे बिना किसी बात को छुपाये, सार रूप मे अपने बीते जीवन के सम्बन्ध मे बताने योग्य बाते बताओ।"

उस बालक की माता ने अपनी फटी साटिका के छोर से अपने आसू पोछे और इस प्रकार अपने आपको आश्वस्त करते हुए उसने अपने बीते जीवन का परिचय देना प्रारम्भ किया—"योगीश्वर! मैं पचासर के राजा जयशेखर की रानी हू, मेरा नाम रूपसुन्दरी है। कल्याणी-पति भुवड के साथ युद्ध करते हुए वे रणागण मे ही स्वर्गस्थ हुए। मेरे पतिदेव महाराज जयशेखर जिस समय स्वर्गस्थ हुए, उस समय यह बालक मेरे गर्भ मे ही था। यह तो सर्वविदित ही है कि राजघरानो मे राज्य को हथियाने के लिये थोडा सा अवसर मिलते ही षड्यन्त्रो का सूत्रपात हो जाता है। मेरे गर्भस्थ शिशु की, राज्य के लोभ मे आकर कोई हत्या न कर दे, इस सभावित भय से मैं शत्रुओ से बचकर राजप्रासाद से एकाकी निकली और यहा विकट वन मे आकर वन्य जीवन व्यतीत करने लगी। इस वन मे ही समय पर मैंने वि० स० ७५२ की वैशाख शुक्ला पूर्णिमा के दिन इस बालक को जन्म दिया है। इस बालक ने दैवदुर्विपाक से राजप्रासाद के स्थान पर इस वन मे जन्म लिया, इसलिये मैंने इसका नाम वनराज रखा है।

चापोत्कट वश का प्रदीप यह बालक अपने जन्मकाल से ही इस विकट वनी के वन्य पशुओ के बीच येन-केन प्रकारेण अपना शैशव काल व्यतीत कर रहा है। इसके मामा सुरपाल है। षड्यन्त्रकारी लोग बडे सतर्क होते है। वे इसके सभी निकट सबन्धियो के यहा इस बालक की टोह मे अवश्य लगे होगे। कही मेरा यह नन्हा सा लाल उन षड्यन्त्रकारियो के जाल मे न फस जाय, इसी भय से मैं अपने किसी आत्मीय के पास न जाकर इस एकान्त वन मे इसके प्राणो की रक्षा कर रही हू।"

चैत्य सी ार्य शीलगुण सूरि
और
चैत्य सी परम्परा का प्रबल र्थक जैन रा
वनराज

वीर नि० की १३ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे चैत्यवासी परम्परा मे शीलगुण सूरि नाम से एक महान् प्रभावक आचार्य हुए है। उन्होने गुजरात मे वीर निर्वाण स० १२७२ के आसपास एक जैन राजवश (चावडा राजवश) की स्थापना कर चैत्यवासी परम्परा के उत्कर्ष के लिए जो अथक् प्रयास किये वे मध्ययुगीन जैन इतिहास मे महत्वपूर्ण है।

शीलगुणसूरि चैत्यवासी परम्परा के नागेन्द्र गच्छ के आचार्य थे। एक समय शीलगुणसूरि अपने शिष्यो के साथ अपनी परम्परा के प्रचार-प्रसार के लिये एक ग्राम से दूसरे ग्राम की ओर जा रहे थे। राह मे उन्होने वन मे एक स्थान पर, जहा कि इस समय वणोद नामक ग्राम बसा हुआ है, एक वृक्ष के तने मे लटकती हुई एक झोली देखी। उन्हे बडा आश्चर्य हुआ। पास मे जाकर उन्होने देखा कि वृक्ष की डाली से बधी हुई उस झोली मे एक बालक सो रहा है। उन्होने बालक को बडे ध्यान से देखा। उस बालक के मुख, भाल और अगोपागो के लक्षणो को देखकर उनके मुख से अनायास ही ये उद्गार निकल पडे —"अरे! यह बालक तो आगे चलकर महा प्रतापी पुरुषसिह होगा।"

वृक्ष की छाया मे अपने बालक के पास साधुमण्डली को खडी देखकर वन मे कन्द-मूल-फल-फूलादि का चयन करती हुई एक युवा स्त्री उनके पास आई। उसने शीलगुणसूरि को प्रणाम किया और एक ओर मौन साधे एव बार-बार मुनिमण्डल की ओर दृष्टि निक्षेप करती, एव लज्जा से सिकुडी हुई खडी रही।

शीलगुणसूरि ने उस स्त्री से पूछा —"बहिन! क्या यह बालक तुम्हारा है?"

उस महिला ने स्वीकृतिसूचक मुद्रा मे अपनी राजहसिनी तुल्या ग्रीवा झुका दी और वह सहमी हुई सी धरती की ओर दृष्टि गडाए खडी रही।

शीलगुणसूरि ने कहा—"बहिन! तुम्हे और तुम्हारे इस होनहार बालक के लक्षणो को देखने से हमे विश्वास हो गया है कि तुम किसी महान् कुल की वधु हो

और दुर्दैव से इस समय अपने विपत्ति के दिन इस प्रकार वन्यजीवन की विपन्नावस्था मे बिता रही हो। सब के दिन सदा एक समान नही रहते, यह तो भाग्य का एक अटल विधान है।"

यह सुनते ही उस महिला के स्मृतिपटल पर उसके विगत जीवन का घटनाचक्र उभर आया और उसके विशाल लोचनो से अश्रुओ की अविरल धारा प्रवाहित हो उठी।

सान्त्वना भरे स्वर मे शीलगुणसूरि बोले—"पुत्री ! तुम्हारे ये दुर्दिन भी सदा रहने वाले नही है। तुम्हारा यह बालक महान् भाग्यशाली है। भविष्य मे यह गुर्जरधरा का भाग्य विधाता बनेगा। यदि तुम्हे किसी प्रकार की आपत्ति नही हो तो मैं यह जानना चाहूगा कि तुम कौन हो, यह बालक किस कुल का प्रदीप है। भौतिक ऐषणाओ से सदा दूर रहने वाले साधुओ पर तुम निर्भय होकर विश्वास कर सकती हो। तुम्हारे साहस को देखकर हमे बडी प्रसन्नता हुई है। हम लोगो से तुम्हे सदा अच्छाई की ही आशा करनी चाहिये। अब तुम हमसे बिना किसी बात को छुपाये, सार रूप मे अपने बीते जीवन के सम्बन्ध मे बताने योग्य बाते बताओ।"

उस बालक की माता ने अपनी फटी साटिका के छोर से अपने आसू पोछे और इस प्रकार अपने आपको आश्वस्त करते हुए उसने अपने बीते जीवन का परिचय देना प्रारम्भ किया—"योगीश्वर ! मै पचासर के राजा जयशेखर की रानी हू, मेरा नाम रूपसुन्दरी है। कल्याणी-पति भुवड के साथ युद्ध करते हुए वे रणागण मे ही स्वर्गस्थ हुए। मेरे पतिदेव महाराज जयशेखर जिस समय स्वर्गस्थ हुए, उस समय यह बालक मेरे गर्भ मे ही था। यह तो सर्वविदित ही है कि राजघरानो मे राज्य को हथियाने के लिये थोडा सा अवसर मिलते ही षड्यन्त्रो का सूत्रपात हो जाता है। मेरे गर्भस्थ शिशु की, राज्य के लोभ मे आकर कोई हत्या न कर दे, इस सभावित भय से मैं शत्रुओ से बचकर राजप्रासाद से एकाकी निकली और यहा विकट वन मे आकर वन्य जीवन व्यतीत करने लगी। इस वन मे ही समय पर मैंने वि० स० ७५२ की वैशाख शुक्ला पूर्णिमा के दिन इस बालक को जन्म दिया है। इस बालक ने दैवदुर्विपाक से राजप्रासाद के स्थान पर इस वन मे जन्म लिया, इसलिये मैंने इसका नाम वनराज रखा है।

चापोत्कट वश का प्रदीप यह बालक अपने जन्मकाल से ही इस विकट वनी के वन्य पशुओ के बीच येन-केन प्रकारेण अपना शैशव काल व्यतीत कर रहा है। इसके मामा सुरपाल है। षड्यन्त्रकारी लोग बडे सतर्क होते है। वे इसके सभी निकट सबन्धियो के यहा इस बालक की टोह मे अवश्य लगे होगे। कही मेरा यह नन्हा सा लाल उन षड्यन्त्रकारियो के जाल मे न फस जाय, इसी भय से मैं अपने किसी आत्मीय के पास न जाकर इस एकान्त वन मे इसके प्राणो की रक्षा कर रही हू।"

अपने जीवन के उषाकाल से ही राजमहलो मे रहने वाली एक क्षत्रिय बाला हिस्र पशुओ से सकुल निर्जन वन मे किस साहस और आत्मविश्वास के साथ रह रही है, यह देख और सुनकर शीलगुणसूरि अवाक् रह गये । उन्होने मन ही मन मे कहा—"इसी प्रकार की साहस-शौर्य-पु ज क्षत्राणियो की कुक्षि से शौर्यशाली नर-रत्नो का जन्म होता है ।"

शीलगुणसूरि ने राजमाता रूपसुन्दरी की ओर अभिमुख होते हुए कहा—"वत्से ! साहस और शौर्य की अप्रतिम प्रतिमूर्ति रत्नगर्भा क्षत्राणी की इस अद्भुत् शौर्यगाथा को सुनकर आर्यधरा के आबालवृद्ध का भाल गर्व से समुन्नत हो जाता है । अब पग-पग पर सकटो की परम्पराओ से परिपूर्ण तुम्हारे वन्य जीवन के दिन समाप्त हुए । तुम मेरे साथ चलो । तुम्हारे रहन-सहन और इस होनहार बालक के लालन-पालन शिक्षण-दीक्षण आदि की सभी भाति की समुचित व्यवस्था कर दी जायगी । हम लोगो के अतिरिक्त तुम्हारा वास्तविक परिचय किसी को नही हो पायगा । तुम हमारी धर्मपुत्री हो । गुर्जरभूमि का सम्पूर्ण जैन समाज तुम्हे और तुम्हारे बालक को देश की अनमोल धरोहर मानकर तुम्हारे स्वाभिमान-सम्मान की समुचित रूप से रक्षा करेगा । तुम अपने पुत्र को लेकर पूर्णरूपेण आश्वस्त होकर हमारे साथ चलो ।"

रूपसुन्दरी ने तत्काल झोली सहित बालक को अपनी पीठ पर लिया और उस सन्तमण्डली के चरणचिह्नो का अनुसरण करती हुई उनके साथ-साथ पथ पर अग्रसर हो गयी ।

शीलगुणसूरि बालक वनराज और उसकी माता के साथ पचासर के उपाश्रय मे आये । उन्होने अपनी सेवा मे उपस्थित हुए जैन श्रीसघ के प्रधान के साथ गुप्त मत्रणा कर राजमाता रूपसुन्दरी और उसके पुत्र वनराज की एक सुरक्षित भवन मे आवास-भोजन-पान आदि जीवनोपयोगी सभी सामग्रियो की समुचित व्यवस्था कर दी ।

बालक वनराज का लालन-पालन बडे ही प्यार-दुलार के साथ होने लगा । बालक वनराज द्वितीया के चन्द्र की कला के समान क्षात्र-तेज के साथ-साथ उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होने लगा । वह अपना अधिकाश समय चैत्यवासी शीलगुणसूरि के स्थिर आवास-चैत्यालय मे ही व्यतीत करता ।

शीलगुणसूरि के पट्ट शिष्य देवचन्द्रसूरि ने बालक वनराज के शिक्षण का कार्य स्वय अपने हाथ मे लिया और वे बडे ही मनोयोगपूर्वक स्नेह से विद्याध्ययन कराने के साथ-साथ जैन धर्म के प्रमुख सिद्धान्तो की प्रारम्भिक शिक्षा भी देने लगे । उन्होने बालक वनराज के बालसुलभ निश्छल मानस मे क्षत्रियकुमारोचित सत्य,

शील, शौर्य, परोपकार, निर्भीकता आदि उच्च नैतिक धरातल के सस्कारो को भी ढालने का प्रयास किया।

देवचन्द्रसूरि की आशा के अनुरूप ही बालक वनराज भी इन सुसस्कारो को अनुक्रमश हृदयगम करने के साथ-साथ उन्हे अपने जीवन मे ढालने लगा। कुशाग्र-बुद्धि बालक वनराज किशोरवय मे प्रवेश करते-करते व्यावहारिक ज्ञान के साथ-साथ अनेक विद्याओ तथा नीति एव न्यायशास्त्र मे पारगत बन गया।

समुचित शिक्षण प्रदान कर देने के पश्चात् दूरदर्शी अवसरज्ञ शीलगुणसूरि ने वनराज को उसके मामा सूरपाल के पास क्षत्रियोचित शस्त्रास्त्रो की शिक्षा के लिये भेज दिया। अपने मामा के पास रहकर वनराज ने शस्त्रास्त्र-सचालन और रणभूमि मे शत्रुओ पर विजय प्राप्त करने की युद्धकौशल-कला का शिक्षण प्राप्त किया।

वनराज बाल्यकाल से ही बडा महत्वाकाक्षी था। युवावस्था मे पदार्पण करते ही उसने गुर्जर भूमि मे एक ऐसे शक्तिशाली एव सुविशाल राज्य की स्थापना का दृढ सकल्प किया, जिसकी ओर कभी कोई शक्तिशाली से शक्तिशाली शत्रु भी आख उठाकर देख न सके। उसने एक प्रकार से शक्तिशाली गुर्जर राज्य की स्थापना को अपने जीवन का लक्ष्य बना लिया। अपने जीवन के इस लक्ष्य की पूर्ति के लिये उसे बडे लम्बे समय तक सघर्षरत रहना पडा। लगभग ३० वर्षो तक सघर्षरत रहने के पश्चात् उसे अपने अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति हुई। इतने लम्बे सघर्षकाल मे उसे चैत्यवासी आचार्य शीलगुणसूरि, उनके शिष्य एव पट्टधर देवचन्द्रसूरि और चैत्यवासी सघ से लगातार किसी न किसी रूप मे सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा। सघर्ष की घडियो मे बडी से बडी विपत्ति आने पर भी वह कभी निराश नही हुआ। अपने सघर्षपूर्ण जीवनकाल मे अनेक बार आई अभावपूर्ण विपन्नावस्था मे भी वह शक्तिशाली गुर्जर राज्य की स्थापना के स्वप्न देखता रहा और अपनी कल्पना के भावी विशाल राज्य के योग्य पहले से ही,- प्रधानामात्य, मन्त्री, दण्डनायक-सेनापति आदि पदो के गुरुतर भार को वहन करने मे सक्षम व्यक्तियो का चयन करने मे सलग्न रहा। अपने स्वप्नो के साम्राज्य को सुचारुरूप से चलाने के लिए वनराज द्वारा किये गये सुयोग्य व्यक्तियो के चयन की घटनाए बडी ही रोचक होने के साथ-साथ महत्वाकाक्षी मनीषियो के लिये बडी उपयोगी सिद्ध हो सकती है। इस दृष्टि से उनमे से दो तीन मुख्य घटनाओ को यहा उद्धृत किया जा रहा है—

१ सघर्ष की विकट घडियो मे अपने सैनिको के भरण-पोषण एव शत्रुओ के साथ सघर्ष के लिये शस्त्रास्त्रो की पूर्ति हेतु वनराज को दस्यु कर्म भी अगीकार करना पडा।

एक दिन जाब अथवा चापा नामक श्रीमाली जातीय जैन व्यापारी घृत बेचने के लिये नगर की ओर जा रहा था। जब वह घृतपात्रो से भरे अपने गाडो के साथ एक वन को पार कर रहा था, उस समय वनराज को परिस्थितिवशात् दस्युकर्म करने के लिये बाध्य होना पडा था। गाडो के साथ व्यापारी को देखते ही वनराज ने अपने दो साथियो के साथ आगे बढ कर उसे रोका। प्रत्युत्पन्नमति वरिणक् ने ताड लिया कि आज उसे लूटा जायेगा। वह स्वय धनुर्धारी था। उसने तत्काल अपने तूणीर मे से सभी तीरो को निकाला। वे कुल ५ तीर थे। उन पाच तीरो मे से दो तीरो को उसने वनराज के देखते-देखते ही तोड-मरोड कर एक ओर फैंक दिया और शेष तीन तीरो को हाथ मे लेकर खडा हो गया।

वनराज ने आश्चर्य प्रकट करते हुए उस व्यापारी से पूछा —"ए वणिक्! इन पाच बाणो मे से दो को तोड कर तुमने एक ओर क्यो फेंक दिया?"

जाम्ब ने तत्काल बडी निर्भीकता से उत्तर दिया—"तुम लोग तीन हो अत तुम्हारे लिये ये तीन बाण ही पर्याप्त हैं। शेष दो बाणो का बोझा मैं व्यर्थ ही क्यो ढोऊ, इस लिये मैंने इनको तोडकर एक ओर फैंक दिया।"

हास्य भरे आश्चर्यमिश्रित स्वर मे वनराज ने पूछा—"अच्छा! इतना अटूट विश्वास है तुम्हे अपनी धनुर्विद्या पर? यदि ऐसा है तो वायु के झोको से झकझोरित उस वृक्ष की टहनी के वाम पार्श्व मे झूमते हुए उस फल का लक्ष्यवेध करो।"

जाम्ब ने तत्काल अपने धनुष की प्रत्यचा पर शरसधान करके तीर चला दिया। जिसकी ओर वनराज ने सकेत किया था वही फल पृथ्वी पर आ गिरा।

हर्षविभोर होकर वनराज ने कहा—"तुम्हारे साहस और दुस्साध्य लक्ष्यवेध से मै बडा प्रसन्न हू। गुर्जर राज्य की स्थापना के साथ ही मै तुम्हे अपने राज्य का महामत्री बनाऊगा। समझ लो कि आज इस क्षण से ही तुम मेरे विशाल गुर्जर राज्य के प्रधान मन्त्री हो। अपने बुद्धि-कौशल से तुम कोई ऐसा उपाय सोचो कि हमे विपुल धनराशि की प्राप्ति हो। तुम्हारी बुद्धि और मेरी शक्ति के योग से सफलता हमारे चरण चूमेगी। भावी गुर्जर राज्य के महामात्य! जाओ और अपार धनराशि की प्राप्ति के लिये अभी से उपाय खोजना प्रारम्भ कर दो।"

श्रेष्ठि जाम्ब ने भी वनराज की आज्ञा को ठीक उसी रूप मे शिरोधार्य किया, जिस लहजे से एक प्रधानमन्त्री अपने सम्राट् की आज्ञा को शिरोधार्य करता है।

वनराज ने श्रेष्ठि जाम्व का नाम, ग्राम आदि अपनी दैनन्दिनी मे लिखा और उसे सहर्ष जाने की अनुमति प्रदान कर दी।

२ संघर्ष के दिनो मे अपने सैनिको की आवश्यकतापूर्ति के लिए वनराज को रात्रि के समय काकर नामक ग्राम के श्रीमाली जातीय जैन श्रीमन्त के घर मे सेंध लगाने के लिये बाध्य होना पडा। उस घर के किसी एक कक्ष मे घुसते ही उसने एक भाण्डागार के कपाट खोलकर उसमे अपना हाथ डाला। संयोग की बात थी कि उसका हाथ अंधकार के कारण दही से भरे चौडे मुंह के एक पात्र मे जा पडा। जब उसने अनुभव किया कि उसका हाथ दही पर लगा है तो वह बिना कुछ लिये ही तत्काल खाली हाथ वहां से लौट गया।

प्रातःकाल जब घर वालो को पता चला कि घर मे रात्रि के समय सेंध लगी है, तो घर मे अच्छी तरह छानबीन की गई। केवल दधि दुग्धादि के भाण्डागार के कपाट खुले देखकर और दही मे किसी के हाथ के रेखाचिह्न देखकर सब घर वालो को पूरा विश्वास हो गया कि सेंध लगी अवश्य है किन्तु घर मे से कोई भी वस्तु गई नही है।

श्रेष्ठि की बहन श्रीदेवी ने दही के उस भाण्ड को बाहर निकालकर देखा तो उसके आश्चर्य का पारावार नही रहा। उसने अपने भाई और पारिवारिक जनो को कहा—"जो व्यक्ति हमारे घर मे सेंध डालने आया था, वह कोई साधारण व्यक्ति नही अपितु वह तो कोई महान् भाग्यशाली प्रतापी पुरुष है। उसके हाथ की रेखाओ के जो चिह्न दही की ऊपरी सतह पर उभरे है, वे पूर्णत स्पष्ट नही है किन्तु जो एक-दो रेखाचिह्न स्पष्ट दिख रहे है, उनसे सुनिश्चित रूपेण यह कहा जा सकता है कि या तो वह वर्तमान मे ही कोई महाप्रतापी पुरुष है अथवा निकट भविष्य मे ही उसका सूर्य के समान भाग्योदय होने वाला है। मुझे आश्चर्य है कि इस प्रकार के भाग्यशाली पुरुष को सेंध लगाने की आवश्यकता क्यो पडी।"

श्रीदेवी ने उस घटना की वास्तविकता को न समझ पा सकने के कारण अपने मन मे उत्पन्न हुई अन्तर्व्यथा को अभिव्यक्त करते हुए कहा—"क्या ही अच्छा हो कि वह पुरुष एक बार अपने घर मे पुन आवे, तो मैं उसके हाथ की रेखाओ को ठीक से देखू और उसे बताऊ, कि वास्तव मे वह क्या है और क्या होने वाला है।"

कर्ण-परम्परा से श्रीदेवी द्वारा प्रकट किये गये उद्‌गार वनराज तक भी पहुच गये। दूसरे दिन वह छद्मवेष मे काकर के उस श्रेष्ठि के घर पहुचा और उसने उस श्रेष्ठि के साथ उसकी बहिन श्रीदेवी से साक्षात्कार किया। श्रीदेवी ने उसके लक्षणो एव हस्तरेखाओ से पहचान लिया कि यही वह पुरुष है, जिसके हाथ का निशान दही के भाण्ड मे अंकित दिखाई दिया था। श्रीदेवी ने वनराज को अपना धर्मभ्राता मान कर उसके हाथ मे अंकित रेखाओ को देखा और कहा कि निकट भविष्य मे ही आप एक महान् साम्राज्य के स्वामी होने वाले हैं। उसने बडे ही स्नेह सम्मान के साथ वनराज को अपने घर भोजन करवाया और बातो ही बातो मे उच्च आदर्शो पर अटल रूप से स्थिर रहने की उसे प्रेरणाप्रद शिक्षा भी दी।

"तुम मेरी धर्म बहिन हो"—यह कहते हुए वनराज ने श्रीदेवी द्वारा दी गई शिक्षाओ को अपने जीवन मे ढालने का आश्वासन देते हुए अपना आन्तरिक दृढ़ सकल्प प्रकट किया कि जिस समय वह राजसिंहासन पर बैठेगा तो उस समय अपनी धर्मबहिन श्रीदेवी के हाथ से ही राजतिलक करवायेगा।

३ इसी प्रकार वनराज ने चावडा राजवश के राजसिंहासन पर आसीन होने से पूर्व ही अपने साधिवैग्रहिक अथवा परम विश्वासपात्र अथवा अपने रहस्यपूर्ण कार्य-कलापो मे गुप्त मन्त्रणा कारक मन्त्री मोढ जातीय जैन श्री आशक का मनोनयन भी कर लिया था।

जाम्ब श्रेष्ठी वनराज से जगल मे भेंट के पश्चात् समय-समय पर मिलकर उसे अपने बुद्धि बल से अर्थ प्राप्ति के उपाय बता कर उसे धन प्राप्ति करवाता रहा। श्रेष्ठि जाम्ब ने एक दिन देखा कि भुवड राजा के राजस्व अधिकारी राजस्व की उगाही के लिये गुजरात मे आये हुए है। जाम्ब ने उनसे सम्पर्क साध कर उन्हे भूराजस्व आदि की वसूली मे वडी सहायता की और वह भुवड के राजस्व अधिकारियो का परम प्रीतिपात्र एव विश्वास पात्र बन गया। जाम्व ने उगाही की धन राशि को स्वर्ण मुद्राओ के रूप मे परिवर्तित करवाया।

राजस्व की पूरी वसूली हो जाने के पश्चात् भुवड के अधिकारियो की कल्याणी की ओर लौटने की तिथि निश्चित हुई। जाम्ब ने वडे ही गुप्त ढग से वनराज से सम्पर्क साध कर भुवड के अधिकारियो के लौटने के मार्ग एव तिथि आदि से उसे अवगत कर दिया।

वनराज भुवड ने कोष रक्षक सैनिको की सख्या से चौगुनी सख्या मे अपने सैनिको को साथ ले भुवड के राज्याधिकारियो के लौटने के मार्ग मे उन पर आक्रमण करने के लिये उपयुक्त स्थान पर वृक्षो की ओट मे अपना शिविर डाल दिया।

भुवड के राजस्व अधिकारी विपुल धनराशि एव सैनिको के साथ ज्यो ही उस वन मे पहुचे वनराज अपने सैनिको के साथ उन पर टूट पडा। भुवड के सैनिक वनराज के प्रवल आक्रमण के समक्ष नही टिक सके। कुछ ही क्षणो मे भुवड के सैनिक क्षत-विक्षत हो धराशायी हो गये।

इस आक्रमण मे वनराज को २४ लाख स्वर्ण मुद्राए, ४०० घोडे, अनेक हाथी और शकट, शस्त्रास्त्र आदि अनेक प्रकार की सामग्री प्राप्त हुई।

इतनी वडी धनराशि एकत्रित हो जाने पर वनराज ने एक शक्तिशाली सेना का गठन कर अपने पैत्रिक राज्य पर अधिकार करना आरम्भ कर दिया। भुवड

को अपने चरो से ज्ञात हो गया कि वनराज ने अजेय शक्ति एकत्रित कर ली है अत उसने गजरात की ओर से अपना मुख मोड लिया।

अन्ततोगत्वा लम्बे सघर्ष के पश्चात् क्रमश गुर्जर भूमि के छोटे बडे अनेक क्षेत्रो पर अपना आधिपत्य स्थापित करते-करते वनराज चावडा गुर्जर भूमि के विशाल एव शक्तिशाली राज्य का स्वामी बन गया।

अपने गुरु शीलगुणसूरि के निर्देशानुसार वनराज ने विक्रम स० ८०२ की वैशाख शुक्ला अक्षय तृतीया के दिन शीलगुणसूरि द्वारा बताई गई भूमि पर अरण-हिल्लपुरपत्तन नगर की नीव का शिलान्यास किया।

महाराजा वनराज ने चापोत्कट राजवश के राजसिंहासन पर आरूढ होते समय अपनी धर्मबहिन श्रीदेवी से ही पूर्वकृत सकल्प के अनुसार राजतिलक करवाया।

उसने श्रीमाली जैन जाम्ब—अपर नाम चापराज को जगल मे की गई अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार अपना मत्री बनाया। जाम्ब के उत्तराधिकारी वशधर पीढियो प्रपीढियो तक गुर्जर राज्य के राजकार्यो मे सक्रिय योगदान देते रहे। जाम्ब का वश बडे लम्बे समय तक मन्त्रीवश के रूप मे गुर्जरभूमि मे विख्यात रहा।

वनराज ने पाटण को बसाते समय गाभू के निवासी नीना नामक श्रेष्ठि को पाटण बुलाकर उसे परिवार सहित पाटण मे बसाया। वनराज ने नीना को महामत्री पद प्रदान कर उसे पाटण नगर का महादण्डनायक भी बनाया। जिस प्रकार नन्दिवर्द्धन (प्रथम नन्द) को कल्पाक महामात्य के रूप मे मिला और उसने नन्द राजाओ को पीढी प्रपीढी के लिये एक कुशल एव स्वामिभक्त अमात्यवश प्रदान किया उसी भाति यदि यह कहा जाय तो अतिशयोक्ति नही होगी कि अणहिल्लपुर पत्तन के प्रथम महामन्त्री के रूप मे महाराजा वनराज द्वारा मनोनीत महामन्त्री नीना ने भी गुर्जरभूमि के राजवशो को नीति निपुण एव स्वामिभक्त जैन अमात्यवश प्रदान किया। नीना का वशज लहिर चापोत्कट राजवश के अन्तिम राजा के शासन-काल मे और मूलराज सोलकी के राज्यकाल मे भी दण्डनायक रहा। इसी नीना महामन्त्री के वशज वीर और नेढ भी पाटण के दण्डनायक रहे। दण्डनायक वीर का पुत्र विमल भी भीमदेव सोलकी के शासन काल मे गुजरात का मत्री एव दण्डनायक रहा। इसी प्रकार मत्री धवल, महामन्त्री आनन्द आदि अनेक अमात्य इसी अमात्य-वश मे हुए। गुर्जरेश जैन महाराजा कुमारपाल का महामात्य पृथ्वीपाल भी नीना महामन्त्री का ही वशधर था।

इस प्रकार सुयोग्य व्यक्तियो के चयन मे वनराज बडे ही निपुण और अद्-भुत् सूझ-बूझ के धनी थे। जहा तक कृतज्ञता ज्ञापन का प्रश्न है चापोत्कट राजवश

के महाराजा वनराज को दक्षिण के गगराजवश एव होय्सल राजवश के राजाओ के समक्ष रखा जा सकता है, जिन्होने शताब्दियो तक अपने राजवश के सस्थापक जैनाचार्य के प्रति अप्रतिम कृतज्ञता प्रकट करते हुए जैनधर्म के प्रचार-प्रसार एव उसके अभ्युदय उत्कर्ष के लिये अनुपम योगदान दिया ।

शीलगुणसूरि के कृपाप्रसाद से वनराज का समुचित रूपेण लालन-पालन हुआ । शीलगुणसूरि के पट्टधर शिष्य देवचन्द्रसूरि ने उसे समुचित शिक्षण प्रदान कर सुयोग्य बनाया । इन दोनो ही गुरुशिष्यो ने तथा उनके इगित मात्र पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देने वाले चैत्यवासी जैन श्रीसघ ने समय-समय पर वनराज को सब भाति की सहायता प्रदान की । अपने अनन्य उपकारियो-शीलगुणसूरि, देवचन्द्रसूरि और चैत्यवासी जैन श्रीसघ के प्रति अपनी अगाध कृतज्ञता प्रकट करते हुए वनराज चावडा ने गुर्जर राज्य के राजसिंहासन पर आरूढ होते समय शीलगुणसूरि और देवचन्द्रसूरि के हाथो से वासक्षेप के साथ अपना राज्याभिषेक करवाया था । अपने साथ किये गये अनन्य उपकार के प्रति आन्तरिक कृतज्ञता प्रकट करते हुए वनराज ने अपने गुरु शीलगुणसूरि की इच्छानुसार पाटण के विशाल राज्य मे चैत्यवासी परम्परा के साधु-साध्वियो को छोडकर शेष सभी परम्पराओ के साधु-साध्वियो के प्रवेश तक पर प्रतिबन्ध लगाने की स्थायी आज्ञा निकालकर गुर्जर प्रदेश मे चैत्यवासी परम्परा के प्रचार-प्रसार और पल्लवन मे ऐसा अपूर्व योगदान दिया था, जिसका उदाहरण अन्यत्र उपलब्ध नही होता । इसे कृतज्ञता प्रकाशन मे वनराज द्वारा अपने गुरु को दी गई एक बहुत बडी ऐतिहासिक दक्षिणा की सज्ञा दी जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी । वनराज द्वारा इस प्रकार प्रसारित की गई प्रतिबन्धात्मक राजाज्ञा का सबसे बडा लाभ चैत्यवासी परम्परा को यह मिला कि वीर निर्वाण की ग्यारहवी शताब्दी से ही गुर्जर भूमि मे पूर्णवर्चस्व की स्थिति मे रहते आ रहे चैत्यवासी वीर नि० की १६ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक गुर्जर भूमि मे अपनी परम्परा का ही एकच्छत्र प्रभुत्व जमाये रख सके । गुर्जर भूमि मे राज्याश्रय पायी हुई चैत्यवासी परम्परा किसी अन्य प्रतिद्वन्द्वी परम्परा के प्रचार के अभाव मे बिना किसी बाधा के उत्तरोत्तर निर्बाध गति से निरन्तर पल्लवित एव पुष्पित होती ही रही । उसे लगभग ५ शताब्दियो तक विरोध की गरम हवा तक नही लगी ।

वनराज चावडा ने बाल्यकाल मे चैत्यवासी आचार्य देवचन्द्रसूरि से जैन सिद्धान्तो की शिक्षा प्राप्त की थी । वह जीवन भर शीलगुणसूरि को और देवचन्द्र सूरि को अपना गुरु मानता रहा । इन चैत्यवासी आचार्यो एव चैत्यवासी सघ द्वारा किये गये उपकारो के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के लिये न केवल वनराज ही अपितु उसके वशज भी अपने आपको चैत्यवासी परम्परा के ही उपासक मानते एव प्रकट करते रहे । क्षत्रिय वशी चावडा चैत्यवासियो को अपना कुलगुरु मानते थे, इस तथ्य का द्योतक एक दोहा वडा प्रसिद्ध रहा है, जो इस प्रकार है —

शिशोदिया साडेसरा, चउदसिया चउहाण ।
चैत्यवासिया चावडा, कुलगुरु एह वखाण ।।

प्रभावक चरित्र मे भी चैत्यवासियो के मुख से वनराज चावडा पर चैत्यवासी आचार्य देवचन्द्रसूरि द्वारा किये गये उपकारो के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करने हेतु वनराज की आज्ञा से चैत्यवासियो द्वारा असम्मत अन्य सभी जैन परम्परा के साधु-साध्वियो का पाटण के विशाल राज्य मे प्रवेश निषेध की राजाज्ञा प्रसारित किये जाने का अधोलिखित रूप मे विवरण मिलता है —

अनुयुक्ताश्च ते चैव प्राहु शेणु महीपते ।
पुरा श्री वनराजोऽभूत् चापोत्कटवरान्वय ।।७१।।
स बाल्ये वद्धित श्रीमद्देवचन्द्रेण सूरिणा ।
नागेन्द्रगच्छभूद्धार प्राग्वराहोपमास्पृशा ।।७२।।
पचाश्रयाभिधस्थानस्थितचैत्य निवासिना ।
पुर स च निवेश्येदमिमत्र राज्य ददौ नवम् ।।७३।।
वनराजविहार च तत्रास्थापयत्त प्रभु ।
कृतज्ञत्वादसौ तेषा गुरूणामर्हण व्यधात् ।।७४।।
व्यवस्था तत्र चाकारि सघेन नृपासाक्षिकम् ।
सम्प्रदायविभेदेन लाघव न यथा भवेत् ।।७५।।
चैत्यगच्छयतिव्रातसम्मतो वसतान्मुनि ।
नगरे मुनिभिर्नात्र वस्तव्य तदसम्मतै ।।७६।।[1]

वनराज ने पाटण नगर का विक्रम स० ८०२ मे शिलान्यास करते समय भगवान् पार्श्वनाथ के मन्दिर की नीव का शिलान्यास भी किया। पाटण नगर को अपनी राजधानी बनाने के पश्चात् वनराज ने पार्श्वनाथ के मन्दिर की प्रतिष्ठा अपने गुरु चैत्यवासी आचार्य शीलगुण सूरि के हाथो निष्पन्न करवाई। पार्श्वनाथ भगवान् के उस मन्दिर का नाम वनराजविहार भी रखा गया। उस वनराज विहार के सम्बन्ध मे इस प्रकार का उल्लेख भी उपलब्ध होता है कि वनराज ने यह विहार अपनी माता की सुविधा के लिये बनवाया जिससे कि वह प्रतिदिन पार्श्वप्रभु की पूजा कर सके। वनराज की माता भी परम जिनोपासिका थी।

इस प्रकार वनराज चावडा को एक विशाल एव शक्तिशाली गुर्जर राज्य की स्थापना के अपने जीवन के लक्ष्य की पूर्ति मे चैत्यवासी आचार्य शीलगुणसूरि, उनके शिष्य देवचन्द्रसूरि, चैत्यवासी जैन सघ और जैन मनीषियो का प्रारम्भ से अन्त तक

---

[1] प्रभावक चरित्र, अभयदेवसूरिचरितम्, पृष्ठ १६३

समय-समय पर सभी भाति सक्रिय सहयोग प्राप्त होता रहा। पाटण राज्य के आश्रय मे जिस प्रकार चैत्यवासी परम्परा फली और फूली उसी प्रकार चैत्यवासियो के सक्रिय सहयोग से वनराज वृहद् गुर्जर राज्य की स्थापना मे सफल—काम हुआ, इस तथ्य को प्राय सभी इतिहासविदो ने एक स्वर से स्वीकार किया है। यह जैनो मुख्य रूप से चैत्यवासियो के सक्रिय सहयोग का ही सुपरिणाम था कि पाटण लगभग ७ शताब्दियो तक गुर्जर राज्य की राजधानी रहा। वृहद् गुर्जर राज्य की स्थापना मे जैनधर्मावलम्बियो के सक्रिय सहयोग के सम्बन्ध मे, 'प्रबन्धचिन्तामणि' नामक ग्रन्थ के वनराज प्रबन्ध मे निम्नलिखित श्लोक मननीय है —

> गौर्जरात्रमिद राज्य, वनराजात् प्रभृत्यभूत् ।
> स्थापित जैनमन्त्र्याद्यै, तद्द्वेषी नैव नन्दति ।।

अर्थात् गुर्जरात्र राज्य की सस्थापना जैन मन्त्रियो के सक्रिय सहयोग से हुई। चापोत्कटवशीय क्षत्रिय वनराज से वृहद् गुर्जर राज्य का शुभारम्भ हुआ इसी कारण जैन धर्म के प्रति विद्वेष अथवा ईर्ष्या रखने वाला कोई भी व्यक्ति इस राज्य मे समृद्ध नही हो पाता।

वनराज चावडा का नैतिक धरातल कितना उच्च कोटि का था, इस सम्बन्ध मे लोक कथा के रूप मे एक आख्यान परम्परा से बडा ही लोकप्रिय रहा है। वह आख्यान इस प्रकार है —

"वनराज के शासनकाल मे एक समय १००० घोडो और ५०० हाथियो से लदे जहाज समुद्री पवन के प्रचण्ड झौके के परिणामस्वरूप अपने लक्ष्य की ओर न बढ कर सोमनाथ के समुद्री किनारे पर पाटण राज्य की सीमा मे आ पहुचे। जब वनराज के राजकुमारो को यह सूचना मिली तो तीनो राजकुमार अपने पिता की सेवा मे उपस्थित हुए और उन्होने अपने पिता से उन जहाजो को लूट लेने की आज्ञा मागते हुए निवेदन किया—"देव ! इस घर आई हुई गगा से लाभ क्यो नही ले लिया जाय।"

वनराज ने अपने पुत्रो को इस प्रकार का कोई कार्य न करने का निर्देश देते हुए कहा—"मैं समझ नही पा रहा हू कि तुम लोगो के मन मे इस प्रकार का अनैतिक कार्य करने के विचार ही कैसे आये। तुम्हे सदा न्याय नीतिपूर्वक अपनी भुजाओ के बल से अर्जित सम्पदा को ही अपनी सम्पदा समझना चाहिये।"

विना प्रयास किये और विना धन के व्यय किये ही १००० जातीय अश्व और ५०० गजराज हाथ लग जायें, यह एक बहुत बडा प्रलोभन था। वे राजकुमार अपने पिता द्वारा उन जहाजो को लूट लेने की आज्ञा के प्राप्त न होने पर भी लोभ का सवरण नही कर सके। उन्होने अपने सशस्त्र अनुचरो को भेज कर उन जहाजो को

लुटवा लिया और उस लूट मे मिले ५०० हाथियो और १००० घोडो को वनराज के समक्ष उपस्थित किया। अपने पुत्रो द्वारा किये गये इस अवैध कार्य से वनराज को बडा दुःख हुआ, किन्तु उस समय वह मौन रहा। एक दिन समुचित प्रसग उपस्थित होने पर वनराज ने अपने पुत्रो से कहा—"हमारे आस-पास के राजा गण अन्य सभी राजाओ की तो मुक्तकण्ठ से प्रशसा करते है किन्तु जहा गुर्जर भूमि का नाम आता है तो वे लोग यह कह कर हमारी हसी उडाते है कि गुजरात मे चोरो का राज्य है। हमे इस कलक को धोना है। किन्तु तुमने राजाज्ञा का उल्लघन कर गुर्जर राज्य के भाल मे लगे इस कलक के टीके को और गहरा, और ताजा किया है। इसका मुझे गहरा दुःख है।"

तदनन्तर वनराज ने अपने तीनो पुत्रो के समक्ष एक धनुष प्रस्तुत करते हुए उस पर शरसधान की आज्ञा दी। क्रमश तीनो राजकुमारो ने शरसधान का प्रयास किया किन्तु उनमे से कोई शरसधान नही कर सका। यह देख कर वनराज ने उस धनुष को अपने हाथ मे लेकर उसी समय शरसधान कर दिया। शर सधान किये हुए वनराज ने अपने पुत्रो से कहा—"पुत्रो! तुमने राजाज्ञा का उल्लघन किया है, इस अपराध का दन्ड या तो तुम स्वय भोगो अन्यथा मुझे तुम्हारा सरक्षक होने के कारण तुम्हारे अपराध का दण्ड भोगना होगा।" यह कहते हुए वृहद् गुर्जर राज्य के सस्थापक वनराज ने जीवन भर के लिये अन्न-जल का त्याग कर पूर्ण अनशन कर दिया। कतिपय दिनो तक अनशन के साथ अध्यात्म साधना मे लीन रहते हुए वनराज ने १०९ वर्ष की आयु पूर्ण कर विक्रम स० ८६२ मे इहलीला समाप्त की। न केवल गुजरात प्रदेश के अपितु आर्यधरा के इतिहास मे वृहद् गुजरात राज्य के आद्य सस्थापक जैन धर्मानुयायी राजा वनराज का नाम सदा सम्मान के साथ लिया जाता रहेगा।

पभ ी सूरि

तेतीसवे युगप्रधानाचार्य सभूति तथा चौतीसवे युग प्र० आचार्य माढरसभूति के युग प्रधानाचार्य काल के प्रभावक एव महावादी आचार्य बप्पभट्टी सूरि का जन्म पाचाल प्रदेशस्थ डुम्बाउधी (साम्प्रत कालीन डुवा) ग्राम के क्षत्रिय बप्प की धर्म-पत्नी भट्टी की कुक्षि से वि० स० ८०० मे भाद्रपद तृतीया रविवार के दिन हस्त नक्षत्र मे हुआ।

बप्प क्षत्रिय ने अपने पुत्र का नाम सूरपाल रखा। बालक बडा तेजस्वी था। वह शुक्लपक्ष की द्वितीया के चद्र की कलाओ के समान अनुक्रमश बढने लगा। अनेक प्रसगो पर जब उसने अपने माता-पिता एव बन्धुवर्ग से यह सुना कि उसके पिता एक राज्य के स्वामी थे। शत्रुओ ने दुरभिसन्धि कर उसके पैतृक राज्य पर अधिकार कर लिया और तभी से उसके पिता एक साधारण क्षत्रिय का जीवन व्यतीत कर रहे हैं। तो तेजस्वी बालक सूरपाल ने मन ही मन अपना खोया हुआ पैतृक राज्य पुन प्राप्त करने की ठानी।

जिस समय बालक सूरपाल ६ वर्ष का हुआ उस समय उसने अपने पिता के समक्ष अपना सकल्प प्रकट करते हुए उनसे अपने शत्रुओ का सहार करने की अनुमति माँगी। 'शत्रुओ को यदि इस बालक के सकल्प का पता चल गया तो वे इसके प्राणो के ग्राहक बन जायेगे और इस तरह उसे अपने वश के आधारभूत एक-मात्र पुत्र से भी हाथ धोना पडेगा,' इस आशका से बप्प क्षत्रिय ने बालक सूरपाल को डाटते हुए भविष्य मे कभी इस प्रकार की बात तक मु ह से न निकालने की कडे शब्दो मे चेतावनी दी। इससे उस होनहार प्रतिभाशाली बालक के स्वाभिमान को इतनी गहरी चोट पहुँची कि वह अवसर देख कर अपनी माता तक को बिना कुछ कहे ही घर से चुपचाप निकल गया।

उन दिनो गुजरात महाराज्य की राजधानी पाटण मे महाराजा जितशत्रु गुजरात राज्य के राज्यसिंहासन पर आसीन थे। उस समय मोढ गच्छ के जैनाचार्य सिद्धसेन अपने सदुपदेशो से भव्यो को सत्यपथ बताते हुए जिनशासन के प्रचार प्रसार एव निज पर कल्याण मे निरत थे। एक दिन आचार्य श्री सिद्धसेन पाटण से

---

[1] विक्रमत शून्यद्वयवसुवर्षे (८००) भाद्रपदतृतीयायाम्।
रविवारे हस्तर्क्षे जन्माभूद् बप्पभट्टिगुरो ॥७३९॥
(प्रभावक चरित्र)

विहार कर अनेक स्थानो मे विचरण करते हुए मोढेरा ग्राम मे पहुचे। मोढेरा मे आचार्य सिद्धसेन ने रात्रि की अवसान वेला मे सुखप्रसुप्तावस्था मे स्वप्न देखा कि एक महान् तेजस्वी सिंहशावक छलाग भर कर चैत्य के उच्चतम शिखर पर जा बैठा है। उस उत्तम स्वप्न को देखते ही आचार्य सिद्धसेन की निद्रा भग हुई। प्रात काल उन्होने अपने शिष्य वृन्द को अपना स्वप्न सुनाते हुए कहा - "रात्रि की अवसान वेला मे देखे गये इस स्वप्न के फल पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि आसन्न भविष्य मे ही हमे एक ऐसे शिष्यरत्न की प्राप्ति होने वाली है, जो जिनशासन की प्रतिष्ठा को उन्नति के उच्चतम शिखर तक पहुचा देगा।"

स्वप्न द्वारा सूचित सुखद सुन्दर फल के चिन्तन मे आनन्दविभोर शिष्य-वृन्द के साथ आचार्य श्री सिद्धसेन महावीर के मन्दिर मे गये।

सयोगवशात्, बिना किसी लक्ष्यस्थल के इधर-उधर घूमता हुआ बालक सूरपाल भी मोढेरा के उसी जैन मन्दिर मे आ पहुचा। आचार्य सिद्धसेन की सूक्ष्म-दर्शी दृष्टि बालक सूरपाल पर पडी। बालक की अलौकिक तेजस्वितापूर्ण प्रतिभा को देखते ही आचार्य सिद्धसेन के अन्तस्तल मे स्नेहसागर तरगित हो उठा।

उन्होने बालक के पास जाकर उसके नाम-धाम, माता-पिता-कुल आदि के सम्बन्ध मे उससे पूछा। बालक सूरपाल ने अति विनम्र स्वर मे अपने माता-पिता, ग्राम एव अपना पूरा परिचय आचार्य श्री को दिया। बालक सूरपाल की वाग्माधुरी विनम्रता एव निर्भयता से आचार्य श्री को अतिशय आनन्द का अनुभव हुआ। स्नेह-सुधासिक्त स्वर मे उन्होने बालक से प्रश्न किया— सौम्य! क्या तुम हमारे पास रह जाओगे?"

बालक ने तत्काल स्वीकृतिसूचक हर्षविभोर मुद्रा मे उत्तर दिया —"देव! आपकी चरण शरण मे रहने से बढ कर मेरे लिये परम पुण्योदय का और अन्य क्या प्रतिफल हो सकता है।" यह कहते हुए उस बालक ने अपना मस्तक आचार्य श्री सिद्धसेन के चरणसरोरुहो पर रख दिया। अपने मधुर स्वप्न को सद्य साकार होता देखकर आचार्य सिद्धसेन को आन्तरिक तोष के साथ-साथ असीम आनन्द की अनुभूति हुई। बालक सूरपाल को अपने साथ लिये वे अपने उपाश्रय मे लौटे। प्रारम्भिक बोध के साथ-साथ उन्होने बालक सूरपाल को धार्मिक शिक्षण देना प्रारम्भ किया। आचार्य श्री के मुखारविन्द से एक बार सुनने मात्र से ही उसे पूरा पाठ तत्काल कठस्थ हो जाता। आचार्य श्री उस मेधावी बालक की अलौकिक प्रतिभा एव अद्भुत मेधाशक्ति से ज्यो-ज्यो, उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रभावित होते गये, त्यो-त्यो उनकी अध्यापनरुचि भी बढती गई और वे उसे अधिकाधिक पाठ देने लगे। एक दिन शिक्षार्थी बालक सूरपाल को आचार्य श्री ने अनुष्टुप छन्द के १००० श्लोको का लम्बा पाठ दिया। सूरपाल ने उसी दिन एक हजार श्लोको को कण्ठाग्र कर जब आचार्य श्री को सार्थ सुनाया तो समस्त मुनिमण्डल सहित आचार्य श्री

पभ ी सूरि

तेतीसवे युगप्रधानाचार्य सभूति तथा चौतीसवे युग प्र० आचार्य माढरसभूति के युग प्रधानाचार्य काल के प्रभावक एव महावादी आचार्य बप्पभट्टी सूरि का जन्म पाचाल प्रदेशस्थ डुम्बाउघी (साम्प्रत कालीन डुवा) ग्राम के क्षत्रिय बप्प की धर्म-पत्नी भट्टी की कुक्षि से वि० स० ८०० मे भाद्रपद तृतीया रविवार के दिन हस्त नक्षत्र मे हुआ।

बप्प क्षत्रिय ने अपने पुत्र का नाम सूरपाल रखा। बालक बडा तेजस्वी था। वह शुक्लपक्ष की द्वितीया के चद्र की कलाओ के समान अनुक्रमश बढने लगा। अनेक प्रसगो पर जब उसने अपने माता-पिता एव बन्धुवर्ग से यह सुना कि उसके पिता एक राज्य के स्वामी थे। शत्रुओ ने दुरभिसन्धि कर उसके पैतृक राज्य पर अधिकार कर लिया और तभी से उसके पिता एक साधारण क्षत्रिय का जीवन व्यतीत कर रहे है। तो तेजस्वी बालक सूरपाल ने मन ही मन अपना खोया हुआ पैतृक राज्य पुन प्राप्त करने की ठानी।

जिस समय बालक सूरपाल ६ वर्ष का हुआ उस समय उसने अपने पिता के समक्ष अपना सकल्प प्रकट करते हुए उनसे अपने शत्रुओ का सहार करने की अनुमति माँगी। 'शत्रुओ को यदि इस बालक के सकल्प का पता चल गया तो वे इसके प्राणो के ग्राहक बन जायेगे और इस तरह उसे अपने वश के आधारभूत एक-मात्र पुत्र से भी हाथ धोना पडेगा,' इस आशका से वप्प क्षत्रिय ने बालक सूरपाल को डाटते हुए भविष्य मे कभी इस प्रकार की बात तक मु ह से न निकालने की कडे शब्दो मे चेतावनी दी। इससे उस होनहार प्रतिभाशाली बालक के स्वाभिमान को इतनी गहरी चोट पहुँची कि वह अवसर देख कर अपनी माता तक को बिना कुछ कहे ही घर से चुपचाप निकल गया।

उन दिनो गुजरात महाराज्य की राजधानी पाटण मे महाराजा जितशत्रु गुजरात राज्य के राज्यसिंहासन पर आसीन थे। उस समय मोढ गच्छ के जैनाचार्य सिद्धसेन अपने सदुपदेशो से भव्यो को सत्यपथ बताते हुए जिनशासन के प्रचार प्रसार एव निज पर कल्याण मे निरत थे। एक दिन आचार्य श्री सिद्धसेन पाटण से

---

[1] विक्रमत शून्यद्वयवसुवर्षे (८००) भाद्रपदतृतीयायाम्।
रविवारे हस्तर्क्षे जन्माभूद् वप्पभट्टिगुरो ॥७३६॥
(प्रभावक चरित्र)

विहार कर अनेक स्थानो मे विचरण करते हुए मोढेरा ग्राम मे पहुचे। मोढेरा मे आचार्य सिद्धसेन ने रात्रि की अवसान वेला मे सुखप्रसुप्तावस्था मे स्वप्न देखा कि एक महान् तेजस्वी सिंहशावक छलाग भर कर चैत्य के उच्चतम शिखर पर जा बैठा है। उस उत्तम स्वप्न को देखते ही आचार्य सिद्धसेन की निद्रा भग हुई। प्रात काल उन्होने अपने शिष्य वृन्द को अपना स्वप्न सुनाते हुए कहा - "रात्रि की अवसान वेला मे देखे गये इस स्वप्न के फल पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि आसन्न भविष्य मे ही हमे एक ऐसे शिष्यरत्न की प्राप्ति होने वाली है, जो जिनशासन की प्रतिष्ठा को उन्नति के उच्चतम शिखर तक पहुचा देगा।"

स्वप्न द्वारा सूचित सुखद सुन्दर फल के चिन्तन मे आनन्दविभोर शिष्य-वृन्द के साथ आचार्य श्री सिद्धसेन महावीर के मन्दिर मे गये।

सयोगवशात्, बिना किसी लक्ष्यस्थल के इधर-उधर घूमता हुआ बालक सूरपाल भी मोढेरा के उसी जैन मन्दिर मे आ पहुचा। आचार्य सिद्धसेन की सूक्ष्म-दर्शी दृष्टि बालक सूरपाल पर पडी। बालक की अलौकिक तेजस्वितापूर्ण प्रतिभा को देखते ही आचार्य सिद्धसेन के अन्तस्तल मे स्नेहसागर तरगित हो उठा।

उन्होने बालक के पास जाकर उसके नाम-धाम, माता-पिता-कुल आदि के सम्बन्ध मे उससे पूछा। बालक सूरपाल ने अति विनम्र स्वर मे अपने माता-पिता, ग्राम एव अपना पूरा परिचय आचार्य श्री को दिया। बालक सूरपाल की वाग्माधुरी विनम्रता एव निर्भयता से आचार्य श्री को अतिशय आनन्द का अनुभव हुआ। स्नेह-सुधासिक्त स्वर मे उन्होने बालक से प्रश्न किया— सौम्य ! क्या तुम हमारे पास रह जाओगे ?"

बालक ने तत्काल स्वीकृतिसूचक हर्षविभोर मुद्रा मे उत्तर दिया —"देव ! आपकी चरण शरण मे रहने से बढ कर मेरे लिये परम पुण्योदय का और अन्य क्या प्रतिफल हो सकता है।" यह कहते हुए उस बालक ने अपना मस्तक आचार्य श्री सिद्धसेन के चरणसरोरुहो पर रख दिया। अपने मधुर स्वप्न को सद्य साकार होता देखकर आचार्य सिद्धसेन को आन्तरिक तोष के साथ-साथ असीम आनन्द की अनुभूति हुई। बालक सूरपाल को अपने साथ लिये वे अपने उपाश्रय मे लौटे। प्रारम्भिक बोध के साथ-साथ उन्होने बालक सूरपाल को धार्मिक शिक्षण देना प्रारम्भ किया। आचार्य श्री के मुखारविन्द से एक बार सुनने मात्र से ही उसे पूरा पाठ तत्काल कठस्थ हो जाता। आचार्य श्री उस मेधावी बालक की अलौकिक प्रतिभा एव अद्भुत मेधाशक्ति से ज्यो-ज्यो, उत्तरोत्तर अधिकाधिक प्रभावित होते गये, त्यो-त्यो उनकी अध्यापनरुचि भी बढती गई और वे उसे अधिकाधिक पाठ देने लगे। एक दिन शिक्षार्थी बालक सूरपाल को आचार्य श्री ने अनुष्टुप छन्द के १००० श्लोको का लम्बा पाठ दिया। सूरपाल ने उसी दिन एक हजार श्लोको को कण्ठाग्र कर जब आचार्य श्री को सार्थ सुनाया तो समस्त मुनिमण्डल सहित आचार्य श्री

आश्चर्याभिभूत हो अवाक् रह गये। उन्हे बालक सूरपाल साक्षात् सरस्वती-पुत्र सा प्रतीत होने लगा। अब तो आचार्य सिद्धसेन उस शारदा-पुत्र तुल्य बालक सूरपाल को अपने शिष्य के रूप मे पाने के लिये उत्कण्ठित एव व्यग्र हो उठे।

दूसरे ही दिन आचार्य सिद्धसेन अपने कुछ शिष्यो एव उस बालक को साथ ले सूरपाल की जन्मभूमि डु बाउधी ग्राम की ओर प्रस्थित हुए। उग्र एव अप्रतिहत विहारक्रम से वे कतिपय दिनो पश्चात् डु बाउधी पहुचे। मुनिदर्शन के लिये अन्य ग्रामवासियो के साथ क्षत्रिय बप्प और क्षत्राणी भट्टी ने भी आचार्यश्री की सेवा मे उपस्थित हो उन्हे वन्दन-नमन किया।

आचार्य सिद्धसेन ने क्षत्रिय दम्पत्ति से कहा—"पुण्यात्माओ! तुम्हारा यह बालक महान् तेजस्वी, कुशाग्रबुद्धि, प्रतिभाशाली और बडा ही होनहार है। तुम अपना यह पुत्र मुझे दे दो। मैं इसे अध्यात्मविद्या मे पारगत बना दूगा। इसके अलौकिक लक्षणो से स्पष्टत प्रकट होता है कि यह तुम्हारा बालक भविष्य मे जिनशासन का महान् उन्नायक होगा और तुम्हारी कीर्ति को युगयुगान्तर तक चिरस्थायिनी बना देगा।"

क्षत्रिय बप्प और उसकी पत्नी क्षत्रियाणी भट्टी ने हाथ जोडकर अति विनम्र स्वर मे आचार्यश्री से निवेदन किया—"योगीश्वर! हमारा यह एकमात्र पुत्र ही तो हमारे कुल और हमारी आशाओ का केन्द्र-बिन्दु तथा हमारे जीवन का आधार है। इसका विछोह हम किस प्रकार सहन कर सकेंगे?"

आचार्य सिद्धसेन ने उन्हे पुन समझाते हुए कहा—"भव्यो! जिस प्रकार कूडे के ढेर मे असख्य कृमि उत्पन्न होते हैं और मरते हैं, उसी प्रकार इस ससार रूपी अवकर (घूडे) मे पुत्र उत्पन्न होते रहते हैं और मरते रहते हैं। कृमि तुल्य उस जन्म और मरण का कोई सार नही, कोई मूल्य नही। तुम्हारा यह परम सौभाग्यशाली सुभव्य पुत्र जन्म-मरण की महाव्याधि को मूलत विनष्ट करने वाले श्रमण धर्म की आराधना करके अपने आपकी और तुम्हारी कीर्ति को अमर करने के लिये कृत-सकल्प है। इसका यह सुसकल्प श्लाघ्य है। अत तुम अपना यह पुत्र हमे समर्पित कर विपुल पुण्य का उपार्जन करो।"

इस पर भी बप्प और भट्टी ने आ० सिद्धसेन से निवेदन किया—"भगवन्! यह हमारा एक मात्र ही तो कुलदीपक है। आप स्वय ही विचार कीजिये कि हमारे एक मात्र इस कुलतन्तु पुत्र को कैसे दिया जा सकता है?"

इसी बीच बालक सूरपाल ने अपने माता-पिता को सम्बोधित करते हुए कहा—"अम्ब! तात! भीषण नरकावासो के दुस्सह्य दु खो के समान दारुण दु खदायी गर्भावास से सदा-सदा के लिये मुक्ति दिलाने वाले श्रमणधर्म को अगीकार

करने का मैंने दृढ निश्चय कर लिया है। मानव जन्म मे बुद्धि, ज्ञान और श्रेष्ठ से श्रेष्ठतम गुणो को प्राप्त कर लेने के अनन्तर भी यदि नरकावास तुल्य मातृगर्भ मे पुन उत्पन्न होना पडे तो वे सब गुण निरर्थक है।[1]

इस दुर्लभ मानव जन्म मे मुझे बुद्धि, ज्ञान और सदसद् विवेक सम्पन्न पौरुष आदि गुण मिले हैं, इन गुणो का मैं सयम ग्रहण कर इस प्रकार उपयोग करूगा कि मुझे पुन कभी माता के गर्भावास का, जन्म-मृत्यु का दु ख भोगना ही नही पडे। मेरा यह अटल, अडोल निश्चय है कि मैं श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण करूगा।"

अपने पुत्र के दृढ निश्चय को सुनकर क्षत्रिय दम्पत्ति ने कहा—"भगवन्! हमारा पुत्र सूरपाल भी श्रमणधर्म मे दीक्षित होने के लिये कृत-सकल्प है और आप भी इसे शिष्यरत्न के रूप मे प्राप्त करना चाहते हैं। तो ऐसी स्थिति मे हमारे इस एकमात्र कुलप्रदीप पुत्र के दीक्षित हो जाने पर हमारा तो कुल और नाम ही समाप्त हो जायगा। इसलिये एक प्रार्थना है कि आप इसे शिष्य के रूप मे दीक्षित तो कर लें पर दीक्षित होने पर हम दोनो के नाम को चिरस्थायी रखने के लिये इसका नाम 'बप्प भट्टी' ही रखने की कृपा करे।"

आचार्य सिद्धसेन ने उनके इस आग्रह को स्वीकार कर लिया। तदनन्तर बप्प और भट्टी ने अपना पुत्र सहर्ष आचार्य सिद्धसेन को समर्पित कर दिया। अपने अभीप्सित की सिद्धि से आचार्य सिद्धसेन को अपार हर्ष हुआ। सूरपाल जैसे महा मेधावी शिष्यरत्न को पाकर उन्होने अपने आपको, अपने गच्छ को और जिनशासन को धन्य समझा।

बालक सूरपाल को साथ ले आचार्य सिद्धसेन अपने शिष्य समूह सहित सहर्ष मोढेरा लौट आये और वहा विक्रम स० ८०७ की वैशाख शुक्ला तृतीया, गुरुवार के दिन उन्होने सूरपाल को श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान की। दीक्षा प्रदान करते समय आचार्यश्री ने औपचारिक रूप से सूरपाल का नाम भद्रकीर्ति रखा। किन्तु उसके माता-पिता को दिये गये वचन की परिपालना करते हुए आचार्यश्री नवदीक्षित मुनि को बप्प भट्टी के नाम से ही सम्बोधित करते रहे। अत नवदीक्षित भद्रकीर्ति मुनि सर्वत्र बप्प भट्टी के नाम से ही विख्यात हो गये।[2]

---

[1] सा बुद्धिर्विलय प्रयातु कुलिश तत्र श्रुते पात्यताम्,
वल्गन्त प्रविशन्तु ते हुतभुजि ज्वालाकराले गुणा।
यै सर्वे शरदेन्दुकुन्द-विशदै प्राप्तैरपि प्राप्यते,
भूयोऽप्यत्र पुरन्ध्रिरन्ध्रनरकक्रोडाधिवास व्यथा॥

(प्रबन्धकोष, पृ० २७)

[2] मोढेरे ते विहृत्यामु, दीक्षित्वा नाम चादधु।
स्वाख्या त्रिकेकादशाद्, भद्रकीर्तिरिति श्रुतम्॥२९॥
तत्पित्रो प्रतिपन्नेन, पूर्वाख्या तु प्रसिद्धिभू।
शिष्यमौलिमणेरस्य, कलासकेतवेश्मन॥३०॥

(प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ८३)

नवदीक्षित मुनि की अलौकिक प्रतिभा पर मुग्ध हो मोढेरा के श्रीसघ ने आचार्य सिद्धसेन से प्रार्थना की कि वे शिष्यवृन्द सहित मोढेरा मे ही रह कर कुशाग्र-बुद्धि नवदीक्षित बप्प भट्टी मुनि को अगोपागादि शास्त्रो एव समस्त विद्याओ का अध्ययन कराये। सघ की अभ्यर्थना स्वीकार कर आचार्य सिद्धसेन अपने शिष्य-समूह सहित मोढेरा मे ही रहे और नवदीक्षित मुनि को विद्याभ्यास कराने लगे। सुतीक्ष्ण बुद्धि मुनि बप्पभट्टी ने प्रगाढ निष्ठा, उत्कट लगन एव अतिशय विनयपूर्वक विद्याध्ययन प्रारम्भ किया। उनकी उत्कट साधना से सरस्वती की उन पर अनन्य कृपा हो गई और वे स्वल्प समय मे ही सब विद्याओ मे निष्णात एव अथाह आगम-ज्ञान के मर्मज्ञ महा विद्वान् बन गये। उनकी अलौकिक काव्य-शक्ति को देख कर सर्व साधारण तथा उच्चकोटि के विद्वानो तक की यह धारणा बन गई कि साक्षात् सरस्वती उनके कण्ठो मे सदा विराजमान रहती है।

एक दिन मुनि बप्पभट्टी शौचनिवृत्ति के पश्चात् जब जगल से लौट रहे थे, तो उस समय सहसा वर्षा होने लगी। वर्षा से रक्षा हेतु वे एक देवमन्दिर मे प्रविष्ट हुए। उसी समय एक अतीव तेजस्वी एव सुन्दर क्षत्रिय राजकुमार भी वृष्टि से परित्राणार्थ उस चैत्य मे आया और मुनि को वन्दन कर वहा बैठ गया। उस क्षत्रिय कुमार की दृष्टि एक श्यामल शिलापट्ट पर उत्कीर्ण अभिलेख पर पडी। उसने उस अभिलेख को पढना प्रारम्भ किया। गूढार्थ एव रस से ओत-प्रोत उन काव्यो का अर्थ समझ मे न आने पर उस क्षत्रियकुमार ने बप्पभट्टी से उन काव्यो को पढने एव उनका अर्थ समझाने की प्रार्थना की। बप्पभट्टी ने मधुर स्वर मे काव्य-पाठ करते हुए क्षत्रियकुमार को उन श्लोको का अर्थ समझाया। श्लेषपूर्ण श्लोको के अद्भुत् रसपूर्ण अर्थ और बाल मुनि की व्याख्या शैली से वह क्षत्रिय किशोर आश्चर्याभिभूत एव आनन्दविभोर हो उठा। वह बालक मुनि की अद्भुत् प्रतिभा से पूर्णत प्रभावित हो गया। वृष्टि रुकने पर वह पथिक क्षत्रिय किशोर मुनि के साथ-साथ सहर्ष वसति मे आया। मुनि बप्पभट्टी का अनुसरण करते हुए उस किशोर पान्थ ने भी आचार्यश्री को वन्दन-नमन किया।

नवागन्तुक किशोर के अन्तर्मन को आशीर्वचन से अभिसिंचित करते हुए आचार्यश्री ने उसके ग्राम, कुल, माता-पिता आदि के सम्बन्ध मे पूछा। उस किशोर ने अति विनम्र स्वर मे अपना परिचय देते हुए कहा—"जगद्वन्द्य योगीश्वर! महायशस्वी सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य की वश परम्परा मे कान्यकुब्जेश्वर महाराज यशोवर्मा का यह अकिंचन पुत्र है। मेरी अमितव्ययी वृत्ति से व्यथित हो पितृदेव ने मुझे मितव्ययी वृत्ति अपनाने की शिक्षा दी। उस हितप्रद शिक्षा से भी मेरा अह अत्युग्र वेग से जागृत हो अभिवृद्ध हो उठा और मैं माता-पिता को बिना कहे ही राजप्रासाद से एकाकी ही निकल पडा और अनेक स्थानो पर भ्रमना हुआ यहा आपश्री की चरण-शरण मे उपस्थित हुआ हू।"

आचार्यश्री द्वारा अपना नाम पूछे जाने पर उसके विशाल आयत लोचनो के पलकयुगल ग्रीवा के साथ ही नीचे की ओर झुक गये और उसने खटिका से क्षितिपट्ट पर "आम" लिख दिया।

नवागत किशोर के, इस उच्चकुलोद्भव जनोचित सस्कार सम्पन्न व्यवहार को देखकर आचार्य सिद्धसेन को विश्वास हो गया कि वस्तुत वह कोई उच्च कुलोद्भव महा पुण्यशाली प्राणी है।

उन्हे कुछ आभास सा हुआ कि इस किशोर को कुछ वर्ष पूर्व उन्होने कही देखा है। उसी क्षण उनके स्मृतिपटल पर विगत अतीत मे देखा हुआ एक दृश्य अकित हो उठा। दश-ग्यारह वर्ष पूर्व रामसीरिण की विकट वनी मे विचरण करते समय पीलू (जाल) वृक्षो के झुण्ड की छाया के नीचे वस्त्र की झोली मे लेटे हुए छ मास की आयु के एक बालक पर उनकी दृष्टि पडी थी। उस छोटे से शिशु के अद्भुत् लक्षणो को देखकर वे उसके सन्निकट खडे हो गये और बडी देर तक उसकी ओर देखते ही रह गये।

कतिपय क्षणो के पश्चात् उन्हे यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि बालक के आस-पास चारो ओर छाया का स्थान धूप ले रही है किन्तु बालक के मुख-मण्डल और शरीर पर छाया पूर्व की भाति ही अचल है, सुस्थिर है। उसी समय उन्हे विश्वास हो गया था कि यह कोई महा पुण्यशाली प्राणी है। उनके मन मे इस प्रकार का विचार उठा ही था कि आस-पास के वृक्षो से फलो को चुन-चुन कर एकत्रित करती हुई उस बालक की माता वहा आई। उनने बडी शालीनता से भक्तिपूर्वक प्रणाम किया।

मुखाकृति से किसी उच्च कुल की कुलवधु प्रतीत होने वाली उस महिला से मैंने पूछा था—"वत्से! तुम कौन हो, किस कुल की वधु हो और तुम्हारी इस विपन्नावस्था का कारण क्या है? हम सब प्रकार के सासारिक प्रपचो से विनिर्मुक्त श्रमण है, अत निस्सकोच हो बताने योग्य वास्तविक स्थिति हमारे समक्ष रख दो।"

उस सम्भ्रान्त महिला ने कहा था—"महात्मन्! आप जैसे सम शत्रु-मित्र विश्ववन्धु महायोगी से छुपाने योग्य कोई बात नही है। मै कान्यकुब्जेश्वर महाराज यशोवर्मा की राजमहिषी हू। जिस समय यह बच्चा मेरे गर्भ मे था, उस समय मेरे प्रति मेरी सपत्नी रानी का सौतिया डाह अत्युग्र वेग से जागृत हुआ। पूर्व मे महाराजाधिराज ने किसी समय मेरी उस सपत्नी के किसी कार्य से अत्यधिक प्रसन्न हो उससे यथेच्छ वर मागने का आग्रह किया था। उसने वह वर उस समय न माग कर महाराज के पास ही धरोहर के रूप मे रख दिया था। मुझे गर्भवती देख कर ईर्ष्याभिभूता मेरी वह सपत्नी मेरे गर्भस्थ शिशु के जीवन को धूलिसात करने के लिये कटिवद्ध हो गई। उसने महाराज से उस वरदान की याचना की और उसके

नवदीक्षित मुनि की अलौकिक प्रतिभा पर मुग्ध हो मोढेरा के श्रीसघ ने आचार्य सिद्धसेन से प्रार्थना की कि वे शिष्यवृन्द सहित मोढेरा मे ही रह कर कुशाग्र-बुद्धि नवदीक्षित बप्प भट्टी मुनि को अगोपागादि शास्त्रो एव समस्त विद्याओ का अध्ययन कराये। सघ की अभ्यर्थना स्वीकार कर आचार्य सिद्धसेन अपने शिष्य-समूह सहित मोढेरा मे ही रहे और नवदीक्षित मुनि को विद्याभ्यास कराने लगे। सुतीक्ष्ण बुद्धि मुनि बप्पभट्टी ने प्रगाढ निष्ठा, उत्कट लगन एव अतिशय विनयपूर्वक विद्याध्ययन प्रारम्भ किया। उनकी उत्कट साधना से सरस्वती की उन पर अनन्य कृपा हो गई और वे स्वल्प समय मे ही सब विद्याओ मे निष्णात एव अथाह आगम-ज्ञान के मर्मज्ञ महा विद्वान् बन गये। उनकी अलौकिक काव्य-शक्ति को देख कर सर्व साधारण तथा उच्चकोटि के विद्वानो तक की यह धारणा बन गई कि साक्षात् सरस्वती उनके कण्ठो मे सदा विराजमान रहती है।

एक दिन मुनि बप्पभट्टी शौचनिवृत्ति के पश्चात् जब जगल से लौट रहे थे, तो उस समय सहसा वर्षा होने लगी। वर्षा से रक्षा हेतु वे एक देवमन्दिर मे प्रविष्ट हुए। उसी समय एक अतीव तेजस्वी एव सुन्दर क्षत्रिय राजकुमार भी वृष्टि से परित्राणार्थ उस चैत्य मे आया और मुनि को वन्दन कर वहा बैठ गया। उस क्षत्रिय कुमार की दृष्टि एक श्यामल शिलापट्ट पर उत्कीर्ण अभिलेख पर पडी। उसने उस अभिलेख को पढना प्रारम्भ किया। गूढार्थ एव रस से ओत-प्रोत उन काव्यो का अर्थ समझ मे न आने पर उस क्षत्रियकुमार ने बप्पभट्टी से उन काव्यो को पढने एव उनका अर्थ समझाने की प्रार्थना की। बप्पभट्टी ने मधुर स्वर मे काव्य-पाठ करते हुए क्षत्रियकुमार को उन श्लोको का अर्थ समझाया। श्लेषपूर्ण श्लोको के अद्भुत् रसपूर्ण अर्थ और बाल मुनि की व्याख्या शैली से वह क्षत्रिय किशोर आश्चर्याभिभूत एव आनन्दविभोर हो उठा। वह बालक मुनि की अद्भुत् प्रतिभा से पूर्णत प्रभावित हो गया। वृष्टि रुकने पर वह पथिक क्षत्रिय किशोर मुनि के साथ-साथ सहर्ष वसति मे आया। मुनि बप्पभट्टी का अनुसरण करते हुए उस किशोर पान्थ ने भी आचार्यश्री को वन्दन-नमन किया।

नवागन्तुक किशोर के अन्तर्मन को आशीर्वचन से अभिसिंचित करते हुए आचार्यश्री ने उसके ग्राम, कुल, माता-पिता आदि के सम्बन्ध मे पूछा। उस किशोर ने अति विनम्र स्वर मे अपना परिचय देते हुए कहा—"जगद्वन्द्य योगीश्वर! महायशस्वी सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य की वश परम्परा मे कान्यकुब्जेश्वर महाराज यशोवर्मा का यह अकिंचन पुत्र है। मेरी अमितव्ययी वृत्ति से व्यथित हो पितृदेव ने मुझे मितव्ययी वृत्ति अपनाने की शिक्षा दी। उस हितप्रद शिक्षा से भी मेरा अह अत्युग्र वेग से जागृत हो अभिवृद्ध हो उठा और मैं माता-पिता को बिना कहे ही राजप्रासाद से एकाकी ही निकल पडा और अनेक स्थानो पर घूमता हुआ यहा आपश्री की चरण-शरण मे उपस्थित हुआ हू।"

आचार्यश्री द्वारा अपना नाम पूछे जाने पर उसके विशाल आयत लोचनो के पलकयुगल ग्रीवा के साथ ही नीचे की ओर झुक गये और उसने खटिका से क्षितिपट्ट पर "आम" लिख दिया ।

नवागत किशोर के, इस उच्चकुलोद्भव जनोचित सस्कार सम्पन्न व्यवहार को देखकर आचार्य सिद्धसेन को विश्वास हो गया कि वस्तुत वह कोई उच्च कुलोद्भव महा पुण्यशाली प्राणी है ।

उन्हे कुछ आभास सा हुआ कि इस किशोर को कुछ वर्ष पूर्व उन्होने कही देखा है । उसी क्षण उनके स्मृतिपटल पर विगत अतीत मे देखा हुआ एक दृश्य अकित हो उठा । दश-ग्यारह वर्ष पूर्व रामसीणि की विकट वनी मे विचरण करते समय पीलू (जाल) वृक्षो के झुण्ड की छाया के नीचे वस्त्र की झोली मे लेटे हुए छ मास की आयु के एक बालक पर उनकी दृष्टि पडी थी । उस छोटे से शिशु के अद्भुत् लक्षणो को देखकर वे उसके सन्निकट खडे हो गये और बडी देर तक उसकी ओर देखते ही रह गये ।

कतिपय क्षणो के पश्चात् उन्हे यह देखकर अत्यन्त आश्चर्य हुआ कि बालक के आस-पास चारो ओर छाया का स्थान धूप ले रही है किन्तु बालक के मुख-मण्डल और शरीर पर छाया पूर्व की भाति ही अचल है, सुस्थिर है । उसी समय उन्हे विश्वास हो गया था कि यह कोई महा पुण्यशाली प्राणी है । उनके मन मे इस प्रकार का विचार उठा ही था कि आस-पास के वृक्षो से फलो को चुन-चुन कर एकत्रित करती हुई उस बालक की माता वहा आई । उनने बडी शालीनता से भक्तिपूर्वक प्रणाम किया ।

मुखाकृति से किसी उच्च कुल की कुलवधु प्रतीत होने वाली उस महिला से मैंने पूछा था—"वत्से ! तुम कौन हो, किस कुल की वधु हो और तुम्हारी इस विपन्नावस्था का कारण क्या है ? हम सब प्रकार के सासारिक प्रपचो से विनिर्मुक्त श्रमण है, अत निस्सकोच हो बताने योग्य वास्तविक स्थिति हमारे समक्ष रख दो ।"

उस सम्भ्रान्त महिला ने कहा था—"महात्मन् ! आप जैसे सम शत्रु-मित्र विश्ववन्धु महायोगी से छुपाने योग्य कोई बात नही है । मै कान्यकुब्जेश्वर महाराज यशोवर्मा की राजमहिषी हू । जिस समय यह बच्चा मेरे गर्भ मे था, उस समय मेरे प्रति मेरी सपत्नी रानी का सौतिया डाह अत्युग्र वेग से जागृत हुआ । पूर्व मे महाराजाधिराज ने किसी समय मेरी उस सपत्नी के किसी कार्य से अत्यधिक प्रसन्न हो उससे यथेच्छ वर मागने का आग्रह किया था । उसने वह वर उस समय न माग कर महाराज के पास ही धरोहर के रूप मे रख दिया था । मुझे गर्भवती देख कर ईर्ष्याभिभूता मेरी वह सपत्नी मेरे गर्भस्थ शिशु के जीवन को धूलिसात करने के लिये कटिवद्ध हो गई । उसने महाराज से उस वरदान की याचना की और उसके

परिणामस्वरूप महाराज ने मुझे कान्यकुब्ज राज्य से निर्वासित कर दिया। बाल्य-काल से ही आत्मसम्मान मुझे प्राणो से भी अधिक प्रिय रहा है। अपने आत्म-सम्मान की रक्षार्थ मैने हसते-हसते मृत्यु का आलिंगन करना सदा श्रेयस्कर समझा है। इसीलिये श्वसुर गृह से निर्वासित होने पर मैने पिता के घर जाने की अपेक्षा अरण्य की शरण ग्रहण करना ही उचित समझा। यही कारण है कि मै आत्म-सम्मान के साथ स्वावलम्बी वन्य जीवन जी रही हू।"

मैं उस समय उस स्वाभिमानिनी साहस की प्रतिमूर्ति राजरानी की निर्भी-कता देखकर क्षण भर के लिये स्तब्ध रह गया था। अन्त मे मैंने उसे सान्त्वना देते हुए कहा था—"वत्से ! नगरस्थ हमारे चैत्य मे चल कर रहो। वहा चैत्य की शुश्रूषा और इस पुण्यशाली महाप्रतापी पुत्र की प्रतिपालना करती हुई कुछ समय तक अपने आने वाले अच्छे दिनो की प्रतीक्षा करो।"

मेरे परामर्श को स्वीकार कर अपने पुत्र को लिये हुए वह हमारे साथ ही नगर मे आ गई थी और चैत्य की शुश्रूषा करने मे लग गयी थी।

दूसरे दिन हमने उस नगर से अन्यत्र विहार कर दिया। कुछ ही समय पश्चात् विहार काल मे हमने सुना था कि राजरानी को निर्वासित करवाने वाली रानी का उसकी सौतो द्वारा किये गये षड्यन्त्र के परिणामस्वरूप प्राणान्त हो गया है और कान्यकुब्जराज यशोवर्मा ने गुप्तचरो से खोज करवाकर उस महारानी और राजकुमार को हमारे चैत्य से ससम्मान बुलवा कर अपने राजप्रासाद मे पुन रख लिया है।"

अपने स्मृतिपटल पर उभरी हुई इस पूर्व घटना के परिप्रेक्ष्य मे आचार्य श्री सिद्धसेन ने परीक्षात्मक सूक्ष्म दृष्टि से राजकिशोर को ऐडी से चोटी तक निहारा और मन ही मन उन्हे विश्वास हो गया कि उन्होने वनवासिनी राजरानी के जिस छोटे से शिशु को पूर्व मे पीलू वृक्षो के झुण्ड की छाया मे एक झोली मे देखा था, वही यह राजकिशोर होना चाहिये। भव्य व्यक्तित्व के साथ-साथ जो प्रशस्त शुभ-लक्षण इस किशोर मे दृष्टिगोचर हो रहे है, वे राजपुत्र के अतिरिक्त अन्य किसी मे प्राय परिलक्षित नही हुआ करते।

इस प्रकार विचार कर आचार्य सिद्धसेन ने सुधासिक्त स्वर मे उस किशोर को सम्बोधित करते हुए कहा—"वत्स ! निश्चित हो अपने मित्र मुनि के पार्श्व मे रहकर उनसे सभी प्रकार की कलाओ एव विद्याओ का लगनपूर्वक समीचीन रूपेण अध्ययन करो।"

आचार्यश्री के निर्देशानुसार राजकुमार आम मुनि वप्पभट्टी के साथ रहने लगा। उसने प्रगाढ निष्ठा, श्रद्धा, अध्यवसाय तथा परिश्रमपूर्वक शास्त्रो का अध्ययन

प्रारम्भ किया और समुचित समय मे, सभी विद्याओ एव कलाओ मे अद्भुत् प्रवीणता प्राप्त कर ली।

अपना अध्ययन पूर्ण हो जाने पर एक दिन राजकुमार आम ने अपने परम उपकारी गुरु सिद्धसेन के चरणो मे मस्तक झुकाते हुए असीम कृतज्ञता भरे स्वर मे उनसे निवेदन किया—"अकारण करुणाकर गुरुदेव ! आपने असीम अनुग्रह कर मुझ पर जो पारावार विहीन उपकार किया है, मै जन्म-जन्मान्तरो तक भी उस ऋण के भार से कभी उऋण नही हो सकता।"

तत्पश्चात् गुरु द्वारा किये गये उपकार के भार से अवनत राजकुमार आम ने अपने सखा ब्रह्मचारी मुनि बप्पभट्टी के पास आकर कहा—"महामुने ! गुरुदेव और आप द्वारा मुझ पर किये गये असीम उपकार के भार से मै दबा जा रहा हू। यदि मुझे कभी कान्यकुब्ज का विशाल राज्य मिला तो मै प्रतिज्ञा करता हू कि निश्चित रूप से मैं आपको राज्य दूँगा।[1]

किशोर मुनि बप्पभट्टी ने ईषत् स्मितपूर्वक बात को टालते हुए केवल इतना ही कहा—"राजकुमार ! हमारे इस निखिल विश्व के एकच्छत्र अध्यात्म साम्राज्य से भी बढकर ससार मे अन्य और कोई राज्य है क्या ?"

राजकुमार आम के इस प्रकार सकल कलानिष्णात होने के कुछ ही दिनो अनन्तर कान्यकुब्जेश यशोवर्मा रुग्ण हो गया। अपनी अन्तिम समय सन्निकट जानकर उसने अपने चरो को आज्ञा दी कि वे यथाशीघ्र राजकुमार आम को ढूँढ कर ससम्मान उसके सम्मुख उपस्थित करें। कान्यकुब्जीय गुप्तचरो को स्वल्प श्रम से ही राजकुमार से साक्षात्कार हो गया। आचार्य सिद्धसेन की आज्ञा प्राप्त कर गुप्तचर अपने भावी राजराजेश्वर को लेकर कान्यकुब्जेश्वर की सेवा मे पहुँचे।

यशोवर्मा ने बडे ही हर्षोल्लासपूर्ण महोत्सव के साथ अपने पुत्र आम का कान्यकुब्ज के राज्यसिंहासन पर राज्याभिषेक किया। कान्यकुब्ज राज्य की विशाल चतुरगिणी सेना ने, जिसमे कि एक लाख अश्वारोही, एक लाख रथारोही, चौदह सौ गजारोही और एक कोटि पदाति थे, गगनवेधी जयघोषो के साथ अपने सद्य अभिषिक्त कान्यकुब्जेश्वर महाराजा आम का सैनिक रीति से अभिवादन किया। यह बताई गई सैन्य सख्या शोधप्रिय विद्वानो के लिये विचारणीय है।

महाराजा आम के राज्यसिंहासनाधिरूढ होने के कुछ ही समय पश्चात् उसके पिता महाराज यशोवर्मा का देहावसान हो गया। महाराजा आम ने अपने प्रधाना-

---

[1] सब्रह्मचारिता सख्याद् राजपुत्र, प्रपन्नवान्।
बप्पभट्टे ! प्रदास्यामि, प्राप्त राज्य तव ध्रुव ॥७५॥

(प्रभावक चरित्र, पृ० ८२)

परिणामस्वरूप महाराज ने मुझे कान्यकुब्ज राज्य से निर्वासित कर दिया। बाल्यकाल से ही आत्मसम्मान मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय रहा है। अपने आत्मसम्मान की रक्षार्थ मैने हसते-हसते मृत्यु का आलिंगन करना सदा श्रेयस्कर समझा है। इसीलिये श्वसुर गृह से निर्वासित होने पर मैने पिता के घर जाने की अपेक्षा अरण्य की शरण ग्रहण करना ही उचित समझा। यही कारण है कि मैं आत्मसम्मान के साथ स्वावलम्बी वन्य जीवन जी रही हू।"

मै उस समय उस स्वाभिमानिनी साहस की प्रतिमूर्ति राजरानी की निर्भीकता देखकर क्षण भर के लिये स्तब्ध रह गया था। अन्त मे मैंने उसे सान्त्वना देते हुए कहा था—"वत्से! नगरस्थ हमारे चैत्य मे चल कर रहो। वहा चैत्य की शुश्रूषा और इस पुण्यशाली महाप्रतापी पुत्र की प्रतिपालना करती हुई कुछ समय तक अपने आने वाले अच्छे दिनो की प्रतीक्षा करो।"

मेरे परामर्श को स्वीकार कर अपने पुत्र को लिये हुए वह हमारे साथ ही नगर मे आ गई थी और चैत्य की शुश्रूषा करने मे लग गयी थी।

दूसरे दिन हमने उस नगर से अन्यत्र विहार कर दिया। कुछ ही समय पश्चात् विहार काल मे हमने सुना था कि राजरानी को निर्वासित करवाने वाली रानी का उसकी सौतो द्वारा किये गये षड्यन्त्र के परिणामस्वरूप प्राणान्त हो गया है और कान्यकुब्जराज यशोवर्मा ने गुप्तचरो से खोज करवाकर उस महारानी और राजकुमार को हमारे चैत्य से ससम्मान बुलवा कर अपने राजप्रासाद मे पुन रख लिया है।"

अपने स्मृतिपटल पर उभरी हुई इस पूर्व घटना के परिप्रेक्ष्य मे आचार्य श्री सिद्धसेन ने परीक्षात्मक सूक्ष्म दृष्टि से राजकिशोर को ऐडी से चोटी तक निहारा और मन ही मन उन्हे विश्वास हो गया कि उन्होंने वनवासिनी राजरानी के जिस छोटे से शिशु को पूर्व मे पीलू वृक्षो के झुण्ड की छाया मे एक झोली मे देखा था, वही यह राजकिशोर होना चाहिये। भव्य व्यक्तित्व के साथ-साथ जो प्रशस्त शुभ-लक्षण इस किशोर मे दृष्टिगोचर हो रहे है, वे राजपुत्र के अतिरिक्त अन्य किसी मे प्राय परिलक्षित नही हुआ करते।

इस प्रकार विचार कर आचार्य सिद्धसेन ने सुधासिक्त स्वर मे उस किशोर को सम्बोधित करते हुए कहा—"वत्स! निश्चिन्त हो अपने मित्र मुनि के पार्श्व मे रहकर उनसे सभी प्रकार की कलाओ एव विद्याओ का लगनपूर्वक समीचीन रूपेण अध्ययन करो।"

आचार्यश्री के निर्देशानुसार राजकुमार आम मुनि बप्पभट्टी के साथ रहने लगा। उसने प्रगाढ निष्ठा, श्रद्धा, अध्यवसाय तथा परिश्रमपूर्वक शास्त्रो का अध्ययन

प्रारम्भ किया और समुचित समय मे, सभी विद्याओ एव कलाओ मे अद्भुत् प्रवीणता प्राप्त कर ली।

अपना अध्ययन पूर्ण हो जाने पर एक दिन राजकुमार आम ने अपने परम उपकारी गुरु सिद्धसेन के चरणो मे मस्तक झुकाते हुए असीम कृतज्ञता भरे स्वर मे उनसे निवेदन किया—"अकारण करुणाकर गुरुदेव ! आपने असीम अनुग्रह कर मुझ पर जो पारावार विहीन उपकार किया है, मै जन्म-जन्मान्तरो तक भी उस ऋण के भार से कभी उऋण नही हो सकता।"

तत्पश्चात् गुरु द्वारा किये गये उपकार के भार से अवनत राजकुमार आम ने अपने सखा ब्रह्मचारी मुनि बप्पभट्टी के पास आकर कहा—"महामुने ! गुरुदेव और आप द्वारा मुझ पर किये गये असीम उपकार के भार से मै दबा जा रहा हू। यदि मुझे कभी कान्यकुब्ज का विशाल राज्य मिला तो मै प्रतिज्ञा करता हू कि निश्चित रूप से मैं आपको राज्य दूँगा।[1]

किशोर मुनि बप्पभट्टी ने ईषत् स्मितपूर्वक बात को टालते हुए केवल इतना ही कहा—"राजकुमार ! हमारे इस निखिल विश्व के एकच्छत्र अध्यात्म साम्राज्य से भी बढकर ससार मे अन्य और कोई राज्य है क्या ?"

राजकुमार आम के इस प्रकार सकल कलानिष्णात होने के कुछ ही दिनो अनन्तर कान्यकुब्जेश यशोवर्मा रुग्ण हो गया। अपनी अन्तिम समय सन्निकट जानकर उसने अपने चरो को आज्ञा दी कि वे यथाशीघ्र राजकुमार आम को ढूँढ कर ससम्मान उसके सम्मुख उपस्थित करे। कान्यकुब्जीय गुप्तचरो को स्वल्प श्रम से ही राजकुमार से साक्षात्कार हो गया। आचार्य सिद्धसेन की आज्ञा प्राप्त कर गुप्तचर अपने भावी राजराजेश्वर को लेकर कान्यकुब्जेश्वर की सेवा मे पहुँचे।

यशोवर्मा ने बडे ही हर्षोल्लासपूर्ण महोत्सव के साथ अपने पुत्र आम का कान्यकुब्ज के राज्यसिंहासन पर राज्याभिषेक किया। कान्यकुब्ज राज्य की विशाल चतुरगिणी सेना ने, जिसमे कि एक लाख अश्वारोही, एक लाख रथारोही, चौदह सौ गजारोही और एक कोटि पदाति थे, गगनवेधी जयघोषो के साथ अपने सद्य अभिषिक्त कान्यकुब्जेश्वर महाराजा आम का सैनिक रीति से अभिवादन किया। यह बताई गई सैन्य सख्या शोधप्रिय विद्वानो के लिये विचारणीय है।

महाराजा आम के राज्यसिंहासनाधिरूढ होने के कुछ ही समय पश्चात् उसके पिता महाराज यशोवर्मा का देहावसान हो गया। महाराजा आम ने अपने प्रधाना-

---

[1] सब्रह्मचारिता सख्याद् राजपुत्र, प्रपन्नवान्।
बप्पभट्टे ! प्रदास्यामि, प्राप्त राज्य तव ध्रुव ॥७५॥

(प्रभावक चरित्र, पृ० ८२)

मात्य आदि प्रधान पुरुषो को आचार्य सिद्धसेन की सेवा मे प्रेषित कर विद्वान् मुनि बप्प भट्टी को उनके साथ ही कान्यकुब्ज भेजने की प्रार्थना की। सघ-प्रभावना को दृष्टिगत रखते हुए आचार्य सिद्धसेन ने कतिपय गीतार्थ मुनियो के साथ अपने परम प्रिय शिष्य बप्पभट्टी को कान्यकुब्ज के लिये विदा किया।

नगर से पर्याप्त दूरी पर बप्पभट्टी के आगमन का समाचार सुन कर स्वय कान्यकुब्जेश्वर उनके सम्मुख गया। वन्दन-नमन, अभिवादन, कुशल प्रश्न आदि के पश्चात् आम राज ने बप्पभट्टी से कान्यकुब्ज राज्य के पट्टहस्ती पर बैठकर नगर प्रवेश करने की प्रार्थना की।

बप्पभट्टी ने कहा—"राजन्! मैंने सभी प्रकार के सावद्य कार्यों एव सग आदि का परित्याग कर पच महाव्रत धारण किये हैं। पट्टहस्ती पर बैठने से तो मेरे श्रमणाचार मे अतिचार लगेगा।"

इस पर राजा आम ने कहा—"भगवन्! मैने आपके समक्ष पहले प्रतिज्ञा की थी कि मुझे राज्य मिलने पर वह राज्य आपको दे दूगा। यह श्रेष्ठ पट्ट हस्ती राज्याभिषेक का ही प्रतीक है। इस पर आपके बैठने से मेरी प्रतिज्ञापूर्ण हो जायगी। अन्यथा अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर पाने का शल्य मेरे हृदय मे जीवन भर खटकता रहेगा।"

यह कहते हुए आम राज ने बप्पभट्टी को अपने प्रलम्ब बाहु-पाश मे आवद्ध कर बडे ही प्रेम से बलात् अभिषेक-हस्ती की पीठ पर सजी अम्बावारी मे रखे सिंहासन पर बैठा दिया।[1]

नगर के प्रवेश द्वार से राजप्रासाद तक के मुख्य पथो के दोनो ओर खडे आबालवृद्ध नागरिको ने विद्वान् मुनिपुङ्गव बप्पभट्टी का अभूतपूर्व स्वागत किया।

---

[1] भूप समग्रसामग्र्या, सम्मुखीनस्ततोऽगमत्।
कुजरारोहणे विद्वत्कु जरस्यर्थना व्यधात् ॥८३॥
बप्पभट्टिरुवाचाथ, भूप शमवता पति।
सर्वसगमुचा नोऽत्र, प्रतिज्ञा हीयतेतमाम् ॥८४॥
राजोवाचे व पुरा पूर्वं यन्मया प्रतिशुश्रुवे।
राज्यमाप्त प्रदास्यामि, तल्लक्ष्म वरवारण ॥८५॥
इत्यालाप्य बलात् पट्ट कुजरे धरणीधर।
जितक्रोधाद्यभिज्ञानधृतछत्रचतुष्टयम् ॥८७॥

प्रावेशयत् शमीश्रेणीश्वरमत्युत्सवात् पुरम् ॥८८॥

(प्रभावक चरित्र, पृ० ८२)

आमराज ने राजोचित सम्मान के साथ बप्पभट्टी को अपने यहा रखा और अहर्निश अपना अधिकाश समय उनकी सेवा मे रहकर धर्म-चर्चा एव काव्य विनोद मे ही वह व्यतीत करने लगा ।

कतिपय दिनो के पश्चात् महाराजा आम ने अपने अमात्यो एव प्रभावशाली पौरजनो के साथ मुनि बप्पभट्टी को आचार्य सिद्धसेन की सेवा मे इस प्रार्थना के साथ भेजा कि बप्पभट्टी को आचार्य पद प्रदान कर उन्हे शीघ्र ही पुन कान्यकुब्ज भेजने की कृपा करे ।

बप्पभट्टी को आचार्य पद के सर्वथा योग्य समझते हुए आचार्य सिद्धसेन ने राजा आम की प्रार्थना स्वीकार कर ली और विक्रम स० ८११ की चैत कृष्णा ८ के दिन शुभ-मुहूर्त्त मे बप्पभट्टी को आचार्य पद प्रदान किया ।[1]

अपने महाप्रतिभाशाली शिष्य को अपने से दूर न रखने की आतरिक इच्छा होते हुए भी धर्म भावना और आमराज की अनुरोधपूर्ण प्रार्थना को ध्यान मे रखते हुए आचार्य सिद्धसेन ने आचार्य बप्पभट्टी को कान्यकुब्ज के लिये विदा किया ।

बप्पभट्टी को कान्यकुब्ज की ओर विदा करते समय आचार्य सिद्धसेन ने आवश्यक शिक्षा देते हुए उनसे कहा—"वत्स ! तुम जिनशासन के उदीयमान ज्योतिर्मय नक्षत्र हो । तुम यौवन के प्रवेशद्वार की ओर अग्रसर हो रहे हो । तुम इस समय एक सुसमृद्ध जनपद के स्वामी महाराजा आम के पूज्य होकर उसकी राज-सभा मे जा रहे हो । अपने सम्पूर्ण जीवन मे तुम इस बात को कभी न भूलना कि तरुणावस्था और राजा द्वारा पूजित होना ये दोनो ही प्रकार की स्थितिया प्रायश महान् अनर्थकारिणी होती है । अत तुम अपने जीवन मे सदा सजग रहकर विषय वासनाओ की खान नारि-ससर्ग से दूर रहते हुए कामदेव रूपी सम्मोहक पिशाच से सदा सावधानीपूर्वक आत्मरक्षा करते रहना ।"

अपने आराध्य गुरुदेव की शिक्षा को शिराधार्य करते हुए बप्पभट्टी ने कहा—"भगवन् ! मै अपने भक्तजनो के घर से कभी भोजन ग्रहण नही करूँगा । इसके साथ ही साथ मै यह भी प्रतिज्ञा करता हू कि मैं भविष्य मे जीवनपर्यन्त दूध, दही, घृत, तेल और मीठा—इन पाचो ही विगयो अर्थात् विकृतिजनक पदार्थों का सेवन नही करूँगा ।"

---

[1] एकादशाधिके तत्र जाते वर्षशताष्टके, (८११)
विक्रमात् सोऽभवत् सूरि कृष्णचैत्राष्टमीदिने ।।११५।।

(प्रभावक चरित्र, पृ ८३)

मात्य आदि प्रधान पुरुषो को आचार्य सिद्धसेन की सेवा मे प्रेषित कर विद्वान् मुनि बप्प भट्टी को उनके साथ ही कान्यकुब्ज भेजने की प्रार्थना की। सघ-प्रभावना को दृष्टिगत रखते हुए आचार्य सिद्धसेन ने कतिपय गीतार्थ मुनियो के साथ अपने परम प्रिय शिष्य बप्पभट्टी को कान्यकुब्ज के लिये विदा किया।

नगर से पर्याप्त दूरी पर बप्पभट्टी के आगमन का समाचार सुन कर स्वय कान्यकुब्जेश्वर उनके सम्मुख गया। वन्दन-नमन, अभिवादन, कुशल प्रश्न आदि के पश्चात् आम राज ने बप्पभट्टी से कान्यकुब्ज राज्य के पट्टहस्ती पर बैठकर नगर प्रवेश करने की प्रार्थना की।

बप्पभट्टी ने कहा—"राजन् ! मैंने सभी प्रकार के सावद्य कार्यों एव सग आदि का परित्याग कर पच महाव्रत धारण किये है। पट्टहस्ती पर बैठने से तो मेरे श्रमणाचार मे अतिचार लगेगा।"

इस पर राजा आम ने कहा—"भगवन् ! मैने आपके समक्ष पहले प्रतिज्ञा की थी कि मुझे राज्य मिलने पर वह राज्य आपको दे दू गा। यह श्रेष्ठ पट्ट हस्ती राज्याभिषेक का ही प्रतीक है। इस पर आपके बैठने से मेरी प्रतिज्ञापूर्ण हो जायगी। अन्यथा अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर पाने का शल्य मेरे हृदय मे जीवन भर खटकता रहेगा।"

यह कहते हुए आम राज ने बप्पभट्टी को अपने प्रलम्ब बाहु-पाश मे आबद्ध कर बडे ही प्रेम से बलात् अभिषेक-हस्ती की पीठ पर सजी अम्बावारी मे रखे सिहासन पर बैठा दिया।[1]

नगर के प्रवेश द्वार से राजप्रासाद तक के मुख्य पथो के दोनो ओर खडे आबालवृद्ध नागरिको ने विद्वान् मुनिपुङ्गव बप्पभट्टी का अभूतपूर्व स्वागत किया।

---

[1] भूप समग्रसामग्र्या, सम्मुखीनस्ततोऽगमत्।
कुञ्जरारोहणे विद्वत्कुञ्जरस्यर्थना व्यधात् ॥८३॥
बप्पभट्टिरुवाचाथ, भूप शमवता पति।
सर्वसगमुचा नोऽत्र, प्रतिज्ञा हीयतेतमाम् ॥८४॥
राजोवाचे व पुरा पूर्वं यन्मया प्रतिशुश्रुवे।
राज्यमाप्त प्रदास्यामि, तल्लक्ष्म वरवारण ॥८५॥
इत्यालाप्य बलात् पट्ट कुञ्जरे धरणीधर।
जितक्रोधाद्यभिज्ञानघृतछत्रचतुष्टयम् ॥८७॥

प्रावेशयत् शमीश्रेणीश्वरमत्युत्सवात् पुरम् ॥८८॥
(प्रभावक चरित्र, पृ० ८२)

आमराज ने राजोचित सम्मान के साथ बप्पभट्टी को अपने यहा रखा और अहर्निश अपना अधिकाश समय उनकी सेवा मे रहकर धर्म-चर्चा एव काव्य विनोद मे ही वह व्यतीत करने लगा।

कतिपय दिनो के पश्चात् महाराजा आम ने अपने अमात्यो एव प्रभावशाली पौरजनो के साथ मुनि बप्पभट्टी को आचार्य सिद्धसेन की सेवा मे इस प्रार्थना के साथ भेजा कि बप्पभट्टी को आचार्य पद प्रदान कर उन्हे शीघ्र ही पुन कान्यकुब्ज भेजने की कृपा करे।

बप्पभट्टी को आचार्य पद के सर्वथा योग्य समझते हुए आचार्य सिद्धसेन ने राजा आम की प्रार्थना स्वीकार कर ली और विक्रम स० ८११ की चैत कृष्णा ८ के दिन शुभ-मुहूर्त्त मे बप्पभट्टी को आचार्य पद प्रदान किया।[1]

अपने महाप्रतिभाशाली शिष्य को अपने से दूर न रखने की आतरिक इच्छा होते हुए भी धर्म भावना और आमराज की अनुरोधपूर्ण प्रार्थना को ध्यान मे रखते हुए आचार्य सिद्धसेन ने आचार्य बप्पभट्टी को कान्यकुब्ज के लिये विदा किया।

बप्पभट्टी को कान्यकुब्ज की ओर विदा करते समय आचार्य सिद्धसेन ने आवश्यक शिक्षा देते हुए उनसे कहा—"वत्स! तुम जिनशासन के उदीयमान ज्योतिर्मय नक्षत्र हो। तुम यौवन के प्रवेशद्वार की ओर अग्रसर हो रहे हो। तुम इस समय एक सुसमृद्ध जनपद के स्वामी महाराजा आम के पूज्य होकर उसकी राज-सभा मे जा रहे हो। अपने सम्पूर्ण जीवन मे तुम इस बात को कभी न भूलना कि तरुणावस्था और राजा द्वारा पूजित होना ये दोनो ही प्रकार की स्थितिया प्रायश महान् अनर्थकारिणी होती है। अत तुम अपने जीवन मे सदा सजग रहकर विषय वासनाओ की खान नारि-ससर्ग से दूर रहते हुए कामदेव रूपी सम्मोहक पिशाच से सदा सावधानीपूर्वक आत्मरक्षा करते रहना।"

अपने आराध्य गुरुदेव की शिक्षा को शिराधार्य करते हुए बप्पभट्टी ने कहा—"भगवन्! मैं अपने भक्तजनो के घर से कभी भोजन ग्रहण नही करूँगा। इसके साथ ही साथ मैं यह भी प्रतिज्ञा करता हू कि मैं भविष्य मे जीवनपर्यन्त दूध, दही, घृत, तेल और मीठा—इन पाचो ही विगयो अर्थात् विकृतिजनक पदार्थों का सेवन नही करूँगा।"

---

[1] एकादशाधिके तत्र जाते वर्षशताष्टके, (८११)
विक्रमात् सोऽभवत् सूरि कृष्णचैत्राष्टमीदिने ॥११५॥

(प्रभावक चरित्र, पृ ८३)

बप्पभट्टी ने अपनी इन दोनो प्रतिज्ञाओ की जीवनपर्यन्त पूर्णरूपेण परिपालना के लिये अपने गुरु सिद्धसेन से तत्काल विधिवत् नियम ग्रहण किये।[1]

तदनन्तर कतिपय गीतार्थ मुनियो एव आमराज के अमात्य आदि प्रधान पुरुषो के साथ अपने गुरु को प्रणाम कर आचार्य बप्पभट्टी कन्नोज की ओर प्रस्थित हुए। विहार क्रम से कतिपय दिनो के पश्चात् कन्नोज पहुचे और नगर के बहिरस्थ एक उद्यान मे ठहरे।

बप्पभट्टी के आगमन का समाचार सुनते ही आमराज हर्ष-विभोर हो उठा। उसने अपनी चतुरगिणी सेना, अभिषेक हस्ती, सामन्तो, परिजनो एव पौरजनो की विशाल जनमेदिनी के साथ आचार्यश्री बप्पभट्टी का बडे महोत्सव के साथ नगरप्रवेश करवाया। इस प्रकार कान्यकुब्ज मे रहकर आचार्य बप्पभट्टी अपने उपदेशामृत से राजा और प्रजा वर्ग को सन्मार्ग पर अग्रसर करने लगे। उनके प्रवचनो को सुनने के लिये प्रतिदिन दूर-दूर से जनसमूह उद्वेलित सागर की लहरो के समान कान्यकुब्ज की ओर उमडते रहते।

बप्पभट्टी के उपदेशो मे आमराज ने अनेक जनकल्याणकारी कार्य किये। प्रजाजनो के मानस मे धर्मजागरण की अभिनव लहर उत्पन्न हुई और लोगो मे धार्मिक तथा जनकल्याणकारी कार्यो के प्रति परस्पर होड सी लग गई। बप्पभट्टी के उपदेश से महाराजा आम ने दो मन्दिरो का निर्माण करवाया। राजगुरु के रूप मे बप्पभट्टी की ख्याति दिग्दिगन्त मे प्रसृत हो गई।

अप्रतिम प्रतिभा, पारगामी पाडित्य, वाचस्पति तुल्य वाग्मिता, अत्यद्भुत कवित्वशक्ति, अक्षोभ्य तार्किक बुद्धि और बडे से बडे प्रतिवादियो को शास्त्रार्थ मे सहज ही परास्त कर देने वाले अप्रतिम वाद-कौशल आदि गुणो के कारण तथा आमराज्य के शासनकाल मे जैनधर्म को राज्याश्रय प्राप्त होने के परिणामस्वरूप जिनशासन की उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई।

आमराज एकदा बप्पभट्टी के पास बैठा हुआ काव्य विनोद का रसास्वादन कर रहा था। उसने अपने अन्त.पुर के किसी रहस्यपूर्ण दृश्य पर गाथार्द्ध का निर्माण

---

[1] अथानुशिष्टो विधिवत्, गुरुभिर्ब्रह्मरक्षणे।
तारुण्य राजपूजा च, वत्सानर्थद्वय ह्यद ॥१११॥
आत्मरक्षा तथा कार्या, यथा न च्छलयते भवान्।
वामकामपिशाचेन, यत्य तत्र पुन पुन ॥११२॥
भक्त भक्तस्य लोकस्य, विकृतिश्चाखिला अपि।
आजन्म नैव भोक्ष्येऽहममु नियममग्रहीत् ॥११३॥

(प्रभावक चरित्र पृष्ठ ८३)

किया और उसे समस्या पूर्ति हेतु बप्पभट्टी के समक्ष रखा। सिद्धसारस्वत महाकवि बप्पभट्टी ने तत्काल यथातथ्यरूपेण समस्या पूर्ति कर दी। उस नितरा निगूढ रहस्य के इस प्रकार अनायास ही प्रकट हो जाने से आमराज मर्माहत, स्तब्ध एव सशक हो उठा। आमराज की विकृत मुखाकृति और वक्र एव सशक भावभगिमा को देखकर आचार्य बप्पभट्टी तत्काल वहा से उठकर अपने विश्राम-स्थल पर लौटे और उन्होने अपने सब साधुओ को तत्काल वहा से विहार करने का आदेश दिया। जाते समय द्वार के कपाट पर बप्पभट्टी ने निम्नाकित श्लोक लिख दिया —

याम स्वस्ति तवास्तु रोहणगिरेर्मत्त स्थितिप्रच्युता,
वर्तिष्यन्त इमे कथ कथमिति स्वप्नेऽपि मैवम् कृथा।
श्रीमस्ते मणयो वय यदि भवल्लब्धप्रतिष्ठास्तदा
ते शृङ्गारपरायणा क्षितिभुजो मौलौ करिष्यन्ति न ॥१६१॥

(प्रभावक चरित्र)

अर्थात्—हे रत्नो के उत्पत्ति केन्द्र रोहण गिरिराज ! हम तो जा रहे है, तुम्हारा कल्याण हो। तुम कभी स्वप्न मे भी इस प्रकार का विचार अपने मन मे न लाना कि मेरे आश्रय से पृथक् हुआ यह रत्न कहा, किस दिशा मे और किस प्रकार रहेगा ? श्रीमन् ! हम आपके रत्न है, आपसे हमने प्रतिष्ठा प्राप्त की है। अत शृङ्गाररसिक सभी मुकुटधर महिपाल हमे तत्काल अपने सिर पर बैठा लेगे।

तदनन्तर सघ एव आमराज को बिना कुछ कहे-सुने ही आचार्य बप्पभट्टी ने अपने मुनिमण्डल के साथ कान्यकुब्ज से विहार कर दिया। अप्रतिहत विहार क्रम से अनेक स्थानो मे विचरण करते हुए वे गौड प्रदेश की राजधानी लक्षणावती नगरी के बाहर एक उद्यान मे ठहरे।

गौडराज महाराजा धर्म की राजसभा के विद्वद्‌शिरोमणि प्रबन्ध कवि वाक्पतिराज को जब ज्ञात हुआ कि महाकवि बप्पभट्टी नगर के बाहर एक उद्यान मे आये हुए है, तो वह बडा प्रसन्न हुआ। वाक्पतिराज ने तत्काल महाराजा धर्म की सेवा मे उपस्थित हो, उसे आचार्य बप्पभट्टी के आगमन की सूचना देते हुए निवेदन किया—"पृथ्वीपाल ! साक्षात् बृहस्पति तुल्य सिद्धसारस्वत कवि बप्पभट्टी हमारे सौभाग्य से यहा आये है।"

यह सुनते ही धर्म नृपति पुलकित हो उठा और बोला—"कवि कुलकुमुदचद्र जैनाचार्य बप्पभट्टी जिस दिन हमारे यहा आ जाय, वह दिन वस्तुत हमारे लिये परम सौभाग्यशाली होगा। केवल एक ही बात विचारणीय है कि आमराज के साथ हमारे सम्बन्ध शत्रुतापूर्ण है। बप्पभट्टी हमारे यहा रह जाय और आमराज द्वारा बुलाये जाने पर पुन उसके पास लौट जाय तो, उस अवस्था मे हमारा वस्तुत लोक-दृष्टि से बडा तिरस्कार होगा, अपमान होगा। इतना सब कुछ होते हुए भी बप्पभट्टी

जैसे कवीश्वर मुनीश्वर के काव्यामृतपान एव ससर्ग का स्वर्णिम अवसर हम खोना भी नही चाहते। ऐसी स्थिति मे बप्पभट्टी से यहा रहने की प्रार्थना के साथ ही उन्हे निवेदन किया जाय कि आमराज के साधारण आमत्रण मात्र पर आप हमे छोडकर न जाय। आमराज आपको अपने यहा पुन ले जाने के लिये धर्मनृप के समक्ष यहा राजसभा मे स्वय उपस्थित होकर कहे, तभी आप कान्यकुब्ज लौटे। अन्यथा नही।"

प्रबन्ध कवि वाक्पतिराज ने महाकवि जैनाचार्य बप्पभट्टी की सेवा मे उपस्थित हो वदन-नमन के पश्चात् उनकी सेवा मे गौडराज धर्म नृपति की ओर से लक्षणावती नगरी मे उन्हे विराजने की गौडराज के शब्दो मे ही प्रार्थना की।

आचार्य बप्पभट्टी ने वाक्पतिराज द्वारा की गई राजा धर्म की प्रार्थना को अक्षरश यथावत् रूप मे स्वीकार कर लिया। यह सुनकर राजा धर्म के हर्ष का पारावार न रहा।

वह उनकी सेवा मे उपस्थित हुआ। वन्दन-नमन के पश्चात् महाराजा धर्म ने आचार्यश्री से लक्षणावती नगरी मे प्रवेश करने की प्रार्थना की।

महाराजा धर्म ने बप्पभट्टीसूरि को उनके योग्य समुचित स्थान मे ठहराया। राजसभा के पार्षदो और पौरजनो के साथ महाराजा धर्म बप्पभट्टी के उपदेशामृत का पान करता हुआ सुखपूर्वक रहने लगा। आचार्यश्री के धर्मोपदेश से गौड प्रदेश मे भी जिनशासन का पर्याप्त प्रचार-प्रसार हुआ।

उधर दूसरे दिन प्रात काल बप्पभट्टीसूरि को न देख राजा आम ने नगर मे, नगर के बाहर उद्यानो मे खोज करने हेतु अपने अनुचर भेजे। पर वे कही नही मिले। अगले दिन स्वय राजा आम एकाकी ही प्रात. सूर्योदय से बहुत पूर्व, नगर के बाहर अवस्थित उद्यानो की ओर उन्हे खोजने के लिए प्रस्थित हुआ। एक के पश्चात् एक-एक करके उसने सभी उद्यान छान डाले, पर उसे बप्पभट्टीसूरि कही दृष्टिगोचर नही हुए। अवशिष्ट अन्तिम उद्यान मे उसने एक आश्चर्यजनक अद्भुत दृश्य देखा कि एक काले सर्प ने नेवले के साथ लडते-लडते नेवले को मार दिया है। यह अद्भुत दृश्य देखकर आमराज को बडा विस्मय हुआ। ध्यान से देखने पर आमराज को आभास हुआ कि नाग के सिर मे मणि है। निर्भीक आमराज ने झपटकर नागराज के फन को पकडा और उसमे से मणि निकाल कर नाग को छोड दिया। उस उच्चकोटि की अलभ्य श्रेष्ठ मणि को देखकर आमराज को बडी प्रसन्नता हुई। हर्षातिरेकवशात् आमराज के कण्ठ से उसके आतरिक हर्षोद्गार निम्नलिखित श्लोकार्द्ध के रूप मे सहसा प्रकट हुए —

शस्त्र शास्त्र कृषिर्विद्या, अन्या यो येन जीवति।

राजा आम ने राजसभा मे उपस्थित हो विद्वन्मडली के समक्ष इस श्लोकार्द्ध को समस्यापूर्ति हेतु रखा। छोटे-वडे सभी कवियो ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार

समस्यापूर्ति का प्रयास किया किंतु समस्यापूर्ति किसी भी कवि के द्वारा न किये जाने पर आमराज बडा खिन्न हुआ। उसके हृदय मे बप्पभट्टी का वियोग शल्य के समान खटकने लगा। उसने स्पष्टत अनुभव किया कि बप्पभट्टी के विना न केवल उसकी राजसभा अथवा उसका राज प्रासाद ही अपितु उसका जीवन भी शून्य ही है।

उसने बप्पभट्टी को ढूढने का दृढ सकल्प किया। विचार करते-करते उसने अन्ततोगत्वा एक उपाय खोज ही निकाला। आमराज ने एक पट्ट पर उस समस्या को अकित करवाकर अपने राज्य मे घोषणा करवा दी कि जो कोई भी व्यक्ति इस समस्या की पूर्ति कर देगा, उसे आमराज एक लाख स्वर्णमुद्राए पारितोषिक के रूप मे प्रदान करेगा।

द्यूतक्रीडा के दुर्व्यसन मे फसकर रक बने एक विपन्न व्यक्ति ने इस समस्यापूर्ति को विपुल धनप्राप्ति का साधन समझ कर, उस समस्या को एक पत्र मे लिखा और वह स्थान-स्थान पर बप्पभट्टी को खोजता हुआ अन्ततोगत्वा एक दिन लक्षणावती मे बप्पभट्टी की सेवा मे पहुच ही गया। वन्दन-नमन के अनन्तर उसने आचार्य श्री के समक्ष वह श्लोकार्द्ध रखा। सारस्वतसिद्ध बप्पभट्टी ने तत्काल निम्नलिखित श्लोक का उच्चारण करते हुए समस्यापूर्ति कर दी —

शस्त्र शास्त्र कृषिर्विद्या, अन्यो यो येन जीवति।
सुगृहीत हि कर्त्तव्य, कृष्णसर्पमुख यथा ।।

वह व्यक्ति लक्षणावती से कान्यकुब्ज लौटा और आमराज की सेवा मे उपस्थित हो उसने पूरा श्लोक कान्यकुब्जेश के सम्मुख प्रस्तुत किया। आमराज समुचित समस्यापूर्ति से बडा प्रसन्न हुआ। तत्काल उस व्यक्ति को एक लाख स्वर्ण मुद्राए प्रदान करते हुए आमराज ने पूछा—"भद्र! वस्तुत इस समस्या की पूर्ति किसने की है? क्या तुम यह बता सकते हो?"

द्यूतव्यसनी ने उत्तर मे कहा—"राजन्! सरस्वती पुत्र बप्पभट्टीसूरि ने।"

"कहा हैं वे कविकुलकुमुदचन्द्र?" हर्ष से ओतप्रोत औत्सुक्यपूर्ण स्वर मे आमराज ने पूछा।

उत्तर की क्षण भर भी प्रतीक्षा न कर आमराज ने पुन प्रश्न किया "क्या तुमने स्वय ने उनको देखा है?"

द्यूतव्यसनी ने कहा—'हा, महाराज! मैंने स्वय ने उनके दर्शन किये है। मैंने उनके समक्ष समस्या रखी और उन्होने तत्काल समस्यापूर्ति कर दी। वे गौडाधिप महाराज धर्म की राजसभा की शोभा बढा रहे है।"

दूसरे ही दिन आमराज ने अपने विशिष्ट प्रतिभासम्पन्न अमात्य के साथ, आचार्य बप्पभट्टी की सेवा मे एक पत्र प्रेषित किया, जिसमे क्षमायाचना के पश्चात् अन्तस्तलस्पर्शी भावपूर्ण भाषा मे, उन्हे तत्काल कन्नौज लौट आने की प्रार्थना की गई थी।

दूत अतीव द्रुतगति से लक्षणावती पहुचा और उसने बप्पभट्टी के चरण-कमलो मे वह पत्र प्रस्तुत किया। पत्र को पढते ही वे आनन्द-विभोर हो उठे।

उस दूत को, बप्पभट्टी ने, धर्मराज को दिये गये अपने वचन का विवरण सुनाते हुए कहा :—"जब तक आमराज अद्भुत् कौशल से स्वय महाराजा धर्म के समक्ष उपस्थित हो मुझे अपने यहा पुन ले जाने की बात न कह दे तब तक लक्षणा-वती न छोडने के लिये मै वचनबद्ध हू। अत आमराज से जाकर कह देना कि वे शीघ्र ही यहा आये और हमारी प्रतिज्ञा को पूर्ण करे। जिससे कि मैं शीघ्र ही कान्यकुब्ज आ सकू।"

बप्पभट्टी ने गूढार्थपूर्ण छन्दो की रचना कर एतद्विषयक अपना सन्देश भी अमात्य के साथ आमराज के पास भेजा।

अपने अमात्य से आचार्य बप्पभट्टी के मौखिक एव लिखित सदेश को पाकर महाराज आम, बप्पभट्टी की सेवा मे उपस्थित होने के लिए आतुर हो उठा। गौडेश के साथ कान्यकुब्जेश की प्रगाढ शत्रुता थी। इसके उपरान्त भी अपने प्राणाधिक प्रिय आचार्य बप्पभट्टी को कन्नौज लाने के लिये अपने प्राणो तक के मोह का परि-त्यागकर आमराज प्रच्छन्न वेष मे पहले बप्पभट्टी की सेवा मे और तदनन्तर उनके साथ धर्मराज की राजसभा मे धर्मराज के समक्ष भी जा उपस्थित हुआ।

बप्पभट्टी ने अनेकार्थक गूढ एव अद्भुत श्लेषपूर्ण शब्दो मे महाराजा धर्म को आमराज का परिचय दिया। आमराज ने भी उसी श्लेषपूर्ण नितरा अति निगूढ शैली मे प्रच्छन्न रूप से अपना वास्तविक परिचय देते हुए बप्पभट्टी को कान्य-कुब्ज ले जाने के लिये बडे ही नाटकीय ढग से राजा धर्म के समक्ष अपनी विज्ञप्ति प्रस्तुत कर दी।[1]

---

[1] आमराजोऽप्यथ श्रीमान्प्रच्छन्न इवाशुमान्।
विशिष्टै स्वार्थनिष्ठोऽगात्, स स्थगीधरकैतवात् ॥२३६॥
आत्मविज्ञप्तिका धर्मराजस्यादर्शयद् गुरु।
आगमिष्यद्वियोगाग्निज्वालामिव सुहृत्सहाम् ॥२४०॥
वाचयित्वा च ता पृष्टो, दूतस्ते कीदृशो नृप।
स प्राहास्य स्थगीभर्तुस्तुल्यो देव प्रबुध्यताम् ॥२४१॥

[शेष टिप्पणी-सम्बन्ध ५६६ पर]

वह सब कुछ ऐसे नाटकीय ढग और अद्भुत रीति से किया गया था कि राजा आम और बप्पभट्टी के अतिरिक्त किसी अन्य को किंचित्मात्र भी ज्ञात होना तो दूर लवलेशमात्र भी आभास तक नही हो पाया कि कान्यकुब्जेश्वर महाराजा आम गौडराज्याधीश महाराजा धर्म के समक्ष स्वय उपस्थित हुआ है और उसने आचार्य बप्पभट्टी को कान्यकुब्ज ले जाने के सम्बन्ध मे महाराजा धर्म को अपनी विज्ञप्ति प्रस्तुत कर दी है।

दूसरे दिन प्रात काल आचार्य बप्पभट्टी ने धर्मराज से जाकर कहा—"राजन् ! अब मैं कन्नौज जाने के लिये समुद्यत हू।"

राजा धर्म ने साश्चर्य आचार्यश्री की ओर देखते हुए कहा—"भगवन् ! जब तक आमराज स्वय मेरे सम्मुख उपस्थित होकर आपको कान्यकुब्ज ले जाने के लिये मुझे न कहे तब तक आप वहा न जाने के लिये वचन दे चुके है। क्या आप अपना वह वचन पूरा हुए बिना ही जा रहे है ?"

आचार्य बप्पभट्टी ने कहा—"राजन् ! स्वय आमराज ने कल राज्यसभा मे आपके समक्ष उपस्थित हो मुझे कन्नौज ले जाने के सम्बन्ध मे आपको विज्ञप्ति प्रस्तुत की थी। कल जो दूत आपके समक्ष राजसभा मे उपस्थित हुआ था, वह आमराज ही तो था। उसने मुझे कान्यकुब्ज ले जाने के लिये—

(शेष ५९८ का टिप्पणी-सम्बन्ध)

मातुर्लिग करे बिभ्रत् सैष पृष्टश्च सूरिणा।
करे ते किं सचावादीद् 'बीजउरा' इति स्फुटम् ॥२४२॥ (दूसरा राजा अथवा उत्तर से)

दूतेन चाढकीपत्रे, दर्शिते गुरुराह स।
स्थगीधर पुरस्कृत्य 'तूअरिपत्त' मित्ययम् ॥२४३॥ (तवारिपत्रम्-तेरा शत्रु)

अथोवाच प्रधानश्च, सूरिरेष श्लथादर।
अस्मास्विति प्रतिज्ञा य, दुस्तरा विदधे ध्रुवम् ॥२४५॥

विहितेऽत्रापि चेत्पूज्य, आयाति प्राज्य पुण्यत।
अस्माभि सह तद्देवा प्रतुष्टा नो विचार्यताम् ॥२४६॥

तत्ती सीअली मेलावा केहा, धरण उत्तावली प्रिय मन्द सिणेहा।
विरहिहिं माणुसु ज मरइ तसु कवरण निहोरा, कनि पवित्तडी जणु जाणइ दोरा ॥२४७॥

(दोरा-दोराड्-द्वौ राजानौ)
(प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ८९)

विहितेऽत्रापि चेत्पूज्य आयाति प्राज्यपुण्यत ।
अस्माभि सह तद्देवा, प्रतुष्टा नो विचार्यताम् ।।

इस रूप मे आपसे निवेदन भी किया था, विज्ञप्ति भी की थी ।"

धर्मराज के मुख से सहसा इस रूप मे शोकोद्गार प्रकट हुए—"भगवन् ! मैं कितना मूढ हू कि घर आये हुए शत्रु का न तो स्वागत ही कर सका और न उसे साध ही सका । इन दोनो मे से किसी एक भी विधि से चिरसचित वैर का बदला न चुका सका । अस्तु, अब आपका वियोग किस प्रकार सहन किया जा सकेगा, इस विचार से मन उद्विग्न हो रहा है, खिन्न हो रहा है ।"

आचार्य बप्पभट्टी ने महाराजा धर्म को 'सयोगा हि वियोगान्ता' आदि सान्त्वनाप्रदायिनी तथ्योक्तियो एव सूक्तियो से समझा-बुझा कर एव आश्वस्त कर लक्षणावती से विहार किया । गौड राज्य की सीमा के बाहर आमराज ने उनका स्वागत किया और वे सब साथ-साथ पुन कन्नौज लौटे । आमराज ने बडे ही हर्षोल्लास एव अपूर्व महोत्सव के साथ आचार्य बप्पभट्टी का कन्नौज मे नगर-प्रवेश करवाया ।

तदनन्तर बप्पभट्टी कान्यकुब्ज मे भव्यो को धर्मोपदेश देते हुए—जिनशासन का चहुमुखी प्रचार-प्रसार एव विकास करते हुए स्व-पर कल्याण मे निरत रहने लगे ।

कालान्तर मे एक दिन एक सदेशवाहक ने बप्पभट्टी की सेवा मे उपस्थित हो उन्हे उनके गुरु सिद्धसेन का सदेश दिया । उस सदेश मे आचार्य सिद्धसेन ने लिखा था —

"वत्स ! मेरी देहयष्टि जरा से जर्जरित और अग-प्रत्यग शिथिल हो गये हैं । नेत्रो की ज्योति क्षीणप्राया हो चुकने के कारण सब कुछ अस्पष्ट और धुधला दिखाई देता है । ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ ही दिनो के प्राहुणक प्राण तुम्हारे मुखकमल को देखने की एकमात्र उत्कट अभिलाषा के बल पर ही शरीर मे रुके हुए हैं । यदि तुम्हारे मन मे मेरा मुख देखने की इच्छा हो तो शीघ्रतापूर्वक यहा आ जाओ ।"

अपने गुरु के इस सन्देश के प्राप्त होते ही बप्पभट्टी ने तत्काल कन्नौज से मोढेरा की ओर विहार किया । आमराज बडी दूरी तक उन्हे पहुचाने आया और विदा करते समय उसने अपने विश्वस्त अधिकारियो एव सेवको को अपने गुरु के साथ भेजा ।

उग्र विहारक्रम से बप्पभट्टीसूरि शीघ्र ही मोढेरा ग्राम मे अपने गुरु की सेवा मे उपस्थित हुए । अपने महान् प्रभावक शिष्य को देखकर आचार्य सिद्धसेन

परम प्रमुदित हुए। सघ का कार्यभार बप्पभट्टी को सम्हला कर उन्होने आलोचनापूर्वक अनशन किया और समाधिपूर्वक रत्नत्रय की आराधना करते हुए परलोक-गमन किया।

अपने आराध्य गुरुदेव आचार्य सिद्धसेन के स्वर्गवास के अनन्तर बप्पभट्टी ने मोढेरा ग्राम मे रहते हुए सघ की समुचित रूप से व्यवस्था की और कुछ समय पश्चात् अपने मोढ गच्छ और सघ का कार्यभार गोविन्दसूरि एव नन्नसूरि को सम्हला कर उन्होने आमराज के प्रधानो के साथ कान्यकुब्ज की ओर प्रस्थान किया। कतिपय दिनो के पश्चात् वे पुन कान्यकुब्ज पहुचे। वहा कई वर्षो तक धर्मोपदेश देते हुए वे वहा राजा और प्रजाजनो को धर्मपथ पर आरूढ कर उन्हे उपकृत करते रहे।

कालान्तर मे एक दिन गौडराज महाराजा धर्म ने आमराज के पास अपना दूत भेजकर एक प्रस्ताव रखा कि बौद्ध महावादी वर्द्धनकुन्जर उनके यहा लक्षणावती मे आया हुआ है और वह शास्त्रार्थ के लिए देश विदेश के सभी वादी-प्रतिवादियो को शास्त्रार्थ के लिये चुनौती दे रहा है। किन्तु उसके साथ शास्त्रार्थ करने का कोई भी वादी साहस नही कर रहा है। ऐसी दशा मे बप्पभट्टी और बौद्ध महावादी वर्द्धन कुन्जर के बीच शास्त्रार्थ करवाया जाय।

आमराज ने इस पण के साथ शास्त्रार्थ की चुनौती को स्वीकार कर लिया कि जिसका वादी हार जायेगा, वह राजा अपना सम्पूर्ण राज्य विजयी वादी के पक्षधर राजाको समर्पित कर देगा।

धर्मराज द्वारा इस पण के स्वीकार कर लिये जाने पर दोनो राज्यो की सीमा पर बौद्ध महावादी वर्द्धनकुन्जर के साथ आचार्य बप्पभट्टी का शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ। जय पराजय के किसी प्रकार के निर्णय के बिना उन दोनो विद्वानो के बीच शास्त्रार्थ निरन्तर ६ मास तक चलता रहा।

अन्त मे उस सौगत ने बप्पभट्टी को महामहिम महावादी बताते हुए उनकी विजय स्वीकार कर ली।

पीठासीन निर्णायको ने शास्त्रार्थ का निर्णय सुनाते हुए जैनाचार्य बप्पभट्टी को विजयी और सौगत वादी वर्द्धनकुन्जर को पूर्णत पराजित घोषित किया।

शास्त्रार्थ के इस निर्णय के बाद आमराज ने पूर्वकृत पण के अनुसार धर्मराज से अपना सम्पूर्ण राज्य समर्पित करने को कहा। महाराजा धर्म तत्क्षण अपना सम्पूर्ण गौड राज्य कान्यकुब्जेश्वर को समर्पित करने के लिए विधिवत् समुद्यत हो गया। किन्तु बप्पभट्टी के अनुरोध पर धर्मराज का राज्य यथावत् धर्मराज आयत्त ही रखना आमराज ने स्वीकार कर लिया। इसके परिणाम-स्वरूप उन दो

राज्यो की पारम्परिक शत्रुता समाप्त हुई। आमराज तथा धर्मराज दोनो ही पारस्परिक मैत्रीभाव के सूत्र मे बध गये।

आचार्य बप्पभट्टी ने उस बौद्ध आचार्य वर्द्धनकुन्जर को बडे प्रेम से गले लगाया और उसे जैन सिद्धान्तो के गूढ रहस्यो का बोध दे उसे बारह व्रतधारी श्रावक बनाया।

वर्द्धनकुन्जर को सभी प्रकार की परीक्षाए लेने के पश्चात् दृढ विश्वास हो गया कि सुसुप्त्यवस्था हो अथवा जागृत अवस्था—सदा सरस्वती बप्पभट्टी के कण्ठ मे विराजमान रहती है। सम्यग्दृष्टि बारह व्रतधारी श्रावक बनने के पश्चात् वह वर्द्धनकुन्जर बडी श्रद्धाभक्ति से बप्पभट्टी को नमस्कार कर अपने अभीष्ट स्थान पर चला गया। आमराज और धर्मराज भी बडे प्रेम-पूर्वक एक दूसरे का अभिवादन कर अपने-अपने स्थान की ओर प्रस्थित हुए।

कालान्तर मे आमराज और धर्मराज के बीच पुरानी शत्रुता पुन उग्ररूप धारण करने लगी। यशोवर्मा के पुत्र आमराज ने विशाल सेना के साथ गौड राज्य पर आक्रमण किया। दोनो ओर से भीषण युद्ध हुआ। धर्मराज रणागण मे ही आमराज द्वारा यमधाम को पहुचा दिया गया। धर्मराज का सामन्त प्रबन्ध कवि वाक्पति राज महाराज आम के सेनापति द्वारा बन्दी बना लिया गया। आमराज की युद्ध मे विजय हुई और उसने सम्पूर्ण गौड राज्य पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

प्रबन्धकवि वाक्पतिराज ने कान्यकुब्जेश्वर के सैनिक कारागार मे रहते हुए "गौडवहो" नामक एक श्रेष्ठ काव्य की रचना की। उससे आमराज उस पर बडा प्रसन्न हुआ और वाक्पतिराज को कारागार से मुक्त कर उसे अपनी राज्यसभा का सदस्य बना लिया। राजकवि के रूप मे रहते हुए वाक्पतिराज ने आमराज की यशोगाथाओ के अनेक चमत्कारपूर्ण श्लोक बनाये और 'महुमहविजय' नामक एक ग्रन्थरत्न की भी रचना की। आमराज ने प्रसन्न हो प्रतिवर्ष दो लाख स्वर्ण मुद्राओ की आय की जागीर वाक्पतिराज को प्रदान की।

राजा आम न्यायनीतिपूर्वक प्रजा का पालन और आचार्य बप्पभट्टी के उपदेशानुसार अनेक प्रभावनापूर्ण कार्यो से सद्धर्म का प्रचार-प्रसार करने लगा। इधर वाक्पतिराज को ससार से पूर्णरूपेण विरक्ति हो चुकी थी। वे आमराज से अनुमति ले मथुरा चले गये और वहा सन्यास ग्रहण कर अपने इष्ट की उपासना करने लगे।

कालातर मे एक दिन धर्मोपदेश देते समय बप्पभट्टी ने विभिन्न धर्मो के सम्बन्ध मे तुलनात्मक दृष्टि से विवरण प्रस्तुत करते हुए कहा कि विश्व के समस्त धर्मों मे जैनधर्म नवनीत के समान सारभूत और उत्तम है। उन्होने राजा आम

को परामर्श देते हुए कहा—"परीक्षापूर्वक तुम जैन धर्म को विधिवत् अङ्गीकार कर लो।"

आमराज ने कहा—"महात्मन् ! यो तो मैं पूरी परीक्षा के पश्चात् जैन धर्म को ही मानता हू किन्तु मेरा मन शैवधर्म मे अनुरक्त है। मुझे आप अन्य और किसी भी कार्य के लिये कह दीजिये परन्तु मेरे पैतृक धर्म शैवधर्म को छोडने के लिये कृपा कर न कहिये और आप रोष न मानें तो एक बात कहू ?"

"हा, हा राजन् ! अवश्य कहो।"

ईषत् परिहास की मुद्रा मे आमराज ने कहा—"भगवन् ! मथुरा के वराह मन्दिर मे वाक्पतिराज सन्यस्त हो गले मे यज्ञोपवीत एव रुद्राक्ष की मालाए धारण किये, हाथ मे तुलसी की माला लिये सन्यासियो तथा रासगान-रसिक कृष्ण भक्तो की भीड से घिरा हुआ पुराण पुरुषोत्तम परब्रह्म की नासाग्र दृष्टि किये एकाग्रचित्त से आराधना कर रहा है। उसे आप जैन धर्म अङ्गीकार करवा दीजिये।"

राजा आम की बात सुन कर बप्पभट्टी तत्काल मथुरा जाने के लिये उद्यत हो गये। कालातर मे वे मथुरा पहुचे। वे वराह मन्दिर मे गये। वहा उन्होने देखा कि आमराज द्वारा बताई गई अवस्था मे ही सन्यासी का वेष, रुद्राक्ष की मालाए, यज्ञोपवीत आदि धारण किये वाक्पतिराज तुलसी माला हाथ मे लिये ध्यानस्थ हो पारब्रह्म परमेश्वरत्रयी की आराधना कर रहे हैं।

वाक्पतिराज के चित्त की एकाग्रता की परीक्षा हेतु बप्पभट्टी ने निम्न-लिखित श्लोको का सस्वर पाठ प्रारम्भ किया —

"रामो नाम बभूव हु तदबला सीतेति हु ता पितु,
र्वाचा पञ्चवटीवने विचरतस्तामाहरद् रावण।
निद्रार्थं जननीकथामिति हरेर्हुंकारिण शृण्वत,
सौमित्रेय धनुर्धनुर्धनुरिति व्यक्ता गिर पान्तु व ।।५७२।।
दर्प्पणार्पितमालोक्य मायास्त्रीरूपमात्मन ।
आत्मन्येवानुरक्तो व, श्रियम् दिशतु केशव ।।५७३।।
उत्तिष्ठन्त्या रतान्ते भरमुरगपतौ पाणिनेकेने कृत्वा,
धृत्वा चान्येन वासो विगलितकवरीभारमस वहत्या ।
सद्यस्तत्कायकातिद्विगुणितसुरतप्रीतिना शौरिणा व,
शय्यामालिंग्य नीत वपुरलसलसद्वाहु लक्ष्म्या पुनातु ।।५७४।।
सन्ध्या यत्प्रणिपत्य लोकपुरतो बद्धाजलिर्याचते,
धत्से यत्त्वपरा विलज्ज शिरसा तच्चापि सोढ मया।
श्रीर्जातामृतमन्थने यदि हरे कस्माद् विष भक्षितम्,
मा स्त्रीलपट ! मा स्पृशेत्यभिहितो गौर्या हर पातु व ।।५७५।।

यदमोघमपामन्तरुप्तम् बीजभज त्वया ।
अतश्चराचर विश्व प्रभवस्तस्य गीयसे ॥५७६॥

कुल पवित्र जननी कृतार्था, वसुधरा पुण्यवती त्वयैव ।
अबाह्यसवित्सुखसिंधुमग्न, लग्न परे ब्रह्मणि यस्य चित्त ॥५७७॥

इन श्लोको को सुनते ही वाक्पति ने कहा—"सखे ! तुम्हारे ये श्लोक वडे प्रशसनीय है, पर क्या यही वेला मिली है तुम्हे इन रसकाव्यो को सुनाने की, क्या यही है आपका मेरे साथ मैत्री सम्बन्ध ? क्या यह सव कुछ बप्पभट्टी जैसे महान् आचार्य के मुख से शोभा देता है ? सखे ! यह इस प्रकार के रसकाव्यो को सुनाने की नही अपितु मुझे बोधभरी पारमार्थिक वाणी सुनाने की वेला है ।"

आचार्य बप्पभट्टी ने उन्हे सान्त्वना देते हुए कहा—"धन्य है आपकी चित्त की एकाग्रता, हम इस प्रकार की चित्त की एकाग्रता की मुक्त कण्ठ से प्रशसा करते हैं। किन्तु मेरे परम मित्र ! आपसे कुछ पूछना है । आपके समक्ष अभी मैंने ब्रह्मा, विष्णु और महेश—इन तीनो देवो का स्वरूप बताया, वह सत्य है अथवा असत्य ? यदि सत्य है तो आप रुष्ट क्यो हो गये ? यदि आप कहते हो कि उन तीनो देवो का जो स्वरूप मैंने बताया वह असत्य है तो वह असत्य हो ही नही सकता । उन तीनो का यह स्वरूप निगमागमादि वाग्मय से प्रत्यक्ष हैं । प्रत्यक्ष मे तो सदेह के लिये किंचित्मात्र भी अवकाश नही । अब आप यह बताइये कि आप जो यह साधना कर रहे हैं, वह राज्यादि सासारिक सुखो की प्राप्ति की इच्छा से कर रहे है अथवा परमार्थ मोक्ष की अवाप्ति के लिये ? यदि ऐहिक सुखोपभोगो के लिये आराधना कर रहे हैं तो वे तो देवी, देव, राजा, महाराजाओ आदि की आराधना से ही प्राप्त हो जायेंगे । पर यदि परमार्थ—अक्षय, अव्याबाध, शाश्वत सुखधाम मोक्ष की प्राप्ति के लिये आप साधना कर रहे हैं तो शात चित्त हो इस सारभूत तत्त्व का विचार करो कि ये तीनो देव जो स्वय ही सासारिक काम—भोगादि उपाधियो—प्रपचो मे फसे हुए हैं, वे तुम्हे मुक्ति प्रदान कर सकेंगे ? इसमे मेरा किंचित्मात्र भी कोई मात्सर्यभाव नही है, आप स्वय इस सम्वन्ध मे सब कुछ जानते हैं।"

वप्पभट्टी के मुख से सारभूत तात्विक वात सुनते ही वाक्पतिराज का व्यामोह दूर हुआ । उनकी भ्रान्ति तिरोहित हो गई । उन्होने वप्पभट्टी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा—"यह मेरे पूर्व पुण्योदय का ही फल है कि आप मेरे आध्यात्मिक जीवन की निर्णायक घडी मे मुझे मुक्ति का सच्चा मार्ग दिखाने यहा आये हैं । कृपा कर आप मुझे तत्वज्ञान प्रदान कीजिये ।"

आचार्य श्री वप्पभट्टी ने वाक्पतिराज को जैनधर्म के सारभूत मूल सिद्धान्तो का वोध प्रदान करते हुए कहा—"त्रिलोकपूज्य वीतराग सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थकरो ने

उत्पाद-व्यय एव ध्रौव्य-इन तीन गुणो से युक्त किन्तु त्रिकालवर्ती शाश्वत षड्द्रव्यो, षड्जीवनिकाय, पच अस्तिकाय, जीव, लेश्या, १२ व्रत, पच महाव्रत, पाच समिति, तीन गुप्ति, चौरासी लाख जीवयोनि, और सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन एव सम्यग्चारित्र रूपी रत्नत्रयी का उपदेश दिया है। उसको यथातथ्य रूप से समझकर हृदयगम करना, उस पर अटूट आस्था रखना और उसी उपदेश के अनुसार आचरण करना, यही वस्तुत समस्त कर्मावरण एव दु खो से मुक्ति दिलाने वाला एव अक्षय-अव्याबाध शाश्वत सुख प्रदान करने वाला मोक्षमार्ग है। जो बुद्धिमान् प्राणी इस प्रकार की वीतराग वाणी को हृदयगम कर उस पर अविचल श्रद्धा रखता हुआ वीतराग वाणी के अनुसार आचरण करता है, वही सम्यग्दृष्टि है।"

"राग-द्वेष के पूर्ण विजेता सर्वज्ञ-सर्वदर्शी वीतराग प्रभु ही सच्चे आराध्य देव हैं। पच महाव्रतधारी, पाचो इन्द्रियो और मन का निग्रह करने वाले, पाचो इन्द्रियो के पाचो विषयो से पूर्णत विरक्त, पाच समिति और तीन गुप्तियो के धारक, आगम ज्ञान से सम्पन्न, भव्य जीवो को परमार्थ का प्रतिबोध कराने वाले, बयालीस दोष रहित विशुद्ध आहार ग्रहण करने वाले, षड्जीव निकाय को सदा अभयदान देने वाले और मद-मात्सर्य विहीन ही सच्चे गुरु है। ऐसे निस्सग, निष्परिग्रही, निरारम्भी और परोपकारव्रती गुरु ही वस्तुत भव्य जनो को ससार सागर से पार उतारने मे समर्थ और मोक्ष का शाश्वत सुख साम्राज्य प्रदान कराने मे सक्षम होते है। जिस प्रकार शरीर अथवा वस्त्र पर लगे कीचड को यदि कीचड से ही धोया जाय तो वह साफ शुद्ध होने के स्थान पर और अधिक गन्दा होगा, उसी प्रकार सरागी देव अथवा गुरु की उपासना से मुक्ति प्राप्त नही हो सकती। इसके विपरीत सरागी देव गुरु की उपासना करने वाले को और अधिकाधिक सुदीर्घ काल तक भवभ्रमण करना होगा, भयावहा भवाटवी मे भटकना पडेगा।"

बप्पभट्टी के इस घट के पट उद्घाटित कर देने वाले सर्वसशयोच्छेदी एव अन्तस्तल स्पर्शी उपदेश से वाक्यपतिराज के अन्तस्तल मे व्याप्त अज्ञानान्धकार नष्ट हो गया। उन्होने कृतज्ञताभरी दृष्टि से बप्पभट्टी की ओर निहारते हुए प्रश्न किया—"भगवन्! आपने जो धर्म का, मुक्ति का रहस्य बताया उससे मेरी सभी प्रकार की भ्रान्तिया दूर हो गई हैं। किन्तु एक सदेह अभी तक भी मेरे मन मे घर किया हुआ है कि यदि अनन्त प्राणी इस मनुष्य लोक से मोक्ष मे चले जायेगे तो अन्ततोगत्वा एक न एक दिन मनुष्य लोक प्राणियो से पूर्णत रिक्त हो जायगा और मोक्ष मे भी पूर्णरूपेण उसके सिद्ध जीवो से खचाखच व्याप्त हो जाने के बाद किंचित्मात्र भी स्थान नही रहेगा, उस दशा मे क्या होगा ?"

आचार्य बप्पभट्टी ने कहा—"वाक्पतिराज! न तो कभी मानवलोक प्राणियो से रिक्त होगा और न मोक्ष कभी मुक्तात्माओ से भरेगा ही। ससार मे सहस्रो नदिया बहती हैं और अनादि काल से प्रतिदिन कितनी पृथ्वी को प्रतिपल रेणु के रूप मे बहा-बहा कर समुद्र मे डालती आ रही है। इतना सब कुछ होते हुए भी न तो अभी

तक पृथ्वी ही नष्ट हुई है और न समुद्र ही पृथ्वी बना है। बस, यही एक प्रत्यक्ष दृष्टांत पर्याप्त है तुम्हारी शका के निवारण के लिये।"

पूर्ण आत्मसतोष की अनुभूति एव हर्षातिरेक से वाक्पतिराज की रोमावली अचित हो उठी। उसने हर्षगद्गद्स्वर मे कहा—"भगवन्! आपकी कृपा से आज मुझे वास्तविक तत्वबोध हुआ है, आज मेरे अन्तर्चक्षु उन्मीलित हुए है। मैंने इतना अमूल्य समय मोहलीला और भ्रान्तियो के वशीभूत हो व्यर्थ ही खो दिया। अब मुझे मार्ग-दर्शन कीजिये कि मैं भवभ्रमण के मूल कारण कर्मबन्धनो को काटने के लिये साधनामार्ग पर किस प्रकार अग्रसर हो शीघ्रातिशीघ्र शाश्वत शिवधाम मोक्ष का अधिकारी बनू। भगवन्! सर्वप्रथम मुझे श्रमणधर्म की दीक्षा दीजिये।"

बप्पभट्टी ने वाक्पतिराज को विधिवत् श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान की। श्रमण धर्म अगीकार करने के पश्चात् वाक्पति राज विशुद्ध सयम की परिपालना के साथ-साथ पच परमेष्टि की आराधना करते हुए कर्ममल को नष्ट करने मे तत्पर हुए। मुनि वाक्पतिराज ने समस्त पापो की आलोचना कर अनशन व्रत अगीकार किया और १८ दिन तक निरन्तर आत्म विशुद्धि करते हुए स्वर्गारोहण किया।

मुनि वाक्पतिराज के स्वर्गस्थ होने के पश्चात् आचार्य बप्पभट्टी कुछ दिनो तक गोकुल मे रहे। वहा उन्होने भगवान् शान्तिनाथ की स्तुति करते हुए "शान्तिकर सर्वभयहरणस्तोत्र" की रचना की, जो आज भी श्रद्धालु साधको मे बडा लोकप्रिय है। तदनन्तर गोकुल से विहार कर बप्पभट्टी पुन कान्यकुब्ज लौटे। आमराज ने उनकी भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए कहा—"आचार्यदेव! आपकी वाणी मे अमोघ शक्ति है। वाक्पतिराज जैसे उच्चकोटि के विद्वान् को भी आपने जैन बनाकर श्रमण धर्म मे दीक्षित कर लिया।"

बप्पभट्टी ने कहा—"राजन्! मै अपनी वाणी की शक्ति तो तब अमोघ समझू जब कि तुम प्रबुद्ध हो जैन धर्म स्वीकार करो।"

इस पर आमराज ने कहा—"भगवन्! वस्तुत मैं जैनधर्म से पूर्णरूपेण प्रभावित हुआ हू किन्तु पूर्व जन्म के सस्कारो के कारण मुझे शैवधर्म बडा प्रिय है अत मै इसका परित्याग नही कर सकता।"

बप्पभट्टी ने कहा—"राजन् पूर्व जन्म मे तुमने अज्ञान तप करते हुए घोर कष्ट सहन किया। उसके फलस्वरूप तुम्हे यह राज्य मिला है।"

यह सुनते ही सभी सभासदो को बडा आश्चर्य हुआ और उन्होने राजा आम के पूर्वजन्म का विवरण बताने के लिये बप्पभट्टी से अनुरोधभरी प्रार्थना की।

प्रश्न चूडामणिशास्त्र के अपने तलस्पर्शी ज्ञान के बल पर बप्पभट्टी ने राजा आम का पूर्वजन्म बताते हुए कहा—"राजन् ! इससे पूर्व भव मे तुम सन्यासी थे। कालिंजर पर्वत की उपत्यका मे शाल्मली वृक्ष की शाखा पर अपने दोनो पैरो को बाधकर पैर ऊपर की ओर तथा सिर को नीचे की ओर लटकाये हुए तुमने १०० वर्ष तक तपश्चरण किया था। उस अवस्था मे दो दिन तक निराहार रहने के पश्चात् तुम थोडा-थोडा आहार ग्रहण करते थे। आयु पूर्ण होने पर तुमने उस शरीर को उसी वृक्ष की शाखा पर लटकता हुआ छोड यहा जन्म ग्रहण किया और तुम राजा बने। यदि मेरे इस कथन पर तुम्हे विश्वास न हो तो राजपुरुषो को भेजकर अपनी वह जटा मगवा लो।"

सब को बडा कौतूहल हुआ। तत्काल द्रुतगामी अश्वारोहियो को कालिंजर गिरि की उपत्यका के उस निर्दिष्ट स्थान पर भेजा गया। वहा जा कर राजपुरुषो ने बप्पभट्टी द्वारा निर्दिष्ट स्थान पर वृक्ष की एक शाखा पर लटकते हुए नरककाल (अस्थिपञ्जर) और टहनियो मे उलझी हुई जटा को देखा। बडी सावधानी से उन्होने उलझी लटो को सुलझा कर उस जटा को एकत्रित किया और उसे लेकर वे कान्यकुब्ज लौटे।

जटा को देखते ही राजा, राजसभा के सदस्य और समस्त राजपरिवार आश्चर्याभिभूत हो बप्पभट्टी के दिव्य ज्ञान की मुक्तकण्ठ से प्रशसा करने लगे।

कालातर मे आमराज ने अपनी विशाल चतुरगिणी सेना ले राजगिरि राज्य पर आक्रमण किया। भीषण नरसहारकारी युद्ध के अनन्तर आमराज की, शस्त्रास्त्रो से सुसज्जित शक्तिशालिनी सेना के समक्ष अपनी सैनिक शक्ति को अपर्याप्त समझकर दिन भर युद्ध करने के पश्चात् रात्रि मे अपनी सेना के साथ राज गिरि के राजा ने अपने सुविशाल सुदृढ दुर्ग की शरण ली।

प्रात काल शत्रु सेना को सन्मुख न पाकर आमराज ने राजगिरि के दुर्ग को चारो ओर से घेर लेने का आदेश दिया। तत्क्षण आमराज की सेना द्वारा राज-गिरि के दुर्ग को घेर लिया गया। आमराज की सेना चारो ओर से एक साथ दुर्ग की ओर बढी किन्तु राजगिरि के अधिपति समुद्रसेन की सेना ने आमराज की सेना को दुर्ग की ओर बढने से रोक दिया। वह दुर्ग लोहे के समान सुदृढ था। राजा आम ने शाम, दाम, दण्ड, भेद आदि सभी नीतियो का अवलम्बन ले उस दुर्ग को तोडने के जितने उपाय सम्भव हो सकते थे वे सभी किये। दुर्ग पर अधिकार करने के लिये छिद्रान्वेषण भी किया गया किन्तु किसी भी उपाय से वह उस दुर्ग को तोडने मे सफल नही हो सका। आमराज वस्तुत- हठी और बात का धनी था। उसने दुर्ग पर अधिकार करने का दृढ सकल्प कर लिया था। दुर्ग को तोडने का कोई उपाय दृष्टिगत न होने पर उसने बप्पभट्टी से प्रश्न किया—"भगवन् ! यह शैलाधिराज तुल्य दुर्गम दुर्ग कब और कैसे जीता जा सकेगा ?"

प्रश्न चूडामणि, शास्त्र के द्वारा किसी भी प्रश्न का समुचित उत्तर प्राप्त करने की विधि से अच्छी तरह भिज्ञ बप्पभट्टी ने कहा—"राजन् ! आपका भोज नामक पौत्र इस दुर्ग पर अधिकार करेगा।"

राजगिरि दुर्ग पर बिना अधिकार किये ही लौट जाने मे आमराज ने अपना अपमान समझा और वह उस दुर्ग के चारो ओर घेरा डाल कर डटा रहा। इसी स्थिति मे बारह वर्ष व्यतीत हो जाने पर युवराज दुन्दुक की युवराज्ञी ने एक पुत्र को जन्म दिया।

आमराज के आदेशानुसार जन्म ग्रहण करते ही उस शिशु को पालने मे सुलाकर प्रधानो द्वारा राजा आम के पास लाया गया। उस बालक का मुख दुर्ग के शिखर की ओर कर शिखर को उसके दृष्टिपथ मे लाया गया और उसी क्षण दुर्ग पर गोलो की वर्षा की गई। इधर यह किया गया और उधर बिजली की कडक के समान घोर गर्जन करता हुआ दुर्ग का प्राकार पृथ्वी पर आ गिरा।

सकुटुम्ब राजा समुद्रसेन गुप्तद्वार से निकल कर किसी अज्ञात स्थान की ओर चला गया। आमराज ने उसी समय अपनी सेना के साथ दुर्ग मे प्रवेश कर उस पर अपना अधिकार कर लिया।

आमराज को उस समय किसी अदृष्ट शक्ति से ज्ञात हो गया कि छ मास पश्चात् मागधतीर्थ की यात्रा हेतु नाव से गगा पार करते समय मगटोडा नामक ग्राम के पास उसकी मृत्यु हो जायेगी।

राजगिरि से प्रयाण कर राजा आम बप्पभट्टी के साथ अनेक तीर्थो की यात्रा करता हुआ कान्यकुब्ज पहुचा। अपने पुत्र दुदुक को कान्यकुब्ज के राजसिंहासन पर आसीन कर आमराज अपने गुरु बप्पभट्टी के साथ मागध तीर्थ की यात्रा के लिये प्रस्थित हुआ। जिस समय राजा आम आचार्य बप्पभट्टी के साथ नाव मे बैठ कर गगा पार कर रहा था उस समय बप्पभट्टी और आमराज ने देखा कि नाव के पास जल मे धुआ उठ रहा है।

जल मे उठते हुये धूम्र को देख कर बप्पभट्टी ने आमराज से कहा—"राजन् ! तुम्हारा अन्तिम समय सन्निकट है, यह देखो मगटोडा ग्राम आ गया है ! अब अन्तिम समय मे ही सही, तुम जैन धर्म अगीकार कर लो।"

राजा आम ने उसी समय बप्पभट्टी से विधिवत् जैन धर्म अगीकार कर सर्वज्ञ सर्वदर्शी भगवान् वीतराग प्रभु की शरण ग्रहण की।

आचार्य बप्पभट्टी ने आम राजा से कहा—"अभी मेरी पाच वर्ष आयु अवशिष्ट है।"

राजा आम ने बप्पभट्टी के मुखारविन्द से पचपरमेष्टि नमस्कार मन्त्र का श्रवण करते हुए मगटोडा ग्राम के पास गगा के जल मे विक्रम स० ८६० की भाद्रपद शुक्ला पचमी, शुक्रवार चित्रा नक्षत्र मे दिन के अन्तिम प्रहर मे अपनी इहलीला समाप्त की। बप्पभट्टी कान्यकुब्ज लौटे और राजा आम द्वारा पूर्व मे उनके लिये नियत भवन मे रहने लगे।[1]

राजससर्ग का दुष्परिणाम

आचार्य बप्पभट्टी जीवन भर राजगुरु के रूप मे राजा आम के निकट सम्पर्क मे रहे। इसके अनेक सुपरिणाम भी हुए। प्रथम तो यह कि जैनसमाज को राज्याश्रय प्राप्त रहा। राजमान्य धर्म होने के कारण जैनधर्म का लोकप्रवाह की बदली हुई परिस्थितियो मे भी वर्चस्व रहा। बप्पभट्टी के उपदेश एव परामर्श से अनेक लोक कल्याणकारी कार्यो के साथ-साथ जैनधर्म की प्रभावना एव प्रचार प्रसार के कार्य भी राजा तथा प्रजा दोनो के द्वारा किये गये। बप्पभट्टी के राजससर्ग से जैन समाज की शक्ति और प्रतिष्ठा मे उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई। बप्पभट्टी के राजससर्ग से ये सब सुपरिणाम तो हुए। किन्तु एक सर्वारम्भ परित्यागी, ब्रह्मचारी, पच महाव्रतधारी, निस्सग, अलौकिक महान् प्रतिभाशाली श्रमणश्रेष्ठ होते हुए भी निरन्तर राजससर्ग मे रहने अथवा राजा के सन्निकट सहवास मे रहने पर आगमानुसारी विशुद्ध श्रमणाचार का पालन किस सीमा तक कर पाता है, इस तथ्य पर यदि निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाय तो बडी निराशा होती है। छत्र, चामर, सिंहासन, हस्ती, पालकी आदि वाहनो का उपयोग, नियत निवास, आधाकर्मी आहार आदि जिन बातो के सेवन का शास्त्रो मे श्रमण के लिये कडा निषेध है, जिनके सेवन से श्रमण धर्म के खण्डित होने का शास्त्रो मे स्पष्ट उल्लेख है, निरन्तर राजससर्ग मे, राजसन्निधि मे रहा हुआ कोई भी श्रमण, चाहे वह कितना ही उच्चकोटि का विद्वान् अथवा अलौकिक प्रतिभा का धनी श्रमणोत्तम ही क्यो न हो, उसके लिये भी शास्त्रो द्वारा निषिद्ध उन चामरादि के सेवन से श्रमण धर्म की स्खलना से एव उसके उल्लघन से बच पाना सभव नही है। अन्यान्य विद्वान् आचार्यो द्वारा लिखी गई कृतियो मे तथा आचार्य प्रभाचन्द्र द्वारा प्रभावक चरित्र मे बप्पभट्टी के जीवन की घटनाओ के जो विवरण उल्लिखित है, उनके आधार पर स्पष्टत प्रकट होता है कि आचार्य बप्पभट्टी भी

---

[1] मा भूत् सवत्सरोऽसौ वसुशतनवतेर्मा च ऋक्षेषु चित्रा,
धिग्मास त नमस्य क्षयमपि स खल शुक्लपक्षोऽपि यातु।
सक्रान्तिर्या च सिंहे विशतु हुतभुज पचमी या तु शुक्रे,
गगातोयाग्निमध्ये त्रिदिवमुपगतो यत्र नागावलोक ॥७२४॥

(प्रभावक चरित्र, पृष्ठ १०६)

जिनशासन—महाप्रभावक आचार्य सिद्धसेन की ही भाति निरन्तर सुदीर्घ काल तक आमराज के ससर्ग मे, सन्निकट सन्निधि मे रहने के कारण श्रमणधर्म की मूल मर्यादा के उल्लघन के अपवाद न रह सके। जोवन भर राज परिवार के अत्यधिक सन्निकट रहने के फलस्वरूप अपने जीवन के अन्तिम समय मे, जबकि वे ६० वर्ष की आयु को पार कर ६५ वर्ष की आयु के आस-पास पहुच रहे थे, आचार्य बप्पभट्टी को राजससर्ग के दुष्परिणाम के रूप मे अन्तर्द्वन्द्व एव मानसिक अशान्ति मे उलझना पडा।

उनको अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक अशान्ति का अनुभव अपने सुदीर्घकालीन घनिष्ठ राजससर्ग के कारण ही हुआ। राजा दुन्दुक बडा ही निष्क्रिय, दुराचारी और क्रूर निकला। दुराचार मे पडकर वह अपने महा तेजस्वी और होनहार पुत्र भोज तक को अकाल मे ही काल का कवल बनाने का षडयन्त्र करने लगा।

राजरानी को जब इस षड्यन्त्र का पता चला तो गुप्त रूप से सदेश भेजकर अपने भाई—पाटलीपुत्र के राजकुमार को कान्यकुब्ज बुलवाया और एक अत्यावश्यक कार्य के ब्याज से वह अपने भाई के साथ अपने पितृगृह पाटलीपुत्र की ओर प्रस्थित हुई। राजकुमार भोज ने सुपुत्र होने के नाते अपने पिता महाराजा दुन्दुक की आज्ञा लेना आवश्यक समझा और वह राजा के राजप्रसाद की ओर प्रस्थित हुआ।

राजकुमार भोज को मौत के घाट उतार दिये जाने के षड्यन्त्र का आचार्य बप्पभट्टी को पता चल गया था। अत उन्होने राजकुमार भोज को षड्यन्त्र से सावधान करते हुए उसे दुन्दुक से बिना मिले ही तत्काल अपनी माता के साथ पाटलीपुत्र चले जाने का परामर्श दिया। आचार्य बप्पभट्टी की दूरदर्शिता पूर्ण कृपा से राजकुमार भोज मृत्यु के मुख से निकल कर अपने नाना पाटलीपुत्र के महाराजा के पास चला गया।

जब दुन्दुक को ज्ञात हुआ कि राजकुमार भोज भी अपनी माता और अपने मातुल के साथ पाटलीपुत्र चला गया है, तो उसे बडा दु ख हुआ। उसने अच्छी तरह सोच-विचार के पश्चात् निर्णय किया कि केवल आचार्य बप्पभट्टी ही किसी न किसी उपाय से पाटलीपुत्र नरेश को भलीभाति समझा-बुझा कर राजकुमार को पाटलीपुत्र से यहा ला सकते हैं, उनके अतिरिक्त यह कार्य अन्य किसी के वश का नही है।

इस प्रकार विचार कर राजा दुन्दुक ने एक दिन आचार्यश्री बप्पभट्टी से निवेदन किया—"आचार्य महाराज ! अपने प्राणाधिक प्रिय पुत्र भोज के बिना मुझे यह सव राज्यवैभव अच्छा नही लग रहा है। भोज की अनुपस्थिति मे मुझे यह समग्र

ससार शून्य-सा प्रतीत हो रहा है। केवल आप ही उसको पाटलिपुत्र से यहा लाने मे सक्षम है अत मुझ पर कृपा कर आप पाटलिपुत्र जाकर मेरे परमप्रिय पुत्र भोज को यहा ले आइये। मै जीवन भर आपका कृतज्ञ रहूगा।"

आचार्यश्री दुन्दुक के अन्तर्मन मे निगूढ रहस्य को भलीभाति जानते थे, अत कुछ समय तक तो यह कह कर दुन्दुक की बात को टालते रहे कि अभी वे अमुक ध्यान की साधना मे निरत है, उसके पूरा होने पर परमावश्यक योग की साधना करेंगे और तदनन्तर वे पाटलीपुत्र जाकर भोज को ले आयेंगे। इस प्रकार दुन्दुक की प्रार्थना का समय-समय पर किसी न किसी कल्पित अपरिहार्य कारण के ब्याज से टालते हुए आमराज की मृत्यु के पश्चात् की जो पाच वर्ष की अपनी आयुष्य अवशिष्ट रही थी, उसमे से पर्याप्त समय व्यतीत कर दिया।

अन्त मे महाराजा दुन्दुक के हठाग्रहपूर्ण अन्तिम अनुरोध पर आचार्य बप्पभट्टी को अवश हो पाटलीपुत्र की ओर प्रस्थित होना ही पडा। अनुक्रमश पाटलीपुत्र की ओर अग्रसर होते हुए जब वे पाटलीपुत्र के समीप पहुचे तो उन्होने विचार किया —"यदि मै राजकुमार भोज को पाटलीपुत्र से कान्यकुब्ज ले जाता हू तो यह निश्चित है कि वह दुष्ट राजा दुन्दुक राजकुमार भोज की हत्या करवा देगा। और यदि नही ले जाता हू तो वह क्रूर दुन्दुक मुझसे और मेरे धर्मसघ से रुष्ट हो जिनशासन को अनेक प्रकार की हानि पहुचा कर मेरे समस्त शिष्य समूह को अपने राज्य की सीमा से बाहर निकाल देगा और इस प्रकार जिनशासन पर भयकर वज्राघात होगा। ऐसी दशा मे मेरी आयु के कतिपय अवशिष्ट दिनो को यहा अनशनपूर्वक ही बिता देना सभी दृष्टियो से श्रेयस्कर होगा।"

इस प्रकार विचार कर आचार्य बप्पभट्टी ने आलोचना द्वारा आत्मशुद्धि कर पाटलीपुत्र के उस समीपस्थ स्थान मे अनशनपूर्वक पादपोपगमन सथारा अगीकार कर लिया और पच परमेष्टि की शरण ग्रहण कर वे अध्यात्म ध्यान मे लीन हो गये। इस प्रकार समभावपूर्वक क्षुधा, तृषा आदि सभी पीडाओ को सहन करते हुए २१ अहोरात्र तक एकाग्र मन से आत्म-चिन्तन करते हुए अपना ९५ वर्ष का आयुष्य पूर्ण कर वि० स० ८९५ (वीर नि० स० १३६५) की श्रावण शुक्ला ८ के दिन चन्द्र का स्वाति नक्षत्र के साथ योग होने पर महान् प्रभावक आचार्य बप्पभट्टी ने स्वर्गारोहण किया।[1]

आचार्य बप्पभट्टी के कृपा प्रसाद के कारण राजकुमार भोज का प्राण सकट टला था। अत वह जीवन भर अपने उपकारी महान् आचार्य बप्पभट्टी के उत्तराधिकारियो एव धर्मसघ का परम भक्त बना रहा। बप्पभट्टी के स्वर्गारोहण के कुछ

---

[1] शर-नन्द-सिद्धिवर्षे (८९५), नभ शुद्धाष्टमी दिने।
स्वातिभेऽजनि पञ्चत्वमामराज गुरोरिह ॥७४१॥ (प्रभावक चरित्र)

समय पश्चात् राजकुमार भोज अपने मातुलो के साथ कान्यकुब्ज पहुचा। उसने पिता दुन्दुक के दुराचार का सदा-सदा के लिये अन्त कर कान्यकुब्ज के राजसिंहासन पर बैठ अपना परम्परागत अधिकार प्राप्त किया। उसने बप्पभट्टी के पट्टधर दो आचार्यो मे से नन्नसूरि को मोढेरा मे ही रखा और गोविंदसूरि को अपनी राजसभा मे राजगुरु बनाकर रखा। बप्पभट्टी के उपकारो से उऋण होने की उत्कट भावना के साथ राजा भोज ने जिनशासन की महती सेवा की। प्रभावक चरित्र के—

भोजराजस्ततोऽनेक, राज्यराष्ट्रग्रहाग्रह ।
आमादप्यधिको जज्ञे, जैनप्रवचनोन्नतौ ।।७६५।।

इस उल्लेखानुसार राजा भोज ने अपने पितामह महाराजा आम की अपेक्षा भी, जैनधर्म की अभिवृद्धि एव अभ्युन्नति के अत्यधिक कार्य किये।

बप्पभट्टी सूरि ने जीवनभर जिनशासन की प्रभावना के अनेक आश्चर्यकारी और महान् कार्य करने के साथ-साथ ५२ प्रबन्धो की रचना कर जैन वाग्मय की श्रीवृद्धि एव वाग्देवी की महती सेवा की। आचार्य बप्पभट्टी के उन 'तारागण' आदि ५२ कृतियो मे से अद्यावधि केवल दो-तीन लघु किंतु अत्यन्त भावपूर्ण कृतिया ही उपलब्ध हो सकी है।

साख्यदर्शन के अपने समय के उच्चकोटि के विद्वान्, परम वैष्णव और प्रमुख प्रबन्धकवि वाक्पतिराज जैसे परब्रह्मोपासक सन्यासी को न केवल जैन श्रमणोपासक बनाकर अपितु जैन श्रमण धर्म की दीक्षा देकर बप्पभट्टी ने ससार के समक्ष अपनी अलौकिक—असाधारण प्रतिभा का उदाहरण रखा। बप्पभट्टी की इस प्रकार की असाधारण प्रतिभा, भगवान् अरिष्टनेमि के शिष्य आचार्य थावच्चा कुमार और जम्बूस्वामी के शिष्य एव पट्टधर आचार्य प्रभव का स्मरण करा देती है। शुकदेव जैसे परम भागवत, बहुजनपूज्य, बहुजनसम्मत बहुत बडे सन्यासी को थावच्चा पुत्र ने और प्रथम श्रुतकेवली आचार्य प्रभव ने वेद-वेदाग पारगामी पण्डित सय्यभव को प्रतिबोध देकर श्रमण धर्म मे दीक्षित कर लिया। इस प्रकार की असाधारण प्रतिभा के उदाहरण अन्यत्र अल्प ही उपलब्ध होते है।

आचार्य बप्पभट्टी सूरि महान् प्रभावक आचार्य, असाधारण प्रतिभा के धनी और जिनशासनरूपी क्षीरसागर के कौस्तुभमणि तुल्य अनमोल रत्न थे। जैन इतिहास मे उनका नाम अमर रहेगा।

दि र प्रद मे काष ं की उत्पत्ति

दिगम्बर सम्प्रदाय मे, वीर नि० स० १२२३ मे आचार्य कुमारसेन ने "काष्ठा सघ" नामक एक नवीन सघ की स्थापना की। इस सघ की स्थापना के इतिहास पर सक्षेप मे प्रकाश डालते हुए आचार्य देवसेन ने अपनी छोटी सी पर ऐतिहासिक महत्व की पुस्तिका दर्शनसार मे लिखा है —

"सिरि वीरसेणसीसो, जिणसेणो सयलसत्थविण्णाणी।
सिरि पउमणदि पच्छा, चउसघ समुद्धरणधीरो ॥३०॥

तस्स य सीसो गुणव, गुणभद्दो दिव्वणाणपरिपुण्णो।
पक्खुववाससुट्ठमदी, महातवो भावलिंगो य ॥३१॥

तेण पुणो विय मिच्चु, णाऊण मुणिस्स विणयसेणस्स।
सिद्धत घोसित्ता, सय गय सग्गलोगस्स ॥३२॥

आसी कुमारसेणो, णदियडे विणयसेण दिक्खियओ।
सण्णासभजणेण य, अगहिय-पुणदिक्खओ जादो ॥३३॥

परिवज्जिऊण पिच्छ, चमर घित्तूण मोहकलिएण।
उम्मग सकलिय, बगडविसएसु सव्वेसु ॥३४॥

इत्थीण पुण दिक्खा, खुड्डयलोयस्स वीरचरियत्त।
कक्कसकेसग्गहण, छट्ठ च गुणवद णाम ॥३५॥

आगमसत्थ पुराण, पायच्छित्त च अण्णहा किंपि।
विरइत्ता मिच्छत्त, पवट्टिय मूढ लोएसु ॥३६॥

सो समणसघवज्जो, कुमारसेणो हु समयमिच्छत्तो।
चत्तोवसमो रुद्दो, कट्ठ सघ परूवेदि ॥३७॥

सत्तसए तेवण्णे, विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
णदियडे वरगामे, कट्ठोसघो मुणेयव्वो ॥३८॥

णदियडे वरगामे, कुमारसेणो य सत्थविण्णाणी।
कट्ठो, दसणभट्ठो, जादो सल्लेहणाकाले ॥३९॥"

अर्थात्—श्री वीरसेण के शिष्य सकल शास्त्रो के विशिष्ट ज्ञाता जिनसेन नामक आचार्य हुए। पद्मनन्दि के पश्चात् वे ही एक ऐसे आचार्य थे जो चारो सघो के समीचीनरूपेण सचालन के भार को

भली-भाति वहन करने मे सक्षम थे। जिनसेन के शिष्य गुणभद्र हुए जो सर्वगुण सम्पन्न, दिव्य (विशिष्ट) ज्ञानी, पक्षोपवासी अथवा महा तपस्वी एव भावलिंगी (भट्टारक-द्रव्यलिगविहीन) साधु थे। उन गुणभद्र ने अपने अवसानकाल को समीप जानकर अपने शिष्य विनय-सेन को समस्त सिद्धान्तो का ज्ञान देकर स्वर्गलोक को प्रयाण किया। उन आचार्य विनयसेन द्वारा दीक्षित कुमारसेन नामक साधु था। उसने सन्यास धर्म से भ्रष्ट हो जाने के उपरान्त भी पुन श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण नही की। उस कुमारसेन ने पिच्छी का परित्याग कर चवर (चवरी गौ के बालो की चवरी, जिसके मध्यम प्रहार से ही मक्खी-मच्छर आदि जन्तु मर जाते हैं) धारण कर लिया। मोह-विमुग्ध बने उस कुमारसेन ने बागड प्रदेश मे उन्मार्ग का प्रवर्तन किया। उसने स्त्रियो को श्रमणी धर्म मे दीक्षित करने का विधान किया। उसने शूद्र वर्ण के लोगो के घरो से साधु-साध्वियो द्वारा भिक्षा ग्रहण करने का विधान किया। उसने कर्कश-केशग्रहण को छठा गुणव्रत बतलाया। उस कुमारसेन ने अन्य ही प्रकार के नवीन आगमो, शास्त्रो, पुराणो और प्रायश्चित्त ग्रहण करने के ग्रन्थो की रचना कर उन्हे मूढ लोगो मे प्रचलित करके मिथ्यात्व का प्रसार किया। उस मिथ्यात्वी कुमारसेन को श्रमण सघ से निष्कासित कर दिया गया। उपशम भाव से विहीन रौद्र स्वभाव वाले उस कुमार-सेन ने नदितट नामक सुन्दरग्राम मे विक्रम स० ७५३ मे दर्शनभ्रष्ट हो काष्ठा सघ की स्थापना की।

ऐसा प्रतीत होता है कि दर्शनसार मे काष्ठा सघ की उत्पत्ति विषयक जो उपरिलिखित विवरण देवसेनाचार्य ने प्रस्तुत किया है, उसे अभी तक विद्वानो द्वारा ऐतिहासिक कसौटी पर नही कसा गया है। इस समस्त विवरण को यदि इतिहास की कसौटी पर कसा जाय तो साधारण से साधारण पाठक को भी सहज ही यह ज्ञात हो जायगा कि यह सब विवरण न केवल जनश्रुति के आधार पर अपितु नितान्त अविश्वनीय किंवदन्ती के आधार पर आचार्य देवसेन ने अपनी लघु कृति 'दर्शनसार' मे सकलित अथवा निबद्ध किया है। तथ्यो की कसौटी पर कसने के उद्देश्य से ही उपरिलिखित १० गाथाओ को अविकल रूप से यहा उद्धृत किया गया है।

काष्ठा सघ की स्थापना करने वाले कुमारसेन की गुरु-परम्परा के पूर्वाचार्यो मे क्रमश वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र और मुनि विनयसेन-इन पट्टधर आचार्यों के नामो का उल्लेख किया गया है। सेन सघ की पट्टावली और उत्तरपुराण आदि की प्रशस्तियो मे धवलाकार वीरसेन, जयधवलाकार जिनसेन और उत्तरपुराणकार गुणभद्र के क्रमश गुरु-शिष्य क्रम से नाम उल्लिखित हैं। उत्तरपुराण की प्रशस्ति मे

गुणभद्र के पट्टधर शिष्य के रूप मे आचार्य लोकसेन का नाम उपलब्ध होता है, विनयसेन का नही ।

यह तो एक निर्विवाद, सर्वसम्मत एव इतिहास सिद्ध तथ्य है कि पच-स्तूपान्वयी सेन सघ के आचार्य वीरसेन ने विक्रम स० ८३० मे धवला टीका का, उनके शिष्य जिनसेन ने वि० स० ८९४ मे जयधवला टीका का और वीरसेन के प्रशिष्य तथा जिनसेन के शिष्य उत्तरपुराणकार आचार्य गुणभद्र ने उनके शिष्य लोकसेन द्वारा निर्मित उत्तरपुराण की प्रशस्ति के अनुसार विक्रम स० ९५५ से कुछ वर्ष पूर्व उत्तरपुराण का निर्माण किया ।

इस प्रकार की स्थिति मे आचार्य वीरसेन से ५वी पीढी मे, जिनसेन से ४थी पीढी मे और आ० गुणभद्र से तीसरी पीढी मे हुए कुमारसेन ने वि० स० ७५३ मे अर्थात् वीर सेन से ७७ वर्ष पूर्व, जिनसेन से १४१ और गुणभद्र से २०२ वर्ष पूर्व ही काष्ठा सघ की स्थापना किस प्रकार कर दी । अपने गुरु अथवा प्रगुरु से ही नही किन्तु अपने प्रगुरु के भी गुरु और प्रगरु से पूर्व कुमारसेन ने काष्ठा सघ की स्थापना कर दी, यह आकाश-कुसुम तुल्य असम्भव बात तो किसी भी व्यक्ति को मान्य नही हो सकती ।

यद्यपि दर्शनसार मे काष्ठा सघ की स्थापना का सवत् ७५३ सुस्पष्ट रूपेण उल्लिखित है, तथापि कालक्रम की सगति बैठाने की दृष्टि से यदि इसे शक सवत् भी मान लिया जाय तो भी शक स० ७५३ का वि० स० ८८८ होता है । यह समय भी जयधवला के निर्माण कार्य की समाप्ति से ६ वर्ष पूर्व और काष्ठासघ के सस्थापक कुमारसेन के प्रगुरु गुणभद्र से भी ६७ वर्ष पूर्व पडता है ।

यदि यह कल्पना की जाय कि दर्शनसार मे कुमारसेन की जो गुरु-परम्परा दी गई है, वह पचस्तूपान्वयी सेनसघ की आचार्य परम्परा न हो कर किसी अन्य सघ की ही गुरु परम्परा है तो इस पर भी विश्वास नही होता । तीन पीढियो तक गुरु शिष्यो के ये ही नाम सेनसघ के अतिरिक्त अन्य किसी सघ अथवा परम्परा मे दृष्टिगोचर नही होते । "भट्टारक परम्परा" नामक इतिहास ग्रन्थ के रचनाकार प्रो वी० पी० जोहरापुरकर ने भी दर्शनसार की उपरिलिखित गाथाओ मे जिन आचार्य गुणभद्र का उल्लेख किया गया है, उन्हे दर्शनसार की गाथा स० ३०-३२ के उल्लेख के साथ सेन गण का आचार्य ही माना है ।[1]

देवसेनाचार्य का "दर्शनसार" सुदीर्घावधि से अनेक विद्वानो द्वारा जैन इतिहास के कतिपय तथ्यो के सम्वन्ध मे पर्याप्त रूपेण प्रामाणिक कृति के रूप मे

[1] भट्टारक-परम्परा, (वी० पी० जोहरापुरकर) पृ० ३

माना जाता रहा है। इतिहास के उच्चकोटि के अनेक विद्वानो ने कतिपय विवादास्पद ऐतिहासिक घटनाओ अथवा आचार्यो के सम्बन्ध मे दर्शनसार के उद्धरण दिये हैं। काष्ठासघ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे उपरिवर्णित विवरण मे असगतियो और अप्रामाणिकता को देख कर भविष्य मे सभी विद्वानो को सावधानी बरतनी होगी।

काष्ठासघ की उत्पत्ति दिगम्बर सघ मे हुई, यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। यह भी सम्भव है कि कुमारसेन नामक किसी आचार्य ने विक्रम स० ७५३ मे इसकी स्थापना की हो। किन्तु काष्ठासघ के सस्थापक उस कुमारसेन की गुरु-परम्परा और उसके पूर्वाचार्यो के नाम अन्य ही हो सकते है, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र आदि नही।

इस सम्बन्ध मे विद्वानो से अग्रेतर शोध की अपेक्षा है।

यशो `—कन्नौज का महारा

वीर निर्वाण की तेरहवी शताब्दी के प्रथम चतुर्थ चरण के आस-पास कन्नौज के राजसिंहासन पर यशोवर्मन नामक एक शक्तिशाली राजा बैठा। वाक्पतिराज द्वारा रचित प्राकृत भाषा के उत्कृष्ट एव महत्वपूर्ण ग्रन्थ "गौडवहो" और काश्मीर के महाराजा बालादित्य की राजसभा के कवि कल्हण द्वारा रचित राजतरगिणी से यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि कन्नौज राज्य के इस शक्तिशाली शासक ने दूर-दूर तक दिग्विजय करने के साथ-साथ काश्मीर के महाराजा बालादित्य के साथ मिल कर भारत की उत्तरी सीमा से भारत पर किये जाने वाले अरबो के आक्रमण को विफल करने मे बडी तत्परता और वीरता से काम किया।

पुष्पभूति राजवश के अन्तिम महाराजा हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात्, इतिहासविदो के अभिमतानुसार लगभग अर्द्ध शताब्दी तक राजनैतिक दृष्टि से बडी ही अस्थिरता रही। ई० सन् ७०० के आसपास यशोवर्मन कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठा। यशोवर्मन कौन था और राजनैतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण कन्नौज राज्य के राजसिंहासन को उसने कैसे प्राप्त कर लिया, यह सब कुछ अभी तक एक ऐसी पहेली बना हुआ है, जिसका कोई समाधान अद्यावधि दृष्टिगोचर नही होता।[१]

इतिहासज्ञ इस दिशा मे प्रयत्नशील रहे। यशोवर्मन के सम्बन्ध मे अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थो के अवगाहन के अनन्तर जैन वाग्मय मे इसके परिचय का हमे इन्ही दिनो एक स्रोत उपलब्ध हुआ, जो निम्नलिखित रूप मे है —

> प्रभूतवर्ष श्रीपृथ्वीवल्लभराजाधिराज परमेश्वरस्य प्रवर्तमान-श्री राज्यविजयसवत्सरेषु वहत्सु। चारुचालुक्यान्वयगगनतलहरिणला-छनायमान श्रीबलवर्मनरेन्द्रस्य सूनु स्वविक्रमावजितसकलरिपुनृपशिर· शेखरार्चितचरणयुगलो यशोवर्मनामधेयो राजा व्यराजत। तस्य पुत्रः 'सुपुत्र कुलदीपक' इति पुराणवचनमवितथमिह कुर्वन्नतितरा धीराजमानो मनोजात इव मानिनीजनमनस्थलीय (?) रणचतुरश्चतुरजनाश्रय श्रीसमालिगितविशालवक्ष स्थलो नितरामशोभत।
> असौ महात्मा—

---

१ Nothing is known of the early history and antecedents of this King (भारतीय विद्याभवन, बम्बई द्वारा प्रकाशित हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ इण्डियन पीपुल, क्लासिकल एज, पृष्ठ १२८)

कमलोचितसद्भुजान्तरश्रीविमलादित्य इति प्रतीतनामा ।
कमनीयवपुर्विलासिनीना भ्रमदक्षिभ्रमरालिवक्रपद्म ।।

य प्रचण्डतरकरवालदलितरिपुनृपकरिघटाकुम्भमुक्त मुक्ताफल-विकीर्णित रुचिरक्ताध्विकान्तिरुचिरपरीत निजकलत्रकण्ठ शितिकण्ठ इव महितमहिमामोद्यमानरुचिरकीर्तिरशेषगगमण्डलाधिराज श्रीचाकी राजस्य भागिनेय भुवि प्रकाशत यस्मिन् कुनुन्गिलनामदेशमयश पराग्मुखा मनुमार्गेण पालयति सति श्रीयापनीयनन्दिसघपुनागवृक्षमूलगणे श्रीकित्या-चार्यान्वये बहुष्वाचार्यैष्वतिक्रान्तेषु व्रतसमितिगुप्तिगुप्तमुनि-वृन्दवन्दित-चरणकूविलाचार्य्याणामासीत् (?) तस्यान्तेवासी समुपनतजनपरिश्रमाहार स्वदानसतर्पितसमस्तविद्वज्जनो जनितमहोदय श्री विजयकीर्तिनाममुनि-प्रभुरभूत् ।

अर्ककीर्तिरिति ख्यातिमातन्वन्मुनिसत्तम ।
तस्य शिष्यत्वमायातो नायातो वशमेनसाम् ।।

तस्मै मुनिवराय तस्य विमलादित्यस्य शणेश्वर (? सम्भवत शनि-श्चर) पीडापनोदाय मयूरखण्डिमधिवसति विजयस्कन्धावारे चाकिराजेन विज्ञापितो वल्लभेन्द्र इडिगूर्विषयमध्यवर्तिन जालमगलनामयेग्राम शकनृप-सवत्सरेषु शरशिखिमुनिषु (७३५) व्यतीतेषु ज्येष्ठमासशुक्लपक्षदशम्या पुष्यनक्षत्रे चन्द्रवारे मान्यपुरवरापरदिग्विभागालकारभूतशिलाग्रामजिनेन्द्र-भवनाय दत्तवान् [१]

इस अभिलेख का साराश यह है कि चालुक्यवशीय राजा बलवर्म के पुत्र यशोवर्म हुए, जिन्होने अपने बाहुबल से अपने समय के समस्त नरेन्द्रमण्डल को विजित कर उन्हे अपने चरणो मे झुकाया। उन महाप्रतापी राजा यशोवर्मन् का सुपुत्र विमलादित्य हुआ। वह विमलादित्य बडा ही शौर्यशाली और रणनीतिविशारद था। चालुक्य विमलादित्य राष्ट्रकूट राजवश का अधीनस्थ राजा था और कुनुन्गिल प्रदेश का राजा था। इसका मामा गगवशी चाकिराज राष्ट्रकूट राजाओ की ओर से समस्त गगमण्डल का राज्यपाल नियुक्त किया गया था, जैसा कि इसी ग्रन्थ के पृष्ठ २६७ पर उल्लेख किया जा चुका है। राष्ट्रकूटवशीय राजा प्रभूतवर्ष-गोविन्द द्वितीय के शासन काल मे जब गगमण्डल का राज्यपाल चाकिराज मयूरखण्डी नामक स्थल पर अपने सैन्य शिविर मे ठहरा हुआ था, उस समय उसने अपने स्वामी राष्ट्रकूटवशीय प्रभूतवर्ष से प्रार्थना की कि यापनीय सघ के आचार्य अर्ककीर्ति ने

---

१ जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख स० १२४, पृष्ठ १३१–१४०, राष्ट्रकूटवशीय राजा प्रभूतवर्ष (द्वितीय) का दानपत्र, शक स० ७३५। माणिकचन्द्र दिगम्बर जैनग्रन्थ-मालासमिति, हम्पावाग, बम्बई ४, सितम्बर १९५२ में प्रकाशित।

उनके भागिनेय विमलादित्य को शनिश्चर की व्याधि से सर्वदा के लिये मुक्त कर दिया है। इस उपलक्ष मे अर्ककीर्ति को एक अच्छा सा ग्राम दान मे दिया जाय। प्रभूतवर्ष ने अपने राज्यपाल की प्रार्थना स्वीकार कर अपने अधीनस्थ राजा चालुक्य विमलादित्य को रोगमुक्त कर देने के उपलक्ष मे अर्ककीर्ति को जालमगल नामक एक ग्राम शिलाग्राम मे अवस्थित जिन मन्दिर की समुचित व्यवस्था के लिये दान मे दिया। राष्ट्रकूट वश के राजा प्रभूतवर्ष (गोविन्द द्वितीय) का परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ २६० पर दिया जा चुका है।

उपर्युद्धत अभिलेख मे चालुक्य राजा यशोवर्मन् को समस्त नरेन्द्र मण्डल का विजेता बताया गया है। ई सन् ७०० से ८०० की अवधि मे न केवल चालुक्य राजाओ की वशावलि मे अपितु किसी भी अन्य राजवश की वशावलि मे यशोवर्मन नामक अन्य किसी राजा के होने का उल्लेख नही है। दक्षिणी भारत के इतिहास के यशस्वी विद्वान् देसाई ने विमला दित्य से पर्याप्त उत्तरवर्ती काल ईसा की १०वी ११वी शताब्दी मे दासवर्मन अपर नाम यशोवर्मन नामक एक राजकुमार के बादामी के चालुक्य राजवश मे होने का उल्लेख किया है। यशोवर्मन का उल्लेख करते हुए उन्होने पुरातत्व सामग्री के आधार पर यह सिद्ध किया है कि विक्रमादित्य पचम और उसके अय्यन और जयसिंह (द्वितीय) नामक दो भाइयो को बादामी के चालुक्यो की अनेक राजवशावलियो मे चालुक्यराज सत्याश्रय—अपर नाम इडिव-वेडग के पुत्र होना बताया गया है। किन्तु पुरातत्व सामग्री से यह सिद्ध होता है कि ये तीनो सत्याश्रय के नही अपितु सत्याश्रय के लघु भ्राता दासवर्मन अपर नाम यशोवर्मन के पुत्र थे।[1]

यह यशोवर्मन वस्तुत ईसा की दसवी-ग्यारहवी शताब्दी मे हुआ है, इसमे किंचित् मात्र भी सन्देह नही। क्योकि इसके पिता चालुक्यराज तैल द्वितीय का शासनकाल ई सन् ६७३ से ६६७ और इसके ज्येष्ठ भ्राता चालुक्यराज सत्याश्रय का शासनकाल ई सन् ६६७-१००८ है।

इस प्रकार की स्थिति मे बादामी चालुक्य राजवश के इस यशोवर्मन अपर नाम दासवर्मन को तो ई सन् ७०० से अनुमानत ७४० तक कन्नौज के शक्तिशाली राज्य पर शासन करने वाला यशोवर्मन मान लेने का प्रश्न ही उपस्थित नही होता। ईसा की सातवी शताब्दी से लेकर दसवी शताब्दी तक यशोवर्मन नाम का उपर्युद्धृत लेख मे वर्णित यशोवर्मन को छोडकर अन्य कोई राजा भारत की किसी भी प्रसिद्ध राजावलि मे दृष्टिगोचर नही होता।

इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि राष्ट्रकूटवशीय राजा प्रभूतवर्ष उपरिवर्णित दानपत्र मे जिस महाप्रतापी समस्तनरेन्द्रमण्डल के विजेता के रूप मे

[1] जैनिज्म इन साउथ इण्डिया एण्ड सम जैन इपिग्राफ्स पी बी देसाई लिखित, पेज २१०

चालुक्यराज यशोवर्मन का उल्लेख किया गया है, वही यशोवर्मन वस्तुत. हर्षवर्द्धन की मृत्यु के लगभग ५३ वर्ष के पश्चात् कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठा। उस यशोवर्मन के पिता का नाम बलवर्मन और उसके पुत्र का नाम विमलादित्य था, जो कि कालान्तर मे राष्ट्रकूट राजवश का अधीनस्थ राजा अथवा सामन्त था। इस अभिलेख के उल्लेखानुसार यशोवर्मन का विवाह गगवशी चाकिराज की बहिन के साथ सम्पन्न हुआ था।

यशोवर्मन के सम्बन्ध मे इस प्रकार के कतिपय नवीन ऐतिहासिक तथ्यो की उपलब्धि के अनन्तर भी अभी तक यह तथ्य अन्धकार मे ही है कि यशोवर्मन चालुक्यो की किस शाखा मे उत्पन्न हुआ था। इस तथ्य पर प्रकाश डालने वाले प्रमाणो के अभाव मे प्रोफेसर भण्डारकर ने यशोवर्मन को चालुक्यो की इतिहास प्रसिद्ध शाखाओ से भिन्न किसी इतर (स्वतन्त्र) शाखा का सदस्य माना है। यशोवर्मन का सम्बन्ध चाहे किसी भी शाखा से हो लेकिन राष्ट्रकूट राजा प्रभूतवर्ष के उपरिउद्धृत अभिलेख से यह तो अन्तिम रूप से सुनिश्चित हो जाता है कि वह चालुक्य वश का राजा था।

यशोवर्मन जिस प्रकार एक महान् योद्धा और रणनीति-विशारद था, उसी प्रकार वह विद्याप्रेमी और विद्वानो का सम्मान करने वाला था। महाकवि भवभूति और वाक्पतिराज उसकी राजसभा के विद्वद्रत्न और राजकवि थे। वाक्पतिराज ने प्राकृत भाषा मे १२०९ गाथाओ का 'गउडवहो' नामक एक काव्यग्रन्थ की रचना कर कन्नौज के अधीश्वर इन यशोवर्मन को प्रशसा की है। 'गउडवहो' मे वाक्पतिराज ने यशोवर्मन के अप्रतिम शौर्य और दिग्विजय यात्रा का जो वर्णन किया है, उसका साराश इस प्रकार है —

"यशोवर्मा महान् प्रतापी राजा था, वह साक्षात् हरि का अवतार था। प्रलय होने पर, हरि का अवतार होने के कारण केवल यशोवर्मा ही विद्यमान रहेगा। उसके अतिरिक्त यह दृश्यमान समस्त जगत् प्रलयकाल मे विलुप्त हो जायगा।"

"इस प्रकार के महा प्रतापी राजा यशोवर्मा ने वर्षाऋतु की समाप्ति पर एक शुभ दिन मे अपनी विजययात्रा प्रारम्भ की। शोण नद होते हुए महाराजा यशोवर्मन विन्ध्यगिरि पहुचा। वहा उसने विन्ध्य गुहानिवासिनी देवी के दर्शन कर उसकी स्तुति की। वहा मगध का गौड राजा भी आया हुआ था किन्तु यशोवर्मा को देखते ही गौडराज भयभीत हो वहा से भाग खडा हुआ। रणक्षेत्र मे पीठ दिखाकर भाग जाना वस्तुत क्षत्रिय के लिये बडा ही लज्जाजनक और मृत्यु से भी भयानक दुखदायक है, यह विचार कर गौडराज के सहायक राजा और उनकी सेना पुन. यशोवर्मन के सम्मुख लौट आई। गौड़राज को भी इस प्रकार की स्थिति मे

पुन उनके साथ यशोवर्मन के सम्मुख लौटना पडा। दोनो सेनाओ मे घोर युद्ध हुआ। यशोवर्मन ने गौडराज की सेना को नष्ट कर गौडराज को भी रणागण मे धराशायी कर दिया।" इसी घटना को लेकर महाकवि वाक्पतिराज ने 'गउडवहो' की रचना की है। इससे आगे इस सम्पूर्ण काव्यकृति मे गौडराज का कही कोई उल्लेख नही किया गया है। इससे यही आभास होता है कि उस गौड राजा को मार डालने और उसकी सेना को नष्ट कर देने के पश्चात् यशोवर्मन ने विशाल मगधराज पर अधिकार कर अपनी दिग्विजय का शुभारम्भ किया।

वाक्पतिराज ने गउडवहो मे आगे लिखा है—"गौड राजा का वध करने के पश्चात् यशोवर्मन ने इलायची के वृक्षो की सुगन्ध से सुरभित समुद्र तटवर्ती प्रदेशो मे अपना विजय अभियान प्रारम्भ किया और उन पर अपनी विजय वैजयन्ती फहराने के पश्चात् यशोवर्मन बग प्रदेश पर अपनी विजय का अभियान प्रारम्भ किया। उस समय बग प्रदेश हाथियो के लिए प्रसिद्ध था। यशोवर्मन ने बगराज को पराजित कर उसे अपना वशवर्ती राजा बनाया। तदनन्तर महाराजा यशोवर्मन मलयगिरि की तलहटी और उसके पार्श्वस्थ प्रदेशो पर विजय प्राप्त करता हुआ दक्षिणी-समुद्र के तट पर पहुचा। वहा उसने उस रम्य प्रदेश को देखा जहा बाली लकापति रावण को अपने पार्श्व मे दबाये कई दिनो तक भ्रमण करता रहा। समुद्र के सम्पूर्ण तटवर्ती प्रदेशो पर विजय प्राप्त करता हुआ यशोवर्मन पारसीक जनपद की ओर बढा और उसने पारसीक राजा को युद्ध मे परास्त किया। तदनन्तर उसने कोकण प्रदेश को विजित किया। तदनन्तर नर्मदा नदी के तटवर्ती राज्यो को अपने अधीनस्थ राज्य करता हुआ अपनी विशाल एव विजयिनी सेना के साथ मरुप्रदेश मे पहुचा। मरुप्रदेश से आगे बढकर वह श्रीकण्ठ (स्थानेश्वर राज्य) प्रदेश होता हुआ कुरुक्षेत्र पहुचा। तत्पश्चात् वह अयोध्या नगरी की ओर बढा। उसने महेन्द्र पर्वत के राजाओ पर विजय प्राप्त की और तदनन्तर उसने उत्तर दिशा की ओर प्रयाण किया।"

इस प्रकार दिग्विजय करने के अनन्तर महाराजाधिराज यशोवर्मन कन्नौज लौटा। कन्नौज लौटने पर उसने अपने उन सभी अधीनस्थ राजाओ को उनके अपने अपने राज्यो मे जाने की आज्ञा दी, जो दिग्विजय मे उसके साथ हुए थे।

महाकवि वाक्पतिराज ने अपने ग्रन्थ "गउडवहो" मे महाराजा यशोवर्मन की दिग्विजय का इस प्रकार अतीव सक्षेप मे विवरण प्रस्तुत किया है। यशोवर्मन के आश्रित राजकवि वाक्पतिराज ने अपने 'गउडवहो' काव्य मे यशोवर्मन की इस दिग्विजय यात्रा का वर्णन प्रस्तुत किया है, इस प्रकार की स्थिति मे सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि इस काव्य मे ऐतिहासिकता की अपेक्षा कविकल्पना का वाहुल्य हो सकता है। किन्तु वस्तुस्थिति इस प्रकार की नही है। नालन्दा से

चालुक्यराज यशोवर्मन का उल्लेख किया गया है, वही यशोवर्मन वस्तुत. हर्षवर्द्धन की मृत्यु के लगभग ५३ वर्ष के पश्चात् कन्नौज के राजसिहासन पर बैठा। उस यशोवर्मन के पिता का नाम बलवर्मन और उसके पुत्र का नाम विमलादित्य था, जो कि कालान्तर मे राष्ट्रकूट राजवश का अधीनस्थ राजा अथवा सामन्त था। इस अभिलेख के उल्लेखानुसार यशोवर्मन का विवाह गगवशी चाकिराज की बहिन के साथ सम्पन्न हुआ था।

यशोवर्मन के सम्बन्ध मे इस प्रकार के कतिपय नवीन ऐतिहासिक तथ्यो की उपलब्धि के अनन्तर भी अभी तक यह तथ्य अन्धकार मे ही है कि यशोवर्मन चालुक्यो की किस शाखा मे उत्पन्न हुआ था। इस तथ्य पर प्रकाश डालने वाले प्रमाणो के अभाव मे प्रोफेसर भण्डारकर ने यशोवर्मन को चालुक्यो की इतिहास प्रसिद्ध शाखाओ से भिन्न किसी इतर (स्वतन्त्र) शाखा का सदस्य माना है। यशोवर्मन का सम्बन्ध चाहे किसी भी शाखा से हो लेकिन राष्ट्रकूट राजा प्रभूतवर्ष के उपरिउद्धृत अभिलेख से यह तो अन्तिम रूप से सुनिश्चित हो जाता है कि वह चालुक्य वश का राजा था।

यशोवर्मन जिस प्रकार एक महान् योद्धा और रणनीति-विशारद था, उसी प्रकार वह विद्याप्रेमी और विद्वानो का सम्मान करने वाला था। महाकवि भवभूति और वाक्पतिराज उसकी राजसभा के विद्वद्रत्न और राजकवि थे। वाक्पतिराज ने प्राकृत भाषा मे १२०९ गाथाओ का 'गउडवहो' नामक एक काव्यग्रन्थ की रचना कर कन्नौज के अधीश्वर इन यशोवर्मन को प्रशसा की है। 'गउडवहो' मे वाक्पतिराज ने यशोवर्मन के अप्रतिम शौर्य और दिग्विजय यात्रा का जो वर्णन किया है, उसका साराश इस प्रकार है —

"यशोवर्मा महान् प्रतापी राजा था, वह साक्षात् हरि का अवतार था। प्रलय होने पर, हरि का अवतार होने के कारण केवल यशोवर्मा ही विद्यमान रहेगा। उसके अतिरिक्त यह दृश्यमान समस्त जगत् प्रलयकाल मे विलुप्त हो जायगा।"

"इस प्रकार के महा प्रतापी राजा यशोवर्मा ने वर्षाऋतु की समाप्ति पर एक शुभ दिन मे अपनी विजययात्रा प्रारम्भ की। शोण नद होते हुए महाराजा यशोवर्मन विन्ध्यगिरि पहुचा। वहा उसने विन्ध्य गुहानिवासिनी देवी के दर्शन कर उसकी स्तुति की। वहा मगध का गौड राजा भी आया हुआ था किन्तु यशोवर्मा को देखते ही गौडराज भयभीत हो वहा से भाग खडा हुआ। रणक्षेत्र मे पीठ दिखाकर भाग जाना वस्तुत क्षत्रिय के लिये बडा ही लज्जाजनक और मृत्यु से भी भयानक दुखदायक है, यह विचार कर गौडराज के सहायक राजा और उनकी सेना पुन. यशोवर्मन के सम्मुख लौट आई। गौड़राज को भी इस प्रकार की स्थिति मे

पुन उनके साथ यशोवर्मन के सम्मुख लौटना पडा। दोनो सेनाओ मे घोर युद्ध हुआ। यशोवर्मन ने गौडराज की सेना को नष्ट कर गौडराज को भी रणागण मे धराशायी कर दिया।" इसी घटना को लेकर महाकवि वाक्पतिराज ने 'गउडवहो' की रचना की है। इससे आगे इस सम्पूर्ण काव्यकृति मे गौडराज का कही कोई उल्लेख नही किया गया है। इससे यही आभास होता है कि उस गौड राजा को मार डालने और उसकी सेना को नष्ट कर देने के पश्चात् यशोवर्मन ने विशाल मगधराज पर अधिकार कर अपनी दिग्विजय का शुभारम्भ किया।

वाक्पतिराज ने गउडवहो मे आगे लिखा है—"गौड राजा का वध करने के पश्चात् यशोवर्मन ने इलायची के वृक्षो की सुगन्ध से सुरभित समुद्र तटवर्ती प्रदेशो मे अपना विजय अभियान प्रारम्भ किया और उन पर अपनी विजय वैजयन्ती फहराने के पश्चात् यशोवर्मन बग प्रदेश पर अपनी विजय का अभियान प्रारम्भ किया। उस समय बग प्रदेश हाथियो के लिए प्रसिद्ध था। यशोवर्मन ने बगराज को पराजित कर उसे अपना वशवर्ती राजा बनाया। तदनन्तर महाराजा यशोवर्मन मलयगिरि की तलहटी और उसके पार्श्वस्थ प्रदेशो पर विजय प्राप्त करता हुआ दक्षिणी-समुद्र के तट पर पहुचा। वहा उसने उस रम्य प्रदेश को देखा जहा बाली लकापति रावण को अपने पार्श्व मे दबाये कई दिनो तक भ्रमण करता रहा। समुद्र के सम्पूर्ण तटवर्ती प्रदेशो पर विजय प्राप्त करता हुआ यशोवर्मन पारसीक जनपद की ओर बढा और उसने पारसीक राजा को युद्ध मे परास्त किया। तदनन्तर उसने कोकण प्रदेश को विजित किया। तदनन्तर नर्मदा नदी के तटवर्ती राज्यो को अपने अधीनस्थ राज्य करता हुआ अपनी विशाल एव विजयिनी सेना के साथ मरुप्रदेश मे पहुचा। मरुप्रदेश से आगे बढकर वह श्रीकण्ठ (स्थानेश्वर राज्य) प्रदेश होता हुआ कुरुक्षेत्र पहुचा। तत्पश्चात् वह अयोध्या नगरी की ओर बढा। उसने महेन्द्र पर्वत के राजाओ पर विजय प्राप्त की और तदनन्तर उसने उत्तर दिशा की ओर प्रयाण किया।"

इस प्रकार दिग्विजय करने के अनन्तर महाराजाधिराज यशोवर्मन कन्नौज लौटा। कन्नौज लौटने पर उसने अपने उन सभी अधीनस्थ राजाओ को उनके अपने अपने राज्यो मे जाने की आज्ञा दी, जो दिग्विजय मे उसके साथ हुए थे।

महाकवि वाक्पतिराज ने अपने ग्रन्थ "गउडवहो" मे महाराजा यशोवर्मन की दिग्विजय का इस प्रकार अतीव सक्षेप मे विवरण प्रस्तुत किया है। यशोवर्मन के आश्रित राजकवि वाक्पतिराज ने अपने 'गउडवहो' काव्य मे यशोवर्मन की इस दिग्विजय यात्रा का वर्णन प्रस्तुत किया है, इस प्रकार की स्थिति मे सहज ही यह अनुमान किया जा सकता है कि इस काव्य मे ऐतिहासिकता की अपेक्षा कविकल्पना का बाहुल्य हो सकता है। किन्तु वस्तुस्थिति इस प्रकार की नही है। नालन्दा से

प्राप्त एक शिलालेख[१] मे यशोवर्मन को सार्वभौम सत्तासम्पन्न महाराजा बताया गया है। इससे यह सिद्ध होता है कि उसने मगध के राजा गौड को मारकर अथवा पराजित कर बगाल तक विस्तीर्ण उसके मगध-राज्य पर विजय प्राप्त की थी।

यशोवर्मन के समय मे अरब देश के खलीफाओ की गृध्र दृष्टि आर्यधरा भारत पर लगी हुई थी। वे ईराक, ईरान आदि देशो की ही तरह विशाल भारत को भी इस्लामी देश बना देने पर कटिबद्ध थे। सिन्ध प्रदेश पर अरबो की सेनाओ ने अधिकार भी कर लिया था। दूरदर्शी यशोवर्मन ने अरब सेनाओ से भारत की रक्षा करने का दृढ सकल्प किया। पारसीक देश पर यशोवर्मन के विजय अभियान का जो उल्लेख वाक्पतिराज ने "गउडवहो" मे किया है, उसमे सभवत वाक्पतिराज ने सिन्धु प्रदेश को ही पारसीक देश के नाम से सम्बोधित किया है। यशोवर्मन का वह पारसीक विजय अभियान सभवत भारत की अरबो के सभावित आक्रमण से रक्षा करने के दृढ सकल्प का प्रारम्भिक क्रियान्वयन, अथवा अपने उस दृढ सकल्प की पूर्ति का प्रथम प्रयास ही था।

ऐसा प्रतीत होता है कि जिस प्रकार हर्षवर्द्धन सम्पूर्ण भारत को सदा सदा के लिए एक शक्तिशाली अजेय राष्ट्र बना देने की आकाक्षा से एक सार्वभौम सत्ता-सम्पन्न केन्द्रीय सत्ता की स्थापना करना चाहता था, ठीक उसी प्रकार यशोवर्मन भी भारत की उत्तरी सीमा के पार अरबो के भारत पर बढते हुए दबाव को देखकर विदेशियो से अपनी जन्म-भूमि भारत की स्थायी रूप से सुरक्षा के लिए एक शक्तिशाली केन्द्रीय सत्ता की स्थापना करना चाहता था।

चीन देश के स्रोतो से यह सिद्ध होता है कि उसने अरबो के सभावित आक्रमण से भारत की रक्षा हेतु बडे ही दूरदर्शितापूर्ण प्रयास किये।

चीन के राजकीय अभिलेखो मे उल्लेख है कि भारत के मध्यदेश के राजा यी-शा-फू-मो ने ईस्वी सन् ७३१ मे अपने एक मन्त्री बौद्ध भिक्षुक पू-ता-सि-न (बुद्धसेन) के नेतृत्व मे अपना एक प्रतिनिधि मण्डल चीन के सम्राट् के पास इस प्रार्थना के साथ भेजा कि उत्तर से अरबो और तिब्बतवासियो का भारत पर निरन्तर दबाव बढ रहा है। इस सम्भावित सकट से भारत की रक्षा के लिये चीन के सम्राट् की ओर से समुचित सहायता प्रदान की जाय।[२] राजतरगिणी के अनुवाद मे स्टेन द्वारा किये गये उल्लेख के अनुसार काश्मीर के राजा ललितादित्य ने भी ई० सन् ७३६ मे चीन के सम्राट् के पास अपना प्रतिनिधि भेजकर प्रार्थना की कि काश्मीर पर अरबवासियो और तिब्बतवासियो के बढते हुए दबाव को रोकने के लिये उन्हे

---

[१] क भण्डारकर की सूची सख्या २१०५।
ख क्लासिकल एज भारतीय, विद्याभवन बम्बई के आधार पर पृष्ठ १२६

[२] साइनो इण्डियन स्टडीज, डा. पी सी बागची, (१), पृष्ठ ७१

सैनिक सहायता प्रदान की जाय।[1] ललितादित्य ने अपने प्रतिनिधि मण्डल के माध्यम से चीन के सम्राट् को यह भी निवेदन किया कि अरबो और तिब्बतवासियो के भारत पर बढते हुए दबाव को रोकने का वह (ललितादित्य) और यशोवर्मन सम्मिलित प्रयास कर रहे है। इन उल्लेखो से यह प्रमाणित होता है कि यशोवर्मन भारत की अखण्डता एव रक्षा के लिये एक दूरदर्शी सजग प्रहरी के रूप मे चिंतित अथवा चिंतनशील था।

ऐतिहासिक घटनाक्रम इस बात का साक्षी है कि ई० सन् ७३४–७३५ मे अरबो ने सिंध से लगी हुई गुजरात की सीमाओ मे घुसकर कन्नौज, उज्जैन आदि की ओर बढने की इच्छा से सैनिक अभियान प्रारम्भ किये, जिन्हे कि चालुक्य विक्रमादित्य द्वितीय के गुजरात प्रदेश के राज्यपाल अथवा प्रशासक पुलकेशिन और राष्ट्रकूटवशीय राजा दतिदुर्ग ने युद्धो मे पराजित कर पुन सिध की ओर भाग जाने के लिये बाध्य कर दिया। अरबो के इस आक्रमण को विफल करने मे यशोवर्मन एव ललितादित्य द्वारा किसी प्रयास के किये जाने के उल्लेखो के अभाव से यह अनुमान किया जाता है कि इस समय तक यशोवर्मन और ललितादित्य जो अरबो से भारत की रक्षा के पुनीत कार्य के लिये कृत-सकल्प थे, इन दोनो के बीच आपसी मनमुटाव सघर्ष का रूप धारण कर गया था। डॉ० पी० सी० बागची के अभिमतानुसार यशोवर्मन ने चीन के सम्राट् को यह निवेदन भी करवाया था कि वे ललितादित्य और उसके (यशोवर्मन के) बीच उत्पन्न हुए कलह को शात करने के लिये मध्यस्थता करे।[2]

अरबो द्वारा गुजरात के मार्ग से भारत के मध्यवर्ती कन्नौज, उज्जैन आदि क्षेत्रो की ओर बढने के लिये किये गये उपरिवर्णित प्रयास को विफल करने मे ललितादित्य और यशोवर्मन की उदासीनता का जो आनुमानिक कारण ऊपर बताया गया है, उसकी पुष्टि राजतरगिणी के उल्लेखो से भी होती है।

काश्मीरराज ललितादित्य के प्रीतिपात्र राजकवि कल्हण ने अपने ऐतिहासिक महत्व के ग्रथ "राजतरगिणी" मे इन दोनो राजाओ (ललितादित्य और यशोवर्मन) के बीच हुए सघर्ष का उल्लेख करते हुए लिखा है —

"काश्मीर के महाराजाधिराज ललितादित्य और कन्नौजराज यशोवर्मन के बीच पर्याप्त समय से परस्पर मनोमालिन्य चल रहा था, जिसने अततोगत्वा सघर्ष का रूप धारण कर लिया। सघर्ष को उग्र रूप धारण करते देख दोनो ने सन्धि करने का विचार किया। सन्धिपत्र का आलेखन भी कर लिया गया। किन्तु उस

---

[1] स्टेन द्वारा आग्ल भाषा में अनुदित राजतरगिणी, ४, की टिप्पण स १३४

[2] दी हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दी इण्डियन पीपल, दी क्लासिकल एज, पृष्ठ १३०, टिप्पण ४

सन्धि पत्र के "यशोवर्मन और ललितादित्य के बीच शाति-सन्धि" इस शीर्षक को देखकर ललितादित्य के साधिविग्रहिक मत्री ने अपने स्वामी कश्मीर के महाराजा ललितादित्य से पूर्व यशोवर्मन के नाम के लिखे जाने पर आपत्ति की। दोनो पक्षो मे से कोई भी पक्ष अपने स्वामी का नाम दूसरे स्थान पर रखने के लिये सहमत नही हुआ। इसका भयकर परिणाम यह हुआ कि यशोवर्मन और ललितादित्य के बीच सन्धि होते-होते रुक गई। यद्यपि ललितादित्य के सेनापति लम्बे युद्ध से ऊब चुके थे तथापि दोनो पक्षो की सेनाओ ने युद्धभूमि मे अपने-अपने मोर्चे सम्हाले और भारत को शक्तिशाली बनाने के समान उद्देश्य वाले उन दोनो राजाओ के बीच पुन युद्ध प्रारम्भ हो गया। बडा लोमहर्षक युद्ध हुआ।"

यशोवर्मन और ललितादित्य के बीच हुए इस घोर युद्ध के अन्तिम परिणाम के सम्बन्ध मे राजतरगिणीकार कल्हण आगे लिखता है —

"ललितादित्य के साथ हुए यशोवर्मन के युद्ध का परिणाम यह हुआ कि जिस यशोवर्मन की यशस्वी कवि वाक्पतिराज और महाकवि भवभूति सेवा किया करते थे, वह यशोवर्मन अहर्निश ललितादित्य का गुणगान करने वाले साधारण सामन्त की स्थिति (नाममात्र) का राजा रह गया। इस सम्बन्ध मे विशेष कहने की आवश्यकता नही, यमुना के तट से (केवल) कालिका नदी के तट तक की सीमा वाले उसके कान्यकुब्ज की परिधि उसके निवास स्थान के एक प्रकोष्ठ के तुल्य उसके अधिकार मे रह गई थी। यशोवर्मन को लाघती हुई ललितादित्य की सेनाए बिना किसी प्रयास के सहज ही आनन-फानन मे ही पूर्व सागर तक पहुच गई।"

कल्हण ने यह भी लिखा है कि ललितादित्य ने यशोवर्मन को समूल नष्ट कर दिया।

इस प्रकार भारत को एक अजेय शक्तिशाली राष्ट्र बनाने का स्वप्न असमय मे ही टूट गया। यह भारत के लिये बडी दुर्भाग्यपूर्ण घटना थी कि दो राजाओ के थोथे अहम् और उन राजाओ के अहमक मन्त्रियो की अदूरदर्शिता के कारण भारत की जो सेनाए आने वाले दुर्दिनो मे देश की रक्षा के लिये काम मे आती, वे परस्पर ही लड-भिड कर नष्ट अथवा अशक्त हो गई।
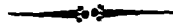
३३वे युगप्र नाचार्य संभूति के समय की राजनैतिक स्थिति (बादामी का चालुक्य राजवंश)

ई सन् ७३३ मे चालुक्य राज विक्रमादित्य के पश्चात् उसका पुत्र विक्रमादित्य (द्वितीय) बादामी के राजसिहासन पर बैठा। इसका शासन ७४४ तक रहा।

सिन्ध प्रदेश मे शासन कर रहे अरबो ने दक्षिणापथ की ओर बढने के उद्देश्य से सिन्ध प्रदेश से लगे गुर्जर प्रदेश के क्षेत्रो पर ई सन् ७३४-३५ मे अधिकार करना प्रारम्भ किया। गुजरात मे चालुक्य राज के प्रतिनिधि पुलकेसिन ने उन अरबो पर आक्रमण किया और उन्हे परास्तकर पुन सिध प्रदेश मे भागने के अतिरिक्त उनके लिये अन्य कोई रास्ता नही रखा। यह पुलकेसिन चालुक्यराज विक्रमादित्य (प्रथम) के भ्राता उस जयसिंह का पुत्र था जिसने कि प्रथम विक्रमादित्य का बादामी राज्य की पुन सस्थापना मे सदा साथ दिया था और जो विक्रमादित्य द्वारा दक्षिण गुजरात का प्रतिनिधि शासक (सामन्त) नियुक्त किया गया था।

विक्रमादित्य (द्वितीय) दक्षिणी गुजरात के शासक पुलकेसिन की इन शौर्यपूर्ण सेवाओ से अतीव प्रसन्न हुआ। उसने पुलकेसिन का राजसी सम्मान कर उसे "अवनि—जनाश्रय"—अर्थात् पृथ्वी पर बसने वाले मानव मात्र का आश्रय-सहारा अथवा शरण्य-की सर्वोच्च सम्मान पूर्ण उपाधि से अलकृत किया। अरबो को पुन सिन्ध की ओर खदेडने मे राष्ट्रकूट राजा दन्तिदुर्ग (ई सन् ७३०-७५३) ने भी उल्लेखनीय कार्य किया। यह दन्तिदुर्ग विक्रमादित्य (द्वितीय) के शासनकाल तक बादामी के चालुक्यो का सामन्त था।

काचिपति नरसिह वर्मन द्वारा बादामी पर आक्रमण कर उस पर अधिकार किये जाने और उस युद्ध मे अपने पिता के प्रपिता चालुक्य सम्राट पुलकेशिन द्वितीय के मारे जाने की घटना बादामी के राजाओ के हृदय मे शूल की तरह खटकती आ रही थी। विक्रमादित्य (द्वितीय) के मन मे अपने यौवराज्यकाल मे ही प्रतिशोध लेने की अदम्य उत्कण्ठा उत्पन्न हुई। उसने गगराजवश के १६वें राजा श्री पुरुष (ई ७२७-८०४) के पुत्र (चालुक्य साम्राज्य के प्रशासक) ऐरेयप्पा की सहायता से एक शक्तिशाली एव विशाल सेना ले काची पर आक्रमण किया। उस समय काची पर नरसिंह वर्मन प्रथम (ई ६३०—६६८), जिसने बादामी पर अधिकार किया और पुलकेशिन (द्वितीय) को युद्ध मे मारा था, के प्रपौत्र परमेश्वर वर्मन द्वितीय (ई० ७२०—७३१) का शासन था। भीषण युद्ध के पश्चात् काचिराज

पराजित हुआ। बहुत बडी धनराशि देकर उसने सधि की जिससे उसका कोश-बल पूर्णत क्षीण हो गया। गगराज श्रीपुरुष और उसके पुत्र ऐरेयप्पा द्वारा चालुक्य युवराज को की गई सहायता के परिणामस्वरूप ही ये दुर्दिन देखने पडे हैं, इस प्रकार विचार कर परमेश्वर वर्मन (द्वितीय) ने श्रीपुरुष से प्रतिशोध लेने की भावना से उस पर अचानक ही आक्रमण कर दिया। विल्लन्द नामक स्थान पर श्रीपुरुष की परमेश्वर वर्मन से मुठभेड हुई और श्रीपुरुष ने पल्लवराज परमेश्वर वर्मन को उस मुठभेड मे मार डाला।

परमेश्वर वर्मन का कोई सुयोग्य उत्तराधिकारी, मुख्य पल्लव राजवश मे नही होने के कारण दूसरी शाखा के पल्लव हिरण्यवर्मन के पुत्र नन्दिवर्मन (द्वितीय) को प्रजा को सम्मति से राजा चुना गया। इससे भयकर गृह-कलह हुआ किन्तु नन्दिवर्मन पल्लवमल उन सकटो से पार हुआ।

युवराज विक्रमादित्य द्वारा काची पर किया गया आक्रमण वस्तुत पल्लव राजवश को सदा के लिये समाप्त कर देने वाला वज्रप्रहार था। नन्दिवर्मन को विक्रम ने पराजित किया, कुछ समय तक काची पर अपना अधिकार भी रखा किन्तु बडी ही उदारतापूर्ण सूझबूझ से काम लिया। उसने किसी को किसी भी प्रकार की क्षति पहुचाना तो दूर बडी उदारता के साथ दान देकर प्रजाजनो को सतुष्ट किया। कैलाशनाथ के मन्दिर और अन्य मन्दिरो से जो मणो सोना नगर पर अधिकार करते समय लिया गया था, वह सब सोना युवराज विक्रम ने उन मन्दिरो को लौटा दिया। यह सब वृतान्त चौलुक्य युवराज ने कैलाशनाथ मन्दिर के एक स्तम्भ पर उट्टकित करवाया। उसने चौलुक्य राजवश के भाल पर जो यह कलक का टीका लगा था— "पल्लवराज नरसिह वर्मन ने बादामी पर एक बार अधिकार कर लिया था"—उस कलक के टीके को धो डाला। यह घटना ई० सन् ७४० के आस-पास की है।

तदनन्तर विक्रमादित्य (द्वितीय) काची का शासन नन्दिवर्मन पल्लवमल्ल को सम्हला कर सदलबल बादामी लौटा आया।

इसके शासनकाल मे भी शान्ति और समृद्धि के साथ-साथ मन्दिरो आदि के निर्माण कार्य मे वस्तुत उल्लेखनीय अभिवृद्धि हुई।

चालुक्य सम्राट विक्रम (द्वितीय) के पश्चात् उसका पुत्र कीर्तिवर्मन बादामी के राजसिंहासन पर ई० सन् ७४४ मे बैठा। इसके कुल मिलाकर सात-आठ वर्ष के शासनकाल मे बादामी का प्रतापी राज्य निरन्तर क्षीण एव निर्बल होता गया। वस्तुत यह बादामी के चालुक्य शासकवश का अन्तिम राजा सिद्ध हुआ। इसका मुख्य कारण यह प्रतीत होता है कि वज्रटो, चोलो, पाण्ड्यो और राष्ट्रकूटो के साथ इसे अनेक वार युद्धो मे उलझना पडा।

सर्वप्रथम कीर्तिवर्मन का सघर्ष पाण्ड्य राजा माडवर्मन-राजसिंह (प्रथम) से उस समय हुआ जबकि वह पाण्ड्य राज्य के विस्तार के अभियान मे चालुक्य राज्य की सीमा के क्षेत्रो पर अधिकार कर रहा था। पाण्ड्यराज ने वेन्वाइ के निर्णायक युद्ध मे कीर्तिवर्मन और गगराज श्री पुरुष को पराजित किया। पाण्ड्यराज ने गगवश की राजकुमारी का विवाह अपने पुत्र के साथ करवाने की स्वीकृति हस्तगत करने के पश्चात् कीर्तिवर्मन और श्री पुरुष से सधि की।

राष्ट्रकूट वश के ६ठे राजा दन्तिदुर्ग ने जिस प्रकार बादामी के चालुक्य राज्य पर कीर्तिवर्मन के शासनकाल मे भीषण प्रहार किये उनका विवरण राष्ट्रकूट राजवश के परिचय मे प्रस्तुत ग्रन्थ मे दिया जा चुका है।

राष्ट्रकूट राजा दन्ति दुर्ग

वीर नि० स० १२५७ से १२८० तक मान्यखेट के राष्ट्रकूटवशीय राज-सिहासन पर इस राजवश के ६ठे शासक दन्ति दुर्ग अपर नाम —(१) दन्तिवर्मा, (२) खड्गावलोक, (३) पृथ्वीवल्लभ, (४) वैरमेघ, और (५) साहसतु ग का अधिकार रहा। यह बडा प्रतापी राजा था। सभी इतिहासविद् इसे राष्ट्रकूट राजवश को एक शक्तिशाली राज्य का रूप देने वाला मानते हैं। दिगम्बराचार्य अकलक ने इसकी राजसभा मे उपस्थित हो इसे एक महान् विजेता और दानियो मे महादानी बताकर इसकी प्रशसा की थी। इसने ई० सन् ७४२ मे एलोरा पर अधिकार किया। दन्तिदुर्ग ने मालव, गुर्जर, कोशल, कलिग, और श्रीशैलम् प्रदेश के तेलुगु–चोल राजाओ को क्रमश एक एक कर के युद्ध मे पराजित कर अपना आज्ञावर्ती बनाया। तदनन्तर वह काची की ओर बढा और काचिपति नन्दिवर्मन पल्लवमल के साथ अपनी पुत्री रेखा का विवाह किया।

अपनी शक्ति को सुदृढ कर लेने के पश्चात् उसने चालुक्यराज कीर्तिवर्मन पर अपनी मृत्यु से लगभग एक वर्ष पूर्व आक्रमण कर उसे अन्तिम रूप से पराजित किया। चालुक्यराज को पराजित करने के पश्चात् दन्तिदुर्ग ने अपने आपको दक्षिणापथ का सार्वभौम सत्तासम्पन्न राजा घोषित किया।

दन्तिदुर्ग जिनशासन के अभ्युदय, प्रचार-प्रसार के कार्यो मे बडी रुचि लेता था और वह परम जिनभक्त था।

इसके रेखा नाम की एक पुत्री के अतिरिक्त कोई सन्तति न कारण इसकी मृत्यु के पश्चात् इसका पितृव्य (चाचा) कृष्ण राजसिहासन पर बैठा।

राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (प्रथम)

वीर नि० स० १२८० से १३०५ तक राष्ट्रकूट वशीय राजा कृष्ण प्रथम का विशाल राष्ट्रकूट राज्य पर शासन रहा। यह राष्ट्रकूट वश के पाचवे राजा इन्द्र का छोटा भाई और छठे राजा दन्तिदुर्ग का पितृव्य था।

कृष्ण प्रथम ने भी अपने २५वर्ष के शासनकाल मे राष्ट्रकूट राज्य की चारो दिशाओ मे सीमावृद्धि की। मन्ने नामक ग्राम के नरहरियप्प के अधिकार मे रहे ताम्रपत्रो पर उट्टकित लेख (स० १२३) मे इस महाराजा कृष्ण के सम्बन्ध मे निम्नलिखित उल्लेख विद्यमान है —

"यश्चालुक्यकुलादनूनविबुधाधाराश्रयाद् वारिधे,
लक्ष्मी मन्दरवत् सलीलमचिरादाकृष्टवान् वल्लभ ।

अर्थात्—बिना चक्र इस राष्ट्रकूटवशीय राजा कृष्ण ने बडे बडे बुद्धिमानो के आधारभूत चालुक्य कुल रूपी समुद्र से उसकी राज्यलक्ष्मी को बलपूर्वक उसी प्रकार खीच लिया जिस प्रकार कि समुद्रमन्थन के समय मन्दराचल की मथनी द्वारा सागर तनया भगवती लक्ष्मी को सागर से निकाल लिया गया था।[1]

कृष्ण ने कोकण पर अधिकार कर वहा शिलाहारवशीय राजकुमार को सामन्त के रूप मे नियुक्त किया। इसने गग राज्य पर आक्रमण किया। गगराज श्रीपुरुष को रणागण मे पराजित कर उसे अपना अधीनस्थ राजा बनाया। कृष्ण ने अपने बडे पुत्र गोविन्द को एक बडी सेना के साथ वेगी के चालुक्य राजा को वश मे करने के लिए भेजा। वेंगी के राजा विजयादित्य प्रथम ने राजकुमार गोविन्द के समक्ष उपस्थित हो बिना किसी सघर्ष के ही राष्ट्रकूट राज्य की अधीनता स्वीकार कर ली। कृष्ण के गोविंद और ध्रुव नामक दो पुत्र थे। ध्रुव को शिलालेखो मे धोर के नाम से भी अभिहित किया गया है। राजा कृष्ण ने एलपुर (एलोरा) मे एक अति भव्य शिवमन्दिर का निर्माण करवाया। ई० सन् ७७२ मे कृष्ण का देहावसान हो गया।

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह भाग २, पृ १२५

राष्ट्रकूट राजा दन्ति दुर्ग

वीर नि० स० १२५७ से १२८० तक मान्यखेट के राष्ट्रकूटवशीय राज-सिंहासन पर इस राजवश के ६ठे शासक दन्ति दुर्ग अपर नाम —(१) दन्तिवर्मा, (२) खड्गावलोक, (३) पृथ्वीवल्लभ, (४) वैरमेघ, और (५) साहसतु ग का अधिकार रहा। यह बडा प्रतापी राजा था। सभी इतिहासविद् इसे राष्ट्रकूट राजवश को एक शक्तिशाली राज्य का रूप देने वाला मानते है। दिगम्बराचार्य अकलक ने इसकी राजसभा मे उपस्थित हो इसे एक महान् विजेता और दानियो मे महादानी बताकर इसकी प्रशसा की थी। इसने ई० सन् ७४२ मे एलोरा पर अधिकार किया। दन्तिदुर्ग ने मालव, गुर्जर, कोशल, कलिंग, और श्रीशैलम् प्रदेश के तेलुगु–चोल राजाओ को क्रमश एक एक कर के युद्ध मे पराजित कर अपना आज्ञावर्ती बनाया। तदनन्तर वह काची की ओर बढा और काचिपति नन्दिवर्मन पल्लवमल के साथ अपनी पुत्री रेखा का विवाह किया।

अपनी शक्ति को सुदृढ कर लेने के पश्चात् उसने चालुक्यराज कीर्तिवर्मन पर अपनी मृत्यु से लगभग एक वर्ष पूर्व आक्रमण कर उसे अन्तिम रूप से पराजित किया। चालुक्यराज को पराजित करने के पश्चात् दन्तिदुर्ग ने अपने आपको दक्षिणापथ का सार्वभौम सत्तासम्पन्न राजा घोषित किया।

दन्तिदुर्ग जिनशासन के अभ्युदय, प्रचार-प्रसार के कार्यो मे बडी रुचि लेता था और वह परम जिनभक्त था।

इसके रेखा नाम की एक पुत्री के अतिरिक्त कोई सन्तति नही थी। इसी कारण इसकी मृत्यु के पश्चात् इसका पितृव्य (चाचा) कृष्ण प्रथम मान्यखेट के राजसिंहासन पर बैठा।

राष्ट्रकूट राजा कृष्ण (प्रथम)

वीर नि० स० १२८० से १३०५ तक राष्ट्रकूट वशीय राजा कृष्ण प्रथम का विशाल राष्ट्रकूट राज्य पर शासन रहा। यह राष्ट्रकूट वश के पाचवे राजा इन्द्र का छोटा भाई और छठे राजा दन्तिदुर्ग का पितृव्य था।

कृष्ण प्रथम ने भी अपने २५वर्ष के शासनकाल मे राष्ट्रकूट राज्य की चारो दिशाओ मे सीमावृद्धि की। मन्ने नामक ग्राम के नरहरियप्प के अधिकार मे रहे ताम्रपत्रो पर उट्टकित लेख (स० १२३) मे इस महाराजा कृष्ण के सम्बन्ध मे निम्नलिखित उल्लेख विद्यमान है —

"यश्चालुक्यकुलादनूनविबुधाधाराश्रयाद् वारिधे,
लक्ष्मी मन्दरवत् सलीलमचिरादाकृष्टवान् वल्लभ ।

अर्थात्—बिना चक्र इस राष्ट्रकूटवशीय राजा कृष्ण ने बडे बडे बुद्धिमानो के आधारभूत चालुक्य कुल रूपी समुद्र से उसकी राज्यलक्ष्मी को बलपूर्वक उसी प्रकार खीच लिया जिस प्रकार कि समुद्रमन्थन के समय मन्दराचल की मथनी द्वारा सागर तनया भगवती लक्ष्मी को सागर से निकाल लिया गया था।[1]

कृष्ण ने कोकण पर अधिकार कर वहा शिलाहारवशीय राजकुमार को सामन्त के रूप मे नियुक्त किया। इसने गग राज्य पर आक्रमण किया। गगराज श्रीपुरुष को रणागण मे पराजित कर उसे अपना अधीनस्थ राजा बनाया। कृष्ण ने अपने बडे पुत्र गोविन्द को एक बडी सेना के साथ वेगी के चालुक्य राजा को वश मे करने के लिए भेजा। वेंगी के राजा विजयादित्य प्रथम ने राजकुमार गोविन्द के समक्ष उपस्थित हो बिना किसी सघर्ष के ही राष्ट्रकूट राज्य की अधीनता स्वीकार कर ली। कृष्ण के गोविंद और ध्रुव नामक दो पुत्र थे। ध्रुव को शिलालेखो मे घोर के नाम से भी अभिहित किया गया है। राजा कृष्ण ने एलपुर (एलोरा) मे एक अति भव्य शिवमन्दिर का निर्माण करवाया। ई० सन् ७७२ मे कृष्ण का देहावसान हो गया।

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह भाग २, पृ १२५

सम्राट् ललितादित्य–मुक्तापीड़

वीर निर्वाण की तेरहवी शताब्दी मे काश्मीर के राजसिहासन पर कारकोट अथवा नागवश का राजा ललितादित्य बैठा। यह कन्नौज के महाराजाधिराज यशोवर्मन का समकालीन महाराजा था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है यशोवर्मन ई० सन् ७०० के लगभग कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठा। ऐसा प्रतीत होता है कि यशोवर्मन जब पूर्व पश्चिम और दक्षिण दिशाओ मे भारत की अन्तिम सीमाओ तक दिग्विजय कर एक विशाल एव शक्तिशाली कन्नौज राज्य को सुगठित कर चुका था, उस समय ललितादित्य काश्मीर राज्य के राजसिंहासन पर बैठा। जिस समय यशोवर्मन उत्तर दिशा मे दिग्विजय करता हुआ बढा, उस समय अरबो और तिब्बतवासियो ने भारत की उत्तरी सीमाओ पर अपनी आक्रामक गतिविधिया सभवत थोडी तेज कर दी थी। अरबो और तिब्बतवासियो का भारत की सीमाओ पर दबाव सभवत ई० सन् ७३०–३१ के आसपास बढने लगा। जैसा कि पहले बताया जा चुका है यशोवर्मन भारत पर आने वाले विदेशी आक्रमण के सकट से चिन्तित हुआ और उसने चीन के सम्राट् से अपने एक प्रतिनिधिमडल के माध्यम से ई० सन् ७३१ मे प्रार्थना की कि वे भारत पर सभावित विदेशी आक्रमण से भारत की रक्षा मे सहायता प्रदान करे। इसमे अनुमान किया जाता है कि भारत पर आने वाले इस भावी सकट के सम्बन्ध मे भारत की उत्तरी सीमा पर अवस्थित काश्मीर राज्य के महाराजा ललितादित्य से भी विचार विनिमय किया गया। भारत की विदेशी आक्रमणो से रक्षा के पुनीत कार्य को सगठित रूप से किया जाय, इस विचार से यशोवर्मन ने ललितादित्य से मैत्री की। कुछ समय तक ये दोनो राजा सम्मिलित रूप से इस पुनीत कार्य को करते भी रहे थे और उसी समय मे किसी क्षेत्र विशेष पर अपना अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयास करते समय ललितादित्य और यशोवर्मन के बीच मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया और यह मनमुटाव धीरे-धीरे सघर्ष का रूप धारण करने लगा। ऐसा आभास कल्हण की राजतरगिणी से होता है।

दोनो राजाओ के बीच इस प्रकार की सघर्षात्मक स्थिति
७३६ के पश्चात् ही किसी समय उत्पन्न हुई होगी क्यो...
दित्य ने भी अपना प्रतिनिधिमण्डल चीन के स...
तिब्बतियो की भारत की सीमा पर गतिविधियो
उसमे उसने चीन के सम्राट से यह भी निवेदन
मित्र राजा है।

यशोवर्मन द्वारा किये गये कार्यो के प...
राजतरगिणी मे कल्हण के उल्लेखानुसार ललि...

उत्पन्न हुए उस सघर्ष को समाप्त करने के लिए एक सधिपत्र भी लिखकर तैयार किया गया था किन्तु अहमक मन्त्रियो की अदूरदर्शिता के परिणामस्वरूप उस सधिपत्र पर दोनो राजाओ के सधिविग्रहिको के हस्ताक्षर नही हो सके और वह सधि का प्रयास भयकर युद्ध के रूप मे परिणत हो गया ।

इस सम्बन्ध मे प्रमाणाभाव मे निश्चित रूप से तो कुछ भी नही कहा जा सकता किन्तु अनुमान किया जाता है कि दोनो राजाओ की सेनाओ के बीच युद्ध छिड जाने पर ललितादित्य की ओर से अप्रत्याशित आकस्मिक आक्रमण और अपने राज्य की सीमाओ से दूरस्थ पहाडी प्रदेश की प्रतिकूल परिस्थितियो के कारण यशोवर्मन की विजयिनी सेनाओ को अपूरणीय भयावह क्षति उठानी पडी और यशोवर्मन को अपने राज्य की ओर लौटने के लिए बाध्य होना पडा । यशोवर्मन की सेनाओ को कन्नौज की ओर लौटते देख काश्मीरी सेनाओ का मनोबल बढना सहज स्वाभाविक ही था । इसका परिणाम यह हुआ कि यशोवर्मन की सैन्यशक्ति नष्टप्राय हो जाने से और नई कुमुक समय पर नही पहुच पाने से यशोवर्मन की युद्ध मे पराजय हुई और ललितादित्य विजयी हुआ । स्वय कल्हण ने राजतरगिणी मे लिखा है कि मगध एव बगाल के गौड महाराजा को ललितादित्य ने विश्वास देकर काश्मीर मे अपने घर पर बुलाकर उसकी हत्या करवादी और अपने जीवन पर कलक का अमिट काला टीका लगा लिया । ललितादित्य के विश्वासघात परायण जीवन को देखते हुए यह आशका करना सहज स्वाभाविक ही है कि उसने कन्नौजराज यशोवर्मन के साथ भी इसी प्रकार का विश्वासघात किया होगा ।

यशोवर्मन की पराजय के पश्चात् ललितादित्य की विजयवाहिनी निरन्तर एक के पश्चात् दूसरे प्रदेश मे बढती ही रही । प्रतिरोध करने वाली कोई शक्ति थी ही नही, इस कारण यशोवर्मन द्वारा लगभग चालीस वर्षो के अपने विजय अभियानो द्वारा उपार्जित विशाल राज्य ललितादित्य को सहज ही प्राप्त हो गया ।

इस प्रकार गुप्त साम्राज्य के लगभग ढाई शतक पश्चात् ललितादित्य एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना मे सफल हुआ । गुप्तो के पश्चात् भारत का यही एकमात्र अन्तिम सम्राट् हुआ ।

ईशा की १२ वी शताब्दी के, काश्मीर राज्य के राजकवि, विद्वान् एव यशस्वी इतिहासज्ञ कवि कल्हण ने अपने आत्यन्तिक ऐतिहासिक महत्व के काव्यग्रन्थ "राजतरगिणी" मे काश्मीर राज्य का कनिष्क से भी पूर्ववर्ती काल से प्रारम्भ कर अपने समय तक का इतिहास लिखा है । राजतरगिणी मे उल्लिखित काश्मीर के इतिहास को देखकर विद्वान् इतिहासज्ञो की यह मान्यता बन गई है कि भारत के विभिन्न प्राचीन राज्यो मे काश्मीर ही एक ऐसा राज्य है, जिसका कि प्राचीन काल से इतिहास एकत्र लिखित रूप मे विद्यमान है ।

सम्राट् ललितादित्य–मुक्तापीड़

वीर निर्वाण की तेरहवी शताब्दी मे काश्मीर के राजसिहासन पर कारकोट अथवा नागवश का राजा ललितादित्य बैठा। यह कन्नौज के महाराजाधिराज यशोवर्मन का समकालीन महाराजा था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है यशोवर्मन ई० सन् ७०० के लगभग कन्नौज के राजसिंहासन पर बैठा। ऐसा प्रतीत होता है कि यशोवर्मन जब पूर्व पश्चिम और दक्षिण दिशाओ मे भारत की अन्तिम सीमाओ तक दिग्विजय कर एक विशाल एव शक्तिशाली कन्नौज राज्य को सुगठित कर चुका था, उस समय ललितादित्य काश्मीर राज्य के राजसिंहासन पर बैठा। जिस समय यशोवर्मन उत्तर दिशा मे दिग्विजय करता हुआ बढा, उस समय अरबो और तिब्बतवासियो ने भारत की उत्तरी सीमाओ पर अपनी आक्रामक गतिविधिया सभवत थोडी तेज कर दी थी। अरबो और तिब्बतवासियो का भारत की सीमाओ पर दबाव सभवत ई० सन् ७३०–३१ के आसपास बढने लगा। जैसा कि पहले बताया जा चुका है यशोवर्मन भारत पर आने वाले विदेशी आक्रमण के सकट से चिन्तित हुआ और उसने चीन के सम्राट् से अपने एक प्रतिनिधिमडल के माध्यम से ई० सन् ७३१ मे प्रार्थना की कि वे भारत पर सभावित विदेशी आक्रमण से भारत की रक्षा मे सहायता प्रदान करे। इसमे अनुमान किया जाता है कि भारत पर आने वाले इस भावी सकट के सम्बन्ध मे भारत की उत्तरी सीमा पर अवस्थित काश्मीर राज्य के महाराजा ललितादित्य से भी विचार विनिमय किया गया। भारत की विदेशी आक्रमणो से रक्षा के पुनीत कार्य को सगठित रूप से किया जाय, इस विचार से यशोवर्मन ने ललितादित्य से मैत्री की। कुछ समय तक ये दोनो राजा सम्मिलित रूप से इस पुनीत कार्य को करते भी रहे थे और उसी समय मे किसी क्षेत्र विशेष पर अपना अपना आधिपत्य स्थापित करने का प्रयास करते समय ललितादित्य और यशोवर्मन के बीच मनोमालिन्य उत्पन्न हो गया और यह मनमुटाव धीरे-धीरे सघर्ष का रूप धारण करने लगा। ऐसा आभास कल्हण की राजतरगिणी से होता है।

दोनो राजाओ के बीच इस प्रकार की सघर्षात्मक स्थिति सभवत ई० सन् ७३६ के पश्चात् ही किसी समय उत्पन्न हुई होगी क्योकि ई० सन् ७३६ मे ललितादित्य ने भी अपना प्रतिनिधिमण्डल चीन के सम्राट् के पास भेज कर अरबो और तिब्बतियो की भारत की सीमा पर गतिविधियो को रोकने की जो प्रार्थना की थी उसमे उसने चीन के सम्राट से यह भी निवेदन करवाया था कि यशोवर्मन उसका मित्र राजा है।

यशोवर्मन द्वारा किये गये कार्यो के परिचय मे यह बताया जा चुका है कि राजतरगिणी मे कल्हण के उल्लेखानुसार ललितादित्य और यशोवर्मन के बीच

उत्पन्न हुए उस सघर्ष को समाप्त करने के लिए एक सधिपत्र भी लिखकर तैयार किया गया था किन्तु अहमक मन्त्रियो की अदूरदर्शिता के परिणामस्वरूप उस सधिपत्र पर दोनो राजाओ के सधिविग्रहिको के हस्ताक्षर नही हो सके और वह सधि का प्रयास भयकर युद्ध के रूप मे परिणत हो गया ।

इस सम्बन्ध मे प्रमाणाभाव मे निश्चित रूप से तो कुछ भी नही कहा जा सकता किन्तु अनुमान किया जाता है कि दोनो राजाओ की सेनाओ के बीच युद्ध छिड जाने पर ललितादित्य की ओर से अप्रत्याशित आकस्मिक आक्रमण और अपने राज्य की सीमाओ से दूरस्थ पहाडी प्रदेश की प्रतिकूल परिस्थितियो के कारण यशोवर्मन की विजयिनी सेनाओ को अपूरणीय भयावह क्षति उठानी पडी और यशोवर्मन को अपने राज्य की ओर लौटने के लिए बाध्य होना पडा । यशोवर्मन की सेनाओ को कन्नौज की ओर लौटते देख काश्मीरी सेनाओ का मनोबल बढना सहज स्वाभाविक ही था । इसका परिणाम यह हुआ कि यशोवर्मन की सैन्यशक्ति नष्टप्राय हो जाने से और नई कुमुक समय पर नही पहुच पाने से यशोवर्मन की युद्ध मे पराजय हुई और ललितादित्य विजयी हुआ । स्वय कल्हण ने राजतरगिणी मे लिखा है कि मगध एव बगाल के गौड महाराजा को ललितादित्य ने विश्वास देकर काश्मीर मे अपने घर पर बुलाकर उसकी हत्या करवादी और अपने जीवन पर कलक का अमिट काला टीका लगा लिया । ललितादित्य के विश्वासघात परायण जीवन को देखते हुए यह आशका करना सहज स्वाभाविक ही है कि उसने कन्नौजराज यशोवर्मन के साथ भी इसी प्रकार का विश्वासघात किया होगा ।

यशोवर्मन की पराजय के पश्चात् ललितादित्य की विजयवाहिनी निरन्तर एक के पश्चात् दूसरे प्रदेश मे बढती ही रही । प्रतिरोध करने वाली कोई शक्ति थी ही नही, इस कारण यशोवर्मन द्वारा लगभग चालीस वर्षो के अपने विजय अभियानो द्वारा उपार्जित विशाल राज्य ललितादित्य को सहज ही प्राप्त हो गया ।

इस प्रकार गुप्त साम्राज्य के लगभग ढाई शतक पश्चात् ललितादित्य एक शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना मे सफल हुआ । गुप्तो के पश्चात् भारत का यही एकमात्र अन्तिम सम्राट् हुआ ।

ईशा की १२ वी शताब्दी के, काश्मीर राज्य के राजकवि, विद्वान् एव यशस्वी इतिहासज्ञ कवि कल्हण ने अपने आत्यन्तिक ऐतिहासिक महत्व के काव्यग्रन्थ "राजतरगिणी" मे काश्मीर राज्य का कनिष्क से भी पूर्ववर्ती काल से प्रारम्भ कर अपने समय तक का इतिहास लिखा है । राजतरगिणी मे उल्लिखित काश्मीर के इतिहास को देखकर विद्वान् इतिहासज्ञो की यह मान्यता बन गई है कि भारत के विभिन्न प्राचीन राज्यो मे काश्मीर ही एक ऐसा राज्य है, जिसका कि प्राचीन काल से इतिहास एकत्र लिखित रूप मे विद्यमान है ।

काश्मीर कवि कल्हण ने राजतरगिणी मे जो काश्मीर राज्य का प्राचीन इतिहास निबद्ध किया है, उसमे प्रारम्भिक कतिपय शताब्दियो का इतिहास लोक कथाओ और किवदन्तियो के आधार पर ही लिखा गया है, क्योकि सुदीर्घ अतीत की ऐतिहासिक सामग्री कल्हण को उपलब्ध नही हो सकी होगी। इतिहासलेखन की कला मे निष्णात कल्हण ने इतिहासलेखन के नियमो का निर्वहन किया है। उस प्राचीन काल की घटनाओ का जो विवरण कल्हण ने लिखा है, उसका आधार अधिकाशत लोक कथाए, किवदन्तिया एव जनश्रुतिया ही रही है, इसी कारण कल्हण द्वारा प्रस्तुत किये गये काश्मीर के इतिहास का प्राचीन काल का पूर्वभाग, जिसमे गोनन्द राजवश का इतिहास प्रस्तुत किया गया है, वह असभाव्यता, अनिश्चितता आदि अनेक दोषो से प्रलिप्त होने से विश्वसनीय नही माना जा सकता। इससे आगे ईसा की सातवी शताब्दी से कल्हण ने काश्मीर का इतिहास लिखा है, वह कतिपय साधारण घटनाओ को छोडकर शेष इतिहास वस्तुत इतिहास के दृष्टिकोण से सतोषप्रद और पर्याप्त रूपेण विश्वसनीय कहा जा सकता है।

अपने आश्रयदाता राजवश को सर्वश्रेष्ठ और राजोचित सभी गुणो से अलकृत बताने का मोह एक आश्रित इतिहास लेखक मे होना सहज सभव है। उस दशा मे इस प्रकार के लेखन मे अतिशयोक्तियो का भी बाहुल्य अपेक्षित ही रहता है। इतना सब कुछ होते हुए भी कल्हण ने अपने से लगभग चार सौ-साढे चार सौ वर्ष पूर्व हुए काश्मीर के महाप्रतापी महाराजा और भारत के सम्राट् ललितादित्य द्वारा विश्वासघात जैसे जघन्य अपराध का आश्रय लेते हुए गौड राजा की काश्मीर मे बुलाकर हत्या करवा दीगई, उस घटना को ललितादित्य के जीवन पर कलक का काला धब्बा बताया है। जिस मूर्ति की शपथ ग्रहण करते हुए ललितादित्य ने गौडराज को सभी भाति की सुरक्षा का विश्वास दिलाते हुए उसे काश्मीर मे बुलाया था और ललितादित्य द्वारा विश्वासघात किये जाने के अनन्तर जिन बगाली युवको ने बगाल से काश्मीर तक की उन दिनो अति कष्ट भरी साहसिक यात्रा कर अपने राजा की विश्वासघात पूर्वक हत्या का प्रतिशोध लेने के लिए काश्मीर के राजमन्दिर की मूर्ति के टुकडे-टुकडे कर डाले थे, उनकी साहसिकता और स्वामिभक्ति की भी कल्हण ने राजतरगिणी मे भूरि-भूरि प्रशसा की है। बडी साहसिकता के साथ बिना किसी पक्षपात के एक ऐतिहासिक घटना का यथातथ्य रूपेण आलेखन कर कल्हण ने इतिहासलेखन के महत्वपूर्ण कर्तव्य का सम्यक् रीति से निर्वहन कर इतिहास जगत् मे महती प्रतिष्ठा एव कीर्ति अर्जित की है।

कल्हण ने "राजतरगिणी" मे काश्मीर का जो इतिहास लिखा है, उसका साराश निम्न है —

काश्मीर पर प्राचीन काल मे गोनन्द राजवश का राज्य था। उसमे एक गोनन्दवशी राजा ने ३०० वर्ष तक राज्य किया और उसके पश्चात् उसके वशज

क्रमश दो राजाओ नें ८० वर्ष तक राज्य किया, जो कि दोनो सहोदर थे। उस यशस्वी गोनन्दवश का अन्तिम राजा बालादित्य हुआ।

गोनन्दवश के अन्तिम काश्मीरराज बालादित्य के एक पुत्री के अतिरिक्त अन्य कोई सन्तति नही हुई। अत उसने अपनी इकलौती पुत्री का विवाह करकोट नामक नागवश के दुर्लभवर्द्धन नामक राजकुमार के साथ कर अपने जीवन के सध्या-काल मे ईस्वी सन् ६२७ मे अपने जामाता दुर्लभवर्द्धन का काश्मीर के राजसिंहासन पर राज्याभिषेक किया। यही दुर्लभवर्द्धन काश्मीर मे करकोट नागवश-राज्य का सस्थापक अथवा प्रथम राजा हुआ। हर्षवर्द्धन के परम प्रीतिपात्र चीनी यात्री ह्वेन-त्साग ने अपनी काश्मीर यात्रा के सस्मरणो मे लिखा है कि महाराज दुर्लभवर्द्धन का काश्मीर राज्य के अतिरिक्त तक्षशिला, पूच, राजोरी, उर्षा (हजारा जिला) और लवण—उत्पादन क्षेत्र सिंहपुर—इन पाच बडे-बडे क्षेत्रो पर भी शासन था।

दुर्लभवर्द्धन का काश्मीर राज्य पर ३६ वर्ष तक शासन रहा। उसके पश्चात् उसका पुत्र दुर्लभक ५० वर्ष तक काश्मीर राज्य पर शासन करता रहा। इन दोनो पिता पुत्र का शासनकाल शान्तिपूर्ण रहा। इनके शासनकाल मे किसी ऐतिहासिक महत्व की घटना के घटित होने का कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता। महाराजा दुर्लभक के पश्चात् उसका बडा पुत्र चन्द्रापीड काश्मीर के राजसिंहासन पर बैठा। चन्द्रापीड ने अपने राज्य की सीमा के पार अरबो की वढती हुई गतिविधियो के समाचार पा चीन-सम्राट् के पास अपना दूत भेजकर अरबो के सभावित आक्रमण के विरुद्ध सैनिक सहायता प्रदान करने के लिए निवेदन करवाया। इससे अनुमान किया जाता है कि सभवत उस समय तक मुहम्मदिब्न कासिम काश्मीर राज्य की सीमाओ के आस-पास पहुच गया था। चीन से चन्द्रापीड को किसी प्रकार की सहा-यता प्राप्त नही हुई और उसने अपनी शक्ति के बल पर ही अरबो के छुटपुट आक्र-मणो को विफल कर दिया। उसी समय अरब के खलीफाओ ने अरब सेनाओ के साथ मुहम्मदिब्न कासिम अथवा अन्य किसी सेनापति को पुन अरब मे बुला लिया और अरब पहुचते ही मुस्लिम सेनापति की मृत्यु हो गई। इससे चन्द्रापीड को अपनी सुरक्षात्मक स्थिति सुदृढ करने का अवसर मिला। राजा चन्द्रापीड बडा ही दयालु और न्यायप्रिय शासक था। इसकी न्यायप्रियता और दयालुता की अनेक लोक कथाए कल्हण के समय तक काश्मीर मे प्रचलित रही। उनमे से उसकी न्याय-प्रियता की एक घटना का कवि कल्हण ने राजतरगिणी मे उल्लेख किया है, जो न केवल शासक वर्ग को ही अपितु सर्वसाधारण को सदा न्याय-पथ पर ही अग्रसर होते रहने की प्रेरणा देती है। काश्मीरी विद्वान् इतिहासकार कवि कल्हण के शब्दो मे वह घटना इस प्रकार है —

एक समय महाराजा चन्द्रापीड ने एक विशाल एव भव्य मन्दिर बनाने का अपने मन्त्रियो को आदेश दिया। राजाज्ञानुसार मन्दिर का निर्माण कार्य

कर दिया गया । जिस स्थान पर मन्दिर का निर्माण किया जा रहा था, वहाँ एक गरीब किसान की झौपडी खडी हुई थी । राज्याधिकारियो ने उस किसान को कहा कि वह उस झौपडी मे से अपना सामान हटाकर कही अन्यत्र झौपडी बना ले । उस किसान ने राज्याधिकारियो से स्पष्ट शब्दो मे कहा कि वह किसी भी दशा मे उस झौपडी को नही छोडेगा । अन्त मे यह बात महाराज चन्द्रापीड तक पहुची । उन्होने बडे ध्यान से अपने राज्याधिकारियो की पूरी बात सुनने के पश्चात् अपने अधिकारियो को ही दोषी ठहराते हुए आक्रोशपूर्ण शब्दो मे कहा—"उस किसान की झौपडी तुम उसकी इच्छा के विरुद्ध नही ले सकते । निर्माण कार्य को बन्द कर किसी अन्य स्थान पर मन्दिर बनाया जाय । उस किसान के साथ किसी भी प्रकार का अन्याय नही किया जाय ।"

उस किसान ने भी राजा के समक्ष उपस्थित हो निवेदन किया—"महाराज ! मेरी झौपडी, मेरे जन्म के समय से ही मुझे मेरी जन्मदायिनी मा के समान प्रिय रही है ! वस्तुत मेरी झौपडी मेरे अच्छे और बुरे दिनो की, सुख-दु ख की सगिनी है । अत मैं यह नही देख सकता कि मेरी आखो के सम्मुख ही उसे उखाड कर फैंक दिया जाय ।"

महाराजा चन्द्रापीड ने सान्त्वना भरे स्वरो मे आश्वस्त किया कि उसकी इच्छा के विपरीत कोई उसकी झौपडी का स्पर्श भी नही कर सकेगा । किसान अपने राजा की न्यायप्रियता से बडा ही प्रभावित हुआ । उसने राजप्रासाद से अपनी झौपडी की ओर लौटते समय लोगो से कहा—"यदि महाराज स्वय मेरी झौपडी पर आकर मन्दिर के निर्माण के लिए मेरी झौपडी की मुझसे माग करे तो मैं अपनी झौपडी मन्दिर के लिए दे सकता हू ।"

किसान के इस कथन की सूचना मिलते ही काश्मीर नरेश्वर चन्द्रापीड तत्काल उस किसान की झौपडी पर गया, किसान से उस झौपडी की माग की । किसान ने सहर्ष अपनी झौपडी राजा को मन्दिर के निर्माण के लिए दे दी । चन्द्रापीड ने उस किसान को उसकी झौंपडी के बदले विपुल धनराशि प्रदान की ।

इस प्रकार की दयालुता और न्यायप्रियता के परिणामस्वरूप चन्द्रापीड को उसकी प्रजा उसे अन्तर्मन से चाहती थी और उसकी कीर्ति उसके राज्य से बहुत दूर-दूर तक प्रसृत हो गई थी ।

एक बार चन्द्रापीड ने एक ब्राह्मण को उसके इस अपराध से दण्डित किया कि उसने तान्त्रिक मारण विद्या के अनुष्ठान से एक दूसरे ब्राह्मण की हत्या कर दी थी । दण्डित होने के कारण वह जादूगर ब्राह्मण चन्द्रापीड पर मन ही मन बडा क्रुद्ध हुआ । चन्द्रापीड के छोटे भाई तारापीड ने इसे अपने हित मे उचित अवसर समझकर उस ब्राह्मण की क्रोधाग्नि को और अधिक भड़काते हुए उस तान्त्रिक

ब्राह्मण को इस बात के लिए प्रलोभन आदि से प्रोत्साहित किया कि वह चन्द्रापीड पर अपने मारण अनुष्ठान का प्रयोग करे। उस ब्राह्मण ने चन्द्रापीड पर अपने जादू मारण अनुष्ठान (मूठ) का प्रयोग किया और उससे चन्द्रापीड की मृत्यु हो गई। इस प्रकार केवल साढे आठ वर्ष के स्वल्प शासनकाल मे ही विपुल कीर्ति अर्जित कर न्याय-नीतिपरायण राजा चन्द्रापीड अपने सहोदर की दुरभिसधि के परिणाम-स्वरूप इस ससार से उठ गया।

चन्द्रापीड के पश्चात् उसका छोटा भाई तारापीड काश्मीर का राजा बना। वह बडा ही क्रूर और दुष्ट प्रकृति का राजा था। उसके अत्याचारो से प्रजा मे त्राहि-त्राहि मच गई। किन्तु चार वर्ष तक ही उसका क्रूरतापूर्ण शासन रहा और उसकी मृत्यु हो गई।

तारापीड की मृत्यु के पश्चात् उसका छोटा भाई ललितादित्य अपर नाम मुक्तापीड लगभग ई० सन् ७२४ मे काश्मीर के राजसिहासन पर आसीन हुआ। ललितादित्य का अपर नाम मुक्तापीड था। काश्मीर के राजाओ मे यह सबसे प्रतापी यशस्वी, रणनीतिनिष्णात और भाग्यवान् राजा हुआ।

कन्नौज के राजाधिराज यशोवर्मन के परिचय मे प्रसगवशात् इसके जीवन-वृत्त पर लगभग पूरी तरह प्रकाश डाला जा चुका है। कन्नौज के, राजसिंहासन पर यशोवर्मन ई० सन् ७०० के आस-पास और काश्मीर के राजसिंहासन पर ललितादित्य ई० सन् ७२४ मे बैठा और सभवत ई० सन् ७३२-३३ के आसपास इन दोनो राजाओ मे सौहार्दपूर्ण सपर्क हुआ। अरबो और तिब्बतियो के सभावित आक्रमणो से भारत की रक्षा के लिए इन दोनो राजाओ ने मिलकर कुछ समय तक सम्मिलित प्रयास भी किये। किन्तु, जैसा कि पहले बताया जा चुका है इन दोनो की मैत्री स्वल्प काल मे ही शत्रुता मे परिणत हो गई। दोनो राजाओ मे कतिपय वर्षो तक युद्ध भी चलता रहा। युद्ध के पश्चात् अस्थाई शान्ति हुई, सन्धि के प्रयास किये गये, सन्धि-पत्र भी लिखकर तैयार कर लिया गया, किन्तु "हम बडे, तुम छोटे"—इस छोटी सी बात को लेकर सन्धि के प्रयास विफल हुए। घोर युद्ध हुआ और उस युद्ध मे यशोवर्मन की पराजय हो जाने के कारण लगभग ३५-३६ वर्ष के अपने शासनकाल मे यशोवर्मन ने जो-जो कार्य किये, शत्रुओ का सहार कर एक विशाल सुदृढ एव सशक्त कन्नौज राज्य की स्थापना की थी, यशोवर्मन के उस सुदीर्घकालीन कठोर परिश्रम का फल सहज ही ललितादित्य को मिल गया। यशोवर्मन पर विजय प्राप्त कर लेने के पश्चात् ललितादित्य ने कन्नौज नगर पर और चारो दिशाओ मे दूर-दूर तक फैले विशाल कन्नौज राज्य पर अधिकार किया और वह भारत का शक्तिशाली सम्राट् बना।

कल्हण के उल्लेखानुसार ललितादित्य जीवन भर विजय अभियानो मे ही सलग्न रहा। यशोवर्मन को युद्ध मे परास्त करने के पश्चात् कल्हण के उल्लेखा-

नुसार ललितादित्य ने मगध, कलिंग, कर्नाटक, कोकरण, गुजरात, काठियावाड, द्वारिका, अवन्ति आदि की अपनी विजयी सेनाओ के साथ विजय यात्रा की। तदनन्तर उसने कम्बोजो, तिब्बतियो और दरद आदि पहाडी आदिवासी जातियो को अपने वश मे किया। कल्हरण ने ललितादित्य के लिये तीन बार उल्लेख किया है कि उसने मम्मुनि को पराजित किया। अनुमान किया जाता है कि यह कोई अरब आक्रान्ता था। ललितादित्य के शासनकाल मे अरबो का भारत की उत्तरी सीमाओ पर मुख्यत काश्मीर की सीमाओ पर बडा दबाव था और कागडा पर तो अरबो ने उस समय एक बार अधिकार भी कर लिया था। ललितादित्य ने उन अरबो को बुरी तरह पराजित कर पजाब की अरबो से रक्षा की।

कल्हण द्वारा राजतरगिरणी मे उल्लिखित ललितादित्य की इन विजयो की पुष्टि करने वाले प्रमारणो के अभाव मे सुनिश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता।

विशाल भारत के अपने सुविशाल साम्राज्य की आय का पर्याप्तरूपेरण अच्छा अश ललितादित्य ने काश्मीर की राजधानी को सुन्दरतम बनाने मे व्यय किया। ललितादित्य द्वारा काश्मीर की राजधानी मे निर्मापित मार्तण्ड मन्दिर उस समय की श्रेष्ठ कलाकृति का प्रतीक है।

कल्हरण ने राजतरगिरणी मे जहा ललितादित्य के शौर्य एव उसके द्वारा की गई दिग्विजयो की प्रशसा की, वहा साथ ही ललितादित्य के दो अवगुरणो का यथातथ्यरूपेरण दिग्दर्शन कराने मे इतिहास लेखक के कर्त्तव्य का भी भलीभाति निर्वहन किया है। कल्हरण ने लिखा है कि ललितादित्य के यशस्वी जीवन पर दो काले धब्बे है। पहला तो यह कि एक समय मदिरापान कर मदोन्मत्त अवस्था मे ललितादित्य ने अपने मन्त्रियो को आज्ञा दी कि वे तत्काल, काश्मीर राज्य के सुन्दर नगर प्रवरपुर को अग्नि मे जलाकर भस्म कर दे। मत्रियो ने यह जानते हुए भी कि ललितादित्य की आज्ञा का उल्लघन मृत्यु को निमन्त्रण देने तुल्य है, उसकी आज्ञा को उसके समक्ष शिरोधार्य कर लेने पर भी उस नगर को नही जलाया। सुरा का नशा समाप्त होने पर ललितादित्य को अपनी उस मूर्खता पर बडा पश्चात्ताप हुआ और जब उसे बताया गया कि वस्तुत नगर को नही जलाया गया है तो वह बडा प्रसन्न हुआ।

ललितादित्य के जीवन पर लगे एक बडे कलक के सम्बन्ध मे कल्हरण ने लिखा है कि ललितादित्य ने विष्णुपरिहास केशव की मूर्ति की साक्षी से गौड राज को विश्वास दिलाया था कि उसके साथ सभी भाति सुन्दर व्यवहार किया जायगा। इस विश्वास के साथ उसने गौड़राज को काश्मीर बुलाया किन्तु उसके काश्मीर

आने पर उसके साथ विश्वासघात कर उसकी हत्या करवा दी। कल्हण ने लिखा है कि यह उसके जीवन पर बहुत बडा कलक था।

विश्वासघात की इस सूचना के मिलते ही गौडराज के थोडे से स्वामिभक्त बगाली युवको ने बगाल से काश्मीर की यात्रा की और वहा राजमन्दिर मे बलपूर्वक प्रवेश कर वहाँ रखी हुई विष्णुरामास्वामिन् की मूर्ति को विष्णु परिहास केशव की मूर्ति समझ कर उसके टुकडे-टुकडे कर डाले। उसी समय काश्मीर के सैनिक मदिर मे आ पहुचे और उन्होने उन सब बगाली युवको को तलवारो के प्रहारो से खण्डश काट-काट कर मौत के घाट उतार दिया। इस घटना पर टिप्पणी करते हुए कल्हण ने उन अद्भुतशौर्यशाली स्वामिभक्त वीर बगाली युवको को श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हुए लिखा है —

"अपने मृत राजा के प्रति उन बगाली वीर युवको की प्रगाढ स्वामिभक्ति की, और उनकी इतनी कठिन और लम्बी यात्रा की कहा तक प्रशसा की जाय। रामास्वामी की मूर्ति आज दिन तक उस मन्दिर मे प्रतिष्ठापित न किये जाने की दृष्टि से वह मन्दिर तो आज भी सूना है किन्तु उन वीर स्वामिभक्त गौड युवको के यश से समस्त ससार ओतप्रोत है।"

कल्हण के कथनानुसार पूर्व से पश्चिम तक और दक्षिण से उत्तर तक विशाल भारत का सम्राट ललितादित्य ई० सन् ६९५ से ७३२, अर्थात् ३७ वर्षो तक शासन करने के पश्चात् मृत्यु को प्राप्त हुआ। इतिहासवेत्ता कनिघम ने चीन मे उपलब्ध एतद्विषयक प्रमाणो के आधार पर ललितादित्य का समय ई० सन् ७२४ से ७६० तक माना है।

ललितादित्य ने भारत को एक सार्वभौम सत्ता सम्पन्न केन्द्रीय शासन देकर कुछ समय के लिये भारत को एक सशक्त राष्ट्र का रूप दिया किन्तु उसके पश्चात् न तो उसके उत्तराधिकारियो मे ही और न भारत के दूसरे राज्यो मे ही ऐसा प्रतापी राजा हुआ जो भारत को एकता के शासन सूत्र मे आबद्ध रख सकता। ललितादित्य की मृत्यु के पश्चात् भारत के अन्तिम सम्राट ललितादित्य का साम्राज्य विघटित हो पुन छोटे-छोटे राज्यो मे विभक्त हो गया।

श्रमण भग   न महावीर के ४१वें पट्टधर   ाचार्य श्री देव `   ामी

जन्म	—	वीर नि स १२१७
दीक्षा	—	वीर नि स १२७५
आचार्य पद	—	वीर नि स १२९९
स्वर्गारोहण	—	वीर नि स १३२४
गृहवास पर्याय	—	५८ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२४ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	२५ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	४९ वर्ष
पूर्ण आयु	—	१०७ वर्ष

वीर नि स १२९९ मे वीर प्रभू के ४०वे पट्टधर आचार्य श्री राज ऋषि के दिवगत होने पर ८२ वर्ष की अवस्था के वयोवृद्ध एव ज्ञानवृद्ध मुनिवर श्री देवसेन स्वामी को भगवान् महावीर के ४१वे पट्टधर के रूप मे आचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया ।

श्रमण भगवान महावीर के ४२वें पट्टधर चार्य श्री ं र सेन

जन्म	—	वीर नि स १२३९
दीक्षा	—	वीर नि स १२८४
आचार्य पद	—	वीर नि स १३२४
स्वर्गारोहण	—	वीर नि स १३५४
गृहवास पर्याय	—	४५ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	४० वर्ष
आचार्य पर्याय	—	३० वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	७० वर्ष
पूर्ण आयु	—	११५ वर्ष

प्रभु महावीर के ४१वे (इकतालीसवें) पट्टधर आचार्य श्री देवसेन स्वामी के वीर नि स १३२४ मे दिवगत होने पर ज्ञान वृद्ध वयोवृद्ध मुनि श्री शकर सेन को चतुर्विध सघ ने शासनपति श्रमण भगवान् महावीर के ४२वे पट्टधर आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया । इन दीर्घायुष्क मुनीश्वर ने अपनी ७० वर्ष की व्रतपर्याय मे ३० वर्ष तक आचार्य पद के गुरुतर भार का निष्ठा एव कुशलता पूर्वक निर्वहन करते हुए जिनशासन की महती सेवा की ।

श्रमण भगवान महावीर के ४१वें पट्टधर ा र्य
श्री देवसेन ामी

जन्म	—	वीर नि स १२१७
दीक्षा	—	वीर नि स १२७५
आचार्य पद	—	वीर नि स १२९९
स्वर्गारोहण	—	वीर नि स १३२४
गृहवास पर्याय	—	५८ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	२४ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	२५ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	४९ वर्ष
पूर्ण आयु	—	१०७ वर्ष

वीर नि स १२९९ मे वीर प्रभू के ४०वे पट्टधर आचार्य श्री राज ऋषि के दिवगत होने पर ८२ वर्ष की अवस्था के वयोवृद्ध एव ज्ञानवृद्ध मुनिवर श्री देवसेन स्वामी को भगवान् महावीर के ४१वे पट्टधर के रूप मे आचार्य पद पर अधिष्ठित किया गया ।

श्रमण भगवान महावीर के ४२वें पट्टधर चार्य श्री शंकर सेन

जन्म	—	वीर नि स १२३९
दीक्षा	—	वीर नि स १२८४
आचार्य पद	—	वीर नि स. १३२४
स्वर्गारोहण	—	वीर नि स १३५४
गृहवास पर्याय	—	४५ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	४० वर्ष
आचार्य पर्याय	—	३० वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	७० वर्ष
पूर्ण आयु	—	११५ वर्ष

प्रभु महावीर के ४१वे (इकत्तालीसवे) पट्टधर आचार्य श्री देवसेन स्वामी के वीर नि स १३२४ मे दिवगत होने पर ज्ञान वृद्ध वयोवृद्ध मुनि श्री शकर सेन को चतुर्विध सघ ने शासनपति श्रमण भगवान् महावीर के ४२वे पट्टधर आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। इन दीर्घायुष्क मुनीश्वर ने अपनी ७० वर्ष की व्रतपर्याय मे ३० वर्ष तक आचार्य पद के गुरुतर भार का निष्ठा एव कुशलता पूर्वक निर्वहन करते हुए जिनशासन की महती सेवा की।

३४वे युगप्रधानाचार्य श्री माढर संभूति

जन्म	—	वीर नि स १२६०
दीक्षा	—	वीर नि स १२७०
सामान्य व्रतपर्याय	—	वीर नि स १२७०–१३००
युगप्रधानाचार्यकाल	—	वीर नि स. १३००–१३६०
स्वर्ग	—	वीर नि स १३६०
सर्वायु	—	१०० वर्ष, ५ मास और ५ दिन

'दुस्समा समण सघ थय' और उसकी अवचूरि के अन्तर्गत 'द्वितीयोदय युग प्रधान यन्त्रम्' के उल्लेखानुसार सभूति को ३३वा और माढर सभूति को ३४वा युगप्रधानाचार्य माना गया है। किन्तु तित्थोगाली पइन्नय मे उल्लेख है कि वस्तुत माढर सभूति ३३वे युगप्रधानाचार्य थे और सभूति ३४वे। प्रामाणिक एव प्राचीन ग्रन्थ–'तित्थोगाली पइन्नय' के उल्लेखो को यदि सबल प्रमाण माना जाय तो सभूति का ३४वे युगप्रधान के रूप मे परिचय दिया जाना चाहिये। यदि तित्थोगाली पइन्नय मे अज्जव यति के नाम से अभिहित श्रमणवर को युगप्रधानाचार्य सभूति मान लिया जाय तो वे गूढार्थ सहित सम्पूर्ण स्थानाग सूत्र के धारक थे। श्रमण श्रेष्ठ सभूति के वीर नि स १३५० अथवा १३६० मे स्वर्गस्थ होते ही स्थानाग सूत्र के बृहदाकार का ह्रास, आकुचन अथवा व्यवच्छेद हो गया। एतद्विषयक तित्थोगाली पइन्नय की गाथा इस प्रकार है —

> तेरस वरिस सतेहिं, पण्णास समहिएहिं बोच्छेदो।
> अज्जव जतिस्स मरणे, ठाणस्स जिणेहिं निदिट्ठो। (८१६)

अर्थात् —वीर नि स १३५० मे आर्जव यति (सभूत) के दिवगत होने पर स्थानाग सूत्र का व्यवच्छेद (ह्रास) होना जिनेश्वरो (तीर्थङ्करो) ने बताया है।

इतिहास के विद्वानो से इस सम्बन्ध मे समुचित शोध की अपेक्षा है।
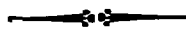
यं वीरभद्र

वीर निर्वाण की तेरहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे वीर भद्र नामक एक आचार्य हुए हैं। वे किस गच्छ के थे, उनके गुरु कौन थे और उनकी शिष्य परम्परा मे उनके पट्टधर कौन-कौन हुए इस सम्बन्ध मे कोई प्रामाणिक जानकारी हमे उपलब्ध नही हो सकी है। कुवलय माला की प्रशस्ति से इनके सम्बन्ध मे इतना ही परिचय प्राप्त होता है कि वे सिद्धान्तो के अपने समय के मर्मज्ञ विद्वान् आचार्य थे और उद्योतन-सूरि ने जालौर मे रहकर उनके पास सिद्धान्तो का अध्ययन किया। इनके सम्बन्ध मे यह भी प्रसिद्धि है कि जाबालिपुर (जालोर) मे भगवान् ऋषभदेव का एक विशाल, प्रसिद्ध एव भव्य मन्दिर आपके उपदेश से बनवाया गया।

आचार्य वीरभद्रसूरि ने कुवलयमालाकार उद्योतन सूरि को शास्त्रो का अध्ययन करवाया। इससे यह प्रमाणित होता है कि वे याकिनी महत्तरासूनु आचार्य हरिभद्रसूरि के समकालीन और सम्भवत पर्याप्तरूपेण वयोवृद्ध आचार्य थे।

ऐसा अनुमान किया जाता है कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने जिस समय महानिशीथ की जीर्ण-शीर्ण, खण्डित-विखण्डित एकमात्र प्रति के आधार पर महानिशीथ का पुनरुद्धार किया उस समय आगमो के तलस्पर्शी ज्ञाता ये आचार्य वीरभद्रसूरि स्वर्गस्थ हो गये हो। यदि ऐसा नही होता तो अपने समय के जिन महान् विद्वान् आचार्यो को हरिभद्र सूरि ने महानिशीथ की स्वय द्वारा पुनरुद्धरित प्रति सम्मत्यर्थ दिखलाई और जिनका हरिभद्र सूरि ने नामोल्लेख किया है, उनमे इन वीरभद्र सूरि का भी नामोल्लेख अवश्यमेव होता। आगमो के तलस्पर्शी ज्ञान के धारक आचार्य वीरभद्र महानिशीथ के उद्धार तक विद्यमान रहे और उनको हरिभद्रसूरि सम्मत्यर्थ महानिशीथ की प्रति न दिखाये, इस बात पर विश्वास नही किया जा सकता।

इस प्रकार की परिस्थिति मे आचार्य वीरभद्र सूरि के समय के सम्बन्ध मे कुवलयमाला प्रशस्ति के एव अनुमान के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वे वीर निर्वाण की १२वी शताब्दी के अन्तिम दशक से लेकर वीर निर्वाण की तेरहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध के मध्यवर्ती समय मे आचार्यपद पर आसीन रहे। वे नागेन्द्रगच्छ के थे अथवा किसी अन्य गच्छ के इस सम्बन्ध मे ठोस प्रमाणो के अभाव मे कुछ भी नही कहा जा सकता।

उद्योतन सूरि (दाक्षिण्यचिन्ह)

गद्य-पद्य मिश्रित परम रोचक प्रसादपूर्ण शैली मे "कुवलयमाला" नामक प्राकृत कथा साहित्य के अनुपम ग्रन्थ का निर्माण कर चन्द्रकुल हारिलगच्छ के आचार्य उद्योतन सूरि—अपर नाम दाक्षिण्य चिन्ह ने अक्षय कीर्ति अर्जित की।

उद्योतन सूरि का जन्म क्षत्रिय राजवश मे वीर निर्वाण की तेरहवी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ चरण मे हुआ था। राजवश के राजकुमार होने के कारण आपको राजर्षि कहा गया। महाद्वार (मडार) राज्य के राजा उद्योतन के आप पौत्र और राजा बटेश्वर के पुत्र थे।

राजकुमार उद्योतन के दक्षिण भाग मे स्वस्तिक का एक प्रशस्त चिन्ह जन्म काल से ही था, इसी कारण आपकी राज-परिवार, राज्य और कालान्तर मे लोक मे भी उद्योतन सूरि के साथ दाक्षिण्य चिन्ह के नाम से भी प्रसिद्धि हुई।

बाल्यावस्था मे राजकुमार उद्योतन को समीचीन रूप से राजकुमारोचित शिक्षा दी गई। उद्योतन के अन्तर्मन मे बाल्यकाल से ही अव्यक्त चिन्तन की एक ऐसी अद्भुत वृत्ति उत्पन्न हो गई थी जो साधारणत सामान्य बालको मे प्राय परिलक्षित नही होती। चाचल्य, खेल-कूद के प्रति प्रबल आकर्षण, क्षण-क्षण मे किसी भी वस्तु के लिये मचल उठना, हठ करना आदि बाल-स्वभाव सुलभ वृत्तिया बालक उद्योतन मे अतीव स्वल्प मात्रा मे परिलक्षित होती थी।

बालक राजकुमार उद्योतन की आरम्भ से ही अध्ययन मे गहरी अभिरुचि थी। कुशाग्र बुद्धि किशोर उद्योतन ने क्रमश अध्ययन करते-करते विविध विषयो की विद्याओ मे आधिकारिकता प्राप्त की। सयोगवश युग प्रधानाचार्य हारिल सूरि के विद्वान् शिष्य आचार्य राजर्षि देव गुप्त सूरि द्वारा अपने गुरु के नाम पर स्थापित किये गये "हारिल गच्छ"[1] के छठे पट्टधर तत्वाचार्य के दर्शन-प्रवचन-श्रवण एव ससर्ग का राजकुमार उद्योतन को सुअवसर मिला। तत्वाचार्य के उपदेशो से राजकुमार उद्योतन को इस शाश्वत सत्य का बोध हुआ कि इस निस्सार क्षण भगुर जगत् मे आध्यात्मिक साधना ही सार भूत है। आध्यात्मिक साधना के द्वारा ही जन्म-जरा-मृत्यु, आधि-व्याधि आदि असख्य आदि अन्तविहीन दु खो के सागर ससार को पार कर उन सब प्रकार के दु खो से सर्वदा के लिये छुटकारा प्राप्त किया जा सकता है और इस प्रकार की अमृतत्व प्रदायिनी आध्यात्मिक साधना एकमात्र

[1] हारिल्ल गच्छ के परिचय के लिये देखिये प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ ४४६–४४७

मानव जन्म मे ही समीचीन रूप से सिद्ध की जा सकती है। ऐसे अनमोल मानव भव को, कभी तृप्त न होने वाली विषय-वासनामयी भोग लिप्सा मे खो देना वस्तुत चिन्तामणि रत्न को ओर-छोर विहीन अथाह दल-दल से ओत-प्रोत अन्धकूप मे फेंक देने तुल्य महामूर्खतापूर्ण कृत्य ही होगा।

इस प्रकार बोधि लाभ होते ही राजकुमार उद्योतन को ससार से विरक्ति हो गई। उन्होने अथक् प्रयास कर माता-पिता से श्रमण धर्म मे दीक्षित होने की अनुज्ञा प्राप्त की। राजकुमार उद्योतन ने राजकीय ऐश्वर्य, भोगोपभोग, पारिवारिक मोह-ममत्व आदि का तृणवत् त्याग कर तत्वाचार्य के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली।

श्रमण धर्म मे दीक्षित होने के पश्चात् मुनि उद्योतन ने अपने गुरु तत्वाचार्य की सेवा मे रहते हुए शास्त्रो का अध्ययन किया। अपने मेधावी शिष्य उद्योतन मुनि की कुशाग्र बुद्धि और उत्कट ज्ञान पिपासा से प्रभावित हो तत्वाचार्य ने उन्हे अपने समय (विक्रम की आठवी-नौवी शताब्दी) के जैन सिद्धातो के उच्चकोटि के यशस्वी विद्वानो के पास अध्ययन हेतु भेजने का निश्चय किया। निश्चयानुसार तत्वाचार्य ने मुनि उद्योतन को जैन आगमो के उस काल के महान् ज्ञाता वीरभद्र सूरि के पास भेजा। वीरभद्र सूरि की सेवा मे रहकर मुनि उद्योतन ने जैन सिद्धातो का तल-स्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया। तदनन्तर तत्वाचार्य ने उद्योतन मुनि को न्याय शास्त्रो का अध्ययन करने के लिये दर्शन और न्याय शास्त्र के उद्भट विद्वान् याकिनी महत्तरा-सूनु भव विरह-हरिभद्र सूरि की सेवा मे भेजा। अपने समय के अप्रतिम न्याय शास्त्री, बहुमुखी ज्ञान के धनी हरिभद्र सूरि के चरणो की सन्निधि मे रहकर मुनि उद्योतन ने युक्तिशास्त्रो (न्याय शास्त्रो) के अध्ययन के साथ-साथ अन्य अनेक विषयो का बडी ही लगन एव निष्ठा के साथ अध्ययन किया। अपना अध्ययन समाप्त करने के पश्चात् जब उद्योतन सूरि ने "कुवलय माला" नामक ग्रन्थरत्न की रचना की तो उसकी प्रशस्ति मे इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया है कि उन्होने हरिभद्र सूरि के सान्निध्य मे रहकर न्याय शास्त्रो और सिद्धातो का अध्ययन किया। वह प्रशस्ति गाथा इस प्रकार है —

"सो सिद्धतेण गुरु, जुत्तिसत्थेहिं जस्स हरिभट्टो।
बहुसत्थगथवित्थर-पत्थारियपयड सच्चत्थो॥"[१]

अर्थात् हरिभद्र सूरि ने मुझे दर्शन शास्त्रो की शिक्षा दी, इसलिये सिद्धातत मेरे गुरु है। उन महान् आचार्य हरिभद्र सूरि ने आगम शास्त्रो एव ग्रन्थो पर व्याख्या एव वृत्तियो की कई रचनाए की। साथ ही दर्शन न्याय, दार्शनिक ग्रन्थो,

[१] कुवलय माला प्रशस्ति, गाथा सख्या १५

आचार ग्रथो, स्तुत्यात्मक ग्रन्थो आदि अनेक विषयो के ग्रन्थो का निर्माण कर अपनी इस विपुल-विशाल ग्रन्थराशि से शाश्वत सत्य पर प्रकाश डाला।

ऐतिहासिक दृष्टि से भी उद्योतन सूरि की यह गाथा बडी महत्त्वपूर्ण है। हरिभद्र सूरि के समय के सम्बन्ध मे जो मान्यता भेद सुदीर्घकाल से चला आ रहा था, उस विवादास्पद समस्या का समुचित समाधान करने एव उनके वास्तविक समय के निर्धारण मे यह गाथा सर्वाधिक सहायक सिद्ध हुई है। इस गाथा से यह ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश मे आता है कि शक स० ६९९ (तदनुसार वीर नि० स० १३०४, वि० स० ८३४ और ई० सन् ७७७) मे प्राकृत कथा साहित्य के लोकप्रिय ग्रन्थ "कुवलय माला" की रचना करने वाले उद्योतन सूरि ने हरिभद्र सूरि की सन्निधि मे रहकर दर्शन शास्त्र का अध्ययन किया और इस प्रकार हरिभद्रसूरि और उद्योतन सूरि गुरु-शिष्य होने के कारण कुछ समय के लिये समकालीन रहे है।

उद्योतन सूरि ने "कुवलय माला" की रचना जालोर नगर स्थित भगवान् ऋषभदेव के मन्दिर मे, शालिवाहन शक सवत्सर के समाप्त होने मे जब केवल एक दिन अवशिष्ट रहा था, तब चैत्र वदी १४ के दिन तृतीय प्रहर मे, सम्पन्न की। उद्योतन सूरि ने यह सब विवरण प्रस्तुत करते हुए अपने ग्रन्थ कुवलय माला की प्रशस्ति मे लिखा है कि जिस समय जालौर मे श्रीवत्स राजा का राज्य था उस समय उन्होने इस ग्रथ की रचना की। पुन्नाट सघीय आचार्य जिन सेन ने अपने ग्रन्थ हरिवश पुराण की प्रशस्ति के श्लोक सख्या ५२ मे वत्सराज का नामोल्लेख किया है। उन्होने लिखा है कि वर्द्धमानपुर की नन्नराज वसति के भगवान् पार्श्वनाथ के मन्दिर मे शक सवत्सर ७०५ मे अपने ग्रन्थ हरिवश पुराण की रचना सम्पन्न की। उस समय उत्तरी भारत पर इन्द्रायुध का, दक्षिणापथ पर राष्ट्रकूट वशीय राजा कृष्ण के पुत्र श्री वल्लभ (गोविंद द्वितीय) का, पूर्वी भारत पर अवन्ति राज वत्स-राज का और पश्चिमी भारत के सौराष्ट्र पर वीर जयवराह राजा का शासन था।

हरिवश पुराण की प्रशस्ति से उद्योतन सूरि के इस उल्लेख की पुष्टि के साथ-साथ यह एक ऐतिहासिक तथ्य प्रकाश मे आता है कि शक स० ७०५ तदनुसार वि० स० ८४० मे उपरि नामोल्लिखित सभी राजा समकालीन थे और अवन्ति के राजा वत्स का जालोर तक राज्य था। अवन्ति नरेश वत्सराज प्रतिहार वशी राजा था।

कुवलय माला की प्रशस्ति मे ऐतिहासिक महत्त्व के और भी अनेक तथ्यो का उल्लेख किया गया है। उन ऐतिहासिक तथ्यो मे से हूणराज तोरराय (तोरमाण) के पव्वइया (पार्वतिका) नामक राजधानी मे रहते हुए शासन करने, तोरमाण के हारिल सूरि का भक्त उपासक बनने, हारिल गच्छ की उत्पत्ति, हारिल गच्छ के आचार्यो द्वारा किये गये जिनशासन प्रभावना के कार्यो का विवरण आदि तथ्यो का विस्तृत विवरण हारिल सूरि के एव हारिल गच्छ के परिचय मे दिया जा चुका है।

कुवलय माला की प्रशस्ति अनेक दृष्टियो से बडी महत्त्वपूर्ण है, अत उसके ऐतिहासिक महत्त्व के कतिपय अश यहा उद्धृत किये जा रहे है —

अत्थि पुहई–पसिद्धा, दोण्णिपहा दोण्णि चेय देसत्ति।
तत्थत्थि पह णामेण उत्तरा बुह — जणाइण्ण ।।४।।
सुइ–दिय–चारु–सोहा, वियसिय कमलाणणा विमल देहा।
तत्थत्थि जलहि—दइया, सरिया अह चन्दभायत्ति ।।५।।
तोरम्मि तीय पयडा, पव्वइयाणाम रयण सोहिल्ला।
जत्थ ट्टिटएण भुत्ता, पुहई सिरि तोररायण ।।६।।
तस्स गुरु हरिउत्तो, आयरिओ आसि गुत्त वसाओ।
तीए णयरीए दिप्पो, जेण णिवेसो तहि काले ।।७।।
तस्सविसिसो पयडो, महाकई देव उत्त – णामो त्ति।
(तस्स उण) सिवचन्द गणी, अह महयरो त्ति ।।८।।
सो जिणवन्दण हेउ, कह वि भमन्तो कमेण सम्पत्तो।
सिरि–भिल्लमाल–णयरम्मि, सठिओ कप्प रुक्खो व्व ।।९।।
तस्स खमासमण-गुणो, णामेण य जक्ख दत्त गणिणामो।
सीसो महइ-महप्पा, असि तिलोए वि पयड जसो ।। १० ।।
तस्य य बहुया सीसा तव–वीरिय–वयण लद्धि सपण्णा।
रम्मो गुज्जर–देसो जेहि कओ देवहरएहि ।। ११ ।।
णागो विदो मम्मड, दुग्गो आयरिय–अग्गिसम्मो य।
छट्ठो बडेसरो छम्मुहस्स वयण व्व से आसि ।। १२ ।।
आगासवण्ण णयरे, जिणालय तेण णिम्मविय रम्म।
तस्स मुह दसणे विय, अवि पसमइ जो अहव्वो वि ।। १३ ।।
तस्स वि सीसो अण्णो, तत्तायरिओ त्ति णाम पयड गुणो।
आसि तव–तेय–णिज्जिय, पावतम्मोहो दिणयरो व्व ।। १४ ।।
जो दूसम–सलिल–पवाह–वेग–हीरत–गुण सहस्साण।
सीलग–विउल-सालो, लक्खण रुक्खो व्व णिक्कपो ।। १५ ।।
सीसेण तस्स एसा, हिरिदेवी–दिण्ण–दसण–मणेण।
रइया कुवलयमाला, विलसिय–दक्खिण–इन्धेण ।। १६ ।।

[शिक्षा-गुरु]

दिण्ण जहिच्छिय–फलओ, बहु–कित्ती–कुसुम–रेहिराभोओ।
आयरिय वीरभद्दो, अथावरो कप्परुक्खो व्व ।। १७ ।।
सो सिद्धन्तेण गुरु जुत्ती–सत्थेहि जस्स हरिभद्दो।
वहु सत्थ गन्थ वित्थर–पत्थारिय–पयड–सव्वत्थो ।। १८ ।।

[वश परिचय]

आसि तिकम्माभिरओ, महादुवारम्मि खत्तिओ पयडो।
उज्जोयणो त्ति णाम, तच्चिय परि भु जिरे तइया ।। १६ ।।
तस्स वि पुत्तो सपइ, णामेण बडेसरो त्ति पयडगुणो ।
तस्सुज्जोयण णामो, तणओ अह विरइया तेण ।। २० ।।

[ग्रन्थ–प्रणयन–स्थल]

तु गमल घ जिण–भवण–मणहर सावयाउक विसम।
जावालिउर अट्ठावय व अह अत्थि पुहई ए ।। २१ ।।
तुङ्ग धवलमणहारि–रयण–पसरत धयवडाडोय।
उसभ जिणिदाययण कराविय वीर भद्देण ।। २२ ।।
तत्थ ठिएण अह चोद्दसीए तेतस्स कण्ह पक्खम्मि।
णिम्मविया बोहिकरी, भव्वाण होउ सव्वाण ।। २३ ।।
पर भउ–भिडडी–भगो, पणईयण–रोहिणी–कला–चदो।
सिरि वच्छराय णामो, रणहत्थी पत्थिवो जइया ।। २४ ।।
थोय–मइणा वि बद्धा, एसा हिरिदेवि वयणेण।
चद कुलावयवेण आयरिय उज्जोयणेण रइया मे ।। २५ ।।
सगकाले वोलीणे वरिसाण सयेहिं सत्तहिं गएहिं।
एग दिणेणूणेहिं, रइया अवरण्ह–वेलाए ।। २६ ।।[१]

"कुवलय माला" वस्तुत प्राकृत कथा साहित्य का उत्तम ग्रन्थ है। इसमे भाषा का प्रवाह कल-कल निनादी प्राकृतिक निर्झर के समान सहज स्वाभाविक और प्रसाद गुणोपेत है। दाक्षिण्य चिन्ह ने बडी दक्षता से सस्कृत, अपभ्र श आदि भाषाओ के प्रयोगो, सूक्तियो-सुभाषितो, प्रहेलिकाओ, देश-देशान्तरो मे वाणिज्य हेतु भ्रमण करने वाले कुशल व्यापारियो द्वारा बोल-चाल के समय व्यवहार मे लाये गये देश-देशान्तरो की बोलियो के सुन्दर शब्दो, वाक्यो आदि से अपनी इस सुन्दर कृति का शृ गार कर इसकी सुन्दरता मे चार चाद लगा दिये है। इसके रचनाकार उद्योतन सूरि पर अपने शिक्षा गुरु हरिभद्र की अमर कृति समराइच्च कहा का प्रभाव स्पष्टत. परिलक्षित होता है। कुवलय माला की भाषा, वर्णन शैली इस बात का प्रमाण है कि दाक्षिण्य चिन्ह आचार्य का अध्ययन बडा गहन था।

[१] कुवलय माला, सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, प्रथमावृत्ति, वि स २०१५, पृष्ठ २८२-२८३

इनके दो शिष्यो—श्रीवत्स और बलदेव को सघ द्वारा ज्येष्ठार्या विरुद से विभूषित किया गया था, इससे अनुमान किया जाता है कि उद्योतन सूरि के शिष्य भी परम प्रभावक थे ।[1]

उपरि लिखित गाथा सख्या १६ के द्वितीय चरण मे उल्लिखित "महा-दुवारम्मि खत्तियो पयडो" को देखकर हठात् प्रत्येक पाठक को इस प्रकार की शका होना सम्भव है कि उद्योतन कोई राजा नही अपितु साधारण क्षत्रिय ही थे । इस शका का निवारण इस गाथा के तृतीय और चतुर्थ चरण को पढते ही हो जाता है। शब्द-सयोजना थोडी क्लिष्ट है, इसलिये प्राकृत भाषा का सम्यक्-बोध न होने की दशा मे इस प्रकार की शका का उत्पन्न होना सम्भव है । इसी कारण इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है ।

"उज्जोयणो त्ति णाम, तच्चिय परिभु जिरे तइया ।" इस अन्तिम गाथार्द्ध को प्रथम गाथार्द्ध के साथ पढने से इस गाथा का अर्थ इस प्रकार होगा —

"महाद्वार नामक नगर मे न्याय, नीति और धर्म इन तीनो कर्त्तव्यो का अक्षुण्ण रूप से पालन करने वाला उद्योतन नामक लोक प्रसिद्ध क्षत्रिय था । वह उद्योतन क्षत्रिय उस समय उस महाद्वार राज्य का उपभोग कर रहा था, अर्थात् महाद्वार राज्य का राजा था ।"

इससे राजा उद्योतन के पौत्र और राजा बटेश्वर के पुत्र उद्योतनसूरि वस्तुत राजकुमार थे, इसमे किसी प्रकार की शका का अवकाश नही रह जाता ।

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग ३, पृष्ठ ४४७ देखें ।

ा र्य जिनसेन (पुन्नाटसंघ)

विक्रम की ९वी शताब्दी मे दिगम्बर परम्परा मे अनेक प्रभावक और महान् ग्रन्थकार आचार्य हुए हैं, जिन्होने अनेक अमर कृतियो की रचना कर जैन साहित्य को समीचीनतया समृद्ध किया। उन महान् ग्रन्थकार आचार्यो मे पुन्नाट सघ के आचार्य जिनसेन का नाम अग्रगण्य है। पुन्नाटसघीय आचार्य जिनसेन का हरिवश पुराण नामक एक ही ग्रन्थ उपलब्ध होता है किन्तु यह एक बडा ही महत्त्व-पूर्ण ऐसा ग्रन्थरत्न है, जिसको दिगम्बर परम्परा मे इसके रचनाकाल से ही आगम-तुल्य माना गया है।

आचार्य जिनसेन ने अपने इस ग्रन्थ की प्रशस्ति मे इसके रचनाकाल का उल्लेख करते हुए लिखा है —

> शाकेष्वब्द शतेषु सप्तसु दिश पञ्चोत्तरेषूत्तरा,
> पातीन्द्रायुध नाम्नि कृष्णनृपजे श्री वल्लभे दक्षिणाम्।
> पूर्वां श्रीमदवन्तिभूभृति नृपे वत्सादि राजे परा,
> सौराणामधिमण्डल जययुते वीरे वराहेऽवति ।।५२।।
> कल्याणै परिवर्द्धमानविपुले श्री वर्द्धमाने पुरे,
> श्री पार्श्वालय नन्नराज वसतौ पर्याप्तशेष पुरा।
> पश्चाद्दोस्तटिका प्रजाप्रजनित प्राज्यार्चनावर्जने,
> शाते शातगृहे जिनस्य रचितो वशो हरीणामयम् ।।५३।।

अर्थात्—शक स० ७०५ तदनुसार वि० स० ८४० मे, जिस समय कि उत्तरी भारत पर इन्द्रायुध का शासन था, महाराजा कृष्ण (प्रथम) का पुत्र महा-राजा श्रीवल्लभ (गोविन्द द्वितीय) दक्षिणापथ मे शासन कर रहा था, अवन्ति नरेश वत्सराज का पूर्व दिशा पर राज्य था और राजा वीर जय वराह भारत के पश्चिमी प्रदेश सौरो के अधिमण्डल सौराष्ट्र पर शासन कर रहा था, उस समय विपुल स्वर्णराशियो से समृद्ध (सभी भाति पूर्णत श्रीसम्पन्न) वर्द्धमान (वर्तमान बढवाण) नगर मे, नन्नराज-वसति के नाम से विख्यात भगवान् पार्श्वनाथ के मदिर मे इस हरिवश पुराण नामक ग्रथ को प्रारम्भ कर दोस्तटिका (बढवाण से गिरि-नगर–पगरनार मार्ग पर अवस्थित दोत्तडि) ग्राम के प्रजा द्वारा भक्तिसहित सुचारु रूप से पूजित-अर्चित भगवान् शातिनाथ के मदिर मे उसे पूर्ण किया।

हरिवश पुराण की यह प्रशस्ति ऐतिहासिक दृष्टि से बडी ही महत्त्वपूर्ण है क्योकि इसमे विक्रम की नौवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे उत्तरी भारत, दक्षिणी भारत,

पूर्वी भारत और पश्चिमी भारत—इस प्रकार सम्पूर्ण भारत के शक्तिशाली राजवशो के महाराजाओ का नामोल्लेख किया गया है। प्रशस्ति मे नामाकित भारत की चारो दिशाओ के चारो प्रमुख शासको मे से दक्षिण का राष्ट्रकूटवशीय महाराजा श्री वल्लभ अपर नाम गोविन्द (द्वितीय) और पूर्वी भारत के शासक अवन्ति नरेश वत्सराज (जिसको इस प्रशस्ति मे वर्णित राष्ट्रकूटवशीय राजा श्रीवल्लभ के भ्राता ध्रुवराज ने परास्त कर उससे अवन्ति का राज्य छीन लिया था)—ये दोनो ही शासक इतिहास-प्रसिद्ध महाराजा हैं। उत्तरी भारत के शासक इद्रायुध किस राजवश का था, इस सम्बन्ध मे इतिहासज्ञ अद्यावधि सर्वसम्मत निर्णय नही कर पाये हैं। यशस्वी इतिहासविद् स्व० श्री हीराचन्द ओझा ने इद्रायुध को राठौडवशीय राजा और स्व० चितामणि विनायक वैद्य ने भण्डि कुल (वर्म वश) का होना अनुमानित किया है। इसी प्रकार पश्चिमी भारत के शासक जयवराह के सम्बन्ध मे भी इतिहासज्ञ अद्यावधि निश्चित नही कर पाये है कि वह चालुक्य राजवश का शासक था या चावडा वश का ?

हरिवश पुराण मे आचार्य जिनसेन (पुन्नाट सघी) ने मुख्य रूपेण महायशस्वी हरिवश की यादव शाखा के वर्णन के साथ-साथ विशेषत यादवकुल के तिलक बावीसवें तीर्थङ्कर भगवान् अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) और नौवे नारायण (वासुदेव) श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन किया है। हरिवशपुराणकार ने महाभारत के अतिविशाल कथानक को भी इसी मे समाविष्ट कर लिया है। वर्णनशैली अतीव मर्मस्पर्शी मनोहारी और बडी ही रोचक है। इसमे अतिशय-प्रौढता, प्राजलता और प्रासादिकता आदि महाकाव्य के सभी लक्षण विद्यमान है। सभी रसो का इसमे बडी शालीनता से समावेश किया गया है।

हरिवश पुराण की सबसे बडी विशेषता यह है कि इसमे श्रमण भगवान् महावीर से लेकर स्वय (जिनसेन पुन्नाट सघीय) तक की अविच्छिन्न गुरु परम्परा दी गई है। दिगम्बर परम्परा की पट्टावलियो मे इस गुरु परम्परा पट्टावली को सर्वाधिक सुसम्बद्ध और अविच्छिन्न पट्टावली कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति नही होगी।[1] इस गुरु परम्परा मे एक बडी ही महत्त्वपूर्ण बात कही गई है। वह यह है कि आचार्य शिवगुप्त ने अपने गुणो के प्रभाव से "अर्हद्बलि" पद प्राप्त किया। इससे सघ विभाजन करने वाले दिगम्बराचार्य अर्हद्बलि के सम्बन्ध मे अग्रेतर शोध मे सहायता मिल सकती है।

यो तो अपनी गुरु परम्परा का जिनसेनाचार्य ने अपनी विशाल कृति हरिवश पुराण मे विस्तारपूर्वक क्रमबद्ध परिचय प्रस्तुत किया है। तथापि अपने प्रगुरु, गुरु आदि का गुणकीर्तन के साथ ग्रन्थ-प्रशस्ति[2] मे निम्नलिखित रूप मे दिया है —

---

[1] विशिष्ट जानकारी के लिये देखिये "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग ३", पृष्ठ ७४० से ७४२।

[2] हरिवशपुराण की प्रशस्ति, श्लोक स० २६–३३।

"षट्खण्डागमादि सिद्धात शास्त्रो के विशेषज्ञ, कर्मप्रकृति के तलस्पर्शी ज्ञान को हृदयगम कर आत्मकल्याण के लिये श्रेयस्कर उसके सारभूत तत्त्वज्ञान को अपने जीवन की दैनन्दिनी मे ढालने वाले इन्द्रिय जयी जयसेनाचार्य उनके प्रगुरु थे। जयसेन के शिष्य अमितसेन पुन्नाट सघ के उनके पट्टधर आचार्य हुए। आचार्य अमितसेन जैन सिद्धान्तो के पारदृश्वा विद्वान् और अपने समय के विख्यात वैयाकरणी थे। वे दीर्घजीवी अर्थात् सौ वर्ष की आयुष्य वाले एव जिनशासन प्रभावक तथा उग्रतपस्वी थे। आचार्य अमितसेन ने श्रद्धालु जिज्ञासुओ को शास्त्रो का ज्ञान प्रदान कर अपनी अद्भुत दानशीलता का परिचय दिया। उन आचार्य अमितसेन के ज्येष्ठ गुरुभ्राता का "यथा नाम तथा गुणा" की सूक्ति को चरितार्थ करने वाला नाम मुनि कीर्तिषेण था। वे कीर्तिषेण मुनि महान् तपस्वी, शात, दान्त और बडे मेधावी थे। आचार्य अमितसेन के ज्येष्ठ गुरुभाई उन्ही कीर्तिषेण मुनि के प्रमुख शिष्य जिनसेन ने शाश्वत शिवसुख के स्वामी भगवान् अरिष्टनेमि के प्रति प्रगाढ श्रद्धाभक्ति से प्रेरित हो इस हरिवशपुराण नामक ग्रन्थ की रचना की।

वस्तुत आचार्य जिनसेन का हरिवशपुराण जैन धर्म के पुरातन इतिहास और धर्म मे अभिरुचि रखने वाले जिज्ञासुओ की ज्ञानपिपासा को शात करने मे बडा सहायक ग्रथरत्न है।

पुन्नाट सघ दक्षिण भारत के कर्णाटक प्रदेश का धर्म सघ था, यह सुनिश्चित रूप से कहा जा सकता है क्योकि श्रवण बेल्गोल स्थित पार्श्वनाथ वसति के लगभग शक स ५२२ के वहा के सर्वाधिक प्राचीन शिलालेख स १ के अनुसार द्वितीय भद्रबाहु अपने शिष्यसघ के साथ दक्षिणापथ के कर्णाटक प्रदेश मे कटवप्र नामक स्थान पर गये थे।[1] उस समय पुन्नाट प्रदेश की राजधानी कित्तूर मे थी इसी कारण पुन्नाट प्रदेश को कित्तूर-कटवप्र के नाम से अभिहित किया जाता था। पुन्नाट प्रदेश के ये आचार्य जिनसेन अप्रतिहत विहार करते हुए सभवत गिरनार की यात्रार्थ आये हो। उसी समय उन्होने हरिवशपुराण की रचना की। आप, जयधवला और आदि पुराण के रचनाकार पचस्तूपान्वयी जिनसेनाचार्य के समकालीन थे।

[1] जैन शिलालेख सग्रह, भाग १ पृष्ठ स १, शिलालेख स १

कृष्णर्षि गच्छ

कृष्णर्षि गच्छ थारपद्र (बटेश्वर) गच्छ की ही शाखा के रूप मे उदित हुआ। विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे किसी समय हारिल गच्छ के महा तपस्वी कृष्णर्षि ने अपने नाम पर कृष्णर्षि गच्छ की स्थापना की।

इस गच्छ के सस्थापक कृष्णर्षि, कुवलयमालाकार उद्योतनसूरि के गुरु भ्राता तथा हारिल गच्छ के छठे आचार्य तत्वाचार्य के शिष्य यक्ष महत्तर के शिष्य थे।

आचार्य कृष्णर्षि बडे ही तपस्वी थे। इनके सम्बन्ध मे कहा जाता है कि इनका तपस्या का क्रम निरन्तर चलता ही रहता था। एक वर्ष मे ये केवल ३४ ही पारणक (भोजन ग्रहण) किया करते थे। एक महीना और चार दिन के अतिरिक्त शेष १० मास और २६ दिन घोर निराहार तपस्या मे ही व्यतीत होते थे। इस प्रकार के घोर तपश्चरण के कारण कृष्णर्षि को अनेक प्रकार की सिद्धिया स्वत ही प्राप्त हो गई थी। कुलगुरुओ की बहियो के उल्लेखानुसार कृष्णर्षि ने शक स० ७१९ तदनुसार वि० स० ८५४ मे नागोर के श्रेष्ठि नारायण को जैन धर्मावलम्बी बनाकर ओसवालो के बरडिया गोत्र की स्थापना की। इस श्रेष्ठी नारायण ने कृष्णर्षि की प्रेरणा से नागौर नगर मे एक जिनमन्दिर बनवा कर उसमे भ महावीर की मूर्ति की प्रतिष्ठापना करवाई। कृष्णर्षि ने इस मन्दिर की सुव्यवस्था एव सुरक्षा के लिये ७२ गण्यमान्य श्रावको की एक व्यवस्था समिति का गठन करवाया।

इस प्रकार की स्थिति मे अनुमान किया जाता है कि कृष्णर्षि ने विक्रम की ९वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध मे किसी समय कृष्णर्षि गच्छ की स्थापना की।

इन्ही कृष्णर्षि के शिष्य आचार्य जयसिंहसूरि ने आमराज के पौत्र ग्वालियर के राजा भोजदेव के शासन काल मे वि स ९१५ की भाद्रपद शुक्ला ५ के दिन ९८ गाथात्मक धर्मोपदेश माला और उस पर ५७७८ श्लोक प्रमाण स्वोपज्ञ वृत्ति की रचना कर उसकी प्रशस्ति मे थारपद्र गच्छ के सस्थापक एव हारिल गच्छ के आचार्य वटेश्वर सूरि से लेकर अपने (आचार्य जयसिह के) समय तक की पट्ट-परम्परा दी है।

कृष्णर्षि ने अनेक अजैनो को जैन एव श्रद्धालु श्रावक बनाया। इन्होने तीर्थंकरो की कल्याणक भूमियो की यात्राए की, अनेक सघ-यात्राए आयोजित करवाई, इनकी प्रेरणा से अनेक मन्दिर बने और इस प्रकार कृष्णर्षि ने जैन धर्म का उल्लेखनीय प्रचार-प्रसार किया।

—*—

भट्टारक परम्परा के महान् ग्रन्थकार
ार्य वीर े

विक्रम की नौवी शताब्दी मे सेन गण-पचस्तूपान्वयी सघ के एक महान् टीकाकार एव ग्रन्थकार जिनसेन ने अपनी महान् कृतियो—धवला और जय धवला की रचना द्वारा जिनशासन की प्रभावना के साथ-साथ जैन वाग्मय की महती सेवा कर अक्षय कीर्ति अर्जित की। पचस्तूपान्वयी परम्परा से भिन्न परम्परा के आचार्यो एव अग्रगण्य ग्रन्थकारो ने भी आपकी कवित्वशक्ति तथा आपके प्रकाण्ड पाण्डित्य की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है। पुन्नाटसघीय आचार्य जिनसेन ने श्री वीरसेन आचार्य को कवियो मे सार्वभौम सम्राट् चक्रवर्ती की उपमा देते हुए हरिवश पुराण मे लिखा है —

जितात्मपरलोकस्य, कवीना चक्रवर्तिन ।
वीरसेन गुरोर्कीर्तिरकलका बभासते ॥३९॥

पुन्नाट सघीय भट्टारक जिनसेन के शिष्य गुणभद्र ने धवलाकार वीरसेन भट्टारक को प्रतिवादियो के मद को, अह को चूर्णित-विचूर्णित कर देने वाला और ज्ञान तथा चारित्र के सारभूत श्रेष्ठतम परमाणुओ से निर्मित अथवा सशरीर साक्षात् ज्ञान और चारित्र की प्रतिमूर्ति बताते हुए इनकी प्रशसा मे कहा है —

तत्र वित्रासिताशेष प्रवादिमदवारण ।
वीरसेनाग्रणी वीरसेन भट्टारको बभौ ॥३॥

।

ज्ञानचारित्रसामग्रीमग्रहीदिव विग्रहम् ॥४॥ उत्तर पु प्रशस्ति।

वीरसेन के शिष्य जयधवलाकार ने अपने इन गुरु की ज्ञान-गरिमा की श्लाघा करते हुए लिखा है —

यस्य नैसर्गिकी प्रज्ञा, दृष्ट्वा सर्वार्थगामिनी ।

जाता सर्वज्ञ सवादे, निरारेका मनीषिण ॥ २१ ॥ जय ध प्रशस्ति।

अर्थात्—निगूढतम, गहनतम विषयो अथवा प्रश्नो का यथातथ्य-रूपेण निरूपण कर देने वाली वीरसेन की स्वाभाविकी ज्ञानगरिमा अथवा मेधाविता को देख कर किसी भी विचारक मनीषी को सर्वज्ञ-सर्वदर्शी केवलज्ञानी की सत्ता मे

किसी प्रकार की शका नही रह जाती । उसे दृढ विश्वास हो जाता है कि ससार मे सुनिश्चित रूप से सर्वज्ञ हुए है, होते हैं और होगे ।

आचार्य वीरसेन ने धवला की प्रशस्ति के "तह णत्तुवेण पचथूहण्णयभाणुणा मुणिणा" इस श्लोकार्द्ध मे अपने आपको पचस्तूपान्वयी बताया है । इनके प्रशिष्य गुणभद्र के शिष्य लोकसेन ने उत्तरपुराण की प्रशस्ति के दूसरे श्लोक मे "महापुरुषरत्नाना, स्थान सेनान्वयो जनि ।" इस पद से अपनी गुरु परम्परा को सेन परम्परा बताया है ।

"भट्टारक सम्प्रदाय" नामक ग्रन्थ के रचनाकार प्रोफेसर जोहरापुरकर के अभिमतानुसार सेन गण और पुन्नाट सघ–ये दो आम्नाय भट्टारक परम्परा के प्राचीनतम स्वरूप है । सेन गण से सम्बन्धित प्रशस्तियो और अन्य उल्लेखो पर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि सेनगण का पूर्व रूप पचस्तूपान्वय था । पचस्तूपान्वय का सम्बन्ध मथुरा के पाच स्तूपो से है अथवा नही यह प्रश्न शोध की अपेक्षा रखता है । अपने ग्रन्थ "भट्टारक सम्प्रदाय" के लेख स ११ और १२ का उल्लेख करते हुए श्री जोहरापुरकर ने सिद्ध किया है कि सन गण के साथ इसके पोगरि गच्छ का उल्लेख प्राचीन अभिलेखो मे उपलब्ध होता है । इनसे उत्तरवर्तीकाल के लेख सख्या २१, २४ और ३२ मे पोगरि गच्छ का नाम "पुष्कर गच्छ" ने ले लिया है । "पुष्कर गच्छ"–इस सस्कृत शब्द का ही पोगरि गच्छ कन्नडी भाषा मे रूपान्तर है । आन्ध्र प्रदेश मे पोगरि नामक एक स्थान है । इस पोगरि गच्छ अथवा पुष्कर गच्छ का सम्बन्ध राजस्थान प्रदेशवर्ती पुष्कर से है अथवा आन्ध्र प्रदेश के पोगरि स्थान से, इस विषय मे अनुसन्धान की आवश्यकता है ।[1]

इन्द्रनन्दि ने अपनी कृति "श्रुतावतार" मे अर्हद्बलि द्वारा किये गये सघ विभाजन के समय ही पच स्तूपो के स्थान से आये हुए सेन और भद्र नामक आचार्यद्वय से सेन गण की उत्पत्ति बताने वाले एक अज्ञातकर्तृक श्लोक को उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है —

> आयातौ नन्दिवीरौ प्रकटगिरिगुहावासतो शोकवाटा-
> द्देवाश्चान्यो परार्दिजित इति यतिपौ सेन भद्राह्वयौ च ।
> पचस्तूप्यात्सगुप्तौ गुणधर वृषभ शाल्मलीवृक्षमूला-
> न्निर्यातौ सिंहचन्द्रौ प्रथितगुणगणौ केसरात्खण्डपूर्वात् ।।

इससे भी यह सिद्ध होता है कि सेन गण बहुत प्राचीन गण है और पचस्तूपो से आये हुए मुनियो मे से सेन मुनि के नाम पर यह गण प्रचलित हुआ, इसी कारण इसका दूसरा नाम पचस्तूपान्वय भी लोक मे प्रसिद्धि पाता रहा ।[2]

---

1 भट्टारक सम्प्रदाय (प्रो वी पी जोहरापुरकर) पृष्ठ २६
2 जैन धम का मौलिक इतिहास, भाग ३, पृष्ठ ७३८

पचस्तूपान्वयी आचार्य वीरसेन ने धवला की प्रशस्ति मे अपने आपको आचार्य चन्द्रसेन का प्रशिष्य और आर्य नन्दि (पचस्तूपान्वयी) का शिष्य बताते हुए लिखा है कि चित्रकूट पुर के एलाचार्य से षट्खण्डागम (महाकर्मप्रकृतिप्राभृत) नामक सिद्धान्त शास्त्र का अध्ययन किया। तदनन्तर अनेक सूत्रो, सिद्धान्त ग्रन्थो का अवलोकन कर एलाचार्य की प्रेरणा से षट्खण्डागम पर धवला टीका का वाटग्राम मे निर्माण प्रारम्भ किया। षट्खण्डागम पर वीरसेन से बहुत पूर्व अनेक टीकाए लिखी गई थी, जिनमे कुदकुदाचार्यकृत परिकर्म, शामकुडकृत पद्धति, तुम्बुलूराचार्यकृत चूडामणि, समन्तभद्रकृत टीका और बप्पदेव गुरु द्वारा कृत व्याख्याप्रज्ञप्ति नामक टीकाए प्रमुख थी। ईशा की तीसरी चौथी शताब्दी से ६ठी शताब्दी के बीच की अवधि मे निर्मित उन टीकाओ मे से वर्तमान मे एक भी टीका उपलब्ध नही है।

आचार्य वीरसेन ने बप्पगुरुदेव की षट्खण्डागम पर जो व्याख्या-प्रज्ञप्ति नाम की टीका थी, उसके आधार पर षट्खण्डागम की धवला नामक विशाल टीका का निर्माण किया। प्रशस्ति मे वीरसेन द्वारा किये गये उल्लेख के अनुसार उन्होने वि स ७३८ मे जगतुग देव के राज्य काल के पश्चात् (सम्भवत अमोघवर्ष प्रथम के शासनकाल मे) वाटग्राम मे कार्तिकशुक्ला त्रयोदशी के दिन धवला टीका की रचना सम्पन्न की। इस टीका के निर्माण मे आचार्य वीरसेन ने चूर्णिकारो की शैली को अपनाकर सस्कृत मिश्रित प्राकृत भाषा मे विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। धवला टीका कुल मिलाकर ७२ हजार श्लोक प्रमाण का विशाल ग्रन्थ है। धवला टीका का तीन चौथाई भाग प्राकृत मे और शेष भाग सस्कृत भाषा मे है। टीका की प्राकृत भाषा मुख्यतया शौरसेनी है। धवला का निर्माण ६ खण्डो मे किया गया है। इसकी शैली सुन्दर, सुबोधगम्य, परिमार्जित और प्रौढ है। इसमे छेदसूत्र, जीवसमास, सत्कर्मप्राभृत, पचत्थिपाहुड, कषायप्राभृत, सन्मतिसूत्र, त्रिलोक-प्रज्ञप्ति, तत्वार्थसूत्र, मूलाचार, दशकर्णिसग्रह अकलककृत तत्वार्थभाष्य आदि अनेक महत्वपूर्ण सैद्धान्तिक ग्रन्थो का उल्लेख किया गया है। आचार्य वीर सेन की इस धवला टीका मे श्वेताम्बर परम्परा द्वारा बहुमान्य आचाराग, वृहत्कल्पसूत्र, दशवैकालिक सूत्र, अनुयोग द्वार और आवश्यक निर्युक्ति आदि आगम एव आगमिक ग्रन्थो के अनेक उद्धरण दिये गये है। वीरसेन ने धवला मे नागहस्ति (श्वेताम्बरा-चार्य) के उपदेशो को "पवाइज्जत" अर्थात् आचार्य-परम्परागत बताया है और दूसरी ओर आर्य मक्षु (श्वेताम्बराचार्य आर्य मगु) के उपदेशो को अपवाइज्जत अर्थात् प्रचलन मे कोई महत्वपूर्ण स्थान नही रखने वाला बताया है। वीरसेन के इस प्रकार के उल्लेखो से यह एक नई बात प्रकट होती है कि आर्य मक्षु और आर्य नागहस्ति इन गुरुशिष्य आचार्यो मे कतिपय प्रकार के मान्यता भेद भी थे।

आर्य मक्षु के उपदेशो को आचार्य परम्परा द्वारा असम्मत एव प्रचलन मे नही आ रहे तथा आर्य नागहस्ति के उपदेशो को आचार्य परम्परा द्वारा सम्मत

एव प्रचलन मे आ रहे बता कर उनमे परस्पर मान्यता सम्बन्धी मतभेद की बात को प्रकट करने के साथ-साथ धवलाकार ने अपनी टीका मे स्थान-स्थान पर उत्तर प्रतिपत्ति और दक्षिण प्रतिपत्ति इन दो मान्यताओ का उल्लेख किया है। आपने दक्षिण प्रतिपत्ति को ऋजु (सरल) एव आचार्य परम्परागत और उत्तर प्रतिपत्ति को अनृजु (जटिल) तथा आचार्य परम्परागत से भिन्न माना है। यह उनका दक्षिणापथ एव उत्तरापथ की आचार्य परम्पराओ की ओर सकेत प्रतीत होता है।

आचार्य वीरसेन ने षट्खण्डागम के ६ खण्डो मे से प्रथम पाच खण्डो पर ही धवला टीका की रचना की है। छठे खण्ड का नाम महाबन्ध है, इसे महाधवल के नाम से भी अभिहित किया जाता है। षट्खण्डागम के इस छठे खण्ड महाबन्ध की रचना भूतबलि ने की है। महाबन्ध नामक इस छठे खण्ड का परिमाण ३० हजार श्लोक प्रमाण है।

आचार्य वीरसेन की दूसरी कृति

षट्खण्डागम पर ७२ हजार प्रमाण धवला नामक टीका का निर्माण सम्पन्न करने के पश्चात् आचार्य वीरसेन ने कषायपाहुड पर जयधवला नामक टीका का निर्माण करना प्रारम्भ किया। वे जयधवला टीका की २० हजार श्लोक प्रमाण ही रचना कर पाये थे कि उनका स्वर्गवास हो गया। इसकी पूर्णाहूति वीरसेन के पट्टधरशिष्य जिनसेन ने शक स ७५६ तदनुसार विक्रम स ८९४ मे की।

यह सयोग की ही बात है कि सेनगण मे लगातार तीन चार पीढियो तक विद्वान् ग्रन्थकार होते रहे और अपने गुरु द्वारा प्रारम्भ किये हुए पर दैववशात् अधूरे रहे हुए कार्य को शिष्य पूरे करते रहे। वीरसेन ने जयधवला की रचना प्रारम्भ कर दी थी किन्तु वे २० हजार श्लोक प्रमाण ही इस टीका का निर्माण कर पाये थे कि उनका स्वर्गवास हो गया और उनके शिष्य जिनसेन ने ४० हजार श्लोकप्रमाण उससे आगे की टीका की रचना कर अपने गुरु वीरसेन द्वारा प्रारम्भ किये हुए कार्य को पूर्ण किया।

इसी प्रकार आचार्य जिनसेन ने पार्श्वाभ्युदय, जयधवला आदि के निर्माण के अनन्तर महापुराण की रचना प्रारम्भ की। महापुराण का पूर्वार्द्ध 'आदि-पुराण' वे सम्पूर्ण नही कर पाये थे कि उनका स्वर्गारोहण हो गया। जिनसेन ने आदि पुराण के ४७ पर्व और बारह हजार श्लोको मे से ४२ पर्व पूर्ण और ४३वें सर्ग के केवल ३ श्लोक ही लिखे थे। शेष चार पर्वो के १६२० श्लोक उनके विद्वान् शिष्य गुणभद्र ने लिखकर आदि पुराण को पूर्ण किया और महापुराण के उत्तरार्द्ध उत्तर पुराण की रचना की। इस प्रकार गुणभद्र ने अपने गुरु जिनसेन के अपूर्ण रहे हुए कार्य को पूर्ण किया।

इसी प्रकार सम्भवत गुणभद्र भी उत्तर पुराण का थोडा सा अन्तिम अश और इसकी प्रशस्ति पूर्ण नही कर पाये थे कि उनका स्वर्गवास हो गया और उनके शिष्य लोकसेन ने उनके कुछ अशो मे अपूर्ण रहे हुए कार्य को पूर्ण किया ।

सिद्ध भू-पद्धति उत्तर पुराण की प्रशस्ति के निम्नलिखित श्लोक से —

सिद्ध भू पद्धतिर्यस्य, टीका सवीक्ष्य भिक्षुभि ।
टीक्यते हेलयान्येषा, विषमापि पदे-पदे ।।

यह प्रकट होता है कि भट्टारक वीरसेन ने सिद्धभूपद्धति–टीका नामक एक टीका ग्रन्थ की भी रचना की थी, जिसकी सहायता से जटिलतर गद्य-पद्यो के वास्तविक अर्थ को जिज्ञासु सहज ही हृदयगम कर सकते थे । किन्तु वर्तमान मे वह ग्रन्थ उपलब्ध नही है ।

वत्सराज-गुर्जर-मालवराज

वीर निर्माण की तेरहवी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थ चरण से लेकर चौदहवी शताब्दी की बीच की अवधि मे जालौर के राजसिंहासन पर वत्सराज नामक बडा शक्तिशाली राजा हुआ, जिसने सुविशाल अवन्ती राज्य पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया था। कुवलयमालाकार उद्योतनसूरि और हरिवशपुराणकार आचार्य जिनसेन के उल्लेखानुसार विक्रम की ९ वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध काल मे वत्सराज की भारत के शक्तिशाली राजाओ मे गणना की जाती थी। राष्ट्रकूटवशीय राजा कृष्ण (प्रथम) के दोनो पुत्र–गोविन्द द्वितीय (वल्लभ) और ध्रुव इस मालवा तथा जालोर के राजा वत्सराज के समकालीन थे।

वत्सराज का समय वस्तुत. राष्ट्रकूटवशीय राजाओ का उत्कर्ष काल था। ई० सन् ७३०–७३५ के बीच राष्ट्रकूट वश के शक्तिशाली राजा दन्तिदुर्ग (ई० ७३०–७५३) ने बादामी के चालुक्य राजा कीर्तिवर्मा को पराजित कर लगभग सम्पूर्ण चालुक्य–राज्य को अपने राज्य मे मिला मान्यखेट राज्य को अपने समय का सबसे शक्तिशाली राज्य बना दिया था। दन्तिदुर्ग के पश्चात् राष्ट्रकूट वश के ७वे राजा कृष्ण प्रथम और उसके दोनो पुत्रो–गोविन्द (द्वितीय) और ध्रुव–इन आठवें और ९वे राष्ट्रकूटवशीय राजाओ ने भी राष्ट्रकूट राज्य की सीमाओ एव शक्ति मे उत्तरोत्तर अभिवृद्धि ही की।

राष्ट्रकूटवश के इस शक्ति–सवर्द्धन का दुष्प्रभाव वत्सराज पर पडा। अनुमानत ई० सन् ७८७ के आस-पास राष्ट्रकूटवशीय राजा ध्रुव ने मालवराज वत्सराज पर एक शक्तिशाली बडी सेना के साथ आक्रमण किया। वत्सराज उस युद्ध मे ध्रुव से पराजित हुआ। वत्सराज को मालवे के राज्य से वचित होने के साथ-साथ मालवा छोडकर मरु प्रदेश की ओर पलायन करने के लिये बाध्य होना पडा। ध्रुव की दुर्द्धर्ष सैन्य शक्ति को देखकर वत्सराज को विश्वास हो गया कि अब मालवा राज्य पर पुन अपना आधिपत्य स्थापित करना तो दूर, मालवे मे रहना भी उसके लिये सर्वनाश का कारण हो सकता है, अत वह अपनी बची सेना के साथ अपने मालवा–गुजरात–राज्य की राजधानी जाबालिपुर (जालौर) लौट आया और वही रहकर जालौर का शासन करने लगा।

कर्णाटक के मन्ने नामक ग्राम से, शानभोग नरहरियप्प नामक एक व्यक्ति के अधिकार मे उपलब्ध शक स० ७२४ के ताम्र–शासन मे भी वत्सराज की ध्रुव से पराजय और मालवा छोडकर मरुधर प्रदेश की ओर पलायन का निम्नलिखित रूप मे उल्लेख है.—

घोरो धैर्यधनो विपक्षवनितावक्त्राम्बुजश्रीहरो,
हेला–स्वीकृत–गौड–राज्य–कमलान् चान्त प्रविश्याचिराद्,
उन्मार्गे मरु–मध्यम–प्रतिबलैर्यो वत्सराज बलै ।[1]

अर्थात्—राष्ट्रकूटवशीय राजा कृष्ण प्रथम के (गोविन्द द्वितीय से छोटे) पुत्र घोर–अपर नाम ध्रुव ने गौड राज्य पर अधिकार करने के पश्चात् मालवा पर आक्रमण किया और वत्सराज को युद्ध मे पराजित कर मरुभूमि की ओर भाग जाने के लिये बाध्य कर दिया ।

उद्योतनसूरि द्वारा रचित कुवलयमाला की प्रशस्ति के अनुसार शक सवत् ६९९ मे वत्सराज का जाबालिपुर पर शासन था। हरिवश पुराण की प्रशस्ति मे जिनसेन के उल्लेखानुसार शक स० ७०५ मे अवन्ति (मालव) राज्य पर वत्सराज का शासन था । इन दोनो ऐतिहासिक महत्व के उल्लेखो से यह प्रमाणित होता है कि शक स० ७०५ अर्थात् ई० सन् ७८३ तक वत्सराज का मालवा और जालौर इन दोनो ही राज्यो पर और ध्रुव के बडे भाई गोविन्द द्वितीय अपर नाम वल्लभ का प्राय सम्पूर्ण दक्षिणापथ पर अधिकार था । दूसरे शब्दो मे कहा जाय तो ध्रुव राष्ट्रकूट वश राजसिंहासन पर आरूढ नही हुआ था । इससे अनुमान किया जाता है कि ई० सन् ७८५ के आस-पास ध्रुव ने अपने बडे भाई गोविन्द द्वितीय को भीषण युद्ध मे हरा राज्य–च्युत और सोरब के छोटे से राज्य का स्वामी बनाकर राष्ट्रकूट राज्य पर अधिकार किया । राज्य की बागडोर सम्हालते ही ध्रुव ने अपने बडे भाई को युद्ध मे सहायता करने वाले शिवमार को बन्दी बनाया और पल्लवमल्ल से कर के रूप मे अनेक हाथी मगवा कर एक प्रकार से दण्डित किया । तत्पश्चात् ध्रुव ने अपना विजय अभियान प्रारम्भ किया । सर्वप्रथम उसने गौडो को युद्ध मे पराजित कर उन्हे अपना वशवर्ती बनाया । तत्पश्चात् विन्ध्य पर्वत को पार कर मालवा के राजा वत्सराज पर आक्रमण किया । इन सब कार्यो को सम्पन्न करने मे ध्रुव को वर्ष–डेढ वर्ष का समय तो कम से कम अवश्य ही लगा होगा । इन सब तथ्यो पर विचार करने पर अनुमान किया जाता है कि ध्रुव ने ई० सन् ७८७ के आस-पास वत्सराज को मालवा से जालोर की ओर पलायन करने के लिये बाध्य किया ।

मालवा मे अपनी पराजय के पश्चात् वत्सराज अपने जीवन के अन्त समय तक जालोर मे ही रहा । जैन सघ के साथ वत्सराज के बडे मधुर सम्बन्ध थे ।

---

[1] जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख सख्या १२३, पृ १२५

मराज—नागभट्ट द्वितीय

विक्रम की नौवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे आचार्य बप्पभट्टी का समकालीन एव परम भक्त आम नामक प्रतिहारवशीय राजा कन्नौज पर शासन करता था। आमराज अपने समय का महान् योद्धा और जैन धर्म के प्रति प्रगाढ श्रद्धा रखने वाला राजा था। इसने जैन धर्म के प्रचार-प्रसार एव अभ्युदय के लिये जो-जो कार्य किये उनका सक्षेप मे आचार्य बप्पभट्टी के परिचय मे उल्लेख किया जा चुका है। नागभट्ट (द्वितीय) और नागावलोक, इसी आमराज के अपर नाम थे।

आमराज (नागभट्ट) के पिता का नाम यशोवर्मन था। यशोवर्मन गुजरात के लाट प्रदेश का बडा शक्तिशाली राजा था। आमराज का बाल्यकाल बडी ही सकटापन्न स्थिति मे व्यतीत हुआ। इसका कारण यह था कि यशोवर्मन की एक रानी से जब आमराज का जन्म हुआ तो उसकी दूसरी रानी ने सौतिया डाह से प्रेरित हो यशोवर्मन को आमराज की माता के विरुद्ध भडका कर उसे लाट राज्य से निकलवा दिया। आमराज की माता निराश्रय हो अपने शिशु को लिये वन्य जीवन व्यतीत करने लगी। बप्पभट्टी के गुरु आचार्य सिद्धसेन ने जब उसे जगल मे निराश्रित देखा तो मोढेरा ग्राम के जैन सघ को कहकर आमराज और उनकी माता के भरण-पोषण की व्यवस्था करवाई। कुछ ही समय पश्चात् आमराज की सौतेली माता की मृत्यु हो जाने पर यशोवर्मन ने अपनी रानी और पुत्र की खोज करवा उन्हे पुन अपने राजप्रासाद मे बुलवा लिया।

विक्रम स० ८६० के आस-पास राष्ट्रकूट वश के दशवे राजा गोविन्द तृतीय (जगत्तुग) ने यशोवर्मन पर आक्रमण कर उससे लाट प्रदेश छीनकर[1] अपने गुजरात राज्य मे मिला लिया और अपने लघु भ्राता इन्द्र को गुजरात का राज्यपाल नियुक्त कर दिया।

गोविन्द तृतीय से पराजित होने और लाट प्रदेश के अपने राज्य के हाथ से निकल जाने पर यशोवर्मन कन्नौज की ओर बढा और वहा के चक्रायुध नामक राजा को मारकर स्वय कन्नौज के राज-सिंहासन पर बैठ गया। स्वाभिमानी आमराज की अपने पिता से किसी बात पर अनबन हो गई और वह कन्नौज से प्रच्छन्न रूप से निकल कर मोढेरा चला आया। मोढेरा ग्राम के बाहर एक मन्दिर मे मुनि बप्पभट्टी से उसकी भेट हुई। बप्पभट्टी उसे अपने गुरु के पास ले गये और गुरु ने नाम आदि

---

[1] लाट विजय के सम्बन्ध मे देखिये इसी ग्रन्थ का पृ० २६१

का परिचय पाते ही राजकुमार आमराज को पहचान लिया। आचार्यश्री ने आमराज से कहा कि वह उपयुक्त समय की प्रतीक्षा मे मोढेरा मे ही रहकर उनके पास और बप्पभट्टी के पास विद्याध्ययन करे।

आचार्य सिद्धसेन के निर्देशानुसार राजकुमार आमराज उनके पास रहकर विद्याध्ययन करने लगा। इस प्रकार आचार्यश्री के सान्निध्य मे बप्पभट्टी के ससर्ग मे रहते हुए राजकुमार आमराज के अन्तर्मन मे बप्पभट्टी के प्रति प्रगाढ अनुराग हो गया। आमराज ने आचार्यश्री और बप्पभट्टी की सेवा मे रहते हुए बडी निष्ठा के साथ अध्ययन किया।

अनुमान किया जाता है कि आमराज का पिता यशोवर्मन एक साहसी योद्धा होने के साथ-साथ सरस्वती का भी उपासक और अच्छा लेखक था। उसने "रामाभ्युदय" नामक एक नाटक की भी रचना की थी। यह नाटक 'वर्तमान मे उपलब्ध' नही है किन्तु "ध्वन्यालोक", साहित्य दर्पण आदि मे यशोवर्मन के इस नाटक का उल्लेख है।[1] अस्तु।

कालान्तर मे यशोवर्मन की मृत्यु होते ही कन्नौज के मन्त्रियो ने राजकुमार आमराज को मोढेरा से कन्नौज ले जाकर उसका कन्नौज के राज-सिहासन पर राज्याभिषेक किया।

आमराज अपर नाम नागावलोक एक शक्तिशाली राजा सिद्ध हुआ। इसने कन्नौज राज्य की चहुमुखी समृद्ध्यभिवृद्धि के लिए उल्लेखनीय कार्य किया। सभवत आमराज के पूर्व नागभट्ट (द्वितीय) एव "अवनिजनाश्रय" तथा "दक्षिणभट" अर्थात् दक्षिणापथ का सुदृढ आधारस्तम्भ आदि उपाधियो से विभूषित पुलकेशिन (चालुक्यराज विक्रमादित्य द्वितीय के द्वारा नियुक्त दक्षिण गुजरात के राज्यपाल) जैसे देशभक्त योद्धाओ ने भारत पर किये गये अरबो के आक्रमण को पूर्णत असफल कर अरब आक्रान्ताओ की शक्ति को अन्तिम रूप से नष्ट कर दिया। इस सम्बन्ध मे आर सी मजूमदार आदि विद्वान् इतिहासज्ञो द्वारा सपादित—'दि क्लासिकल एज' का निम्नलिखित उल्लेख गौरवानुभूति के साथ पठनीय एव मननीय है —

These Arab expeditions took place between A D 724 and 738

But the success of the Arabs was short-lived, and they were defeated by the Pratihara king Nagabhatta and the Chalukya ruler of Lata (S Gujarat) named Avanijanasruya Pulkeshiraj The latter's heroic stand earned him the titles 'solid pillar of Dakshinapatha, and 'the repeller of the unrepellable ' The Gurjara king Jayabhatta IV of Nandipuri also claims to have defeated

[1] क्लासिकल एज, पृ० ३१०

the Arabs Apart from these claims, authenticated by contemporary records, we have traditions about several Indian rulers as having defeated the Mlechchhas, and some of them at any rate refer probably to the Arab invaders of this period It is also admitted in the Arab chronicles that under Junaid's successor Tamin, the Muslims lost the newly conquered territories and fell back upon Sindh Even here their position became insecure According to Arab chronicles, 'a place of refuge to which the Muslims might flee was not to be found,' and so the governor of Sindh built a city on the further side of the lake, on which later the City of Mansurah stood, as a place of refuge for them It is thus clear that the period of Confusion in the Caliphate during the last years of the Umayyads also witnessed the decline of Islamic power in India [1]

ईसा की आठवी शताब्दी के प्रारम्भिक चार दशको के इतिहास के पर्यालोचन से यह तथ्य प्रकाश मे आता है कि जो अरब शक्ति टर्की, ईराक, ईरान, अफगानिस्तान आदि देशो मे प्रचण्ड आधी की तरह बडे वेग से इन राष्ट्रो पर अपना आधिपत्य स्थापित करती हुई बढती ही गई, वह चालुक्य वशी कन्नौज राज यशोवर्मन, काश्मीर के राजा ललितादित्य, प्रतिहार वशीय राजा नागभट्ट (द्वितीय) दक्षिण गुजरात के राज्यपाल चालुक्यवशीय पुलकेशिन आदि-आदि भारतीय वीरो की फौलादी दीवार से टकराकर चकनाचूर हो गई ।

आमराज के जीवन की प्रमुख घटनाओ और उसके धार्मिक कार्य क्लापो का बप्पभट्टीसूरि के इतिवृत्त मे परिचय दे दिया गया है । अपनी आयु के केवल ६ मास अवशिष्ट रहने पर आमराज ने बप्पभट्टी के साथ तीर्थयात्रा प्रारम्भ की । अनेक तीर्थो की यात्रा करने के पश्चात् मागध तीर्थ की, नाव मे बैठ कर यात्रा करते समय मगटोडा नामक ग्राम के पास आमराज ने जिनेन्द्रप्रभु की शरण ग्रहण कर बप्पभट्टी से पच परमेष्टि नमस्कार मन्त्र का श्रवण करते हुए गगा की धारा के प्रवाह के मध्य भाग मे नौका मे ही वि० स० ८९० की भाद्रपद शुक्ला ५ के दिन अपनी इहलीला समाप्त की । मगटोडा ग्राम मे ही आमराज की और्ध्वदैहिकी क्रियाए सम्पन्न की गई ।

आमराज के पश्चात् उसका पौत्र मिहिरभोज कान्यकुब्ज के राजसिंहासन पर (वि० स० ८९० मे) बैठा । मिहिरभोज भी परम श्रद्धानिष्ठ जैन राजा था । इसने अपने जीवन काल मे जैन धर्म के प्रचार-प्रसार और अभ्युदय-अभ्युत्थान के लिए अनेक उल्लेखनीय कार्य किये । मिहिरभोज ने बप्पभट्टी के दो पट्टधरो मे से एक पट्टधर आचार्य गोविन्दसूरि को अपनी राजसभा मे राजगुरु के रूप मे रखा ।

---

1 The Classical Age, page 173 —Bhartiya Vidya Bhavan, Bombay

श्रमण भगवान् महावीर के ४३वें पट्टधर आचार्य श्री लक्ष्मीवल्लभ

जन्म	—	वीर निर्वाण सम्वत् १२९२
दीक्षा	—	" " " १३२१
आचार्य पद	—	" " " १३५४
स्वर्गारोहण	—	" " " १३७१
गृहवास पर्याय	—	२९ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय		३३ वर्ष
आचार्य पर्याय		१७ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय		५० वर्ष
पूर्ण आयु		७९ वर्ष

वीर निर्वाण सम्वत् १३५४ मे भगवान् महावीर के ४२ वें पट्टधर आचार्य श्री शकर सेन के स्वर्गस्थ हो जाने के अनन्तर चतुर्विध सघ ने महामुनि श्री लक्ष्मीवल्लभ को प्रभु महावीर के तयालीसवे (४३) पट्टधर आचार्य पद पर अधिष्ठित किया ।

श्रमण भगवान् महावीर के ४४ वे पट्टधर चार्य श्री राम ऋषि स मी

जन्म	—	वीर निर्वाण सम्वत् १३०४
दीक्षा	—	,, ,, १३३८
आचार्य पद	—	,, ,, १३७१
स्वर्गारोहण	—	,, ,, १४०२
गृहवास पर्याय	—	३४ वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	३३ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	३१ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	६४ वर्ष
पूर्ण आयु	—	९८ वर्ष

वीर निर्वाण सम्वत् १३७१ मे भगवान् महावीर के ४३वे पट्टधर आचार्य श्री लक्ष्मीवल्लभ के स्वर्गस्थ हो जाने के पश्चात् चतुर्विध सघ ने महामुनि श्री राम ऋषि स्वामी को प्रभु महावीर के धर्म सघ के ४४ वे पट्टधर आचार्य पद पर अधिष्ठित किया ।

भ० महावीर के ४३ वे पट्टधर ाचार्य लक्ष्मीवल्लभ ौर ४४ वे पट्टधर रामऋषि स्वामी के सम लीन पैंतीसवे (३५) युगप्रधाना र्य

धर्म ऋषि

जन्म	—	वीर निर्वाण सम्वत्		१३२५
दीक्षा	—	,,	,,	१३४०
सामान्य साधु पर्याय	—	,,	,,	१३४० से १३६०
युगप्रधानाचार्य काल	—	,,	,,	१३६० से १४००
स्वर्ग	—	,,	,,	१४००
सर्वायु	—	७५ वर्ष चार मास और चार दिन		

माढर सम्भूति के पश्चात् धर्म ऋषि ३५ वे युगप्रधानाचार्य हुए। आपका जन्म वीर निर्वाण सम्वत् १३२५ मे हुआ। आप वीर निर्वाण सम्वत् १३४० मे श्रमण-धर्म मे प्रव्रजित हुए। वीर निर्वाण सम्वत् १३६० मे ३४ वे युगप्रधानाचार्य माढर सम्भूति के स्वर्गस्थ होने के अनन्तर चतुर्विध सघ द्वारा आपको युगप्रधानाचार्य पद प्रदान किया गया। चालीस वर्ष तक युगप्रधानाचार्य पद के कार्यभार को बडी योग्यता और कुशलता के साथ वहन करते हुए आपने भगवान् महावीर के शासन की महती सेवा की। वीर निर्वाण सम्वत् १४०० मे ७५ वर्ष ४ मास और ४ दिन की आयु पूर्ण कर आचार्य धर्म ऋषि ने समाधिपूर्वक स्वर्गारोहण किया।
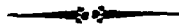
भट्टार ि नसेन (पं स्तूपान्वयी)
(ि परम्परा)

भट्टारक परम्परा के पचस्तूपान्वय-सेन गण के धवलाकार आचार्य वीर-सेन के शिष्य जिनसेन वीर निर्वाण की चौदहवी शताब्दी के यशस्वी ग्रन्थकार थे ।

जयधवला प्रशस्ति के श्लोक स २२ के उल्लेखानुसार जिनसेन, जिस बाल वय मे कर्णवेध सस्कार भी नही होता, उस बाल वय मे ही पचस्तूपान्वयी सेन गण के आचार्य भट्टारक वीर सेन के पास श्रमण धर्म मे दीक्षित हो गये थे । जिस समय जिनसेन अपने गुरु के पास भट्टारक परम्परा मे दीक्षित हुए उस समय उनकी वय कितनी होगी, इसका अनुमानत बोध कराने वाला एक साधन है । पुन्नाट सघीय जिनसेनाचार्य ने शक स ७०५ मे हरिवश पुराण की रचना पूर्ण की । हरिवश के प्रारम्भ मे ही अपने से पूर्ववर्ती एव समकालीन कवियो के स्मरण गुणकीर्त्तन के साथ साथ श्लोक स ४० मे 'पार्श्वाभ्युदय' के रचनाकार पचस्तूपान्वयी जिनसेन और उनके इस काव्य की भी प्रशसा की गई है । शक स० ७०५ मे सम्पूर्ण किये गये विशाल हरिवश पुराण की रचना मे पाच-सात वर्ष का समय तो अवश्य लगा होगा । इससे यह फलित होता है कि जिनसेन ने शक स० ६९५ से ७०० के बीच की अवधि मे 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य की रचना पूर्ण कर दी थी । अन्यथा हरिवश पुराण के प्रारम्भ मे 'पार्श्वाभ्युदय' का उल्लेख करना पुन्नाट सघीय जिनसेन के लिए सभव नही हो पाता । 'पार्श्वाभ्युदय' जैसे विद्वानो द्वारा प्रशसा पाने योग्य उत्कृष्ट-कोटि के काव्य की रचना के लिये काव्यालकार व्याकरण छन्दोशास्त्र आदि के प्रकाण्ड पाण्डित्य के साथ वयस्कता की भी अपेक्षा की जाती है ।

'पार्श्वाभ्युदय' काव्य समस्यापूर्त्यात्मक एव सम्पूर्ण मेघदूत को अपने अक मे परिवेष्टित (समाविष्ट) कर लेने वाला एक ऐसा अनुपम खण्ड काव्य है, जिसकी तुलना मे अन्य काव्य नही ठहर सकते । 'मेघदूत' की कथावस्तु है विरही यक्ष का अपनी प्रेयसी के प्रति विषय-वासनाओ के पुट से सपुटित सदेश । इसके विपरीत 'पार्श्वाभ्युदय' की कथावस्तु त्याग विराग से ओत-प्रोत पार्श्वनाथ-चरित्र है । दोनो कथावस्तुओ मे आकाश पाताल जैसा अथवा अमावस्या की अन्धकार पूर्ण कालरात्रि और शरद पूर्णिमा की चादनी रात जैसा अन्तर है । इस प्रकार की घोर असमानता के उपरान्त भी जिनसेन ने अपने पार्श्वाभ्युदय खण्ड काव्य मे मेघदूत को समाविष्ट करते हुए अपनी कृति से विद्वानो को विमुग्ध एव विस्मित कर दिया । इस प्रकार की अद्भुत क्षमता प्राप्त करने के लिये कम से कम २० वर्ष की वय का होना तो परम आवश्यक है ।

इन तथ्यो को दृष्टि-गत रखते हुए विचार करने पर अनुमान किया जाता है कि पार्श्वाभ्युदय काव्य की रचना जिस समय जिनसेन ने की उस समय उनकी वय २० वर्ष की होगी और उनका जन्म शक स ६८० के आस-पास हुआ होगा। पौगण्ड पौधावस्था मे ही अपने समय के उत्कृष्ट कोटि के विद्वान् वीर सेन की सेवा मे रहते हुए मेधावी जिनसेन ने किशोर वय मे ही व्याकरण काव्यालकार आदि विषयो मे निष्णातता प्राप्त कर यौवन मे पदार्पण करने के साथ ही काव्य रचना के क्षेत्र मे प्रवेश किया और शक स ७०० मे अनुमानत २० वर्ष की आयु मे ही 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य का निर्माण कर दिया। यह आयु बीस से ऊपर होना भी सम्भव है।

'पार्श्वाभ्युदय' काव्य की रचना आचार्य जिनसेन ने अपने ज्येष्ठ गुरु भ्राता विनयसेन मुनि की प्रेरणा से की, यह इस काव्य की प्रशस्ति मे उल्लिखित है। इसी प्रकार सम्भव है कि अपने किशोर वय के मेधावी शिष्य जिनसेन की काव्य रचना मे अद्भुत क्षमता से प्रसन्न हो भट्टारक वीर सेन ने उन्हे महाभारत के समान ही चौबीस तीर्थंकरो, बारह चक्रवर्तियो, नौ नारायणो, नौ बलदेवो और नौ प्रति-नारायणो—यो सब मिलाकर त्रिषष्टि शलाका पुरुषो के जीवन चरित्रो पर विस्तार पूर्वक प्रकाश डालने वाले महापुराण की रचना की प्रेरणा की हो। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अपने गुरु की आज्ञा को शिरोधार्य कर जिनसेन ने आदि पुराण और उत्तर पुराण इन दो विशाल खण्डो मे महापुराण की रचना का सकल्प कर उसके पूर्वार्द्ध आदि पुराण की रचना 'पार्श्वाभ्युदय' काव्य की रचना के स्वल्प काल पश्चात् ही प्रारम्भ कर दी हो।

सम्भव है जिनसेन आदि पुराण के कुछ ही पर्वो की रचना कर पाये होगे कि उनके गुरु वीर सेन ने 'षट्खण्डागम' पर धवला टीका का निर्माण प्रारम्भ कर दिया हो। धवला टीका के निर्माण जैसे श्रमसाध्य महान् कार्य मे विद्वान शिष्यो की सहायता की आवश्यकता अनुभव करते हुए वीर सेन ने अपने विद्वान शिष्य जिनसेन की धवला के निर्माण कार्य मे सहायता ली होगी। इस कारण सम्भवत महापुराण की रचना का कार्य जिनसेन को स्थगित करना पडा।

वीरसेन ने धवला टीका की रचना का कार्य शक स ७३८ तदनुसार वि स ८७३ (ई सन् ८१६) की कार्तिक शुक्ला १३ बुधवार के दिन प्रात काल सम्पन्न किया। ७२ हजार श्लोक प्रमाण धवला टीका के निर्माण मे उन्हे अपने मेधावी विद्वान शिष्य जिनसेन की कम से कम दो दशक तक तो सहायता की अनिवार्यरूपेण आवश्यकता रही होगी। धवला मे मणिप्रवाल शैली को अपना कर वीरसेन ने जैन वाङ्मय के सभी ग्रन्थ रत्नो का आलोडन कर स्थान-स्थान पर उनके उद्धरण देने के साथ-साथ जटिल प्रश्नो का समाधान करते हुए इस विशाल ग्रन्थ को अतीव सुन्दर स्वरूप देने मे जो अथक श्रम किया है और जो श्रम अपने

शिष्यो से लिया है उसे देखते हुए दो दशक जैसे समय का लगना सहज सम्भव प्रतीत होता है।

धवला के निर्माण के पश्चात् धुन घनी कर्मठ विद्वान वीरसेन ने 'कषाय पाहुड' पर जय धवला टीका की रचना का कार्य अपने हाथ मे लिया। इसमे भी जिनसेन का अति श्रमपूर्ण सक्रिय सहयोग अवश्य रहा होगा। आचार्य भट्टारकवर वीरसेन 'कषाय पाहुड' पर जयधवला टीका की २० हजार श्लोक प्रमाण ही रचना कर पाये थे कि वे स्वर्गवासी हो गये। इस प्रकार जिनसेन अपने गुरु के कार्य मे हाथ बटाते रहने के कारण महापुराण निर्माण के कार्य को २५ से तीस वर्ष की अवधि तक कोई विशेष गति नही दे सके।

अपने गुरु वीरसेन के दिवगत होने पर 'जिनसेन को सम्भवत अपने गुरु के अन्त समय के अनुरोध की पूर्ति हेतु अपूर्ण रही जयधवला टीका को पूर्ण करने मे जुटना पडा। क्योकि वीरसेन कषायप्राभृत के प्रथम स्कध की चार विभक्तियो पर बीस हजार श्लोक प्रमाण जयधवला टीका ही लिख पाये थे कि वे स्वर्गस्थ हो गये।

बहुश्रुत तत्वद्रष्टा वीरसेन गुरु का वरदहस्त अपने सिर पर से उठ जाने के कारण जयधवला को पूर्ण करने मे जिनसेन को पूरे मनोयोग से रात-दिन जुटे रहना पडा। अपने गुरु के दिवगत होने के अनन्तर अनेक वर्षो तक जिनसेन को जयधवला टीका की रचना के कार्य मे सलग्न रहना पडा और अन्ततोगत्वा उन्होने शक स ७५९ की फाल्गुन शुक्ला दशमी के दिन, प्रात कालवाट ग्राम मे, नन्दीश्वर महोत्सव के समय, महाराजा अमोघवर्ष के शासन काल मे, जय धवला की टीका की रचना पूर्ण की, जिसका कि जय धवला की प्रशस्ति मे जिनसेन ने उल्लेख किया है —

इति श्रीवीरसेनीया, टीका सूत्रार्थदर्शिनी।
वाटग्रामपुरे श्रीमद् गुर्जरार्यानुपालिते ॥ ६ ॥
फाल्गुने मासि पूर्वाह्णे, दशम्या शुक्ल पक्षके।
प्रवर्धमान पूजोरु-नन्दीश्वर महोत्सवे ॥ ७ ॥
अमोघवर्ष राजेन्द्र राज्य प्राज्य गुणोदया।
निष्ठिता प्रचय यायादाकल्पान्तमनल्पिका ॥८॥
एकोनषष्टि समधिकसप्तशताब्देषु शक नरेन्द्रस्य।
समतीतेषु समाप्ता, जयधवला प्राभृतव्याख्या ॥९॥

जिनसेन के गुरु वीरसेन ने जयधवला की २० हजार श्लोक प्रमाण टीका की रचना की थी। उसके आगे जिनसेन ने ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका की रचना कर इसे पूर्ण किया। इस प्रकार वीरसेन द्वारा रचित धवला टीका ७२ हजार

श्लोक प्रमाण और जयधवला नामक 'कषाय पाहुड' की २० हजार श्लोक प्रमाण टीका वीरसेन द्वारा और ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका जिनसेन द्वारा निर्मित की गई ।

इस प्रकार आचार्य वीरसेन और आचार्य जिनसेन—इन दोनो गुरु शिष्य ने मिलकर १,३२,००० श्लोक प्रमाण धवला और जयधवला नामक दो विशाल टीका ग्रन्थो की रचना की ।

इस महान् कार्य मे जिनसेन अपने गुरु के जीवनकाल मे उनके साथ और उनके दिवगत होने पर अपने गुरु भ्राता श्रीपाल और अपने शिष्य गुणधर के साथ कम से कम तीस वर्ष तक पूर्णत व्यस्त रहे होगे । अपने गुरुभ्राता श्रीपाल को तो जयधवला का सपालक अर्थात् सुचारु रूपेण लालन-पालन करने वाला बताया है ।[1]

जिनसेन की तीसरी महान् कृति 'आदि पुराण'

जयधवला टीका पूर्ण करने के अनन्तर अपने जीवन के अन्तिम वर्षों मे जिनसेन ने अपने गुरु के महाभारत पुराण जैसे ही जैन परम्परा के महापुराण की रचना के स्वप्न को साकार करने का कार्य पुन अपने हाथ मे लेते हुए इसके पूर्वार्द्ध 'आदि पुराण' की अग्रेतर रचना प्रारम्भ की । जयधवला टीका की रचना से पूर्व वे 'आदि पुराण' की किस पर्व तक रचना कर चुके थे और उसके पश्चात् कितने वर्षो तक वे इसकी रचना मे सलग्न रहे—इन सब तथ्यो का उल्लेख कही उपलब्ध न होने के कारण इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता । उपलब्ध तथ्यो के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आदि पुराण के सब मिलाकर ४७ पर्वों मे से आचार्य जिनसेन पूरे ४२ पर्वों का और ४३ वे पर्व के तीन श्लोको का निर्माण कर पाये थे कि वे दिवगत हो गये ।

'आदि पुराण' वस्तुत सस्कृत भाषा का एक उच्च कोटि का महाकाव्य है । इसमे प्राय सभी छन्दो, रसो और अलकारो को समाविष्ट किया गया है । सूक्तियो का तो 'आदि पुराण' को समृद्ध निधान कहा जा सकता है । उत्कृष्ट कोटि के महाकाव्य मे जिस प्रकार के लक्षण होने चाहिए, वे सभी लक्षण 'महापुराण' मे विद्यमान है ।

शक स० ७०५ मे पूर्ण किये गये अपने ग्रन्थ 'हरिवश पुराण' की आदि मे पुन्नाट सघीय आचार्य जिनसेन की और इनकी लालित्यपूर्ण काव्यकृति 'पार्श्वाभ्युदय'

---

[1] टीका श्री जयचिह्नितोऽरु धवला सूत्रार्थ सद्घोतिनी ।
स्थेयादारविचन्द्रमुज्ज्वलतप श्रीपालसपालिता ।

(जयधवला, पृष्ठ ४३)

की प्रशसा की गई है। इससे अनुमान किया जाता है कि जयधवलाकार आचार्य जिनसेन का जन्म शक स ६७५ के आसपास हुआ होगा। शक स ७३८ मे जब आचार्य वीरसेन ने धवला टीका की रचना पूर्ण की उस समय उनकी लगभग ६३ वर्ष की आयु हो गई होगी। उसके अनन्तर ४० हजार श्लोक प्रमाण अवशिष्ट जय-धवला टीका पूर्ण करने और तत्पश्चात् आदि पुराण के ४२ पर्वो और ४३वे पर्व के ३ श्लोक—कुल मिलाकर १०३८० श्लोको के निर्माण मे कम से कम २५ वर्ष तक तो उन्हे श्रम करना ही पडा होगा। इन सब तथ्यो को दृष्टिगत रखते हुए विचार करने पर अनुमान किया जाता है कि लगभग ८८ अथवा ९० वर्ष की आयु पूर्ण कर आचार्य जिनसेन शक स ७६५ के आस-पास स्वर्गवासी हुए होगे। इस प्रकार उनका जीवन काल शक स ६७५ से ७६५ तदनुसार वि स ८१० से ९०० के बीच का अनुमानित किया जा सकता है।

आचार्य जिनसेन शैशवावस्था को पार कर बालवय मे ही वीरसेन के पास दीक्षित हो गये थे अत वीरसेन ही उनके शिक्षा गुरु भी रहे और दीक्षा गुरु भी। आचार्य जिनसेन वस्तुत अपने गुरु के अनुरूप ही कर्मठ विद्वान् थे और वे लगभग ७०-७५ वर्ष तक जैन वाग्मय और जिनशासन की सेवा मे निरत रहे।

श्लोक प्रमाण और जयधवला नामक 'कषाय पाहुड' की २० हजार श्लोक प्रमाण टीका वीरसेन द्वारा और ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका जिनसेन द्वारा निर्मित की गई ।

इस प्रकार आचार्य वीरसेन और आचार्य जिनसेन—इन दोनो गुरु शिष्य ने मिलकर १,३२,००० श्लोक प्रमाण धवला और जयधवला नामक दो विशाल टीका ग्रन्थो की रचना की ।

इस महान् कार्य मे जिनसेन अपने गुरु के जीवनकाल मे उनके साथ और उनके दिवगत होने पर अपने गुरु भ्राता श्रीपाल और अपने शिष्य गुणधर के साथ कम से कम तीस वर्ष तक पूर्णत व्यस्त रहे होगे । अपने गुरुभ्राता श्रीपाल को तो जयधवला का सपालक अर्थात् सुचारु रूपेण लालन-पालन करने वाला बताया है ।[1]

जिनसेन की तीसरी महान् कृति 'आदि पुराण'

जयधवला टीका पूर्ण करने के अनन्तर अपने जीवन के अन्तिम वर्षो मे जिनसेन ने अपने गुरु के महाभारत पुराण जैसे ही जैन परम्परा के महापुराण की रचना के स्वप्न को साकार करने का कार्य पुन अपने हाथ मे लेते हुए इसके पूर्वार्द्ध 'आदि पुराण' की अग्रेतर रचना प्रारम्भ की । जयधवला टीका की रचना से पूर्व वे 'आदि पुराण' की किस पर्व तक रचना कर चुके थे और उसके पश्चात् कितने वर्षों तक वे इसकी रचना मे सलग्न रहे—इन सब तथ्यो का उल्लेख कही उपलब्ध न होने के कारण इस सम्बन्ध मे निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता । उपलब्ध तथ्यो के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि आदि पुराण के सब मिलाकर ४७ पर्वों मे से आचार्य जिनसेन पूरे ४२ पर्वों का और ४३ वे पर्व के तीन श्लोको का निर्माण कर पाये थे कि वे दिवगत हो गये ।

'आदि पुराण' वस्तुत सस्कृत भाषा का एक उच्च कोटि का महाकाव्य है । इसमे प्राय सभी छन्दो, रसो और अलकारो को समाविष्ट किया गया है । सूक्तियो का तो 'आदि पुराण' को समृद्ध निधान कहा जा सकता है । उत्कृष्ट कोटि के महाकाव्य मे जिस प्रकार के लक्षण होने चाहिए, वे सभी लक्षण 'महापुराण' मे विद्यमान है ।

शक स० ७०५ मे पूर्ण किये गये अपने ग्रन्थ 'हरिवश पुराण' की आदि मे पुन्नाट सघीय आचार्य जिनसेन की और इनकी लालित्यपूर्ण काव्यकृति 'पार्श्वाभ्युदय'

---

[1] टीका श्री जयचिह्नितोऽरु धवला सूत्रार्थ सद्योतिनी ।
स्थेयादारविचन्द्रमुज्ज्वलतप श्रीपालसपालिता ।

(जयधवला, पृष्ठ ४३)

की प्रशसा की गई है। इससे अनुमान किया जाता है कि जयधवलाकार आचार्य जिनसेन का जन्म शक स ६७५ के आसपास हुआ होगा। शक स ७३८ मे जब आचार्य वीरसेन ने धवला टीका की रचना पूर्ण की उस समय उनकी लगभग ६३ वर्ष की आयु हो गई होगी। उसके अनन्तर ४० हजार श्लोक प्रमाण अवशिष्ट जय-धवला टीका पूर्ण करने और तत्पश्चात् आदि पुराण के ४२ पर्वो और ४३वे पर्व के ३ श्लोक—कुल मिलाकर १०३८० श्लोको के निर्माण मे कम से कम २५ वर्ष तक तो उन्हे श्रम करना ही पडा होगा। इन सब तथ्यो को दृष्टिगत रखते हुए विचार करने पर अनुमान किया जाता है कि लगभग ८८ अथवा ६० वर्ष की आयु पूर्ण कर आचार्य जिनसेन शक स ७६५ के आस-पास स्वर्गवासी हुए होगे। इस प्रकार उनका जीवन काल शक स ६७५ से ७६५ तदनुसार वि स ८१० से ६०० के बीच का अनुमानित किया जा सकता है।

आचार्य जिनसेन शैशवावस्था को पार कर बालवय मे ही वीरसेन के पास दीक्षित हो गये थे अत वीरसेन ही उनके शिक्षा गुरु भी रहे और दीक्षा गुरु भी। आचार्य जिनसेन वस्तुत अपने गुरु के अनुरूप ही कर्मठ विद्वान् थे और वे लगभग ७०-७५ वर्ष तक जैन वाग्मय और जिनशासन की सेवा मे निरत रहे।

शाकटायन-पाल्यकीर्ति

आचार्य शाकटायन की भारत के आठ शाब्दिको अर्थात् वैयाकरणो मे पाचवें और पाणिनी तथा अमरसिंह से भी पूर्व स्थान पर गणना की गई है। शाकटायन का अपरनाम पाल्यकीर्ति भी है। आचार्य शाकटायन यापनीय परम्परा के महान् आचार्य और ग्रन्थकार थे। प्रस्तुत ग्रन्थ मे यापनीय परम्परा के प्रकरण मे यापनीय परम्परा के परिचय के साथ-साथ आचार्य शाकटायन आदि कतिपय आचार्यो की रचनाओ का उल्लेख भी किया गया है।[1]

शाकटायन द्वारा रचित निम्नलिखित ग्रन्थ उपलब्ध होते है —

१ शब्दानुशासन।

२ शब्दानुशासन की स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति।

३ स्त्रीमुक्ति प्रकरण।

४ केवली भुक्ति प्रकरण।

शाकटायन का 'शब्दानुशासन' अनेक शताब्दियो तक पूर्व काल मे सम्पूर्ण भारत का लोकप्रिय व्याकरण रहा है। पाल्यकीर्ति और इनके 'शब्दानुशासन' की प्रशसा करते हुए वादिराज सूरी ने 'पार्श्वनाथ चरित्र' मे लिखा है —

> कुतस्त्या तस्य सा शक्तिः पाल्यकीर्तेर्महौजस ।
> श्रीपद-श्रवण यस्य, शब्दिकान् कुरुते जनान् ।।

अर्थात्—उन महान् ओजस्वी पाल्यकीर्ति की अचिन्त्य शक्ति की महिमा किन शब्दो मे की जाय—वह शक्ति उन्हे कहा से प्राप्त हुई कि जो इसका केवल "श्री" यह एक पद सुनने मात्र से ही यह लोगो को शब्द शास्त्र मे पारगत वैयाकरण बना देती है।

पाल्यकीर्ति के 'शब्दानुशासन' पर 'स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति' के अतिरिक्त ६ अन्य टीकाए (१) शाकटायन न्यास (२) चिन्तामणि लघीयसी टीका (३) मणि प्रकाशिका (४) प्रक्रिया सग्रह (५) शाकटायन टीका और तमिल के दशवी शताब्दी के जैन वैयाकरण अमित सागर के शिष्य दयापाल मुनि द्वारा रचित (६) रूप सिद्धि।

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ, पृ० १६०-२५१

पाल्यकीर्ति ने शाकटायन व्याकरण—शब्दानुशासन की स्वोपज्ञ वृत्ति का शुभारम्भ "श्रीममृत ज्योति " इस आदि मगलाचरण से किया है। वादिराजसूरि ने इसी 'श्री' को लक्ष्य कर उपर्युक्त श्लोक मे यह वात कही है कि शाकटायन व्याकरण को प्रारम्भ करते ही व्यक्ति व्याकरण का विद्वान् वन जाता हे। शाकटायन ने शब्दानुशासन की अमोघवृत्ति के अनेक सूत्रो मे यापनीय सघ की मान्यताओ का उल्लेख किया है। वे सभी श्वेताम्बर परम्परा की मान्यताओ के समान है।[1]

वादिराज सूरि से भी पाल्यकीर्ति की प्रशसा करने मे आगे बढकर यक्ष-वर्मा ने चिन्तामणि टीका मे पाल्यकीर्ति के लिये सकलज्ञान "साम्राज्य पद माप्तवान्" इस वाक्य से यहा तक कह दिया है कि पाल्यकीर्ति ने सम्पूर्ण ज्ञान के साम्राज्य पद अर्थात् सार्वभौम सम्राट चक्रवर्ती का पद प्राप्त कर लिया था।

उपर्युक्त उल्लेखो पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि पाल्यकीर्ति की ख्याति दूर-दूर तक फैल गई थी और जिस प्रकार हेमचन्द्राचार्य की उत्तरी भारत मे और मुख्यत गुजरात व राजस्थान मे कलिकाल सर्वज्ञ के रूप मे प्रसिद्धि हो गई थी, ठीक उसी प्रकार भारत के सुदूरस्थ प्रदेशो मे विशेषत सम्पूर्ण दक्षिणापथ मे पाल्यकीर्ति की "सकल ज्ञान साम्राज्य सम्राट" के रूप मे और सम्पूर्ण भारत मे महान् वैयाकरण के रूप मे प्रसिद्धि हो गई थी।

पाल्यकीर्ति जैसे उच्चकोटि के विद्वान् ने और भी अनेक ग्रन्थो की रचनाये की होगी, किन्तु यापनीय परम्परा के विलुप्त होने के अनन्तर यापनीय परम्परा के विपुल साहित्य के साथ सभव है पाल्यकीर्ति द्वारा रचित कतिपय ग्रन्थ भी दूसरी परम्पराओ द्वारा अपने साहित्य के अन्तर्गत समाविष्ट कर लिये गये हो अथवा सार-सम्हाल, देख-रेख करने वाले यापनीय परम्परा के साधु-साध्वियो तथा उपासक-उपासिकाओ के अभाव मे नष्ट हो गये हो। इस प्रकार की आशका निराधार भी नही है। इन्ही विद्वान् पाल्यकीर्ति की मान्यता का उल्लेख करते हुए राजशेखर ने काव्य मीमासा मे पाल्यकीर्ति के किसी ग्रन्थ का उद्धरण दिया है, जो इस प्रकार है —

"यथा तथा वास्तु-वस्तुनो रूप वक्त प्रकृतिविशेषायत्तातु रसवत्ता। तथा चायमर्थरिक्त स्तौति, ते विरक्तो विनिन्दति, मध्यस्थस्तु तत्रोदास्ते इति पाल्य-कीर्ति।"

इस उद्धरण से यह सिद्ध होता है कि पाल्यकीर्ति का कोई एक ऐसा ग्रन्थ पूर्वकाल मे विद्यमान था जिससे कि राजशेखर ने इस गद्य को अपने ग्रन्थ मे उद्धृत

[1] विशेष विवरण के लिये प्रस्तुत ग्रन्थ का यापनीय प्रकरण (पष्ठ १९०-२५१) देखें।

किया है। उद्धरण तो काव्य मीमासा मे होने से सुरक्षित रह गया किन्तु पाल्यकीर्ति का वह ग्रन्थ विलुप्त हो गया और आज उसका नाम तक किसी को ज्ञात नही है।

पाल्य कीर्ति–शाकटायन का समय

पाल्यकीर्ति के सत्ताकाल को ज्ञात करने के अनेक साधन विद्यमान है पर आवश्यकता है उन साधनो की खोज के लिये श्रम करने की।

पाल्यकीर्ति ने अपने शब्दानुशासन के सूत्र "ख्याते दृश्ये" की टीका करते हुए उदाहरण के रूप मे उल्लेख किया है —

"अदहदमोघवर्ष आरातीन्"—अर्थात् अमोघवर्ष ने अपने शत्रुओ को जला दिया।[1] पाल्यकीर्ति के इस उल्लेख मे अमोघवर्ष द्वारा अपने शत्रुओ के सहार की पुष्टि करने वाला एक शिलालेख शक स ८३२ का उपलब्ध हुआ है, जिसमे उस घटना का उल्लेख करते हुए इस वाक्य का प्रयोग किया गया है—"भूपालान् कण्टकाभान् वेष्टयित्वा ददाह।" अर्थात्—अपने राज्य के लिये कण्टक तुल्य (काटो के समान) विद्रोही राजाओ को घेर कर राष्ट्रकूट राजराजेश्वर अमोघवर्ष ने उन्हे जला दिया। इस घटना की पुष्टि करने वाला कोन्नूर जिला धारवाड का शक स ७८२ का तलेयूर ग्राम के दान का वह शिलालेख है—जिसमे यह उल्लेख है कि विद्रोही राजाओ द्वारा सशस्त्र विद्रोह किये जाने की बात सुनकर अमोघवर्ष ने अपने महासामन्त बकेय को आदेश दे उन पर आक्रमण कर उन्हे पूर्णत नष्ट कर दिया।[2]

यह तो एक निर्विवाद ऐतिहासिक तथ्य है कि राष्ट्रकूटवशीय राजा अमोघवर्ष का शासन काल शक स ७३६ से शक स ७९७ तक रहा और अमोघवर्ष की आज्ञा से उसके सामन्त बकेय ने शक स ७७२ मे अनेक विद्रोहियो को मौत के घाट उतार कर और अनेको विद्रोहियो को बन्दी बनाकर इस विद्रोह को पूर्णत कुचल डाला।[3] यह अमोघवर्ष के शासन काल का तीसरा और अन्तिम विद्रोह था, इसके पश्चात् उसके शासनकाल मे कभी विद्रोह नही हुआ। अनुमान किया जाता है कि यह शिलालेख शत्रुदमन की घटना के १० वर्ष पश्चात् लिखा गया हो, जैसा कि प्राय होता आया है।

कर्नाटक यापनीयो का सुदृढ गढ अथवा केन्द्र स्थल था। पाल्यकीर्ति अपने 'शब्दानुशासन' पर उस समय स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति की रचना मे सलग्न होगे और बहुत सम्भव है कि मान्यखेट मे ही हो। जब उन्होने सुना कि अमोघवर्ष ने अपने

---

[1] एपिग्राफिका इडिका, वोल्यूम–१, पेज ५४

[2] जैन शिलालेख सग्रह भाग २, लेख सख्या १२७, पृष्ठ १४१ से १५०

[3] प्रस्तुत ग्रथ (जैनधर्म का मौलिक इतिहास भाग-३) पृष्ठ २९२

शत्रुओ को जलाकर ध्वस्त कर दिया है तो 'ख्याते दृश्ये' अर्थात् निकट भूत मे घटित हुई प्रसिद्ध बडी घटना के सम्बन्ध मे अपनी वृत्ति मे उदाहरण स्वरूप "अदहत्" का प्रयोग कर दिया। पाल्य कीर्ति के समय के सुनिश्चित रूपेण निर्धारण के लिये यही एक प्रमाण पर्याप्त है कि पाल्यकीर्ति ने शक स ७७२ मे (अपने काल के ३६वे वर्ष मे) अपने 'शब्दानुशासन' पर स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति की रचना शक स ७७२-७७३ मे अथवा दो चार वर्ष पश्चात् की। उपरिवर्णित शक स० ८३२ का शिलालेख अमोघवर्ष की मृत्यु के ३५ वर्ष पश्चात् का और दूसरा शक स ७८२ का कोन्नूर का शिलालेख स १२७ है। अमोघवर्ष की मृत्यु से १५ वर्ष पूर्व का। ये दोनो अभिलेख अमोघवर्ष द्वारा शत्रुओ के सहार की घटना की पुष्टि के लिये सक्षम प्रमाण है। पर पाल्यकीर्ति ने स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति की रचना शक स ७७२ मे की। इसकी पुष्टि के लिये तो अमोघवर्ष द्वारा शक स ७७२ मे अपने शत्रुओ के ध्वस्त किये जाने की घटना का समय ही सक्षम है।

जैन ग्रन ार महाराजाधिराज मोघवर्ष नृ ुंग

वीर निर्वाण सम्वत् १३७५ के आसपास राष्ट्रकूटवशीय महाराजाधिराज अमोघवर्ष (प्रथम) अपरनाम नृपतुग ने 'कविराज मार्गालकार' की और १४०० के आसपास 'रत्नमालिका' की रचना की। 'रत्नमालिका' की प्रशस्ति मे स्वय नृपतुग-अमोघवर्ष ने लिखा है —

विवेकात्यक्त राज्येन, राज्ञेय रत्नमालिका।
रचितामोघवर्षेण, सुधिया सदलकृति ।।

इस प्रशस्ति श्लोक से अनुमान किया जाता है कि महाराजा अमोघवर्ष ने ई सन् ८७५ (वीर निर्वाण सम्वत् १४०२) मे राज्य का त्याग करके जैन मुनियो के सत्सग मे रहकर आत्म साधना करते समय 'रत्नमालिका' नामक इस ग्रन्थ की रचना की।

महाराजा अमोघवर्ष अपने समय का महान् योद्धा होने के साथ-साथ जैन धर्म के प्रति प्रगाढ निष्ठा रखने वाला विद्वान ग्रन्थ निर्माता भी था। इस राजा ने वस्तुत अनेक सग्रामो मे विजय प्राप्त करते समय शस्त्रास्त्रो के प्रहारो से शत्रुओ के सहार के साथ-साथ स्वय के शरीर के अग प्रत्यग को शत्रुओ द्वारा किये गये प्रहारो के घावो से मडित कर और राज सिहासन का स्वेच्छापूर्वक परित्याग कर अपना अन्तिम समय जैनाचार्यो के पास अध्यात्म साधना मे बिताते हुए 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' इस आर्षोक्ति को अक्षरक्ष सत्य सिद्ध कर बताया।

शीलांकाचार्य   र नाम शीलाचार्य तथा विमल मति

वीर निर्वाण की चौदहवी शताब्दी मे प्राकृत भाषा के उच्च कोटि के ग्रन्थ 'चउवन्न महापुरिस चरिय' के रचनाकार आचार्य शीलाक, अपर नाम विमलमति तथा शीलाचार्य प्राकृत भाषा के उद्भट विद्वान् एवं महान् जिनशासन प्रभावक आचार्य हुए है। शीलाकाचार्य नाम के तीन विद्वान् आचार्य भिन्न-भिन्न समय मे हुए हैं। उनमे एक शीलाकाचार्य का महान् कोशकार के रूप मे जैन वाग्मय मे उल्लेख उपलब्ध होता है, पर वह कोश वर्तमान काल मे कही उपलब्ध नही है। दूसरे शीलाकाचार्य वे है जिन्होने वीर नि० स० १४०३ मे आचाराग-टीका की रचना की, इनका यथाशक्य पूरा परिचय दिया जा चुका है। इन्ही शीलाकाचार्य ने सूत्रकृताग की टीका का और जीवसमासवृत्ति की रचनाए की। इसी नाम के तीसरे विद्वान् आचार्य है शीलाक—शीलाचार्य अथवा विमलमति आचार्य। इन्होने वि० स० ९२५ मे "चउवन्नमहापुरिसचरिय" नामक उच्च कोटि के चरित्रग्रन्थ की प्राकृत भाषा मे रचना की। आपका जीवनवृत्त जैन, वाग्मय के विभिन्न ग्रन्थो मे बिखरा हुआ उपलब्ध होता है। उन सब ग्रन्थो के आधार पर आपके जीवन की घटनाओ को क्रमबद्ध रूप से एक जगह लिखा जाय तो आपका जीवनपरिचय निम्नलिखित रूप मे दिया जा सकता है :—

प्रभावकचरित्र के अनुसार श्री सर्वदेवसूरि ने कोरटक नगर के चैत्यवासी उपाध्याय देवचन्द्र को प्रतिबोध देकर वनवासी परम्परा मे दीक्षित किया। देवचन्द्र ने वनवासी परम्परा मे दीक्षित होने के पश्चात् घोर तपश्चरण के साथ-साथ आगमो का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया। उनकी विद्वत्ता से प्रभावित होकर श्री सर्वदेवसूरि ने वाराणसी मे देवचन्द्र मुनि को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। जिस समय देवसूरि को आचार्य पद पर अधिष्ठित किया, उस समय वे पर्याप्तरूपेण वयो-वृद्ध हो चुके थे, इस कारण वे वृद्धदेवसूरि के नाम से लोक मे विख्यात हुए। वृहत् पौषधशालिक पट्टावली मे उल्लेख है कि इन वृद्ध देवसूरि को वनवासी परम्परा को पुनरुज्जीवित करने वाले आचार्य सामन्तभद्र के उत्तराधिकारी के रूप मे आचार्य पद प्रदान किया गया था। वह उल्लेख इस प्रकार है —

"सिरि वज्जसेणसूरि, कुलहेऊ चदसूरितप्पट्टे।
सामन्तभद्दसुगुरु, वणवास रुईविरायेण ॥६॥
सिरिवुड्ढदेवसूरि, पज्जोयण माणदेव मुणिदेवा ॥७॥[1]

---

[1] श्री देव विमलगणि द्वारा रचित "श्री मन्महावीर पट्टधर परम्परा" के श्लोक स० ६५–७० मे इसका स्पष्ट उल्लेख है।

वृद्धदेवसूरि के पश्चात् उनके पट्टधर प्रद्योतनसूरि हुए। प्रद्योतनसूरि के उपदेशो से प्रभावित एव प्रबुद्ध होकर नाडोल निवासी श्रेष्ठि जिनदत्त की पतिपरायण धर्मपत्नी धारिणी की कुक्षि से उत्पन्न मानदेव ने श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण की। उद्योतनसूरि के पास निष्ठापूर्वक अध्ययन कर कुशाग्रबुद्धि मानदेव ने अनेक विद्याओ मे प्रकाण्ड पाण्डित्य एव जैन सिद्धान्तो मे निष्णातता प्राप्त की। अन्त मे सभी भाति सुयोग्य समझ कर उद्योतनसूरि ने अपने शिष्य मानदेव को आचार्य पद प्रदान किया। आचार्य पद प्रदान करते समय मानदेव के परम प्रभावक भव्य व्यक्तित्व एव सम्मोहक सौन्दर्य को देख कर प्रद्योतन सूरि को मन ही मन यह शका उत्पन्न हुई कि इस प्रकार के सम्मोहक व्यक्तित्व का धनी यह मानदेव आचार्य पद की सत्ता प्राप्त हो जाने के बाद सयम—मार्ग मे किस प्रकार स्थिर रह सकेगा ? कही यह आगे चलकर सयम मार्ग से च्युत तो नही हो जायेगा ?

इगितज्ञ मानदेव सूरि ने अपने आराध्य गुरुदेव के मनोभावो को समझ लिया और तत्क्षण उन्होने हाथ जोडकर अपने गुरु से निवेदन किया कि भगवन् ! मैं जीवन भर के लिये घृत दधि दूध तैल आदि सभी प्रकार की विकृतियो का त्याग करता हू।[1]

आचार्य पद पर आसीन होने के पश्चात् घोर तपश्चरण करते हुए श्री मानदेव सूरि ने जिन शासन की महती प्रभावना की। उनकी तपस्या के प्रभाव से अनेक प्रकार की लब्धिया एव सिद्धिया स्वत ही आकर उनके अधीन हो गई।

प्रभावक चरित्र और अनेक अन्य ग्रन्थो तथा पट्टावलियो मे इस प्रकार का उल्लेख है कि तपोधन मानदेव सूरि की सेवा मे जया और विजया नामकी दो देविया सदा उपस्थित रहती थी।[2]

उधर समृद्ध श्रावको और चैत्यो से सुशोभित तक्षशिला नगरी मे भयकर महामारी का प्रकोप प्रारम्भ हो गया। चतुर्विध सघ ने महामारी की शान्ति के लिए अनेक प्रकार के प्रयत्नादि किये किन्तु महामारी का प्रकोप उत्तरोत्तर बढता ही गया। चतुर्विध सघ ने और कोई उपाय न देखकर वीरदत्त नाम के एक श्रावक को

---

[1] पदप्रदानावसरे समीक्ष्य साक्षात्तदसोपरिवाणिपद्मे ।
राज्यादिव क्षोणिपुरन्दरस्य भ्रन्शोऽस्य भावो नियमस्थितेर्हा ।।७२।।
इत्थ गुरु स्व विमनायमानमालोक्य लोकेश्वरगीतकीर्त्ति ।
तत्याज य षड्विकृतीर्न्न तीव्र षडातरारीनिव जेतुकाम ।।७३।।
(श्रीमन्महावीर पट्ट परम्परा)

[2] प्रभावाद् ब्रह्मणस्तस्य मानदेवप्रभोस्तदा ।
श्री जयाविजयादेव्यौ नित्य प्रणमत क्रमौ ।।२५।।
(प्रभावक चरित्र, पृष्ठ ११८)

मानदेव सूरि की सेवा मे नाडोल इस विज्ञप्ति के साथ प्रेपित किया कि वे चतुर्विध सघ की कृपा कर महामारी के कराल गाल से रक्षा करें।

जिस वक्त वीरदत्त श्रावक नाडोल मानदेव सूरि के उपाश्रय मे पहुचा उस समय जया और विजया देवी उनके मुखारविन्द पर दृष्टि लगाये उनकी पर्युपासना कर रही थी।

यह देखकर श्रावक वीरदत्त को इस प्रकार की शका हुई कि एकान्त मे स्त्रियो से निषेवित इन आचार्य मे महामारी को दूर करने की शक्ति कैसे हो सकती है। जया और विजया ने उसके मनोगत भावो को जानकर उसकी भर्त्सना की और कहा — "जहा इस प्रकार के अधम श्रावक नामधारी रहते है वहा महामारी से भी अति भयकर अन्यान्य प्रकोप हो सकते हैं।"

वीरदत्त श्रावक ने अपने दुर्विचारो के लिये पश्चात्ताप करते हुए देवियो से क्षमायाचना की। करुणासिन्धु मानदेव सूरि ने श्री शान्तिस्तव नामक मन्त्र लिखवाकर दिया और सघ को कहलवाया कि इसका निरन्तर जाप किया जाय।

वीरदत्त श्रावक से श्रीमानदेव सूरि द्वारा प्रेषित शान्तिस्तव के सामूहिक जाप से महामारी का प्रकोप तत्काल शान्त हो गया।

कालान्तर मे यवनो द्वारा तक्षशिला पर आक्रमण किया गया। यवनो ने तक्षशिला निवासियो की सम्पत्ति एव प्राणो आदि को भयकर क्षति पहुचाते हुए तक्षशिला को ध्वस्त कर दिया, और इस प्रकार जया विजया का कथन सत्य हुआ।

निर्वृ ति कुल के इन्ही महान् प्रभावक मानदेव सूरि के शिष्य थे शीलाकाचार्य, शीलाचार्य अथवा विमल सूरि। इन विमलमति आचार्य शीलाक ने विक्रम सम्वत् ९२५ मे 'चउवन महापुरुष चरिय' नामक ग्रन्थ की रचना की, जोकि प्राकृत साहित्य का एक अनमोल ग्रन्थरत्न है।

इससे अधिक शीलाकाचार्य का परिचय उपलब्ध नही होता।

शीलांकाचार्य (अपरनाम तत्वाचार्य)

वीर निर्वाण की चौदहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १५वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की बीच की अवधि के आचार्य शीलाक का नाम देवर्द्धि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल के आगममर्मज्ञ आचार्यो मे शीर्ष स्थान पर आता है। वे अपने, तत्वाचार्य—इस अपर नाम से भी विख्यात रहे है। प्रभावक चरित्रकार ने आपका एक और अपर नाम 'कोट्याचार्य' भी दिया है। आप सस्कृत और प्राकृत—दोनो ही भाषाओ के बडे ही उच्चकोटि के विशिष्ट विद्वान् थे। अपने समय मे शीलाकाचार्य आगमो के साधिकारिक प्रामाणिक विद्वान् माने जाते थे। गूढार्थो एव अनेकार्थो से ओतप्रोत दुरूह आगमो को साधु-साध्वी समूह एव मुमुक्षु साधक उन आगम-पाठो को सुगमतापूर्वक समझ कर हृदयगम कर सकें, इस परम परोपकार की भावना से अनुप्राणित हो आचार्य शीलाक ने 'स्वान्त सुखाय समष्टि-हिताय च'—प्रभाचन्द्रसूरि के उल्लेखानुसार आचारागादि ग्यारहो अगो पर टीकाओ की रचना की। शीलाकाचार्य द्वारा रचित उन ग्यारह अगशास्त्रो की टीकाओ मे से वर्तमान काल मे केवल आचाराग-टीका और सूत्रकृताग-टीका—ये दो टीकाए ही उपलब्ध होती हैं। शेष ६ आगमो पर आप द्वारा निर्मित टीकाए वर्तमानकाल मे अनुपलब्ध है, इस बात का प्रभावक चरित्र मे स्पष्ट उल्लेख है।[1] अभयदेवसूरि ने 'व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र' की स्वय द्वारा निर्मित टीका मे, अपने से पूर्व के टीकाकार का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है,[2] इससे भी यही फलित होता है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति की टीका की रचना करते समय अभयदेवसूरि के समक्ष शीलाकाचार्य द्वारा निर्मित व्याख्या प्रज्ञप्ति की टीका थी। अभयदेवसूरि के अतिरिक्त अन्य किसी ने व्याख्या प्रज्ञप्ति पर उनसे पूर्व टीका की रचना की हो, इस प्रकार का कोई उल्लेख कही उपलब्ध नही होता। इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि आचार्य शीलाक ने आचार्य प्रभाचन्द्र के कथनानुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति आदि सभी अगो पर टीकाए लिखी थी।

---

[1] श्री शीलाँक पुरा कोट्याचार्यनाम्ना प्रसिद्धिमू ।
वृत्तिमेकादशाग्या स, विदघे धौतकलमष ॥१०४॥
अगद्वय विनान्येषा, कालादुच्छेदमाययु ।
वृत्तयस्तत्र सघानुग्रहायाद्य कुरूद्यमम् ॥१०५॥

(प्रभावक चरित्र, (१६ अभयदेवसूरिचरितम्) पृष्ठ १६४)

[2] अय च प्राग्व्याख्यातो नमस्कारादिको ग्रन्थो वृत्तिकृता न व्याख्यात कुतोऽपि कारणादिति ।

(व्याख्या प्रज्ञप्ति टीका रतलाम सस्करण, पृष्ठ १०)

ब्रह्मद्वीपिक शाखा के आचार्य गन्धहस्ति ने ग्यारहो अगो पर विवरण लिखे थे, इस प्रकार का उल्लेख 'हिमवत स्थविरावली' मे उपलब्ध होता है। वह उल्लेख इस प्रकार है —

आर्य रेवतीनक्षत्राणा आर्य सिहाख्या शिष्या अभवन्। ते च ब्रह्मद्वीपिकशाखोपलक्षिता अभवन्। तेपामार्य सिंहाना स्थविराणा मधुमित्रार्य स्कदिलाचार्य नामानौ द्वौ शिष्यावभूताम्। आर्य मधुमित्राणा शिष्या आर्य गन्धहस्तिनोऽतीव विद्वास प्रभावकाश्चाभवन्। तैश्च पूर्वस्थविरोक्त सोमास्वातिवाचकरचित तत्वार्थोऽपरि अशीतिसहस्र श्लोक प्रमाण महाभाष्य रचित। एकादशागोपरि चार्य स्कदिल स्थविराणामुपरोधतस्तै विवरणानि रचितानि। यदुक्त तद्रचिताचाराग विवरणान्ते यथा —

थेरस्स महुमित्तस्स, सेहेहि तिपुव्वनाणजुत्तेहि।
मुणिगणविवदिएहिं, ववगयरागाइ दोसेहि ॥ १ ॥
बभदीवियसाहामउडेहिं, गधहत्थि विबुधेहिं।
विवरणमेय रइय, दो सय वासेसु विक्कमओ ॥ २ ॥

स्वल्पमति भिक्षूणामुपकारार्थ चार्यस्कदिल स्थविरोत्तसै प्रेरिता गन्धहस्तिन एकादशागाना विवरणानि भद्रबाहुस्वामिविहितनिर्युक्त्यनुसारेण चक्रु। तत प्रभृति च प्रवचनमेतत्सकलमपि माथुरीवाचनाया भारते प्रसिद्ध बभूव। मथुरानिवासिना श्रमणोपासकवरेणौशवशविभूषणेन पोलाकाभिधेन तत्सकलमपि प्रवचन गधहस्तिकृतविवरणोपेत तालपत्रादिषु लेखयित्वा भिक्षुभ्य स्वाध्यायार्थ समर्पितम्।[1]

अर्थात् ब्रह्मद्वीपिका शाखा के आद्य आचार्य सिंह के मधुमित्र और आर्य स्कन्दिलाचार्य नामक दो शिष्य थे। आचार्य मधुमित्र के शिष्य आर्य गन्धहस्ति महान् प्रभावक और विद्वान् थे। उन्होने उमास्वाति द्वारा रचित तत्वार्थसूत्र पर ८० हजार श्लोक प्रमाण महाभाष्य की रचना की। आर्य स्कन्दिलाचार्य के अनुरोध पर आर्य गन्धहस्ति ने ग्यारह अगो पर विवरणो की रचना की। जैसा कि आर्य गन्धहस्ति द्वारा निर्मित आचाराग सूत्र के विवरणो के अन्त मे उल्लेख है —

"स्थविर मधुमित्र के शिष्य विशिष्ट विद्वान् गन्धहस्ति ने, जो कि तीन पूर्वो के ज्ञान के धारक, मुनिगणो द्वारा वन्दित, रागद्वेष विहीन और

[1] स्व प श्री कल्याणविजयजी महाराज की कृपा से उनके भण्डार की हस्तलिखित प्रति से लिखित हिमवन्त स्थविरावली। आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार जयपुर मे उपलब्ध, पृष्ठ ६१।

शीलां चार्य (अपरनाम तत्वा र्य)

वीर निर्वाण की चौदहवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध और १५वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध की बीच की अवधि के आचार्य शीलाक का नाम देवर्द्धि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल के आगममर्मज्ञ आचार्यो मे शीर्ष स्थान पर आता है। वे अपने, तत्वाचार्य—इस अपर नाम से भी विख्यात रहे है। प्रभावक चरित्रकार ने आपका एक और अपर नाम 'कोट्याचार्य' भी दिया है। आप सस्कृत और प्राकृत—दोनो ही भाषाओ के बडे ही उच्चकोटि के विशिष्ट विद्वान् थे। अपने समय मे शीलाकाचार्य आगमो के साधिकारिक प्रामाणिक विद्वान् माने जाते थे। गूढार्थो एव अनेकार्थो से ओतप्रोत दुरूह आगमो को साधु-साध्वी समूह एव मुमुक्षु साधक उन आगम-पाठो को सुगमतापूर्वक समझ कर हृदयगम कर सके, इस परम परोपकार की भावना से अनुप्राणित हो आचार्य शीलाक ने 'स्वान्त सुखाय समष्टि-हिताय च'—प्रभाचन्द्रसूरि के उल्लेखानुसार आचारागादि ग्यारहो अगो पर टीकाओ की रचना की। शीलाकाचार्य द्वारा रचित उन ग्यारह अगशास्त्रो की टीकाओ मे से वर्तमान काल मे केवल आचाराग-टीका और सूत्रकृताग-टीका—ये दो टीकाए ही उपलब्ध होती हैं। शेष ६ आगमो पर आप द्वारा निर्मित टीकाए वर्तमानकाल मे अनुपलब्ध है, इस बात का प्रभावक चरित्र मे स्पष्ट उल्लेख है।[1] अभयदेवसूरि ने 'व्याख्याप्रज्ञप्ति-सूत्र' की स्वय द्वारा निर्मित टीका मे, अपने से पूर्व के टीकाकार का स्थान-स्थान पर उल्लेख किया है,[2] इससे भी यही फलित होता है कि व्याख्या प्रज्ञप्ति की टीका की रचना करते समय अभयदेवसूरि के समक्ष शीलाकाचार्य द्वारा निर्मित व्याख्या प्रज्ञप्ति की टीका थी। अभयदेवसूरि के अतिरिक्त अन्य किसी ने व्याख्या प्रज्ञप्ति पर उनसे पूर्व टीका की रचना की हो, इस प्रकार का कोई उल्लेख कही उपलब्ध नही होता। इससे भी इस बात की पुष्टि होती है कि आचार्य शीलाक ने आचार्य प्रभाचन्द्र के कथनानुसार व्याख्याप्रज्ञप्ति आदि सभी अगो पर टीकाए लिखी थी।

---

[1] श्री शीलाँक पुरा कोट्याचार्यनाम्ना प्रसिद्धिभू।
वृत्तिमेकादशाग्या स, विदधे धौतकल्मष ॥१०४॥
अगद्वय विनान्येषा, कालादुच्छेदमाययु।
वृत्तयस्तत्र सघानुग्रहायाद्य कुरूद्यमम् ॥१०५॥

(प्रभावक चरित्र, (१६ अभयदेवसूरिचरितम्) पृष्ठ १६४)

[2] अय च प्राग्व्याख्यातो नमस्कारादिको ग्रन्थो वृत्तिकृता न व्याख्यात कुतोऽपि कारणादिति।

(व्याख्या प्रज्ञप्ति टीका रतलाम सस्करण, पृष्ठ १०)

ब्रह्मद्वीपिक शाखा के आचार्य गन्धहस्ति ने ग्यारहो अगो पर विवरण लिखे थे, इस प्रकार का उल्लेख 'हिमवत स्थविरावली' मे उपलब्ध होता है। वह उल्लेख इस प्रकार है —

आर्य रेवतीनक्षत्राणा आर्य सिंहाख्या शिष्या अभवन्। ते च ब्रह्मद्वीपिकशाखोपलक्षिता अभवन्। तेषामार्य सिहाना स्थविराणा मधुमित्रार्य स्कदिलाचार्य नामानौ द्वौ शिष्यावभूताम्। आर्य मधुमित्राणा शिष्या आर्य गन्धहस्तिनोऽतीव विद्वास प्रभावकाश्चाभवन्। तैश्च पूर्वस्थविरोक्त सोमास्वातिवाचकरचित तत्वार्थोऽपरि अशीतिसहस्र श्लोक प्रमाण महाभाष्य रचित। एकादशागोपरि चार्य स्कदिल स्थविराणामुपरोधतस्तै विवरणानि रचितानि। यदुक्त तद्रचिताचाराग विवरणान्ते यथा —

थेरस्स महुमित्तस्स, सेहेहिं तिपुव्वनाणजुत्तेहि।
मुणिगणविवदिएहि, ववगयरागाइ दोसेहि ॥ १ ॥
बभदीवियसाहामउडेहि, गधहत्थि विबुधेहि।
विवरणमेय रइय, दो सय वासेसु विक्कमओ ॥ २ ॥

स्वल्पमति भिक्षूणामुपकारार्थ चार्यस्कदिल स्थविरोत्तसै प्रेरिता गन्धहस्तिन एकादशागाना विवरणानि भद्रबाहुस्वामिविहितनिर्युक्त्यनुसारेण चक्रु। तत प्रभृति च प्रवचनमेतत्सकलमपि माथुरीवाचनाया भारते प्रसिद्ध बभूव। मथुरानिवासिना श्रमणोपासकवरेणोशवशविभूषणेन पोलाकाभिधेन तत्सकलमपि प्रवचन गधहस्तिकृतविवरणोपेत तालपत्रादिषु लेखयित्वा भिक्षुभ्य स्वाध्यायार्थ समर्पितम्।[1]

अर्थात् ब्रह्मद्वीपिका शाखा के आद्य आचार्य सिंह के मधुमित्र और आर्य स्कन्दिलाचार्य नामक दो शिष्य थे। आचार्य मधुमित्र के शिष्य आर्य गन्धहस्ति महान् प्रभावक और विद्वान् थे। उन्होने उमास्वाति द्वारा रचित तत्वार्थसूत्र पर ८० हजार श्लोक प्रमाण महाभाष्य की रचना की। आर्य स्कन्दिलाचार्य के अनुरोध पर आर्य गन्धहस्ति ने ग्यारह अगो पर विवरणो की रचना की। जैसा कि आर्य गन्धहस्ति द्वारा निर्मित आचाराग सूत्र के विवरणो के अन्त मे उल्लेख है —

"स्थविर मधुमित्र के शिष्य विशिष्ट विद्वान् गन्धहस्ति ने, जो कि तीन पूर्वो के ज्ञान के धारक, मुनिगणो द्वारा वन्दित, रागद्वेष विहीन और

[1] स्व प श्री कल्याणविजयजी महाराज की कृपा से उनके भण्डार की हस्तलिखित प्रति से लिखित हिमवन्त स्थविरावली। आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञान भण्डार जयपुर मे उपलब्ध, पृष्ठ ६१।

ब्रह्मद्वीपिक शाखा के मुकुट तुल्य थे, विक्रम स २०० मे इस विवरण की रचना की।

आचाराग सूत्र के शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन पर विवरण लिखते समय शीलाकाचार्य ने पूर्वाचार्य श्री गन्धहस्ति द्वारा इस अध्ययन पर लिखे गये विवरण को अति गहन बताते हुए उसमे से सार ग्रहण कर प्रथम अध्ययन की टीका करने का निम्नलिखित रूप मे सकल्प किया है —

शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहन च गन्धहस्तिकृतम् ।
तस्मात्सुखबोधार्थं, गृह्णाम्यहमजसा सारम् ।।३।।

शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन पर विवरण लिख चुकने के अनन्तर भी शीलाक ने लिखा है—"गन्धहस्ति द्वारा आचाराग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध के शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन पर पूर्व मे जो विवरण लिखा गया था, वह अतीव गहन था, उस पर मेरे द्वारा विवरण का लेखन सम्पन्न कर दिया गया है। अब मैं आचाराग के शेष अध्ययनो पर विवरण लिखता हू।"

इसी प्रकार आचाराग–प्रथम श्रुतस्कन्ध के ६ठे अध्ययन पर विवरण लिख चुकने के अनन्तर आचार्य शीलाक ने आठवे अध्ययन पर विवरण लिखा, प्रारम्भ करने से पूर्व लिखा है—"आचाराग"—प्रथम श्रुतस्कन्ध का महापरिज्ञा नामक सप्तम अध्ययन विलुप्त हो चुका है अत मैं अब आठवे अध्ययन का विवेचन प्रारम्भ कर रहा हू।

आचार्य शीलाक द्वारा आचाराग टीका मे किये गये इन दो उल्लेखो से दो महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्यो पर स्पष्ट रूप से प्रकाश पडता है। एक तो इस तथ्य पर कि गन्धहस्ति द्वारा शस्त्रपरिज्ञा नामक (आचाराग) प्रथम श्रुतस्कन्ध के प्रथम अध्ययन पर गन्धहस्ति द्वारा एक अति गहन और विशद विवरण लिखा गया था। दूसरे इस तथ्य पर शक स० ७९८ तदनुसार विक्रम स० ९३३ एव वीर निर्वाण स० १४०३ मे जब कि आचार्य शीलाक ने आचाराग पर विवरणात्मक टीका की रचना की, उससे पूर्व ही आचाराग सूत्र के प्रथम श्रुतस्कन्ध का महापरिज्ञा नामक सातवा अध्ययन व्यवच्छिन्न अर्थात् विलुप्त हो गया था।

' आचाराग और सूत्रकृताग — इन दोनो सूत्रो पर शीलाकाचार्य ने जो विवरणात्मक टीकाए लिखी है, उनमे टीकाकार ने केवल शब्दार्थ तक ही सीमित न रह कर मूल सूत्र, निर्युक्ति एव शस्त्रपरिज्ञा अध्ययन पर गन्धहस्ति द्वारा लिखे गये विवरण—इन सबको विस्तृत व्याख्या की परिधि मे लेते हुए प्रत्येक विषय पर तलस्पर्शी विवेचन विस्तारपूर्वक किया है। शीलाक द्वारा रचित विवरण की वर्णन

शैली बडी ही सुन्दर होने के कारण सहज सुबोध्य है। इस प्रकार "तस्मात्सुख-बोधार्थं"—अपने इस प्रारम्भ मे ही किये गये सकल्प का सुचारुरूपेण अन्त तक निर्वहन किया है।

आचार्य शीलाक ने आचाराग और सूत्रकृताग इन दोनो सूत्रो पर किस समय, किस स्थान पर, किसकी सहायता से टीकाओ की रचना की और वे किस परम्परा के आचार्य थे, स्वय उन्होने इन सब बातो पर प्रकाश डालते हुए लिखा है —

द्वासप्तत्यधिकेषु हि शतेषु सप्तसु गतेषु गुप्तानाम् ।
सवत्सरेषु मासि च भाद्रपदे शुक्ल पचम्याम् ॥१॥

शीलाचार्येण कृता गम्भूताया स्थितेन टीकैषा ।
सम्यगुपयुज्य शोध्य, मात्सर्यविनाकृतैरार्यै ॥२॥

इस प्रकार का उल्लेख देवचन्द लालभाई पु० फड से प्रकाशित शीलाकाचार्य द्वारा रचित टीका सहित आचाराग सूत्र (पत्र ३१९) मे है।

राय धनपतसिंह द्वारा कलकत्ता से प्रकाशित आचाराग सूत्र सटीक के अन्त मे शीलाकाचार्य द्वारा दी गई पुष्पिका मे निम्नलिखित श्लोक दिये हुए है —

आचार–टीका–करणे यदाप्त, पुण्य मया मोक्षगमैकहेतु ।
तेनापनीया शुभराशिमुच्चैराचारमार्गप्रवणोऽस्तु लोक ॥१॥
शकनृपकालातीतसवत्सर शतेषु सप्तसु चाष्टानवत्यधिकेषु ।
वैशाखशुद्ध पचम्या (२) आचार टीका कृतेति ॥

देवचन्द लालभाई पुस्तक फण्ड से प्रकाशित आचाराग टीका की पुष्पिका के अन्त मे "शकनृप कालातीत ..."—यह श्लोक नही है।

शीलाकाचार्यकृत टीका सहित आचाराग की जो प्रतिया वर्तमान मे उपलब्ध होती हैं, उनमे शीलाकाचार्य द्वारा टीका की रचना का भिन्न-भिन्न समय उल्लिखित है। किसी मे शक स० ७७२, किसी मे गुप्त स० ७७२, किसी मे शक स० ७९८ और किसी मे शक स० ७८४ इस टीका की रचना का समय लिखा हुआ है। जहा तक विभिन्न शक सवतो का उल्लेख है, उससे कोई विशेष अन्तर नही पडता। केवल १२ और २६ वर्ष आगे-पीछे का लेखनकाल का अन्तर रहता है। किन्तु यदि गुप्त स० ७७२ को इस टीका की रचना का समय मान लिया जाय तो उपरिलिखित से क्रमश वि० स० ९०७, १०९१, ९३३ और वि० स० ९१९ शेष तीन भिन्न-भिन्न शक सवतो के उल्लेखानुसार टीका के रचनाकाल मे १५८, १७२, १८४ वर्षो तक का अन्तर आ जाता है। विक्रम स० १३५ मे शक सवत्सर का

प्रचलन हुआ और वि स ३१९ मे गुप्त सवत्सर चला। तदनुसार आचाराग सूत्र की विभिन्न प्रतियो मे जो उपरिलिखित ४ प्रकार का समय लिखा गया है, उनसे क्रमश वि स ९०७, १०९१, ९३३ और ९१९ यो चार प्रकार का एक-दूसरे मे भिन्न लेखनकाल प्रकट होता है। इस प्रकार १५८ से लेकर १८४ वर्ष तक का लेखनकाल मे अन्तर बताने वाले उल्लेखो के कारण ही शीलाकाचार्य जैसे महान् उपकारी विद्वान् आचार्य का सत्ताकाल अभी तक विवादास्पद ही बना हुआ है।

इस विवादास्पद प्रश्न के हल के लिये हमे प्रभावक चरित्र के इसी प्रकरण के प्रारम्भ मे उद्धृत उन दो श्लोको पर विचार करना होगा जिनमे शासनाधिष्ठात्री देवी ने अभयदेवसूरि से अग शास्त्रो पर वृत्तियो की रचना करने की प्रार्थना करते हुए निवेदन किया था। प्रभावक चरित्रकार के उल्लेखानुसार देवी ने अभयदेव सूरि से कहा था—"प्राचीन काल मे कोट्याचार्य इस अपर नाम से प्रसिद्ध शीलाकाचार्य ने ग्यारहो अगो की वृत्तियो की रचना की थी। काल के प्रभाव से अर्थात् पर्याप्त समय व्यतीत हो जाने के कारण उन ग्यारह अगो की वृत्तियो मे से दो अगो की वृत्तियो (आचाराग और सूत्रकृताग) को छोडकर शेष सभी अगो की वृत्तियो का व्यवच्छेद हो गया है। इसलिये अब आप चतुर्विध तीर्थ पर कृपा करके ९ अगो पर वृत्तियो की रचना के लिये उद्यम कीजिये।"

प्रभावक चरित्र के इस उल्लेख से यही निष्कर्ष निकलता है कि आचार्य शीलाक द्वारा रचित ९ अगो की वृत्तिया उनकी रचना के अनन्तर पर्याप्त समय बीत जाने पर नष्ट हो गईं, विलुप्त हो गईं।

नवागी वृत्तिकार श्री अभयदेवसूरि ने ज्ञाताधर्मकथाग की वृत्ति की रचना विक्रम स ११२० और व्याख्याप्रज्ञप्ति अग की वृत्ति की रचना विक्रम स ११२८ मे सम्पूर्ण की, यह इन दोनो अगो की वृत्तियो के अन्त मे स्वय श्री अभयदेव सूरि द्वारा निर्मित पुष्पिकाओ से निर्विवादरूपेण सिद्ध है।[1]

इस प्रकार की स्थिति मे शीलाकाचार्य द्वारा निर्मित आचाराग वृत्ति का रचनाकाल गुप्त सवत् ७७२ तदनुसार विक्रम सवत् १०९१ मान लिया जाय तो इसका अर्थ यह हुआ कि शीलाकाचार्य द्वारा आचाराग सूत्र पर विवरण अथवा

---

[1] एकादशसु शतेष्वथ विंशत्यधिकेषु विक्रमसमानाम्।
अणहिल्लपाटनगरे विजयदशम्या च सिद्धेयम्॥ १२॥

—ज्ञाताधर्मकथाग वृत्ति

अष्टाविंशतियुक्ते वर्षसहस्रे शतेन चाभ्यधिके।
अणहिल्लपाटकनगरे कृतेयमच्छुप्तधनिवसतौ॥ १५॥

—व्याख्याप्रज्ञप्तिवृत्ति

टीका की रचना की जाने के केवल २६ वर्ष पश्चात् ही वि स ११२० मे स्थानाग और समवायाग जैसे विशाल अगो के साथ-साथ ज्ञाताधर्मकथाग पर भी (इस प्रकार के तीन अगो पर) वृत्तियो का निर्माणकार्य सम्पन्न कर दिया।

इन तीन अगो पर वृत्तियो की रचना सम्पन्न करने मे उन्हे कम से कम चार-पाच वर्ष तो अवश्य लगे होगे और आगमो पर वृत्तिया, टीकाए लिखने योग्य न केवल जैनागमो, जैन वाग्मय ही अपितु तत्कालीन प्रमुख दर्शनो के धर्म-शास्त्रो का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त करने मे कम से कम पन्द्रह-बीस वर्ष का समय भी उन्हे लगा होगा तो प्रत्येक विचारक को यह मानने मे कोई बाधा नही होगी कि शीलाकाचार्य के जीवनकाल मे ही अभयदेवसूरि जैनदर्शन और अन्यान्य दर्शनो के अध्ययन मे सलग्न थे।

इस प्रकार की स्थिति मे अभयदेव को लक्ष्य कर शासन देवी यह नही कहती—

वृत्तिमेकादशाग्या स, विदधे धौतकल्मश ।। १०४ ।।
अगद्वय विनान्येषा, कालादुच्छेदमाययु ।। १०५ ।।

शीलाकाचार्य ने एकादशागी पर टीका-विवरणो की रचना की और उन ११ टीकाओ मे से ६ टीकाए उनके जीवन काल मे ही नष्ट हो गई, अथवा २६ वर्ष पश्चात् ही नष्ट हो गई, विलुप्त हो गई, यह मानने के लिये कोई भी विज्ञ उद्यत नही होगा। साधु-साध्वियो के लिये-साधक मात्र के लिये परमोपयोगी आगम-ज्ञान की अनमोल कु जियो को चतुर्विध धर्म सघ ने सुनिश्चित रूपेण सजोकर सुरक्षित रखने के उपाय किये होगे। इस प्रकार की स्थिति से शीलाक द्वारा रचित स्थानाग, समवायाग आदि शेष ६ अगो की टीकाओ को, प्रकृतिजन्य वा मानवजन्य विप्लवो आदि के परिणामस्वरूप विलुप्त होने मे कम से कम सौ, डेढ सौ वर्ष का समय तो अवश्य ही लगा होगा। इन सब तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर शीलाकाचार्य द्वारा निर्मित आचाराग वृत्ति की किसी प्रति मे शक स ७७२, दूसरी प्रति मे शक स ७८४ और किन्ही प्रतियो मे शक स ७६८ दिये हुए हैं, उनमे से किसी भी एक को इसका रचनाकाल मान लेने मे किसी भी प्रकार की बाधा व आपत्ति के लिये कोई अवकाश नही। ऐसा मान लेने पर आचाराग टीका का रचनाकाल वि स ६०७, अथवा ६१७ व अधिक से अधिक ६३३, इन तीनो मे से एक सिद्ध होता है। शक स ७६८ (अर्थात् वि स ६३३) का उल्लेख पुष्पिका मे है, ऐसी स्थिति मे विक्रम स ६३३ को ही आचाराग टीका का रचनाकाल मान लेना सर्वथा समुचित होगा। इससे शीलाकाचार्य और अभयदेवसूरि की उपरिचर्चित रचनाओ के काल मे १८७ वर्ष का अन्तराल शीलाकाचार्य द्वारा रचित शेष ६ अगो की टीकाओ के विलुप्त होने मे काल की दृष्टि से युक्तिसगत प्रतीत होता है। इन

सब तथ्यो को दृष्टिगत रखकर विचार करने पर शीलाकाचार्य का समय विक्रम की ९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर १०वी शती के पूर्वार्द्ध का प्रमाणित होता है।

शीलाचार्य द्वारा आचाराग की टीका के निर्माण काल के इस प्रकार सुनिश्चित हो जाने पर प्रश्न यह रहता है कि किस स्थान पर उन्होने इस टीका का निर्माण किया। इस सम्बन्ध मे ऊपर उल्लिखित श्लोक मे बता दिया गया है कि गम्भूता नामक नगरी मे रहते हुए इस टीका का निर्माण किया। पुष्पिका मे दिये हुए इस वाक्य से कि "तदात्मकस्य ब्रह्मचर्याख्यश्रुतस्कन्धस्य निर्वृतिकुलीन श्रीशीलाचार्येण तत्वादित्यापरनाम्ना वाहरिसाधुसहायेन कृता टीका परिसमाप्तेति"- उन्होने यह अभिव्यक्त किया है कि वे निर्वृति कुल के आचार्य थे और उन्होने वाहरि साधु की सहायता से आचाराग की टीका की रचना की।

सूत्रकृताग—टीका की पुष्पिका मे भी उन्होने इसी बात का उल्लेख किया है कि वाहरि साधु की सहायता से उन्होने सूत्रकृताग की टीका का निर्माण किया।

इन दो आगमो की सारगर्भित सुबोध्य, सुविस्तृत और अतीव सुन्दर टीकाओ की रचना कर शीलाकाचार्य ने जैन जगत् पर और अध्ययनशील तत्व जिज्ञासुओ पर महान् उपकार किया है। इन दो अनमोल कृतियो ने शीलाकाचार्य की कीर्ति और उनके नाम को अमर कर दिया है।

सांडेर गच्छ

साडेरगच्छ वस्तुत चैत्यवासी परम्परा का एक प्राचीन गच्छ रहा है। इस गच्छ की उत्पत्ति मारवाड के साडेराव नामक नगर से हुई प्रतीत होती है। इसी कारण इसे साडेरावगच्छ के नाम से भी अभिहित किया जाता है। साडेराव नगर, शैवो के तीर्थस्थान "नीम्बा रा नाथ" के पास ही बसा हुआ है। साडेरा गच्छ का एक अपर नाम साडेसरा गच्छ भी उपलब्ध होता है। इस गच्छ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे, प्रमाणाभाव के कारण निश्चित रूप से कुछ भी नही कहा जा सकता। विक्रम की दशवी शताब्दी के प्रथम चरण मे यह गच्छ अपने प्रभावक आचार्यों के प्रभाव से प्रसिद्धि मे आया।

साडेरा गच्छ मे ईश्वरसूरि के शिष्य यशोभद्रसूरि नामक एक महान् प्रभावक आचार्य विक्रम की दशवी शताब्दी के उत्तरार्द्ध मे हुए। उनके सम्बन्ध मे अनेक लोक कथाए जनश्रुतियो के रूप मे चली आ रही है। उन किंवदन्तियो के अनुसार वे अपने समय के बहुत बडे मन्त्रवादी थे। उन्होने अपने विद्याबल एव मन्त्रबल के प्रभाव से अनेक अजैनो को जैनधर्मावलम्बी बनाया।

त्रिपुटी मुनि दर्शनविजयजी आदि ने अपने ग्रन्थ 'जैन परम्परा नो इतिहास, भाग १' मे यशोभद्रसूरि का आचार्यकाल वि स ९६८ से अनुमानत वि स १०२९ अथवा १०३९ तक होने का उल्लेख किया है।[1] किन्तु यशोभद्रसूरि के प्रमुख शिष्य बलिभद्रसूरि के जीवनवृत्त की घटनाओ के पर्यवेक्षण से यह प्रकट होता है कि चित्तौड के महाराणा अल्लट और बलिभद्रसूरि समकालीन थे। महाराणा अल्लट जिस समय आहड मे निवास करते थे उसी समय बलिभद्रसूरि ने अल्लट की राठोडी महाराणी को असाध्य रोग से वि स ९७३ के आस-पास मुक्त किया। अल्लट का सत्ताकाल वि स ९२२-१०१० इतिहास सिद्ध है। इस प्रकार की स्थिति मे यशोभद्रसूरि का आचार्यकाल विक्रम की दशवी शताब्दी के तृतीय चरण तक ही सगत बैठता है। हमारे इस अनुमान की पुष्टि जूनागढ के लूट-खसोट करने वाले राजा खगार द्वारा जैनसघ को धनप्राप्ति की दृष्टि से गिरनार की यात्रा करने से रोके जाने और बलिभद्रसूरि द्वारा किये गये चमत्कार प्रदर्शन से बाध्य हो राजा खगार द्वारा बौद्धो के अधिकार मे चले आ रहे गिरनार तीर्थ को श्वेताम्बरो के अधिकार मे दिये जाने की घटना से भी होती है। राव खगार का सत्ताकाल विक्रम की दसवी शताब्दी का प्रथमार्द्ध इतिहास सम्मत है और अल्लट की महारानी को बलिभद्रसूरि द्वारा रोगमुक्त किये

[1] जैन परम्परा नो इतिहास, भाग १, पृष्ठ ५६९

जाने की घटना गिरनार तीर्थ के श्वेताम्बरो के अधिकार मे आने की घटना से पश्चात् की है। अस्तु।

साडेराव गच्छ मे आचार्य यशोभद्रसूरि महान् प्रभावक आचार्य हुए यह अनेक प्रमाणो से पुष्ट है। यशोभद्रसूरि के पश्चात् भी साडेरा गच्छ मे शालिसूरि, सुमतिसूरि, शान्तिसूरि आदि १६ जिनशासनप्रभावक एव यशस्वी आचार्य हुए। इस गच्छ के ६वें आचार्य शान्तिसूरि (द्वितीय) ने विक्रम स १२२६ मे (कुलगुरुओ के उल्लेखानुसार) कतिपय क्षत्रिय परिवारो को जैनधर्मावलम्बी बनाकर ओसवाल वश की शीशोदिया शाखा की स्थापना की। गुगलिया, भण्डारी, चतुर, दूधोडिया, आदि ओसवालो की १२ जातिया साडेरा गच्छ की अनुयायी—उपासक जातिया थी। शीशोदियो के सम्बन्ध मे तो निम्नलिखित दोहा कुलगुरु काल से ही प्रसिद्ध है

शीशोदिया साडेसरा, चउदसिया चौहाण।
चैत्यवासिया चावडा, कुलगुरु एह प्रमाण॥

यशोभद्रसूरि के दो प्रमुख शिष्य थे, जिनका नाम था बलिभद्र और शालिभद्र। बलिभद्र ने अपने गुरु की अनुज्ञा के बिना ही अनेक विद्याओ और मन्त्रो की साधना कर ली और उन्होने अपनी चमत्कारपूर्ण विद्याओ का प्रदर्शन प्रारम्भ कर दिया। इससे रुष्ट होकर यशोभद्रसूरि ने उन्हे अपने से पृथक् कर स्वेच्छानुसार विहार करने का निर्देश दिया। अपने बडे शिष्य बलिभद्र को अपने से पृथक् करने के पश्चात् यशोभद्रसूरि ने अपने द्वितीय प्रमुख शिष्य शालिभद्र को अपने उत्तराधिकारी के रूप मे आचार्य पद प्रदान किया। ये शालिभद्रसूरि चौहानवशीय क्षत्रिय थे।

इस प्रकार साडेर गच्छ के आचार्य यशोभद्रसूरि ने अपने बडे शिष्य बलिभद्र को आचार्य पद प्रदान न कर उनसे छोटे शिष्य शालिभद्र को आचार्य पद पर अधिष्ठित किया। इस पर बलिभद्र पर्वतश्रेणियो मे जा गिरिगुहाओ मे तपश्चरण करने लगे। घोर तपश्चरण के फलस्वरूप उन्हे अनेक प्रकार की सिद्धिया प्राप्त हुई।

बलिभद्रसूरि ने महाराणा अल्लट की महारानी को जिस समय रोगमुक्त किया, उस समय महाराणा ने प्रसन्न हो उन्हे कोई बडी जागीर देने का प्रस्ताव किया। बलिभद्र मुनि ने यह कहते हुए जागीर लेना अस्वीकार कर दिया कि हम निष्परिग्रही जैन साधु परिग्रह के नाम पर राज्य अथवा जागीर की बात तो दूर—एक कौडी तक भी नही रखते। हम लोग तो अहर्निश स्व-पर-कल्याण मे निरत रहते हैं। अध्यात्मपथ के पथिको को चल अथवा अचल, किसी भी प्रकार की सम्पत्ति से क्या लेना देना है।

इसके उपरान्त भी जब महाराणा अल्लट ने कोई न कोई सेवा-कार्य बताने का अत्याग्रहपूर्ण अनुरोध किया तो वलभद्र मुनि ने कहा—"राजन्! यदि आप कुछ करना ही चाहते है तो मेरा एक काम कीजिये। मेरे गुरुदेव ने हमारे साडेर गच्छ का आचार्य पद मुझे प्रदान न कर मेरे छोटे गुरुभ्राता शालिसूरि को दिया है। आप शालिसूरि से कहकर आचार्य पद का आधा भाग मुझे दिलवा दीजिये।"

"इन तपस्वी मुनि के उपकार के भार से थोडा वहुत तो उऋण होऊगा" यह विचार कर महाराणा अल्लट बडा प्रसन्न हुआ। उसने वडे सम्मान के साथ शालिसूरि को आहड मे बुला राजकीय ठाट-बाट से उनका नगरप्रवेश महोत्सव किया। एक दिन उपयुक्त अवसर देखकर महाराणा अल्लट ने शालिसूरि से निवेदन किया—"बलिभद्र मुनि बडे त्यागी, तपस्वी और आपके बडे गुरुभाई हैं। आप अपना आधा आचार्यपद का अधिकार उन्हे दे दीजिये। इसके उपलक्ष मे आप जो भी कहे, वह करने के लिये मै सर्वथा समुद्यत हू।"

शालिसूरि ने मधुर मुस्कान भरे स्वर मे कहा—राजन्! जिस प्रकार की राजनीति राजन्यवर्ग मे प्रचलित है, उसी प्रकार की धर्मनीति हमारे श्रमणसमाज मे भी परम्परागत रूप से प्रचलित है। राजन्यवर्ग प्रजावर्ग के सदस्यो की भाति अपने राज्य का आधा भाग अथवा एक से अधिक भाई हो तो उस अनुपात से राज्य का भाग अपने भाइयो को नही देते। राज्यसिंहासन पर केवल उत्तराधिकारी का ही पूर्ण अधिकार रहता है। यही राजनीति परम्परा से चली आ रही है। ठीक इसी प्रकार श्रमण वर्ग मे भी आचार्य पद का अधिकारी एक ही शिष्य होता है। गुरु जिस शिष्य को आचार्य पद प्रदान कर देते है, वही वस्तुतः आचार्य पद का अधिकारी रहता है। इस आचार्य पद के अधिकार को विभाजित कर गुरु भाइयो मे विभक्त नही किया जा सकता।"

शालिसूरि के उत्तर से महाराणा अल्लट को पूर्ण सन्तोष हुआ। उसने बलिभद्र मुनि के उपकार से उऋण होने के लिये अनेक गृहस्थो को बलिभद्रमुनि का श्रावक बना कर उन्हे महोत्सव के साथ आचार्य पद पर अधिष्ठित करवाया। आचार्य पद पर आसीन करते समय बलिभद्र का नाम वासुदेवसूरि रखा गया।

हथू डी गच्छ की स्थापना

आचार्य पद पर अधिष्ठित होने के पश्चात् आचार्य बलिभद्र विहार क्रम से हथू डी पहुचे। वहा हथू डी के राठोड वशीय राजा विदग्धराज को धर्मोपदेश दे जैनधर्मानुयायी वनाया। विदग्ध राज ने हथू डी मे आदिनाथ भगवान् का एक मन्दिर वनवाकर उसमे आचार्य बलिभद्रसूरि के हाथ से भ ऋषभदेव की मूर्ति की वि स ९७३ मे प्रतिष्ठा करवाई। विग्रहराज ने उसी समय उस मन्दिर की दैनिक आवश्यकताओ की पूर्ति एव व्यवस्था हेतु व्यापार और कृषि की आय के कुछ करो का भाग

प्रदान किया । इसी मन्दिर की व्यवस्था के लिये विदग्धराज के पुत्र राजा मम्मट ने विक्रम स ९९६ मे इन्ही वासुदेवसूरि को एक नया दानशासन प्रदान किया । कालान्तर मे विदग्ध राज के पौत्र धवलराज ने भी आचार्य शान्तिभद्र के उपदेश से वि स १०५३ मे इस मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया और इसकी व्यवस्था के लिए एक कूप की भूमि दान मे दी ।

इस प्रकार हथू डी के शासको के राज्याश्रय से बलिभद्रसूरि का यह नवीन सघ हथू डी मे फला-फूला और दूर-दूर तक इसकी प्रसिद्धि हुई । इसी कारण यह गच्छ हथू डी गच्छ के नाम से लोक मे प्रसिद्धि को प्राप्त हुआ । इस गच्छ को हस्तिकुण्डी गच्छ के नाम से भी अभिहित किया जाता रहा है, जो कि हथू डी का ही सस्कृत स्वरूप है ।

जैसा कि प्रारम्भ मे बताया जा चुका है, साडेरा गच्छ चैत्यवासी परम्परा का प्राचीन गच्छ था । जब तक चैत्यवासी परम्परा का प्राबल्य रहा, उस परम्परा के कुलगुरु भी अपने-अपने गच्छ के अनुयायियो को, चाहे वे देश के किसी भी भाग मे क्यो न रहे हो, बराबर सम्हालते रहे और अपने-अपने गच्छ के गृहस्थो के नये नाम, स्थान आदि का अपनी बहियो मे उल्लेख करते रहे । किन्तु जब चैत्यवासी परम्परा उत्तरोत्तर ह्रासोन्मुखी होती रही, त्यो-त्यो तपागच्छ परम्परा के कुलगुरुओ को चैत्यवासी परम्परा के कुलगुरु अपनी बहिया सम्हलाते गये और इस प्रकार चैत्यवासी परम्परा के लुप्त होते ही साडेरा गच्छ के अधिकाश श्रावक गण तपागच्छ के श्रावक बन गये ।

साडेरगच्छ की पट्टावली को देखते हुए ऐसा अनुमान किया जाता है कि चैत्यवासी परम्परा का, न्यूनाधिक रूप से अस्तित्व विक्रम की सत्रहवी शताब्दी के अन्तिम उत्तरार्द्ध तक बना रहा ।

हटू डिया गच्छ भी एक प्रकार से साडेरा गच्छ की ही शाखा थी अत इस शाखा के श्रावक भी अन्ततोगत्वा चैत्यवासी परम्परा के लुप्त होने पर तपागच्छ के उपासक बन गये ।

मन्त्र-तन्त्र और चमत्कार प्रदर्शन के युग मे वस्तुत साडेरगच्छ के आचार्य यशोभद्रसूरि एव बलिभद्र सूरि ने जिनशासन की उल्लेखनीय प्रभावना की ।

यशोभद्र सूरि (चैत्यवासी परम्परा)

मरुघर प्रदेश के विक्रम की दशवी शताब्दी मे हुए आचार्यो मे चैत्यवासी-परम्परा के यशोभद्र नाम के एक प्रभावक आचार्य हुए है। इनका युग चमत्कारो और मन्त्रशक्तियो की प्रतिस्पर्धा का युग था। मरुधरा के नारलाई के आस-पास के क्षेत्र मे प्रचलित दन्तकथा के अनुसार नारलाई के गोसाइयो और यतियो (चैत्यवासी साडेरा गच्छ के आचार्य) मे मन्त्रशक्ति का प्रदर्शन करने की प्रतिस्पर्धा ठनी। दोनो पक्ष मन्त्रशक्ति के चमत्कार-प्रदर्शन मे परस्पर एक-दूसरे से श्रेष्ठ होने का दावा करने लगे। दोनो पक्षो ने इसके निर्णय के लिये परीक्षा के रूप मे एक शर्त रखी कि लूणी नदी के तट पर बसे खैरथल ग्राम मे एक तो आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव का मन्दिर है और दूसरा शकर का मन्दिर। यति और गौसाई इन दोनो पक्षो मे से जो पक्ष अपने आराध्य प्रभु के मन्दिर को अपनी मन्त्र शक्ति के बल पर खैरथल से उठाकर सूर्योदय से पहले पहले नारलाई मे ले आवेगा उसी पक्ष को मन्त्र शक्ति मे श्रेष्ठ और बडा समझा जायेगा और उसी पक्ष को यह अधिकार होगा कि वह अपने उस मन्दिर को नारलाई के पहाड पर प्रतिष्ठापित करे। जो पक्ष अपने आराध्य देव के मन्दिर को अपने प्रतिपक्षी के पश्चात् विलम्ब से लायगा, वह पक्ष अपने मन्दिर को पहाड पर न रख कर उस से नीचे के किसी समतल स्थान पर ही स्थापित कर सकेगा। दोनो पक्षो मे से जो पक्ष अपने आराध्य के मन्दिर को सूर्योदय के पश्चात् तक भी खैरथल से नारलाई मे नही ला सकेगा, वह पक्ष पूर्णत पराजित घोषित कर दिया जायेगा।

दोनो पक्षो ने इस शर्त को सहर्ष स्वीकार कर अपनी-अपनी मन्त्र शक्ति का प्रयोग प्रारम्भ किया।

वहा प्रचलित किंवदन्ती के अनुसार दोनो पक्षो ने अपनी-अपनी मन्त्र शक्ति के चमत्कार से, इस सर्वथा असम्भव समझे जाने वाले कार्य को सभव कर बताया। गोसाई खैरथल मे स्थित भगवान शिव के मन्दिर को यतियो की अपेक्षा कुछ क्षण पूर्व नारलाई के आकाश मे लाये, इस कारण शकर का मन्दिर नारलाई के पहाड पर और आदिनाथ का मन्दिर, नीचे के भाग पर स्थापित किया गया।

वर्तमान मे नारलाई की पहाडी पर शिवजी का मन्दिर और नीचे के भाग पर आदिनाथ का मन्दिर, ये दो मन्दिर नारलाई मे विद्यमान् है।

कहा जाता है कि नारलाई के आदिनाथ मन्दिर के शिलालेख मे इस प्रकार का अभिलेख उट्टंकित है कि यह मन्दिर यशोभद्र सूरि अपनी मन्त्र शक्ति द्वारा यहा लाये।

वस्तुत किंवदन्तियो के लिये और विशेषत असभव प्रतीत होने वाले कार्यो के निष्पादन से सम्बन्धित किंवदन्तियो के लिये इतिहास मे कोई स्थान नही। तथापि शताब्दियो से चली आ रही किंवदन्ती के आधार पर जनमानस मे घर की हुई इस चमत्कारिक घटना का इतिहास से इस कारण गहरा सम्बन्ध है कि मन्त्र-तन्त्र और चमत्कारो की शक्ति प्रदर्शन का भी एक सुदीर्घावधि तक युग आर्यधरा पर रहा है और उस युग पर भी भगवान् की विशुद्ध श्रमण परम्परा के विकृत स्वरूप यति परम्परा के आचार्यो—यतियो को मत्र-तत्र शक्ति की, चमत्कारी कार्य निष्पादित कर देने की शक्ति की छाप शताब्दियो तक रही है। उस चमत्कार प्रदर्शन के अनेक चमत्कारिक कार्यो का विवरण अन्य मतावलम्बियो के साहित्य के समान यति युग के जैन वाग्मय मे भी विपुल मात्रा मे उपलब्ध होता है। किसी न किसी रूप मे इस प्रकार की घटनाओ का यत्किंचित उल्लेख परमावश्यक हो जाता है। अन्यथा असम्भवता के नाम पर अथवा चमत्कारिक किंवदन्तियो के नाम पर इस प्रकार की घटनाओ की एकान्तत उपेक्षा को "इतिहास मे एक युग की उपेक्षा" की सज्ञा दी जा सकती है। मध्ययुग मे इस प्रकार के चमत्कार प्रदर्शन के उपलक्ष मे राजाओ अथवा राज प्रतिनिधियो द्वारा मान्त्रिक जैनाचार्यो को ग्रामदान-भूमिदान दिये जाने के शिलालेखो का उल्लेख प्रस्तुत ग्रन्थ मे, राष्ट्रकूट राजवश के परिचय मे किया जा चुका है।

देखिये—"जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग-३, पृष्ठ २६१ का अन्तिम पैरा।

खिमऋषि (क्षमा ऋषि)

साडेरा गच्छ (चैत्यवासी-परम्परा) के आचार्य यशोभद्रसूरि के बलिभद्रसूरि तथा शालिसूरि के अतिरिक्त अनेक शिष्य थे। उनमे खिम ऋषि नामक मुनि घोर तपस्वी और क्षमामूर्ति थे। उनका जीवनवृत्त निम्नलिखित रूप मे उपलब्ध होता है —

चित्तौड के समीपस्थ बडगाव नामक ग्राम मे बोधा नामक एक नितान्त निर्धन वणिक् रहता था। अपने जीवन निर्वाह के लिए वह कभी घृत का तो कभी तेल का व्यापार करता था। वह वस्तुतः नाममात्र का व्यापारी था। येन केन प्रकारेण दो तीन सेर भार का एक कुल्हड कभी घी से भर कर तो कभी तेल से भर कर समीपस्थ नगर मे ले जाता और उससे जो साधारण सी आय होती उसी से अपना जीवन-निर्वाह करता था। एक दिन उसने अपने गाव मे घूम कर एक घडा घी से भरा और उसे बेचने के लिए नगर की ओर जाने के लिये घर से निकला कि उसको ठोकर लगी। वह नीचे गिर पडा। घी से भरा मिट्टी का घडा टूक-टूक हो गया और उसका पूरा का पूरा घृत धूल मे मिल गया।

गाव वाले उसकी स्थिति को जानते थे। व्यापारियो ने उसे एक दूसरा घडा घी से भर कर दिया। किन्तु दुर्भाग्य की बात कि ज्योही वह नगर की ओर प्रस्थित हुआ कि वह दूसरा घडा भी उसके सिर पर से गिर पडा। वह घृत भी धूलिसात् हो गया।

वणिक् बोधा को अपने दुर्भाग्य पर विचार करते-करते ससार से विरक्ति हो गई। सयोगवशात् साडेरा गच्छ के आचार्य यशोभद्र सूरि के उपदेश-श्रवण का उसे अवसर मिला।

आचार्यश्री के उपदेश को सुनने के पश्चात् उसे विश्वास हो गया कि सुख-दु ख की प्राप्ति मे पुराकृत शुभ-अशुभ कर्म वास्तव मे सबसे बडे और प्रमुख कारण हैं। उसने अपने पूर्वसचित अशुभ कर्मो को नष्ट करने का निश्चय किया और वह आचार्यश्री के पास श्रमणधर्म मे दीक्षित हो गया।

तीन वर्ष तक अपने गुरुदेव की सेवा मे रहते हुए तपश्चरणपूर्वक बोधा मुनि ने ज्ञानार्जन किया। तदनन्तर गुरु की आज्ञा ले बोधा मुनि मर्घटो, वनो एव गिरि-कन्दराओ मे जा कर घोर तपश्चरण करने लगे। सभी प्रकार के सकटो, उपसर्गो और कष्टो को समभाव से सहन करते हुए वे आत्मचिन्तन मे लीन रहते।

जिन दिनो मे वे अवन्ति नगरी के समीपस्थ धामनोद ग्राम के तालाब की पाल के निकट वन मे तपश्चरण मे निरत थे उन दिनो ग्राम के ब्राह्मणो के उद्दण्ड किशोर उनके पास आते और ताडन—तर्जनपूर्वक उन्हे अनेक प्रकार के दारुण दु ख देते। बोधा ऋषि न उन पर आक्रोश ही करते और न ध्यान से ही विचलित होते। इनकी इस प्रकार की सहनशक्ति, तपश्चर्या, क्षमा और शान्ति के प्रताप से अनेक प्रकार की सिद्धिया उन्हे स्वत अनायास ही उपलब्ध हो गई। एक दिन वे उस तालाब की पाल के पास श्मशान मे एक विशाल वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ खडे थे। उसी समय उस ग्राम के धनाढ्य ब्राह्मणो के किशोर सदा की भाति वहा आ एकत्रित हुए और खिम ऋषि को ध्यान से विचलित करने के लिये उन पर ढेलो, पत्थरो और यष्टिकाओ से प्रहार करने लगे। उन्हे भयकर पीडा होने लगी किन्तु वे अडोल, निष्कम्प ध्यानमग्न खडे रहे। वे ब्रह्मकिशोर उन्हे इतनी मार के उपरान्त भी निश्चल खडा देख उन पर तीव्र वेग से पत्थरो और डण्डो की बौछार करने लगे। खिम ऋषि के अग-प्रत्यग से लहू की धाराए बहने लगी। किन्तु खिम ऋषि यह समझ कर कि मेरे कर्मबन्धन इन अबोध बालको द्वारा काटे जा रहे है, शुभ्र ध्यान मे लीन रहे। उनके मन मे अणु मात्र भी क्रोध अथवा उत्तेजना उत्पन्न नही हुई। निरपराध, क्षमासागर खिम ऋषि पर उन उद्दण्ड किशोरो द्वारा किये जा रहे निर्दयतापूर्ण प्रहारो को देख न सकने के कारण उस श्मशान मे अवस्थित कोई दिव्य शक्ति क्रुद्ध हो उठी। तत्क्षण उन उद्दण्ड किशोरो के मुख-नासिकाओ से अनवरत रूपेण लहू की धाराए प्रवाहित हो गई। क्षण भर मे ही वे कुमार्गगामी किशोर अपने-अपने घरो की ओर ऐसे भागे मानो एक धमाके के शब्द से चिडियो का झु ड उडा हो।

अपने पुत्रो के मुख और नाक से बहती हुई खून की धाराओ को देख कर उनके माता-पिता, स्वजन-स्नेही एव पास-पडौस के आबाल वृद्ध उन किशोरो के चारो ओर एकत्रित हो गये। लहू के प्रवाह को रोकने के अनेक उपाय किये, पर सब व्यर्थ। एक वृद्ध वैद्य ने कहा—"सबके एक साथ समान रूप से खून का प्रवाह हो रहा है, अत वस्तुत यह कोई व्याधि नही, अवश्यमेव दैवी प्रकोप है।"

उन किशोरो को सान्त्वना भरे शब्दो मे पूछा गया कि वे कहा थे, क्या कर रहे थे और सब के एक साथ समान रूप से मुख और नाक से रक्त-प्रवाह का कारण क्या है? सभी किशोर मूक बने एक-दूसरे का मु ह ताकने लगे। एक अल्पवयस्क किशोर ने रोते-रोते श्मशान मे खिम ऋषि पर उन सबके द्वारा पत्थर बरसाये जाने का वृत्तान्त कह सुनाया। अन्त मे उसने कहा—"ये लोग प्रतिदिन इसी प्रकार खिम ऋषि पर ढेले, पत्थर, डण्डे बरसाते रहते हैं। मै क्या करू मुझे भी साथ मे पकड कर ले जाते है। खिम ऋषि तो कुछ भी नही बोले, हिले-डुले भी नही। और तो और उन्होने तो आख तक नही खोली। बिलकुल चुपचाप चोटे खाते रहे।"

उस बालक की बात सुन कर गाव का आबाल वृद्ध श्मशान की पाल की ओर उमड पडा। उन्होने देखा कि खिम ऋषि का अग प्रत्यग चोटो से क्षत-विक्षत हो रहा है। घोर तपश्चरण के परिणामस्वरूप उनके शरीर का रक्त तो सूख चुका है, तथापि घावो मे रुधिर कण चमक रहे है। सभी ग्रामनिवासी उन उद्दण्ड एव निर्दयी ब्राह्मण पुत्रो की ओर घृणापूर्ण दृष्टि से घूरने लगे।

रक्त उगलते हुए उन किशोरो के माता-पिता खिम ऋषि के चरणो के समक्ष अपना शिर पृथ्वी पर रगड-रगड कर अपने पुत्रो को क्षमा कर देने की भीख मागने लगे। खिम ऋषि ध्यान मुद्रा मे निश्चल खडे थे। उनके मुखमण्डल पर प्रशात महासागर के समान शान्ति का अखण्ड साम्राज्य विराजमान था।

एक वयोवृद्ध ग्रामीण ने कहा - "ये तो क्षमा के अवतार है। इनके लिये अपकारी और उपकारी दोनो ही समान है। ये तो मन से भी किसी का बुरा नही सोच सकते। यह तो इनकी अनन्य उपासिका किसी दिव्य शक्ति का ही प्रकोप है। इनके चरणो का प्रक्षालन कर उस चरणोदक को इन उद्दण्ड छोकरो के मुख, मस्तक और तन पर छिडको एव इन्हे वह चरणामृत पिलाओ। शीघ्रता करो, अभी ये सब पूर्णत स्वस्थ हो जायेगे।"

उस ग्रामवृद्ध के कथनानुसार खिम ऋषि के चरणोदक की बूदे उन किशोरो के मुख एव मस्तक पर छिडकते ही उन सबका रक्तप्रवाह रुक गया। सभी ग्राम निवासियो ने उन महर्षि के चरणो मे अपना मस्तक रख अपने भाल पर उनकी चरणरज लगाई। उसी दिन से उस ग्राम के निवासी बोधा ऋषि को खिम ऋषि अर्थात् क्षमा ऋषि के सम्मानपूर्ण सम्बोधन से अभिहित करने लगे और दूर-दूर तक उनकी ख्याति खिम ऋषि के नाम से फैल गई।

ब्राह्मणो ने उसी दिन विपुल धनराशि एकत्रित कर खिम ऋषि के समक्ष रख दी किन्तु कन्चन-कामिनी के त्यागी उन महा मुनि ने उसकी ओर आख तक उठा कर नही देखा। अन्ततोगत्वा वह धनराशि समष्टि के लिये कल्याणकारी कार्यो मे व्यय की गई।

खिम ऋषि का तपश्चरण उत्तरोत्तर उग्र होता रहा। प्रत्येक तपश्चर्या के पारण के लिये वे बडा ही विचित्र अभिग्रह करते। उन्होने पारण के लिये ८४ प्रकार के ऐसे विचित्र अभिग्रह किये, जिनकी पूर्ति असम्भव को सम्भव एव असाध्य को साध्य बना देने वाली आत्मशक्ति के अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति से कदापि सम्भव नही। उन दुष्कर ८४ अभिग्रहो मे से उदाहरणार्थ एक का उल्लेख यहा किया जा रहा है।

एक दिन तपस्या का प्रत्याख्यान करते हुए खिम ऋषि ने मन ही मन प्रतिज्ञा की कि धाराधिपति मुज के लघु सहोदर सिंधुल का अनन्य सखा राव कृष्ण

सद्यस्नात, विकीर्णकेश एव उद्विग्न मन स्थिति मे २१ अपूप (पूवे) भिक्षा मे दे तो खिम ऋषि अपनी तपश्चर्या का पारण करे, अन्यथा जीवन भर निराहार ही रहे।

अभिग्रह का नियम है कि वह मन ही मन किया जाता है किसी को इस प्रतिज्ञा के सम्बन्ध मे किसी भी प्रकार का सकेत तक नही किया जाता। अपने अन्तर्मन मे खिम ऋषि द्वारा की गई इस प्रतिज्ञा का किसी को भला कैसे पता चलता। ३ महीना और ८ दिन तक खिम ऋषि अपने अभिग्रह के अनुसार निराहार तपश्चरण मे सन्तोष का अथाह सागर अपने अन्तस्थल मे समेटे लीन रहे। दूसरे दिन घोर तपस्वी खीम ऋषि क्षत्रियश्रेष्ठ रावकृष्ण के आवास पर पहुचे। रावकृष्ण उस समय स्नान कर स्नानागार से निकला ही था, उसके बालो मे न तेल डला था और न कघी ही की हुई थी। वह किसी कारण उद्विग्न अवस्था मे खडा था। शिशिर की शीत लहर के कारण उसका तन बदन ठिठुर रहा था। उसी समय चादी के तसले मे गरम-गरम अपूप (पूवे) लिये उसकी सेविका भोजनागार से निकल कर रावकृष्ण के समक्ष उपस्थित हुई। सहसा रावकृष्ण की दृष्टि द्वार मे प्रविष्ट होते हुए खिम ऋषि पर पडी। उसने तत्काल पूवो से भरा चादी का तसला सेविका के हाथ से लिया और खिम ऋषि की ओर बढे।

नतमस्तक हो उद्विग्न राव कृष्ण ने खिम ऋषि से प्रार्थना की —"महर्षिन्! कृपा कर लीजिये ये गरम-गरम पूवे। आज तो ऐसी भयकर ठड पड रही है कि धमनियो का रक्तप्रवाह भी जैसे बरफ की तरह जम जायेगा। लीजिये दया सिन्धो! पूर्णत निर्दोष और विशुद्ध कल्पनीय आहार है यह।"

रजतपात्र मे रखे पूओ को खिम ऋषि ने गिना तो वे सख्या मे पूरे २१ थे, न तो एक भी न्यून और न एक भी अधिक था। अपना अभिग्रह पूर्णत पूर्ण हुआ देख खिम ऋषि ने झोली मे से भिक्षापात्र निकाला और राव कृष्ण की ओर बढा दिया। राव कृष्ण ने इक्कीसो अपूप अपने रजतपात्र से महर्षि खिम मुनि के भिक्षा-पात्र मे उडेल दिये।

इस प्रकार अभिग्रह पूर्ण होने पर खिम ऋषि की तीन मास और ८ दिन की लम्बी निराहार तपश्चर्या का पारण हुआ। रावकृष्ण के राजभवन मे खिम ऋषि के पारण का समाचार तत्काल विद्युत् वेग से धारा नगरी मे फैल गया। धारा नगरी के घर-घर से धन्य धन्य के कण्ठस्वर गूज उठे। धाराधिवासियो और धाराधीश तक ने राव कृष्ण के भाग्य की मुक्तकण्ठ से सराहना की। धारा निवासी तपस्वीराज खिम ऋषि के दर्शनार्थ उमड पडे। राजकुमार सिंधुल के साथ राव कृष्ण भी खिम ऋषि के विश्राम स्थल पर गया। जब राव कृष्ण को ज्ञात हुआ कि अब उसकी आयु के केवल ६ मास ही अवशिष्ट रहे है, तो उन्होने अपना शेष जीवन समग्ररूपेण अध्यात्मसाधना मे ही व्यतीत करने का दृढ निश्चय कर अपने आत्मीय जनो से अनुज्ञा प्राप्त कर श्रमणधर्म अगीकार कर लिया।

कृष्ण ऋषि

विपुल चल-अचल सम्पत्ति, ऐश्वर्य, ऐहिक सुखोपभोग, पुत्र, कलत्र, परिवार घर-द्वारादि सभी प्रकार के सासारिक मोह-ममत्व को नागराज द्वारा छोडी जाने वाली केचुल के समान एक ही झटके मे छोड छिटका कर राव कृष्ण ने क्षत्रियोचित साहस का परिचय दिया। सयम ग्रहण करते ही वे राव कृष्ण से कृष्णर्षि बन अपने गुरु के पदचिन्हो पर चलते हुए घोर तपश्चरण पूर्वक वे अहर्निश ज्ञान-ध्यान की आराधना मे, अध्यात्मरमण मे लीन रहने लगे।

इस प्रकार ६ मास तक विशुद्ध सयम की पालना कर कृष्णर्षि अपने मानव जीवन को अन्तिम समय मे सफल कर स्वर्गस्थ हुए।

कालान्तर मे खिम ऋषि भी ६० वर्ष की सयम साधना के पश्चात् ९० वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गवासी हुए।

इन महर्षियो के जीवनवृत्त से अन्तर्मन मे विश्वास होता है कि चैत्यवासी आदि विभिन्न परम्पराओ मे भी स्व-पर-कल्याणकारी अनेक महापुरुष समय-समय पर हुए है।

कवि महासेन (सुलोचना कथा के रचना   र)

वीर नि० की बारहवी शताब्दी के लगभग महासेन नामक एक महान् कवि हुए है। वे किस समय हुए, किस परम्परा के, किस आचार्य के शिष्य और कहाँ के थे इस सम्बन्ध मे जैन वाग्मय मे कोई उल्लेख अद्यावधि उपलब्ध नही हो रहा है। इनकी एकमात्र कृति 'सुलोचना कथा' का उल्लेख मिलता है, किन्तु वर्तमान मे वह भी अनुपलब्ध है।

विद्वान् समर्थ कवि आचार्य उद्योतन सूरि ने अपनी लोकप्रिय कृति 'कुवलय-माला' मे, जिसे कि उन्होने शक सवत् ६९९ के अन्तिम दिनो मे पूर्ण किया, कवि महासेन की कृति 'सुलोचना कथा' की भूरि-भूरि प्रशसा करते हुए लिखा है —

> "सण्णिहिय जिणवरिंदा, धम्मकहा बधदिक्खय णरिंदा।
> कहिया जेण सुकहिया, सुलोयणा समवसरण व ॥३९॥"

> "अर्थात्—जिस प्रकार तीर्थंकर प्रभु समवसरण मे विराजमान होकर धर्मकथा सुनाते हैं और उस धर्मकथा को सुनकर नरेन्द्र तक श्रमण धर्म मे दीक्षित हो जाते है, उसी प्रकार कवि महासेन ने बडी ही सुन्दर ढग से सुलोचना कथा की रचना की है, जिसे सुनकर एक राजा ने दीक्षा ग्रहण कर ली।"

पुन्नाट सघीय आचार्य अमितसेन के शिष्य जिनसेन ने अपनी वीर नि० स० १३१० की महान् कृति हरिवश पुराण मे महासेन की इस सुन्दर कृति को "शीला-लकारधारिणी सुनयनी सुन्दरी" की उपमा दी है।

इन दोनो महान् ग्रन्थकार आचार्यो से पूर्ववर्ती किसी ग्रन्थकार की कृति मे कवि महासेन और उनकी कृति 'सुलोचना कथा' के सम्बन्ध मे कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता, इससे यही अनुमान लगाया जाता है कि सुलोचना कथा के रचनाकार विद्वान् कवि महासेन वीर निर्वाण की बारहवी शताब्दी मे किसी समय हुए होगे।

शोधार्थी विद्वानो से अपेक्षा है कि वे इस नितरामतीव सुन्दर एव अमोघ उपदेशप्रदा 'कथा' को खोज निकालने की दिशा मे प्रयास करेंगे।

कवि परमे ी (गर्थ संग्रह के रचनाकार)

वीर निर्वाण की बारहवी शताब्दी के उपान्त्य चरण मे परमेष्ठी नामक एक महान् ग्रन्थकार विद्वान् हुए है। ये कहा हुए, किस निश्चित समय मे हुए, किस परम्परा के किस आचार्य के शिष्य थे, इनका समय कब से कब तक रहा, ये सब तथ्य आज विस्मृति के गहन अन्धकार मे आच्छादित होने के कारण उपलब्ध नही है। कवि परमेष्ठी ने 'वागर्थ सग्रह' नामक एक विशिष्ट ग्रन्थरत्न की रचना की थी, जिसे अनेक विद्वानो ने आदर्श ग्रन्थरत्न समझ कर अपने-अपने ग्रन्थ प्रणयन के समय उसकी शैली से, उसमे निहित तथ्यो से मार्ग-दर्शन प्राप्त किया। आज कवि परमेष्ठी का 'वागर्थ सग्रह' ग्रन्थ उपलब्ध नही है किन्तु उसकी प्रशसा मे किये गये आदरपूर्ण उल्लेख विक्रम की ९ वी शताब्दी के महान् ग्रन्थकार पचस्तूपान्वयी भट्टारक जिनसेन ने आदि पुराण मे उनके शिष्य गुणभद्र ने उत्तर पुराण मे, और श्रमणबेलगोल मे गोम्मटेश्वर (बाहुबली) की गगनचुम्बी विशाल मूर्ति के निर्माता एव प्रतिष्ठापक चामुण्डराय ने अपने ग्रन्थ 'चामुण्डपुराण' (ई० सन् १०३० के आसपास) मे, आज भी विद्यमान हैं।

आदिपुराणकार भट्टारक जिनसेन ने कवि परमेष्ठी को कवियो का परमेश्वर बताते हुए उनके वागर्थ सग्रह की निम्नलिखित शब्दो मे प्रशसा की है —

"स पूज्य कविभिर्लोके, कवीना परमेश्वर ।
वागर्थ-सग्रह-कृत्स्न, पुराण य समग्रहीत् ।।[1]"

भट्टारक जिनसेन द्वारा वागर्थ सग्रह के सम्बन्ध मे किये गये इस उल्लेख से यह सिद्ध होता है कि कवि परमेष्ठी का 'वागर्थ सग्रह' वृहत् पुराण ग्रन्थ होगा।

भट्टारक जिनसेन से पूर्ववर्ती किसी विशिष्ट ग्रन्थकार द्वारा कवि परमेष्ठी के सम्बन्ध मे किया गया उल्लेख अद्यावधि कही दृष्टिगोचर नही हुआ है, इससे यह अनुमान किया जाता है कि कवि परमेष्ठी भी "सुलोचना कथा" के रचनाकार कवि महासेन के सभवत समकालीन, वीर निर्वाण की १२वी शताब्दी के किसी समय मे हुए होगे।

---

[1] आदिपुराण १ । ६०

भ० महावीर के ४३ वे ौर ४४ वे पट्टधर के स की राजनैति स्थिति

भ० महावीर के ४३ वे पट्टधर आचार्य लक्ष्मीवल्लभ और ४४ वे पट्टधर आ० रामऋषि स्वामी के आचार्यकाल मे राष्ट्रकूटवशीय राजा अमोघवर्ष का शासन रहा। अमोघ वर्ष की गणना वीर निर्वाण की १४ वी शताब्दी के सर्वाधिक शक्तिशाली राजाओ मे की जाती है। जिन शासन के प्रति उसकी श्रद्धा-निष्ठा अटूट एव अगाढ थी। वह स्वभाव से ही धार्मिक वृत्ति का आदर्श व्यक्ति था। वस्तुत वह उस समय के भारतवर्ष के राजाओ मे सर्वाधिक शक्तिशाली राजा होते हुए भी युद्धो की अपेक्षा धर्म और साहित्य के प्रति अधिक प्रेम रखता था। वह अनेक वार अपने राज्य-कार्यो और राजप्रासादो को छोड कर जैन साधुओ की सत्सगति मे चला जाता था।

अमोघ वर्ष के पिता, राष्ट्रकूट वश के सर्वाधिक प्रतापी सम्राट गोविन्द तृतीय, जिस समय १२ राजाओ की सुविशाल शक्तिशाली सेना को युद्ध मे पराजित करने के पश्चात् मालवा, लाट, गुजरात, कन्नौज आदि राज्यो पर अपना आधिपत्य स्थापित कर दक्षिणापथ की विजय के लिये आगे बढ रहा था उस समय नर्मदा तट पर अवस्थित श्रीभवन नामक स्थान पर उनके शैन्य-शिविर मे ही वीर नि० स० १३२६ (ई० सन् ८०२)[1] मे अमोघवर्ष का जन्म हुआ। अमोघवर्ष के जन्म के पश्चात् गोविन्द तृतीय को अनेक बडी बडी उपलब्धिया हुई। उसने दक्षिण के शक्तिशाली पल्लव राजा दन्तिदुर्ग को युद्ध मे पूर्ण रूपेण पराजित कर पल्लवराज्य की राजधानी काची पर अधिकार कर लिया। जब गोविन्द तृतीय, नवविजित काची मे ही विद्यमान था उस समय श्रीलका के राजा ने उसके पास अपना दूत भेज कर उसकी (गोविन्द तृतीय की) आधीनता स्वीकार की।

अमोघ वर्ष के जन्म के पश्चात् गोविन्द तृतीय, वस्तुत भारत का उस समय का सबसे बडा शक्तिशाली राजा कहलाने लगा। राष्ट्रकूट वश के तत्कालीन राज कवियो ने गोविन्द तृतीय को अजेय सम्राट बताते हुए लिखा है कि जिस प्रकार श्री कृष्ण के जन्म के पश्चात् यादव अजेय हो गये उसी प्रकार राष्ट्रकूट राजवश मे गोविन्द तृतीय के जन्म के पश्चात् राष्ट्रकूट वश अजेय हो गया।

---

[1] प्रस्तुत ग्रन्थ के पृष्ठ २६१ की पक्ति स ३ और ११ मे ई सन् ८०३ के स्थान पर ई सन् ७६४ पढें। उपलब्ध नवीन ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर यह अनुमान किया जाता है कि ई सन् ७६४ मे ध्रुव की मृत्यु और गोविन्द तृतीय का राज्यारोहण हुआ था।

गोविन्द तृतीय ने अपने (वीर नि० स० १३२१—१३४१) बीस वर्ष के शासनकाल मे मलखेड के राष्ट्रकूट राज्य को एक शक्तिशाली साम्राज्य का स्वरूप प्रदान कर दिया। वीर नि० स० १३४१ मे उसकी मृत्यु हो जाने के पश्चात् उसका पुत्र अमोघवर्ष राष्ट्रकूट के विशाल साम्राज्य के राजसिंहासन पर आसीन हुआ।

गोविन्द (तृतीय) की मृत्यु के अनन्तर जिस समय अमोघवर्ष राष्ट्रकूट-वशीय विशाल साम्राज्य के राजसिंहासन पर बैठा उस समय उसकी अवस्था केवल १२ वर्ष की ही थी। सुविशाल साम्राज्य के स्वामी की बालवय को देख कर यह स्वाभाविक ही था कि उस साम्राज्य के राज्यलिप्सु सामन्त, शत्रु राजा और पडौसी राजा सिर उठाते। अमोघवर्ष के राजसिंहासन पर बैठते ही पूर्वी चालुक्य राजवश के बेंगी के राजा विजयादित्य एव गगवशीय राजा राचमल्ल प्रथम का पृष्ठबल पा कर राष्ट्रकूट साम्राज्य के सामन्तो एव राज्याधिकारियो ने राष्ट्रकूट साम्राज्य मे चारो ओर विद्रोह की आग भडका दी। अमोघवर्ष ने बाल वय होते हुए भी बडे धैर्य और सूझ बूझ से काम लिया। अपने चचेरे भाई लाट प्रदेश के शासक कर्क और अपने सेनापति बकैया की सहायता से उसने एक के पश्चात् एक करके सभी विद्रोह को कुचल डाला।

उन्नीस (१९) वर्ष की आयु मे पदार्पण करते करते अमोघवर्ष ने अपने राज्य मे चारो ओर शान्ति स्थापित कर दी। ईस्वी सन् ८५० के आस-पास पूर्वी चालुक्यो के बेंगी नरेश गुणग विजयादित्य तृतीय ने अपने राज्य को राष्ट्रकूटो के आधिपत्य से मुक्त कराने की चेष्टा की। इस कारण पूर्वी चालुक्यो के साथ अमोघवर्ष को पुन युद्ध करना पडा। करनूल जिले के विंगावलि नामक स्थान पर गुणग विजयादित्य की चालुक्य सेना के साथ अमोघवर्ष की सेना का भयकर युद्ध हुआ। अमोघवर्ष की उसमे निर्णायक विजय हुई। इस युद्ध मे पराजय के पश्चात् बेंगी का राजा पूर्वी चालुक्य गुणग विजयादित्य जीवन भर अमोघवर्ष का स्वामि-भक्त सामन्त बना रहा।

पूर्वी चालुक्यो को वशवर्त्ती बनाने के अनन्तर गग राजा राचमल्ल प्रथम के पुत्र एडय नीतिमार्ग ने जब राष्ट्रकूट साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह खडा किया तो अमोघवर्ष को पुन युद्ध करने के लिये बाध्य होना पडा। इस युद्ध मे भी अमोघवर्ष के सेनापति बकैया ने गग राज को पराजित कर उसे राष्ट्रकूट वश का वशवर्त्ती राजा बना लिया।

इस प्रकार अमोघवर्ष को लगभग ४६ वर्ष तक सघर्षरत रहना पडा। उसके शासन काल के अन्तिम १८ वर्ष लगभग पूर्ण शान्ति के साथ बीते।

राष्ट्रकूट वश की राजधानी मान्यखेट को अमोघवर्ष इन्द्र की अलकापुरी के समान सुन्दर बनाना चाहता था। इसमे उसने सुन्दर राजमहल और अनेक भवन बनवाये। इसका शेष परिचय राष्ट्रकूट राजवश के परिचय मे दिया जा चुका है। ❖

महाराणा अल्लट चित्तौड़ का शिशोदि वंशीय राजा

चित्तौड का महाराणा अल्लट जैन धर्म और जैनाचार्यो के प्रति प्रगाढ श्रद्धा भक्ति रखने वाला मेवाड नरेश्वर था। मेवाड के यशस्वी शिशोदिया राजवश मे बप्पा रावल के पश्चात् महाराजा अल्लट बडा ही प्रतापी राजा हुआ है।

मेवाड के महाराणा भर्तृभट्ट (द्वितीय) की महाराणी, राठौड वश की राजकुमारी महालक्ष्मी की कुक्षि से अल्लट का जन्म हुआ। महाराणा भर्तृभट्ट के पश्चात् वि स ९२२ के आस-पास अल्लट चित्तौड के राजसिंहासन पर बैठा। 'टाड राजस्थान' मे अल्लट का समय वि स ९२२ उल्लिखित है और वि स १०१० तक के इसके राज्यकाल के शिलालेख उपलब्ध होते है। इससे अनुमान किया जाता है कि मेवाड के राजसिंहासन पर वि स ९२२ से वि स १०१० तक आसीन रह कर अल्लट मेवाड का शासन करता रहा।

एक समय जैनाचार्य बलिभद्रसूरि का विहार क्रम से हथूडी मे पदार्पण हुआ। उस समय महाराणा अल्लट की महारानी महालक्ष्मी हथूडी मे थी और वह असाध्य रेवती रोग से पीडित थी। अनेक प्रकार के उपचारो के उपरान्त भी महारानी की व्याधि शान्त होने के स्थान पर उत्तरोत्तर उग्र होती जा रही थी। बलिभद्रसूरि के त्याग और तपश्चर्या की महिमा सुन कर महारानी महालक्ष्मी भी राजपुरुषो एव परिचारिकाओ के साथ उनके दर्शन के लिये गई। आचार्यश्री के दर्शन कर उनके त्याग एव तपस्तेज से महारानी बडी प्रभावित हुई और उसने अपनी असाध्य व्याधि की करुण कहानी सक्षेप मे आचार्य श्री को निवेदित कर दी।

आचार्य बलिभद्रसूरि के दर्शनो और उनके द्वारा बताये गये व्रत-नियम, प्रत्याख्यान एव पथ्यो के पालन से मेवाड की महालक्ष्मी का असाध्य रोग प्रथम दिन से ही क्रमश शान्त होने लगा और इने-गिने दिनो मे ही वह उस असाध्य रोग से मुक्त हो पूर्णरूपेण स्वस्थ हो गई। महारानी की रोगमुक्ति का समाचार पा महाराणा अल्लट आचार्य बलिभद्रसूरि के दर्शनार्थ उपस्थित हुए। आचार्य श्री ने राजा अल्लट को जैन धर्म के मूलभूत सिद्धान्तो का सारत बोध दे सम्यक्त्व का महत्व बताया। महाराणा अल्लट पर आचार्य श्री के उपदेश का ऐसा अमिट प्रभाव हुआ कि वह जीवन भर जैनाचार्यो के सत्सग का लाभ लेने के साथ-साथ यथाशक्य जैन सघ की प्रभावना के कार्यो मे सहयोग देता रहा। बलिभद्रसूरि के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए अल्लट ने अनेक प्रतिष्ठित नागरिको को बलिभद्रसूरि के श्रद्धालु श्रावक एव भक्त बनाया। उसने हथूडी के राजा विदग्धराज को भी सदा आचार्य श्री की सेवा मे तत्पर रहने का परामर्श दिया। वि. स ९७३ के आस-पास की इस

घटना के पश्चात् महाराणा अल्लट जैन धर्म मे गहरी रुचि लेने लगा। इसने अनेक जैनाचार्यों के उपदेश सुने और उनका राजकीय सम्मान किया। उन जैनाचार्यो मे आचार्य नन्नसूरि, आचार्य जिनयश, आचार्य विमलचन्द्र, आचार्य प्रद्युम्नसूरि आदि के नाम उल्लेखनीय है। महाराणा अल्लट की राजसभा मे आचार्य प्रद्युम्न-सूरि ने एक दिगम्बराचार्य को शास्त्रार्थ मे पराजित कर उसे अपना शिष्य बनाया।

कहा जाता है कि महाराणा अल्लट की एक रानी का नाम हरियदेवी था। वह हूण राजा की पुत्री थी। अपनी उस हूणवशीया रानी के नाम पर अल्लट ने हर्षपुर नामक एक नगर बसाया जो वर्तमान काल मे हासोट नामक एक ग्राम के रूप मे अवशिष्ट रह गया है।

अल्लट के राज्यकाल के अनेक शिलालेख मिलते है, उनसे यह प्रमाणित होता है कि महाराणा अल्लट ने अपने दीर्घकाल के शासन मे जैन धर्म के प्रति उल्लेखनीय अभिरुचि ली।

—*—

हथूंडी का राठौड़ राजवंश ौर जैनधर्म

क्रमश मडोवर (मण्डोर) और जोधपुर राज्य पर शासन करने वाले राठौड राजवश के मरुधरा मे आगमन के पर्याप्त प्राचीन काल से ही राठौडो की एक शाखा का राज्य मारवाड मे हथू डी (मारवाड के गोडवाड) क्षेत्र मे बीजापुर से एक कोस दूर) नामक नगर पर था। यह कोई विशेष बडा राज्य नही था किन्तु मेवाड, सिरोही आदि राज्यो का सीमावर्ती क्षेत्र होने के कारण रणनीति की दृष्टि से इसका बडा महत्व था। हथू डी राजवश का उस समय के बडे-बडे राजाओ के साथ वैवाहिक सम्बन्ध था। मेवाड के महाराणा अल्लट की महारानी महालक्ष्मी हथू डी राजवश की राजकुमारी थी।

विक्रम की दशवी शताब्दी के शिलालेखो से यह प्रमाणित होता है कि हथू डी राज्य के कतिपय राठौडवशी राजा जैनधर्म के प्रति बडी श्रद्धा-भक्ति रखते थे और उनमे से कतिपय जैनधर्मावलम्बी थे। यह पहले बताया जा चुका है कि मेवाड के महाराणा अल्लट के निर्देशानुसार हथू डी का राठौड वशीय राजा विदग्धराज आचार्य बलिभद्रसूरि की सेवा मे तत्पर रहता था। उनके उपदेशो से विदग्धराज को जैन धर्म के प्रति रुचि उत्पन्न हुई और आचार्य वासुदेवसूरि के उपदेशो से वह जैनधर्मावलम्बी बन गया।

वि० स० ९७३ के उसके एक दानशासन से यह तथ्य प्रकाश मे आया है कि हथू डी के राजा विदग्धराज ने हथू डी मे भ० आदिनाथ का एक विशाल मन्दिर बनवाकर उसकी दैनन्दिनी आवश्यकताओ की पूर्ति एव सुदीर्घ काल तक समुचित व्यवस्था हेतु सभी प्रकार के व्यापारिक लेन-देन एव कृषि उपज पर एक धर्मादा कर निर्धारित किया। विदग्धराज द्वारा अपने तोल के बराबर स्वर्ण का तुलादान दिये जाने का भी उल्लेख प्राप्त होता है। विदग्धराज का शासनकाल विक्रम की दशवी शताब्दी का उत्तरार्द्ध अनुमानित किया जाता है।

विदग्धराज के पश्चात् उसका पुत्र मम्मटराज हथू डी का राजा हुआ। मम्मटराज ने भी एक दानशासन लिखकर अपने पिता विदग्धराज के दानशासन का अनुमोदन करते हुए, कपास, केसर, मजीठ, गेहू, जौ, मू ग आदि के आदान-प्रदान व्यापार पर भी धर्मादा कर लगाकर उससे आदिनाथ के मन्दिर के सभी धार्मिक कार्यो को और अधिक समुचित रूप से चलाते रहने की व्यवस्था की। राठौडराज मम्मट ने वि० स० ९९६, माघ कृष्णा ११ के उस दानशासन मे सर्वसाधारण को देवद्रव्य की पूरी तरह रक्षा के लिये सदा सतर्क रहने का परामर्श देते

हुए लिखा कि देवद्रव्य के लेशमात्र का भी दुरुपयोग अथवा उसका निजी स्वार्थ के लिये उपयोग घोर पाप है, अत देवद्रव्य को चुराने अथवा खाने जैसे जघन्य अपराध से प्रत्येक व्यक्ति बचता रहे ।

सामाजिक दृष्टि से भी हथू डी का बहुत बडा महत्व है क्योकि ओसवाल जाति के झामड गोत्र की उत्पत्ति हथू डी से ही हुई । कुलगुरुओ की वहियो के उल्लेखानुसार वि० स० ९८८ मे आचार्य सर्वदेवसूरि विहार क्रम से हथू डी पधारे और उनके उपदेशो से प्रभावित हो राव जगमाल ने अपने कौटुम्बिक जनो के साथ अहिंसामूल जैनधर्म अगीकार कर अपने क्षत्रिय परिजनो के साथ ओसवाल जाति मे सम्मिलित हुआ और उन सबका झामड गोत्र रखा गया ।

मम्मट के पश्चात् उसका पुत्र धवलराज हथू डी के सिंहासन पर बैठा । धवलराज वस्तुत बडा ही शक्तिशाली और शरणागत-प्रतिपाल राजा था ।

इसके शासनकाल मे मालवराज ने आहड पर आक्रमण कर उसे नष्ट कर डाला । उस समय धवलराज ने मेवाड के महाराणा शालिवाहन, सम्भवत खुमाण चतुर्थ को अपने राज्य मे शरण दी । इसने चौहान महेन्द्र की बडी सहायता की और गुजरात के शक्तिशाली राजा मूलराज के आतक से आतकित बढवाण के राजा धरणीवराह को भी शरण दी ।

इसने अपने दादा विदग्धराज के द्वारा निर्मापित भ० आदिनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार करवाया और वि० स० १०५३ की माघ शुक्ला १३ के दिन भगवान् आदिनाथ की नवीन भव्य मूर्ति की शान्तिसूरि से प्रतिष्ठा करवाई ।

श्रमण भगवान महावीर के ४५वें पट्टधर चार्य
श्री पद्मनाभ स्‍ मी

जन्म	—	वीर निर्वाण सम्वत् १३३६
दीक्षा	—	वीर निर्वाण सम्वत् १३६६
आचार्य पद	—	वीर निर्वाण सम्वत् १४०२
स्वर्गारोहण	—	वीर निर्वाण सम्वत् १४३४
गृहवास पर्याय	—	३० वर्ष
सामान्य साधु पर्याय	—	३३ वर्ष
आचार्य पर्याय	—	३२ वर्ष
पूर्ण साधु पर्याय	—	६५ वर्ष
पूर्ण आयु	—	६५ वर्ष

वीर निर्वाण सम्वत् १४०२ मे भगवान् महावीर के ४४वे पट्टधर आचार्य श्री रामऋषि स्वामी के स्वर्गगमन के पश्चात् महामुनि श्री पद्मनाभ स्वामी को प्रभु वीर के ४५वे (पैंतालीसवे) पट्टधर आचार्य पद पर तत्कालीन चतुर्विध जैन सघ ने अधिष्ठित किया ।

श्रमण भगवान् महावीर के ४६ वे (छयालीसवे) पट्टधर
ा र्य श्री हरिशर्म स्वामी

जन्म	—	वीर निर्वाण सम्वत्		१३७०
दीक्षा	—	"	"	१३६१
आचार्य पद	—	"	"	१४३४
स्वर्गारोहण	—	"	"	१४६१
गृहवास पर्याय		२१ वर्ष		
सामान्य साधु पर्याय		४३ वर्ष		
आचार्य पर्याय		२७ वर्ष		
पूर्ण साधु पर्याय		७० वर्ष		
पूर्ण आयु		६१ वर्ष		

वीर निर्वाण सम्वत् १४३४ मे भगवान महावीर के ४५ वे (पैंतालीसवे) पट्टधर आचार्य श्री पद्मनाभ स्वामी के स्वर्गगमन पर महामुनि श्री हरिशर्म स्वामी को प्रभु महावीर के ४६ वे (छियालीसवे) पट्टधर आचार्य पद पर चतुर्विध सघ ने अधिष्ठित किया ।

श्रमण भगवान् महावीर के ४७ वे (ालीसवें) पट्टधर
आचार्य श्री कलशप्रभ र मी

जन्म	—	वीर निर्वाण सम्वत्	१३६९
दीक्षा	—	,, ,,	१४३५
आचार्य पद	—	,, ,,	१४६१
स्वर्गारोहण	—	,, ,,	१४७४
गृहवास पर्याय	६६ वर्ष		
सामान्यसाधु पर्याय	२६ वर्ष		
आचार्य पर्याय	१३ वर्ष		
पूर्ण साधु पर्याय	३९ वर्ष		
पूर्ण आयु	१०५ वर्ष		

वीर निर्वाण सम्वत् १४६१ मे भगवान् महावीर के ४६वे (छियालीसवे) पट्टधर आचार्य श्री हरिशर्म स्वामी के स्वर्गस्थ होने पर चतुर्विध सघ ने महामुनि श्री कलशप्रभ स्वामी को प्रभु महावीर के सैतालीसवे (४७) पट्टधर आचार्य पद पर अधिष्ठित किया ।

भ० महावीर के ४५, ४६ ौर ४७ वे पट्टधरो के समय में ए ३६ वे युगप्रधानाचार्य ज्येष्ठांग गरिग

जन्म	—		वीर नि स १३७०
दीक्षा	—		वीर नि स १३८२
सामान्य साधुपर्याय	—		वीर नि स १३८२–१४००
युगप्रधानाचार्यकाल	—		वीर नि स १४००–१४७१
गृहस्थ पर्याय	—	१२ वर्ष	
सामान्य साधु पर्याय	—	१८ वर्ष	
युगप्रधानाचार्य पर्याय	—	७१ वर्ष	
स्वर्ग .	—		वीर नि स १४७१
सर्वायु	—		१०१ वर्ष, ३ मास और ३ दिन

३५ वे युगप्रधानाचार्य धर्म ऋषि के स्वर्गस्थ होने के उपरान्त वीर नि० स १४०० मे महामुनि श्री ज्येष्ठाग गणि को चतुर्विध सघ ने युगप्रधानाचार्य पद पर अधिष्ठित किया। इस प्रकार ज्येष्ठाग गरिग ३६ वे युगप्रधानाचार्य हुए।

आप कहा के रहने वाले थे, आपके माता-पिता का नाम क्या था, इस सम्बन्ध मे जैन वाग्मय मे कोई विवरण उपलब्ध नही होता। दुस्समा समणसघ थय के अनुसार आपका जन्म वीर निर्वाण स० १३७० मे हुआ। १२ वर्ष की आयु मे ही आपने वीर निर्वाण स० १३८२ मे श्रमणधर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। १८ वर्ष तक सामान्य साधुपर्याय मे रहते हुए आपने आगमो का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया और वीर नि० स० १४०० मे अप्रतिम प्रतिभा सम्पन्न होने के कारण आपको युगप्रधानाचार्य पद पर आसीन किया गया था। ३६ वे युगप्रधानाचार्य ज्येष्ठाग गणि ने ७१ वर्षो तक युगप्रधानाचार्य पद पर विराजमान रहते हुए जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा की। १०१ वर्ष, ३ मास और तीन दिन की आयुष्य समाधिपूर्वक पूर्ण कर आपने वीर नि० स० १४७१ मे स्वर्गारोहण किया। 'तित्थोगाली पइन्नय' नामक प्राचीन ग्रन्थ मे आपके सम्बन्ध मे निम्नलिखित गाथा उपलब्ध होती है :—

चोद्दस वरिस सतेहिं, वोच्छेदो जिट्ठभूति समणम्मि ।
कासव गुत्ते णेयो, कप्प-ववहार सुत्तस्स ॥८१७॥[1]

अर्थात्—वीर निर्वाण के १४०० वर्ष पश्चात् काश्यप गोत्री ज्येष्ठभूति नामक श्रमण के स्वर्गस्थ होने पर कल्प-व्यवहार सूत्र का ह्रास हो जायगा।

कल्प व्यवहार सूत्र के ह्रास जैसी आत्यन्तिक महत्व की ऐतिहासिक घटना का आचार्य के नाम के साथ सुनिश्चित समय का उल्लेख होने के कारण प्राचीन प्रकीर्णक ग्रन्थ तित्थोगालि पइण्णाय की उपरिलिखित गाथा मे निहित तथ्य वस्तुत इतिहास के सभी विद्वानो के लिये बडी गहराई से विचार करने योग्य है।

तित्थोगाली पइण्णय मे अधिकाश ऐसे ऐतिहासिक तथ्य दिये गये हैं जिनकी कि पुष्टि जैन वाग्मय के विभिन्न ग्रन्थो से होती है। इस ग्रन्थ की गाथा सख्या ८१२ से १४ तक (युगप्रधानाचार्य) पुष्यमित्र के सम्बन्ध मे यह लिखा गया है कि वीर निर्वाण सम्वत् १२५० मे गणि पुष्यमित्र के स्वर्गस्थ हो जाने पर व्याख्या प्रज्ञप्ति का छ अन्य अगो के साथ ह्रास हो जायगा। यथा

पण्णासा वरिसेहिं य बारस वरिस सएहि वोच्छेदो।
दिण्णगणि पूसमित्ते सविवाहाण छलगाण ॥

"दुस्समा समण सघ थय" के द्वितीयोदय के युग प्रधान यन्त्र मे भी बत्तीसवे युगप्रधानाचार्य पुष्यमित्र का यही समय दिया हुआ है।

तित्थोगालिपइण्णाय की गाथा सख्या ८१५ मे माढर सम्भूत गणि के वीर निर्वाण सम्वत् १३०० मे स्वर्गस्थ हो जाने पर समवायाग के ह्रास का उल्लेख है। इसके विपरीत युगप्रधानाचार्य पट्टावलिदुस्समासमणसघथय के युगप्रधान यन्त्र मे माढर सम्भूति को चौतीसवा युग प्रधान बताते हुए वीर निर्वाण सम्वत् १३६० मे उनके स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है। माढर सम्भूति से पहले उस युगप्रधान यन्त्र मे सम्भूति को तैंतीसवा युगप्रधानाचार्य बताकर वीर निर्वाण सम्वत् १३०० मे उनके स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है।

तित्थोगालि पइण्णाय की गाथा सख्या ८१६ मे आर्जव नामक यति के वीर निर्वाण सम्वत् १३५० मे स्वर्गस्थ हो जाने पर स्थानाग सूत्र के ह्रास का उल्लेख किया गया है जबकि युगप्रधान यन्त्र मे माढर सम्भूति के वीर निर्वाण सम्वत् १३६० मे स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है।

इसी प्रकार तित्थोगालि पइण्णाय की गाथा स० ८१७ मे जैसा कि ऊपर बताया गया है वीर निर्वाण सम्वत् १४०० मे काश्पय गोत्रीय ज्येष्ठ भूति श्रमण के

---

[1] प० श्री कल्याणविजयजी और गजसिंह राठोड द्वारा सपादित तित्थोगाली पइन्नय

स्वर्गस्थ होने पर कल्प व्यवहार सूत्र के ह्रास का उल्लेख है। इसके विपरीत युग प्रधानाचार्य यन्त्र अथवा युगप्रधानाचार्य पट्टावलि मे वीर निर्वाण सम्वत् १४०० मे ३५ वे युगप्रधानाचार्य धर्मऋषि के स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है।

इसके आगे तित्थोगालि पइण्णय की गाथा सख्या ८१८ मे उल्लेख है कि वीर निर्वाण सम्वत् १५०० मे गौतम गोत्रीय महासत्वशाली श्रमण फल्गुमित्र के स्वर्गस्थ हो जाने पर दशाश्रुतस्कध का ह्रास हो जायगा।

युगप्रधानाचार्य यन्त्र मे भी ३७ वे युगप्रधानाचार्य (सैंतीसवे) फल्गुमित्र का वीर निर्वाण सम्वत् १५२० मे (लिपिक की त्रुटि को सुधारा जाय तो वीर निर्वाण सम्वत् १५००) स्वर्गस्थ होने का उल्लेख किया गया है।

इसी ग्रन्थ की गाथा सख्या ८१६ मे भरद्वाज गोत्रीय महा सुमिण नामक मुनि के वीर निर्वाण सम्वत् १६०० मे स्वर्गस्थ हो जाने पर सूत्रकृताग के ह्रास का उल्लेख किया गया है।

युगप्रधानाचार्य पट्टावलि एव यन्त्र मे ४२ वे (बयालीसवे) युगप्रधानाचार्य सुमिण मित्र का वीर निर्वाण सम्वत् १६१८ मे स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है।

युगप्रधानाचार्य पट्टावलि और तित्थोगालि पइण्णय के सुमिण मित्र सम्बन्धी उल्लेख मे १८ वर्ष का अन्तर है।

साराश यह है कि तित्थोगालि पइण्णय मे और युगप्रधानाचार्य पट्टावली मे ३२ वे (बत्तीसवे) युगप्रधानाचार्य पुष्यमित्र के स्वर्गस्थ होने का समय समान रूप से वीर निर्वाण सम्वत् १२५० उल्लिखित है।

युगप्रधानाचार्य पट्टावलि मे पुष्यमित्र के पश्चात् सम्भूति को ३३ वा (तैंतीसवा), युगप्रधान माढर सम्भूति को ३४ वा (चौतीसवा), धर्मऋषि को ३५ वा (पैंतीसवा), ज्येष्ठाग गणि को ३६ वा (छत्तीसवा), फल्गुमित्र को ३७ वा (सैंतीसवा) और सुमिण मित्र को ४२ वा (बयालीसवा) युगप्रधान बताया गया है।

इसके विपरीत तित्थोगालि पइण्णय मे पुष्यमित्र के पश्चात् माढर सम्भूति, आर्जव यति, ज्येष्ठभूति, फल्गुमित्र और महा सुमिण मुनियो का क्रमश उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि इनके स्वर्गस्थ होने पर किन-किन सूत्रो का ह्रास हुआ।

वस्तुत दुस्समा समण सघथय के रचनाकर धर्मघोष सूरि का समय विक्रम की चौदहवी शताब्दी अर्थात् विक्रम सम्वत् १३२७ से १३५७ तक (वीर निर्वाण सम्वत् १७९७ से १८२७) का है जबकि तित्थोगालि पइण्णय का रचनाकाल अनेक

चोद्दस वरिस सतेहि, वोच्छेदो जिट्ठभूति समणमि ।
कासव गुत्ते णेयो, कप्प-ववहार सुत्तस्स ।।८१७।।[1]

अर्थात्—वीर निर्वाण के १४०० वर्ष पश्चात् काश्यप गोत्री ज्येष्ठभूति नामक श्रमण के स्वर्गस्थ होने पर कल्प-व्यवहार सूत्र का ह्रास हो जायगा ।

कल्प व्यवहार सूत्र के ह्रास जैसी आत्यन्तिक महत्व की ऐतिहासिक घटना का आचार्य के नाम के साथ सुनिश्चित समय का उल्लेख होने के कारण प्राचीन प्रकीर्णक ग्रन्थ तित्थोगालि पइण्णय की उपरिलिखित गाथा मे निहित तथ्य वस्तुत इतिहास के सभी विद्वानो के लिये बडी गहराई से विचार करने योग्य है ।

तित्थोगाली पइण्णय मे अधिकाश ऐसे ऐतिहासिक तथ्य दिये गये है जिनकी कि पुष्टि जैन वाग्मय के विभिन्न ग्रन्थो से होती है । इस ग्रन्थ की गाथा सख्या ८१२ से १४ तक (युगप्रधानाचार्य) पुष्यमित्र के सम्बन्ध मे यह लिखा गया है कि वीर निर्वाण सम्वत् १२५० मे गणि पुष्यमित्र के स्वर्गस्थ हो जाने पर व्याख्या प्रज्ञप्ति का छ अन्य अगो के साथ ह्रास हो जायगा । यथा

पण्णासा वरिसेहि य बारस वरिस सएहिं वोच्छेदो ।
दिण्णगणि पूसमित्ते सविवाहाण छलगाण ।।

"दुस्समा समण सघ थय" के द्वितीयोदय के युग प्रधान यन्त्र मे भी बत्तीसवे युगप्रधानाचार्य पुष्यमित्र का यही समय दिया हुआ है ।

तित्थोगालिपइण्णय की गाथा सख्या ८१५ मे माढर सम्भूत गणि के वीर निर्वाण सम्वत् १३०० मे स्वर्गस्थ हो जाने पर समवायाग के ह्रास का उल्लेख है । इसके विपरीत युगप्रधानाचार्य पट्टावलिदुस्समासमणसघथय के युगप्रधान यन्त्र मे माढर सम्भूति को चौतीसवा युग प्रधान बताते हुए वीर निर्वाण सम्वत् १३६० मे उनके स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है । माढर सम्भूति से पहले उस युगप्रधान यन्त्र मे सम्भूति को तैतीसवा युगप्रधानाचार्य बताकर वीर निर्वाण सम्वत् १३०० मे उनके स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है ।

तित्थोगालि पइण्णय की गाथा सख्या ८१६ मे आर्जव नामक यति के वीर निर्वाण सम्वत् १३५० मे स्वर्गस्थ हो जाने पर स्थानाग सूत्र के ह्रास का उल्लेख किया गया है जबकि युगप्रधान यन्त्र मे माढर सम्भूति के वीर निर्वाण सम्वत् १३६० मे स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है ।

इसी प्रकार तित्थोगालि पइण्णय की गाथा स० ८१७ मे जैसा कि ऊपर बताया गया है वीर निर्वाण सम्वत् १४०० मे काश्यप गोत्रीय ज्येष्ठ भूति श्रमण के

[1] प० श्री कल्याणविजयजी और गजसिंह राठोड द्वारा सपादित तित्थोगाली पइन्नय

स्वर्गस्थ होने पर कल्प व्यवहार सूत्र के ह्रास का उल्लेख है। इसके विपरीत युग प्रधानाचार्य यन्त्र अथवा युगप्रधानाचार्य पट्टावलि मे वीर निर्वाण सम्वत् १४०० मे ३५ वे युगप्रधानाचार्य धर्मऋषि के स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है।

इसके आगे तित्थोगालि पइण्णय की गाथा सख्या ८१८ मे उल्लेख है कि वीर निर्वाण सम्वत् १५०० मे गौतम गोत्रीय महासत्वशाली श्रमण फल्गुमित्र के स्वर्गस्थ हो जाने पर दशाश्रुतस्कध का ह्रास हो जायगा।

युगप्रधानाचार्य यन्त्र मे भी ३७ वे युगप्रधानाचार्य (सैंतीसवे) फल्गुमित्र का वीर निर्वाण सम्वत् १५२० मे (लिपिक की त्रुटि को सुधारा जाय तो वीर निर्वाण सम्वत् १५००) स्वर्गस्थ होने का उल्लेख किया गया है।

इसी ग्रन्थ की गाथा सख्या ८१६ मे भरद्वाज गोत्रीय महा सुमिण नामक मुनि के वीर निर्वाण सम्वत् १६०० मे स्वर्गस्थ हो जाने पर सूत्रकृताग के ह्रास का उल्लेख किया गया है।

युगप्रधानाचार्य पट्टावलि एव यन्त्र मे ४२ वे (बयालीसवे) युगप्रधानाचार्य सुमिण मित्र का वीर निर्वाण सम्वत् १६१८ मे स्वर्गस्थ होने का उल्लेख है।

युगप्रधानाचार्य पट्टावलि और तित्थोगालि पइण्णय के सुमिण मित्र सम्बन्धी उल्लेख मे १८ वर्ष का अन्तर है।

साराश यह है कि तित्थोगालि पइण्णय मे और युगप्रधानाचार्य पट्टावली मे ३२ वे (बत्तीसवे) युगप्रधानाचार्य पुष्यमित्र के स्वर्गस्थ होने का समय समान रूप से वीर निर्वाण सम्वत् १२५० उल्लिखित है।

युगप्रधानाचार्य पट्टावलि मे पुष्यमित्र के पश्चात् सम्भूति को ३३ वा (तेंतीसवा), युगप्रधान माढर सम्भूति को ३४ वा (चौतीसवा), धर्मऋषि को ३५ वा (पैंतीसवा), ज्येष्ठाग गणि को ३६ वा (छत्तीसवा), फल्गुमित्र को ३७ वा (सैंतीसवा) और सुमिण मित्र को ४२ वा (बयालीसवा) युगप्रधान बताया गया है।

इसके विपरीत तित्थोगालि पइण्णय मे पुष्यमित्र के पश्चात् माढर सम्भूति, आर्जव यति, ज्येष्ठभूति, फल्गुमित्र और महा सुमिण मुनियो का क्रमश उल्लेख करते हुए यह बताया गया है कि इनके स्वर्गस्थ होने पर किन-किन सूत्रो का ह्रास हुआ।

वस्तुत दुस्समा समण सघथय के रचनाकर धर्मघोष सूरि का समय विक्रम की चौदहवी शताब्दी अर्थात् विक्रम सम्वत् १३२७ से १३५७ तक (वीर निर्वाण सम्वत् १७६७ से १८२७) का है जबकि तित्थोगालि पइण्णय का रचनाकाल अनेक

तथ्यो के आधार पर वीर निर्वाण की तीसरी शताब्दी के आसपास का अनुमानित किया जाता है।[1]

इस प्रकार की स्थिति मे तित्थोगालि पइण्णाय के उल्लेखो पर विचार करना परमावश्यक हो जाता है। इतिहास के शोधप्रिय विद्वानो से अपेक्षा है कि वे इस सम्बन्ध मे शोधपूर्ण प्रकाश डालेगे।

---

[1] तित्थोगालि पइण्णाय की गजसिंह राठौड द्वारा लिखित भूमिका का पृष्ठ ५ से ७, प्रकाशक श्वेताम्बर (चारथुइ) जैन सघ, जालौर, तख्तगढ, श्री अचलचन्द जोइतमल बालगोता औठवाडा (जालौर)।

राजगच्छ

राजगच्छ श्वेताम्बर परम्परा मे वडा यशस्वी गच्छ रहा है । इस गच्छ मे अनेक प्रभावक और ग्रन्थकार आचार्य हुए है । जिन शासन के प्रचार एव प्रसार मे उल्लेखनीय योगदान इनसे मिला ।

इस गच्छ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जैन वाग्मय मे जो उल्लेख उपलब्ध होते हैं उनका साराश इस प्रकार है —

तलवाडा (तहनगढ करौली बसने से पूर्व उसके आसपास का एक राजधानी नगर) के राजा, जो आगे जाकर नन्न सूरि हुए, अपने गृहस्थ जीवन मे एक दिन मृगया के लिये निकले । वन मे भागते हुए मृगो के एक टोले को लक्ष्य कर उन्होने तीर चलाया । उन्होने जाकर देखा कि जिस शिकार को उनका तीर लगा है वह हरिणी है, और वह भी गर्भवती हरिणी है । हरिणी और उसके बाहर गिर पडे गर्भ के बच्चे को तडपते देखकर राजा का हृदय पश्चात्ताप की आग मे जलने लगा । राजा को स्वय पर बडी घृणा हुई । पश्चात्ताप करते-करते उसे ससार से ही विरक्ति हो गई । राज्य, घर और परिवार को तृणवत् त्यागकर वे तलवाडा से निकल पडे । पुण्य योग से उन्हे वनवासी गच्छ के एक आचार्य के दर्शन हुए । राजा ने उन आचार्य से धर्म का मर्म सुना । सच्चे धर्म का बोध होते ही उस राजा ने उन वनवासी आचार्य के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली । दीक्षा देते समय नवदीक्षित का नाम नन्न मुनि रक्खा गया । बडी निष्ठा और विनयपूर्वक नन्नमुनि ने अपने आचार्य देव से अनेक विद्याओ और शास्त्रो का अध्ययन किया । वनवासी आचार्य ने अपना अवसान काल समीप समझकर और नन्न मुनि को सर्वथा सुयोग्य पात्र समझकर आचार्य पद प्रदान किया ।

अपने गुरु के स्वर्गारोहण के पश्चात् नन्न सूरि अपने शिष्य परिवार के साथ विभिन्न क्षेत्रो मे अप्रतिहत विहार करते हुए जिनधर्म का प्रचार एव प्रसार करने लगे । नन्न सूरि बडे विद्वान्, प्रतिभाशाली और कुशल व्याख्याता थे । अत उनका गच्छ उत्तरोत्तर अभिवृद्ध होने लगा । नन्न सूरि का जन्म राजवश मे हुआ था इसलिये लोग उन्हे राजर्षि और उनके गच्छ को राजगच्छ कहने लगे । इस प्रकार राजगच्छ वीर निर्वाण की चौदहवी शताब्दी के मध्याह्न मे मध्य गगन गत सूर्य के समान चमकने लग गया । राजगच्छ के आचार्य अपने आपको मूलत चन्द्र-गच्छ के ही आचार्य मानते है और कहते है कि राजगच्छ चन्द्रगच्छ की ही शाखा है । यही कारण है कि राजगच्छ और चन्द्रगच्छ इन दोनो गच्छो की पट्टावलियो

को देखते समय किसी विज्ञ के लिये भी यह बतलाना बडा कठिन हो जाता है कि अमुक आचार्य चन्द्रगच्छ के है अथवा राजगच्छ के ।

इन्ही नन्न सूरि के शिष्य अजित यशोवादी सूरि प्रशिष्य सहदेव सूरि और प्रप्रशिष्य प्रद्युम्नसूरि हुए । आचार्य प्रद्युम्नसूरि ने बाल्यकाल से ही वेद वेदागो का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त कर लिया था । उन्होने सब दर्शनो का अध्ययन करते समय जैन दर्शन का भी अध्ययन किया । तुलनात्मक दृष्टि से सभी दर्शनो का विवेचन करने पर उन्हे इस प्रकार का विश्वास हो गया कि जैन धर्म के सिद्धान्तो के अनुसार सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यग्चारित्र और सम्यग् तपश्चरण की आराधना से ही जन्म, जरा, व्याधि आदि ससार के घोरातिघोर दारुण दुखो से सदा सर्वदा के लिये मुक्ति प्राप्त की जा सकती है । अन्तर्मन मे इस प्रकार का दृढ विश्वास होते ही उन्होने राजगच्छ के आचार्य सहदेव सूरि के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली । अपने गुरु की चरण शरण मे रहते हुए उन्होने आगमो का एव अनेक विद्याओ का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया । न्याय शास्त्र मे निष्णातता प्राप्त कर वे महान् वादी बने । उन्होने सवालक, ग्वालियर, त्रिभुवनगिरि चित्तौड आदि अनेक राज्यो की राजसभाओ मे अन्य दर्शन के विद्वानो से शास्त्रार्थ किये । जैन वाग्मय मे इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते है कि प्रद्युम्नसूरि ने अपने जीवन मे चौरासी वादो मे विजय प्राप्त की । शिशोदिया महाराणा अल्लट राज (विक्रम सम्वत् ९२२ से १०१०) की राजसभा मे उन्होने एक दिगम्बर आचार्य को शास्त्रार्थ मे पराजित कर अपना शिष्य बनाया । कुछ विद्वानो का अभिमत है कि इस विजय के उपलक्ष्य मे चित्तौड के किले मे एक विजयस्तम्भ का निर्माण करवाया गया ।[1]

प्रद्युम्न सूरि के पश्चात् अभयदेव सूरि राजगच्छ के पाचवे आचार्य हुए, जो 'तर्क पचानन अभयदेव सूरि' के नाम से विख्यात हुए । वे भी बडे उच्चकोटि के विद्वान् थे । कतिपय विद्वानो का अनुमान है कि थारपद्र गच्छ के आचार्य वादि-वैताल शान्ति सूरि (उत्तराध्ययन सूत्र के टीकाकार) ने इन तर्क पचानन अभयदेव सूरि के पास न्याय शास्त्र का अध्ययन किया था । इन अभयदेवसूरि ने आचार्य सिद्धसेन सूरि के सम्मति तर्क नामक ग्रथ पर पच्चीस हजार श्लोक प्रमाण टीका ग्रन्थ की रचना की । जो वाद महार्णव के नाम से प्रसिद्ध है । इस विशाल ग्रन्थ मे जैन और जैनेतर दर्शनो की सैकडो प्रकार की विचारधाराए उपलब्ध होती है ।

सयोग की बात है कि यह अभयदेव सूरि तर्क पचानन भी अपने गृहस्थ जीवन मे राजकुमार थे इसलिये इन्हे भी लोग राजर्षि के सम्मानपूर्ण सम्बोधन से अभिहित किया करते थे ।

---

[1] अल्लूभाया विजिते दिगम्बरे तदीयपक्ष किल कोशरक्षक ।
दातु प्रभोरेकपट ममानयत् तमेकपट्ट जगृहे सुधीपु य ॥३॥
(प्रभावक चरित्र प्रशस्ति, पृष्ठ सख्या २१३)

इन आचार्य अभयदेव सूरि के पट्टधर शिष्य का नाम धनेश्वर सूरि था। धनेश्वर सूरि त्रिभुवनगिरि नामक राज्य के कर्दम नामक राजा थे। प्रभावक चरित्रकार ने इनके सम्बन्ध मे अपने ग्रन्थ प्रभावक चरित्र की प्रशस्ति मे इस प्रकार लिखा है

त्रिभुवनगिरि स्वामी श्रीमान् कर्दम भूपति
स्तदुप समभूत् शिष्य श्रीमद्धनेश्वर सज्ञया।
अजनि सुगुरुस्तत्पट्टेऽस्मात् प्रभृत्यवनिस्तुत
तदनु विदितो विश्वे गच्छ स राज पदोत्तर ॥५॥

इन कर्दम राज के सारे शरीर मे अनेक विषैले फफोले उत्पन्न हो गये। अनेक कुशल वैद्यो आदि से अनेक प्रकार के उपचार करवाये गये। किन्तु उनका वह भीषण रोग नाममात्र के लिये भी शान्त नही हुआ। उनके शरीर मे इन फफोलो के कारण प्रतिपल ऐसी भीषण असह्य जलन होती थी मानो उनके शरीर पर जाज्वल्यमान अगारे रक्खे हो। एक दिन त्रिभुवनगिरि मे राजर्षि अभयदेव सूरि का आगमन हुआ। उनके तपश्चरण, त्याग और ज्ञान की महिमा कर्दमराज ने भी सुनी। वह येन केन प्रकारेण तर्क पचानन अभयदेव सूरि के दर्शनार्थ उनके विश्राम-स्थल पर गया। वह उनके प्रभावशाली सौम्य व्यक्तित्व को देखकर बडा प्रभावित हुआ और उसे ऐसा अनुभव हुआ कि उसकी पीडा मे, जलन मे थोडी शान्ति आई है। कर्दमराज ने विचार किया कि जिस महापुरुष के दर्शन मात्र से भीषण जलन थोडी बहुत मन्द हुई है तो अहर्निश इनके ससर्ग मे रहने अथवा इनके चरणोदक को अपने शरीर पर छिडकने से निश्चित रूप से यह व्याधि पूर्णत निर्मूल हो सकती है। कर्दमराज ने तत्क्षण अचित्त जल मगवाकर अभयदेव सूरि के चरणो का प्रक्षालन किया और उस चरण प्रक्षालन के जल से फफोलो पर, अपने उत्तमाग मुख एव अगोपागो पर छिडकाव किया। उसके आश्चर्य का पारावार नही रहा कि उसके फफोलो की जलन पूर्णत शान्त हो गई है और वह अपने-आपको पूर्ण-रूपेण स्वस्थ अनुभव कर रहा है।

तदनन्तर कर्दमराज ने अभयदेव सूरि से धर्मोपदेश सुना। उपदेश से उसे बोधिलाभ हुआ। बोधिलाभ के कारण उसका अन्तर्मन वैराग्य के कभी न उतरने वाले प्रगाढ रग मे रग गया। उसने अपने पुत्र को राज सिंहासन पर अभिषिक्त कर तर्क पचानन अभयदेव सूरि के पास श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। दीक्षा देने पर आचार्य अभयदेव ने अपने नव दीक्षित शिष्य का नाम धनेश्वर रक्खा।

मुनि धनेश्वर ने गुरु की सेवा मे रहते हुए विविध विद्याओ और आगमो का गहन ज्ञान प्राप्त किया। वे अनेक विद्याओ और आगमो के विशिष्ट विद्वान् बन गये। अपने अन्तिम समय मे अभयदेव सूरि ने अपने शिष्य धनेश्वर मुनि को सर्वथा सुयोग्य समझकर राजगच्छ का आचार्य पद प्रदान किया।

आचार्य धनेश्वर सूरि उच्च कोटि के विद्वान् होने के साथ-साथ बडे प्रभावशाली व्याख्याता थे। इनकी वाणी मे ओज और माधुरी ओतप्रोत थी। इन्होने अनेक शास्त्रार्थों मे विजय प्राप्त की। इनके समय मे राजगच्छ एक विशाल और प्रभावशाली गच्छ के रूप मे प्रसिद्ध हुआ। धनेश्वर सूरि ने अनेक राजाओ को प्रबुद्ध कर जैनधर्मानुयायी बनाया।

इस प्रकार का भी उल्लेख उपलब्ध होता है कि चित्तौडनगर मे इन्होने अठारह हजार ब्राह्मणो को उपदेश देकर जैन धर्मानुयायी बनाया। इनके विशाल शिष्य परिवार मे १८ शिष्य उच्च कोटि के विद्वान् थे। गच्छ की विशालता को देखते हुए धनेश्वरसूरि ने अपने उन अठारहो विद्वान् शिष्यो को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया और उनसे राजगच्छ की १८ शाखाएँ प्रचलित हुई।

धनेश्वर सूरि के राजगच्छ की उन १८ शाखाओ मे से जिस शाखा का मुख्य क्षेत्र चित्तौड रहा, वह चैत्रवाल गच्छ के नाम से प्रसिद्ध हुई।[1]

इन धनेश्वर सूरि के पश्चात् राजगच्छ के पट्टधर आचार्य अजितसिंह सूरि हुए और अजितसिंह सूरि के पश्चात् आचार्य वर्द्धमान सूरि हुए।

इन वर्द्धमान सूरि ने विक्रम सम्वत् ९८० से ९९१ के बीच की अवधि मे वनवासी गच्छ के आचार्य विमलचन्द्र सूरि के शिष्य वीरमुनि को आचार्य पद पर अधिष्ठित किया। इस प्रकार इस राजगच्छ मे अनेक विद्वान् और धर्म प्रभावक आचार्य हुए। उनका यथास्थान परिचय देने का प्रयास किया जायेगा।

---

[1] जैन परम्परा नु इतिहास, भाग १ पृष्ठ ५०८

दिगम्बर परम्परा मे माथुर संघ की उत्पत्ति

दिगम्बर परम्परा मे विक्रम स० ६५३ तदनुसार वीर नि० स० १४२३ मे आचार्य रामसेरण ने मथुरा मे माथुरसघ की सस्थापना की । ये रामसेरण मथुरा प्रदेश के दिगम्बर परम्परानुयायियो मे बडे ही लोकप्रिय थे । इन्होने दिगम्बर परम्परा मे उस समय मे प्रचलित अनेक प्रमुख मान्यताओ से पूर्णत भिन्न मान्यताए प्रचलित की । आचार्य रामसेन द्वारा प्रचलित की गई नवीन मान्यताओ मे से प्रमुख दो मान्यताए निम्न प्रकार है—

साधुओ के लिये मयूरपिच्छ, बलाकपिच्छ अथवा-पिच्छ आदि किसी भी प्रकार की पिच्छी रखने की कोई आवश्यकता नही । उन्होने अपने साधुओ को किसी भी प्रकार की पिच्छी रखने का निषेध किया । इसी कारण दिगम्बर परम्परा मे इनका माथुर सघ निष्पिच्छक गच्छ के नाम से अभिहित किया जाने लगा ।

आगमिक उल्लेखो से यह निर्विवाद रूप से सिद्ध होता है कि साधु के पच महाव्रतो मे से प्रथम अहिंसा नामक महाव्रत की समीचीन रूप से परिपालना के लिये रजोहरण और मुखवस्त्रिका ये दो धर्मोपकरण प्रत्येक साधु-साध्वी के लिये अनिवार्यरूपेण परमावश्यक उपकरण बताये गये है । श्वेताम्बर परम्परा द्वारा मान्य एकादशागी के एतद्विषयक सुस्पष्ट उल्लेखो को देखने से यह सिद्ध होता है कि श्रमण भगवान् महावीर द्वारा किये गये तीर्थ-प्रवर्तन के समय से ही पच महाव्रतधारियो के लिये, अहिंसा महाव्रत के निरतिचार—रूपेण परिपालनार्थ इन दो धर्मोपकरणो का अर्थात् रजोहरण (पिच्छी) एव मुखवस्त्रिका का रखना निरपवादत अनिवार्य रूपेण आवश्यक बताया गया है । दिगम्बर परम्परा के आगम तुल्य मान्य धर्मग्रन्थो मे भी पिच्छी और कमण्डलु इन दो धर्मोपकरणो का रखना, तीर्थंकरो को छोड सभी पच महाव्रतधारियो के लिये, दिगम्बर परम्परा के प्रादुर्भाव काल से ही अनिवार्य रखा गया है ।

किन्तु माथुरसघ के सस्थापक आचार्य रामसेरण ने "दर्शनसार" के निम्न उल्लेखानुसार साधुओ को किसी प्रकार की पिच्छी रखने का निषेध किया—

तत्तो दुसएतीदे, महुराए महुराण गुरुणाहो ।
णामेण रामसेणो, णिपिच्छ वण्णियं तेण ।।४०।।

अर्थात्–तदनन्तर यानि विक्रम स० ७५३ मे नन्दितट नामक सुन्दर ग्राम मे काष्ठासघ की स्थापना के २०० वर्ष पश्चात् वि० स० ९५३ मे मथुरा प्रदेश के

दिगम्बर परम्परा के अनुयायियो के आचार्य रामसेन ने निष्पिच्छक (पिच्छी निषेधक) माथुरसघ की स्थापना की ।

माथुरसघ के प्रतिष्ठापक आचार्य रामसेण ने जो दूसरी क्रान्तिकारी मान्यता प्रचलित की, उस सम्बन्ध मे आचार्य देवसेन ने अपनी कृति "दर्शनसार" मे लिखा है—

सम्मत्त-पयडि-मिच्छत्त, कहिय ज जिणिंद-बिंबेसु ।
अप्प-परिणिट्ठिएसु य, ममत्तबुद्धीए परिवसण ।। ४१ ।।
एसो मम होउ गुरु, अवरो णत्थित्ति चित्तपरियरण ।
सग-गुरु-कुलाहिमाणो, इयरेसु वि भगकरण च ।। ४२ ।।

अर्थात् माथुरसघ की स्थापना करने वाले आचार्य रामसेण ने किसी भी जिन-प्रतिमा मे जिनेश्वर भगवान् की कल्पना करने को और इस प्रकार की कल्पना के साथ प्रतिमा को वन्दन करने, उसकी अर्चा-पूजा करने आदि क्रियाकलापो को सम्यक्त्वप्रकृति मिथ्यात्व की सज्ञा दी ।

इस प्रकार आडम्बरपूर्ण साकार-उपासना की ओर उमडे हुए जनमानस को आचार्य रामसेन ने निरजन निराकार की आध्यात्मिक उपासना की दिशा मे मोड देने का प्रयास किया ।

आ० देवसेन द्वारा किये गये उपरिलिखित उल्लेख के अनुसार माथुर सघ द्वारा केवल आध्यात्मिक उपासना को ही महत्व दिये जाने के साथ-साथ माथुर सघ के अनुयायियो मे इस प्रकार की वृत्ति भी उत्पन्न की गई कि वे केवल अपने आचार्य अथवा सघ द्वारा निर्मापित वसतियो—धर्मस्थानो मे ही निवास करे, अन्य किसी सघ अथवा आचार्य द्वारा निर्मापित वसतियो मे न ठहरे । आचार्य देवसेन ने माथुर सघ के अनुयायियो के मानस मे घर की हुई इस मनोवृत्ति का भी उल्लेख किया है कि वे अपने गुरु को ही सर्वश्रेष्ठ माने, अन्य किसी को नही । माथुर सघ से इतर अन्य सभी सघो और उन इतर सघो के आचार्यो आदि को मान्य नही करते हुए हुए, उनका बहिष्कार करने और केवल माथुर सघ के साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका और धर्मस्थानो को अपना समझने का ममत्वभाव माथुर सघ के सूत्रधार आचार्य रामसेन ने अपने अनुयायियो मे उत्पन्न किया, इस प्रकार का उल्लेख भी आचार्य देवसेन ने "दर्शनसार" की ऊपर उद्धृत गाथा स० ४२ मे किया है ।

आचार्य रामसेन ने साधु के लिये पिच्छी रखने का निषेध करने के साथ साथ प्रतिमा मे जिनेन्द्र की कल्पना कर उस प्रतिमा की पूजा-अर्चा, वन्दना आदि क्रियाओ को सम्यक्त्वप्रकृतिमिथ्यात्व की सज्ञा दी इसी कारण नीतिसार की निम्न-लिखित गाथा मे अन्य कतिपय सघो के साथ माथुर सघ को भी जैनाभास सघ बताया गया है—

गोपुच्छक श्वेतवासो, द्राविडो यापनीयक ।
निष्पिच्छकश्चेति पचैते, जैनाभासा प्रकीर्तिता ।।

भ० महावीर के ४६वें एवं ४७वें पट्टधर क्रमशः आचार्य हरिशर्म स्वामी और कलशप्रभ तथा ३६वे युगप्रधानाचार्य ज्येष्ठांगगरिण के समय के महाप्रभावक आचार्य सिद्धर्षि

अतीत काल से हम सुनते आ रहे है कि पारस के ससर्ग से लोहा स्वर्ण हो जाता है, पर प्रत्यक्ष मे न किसी ने पारस को देखा है और न स्वर्ण मे परिणत होते लोहे को।

परन्तु सन्त-समागम से, सत्सग के प्रताप से साधारण से साधारण जन भी जन से जिन, मानव से महात्मा, आत्मा से परमात्मा और नर से नारायण बन जाता है। इसके न केवल एक अपितु अनेकानेक ज्वलन्त प्रमाण हमे सर्वज्ञ-प्ररूपित आगमो, महान् आचार्यो द्वारा प्रणीत धर्मग्रन्थो के माध्यम से और प्रत्यक्ष भी उपलब्ध हो जाते है।

अध्यात्म-विद्या के उच्चकोटि के महाकवि एव महान् आचार्य सिद्धर्षि का जीवन-चरित्र सत्सग एव सन्त-समागम के अद्भुत चमत्कार, अचिन्त्य प्रताप एव अनुपम प्रभाव का एक अनूठा उदाहरण है कि एक जुआरी (द्यूतक्रीडक) सन्त-समागम के प्रभाव से किस प्रकार अध्यात्म-सम्पदा की अक्षय–अनमोल निधि, रत्नत्रयी का एक उत्तम कोटि का स्वामी बन गया।

सिद्धर्षि का जन्म विक्रम की आठवी शताब्दी के प्रारम्भकाल के आस-पास गुजरात राज्य की तत्कालीन राजधानी श्रीमाल (वर्तमान भीनमाल) नामक ऐतिहासिक नगर मे एक नीतिनिपुण एव धर्मनिष्ठ अमात्य कुल मे हुआ। आपके पितामह सुप्रभ (अपर नाम सुरप्रभ) विशाल गुजरात राज्य के प्रधानामात्य थे। महामन्त्री सुरप्रभ के दत्त और शुभकर नामक दो पुत्र थे। उन दोनो भाइयो की तत्कालीन गुजरात राज्य के विपुल वैभव सम्पन्न श्रीमन्तो के साथ-साथ महादानियो मे गणना की जाती थी। दत्त के पुत्र का नाम माघ और शुभकर के पुत्र का नाम सिद्ध था। महाकवि माघ और सरस्वती के परमोपासक धारापति भोज के बीच परस्पर प्रगाढ मैत्री थी। माघ ने महाकवि के रूप मे प्रसिद्धि प्राप्त की। उसने "शिशुपाल-वध" नामक उत्कृष्ट कोटि के महाकाव्य की रचना कर महाकवियो मे मूर्धन्य स्थान प्राप्त किया। महाकवि माघ के प्रसाद, उपमालकार, पदलालित्य एव गम्भीर अर्थ गौरव-गरिमा आदि गुणो की महिमा मे किसी कवि द्वारा रचित निम्न श्लोक काव्यरसिको का सुदीर्घ काल से ही कण्ठाभरण बना हुआ है —

उपमा कालिदासस्य, भारवेरर्थगौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्य माघे, सन्ति त्रयो गुणा ॥

इससे सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि माघ कितना बडा प्रकाण्ड पण्डित था। अपने ज्येष्ठ भ्राता (ताऊ के पुत्र) माघ के समान ही सिद्धर्षि भी अप्रतिम काव्य प्रतिभा के धनी थे। जहा उनके ज्येष्ठ बन्धु महाकवि माघ ने 'शिशुपालवध' की रचना कर केवल साहित्यिक जगत् मे ही विपुल कीर्ति प्राप्त की, वहा सिद्धर्षि ने, सकल कर्मकलुष को धोकर जीवनमुक्त होने की कामना वाले मुमुक्षु साधको के लिये प्रकाशस्तम्भ तुल्य प्रशस्त पथप्रदर्शक 'उपमिति भवप्रपच कथा' नामक महाकाव्य के सभी गुणो से परिपूर्ण एव अध्यात्मज्ञान से ओत-प्रोत अत्युत्तम विशाल ग्रन्थ की रचना कर आध्यात्मिक जगत् और साहित्यिक जगत्—दोनो ही क्षेत्रो मे समान रूप से अक्षय-कीर्ति अर्जित की। वे ससार मे अध्यात्म रस को ही सारभूत एव अमृतत्व प्रदायी रस समझते थे। इस आगमवचन के अनुसार—

सव्व विलविय गीय, सव्व नट्ट विडम्बिय ।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा ॥
(उत्तराध्ययन सूत्र)

वे अध्यात्मकला के अतिरिक्त ससार की सब कलाओ को निरर्थक समझते थे। उन सिद्धर्षि का जीवनवृत्त सक्षेप मे इस प्रकार है —

विशाल गुजरात राज्य के अधिपति वर्मलात नामक महाराजा के महामात्य सुरप्रभ के कनिष्ठ पुत्र शुभकर की पतिपरायणा—धर्मनिष्ठा पत्नी लक्ष्मी की कुक्षि से सिद्धर्षि का जन्म गुजरात की राजधानी श्रीमाल मे विक्रम की आठवी शताब्दी के प्रारम्भकाल के आस-पास हुआ। शुभकर श्रेष्ठि विपुल वैभव का धनी एव महादानी था। अत सभी प्रकार की सुख-सुविधाओ से सम्पन्न एव ऐश्वर्यपूर्ण वातावरण मे शिशु सिद्ध का बडे दुलार से लालन-पालन किया गया। शिक्षा योग्य वय हो जाने पर पिता ने अपने पुत्र के शिक्षण की समुचित व्यवस्था की। कुशाग्र-बुद्धि बालक सिद्ध युवावस्था मे पदार्पण करते-करते अनेक विद्याओ मे निष्णात हो गया।

सिद्धकुमार अतुल सम्पदा के स्वामी माता-पिता का इकलौता पुत्र था। सुखोपभोग की सामग्री की इसके यहा किसी प्रकार की कमी नही थी। एक कुलीन कन्या के साथ उसका विवाह कर दिया गया। उसके समवयस्क मित्रो की सख्या भी बढने लगी। कुछ मनचले व्यसनप्रिय मित्रो के ससर्ग के परिणामस्वरूप सिद्ध कुमार को जुआ खेलने का व्यसन लग गया। द्यूतक्रीडा के दुर्व्यसन मे वह शनै-शनै इतना अधिक ग्रस्त हो गया कि रात्रि मे बडी देर से वह घर लौटने लगा। उसकी पत्नी उसकी प्रतीक्षा मे रात-रात भर जागती रहती। इस प्रकार नित्य निरन्तर

रात्रिजागरण और चिन्ता के फलस्वरूप सिद्ध की पत्नी उत्तरोत्तर कृष से कृषतर होती गई और अस्वस्थ रहने लगी ।

एक दिन गृहस्वामिनी लक्ष्मी ने अपनी पुत्रवधु की इस प्रकार की स्थिति देखकर चिन्ता प्रकट करते हुए पूछा —"पुत्रि ! तुम इन दिनो कृष क्यो होती जा रही हो ? तुम्हारी सौम्य एव मनोहारी मुखमुद्रा पर चिन्ता की रेखाए क्यो उभरती जा रही है ? तुम्हे किस बात का दु ख है, निस्सकोच होकर स्पष्ट कहो ।"

सिद्धकुमार की पत्नी ने विनम्र स्वर मे उत्तर दिया —"मा ! आपकी ममतामयी छत्रछाया मे मुझे दु ख किस बात का हो सकता है ।" उत्तर देते-देते उसका गला भर आया और अन्तस्तल के उद्वेग को रोकने का पूर्ण प्रयास करने पर भी उसकी आखो से हठात् अश्रु कण ढुलक पडे । अश्रुओ को छिपाने का प्रयास करते हुए उसने अपना सिर झुका लिया ।

सास ने बडे दुलार से अपनी पुत्रवधु को अपने वक्षस्थल से लगा लिया और दुलार से उसकी पीठ सहलाते हुए पूछा —"बेटी ! कही अपनी मा से भी भला कोई बात छुपाई जाती है । स्पष्ट कहो, तुम्हे किस बात का दु ख है, किस बात की चिन्ता है ?"

एक बार तो सिद्ध कुमार की पत्नी के मानस मे बडे प्रवल वेग से ज्वार उठा किन्तु तत्क्षरण अपने आपको सम्हालते हुए उसने अपनी सास से कहा — "मा ! दु ख और चिन्ता की तो कोई बात नही, किन्तु आपके सुपुत्र रात्रि मे बाहर से बडी देर से प्राय उषा वेला मे घर लौटते हैं । मुझे रात भर जागृत रहते हुए उनकी प्रतीक्षा करनी पडती है । निरन्तर रात्रि-जागरण के कारण मैं आपको उदास और कृष प्रतीत हो रही हू । इसके अतिरिक्त अन्य कोई बात नही है ।"

सास ने कहा :—"अच्छा ! तुमने पहले मुझे इस बात से अवगत क्यो नही किया ? खैर, मै अब समुचित प्रबन्ध कर दूगी । तुम निश्चिन्त रहो ।"

सायकाल सब प्रकार के आवश्यक कार्यो से निवृत्त होने के अनन्तर गृह-स्वामिनी ने अपनी पुत्रवधु को निश्चित होकर सो जाने का निर्देश दिया और स्वय गृह के मुख्य द्वार के समीप वाले कक्ष मे बैठ कर अपने पुत्र के घर लौटने की प्रतीक्षा करने लगी । रात्रि के चतुर्थ चरण का कुछ समय व्यतीत होने पर गृहस्वामिनी लक्ष्मी को प्रवेश द्वार के समीप अपने पुत्र के पदचाप की ध्वनि सुनाई पडी । वह कुछ क्षण मौन साधे वैठी रही । गृह द्वार खोले जाने की प्रार्थना किये जाने पर उसने घनरव गम्भीर स्वर मे पूछा—

"इस समय कौन है, यह द्वार पर ?

"माता की बोली सुनकर सहमे हुए स्वर मे सिद्ध ने उत्तर दिया –"सिद्ध।"
माता ने कुछ आक्रोश भरे स्वर मे पूछा —"कौन सिद्ध ? कैसा सिद्ध ? ऐसे होते है सिद्ध ?"

विनम्र स्वर मे सिद्ध ने उत्तर दिया—मा ! यह तो मै तुम्हारा पुत्र सिद्ध हूँ।"

पुत्र को शिक्षा देने के लिये उसने किंचित् कठोर स्वर मे कहा—"मै नही जानती स्वेच्छा विहारी उस सिद्ध को, जिसके घर आने-जाने का कोई समय निश्चित नही। यह भी कोई समय है इतनी रात गये घर लौटने का ? गृहस्थो के घरो के द्वार रात भर खुले नही रह सकते।"

पुत्र ने अपने अपराध को स्वीकार करने के स्वर मे माता से प्रश्न किया – तो, इस समय मै अन्यत्र कहाँ जाऊँ माँ ?"

आज यदि द्वार नही खोलू गी तो मेरा पुत्र भविष्य मे सदा समय पर आया करेगा, यह विचार कर मा ने उत्तर दिया—"चला जा वही, जहा रात मे द्वार खुले रहते हो।"

इसे मा के आदेश के रूप मे ग्रहण करते हुए सिद्ध तत्काल बिना कुछ बोले ही अपने घर के द्वार से मुडकर श्रीमाल नगर के मुख्य मार्ग पर दोनो पार्श्व के घरो की ओर दृष्टिनिपात करता हुआ आगे की ओर बढने लगा। उसने देखा कि सभी घरो के द्वार बन्द है, एक भी घर का द्वार खुला हुआ नही है। जहा वह मा के आदेश के अनुसार जा सके। खुले द्वार वाले घर की खोज मे विभिन्न मार्गो, वीथियो और रथ्याओ मे भ्रमरण करते करते सिद्ध की दृष्टि एक ऐसे घर पर पडी, जिसके द्वार पूर्णत खुले थे।

माता के आदेश के अनुरूप यही वह घर है, जहा वह जा सकता है। इस प्रकार विचार कर सिद्ध ने उस घर मे प्रवेश किया। वह एक जैन उपाश्रय था। वहा उसने देखा कि उसमे एक जैनाचार्य अपने श्रमरण शिष्यो के साथ विराजमान है। सभी मुनि जागृत एव विविध आध्यात्मिक साधनाओ मे निरत थे। सिद्धकुमार ने देखा कि कतिपय मुनि पट्ट पर पद्मासन से आसीन अपने गुरु के सम्मुख विनयावनत हो जिज्ञासु मुद्रा मे बैठे हुए अपनी तत्वज्ञान पिपासा को शान्त कर रहे है, कतिपय मुनि स्वाध्याय मे लीन हैं, कतिपय उत्कटासन लगाए हुए तो कतिपय गोदुहासन लगाये हुए आत्मचिन्तन मे तल्लीन है।

उन शान्त-दान्त मुनियो के दर्शनमात्र से ही सिद्धकुमार के अन्तस्तल मे अनिर्वचनीय शान्ति का झरना फूट पडा। उसे अनुभव हुआ, कितना अन्तर है इन मुनियो के और उसके जीवन मे। वह सोचने लगा—"कहा तो ये शील एव सयम की

साधना तथा ईश्वर की उपासना मे अहर्निश लीन रहने वाले महान् सन्त और कहा विषय-कषायो का कृमि एव दुर्व्यसनो का दास मैं। ये महापुरुष अभ्युत्थान के पथ पर आरूढ हो अमृतत्व एव अक्षय शान्ति की प्राप्ति के लिये मुक्ति पथ पर अग्रसर हो रहे हैं और कहा मैं विषय-कषायो के हलाहल विषपान से उन्मत्त बना अध पतन के गर्त मे बडे तीव्र वेग से गिरा जा रहा हू। ये महापुरुष शान्ति, शील, सयम एव सदाचार के रास्ते पर चल कर मानव जन्म को सफल बना रहे है और मैं दुर्व्यसनो का क्रीत दास बना अपने मानव जन्म को न केवल विफल ही बना रहा हू, अपितु मिट्टी मे मिला रहा हू। धिक्कार है मुझे जो मै दुर्व्यसनो के घोर दलदल मे फस कर अपने इहलोक मे अपशय का और परलोक मे दुस्सह्य दारुण दु खो का भाजन बनने का उपक्रम कर रहा हू। यह मेरे पुराकृत किसी महान् पुण्योदय का ही फल है कि आज मुझे इन तरण-तारण, स्व-पर कल्याण मे रत महापुरुषो के दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। आज का दिन वस्तुत मेरे लिये महान् शुभ दिन है, जबकि मा का कोप भी मेरे लिये इस रूप मे वरदान स्वरूप सिद्ध हो रहा है।"

इस प्रकार चिन्तन करता हुआ सिद्धकुमार पट्ट पर विराजमान आचार्य के समक्ष पहुचा और उसने उन्हे प्रगाढ श्रद्धा-भक्ति के साथ वन्दन नमन किया।

आचार्य ने आशिषमुद्रा मे करतल उठाते हुए उससे प्रश्न किया—"सौम्य ! तुम कहा के रहने वाले हो, इस वेला मे तुम्हारा यहा आगमन कैसे हुआ ?"

सिद्ध ने सब कुछ यथातथ्यरूपेण स्पष्टत प्रकट करते हुए कहा—"भगवन् ! मै इस नगर के श्रेष्ठि शुभकर का इकलौता पुत्र हू। मेरा नाम सिद्ध है। मै द्यूत-क्रीडा के व्यसन मे इतना अधिक लिप्त हो गया कि रात्रि मे बडी देर से घर आने लगा। सदा तो मेरी पत्नी गृह के मुख्यद्वार खोल देती थी किन्तु आज जब मैंने द्वार खटखटाये तो माता ने द्वार खोलने से मना कर दिया और मुझे कहा कि जहा रात्रि मे द्वार खुले रहते हो, उसी घर मे चला जा। इस भवन के द्वार खुले देख कर माता के कथन की अनुपालना करता हुआ मै यहा आ गया। यहा आपके दर्शन कर मै कृतकृत्य हो गया। अब आज से लेकर जीवन-पर्यन्त मैंने आपके चरणो की शरण मे रहने का दृढ निश्चय कर लिया है। ससार सागर से पार लगाने वाले महान् जलपोत तुल्य आपको पाकर अब मै अन्यत्र कही नही जाना चाहता। ससार मे भला ऐसा कौन मूर्ख होगा जो नाव के मिल जाने पर भी समुद्र को पार नही करना चाहेगा।"

सिद्ध के विनय, व्यक्तित्व और वाग्मिता को देख कर आचार्य ने जब ज्ञानोपयोग लगाया तो वे मन ही मन बडे प्रसन्न हुए। उन्हे नवागन्तुक युवक सिद्ध मे जिनशासन के भावी महान् प्रभावक के सभी लक्षण दृष्टिगोचर हुए।

इसे समझ कर आचार्य ने सिद्ध को मधुर सम्बोधन से सम्बोधित करते हुए कहा—सौम्य ! हमारे पास तो वही रह सकता है जो हमारे जैसा वेष धारण कर ले। श्रमणधर्म अगीकार किये बिना कोई भी हमारे पास नही रह सकता और तुम्हारे जैसे स्वेच्छाचारी के लिये श्रमणधर्म को अगीकार करना बडा कठिन कार्य है। कन्दर्प के दर्पका पूर्णरूपेण दलन कर दुश्चर घोर ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना, सब प्रकार के परिग्रह का परित्याग कर मधुकरी से–जीवन-निर्वाह करना, शरीर के अग-प्रत्यग मे पीडा उत्पन्न कर देने वाला केशलुचन करना, बालुकापिण्ड के भक्षण के समान नितान्त निस्स्वादु सयम का पालन करना, ग्रामकण्टक दुष्ट पुरुषो के तीखे व्यगपूर्ण दुस्सह्य कटुवचन शान्त समभाव से सुनना, लोहे के चने चबाने तुल्य २२ प्रकार के परीषहो को हर्षामर्षविहीन शान्त चित्त से सहन करना, उग्र चपश्चरण करना, ये सब तलवार की धार पर चलने के समान दुश्चर, दुरूह और दुस्साध्य हैं।"

आचार्य श्री की बात ध्यानपूर्वक सुनने के पश्चात् सिद्ध ने सयत, सुदृढ एव विनम्र स्वर मे निवेदन किया–"भगवन् ! मै विगत कुछ समय से दुर्व्यसन मे लिप्त हू। जो लोग दुर्व्यसनो के दास बन जाते है, वे लोग अन्ततोगत्वा चोरी आदि घोर अपराध करना प्रारम्भ कर देते है। उनके अपराधो के दण्ड के रूप मे राज्य द्वारा उन लोगो के नाक, कान, बाहु-युगल और चरण-युगल तक काट दिये जाते है। उनके घर वाले उन्हे घर से निकाल देते हैं। इस प्रकार अपग, असहाय, और अवश बने वे लोग भीख माग कर अपनी उदरपूर्ति करते है। देव ! दुर्व्यसनियो की अवश्यभावी इस प्रकार की दयनीय दुरवस्था की तुलना मे भी क्या आपके द्वारा बताये गये श्रमणधर्म की परिपालना मे आने वाले कष्ट अधिक दुस्सह्य एव दारुण है ? सयम तो वस्तुत विश्ववन्द्य है। मेरी मान्यता है भगवन् ! कि दुर्व्यसनियो के जीवन मे अवश्यभावी उन दु खो की तुलना मे तो सयम जीवन मे होने वाले कष्ट नगण्य एव नही वत् है। इसके उपरान्त भी सबसे बडी बात यह है कि दुर्व्यसनजन्य उन दारुण दुखो को इहलोक मे भोग लेने के पश्चात् परलोक मे भी दुर्व्यसनियो का दु खो से छुटकारा नही होता। परलोक मे तो उन्हे इहलोक के उन कष्टो से भी अधिक घोरातिघोर दारुण दु ख भोगने पडते है। इसके विपरीत सयम-जीवन के स्वेच्छापूर्वक वरण किये गये दु खो-कष्टो–परीषहो को समभावपूर्वक सहन कर लेने के पश्चात् या तो साधक उत्कट साधना द्वारा सदा-सर्वदा के लिये सब प्रकार के दु खो का उसी भव मे अन्त कर शाश्वत–अव्याबाध अनन्त सुख का अधिकारी हो जाता है अथवा दिव्य देव सुखो एवं महर्द्धिक मानव-भव के सुखो को भोगकर दो, तीन या इने-गिने भवो मे ही शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अजरामर पद को प्राप्त कर लेता है। भगवन् ! मैं अब सब प्रकार के दु खो का सदा-सदा के लिये अन्त करने का दृढ सकल्प कर चुका हू। अत इस दीन पर दया करके इसे श्रमण धर्म की दीक्षा देकर अपने इन सकल सताप, पाप, भवतापहारी चरण-कमलो

मे शरण दीजिये। इस दास के सिर पर अपना वरद हस्त रख कर कृतकृत्य कीजिये।"

सिद्ध द्वारा दृढ सकल्प के साथ अभिव्यक्त किये गये आन्तरिक उद्‌गारो एव उसकी भावाभिव्यजना की शैली से आचार्यश्री अतीव चमत्कृत हो मन ही मन बडे प्रमुदित हुए। उन्होने कहा-"वत्स! हम कोई भी विना दी हुई वस्तु ग्रहण नही करते। हमारे पास सयम लेने के लिये तुम्हारे माता-पिता-पत्नी की स्वीकृति आवश्यक है। तब तक के लिये धैर्य रखो।" आचार्यदेव के आदेश को शिरोधार्य कर सिद्ध कुमार उपाश्रय मे ही रह गया। सुयोग्य शिष्य की उपलब्धि की आशा मे आचार्यश्री को आन्तरिक आह्‌लाद का अनुभव हुआ।

उधर प्रात काल होने पर रात्रि की सारी घटना का हाल अपनी पत्नी से सुनकर शुभकर शीघ्र ही अपने घर से बाहर निकला और अपने पुत्र को ढूढता हुआ उसी उपाश्रय मे आया तो शान्ति के पीयूष से सद्यस्नात की भाति अपने पुत्र को शान्त-दान्त मुद्रा मे वहा बैठे देखा। उसने सिद्ध के समीप जा कर कहा-पुत्र! यदि प्रारम्भ से ही मै तुम्हे इन महापुरुषो के सत्सग मे देखता तो मुझे अत्यन्त आनन्द होता किन्तु साधुओ के आचार से बिल्कुल विपरीत द्यूतक्रीडा के व्यसनी का सगम मुझे सूर्य और केतु के सयोग के तुल्य दुखद प्रतीत हो रहा है। चलो अब घर चलो, तुम्हारी माता अतीव उत्कट उत्कण्ठापूर्वक तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। तुम्हारे चले आने के कारण तुम्हारी माता शोकाग्नि मे सतप्त हो रही है।"

पिता की बात सुन कर सिद्ध ने कहा-"तात! अब तो भवाब्धिपोत तुल्य तारण-तरण समर्थ गुरुदेव के चरणो मे मेरा चित्त लीन हो गया है। मै अब जीवन-पर्यन्त इनके चरणो की शरण मे रह कर घोरातिघोर दारुण दु खो से ओत-प्रोत ससार सागर से पार होने का प्रयास करूगा। अत अब मै घर नही लौटूगा। सार तत्व को समझ लेने के पश्चात् मुझे उस घर से अब कोई प्रयोजन नही रह गया है। अब तो इन समर्थ गुरुदेव के चरणो मे श्रमणधर्म की दीक्षा अगीकार करने के लिये मेरा मन व्यग्र हो रहा है। अब आप अपने मन से मेरे प्रति मोह को सदा के लिये पूर्णत दूर कर दीजिये। माता ने मुझे आदेश दिया था कि जहा रात भर द्वार खुले रहते हो, वही चले जाओ। मा की आज्ञा की अनुपालना मे पुराकृत विपुल पुण्य के प्रताप से मै ससार के सर्वाधिक उपयुक्त स्थान पर अब आ गया हू, तो अब जीवन भर इन महापुरुषो की चरण-शरण मे ही रहूगा। जीवन-पर्यन्त अपनी जननी की उस महाकल्याणकारिणी आज्ञा का पालन करता रहूगा, इसी से मेरी कुलीनता निष्कलक एव अक्षत बनी रह सकेगी।"

अपने अन्तस्तल मे अगाध पीडा का अनुभव करते हुए शुभकर श्रेष्ठि ने कहा-"पुत्र! इस प्रकार का विचार तुम्हे अपने मन मे भूल कर भी नही लाना

चाहिये। लोगो मे हमारी गणना न केवल कोटिध्वज श्रीमन्त के रूप मे अपितु असख्य ध्वजाधिपति श्रीमन्त के रूप मे की जाती है। थोडा इस बात पर तो विचार करो कि यदि हमारे घर के एक मात्र दीपक तुम्ही घर-बार का त्याग कर अपरिग्रही साधु बन जाओगे तो इस असख्य ध्वज-मिता सम्पदा का उपभोग कौन करेगा ? इसका उपयोग क्या होगा ? अत उठो, घर चलो और सत्पुरुषो द्वारा श्लाघनीय सदाचार के मार्ग पर चलते हुए अपार लक्ष्मी का अपनी इच्छानुसार उपभोग करो, दान-पुण्य आदि उभयलोक कल्याणकारी कार्यो मे इसका उपयोग करो। तुम्हारी ममतामूर्ति माता के तुम नयनतारे हो। नवोढा कुलवधु, जिसने अभी-अभी यौवन की देहली पर पदार्पण किया है, वह भी अभी तक सततिविहीन ही है। उन दोनो के तुम्ही एक मात्र जीवनाधार हो। मै तो अब वृद्ध हो चुका हू। मेरा क्या भरोसा, न जाने किस क्षण सदा के लिये आखे निमीलित कर अज्ञात लोक की ओर प्रयाण कर जाऊ। अत अतुल वैभव का, सासारिक सुखो का तुम उपभोग करो। यदि तुम जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिये छुटकारा चाहते हो तो अपने वश की परम्परा को अक्षुण्ण रूप से चलाने वाली सतति के उत्पन्न हो जाने के पश्चात् श्रमण धर्म मे दीक्षित हो जाना।"

सिद्धि को ही अपने जीवन का एक मात्र लक्ष्य बना चुकने वाले सिद्ध को मोह, ममता, प्रलोभन आदि सासारिक प्रपच उसके दृढ निश्चय से किंचित्मात्र भी विचलित नही कर सके। सिद्ध ने अपने पिता से कहा—"तात ! इन सासारिक प्रपचो मे फसा रहने के कारण मै भी अन्य ससारी जीवो की भाति अनन्त काल से कराल काल की विकराल चक्की मे निरन्तर पिसता आ रहा हू। अब मै क्षण भर के लिये भी इन सासारिक प्रपचो मे नही फसना चाहता। मेरा मन अब ब्रह्म मे, आत्मस्वरूप मे लीन हो बहिर्मुखी से अन्तर्मुखी बन चुका है। अब किसी भी प्रकार के लौकिक प्रलोभन का मेरे अन्तर्मन पर किंचित्मात्र भी प्रभाव होने वाला नही है। अब तो आपसे एक ही विनम्र प्रार्थना है कि आप इन गुरुदेव से यह प्रार्थना कीजिये—"करुणासिन्धो ! कृपा कर मेरे पुत्र इस सिद्ध को श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान कर सदा के लिये अपनी शरण मे लेने का अनुग्रह कीजिये।" इस प्रकार सिद्ध ने पुन पुन अपने पिता से यही अनुरोध किया।

शुभकर को जब पूर्ण विश्वास हो गया कि उसके पुत्र के मन मे न तो किसी प्रकार का आक्रोश है और न रोष ही, एव उसका अन्तर्मन पूर्णत वैराग्य के अमिट रग मे रग गया है, ससार की कोई शक्ति उसको अब योगमार्ग से मोड कर भोगमार्ग मे प्रवृत्त नही कर सकती, तो अन्य कोई उपाय न देखकर शुभकर ने आचार्यदेव के चरणो मे प्रणिपातपूर्वक प्रार्थना की—"विश्ववन्धो ! आचार्यदेव ! कृपा कर आप मेरे इस मुमुक्षु पुत्र सिद्ध को श्रमणधर्म मे दीक्षित कर सदा के लिये अपनी चरण-शरण मे ले लीजिये।"

शुभकर की प्रार्थना स्वीकार कर आचार्यश्री ने कतिपय दिनो पश्चात् शुभ मुहूर्त मे सिद्धर्षि को श्रमणधर्म की दीक्षा प्रदान की। गुरु ने अपने नवदीक्षित शिष्य सिद्ध को अपनी गुरु परम्परा के कतिपय आचार्यो के नाम सुनाते हुए कहा—"वत्स ! सावधान होकर सुनो। पुरातन काल मे भगवान् महावीर के (युगप्रधानाचार्य परम्परा की पट्टावली के अनुसार) १८वे पट्टधर आर्य वज्रस्वामी नामक एक महान् प्रभावक युगप्रधानाचार्य हुए है, जो कि दश पूर्वो के ज्ञान के धारक थे। वीर नि स ५८५ मे आर्य वज्रस्वामी के स्वर्गस्थ होने पर उनके पट्टधर आचार्य वज्रसेन हुए। आचार्य वज्रसेन के नागेन्द्र, निर्वृ त्ति, चन्द्र और विद्याधर नामक चार मुख्य शिष्य थे। आचार्य वज्रसेन के उन चारो प्रमुख शिष्यो के नाम पर चार गच्छ प्रचलित हुए। निर्वृ त्ति गच्छ मे सूराचार्य नामक एक महान् आचार्य हुए। उन्ही सूराचार्य का शिष्य मैं गर्ग ऋषि नामक आचार्य तुम्हारा दीक्षा गुरु हू। प्रमाद से दूर रहकर अहिसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह रूप पच महाव्रतो का तुम्हे जीवन-पर्यन्त विशुद्ध रूपेण पालन करना है।"

सिद्ध मुनि ने अपने गुरु गर्गर्षि की आज्ञा को सविनय शिरोधार्य कर उग्र तपश्चरण के साथ-साथ बडी ही निष्ठापूर्वक आगमो का अध्ययन करना प्रारम्भ किया। कुशाग्र बुद्धि के धनी सिद्ध मुनि ने अपेक्षित समय से पूर्व ही न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, गणित, नीति आदि सभी विद्याओ मे निष्णातता प्राप्त कर ली और वे अग शास्त्रो के विशिष्ट मर्मज्ञ विद्वान् बन गये। विभिन्न दर्शनो के तर्कग्रन्थो का अध्ययन कर न्याय शास्त्र पर विशिष्ट पाण्डित्य प्राप्त कर लेने के पश्चात् सिद्धर्षि के मन मे विचार उत्पन्न हुआ—"अपने और अन्यान्य प्राय सभी धर्मो के तर्कग्रन्थो का अध्ययन तो मैने कर लिया किन्तु बौद्ध धर्म के न्यायशास्त्र तो केवल बौद्धबहुल सुदूरस्थ प्रान्त के बौद्ध विद्यापीठ मे ही पढाये जाते है। अत मुझे वहा जाकर बौद्ध न्याय का भी अध्ययन कर अपने ज्ञान मे और वृद्धि करनी चाहिये।"

इस प्रकार विचार करते-करते सिद्धर्षि के मन मे बौद्ध न्याय का अध्ययन करने की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न हुई। एक दिन उन्होने अपने गुरु की सेवा मे उपस्थित हो उनके समक्ष, अपनी बौद्ध न्याय पढने की अभिलाषा प्रकट करते हुए सुदूरस्थ बौद्ध विद्यापीठ मे अध्ययनार्थ जाने की अनुज्ञा प्रदान करने की प्रार्थना की।

अपने निमित्त ज्ञान का उपयोग लगाकर गर्गर्षि ने अपने शिष्य सिद्धर्षि से कहा—"वत्स ! विद्याध्ययन के विषय मे सन्तोष न करना तो वस्तुत शुभ लक्षण है किन्तु तुम्हारे इस प्रस्ताव के सम्बन्ध मे मुझे स्पष्टत यह आभास हो रहा है कि बौद्धो के कुतर्को एव हेत्वाभासो से तुम्हारी मति भ्रान्त हो जायगी। उसका परिणाम यह होगा कि अपने धर्म के प्रति तुम्हारी आस्था लुप्त हो जायगी और बौद्ध धर्म के प्रति तुम आस्थावान् बन जाओगे। इससे आज तक तुमने पच

महाव्रतो का पालन करते हुए जो पुण्य अर्जित किया है, वह तुम्हारा पुण्य नष्ट हो जायगा, तुम्हारी आज तक की हुई अध्यात्मसाधना व्यर्थ चली जायगी। ऐसी स्थिति मे मैं तुम्हारे हित मे यही उचित समझता हू कि तुम्हे बौद्धो के शिक्षण सस्थान मे जाकर बौद्ध-न्याय के अध्ययन का विचार अपने मन से निकाल देना चाहिये। यदि वहा जाने का विचार तुम्हारे मन से किसी भी प्रकार नही निकलता है तो तुम मेरे समक्ष यह प्रतिज्ञा करो कि बौद्धो के कुतर्को से भ्रान्तचित्त हो जाने के उपरान्त भी तुम उनके सघ के सदस्य बनने से पूर्व एक बार मेरे पास अवश्य आओगे और हमारे प्रथम महाव्रत अहिंसा का जो प्रधान एव सर्वप्रमुख उपकरण तथा अनिवार्य चिह्न यह रजोहरण है, इसे तुम स्वय हमे ही लाकर समर्पित करोगे।"

अपने गुरु के मुख से इस प्रकार की बात सुनते ही सिद्धर्षि अपने दोनो करतलो से अपने दोनो कर्णरन्ध्रो को आच्छादित करते हुए बोले—शान्त पाप, शान्त पाप, अमगल प्रतिहत अर्थात् पाप शान्त हो, अमगल का नाश हो। गुरुदेव! ऐसा कृतघ्न शिष्य कौन होगा जो आपके द्वारा उद्घाटित अपने ज्ञान-चक्षुओ को परवादियो के विषधूम्र तुल्य कुतर्को से मलिन कर अपनी सम्यग्दृष्टि को पुन. दूषित कर लेगा? देव! रजोहरण समर्पित करने की अन्तिम बात आपने मेरे लिये मेरे किस अपराध के उपलक्ष मे कही है? भगवन्! कोई भी कुलीन व्यक्ति अपने गुरु को कभी नही छोड सकता। धतूरे के नशे के प्रभाव से भ्रान्तचित्त हुए मानव के समान यदि वहा जाने पर मुझे कदाचित् मतिविभ्रम हो भी गया, तो भी मैं आपके आदेश का पालन कर आपकी सेवा मे अवश्यमेव उपस्थित होऊगा, यह मेरी अटल प्रतिज्ञा है। सुनता आया हू कि बौद्धो का न्यायशास्त्र तर्कजाल से परिपूर्ण होने के कारण बडा ही दुर्गम, जटिल एव दुरूह है। अत बहुत दिनो से मेरे अन्तर्मन मे यह अभिलाषा बलवती होती जा रही है कि मैं भी उनको पढू और देखू कि वे कैसे जटिल है। उनके अध्ययन से मुझे भी अपनी बुद्धि के सम्बन्ध मे ज्ञात हो जायगा कि इसमे कितनी क्षमता है।"

इस प्रकार की प्रतिज्ञा करने और अपने गुरु की अनुज्ञा प्राप्त हो जाने के पश्चात् सिद्धर्षि वहा से प्रस्थित हो अनुक्रमश ग्रामानुग्राम विचरण करता हुआ बडी लम्बी यात्रा पूर्ण कर एक दिन महाबोधि नामक बौद्धो के एक विख्यात शिक्षा केन्द्र मे पहुचा। विद्यार्थी के रूप मे उसने बौद्ध विद्यापीठ मे प्रवेश प्राप्त कर बौद्ध दर्शन का अध्ययन प्रारम्भ किया। जिन जटिल न्याय-ग्रन्थो, तर्कशास्त्रो के गुत्थियो से भरे निगूढतम मर्म को उच्चकोटि के उद्भट विद्वान् भी समझने समझाने मे बडी कठिनाई का अनुभव करते थे, उन गूढ विषयो-रहस्यो को अनायास ही हृदयगम कर विशद् व्याख्या सहित समझने-समझाने की उस नवागन्तुक विद्यार्थी सिद्धर्षि की अदृष्टपूर्व अद्भुत् क्षमता एव कुशाग्र बुद्धि को देख कर अनुक्रमश

अध्यापक, प्राचार्य और उस विद्यापीठ के सभी विद्वान् आचार्य एव अधिष्ठाता तक बडे चमत्कृत हुए। स्वल्पकाल मे ही सिद्धर्षि ने समस्त बौद्ध वाग्मय का तलस्पर्शी अध्ययन सम्पन्न कर उसमे निष्णातता प्राप्त कर ली। सिद्धर्षि की गणना बौद्ध दर्शन के मूर्द्धन्य विद्वानो मे की जाने लगी।

सिद्धर्षि की सूच्यग्र मेधाशक्ति की महिमा विभिन्न बौद्ध विद्यापीठो मे फैलते-फैलते सम्पूर्ण बौद्ध सघ मे प्रसृत हो गई। विद्यापीठ के अधिष्ठाता बौद्ध-दर्शन के लब्धप्रतिष्ठ-पारगामी विद्वान्, बौद्ध भिक्षु अथवा महावादी बौद्धाचार्यो मे से जिस किसी ने भी सिद्धर्षि के साथ साक्षात्कार किया, उससे किसी भी विषय पर चर्चा की, वे सभी सिद्ध के मुख से जटिल से जटिलतम गूढ तत्वो पर विशद् विवेचन एव सुगम व्याख्या सुनकर आश्चर्याभिभूत हो अवाक् रह गये।

बौद्ध सघ के मूर्धन्य विद्वानो, सचालको एव आचार्यो ने मिलकर एकान्त मे गूढ मन्त्रणा की —"यह सिद्ध वस्तुत चिन्तामणि तुल्य अद्भुत प्रतिभाशाली नर-रत्न है। वर्तमान मे तो दूर-दूर तक इसके समान ऐसा अद्भुत प्रतिभा का धनी कोई व्यक्ति कही देखने सुनने मे नही आया। यदि यह विद्वान् किसी भी उपाय से बौद्ध-सघ मे दीक्षित हो जाय तो बौद्ध सघ की सर्वतोमुखी उन्नति हो सकती है। अत येन-केन प्रकारेण सत्कार-सम्मान, प्रोत्साहन, मृदु-मजुल सभाषण, वाग्जाल, अभिवर्द्धन आदि सभी भाति के उपायो से बौद्ध सघ मे दीक्षित होने के लिये इसे आकर्षित किया जाय।"

इस प्रकार गुप्त मन्त्रणा कर बौद्धाचार्यो, भिक्षुओ एव विद्वानो आदि ने सिद्धर्षि को अपने जाल मे फसाने का इस चातुरी से प्रयास प्रारम्भ किया कि अन्त मे सिद्ध के मस्तिष्क मे मतिविभ्रम उत्पन्न हो गया और उसने बौद्ध धर्म की दीक्षा स्वीकार कर ली।

सिद्ध ने उस विद्यापीठ का वह सर्वश्रेष्ठ सम्मान प्राप्त किया, जिसे सिद्ध से पूर्व कोई विद्वान् प्राप्त नही कर सका था। अब तो बौद्ध सघ ने सर्वसम्मति से सिद्ध के समक्ष प्रस्ताव रखा कि सघ उसे आचार्य पद पर अधिष्ठित करने के लिये अति व्यग्र है अत वह आचार्य पद प्रदान— महोत्सव के लिए अपनी स्वीकृति प्रदान करे।

उसी समय सिद्ध को अपने गुरु के समक्ष की गई अपनी प्रतिज्ञा का स्मरण हो आया। उसने बौद्ध सघ से निवेदन किया—"यहा अध्ययनार्थ आते समय मैने अपने जैन गुरु के समक्ष प्रतिज्ञा की थी कि अध्ययन पूर्ण होते ही मैं एक बार आपकी सेवा मे अवश्यमेव उपस्थित होऊगा। सभी दर्शनो मे प्रतिज्ञाभग महापाप माना गया है अत एक बार मुझे अपने गुरु के पास जाने की अनुमति प्रदान की जाय, यही मेरी महासघ से प्रार्थना है।"

"सत्यसन्धता" को भगवान् बुद्ध ने अतीव श्रेष्ठ बताया है—यह कहते हुए सघाग्रणियो ने सिद्ध को अपने गुरु के पास जाने और उनसे मिलकर आने की अनुज्ञा दे दी।

अपने गुरु के पास पहुचकर सिद्ध ने उन्हे न वन्दन-नमन किया और न उनका चरण-स्पर्श ही किया। गुरु के समक्ष स्थाणु के समान सीधे खडे रहकर सिद्ध ने ईषत् स्मित की मुद्रा मे प्रश्न किया—"ऊर्ध्व स्थान पर बैठे हुए आप अच्छे तो है न ?"

अपने शिष्य सिद्ध के इस प्रकार के रग-ढग देखकर गर्गर्षि सोचने लगे—"इस परम विनीत एव महा विद्वान् सुशिष्य की मति को सौगतशास्त्रो के कुतर्को तथा वितण्डावाद ने भ्रान्त कर दिया है। जैन निमित्त ज्ञान वस्तुत कितना ध्रुव, अटल और तथ्य से ओत-प्रोत है। इस ज्ञान के माध्यम से उस समय मुझे जो कुछ ज्ञात हुआ था, वह शत-प्रतिशत सत्य सिद्ध हो रहा है। अब तो किसी अमोघ उपाय से इसे पुन सत्पथ पर लाया जाय, इसी मे सघ का हित है। अन्यथा इस विद्वान् के बौद्ध सघ मे चले जाने से जिनशासन की एक अपूरणीय क्षति होगी।"

इस प्रकार विचार करते हुए गर्गर्षि अपने आसन से उठकर अपने शिष्य सिद्धर्षि के सम्मुख गये। उसे बडे स्नेह के साथ हाथ पकडकर आसन पर बिठाया। तदनन्तर हरिभद्रसूरि द्वारा रचित ललितविस्तरा वृत्ति सिद्ध के हाथ पर रखते हुए गुरु ने सिद्ध से कहा—"सौम्य ! मै चैत्यवन्दन कर अभी थोडी ही देर मे आ रहा हू। तब तक तुम इस ग्रन्थ को पढो।"

सिद्धर्षि ने ललितविस्तरा को प्रारम्भ से पढना प्रारम्भ किया। सिद्धर्षि ज्यो ज्यो ललितविस्तरा के पृष्ठ पर पृष्ठ पढते गये त्यो-त्यो उनके मन एव मस्तिष्क पर छाया हुआ बौद्ध शास्त्रो के कुतर्को का कोहरा खुली हवा मे रखे गये कपूर के समान उडता गया। सिद्धर्षि ललितविस्तरा का चतुर्थांश भी नही पढ पाये थे कि उनके मस्तिष्क मे बौद्ध सघ के माध्यम से उत्पन्न की गई सभी प्रकार की भ्रान्तिया नष्ट हो गई। गुरु के प्रति किये गये कुशिष्य योग्य अपने व्यवहार के लिए उसके मन मे स्वय अपने आपके प्रति घृणा हो गई। सिद्धर्षि मन ही मन स्वय को धिक्कारते हुए विचारने लगे—'अहा ! मै बिना सोचे-विचारे कैसा अनर्थ करने जा रहा था। इससे बढकर और क्या मूर्खता हो सकती है कि अमृत भरे स्वर्णपात्र को ठुकराकर मै हलाहल विष भरे अयस-पात्र को अधरो से लगा चुका था। हाय ! मै कितना पुण्यहीन हू, जो स्वर्गापवर्ग मे पहुचाने वाली दिव्य निशैनी तुल्य जिनधर्म का परित्याग कर रसातल मे पहुचाने वाले विपथ पर आरूढ हो निबिडान्धकारपूर्ण पाताल की ओर जा रहा था। मै वस्तुत चिन्तामणि रत्न के बदले मे काच का टुकडा लेने जैसी ही भयकर मूर्खता कर रहा था। मै अपने इस भयकर अपराध का गुरुदेव से

प्रायश्चित ग्रहण करूगा और जीवन भर गुरुदेव के चरणो की शरण मे ही रहूँगा। इस ललितविस्तरा ग्रन्थ ने मेरे मतिविभ्रम को, कुतर्कजन्य व्यामोह को एव मेरे चित्त की भ्रान्ति को निर्मूल कर दिया है।"

सहसा सिद्धर्षि के अन्तस्तल से हरिभद्रसूरि के प्रति कृतज्ञता भरे उद्‌गार वायुमण्डल मे गुजरित हो उठे—"हरिभद्रसूरि हमारे महान् उपकारी है, वे ही मुझे धर्म का बोध कराने वाले मेरे धर्मगुरु है। उन्होने अवश्यभावी इस अनागत को पहले से ही जानकर मुझ जैसे पथभ्रष्ट को पुन धर्मपथ पर आरूढ करने के लिये ही ललितविस्तरा नामक इस वृत्तिग्रन्थ की रचना की थी। जिन्होने मेरे मानस मे भरे मिथ्वात्व के हलाहल विष को भस्मीभूत कर मेरे मानस को सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एव सम्यक्चारित्र रूपी रत्नत्रयी के अमृत से आपूरित कर दिया है, उन हरिभद्रसूरि को मेरा कोटिश नमन है।"

ललितविस्तरा वृत्ति को पढते हुए सिद्धर्षि जब इस प्रकार विचार कर रहे थे, उसी समय गर्गर्षि उपाश्रय मे लौटे और सिद्धर्षि को निर्निमेष दृष्टि से ललित-विस्तरावृत्ति को पढने मे निमग्न देखकर उन्हे अन्तर्मन मे असीम आनन्द की अनुभूति हुई।

गुरु के मुख से नैषेधिकी शब्द को सुनते ही सिद्धर्षि सहसा उठे और गुरु-चरणो पर अपना मस्तक रख पुन -पुन उनसे अपने अपराध की क्षमा मागने लगे।

गर्गर्षि ने पश्चात्ताप की ज्वाला मे जलते हुए अपने शिष्य सिद्धर्षि को प्रोत्साहनपूर्ण मधुर वचनो से आश्वस्त किया। सिद्धर्षि के आग्रहपूर्ण अनुरोध पर गर्गर्षि ने उन्हे समुचित प्रायश्चित प्रदान किया। प्रायश्चित से आत्मशुद्धि कर लेने के पश्चात् सिद्धर्षि ने सदा गुरुचरणो के सान्निध्य मे रहते हुए विशुद्ध—निरतिचार सयम की पालना के साथ-साथ गुरुमुख से आगमो का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त किया। सिद्धर्षि मे जिन-शासन-क्षितिज के उदीयमान दिव्य नक्षत्र के दर्शन करते हुए चतुर्विध सघ ने उनके प्रति अधिकाधिक प्रगाढ प्रीति श्रद्धा एव भक्ति प्रदर्शित करना प्रारम्भ किया। उनके प्रति गुरु के वात्सल्य भाव और चतुर्विध सघ की श्रद्धा-भक्ति एव प्रीति मे उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होती गई। सिद्धर्षि स्वल्प काल मे ही जन-जन के प्रीतिपात्र बन गये।

आचार्य गर्गर्षि ने सिद्धर्षि के लोकोत्तर गुणो से असीम आनन्द का अनुभव करते हुए कालान्तर मे उन्हे अपने उत्तराधिकारी पट्टधर के रूप मे स्वय अपने करकमलो से चतुर्विध सघ के समक्ष आचार्य पद प्रदान कर—गच्छ के सचालन का कार्य-भार उनके सबल स्कन्धो पर रख दिया। अपने शिष्य शिरोमणि सिद्धर्षि को आचार्य पद पर आसीन कर गर्गर्षि वन मे जा वहा मासोपवासादि घोर

तपश्चरण करने लगे। निरन्तर कठोर तपश्चरण एव आत्म-साधना मे निरत रहते-रहते गर्गर्षि ने अन्त मे आलोचनापूर्वक पादपोपगमन सथारा किया और समाधि-पूर्वक आयु पूर्ण कर वे स्वर्गस्थ हुए।

इधर आचार्य पद पर आसीन होने के अनन्तर सिद्धर्षि जैन सघ का सर्वतोमुखी अभ्युत्थान करने मे सलग्न हो गये। सिद्धर्षि का युग शास्त्रार्थो का युग था। उस युग मे अपने से भिन्न दर्शनो के दिग्गज विद्वानो को शास्त्रार्थ मे पराजित कर अपने दर्शन का सर्वोपरि वर्चस्व स्थापित करने की प्रवृत्ति यत्र-तत्र प्रसृति की पराकाष्ठा छूने लगी थी। सिद्धर्षि के बढते हुए वर्चस्व से असूयाभिभूत हुए अनेक दर्शनो के वादियो की ओर से आये दिन सिद्धर्षि के पास शास्त्रार्थ की चुनौतिया आने लगी। सिद्धर्षि ने इस प्रकार की चुनौतियो को सहर्ष स्वीकार कर बडे बडे वादेच्छुक विद्वानो के साथ शास्त्रार्थ किये। उन्होने स्थान-स्थान पर अन्य दर्शनो के बडे-बडे दिग्गज विद्वान् वादियो, महावादियो एव प्रतिवादियो को शास्त्रार्थो मे पराजित कर आर्य धरा पर जिनशासन की विजय वैजयन्ती फहराई। उस समय के उच्च कोटि के व्याख्याता एव अपराजेय वादी के रूप मे उनकी कीर्ति दिग्दिगन्त मे व्याप्त हो गई। उन्होने धर्म प्रभावना के अनेक कार्य करवाये। उनके सम्बन्ध मे चारो ओर जन-मानस मे यह विश्वास घर कर गया था कि सिद्धर्षि को वस्तुत वचनसिद्धि की महान् ऋद्धि प्राप्त हो गई है।

आचार्य हरिभद्र को उद्योतन सूरि ने अपना "सिद्धतेण गुरु" और सिद्धर्षि ने "बोधकरो गुरु" लिखा है। इसी भ्रान्तिवश प्रभावक चरित्रकार ने उद्योतन सूरि से १२८ वर्ष पश्चात् हुए सिद्धर्षि को उनका गुरुभाई मान कर लिखा है कि कालान्तर मे सिद्धर्षि ने सर्वप्रथम धर्मदास गरिण की तत्कालीन लोकप्रिय आध्यात्मिक कृति 'उपदेशमाला' पर वृत्ति की रचना कर साहित्य-सेवा का शुभारम्भ किया। युवा सिद्धर्षि ने कुवलयमालाकार अपने गुरुभ्राता उद्योतन सूरि को अपनी कृति 'उपदेशमाला-वृत्ति' दिखायी। 'उपदेशमालावृत्ति' का अवलोकन करते समय उद्योतन सूरि को अपने लघु गुरुभ्राता सिद्धमुनि मे एक समर्थ महाकवि की अप्रतिम प्रतिभा के दर्शन हुए।

उद्योतन सूरि ने अपने गुरु भ्राता सिद्धर्षि को किसी अनुपम आध्यात्मिककृति की रचना के लिये प्रेरणा देने के अभिप्राय से 'उपदेशमाला वृत्ति' को उपेक्षाभाव से देखते हुए कहा —"सिद्ध! अन्य विद्वानो की कृतियो पर रचना करने से कोई विशेष लाभ नही। "समराइच्च कहा" जैसे किसी उत्कृष्ट कोटि के स्वतन्त्र आध्यात्मिक ग्रन्थ की रचना के साथ-साथ रचनाकार का नाम भी अमर हो सकता है।"

सिद्ध मुनि को आशा थी कि उनकी उस नवीन कृति की श्लाघा मे दो शब्द उद्योतन सूरि के मुख से सुनने को मिलेंगे। इसके विपरीत उनके मुख से इस प्रकार

के उद्‌गार सिद्धर्षि को उपेक्षापूर्ण प्रतीत हुए। उनके हृदय को उद्योतन सूरि के उपेक्षापूर्ण उद्‌गार से आघात भी पहुँचा। अपने अन्तर्मन मे उत्पन्न हुई उन सव प्रतिक्रियाओ को अपनी मुखमुद्रा पर लेशमात्र भी प्रकट न होने देने का प्रयास करते हुए सिद्धर्षि ने कहा—"महामुने! 'समराइच्चकहा' जैसे ग्रन्थरत्न की रचना करने वाले सूर्य के समान तेजस्वी विद्वान् पूर्वर्षि के समक्ष मैं तो केवल एक क्षुद्र खद्योत समान हूँ। आप जैसे उदारमना मनीषि महर्षि का आशीर्वाद ही कोई फल ले आये तो कह नही सकता, अन्यथा मुझ जैसा अकिंचन तो है ही किस योग्य ?"

सिद्धर्षि ने अपने गुरु भ्राता उद्योतन सूरि द्वारा प्रेरणा प्रदान के अभिप्राय से अभिव्यक्त किये गये उद्‌गार को व्यग के रूप मे ले लिया था अत अपने अन्तर्मन मे उन्होने एक हल्का सा आघात भी अनुभव किया। परन्तु इस घटना का परिणाम परम श्रेयस्कर सिद्ध हुआ। स्वय सिद्धर्षि के लिये भी और समस्त साधक वर्ग के लिये भी। "समराइच्च कहा" जैसे किसी एक उच्चकोटि के ग्रन्थरत्न की रचना की एक ऐसी अमिट ललक उनके अन्तर्मन मे उद्‌भूत हुई कि वे अध्यात्म रस से ओत-प्रोत एक महान् गद्यात्मक महाकाव्य की रचना मे अहर्निश तल्लीन रहने लगे। अन्ततोगत्वा "उपमिति भव प्रपच कथा" नामक एक ऐसे अध्यात्म ज्ञान से ओत-प्रोत उच्चकोटि के ग्रन्थरत्न की रचना मे सिद्धर्षि सफल हुए, जो साधक मात्र के लिये उसके चरम-परम लक्ष्य की प्राप्ति मे प्रशस्त पथ प्रदर्शक प्रदीप के समान सच्चा सहायक और अन्त तक साथ निर्वहन करने वाला सच्चा सहृदय सखा है। सिद्धर्षि की अमर आध्यात्मिक कृति 'उपमिति भव प्रपच कथा' को पढ लेने के पश्चात् सासारिक कार्य-कलाप वस्तुत —

"सव्व विलविय गीय, सव्व नट्ट विडबिय।
सव्वे आभरणा भारा, सव्वे कामा दुहावहा॥

(उत्तराध्ययन सूत्र अ० १३)

इस आगमवचन के अनुसार विषवत् त्याज्य प्रतीत होते हैं। ये सब नाचरग सुख सुविधा-भोग, यह समग्र ससार एक अतिविशाल कारागार, ज्वालमालाओ से सकुल भीषण भट्टी अथवा भँवरजालो से परिव्याप्त ओर-छोर-विहीन, उद्वेलित अथाह सागर के समान प्रतीत होता है।

'उपमिति भव प्रपच कथा' नामक इस अनुपम आध्यात्मिक ग्रन्थरत्न की रचना से आध्यात्मिक क्षितिज मे सिद्धर्षि की कीर्ति पराकाष्ठा को भी पार कर गई। सिद्धर्षि का नाम आध्यात्मिक जगत् मे अमर हो गया।

वर्तमान मे आचार्य सिद्धर्षि की निम्नलिखित चार रचनाएँ उपलब्ध होती हैं—

(१) उपमिति भव प्रपच कथा,

(२) चन्द्र केवली चरित्र,

(३) उपदेश माला विवरण और

(४) सिद्धसेन न्यायावतार की टीका।

सिद्धर्षि की इन चार रचनाओ मे से 'उपमिति भव प्रपच कथा' एक ऐसी उच्चकोटि की आध्यात्मिक कृति है, जिससे सिद्धर्षि की कीर्ति पताका आध्यात्मिक क्षितिज मे तब तक लहराती रहेगी जब तक कि हमारी इस आर्यधरा पर जिनशासन का वर्चस्व विद्यमान रहेगा।

सिद्धर्षि ने उपमिति भवप्रपच कथा नामक अपने ग्रन्थ की प्रशस्ति मे अपनी गुरु परम्परा इस प्रकार दी है—

"द्योतिताखिल भावार्थ, सद्भव्याब्जप्रबोधक ।
सूराचार्योऽभवद्दीप्त, साक्षादिव दिवाकर ।। १ ।।

स निवृत्तिकुलोद्भूतो, लाटदेशविभूषण ।
आचारपचकोद्युक्त, प्रसिद्धो जगतीतले ।। २ ।।

अभूद्भूतहितो धीरस्ततो देल्लमहत्तर ।
ज्योतिर्निमित्तशास्त्रज्ञ, प्रसिद्धो देशविस्तरे ।। ३ ।।

ततोऽभूदुल्लसत्कीर्तिर्ब्रह्मगोत्रविभूषण ।
दुर्गस्वामी महाभाग, प्रख्यात पृथिवितले ।। ४ ।।

प्रव्रज्या गृह्णता येन, गृह सद्धनपूरितम् ।
हित्वा सद्धर्म माहात्म्य, क्रिययैव प्रकाशितम् ।। ५ ।।

सद्दीक्षादायक तस्य, स्वस्य चाह गुरूत्तमम् ।
नमस्यामि महाभाग, गर्गर्षि मुनिपु गवम् ।। ७ ।।

क्लिष्टेऽपि दु षमाकाले, य पूर्वमुनिचर्यया ।
विजहारैव नि षगो, दुर्गस्वामी धरातले ।। ८ ।।

सद्देशनाशुभिर्लोके, द्योतित्वा भास्करोपम ।
श्री भिन्नमाले यो धीर, गतोऽस्त तद्विधानत ।। ६ ।।

तस्मादतुलोपशम, सिद्ध (सद) र्षिरभूदनाविलमनस्कः ।
परहितनिरतैकमति, सिद्धान्तनिधि (रति महाभाग ।। १० ।।

—अथवा—

आचार्य हरिभद्रो मे, धर्मबोधकरो गुरु ।
प्रस्तावे भावतो हन्त, स एवाद्ये निवेदित ।। १५ ।।

विश विनिर्धूय कुवासनामय, व्यचीचरद्य कृपया मदाशये ।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासनासुधा, नमोऽस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ।। १६ ।।

अनागत परिज्ञाय, चैत्यवन्दनसश्रया ।
मदर्थैव कृता येन, वृत्तिर्ललित विस्तरा ।। १७ ।।

यत्रातुलरथयात्राधिकमिदमिति, लब्धवरजयपताकम् ।
निखिल सुरभुवनमध्ये, सतत प्रमद जिनेन्द्रगृहम् ।। १८ ।।

यत्रार्थस्टकशालाया, धर्म सद्देवधामसु ।
कामो लीलावती लोके, सदास्ते त्रिगुणो मुदा ।। १६ ।।

तत्रेय तेन कथा कविना, नि शेषुगगणाधारे ।
श्री भिल्लमाल नगरे, गदिताग्रिममण्डपस्थेन ।। २० ।।

प्रथमादर्शे लिखिता, साध्व्या श्रुतदेवतानुकारिण्या ।
दुर्गस्वामि गुरूणा, शिष्यकयेय गणाभिधया ।। २१ ।।

सवत्सरशतनवके, द्विषष्टिसहितेऽतिलघिते चास्या ।
ज्येष्ठ सितपचम्या, पुनर्वसौ गुरुदिने समाप्तिरभूत् ।।२२ ।।

उपर्युल्लिखित प्रशस्ति मे सिद्धर्षि ने सूराचार्य से लेकर निवृत्तिकुल के पट्टधर आचार्यो की एक छोटी सी पट्टावली इस प्रकार दी है —

१ सूराचार्य —इनकी प्रशसा मे सिद्धर्षि ने लिखा है कि सूराचार्य समस्त तत्वो अथवा आगमो के पारगामी व्याख्याता विद्वान थे । वे भव्य प्राणियो को बोधिलाभ देकर उनके हृदयकमल को प्रफुल्लित करने मे साक्षात् सूर्य के समान थे । वे निवृत्ति कुल के आचार्य लाट देश के शृगार के समान और पच महाव्रतो के पालन मे सदा सजग समुद्यत रहते थे । धरातल पर चारो ओर उनकी प्रसिद्धि प्रसृत हो गई थी ।

२ आचार्य देल्ल महत्तर .—सिद्धर्षि के उल्लेखानुसार देल्ल महत्तर ज्योतिष-शास्त्र एव निमित्त शास्त्रो के उच्चकोटि के विद्वान् होने के कारण देश देशान्तरो मे विख्यात थे ।

३ आचार्य उल्ल —आचार्य देल्ल महत्तर के पश्चात् उनके पट्टधर श्री उल्ल निवृत्ति कुल के आचार्य हुए । ब्राह्मण कुल विभूषण आचार्य उल्ल की कीर्ति दूर-दूर तक फैल गई थी ।

४ दुर्गस्वामी —आचार्य उल्ल के पट्टधर आचार्य दुर्ग स्वामी हुए । गृहस्थ पर्याय मे वे बडे ही समृद्धिशाली लक्ष्मीपति थे ।

श्रमण धर्म मे दीक्षित होते समय उन्होने अन्न, धन, लक्ष्मी, दास, दासी आदि से परिपूर्ण सुसमृद्ध घर को तृणवत् त्याग कर अपनी उत्कट विशुद्ध क्रिया के द्वारा ही धर्म के माहात्म्य को प्रकट किया। उन दुर्गस्वामी को तथा मुझे (सिद्धर्षि को) निरतिचार विशुद्ध श्रमण धर्म की दीक्षा देने वाले उनके और मेरे गुरुवर श्रमणश्रेष्ठ प्रात स्मरणीय गर्गर्षि को सादर प्रणाम करता हू। अभाव अभियोग आदि अनेक प्रकार के क्लेशो से ओतप्रोत इस दुष्षमाकाल मे भी जो पूर्वाचार्यो की भाति निस्सग–निर्लिप्त भाव से ही विचरण करते रहे, उन दुर्गस्वामी को मै नमस्कार करता हू। सूर्य के समान जो अपने सदुपदेशो की किरणो से जीवनभर लोक मे सम्यग्ज्ञान का प्रकाश फैलाते रहे, वे (दुर्गस्वामी) भिल्लमाल नगर मे समाधि-सलेखनापूर्वक स्वर्गस्थ हुए।

५ सिद्धर्षि —दुर्गर्षि के पश्चात् उपशम भाव को धारण करने वाला, स्थिरमना, परकल्याण मे निरत और आगमो मे अभिरुचि रखने वाला सिद्धर्षि हुआ।

बौद्धो के तर्कजाल रूपी दुर्भेद्य पाश से सदा सर्वदा के लिये विमुक्त करने वाले आचार्य हरिभद्र महत्तरासूनु को अपना बोधप्रदायी गुरु मानते हुए सिद्धर्षि ने कहा है —

"जिन्होने मुझ पर कृपा कर के मेरे अन्तस्तल मे व्याप्त कुवासनापूर्ण (दुर्गंधपूर्ण बौद्ध–सिद्धान्तो के) विष को पूर्णत विनष्ट कर, उसके स्थान पर अपने कल्पनातीत युक्तिकौशल के बल से मेरे अन्तस्तल को, मेरे रोम-रोम को जैन सिद्धान्तो की अचिन्त्य सौरभपूर्ण अक्षय सुधा से ओतप्रोत एव सिंचित कर दिया, उन हरिभद्रसूरि को मैं नमस्कार करता हू। लगभग डेढ शताब्दी पूर्व ही, मेरे साथ घटित होने वाली भावी घटना को जानकर कि मैं सौगत सिद्धान्तो के विष से विदग्ध होने वाला हू, जिन्होने मेरे लिये ही "ललितविस्तरा-वृत्ति" की रचना की, (उन हरिभद्र को मैं नमस्कार करता हू।)"

सिद्धर्षि ने अपने इस ग्रन्थ की प्रशस्ति के शेष ५ श्लोको मे जो कहा है, उसका साराश यह है कि भिल्लमाल नगर के देवभवनो से भी अतीव सुन्दर, अगणित रथयात्राओ, अनेकानेक तीर्थयात्राओ मे सब मन्दिरो से आगे होने के कारण विजय की पताका का मानो वर प्राप्त किये हुए, रत्नत्रयी और धर्म के केन्द्र जिन-मन्दिर के अग्रमण्डप मे रहते हुए सिद्धर्षि ने इस "उपमिति भवप्रपच कथा"–नाम के

ग्रन्थ की रचना की। इस ग्रन्थ की प्रथम आदर्श प्रति का लेखन श्रुतदेवी स्वरूपा गणा नाम की साध्वी ने किया जो गुरुदेव दुर्गस्वामी की शिष्या है। सवत् ९६२ की ज्येष्ठ शुक्ला पचमी, गुरुवार के दिन चन्द्र का पुनर्वसु नक्षत्र के साथ योग होने पर इस ग्रन्थ की रचना अन्तिम रूप से सम्पन्न हुई।

"भिन्नमालस्थ जिन मन्दिर के अग्रिम मण्डप मे रहते हुए यह कथा कही"— यह वाक्य शोधार्थियो के लिये विचारणीय है।

उपमिति भव प्रपच कथा की मुक्त-कण्ठ से प्रशसा करते हुए विश्वविख्यात विद्वान् डा हर्मन जेकोबी ने लिखा है —

I dıd find somethıng, stıll more ımportant, the great lıterary value of the 'Upamıtı Bhava Prapancha Katha' and the fact that ıt ıs the first alegorıcal work ın Indıan lıterature
(उपमिति भव प्रपच कथा की अग्रेजी प्रस्तावना)

आचार्य वर्द्धमान सूरि ने अपनी उपदेश माला-वृत्ति के अन्त मे लिखा है —

कृतिरिय जिन-जैमिनी-कणभुक् सौगतादि दर्शन-वेदिन ।
सकल-ग्रन्थार्थ-निपुणस्य श्री सिद्धर्षेर्महाचार्यस्येति ।।

इससे सिद्धर्षि की सभी धर्मो के सिद्धान्तो मे पारगतता का प्रमाण मिलता है। वे न केवल जैन सिद्धान्तो के ही अपितु मीमासक, वैशैषिक, साख्य, बौद्ध आदि सभी भारतीय दर्शनो के पारदृष्वा विद्वान् थे।

आचार्य गुण भद्र

भट्टारक परम्परा के पचस्तूपान्वयी सेनगण के आचार्य गुणभद्र की भी अपने समय के अग्रगण्य ग्रन्थकारो मे गणना की जाती है। अपने प्रगुरु भट्टारक वीरसेन एव गुरु जिनसेन के चरणचिह्नो का जीवनभर अनुसरण करते रहकर आचार्य गुणभद्र ने भी जैन वाग्मय की सेवा के माध्यम से जिनशासन की उल्लेखनीय सेवा की।

अपने शिक्षा गुरु जिनसेनाचार्य के स्वर्गगमन पर उनके द्वारा प्रारम्भ किये गये 'महापुराण' लेखन के अपूर्ण रहे हुए शेष लेखन को गुणभद्र ने पूर्ण किया।

गुणभद्र वीरसेन के प्रशिष्य और दशरथसेन के शिष्य थे। दशरथसेन आचार्य जिनसेन (जयधवलाकार) के गुरु भ्राता थे। उत्तर पुराण प्रशस्ति के श्लोक स० १४ मे "शिष्य श्री गुणभद्र सूरिरनयोरासीज्जगद्विश्रुत" इस पद से लोकसेन ने अपने गुरु गुणभद्र को जिनसेन और दशरथसेन, इन दोनो विद्वानो का शिष्य बताया है। इससे यही प्रकट होता है कि आचार्य गुणभद्र मुनि दशरथ गुरु के हस्त दीक्षित शिष्य थे और उन्होने शास्त्रो और विद्याओ का ज्ञान अपने दीक्षा गुरु के गुरुभ्राता आचार्य जिनसेन से प्राप्त किया था।

जिनसेन के स्वर्गारोहण के पश्चात् आचार्य गुणभद्र ने सब मिलाकर १६२० श्लोको मे आदि पुराण के ४३ से अन्तिम ४७वे पर्व तक—इन पाच पर्वो की रचना कर 'महापुराण' के पूर्वार्द्ध 'आदिपुराण' को पूर्ण किया।

तदनन्तर गुणभद्र ने 'उत्तरपुराण' की रचना प्रारम्भ की। ८ (आठ) हजार श्लोक प्रमाण उत्तर पुराण की रचना गुणभद्र ने पूर्ण कर दी, परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसकी प्रशस्ति के २७ श्लोक ही वे लिख पाये थे कि प्रशस्ति पूर्ण करने से पहले ही वे स्वर्गवासी हो गये, इसीलिए 'उत्तर पुराण' की प्रशस्ति के २८ वे श्लोक से अतिम ३७ वे श्लोक तक की रचना उनके शिष्य लोकसेन ने करके इस प्रशस्ति को पूर्ण किया।

लोकसेन ने प्रशस्ति श्लोक सख्या ३१ से ३७ मे लिखा है —

जिस समय अकालवर्ष नामक राष्ट्रकूट वशीय नरेश अपने सभी प्रमुख शत्रुओ को परास्त करने के पश्चात् पृथ्वी (के विशाल भाग) पर निष्कण्टक राज्य कर रहे थे। (उनके सामन्त) अपने प्रपितामह मुकुल के

कुल रूपी कमल को विकसित करने वाले सूर्य के प्रताप के समान जिनका प्रताप शत्रुओ को नष्ट कर देने के कारण चारो ओर प्रसृत हो रहा था, जो चेल्ल केतन महासामन्त बकेय का पुत्र, चेल्ल ध्वज का लघुभ्राता और स्वय मयूर चिह्नाकित पताका वाला था, जो प्रचार-प्रसार–प्रभावना आदि के माध्यम से जैन धर्म की अभिवृद्धि करने वाला था—ऐसा यशस्वी लोकादित्य जिस समय बकापुर मे वनवासी देश का शासन कर रहा था। उस समय लोकादित्य के पिता बकेय के नाम पर बसाये गये बकापुर नामक सुन्दर नगर मे शक स० ८२० की आश्विन शुक्ला पचमी के दिन भव्य जनो द्वारा पूजित यह उत्तर पुराण विश्व मे जयवन्त रहे।

इस प्रशस्ति से यही प्रकट होता है कि भट्टारकाचार्य गुणभद्र ने बकापुर मे शक स० ६२० तदनुसार वि० स० ६५५ मे उत्तर पुराण की रचना पूर्ण की।

आचार्य जिनसेन महापुराण को महाभारत के समकक्ष एक ऐसे पुराण का स्वरूप देना चाहते थे, जिसमे चौबीसो तीर्थंकरो के काल का प्रमुख पुरातन इतिहास विस्तार पूर्वक समाविष्ट हो जाय। महापुराण का पूर्वार्द्ध आदि पुराण तो पर्याप्त अशो मे जिनसेन की अभिलाषा के अनुरूप ही बन गया किन्तु महापुराण का उत्तरार्द्ध उनकी इच्छा के अनुरूप नही बन सका। इस बात को स्वय गुणभद्र ने निम्नलिखित रूप मे स्वीकार किया है —

> इक्षोरिवास्य पूर्वार्द्धमेवाभाविरसावहम्।
> यथातथास्तु निष्पत्तिरिति प्रारभ्यते मया ॥(१४)॥

अर्थात् — इक्षुदण्ड के पूर्वार्द्ध खण्ड की ही भाति इस महापुराण का पूर्वार्द्ध (आदि पुराण) बडा सरस बन पडा है, उत्तरार्द्ध मे तो इक्षुदण्ड के उपरि तन भाग की भाति येन-केन प्रकारेण स्वल्पतर (विरस) रस की प्राप्ति हो सकेगी। यही समझ कर मैं इसकी रचना प्रारम्भ कर रहा हू।

प्रशस्ति मे गुणभद्र ने उत्तर पुराण के जिनसेन के आदि पुराण के अनुरूप ही विशद विशाल स्वरूप न दे पाने के कारणो पर प्रकाश डालते हुए कहा है —

> अतिविस्तर भीरुत्वादवशिष्ट सगृहीतममलधिया।
> गुणभद्र सूरिणेद, प्रहीण कालानुरोधेन ॥(२०)॥[1]

अर्थात् — निरन्तर त्वरित गति से हीनता अथवा ह्रास की ओर उन्मुख एव प्रवृत्त हो रहे काल के कुप्रभाव के परिणाम स्वरूप और महत्

---

[1] उत्तरपुराण प्रशस्ति।

विस्तार के भय से अपने आयु, शरीर बल, बुद्धिबल आदि को दृष्टिगत रखते हुए गुणभद्रसूरि ने कुछ त्वरा (जल्दी) मे सक्षेपतः ही इस उत्तर पुराण को निबद्ध किया है।

वस्तुत. यह एक बडी भारी कमी रह गयी है, अन्यथा आदि पुराण की भाति उत्तर पुराण भी होता तो सम्पूर्ण पुरातन जैन इतिहास पर अपूर्व प्रकाश डालने वाला ग्रन्थ रत्न वृहदाकार पुराण के रूप मे उपलब्ध होता। यद्यपि जिनसेनाचार्य का महापुराण की रचना करने का स्वप्न उनके दिवगत हो जाने के कारण उनकी इच्छा के अनुरूप तो साकार नही हो सका तथापि भट्टारक गुणभद्र का प्रयास स्तुत्य ही रहा कि उन्होने अपने गुरु के अधूरे रहे हुए कार्य को उत्तर पुराण की रचना कर पूरा कर दिया।

उत्तर पुराण प्रशस्ति मे आचार्य गुणभद्र ने—

"कवि परमेश्वरनिगदित गद्य कथा मातृक पुरोश्चरितम्" इस पद से स्वीकार किया है कि उत्तर पुराण की रचना करते समय उन्होने कवि परमेष्ठी द्वारा रचित 'वागर्थ सग्रह पुराण' से बडी सहायता ली। गुणभद्र के समय तक "वागर्थ सग्रह पुराण" उपलब्ध था, यह भी इस उल्लेख से सिद्ध होता है।

आचार्य गुणभद्र की—"आत्मानुशासन" और "जिनदत्त चरित्र"—ये दो कृतिया उपलब्ध हैं। २६६ श्लोकात्मक आत्मानुशासन मुमुक्षुओ के लिए बडा उपयोगी है। 'जिनदत्त चरित्र' सस्कृत भाषा का चरित्रात्मक काव्य है।

—❀—

बड़ गच्छ

बड गच्छ पट्टावली के अनुसार भ० महावीर के ३५वे पट्टधर आ० सर्वदेव सूरि के गुरु उद्योतन सूरि से बड गच्छ की उत्पत्ति हुई। अचल गच्छ पट्टावली मे भी इन्हे भ० का ३५वा पट्टधर कहा है।

उक्त पट्टावली मे इस प्रकार का उल्लेख भी किया गया है कि इस परम्परा मे सर्वदेव सूरि के पश्चात् हुए आठवे आचार्य तथा इस पट्टावली के उल्लेखानुसार भगवान महावीर के ४४वे पट्टधर जगच्चन्द्र सूरि के समय तक यह गच्छ बड गच्छ के नाम से अभिहित किया जाता रहा। भगवान के ४४ वे पट्टधर जगच्चन्द्र सूरि ने जीवन पर्यन्त आचाम्ल व्रत करते रहने की प्रतिज्ञा की। घृत, दूध, दही, तेल, नमक, मिर्ची, मसाले आदि सब चीजो का आजीवन त्याग कर बिना नमक की पूर्णत शुष्क रुक्ष रोटी तथा उबला हुआ अथवा भुना हुआ अन्न ही ग्रहण करने का प्रत्याख्यान (प्रतिज्ञा) अथवा अभिग्रह अगीकार किया। आजीवन आचाम्ल व्रत के अतिरिक्त वे उपवास, बेला, तेला आदि घोर तपश्चरण भी करते रहते थे। बारह वर्ष पर्यन्त इस प्रकार के घोर तपश्चरण के साथ अप्रतिहत विहार के माध्यम से विभिन्न क्षेत्रो के लोगो को धर्म मार्ग पर स्थिर करते हुए वे जगच्चन्द्र सूरि आघाड (आहड अथवा आघाटक) नगर मे आये। आघाड उन दिनो (विक्रम की तेरहवी शताब्दी मे) मेवाड राज्य का पट्ट नगर—राजधानी था। मेवाड के महाराणा ने उनके घोर तपश्चरण की यशोगाथाए सुनकर उनके तप एव त्याग की मुक्त कण्ठ से प्रशसा करते हुए उन्हे तपा के विरुद से विभूषित किया। इस विरुद से पहले इस गच्छ के साधु-साध्वी श्रावक-श्राविका वर्ग बड गच्छीया नाम से अभिहित किये जाते थे किन्तु इस तपा विरुद से विभूषित किये जाने पर इनकी तपा के नाम से लोक मे ख्याति हुई और बड गच्छ वि० स० १२८५ मे तपा गच्छ के नाम से लोक मे विख्यात हुआ। तपा गच्छ पट्टावली के उल्लेखानुसार जगच्चन्द्र सूरि ने साधुओ मे व्याप्त शिथिलाचार देख क्रियोद्धार किया ?[1]

इस सम्बन्ध मे नाकोडाजी से उपलब्ध हस्तलिखित पट्टावली के शब्द इस प्रकार हैं —

"तत्पट्टे श्री जगच्चन्द्र सूरि (४४ वे पट्टधर) जिणै महापुरुषै जावजीव आबिल नो पच्चखाण कीधो, त्यारै आघाड नगरै पधारया, त्यारै

---

[1] य क्रियाशिथिलमुनिसमुदाय ज्ञात्वा गुर्वाज्ञया वैराग्यरसैक समुद्र चैत्रगच्छीय श्री देवभद्रोपाध्याय सहायममादाय क्रियायामौग्र्यात् हीरला जगच्चन्द्र सूरिरिति ख्यातिभाक् बभूव।
—पट्टावली समुच्चय (तपागच्छ पट्टावली) पृष्ठ ५७

राणैजी तपिया देखी ने 'तपा' विरुद दीधो। सवत् १२४५ तपा विरुद हूयौ। पेहला बडगच्छा हुता, पछै तपा विरुद हूयौ, तेह थी तपा कैहवाणा। तत्पट्टे श्री देवचन्द्रसूरि (४५)

बडगच्छ की उत्पत्ति के सम्बन्ध मे जैन वाग्मय मे जो उल्लेख उपलब्ध होता है, वह इस प्रकार है कि एक समय अर्बुदाचल की तीर्थयात्रा के पश्चात् उद्योतन सूरि आबू पहाड से नीचे उतर कर टेली नामक ग्राम के पास एक विशाल वट वृक्ष की छाया मे विश्राम करने के लिये बैठे। उस समय चिन्तन करते-करते उनके ध्यान मे यह बात आई कि यदि वे अपने किसी शिष्य को उस समय आचार्य पद प्रदान कर दे तो उसके पट्ट की वश परम्परा की सुदीर्घकाल तक स्थायी वृद्धि के साथ-साथ जिन शासन की प्रभावना मे भी अद्भुत अभिवृद्धि हो सकती है। उस समय चल रहा मुहूर्त उन्हे अतीव श्रेष्ठ प्रतीत हुआ और उन्होने तत्काल उस सुविशाल वट वृक्ष की छाया मे ही सर्वदेव सूरि आदि अपने आठ प्रमुख एव विद्वान् शिष्यो को आचार्य पद प्रदान कर दिये। कतिपय विद्वानो का अभिमत है कि उद्योतन सूरि ने उस समय अपने एक ही शिष्य श्री सर्वदेव सूरि को आचार्य पद प्रदान किया, शेष सात शिष्यो को नही। ऐसा प्रतीत होता है कि सर्वदेव सूरि के प्रशिष्य सर्वदेव सूरि द्वितीय ने अपने आठ शिष्यो को आचार्य पद प्रदान किया था, जिनमे से एक धनेश्वर सूरि थे, इसी नाम साम्य के कारण सम्भवत उद्योतन सूरि द्वारा सर्वदेव सूरि के साथ ७ शिष्यो को आचार्य पद दिये जाने की बात कही जाती हो।

वृहद् गच्छ गुर्वावली (बडगच्छ गु०) के उल्लेखानुसार उद्योतन सूरि ने वि० स० ९९४ मे सर्वदेव सूरि आदि को टेली ग्राम के पास के लोकडिया नामक वट वृक्ष के नीचे आचार्य पद प्रदान किया। उस समय उन्होने अपने बहुत से शिष्यो को आचार्य पद प्रदान करते समय प्रत्येक आचार्य को ३००–३०० साधुओ का समूह प्रदान किया।[1] प्रारम्भ मे लोग इस गच्छ को वट गच्छ के नाम से पुकारते थे किन्तु जब बडगच्छ शाखा-प्रशाखाओ मे फैले हुए विशाल वट वृक्ष के समान एक शक्तिशाली और विशाल गच्छ का रूप धारण करने लगा तथा इसमे गुणी साधुओ की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि होने लगी तो सभी गच्छ इससे प्रभावित हो इसे वृहद् गच्छ के सम्मानास्पद नाम से सम्बोधित करने लगे। वृहद गच्छ के उत्तरोत्तर बढते रहने का परिणाम यह हुआ कि चन्द्र कुल अपने सहजन्मा 'नागिल', 'निवृत्ति' और 'विद्याधर' इन तीनो कुलो पर छा गया और वे तीनो ही कुल इसके विस्तार के नीचे एक प्रकार से ढँक से गये।

---

[1] (क) उज्जोयणो य सूरि, बडगच्छो सव्व देव सूरि पट्ट।
सिरिदेव सूरि तत्तो, पुणोवि सिरि सव्वदेव मुणी (१०)
—वृहत् पौषधशालिक-पट्टावली

(ख) पट्टावली पराग सग्रह, पृ० २३२

कही बडगच्छ की उत्पत्ति उद्योतन सूरि से बताई गई है तो कही सर्वदेव सूरि से। इससे कोई अन्तर नही पडता। वस्तुत उद्योतन सूरि बडगच्छ के सस्थापक है और उनके शिष्य सर्वदेव सूरि उसके प्रथम आचार्य। दूसरे शब्दो मे यह कहा जा सकता है कि उद्योतन सूरि ने बडगच्छ की सस्थापना की और सर्वदेव सूरि से बडगच्छ की परम्परा प्रचलित हुई।

इनके (सर्वदेव सूरि के) पश्चात् ३७वे पट्टधर देव सूरि हुए। देवसूरि के पश्चात् भगवान महावीर के ३८वे पट्टधर श्री सर्वदेव सूरि (द्वितीय) हुए। उन ३८वे पट्टधर द्वितीय सर्वदेव सूरि ने अपने आचार्य काल मे आठ सुयोग्य शिष्यो को पृथक साधु समूह देकर आचार्य पद प्रदान किये। इस प्रकार ३८वे पट्टधर के आचार्य काल मे बडगच्छ के आठ आचार्य हो गये और यह एक बहुत बडा गच्छ बन गया।

बडगच्छ वस्तुत वटवृक्ष की भाति चारो ओर प्रसृत हो गया और इस सर्वतोमुखी अभिवृद्धि के परिणामस्वरूप यह बडगच्छ अपने उत्कर्ष काल से ही वृहद् गच्छ के नाम से लोक मे प्रसिद्ध हुआ।

श्री सर्वदेव सूरि-द्वितीय—(३८वे पट्टधर) ने अपने जिन ८ प्रमुख शिष्यो को आचार्य पदो पर अधिष्ठित किया था, उनमे उनके एक शिष्य का नाम धनेश्वर था। ये धनेश्वर सूरि महान् प्रभावक आचार्य हुए। उन्होने वृहद् पौषधशालिक पट्टावली के उल्लेखानुसार ७०१ दिगम्बर साधुओ को अपनी परम्परा मे दीक्षित कर अपने शिष्य बनाये। चैत्रपुर नगर मे उन धनेश्वर सूरि ने वीर जिन की प्रतिष्ठा की। इस कारण धनेश्वर सूरि का विशाल शिष्य समूह और उनके उपासको का वर्ग "चैत्र गच्छ" के नाम से विख्यात हुआ।[1] यह चैत्र गच्छ 'बड गच्छ' अथवा 'वृहद् पौषध शालिक गच्छ' की ही शाखा था। चैत्र गच्छ का अपर नाम चित्रवाल गच्छ भी प्रसिद्ध है। चित्रवाल गच्छ के आचार्य देवभद्रगणी की सहायता से बड गच्छ के ४२वे आचार्य (तपाविरुदधर) जगच्चन्द्र सूरि ने उस समय के साधुओ मे व्याप्त शिथिलाचार को, कठोर नियमो का पालन एव क्रियोद्धार कर, दूर किया।[2] जगच्चन्द्र सूरि नें देवभद्र गणि के पास उपसम्पदा ग्रहण की इस प्रकार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।[3]

---

[1] जेण य अट्ठायरिया, समय सुतत्थदायगा ठविया।
तत्थ घणेसर सूरि, पभावगो वीर तित्थस्स ॥ (११)
खवणाण सत्तसया-एगुण्णि अदिक्खिआ सहत्थेण।
चित्तपुरि जिण वीरो पइट्ठिओ चित्तगच्छो य (१२)

—वृहत्पौषध शालिक-पट्टावली

[2] पट्टावली समुच्चय, भाग १, पृष्ठ २७ और ५७

[3] पट्टावली पराग सग्रह, प० कल्याण विजयजी, पृष्ठ १७४

गर्गर्षि

विक्रम की १० वी शताब्दी मे गर्गर्षि नामक एक विद्वान् आचार्य हुए हैं। उन्होने पासक केवली और कर्म विपाक नामक ग्रन्थो की रचना की। ये विक्रम की १० वी शताब्दी के प्रथम दशक के विद्वान थे। आप निवृत्ति कुल के आचार्य थे।[1]

"पज्जीवालीय गच्छ पट्टावली" के उल्लेखानुसार गर्गर्षि—गर्गाचार्य वि० स० ६१२ मे स्वर्गस्थ हुए। इनके गुरु भ्राता दुर्ग स्वामी का वि० स० ६०२ मे स्वर्गवास हुआ।[2]

कवि चतुर्मु ख

विक्रम की आठवी शताब्दी मे चतुर्मु ख नाम के एक समर्थ कवि हुए है। उन्होने अपभ्र श भाषा मे 'रिट्ठ नेमि चरिउ' (हरिवश पुराण), 'पउम चरिउ' (पद्म पुराण) और 'पचमी चरिउ' की रचनाए की। किन्तु अपभ्र श भाषा के चतुर्मु ख द्वारा रचित इन तीनो महत्वपूर्ण ग्रन्थो मे से आज एक भी ग्रन्थ उपलब्ध नही है। विद्वानो का ऐसा अनुमान है कि महाकवि स्वयम्भू इन्ही के पुत्र और महाकवि त्रिभुवन स्वयम्भू इनके पौत्र थे। विद्वानो का यह भी अभिमत है कि कवि चतुर्मु ख की इनके पुत्र स्वयम्भू ने इन तीनो ग्रन्थो की रचना मे सहायता की थी।

कवि स्वयम्भू और त्रिभुवन स्वयम्भू

नवमी शताब्दी के इन दोनो कवियो ने जो कि पिता पुत्र थे पउम चरिउ, रिट्ठनेमि चरिउ और स्वयम्भू छन्द इन तीन ग्रन्थो की रचना की। पउम चरिउ महाकवि विमल सूरि के पउम चरिउ के आधार पर बनाया गया हो ऐसा प्रतीत होता है। क्योकि स्वयम्भू ने अपने इस ग्रन्थ मे रामकथा को वही रूप दिया है जो कि विमल सूरि ने अपने पउम चरिउ मे दिया है। महाकवि विमलसूरि ने अपने ग्रन्थ पउम चरिउ की रचना इसकी प्रशस्ति के अनुसार वीर निर्वाण सम्वत् ५३० मे की। विमल सूरि का पउम चरिउ वस्तुत जैन साहित्य की राम कथाओ का प्रारम्भ से प्रमुख स्रोत रहा है। कवि स्वयम्भू और त्रिभुवन स्वयम्भू की तीनो ही रचनाए वस्तुत उच्च कोटि की रचनाए होने के कारण जैन साहित्य के अमोल ग्रन्थरत्न समझे जाते हैं।

कवि स्वयम्भू का स्वयम्भू छन्द नामक उत्कृष्ट कोटि का छन्दोग्रन्थ है। 'स्वयम्भू छद' के अनेक छन्दो के लक्षण और उदाहरण श्री हेमचन्द्राचार्य के छन्दानुशासन मे पाये जाते है।

---

[1] पट्टावली पराग सग्रह, प कल्याण विजयजी महाराज, पृष्ठ २५०

[2] वही—पृष्ठ २४६

विजयसिंह सूरि

नागेन्द्र गच्छ के आचार्य समुद्र सूरि के शिष्य विजयसिंह सूरि ने वीर नि० की पन्द्रहवी शताब्दी (विक्रम स० ६७५) मे ८६११ गाथाओ के प्राकृत भाषा के 'भुवन सुन्दरी' नामक एक कथाग्रन्थ की रचना की। कथा साहित्य मे यह ग्रन्थ बडा ही शिक्षाप्रद और रोचक है। यह ग्रन्थ आज उपलब्ध है। इससे अधिक इनका परिचय उपलब्ध नही होता।

आचार्य हरिषेण

वीर निर्वाण की पन्द्रहवी शताब्दी मे आचार्य हरिषेण नामक दिगम्बर परम्परा के एक विद्वान् ग्रन्थकार हुए है। इन्होने वर्द्धमानपुर मे विक्रम सम्वत् ६८८ तदनुसार शक सम्वत् ८५३ मे आराधना कथा कोष नामक १२५०० श्लोक प्रमाण एक कथाग्रन्थ की रचना की।

जैन कथा साहित्य का यह एक बडा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमे कुल मिलाकर १५७ कथाए सस्कृत पद्यो मे लिपिबद्ध की गई है। ये हरिषेण पुन्नाट सघ के आचार्य मौनि भट्टारक के प्रप्रशिष्य थे। इनके गुरु का नाम भरतसेन था। इन्होने अपने गुरु भरतसेन के लिये इस ग्रन्थ की प्रशस्ति मे लिखा है कि वे छन्द शास्त्रज्ञ, कवि, वैयाकरण, अनेक शास्त्रो मे निष्णात और एक विशिष्ट तत्ववेत्ता थे।

कथा कोष की कथाओ को पढने और उन पर विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि इन पर और इनकी इस कृति पर यापनीय आचार्य शिवार्य की 'आराधना' का पूर्ण प्रभाव रहा है। अपने ग्रन्थ की प्रशस्ति के आठवे श्लोक मे 'आराधनाद्धृत' वाक्य से हरिषेण ने स्वय ने यह स्वीकार किया है कि इस ग्रन्थ की रचना करते समय शिवार्य की 'आराधना' उनके समक्ष आदर्श के रूप मे रही है।

कथाकोष की प्रशस्ति मे एक ऐतिहासिक महत्व का श्लोक दिया हुआ है जो उस समय के प्रतिहार राजाओ के राज्य विस्तार पर प्रकाश डालता है। वह श्लोक इस प्रकार है—

सम्वत्सरे चतुर्विंशे वर्तमाने खराभिधे,
विनयादिक पालस्य राज्ये शक्रोपमानके ।। १३ ।।

इससे यह प्रकट होता है कि उस समय (विक्रम की दसवी शताब्दी के अन्तिम चरण मे) प्रतिहारो का राज्य केवल राजपूताने के अधिकाश भागो मे नही, बल्कि गुजरात, काठियावाड, मध्य भारत और उत्तर मे सतलज से लेकर विहार तक फैला हुआ था। यह विनायकपाल महाराजाधिराज महेन्द्रपाल का पुत्र और महीपाल तथा

भोज (द्वितीय) का भाई और क्रमश उत्तराधिकारी था। विक्रम सम्वत् ९५५ का एक दानपत्र भी उपलब्ध होता है।[1]

यह विनायकपाल अपने साम्राज्य की राजधानी कन्नोज मे रहता था।

इन्द्रनन्दी

विक्रम की दशवी शताब्दी मे दिगम्बर परम्परा के इन्द्रनन्दी नामक एक महान् मन्त्रवादी आचार्य ने "ज्वालामालिनी" नामक एक मन्त्रशास्त्र की रचना की। इनके गुरु का नाम बप्पनन्दी और प्रगुरु का नाम वासव नन्दी था। इन्द्रनन्दी ने इस ग्रन्थ की रचना का प्रारम्भ से विवरण प्रस्तुत करते हुए उपक्रम के पश्चात् लिखा है कि हेलाचार्य ने ज्वालामालिनी देवी के आदेश से पूर्व काल मे "ज्वालिनी-मत" नामक ग्रन्थ की रचना की। गुरु परिपाटी से यह 'मन्त्रराज गुणनन्दी' नामक मुनि को प्राप्त हुआ। गुणनन्दी से गूढार्थ एव रहस्य सहित इन ग्रन्थ का ज्ञान इन्द्रनन्दी ने प्राप्त किया। वह ग्रन्थ वस्तुत बडा क्लिष्ट था। इसलिए इन्द्रनन्दी ने विश्व को आश्चर्य मे डाल देने वाले इस जनहितकारी ग्रन्थ की नवीन रूप से सुवोध्य शैली मे रचना प्रारम्भ की।

राष्ट्रकूट वशीय राजाओ की राजधानी मान्यखेट (मलखेड) के कटक मे इन्द्रनन्दी ने राष्ट्रकूट राजा श्रीकृष्ण के शासनकाल मे, शक स० ८६१ मे इस ज्वालामालिनी (कल्प) नामक ग्रन्थ की रचना सम्पन्न की।[2]

"ज्वालामालिनी" नामक इस ग्रन्थ मे कुल १० अधिकार हैं। इन दश अधिकारो मे मन्त्र शास्त्र के सभी प्रमुख अगो पर प्रकाश डालते हुए इन्द्रनन्दी ने इस मन्त्र की साधना की विधि का भी निरूपण किया है।

मध्यकाल मे यह ग्रन्थ बडा ही लोकप्रिय रहा। राज्याश्रय प्राप्त कर जैन धर्म के अभ्युत्थान के लिए और जनमत को अधिकाधिक सख्या मे जिनशासन की ओर आकर्षित करने के लिए इस मन्त्रशास्त्र का खूब उपयोग किया गया। इस दिशा मे अनेक आचार्यो को आशातीत सफलता भी प्राप्त हुई।

---

[1] (क) इण्डियन एण्टीक्वेरी, जिल्द सख्या १५, पृष्ठ १४०–१४१
(ख) राजपूताना का इतिहास जिल्द १, पृष्ठ १६३

[2] अष्टेशतस्यैकषष्ठि प्रमाणशकवत्सरेष्वतीतेषु,
श्री मान्यखेट कटके पर्वण्यक्षयतृतीयायाम्।
शतदलमहित चतु शतपरिमाणग्रन्थरचनायुक्तम्,
श्रीकृष्णराज राज्ये समाप्तमेतन्मत्र देव्या ॥ —ज्वालामालिनिकल्प प्रशस्ति

भ० महावीर के ४८वे पट्टधर उमरण ऋषि और ४९वे सेरण के समय के प्रभावक चार्य श्री महेन्द्र सूरि

अवन्ति प्रदेश की राजधानी धारानगरी मे जिस समय राजा भोज राज्य कर रहे थे उस समय महेन्द्रसूरि नामक आचार्य धारानगरी मे आये। आध्यात्मिक आनन्द प्रदान करने वाले उपदेशो को सुनने के लिए धारानगरी के सभी वर्गों के लोग उमड पडे। जिन-जिन लोगो के मन मे जो-जो भी शकाए थी उन्होने अपनी शकाओ का महेन्द्रसूरि से समाधान प्राप्त किया।

एक दिन सर्वदेव नाम का एक ब्राह्मण आचार्य श्री महेन्द्रसूरि के उपाश्रय मे आया। तीन दिन और तीन रात तक वह उस उपाश्रय मे महेन्द्रसूरि के आसन के समक्ष बैठा रहा। चौथे दिन महेन्द्रसूरि ने उस सर्वदेव ब्राह्मरण से पूछा —"हे द्विजोत्तम ! क्या आपको कोई प्रश्न पूछना है ? यदि तुम्हारे मन मे धर्म के विषय मे किसी प्रकार की शका हो तो हमारे समक्ष रक्खो।"

सर्वदेव ने कहा —"महात्मन् ! केवल महात्माओ के दर्शन से ही महान् पुण्य का अर्जन हो जाता है। तथापि एक कार्य के लिए मै आपकी सेवा मे उपस्थित हुआ हू। क्योकि हम गृहस्थ लोग तो वस्तुत अभ्यर्थी हैं अर्थात् अपने लौकिक अभ्युदय के इच्छुक है अथवा भौतिक आकाक्षा से लिप्त है। अत मै एकान्त मे ही आपसे कुछ निवेदन करना चाहता हू।"

महेन्द्रसूरि उसके साथ एक ओर एकान्त स्थान मे गये। तब ब्राह्मरण सर्वदेव ने कहा —"हे ज्ञानसिन्धो ! मेरे पिता का नाम देवर्षि था। वे मालवपति के बहुमान्य विद्वान् थे। मालवराज सदा एक लाख स्वर्ण मुद्राओ का कतिपय दिनो तक दान करते रहे। मेरा विश्वास है कि मेरे पिता द्वारा वह धन हमारे ही घर मे कही गाडा गया था। आप दिव्य दृष्टि सम्पन्न है। मेरे घर पर चलकर यदि आप हमारा वह छिपा हुआ धन बता देगे तो इस ब्राह्मण का और साथ ही इसके परिवार का बडे आनन्द के साथ दान पुण्यादि करते हुए जीवन व्यतीत हो जायगा। हम सब आपके सदा-सदा कृतज्ञ रहेगे।

निमितज्ञ महेन्द्र सूरि ने देखा कि उस ब्राह्मरण के माध्यम से उन्हे एक महान् प्रभावक शिष्य और श्रावक का लाभ होने वाला है अत उन्होने प्रश्न किया —"द्विजवर ! यदि तुम्हे छिपा हुआ धन मिल गया तो तुम हमे क्या दोगे ?"

ब्राह्मण ने कहा —"उसमे से आधा मै आपको दू गा।"

महेन्द्र सूरि ने कहा —"नही, तुम्हारे पास जो कुछ भी अच्छा होगा उसमे से आधा मै लू गा।"

ब्राह्मण सर्वदेव ने साक्षीपूर्वक इस शर्त्त को स्वीकार कर लिया।

महेन्द्रसूरि को उपाश्रय से सर्वदेव अपने घर ले आया। उसने अपने बडे पुत्र धनपाल और छोटे पुत्र शोभन को महेन्द्र सूरि के साथ हुई बात का सारा विवरण सुनाया। एक दिन शुभ मुहूर्त्त मे ब्राह्मण महेन्द्रसूरि को फिर अपने घर ले गया। वहा सूरि ने अपने ज्ञानबल से देखकर सर्वदेव को वह स्थान बता दिया जहा कि धन गडा पडा था। ब्राह्मण ने उस स्थान को खोदा तो चालीस लाख स्वर्ण मुद्राए वहा से निकली। श्री महेन्द्रसूरि तो बिलकुल निस्पृह थे। अत उसी समय बिना कुछ लिये वहा से लौट आये। एक वर्ष तक सर्वदेव प्रति दिन महेन्द्र सूरि की सेवा मे उपस्थित होकर आधा धन ग्रहण करने की उनसे प्रार्थना करता रहा। महेन्द्र सूरि सदा इसे टालते रहे। एक दिन सर्वदेव ने आचार्य महेन्द्र सूरि की सेवा मे उपस्थित होकर निवेदन किया —"महर्षिन्! आज तो मै आपको आपका देय दिये बिना अपने घर नही लौटू गा।"

महेन्द्र सूरि ने कहा :—"द्विजोत्तम! तुम्हे भली भाति स्मरण होगा कि मैंने क्या कहा था? मैने यही कहा था कि मुझे जो अच्छा लगेगा उसमे से आधा लू गा।"

ब्राह्मण ने उत्तर दिया —"हा, तो महाराज, वह लीजिये न।"

महेन्द्र सूरि ने कहा —"तुम्हारे घर मे तुम्हारे पास पुत्र युगल की एक जोडी है। यदि तुम अपनी प्रतिज्ञा को पूरी करना चाहते हो तो अपने धनपाल और शोभन इन दो पुत्रो मे से एक मुझे दे दो। अन्यथा आनन्द से घर जाओ।"

यह सुनते ही सर्वदेव किंकर्त्तव्य विमूढ हो गया। बडे कष्ट से उसके मुह से यह वाक्य निकला —"दू गा महाराज!"

तदनन्तर चिन्तामग्न वह ब्राह्मण अपने घर की ओर लौट गया और एक कक्ष मे पडी खाट पर लेट गया। जब उसके बडे पुत्र धनपाल ने प्रासाद से लोटकर अपने पिता को इस प्रकार चिन्तामग्न देखा तो पूछा —"पूज्यपाद! आपके इस अकिंचन पुत्र की विद्यमानता मे आपको किस बात का शोक है? मै तो आपकी प्रत्येक आज्ञा शिरोधार्य करता आया हू। अत आप अपनी चिन्ता का कारण बताइये।"

सर्वदेव ने कहा —"वत्स ! तुम सुपुत्र हो। पिता की आज्ञा का पालन करने मे तुम्हे इसी प्रकार कृत-सकल्प रहना चाहिये। तुम ध्यान से सुनो। महेन्द्र सूरि ने हमारी इस छिपी हुई पैतृक सम्पत्ति को हमे बताया है। मैंने इस सम्बन्ध मे यह प्रतिज्ञा की थी कि इसके बदले मे जो आपको अच्छा लगेगा उसका आधा मै आपको दू गा। अब वे मेरे पुत्र युगल मे से अर्थात् तुम दोनो मे से एक को माग रहे है। बस, इसी चिन्ता से मै किंकर्त्तव्यविमूढ हो रहा हू कि क्या करू ? हे पुत्र ! इस घोर धर्म सकट से तुम्ही मेरा उद्धार कर सकते हो। मेरी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिये तुम उनका शिष्यत्व स्वीकार कर लो।"

यह सुनते ही विद्वद् शिरोमणि धनपाल बडा क्रुद्ध हुआ और कहने लगा —"जैसा आपने कहा है। उसको कोई भी उचित नही कहेगा। हम वेद वेदान्त-पाठी ब्राह्मण सब वर्णो मे उत्तम वर्ण वाले है। मु जराज मुझे सदा अपना पुत्र ही समझते थे। मै राजा भोज का बाल सखा हू। इन शूद्रो की दीक्षा ग्रहण करके मैं महाराज मु ज के और आपके पूर्वजो को रसातल मे गिराऊ यह कभी नही हो सकता। आपको ऋण से मुक्त करने के लिये मैं सब पूर्वजो को पाताल मे गिरादूं इस प्रकार का सज्जनो द्वारा निन्दित कार्य मै कभी नही करू गा। मेरा यह अन्तिम निर्णय है कि आपके इस कार्य से मेरा कोई प्रयोजन नही है। अब आप जैसा उचित समझे वैसा करे।" यह कहकर वह अन्यत्र चला गया।

सर्वदेव द्विज की आखो से अश्रु पात होने लगा। आसुओ की धारा बह चली। वह निराश हो गया कि अब इस घोर धर्म सकट से वह कैसे बचे। वह इस प्रकार चिन्ता सागर मे डूब रहा था कि उसका दूसरा पुत्र शोभन घर मे आया। अपने पिता को चिन्तामग्न देखकर पिता से पूछा —"आप शोकमग्न क्यो हैं ?"

सर्वदेव ने निराशाभरे स्वर मे कहा —"जिस कार्य के सम्पादन मे तुम्हारे बडे भाई धनपाल ने भी मेरी सब आशाओ पर पानी फेर दिया उस कार्य को क्योकि अभी तुम बालक हो कैसे सिद्ध कर सकोगे। तुम जाओ। स्वय द्वारा किये गये कर्मो का फल मैं स्वय भोग लू गा।"

अपने पिता के इस प्रकार निराशापूर्ण वचन सुनकर शोभन ने कहा — "पितृदेव ! मेरे जीवित रहते आप कभी इस प्रकार विह्वल न हो। बडे भाई धनपाल राजपूज्य हैं और हमारे परिवार का भरण-पोषण करने मे सक्षम हैं। अत उसकी कृपा से मैं तो पूर्णत निश्चिन्त हू। आप शीघ्र ही आज्ञा प्रदान कीजिये। मै आपकी आज्ञा का अक्षरश पालन करू गा। भाई धनपाल तो वेद-वेदाग और स्मृति शास्त्रो के पारगामी विद्वान हैं। क्या करणीय है और क्या अकरणीय है इसका अपनी इच्छानुसार विवेचन करने मे वे निष्णात हैं। आपको ज्ञात ही है कि मै तो बाल्यावस्था से ही नितान्त सरल हू और इस दृढ़ आस्था वाला

हू कि पिता की आज्ञा के पालन से बढकर पुत्र के लिये और कोई धर्म नही है। पिता की आज्ञा पालन मे मै करणीय अथवा अकरणीय का विचार नही करता। आप चाहे तो मुझे कुए मे फैंक सकते है और चाहे तो नरभोजी क्रूर मानवो तक को समर्पित कर सकते है।"

यह सुनते ही सर्वदेव ने शोभन को अपने वक्षस्थल से लगा लिया। उसने कहा –"वत्स! मुझे एक ऋण से मुक्त करके मेरा उद्धार कर दो।"

तदनन्तर सर्वदेव ने अपने पुत्र शोभन को महेन्द्रसूरि के साथ हुई प्रतिज्ञा और उस प्रतिज्ञा की पूर्त्ति के लिये अपने दो पुत्रो मे से एक पुत्र को उन्हे सदा के लिये शिष्य के रूप मे दे देने की बात कही।

यह सुनते ही शोभन के हर्ष का पारावार नही रहा। वह बोला – तात! यह कार्य तो मुझे प्रिय से प्रियतर है। ये जैन मुनि तो तपोपूत त्याग की कान्ति से प्रकाशमान् और अहिंसा सत्य अस्तेय आदि महान् व्रतो के धारक है और महान् सत्वशाली होते है। उनके चरणो की सेवा करने का सौभाग्य पूर्व जन्मार्चित महान् पुण्यो के प्रताप से ही प्राप्त होता है। प्राणी मात्र पर अनुकम्पा करना ही वस्तुत सच्चा धर्म है। और यह साकार धर्म उन जैन मुनियो के अन्दर ही विद्यमान है। उनके चरणो मे दीक्षित होने के स्वर्णिम अवसर को छोडकर ऐसा कौन मूर्ख होगा जो यह करना है वह करना है तो यह भी करना है और वह भी करना है इस प्रकार की चिन्ता से रात-दिन मानव को चिन्ता की ज्वाला मे जलाते रहने वाले विषय-वासनाओ के घोर पकिल आवास गृहस्थावास मे रहना पसन्द करेगा। भईया तो दोनो ओर से डरते है। अपनी प्राण प्रिया पत्नी धनश्री से और सभी प्रकार की भोग्य वस्तुओ के विद्यमान होते हुए भी उसमे अपनी असन्तोष वृत्ति से। हे तात! किसी कन्या के साथ सम्बन्ध मे आबद्ध कर दिये जाने के अनन्तर मेरी भी इसी प्रकार की दुर्गति अवश्यम्भाविनी है। ऐसी दशा मे मुझे जो कार्य सबसे अधिक प्रिय है—श्रमणधर्म मे दीक्षित होने का—उसके लिये आप शीघ्र ही मुझे अनुमति क्यो नही प्रदान करते हैं। इसलिये चिन्ता का परित्याग कर उठिये, स्नान देवार्चन वैश्व-देवादिकी क्रियाओ से निवृत्त होकर भोजन कीजिये और उसके पश्चात् शीघ्र ही मुझे ले जाकर उन महान् जैनाचार्य महेन्द्र सूरि के क्रोड मे समर्पित कर दीजिये जिससे कि मै उन पूज्य पुरुषो की चरण सेवा करके अपने जन्म को सार्थक करू। अपने इस जन्म को पवित्र करू।"

अपने छोटे पुत्र शोभन की इस बात को सुनते ही देवोत्तम सर्वदेव के लोचन युगल आनन्दाश्रुओ से ओतप्रोत हो छलक उठे। उसने अपने पुत्र का प्रगाढ आलिंगन किया। उसके मस्तक को सूघा। तदनन्तर सभी आवश्यकीय क्रियाओ से निवृत्त होकर अपने पुत्र शोभन के साथ महेन्द्रसूरि की सेवा मे उपस्थित होकर

उनके क्रोड मे अपने प्राणप्रिय पुत्र को बिठा दिया और हाथ जोडकर निवेदन किया —"परम पूज्य आचार्यदेव ! अब जैसा आप इसे बनाना चाहते है वैसा बनाइये। यह पूर्णरूपेण आपका है।"

महेन्द्रसूरि ने शुभ मुहूर्त्त मे शोभन देव को पच महाव्रतो की भागवती दीक्षा प्रदान की और धारानगरी से दूसरे दिन प्रात काल विहार कर गये। विहारक्रम से वे कुछ समय पश्चात् अणहिल्लपुर पट्टण पहुचे।

इधर धनपाल ने लोगो मे अपने पिता की निन्दा करना प्रारम्भ कर दिया। कहने लगा कि इन्होने अपने पुत्र को धन के बदले बेच दिया है। वे जैन साधु शूद्र हैं। मुख देखने योग्य नही है। वे स्त्रियो और बालको को भुलावे मे डाल देते है। इन पाखडियो को हमारे देश से निर्वासित करवा दिया जाय। उसने क्रोध के वशीभूत हो राजा भोज से निवेदन किया। राजा भोज ने उसकी बात सुनकर जैन श्रमणो का विहरण विचरण मालव प्रदेश मे राजाज्ञा द्वारा निषिद्ध करवा दिया। इस प्रकार राजा भोज की आज्ञा से मालव प्रदेश मे बारह वर्षो तक जैन श्रमणो का दर्शन तक दुर्लभ हो गया।

धारानगरी के जैन सघ ने महेन्द्रसूरि की सेवा मे जैन श्रमणो के मालव मे विचरण सम्बन्धी राजा भोज की निषेधाज्ञा का पूरा विवरण प्रस्तुत कर दिया।

शोभनदेव को श्रमणधर्म मे दीक्षित करने के पश्चात् आचार्य महेन्द्रसूरि ने उसे सभी विद्याओ और आगमो का अध्ययन प्रारम्भ करवाया। मेधावी शोभनदेव ने बडी निष्ठा, लगन और परिश्रम के साथ अध्ययन करते हुए आगमो के तलस्पर्शी ज्ञान के साथ-साथ सभी विद्याओ मे निष्णातता प्राप्त की। आचार्य महेन्द्रसूरि ने शोभनदेव के प्रकाण्ड पाडित्य, वाग्मिता, विनय, आदि गुणो से प्रसन्न होकर उन्हे वाचनाचार्य पद पर अधिष्ठित किया।

अवन्ति के सघ ने महेन्द्रसूरि की सेवा मे विज्ञप्तिपत्र प्रस्तुत किया कि वे अपने चरणो से अवन्ति को पवित्र करे। शोभनदेव ने अपने गुरु महेन्द्रसूरि से निवेदन किया —"पूज्यपाद ! मैं धारानगरी मे जाऊगा और अपने भ्राता को शीघ्र ही प्रतिबोध दू गा। यह सब मन-मुटाव मेरे निमित्त से ही पैदा हुआ है। मैं ही इसका प्रतिकार करू गा और टूटे हुए इस सम्बन्ध को पुन जोडने का प्रयास करू गा। इसलिए मेरी आपसे प्रार्थना है कि आप मुझे धारानगरी जाने की अनुज्ञा प्रदान कीजिये।"

महेन्द्रसूरि ने अपने शिष्य शोभन उपाध्याय की प्रत्युत्पन्नमति सम्पन्नता, विनय, वाक्पटुता, मृदुभाषिता आदि प्रभावक, बहुमुखी प्रतिभा से प्रभावित हो, जिनशासन की प्रभावना के इस आत्यन्तिक महत्व के कार्य को धारा नगरी मे जाकर

सम्पन्न करने की आज्ञा प्रदान कर दी। कतिपय गीतार्थ एव सेवा परायण मुनियो के साथ उपाध्याय श्री शोभन ने अणहिल्लपुर पत्तन से धारा नगरी की ओर विहार किया। विहार क्रम से स्थान-स्थान पर भव्य उपासको को धर्मपथ पर आसीन एव दृढ करते हुए उपाध्याय श्री शोभन अपने सन्तसमूह के साथ कतिपय दिनो के पश्चात् धारा नगरी पहुचे और अपनी सतमडली सहित वे वहा एक उपासनाभवन–उपाश्रय मे ठहरे।

मधुकरी का समय उपस्थित होने पर शोभन गुरु ने अपने दो साधुओ को भिक्षा की गवेषणार्थ अपने ज्येष्ठ भ्राता धनपाल के घर पहुच कर उन्हे धर्मलाभ दिया। उस समय महाकवि धनपाल अपने शरीर मे तैलमर्दन के अनन्तर स्नानार्थ समुद्यत था। उसने साधुओ का अभिवादन करते हुए अपनी धर्मपत्नी से कहा—"इन अतिथियो को कुछ न कुछ भोजन-पेय आदि अवश्य ही देना चाहिये। क्योकि गृहस्थ के घर से अभ्यर्थियो का बिना कुछ लिये ही रिक्तहस्त लौट जाना उस सद्गृहस्थ के लिये पापकारक होता है।"

धनपाल की गृहिणी ने कुछ पक्वान्न उन मुनियो को दिया और उन्हे दही देने के लिए दधिपात्र हाथ मे लिया। मुनियो ने प्रश्न किया कि यह दही कितने दिन का है?

इस प्रश्न के सुनते ही धनपाल आवेशपूर्ण स्वर मे बोला—"यह दही तीन दिन का है। कहिये, क्या इसमे भी जीव उत्पन्न हो गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है, आप लोग नये-नये ही दयाव्रतधारी बने है। लेना हो तो लीजिये, अन्यथा शीघ्र ही यहा से अन्यत्र चले जाइये।"

एक साधु ने बडे ही शात एव मृदु स्वर मे कहा—"विद्वन्! जैन श्रमणो के लिए जो मधुकरी के सम्बन्ध मे आचार-सहिता बनी हुई है, उसकी अनुपालना मे इस प्रकार की जानकारी करना हमारा अनिवार्य कर्त्तव्य रखा गया है। पूरी जानकारी कर लेने के पश्चात् जब हमे विश्वास हो जाय कि भिक्षा मे गृहस्थ द्वारा दी जाने वाली वस्तु पूर्णत दोषरहित है तभी हम उसे ग्रहण करते है, अन्यथा नही। बस इतनी सी बात पर आप कुपित क्यो हो रहे है? आक्रोश वस्तुत अनिष्टकर और प्रियवचन सदा सब के लिए श्रेयस्कर होते हैं। दो दिनो के पश्चात् दही आदि गोरस मे जीवो की उत्पत्ति हो जाती है। यह ज्ञानियो का कथन है।"

महाकवि धनपाल ने आश्चर्यपूर्ण मुद्रा मे कहा—"यह नई बात तो मैंने अपने जीवन मे पहली बार आपके मुख से ही सुनी है। तो आप इस दही मे उन जीवो को दिखाइये कि दही मे इस प्रकार के जीव होते हैं, जिससे कि हमे भी प्रत्यक्ष दर्शन से आपकी इस बात की सत्यता पर विश्वास हो जाय।"

उन दोनो साधुओ ने कहा—"महाकवे ! इस दही मे थोडा सा अलता का रग डाल दीजिये।"

इधर धनपाल ने दही मे किंचित्मात्र रग डाला और उधर तत्काल ही दही के वर्ण के ही अनेक जीव जो अब तक अदृष्ट थे, दृष्टिगोचर हो दधिपात्र मे इधर-उधर चलने लगे।

दधिपात्र मे इस प्रकार अगणित जीवो को इधर-उधर चलते और किलबिलाते देख जैन धर्म के सम्बन्ध मे कवि धनपाल के अन्तर्मन मे जो भ्रान्तिया थी वे तत्काल प्रणष्ट हो गई, उसके मन और मस्तिष्क पर छाया हुआ मिथ्यात्व का कोहरा तत्क्षण समाप्त हो गया। उसने मन ही मन सोचा—"अहो ! जैन दर्शन मे सूक्ष्म से सूक्ष्म तत्त्व को वस्तुत यथातथ्य रूपेण गहन दृष्टि से सोचा, देखा और बताया गया है। वस्तुत जैन दर्शन ससार के प्राणिमात्र के प्रति दया अनुकम्पा की भावनाओ से ओतप्रोत, विश्वबन्धुत्व का प्रतीक और ससार के सभी जीवो के लिये सभी भाति कल्याणकारी है।" उसने अनुभव किया कि उसके अन्तर्मन मे अलौकिक आलोक की एक दिव्य किरण प्रकट हुई है।

महाकवि धनपाल ने अजलिबद्ध हो सादर मस्तक झुकाते हुए विनम्र स्वर मे उन दोनो साधुओ से पूछा —"महात्मन् ! आपका आगमन कहा से हुआ है, आपके गुरु कौन है और आप यहा धारा नगरी मे किस स्थान पर ठहरे हुए है ?"

एक साधु ने धनपाल के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा—"महाकविन् ! हम यहा गुर्जरभूमि से आये हैं। महेन्द्रसूरि के सुयोग्य शिष्य शोभनाचार्य हमारे गुरु है और इस नगर मे आदिनाथ भगवान् के मन्दिर के पास एक उपाश्रय मे हम सब ठहरे हुए है।" तदनन्तर वे दोनो साधु महाकवि धनपाल के भवन से निकलकर जिस दिशा से आये थे, उसी दिशा की ओर लौट गये।

विचारमग्न धनपाल ने तत्काल स्नान किया, शुद्ध वस्त्र धारण किये और बिना भोजन किये ही वह उपाश्रय की ओर प्रस्थित हुआ। धनपाल ने ज्यो ही उपाश्रय मे प्रवेश किया कि शोभनाचार्य की दृष्टि उन पर पडी। अपने बडे भाई के प्रति सम्मान प्रकट करते हुए वे धनपाल के सम्मुख गये। धनपाल के अन्तर्हृद मे भ्रातृस्नेह उद्वेलित हो उमड पडा। उसने तीव्र गति से आगे बढकर अपने लघु सहोदर शोभनाचार्य को अपने बाहुपाश मे आबद्ध कर अपने वक्षस्थल से लगा लिया।

शोभनाचार्य ने अपने बडे भाई के सम्मान की दृष्टि से अपने पास ही अर्द्ध आसन पर बैठने का अनुरोध किया किन्तु धनपाल उनके समक्ष धरती पर ही बैठ गया और बोला—"बन्धो ! आपने ससार के महान् दर्शन—जैन दर्शन का आश्रय ले श्रमणधर्म अगीकार किया है। आप मेरे ही नही सब के पूज्य है। मैंने अज्ञान और अमर्ष के वशीभूत हो राजा भोज को निवेदन कर इस महान् धर्म के धर्मगुरुओ

के मालव राज्य मे विचरण पर प्रतिबन्ध लगवा कर घोर पाप का उपार्जन किया है, इस बात का मुझे बडा दु ख है। अब मैं अपने इस पाप की पूर्णरूपेण शुद्धि करने का अभिलषुक हू। वस्तुत हमारे पिताश्री और आप महान् भाग्यशाली एव क्षीर–नीर–विवेक की श्लाघायोग्य बुद्धि से सम्पन्न हैं, जो आप दोनो ने भयावहा भवाटवी मे अनतकाल तक भ्रमण करवाने वाले कर्मबधनो का समूलोच्छेद करने मे सर्वथा सक्षम और अन्त मे शाश्वत, अक्षय-अव्याबाध अनन्त सुख प्रदान करने वाले जैन धर्म को स्वीकार किया है। मैं तो अभी तक विमूढ बना हुआ अधर्म को ही धर्म समझ कर धर्माभास के महाविनाशकारी क्रोड मे पडा हुआ हू। हे अनुज ! तुम वस्तुत हमारे वशरत्नाकर के कौस्तुभमणि हो, अत मुझ पर कृपा कर मुझे उस वास्तविक धर्म का स्वरूप समझाओ जो भवप्रपच के सृजनहार कर्मसमूह का समूलोच्छेद कर अक्षय आत्मिक सुख का प्रदाता है।"

बोधि-बीजार्थी अपने ज्येष्ठ भ्राता के आतरिक उद्गारो को सुन शोभनाचार्य का मानस विशुद्ध वात्सल्य की उत्ताल तरगो से तरगित हो उठा। उन्होने सुमधुर कण्ठस्वर मे कहा—"आप हमारे कुलाधार है। आपके अन्तर्मन मे उत्पन्न हुई धर्म के मर्म को समझने की जिज्ञासा वस्तुत स्तुत्य है। मै आपके समक्ष देव, धर्म और गुरु के स्वरूप के साथ धर्म के मर्म के सम्बन्ध मे थोडा प्रकाश डालता हू, आप उसे एकाग्रचित्त हो सुनिये एव हृदयगम कीजिये।

प्राणिमात्र के सर्वाधिक प्रबल एव प्रमुख शत्रु महामोह और काम (विषय-वासनासक्ति) को जीत लेने वाले जिनेन्द्रदेव ही वस्तुत. सच्चे देव है, जो स्वय कर्मबन्धनो से पूर्णत मुक्त और दूसरे भव्यप्राणियो को मुक्त करवाने मे सर्वथा सक्षम हैं। सुनिश्चित रूपेण वे जिनेन्द्र देव ही मुमुक्षुओ को परमानन्दप्रदायी निरजन–निराकार शिवपद प्रदान करने वाले है। जो देव रागद्वेष मूलक शाप देने व अनुग्रह करने वाले, विषय-वासनाओ के घोर पकिल दल-दल मे निमग्न एव स्त्री, शस्त्र तथा माला को धारण करने वाले है, वे देव तो वास्तव मे राजा के समान ही रुष्ट होने पर रक और तुष्ट हो जाने पर राव बना देने वाले हैं। ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो राजा मे और उन शापानुग्रहादि प्रदान करने मे समर्थ देवो मे कोई विशेष अन्तर नही।

सच्चे देव के पश्चात् सही अर्थों मे सच्चे गुरु वे ही है जो ससार के प्राणिमात्र के अनन्य बन्धु, शत्रु तथा मित्र सभी पर समान भाव रखने वाले, पाचो इन्द्रियो और मन को वश मे रखने वाले, प्राणिमात्र के श्रद्धाकेन्द्र, सदाचार से ओतप्रोत सयम के साक्षात् साकार स्वरूप, प्रतिपल प्राणि वर्ग के कल्याण मे निरत, अहर्निश सब दु खो के मूल कारण कर्मबधनो को काटने मे प्राणपण से सलग्न और आत्मनद को कर्म जलौघ से प्रतिपल आपूरित करते रहने वाले आस्रव–द्वारो को इन्द्रिय दमन, इच्छानिरोध, ध्यान, स्वाध्याय एव तपश्चरण आदि के माध्यम से

अवरुद्ध करने वाले हैं। कविवर बन्धो ! जो स्वय विपुल परिग्रह के भार मे दवे हुए, महा आरम्भ-समारम्भ के कार्यो मे सलग्न, प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष-रूप से जीवहिंसाकारी कार्यो मे प्रवृत्त है, जिनमे सभी प्रकार की अभिलाषाए विद्यमान है और जो अध्यात्मज्ञान से विहीन है, उन लोगो को गुरु कैसे कहा और माना जा सकता है। इस प्रकार के तथाकथित गुरु तो वस्तुत स्वय ससार सागर मे डूबने वाले और दूसरो को डुबाने वाले है। उन्हे तारक गुरु कैसे कहा जा सकता हे ?

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, दया, मनशुद्धि, क्षमा, मार्दव, ऋजुता, सन्तोष और तपश्चरण-इन सद्गुण सम्पन्न सत्कार्यो मे यथाशक्ति प्रवृत्ति और उत्तरोत्तर प्रगति करते रहना ही सच्चा धर्म है, जो सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, वीतराग जिनेन्द्र देव द्वारा प्राणिमात्र के कल्याण के लिये प्रदर्शित किया गया है।

इसके विपरीत जिस तथाकथित धर्म मे हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील-सेवन, महा आरम्भ-समारम्भ आदि के माध्यम से परिग्रह सचय, असन्तोष, कुटिलता, कर्कशता, पशुहिंसा आदि सदोष कार्यो का सपुट लगा हुआ है, जिसमे पग-पग पर प्राणिहिंसा की गन्ध आती है, वह धर्म के नाम से कैसे अभिहित किया जा सकता है।"

अपने लघु सहोदर शोभनाचार्य के मुख से इन सारगर्भित उपदेशो को सुनते ही महाकवि धनपाल के अन्तर्मन मे बोधिबीज अकुरित हो उठा। सम्यक्त्व सुरतरु की सुवास से उसका मन मगमगायमान हो मुदित हो उठा। दृढ सकल्प से ओत-प्रोत सुदृढ स्वर मे धनपाल ने करबद्ध हो शोभनाचार्य से कहा-"ज्ञानसिन्धो ! मै सद्गति दायक जैन धर्म को अन्तर्मन से अगीकार करता हू।"

सर्वप्रथम धनपाल ने अपने उस घोर पाप की विशुद्धि का दृढ सकल्प किया जो उसने मालव राज्य मे जैन श्रमणो के विचरण पर राजा भोज की आज्ञा से प्रतिबन्ध लगवाने के रूप मे अर्जित किया था। धनपाल ने राजा भोज से निवेदन कर प्रतिबन्ध को निरस्त करवा दिया। धारा नगरी के जैन सघ ने उस प्रतिबन्ध के हटा दिये जाने के अनन्तर महेन्द्रसूरि की सेवा मे उपस्थित हो, उन्हे धारा नगरी मे पधारने और वहा जिनधर्म की अपने उपदेशामृत से श्रीवृद्धि करने की प्रार्थना की। सघ की विनति को स्वीकार कर महेन्द्रसूरि भी धारा नगरी मे पधारे। महेन्द्रसूरि के उपदेशो से धनपाल की सम्यक्त्व मे आस्था दृढ से दृढतर और दृढतर से दृढतम होती गई। वह सदा इस बात के लिये सजग रहता था कि अज्ञात अवस्था मे भी उसके सम्यक्त्व मे कही किंचितमात्र भी कोई दोष न लग जाय।

यज्ञो मे की जाने वाली हिंसा का धनपाल ने डटकर विरोध किया और एक वार तो राजा द्वारा यज्ञ मे की जाने वाली हिंसा का धनपाल द्वारा विरोध किये जाने के परिणामस्वरूप धनपाल को राजा भोज का ऐसा कोपभाजन बनना पडा

कि राजा भोज ने गुप्त रूप से धनपाल की हत्या कर देने का सकल्प कर लिया। उसके विद्याबल ने उसके प्राणो की रक्षा कर उसे उस घोर सकट से बचाया।

धनपाल ने भगवान् ऋषभदेव का एक विशाल मन्दिर धारा नगरी मे बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा उसने महेन्द्रसूरि से करवाई। धनपाल ने जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा के समय भगवान् आदिनाथ की मूर्ति के समक्ष बैठ कर "जय जन्तु कप्प" इस चरण से प्रारम्भ कर ५०० गाथाओ वाली ऋषभजिन की स्तुति का निर्माण किया।

राजा भोज के अनुरोध पर महाकवि धनपाल ने बारह हजार श्लोक प्रमाण तिलकमजरी नामक एक ग्रन्थरत्न की रचना की। उस जैन-कथाओ के ग्रन्थरत्न के वाचन अथवा श्रवण के समय ऐसा प्रतीत होता था मानो नवो ही रस मूर्त स्वरूप धारण कर श्रोताओ के हृदयपटल पर अवतरित हो थिरक रहे हो।

ग्रन्थ समाप्ति पर उस ग्रन्थ रत्न के शोधन का जब प्रश्न आया तो महेन्द्रसूरि के परामर्षानुसार गुर्जरनरेश भीम की राजसभा के विद्वान् वादिवैताल के विरुद से सुशोभित श्री शान्त्याचार्य को धारा नगरी मे बुलाया गया। शातिसूरि ने कतिपय दिनो तक धारा नगरी मे निवास करते हुए केवल इसी दृष्टि से उस ग्रन्थरत्न का शोधन किया कि कही उसमे सर्वज्ञ वीतराग की वाणी के विपरीत तो कोई बात नही है। क्योकि "सिद्ध सारस्वत" की उपाधि से अलकृत महाकवि धनपाल की रचना मे व्याकरण अथवा छदो-शास्त्र सम्बन्धिनी त्रुटि की तो कल्पना ही नही की जा सकती थी।

वह तिलकमजरी ग्रन्थ राजा भोज को अत्यन्त रुचिकर एव अतीव सुन्दर लगा। उसने धनपाल से तिलकमजरी मे निम्नलिखित परिवर्तन करने का आग्रहपूर्ण अनुरोध किया :—

१ इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे सुस्पष्टरूपेण शिव की स्तुति की जाय।

२ अयोध्या का जहा जहा इस ग्रन्थ मे उल्लेख है, वहा धारा नगरी का नामोल्लेख किया जाय।

३ शक्रावतार के स्थान पर महाकाल के अवतार का उल्लेख किया जाय।

४ वृषभ के स्थान पर शकर का नामोल्लेख किया जाय।

५ मेघवाहन के आख्यान मे मेरा (धाराधिपति भोज का) नाम लिखा जाय।

राजा भोज ने अनुरोधपूर्ण आग्रह के साथ धनपाल से कहा—"कवीश्वर ! मेरे कहने से तुम यदि इस ग्रन्थरत्न मे इस प्रकार परिवर्तन कर दोगे तो तुम्हारा यह ग्रन्थरत्न जब तक चन्द्र और सूर्य है तब तक इस धरा पर अमर रहेगा ।"

धनपाल भोज का बालसखा था। उसे शैशवकाल से ही राजा मुज का भोज के समान ही स्नेहसिक्त दुलार मिला था और सम्यक्त्व मे उसकी अटूट आस्था थी अत उसने निर्भीक स्वर मे कहा—"राजन् ! इस प्रकार के परिवर्तनो से इस ग्रन्थ की वही दशा होगी जो सद्य स्नात कर्मकाण्डी ब्राह्मण के हाथ पर रखे दुग्धपात्र मे सुरा की एक बूद डालने से होती है। ऐसी दशा मे इस प्रकार के परिवर्तन इस ग्रन्थ मे नही किये जा सकते। नरेश्वर ! इस प्रकार के परिवर्तन से किये गये अपवित्रीकरण का दुष्परिणाम यह होगा कि मेरे कुल, आपके राज्य और राष्ट्र की महती क्षति होगी।"

अपने अनुरोध के इस प्रकार ठुकरा दिये जाने पर राजा भोज की क्रोधाग्नि बडे ही उग्र रूप से भडक उठी। उसने तत्काल कर्पूरमजरी नामक उस अपूर्व ग्रन्थ को अपने पास ही रखी हुई अगीठी की जाज्वल्यमान ज्वालाओ मे डाल दिया। सब के देखते ही देखते वह ग्रन्थरत्न जल कर भस्मीभूत हो गया।

इस घटना से धनपाल के हृदय को गहरा आघात लगा। उसके मुख से आक्रोशमिश्रित निराशापूर्ण केवल ये ही शब्द निकले—"ओ राजा भोज ! तू वास्तव मे पक्का मालवीय है। तुमने अपने कपटपूर्ण व्यवहार से धनपाल को भी निर्लिप्त नही छोडा, किसी अन्य की तो तुम्हारे समक्ष गणना ही क्या है। काव्यकृति के प्रति इस प्रकार की निष्ठुरता और स्वजनो की वचना—ये दो दोष तुम्हारे अन्दर कहा से आ गये हैं ?"[1]

राजा के समक्ष अपना आक्रोश इन शब्दो मे अभिव्यक्त कर धनपाल राजसभा से बाहर निकल गया और अपने घर आकर शोकाकुल मुद्रा मे एक ओर शय्या पर लेट गया। अपनी कृति के इस प्रकार जला दिये जाने से उसको ऐसी असह्य पीडा हो रही थी कि न तो उसने स्नान किया, न देवार्चन किया, न अपने परिवार के किसी भी सदस्य से बात ही की और न भोजन का नाम तक ही लिया। निद्रा तो मानो उससे कोसो दूर भाग गई थी। बिना ऊष्णीश के ही शय्या पर ओधे मुख लेटा हुआ चिन्तासागर मे गहरे गोते लगाने मे निमग्न था। धनपाल की इस प्रकार अदृष्टपूर्व मन स्थिति देख कर उसके परिवार के सभी सदस्य अवाक् बने

---

[1] मालविओसि किमन्न मन्नसि कव्वेण निव्वुइ तसि ।
धणवाल पि न मुचसि पुच्छामि सवचण कत्तो ॥२१५॥

—प्रभावकचरित्र, पृष्ठ १४६

कि राजा भोज ने गुप्त रूप से धनपाल की हत्या कर देने का सकल्प कर लिया। उसके विद्याबल ने उसके प्राणो की रक्षा कर उसे उस घोर सकट से बचाया।

धनपाल ने भगवान् ऋषभदेव का एक विशाल मन्दिर धारा नगरी मे बनवाया और उसकी प्रतिष्ठा उसने महेन्द्रसूरि से करवाई। धनपाल ने जिनमन्दिर की प्रतिष्ठा के समय भगवान् आदिनाथ की मूर्ति के समक्ष बैठ कर "जय जन्तु कप्प" इस चरण से प्रारम्भ कर ५०० गाथाओ वाली ऋषभजिन की स्तुति का निर्माण किया।

राजा भोज के अनुरोध पर महाकवि धनपाल ने बारह हजार श्लोक प्रमाण तिलकमजरी नामक एक ग्रन्थरत्न की रचना की। उस जैन-कथाओ के ग्रन्थरत्न के वाचन अथवा श्रवण के समय ऐसा प्रतीत होता था मानो नवो ही रस मूर्त स्वरूप धारण कर श्रोताओ के हृदयपटल पर अवतरित हो थिरक रहे हो।

ग्रन्थ समाप्ति पर उस ग्रन्थ रत्न के शोधन का जब प्रश्न आया तो महेन्द्रसूरि के परामर्षानुसार गुर्जरनरेश भीम की राजसभा के विद्वान् वादिवैताल के विरुद से सुशोभित श्री शान्त्याचार्य को धारा नगरी मे बुलाया गया। शातिसूरि ने कतिपय दिनो तक धारा नगरी मे निवास करते हुए केवल इसी दृष्टि से उस ग्रन्थरत्न का शोधन किया कि कही उसमे सर्वज्ञ वीतराग की वाणी के विपरीत तो कोई बात नही है। क्योकि "सिद्ध सारस्वत" की उपाधि से अलकृत महाकवि धनपाल की रचना मे व्याकरण अथवा छदो-शास्त्र सम्बन्धिनी त्रुटि की तो कल्पना ही नही की जा सकती थी।

वह तिलकमजरी ग्रन्थ राजा भोज को अत्यन्त रुचिकर एव अतीव सुन्दर लगा। उसने धनपाल से तिलकमजरी मे निम्नलिखित परिवर्तन करने का आग्रहपूर्ण अनुरोध किया :—

१ इस ग्रन्थ के प्रारम्भ मे सुस्पष्टरूपेण शिव की स्तुति की जाय।

२ अयोध्या का जहा जहा इस ग्रन्थ मे उल्लेख है, वहा धारा नगरी का नामोल्लेख किया जाय।

३ शक्रावतार के स्थान पर महाकाल के अवतार का उल्लेख किया जाय।

४ वृषभ के स्थान पर शकर का नामोल्लेख किया जाय।

५ मेघवाहन के आख्यान मे मेरा (धाराधिपति भोज का) नाम लिखा जाय।

राजा भोज ने अनुरोधपूर्ण आग्रह के साथ धनपाल से कहा—"कवीश्वर! मेरे कहने से तुम यदि इस ग्रन्थरत्न मे इस प्रकार परिवर्तन कर दोगे तो तुम्हारा यह ग्रन्थरत्न जब तक चन्द्र और सूर्य है तब तक इस धरा पर अमर रहेगा।"

धनपाल भोज का बालसखा था। उसे शैशवकाल से ही राजा मुंज का भोज के समान ही स्नेहसिक्त दुलार मिला था और सम्यक्त्व मे उसकी अटूट आस्था थी अतः उसने निर्भीक स्वर मे कहा—"राजन्! इस प्रकार के परिवर्तनो से इस ग्रन्थ की वही दशा होगी जो सद्य स्नात कर्मकाण्डी ब्राह्मण के हाथ पर रखे दुग्धपात्र मे सुरा की एक बूंद डालने से होती है। ऐसी दशा मे इस प्रकार के परिवर्तन इस ग्रन्थ मे नही किये जा सकते। नरेश्वर! इस प्रकार के परिवर्तन से किये गये अपवित्रीकरण का दुष्परिणाम यह होगा कि मेरे कुल, आपके राज्य और राष्ट्र की महती क्षति होगी।"

अपने अनुरोध के इस प्रकार ठुकरा दिये जाने पर राजा भोज की क्रोधाग्नि बडे ही उग्र रूप से भडक उठी। उसने तत्काल कर्पूरमंजरी नामक उस अपूर्व ग्रन्थ को अपने पास ही रखी हुई अंगीठी की जाज्वल्यमान ज्वालाओ मे डाल दिया। सब के देखते ही देखते वह ग्रन्थरत्न जल कर भस्मीभूत हो गया।

इस घटना से धनपाल के हृदय को गहरा आघात लगा। उसके मुख से आक्रोशमिश्रित निराशापूर्ण केवल ये ही शब्द निकले—"ओ राजा भोज! तू वास्तव मे पक्का मालवीय है। तुमने अपने कपटपूर्ण व्यवहार से धनपाल को भी निर्लिप्त नही छोडा, किसी अन्य की तो तुम्हारे समक्ष गणना ही क्या है। काव्यकृति के प्रति इस प्रकार की निष्ठुरता और स्वजनो की वंचना—ये दो दोष तुम्हारे अन्दर कहासे आ गये है?"[1]

राजा के समक्ष अपना आक्रोश इन शब्दो मे अभिव्यक्त कर धनपाल राजसभा से बाहर निकल गया और अपने घर आकर शोकाकुल मुद्रा मे एक ओर शय्या पर लेट गया। अपनी कृति के इस प्रकार जला दिये जाने से उसको ऐसी असह्य पीडा हो रही थी कि न तो उसने स्नान किया, न देवार्चन किया, न अपने परिवार के किसी भी सदस्य से बात ही की और न भोजन का नाम तक ही लिया। निद्रा तो मानो उससे कोसो दूर भाग गई थी। बिना ऊष्णीश के ही शय्या पर ओंधे मुख लेटा हुआ चिन्तासागर मे गहरे गोते लगाने मे निमग्न था। धनपाल की इस प्रकार अदृष्टपूर्व मन स्थिति देख कर उसके परिवार के सभी सदस्य अवाक् बने

---

[1] मालविओसि किमन्न मन्नसि कव्वेण निव्वुइ तंसि।
धणवाल पि न मुंचसि पुच्छामि सवंचण कत्तो ॥२१५॥

—प्रभावकचरित्र, पृष्ठ १४६

अनेक प्रकार के ईहापोह करने लगे । अन्ततोगत्वा धनपाल की नववर्षीया छोटी पुत्री उसके पास आई और उसने अपने पिता से बडे प्यार भरे स्वर मे चिन्ता का कारण पूछा ।

चिन्ता का कारण ज्ञात होते ही बालिका ने अपने पिता को आश्वस्त करते हुए उत्साहपूर्ण स्वर मे कहा—"पिताजी ! आप इस बात की रच मात्र भी चिन्ता न कीजिये । पुस्तक को जला दिया तो क्या हुआ, उसका एक-एक अक्षर, एक-एक शब्द, एक-एक पक्ति सब कुछ मुझे कण्ठस्थ है ।" यह कहती हुई बालिका ने सहज ही कण्ठस्थ हुई तिलकमजरी का पाठ आदि से ही अपने पिता को सुनाना प्रारम्भ किया । धनपाल को अपनी पुत्री के मुख से तिलकमजरी का अस्खलित एव पूर्णत विशुद्ध पाठ धारा प्रवाह रूप मे सुनकर ऐसी अनुभूति हुई मानो बालरूपा सरस्वती ही उसके समक्ष बोल रही हो ।

बालिका ने अपने पिता से पूछा—"क्यो पिताजी ! अब तो आपको पक्का विश्वास हो गया न, कि आपकी अनमोल कृति अमर है, उसे ससार की कोई शक्ति नही जला सकती । अब आप उठिये । स्नान, पूजा आदि से निवृत्त हो शीघ्र ही भोजन कर लीजिये, जिससे कि मै आपको तिलकमजरी का पाठ लिखवाना प्रारम्भ करू ।"

महाकवि धनपाल के चित्ताकाश पर जो चिन्ता की घनी काली घटाए मडरा रही थी, वे तत्काल छिन्न-भिन्न हो पल भर मे ही तिरोहित हो गई । धनपाल ने निश्चिन्त हो स्नान-ध्यानादि के पश्चात् भोजन किया और अपनी पुत्री के मुख से सुन-सुन कर तिलकमजरी को लिखना प्रारम्भ कर दिया । कतिपय दिनो के अहर्निश प्रयास से धनपाल ने अपनी पुत्री की सहायता से पूर्ण तिलकमजरी के २७ हजार श्लोक प्रमाण पाठ मे से २४ हजार श्लोक प्रमाण कण्ठस्थ पाठ लिपिबद्ध कर लिया । बालिका कदाचित् कही-कही जिन स्थलो को नही सुन पाई थी, वे स्थल रिक्त रह गये । इस प्रकार तिलकमजरी के जला दिये जाने के कारण उसका तीन हजार श्लोक प्रमाण अश विस्मृति के गह्वर मे विलीन हो गया । तिलकमजरी का पुनरालेखन सम्पन्न होते ही धनपाल ने अपने परिवार के साथ धारा नगरी से पश्चिम दिशा की ओर प्रस्थान कर दिया । राजा भोज द्वारा अपनी कृति तिलकमजरी के जला दिये जाने के पश्चात् धनपाल को धारा नगरी का निवास किंचित्मात्र भी सुखद अथवा शान्तिकर प्रतीत नही हो रहा था । बडी तीव्र गति से पश्चिम की ओर अग्रसर होता हुआ धनपाल अपने परिवार के साथ मरुधरा के सत्यपुर (वर्तमान जालोर) नामक नगर मे पहुचा । धनपाल सत्यपुर मे सुखपूर्वक रह कर अपना अधिक समय जिनाराधन मे व्यतीत करने लगा । उसने भगवान् महावीर के चैत्य मे "देव निम्मल" नाम की महावीर की स्तुति की रचना की ।

उधर कतिपय दिनो पश्चात् राजा भोज ने अपने विश्वासपात्र सेवक को महाकवि धनपाल के घर उसे बुलाने के लिये भेजा। जब सेवक से भोज को यह विदित हुआ कि धनपाल अपने कुटुम्ब के साथ धारा नगरी छोड कर कही अन्यत्र चला गया है तो उसके हृदय को गहरा आघात पहुचा। उसने मन ही मन सोचा—"जिस समय मैं यह सोचता हू कि धनपाल बिना किसी प्रकार के सकोच के मेरी बात का विरोध कर बैठता था, तब तो मुझे ऐसा अनुभव होता है कि ऐसा मेरे मन पर मनचाही चोट करने वाला वह धनपाल चला गया तो कोई बात नही। यह तो एक साधारण सी बात है किन्तु जब मै गहराई से विचार करता हू तो सहज ही यह प्रकट हो जाता है कि साक्षात् सरस्वती के समान सत्य, सुन्दर और कल्याणकारी यथातथ्य वाणी बोलने वाला धनपाल के अतिरिक्त अन्य कोई दृष्टिगोचर ही नही होता। यह मेरे मन्दभाग्य का ही फल है कि इस प्रकार के कविवर राजहस के ससर्ग से मै वचित हो गया हू।" धनपाल की अनुपस्थिति राजा भोज को अहर्निश हृदय के शूल के समान खटकने लगी।

उन्ही दिनो धर्म नाम का एक विद्वान् राजा भोज की राजसभा मे उपस्थित हुआ और अनेक गर्वोक्तियो के साथ उसने मन-चाहे विषय पर शास्त्रार्थ करने के लिये, वहा उपस्थित सभी विद्वानो को ललकारा। राज सभा के सभी विद्वान् अपने अपने नयनयुगल नीचे की ओर झुकाये हुए मौनस्थ रहे। किसी भी विद्वान् ने धर्म नामक उस विद्वान् के साथ शास्त्रार्थ करने का साहस प्रकट नही किया।

इस प्रकार की दयनीय स्थिति देख कर भोज को बडी निराशा हुई। उसके मुख से सहसा इस प्रकार के उद्गार प्रकट हो गये—"हा दैव! एक धनपाल के बिना आज मेरी सम्पूर्ण राजसभा वस्तुत शून्य ही है। अब उस धनपाल के सम्बन्ध मे चरो के माध्यम से ज्ञात किया जाय कि इस समय वह कहा है और उसे किस प्रकार यहा लाया जा सकता है"—इस प्रकार मन ही मन विचार कर राजा ने धनपाल की खोज मे चारो ओर अपने विश्वस्त चर भेजे।

भोज भूपाल द्वारा धनपाल की खोज मे गये हुए दूतो मे से एक दूत सत्यपुर पहुँचा। उसने अपने स्वामी की ओर से कवि धनपाल की सेवा मे निवेदन किया कि वे शीघ्र ही धारा नगरी के लिये प्रस्थान कर दे। "धारा निवास के प्रति अब मेरे मन मे लवलेश मात्र भी रुचि नही रही है। राजाधिराज भोज से मेरी ओर से निवेदन करना कि मै यहाँ सभी-भाति प्रसन्न हू और इस तीर्थस्थान मे जगदैकबन्धु त्रिलोकीनाथ जिनेश्वर की आराधना मे सलग्न हू।"—यह कहते हुए धारानगरी मे निवास की अपनी नितान्त अरुचि अभिव्यक्त की।

अपने चर के मुख से अपने अनन्य बालसखा धनपाल के कुशल-क्षेम के समाचारो को सुन कर तो भोज को प्रसन्नता हुई किन्तु उसके धारानगरी लौटने

मे एकान्ततः अनिच्छा की बात सुनकर उसे बडा दु ख हुआ। उसने अपने चरो के माध्यम से धनपाल को धारानगरी लौट आने का आग्रह करते हुए कहलवाया—"सखे ! तुम सदा राजा मु ज के परम प्रीतिपात्र रहे हो। उन्होने तुम्हे अपना पुत्र मानकर सदा पुत्र की भाति ही तुम्हारा लालन-पालन, शिक्षण-दीक्षण किया था। मैने भी सदा तुम्हे अपने ज्येष्ठ भ्राता के तुल्य ही माना। मैं तो तुम्हारा छोटा भाई हू, ऐसी स्थिति मे तुम्हे अपने छोटे भाई की बात पर इस प्रकार अप्रसन्न नही होना चाहिये। तुम्हे भली-भाति स्मरण होगा कि एक दिन राजा मुज ने तुम्हे अपने अक मे बिठा कर कहा था—"वत्स धनपाल ! तुम वस्तुत कूर्चाल सरस्वती हो। तुम्हे यह कभी नही भूलना चाहिये कि धारा नगरी तुम्हारी स्वर्ग से भी महामहिमामयी महामहती मातृभूमि है। आज सुदूरस्थ प्रान्त से आया हुआ एक पण्डितमन्य अभिमानी विद्वान् सरस्वती की लीलास्थली धारानगरी के यश को धूलिसात् करने पर कटिबद्ध हो रहा है। अत अपनी जन्मभूमि की गौरवगरिमा की रक्षा हेतु शीघ्र ही धारानगरी मे लौट आओ। यदि तुमने धारा आने मे किंचित्मात्र भी विलम्ब किया तो यह धर्म कौल नामक अभिमानी परदेशी मालवराज्य की राजसभा को वाद मे पराजित कर एव धारा के समुन्नत शुभ्र भाल पर पराजय का काला तिलक लगा कर यहा से चला जायगा। मानापमान की इस विकट निर्णायक वेला मे सिद्धसारस्वत ! तुम्हे तुम्हारी मातृभूमि पुकार रही है।"

दूत के मुख से राजा भोज का यह सन्देश सुन कर धनपाल के मानस मे मातृभूमि के प्रति अनुराग का सागर उद्वे लित हो उठा। उसने तत्क्षण धारा नगरी की ओर प्रस्थान कर दिया। द्रुततर गति से यात्रा पूरी कर धनपाल धारा नगरी पहुचा। अपने बालसखा के आने का समाचार सुनकर भोज भूपति उसकी अगवानी के लिये उसके सम्मुख गया। भोजराज ने धनपाल को देखते ही अपने भुजपाश मे आबद्ध करते हुए उसे अपने वक्षस्थल से लगा लिया और पश्चातापपूर्ण स्वर मे कहा—"बन्धो ! मुझे अपने अविनयपूर्ण अपराध के लिये क्षमा कर दो।" कवीश्वर और नरेश्वर के दृगो से प्रवाहित हुए हर्षाश्रुओ ने उन दोनो अनन्य बालसखाओ के मनोमालिन्य को तत्काल सदा-सदा के लिये धो डाला।

एक दिन भोजराज की राज्यसभा मे विद्वान् धर्म कौल और महाकवि धनपाल के बीच शास्त्रार्थ हुआ। वितण्डावाद मे निष्णात विद्वान धर्म कौल ने जब भली-भाति समझ लिया कि धनपाल वस्तुत उच्चकोटि का विद्वान् और सिद्ध सारस्वत कवि है, तो उसने वितण्डावाद का अवलम्बन छोडकर यह कहते हुए अपनी पराजय स्वीकार कर ली कि वस्तुत धनपाल महान् विद्वान् और अप्रतिम कवित्व शक्ति के धनी महा कवि हैं। मैं इनके समक्ष अपनी पराजय स्वीकार करता हू। इस धरातल पर इनकी तुलना का कोई कवि अथवा विद्वान् नही है।

धनपाल ने तत्काल धर्म कौल को सम्बोधित करते हुए कहा—"विद्वन् ! यह मत कहो कि धरा पर कोई और विद्वान् नही है, क्योकि युगादि से ही इस पृथ्वी को

"रत्नगर्भा वसुन्धरा" माना गया है। वस्तुत यह पृथ्वी सभी प्रकार के रत्नो की खनि है। इसमे न तो उद्भट विद्वानो की नास्ति रही है, न रहेगी और न आज भी उनकी नास्ति है। इस धरामण्डल पर अनेक उच्च से उच्च कोटि के विद्वान् विद्यमान है। वे विद्वान् अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य का प्रदर्शन नही करते, इसी कारण अधिकाश लोगो की दृष्टि से छुपे हुए है। यदि तुम इस प्रकार के उच्चकोटि के विद्वान् के दर्शन करने के उत्कट अभिलषुक हो तो सत्यपुर अवश्य जाओ, वहा तुम्हे सभी विद्याओ के निधानस्वरूप महा विद्वान् शान्तिसूरि के दर्शन होगे। उनके साथ वार्तालाप करते ही तुम्हारे मन मे विद्वानो के सम्बन्ध मे जो यह "नास्ति" की कल्पना घर कर गई है वह "अस्ति" के रूप मे अवश्यमेव परिवर्तित हो जायगी।"

धनपाल के सकेत पर राजा भोज ने उस धर्म कौल नामक विद्वान् को परास्त हो चुकने के उपरान्त भी एक लाख स्वर्ण-मुद्राए प्रीतिदान के रूप मे देने का अपने कोषाध्यक्ष को आदेश दिया किन्तु उसने यह कहते हुए वह राशि लेना अस्वीकार कर दिया—"मान (सम्मान-प्रतिष्ठा) ही मनीषी मानवमात्र का महान् जीवन-धन है। उसके चले जाने पर तो वह निष्प्राण शव के समान ही है।"

पराजित हो जाने के पश्चात् धर्म कौल के लिये धारा नगरी का निवास प्रतप्त अग्निकुण्ड मे रहने तुल्य दाहक प्रतीत हो रहा था। धनपाल के मुख से शान्तिसूरि की विद्वत्ता की महिमा सुन कर धर्म कौल को विद्वद् दर्शन का एक अच्छा मिष (बहाना) मिल गया। वह तत्काल धारा नगरी से विदा हो सत्यपुर की ओर प्रस्थित हुआ। सत्यपुर पहुचकर धर्म कौल ने शान्तिसूरि के साथ भी शास्त्रार्थ किया। शान्तिसूरि की विद्वता से वह बडा प्रभावित हुआ और अन्त मे शान्तिसूरि के समक्ष अपनी पराजय स्वीकार करते हुए उनकी विद्वता की भूरि-भूरि प्रशसा की।

धनपाल के लघु सहोदर शोभनाचार्य ने भी जिनेन्द्र प्रभु की यमकालकारो से समन्वित और भावपूर्ण स्तुतियो की रचना की। शोभनाचार्य जिनेश्वरो की स्तुतियो की रचना मे इतने अधिक तल्लीन हो गये कि सोते, उठते, चलते-फिरते प्रतिपल प्रतिक्षण भक्ति रस मे ही निमग्न रहते। मधुकरी के लिए अटन करते-करते एक दिन वे भक्ति रस मे सर्वात्मना-सर्वभावेन निमग्न हो जाने के कारण एक ही गृहस्थ के घर मे भिक्षा के लिये तीन बार चले गये। गृहिणी द्वारा उस बात की ओर ध्यान दिलाये जाने पर उन्होने पश्चाताप प्रकट करते हुए कहा कि भक्ति-रस मे लीनता के कारण उन्हे इस प्रकार का कोई भान ही नही रहा।

शोभनाचार्य की इस प्रकार की तन्मयता की बात जब उनके गुरु को विदित हुई तो अपने शिष्य के मुख से उन्होने उनकी रचनाओ को सुना। अपने शिष्य की अद्भुत कवित्वशक्ति से वे बडे चमत्कृत हुए। उन्होने शोभनाचार्य की कवित्व शक्ति

की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की। कुछ समय पश्चात् शोभनाचार्य तीव्र ज्वर की बाधा से पीडित हो अपनी इहलीला समाप्त कर स्वर्गवासी बन गये।

महाकवि धनपाल ने शोभनाचार्य द्वारा रचित "शोभनस्तुति" नामक ग्रन्थ पर टीका की रचना की।

अपनी आयु का अवसानकाल सन्निकट जानकर महाकवि धनपाल महाराज भोज की अनुज्ञा प्राप्त कर धर्म-साधना हेतु अनहिल्लपुर पाटण गया। वहा अहर्निश महेन्द्रसूरि की सेवा मे रहते हुए उसने धर्मसाधना प्रारम्भ की। गृही वेष मे रहते हुए भी उसने अपने समस्त दुष्कृतो की समीचीन रूपेण अपने गुरु के समक्ष आलोचना की। तपश्चरण के साथ अध्यात्मसाधना मे निरत रहते हुए धनपाल ने जीवनपर्यन्त चारो प्रकार के आहार का त्यागकर अनशन पूर्वक सलेखना-सथारा किया। शास्त्रो के पारगामी स्थविर मुनियो ने उसकी पडितमरण की अन्तिम साधना के समय निर्यापना की। अन्त मे धनपाल ने समाधिपूर्वक आयु पूर्ण कर सौधर्म नामक प्रथम स्वर्ग मे देव रूप मे उत्पन्न हुआ। (प्रभावक चरित्र के आधार पर)

सूराचार्य के प्रकरण मे धनपाल के हृदय मे जिनशासन के प्रति प्रगाढ निष्ठा एव प्रेम के सम्बन्ध मे प्रकाश डालते हुए बताया गया है कि उसने सूराचार्य को, उन पर आये घोर प्राण-सकट के समय किस प्रकार धारा नगरी से गुप्तरूपेण बाहर निकालकर अणहिल्लपुर पाटण पहुचाया।

महाकवि धनपाल विक्रम की १०वी-११वी शताब्दी का एक अग्रगण्य जिनशासन-प्रभावक जैन महाकवि था। "पाइय लच्छी नाममाला" नामक अपनी कृति मे जो धनपाल ने प्रशस्ति दी है, उससे उसका समय अन्तिमरूपेण सुनिश्चित रूप से विक्रम की १०वी-११वी शताब्दी सिद्ध होता है। महेन्द्रसूरि, सूराचार्य, शोभनाचार्य आदि विद्वान् आचार्यो के कालनिर्णय मे वह प्रशस्ति बडी सहायक है अत उसे अविकल रूप से यहा उद्धृत किया जा रहा है —

विक्कमकालस्स गए अ उणत्तीसुत्तरे सहस्सम्मि। (वि. स १०२६)
मालव नरिंद-धाडीए लूडिए मन्नखेडम्मि॥
धारा नयरीए परिठिएण मग्गेठियाए अणवज्जे।
कज्जे कणिट्ठ बहिणीए सु दरी नामधिज्जाए॥
कइणो अध जण किंवा कुसलत्ति पयाणमतिमा वण्णा।
नाममि जस्स कमसो, तेणेसा विरइआ देसी॥

अर्थात्—वि० स० १०२६ मे मालवा के राजा ने जिस समय राष्ट्रकूट राजाओ की राजधानी मान्यखेट को लूटकर वहा राष्ट्रकूट राज्य को समाप्त किया,

उस समय मार्ग मे स्थित धारा नगरी मे रहते हुए धनपाल (धणवाल) नामक कवि ने सुन्दरी नाम की अपनी छोटी बहिन के लिए "पाइय लच्छीनाममाला" नाम्नी (देशी भाषा की) कृति की रचना की।

यह एक बडे ही ऐतिहासिक महत्व की प्रशस्ति है। इससे राष्ट्रकूट राज्य के पतनकाल के साथ-साथ धनपाल के समकालीन अनेक विद्वानो के समय का भी प्रामाणिक निर्णय किया जा सकता है।

—❀—
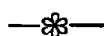
सूरा र्य

विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी के जैन जगत् के गण्यमान्य उच्चकोटि के विद्वानो, महा कवियो और महान् प्रभावक श्रमरावरो मे सूराचार्य का स्थान बडा महत्वपूर्ण है ।

गुजरात प्रदेश के इन महान् आचार्य ने मालव प्रान्त मे जाकर 'सरस्वती-वरलब्धप्रसाद' के विरुद से अभिहित किये जाने वाले धाराधीश भोजराज की सभा को पराजित कर विजयश्री प्राप्त की । केवल यही नही, अपितु राजा भोज की सभा के उद्भट वादी को शास्त्रार्थ मे पराजित करने के उपरान्त भी अनेक सकट-पूर्ण स्थितियो का सामना करते हुए सकुशल जीवितावस्था मे गुजरात लौट आये ।

उस समय देश के पडितवर्ग मे यह धारणा घर किये हुए थी कि जो भी विद्वान् राजा भोज की ओर से शास्त्रार्थ के लिये खडे किये गये विद्वान् को पराजित कर देता है उस विजयी विद्वान् को येन केन प्रकारेण छल प्रपच आदि के द्वारा मरवा दिया जाता है । सूराचार्य के जीवन का परिचय सक्षेप मे इस प्रकार है —

गूर्जर प्रदेश मे अनहिलपुरपट्टन नामक पट्टनगर मे महान् शक्तिशाली भीम नाम के राजा राज्य करते थे । राजा भीम जिन शासन के प्रति प्रगाढ आस्थावान् था । वह न्याय और नीतिपूर्वक प्रजा का परिपालन, सवर्द्धन, सरक्षण करता था । वह बडा लोकप्रिय राजा था । द्रौण नामक जैनाचार्य राजा के धर्मगुरु थे जो नियमित रूप से राजा और मन्त्री वर्ग को धर्मशास्त्रो की शिक्षा दिया करते थे । वे गुरु द्रौण राजा भीम के क्षत्रिय कुलोत्पन्न मामा थे । द्रोण के एक छोटे भाई भी थे । जिनका नाम सग्रामसिह था । जिनके महिपाल नाम का एक विशिष्ट प्रज्ञा, एव प्रतिभाशाली पुत्र था ।

सग्रामसिह के असामयिक देहावसान के पश्चात् महिपाल की माता अपने छोटे से बालक को साथ लेकर अनहिलपुरपट्टन पहुची । उसने द्रौणाचार्य के समक्ष उपस्थित होकर अपने पुत्र को उनके चरणो पर रखते हुए निवेदन किया — "आचार्य देव ! आप अपने भ्रातृज को अपनी सेवा मे रखिये और इसको समुचित शिक्षा-दीक्षा प्रदान कीजिये ।"

गुरु द्रौण ने बालक महिपाल के सुन्दर शारीरिक सुलक्षणो और निमित्त के बल पर यह जान लिया कि यह बालक आगे जाकर जिन शासन का महान् प्रभावक

आचार्य होगा। उन्होने बडे आदर के साथ उस बालक को अपनी सेवा मे रख लिया और अपनी लघु भ्रातृपत्नी को अनेक प्रकार से सान्त्वना प्रदान कर आश्वस्त किया।

द्रौणाचार्य ने बालक महिपाल को शब्द शास्त्र, प्रमाण नय, साहित्य, आगम, सहिता आदि विविध विद्याओ का क्रमिक पाठ प्रारम्भ करवाया। वे सब विद्याए सदैव महिपाल के कठो मे आकर विराजमान होने लगी। गुरु द्रौण तो केवल साक्षी मात्र ही थे।

द्रौणाचार्य के प्रति महिपाल के मन मे प्रगाढ प्रीति एव आस्था उत्पन्न हो गई। वह क्षण भर के लिये भी गुरु चरणो से दूर रहने मे पीडा का अनुभव करता था अत उसने द्रौणाचार्य से श्रमण धर्म की दीक्षा ग्रहण कर ली। सभी विद्याओ और शास्त्रो का तल-स्पर्शी पाडित्य प्राप्त कर लेने के पश्चात् आचार्य द्रौण ने उसे आचार्य पद के सर्वथा सर्वाधिक सुयोग्य समझकर आचार्य पद प्रदान किया और इस प्रकार मुनि महिपाल आचार्य पद पर आसीन होने के पश्चात् सूराचार्य के नाम से लोक-विश्रुत हुए।

एक दिन सरस्वती के सदन और कलाओ के महासिन्धु राजा भोज के प्रधान पुरुष राजा भीम की राजसभा मे उपस्थित हुए और उन्होने निम्नलिखित एक गाथा का राज्यसभा मे तालस्वर से उच्चारण किया —

हेलानिद्दलियगइदकुभपयडियपयावपसरस्स।
सीहस्स मएण सम न विग्गहो नेय सधाण ।।१५।।

(प्रभावक चरित्र पृष्ठ १५२)

अर्थात् —जिसने घनघोर गर्जन के साथ छलाग भरते हुए केवल एक ही पजे के प्रहार से मदोन्मत्त गजराज के गडस्थल को विदारित कर अपना अप्रतिम प्रभाव चारो ओर प्रकाशित कर दिया है उस सिंह का किसी एक मृग के साथ न तो विग्रह ही हो सकता है और न सन्धि ही।

राजा भीम ने अत्यन्त तिरस्कार भाव से भरी हुई उक्त गाथा को सुनकर पूर्ण सयम से काम लिया। ललाट मे किंचित्मात्र भी सलवट अथवा आखो मे लाली न आने दी।

राजा भोज के प्रधानो का राजा भीम ने यथोचित स्वागत सत्कार किया और अशन पान निवासादि की समुचित व्यवस्था का आदेश देकर उन लोगो को विश्राम करने का परामर्श दिया।

राजा भोज के अमात्यो के चले जाने पर भीम ने अपने प्रधानमन्त्री आदि अमात्यो को आदेश दिया कि इस गाथा का समुचित उत्तर प्रदान करने मे सक्षम किसी अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् की खोज की जाय ।

राजा भीम की सभा मे बैठे हुए अनेक कवियो ने अपनी बुद्धि के अनुसार उस आर्या (गाथा) का समुचित उत्तर प्रदान करने की इच्छा से अनेक प्रति आर्याओ की रचनाए की । किन्तु राजा को उनमे से एक भी आर्या चमत्कारपूर्ण नही लगी । इस प्रकार के किसी अप्रतिम प्रतिभाशाली विद्वान् की खोज के लिये महामात्य अमात्यो एव अन्य राजपुरुषो ने सब धर्मों के आश्रमो मे, मठो, मन्दिरो, स्थानको, धर्म स्थानो आदि मे चौराहो पर, तिराहो पर, चैत्यो के झरोखो मे जाना आना शुरु किया ।

एक दिन वे राजा भीम के प्रधान पुरुष गोविन्दसूरि के चैत्य मे पहुचे । उस दिन सयोग से उस चैत्य मे किसी बडे पर्व के उपलक्ष्य मे नृत्यकला मे निष्णात नर्तकियो के नृत्य सगीत का आयोजन किया गया था । विभिन्न भाव भगिमाओ के साथ अग-प्रत्यगो के पुन पुन सचालन, सगीत की स्वर लहरियो के आरोह अवरोह के अनुसार द्रुततर गति से पाद निक्षेप, कटि सचालन और देह यष्टि को चारो ओर पुन पुन घुमाने फिराने आदि के परिश्रम से पूर्णत परिश्रान्त हुई मुक्ताफल तुल्य मुख मण्डल पर मडित स्वेद कणो को पौछती हुई एक नर्तकी ने अपना स्वेद सुखाने के लिये पवन की टोह मे सगमरमर के प्रस्तर से निर्मित एक स्तम्भ को अपने बाहुपाश मे आबद्ध कर लिया और वह वहा निश्चल मुद्रा मे विश्राम लेने लगी ।

उसे इस स्थिति मे देखकर वहा उपस्थित विशिष्ट अतिथियो, सम्माननीय नागरिको और उच्च कोटि के विद्वानो ने गोविन्द सूरि से निवेदन किया — "आचार्य देव ! इस नर्तकी की और इस प्रस्तर स्तम्भ की इस प्रकार की अद्भुत दशा का सुन्दर काव्य मे चित्रण करवाया जाय ।"

सूराचार्य वही उपस्थित थे । गोविन्द सूरि ने सूराचार्य की ओर देखते हुए उन्हे इस अद्भुत दृश्य के वर्णन करने का अनुरोध किया ।

आशु कवि सूराचार्य ने अपने अद्भुत काव्य कौशल से सबको चमत्कृत करते हुए निम्नलिखित श्लोक सुनाया —

यत् ककणाभरणकोमलबाहुबल्लिसगात् कुरगकदृशोर्नवयौवनाया ।
न स्विद्यसि प्रचलसि प्रविकम्पसे त्व तत् सत्यमेव दृषदा ननु निर्मितोऽसि ।।२६।।

(प्रभावक चरित्र) पृष्ठ १५२

अर्थात्—हे प्रस्तर-स्तम्भ ! स्वर्ण ककणादि आभरणो के कमनीय ससर्ग से सुकोमल हुई इस नवयौवना मृगनयनी के बाहुयुगल का आलिंगन प्राप्त हो जाने के पश्चात् भी न तो तुम मे कोई स्वेदकण उत्पन्न हुआ है, न तुम किंचित्मात्र भी चलायमान हुए हो और न तुम्हारे अग मे किसी प्रकार का कम्पन ही उत्पन्न हुआ है। यह सब देखकर मेरी तो यही समझ मे आया है कि तुम पत्थर-हृदय हो—और अरे हा, तुम ! वस्तुत पत्थर से ही तो निर्मित हो।

इस पर सहस्रकठो से प्रकट हुए सूराचार्य के जयघोषो से एव उनके साधुवादो से गोविन्दसूरि के चैत्य की नाट्यशाला और गगनागण सभी पुन पुन प्रतिध्वनित हो उठे।

राजा भीम के अमात्य भी वहा उपस्थित थे। उन अमात्यो को बडी प्रसन्नता हुई। उन्होने तत्काल राजा को जाकर निवेदन किया कि गोविन्दाचार्य के पास एक अद्भुत प्रतिभाशाली ऐसा महाकवि है जो राजा भोज की आर्या का समुचित प्रत्युत्तर देने मे सर्वथा समर्थ है।

राजा ने कहा—"अरे ! गोविन्दाचार्य तो हमारे साथ बडा ही सौहार्द्र रखने वाले सूरि है। उस कवि का सम्मान करके उसे और उसके गुरु को यहा लाओ।"

गोविन्द सूरि के साथ सूराचार्य को देखकर राजा बडा प्रसन्न हुआ और बोला—"अरे ये तो मेरे मामा के पुत्र है अत मेरे ये लघुभ्राता ही है। ये असम्भव को भी सम्भव करने मे सर्वथा सक्षम हैं।"

सूराचार्य आशीर्वाद प्रदान के पश्चात् राजा द्वारा प्रदत्त आसन पर बैठ गये। राज सभा के विद्वानो ने राजा भोज द्वारा उसके प्रधानो के साथ भेजी हुई गाथा सूराचार्य को सुनाई।

उस गाथा को सुनते ही—"इसके उत्तर मे विलम्ब की आवश्यकता ही क्या है, यह तो बडा ही पुण्योदय का प्रसग है"—यह कहते हुए सूराचार्य ने निम्नलिखित गाथा का घनरव गम्भीर स्वर मे उच्चारण किया —

अधयसुयाणकालो भीमो पुहवीइ निम्मिओ विहिणा।
जेण सय पि न गणिय का गणणा तुज्झ इक्कस्स ।। ३३ ।।

(प्रभावक चरित्र पृष्ठ १५३)

अर्थात् अधे धृतराष्ट्र के सौ पुत्रो के लिये काल के समान भीम का निर्माण विधि ने इस पृथ्वी पर कर दिया है, जिसने धृतराष्ट्र के सौ पुत्रो की भी अवहेलना अवमानना करते हुए उनका प्राणात कर दिया। उस भीम के समक्ष तेरी अकेले की क्या गिनती है ?

राजा भोज के अमात्यो के चले जाने पर भीम ने अपने प्रधानमन्त्री आदि अमात्यो को आदेश दिया कि इस गाथा का समुचित उत्तर प्रदान करने मे सक्षम किसी अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न विद्वान् की खोज की जाय ।

राजा भीम की सभा मे बैठे हुए अनेक कवियो ने अपनी बुद्धि के अनुसार उस आर्या (गाथा) का समुचित उत्तर प्रदान करने की इच्छा से अनेक प्रति आर्याओ की रचनाए की । किन्तु राजा को उनमे से एक भी आर्या चमत्कारपूर्ण नही लगी । इस प्रकार के किसी अप्रतिम प्रतिभाशाली विद्वान् की खोज के लिये महामात्य अमात्यो एव अन्य राजपुरुषो ने सब धर्मो के आश्रमो मे, मठो, मन्दिरो, स्थानको, धर्म स्थानो आदि मे चौराहो पर, तिराहो पर, चैत्यो के झरोखो मे जाना आना शुरु किया ।

एक दिन वे राजा भीम के प्रधान पुरुष गोविन्दसूरि के चैत्य मे पहुचे । उस दिन सयोग से उस चैत्य मे किसी बडे पर्व के उपलक्ष्य मे नृत्यकला मे निष्णात नर्तकियो के नृत्य सगीत का आयोजन किया गया था । विभिन्न भाव भगिमाओ के साथ अग-प्रत्यगो के पुन पुन सचालन, सगीत की स्वर लहरियो के आरोह अवरोह के अनुसार द्रुततर गति से पाद निक्षेप, कटि सचालन और देह यष्टि को चारो ओर पुन पुन घुमाने फिराने आदि के परिश्रम से पूर्णत परिश्रान्त हुई मुक्ताफल तुल्य मुख मण्डल पर मडित स्वेद कणो को पौछती हुई एक नर्तकी ने अपना स्वेद सुखाने के लिये पवन की टोह मे सगमरमर के प्रस्तर से निर्मित एक स्तम्भ को अपने बाहुपाश मे आबद्ध कर लिया और वह वहा निश्चल मुद्रा मे विश्राम लेने लगी ।

उसे इस स्थिति मे देखकर वहा उपस्थित विशिष्ट अतिथियो, सम्माननीय नागरिको और उच्च कोटि के विद्वानो ने गोविन्द सूरि से निवेदन किया — "आचार्य देव ! इस नर्तकी की और इस प्रस्तर स्तम्भ की इस प्रकार की अद्भुत दशा का सुन्दर काव्य मे चित्रण करवाया जाय ।"

सूराचार्य वही उपस्थित थे । गोविन्द सूरि ने सूराचार्य की ओर देखते हुए उन्हे इस अद्भुत दृश्य के वर्णन करने का अनुरोध किया ।

आशु कवि सूराचार्य ने अपने अद्भुत काव्य कौशल से सबको चमत्कृत करते हुए निम्नलिखित श्लोक सुनाया —

यत् ककणाभरणकोमलबाहुबल्लिसगात् कुरगकदृशोर्नवयौवनाया ।
न स्विद्यमि प्रचलसि प्रविकम्पसे त्व तत् सत्यमेव दृषदा ननु निर्मितोऽसि ।।२६।।

(प्रभावक चरित्र) पृष्ठ १५२

अर्थात्—हे प्रस्तर-स्तम्भ ! स्वर्ण कंकणादि आभरणों के कमनीय संसर्ग से सुकोमल हुई इस नवयौवना मृगनयनी के बाहुयुगल का आलिंगन प्राप्त हो जाने के पश्चात् भी न तो तुम में कोई स्वेदकण उत्पन्न हुआ है, न तुम किंचित्मात्र भी चलायमान हुए हो और न तुम्हारे अंग में किसी प्रकार का कम्पन ही उत्पन्न हुआ है। यह सब देखकर मेरी तो यही समझ में आया है कि तुम पत्थर-हृदय हो—और अरे हां, तुम ! वस्तुतः पत्थर से ही तो निर्मित हो।

इस पर सहस्रकंठों से प्रकट हुए सूराचार्य के जयघोषों से एवं उनके साधुवादों से गोविन्दसूरि के चैत्य की नाट्यशाला और गगनांगण सभी पुनः पुनः प्रतिध्वनित हो उठे।

राजा भीम के अमात्य भी वहां उपस्थित थे। उन अमात्यों को बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने तत्काल राजा को जाकर निवेदन किया कि गोविन्दाचार्य के पास एक अद्भुत प्रतिभाशाली ऐसा महाकवि है जो राजा भोज की आर्या का समुचित प्रत्युत्तर देने में सर्वथा समर्थ है।

राजा ने कहा—"अरे ! गोविन्दाचार्य तो हमारे साथ बड़ा ही सौहार्द्र रखने वाले सूरि हैं। उस कवि का सम्मान करके उसे और उसके गुरु को यहां लाओ।"

गोविन्द सूरि के साथ सूराचार्य को देखकर राजा बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला—"अरे ये तो मेरे मामा के पुत्र हैं अतः मेरे ये लघुभ्राता ही हैं। ये असम्भव को भी सम्भव करने में सर्वथा सक्षम हैं।"

सूराचार्य आशीर्वाद प्रदान के पश्चात् राजा द्वारा प्रदत्त आसन पर बैठ गये। राज सभा के विद्वानों ने राजा भोज द्वारा उसके प्रधानों के साथ भेजी हुई गाथा सूराचार्य को सुनाई।

उस गाथा को सुनते ही—"इसके उत्तर में विलम्ब की आवश्यकता ही क्या है, यह तो बड़ा ही पुण्योदय का प्रसंग है"—यह कहते हुए सूराचार्य ने निम्नलिखित गाथा का घनरव गम्भीर स्वर में उच्चारण किया :—

अंधयसुयाणकालो भीमो पुहवीइ निम्मिओ विहिणा।
जेण सयं पि न गणियं का गणणा तुज्झ इक्कस्स ।। ३३ ।।

(प्रभावक चरित्र पृष्ठ १५३)

अर्थात् अंधे धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों के लिये काल के समान भीम का निर्माण विधि ने इस पृथ्वी पर कर दिया है, जिसने धृतराष्ट्र के सौ पुत्रों की भी अवहेलना अवमानना करते हुए उनका प्राणांत कर दिया। उस भीम के समक्ष तेरी अकेले की क्या गिनती है ?

राजा भोज के गर्व को क्षण भर मे धूलिसात् कर देने वाले इस अतीव सुन्दर उत्तर को सुनते ही सभी सभ्य हर्षविभोर हो उठे। सबने समवेत स्वरो मे सूराचार्य की अत्यद्भुत् कवित्वशक्ति और प्रत्युत्पन्नमतिसम्पन्नता की प्रशसा की। महाराज की प्रसन्नता और आन्तरिक आत्मतुष्टि का तो कोई पारावार ही नही रहा। उसने तत्काल अपने राजपुरुषो को भेज कर मालवराज भोज के प्रधानपुरुषो को अपनी राजसभा मे बुलाया और सूराचार्य द्वारा निर्मित गाथा उनके हाथ मे रखते हुए कहा —"सरस्वती के परमोपासक मालवराज को मेरी ओर से यह समर्पित कर देना।" यह कहकर राजा भीम ने उन्हे ससम्मान विदा किया।

भोज भूपाल के विशिष्ट राजपुरुषो ने धारा की ओर प्रस्थान किया, और वहा पहुच कर उन्होने गुर्जरेश भीम का वह पत्र अपने स्वामी की सेवा मे समर्पित किया। उस गाथा को पढते ही राजा भोज अवाक् और स्तब्ध रह गया। अद्भुत् कवित्व शक्ति के चमत्कार से चमत्कृत राजा भोज के मुख से सहसा ये भाव उद्गत हो उठे —"धन्य है वह गुर्जर देश, जहा इस प्रकार के अद्भुत प्रतिभाशाली कवि उस धरा के शृंगार के समान विद्यमान है। इस प्रकार के उच्च कोटि के कवियो के वैभव से सम्पन्न देश को कौन पराजित कर सकता है।"

उधर राजा भीम ने कृतज्ञताभरे शब्दो मे सूराचार्य को बडे सम्मान के साथ विदा करते हुए कहा —"आप जैसे प्रत्युत्पन्नमति उच्च कोटि के कवि के यहा रहते हुए विद्वानो के विशाल समूह से परिवृत्त भोज मेरा क्या कर सकता है।"

गुरु द्रोण ने अपनी शिष्य मण्डली को सभी विद्याओ मे निष्णात करने के लिये सूराचार्य को उनके शिक्षण-दीक्षण आदि का कार्यभार सौपा। सूराचार्य बडे परिश्रम के साथ उन साधुओ को पढाने लगे। जटिल से जटिल विषय भी उन शिष्यो के सहज ही समझ मे आ जाय इस प्रकार विशद् विवेचनपूर्वक सूराचार्य उन साधुओ को पढाते। पढाये हुए ग्रन्थो मे से परीक्षार्थ पूछने पर यदि कोई शिक्षार्थी साधु किंचित्मात्र भी त्रुटि कर देता तो सूराचार्य के क्रोध की सीमा नही रहती। युवावस्था और प्रकाड पाडित्य उनके आवेश मे अभिवृद्धि कर देते और वे रजोहरण की डडी से उन शिक्षार्थी साधुओ को पीट भी देते। कहा जाता है कि वे प्रतिदिन ओघे की एक डडी अपने विद्यार्थियो को पीटने मे ही तोड देते थे।

इससे भी सन्तुष्ट न होकर सूराचार्य ने एक दिन अपने एक श्रद्धालु श्रावक से कहा कि वह उनके रजोहरण के लिये एक लोहे की डडी बनवाए।

यह सुनकर तो शिष्य साधु बडे भयभीत हुए। येन केन प्रकारेण उन्होने वह दिन तो व्यतीत किया। लोहे की डडी से पिटाई होने के भय से उन विद्यार्थियो को रात्रि मे बडी देर तक नीद नही आई। अर्द्ध रात्रि के समय वे अपने गुरु द्रोणा-

चार्य की सेवा मे उपस्थित हुए। उस असमय मे सबके सामूहिक रूप से उपस्थित होने का गुरु द्वारा कारण पूछने पर सूराचार्य की सारी बातें सुनाते हुए अन्त मे उन्होने कहा —"भगवन्! हम सब आपकी शरण मे है। हमे भय है कि हमारे उपाध्याय सूराचार्य लोहे की डडी से हमारा सिर फोड देगे।"

अपने शिष्यो से सम्पूर्ण परिस्थिति को जान कर द्रोणाचार्य ने उन्हे आश्वस्त करते हुए कहा—"सूराचार्य तुम्हारे साथ वैर के कारण नही अपितु तुम्हारे ही हित के लिये तुम्हे दड देते है। उनका आन्तरिक लक्ष्य यही है कि तुम सम्पूर्ण शास्त्रो का शीघ्रतापूर्वक अध्ययन कर स्व-पर कल्याण मे सक्षम बन जाओ। हा, उन्होने लोहे के डण्डे के प्रयोग की जो बात कही है वह तो हमारे श्रमण धर्म के ही विरुद्ध है। मैं सूराचार्य को अच्छी तरह से समझा दू गा कि वह तुम्हारे साथ इस प्रकार व्यवहार न करे।"

अपने गुरु के इस कथन से आश्वस्त होकर वे साधु-शिष्य अपने-अपने स्थान पर जाकर सो गये। सूराचार्य भी कुछ क्षणो पश्चात् गुरु की सेवा मे गुरु की सेवा-सुश्रु षा करने के लिये उपस्थित हुए। उन्होने गुरु को वन्दन किया। किन्तु कृत्रिम कोप को इगित से प्रकट करते हुए गुरु द्रोण ने उनकी वन्दना को स्वीकार नही किया।

यह देखकर सूराचार्य ने विनयपूर्वक अपने गुरु से पूछा —"आर्य! आज मुझे सदा की भाति आपका कृपा प्रसाद प्राप्त नही हो रहा है। आपकी अप्रसन्नता का कारण क्या है?"

गुरु द्रोण ने कहा —"लोह दण्ड तो यमराज का शस्त्र है न कि पच महाव्रतधारी साधुओ का, क्योकि हिंसाकारी होने के साथ ही साथ लोह दड परिग्रह की परिधि मे भी आजाता है। आदि काल से लेकर आज तक क्या किसी उपाध्याय ने अपने शिष्य वर्ग को लोहदण्ड से दण्डित किया है? शिक्षार्थी वर्ग के हृदय को विदीर्ण कर देने वाली इस प्रकार की भावना तुम्हारी बुद्धि मे कैसे आई? यह वडे आश्चर्य की बात है।"

सूराचार्य तत्काल सारी स्थिति समझ गये। उन्होने खडे होकर अपने गुरु के समक्ष साजलि शीष झुकाते हुए विनीत स्वर मे कहा —"पूज्य गुरुदेव! आपका वरद हस्त सदा मेरे सिर पर रहा है। आज आपके मन मे यह आशका कैसे उत्पन्न हो गई कि मैं लोह दड से अपने शिक्षार्थियो को दडित करू गा। जिस प्रकार लकडी की डडी से शिक्षार्थी के शरीर पर प्रहार किया जाता है उस प्रकार लोहे के डडे से साधु शिक्षार्थियो पर प्रहार नही किया जा सकता। यह तो केवल उनके मन मे भय उत्पन्न करने के लिये ही किया गया है, जिससे कि वे शीघ्रातिशीघ्र सब विद्याओ

और शास्त्रो के पारगामी विद्वान् बन जाय । मुझे तो केवल यही चिन्ता है कि आपका यह शिष्य वर्ग किस प्रकार शीघ्रातिशीघ्र मेरी विद्या को ग्रहण कर जिन-शासन प्रभावक महान् श्रमण बने ।"

गुरु द्रोण ने कहा —"सूर ! सब मे गुण समान रूप से नही होते । महान् पुरुषो मे जो गुण थे उनमे से करोडवा अश भी आज हम मे नही है । इसलिये गुण अथवा ज्ञान का मद किसी को नही करना चाहिये ।"

सूराचार्य ने इस पर विनयपूर्वक निवेदन किया :—"भगवन् ! मुझे किसी बात का कोई गर्व नही है । मेरी तो सदा से यही आन्तरिक इच्छा रही है कि मेरे द्वारा पढाये हुए ये साधु देश के कोने-कोने मे विहार कर अन्य दर्शनो के वादियो पर शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त करे । सूर्य की किरणो के समान ही ये साधु आपकी किरणे बनकर ससार मे व्याप्त जडता का समूलोच्छेद कर दे । ज्ञान का प्रकाश फैलावे जिससे कि आपकी यशोकीर्ति दिग-दिगन्त मे व्याप्त हो जाय और जिन-शासन की जयपताका समग्र धरा के क्षितिज पर लहराए ।"

गुरु ने कहा —"अभी अध्ययन मे निरत इन बालको की बात तो छोडो । अनेक विद्याओ मे प्रकाड पाडित्य प्राप्त करके भी क्या तुम राजा भोज की सभा को विजित करके यहा आये हो ?"

सूराचार्य ने कहा —"भगवन् ! आपका यह आदेश शिरोधार्य है । आपके इस आदेश को जब तक मै पूर्ण नही कर लू गा तब तक मै किसी भी प्रकार की कोई भी विकृति (घृत दुग्ध दध्यादि) ग्रहण नही करू गा ।"

तदनन्तर वे अपने गुरु को प्रणाम कर अपने स्थान पर जाकर सो गये । प्रात काल सूराचार्य ने अपने शिक्षार्थी साधुओ से कहा —"आज अध्यापन का अवकाश रहेगा ।"

बाल स्वभाव के कारण छोटे साधु बडे प्रसन्न हुए । मध्यान्ह मे साधुओ द्वारा आहार लाये जाने पर द्रोणाचार्य ने सूराचार्य को बुलाया । सूराचार्य तत्काल सेवा मे उपस्थित हुए । पर उन्होने किसी भी विकृति अर्थात् घृत आदि को ग्रहण नही किया । द्रोणाचार्य ने समझाया । अन्य वयोवृद्ध गीतार्थ साधुओ ने भी उन्हे समझाया । अन्ततोगत्वा चतुर्विध सघ ने भी उन्हे यत्किंचित् विकृतिया ग्रहण करते रहने का आग्रहपूर्ण अनुरोध किया किन्तु सूराचार्य अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे ।

उन्होने कहा —"यदि इस विषय मे मुझे और कुछ कहा गया तो मैं अनशन कर लू गा ।"

एक दिन द्रोणाचार्य ने कतिपय गीतार्थ युवा साधुओ के साथ सूराचार्य को धारानगरी जाने की अनुज्ञा प्रदान की। गुरु द्रोण ने अपने प्रिय शिष्य सूर को अपने वक्षस्थल से लगाते हुए सुदूर प्रदेश की यात्रा के लिये विदाई देते समय जो शिक्षा दी जाती है वह शिक्षा दी। उन्होने कहा —"वत्स! सदा सुदूरस्थ क्षेत्रो के विहार के समय सजग रहना। तुम मे महापुरुष के योग्य सब गुण हैं। तुमने इन्द्रियो को भी वश मे किया है। किन्तु सदा इस बात का ध्यान रखना कि युवावस्था सदा सबके लिये अविश्वसनीय होती है।"

गुरु के उपदेशो को शिरोधार्य कर और उनकी अनुज्ञा प्राप्त कर सूराचार्य भीम भूपाल की राज सभा मे उनसे विदा लेने गये। राजा ने रत्नजटित सिंहासन पर बिठाकर सूराचार्य का बडा सम्मान किया। सयोग ऐसा हुआ कि उसी समय मालव राज भोज के प्रधान पुरुष राजा भीम की सभा मे उपस्थित हुए और निवेदन किया—"महाराज भोज आपके यहा के विद्वानो की अप्रतिम प्रतिभा से अतीव प्रसन्न है। वे आपके यहा के विद्वानो को देखने के लिये बडे उत्कठित है। अत कृपा कर आप अपने यहा के विद्वानो को राजा भोज की सभा मे हमारे साथ धारा-नगरी भेजे।"

राजा भीम ने कहा —"ये मेरे ममेरे भाई महा विद्वान् है। किन्तु ये मुझे प्राणो से भी प्रिय है। इसलिये इन्हे दूरस्थ देश मे भेजने के लिये मेरा अन्तर्मन साक्षी नही देता। फिर भी यदि आपके स्वामी मेरी ही तरह इनका आदर सत्कार करने, स्वय इनके समक्ष आकर इनका नगर प्रवेश आदि करवाने और इन्हे सम्मानपूर्वक रखने का आश्वासन दें तो मैं इन्हे आपके यहा भेज सकता हू।"

"राजा भोज की ओर से आपके यहाँ के विद्वानो का पूर्ण रूपेण सुचारु रूप से सम्मान किया जायगा और जैसा आपने चाहा है वैसा ही किया जायगा"—इस प्रकार आश्वासन भोज के उन प्रधान पुरुषो द्वारा दिलाये जाने पर राजा भीम ने अपनी ओर से सूराचार्य को मालव देश जाने की स्वीकृति प्रदान की।

सूराचार्य ने विचार किया —'मेरे गुरुदेव की कृपा से आज यह शुभ सयोग अनायास ही मिला है कि इधर मैं जाने को उद्यत था और उधर राजा भोज का निमन्त्रण भी प्राप्त हो गया। उन्होने राजा भीम से कहा —"राजा भोज के यहा की कविता को मैंने देखा और उसका उत्तर भी दिया और मै अब आपसे विदा होकर स्वय राजा भोज के पास जा रहा हू। यह ससार बडा विचित्र है। हम समताधारी साधुओ के लिये कही कोई कौतुक एव भय की बात नही होती। मुझे कही किसी प्रकार का कष्ट नही होगा। आप चिन्ता न करे।"

राजा भीम ने सूराचार्य से पूछा—"आप वहा राजा भोज की स्तुति किस प्रकार करेंगे?"

और शास्त्रो के पारगामी विद्वान् बन जाय । मुझे तो केवल यही चिन्ता है कि आपका यह शिष्य वर्ग किस प्रकार शीघ्रातिशीघ्र मेरी विद्या को ग्रहण कर जिन-शासन प्रभावक महान् श्रमण बने ।"

गुरु द्रोण ने कहा —"सूर ! सब मे गुण समान रूप से नही होते । महान् पुरुषो मे जो गुण थे उनमे से करोडवा अश भी आज हम मे नही है । इसलिये गुण अथवा ज्ञान का मद किसी को नही करना चाहिये ।"

सूराचार्य ने इस पर विनयपूर्वक निवेदन किया .—"भगवन् ! मुझे किसी बात का कोई गर्व नही है । मेरी तो सदा से यही आन्तरिक इच्छा रही है कि मेरे द्वारा पढाये हुए ये साधु देश के कोने-कोने मे विहार कर अन्य दर्शनो के वादियो पर शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त करे । सूर्य की किरणो के समान ही ये साधु आपकी किरणे बनकर ससार मे व्याप्त जडता का समूलोच्छेद कर दें । ज्ञान का प्रकाश फैलावें जिससे कि आपकी यशोकीर्ति दिग-दिगन्त मे व्याप्त हो जाय और जिन-शासन की जयपताका समग्र धरा के क्षितिज पर लहराए ।"

गुरु ने कहा —"अभी अध्ययन मे निरत इन बालको की बात तो छोडो । अनेक विद्याओ मे प्रकाड पाडित्य प्राप्त करके भी क्या तुम राजा भोज की सभा को विजित करके यहा आये हो ?"

सूराचार्य ने कहा —"भगवन् ! आपका यह आदेश शिरोधार्य है । आपके इस आदेश को जब तक मै पूर्ण नही कर लू गा तब तक मै किसी भी प्रकार की कोई भी विकृति (घृत दुग्ध दध्यादि) ग्रहण नही करू गा ।"

तदनन्तर वे अपने गुरु को प्रणाम कर अपने स्थान पर जाकर सो गये । प्रात काल सूराचार्य ने अपने शिक्षार्थी साधुओ से कहा —"आज अध्यापन का अवकाश रहेगा ।"

बाल स्वभाव के कारण छोटे साधु बडे प्रसन्न हुए । मध्यान्ह मे साधुओ द्वारा आहार लाये जाने पर द्रोणाचार्य ने सूराचार्य को बुलाया । सूराचार्य तत्काल सेवा मे उपस्थित हुए । पर उन्होने किसी भी विकृति अर्थात् घृत आदि को ग्रहण नही किया । द्रोणाचार्य ने समझाया । अन्य वयोवृद्ध गीतार्थ साधुओ ने भी उन्हे समझाया । अन्ततोगत्वा चतुर्विध सघ ने भी उन्हे यत्किंचित् विकृतिया ग्रहण करते रहने का आग्रहपूर्ण अनुरोध किया किन्तु सूराचार्य अपनी प्रतिज्ञा पर अटल रहे ।

उन्होने कहा —"यदि इस विषय मे मुझे और कुछ कहा गया तो मैं अनशन कर लू गा ।"

एक दिन द्रोणाचार्य ने कतिपय गीतार्थ युवा साधुओ के साथ सूराचार्य को धारानगरी जाने की अनुज्ञा प्रदान की। गुरु द्रोण ने अपने प्रिय शिष्य सूर को अपने वक्षस्थल से लगाते हुए सुदूर प्रदेश की यात्रा के लिये विदाई देते समय जो शिक्षा दी जाती है वह शिक्षा दी। उन्होने कहा —"वत्स ! सदा सुदूरस्थ क्षेत्रो के विहार के समय सजग रहना। तुम मे महापुरुष के योग्य सब गुण है। तुमने इन्द्रियो को भी वश मे किया है। किन्तु सदा इस बात का ध्यान रखना कि युवावस्था सदा सबके लिये अविश्वसनीय होती है।"

गुरु के उपदेशो को शिरोधार्य कर और उनकी अनुज्ञा प्राप्त कर सूराचार्य भीम भूपाल की राज सभा मे उनसे विदा लेने गये। राजा ने रत्नजटित सिंहासन पर बिठाकर सूराचार्य का बडा सम्मान किया। सयोग ऐसा हुआ कि उसी समय मालव राज भोज के प्रधान पुरुष राजा भीम की सभा मे उपस्थित हुए और निवेदन किया—"महाराज भोज आपके यहा के विद्वानो की अप्रतिम प्रतिभा से अतीव प्रसन्न है। वे आपके यहा के विद्वानो को देखने के लिये बडे उत्कठित है। अत कृपा कर आप अपने यहा के विद्वानो को राजा भोज की सभा मे हमारे साथ धारानगरी भेजे।"

राजा भीम ने कहा —"ये मेरे ममेरे भाई महा विद्वान् है। किन्तु ये मुझे प्राणो से भी प्रिय है। इसलिये इन्हे दूरस्थ देश मे भेजने के लिये मेरा अन्तर्मन साक्षी नही देता। फिर भी यदि आपके स्वामी मेरी ही तरह इनका आदर सत्कार करने, स्वय इनके समक्ष आकर इनका नगर प्रवेश आदि करवाने और इन्हे सम्मानपूर्वक रखने का आश्वासन दे तो मैं इन्हे आपके यहा भेज सकता हू।"

"राजा भोज की ओर से आपके यहाँ के विद्वानो का पूर्ण रूपेण सुचारु रूप से सम्मान किया जायगा और जैसा आपने चाहा है वैसा ही किया जायगा"— इस प्रकार आश्वासन भोज के उन प्रधान पुरुषो द्वारा दिलाये जाने पर राजा भीम ने अपनी ओर से सूराचार्य को मालव देश जाने की स्वीकृति प्रदान की।

सूराचार्य ने विचार किया —'मेरे गुरुदेव की कृपा से आज यह शुभ सयोग अनायास ही मिला है कि इधर मैं जाने को उद्यत था और उधर राजा भोज का निमन्त्रण भी प्राप्त हो गया। उन्होने राजा भीम से कहा —"राजा भोज के यहा की कविता को मैंने देखा और उसका उत्तर भी दिया और मैं अब आपसे विदा होकर स्वय राजा भोज के पास जा रहा हू। यह ससार बडा विचित्र है। हम समताधारी साधुओ के लिये कही कोई कौतुक एव भय की बात नही होती। मुझे कही किसी प्रकार का कष्ट नही होगा। आप चिन्ता न करे।"

राजा भीम ने सूराचार्य से पूछा—"आप वहा राजा भोज की स्तुति किस प्रकार करेंगे ?"

सूराचार्य ने उत्तर दिया —"मुनि राजा की स्तुति किस कारण और क्यो करने लगा ?"

राजा भीम ने एक हाथी पाच सौ अश्वारोही सैनिक और एक हजार पदाति सैनिको के साथ सूराचार्य को विदा दी।

राजा भोज के प्रधान पुरुषो और राजा भीम के सैनिको के साथ विहार करते हुए सूराचार्य कुछ ही दिनो मे गुजरात और मालव की सीमा सन्धि पर पहुचे। राजा के प्रधान पुरुषो ने जब अपने स्वामी राजा भोज को सूराचार्य के आगमन की सूचना दी तो राजा भोज अपने प्रधानामात्यो और दलबल के साथ स्वय सूराचार्य के स्वागतार्थ मालव सीमा पर उपस्थित हुआ।

श्रमणाचार के अनुसार किसी भी साधु का गज आदि पर बैठना निषिद्ध है। तथापि राजामात्यो के आग्रह पर प्रायश्चित्त कर लेने के सकल्प के साथ सूराचार्य हाथी पर बैठकर मालव राज की सीमा की ओर बढे।

एक दूसरे के सम्मुख होने पर गजारूढ राजा भोज ने सूराचार्य को, और सूराचार्य ने राजा भोज को देखा और वे दोनो हाथी से उतर पडे। दोनो परस्पर भाई-भाई की तरह गले मिले। राजा ने पूरे सम्मान और आदर के साथ सूराचार्य का नगर प्रवेश करवाया।

धारानगरी के मध्यभाग मे एक अति विशाल सुन्दर जैन विहार था। सूराचार्य उस विहार मे गए और राजा भोज अपने राजभवन मे गये।

जैन विहार मे स्थित मन्दिर मे प्रतिमा के दर्शन करने के पश्चात् सूराचार्य वहा के अधिष्ठाता आचार्य बूटसरस्वती के विद्यालय-कक्ष मे गये, जहा कि चारो ओर ज्ञान का प्रकाश होते रहने के कारण अज्ञानान्धकार का कही अणुमात्र भी दिखाई नही दे रहा था और जो शिक्षार्थियो के स्वाध्यायघोष से गुजरित हो रहा था।

सूराचार्य को देखते ही बूट सरस्वती ने सम्मुख जाकर प्रणाम करते हुए उनका स्वागत सत्कार किया और आश्रम के शिष्यो ने भी स्वागत घोषो से गगन को गुजरित करते हुए उनके प्रति अपनी असीम श्रद्धा भक्ति प्रकट की। तदनन्तर शुद्ध एषणीय आहार-पान देकर उन्हे भक्तिपूर्वक भोजन कराया।

उन दिनो राजा भोज के मन मे सभी धर्मो मे समन्वय स्थापित करने की एक अदम्य लहर उठी हुई थी। उसने अपने नगर के छहो ही दर्शनो के सभी प्रमुखो को बुलवाकर कहा —"आप लोग ही वस्तुत सब लोगो को भ्रान्ति मे डाल रहे हो। आपके एक दूसरे से भिन्न आचार-विचार इस बात के प्रमाण है। इसलिये

आप छहो दर्शनो के लोग एक साथ बैठकर विचार विनिमय करो और सब दर्शनो को मिलाकर एक सर्व सम्मत दर्शन का स्वरूप हमारे सामने प्रस्तुत करो, जिससे कि हम लोगो को किन्चित्मात्र भी सन्देह न हो कि यह सच है अथवा वह। वह झूठ है अथवा यह।"

मन्त्रियो ने राजा से निवेदन किया कि "क्या आज तक प्राचीन राजाओ मे से किसी एक ने भी इस प्रकार का प्रयास किया है और क्या विधाता भी सब दर्शनो का समन्वय करने मे कभी समर्थ रहा है ?"

राजा भोज ने प्रश्न के उत्तर मे प्रति प्रश्न किया —"क्या परमार वश के अन्दर कभी कोई ऐसा राजा हुआ है, जिसने अपनी शक्ति से गौड प्रदेश सहित दक्षिणापथ पर अपना शासन स्थापित किया हो ?"

उन लोगो को निरुत्तर देखकर राजा ने अपने भृत्यो से नगर के सहस्रो प्रमुख स्त्री-पुरुषो को एकत्रित कर एक विशाल भवन मे वन्द कर दिया और यह कहा कि जब तक तुम सब लोगो मे सर्वसम्मत एक दर्शन पर मतैक्य नही हो जाएगा, तब तक तुम लोगो को खाने के लिए कुछ भी नही दिया जायगा।

सब लोग भूखो मरने लगे और इस बात पर सबका मतैक्य हो गया कि अपने प्राणो की रक्षा किस प्रकार की जाय। जैन दर्शन के आचार्य होने के कारण सूराचार्य भी वहा उपस्थित थे।

सभी दर्शनो के प्रमुखो ने उनसे निवेदन किया —"राजा सब दर्शनो को एक रूप मे देखना चाहता है। पर ऐसा न कभी भूतकाल मे हुआ है और न कभी भविष्य मे ही होगा। आप गुर्जर देश के विद्वान् है। अत आप अपनी वचन चातुरी से राजा को इस प्रकार का कदाग्रह छोडने के लिये राजी कीजिये। इस प्रकार हजारो लोगो को प्राणदान देकर आप असीम पुण्य का उपार्जन कर सकेगे।"

सूराचार्य ने कहा —"हम लोग तो अतिथि की तरह सुदूर प्रदेश से यहा आये हैं। ऐसी स्थिति मे राजा मेरी बात माने अथवा न माने, कुछ भी नही कहा जा सकता। तथापि सभी दर्शन हमारे लिये आदरणीय रहे है। अत इस सकट से मुक्ति के लिये यथाशक्य मे प्रयत्न करूगा।"

एक मन्त्री के माध्यम से सूरर्षि ने राजा भोज से कहलवाया —"राजन्! हमारे यहा आने के थोडी देर पश्चात् ही आप चले गये थे। इस कारण अभी तक हम दोनो की कोई खास बात नही हो पाई है। किन्तु सभी दर्शनो के सहस्रो लोगो की अनुकम्पा के कारण मैं आपसे कुछ निवेदन करना चाहता हू। यदि आप सुनना चाहे तो अवसर दे।"

राजा की अनुमति प्राप्त हो जाने पर सूराचार्य मन्त्रियो के साथ राज भवन मे पहुचे। जाते ही उन्होने राजा से कहा —"राजन्! अतिथियो का आतिथ्य सत्कार बडे अद्भुत ढग से आपने किया है। पर यह सत्कार आपने उचित ही किया है क्योकि तपस्वियो के लिये तप ही सर्वस्व है। मै कोई अपने कार्य से आपके पास नही आया हू। आपने सब दर्शन वालो को यहा एक तरह से बन्दी बना रखा है। यह मेरे हृदय मे खटक रहा है। अत मै अब अपनी जन्मभूमि को लौट रहा हू। मै आपसे केवल यही पूछना चाहता हू कि गुर्जर भूमि मे लौटने पर वहा के लोग धारा नगरी के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार का विवरण पूछेगे तो मै उन्हे क्या बताऊ?"

राजा भोज ने उत्तर दिया —"आप अतिथियो के सम्मुख मै कुछ भी नही कहता। मै तो इन दर्शन वालो से ही पूछता हू कि तुम्हारी परस्पर भिन्नता का क्या कारण है? धारा के स्वरूप का जहा तक सम्बन्ध है, वह स्वरूप मै आपके सम्मुख प्रस्तुत करता हू। उसे आप ध्यान से सुनिये। चौरासी जहा पर गगनचुम्बी विशाल प्रासाद पक्तिया है, प्रत्येक प्रासाद पक्ति मे चौरासी-चौरासी चतुष्पथ (चौराहे) है। इसी प्रकार नगरी मे चौरासी हट्टो (बाजारो) का निर्माण इस धारानगरी मे किया गया है। यह है धारानगरी का स्वरूप।"

इस पर सूराचार्य ने पूछा —"राजन्! इन चौरासी बाजारो का एक ही बाजार बना दीजिये। इन बहुत से बाजारो का क्या प्रयोजन? चौरासी बाजारो के स्थान पर एक ही बाजार बना दिये जाने से लोगो को इधर-उधर भिन्न-भिन्न बाजारो मे भटकना भी नही पडेगा और एक ही बाजार मे उन्हे यथेप्सित वस्तुए मिल जावेगी।"

राजा ने कहा —"भिन्न-भिन्न वस्तुओ के ग्राहको के एक ही स्थान पर एकत्रित होने से बडी बाधा और अव्यवस्था हो जायगी। इसी विचार से मैने इन चौरासी बाजारो का पृथक्-पृथक् निर्माण करवाया है।"

यह सुनते ही सूराचार्य ने विनोदपूर्ण मुद्रा मे कहा —"महाराज! आप इतने बडे विद्वान् है तो आप इस बात पर विचार क्यो नही करते कि जब अपने बनाये हुए इन हाटो को इन बाजारो को तुडवा कर एक कर देने मे आप अक्षम है तो अनादिकाल से चले आ रहे इन षड्दर्शनो को नष्ट कर एक करने के लिये आप क्यो उद्यत हो रहे है? जिस प्रकार पृथक्-पृथक् बाजारो मे अपनी अभीप्सित वस्तु को लेने के लिये लोग जाते है, ठीक उसी प्रकार येन-केन-प्रकारेण ससार के सुखो का उपभोग करने के इच्छुक चार्वाक् दर्शन के पास, व्यावहारिक प्रतिष्ठा सुख स्वर्गादि के इच्छुक वैदिक दर्शन के पास और मुक्ति के इच्छुक निरजन निराकार की उपासना करने वाले तथा जीवदया पर सर्वाधिक बल देने वाले जैन दर्शन के पास और इसी

तरह विभिन्न उद्देश्यो की प्राप्ति हेतु लोग विभिन्न दर्शनो के पास जावेंगे। चिरकाल से रूढ हुई और चित्त मे घर की हुई मान्यताओ मे सभी लोग आवद्ध हैं। ऐसी स्थिति मे हे राजन ! आप ही सोचिये कि ये सभी दर्शन एक कैसे हो सकते है ?"

राजा को यह तर्क बडा युक्तिसगत लगा। उसने अपने हठाग्रह अथवा कदाग्रह का त्याग कर सभी दर्शनो के प्रमुखो को ससम्मान भोजन करवाकर अथेच्छ अपने अपने स्थान पर जाने की अनुमति प्रदान कर दी।

सभी दर्शनो के अनुयायियो ने सूराचार्य के प्रति अपनी आन्तरिक कृतज्ञता ज्ञापित की और इस प्रकार सूराचार्य स्वल्प समय के आवास मे ही सम्पूर्ण धारानगरी मे विख्यात हो गये।

सूराचार्य ने बूटसरस्वती आचार्य के साथ वहा के मठ के एक उपाध्याय से विद्यार्थियो के शिक्षण के सम्बन्ध मे बात करते हुए पूछा—"आपके यहा कौन-कौन से ग्रन्थो का अध्ययन करवाया जाता है।"

उपाध्याय ने उत्तर दिया —"श्री भोजराज द्वारा निर्मित व्याकरण और छन्द शास्त्र का प्रमुख रूप से अध्ययन कराया जाता है।"

उसमे नमस्कार के प्रथम श्लोक को सुनाइये—सूराचार्य द्वारा यह बात कहने पर उपाध्याय तथा छात्रो ने निम्न श्लोक का समवेत स्वरो मे उच्चारण किया।

चतुर्मुख मुखाम्भोजवन हसवधूर्मम।
मानसे रमता नित्य शुद्धवर्णा सरस्वती ।।"

सूराचार्य ने काव्य विनोद की मुद्रा मे उत्प्रास गर्भित भाषा मे कहा — "इस प्रकार के विद्वान् इसी देश मे होते हैं। अन्यत्र नही। हम यह सुनते आ रहे है कि माता सरस्वती ब्रह्मचारिणी है, कुमारी है, परन्तु आज आप लोगो के मुख से हम लोगो को यह सुनने को मिला है कि वह वधू है। इस स्तुतिपरक श्लोक मे वधू शब्द के साथ ही 'मम मानसे रमता' इन शब्दो का प्रयोग क्यो किया गया है ?"

उपाध्याय इस कथन का उत्तर देने मे पूर्णत अक्षम था इसलिये इधर-उधर की वातो मे उसने येन केन प्रकारेण समय व्यतीत किया।

सन्ध्या समय उस उपाध्याय ने राजा भोज के समक्ष उपस्थित हो मठ मे हुए सूराचार्य के साथ के वार्तालाप से अवगत करवाया। राजा भोज को बडा विस्मय हुआ।

उसने दूसरे दिन बूट सरस्वती के साथ सूराचार्य को राज सभा मे निमन्त्रित किया। वे दोनो राजा भोज की सभा मे उपस्थित हुए। राजा ने राजसभा के पार्श्वनाथ प्रागरा मे एक शिला रखवा दी और गुर्जर भूमि के निवासी सूराचार्य को अपना अद्भुत पौरुष दिखलाने की आकाक्षा से उस शिला मे एक छिद्र करवा-कर उसे शिला के समान ही वर्ण वाले पदार्थो से बन्द करवा दिया। राजा ने सूराचार्य को ज्योही राजसभा मे आते हुए देखा त्योही धनुष पर शरसन्धान कर प्रत्यन्चा को कान तक खीचते हुए उस शिला पर बारा छोडा। छिद्र को पार करता हुआ बारा दूर चला गया। और सबको स्पष्टत दृष्टिगोचर होने लगा कि राजा ने शर से शिला को विद्ध कर दिया है।

सूराचार्य की तीक्ष्ण दृष्टि से वह छल छिपा नही रह सका और उन्होने तत्काल गूढार्थ भरे निम्नलिखित श्लोक का घनरव गम्भीर सुमधुर स्वर मे उच्चारण किया

> विद्धा विद्धा शिलेय भवतु परमत कार्मुकक्रीडितेन।
> श्रीमन्पाषाणभेदव्यसनरसिकता मुच मुच प्रसीद।
> वेधे कौतूहल चेत् कुलशिखरिकुल बाणलक्षीकरोषि।
> ध्वस्ताधारा धरित्री नृपतिलक ! तदा याति पातालमूलम्॥"

अर्थात्—हे श्रीमन् ! आपने इस शिला का वेध कर दिया है। किन्तु अब आगे इस भाति की शरसन्धान-क्रीडा से दूर ही रह कर पत्थर को फोड डालने वाले व्यसन मे कृपा कर अभिरुचि छोड देना। अगर वेध मे ही आपको कौतूहल की अनुभूति होती है तो परमार कुल के पवित्र अर्बुदगिरि को अपने बारा का लक्ष्य बनाना जिससे कि हे नृप शिरोमरिग ! धारा नगरी सहित सम्पूर्ण धरती पाताल के गहनतम तल मे चली जाय।

सूराचार्य के इस प्रकार के अद्भुत वर्णन सामर्थ्य से भोजराज बडा सन्तुष्ट हुआ। वही सभा मे उपस्थित राजा भोज की राजसभा के रत्न महा जैन कवि धनपाल को भी यह विदित हो गया कि वस्तुत सूराचार्य अप्रतिहत प्रज्ञा के धनी हैं। इनके सम्मुख कल्पना चातुरी, काव्य कौशल, विद्वत्ता आदि गुणो मे कोई विद्वान् ठहर नही सकता।

कवि धनपाल ने तत्काल ही भोज भूपाल के मुख पर उभरे क्षरिणक आकारो से यह भाप लिया कि गूढोक्ति मे निष्णात इस जैनाचार्य को किस प्रकार से जीता जाय।

राजा ने सूराचार्य का वडा सम्मान किया। सूराचार्य अपने निवास पर लौट आये।

राजा ने अपने मन्त्रणाकक्ष मे सभी विद्वानो को एकत्रित कर उनसे कहा--"यह गुर्जरदेशवासी जैन आचार्य यहा आया है। क्या इसके साथ शास्त्रार्थ करने मे आप मे से कोई विद्वान् सक्षम है ?

वहा उपस्थित पाच सौ पडितो मे से प्रत्येक की ग्रीवा झुक गई। राजा को बडा खेद हुआ।

राजा ने कहा --"क्या मेरे सब पडित गेहेनर्दी ही हैं जो राज्य द्वारा दी गई वृत्ति से अपना और अपने परिवार का केवल भरण-पोषण करते हैं और व्यर्थ ही अपने आपको विद्वान् बताते है ?"

विद्वद् समाज के लिये इस उद्विग्नकारी स्थिति से दुखित होकर एक विद्वान् ने राजा से कहा --"स्वामिन् ! आप इतने निराश न हो। यह धरती रत्नगर्भा है। ये गुर्जरवासी जैन साधु वस्तुत दुर्जेय होते है। इन्हे सीधी राह नही जीता जा सकता। इन्हे जीतने के लिये तो कोई न कोई गूढ उपाय करना होगा। इसके लिए १६ वर्ष तक की उम्र के किसी कुशाग्र बुद्धिवाले छात्र को बुलवाया जाय और उसको किसी प्रकाड पडित के माध्यम से प्रमाण शास्त्रो का शिक्षण दिलाया जाय।"

यह सुनकर राजा भोज को बडी प्रसन्नता हुई। उसने कहा--"ऐसा ही हो। पर इस कार्य को तुम्ही निष्पन्न करो।"

एक सौम्य मेधावी, वाक्पटु, तीव्र बुद्धि, लघु वय के बालक को ढू ढकर लाया गया और उसे तर्क शास्त्र का अध्ययन करवाया गया। उसने स्वल्प समय मे ही तर्क शास्त्र मे बडी निपुणता प्राप्त करली। राजा ने शास्त्रार्थ के लिये शुभ मुहूर्त्त निकलवाया और वाद करने मे शूर सूराचार्य को उस नूतन बाल पडित से शास्त्रार्थ के लिए निमन्त्रित किया।

सूराचार्य के वाद हेतु राज्य सभा मे उपस्थित होने पर राजा भोज ने सूराचार्य को सम्बोधित करते हुए कहा --"विद्वन् ! आपके समक्ष वाद के लिए समुद्यत यह बाल पडित आपका प्रतिवादी है।"

उस अल्पवयस्क छात्र पडित की ओर देखते हुए सूराचार्य ने कहा --"राजन् अपरिपक्वावस्था के कारण इस बाल समझे जाने वाले पडित की वाणी भी अभी परिपक्व नही हुई है। शास्त्रार्थ के नियमानुसार वाद के लिए प्रतिस्पर्धियो मे वय, विद्या आदि की समानता होना अत्यावश्यक है। युवा वादियो के लिये सभी दृष्टियो से अपरिपक्व बाल प्रतिवादी के साथ शास्त्रार्थ करना कदापि उचित नही, इस बात को आप ध्यान मे लीजिये।"

राजा भोज ने कहा —"महर्षिन् ! केवल वय और वपु को देखकर ही आप यह मत समझ लीजिये कि यह शिशु है। आप विश्वास रखिये कि इस शिशु के रूप मे साक्षात् वाग्वादिनी देवी सरस्वती ही इस राज्यसभा मे आपके समक्ष शास्त्रार्थ के लिए समुपस्थित है। मेरा यह दृढ मत है कि इस सरस्वती स्वरूप प्रतिवादी को आपके द्वारा जीत लिये जाने पर मै मान लू गा कि आपने मेरी राजसभा को जीत लिया है।"

सूराचार्य ने गम्भीर स्वर मे कहा —"अस्तु, यदि आपका यही निर्णय है तो वह मुझे स्वीकार है। किन्तु शास्त्रार्थ के नियमानुसार वादी प्रतिवादियो मे वय की दृष्टि से लघु हो, उसी को अपना पूर्वपक्ष सर्वप्रथम रखने का अधिकार होता है। इस परम्परागत नियम के अनुसार यह बालक प्रतिवादी वाद के लिए अपना पूर्वपक्ष पहले प्रस्तुत करे।"

सूराचार्य की बात सुनते ही उस बाल वादी ने विराम, अल्पविराम, विभक्ति, पद, वाक्य आदि की ओर कोई ध्यान न देते हुए अपने रटे-रटाये पाठ को धारा-प्रवाह रूप से बोलते हुए अपना पूर्वपक्ष रखा।

प्रतिवादी के मुख से इस प्रकार के उच्चारण को सुनकर सूराचार्य तत्काल समझ गये कि रटे हुए पाठो को बिना उसका अर्थ समझे ही यह बाल पडित बोल रहा है। इसे यह भी बोध नही है कि यह पाठ शुद्ध है अथवा अशुद्ध।

जब वह बाल प्रतिवादी द्रुतगति से रटा हुआ पाठ बोलता ही चला गया तो उचित समझते हुए बीच मे टोकते हुए सूराचार्य ने उसे कहा—"महानुभाव ! आपने जो अन्तिम वाक्य का उच्चारण किया है, वह वस्तुत अशुद्ध है। कृपया उसे पुन बोलिये।"

बालक प्रतिवादी ने बालस्वभाववशात् अपनी स्मरण शक्ति पर अटल आस्था प्रकट करते हुए सरलमन से सच्चाई प्रकट करते हुए तत्काल उत्तर दिया—"मैं दृढ विश्वास के साथ कहता हू कि जैसा पट्टिका पर लिख कर मुझे दिया गया है, वही मै बोल रहा हू।"

प्रतिवादी का वास्तविक स्वरूप प्रकट हो जाने पर कि वाद के लिये जैसा उसे रटाया गया है, वही वह अक्षरश बोल रहा है, सभी सभ्य स्तब्ध रह गये।

सूराचार्य ने रहस्यपूर्ण प्रश्न किया —"मालवेश ! आपके मालव प्रदेश मे क्या इसी प्रकार का शास्त्रार्थ होता है ? मैने मालव प्रदेश को भली-भाति देख लिया है और यहा के मण्डको (लघु गोलाकार मोटी रोटी) का रसास्वादन भी कर लिया है।"

इस प्रकार राजा भोज की राजसभा को शास्त्रार्थ मे पराजित एव निरुत्तर कर सूराचार्य तत्काल अपने आवास की ओर प्रस्थित हुए। रहस्य के प्रकट हो जाने की ग्लानि और वाद मे पराजय के शोक से पीडित राजा भोज ने तत्काल राजसभा को विसर्जित कर दिया और स्वय मन्त्रणाकक्ष मे चला गया।

आचार्य बूट सरस्वती ने अपने अतिथि सूराचार्य से कहा— "विद्वद् शिरोमणे! आपकी वाग्मिता एव विद्वत्ता से जिन शासन की प्रभावना हुई है, इसका सम्मान बढा है, इस बात की तो मुझे बडी सुखानुभूति हो रही है किन्तु आपका जीवन अब सकट मे है। आपकी उस आसन्न मृत्यु की आशका से मुझे बडा दु ख हो रहा है। क्योकि राजा भोज वस्तुत. अपनी सभा को जीत लेने वाले विद्वान् को अपने स्वभाव के अनुसार येन-केन-प्रकारेण मरवा ही देता है। क्या किया जाय ? यहा जय अथवा पराजय, दोनो ही स्थितियो मे हानि ही हानि है, लाभ तो किंचित्मात्र भी नही।"

सूराचार्य ने बूट सरस्वती को आश्वस्त करते हुए कहा—"आप किसी बात की चिन्ता मत कीजिये। मैं इस सहसा उत्पन्न प्राणसकट से अवश्यमेव आत्मरक्षा कर लू गा।"

उसी समय महाकवि धनपाल द्वारा भेजा गया उनका एक विश्वस्त पुरुष मठ मे आया और उसने सूराचार्य को अपने स्वामी का सन्देश सुनाते हुए कहा— "पूज्यवर! आप पूर्णत गुप्तरूपेण शीघ्र ही मेरे घर पर चले आइये। इस राजा का कोई विश्वास नही है। इसकी प्रसन्नता भी अन्ततोगत्वा बडी भयानक होती है। जिसका अनुमान भी नही लगाया जा सकता। आप जैसे विद्वान् वस्तुत हमारी आर्य धरा के सभी प्रदेशो के शृ गार हैं। आप जैसो के दर्शन मेरे जैसे अकिंचनो को पूर्वाजित प्रबल पुण्यो के प्रताप से ही होते हैं। मेरे यहा चले आने के पश्चात आपको कुछ भी नही करना होगा, मैं स्वय ही सम्पूर्ण समुचित व्यवस्था कर दू गा। और आपको सकुशल एव सुखपूर्वक गुर्जर भूमि मे पहुचा दू गा।"

अपने स्वामी का यह सन्देश सुना कर धनपाल का वह विश्वासपात्र तुरन्त अपने स्वामी के पास लौट गया।

प्रात काल सूर्योदय से पूर्व ही मालव सेना के अश्वारोहियो ने सूराचार्य के निवासस्थल बने उस सम्पूर्ण मठ को चारो ओर से घेर लिया। उनका नायक बूट सरस्वती के पास आकर कहने लगा—"साधु लोगो के भाग्य का उदय हुआ है। आप लोगो को मालवेश्वर महाराज भोज प्रसन्न होकर जयपत्र प्रदान करेंगे। अत प्रतिवादी को पराजित कर देने वाले हमारे अतिथि सूराचार्य को राजसभा मे भेजिये।"

बूट सरस्वती ने अपनी चिन्ता को अन्तर्मन मे छुपाते हुये कहा —
"अवश्य । ऐसा ही करूगा ।"

नायक मठ के चारो ओर घेरा डाले डटा रहा । मठ का आवागमन पूर्णरूपेण अवरुद्ध कर दिया गया था । न तो कोई मठ के अन्दर से बाहर जा सकता था और न बाहर से कोई भी व्यक्ति मठ के अन्दर प्रवेश कर सकता था ।

जब मध्याह्न मे सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणो से धरातल को प्रतप्त कर रहा था, उस समय सूराचार्य ने एक वयोवृद्ध साधु की मैली, फटी चादर ओढ कर वेश परिवर्तन किया । पट्ट पर एक स्थूलकाय जराजीर्ण साधु को बैठा कर सूराचार्य एक फटी पुरानी चादर से अपने मस्तक एव ग्रीवा को ढक कर एक अतिवृद्ध साधु की भाति कमर को झुकाये मठ से बाहर निकल कर मुख्य द्वार की ओर बढे । द्वार पर पहुचते ही उन्हे अश्वारोहियो ने टोकते हुए कहा—"ओ वृद्ध ! कहा जा रहे हो । राजाज्ञा है कि वह गुर्जर कवि जब तक राज्य सभा मे नही पहुच जाय तब तक किसी को न तो मठ के अन्दर प्रवेश करने दिया जाय और न किसी को मठ से बाहर जाने दिया जाय । अत तुम शीघ्र ही मठ के भीतर लौट जाओ । उस गुर्जरदेश से आये विद्वान् साधु को हमे सौंप देने के पश्चात् तुम सभी यथेच्छ जहा कही जाना चाहो जा सकोगे ।"

यह सुनते ही अतीव शान्त, गम्भीर पर आक्रोश भरी मुद्रा मे छद्मवेशधारी सूर सूरि ने कहा—"राजाओ के समान शोभा सम्पन्न वे गूर्जर कवि अन्दर पट्ट पर विराजमान है, उनको आप ले जा सकते हैं । हम तो आपके इस नगर मे आकर भूखो मर रहे है । इस प्राणापहारिणी प्रचण्ड धूप मे प्यास से मेरे कण्ठ सूख रहे है । इस जराजर्जरित बूढे साधु को बिना पानी के तो मत मरने दो, कहो तो पास ही से पानी पी आऊ, तुम्हे बडा धर्म होगा ।"

एक अश्वारोही को दया आ आई । उसने कहा—"अच्छा, अच्छा जाओ ! पानी पी कर शीघ्र ही लौट आना ।"

सूराचार्य इस प्रकार अश्वारोहियो के घेरे से बाहर निकले और वे सीधे धनपाल कवीश्वर के निवास-स्थान पर पहुचे । उन्हे देखते ही कवि धनपाल के हर्ष का पारावार नही रहा ।

अभिवादनानन्तर उसने हर्षगद्गद् स्वर मे कहा—"हे जिनशासनदिवाकर ! यह सम्पूर्ण जैन जगत का सौभाग्य ही है कि आप सकुशल वहा से यहा आकर मुझे कृतकृत्य एव परमानन्दित कर रहे है ।"

कवि धनपाल ने गुर्जरभूमि की ओर प्रस्थान करने के लिये समुद्यत ताम्बूलपत्रो के कुछ बडे व्यापारियो को अपने यहा आमन्त्रित किया । उन्हे भोजन-पानादि

पानादि से सम्मानित कर कवि धनपाल ने उनसे कहा—"आप लोग अभी ताम्बूलपत्रो से भरे अपने शकटो के समूह के साथ गुर्जर भूमि की ओर प्रस्थान कर रहे है। मेरे एक भाई को भी कृपया आप अपने साथ लेते जाइये और उन्हे सकुशल अनहिल्लपुरपत्तन नगर मे पहुचा दीजिये।"

ताम्बूलपत्रो के व्यापारियो ने कवि धनपाल के प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

महाकवि धनपाल ने उन व्यापारियो को १०० स्वर्णमुद्राए भेट की। व्यापारियो ने पान के पिटारो के बीच एक शकट मे सूराचार्य को बैठा दिया। व्यापारियो के शकटो का समूह गुर्जरभूमि की ओर उसी समय प्रस्थित हो गया। शकटो को वहन करने वाले पुष्ट वृषभ द्रुतगति से गुर्जर भूमि की ओर बढने लगे।

उधर प्रतीक्षा से ऊबकर भोज के सैनिको ने मठ मे प्रवेश किया। उन्होने देखा कि मठ के एक विशाल कक्ष मे बहुमूल्य परिधान पहने एक स्थूलकाय साधु एक पट्ट पर बैठा हुआ है। सैनिको के नायक ने उन्ही वृद्ध को सूराचार्य समझ कर, उन्हे ले जाकर राजा भोज के सम्मुख उपस्थित कर दिया। उस वृद्ध सन्त को देख कर घटना की वास्तविकता मालवेश की समझ मे आ गई। वे बोल उठे—"हमारी राजसभा को पराजित कर और मेरे सैनिको को भी धोखे मे रखकर वह गुर्जर कवि चला गया। वह बडा प्रत्युत्पन्नमति एव चतुर निकला।"

सूराचार्य सकुशल अणहिलपुर पट्टण पहुच गये। आचार्य द्रोण और राजा भीम दोनो अत्यन्त प्रसन्न हुए। राजा भीम ने एक प्रश्न किया—"महर्षिन्! मै यह जानने को उत्कण्ठित हू कि आपने मालव नरेश भोज की स्तुति किस प्रकार की।"

सूराचार्य ने कहा—"राजन्! मै आप के अतिरिक्त किसी अन्य की स्तुति कैसे कर सकता हू? मैने जिन शब्दो मे राजा भोज की प्रशसा की, उसे दत्तचित्त हो सुनिये। राजसभा मे मेरे प्रवेश के समय राजा भोज ने अपने दुर्दान्त पौरुष का मेरे समक्ष प्रदर्शन करने के लिए एक ओर रखी हुई शिला पर लक्ष्य साध कर बाण चलाया और वह बाण शिला-वेध कर दूर जा गिरा। मेरी तीक्ष्ण दृष्टि से यह छुपा नही रह सका कि उस शिला मे पहले ही छेद कर उसे शिला के रग के चूर्णो से बडी चतुराई के साथ भर दिया गया था। मैने राजा की जिस श्लोक से प्रशसा की उसके दो अर्थ होते है। पहला यह कि आपने शिलावेध कर दिया, पर अब भविष्य मे कभी इस प्रकार की धनुक्रीडा मत करना। पाषाण-भेदन की अपनी इस रसिकता का अब त्याग ही करदे तो अच्छा है। अन्यथा पाषाणभेदन का आपका यह व्यसन उत्तरोत्तर बढता ही जायगा और अन्ततोगत्वा भय इस बात का है कि आप अपने कुलपर्वत अर्बुद पर्वताधिराज पर भी शरप्रहार कर बैठेगे। आपके शरप्रहार से अर्बुदगिरि के

पाताल मे प्रविष्ट होते ही आपकी यह धारा नगरी और सम्पूर्ण धरित्री पाताल के गहनतम तल मे चले जायेगे ।

इसी श्लोक का दूसरा अर्थ यह होता है कि पहले से ही विद्ध की हुई इस शिला के छिद्र को लक्ष्य कर आपने बाण चलाया और इस शिला का वेध कर दिया। पूर्व मे किये हुए छिद्र को लक्ष्य कर शिलावेध करने से किसी भी धनुर्धर का पराक्रम प्रकट नही होता। अत इस प्रकार की छलपूर्ण धनुक्रीडा का परित्याग ही कर दीजिये। पत्थरो के भेदन का यह व्यसन अन्ततोगत्वा महाविनाशकारी व्यसन है।

प्रस्तर वेध के करते-करते यदि यह व्यसन उत्तरोत्तर बढता ही गया और आपके कुलपर्वत नगाधिराज अर्बुद पर शर प्रहार किये जाते रहे तो धरित्री को धारण करने वाले भूधर अर्बुदगिरि के पाताल के गहन तल मे जाने के साथ-साथ आपकी यह अतीव प्रिया धारा नगरी और यह सम्पूर्ण पृथ्वी ही पाताल के गहन तल मे पहुच जायेगे ।"

गुर्जराधीश भीम यह सुन कर हर्षातिरेक से कह उठे—"मेरे भ्राता (मातुल-पुत्र सूराचार्य) ने भोज को जीत लिया है, अब मुझे उसको जीतने की कोई आवश्यकता ही नही है ।"

सूराचार्य ने भगवान् ऋषभदेव और नेमिनाथ पर द्विसन्धान काव्य और नेमिचरित्त महाकाव्य की रचना की। उन्होने अपने गुरु के समक्ष उन सब दोषो की आलोचना कर प्रायश्चित्त ग्रहण किया, जो दोष उनको मालव राज्य की यात्रा के समय लगे थे। सूराचार्य ने गुरु आज्ञा को शिरोधार्य कर अपने पहले के विद्यार्थी श्रमणो को भी अग्रेतर अध्ययन करवाना प्रारम्भ किया। अपने अध्यापन कौशल से उन्होने उन शिक्षार्थी साधुओ को सभी विद्याओ मे निष्णात बना उन्हे आगम शास्त्रो का भी गहन अध्ययन कराया ।

द्रोणाचार्य ने अन्त मे समस्त पापो की आलोचना कर सलेखनापूर्वक स्वर्ग-गमन किया। द्रोणाचार्य के पश्चात् अनेक वर्षों तक सूराचार्य जैनधर्म का प्रचार प्रसार करते रहे और अपने जीवन के अन्तिम समय मे उन्होने सभी प्रकार के आहार पानीय आदि का परित्याग कर आजीवन अनशन अर्थात् प्रायोपवेशन अगीकार किया।

वह अनशन (सथारा) ३५ दिन तक चला और अन्त मे आत्मचिन्तन करते हुए वे स्वर्गस्थ हुए ।

—❀—

वादि वैताल शान्ति सूरि

विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी मे थारपद्र गच्छ मे शान्ति सूरि नामक एक प्रभावक आचार्य हुए है। जिला जालोर के अन्तर्गत रायसीण ग्राम के एक जिन-मन्दिर मे उपलब्ध वि० स० १०८४ के शिलालेख से अनुमान किया जाता है कि आपका दूसरा नाम सभवत शान्तिभद्रसूरि भी था। रायसीण ग्राम के उस शिला-लेख मे यह उल्लेख है कि थारपद्र गच्छ के शान्तिभद्रसूरि ने वि० स० १०८४ मे जिन-प्रतिमा की प्रतिष्ठापना की।

उनकी 'जीव-विचार प्रकरण'[1] और 'उत्तराध्ययन टीका' ये दो रचनाए उपलब्ध होती है। इन दोनो रचनाओ के अध्ययन से यह स्पष्टत प्रकट होता है कि श्री शान्तिसूरि प्राकृत तथा सस्कृत दोनो भाषाओ के प्रकाण्ड पडित थे और उनका सैद्धान्तिक ज्ञान गहन एव तलस्पर्शी था। आपने अपनी 'जीवविचार प्रकरण' नामक रचना मे अपने गच्छ अथवा अपनी गुरु परम्परा विषयक किसी प्रकार का विवरण न देकर केवल अपने नाम का ही उल्लेख किया है। अपनी दूसरी कृति 'उत्तराध्य-यन-टीका' मे आपने अपना केवल इतना ही परिचय दिया है कि वे 'बडगच्छ' की शाखा—थारपद्र गच्छ के मुनि थे।[2] शान्तिसूरि की इन दो कृतियो से तो उनका केवल इतना ही परिचय प्राप्त होता है, इससे अधिक नही। किन्तु प्रभावक चरित्र और तपागच्छ पट्टावली मे वादिवैताल शान्तिसूरि के जीवन की कतिपय महत्वपूर्ण घटनाओ पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

प्रभावक चरित्र मे आचार्य श्री शान्तिसूरि का जो जीवन-वृत्त दिया हुआ है, वह सार रूप मे यहा प्रस्तुत किया जा रहा है।

प्रभावक चरित्रकार ने शान्तिसूरि का जीवन वृत्त प्रस्तुत करते हुए प्रारम्भ मे "पातु वो वादि—वैताल कालो दुर्मन्त्रवादिनाम्।" इस पद से जो उनकी स्तुति की है, इससे ही उनके महान् प्रभावक आचार्य होने का पता चलता है।

प्रभावक चरित्रकार के उल्लेखानुसार उन्नतायु नामक ग्राम के श्रीमाल वशीय श्रेष्ठि श्री धनदेव की धर्मपत्नी धनश्री की कुक्षि से शान्तिसूरि का जन्म

---

[1] जीवन श्रेयस्कर मण्डल, मेहसाना द्वारा सम्पादित एव प्रकाशित जीव विचार प्रकरण-पचम् सस्करण पृ० ४–५

[2] ता मपइ सपत्ते, मणुयत्ते दुल्लहे सम्मत्ते।
सिरि सति सूरि सिट्ठे, करेह भो! उज्जम धम्मे (५०) जीव विचार।

हुआ । उन्नतायु ग्राम गुजरात प्रान्त की तत्कालीन राजधानी अणहिल्लपुर पत्तन के पश्चिम मे बसा हुआ था । जिस समय शान्तिसूरि का जन्म हुआ उस समय गुजरात के महाप्रतापी राजा भीम अणहिल्लपुरपत्तन मे गुजरात के राजसिंहासन पर आसीन थे। शान्तिसूरि के जन्मकाल मे चन्द्रगच्छ की शाखा थारपद्र गच्छ का सर्वत्र वर्चस्व था । उस समय थारपद्र गच्छ के आचार्य पद पर श्री विजयसिंहसूरि विराजमान थे । श्री विजयसिह सूरि की कीर्ति दिग्दिगन्त मे व्याप्त हो रही थी ।

श्रेष्ठिवर धनदेव ने अपने पुत्र का नाम भीम रखा । सभी प्रकार के शुभ लक्षणो से सम्पन्न बालक भीम क्रमश ज्यो-ज्यो वय मे बढने लगा त्यो-त्यो उसके शुभ लक्षणो एव गुणो की सौरभ दूर-दूर तक फैलने लगी ।

एक समय विजयसिह सूरि ग्रामानुग्राम विचरण कर भव्यो को धर्म का उपदेश देते हुए बालक भीम के ग्राम उन्नतायु मे आये । उन्होने वहा अनेक शुभलक्षणो से सम्पन्न आजानुभुज बालक भीम को देखा । बालक भीम के विशाल वक्षस्थल, प्रशस्त भाल, उन्नत एव पुष्ट कन्धो तथा अन्यान्य असाधारण शुभ लक्षणो को देख कर विजय सिंहाचार्य ने अनुभव किया कि यह बालक समय आने पर धर्मसघ के सचालन के गुरुत्तर भार को वहन करने मे सक्षम और जिनशासन का उन्नायक होगा ।

चैत्य मे आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव को प्रणाम कर विजय सिहाचार्य श्रेष्ठि धनदेव के घर गये और उससे उन्होने कहा—"श्रेष्ठिन् ! जिनशासन की अभ्युन्नति के लक्ष्य से हम तुमसे तुम्हारे इस होनहार पुत्र भीम की याचना करते है ।"

धनदेव श्रेष्ठि ने हर्षविभोर हो अतीव विनम्र एव मृदु स्वर मे उत्तर दिया—"आचार्य देव ! इससे बढकर मेरा और क्या सौभाग्य हो सकता है कि मेरा पुत्र आपके अभीष्ट कार्य का प्रसाधक बन सकेगा । मै इसे अपना अहोभाग्य समझकर भीम को आपके चरणो मे समर्पित करता हू । मेरे पुत्र भीम को स्वीकार कर आप अपने इस दास को कृतकृत्य कीजिये ।" यह कहते हुए धनदेव ने अपने पुत्र भीम को विजयसिंहाचार्य के चरणो मे समर्पित कर दिया ।

विजय सिंहाचार्य ने प्रतिभाशाली बालक भीम को समुचित शिक्षण देना प्रारम्भ किया और उसे सभी भाति सुयोग्य एव कुशाग्रबुद्धि समझकर कालान्तर मे श्रमणधर्म मे दीक्षित किया । दीक्षित करते समय आचार्य श्री विजयसिंह ने बालक भीम का नाम शान्ति मुनि रखा । सुतीक्ष्ण बुद्धि शान्तिमुनि ने बडी निष्ठा के साथ शास्त्रो का अध्ययन प्रारम्भ किया और क्रमश उन्होने सभी कलाओ, विद्याओ एव आगमो का गहन ज्ञान प्राप्त कर उनमे निष्णातता प्राप्त की ।

आचार्य श्री विजयसिंह ने अपने सुयोग्य शिष्य शान्ति मुनि को सभी विद्याओ मे पारगत और सघभार को वहन करने मे पूर्णत सक्षम समझकर उन्हे शुभ मुहूर्त मे आचार्य पद प्रदान किया। अपने सुयोग्य उत्तराधिकारी को अपने गच्छ का भार सम्हलाकर विजयसिंह सूरि ने सलेखना और अनशन पूर्वक आयुष्य पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया।

शान्ति सूरि ने आचार्य पद पर आसीन होने के अनन्तर अनेक प्रतिवादियो को शास्त्रार्थ मे पराजित कर अपने गच्छ की प्रतिष्ठा मे उत्तरोत्तर उल्लेखनीय अभिवृद्धि की। उनकी कीर्ति दिग्दिगन्त मे व्याप्त होने लगी। अणहिल्लपुर पाटण मे महाराजा भीम की राजसभा मे उन्हे कवीन्द्र का पद प्रदान किया गया। उस समय के उच्चकोटि के विद्वानो मे उनकी गणना की जाने लगी।

शान्ति सूरि के आचार्यकाल मे अवन्ति प्रदेश मे धनपाल नामक एक विख्यात कवि रहता था एव उसी प्रदेश मे महेन्द्राचार्य नाम के एक अन्य विद्वान् जैनाचार्य धर्म प्रचार करते हुए विचरण कर रहे थे। उन महेन्द्राचार्य के आदेशानुसार उनके शिष्यो ने धनपाल को एक अवसर पर प्रत्यक्ष दिखाया कि गोरस मे, दो दिन के पश्चात् जीव उत्पन्न हो जाते है। साधुओ द्वारा यह प्रत्यक्ष दिखाये जाने पर कवि धनपाल महेन्द्राचार्य की सेवा मे उपस्थित हुआ और उनके उपदेश से प्रबुद्ध हो वह दृढ सम्यक्त्वी बना। सम्यक्त्व ग्रहण करने के पश्चात् धनपाल ने "तिलकमञ्जरी" नामक ग्रन्थ की रचना की। तिलक मजरी की रचना सम्पन्न हो जाने के पश्चात् धनपाल ने महेन्द्राचार्य से पूछा—"भगवन् अब इस तिलकमञ्जरी ग्रन्थ का शोधन कौन करेगा ?"

आचार्य महेन्द्र ने कहा —"शान्तिसूरि तुम्हारी इस कृति का सशोधन करेगे।"[1]

धनपाल उज्जयिनी से प्रस्थित हो अणहिल्लपुर पाटन आया। वहा शान्ति-सूरि और उनके शिष्यो के अद्भुत पाण्डित्य को देख कर बडा चमत्कृत हुआ। उसने शान्तिसूरि से प्रगाढ आग्रहपूर्ण अभ्यर्थना की कि वे उज्जयिनी पधारे। धनपाल की अनुरोधपूर्ण प्रार्थना स्वीकार कर शान्तिसूरि मालव की ओर प्रस्थित हुए। मालव प्रदेश मे उन्होने उनके साथ शास्त्रार्थ करने के लिये समय-समय पर आये हुए चौरासी प्रतिवादियो को वाद मे पराजित किया। धाराधीश ने शान्ति सूरि की अप्रतिम वाद प्रतिभा, वाग्मिता और प्रकाण्ड पाण्डित्य से प्रभावित हो अपनी राज सभा मे "वादिवैताल" की उपाधि से उन्हे अलकृत किया और गुजरात प्रदेश के अनेक स्थानो मे चैत्यो के निर्माण हेतु विपुल धनराशि की व्यवस्था की। कवि

---

[1] कथा च धन पालस्य, तैरशोध्यत विष्तुषम्। वादि वैताल विरुद सूरीणा प्रददे नृप ॥५६॥
—प्रभावक चरित्र

हुआ। उन्नतायु ग्राम गुजरात प्रान्त की तत्कालीन राजधानी अणहिल्लपुर पत्तन के पश्चिम मे बसा हुआ था। जिस समय शान्तिसूरि का जन्म हुआ उस समय गुजरात के महाप्रतापी राजा भीम अणहिल्लपुरपत्तन मे गुजरात के राजसिंहासन पर आसीन थे। शान्तिसूरि के जन्मकाल मे चन्द्रगच्छ की शाखा थारपद्र गच्छ का सर्वत्र वर्चस्व था। उस समय थारपद्र गच्छ के आचार्य पद पर श्री विजयसिंहसूरि विराजमान थे। श्री विजयसिंह सूरि की कीर्ति दिग्दिगन्त मे व्याप्त हो रही थी।

श्रेष्ठिवर धनदेव ने अपने पुत्र का नाम भीम रखा। सभी प्रकार के शुभ लक्षणो से सम्पन्न बालक भीम क्रमश ज्यो-ज्यो वय मे बढने लगा त्यो-त्यो उसके शुभ लक्षणो एव गुणो की सौरभ दूर-दूर तक फैलने लगी।

एक समय विजयसिंह सूरि ग्रामानुग्राम विचरण कर भव्यो को धर्म का उपदेश देते हुए बालक भीम के ग्राम उन्नतायु मे आये। उन्होने वहा अनेक शुभलक्षणो से सम्पन्न आजानुभुज बालक भीम को देखा। बालक भीम के विशाल वक्षस्थल, प्रशस्त भाल, उन्नत एव पुष्ट कन्धो तथा अन्यान्य असाधारण शुभ लक्षणो को देख कर विजय सिंहाचार्य ने अनुभव किया कि यह बालक समय आने पर धर्मसघ के सचालन के गुरुत्तर भार को वहन करने मे सक्षम और जिनशासन का उन्नायक होगा।

चैत्य मे आदिनाथ भगवान् ऋषभदेव को प्रणाम कर विजय सिंहाचार्य श्रेष्ठि धनदेव के घर गये और उससे उन्होने कहा—"श्रेष्ठिन्! जिनशासन की अभ्युन्नति के लक्ष्य से हम तुमसे तुम्हारे इस होनहार पुत्र भीम की याचना करते हैं।"

धनदेव श्रेष्ठि ने हर्षविभोर हो अतीव विनम्र एव मृदु स्वर मे उत्तर दिया—"आचार्य देव! इससे बढकर मेरा और क्या सौभाग्य हो सकता है कि मेरा पुत्र आपके अभीष्ट कार्य का प्रसाधक बन सकेगा। मैं इसे अपना अहोभाग्य समझकर भीम को आपके चरणो मे समर्पित करता हू। मेरे पुत्र भीम को स्वीकार कर आप अपने इस दास को कृतकृत्य कीजिये।" यह कहते हुए धनदेव ने अपने पुत्र भीम को विजयसिंहाचार्य के चरणो मे समर्पित कर दिया।

विजय सिंहाचार्य ने प्रतिभाशाली बालक भीम को समुचित शिक्षण देना प्रारम्भ किया और उसे सभी भाति सुयोग्य एव कुशाग्रबुद्धि समझकर कालान्तर मे श्रमणधर्म मे दीक्षित किया। दीक्षित करते समय आचार्य श्री विजयसिंह ने बालक भीम का नाम शान्ति मुनि रखा। सुतीक्ष्ण बुद्धि शान्तिमुनि ने बडी निष्ठा के साथ शास्त्रो का अध्ययन प्रारम्भ किया और क्रमश उन्होने सभी कलाओ, विद्याओ एव आगमो का गहन ज्ञान प्राप्त कर उनमे निष्णातता प्राप्त की।

आचार्य श्री विजयसिंह ने अपने सुयोग्य शिष्य शान्ति मुनि को सभी विद्याओ मे पारगत और सघभार को वहन करने मे पूर्णत सक्षम समझकर उन्हे शुभ मुहूर्त मे आचार्य पद प्रदान किया। अपने सुयोग्य उत्तराधिकारी को अपने गच्छ का भार सम्हलाकर विजयसिंह सूरि ने सलेखना और अनशन पूर्वक आयुष्य पूर्ण कर स्वर्गारोहण किया।

शान्ति सूरि ने आचार्य पद पर आसीन होने के अनन्तर अनेक प्रतिवादियो को शास्त्रार्थ मे पराजित कर अपने गच्छ की प्रतिष्ठा मे उत्तरोत्तर उल्लेखनीय अभिवृद्धि की। उनकी कीर्ति दिग्दिगन्त मे व्याप्त होने लगी। अणहिल्लपुर पाटण मे महाराजा भीम की राजसभा मे उन्हे कवीन्द्र का पद प्रदान किया गया। उस समय के उच्चकोटि के विद्वानो मे उनकी गणना की जाने लगी।

शान्ति सूरि के आचार्यकाल मे अवन्ति प्रदेश मे धनपाल नामक एक विख्यात कवि रहता था एव उसी प्रदेश मे महेन्द्राचार्य नाम के एक अन्य विद्वान् जैनाचार्य धर्म प्रचार करते हुए विचरण कर रहे थे। उन महेन्द्राचार्य के आदेशानुसार उनके शिष्यो ने धनपाल को एक अवसर पर प्रत्यक्ष दिखाया कि गोरस मे, दो दिन के पश्चात् जीव उत्पन्न हो जाते है। साधुओ द्वारा यह प्रत्यक्ष दिखाये जाने पर कवि धनपाल महेन्द्राचार्य की सेवा मे उपस्थित हुआ और उनके उपदेश से प्रवुद्ध हो वह दृढ सम्यक्त्वी बना। सम्यक्त्व ग्रहण करने के पश्चात् धनपाल ने "तिलकमञ्जरी" नामक ग्रन्थ की रचना की। तिलक मजरी की रचना सम्पन्न हो जाने के पश्चात् धनपाल ने महेन्द्राचार्य से पूछा—"भगवन् अब इस तिलकमञ्जरी ग्रन्थ का शोधन कौन करेगा?"

आचार्य महेन्द्र ने कहा —"शान्तिसूरि तुम्हारी इस कृति का सशोधन करेगे।"[1]

धनपाल उज्जयिनी से प्रस्थित हो अणहिल्लपुर पाटन आया। वहा शान्तिसूरि और उनके शिष्यो के अद्भुत पाण्डित्य को देख कर बडा चमत्कृत हुआ। उसने शान्तिसूरि से प्रगाढ आग्रहपूर्ण अभ्यर्थना की कि वे उज्जयिनी पधारे। धनपाल की अनुरोधपूर्ण प्रार्थना स्वीकार कर शान्तिसूरि मालव की ओर प्रस्थित हुए। मालव प्रदेश मे उन्होने उनके साथ शास्त्रार्थ करने के लिये समय-समय पर आये हुए चौरासी प्रतिवादियो को वाद मे पराजित किया। धाराधीश ने शान्ति सूरि की अप्रतिम वाद प्रतिभा, वाग्मिता और प्रकाण्ड पाण्डित्य से प्रभावित हो अपनी राज सभा मे "वादिवैताल" की उपाधि से उन्हे अलकृत किया और गुजरात प्रदेश के अनेक स्थानो मे चैत्यो के निर्माण हेतु विपुल धनराशि की व्यवस्था की। कवि

---

[1] कथा च धन पालस्य, तैरशोध्यत विष्तुषम्। वादि वैताल विरुद सूरीणा प्रददे नृप ॥५६॥

—प्रभावक चरित्र

धनपाल द्वारा विरचित तिलकमजरी के सशोधन करने हेतु धारापति ने शान्तिसूरि से प्रार्थना की। इस पर शान्ति सूरि ने "तिलकमजरी कथा" का शोधन एव परिमार्जन किया। शान्तिसूरि द्वारा शोधित तिलकमजरी को देख कर राजा भोज अतीव प्रसन्न हुआ और उसने चैत्यो के निर्माण के लिये १२ लाख मुद्राए प्रदान की।

मालव प्रदेश मे जिनशासन की कीर्तिपताका फहराने के अनन्तर वादि-वैताल विरुदधारी शान्तिसूरि गुजरात प्रान्त मे लौटे और विहार क्रम से अनेक स्थानो मे धर्मोपदेश देते हुए पाटण नगर मे पधारे। आपके पाटण मे आगमन से पूर्व ही वहा के प्रमुख श्रेष्ठि जिनदेव के पुत्र पद्म को एक विषधर ने डस लिया था। सब प्रकार के उपचार किये गये, मान्त्रिको ने भी अपनी पूरी शक्ति लगा दी किन्तु पद्म पर विष का प्रभाव बढता ही गया। अन्ततोगत्वा सब उपायो के निष्फल हो जाने पर आत्मीयो ने श्मशान मे एक गड्ढा खोदकर पद्म के शरीर को उस खड्डे मे रख उस खड्डे को मिट्टी से पाट दिया और वे अपने घर लौट आये।

पाटण मे पहुचने पर शान्ति सूरि ने अपने शिष्यो से श्रेष्ठिपुत्र पद्म को साप के डसने और उसे भूमि मे गाड देने का वृत्तान्त सुना तो वे जिनदेव के घर गये और उससे कहा कि वह एक बार सर्प से डसे हुए पद्म को उन्हे दिखाये। अपने कौटुम्बिक जनो सहित जिनदेव, आचार्य श्री शान्तिसूरि के साथ श्मशान भूमि मे गये। वहा गड्ढे से निकालकर उन्होने पद्म का शरीर शान्तिसूरि को दिखाया। शान्तिसूरि ने अमृततत्व का स्मरण कर पद्म के शरीर का स्पर्श किया। शान्तिसरि के कर स्पर्श करने मात्र से सर्पविष विनष्ट हो गया और तत्काल पद्म ने उठकर शान्तिसूरि को वन्दन करते हुए पूछा —"भगवन्! आप, मैं और मेरे आत्मीयजन यहा श्मशान मे कैसे आये हैं ?"

जिनदेव के हर्ष का पारावार नही रहा। हर्षावरुद्ध कण्ठ से उसने अपने पुत्र को सक्षेप मे पूरा वृत्तान्त सुनाया। इस अद्भुत् चमत्कार से सभी आश्चर्याभिभूत और हर्ष विभोर हो उठे। यह परमाश्चर्यकारी सुखद सम्वाद विद्युत्वेग से तत्क्षण ही पाटण के घर-घर मे प्रसृत हो गया। इस अदृष्ट पूर्व चमत्कार को देखने के लिये पाटण के आबाल वृद्ध नर-नारियो के वृन्द घर-घर, गली-गली से तत्काल श्मशान की ओर उमड पडे। श्मशान के चारो ओर देखते ही देखते अति विशाल जन समुद्र लहराने लगा। शान्तिसूरि के जयघोषो से गगन मण्डल गुजरित हो उठा।

आचार्य श्री शान्तिसूरि का अनुसरण करते हुए श्रेष्ठि जिनदेव, श्रेष्ठि पुत्र पद्म और पाटण के नागरिको का विशाल जनसमूह महामहोत्सव के रूप मे नगर मे लौटा। स्थान-स्थान पर शान्तिसूरिजी का अभिनन्दन किया गया। इस घटना से समस्त गुजरात प्रान्त ही नही अपितु दिग्दिगन्त मे धर्म की बडी प्रभावना हुई।

कालान्तर मे नाडोलनगर से मुनिचन्द्र नामक आचार्य अणहिलपुर पाटण मे आये। उनकी असाधारण कुशाग्र बुद्धि से प्रसन्न हो शान्तिसूरि ने मुनिचन्द्र सूरि

को न्यायशास्त्र की शिक्षा प्रदान कर उन्हे बौद्ध परम्परा के प्रमाण शास्त्रो के दुर्भेद्य प्रमेयो को निरस्त करने मे प्रवीण बना दिया ।

उसी समय शान्तिसूरि ने उत्तराध्यन सूत्र की टीका की रचना की । सुविहित परम्परा के आचार्य मुनिचन्द्र सूरि ने शान्तिसूरि से न्याय शास्त्रो की शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अपने शिष्य देवसूरि को प्रमाण प्रमेय आदि की तलस्पर्शी शिक्षा दे उन्हे अजेय वादी बना दिया । कालान्तर मे इन्ही देवसूरि ने शान्तिसूरि द्वारा निर्मित उत्तराध्ययन की टीका से स्त्रीमुक्ति प्रकरण का अध्ययन कर अणहिलपुर पाटण के महाराज सिद्धराज की सभा मे दिगम्बराचार्य को वाद मे पराजित किया ।

इस प्रकार अनेक वर्षो तक जिनशासन की चहुमुखी अभिवृद्धि करने के अनन्तर अपनी आयु का अवसान समीप देख शान्तिसूरि ने वीरसरि, शीलभद्र सूरि और सर्वदेवसूरि इन तीन विद्वान मुनियो को अपने उत्तराधिकारी के रूप मे आचार्य पद प्रदान किया । तदनन्तर उन्होने साढ नामक श्रावक के साथ उज्जयन्त पर्वत की ओर प्रयाण किया । उज्जयन्त गिरि पर पहुच कर उन्होने सलेखनापूर्वक अनशन किया । पच्चीस दिन के अनशन के पश्चात् उन्होने विक्रम स० १०९६ मे कार्तिक शुक्ला नवमी के दिन स्वर्गारोहण किया ।[१]

'तपागच्छ पट्टावली' मे प्रभावक चरित्र के उपरिवर्णित उल्लेख से कुछ भिन्न प्रकार का उल्लेख उपलब्ध होता है । 'तपागच्छ पट्टावली' मे बताया गया है कि वि० स० १०९७ मे हुए धूलकोट के पतन के सम्बन्ध मे शान्तिसूरि ने कुछ दिन पूर्व ही भविष्यवाणी कर ७०० श्रीमाली परिवारो को मौत के मुख से निकाल लिया । तदनन्तर विक्रम स० ११११ मे कानोड मे उनका स्वर्गगमन हुआ ।

इस साधारण उल्लेख भेद के अतिरिक्त शान्तिसूरि के जीवन वृत्त के सम्बन्ध मे प्रभावक चरित्र और तपागच्छ पट्टावली मे जो विवरण प्रस्तुत किया गया है, उससे यही प्रकट होता है कि शान्तिसूरि विक्रम की ग्यारहवी शताब्दी के एक अप्रतिम प्रतिभाशाली, अजेय वादी, प्रकाण्ड पण्डित एव महान् प्रभावक आचार्य थे ।

---

[१] श्री विक्रमवत्सरतो वर्ष सहस्रे गते षण्णवतौ ।
शुचिसिति नवमीकुजकृत्तिकासु शान्तिप्रभोरभूदस्तम् ॥ १३० ॥

आचार्य ज्जरणन्दि (आर्यनन्दि)

विक्रम की ८वी-९वी शताब्दी मे अज्जरणन्दि नामक एक महान् जिनशासन प्रभावक आचार्य हुए हैं, जिन्होने तमिलभाषी प्रदेश मे लुप्तप्राय हुए जिनशासन को पुनरुज्जीवित किया। ईसा की सातवी शताब्दी मे तिरु ज्ञानसम्बन्धर, तिरु अप्पर आदि शैव सन्तो द्वारा दक्षिणापथ के मदुरई एव काची राज्यो मे शैव धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये प्रारम्भ की गई धार्मिक क्रान्ति अथवा धार्मिक विप्लव मे राज्याश्रय का पीठ-बल प्राप्त किये शैवो द्वारा जैनधर्मावलम्बियो पर जो लोमहर्षक-हृदयद्रावी अत्याचार किये गये, उनके परिणामस्वरूप जैन धर्म तमिलभाषी अनेक क्षेत्रो मे तो वस्तुत लुप्तप्राय हो गया था। इस धार्मिक विप्लव की प्रचण्ड लहर का कुप्रभाव पाण्ड्य एव पल्लव राज्यो के पडौसी चोल और चेर राज्यो पर भी पडा और इसका परिणाम यह हुआ कि उस विप्लव से पूर्व जो जैनधर्म उन प्रदेशो का बहुजनसम्मत धर्म था वह विप्लव के पश्चात् नाम मात्र के लिये वहा अवशिष्ट रह गया।

ज्ञानसम्बन्धर आदि अनेक शैव सन्तो द्वारा बनाये गये तेवारम् के पदो के माध्यम से चारो ओर जैनो एव बौद्धो के विरुद्ध धुआधार प्रचार किया गया। जैनो के विरोध मे बनाये गये उन पदो का नगर नगर, गाव-गाव और घर घर प्रचार किया गया। इस प्रकार के सामूहिक एव सुदूरव्यापी प्रयासो द्वारा जैन श्रमणो तथा जैनधर्मावलम्बियो के प्रति चारो ओर घृणा का प्रचार किया गया। ऐसा प्रतीत होता है कि लगभग अर्द्ध शताब्दी तक तो कतिपय कट्टरपथी क्षेत्रो मे किसी जैन श्रमण का पदार्पण तक दूभर हो गया था।

इस प्रकार की सकट की घडियो मे आचार्य अज्जरणन्दि ने बडे साहस के साथ उन क्षेत्रो मे जहा जिनेश्वर अथवा जैन का नाम तक लेने वाला नही रह गया था, वहा जैन धर्म की प्रतिष्ठा पुन स्थापित करने का बीडा उठाया।

अज्जरणन्दि ने तामिलनाड के उन प्रदेशो मे घूम घूम कर जैन धर्म का प्रचार-प्रसार करना प्रारम्भ किया। सदा से अहिंसा मे अटूट आस्था रखते हुए शाति की उपासना करते आ रहे जैनधर्मावलम्बियो को धर्मक्रान्ति के नाम पर उठी धर्मोन्माद की प्रचण्ड आधी के कटु अनुभवो से बडी निराशा हुई थी। वह निराशा लगभग अर्द्ध शतक तक जैनो के मन और मस्तिष्क पर घर किये रही। उस निराशा को अज्जरणन्दि ने अपने अन्तस्तल स्पर्शी उपदेशो से दूर कर जैनधर्मावलम्बियो मे नई आशा का सचार किया। जैनधर्मावलम्बियो के अन्तर्मन मे नव्य-नूतन आशा

की किरण का सचार करने के लिये घोरातिघोर कष्ट सहन कर भी अज्जणन्दि ने जो कार्य किये, उनके उन कार्यो की यशोगाथाएँ दक्षिण पथ की अनेक पर्वत-मालाओ की चट्टानो पर, अनेक गिरिगुहाओ मे आज भी पढी जा सकती है। विद्वान्, वाग्मी और प्रतिभाशाली आचार्य अज्जणन्दि ने तमिलनाडु के पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक सागरतट पर्यन्त के सभी क्षेत्रो मे घूम घूम कर जैनधर्म का प्रचार किया, अनेक पर्वतो की शिलाओ पर तीर्थंकरो और उनके यक्षो की शिलाचित्रो के रूप मे मूर्तिया उट्टकित करवाई।

ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होने (अज्जणन्दि ने) धर्म प्रचार का अपना यह अभियान उत्तरी आर्काट जिले से प्रारम्भ किया, जहा अप्पर और ज्ञान सम्बन्धर द्वारा धर्मयुद्ध के रूप मे प्रारम्भ किये गये शैव मत के अभियान के समय भी जैनधर्म का पर्याप्त वर्चस्व रहा था। उत्तरी आर्काट जिले के वल्लीमले नामक् पर्वत की चट्टानो पर जिनेश्वरो के चित्र उट्टकित करवाये।[1]

तदनन्तर अज्जणन्दि ने शैव मतावलम्बियो के सुदृढ गढ मदुरा मे जैनधर्म का प्रचार करना प्रारम्भ किया। उन्होने मदुरा जिले मे स्थित आनैमलै, ऐवरमलै, अलगरमलै, करूगालक्कुडी और उत्तमपालैयम पर्वतो की चट्टानो पर तीर्थंकरो और यक्षो आदि की मूर्तिया उट्टकित करवाई। मदुरा जिले के अनेक पर्वतो पर अज्जणन्दि द्वारा उट्ट कित करवाई हुई तीर्थंकरो की मूर्तियो को देखने पर ऐसा अनुमान किया जाता है कि अज्जणन्दि ने मदुरा जिले मे पर्याप्त समय तक रह कर जैनधर्म का प्रचार-प्रसार किया। तदनन्तर अज्जणन्दि दक्षिणापथ के गाव गाव मे लोगो को जैनधर्म के विश्वकल्याणकारी सारभूत सिद्धान्तो का उपदेश देते हुए तिन्नेवेली जिले मे पहुचे। वहा उन्होने ऐरूवाडी की प्राकृत गुफाओ मे इरात्तिपोट्टाइ नामक चट्टान पर तीर्थंकरो की मूर्तिया बनवाई।[2]

तिन्नेवेली जिले से आगे बढते हुए अज्जणन्दि ने गाव गाव मे लोगो को जैनधर्म के महान् सिद्धान्तो के प्रति आस्थावान् बनाया और दक्षिण दिशा मे आर्य-धरा के अन्तिम छोर त्रावनकोर राज्य मे प्रवेश किया। वहा अपने प्रभावकारी उपदेशो से अनेक लोगो को जिनमार्ग मे स्थिर कर जैनधर्म का प्रचार प्रसार किया। वे पर्याप्त समय तक त्रावणकोर राज्य मे जैनधर्म का प्रचार करते रहे। अनेक लोगो को जैनधर्मानुयायी बना कर अज्जणन्दि ने चित्राल के पास तिरुच्चाणत्तुमलै पर्वत माला पर चट्टानो को कटवा कर तीर्थंकरो, और तीर्थंकरो के यक्षो की मूर्तिया उट्ट कित करवाई। यहा उन्होने अपने गुरु की भी मूर्ति बनवाई। यहा पर की मूर्तियो के नीचे वत्तेलुत्तु वर्णमाला मे आर्यनन्दि का जो नाम लिखा हुआ है वह "अच्चणन्दि" पढा जाता है।

[1] जैन शिलालेख सग्रह भाग २, लेख स० १३४-१३५, पृष्ठ १५७-५८

[2] एन्युअल रिपोर्ट आन साउथ इण्डियन एपिग्राफी, १६१६, पृष्ठ ११२

अज्जरणन्दि ने शेट्टिपोडवु की गुफाओ और उस पर्वत की चोटी पर "पेच्छिपल्लम"—(बोलता हुआ बिल) नामक प्राचीन स्थान पर भगवान् पार्श्वनाथ और अन्य तीर्थंकरो की मूर्तिया उट्ट कित करवाई। यहा चट्टान को काट कर अज्जरणन्दि की माता 'गुरणमत्तियार' की भी मूर्ति बनी हुई है।

इन सब के अतिरिक्त विभिन्न क्षेत्रो के अनेक पहाडो पर अज्जरणन्दि ने तीर्थंकरो, उनके यक्षो आदि की मूर्तिया बनवाई।

मदुरा ताल्लुक के क्लिक्कुडी नामक ग्राम के पास पर्वत पर एक प्राचीन गुफा है। उस गुफा को दृष्टि पसार कर देखने मात्र से ही ऐसा प्रतीत होने लगता है कि वस्तुत वह गुफा बडे लम्बे समय तक जैन श्रमणो की विश्रामस्थली अथवा साधनास्थली रही है। इस गुफा का नाम है "शेट्टिपोडवु" जिसका हिन्दी रूपान्तर होता है—"प्रमुख व्यापारियो की खोह-गुहा अथवा गुफा।" इस गुफा मे यत्र-तत्र जैन सस्कृति के पुरातात्विक स्मारक यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होते है। इस गुफा का प्रवेशद्वार महराबदार बना हुआ है। इस गुफा मे तीन जैनाचार्यो की मूर्तिया चट्टानो को काट कर बनाई गई है। आचार्यो की इन तीन मूर्तियो के अतिरिक्त दो मूर्तिया भगवान् महावीर की यक्षिरणी सिद्धायिका देवी की प्रतीत होती है। सिद्धायिका देवी की इन मूर्तियो मे से एक मूर्ति युद्ध की देवी के रूप मे और दूसरी शान्ति की देवी के रूप मे उट्ट कित की गई है। सिद्धायिका यक्षिणी को जिस मूर्ति मे युद्ध की देवी का स्वरूप दिया गया है, वह स्वरूप बडा ही हृदयग्राही अथवा रुचिकर है। यह चतुर्भु जाओ वाली युद्ध की देवी सिह पर आरूढ है। उसके दक्षिरण हाथ मे प्रत्यचा चढा धनुष और वाम हस्त मे तीर है। शेष दो हाथो मे शस्त्र है। सिह ने एक हाथी पर आक्रमरण किया है जिस पर कि एक महिला एक हाथ मे कृपाण और दूसरे हाथ मे ढाल लिये बैठी है। शान्ति की देवी सिहासन पर बैठी है। उसके दक्षिरण हस्त मे फल है और उसका वाम हस्त सिहासन पर रखा हुआ है। इन मूर्तियो का निर्माण किसने करवाया, इस सम्बन्ध मे प्रमारणाभाव मे कुछ भी नही कहा जा सकता।

जैनाचार्यों की मूर्तियो के समीप युद्ध की देवी और शान्ति की देवी इन दोनो देवियो की मूर्तियो को उट्टकित करवाने का क्या उद्देश्य रहा होगा, इस सम्बन्ध मे सुनिश्चित रूप से कहना तो सम्भव नही। पर अनुमान किया जाता है कि जैन धर्मावलम्बियो मे सकटापन्न स्थिति मे आक्रान्ताओ एव अत्याचारियो से अपनी रक्षा के लिये युद्ध देवी स्वरूपा सिद्धायिका को और शान्ति-समृद्धिपूर्ण उत्कर्षकाल मे शान्ति की स्वरूपा सिद्धायिका देवी को अपना आदर्श मान कर बडे साहस एव धैर्य के साथ कर्त्तव्य का पालन करते रहने की प्रेरणा देना रहा हो।

उपरलिखित कोगर पुलियमगलम् ग्राम के नाम को देखते हुए ऐसा विचार आता है कि इस ग्राम का वास्तविक नाम कोगर आपुलियमगलम् तो नही रहा है।

आपुलिय और गोप्य ये दोनो शब्द यापनीय शब्द के ही पर्यायवाची शब्द है। आपुलियो अर्थात् यापनीय सघ के अनुयायियो का किसी समय मे यह ग्राम अथवा गिरि गुहा, केन्द्रस्थल, साधनास्थल अथवा कार्य क्षेत्र रहा हो। इस सम्बन्ध मे तमिल भाषा के विशेषज्ञ जैन विद्वान् यदि शोधपूर्ण प्रकाश डाले तो ऐतिहासिक दृष्टि से उनका वह प्रयास प्रशसनीय होगा। पेरियाकुलम् ताल्लुक मे अवस्थित 'उत्तमपालैयम्' मे जो जैन मूर्तिया उट्टकित है, उनके नीचे अज्जणन्दि के नाम के साथ-साथ आचार्य अरिट्ठनेमि—पेरियार और उनके गुरु अष्टोपवासीगल के नाम भी खुदे हुए हैं। कदम्बहल्लि से प्राप्त शक स १०४० के एक स्तम्भलेख मे यापनीय परम्परा के प्राचीन सूरस्थगण के ६ प्राचीन आचार्यो की जो पट्टावली उपलब्ध हुई है, उसमे आचार्य अष्टोपवासी को सूरस्थगण का पाचवा आचार्य बताया गया है।[1] इससे यह विचार उत्पन्न होता है कि अज्जणन्दि के साथ जिन आचार्य अष्टोपवासिगल का नाम उपरिवर्णित मूर्तियो के नीचे उट्टकित है, वे आचार्य कही यापनीय परम्परा के आचार्य तो न हो। इस दृष्टि से भी कोगर पुलियमगलम् नामक इस ग्राम के सम्बन्ध मे शोध की आवश्यकता है कि कही इस गाव का नामकरण आपुलिय सघ अर्थात् यापनीय सघ से तो सम्बन्धित नही है। अस्तु।

तिरुमगलम् ताल्लुक के इस कोगर पुलियमगलम् नामक ग्राम के पास के पर्वत पर जो चट्टानो को काट काट कर मुनियो के लिये शिला पलग बनाये गये है, इसी पहाड के ढाल पर अज्जणन्दि की सिद्धासनस्थ एक बहुत सुन्दर मूर्ति चट्टान को काट कर बनाई गई है। इस मूर्ति के चारो ओर चट्टान को छाजे के आकार मे ऐसे कौशल से तराशा गया है, जिससे कि वर्षा के पानी से मूर्ति की पूर्ण रूप से रक्षा हो सके। इस मूर्ति के नीचे "श्रीअज्जणन्दि" उट्ट कित है। ऐसा प्रतीत होता है कि अज्जणन्दि के किन्ही शिष्यो ने अथवा उपासको ने अज्जणन्दि के स्वर्गस्थ होने पर इसका निर्माण करवाया हो।

अज्जणन्दि ने बहुत बडी सख्या मे दक्षिणापथ के अनेक पर्वतो के शिलाखण्डो को कटवा कटवा कर जैनमूर्तियो का निर्माण करवाया किन्तु न तो स्वय और न उनके शिष्यो ने ही उनका कोई परिचय उट्ट कित करवाया। सभी मूर्तियो के नीचे केवल अज्जणन्दि का नाम ही उट्ट कित है। इससे अनुमान किया जाता है कि अज्जणन्दि अपने समय के सर्वाधिक प्रसिद्ध लोकप्रिय आचार्य थे, इसी कारण उनके नाम के अतिरिक्त उनका कोई परिचय उनकी ऐतिहासिक कृतियो के नीचे उट्ट कित नही करवाया गया।

इस प्रकार की स्थिति मे आचार्य अज्जणन्दि के सत्ताकाल, उनकी गुरु-परम्परा, उनके जन्मस्थान आदि के सम्बन्ध मे कुछ भी नही कहा जा सकता। उनके द्वारा उट्ट कित करवाई गई जैन प्रतिमाओ की उट्टकन शैली वट्टेलुतु वर्णमाला

[1] प्रस्तुत ग्रथ (जैन धर्म का मौलिक इतिहास—भाग ३) का पृष्ठ २४२

के मोड आदि के आधार पर पुरातत्वविदो ने उनका (अज्जणन्दि का) समय ईसा की ८ वी ६वी शताब्दी का अनुमानित किया है।

अनेक प्रकार के कष्टो, विघ्न-बाधाओ को समभाव से सहन कर नितान्त प्रतिकूल परिस्थितियो मे कट्टरतम शैवधर्मावलम्बियो के सुदृढ गढो, केद्रस्थलो मे घूम घूम कर आचार्य अज्जणन्दि ने तमिलनाडू के निराश जैनो मे आशा का सचार कर जिस साहस के साथ वहा जैनधर्म का पुनरुद्धार किया, उनकी इन अमूल्य जिनशासन सेवा के लिये जैन इतिहास मे उनका नाम सदा सदा प्रगाढ श्रद्धा के साथ स्मरण किया जाएगा।

दक्षिण के जैन इतिहास के विशेषज्ञ एव लब्धप्रतिष्ठ पुरातत्ववेत्ता स्वर्गीय श्री पी बी देसाई ने अज्जणन्दि के सम्बन्ध मे लिखा है —

"All these facts are profoundly significant and they help us to judge the place of Ajjanandi in the history of Jainism in the Tamil country During the later part of the 7th century and after, a very grave situation arose in the Tamil Country against the followers of the jain doctrine The tide of revival in favour of the Saivite and Vaishnavite faiths began to shake the very foundations of Jainism Saint Appar in the Kanchi area and Sambandhar in the Madura region, launched their crusades against supporters of the Jain religion Consequently, Jainism lost much of its prestige and influence in the society It was in this critical situation that Ajjanandi appears to have stepped on the scene He must have been a remarkable personality endowed not only with profound learning and dialectical skill, but also with practical insight and organising capacity Inspired by the noble ideals of his faith and sustained by indomitable energy, he, it seems, travelled from one end of the Country to the other, preaching the holy gospel, erecting the images and shrines in honour of the deities and popularising once again the principles and practices of Jainism "[१]

वस्तुत यह एक बडी दुर्भाग्यपूर्ण बात है कि जैन धर्मावलम्बियो पर आये हुए इस प्रकार के घोर सकट के समय जिस महापुरुष ने तमिलनाडु के हताश-निराश जैनो मे नवजीवन का, नई चेतना का सचार किया उस महापुरुष के जीवन परिचय को समाज सजोकर नही रख सका। इस प्रकार की स्थिति मे ऐसी आशका का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है कि अज्जनन्दि, वर्तमान काल मे जितनी परम्पराए प्रचलित हैं, उन परम्पराओ से भिन्न ही किसी यापनीय परम्परा जैसी विलुप्त परम्परा के आचार्य रहे होगे। अन्यथा उन महापुरुष (अज्जणदि) का जीवन परिचय अवश्यमेव सुरक्षित रखा जाता।

विद्वद्वृन्द से अज्जणदि के जीवन परिचय के सम्बन्ध मे गहन शोध की अपेक्षा है।

□□

१ Jainism in South India and Some Jaina Epigraphs, by-P B Desai P ६३-६४

ाचार्य विद्यानन्दि (ग्रन्थकार)

वीर निर्वाण की चौदहवी शताब्दी मे गगवशीय महाराजा शिवमार (ई० सन् ८०४ से ८१५) और उसके भ्रातृज राछमल्ल-सत्यवाक्य (८६६–८९३) के शासनकाल मे किसी समय आचार्य विद्यानन्दि नामक एक महान् ग्रथकार हुए है। इन्होने निम्नलिखित ग्रन्थो की रचना कर जैनसाहित्य की समृद्धि मे अभि-वृद्धि की —

(१) तत्वार्थश्लोकवार्तिक। यह तत्वार्थ सूत्र की विशाल टीका है। इस दार्शनिक ग्रन्थ मे आचार्य विद्यानन्दि ने वेदान्त के प्रकाण्ड विद्वान् कुमारिल्ल भट्ट और बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति द्वारा जैनदर्शन के खण्डन मे प्रस्तुत की गई युक्तियो को बडे ही सबल तर्को से निरस्त किया है।

(२) अष्टसहस्री

(३) युक्त्यनुशासनालकार

(४) आप्तपरीक्षा

(५) प्रमाण परीक्षा

(६) पत्र परीक्षा

(७) सत्यशासन परीक्षा

(८) श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र और

(९) विद्यानन्द महोदय (अनुपलब्ध)।

ये किस परम्परा के और किसके शिष्य थे—इस सम्बन्ध मे कही कोई उल्लेख उपलब्ध नही होता किन्तु इनकी विद्वत्ता पूर्ण कृतियो से इनके प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचय मिलता है। वे महान् दार्शनिक, जैन दर्शन के साथ-साथ अन्य दर्शनो के भी पारगामी विद्वान्, महान् कवि, महान् व्याख्याता और भक्तिरस से ओतप्रोत एव तरगित मानस के धनी महान् स्तुतिकार भी थे।

वीर नि० सं० १४०० से १४७१ की वधि में भ० महावीर के ४५ वे से ४७ वे पट्टधर ौर ३६ वें युगप्रधान के समय की राजनैतिक परिस्थिति

उपरिलिखित अवधि के प्रारम्भकाल मे महान् शक्तिशाली राष्ट्रकूटवशीय राजा अमोघ वर्ष के शासनकाल का ५९वा वर्ष था। जैसा कि पहले बताया जा चुका है वीर नि० स० १४०२ मे अमोघवर्ष ने अपने विशाल साम्राज्य का स्वेच्छापूर्वक परित्याग कर कृष्ण द्वितीय का राज्याभिषेक किया और अपना शेष जीवन जैन श्रमणो की सेवा मे रहते हुए आत्मसाधना मे व्यतीत किया। इतिहास के यशस्वी विशिष्ट विद्वान् डा० के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री ने अमोघवर्ष का शासन-काल ई० सन् ८१४ से ८८० तक अनुमानित किया है।[1]

अमोघवर्ष के पश्चात् कृष्ण द्वितीय का राष्ट्रकूट राज्य पर ई० सन् ८७५ से ९१२ तक शासन रहा। इसका पूर्वी चालुक्यो के साथ अनेक वर्षों तक सघर्ष चलता रहा।

यह राजा बडा ही उदार और जिनशासन-प्रभावक था। बन्दलिके वसति के प्रवेश द्वार के पाषाण पर उट्ट कित शिलालेख मे इसकी उदारता का ज्वलत उदाहरण आज भी विद्यमान है। उस अभिलेख मे उल्लेख है कि नागरखड सत्तर के अपने सामन्त नालगुण्ड सत्तरस नागार्जुन की मृत्यु हो जाने पर (सभवत उसके कोई सन्तति न होने पर भी) अपने स्व० सामन्त की पत्नी जक्कियब्बे को आवुत-वूर और नागरखण्ड सत्तर का राज्य प्रदान किया। उस महिलारत्न जक्कियब्बे ने भी अनेक वर्षों तक सुचारू रूप से शासन सचालन कर अपनी अद्भुत प्रशासनिक योग्यता का प्रदर्शन किया। अन्त मे जक्कियब्बे ने सलेखना-सथारा स्वीकार कर जिनेश्वर भगवान् के स्मरण मे लौ लगाये हुए पडितमरण पूर्वक अपने जीवन को सफल किया।[2]

कृष्ण द्वितीय के पश्चात् ई० सन् ९१२ से ९४५ (डा० के० ए० नीलकण्ठ शास्त्री के अनुमानानुसार ई० सन् ९३५) की अवधि के बीच गोविन्द चतुर्थ, इन्द्र, गोविन्द-सुवर्ण-वर्ष वल्लभ, कृष्ण, अमोघवर्ष और खोट्टिग इन ६ राष्ट्रकूटवशीय राजाओ का राज्य रहा। इन ६ राजाओ मे से प्राय सभी का अति स्वल्पावधि तक ही राज्य रहा।

---

[1] दक्षिण भारत का इतिहास, पृ० २३५

[2] जैन शिलालेख सग्रह, भाग २, लेख सख्या १४०, पृष्ठ १६२ से १६४

ईसा की ९वी शताब्दी का उत्तरार्द्ध दक्षिण मे पल्लवो और पाड्यो के बीच सघर्ष का युग रहा। ई सन् ८८० मे श्रीमाड श्रीवल्लभ के उत्तराधिकारी पाड्यराजा वरगुणवर्मन् (द्वितीय) और पल्लवराज नृपतु गवर्मन के पुत्र अपराजित के बीच कुम्बकोनम के समीप पुडमवियम मे भयकर युद्ध हुआ। चोल राजा आदित्य प्रथम और गगराजा पृथ्वीपति प्रथम भी इस युद्ध मे अपनी सेनाओ के साथ पल्लवराज अपराजित के पक्षधर बनकर सम्मिलित हुए। इस युद्ध मे यद्यपि गग राजा पृथ्वीपति प्रथम रणागण मे लडता-लडता मृत्यु को प्राप्त हुआ किन्तु पाण्ड्यराज वरगुणवर्मन बुरी तरह पराजित हुआ। अन्ततोगत्वा चोलराज आदित्य प्रथम ने पल्लव राज्य पर भी आक्रमण कर दिया और तोडइमण्डम के युद्ध मे पल्लवराज अपराजित को पराजित कर दिया। आदित्य छलाग मार कर अपराजित के हाथी पर चढ गया और एक ही भरपूर प्रहार से उसका प्राणान्त कर दिया। इस युद्ध मे विजय से प्राय पूरा का पूरा पल्लव राज्य चोल राज्य के अन्तर्गत आ गया। आदित्य ने कौंगू देश पर भी अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया और इस प्रकार पुन एक शक्तिशाली चोल राज्य का गठन करने मे आदित्य सफल हुआ।

ई० सन् ९०७ मे आदित्य के पश्चात् उसका पुत्र परातक चोल राज्य के सिंहासन पर बैठा। आदित्य के एक पुत्र का नाम कन्नरदेव था, जो राष्ट्रकूटवशीय राजा कृष्ण (द्वितीय) का दौहित्र था। अपने दौहित्र को चोल राजसिंहासन से वचित रखे जाने से क्रुद्ध होकर कृष्ण ने बाणो और वैदुम्ब शासको की सहायता से चोल राज्य पर आक्रमण कर दिया। उस युद्ध मे परान्तक की विजय हुई किन्तु अन्ततोगत्वा इन तीन राजशक्तियो के साथ परान्तक की शत्रुता वस्तुत परान्तक के लिये घातक सिद्ध हुई। जैसा कि आगे बताया जायगा इस शत्रुता के परिणामस्वरूप राष्ट्रकूटो ने चोलराज्य पर आक्रमण किया और उस युद्ध मे गगराज बतुग ने परान्तक के बडे पुत्र राजादित्य को युद्ध मे मार डाला।

गुजरात मे एक नवीन सोलंकी राज्यशक्ति का उदय

विक्रम की दसवी शताब्दी के अन्तिम समय मे लगभग विक्रम स० ९९८ (ई० सन् ९४१-४२, वीर नि० स० १४६८) मे एक नवीन सोलकी (चालुक्य) राजशक्ति का उदय हुआ जिसने लगभग ३०० वर्षो तक गुजरात पर और समय समय पर अनेक बार गुजरात के सीमावर्ती विशाल भू-भाग पर भी शासन किया। लगभग ३०० वर्ष के इस राजवश के शासनकाल मे गुजरात प्रदेश की आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक, साहित्यिक और सास्कृतिक सभी दृष्टियो से सर्वतोमुखी उल्लेखनीय प्रगति हुई। उस सोलकी राजवश का आदि पुरुष और सोलकी राज्य शक्ति का सस्थापक मूलराज सोलकी था। मूलराज सोलकी के सम्बन्ध मे जो प्रामाणिक एव ऐतिहासिक आदि सभी दृष्टियो से विश्वसनीय विवरण उपलब्ध होते हैं, उनका साराश इस प्रकार है—

ईसा की १० वी शताब्दी के चार चरणो मे से प्रथम चरण मे जिस समय चापोत्कट राजवश के सस्थापक वनराज चावडा के नृपवश का अन्तिम राजा सामन्तसिह अणहिलपुरपट्टन के राजसिंहासन पर आसीन था, उस समय राजी, बीज और दडक नामक तीन क्षत्रिय किशोर अपने निवासस्थल से सोमनाथ की यात्रा के लिये प्रस्थित हुए। सोमनाथ की यात्रा के पश्चात् अपने निवासस्थल (जन्मस्थान) की ओर लौटते समय वे अणहिलपुरपट्टन मे रुके। जब उन्होने सुना कि एक त्यौहार के उपलक्ष मे राजकीय ठाट-बाट के साथ अश्वारोहण कला का प्रदर्शन हो रहा है और उसे देखने के लिये जनसमूह प्रदर्शन-स्थल की ओर उमड रहा है, तो वे तीनो भाई भी गुजरात की अश्वारोहण कला को देखने के लिये मेले मे पहुचे। घुडदौड, सरपट दौडते हुए घोडे की पीठ पर बैठे हुए अश्वारोहियो द्वारा भाले से लक्ष्यवेध आदि अनेक प्रकार के चमत्कारपूर्ण प्रदर्शनो के पश्चात् स्वय राजा सामन्तसिंह एक जात्यश्व पर आरूढ हो अपनी अश्वारोहण कला का चमत्कार प्रदर्शित करने आगे आया। जघाओ के इगितमात्र से अपना कौशल बताने वाले उस उत्कृष्ट जाति के घोडे पर जब राजा चाबुक का प्रहार करने के लिये उद्यत हुआ तो क्षत्रिय किशोर राजी बडे उच्च स्वर मे "ऐसे नही, ऐसे नही" कहता हुआ राजा की ओर बडे वेग से बढा।

एक सौम्य-सुकुमार साहसी युवक को अपनी ओर द्रुत वेग से आता हुआ देख राजा रुका। युवक के पास आने पर उसने उससे बात की और उसके परामर्शानुसार सामन्तसिंह ने अश्वसचालन किया। राजा और दर्शको के आश्चर्य का पारावार न रहा कि उस जात्यश्व ने इगितमात्र पर अनेक प्रकार के अद्भुत करिश्मे बताये।

तदनन्तर सामन्तसिंह ने वही अपना अश्व उस नवागन्तुक युवक को सम्हलाते हुये अश्वारोहण की कला प्रदर्शन करने का उससे आग्रह किया। राजाज्ञा को शिरोधार्य कर राजी उस उच्च जाति के अश्व की पीठ पर आरूढ हुआ और उसने अपनी अद्भुत अश्वारोहण कला का प्रदर्शन प्रारम्भ किया। घोडा भी समझ गया कि उसके योग्य आरोही अब आया है।

श्रेष्ठ जाति के अश्व और अश्वविद्या-निष्णात अश्वारोही राजी के सुयोग ने[1] कुछ ही क्षणो मे "सोने मे सुगन्ध"–इस सुकोमल सुदर कल्पना जगत की मृदु-मजुल-सुमधुर अननुभूत लोकोक्ति को अक्षरश चरितार्थ कर बताया। अश्व अपने आरोही के इगिताकारानुरूप और आरोही अपने अश्व के मनोनुकूल अश्वकला-अश्वारोहण कला का प्रदर्शन करने लगे। अदृष्टपूर्व अद्भुत अश्वारोहण, अश्वसचालन और अश्व द्वारा अपने आरोही के मन को लुभा देने वाली कमनीय कलाओ को देखकर राजा

[1] अश्वाश्ववारयो सदृश योगमालोक्य मूलराजप्रबन्ध, प्रबन्धचिन्तामणि।

राजपरिवार और प्रजा—सभी दर्शक वर्ग झूम उठे। साधु, साधु ! अद्भुत ! अतीव सुन्दर ! सारू छे ! सारू छे ! के गगन भेदी घोषो से दिग्दिगत प्रकम्पित एव प्रतिध्वनित हो उठे। सबके मनकुसुम पूर्णत प्रफुल्लित हो उठे।

समारोह की समाप्ति पर सामन्तसिंह ने क्षत्रियकिशोर राजी को अपने बाहुपाश मे आबद्ध कर लिया। वह राजी और उसके दोनो भाइयो को अपने साथ राजमहलो मे ले गया और अपने पास ही रखने लगा। अब तो राजी राजदुलारा और प्रजाजनो की आखो का तारा बन गया।

राजी के आजानुभुजदण्ड, शैलशिलानिभ विशाल वक्षस्थल, मौक्तिको जैसी चमक से ओतप्रोत मनोहारि आयत लोचन युगल समुन्नत सुविशाल भाल और सिंहशावक जैसी शौर्यपूर्ण चालढाल आदि क्षत्रियोचित गुणो से राजा एव राज-परिवार को एव राज-मन्त्रियो आदि को विश्वास हो गया कि यह उच्च कुलीन भुयडराजवशीय मु जाल देव का राजकुमार है तो सामन्तसिंह की सहोदरा राज-कुमारी लीलादेवी के साथ उसका विवाह कर दिया गया। राज-जामाता राजी सुखपूर्वक अणहिल्लपुर पाटण के राजप्रासादो मे रहने लगा। समय पर लीलादेवी गर्भवती हुई। राजपरिवार मे हर्ष की लहर सी दौड गई। प्रसवकाल आने पर प्रसव से पूर्व ही लीलादेवी का सहसा देहावसान हो गया। निष्प्राणा गर्भवती लीला देवी के उदर को तत्काल चीर कर गर्भस्थ शिशु को जीवितावस्था मे ही निकाल लिया गया। उदीयमान अरुण वरुण के समान बालक को देख कर शोकसागर मे निमग्न राजपरिवार को एक आशासम्बल मिला।

बालक का जन्म मूला नक्षत्र मे हुआ था, इसलिये उसका नाम मूलराज रखा गया। मूला नक्षत्र मे उत्पन्न बालक मूलराज के सम्बन्ध मे ज्योतिर्विदो ने बताया—

मूलार्क श्रूयते शास्त्रे सर्वकल्याणकारक ।
अधुना मूलराजेन, योगश्चित्र प्रशस्यते ।।

चापोत्कट राजा सामन्तसिंह ने अपने भागिनेय शिशु मूलराज का बडे दुलार से पुत्र की भाति लालन-पालन किया और शिक्षा योग्य वय मे उसे राजकुमारोचित सभी विद्याओ की सुयोग्य विद्याविशारदो से शिक्षा दिलवाई। किशोर वय मे प्रवेश करते ही साहसपु ज मूलराज अपने मामा सामन्तसिंह की राजकार्यों मे सहायता करने लगा। युवा वय मे प्रवेश करते-करते तो मूलराज ने अनेक साहसिक कार्य कर अणहिल्लपुरपट्टण राज्य की सीमाओ का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया और उसके अद्भुत पराक्रम की ख्याति चारो ओर फैल गई।

सामन्तसिह सुरापान के व्यसन मे आकण्ठ डूबा हुआ था। अपने भागिनेय मूलराज द्वारा उस अल्प वय मे ही की जाने वाली अपने राज्य की अभिवृद्धि के शौर्यपूर्ण साहसिक कार्यो से सामन्तसिह फूला न समाता। सुरा के नशे मे वह मूलराज को अपने राजसिंहासन पर बिठाता और कहता—"वत्स ! आज से इस राज्य का तू ही स्वामी है। मैने यह सम्पूर्ण राज्य तुझे दे दिया है।"

जब सुरा का नशा ढलने लगता तो सामन्तसिंह अपने भागिनेय मूल राज को हाथ पकड कर राजसिहासन से उतार देता और अपने अनुचरो आदि के समक्ष उसका तिरस्कार करता हुआ कहता—"हठ जा यहा से, आया है राजा बनने वाला। मेरी कृपा पर पला छोकरा राजसिंहासन पर बैठा है।"

सामन्तसिंह का यह प्राय प्रतिदिन का कार्य था। नशा होते ही वह मूलराज को सिंहासन पर बैठा देता। उसे हाथ जोड कर राजाधिराज के सम्बोधन से सम्बोधित करता हुआ पूर्ण सम्मान प्रकट करता। अपने परिजनो, राज्याधिकारियो और मन्त्रियो तक को कहता—"यह नरशार्दूल मेरा भागिनेय तुम्हारा, मेरा और हम सबका राजराजेश्वर है, इसकी प्रत्येक आज्ञा का तत्काल पालन करो।"

मद्य के नशे का प्रभाव कम होते ही सामन्तसिंह सबके समक्ष उसका तिरस्कार करता। सामन्तसिंह के इस प्रकार के दान और अपमान की बात दूर-दूर तक फैल गई। जन-जन के मुख से सदा सब ओर यही सुनने को मिलता "नशा मा राजदान, सादा मा धक्का।"

इस प्रकार के अपमानजनक प्रसगो से बचे रहने का स्वाभिमानी मूलराज अनेक बार प्रयत्न करता किन्तु मद्यपान से उन्मत्त बना सामन्तसिह उसके पैरो पड जाता, स्नेह प्रदर्शित करता और शपथें तक ग्रहण करता कि अब एक बार राजसिहासन पर उसे आसीन कर सदा उसे अपना राजा ही मानता रहेगा, भविष्य मे कभी उसका तिरस्कार नही करेगा। परन्तु सब शपथे, सब प्रतिज्ञाए क्षण भर मे ही कपूर की तरह उड जाती। वस्तुत सामन्तसिंह के शरीर का अणु-अणु, रोम-रोम सदसद्—विवेकविनाशिनी सुरा के प्रगाढ रग मे पूर्णरूपेण रग गया था। वह सुरा का ऐसा अनन्य दास बन गया था कि सुरापान करते ही वह अपनी सब शपथें, सभी प्रतिज्ञाए भूल जाता था। मद्यपान करते ही उस मद्यपी सामन्तसिंह के तन मन पर छाई हुई सुरा स्वचालित यन्त्र के समान अपने उसी प्रतिरात्रि के क्रम को दुहराना प्रारम्भ कर देती। सुरा के चढते हुए नशे की स्थिति मे सर्वप्रथम तो सामन्तसिंह रूठे हुए अपने भागिनेय मूलराज को मनाता। अनुनय—विनय करता, शपथो की झडी लगा देता, उसके चरणो पर अपना मस्तक तक रख देता और अपने परिचारक, स्वजन, परिजन, प्रधानामात्य अमात्यो के समक्ष बडे ठाट से मूल राज को सब राजचिह्नो से अलकृत कर अपने राजसिंहासन पर

बिठा देता, उसका राज्याभिषेक करता, राज्याभिपेक के पश्चात् राज्याभिपेक महोत्सव के उपलक्ष मे १०८ तोपे दागने का आदेश देता। जब तक सुरा का उन्माद उसके मन मस्तिष्क पर छाया रहता, तब तक हाथ जोड कर परम आज्ञाकारी अनुचर की भाति मूलराज के समक्ष खडा रहता। ज्योही मद्य का मद ढलने लगता मद्यपात्र मे और मद्य उन्डेल कर उसे पानी की तरह पी जाता। मध्यरात्रि मे, किसी नाटक के पटाक्षेप की भाति उसके मस्तिष्क पर दूसरी धुन सवार होती। लाल-लाल आखे तरेर कर वह मूल राज को घूरता, डाट पर डाट और फटकार पर फटकार की वर्षा करता एव उसे हाथ पकड कर सिंहासन से उतार, उस विशाल समारोह कक्ष से बाहर कर देता और अति कर्कश स्वर मे समारोह का विसर्जन कर सुरापान से निश्चेष्ट निस्सज्ञ हो, कही भी लुढक जाता।

यह सामन्तसिंह का प्रतिरात्रि का सुनिश्चित एव नियत कार्यक्रम था। मूलराज के किसी विजय अभियान से लौटने पर तो इस प्रकार के समारोह की शोभा वस्तुत पराकाष्ठा पर पहुच जाती थी। इधर मूलराज मन ही मन प्रपीडित था, प्रतिरात्रि मे अपने मातुल द्वारा किये जा रहे इस प्रकार के हास्यास्पद एव अपमानजनक व्यवहार से। उधर मन्त्रीगण, सेनानी, सैनिक और प्रजाजन सभी मूलराज के शौर्यशाली साहसिक विजय अभियानो से पूर्णरूपेण प्रभावित थे।

इसका एक बहुत बडा कारण था। दो तीन पीढी से चापोत्कट राजवश के राजसिहासन पर आसीन होते आये राजाओ ने सुरापान के वशीभूत हो पाटण के प्रभुत्व को उत्तरोत्तर क्षीण करना प्रारम्भ कर दिया था। उन्होने अपने महा-प्रतापी पूर्वज वनराज चावडा द्वारा सस्थापित विशाल गुर्जरात्र राज्य की चारो दिशाओ मे दूर-दूर तक प्रसृत सीमाओ को अपनी सुरा-सुन्दरी मे निरत रहने की प्रवृत्तियो के कारण क्रमश. सकुचित, सीमित करते करते प्रतापी चावडा साम्राज्य को एक साधारण राजशक्ति की स्थिति मे ला रख दिया था। इन उत्तरवर्त्ती चापोत्कट राजाओ की विलासप्रियता एव अकर्मण्यता के परिणामस्वरूप पाटण के प्रभुत्व को एव पाटण राज्य की प्रतिष्ठा को भी बडा धक्का लगा था।

जब से मूलराज ने यौवन के द्वार की दहली पर अपना प्रथम चरण रखा तभी से साहसिक सैनिक अभियान प्रारम्भ कर पडौसी राज्यो द्वारा अनधिकृतरूपेण आत्मसात् किये गये क्षेत्रो पर पुन पाटण का प्रभुत्व स्थापित करना प्रारम्भ कर दिया। मूलराज द्वारा किये गये शौर्यपूर्ण सफल विजय अभियानो के फलस्वरूप पाटण राज्य की सीमाओ के साथ साथ पाटण राज्य की प्रतिष्ठा मे भी आशातीत अभिवृद्धि होने लगी। यही कारण था कि मूल राज स्वल्पकाल मे ही बडा लोकप्रिय हो गया। उसके प्रति जन-जन की श्रद्धा ने जनमानस मे गहरा घर कर लिया। प्रजाजनो के प्रीति एव श्रद्धापात्र मूलराज के प्रति सामन्तसिंह के इस प्रकार के अशोभनीय व्यवहार से सभी लोग अप्रसन्न थे। प्रजाजनो मे सामन्तसिंह द्वारा

प्रतिदिन मूलराज के प्रति किये जा रहे इस प्रकार के अद्भुत् मानापमान का बडा उपहास किया जाता था।[1]

अन्ततोगत्वा मूलराज के श्रद्धालु शुभचिन्तको ने और मूलराज ने इस प्रकार की हास्यास्पद एव अपमानजनक स्थिति का सदा के लिये अन्त करने का अति निगूढ निश्चय किया।

सदा की भाति सुरापान से उन्मत्त अणहिल्लपुरपट्टनाधिपति सामन्तसिंह ने आषाढशुक्ला पूर्णिमा की दुग्धधवला शुभ्र रात्रि मे मूलराज को अपने सिंहासन पर बडे समारोह के साथ अभिषिक्त किया। उसने स्वय "अणहिल्लपुरपट्टनाधिपति मूलराज की जय हो" के जयघोष किये। कुछ समय तक वह दोनो हाथ जोडे मूलराज के समक्ष एक आज्ञाकारी सामन्त के समान खडा रहा। इस प्रकार सामन्तसिंह ने उन्मत्तावस्था मे अपनी "राजदान" की प्रथम धुन तो पूर्ण कर दी। परन्तु अर्द्धरात्रि मे जब सदा की भाति मूलराज का उपहास करने की धुन उसके शिर पर सवार हुई और मूलराज को राजसिहासन से धक्का दे कर उतारने के लिये ज्यो ही वह आगे बढा कि मूलराज के प्रति स्वामिभक्ति की शपथ लिये हुए सेनानियो एव सेवको ने उस विशाल कक्ष मे प्रवेश कर सामन्तसिह को बन्दी बना लिया। पूर्वनियोजित कार्यक्रमानुसार मन्त्रियो, सेनानियो एव गण्य मान्य नागरिको ने मूलराज का विधिवत् रात्रि के द्वितीय प्रहर की अवसान वेला मे अणहिल्लपुर पट्टन के राजसिंहासन पर अभिषेक किया। इस प्रकार वनराज चावडा द्वारा वि० स० ८०२ मे सस्थापित चापोत्कट राजवश के अणहिलपुरपट्टन के राज्य पर वि०स० ६६८ मे सोलकी मूलराज का अधिकार हो गया। यह मूलराज सोलकी (चालुक्य) राजवश का सस्थापक हुआ। मूलराज द्वारा अनहिलपुरपत्तन के चापोत्कट राज्य पर अधिकार किये जाने के सम्बन्ध मे विधि पक्ष (अचलगच्छ) के इतिहासविद् विद्वान् आचार्य मेरुतुग ने अपने ऐतिहासिक महत्व के ग्रन्थ प्रबन्धचिन्तामणि मे जो विवरण दिया है, वह इस प्रकार है —

"स इत्थमनुदिन विडम्ब्यमानो निजपरिकर सज्जीकृत्य विकलेन मातुलेन स्थापितो राज्ये त निहत्य सत्य एव भूपतिर्बभूव। स० ६६८ वर्षे श्री मूलराजस्य राज्याभिषेको निष्पन्न।"[2]

मूल पाठ की एक ("एम" सज्ञा वाली) प्रति मे एतद्विषयक उल्लेख निम्नलिखित रूप मे है —

---

[1] बालार्क इव तेजोमयत्वात्सर्ववल्लभतया पराक्रमेण मातुलमहिपाल प्रवर्द्धमान—साम्राज्य कुर्वन मदमत्तेन श्री सामतसिंहेन साम्राज्येऽभिपिच्यते त्वमत्तोनोत्थाप्यते च तदादि चापोत्कटाना दानमुपहासप्रसिद्ध। —प्रवध चितामणि, पृष्ठ २३

[2] प्रबन्ध चितामणि, पृ० २४

"स० ९९३ वर्षे आषाढसुदि १५ गुरौ, अश्विनी नक्षत्रे सिंहलग्ने रात्रिप्रहर-द्वयसमये जन्मत एकविंशतितमे वर्षे श्रीमूलराजस्याभिषेक समजनि।"[1]

"मूलराज ने अपने मामा सामन्तसिंह को मार कर अणहिलपुरपत्तन के राज्य पर अधिकार किया।" इस प्रकार का उल्लेख केवल आचार्य मेरुतुङ्ग ने अपने प्रबन्ध चिंतामणि नामक ग्रन्थ मे किया है। उदयप्रभ सूरि ने अपने 'सुकृत-कीर्तिकल्लोलिनी' नामक ग्रन्थ मे और अरिसिंह ने अपने 'सुकृतसंकीर्तन' नामक ग्रथ मे यह तो लिखा है कि मूलराज सामन्तसिंह का भागिनेय था किन्तु मूलराज अन-हिलपुरपत्तन राज्य का स्वामी किस प्रकार बना, इस विषय मे उन्होने किसी प्रकार का उल्लेख नही किया है। यशपाल ने अपने 'मोहराजपराजय' नामक नाटक मे अनहिलपुरपत्तन के चापोत्कट राजवश के उत्तरवर्त्ती राजाओ को सुरापान के लिये कुख्यात बताया है।

इतिहास के पाश्चात्य विद्वान् बूह्लर ने एतद्विषयक 'प्रबन्धचिंतामणि' मे मेरुतुगसूरि द्वारा प्रस्तुत किये गये विवरण को अविश्वसनीय बताते हुए लिखा है— "सामतसिंह का राज्यकाल केवल ७ वर्ष का रहा। उस दशा मे सामतसिंह द्वारा अपनी बहिन का राजी के साथ विवाह करना और उससे उत्पन्न हुए ६ वर्ष के बालक द्वारा सामतसिंह का वध करवाकर राजसिंहासन पर बैठना, यह किसी प्रकार बुद्धिगम्य नही हो सकता। ऐसी स्थिति मे मूलराज ने विश्वासघात से नही अपितु अपने पौरुष से चालुक्यराज पर अधिकार किया।[2]

मूलराज द्वारा सामतसिंह के राज्य का सवर्द्धन किये जाने और अन्ततो-गत्वा सामतसिंह को मार कर पाटण के राजसिंहासन पर अधिकार कर लिये जाने विषयक मेरुतुग के उल्लेख का सामञ्जस्य बिठाने के लिये इस अनुमान का आश्रय लिया जा सकता है कि राजी के साथ चालुक्य राजकुमारी के विवाह की घटना सभवत सामतसिंह के यौवराज्यकाल की हो।

इतिहास विशेषज्ञ बूह्लर के उपर्युल्लिखित आनुमानिक अभिमत की पुष्टि निम्नलिखित पुरातात्विक प्रमाणो से होती है —

(१) बडनगर प्रशस्ति मे उल्लेख है कि मूल राज ने करो मे भारी छूट देकर कर-भार को बहुत हल्का बना अपनी प्रजा का आन्तरिक स्नेह प्राप्त किया। उसने चापोत्कट वश के राजकुमारो का सुखसम्पत्ति और ऐश्वर्यपूर्ण जीवन बनाया, जिन्हे कि उसने पूर्व मे बन्दी बना लिया था।

---

[1] प्रबन्ध चिंतामणि, पृ० २४

[2] चालुक्याज ऑफ गुजरात, भारतीय विद्याभवन, बम्बई १९५६

(२) सोमेश्वर ने अपनी रचना कीर्तिकौमुदी और दभोई के प्रशस्ति-लेख मे लिखा है —एक यशस्वी विजेता के सभी गुणो से समलकृत मूलराज ने अपने शत्रुओ पर विजय प्राप्त की और गुजरात के राजाओ की सरक्षिका राज्यलक्ष्मी स्वेच्छा से मूलराज की नववधु बन गई ।

(३) सोमेश्वर ने अपनी कृति 'सुरथोत्सव' मे लिखा है—मूलराज ने सोला नामक कर्मकाण्डी धर्मिष्ठ विद्वान् को अपना राजपुरोहित बनाया ?[1]

इन सब पुरातात्विक प्रमाणो से यही सिद्ध होता है कि मूलराज ने अपने भुजबल से बलात् अणहिलपुरपत्तन के राजसिहासन पर अधिकार किया ।

वडनगर की प्रशस्ति मे उल्लिखित—उसने चापोत्कट राजवश के राजकुमारो के (सुन्दर) भाग्य का निर्माण किया, जिन्हे कि उसने पहले बन्दी बना लिया था, इस वाक्य से यह आभास होता है कि मूलराज ने अणहिलपुरपत्तन के राजसिहासन पर अधिकार करते समय चापोत्कट वशीय राजकुमारो की भाति चापोत्कट (चावडा) राजवश के अन्तिम राजा सामन्तसिह (अपने मामा) को भी बन्दी बना लिया हो, अथवा उसका वध कर दिया हो ।

सोलकियो के मान्य कवि हेमचन्द्राचार्य और सोमेश्वर ने अपनी कृतियो मे मूलराज की भूरि-भूरि प्रशसा की है किन्तु इस विषय पर एक शब्द तक नही लिखा है कि मूलराज ने पाटण पर अपना प्रभुत्व किस प्रकार स्थापित किया । मूलराज ने राजसिंहासन पर आसीन होते ही कर-भार को बडी मात्रा मे हल्का कर अपनी प्रजा का स्नेह प्राप्त करने का प्रयास किया, इससे भी यही अनुमान किया जाता है कि उसने (मूलराज ने) सम्भवत अपने मामा को बन्दी बना लिया हो अथवा उसका वध कर दिया हो और प्रजा को अपने पक्ष मे करने के लिये उसने करो मे भारी कमी की हो ।

इन सब तथ्यो के परिप्रेक्ष्य मे विचार करने पर यह तो स्पष्टत सिद्ध हो जाता है कि मूलराज को चापोत्कट राजा ने स्वेच्छा से अथवा शान्तिपूर्वक अपना राज्य नही दिया था, अपितु मूलराज ने अपने भुजबल अथवा बुद्धिबल से उस पर बलात् अधिकार किया था ।

जिस समय मूलराज अणहिलपुरपत्तन के राजसिंहासन पर बैठा, उस समय चावडा राज्य केवल सारस्वत मण्डल तक ही सीमित था, जिसमे कि मेहसाना, राधनपुर और पालनपुर के क्षेत्र ही थे । डेहगाम ताल्लुका उस राज्य की सीमा मे

[1] चालुक्याज आफ गुजरात, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, पृष्ठ २४

सम्मिलित नही था। किन्तु मूलराज ने प्रबन्ध-चिन्तामणि के उल्लेखानुसार राज-सिंहासन पर बैठने से पूर्व ही और अन्य अनेक पुष्ट प्रमाणो के अनुसार राज-सिहासन पर आसीन होते ही पाटण राज्य का विस्तार करना प्रारम्भ कर दिया।

मूलराज के सिंहासन पर आरूढ होते ही शाकम्भरी सपादलक्ष के राजा विग्रहराज ने एक बडी सेना ले मूलराज पर आक्रमण किया। उसी समय लाट राज्य के शक्तिशाली पश्चिमी चालुक्यवशी राजा बरपा (गोगिराज का पिता) ने भी पाटण राज्य पर आक्रमण कर दिया। पृथ्वीराजरासो के उल्लेखानुसार मूलराज ने अपने मन्त्रियो के परामर्श पर कन्थादुर्ग मे आश्रय लिया। मेरुतु ग के अनुसार मन्त्रियो ने मूलराज से कहा कि शाकम्भरी नरेश आश्विन के नवरात्रो के प्रसग पर अपनी आराध्या देवी की उपासना के लिये शाकम्भरी लौट जायगा। उसके लौट जाने पर दुर्ग से निकल कर लाटराज बरपा पर आक्रमण किया जाय।

शाकम्भरीराज विग्रहराज को किसी प्रकार इस बात की सूचना मिल गई और उसने अपनी आराध्या देवी की मूर्ति को शाकम्भरी से मगवा कर अपने सैन्य-शिविर मे ही शाकम्भरी की रचना कर वहा अपनी आराध्या देवी की उपासना करने का निश्चय कर लिया।

मूलराज को विदित हुआ कि विग्रहराज शाकम्भरी नही लौटेगा तो उसने अपने चार हजार सैनिको को आज्ञा दी कि वे रात्रि के समय प्रच्छन्न रूप से विग्रह-राज के सैन्यशिविर के चारो ओर कुछ दूरी पर सतर्क रहे। अपने चुने हुए सेनिको को इस प्रकार का आदेश दे मूलराज एक सौ कोस के पल्ले की अर्थात् विना विश्राम के दौडते हुए सौ कोस की दूरी पर जाकर पुन अपने लक्ष्यस्थल पर पहुच जाने की अद्भुत क्षमता वाली साडनी (ऊटनी) पर आरूढ हो मूलराज एकाकी ही शत्रु के सैन्यशिविर मे प्रविष्ट हो विग्रहराज के सम्मुख जा धमका। उसने विग्रहराज से कहा—"मै मूलराज हू, तुम्हे यह कहने आया हू कि जब तक मै लाट के राजा को परास्त न कर दू तब तक तुम मेरे राज्य की राजधानी की ओर आख तक न उठाना। यह बात तुम्हे स्वीकार हो तो ठीक अन्यथा मेरी सेना तुम्हारे शिविर को चारो ओर से घेरे खडी हुई मेरे इगित की प्रतीक्षा कर रही है।"

विग्रहराज ने आश्चर्य भरे स्वर मे कहा—"तुम मूलराज हो। मैं तुम्हारे अद्-भुत् साहस और अलौकिक शौर्य पर मुग्ध हू कि एक राज्य के स्वामी होकर भी एक सामान्य सैनिक की भाति शत्रु के सैन्यशिविर मे एकाकी ही प्रविष्ट हो गये हो। तुम्हारे इस शौर्य ने मुझे ऐसा प्रभावित किया है कि मैं जीवनभर तुम्हारे जैसे शूर-वीर से मैत्री रखने का आकाक्षी हो गया हू। आओ हम दोनो साथ बैठकर भोजन करे।"

मूलराज ने भोजन का निमन्त्रण अस्वीकार करते हुए कहा—"मुझे इसी समय लाट की सेनाओ पर आक्रमण करना है।" वह तत्क्षण अपनी साडणी पर

सवार हुआ। अपनी सेना के साथ लाटराज बरपा के सैन्य शिविर की ओर वातूंल वेग से बढते हुए मूलराज ने उस पर भीषण आक्रमण कर दिया। शत्रु सेना का सहार करते हुए मूलराज लाटराज बरपा की ओर बढा और भाले के एक भरपूर प्रहार से बरपा का प्राणान्त कर उसे धराशायी कर दिया। मूलराज ने लाट राज्य की सेना को पराजित कर उसके १०,००० घोडो और हस्तिसेना को लेकर वह पाटण की ओर प्रस्थित हुआ।

मूलराज की इस विजय के समाचार सुनते ही विग्रहराज अपनी सेना के साथ अपने शाकम्भरी राज्य की ओर लौट गया।

अपनी सैन्यशक्ति को सुदृढ करने के अनन्तर मूलराज ने एक विशाल एव शक्तिशाली सेना के साथ सौराष्ट्र के राजा ग्राहऋपु (ग्राहारि) पर आक्रमण करने के लिये विजया-दशमी के दिन अनहिलपुरपत्तन से प्रस्थान किया। जब वह जम्बु-माली वन मे पहुचा, उस समय ग्राहऋपु ने मूलराज के पास अपना दूत भेजकर निवेदन किया कि उन दोनो के बीच किसी प्रकार की शत्रुता नही है। अत मूलराज अपनी सेना के साथ अपनी राजधानी को लौट जाय। मूलराज ने ग्राहऋपु को उसके दूत के साथ यह सदेश भिजवाया कि—"ग्राहऋपु बडा ही दुराचारी, दुष्ट और पर स्त्रीगामी है। वह तीर्थयात्रियो को लूटता और पवित्र उज्जयन्त पर्वत पर चमरी गाय आदि निरीह पशुओ को मारता है, उसने प्रभास जैसे पवित्र तीर्थस्थान को नष्ट-भ्रष्ट किया है। इस प्रकार के उसके ये सब म्लेच्छाचार इसी कारण है कि वह एक म्लेच्छ स्त्री से उत्पन्न हुआ है। ऐसी स्थिति मे उसे कभी क्षमा नही किया जा सकता।"

अपने सन्धि प्रस्ताव को मूलराज द्वारा ठुकरा दिये जाने पर ग्राहऋपु ने युद्ध के लिए तैयारिया प्रारम्भ कर दी। मूलराज ने उस पर आक्रमण किया। दोनो पक्षो की ओर से अनेक राजाओ ने उस युद्ध मे भाग लिया। जिस समय दोनो पक्षो के बीच युद्ध निर्णायक स्थिति मे चल रहा था, उस समय तुरुष्कराज अपनी टिड्डी दल तुल्य विशाल सेना के साथ ग्राहऋपु की सहायता के लिये रणागण मे आ उप-स्थित हुआ। दोनो ओर से बडा ही भयकर सहारक युद्ध हुआ। मूलराज और उसके साथी राजाओ—रेवतमित्र, शैलप्रस्थ, महित्रात, सप्तकाशी नरेश, श्रीमाल के पर-मार राज, भिल्लराज आदि ने अद्भुत शौर्य और साहस के साथ युद्ध किया। अति भीषण और लम्बे युद्ध मे ग्राहऋपु और उसके पक्षधरो की सेनाओ का बहुत बडा भाग यमधाम पहुचा दिया गया और शेष सेना छिन्न-भिन्न हो रणक्षेत्र से पलायन करने लगी। मूलराज ने ग्राहऋपु की ओर सिंह की भाति झपटते हुए उस पर भीषण भल्ल प्रहार कर उसे आहत कर बन्दी बना लिया। मूलराज की अन्तिम रूप से विजय हुई और उसने समस्त सौराष्ट्र मण्डल पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लिया।

कच्छ प्रदेश के राजा लक्ष ने जो कि अपने समय का बडा शक्तिशाली राजा और ग्राहऋपु का अनन्य सखा था, मूलराज से कहा कि वह ग्राहऋपु को अपने बन्दीगृह से मुक्त कर दे परन्तु मूलराज ने उसके प्रस्ताव को यह कहकर ठुकरा दिया कि ग्राहऋपु दुराचारी, दुष्ट, अत्याचारी होने के साथ-साथ गौमासभक्षक है, अत उसे किसी भी दशा मे क्षमा नही किया जा सकता।

मूलराज द्वारा अपने प्रस्ताव के ठुकरा दिये जाने पर कच्छ के राजा लक्ष ने मूलराज के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। दोनो पक्षो मे जमकर लोमहर्षक युद्ध हुआ और अन्ततोगत्वा मूलराज ने भल्ल के एक भीषण प्रहार से लक्ष को निष्प्राण कर भूमिसात कर दिया। रणभूमि मे निष्प्राण पडे लक्ष के मुख पर मूलराज ने पार्ष्णिप्रहार किया। इस पर लक्ष की माता ने मूलराज को श्राप दिया कि उसको और उसके उत्तराधिकारियो को अन्त समय मे कुष्ट रोग होगा। इस प्रकार मूलराज ने सौराष्ट्र और कच्छ—इन दोनो ही राज्यो पर अधिकार कर पाटण राज्य के पुरातन प्रभुत्व की पुन सस्थापना की।

कुछ दिन प्रभास तीर्थ मे रहने कर मूलराज ने नवविजित कच्छ और सौराष्ट्र राज्यो के शासन की सुव्यवस्था की और वह अपनी सेना और शत्रुराजाओ की विपुल सम्पदा के साथ अनहिलपुर पाटन लौट आया।

मूलराज के शासनकाल मे गुजरात की सर्वतोमुखी प्रगति हुई। उसने राजस्व आदि करो मे उल्लेखनीय कमी कर किसानो की आर्थिक स्थिति को समुन्नत किया। मूलराज निष्ठावान् शिवोपासक था और सभी धर्मावलम्बियो के प्रति समभाव और समादर रखता था। उसने अनहिलपुरपत्तन मे मूलराज—वसहि का निर्माण कर जैन धर्मावलम्बियो के प्रति मधुर व्यवहार प्रदर्शित किया। मूलराज की राजसभा मे सोमेश्वर जैसे अपने समय के अप्रतिम कवि थे इससे साहित्य और सस्कृति के प्रति उसके प्रगाढ प्रेम का परिचय प्राप्त होता है।

मूलराज ने अपने शासनकाल मे अपने सोलकी राज्य को ऐसी सुदृढ नीव पर शक्तिशाली राज्य का स्वरूप प्रदान किया कि पीढियो तक उसके उत्तराधिकारियो को किसी प्रकार की बडी कठिनाई का अनुभव नही हुआ और वे समय समय पर विदेशी आक्रान्ताओ से आर्यधरा, धर्म और सस्कृति की रक्षा करने मे सक्षम रहे।

मूलराज द्वारा सस्थापित सोलकी (चालुक्य) राजवश के भीम, दुर्लभ राज, कुमारपाल आदि राजाओ ने जैनधर्म की अभ्युन्नति, अभिवृद्धि मे प्रगाढ रुचि के साथ जो उल्लेखनीय योगदान दिया, वह जैन इतिहास मे सदा-सदा सम्मान के साथ स्मरणीय रहेगा।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी अमर कृतियो मे मूल राज की भूरि भूरि प्रशसा कर उसकी कीर्ति को चिरस्थायिनी बना दिया है । उदाहरण के रूप मे आचार्य हेमचन्द्र का, मूलराज की प्रशसा मे, एक श्लोक यहा प्रस्तुत किया जा रहा है —

हरिरिव बलिबन्धनकरस्त्रिशक्ति युक्त पिनाकपाणिरिव,
कमलाश्रयश्च विधिरिव, जयति श्री-मूलराज-नृप ।।

मूलराज ने अपने पुत्र चामुण्डराज को उसका शिक्षरण समाप्त होते ही युवराजपद प्रदान कर प्रशासनिक कार्यो मे उसे अपने मार्गदर्शन मे कुशल बनाया । अन्त मे मूलराज चामुण्डराज का राज्याभिषेक कर स्वय राजकार्यो से पूर्णत निवृत्त हो गया । अन्त मे अपने चरणागुष्ठ मे कुष्ठ रोग के लक्षरण देख कर मूलराज को ससार से विरक्ति हो गई । उसने भावसन्यास ग्रहण कर अन्नजल का त्याग कर इगितमरण का वरण किया । स्वेच्छापूर्वक मूलराज द्वारा सन्यासमरण का वरण किये जाने के सम्बन्ध मे आचार्य मेरुतु ग ने अपने ग्रन्थ प्रबन्ध चिन्तामणि मे निम्नलिखित रूप मे उल्लेख किया है—

"इत्थ तेन राज्ञा पचपचाशद्वर्षाणि निष्कण्टक साम्राज्य विधाय सन्ध्यो-नीराजनाविधेरनन्तर राज्ञा प्रसादीकृत ताम्बूल वण्ठेन करतलाभ्यामादाय तत्र कृमिदर्शनात्तत्स्वरूपमवगम्य वैराग्यात्सन्यासागीकारपूर्व व दक्षिण चरणागुष्ठे वह्नियोजनापूर्व गजदानप्रभृतीनि महादानानि ददानोऽष्टभिर्दिनै ।"

उद्धू मकेश पदलग्नमग्निमेक विषेहे विनयैकवश्य ।
प्रतापिनोऽन्यस्य कथैव का यद्विभेद भानोरपि मण्डल य ।।
इत्यादिभि स्तुतिभि स्तूयमानो दिवमारुरोह ।
अथ स० ६६८ पूर्व वर्षारिग ५५ राज्य मूलराजेन चक्रे ।।[1]

इस प्रकार विशाल अणहिलपुरपट्टन साम्राज्य का सस्थापक महाराजाधिराज मूलराज सोलकी ५५ वर्ष के अपने सुदीर्घकालीन शासन मे गुजरात को सर्वत समृद्ध और शक्तिशाली बनाने के पश्चात् वि०स० १०५३ मे परलोकगामी हुआ ।

---

[1] प्रवन्ध चिन्तामणि पृष्ठ २६

उपसंहार

प्रभावक चरित्र के रचनाकार आचार्य प्रभाचन्द्र (वि स १३३४) से लेकर वर्तमान काल तक के प्राय सभी जैन इतिहास के विद्वान् लेखको ने आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती जैन इतिहास को अन्धकारपूर्ण बताया है ।

"जैन धर्म का मौलिक इतिहास" नामक प्रस्तुत ग्रन्थमाला के द्वितीय भाग मे आर्य सुधर्मा स्वामी से लेकर आर्य देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के स्वर्गारोहण काल तक के १००० वर्ष के जैन इतिहास के आलेखन के अनन्तर अग्रेतर इतिहास के आलेखन के लिये सामग्री एकत्रित करने के प्रारम्भिक प्रयास मे क्रमबद्ध आवश्यक ऐतिहासिक सामग्री उपलब्ध न हो सकने के कारण हमारा भी अनुमान था कि इस ग्रन्थमाला के तीसरे भाग मे वीर नि स २००० तक के जैन इतिहास का आलेखन सम्पन्न किया जा सकेगा ।

किन्तु दक्षिण के अनेक ग्रन्थागारो, मुख्यत मद्रास, धारवाड, मूडबिद्री और मैसूर के सुविशाल ग्रन्थागारो मे शोधकार्य प्रारम्भ करने के परिणामस्वरूप हमे जैन इतिहास की इतनी विपुल सामग्री उपलब्ध हो गई कि प्रस्तुत किये जा रहे "जैन धर्म का मौलिक इतिहास, भाग ३" मे हम देवर्द्धि क्षमाश्रमण से उत्तरवर्ती काल का पूरे ५०० वर्ष का इतिहास भी नही दे पाये कि यह ग्रन्थ वृहदाकार ग्रहण कर गया । इस कारण लोकाशाह तक का जैन इतिहास तीसरे भाग मे समाविष्ट कर देने के अपने पूर्व सकल्प के उपरान्त भी हमे तृतीय भाग के आलेखन-मुद्रण को यही समाप्त करना पड रहा है ।

इससे आगे का, वीर नि स १४७५ से २००० तक का, जैन इतिहास इस ग्रन्थ माला के आगे के चौथे भाग मे समाविष्ट करने का प्रयास किया जायगा ।

श्रमण भगवान महावीर के विभिन्न इकाइयो मे विभक्त सभी धर्मसघो के धर्माचार्यों, श्रमणो, उपासको, अनुयायियो एव प्रशसको से हमारा विनम्र निवेदन है कि वे इस ग्रन्थ को मनोयोगपूर्वक आद्योपान्त पढे और निष्पक्ष भाव से एव निर्मल मन से सत्य का साक्षात्कार करे ।

इस इतिहास के आलेखन का मुख्य लक्ष्य जैन धर्म के मूल आगमानुसारी आध्यात्मिक रूप को उजागर करना रहा है । इसे उजागर करते हुए इतिहास ग्रन्थ-माला के प्रथम, द्वितीय एव तृतीय भाग मे भी हमने बडी सावधानी के साथ बराबर यह ध्यान रखा है कि किसी भी जैन बन्धु, जैनाचार्य अथवा किसी भी सम्प्रदाय

विशेष पर आक्षेप रूपी या किसी के भी हृदय को दुखाने वाले शब्दो अथवा भाषा का प्रयोग कही भी नही आने पावे ।

फिर भी सत्य का उद्घाटन एव प्रतिपादन करते हुए कही कोई अप्रिय या कटु बात लिखने मे आई हो और उससे किसी के मन पर चोट लगी हो तो हम अपने अन्त करण से उसके लिये खेद प्रकट करते हुए जिनेश्वरदेव की साक्षी से क्षमा याचना करते हैं ।

आशा है तत्व जिज्ञासु एव इतिहास रसिक पाठक वृन्द गुणग्राही होकर शब्दो के कलेवर को न पकडते हुए केवल भावो की ओर अपना ध्यान रक्खेंगे एव आलोचना करते समय भी सत्यान्वेषी तटस्थ दृष्टि से वे सब विषय वस्तु को देखेंगे । शिष्टाचार एव भद्र व्यवहार को नही भूलेंगे ।

हा, तमसावृत्त समझे जाने वाले इस कालावधि के इतिहास को अन्धेरे से उजाले मे लाने जैसे इस कठोर बौद्धिक श्रम साध्य कार्य मे स्खलनाओ का होना सहज सम्भाव्य है । ऐसी स्थिति मे जहा कही कोई ऐसी स्खलना पाठकगण के दृष्टिगोचर हो तो उससे हमे मैत्री भाव से अवगत कराने का कष्ट वे अवश्य करेंगे, ऐसी आशा है, ताकि आगे उस पर विचार किया जा सके ।

गच्छत स्खलन भूमौ, भवत्येव प्रमादत ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः ।।

सुज्ञेष किं बहुना ।

परिशिष्ट

१. शब्दानुक्रमणिका

२. सन्दर्भ ग्रन्थो की सूची

३. इस ग्रन्थमाला पर प्राप्त सम्मतियां

४. 'दो शब्द' का आंग्लभाषायी मूल

५. शुद्धि-

१ शब्दानुक्रमणिका

(क) तीर्थङ्कर, आचार्य, राजा, श्रावक आदि

ख

च

ज

ट

ड

त

फ

ब

भ

य

र

ल

(ख) मत, सम्प्रदाय, वंश, गोत्रादि

(ख) मत, सम्प्रदाय, वंश, गोत्रादि

ग

च

(ग) ग्राम, नगर, प्रात, स्थानादि

(घ) सूत्र, ग्रंथादि

ह

क्ष

त्र

ज्ञ

२. सन्दर्भ ग्रन्थो की सूची

अजित तीर्थंकर पुराणतिलकम्—महाकवि रन्न (ई ९९३)

अभिधान राजेन्द्र भाग १–७

आगम अष्टोत्तरी, अभयदेव सूरि

आचाराग सूत्र, आत्मारामजी म

आदिपुराण—अजितसेन

आवश्यक चूर्णि—जिनदासगणि क्षमा श्रमण

आवश्यक निर्युक्ति—भद्रबाहु द्वितीय (ईसा की ५वी छठी शती)

इण्डियन एन्टीक्वेरी

इम्पोर्टेन्ट इन्सक्रिप्शन्स फोर दी वडौदा स्टेट वोल्यूम १

उत्तर पुराण—भट्टारक गुण भद्र

उत्तराध्ययन-सूत्र

,, -निर्युक्ति–

,, -टीका

उपदेश माला—धर्मदास गणि महत्तर

उपमिति भव प्रपच कथा—सिद्धर्षि

उवासग दसाओ–अभय देवीया वृत्ति

ऋषि मण्डल स्तोत्र—धर्मघोष (वि स ११६२)

एन्यूअल रिपोर्ट ओन साऊथ इण्डियन एपिग्राफी—१९१६

एपिग्राफिका इण्डिका–सभी वोल्यूम

एपिग्राफिका कर्णाटिका–सभी वोल्यूम

एपिग्राफिका जैनिका

एपिग्राफिका रिपोर्ट्स, मद्रास, वोल्यूम्स १–५

एन्साइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स—हेस्टिंग्स

एहोल का अभिलेख

कठोपनिषद

कथाकोष आ हरिषेण (वि स ९८८)

कलिंग चक्रवर्ती महामेघवाहन खारवेल का हाथीगुफा शिलालेख (वीर नि स ३५९)

कुन्दकुन्द प्राभृत सग्रह—डा ए एन उपाध्ये
कुवलय माला—उद्योतन सूरि
केवलि भुक्ति—शाकटायन
खरतर गच्छ वृहद्गुर्वावलि, जिन विजय मुनि सिंघी जैन शास्त्र शिक्षा पीठ, भारतीय विद्याभवन, बम्बई
गौडवहोप्रबन्ध—वाक्पतिराज
गच्छाचार पइण्णाय—दोघट्टीवृत्ति
गद्यचिन्तामणि
चालूक्याज ऑफ गुजरात, अशोक कुमार मजूमदार, भारतीय विद्याभवन बोम्बे (१९५६)
जयधवला (कषाय पाहुड की टीका)
जरनल ऑफ दी बोम्बे ब्राच आफ दी रोयल एसियाटिक सोसायटी (अनेक वोल्यूम)
जे बी आर ए एस वोल्यूम १०
जैन इतिहास, जैनधर्म विद्याप्रसार केन्द्र पालीताणा
जैन ग्रन्थ और ग्रन्थकार, फतेचन्द बेलानी (१९५०) जैन सस्कृति सशोधक मण्डल, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, बनारस
जैन धर्म का प्राचीन इतिहास, भाग—२, परमानन्द शास्त्री, प्रकाशक—मै रमेशचन्द जैन मोटरवाले, राजपुर रोड, दिल्ली (वीर नि स २५००)
जैन धर्म का मौलिक इतिहास भाग १, २—आ हस्तीमलजी महाराज सा , इतिहास समिति जयपुर
जैन सहार चरितम्—ओरियन्टल ओल्ड मेन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास यूनिवर्सिटी
जैनाचार्य—दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत
जैनाचार्य परम्परा महिमा—आ चारुकीर्ति (हस्तलिखित) ओरियन्टल मेन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी मद्रास यूनिवर्सिटी—मेकेन्जे कलेक्शन्स, आचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञानभण्डार जयपुर मे इसकी प्रतिलिपि है
जैनाचार्य—न्याय विजयमुनि, मै ए एम एण्ड क पालीताणा काठियावाड

जेनिज्म इन अर्ली मिडिएवल कर्णाटिका, रामभूपण, प्रसादसिह मोतीलाल, वनारसीदास, दिल्ली

जैनिज्म इन साउथ इण्डिया, एण्ड सम जैन एपिग्राफ्स—पी वी देसाई, जैन सस्कृति सरक्षक सघ शोलापुर (१९५७)

जैन परम्परा नो इतिहास भाग १ और २—दर्शन-ज्ञान-न्याय विजय त्रिपुटी महाराज, श्री चरित्र स्मारक ग्रन्थ माला, माडवी नो पोल, अहमदाबाद

जैन शिलालेख सग्रह भाग १–३, माणिकचन्द्र-दिगम्वर-जैन-ग्रन्थ-माला समिति, हीराबाग, वम्वई ४

जैन साहित्य और इतिहास—नाथूराम प्रेमी

जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ३ पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध सस्थान, वाराणसी ५

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष भाग १-३—जिनेन्द्रवर्णी

ज्ञाताधर्म-कथाग सूत्र—वृत्ति—शीलाकाचार्य

ज्वालामालिनिकल्प—इन्द्र नन्दी

तत्वार्थवार्तिक सभाष्य—आ अकलक

नित्थोगाली पइन्नय—प कल्याण विजयजी, गजसिह राठाड, श्री कल्याण विजय शास्त्र समिति, जालौर, सन् १९७५

तिलक मजरी—धनपाल

तेवारम्—

दक्षिण भारत का इतिहास, डा के ए नीलकण्ठ शास्त्री, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, कदम कुआ, पटना ३

दर्शनसार—आ देवसेन

दशवैकालिक सूत्र

दि क्लासिकल एज, भारतीय विद्याभवन, बोम्बे

दि जैन पाथ ऑफ प्यूरिफिकेशन, श्री पद्मनाभ एस जैनी

दि फोरगोटन हिस्ट्री ऑफ दि लेण्ड्स एण्ड-एस पद्मनाभन

दुस्समासमणसघ—थय सावचूरि—श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला, वीरम गाव से प्रकाशित पट्टावली समुच्चय प्रथम भाग मे निहित

धवला—षट्खण्डागम टीका

नन्दिसूत्र

निशीथ

निशीथचूर्णि

निशीथ-भाष्य

पउम चरिय—विमलसूरि

पट्टावली पराग सग्रह, प कल्याण विजयजी शास्त्र सग्रह समिति जालोर (राज०)

पट्टावली समुच्चय प्रथमोभाग मुनिदर्शन विजय, श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला वीरम गाव (गुजरात वि स १६८६)

पाइय लच्छीनाम माला धनपाल

पाइय सद्द-महण्णवो

पार्श्वनाथ चरित्र

पार्श्वाभ्युदय काव्य—जिनसैन (पचस्तूपान्वयी)

पेगियरहस्य

पेरियपुराण

प्रबन्धकोष—सिघी जैन ज्ञानपीठ, विश्वम्भरजी शान्ति निकेतन

प्रबन्ध चिन्तामणि

प्रबन्ध चिन्तामणि—मेरुतुगाचार्य, फोर्बस गुजराती सभा, महाराज मेशन्स, सेन्धुर्स्ट रोड बोम्बे, न ४ (वि स १६८८)

प्रभावक चरित्र,—आ प्रभाचन्द्रसूरि, स जिन विजय सिघी जैन ज्ञान पीठ, अहमदाबाद, कलकत्ता वि स १६६७

प्रश्न व्याकरण सूत्र

प्राकृत साहित्य का इतिहास, डॉ जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १

फ्लीकोरपस इन्स्क्रिप्शनम् जुडिकेरम्

बुद्धिज्म—सर विलियम मोन्योर

भगवती सूत्र (व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र)

भट्टारक सप्रदाय, वी पी जोहरापुरकर, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर (१६५८)

भाण्डारकर की सूची सख्या २१०५

भद्रबाहु चरित्र—आ रत्ननदी (वि स १६२५)

भाव सग्रह—आ देवसेन (विमलसेन के शिष्य)

मन्जूश्री मूलकल्प

महानिसीह सुत्त (रोमन लिपि मे) Jozef Deleu and Walther Schubring, Hamburg, Craw, De Gruyter & Co 1963

महापुराण (अपभ्र श) पुष्पदन्त

मीडिएवल जैनिज्म, बी ए सेलेटोर, कर्णाटक पब्लिशिंग हाउस, बोम्बे २

मूलाराधना अपर नाम भगवती आराधना–शिवार्य (यापनीय)

मूलाराधना—विजयोदया टीका—अपराजित (यापनीय)

मेन्युअल ऑफ पुदु कोट्टाइ स्टेट वोल्यूम २

मैसूर आर्कियोलोजिकल रिपोर्ट ई १६२३

मैसूर आर्कियोलोजिकल रिपोर्ट, फोर १६३२

मैसूर गवर्नमेन्ट रिपोर्ट ई १६२०

रत्नमाला—आ शिवकोटि

राइस मैसूर एण्ड कुर्ग—बी एल राइस

राजतरंगिणी—कल्हण

राजपूताना का इतिहास जिल्द १

ललित विस्तरा–आ हरिभद्रसूरि

लोकप्रकाश, उपाध्याय विनय विजय (वि स १७०८)

लोक विभाग (सस्कृत)—सिंह सूर्रषि

वड्ढाराहणे (कन्नड)—आ शिवकोटि

वसुदेव हिंडी— सघदास गणि (जिनभद्र गणि क्षमा श्रमण से पूर्ववर्ती)

विचारश्रेणि—आ मेरुतु ग

विशेषावश्यक भाष्य—जिनभद्र गणि क्षामश्रमण (वीर नि० स० १०५५–१११५)

विशेषावश्यक भाष्य—स्वोपज्ञ वृत्ति

वीरवश पट्टावली—विधि पक्ष पट्टावली, भावसागर सूरि, (वि० स० १५१६)

वृहत्कथा कोष—भट्टारक हरिषेण (वि स ६८६)

वृहत् पौषधशालिक पट्टावली

शकर दिग्विजय—नवकालिदास-माधव

निशीथ

निशीथचूर्णि

निशीथ-भाष्य

पउम चरिय—विमलसूरि

पट्टावली पराग सग्रह, प कल्याण विजयजी शास्त्र सग्रह समिति जालोर (राज०)

पट्टावली समुच्चय प्रथमोभाग मुनिदर्शन विजय, श्री चारित्र स्मारक ग्रन्थमाला वीरम गाव (गुजरात वि स १९८९)

पाइय लच्छीनाम माला धनपाल

पाइय सद्द-महण्णवो

पार्श्वनाथ चरित्र

पार्श्वाभ्युदय काव्य—जिनसैन (पचस्तूपान्वयी)

पेगियरहस्य

पेरियपुराण

प्रबन्धकोष—सिघी जैन ज्ञानपीठ, विश्वम्भरजी शान्ति निकेतन

प्रबन्ध चिन्तामणि

प्रबन्ध चिन्तामणि—मेरुतु गाचार्य, फोर्बस गुजराती सभा, महाराज मेशन्स, सेन्धुर्स्ट रोड बोम्बे, न ४ (वि स १९८८)

प्रभावक चरित्र,—आ प्रभाचन्द्रसूरि, स जिन विजय सिघी जैन ज्ञान पीठ, अहमदाबाद, कलकत्ता वि स १९९७

प्रश्न व्याकरण सूत्र

प्राकृत साहित्य का इतिहास, डॉ जगदीशचन्द्र जैन, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १

फ्लीकोरपस इन्स्क्रिप्शनम् जुडिकेरम्

बुद्धिज्म—सर विलियम मोन्योर

भगवती सूत्र (व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र)

भट्टारक सप्रदाय, वी पी जोहरापुरकर, जैन सस्कृति सरक्षक सघ, शोलापुर (१९५८)

भाण्डारकर की सूची सख्या २१०५

भद्रबाहु चरित्र—आ रत्ननदी (वि स १६२५)

भाव सग्रह—आ देवसेन (विमलसेन के शिष्य)

मन्जूश्री मूलकल्प

महानिसीह सुत्त (रोमन लिपि मे) Jozef Deleu and Walther Schubring, Hamburg, Craw De Gruyter & Co 1963

महापुराण (अपभ्र श) पुष्पदन्त

मीडिएवल जैनिज्म, वी ए सेलेटोर, कर्णाटक पब्लिशिग हाउस, बोम्बे २

मूलाराधना अपर नाम भगवती आराधना–शिवार्य (यापनीय)

मूलाराधना—विजयोदया टीका—अपराजित (यापनीय)

मेन्युअल ऑफ पुदु कोट्टाइ स्टेट वोल्यूम २

मैसूर आर्कियोलोजिकल रिपोर्ट ई १६२३

मैसूर आर्कियोलोजिकल रिपोर्ट, फोर १६३२

मैसूर गवर्नमेन्ट रिपोर्ट ई १६२०

रत्नमाला—आ शिवकोटि

राइस मैसूर एण्ड कुर्ग—बी एल राइस

राजतरगिणी—कल्हण

राजपूताना का इतिहास जिल्द १

ललित विस्तरा–आ हरिभद्रसूरि

लोकप्रकाश, उपाध्याय विनय विजय (वि स १७०८)

लोक विभाग (सस्कृत)—सिंह सूरर्षि

वड्ढाराहणे (कन्नड)—आ शिवकोटि

वसुदेव हिंडी—सघदास गणि (जिनभद्र गणि क्षमा श्रमण से पूर्ववर्ती)

विचारश्रेणि—आ मेरुतु ग

विशेषावश्यक भाष्य—जिनभद्र गणि क्षामश्रमण (वीर नि० स० १०५५–१११५)

विशेषावश्यक भाष्य—स्वोपज्ञ वृत्ति

वीरवश पट्टावली—विधि पक्ष पट्टावली, भावसागर सूरि, (वि० स० १५१६)

वृहत्कथा कोष—भट्टारक हरिषेण (वि स ६८६)

वृहत् पौषधशालिक पट्टावली

शकर दिग्विजय—नवकालिदास-माधव

शब्दानुशासन-स्वोपज्ञ अमोघ वृत्ति-शकटायन ई सन् (८१४-८७५)
श्रीमन् महावीर पट्टधर परम्परा—श्री देव विमल गरिण
श्री शकर–बलदेव उपाध्याय, हिन्दुस्तानी एकेडमी उ प्र इलाहाबाद (सन् १६५०)
श्री शकराचार्य—बलदेव उपाध्याय, हिन्दुस्तानी एकेडमी, उ प्र इलाहाबाद (१६५६)
षट्खण्डागम
षड्दर्शन समुच्चय—राजशेखर
षट् प्राभृत (श्रुतसागर सूरीया टीका)
सघ पट्टक (सटीक) श्री जिनवल्लभ सूरि—प्र जेठालाल दलसुख, अहमदाबाद, सन् १६०७
सबोध प्रकरण
सक्सेसर ऑफ सातवाहनाज—दि च सरकार
सन्देह दोलावलि—जिनदत्त सूरि
सम कन्ट्रीब्यूशन्स आफ साउथ इण्डिया टु इण्डियन कल्चर—कृष्णस्वामी अय्यगर
समय प्राभृत, सन् 1914, माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला
स्टडीज इन साउथ इण्डियन जैनिज्म—एम एस रामास्वामी अय्यगर एण्ड बी शेषगिरि राव
स्त्रीमुक्ति—शाकटायन
स्याद्वाद मजरी—हेमचन्द्राचार्य
साईनो इण्डियन स्टडीज—डा पी सी बागची
साउथ इण्डियन इन्स्क्रिप्शन्स, वोल्यूम ५
सूत्र कृताग
सूत्र कृताग टीका—शीलाकाचार्य
सोरव का शिलालेख वि स ५२६
हरिवशपुराण—आ जिनसेन (पुन्नाट सघ वि स ८४०)
हर्षचरित्र—बाणभट्ट
हिमवन्त स्थविरावली
हिस्ट्री एण्ड कल्चर आफ दी इण्डियन पीपुल भारतीय विद्याभवन बम्बई
हिस्टोरिकल इन्स्क्रिप्शन्स ऑफ सदर्न इण्डिया—रोवर्ट सेवल

३. इतिहास ग्रन्थमाला पर प्राप्त सम्मतिया

महाराष्ट्र मत्री एव प्रवतक श्री विनय ऋषिजी म सा

ग्रन्थ क्या है, मानो साहित्यिक विशेपताओ से सपृक्त एक महनीय कृति है, जो भारती भण्डार मे, विशेपत जैन साहित्य मे श्री वृद्धि के साथ-साथ एक महती आवश्यकता की सपूर्ति करती है ।

यह ग्रथ इतिहास पुरातत्त्व और शोधनकार्य के साथ ही साथ अध्येता विद्वज्जनो एव साधारण पाठको की ज्ञान-पिपासा को एक साथ पूर्ण करता है । यह नवोदित सर्वोत्तम ग्रथरत्न है ।

आत्मार्थी मुनि श्री मोहन ऋषिजी म सा

वहुत वर्षो की साधना और तपश्चर्या के पश्चात् श्री उपाध्यायजी की कृति समाज के सामने आई है । इतनी लगन के साथ इतना परिश्रम आज तक शायद ही अन्य किसी लेखक ने किया होगा ।

भावी पीढी के लिये उनकी यह अपूर्व देन सिद्ध होगी ।

सम्यग्दर्शन (सैलाना) २० मार्च १९७२

समीक्षक श्री उमेश मुनि 'अणु'

इतिहास की नूतन विधा पश्चिम जगत् की देन है । फिर भी यह मानना भ्रान्त होगा कि प्राचीन भारत के मनीपी, इतिहास रूप साहित्य विधा से विलकुल अपरिचित थे । वैदिको ने पुराणो मे इतिहास निबद्ध करने का प्रयत्न किया । जैन आचार्यो ने कालचक्र के अवसर्पिणी उत्सर्पिणी रूप विभागो के अनुसार घटनाक्रम को सयोजित करके, इतिहास को सुरक्षित करने का प्रयास किया ।

यह तीर्थंकर खण्ड है । इसमे तीर्थंकरो के पूर्व भवो और जीवन के विपय मे लेखन हुआ है । तीर्थंकरो के पूर्वभवो को आज के इतिहासविद् शुद्ध इतिहास के रूप मे स्वीकार नही कर सकते क्योकि आधुनिक इतिहास-लेखन भौतिकवाद की भित्ती पर प्रतिष्ठित है ।

भ० महावीर के विषय मे प्राप्त ऐतिहासिक सामग्री का विपुल मात्रा मे उपयोग किया गया है । प्रभु वीर के भक्त राजाओ का परिचय भी दिया गया है ।

कुछ भ्रातियो (मासाहार, पासत्थ, श्रेणिक और कूणिक के धर्म आदि से सम्बन्धित) का निरसन भी किया गया है। भ० महावीर के निर्वाण से २२ वर्ष पश्चात् बुद्ध के निर्वाण काल को अनेक प्रमाणो से सिद्ध किया गया है।

पूज्य श्री की सैद्धान्तिक दृष्टि इस लेखन मे बराबर स्थिर रही है। भाषा प्रवाहपूर्ण और सरस है। कथा रस-प्रेमी और इतिहास-प्रेमी दोनो की रुचि को सन्तुष्ट करने की सामर्थ्य है—इस ग्रथ मे। इतनी विशाल पृष्ठभूमि पर तीर्थकरो के विषय मे एक ही ग्रन्थ मे प्रमाण पुरस्सर आलेखन का मेरी दृष्टि मे यह प्रथम व्यवस्थित प्रयास है। ऐतिहासिक अन्वेषको के लिए, यह ग्रन्थ बडा सहायक सिद्ध हो सकता है।

इसमे पहली बार गवेषणात्मक ढग से सारी सामग्री को व्यवस्थित किया गया है। इसी क्रम मे जैनेतर स्रोतो का भी उदारतापूर्वक उपयोग किया गया है और जैन दृष्टि से लिखते हुए तथ्यो की अतिरजता से बचा गया है। सक्षेप मे कहे तो ग्रन्थ मे इतिहास के परिप्रेक्ष्य मे तीर्थकरो के बारे मे उपलब्ध तथ्यो, साक्ष्यो आदि का समावेश करते हुए एकागी दृष्टिकोण न अपना कर सही मूल्याकन करने मे सफलता प्राप्त की है।

तथ्यो के प्रतिपादन की शैली सुबोध और रोचक है, जो लोक भाषा की समन्वित छटा साधारण पाठको को भी सम्पूर्ण ग्रन्थ पढने के लिये आकर्षित करती है। हमे विश्वास है कि इतिहास के विद्यार्थी की तरह ही साधारण पाठको द्वारा भी ग्रन्थ का पठन-पाठन किया जायेगा।

मुद्रण निर्दोष, आकर्षक और कलात्मक है।

मधुकर मुनिजी

इतिहास का आलेखन वस्तुत सरल नही माना जाता। इसके आलेखन मे प्रमुख आवश्यकता होती है तटस्थता की और सजग रहने की।

अनेक पुरातन व नव्य भव्य ग्रथो का अध्ययन-अवलोकन करके आचार्य श्री जी ने जो यह ग्रथ तैयार किया है, उसमे वे काफी सफल हुए है, ऐसा मेरा अभिमत है।

परम विदुषी महासती जी श्री उज्ज्वलकुमारी जी महाराज सा

तीर्थकरो के जीवन की प्रामाणिक सामग्री प्राप्त कराने के लिये आचार्य श्रीजी ने जो महान् परिश्रम उठाया है, उसे देख कर कोई भी व्यक्ति धन्यवाद दिये बिना नही रह सकता।

डॉ० रघुवीरसिंह, एम ए डी लिट्. सीतामऊ (मध्यप्रदेश)

२६ जनवरी, ७२ का पत्रांश

अब तक जैन धर्म का प्रामाणिक पूरा इतिहास कही भी और विशेष कर हिन्दी मे तो अवश्य ही देखने को नही मिला था, अतएव इस ग्रथ के प्रकाशन मे वह बहुत बडी कमी कई अशो मे पूरी होने जा रही है। अत इस ग्रथ के प्रकाशन का मैं हृदय से स्वागत करता हू। हर्मन जेकोबी आदि कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने अवश्य ही जैन धर्म के इतिहास की ओर कुछ ध्यान दिया था, तथापि इधर प्राचीन भारतीय इतिहास विषयक सशोधको और इतिहासकारो ने जैन धर्म के इतिहास तथा तत्सम्बन्धी आधार-सामग्री की प्राय॰ उपेक्षा ही की हे। जैन धर्म के इतिहास की आधार सामग्री अधिकतर अर्ध मागधी आदि प्राच्य भाषाओ मे प्राप्य है एव उनका सम्यक् ज्ञान और अध्ययन नही होने के कारण भी इतिहासकारो ने उक्त सामग्री मे प्राय जानकारी की ओर ध्यान नही दिया था, तथापि जो कुछ ज्ञात हो सका है उससे यह बात स्पष्ट है कि प्राचीन काल मे तो अवश्य ही जैन धर्मावलम्बियो की भारतीय इतिहास मे महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है, अतएव प्राचीन भारतीय इतिहास के उस पहलू का पूरा-पूरा अध्ययन किये विना तत्सम्वन्धी सही परिप्रेक्ष्य की जानकारी नही हो सकेगी। मेरा विश्वास है कि उस दृष्टि से भी जैन धर्म का यह मौलिक इतिहास विशेष रूप से उपयोगी और सहायक होगा।

पूर्व ऐतिहासिक काल के विवरण को जैन ग्रन्थो के आधार पर प्रस्तुत कर उस काल पर आगे शोध करने वालो को तत्सम्बन्धी अधिक जानकारी और अध्ययन मे बहुत बडी सहायता दी गई है। प्रारम्भिक तीर्थकरो के काल आदि की समस्या अवश्य उठती है। तत्सम्बन्धी जैन परम्पराओ का अब तक अध्ययन और विश्लेषण नही हुआ, क्योकि सुनिश्चित रूप मे सुबोध ढग से वह इतिहासज्ञो को सुलभ नही थी। अत अब इस मौलिक इतिहास मे प्रस्तुत विवरण के आधार पर वह भी भविष्य मे सम्भव हो सकेगा।

जैन धर्म के तत्त्वो आदि की भी सरल सुबोध ढग से व्याख्या की गई है। यो इस ग्रन्थ को बहुविध जानकारी से परिपूर्ण बनाने का प्रयत्न किया गया है। जैन धर्म ही नही भारतीय सस्कृति और पुरातन परम्पराओ के इस पहलू विशेष की जानकारी के इच्छुको के लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उपयोगी प्रमाणित होगा। अत यह बात निस्सकोच कही जा सकती है कि हिन्दी साहित्य की विशेष उपलब्धि के रूप मे इस ग्रथ को विशेष स्थान प्राप्त होगा।

प हीरालाल शास्त्री (नसियाँ, ब्यावर)

मैंने इसका आद्योपान्त अध्ययन किया। दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा से एतद् विषयक ग्रन्थो का मनन करके जिस निष्पक्षता से यह ग्रथ लिखा गया है,

उसके लिये इसके लेखक-निर्देशक आचार्य श्री हस्तीमलजी महाराज एव सम्पादक मण्डल का जैन समाज सदा ऋणी रहेगा। प्रत्येक तीर्थंकर के समय मे होने वाले शलाका पुरुषो एव अन्य प्रसिद्ध पुरुषो का चरित-चित्रण करके सक्षेप मे अनेक ग्रथो के सार का दोहन कर लिया गया है। आज के समय मे ऐसे ही जैन इतिहास के ग्रन्थ की आवश्यकता बहुत समय से अनुभव की जा रही थी, उसकी पूर्ति करके इतिहास समिति ने एक बडी कमी की पूर्ति की है, ग्रन्थ की छपाई-सफाई आदि बहुत उत्तम है, इसके लिए आप सर्व धन्यवाद के पात्र है।

श्री अगरचन्द नाहटा

पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। काफी श्रम से तैयार की गई है। इससे कुछ नये तथ्य भी सामने आये हैं। दिगम्बर श्वेताम्बर तुलनात्मक कोष्टक उपयोगी है। ऐसी पुस्तक की बहुत आवश्यकता थी।

श्री श्रीचन्द जैन, एम ए , एल-एल बी
प्राचार्य एव उपाध्यक्ष, हिन्दी विभाग
सान्दीपनि स्नातकोत्तर महाविद्यालय
उज्जैन (म प्र)

वस्तुत इतिहास लिखना तलवार की धार पर तीव्रगति से चलना है। इस कठिन साधना मे सफलता उसी विद्वान को प्राप्त होती है, जिसके मानस मे सत्योपलब्धि की ललक अग्नि-ज्वाला के समान प्रज्वलित रहती है।

आचार्य श्री हस्तीमलजी म ने जिस सुनिश्चित एव व्यापक दृष्टिकोण को अपना कर जैन धर्म का मौलिक इतिहास लिखा है, वह उनकी सतत साधना का एक अविनश्वर कीर्तिस्तम्भ है। इसमे उनके विस्तृत अध्ययन, निष्पक्ष चिन्तन, अकाट्य तर्कशीलता एव अन्तर्मुखी आत्मानुभूति की निष्कलक छवि प्रस्फुटित हुई है। जिस प्रकार व्यग्र तूफानो की कसमसाहट मे नाविक का चातुर्य परीक्षित होता है, उसी प्रकार सहस्राधिक विरोधी प्रमाणो की पृष्ठभूमि मे एक मानवतावादी, दार्शनिक और ऐतिहासिक सत्य की स्थापना करना इतिहासकार की विवेकशीलता का द्योतक है। पूज्य हस्तीमलजी महाराज की लेखनी मे यह वैशिष्ट्य सर्वत्र विद्यमान है। विद्वानो की यह एक मान्यता सी है कि इतिहास मे पर्याप्त शुष्कता होती है। फलत पाठक उसके अनुशीलन से घबडाते हैं। लेकिन पूज्य आचार्य की शैली पूर्णरूपेण सरस है, भाषा प्राञ्जल है। ग्रन्थ मे सर्वत्र भाषा शैली की सुघडता उल्लेख्य है। भावो को व्यवस्थित रूप मे प्रकट करने वाली प्रवाहपूर्ण ऐसी भाषा बहुत कम विद्वानो के ग्रन्थो मे उपलब्ध होती है।

समालोच्य रचना एक ऐसे अभाव की पूर्ति करती है, जो सैकडो वर्षों से जैनमनीषियो को खटक रहा था लेकिन आस्था-विश्वास की कमी के कारण कोई

निष्ठावान् इतिहास का विद्वान् आगे बढने का साहस नही कर पा रहा था। इस ग्रन्थ मे मौलिकता का प्राधान्य हे। साहित्यसाधना के लिए समर्पित सन्त ही ऐसे महान् कार्य कर सकते है।

परिस्थितियो का चित्रण इस रचना की एक विशेषता है। इस इतिहास से ऐसे कई तथ्य प्रकाश मे आए है जो ऐतिहासिक पीठिका को बलवती बनाते है जिसमे प्रसिद्ध इतिहासकारो को भी अपनी मान्यताओ को परिवर्तित करना होगा। आचार्य श्री की यह साहित्यसाधना युग-युगो तक स्मरणीय रहेगी। ऐसे महिमामय ग्रन्थ को प्रकाशित कर जैन इतिहास समिति साधुवाद के सर्वथा योग्य है।

डॉ० महावीर सरन जैन एम ए, डी फिल डी लिट्
अध्यक्ष—स्नातकोत्तर हिन्दी एव भाषा विज्ञान विभाग
जबलपुर विश्वविद्यालय

जैन धर्म का मौलिक इतिहास, तीर्थंकर खण्ड मैने आद्योपान्त पढा। जैन धर्म के चौबीस तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे प्रचुरमात्रा मे नये तथ्यो का उद्घाटन एव विवेचन हुआ है। इस इतिहास की सबसे बडी विशेषता यह हे कि इसमे उपलब्ध समस्त सामग्री का उपयोग तथा दिगम्बर एव श्वेताम्बर दोनो परम्पराओ की मान्यताओ का प्रतिपादन किया गया है।

समीक्षा
आकाशवाणी जयपुर
समीक्षक-स्व० श्री सुमनेश जोशी

प्रस्तुत खण्ड मे चौबीस तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे प्राचीन व आधुनिक ग्रन्थो के प्रकाश मे अनुशीलनात्मक प्रामाणिक और सुव्यवस्थित सामग्री प्रस्तुत की गई है और साथ ही उन बातो का निरसन किया गया है जो भ्रामक थी। आचार्य श्री ने तय किया है कि वर्तमान ग्रन्थ सामान्य पाठको के लिए सरल, सुबोध शैली मे प्रस्तुत किया जाय, उन्हे इस प्रयास मे पूर्ण सफलता मिली है। परिशिष्ट मे जो चौबीस तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे अलभ्य ऐतिहासिक सामग्री वर्गीकृत ढग से दी है, उसने ग्रन्थ की महत्ता को कई गुना बढा दिया है।

जैन परम्परा के तीर्थंकरो के सम्बन्ध मे एक साथ इतने व्यवस्थित रूप से सभवत पहली बार ही इतिहास ग्रन्थ तैयार किया गया है। जैन और जैनेतर उन सभी लोगो के लिये ग्रन्थ अत्यन्त महत्व का है जो जैन परम्परा के चोबीसो तीर्थंकरो के जीवनवृत्त, कठोर तप साधना और उनके उदात्त चरित्रो को जानना चाहते है।

अनेकान्त
श्री परमानन्द जैन शास्त्री

ग्रन्थ मे यथास्थान मतभेदो और दिगम्बर मान्यताओ का निर्देश किया गया है। लेखन शैली मे कही भी कटुता और साम्प्रदायिक अभिनिवेश का

उभार नही होने पाया है। भाषा सरल एव मुहावरेदार है। उसमे गति एव प्रवाह है।

परिशिष्ट के चार्ट बहुत उपयोगी हैं। पुस्तक पठनीय और सग्राह्य है।

डॉ० कमलचन्द सोगानी

इतिहास समिति, जयपुर एक बहुत ही उत्तम कार्य मे लगी है। आचार्यश्री के अथक परिश्रम ने ऐसी उत्तम पुस्तक हमे प्रदान की है।

तीर्थंकरो के परम्परागत इतिहास पर अभी तक कोई पुस्तक ऐसी व्यवस्थित देखने को नही मिली। इसमे लेखक ने सभी दृष्टियो से तीर्थंकरो के चरित्र लिखने मे सफलता प्राप्त की है। फुट नोट्स के मूल ग्रन्थो के सन्दर्भ से कृति पूर्ण प्रमाणिक बन गयी है।

तीर्थंकर (इन्दौर) जनवरी, १९७२
समीक्षक डॉ० नेमीचंद जैन

आलोच्य ग्रन्थ इस दशक का एक महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय प्रकाशन है। इसमे जैन तीर्थंकर-परम्परा को लेकर तुलनात्मक और वैज्ञानिक पद्धति से तथ्यो को आकलित, समीक्षित और मूल्याकित किया गया है। यो जैन धर्म के इतिहास को लेकर कई छुटपुट प्रयत्न हुए है, किन्तु उक्त ग्रन्थ का इस सदर्भ मे अपना स्वतन्त्र महत्व है। इसकी सामग्री प्रामाणिक, विश्वसनीय, व्यवस्थित और वस्तून्मुख है।

ग्रन्थ की महत्ता इसमे नही है कि इसने किस तीर्थंकर की कितनी सामग्री दी है वरन् इसमे है कि इसने पहली बार इतनी प्रामाणिक, वैज्ञानिक, विश्वसनीय, तुलनात्मक और गवेषणात्मक ढग से सारी सामग्री को व्यवस्थित किया है। समग्रता और समीक्षात्मक दृष्टि उक्त ग्रन्थ की प्रमुख विशेषता है। दूसरी बात यह भी महत्वपूर्ण है कि इसमे न केवल अथक श्रम और सूक्ष्म आलोडन के साथ तथ्यो की समीक्षा हुई है वरन् सारा प्रकाशन एक सुव्यवस्थित ऐतिहासिक अनुशासन से बद्धमूल है। स्वतन्त्र गवेषणात्मक दृष्टि के कारण ही जैनेतर स्रोतो का भी उदारतापूर्वक उपयोग किया गया है और जैन दृष्टि से लिखे जाने पर भी तथ्यो की अतिरजना से बचा गया है। आचार्य श्री हस्तीमलजी के सुयोग्य निर्देशन का मणिकांचन योग सर्वत्र द्रष्टव्य है। उनके द्वारा लिखे गये प्राक्कथन ने ग्रन्थ के महत्व को स्वयमेव बढा दिया है। प्राक्कथन मे कई मौलिक तथ्यो पर पहली बार विचार हुआ है, यथा "तीर्थंकर और क्षत्रियकुल" "तीर्थंकर और नाथ सम्प्रदाय"। परिशिष्टो ने ग्रन्थ की उपयोगिता मे वृद्धि की है। प्राय जैन ग्रन्थो मे इतने व्यापक और तुलनात्मक परिशिष्ट नही देखे जाते किन्तु इस ग्रन्थ के तीनो परिशिष्ट कई तथ्यो का विहगावलोकन प्रस्तुत करते है। दिये गये तथ्य तुलनात्मक है और श्वेताम्बर तथा दिगम्बर दृष्टिकोण को अनासक्त रूप मे प्रस्तुत करते है।

तथ्यो के प्रतिपादन की शैली सुबोध और रोचक है। इतिहास की नीरसता और शुष्कता की अपेक्षा साहित्य और सहज लोकभाषा की समन्वित छटा दिखायी देती है। इससे ग्रन्थ की पठनीयता मे वृद्धि हुई है। जैन विचार, आचार और सम्बन्धित महापुरुषो को लेकर उक्त ग्रन्थ मौलिक है और अपना पृथक स्थान रखता है।

हमे विश्वास है इसका इतिहास और धर्म के मर्मज्ञो मे समादर होगा और जैनधर्म के विभिन्न सम्प्रदाय इसकी समग्रता से प्रभावित होकर अधिक निकट आयेंगे।

छपाई निर्दोष, आकर्षक और कलात्मक है, मूल्य सर्वथा उचित है।

जैन सदेश २४ फरवरी, ७२
समीक्षक　प० कैलाशचन्द्र शास्त्री

कही भी शैली मे साम्प्रदायिकता का अभिनिवेश नही आने पाया है। पुस्तक पठनीय है, सग्राह्य है। लेखन की तरह प्रकाशन भी आकर्षक है। इस समय इसी तरह के सुन्दर प्रकाशनो की आवश्यकता है। हम इतिहास समिति को उसके इस सुन्दर प्रकाशन पर बधाई देते है।

डॉ० भागचन्द्र जैन एम० ए०, पी० एच० डी०
अध्यक्ष, पालि-प्राकृत विभाग, नागपुर विश्वविद्यालय, नागपुर

इसमे यत्र-तत्र जैनेतर साहित्य का भी भरपूर उपयोग किया गया है। शास्त्र के विपरीत न जाने का विशेष ध्यान विद्वान लेखक ने रखा है। फिर भी दिगम्बर जैन परम्परा के और बौद्ध तथा वैदिक परम्परा के ग्रन्थो मे समाहित ऐतिहासिक तथ्यो को यथास्थान उद्घाटित करने का महाराज सा० का प्रयत्न सराहनीय है।

भाषा, भाव, शैली और विषय की दृष्टि से लेखक नि सन्देह अपने लक्ष्य की प्राप्ति मे सफल हुआ है। ऐसे महनीय ग्रन्थ के लिए लेखक और सम्पादक मण्डल धन्यवाद के पात्र हैं।

जैन समाज के उच्चकोटि के विद्वान श्री दलसुख भाई मालवणिया

"आचार्यश्री !

सादर बहुमान पूर्वक वन्दणा। 'जैन धर्म का मौलिक इतिहास' भाग २ के रोचक प्रकरण एव आपकी प्रस्तावना पढी। आपने इस ग्रथ मे जैन इतिहास की गुत्थियो को सुलझाने मे जो परिश्रम किया है, जैसी तटस्थता दिखाई है, वह दुर्लभ है। बहुत काल तक आपका यह इतिहास ग्रथ प्रामाणिक इतिहास के रूप मे कायम रहेगा। नये तथ्यो की सम्भावना अब कम ही है। जो तथ्य आपने एकत्र किये हैं

और उनको यथास्थान सजाया है, वह एक सुज्ञ इतिहास के विद्वान् के योग्य कार्य है। इस ग्रथ को पढकर आपके प्रति जो आदर था, वह और भी बढ गया है। आशा है, ऐसा ही आगे के भागो मे भी आप करेगे।

श्री राठोड का परिश्रम और बहुश्रुतत्त्व इसमे आपको सहायक हुआ है, इसको आपने स्वीकार किया है। यह आपके और उनके व्यक्तित्व को बढाता है।"

४ 'दो शब्द' का आंग्ल भाषायी मूल

(पद्मविभूषण डा दौलतसिंहजी कोठारी
चासलर, जवाहरलाल नेहरु विश्वविद्यालय)

Jain harma ka Maulik Itihas

by

Pujya Acharya Shri Hastimalji Maharaj

This is a monumental work on the history of the Jain religion by one of the most renowned and erudite of Jain saints dedicated to a Life of Ahimsa in the service of menkind and indeed of all living creatures

The work is in five parts Two have already appeared This is the third part, and the fourth and fifth are under preparation The first part traces the history from the earliest times (going back to protohistory and mythology) to the Nirvana of Lord Mahavira The second part is an account of the next one thousand years from the first disciple, and Sudharma Swami, the first head of the order following Mahavira to the 27th Head Devardhi Gani Kshama-Shraman The third part, the present volume, is concerned with the period from the year 1001 after the Nirvana of Mahavira to the year 1475, some years before the period of the celebrated Acharya Hemchandra The fourth part will bring the account from nearly Vir Nirvana Samvat 1475 upto the period of Lonka Shah (Veer Nirwana Samvat 1978-2009) The fifth part will bring the account upto the present times, beginning with Lonka Shah

The work has entailed great and determined effort, and use of wide ranging and diverse source materials, including earlier studies by many famous scholars and Acharyas such as Acharya Hemchandra, author of *Trishashthi Shalaka Purush Charitra* and Acharya Prabhachandra, author of *Prabhavak Charitra*

The exposition with all the merits of deep scholarship is in an easy, lucid style This should make the publication of wide interest The volumes describe the history of developments-including distortions and aberrations,

and historically inevitable schisms-in the principles and practices of the Jain religion The Jain religion is *par excellence* the religion of Ahinsa in thought, word and deed Because of this, women's role and contribution to Jainism has been of special significance (see for instance page 201 of the present volume) This role has also an important message and meaning for today's world moving, hopefully, towards the future age of *Science and Ahinsa*

What is of the greatest significance, particularly in the context of the Atomic Age, is the fact that despite the most violent, tumultuous and torturous times there have been individuals-saints and others, a succession of them who have kept alive the light of the supreme and the never failing ideal of *Universal Love and Ahinsa*, proclaimed, practised and preached by Lord Mahavira, and by Lord Buddha The words of the great historian Arnold Toyanbee (Foreword to a book on Shri Ramkrishna) immediately come to mind in this connection —

> "(In the Atomic Age) at this supremely dangerous moment in human history the only way of salvation for mankind is the Indian way In the Atomic Age the whole human race has a utilitarian motive for following the Indian way No utilitarian motive could be stronger or more respectable in itself The survival of the human race is at stake Yet even the strongest and most respectable utilitarian motive is only a secondary reason for taking (the Indian way) to heart and acting on it The primany reason is that this teaching is right-and is right because it flows from a true vision of spiritual reality "

The UNESCO Charter opens with the words—"Since wars begin in the minds of man, it is in the minds of men that the defences of peace must be constructed " (It reminds us of the opening stranzas of the *Dhammapada*)

The great, poignantly imperative question is . *How can this be done, achieved ?* So far very little has happened in that direction though the need is desperate and it is universal This gives an added importance and relevance to publications such as the present one dealing with men's explorations and adventures in the realm of self-control (सयम) and Ahinsa *The two go together* In the Hind Swaraj, Gandhiji declared that *Swaraj is self control* The Geeta proclaimed (11–61)

वशेहि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता

It is he alone whose senses are under control, that his intelligence (mind) can perceive *truth* and act accordingly Einstein says —"*The true*

value of a human being is determined primarily by the measure and the sense in which he has attained liberation from the self"

The message of Jainism is (समणसुत्त १८७)

एय खु नाणिणो सार ज न हिंसइ कचण।
अहिंसा समय चेव एतावते वियाणिया ॥

The value of true knowledge lies in liberation from violence in thought, word and deed *Ahinsa* is the foundation of wisdom and tranquility of mind

And Vinobaji says मै कबूल करता हू कि मुझ पर गीता का गहरा असर है। उस गीता को छोडकर महावीर से बढकर किसी का असर मेरे चित्त पर नही है। गीता के बाद कहा, लेकिन जब देखता हू तो मुझे दोनो में फरक ही नही दीखता है।

"..For me there is really no difference between the teaching of the Geeta and of Mahavira"

Amongst all the forces that have influenced and shaped the cultural and socio-political history of man-or rather the *cultural evolution*-perhaps none has been more pervasive and potent than religion in its widest sense *And Ahinsa could be regarded as man's supreme discovery* These considerations make the history of religion of no small interest to those interested in *Socio-biology*, a current subject of far reaching importance

We are deeply greatful to the Acharya Shri for this valuable and inspiring contribution to Jain history and philosophy It is to be hoped that an abridged version published in one volume would be brought out soon for the benefit of a larger circle of readers An English translation would be distinctly useful and will fill a widely felt need

Delhi
October, 1983

D S Kothari

५ शुद्धि-पत्र

क्र स	पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१	५६	१८	सविधेय	मविवेया
२	७५	नीचे से ६	साम्रो	साधुम्रो
३	८६	१०	धर्मावलम्वियो	धर्मावलम्बियो
४	६५	३ व ७	वीर निर्माण स	विक्रम सम्वत्
५	६८	२	विद्यामन	विद्यमान
६	१२१	१६	सम्वध	सम्बन्ध
७	१३२	नीचे से १	वृष्टव्य	दृष्टव्य
८	१४८	१६	दर्शननार	दर्शनसार
६	१५०	८	पश्चिमार्य	पश्चिमाचार्य
१०	१५१	१६	कोमुद चन्द्रोदय	कुमुद चन्द्रोदय
११	१६३	१	श्राचार्य	आचार्य
१२	१६५	६	ग्रण्डविमुक्त	गण्डविमुक्त
१३	१७२	नीचे से ५	पीट्टाधीश	पीठाधीश
१४	१८२	२४	रहा है।	रहा है।[१]
१५	१८३	१७	Inscriplions	Inscriptions
१६	१६५	१०	अध्यात्मिक	आध्यात्मिक
१७.	१६५	नीचे से ३	अजीब	अजीव
१८	१६७	१८	चोल वशयी	चोलवशीय
१६	२१८	नीचे से ११	साध	साधु
२०	२२७	१६	भत्तापाण	भत्तपाण
२१	२६२	६	परम्पराश्रो को	परम्पराश्रो ने प्राचीन मान्यताश्रो को
२२	२६१	३ व ११	८०३	७६४
२३	३२७	१३	मिकले	निकले
	३७२	१५	आमयो	आगमो

क्र स	पृष्ठ		पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२५	४०६		१६	बाद मे	वाद मे
२६	४१४		६	बौद्धनन्द	बौद्धानन्द
२७	४४४		२	मक्ष	मक्षु
२८	४५४		७	अपने अपने	अपने
२६	४००		७	पाडुग्ग	पादूण
३०	४००		८	मुत्तस्य	सुत्तस्स
३१	४००		१३	श्रतस्कन्ध	श्रुतस्कन्ध
३२	४०५		१७	जना	जन
३३	४०६		१४	त्राता	ज्ञाता
३४	४११	नीचे से	२	क्षमणीधर्म	श्रमणी धर्म
३५	४१६		३	ने लाने	मे लाने
३६	४१७	टिप्पणी	२	देशाधिक्	देशाद्धिक्
३७	४१७	"	अतिम	श्वेताम्वरायत्त	श्वेताम्बरायत्त
३८	४१६		२	कुद्ध	क्रुद्ध
३६	४२०	नीचे से	६	भग्नायुर्वल्लभी	भग्नापुर्वल्लभी
४०	४२१		२	ममुर्हता	मम्रुर्हता
४१	४२७		१	वसती	वसतौ
४२	४२७	नीचे से	१४	—मानमत	—मानयतः
४३	४२७	नीचे से	६	वसतो	वसतौ
४४	४२७	नीचे से	७	सवेऽधिकारिणो	सर्वेऽधिकारिणो
४५	४३४	नीचे से	११	नही होता	नही मिलता
४६	४३८	"	७	श्रपर	अपर
४७	४३६	"	६	करती हैं।	करते हैं।
४८.	४४३	"	३	यद्यपि	×
४६	४४४		२	मक्ष	मक्षु
५०	४४६		६	इसके	इनके
५१	४४७		६	वच्छलो	वच्छलौ
५२	४४७	नीचे से	४	समय हुए	समय आसीन हुए

क्र सं	पृष्ठ		पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५३	४५२		३	पष्ठ	पष्ठ
५४	४५७		६	वीर वि म	वीर नि म
५५	४६३	नीचे से	३	प्रचलित की	प्रचलित किया
५६	४७८		१६	जैनो पर	+
५७	४८६		१५	वे	वह
५८	४६०	नीचे से	२	देवारम्	तेवारम्
५६	४६६	नीचे से	७	किया	किया गया
६०	५०४	नीचे से	४	१ का टिप्पण पृष्ठ के अत मे यो पढे –	दी क्लासिकल एज पृ ६६
६१	५१२		१	दासियो	दसियो
६२	५१२	नीचे से	६	सूत्रकारो	सूत्रधारो
६३	५६३		१७	आचार्यो एव विद्वानो के	+
६४	५६५		२२, २३	इस प्रकार की एक भी घटना	+
६५	५६६	नीचे से	३	एकादशागी	एकादशागी के
६६	५७०		१	विवाह	वियाह
६७	५७०		३	स तेहिं	सतेहिं
६८	५७०		३	वासाणा	वासाण
६६	५७०		४	गोत्तस्स	गोत्तस्स
७०	५७०		४	पतिस्स	यतिस्स
७१	५७३		११	ऐषणाओ	एषणाओ
७२	५७८		२०	भुवड ने	भुवड के
७३	५८०		२	समक्ष	समकक्ष
७४	५८१		८	शेणु	शृणु
७५	५८१		१३	निवेश्येदमिमत्र	निवेश्येममत्र
७६	५६१		१७	अपनी	अपना
७७	५६३		१२	भावना	प्रभावना
७८	६०४		१६	मुखोपभोगो	सुखोपभोगो
७६	६१०		१०	क्रर	क्रूर
८०	६११		८	का	को

क्र सं	पृष्ठ		पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८१	६२१		११	यशोवर्मन	यशोवर्मन ने
८२	६२६		२५	लौटा	लौट
८३	६५३		१४	सन	सेन
८४	६६१		२०	ऋकापो	कलापो
८५	६८७	नीचे से	२	विग्रहराज	विदग्धराज
८६	६९७		११	ने	के
८७	६९७		११	ने	के
८८	६९७		१३	ने	के
८९	७२८	स्कभ		७३०	७२८
९०	७३७		११	९२०	८२०
९१	७५०		८	घर	घर भेजा, जिन्होने वहा
९२	७८५		३	उत्तराध्यन	उत्तराध्ययन
९३	७८५		१०	वीर सरि	वीरसूरि